[illegible] महर्षिजैमिनिविरचितम्

मीमांसादर्शनम्

(तृतीयो भागः)

डा० महाप्रभुलाल गोस्वामी

तारा प्रिंटिंग वर्क्स

वाराणसी

१९[illegible]

Prachyabharati Series—23

THE MĪMĀṂSĀ DARŚANA

OF

MAHARṢI JAIMINI

With Śābarabhāṣya of Śabaramuni with the commentaries Tantravārtika of Kumārila Bhaṭṭa and its commentary Nyāyasudhā of Someśvara Bhaṭṭa, Bhāṣyavivaraṇa of Govindāmṛtamuni and Bhāvaprakāśikā, the Hindi translation, by Mahāprabhulāla Gosvāmī.

Edited with an Introduction by

Prof. MAHĀPRABHULĀLA GOSVĀMĪ
M. A., Ph. D., D. Litt., Nyāya-Vyākaraṇa-Sāhitya-Vedāntācarya, Mīmāṃsā Śāstri

Volume III

TARA PRINTING WORKS

VARANASI

1987

Published by
Tara Printing Works
Kamacha, Varanasi-221010

Available at
Tara Book Agency
Kamacha
Varanasi

First Edition
Price Rs. 85.00
(Rupees Eightyfive only)

Printed at
Tara Printing Works
Kamacha
Varanasi-221010

प्राच्यभारतीग्रन्थमाला—२३

टीकापञ्चकसनाथीकृतं महर्षिजैमिनिप्रणीतं

मीमांसादर्शनम्

भट्टसोमेश्वरकृतया न्यायसुधाख्यटीकयोद्भासितया
श्रीकुमारिलभट्टनिर्मितया तन्त्रवार्तिकव्याख्ययालङ्कृतेन
श्रीगोविन्दामृतमुनिविरचित-भाष्यविवरणव्याख्यया भूषितेन
श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामिकृतभाष्यभावप्रकाशिकाहिन्दीव्याख्यात्तेन
श्रीशबरमुनिविरचितभाष्येणानुगतम्

राष्ट्रपति सम्मानितेन एम० ए०, पीएंच० डी०, डी० लिट्० इत्युपाधिविभूषितेन
न्याय-व्याकरणसाहित्यवेदान्ताचार्यमीमांसाशास्त्रिणा विद्यावाचस्पतिना
श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामिना विस्तृतभूमिकयालङ्कृत्य
सम्पादितम्

तृतीयो भागः

तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी
२०४४ तमो विक्रमाब्दः

प्रकाशक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा
वाराणसी २२१०१०

प्राप्तिस्थानम्
तारा बुक एजेंसी
कमच्छा
वाराणसी-२२१०१०

प्रथमसंस्करणम्
मूल्यम् : ८५.००
(पञ्चाशीतिरूप्यकाणि)

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
कमच्छा, वाराणसी

आचार्यपट्टाभिरामशास्त्रिमहोदयानाम् अभिमति

तन्त्रवार्तिक-न्यायसुधा-भाष्यविवरण-भावप्रकाशसहितस्य शाबरभाष्यस्य तृतीयो भागः तृतीयाध्यायप्रथमपादान्तः पं० श्रीमहाप्रभुलालगोस्वामिमहाभागेन प्रकाशपथमानीत इति नितरां प्रसन्नोऽहमस्मि। बहुभ्यो हायनेभ्यः पूर्वं भाष्यं तन्त्रवार्तिकं न्यायसुधा च तन्त्रवार्तिकव्याख्यानं पृथक्पृथक् चौखाम्बामुद्रणालये मुद्रितमुपलभ्यमानमासीत्। तदनन्तरम् आनन्दाश्रममुद्रणालयात् पुण्यपत्तनस्थात् तन्त्रवार्तिकेन सह शाबरं भाष्यं मुद्रितं प्राप्यते स्म। एकत्र भाष्यविवरण-तन्त्र वार्तिक-न्यायसुधानां प्रकाशनाभावेनाध्येतॄणामध्यापकानाञ्च पठनपाठनकार्यं निर्वोढुं क्लेश आसीत्। सोऽयं क्लेशो गोस्वामिमहोदयेन दूरीकृत इति पण्डितवरं धन्यवादैः पूरयामि। विना तन्त्रवार्तिकसहाय्यं शाबरभाष्यस्य विना च न्यायसुधासाहाय्यं तन्त्रवार्तिकस्य चावबोधो न सुकरः। व्याख्यासापेक्षं भाष्यं वार्तिकञ्चेति न निगूढं शास्त्रविदाम्। प्रसन्नगभीरं शाबरं भाष्यं व्याचक्षाणा भट्टपादा निगूढं भाष्यकृदाशयं नैकविधैर्विकल्पैरुद्घाट्य विमृशन्ति। तन्त्रवार्तिकञ्च विमर्शात्मको निबन्धः। तदध्ययनेन विमर्शः—अनुसन्धानम् कथं कर्तव्यम् इति शिक्षापि प्राप्तुं शक्यते। तत्र भट्टपादाः किं वक्तुकामा इति क्वचिदवगन्तुं न शक्यते। तदुद्घाटनं न्यायसुधाकृत् भट्टसोमेश्वरः करोति। तृतीयाध्यायान्तमे तन्त्रवार्तिकं न्यायसुधा च, तदूर्ध्वं टुप्टीकेति संक्षिप्तटीका भट्टपादानाम्। तस्या व्याख्यानं वार्तिकाभरणं श्रीगोविन्ददीक्षितानामात्मजैः श्रीवेङ्कटेश्वरमखिभिः प्रणीतम्, तस्य व्याख्यानं तच्छिष्यैः श्रीराजचूडामणिदीक्षितैर्विरचितं विपुलमुपलभ्यते। पार्थसारथिमिश्रेण तन्त्ररत्नमिति टुप्टीकाया व्याख्यानं प्रकाशितमस्ति। तत्र भट्टपादाः भट्टसोमेश्वराश्च न केवलमधिकरणसम्बन्धिनो विषयान् विशदयन्ति, तत्र तत्र प्रसङ्गमुपलभ्य मीमांसाशास्त्रसम्मतान् प्रमाणप्रमेयविषयान् समवायविशेषयोरभावम्, तमसोऽतिरिक्तत्वम्, शब्दस्य द्रव्यत्वम्, शक्तेरतिरिक्तपदार्थत्वम् ईश्वरसिद्धिम् मोक्षस्वरूपं चित्ररूपस्यानतिरिक्तत्वम् इत्यादीन् विषयानपि सूचयन्ति। इमे च निलीना उपलभ्यन्ते। तानिमानन्विष्य श्रीकमलाकरभट्टो महामीमांसकः 'मीमांसाकुतूहलम्' इति नाम्ना कञ्चन मनोहरं ग्रन्थं विरचयामास। अयमपि ग्रन्थस्सम्पूर्णानन्दविश्वविद्यालयेन प्रकाश्यते। कमलाकरभट्टेनैव विरचितः 'मीमांसाशास्त्रमाला' नामा ग्रन्थो वेदमीमांसानुसन्धानकेन्द्रात्प्रकाशित उपलभ्यते। मीमांसाध्ययने ग्रन्थानामनुपलम्भः प्रतिबन्धक आसीत्, सम्प्रति तादृशं प्रतिबन्धकं नानुभवामः। पं० गोस्वामिमहाभागेन स दूरीकृत इति तं धन्यवादेन पूरयामि।

—पट्टाभिरामशास्त्री

पुरोवाक्

कर्मकाण्ड का विवेचक दर्शन ही मीमांसा है। मनन, मन्त्र और मीमांसा तीनों का एक ही मूल है। मन्त्रों के प्रयोग का विचार तथा वाक्यार्थ के लिए अपेक्षित विचार मीमांसा है, अतः, वाक्यमीमांसा के रूप में इस शास्त्र की प्रतिष्ठा है। बारह अध्यायों में विभक्त होने से इस दर्शन को द्वादशलक्षणी भी कहा जाता है। आश्वलायनगृह्यसूत्र में धर्माचार्य के रूप में जैमिनि, वैशम्पायन आदि का उल्लेख मिलता है। "सुमन्तुजैमिनि-वैशम्पायन-पैल-सूत्र-भाष्य-भारत-महाभारतधर्माचार्याः", (३।४।४) व्यास के द्वारा वेद-विभाग होने पर उनके शिष्य जैमिनि ने सामवेद का ग्रहण किया था। जैमिनीय सूत्र में बौद्ध धर्म या बौद्ध दर्शन का उल्लेख नहीं मिलता है। शबरस्वामी के अनुसार कल्प-सूत्र का अस्तित्व सूत्र में माना गया है। जैमिनि ने अनेक सूत्रों में बादरायण का भी उल्लेख किया है, अतः मीमांसा सूत्र की ईसा से पूर्व की रचना में सन्देह नहीं है। इसका मूलाधार धर्मनिरूपण है।

वेद की द्विविध व्याख्या कही जा सकती है एक तर्कसम्मत व्याख्या जो श्रद्धा-विहीन पाश्चात्य देशों की वेद मीमांसा है, यह आन्दोलन पुरातन न होते हुए भी भारतीय शिक्षाविदों के प्रतिष्ठान के लिए श्रद्धास्पद बन गया है। विदेशीय गवेषण में किसी मौलिक चिन्ता का विशेष समावेश नहीं मिलता है, किन्तु वे वैदिक संहिताओं के अर्थ स्वतन्त्र भाव से अपने ही स्वरूप को प्रकाशित करते हैं, उनके सामने प्राचीन वेद व्याख्याता सायण आदि का विशेष महत्व नहीं है। वेद के रहस्यवाद की अपेक्षा उसके सामान्य अर्थ की ओर ही विशेष दृष्टि रहती है।

दूसरी धारा मीमांसकों की धारा है जो ब्राह्मणग्रन्थों के आधार पर वेद का क्रियात्मक एवं ज्ञानात्मक स्वरूप का साङ्गोपाङ्ग विश्लेषण है, इसका वैशिष्ट्य प्राचीन धारा का सम्पूर्ण अनुवर्तन एवं उसके निर्दोषस्वरूप का परिवृंहण और परिवर्द्धन करना है। इसकी यह प्रचेष्टा रहती है कि समस्त चेतना की एक रक्षणशील सनातन का विस्तार है, यह विकसित रूप सायण के भाष्य में भी उपलब्ध होता है, इतना ही नहीं सायण की व्याख्या का अवलम्बन कर प्रादेशिक भाषाओं में भी वेद व्याख्या एवं वेद-प्रचार का प्रशंसनीय प्रसार चिरकाल से चल रहा है।

सायण की कर्मवादी व्याख्या में मीमांसा के मूलाधार पर प्रवाहित है वहाँ देवता के स्वरूपनिरूपण के सम्पर्क में सर्वथा नीरवता का रूप सम्मुख आता है, यह सत्य है कि नवीन व्याख्याताओं में मीमांसाकाल से आती हुयी इन त्रुटियों को पूर्ण करने के लिए द्वादशाध्यायी जैमिनि की मीमांसा को छोड़कर संकर्षण काण्ड को भी सन्निहित

कर भक्तिवाद की सहायता से देवता के स्वरूप की व्याख्या करने की चेष्टा की गई। जिस देश में देवता के प्रति श्रद्धा एवं बहुदेववाद की अध्यात्म-प्रेरणा का जीवन्त उल्टा मिलता है वहाँ सर्वसाधारण की दृष्टि में चरम प्रमाण के रूप में इसको अवगत करने का आग्रह सर्वथा स्वाभाविक है। आप्तवाक्य की अवगति के लिए श्रद्धा एक अपरिहार्य साधन एवं उपादान हो—इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता, किन्तु आप्तवाक्य का गूढ़ार्थ अविच्छिन्न साम्प्रदायिक धारा है जो शुद्ध श्रद्धा एवं भक्ति के आधार पर ही प्रवाहित है। वहाँ लुप्त तात्पर्य को पुनः आवेष्टित करने की चेष्टा युक्ति के आधार पर सह्य नहीं होती है। यह सत्य है कि श्रद्धा के साथ युक्ति एवं आधुनिक वैज्ञानिक समीक्षण-पद्धति का योगायोग होना चाहिए, वेद के अर्थ की अवगति के लिए मीमांसा अपरिहार्य है। उसी मीमांसा की धारा का धीर भाव से विचार सायण की कृति है। सायण कहीं भी अपने विषय में अधिकार का प्रश्न ही नहीं उठाता है, वह मन्त्र की व्याख्या में भारतीय परम्परा का अनुसरण करता है। यह भी सत्य है कि मीमांसा एक ऐसे परिवेश में परिबृंहित हुई है जहाँ बौद्ध और चार्वाक के प्रवण झंझावातों से वेद की मान्यता ही ध्वस्त की जा रही थी। वह उनके यौक्तिक प्रभाव से निर्मुक्त वेद को आध्यात्मिक धरा पर दार्शनिक कसौटी पर खरा उतारने की चेष्टा करता है। आज भी तो सायण की व्याख्या के बाद भी आर्यसमाजी सम्प्रदाय के द्वारा एवं पाण्डिचेरी सम्प्रदाय के द्वारा इसको विविध आयामों में विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है। इतना सत्य है कि इन दोनों सम्प्रदायों का एकमात्र उद्देश्य इस देश के प्राचीन रहस्यात्मक सम्प्रदाय को विदेशियों के द्वारा अयौक्तिक आघातों से मुक्त कर जीवन-दर्शन स्थापना करना है। कर्मकाण्डी के वेद व्याख्यान का परित्याग कर वेद की व्याख्या करना अन्धे के द्वारा किया गया पदार्थों के निर्णय का ही प्रचार हो सकता है, क्योंकि मीमांसकों ने वेद के प्रामाण्य की सिद्धि के लिए पूर्वपक्षी के सम्मुख उपस्थित होकर अपने पक्ष का समर्थन किया था। आज के वेदवादी प्रतिपक्षी की सर्वथा भिन्न प्रकृति है। प्राचीन पूर्वपक्षियों का वेद को सर्वथा अप्रामाण्य सिद्ध करने का प्रयास था, वेद की किसी अपनी कपोलकल्पित भावना को स्थिर कर एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं था। आज का पूर्वपक्षी वेद का विचार करता है, किन्तु आप्तवाक्य की दृष्टि में नहीं, ब्राह्मण मीमांसा की दृष्टि से नहीं, वरन् प्राचीन आचार्यों की अपरिणत चित्त के साहित्य को दृष्टि में रखकर उनके विचार में त्रुटि प्रदर्शन करते हुए एक मोटा-मोटी व्याख्या विचारचातुरी से प्रदर्शित करने का प्रयास करता है, यदि यह व्याख्या सत्य मान ली जाये तो वेद अतीत संस्कारों का एक प्रमाणहीन जंजाल मानना पड़ेगा। फलतः वेद आध्यात्म जीवन का सच्चा निदर्शन किसी भी तरह प्रस्तुत नहीं कर सकता किन्तु विदेशीय भावनाओं से मुक्ति का प्रयास इस व्याख्या की महती देन है। इन लोगों ने प्राचीन आस्तिकों की परम्परा का परित्याग तो किया, किन्तु यूरोपियों की

मनमानी व्याख्या से मुक्ति प्रदान करने के भी व्रती थे। वैदिक गवेषणा की सायणोत्तर प्रथम भित्ति दयानन्द का भाष्य ही माना जायगा। किन्तु इनका प्रबल प्रयास आस्तिक बुद्धि के अनुरूप व्याख्या का खण्डन ही था। पाण्डिचेरी सम्प्रदाय के प्रवर्तक अरविन्दादिरचित वेदव्याख्या धारावाहिनी अवशेष व्याख्या नहीं वरन् आंशिक मन्त्र व्याख्या है। इन लोगों ने वेदार्थ में ऊपर नवीन आलोक सम्पादित करने का प्रयास किया जो वैदिक गवेषणा के चैतन्य स्तम्भ के रूप में स्वीकार करने के योग्य है। इनके द्वारा वेद की ओर लोगों की दृष्टि आकृष्ट की गयी। प्रथम पाश्चात्यों की व्याख्या को दृष्टि में रखकर कतिपय शब्द लिखना उचित होगा। भारतीय परम्परा में किसको किस विषय के विश्लेषण में अधिकार हो यह महत्त्वपूर्ण विषय है। निरुक्त के उपक्रमणिका में एक पद्य है, विद्या ने ब्राह्मण के समीप आकर कहा—'जो निन्दक है, जो वक्र हो, उन व्यक्तियों के सम्मुख मेरी चर्चा मत करना' यह अधिकार निरूपण सामान्य विद्या के सम्बन्ध में है जो प्राण और मन से सम्पृक्त और वेद जातीय भारतीय संस्कृति के साथ सर्वथा सम्पृक्त है, इस विषय में भी इस मान्यता को अक्षुण्ण रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मानव की सामाजिक संस्कृति के प्राविधान का और अन्तरङ्ग धर्मबोध के विचार के समय आर्यभूमि पर हृदय का हृदय के साथ योग रहने पर ही प्रस्तुत किया जा सकता है। उसी के साथ आत्मविनिमय कर अंतरंग विषयों का व्याख्यान किया जायेगा जो उन विषयों से सम्पृक्त है। पाश्चात्य संस्कृत भारतवर्ष की संस्कृति से सर्वथा भिन्न है, अतः वे भारतीय विद्याओं को उस रूप को अवगत करने में सर्वथा असावधान ही रहेंगे, क्योंकि भारतीय भावना और साधना का उनके हृदय पर कोई भी चित्र परम्परा से प्रतिबिम्बित नहीं है, यवनिका के अन्तराल से भारतीय वेदव्याख्या एक अद्भुत एवं रहस्यमय कपोलकल्पना होगी। यह तो पूर्व में ही कहा गया है कि धर्म वेद की मूल भित्ति है। धर्म के सम्बन्ध में मानव एक तीव्र आत्मकेन्द्रित है, फलतः मेरा धर्म मेरे सम्मुख सहज और स्वाभाविक रूप में रहता है और दूसरे काव्य में दुर्बोध अवगत होता है, क्योंकि धर्म के चारों ओर आचार का वेस (घेरा) है। अपने धर्म को जो निविड रूप से आबद्ध करता है अन्य धर्म से उसे सुरक्षित रखता है।

एक ही धर्म में दो सम्प्रदायों से आबद्ध व्यक्तियों का एक के प्रति विद्वेष प्रत्यक्ष है, जैसे शिया-सुन्नी प्रोटेस्टेन्ट आदि। असहिष्णुता के कारण आघात चलता ही रहता है। देश-काल-आचार जीवन-यात्रा का पार्थक्य सभ्यता के पार्थक्य का कारण हो जाता है, अतः पाश्चात्य देश भारत में सभी विषयों को शक्त और श्रेष्ठ रूप में सामने रखने में असमर्थ हैं। भारतीय विद्या के इतिहास का मनोयोग से अध्ययन करने पर उनके कृतित्व का मूल्यांकन किया जा सकता है। भारतीय विद्या के सम्पर्क में पाश्चात्यों के द्वारा एक कुवासना की कुण्डली अपनी गवेषणा की जल्पना और कल्पना से आवेष्टित कर भारतीय अन्तर्गूढ़ चेतना से अपरिचित रखने या पूर्णतः प्रयास उपलब्ध होता है।

भारतीय समाज चेतना के सम्बन्ध में विदेशी विचार धारा ने हठवादिता और उससे भी अधिक रूढ़ होकर धर्म के विचार में कटिबद्ध हैं। धर्मबोध की चरम परिणति अतीन्द्रिय अनुभव में है। अतीन्द्रिय अनुभव की क्षमता व्यक्ति विशेष की पूर्व जन्मसिद्ध स्वाभाविक धर्म है। जब अपने ही धर्म को समझना कठिन है तब दूसरे के. धर्म को समझना तो बहुत बाद की बात है। धर्म यदि अपरोक्ष साक्षात्कार का विषय होता तो किसी अभिज्ञता के अर्जन के बिना उसके विषय में सिद्धान्त प्रकाश करना वैज्ञानिक बुद्धि का परिचय नहीं माना जा सकता। वेद व्याख्या में यही देखा जाता है। जो वेद के मर्मज्ञ नहीं हैं, वे उसके मर्म का उद्घाटन करते हैं—यह एक आश्चर्यजनक आधार ही मानना पड़ता है। सबसे बड़ी बात यह है कि पाश्चात्यों को एकेश्वरवाद के प्रति अतिशय आग्रह है। सनातन सिद्धान्तानुसार अनेक देवताओं को आराधना से अग्रसर होना धर्मजगत् में अभ्युदय साधन है। एक देवता का मानना एकेश्वरवादी के मत से उचित मार्ग है। निराकृति का भाव मन में अश्रद्धा का सञ्चार करता है, अतः भारतीय धर्म-विशेष के मर्म ग्रहण में यह अलङ्घ्य बाधा है। धर्म अनुभव की वस्तु है और अनुभव की भित्ति श्रद्धा है, श्रद्धा जहाँ नहीं रहती है, वहाँ दूसरे हृदय के गम्भीरतम सत्य का स्पर्श करना सम्भव नहीं है। अश्रद्धा के कारण पाश्चात्य वेदव्याख्या की धारा में सत्य का अनुसन्धान नहीं कर सकते हैं। वैदिकों की देववाद दृष्टि पाश्चात्यों के लिए रहस्य का विषय नहीं है, वरन् अवज्ञा का विषय है। एक देव को बहुदेव में परिणत करना एक स्वाभाविक प्रवणता है। जो देवता को ही स्वीकार नहीं करता है अपितु अलौकिक शक्ति कल्पना के आधार रूप में मानव को ही श्रेष्ठ मानता है अतिमानव के साङ्गोपाङ्ग अति विश्लेषण में परी और ईसु को ही स्वीकार करता है, उनको देवता से क्या प्रयोजन ? बुद्धि और ऐन्द्रियक ज्ञान की सहायता से जगत् को अवगत कराने की चेष्टा मानव मानस का सहज व्यापार है। अन्तश्चेतना के विकास क्रम में इन्द्रिय राज्य को छोड़कर अतीन्द्रिय राज्य में अवतीर्ण होना मानव के स्वाभाविक धर्म का परित्याग है। एक को अनेक रूप में विवर्तित और अनेक को अध्यात्मानुभूति के आधार पर एक में प्रतिष्ठित करना यह भारतीयों की सहज वृत्ति है। सहज वैदिक भावना का खण्डन न कर। एक देववाद और बहुदेववादभाव एक ही जाप स्वीकार कर अध्यात्म चेतना का एक अत्यन्त स्वाभाविक भंगिमा प्राप्त होती है। अतिस्वभाववाद और अन्योन्य संमत एक का दूसरे प्रकाश में सम्मिश्रण ही अतीन्द्रिय जगत् की जाग्रत दृष्टि है। मन की मौलिक भङ्गिमा का विपर्यय नहीं होता है। एक देववाद और बहुदेववाद में विरोध आर्य मन का अविषय है। सेमेटिक मानव का हृदय ईश्वर की पौरुषेय सत्ता को स्वीकार कर भी इसको निर्गुण रूप में प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा करता है। भारतीय स्वदृष्टि में एक देववाद का यह परम चरम स्वरूप है, साथ ही आर्य ईश्वर भावना को अध्यात्म साधना के पक्ष में निष्प्रयोजन मानकर उसका प्रत्याख्यान किये बिना ही अध्यात्म चेतना

की भूमि में बहुदेव की मण्डली को स्वीकार करने में किसी भी तरह कुण्ठित नहीं होता। ध्यान ही मन का भेदक है। एक मत खण्डदर्शी है दूसरा अखण्डदर्शी। अखण्डसत्ता के मध्य में भेद की रेखा ईश्वर और जगत् के विरोध को आभासित नहीं करती है, जगत् को ईश्वर की इतिश्री मानती है, एक आत्म दर्शन के मध्य में स्वच्छन्द अनेक को स्थान देकर जगत् का अवलोकन करता है और अखण्ड चैतन्य का विभिन्न सृष्टि का रूप मानता है।

भारतवर्ष में बौद्ध, जैन आदि प्रज्ञावादी का दर्शन, ईश्वर का खण्डन करके भी कैसे बहुदेव मण्डली को स्वीकार करता है यह वैदेशियों के मन के लिए कल्पनातीत है। देववाद से सर्वथा वर्जित आदिम बौद्ध धर्म का अविष्कार करना सार्वथा कठिन है, क्योंकि विभिन्न रूप में अनेक देव वहाँ भी उपस्थित ही हो जाते हैं। तुरीय और सुषुप्ति चेतना से बिच्छुरित स्वप्न और जाग्रत् की क्रीड़ा को उपनिषद् चतुष्पाद ब्रह्म की ही लीला जानते हैं। वहाँ निरीश्वरवाद और देववाद के मध्य में किसी भी विरोध की संभावना नहीं। अद्वैतवादी शंकर और बहुदेव की स्तुति में मुखर शंकर इस भारत के अध्यात्मके बोध में किसी प्रकार के असामंजस्य की सृष्टि नहीं करता है। रामकृष्ण निर्विकल्पक स्थिति में अनेक महीनों को व्यतीत कर भी अनेक देव-देवियों के सम्मुख जरा भी हिच-किचाता नहीं। यूरोपियों के लिए यह रहस्य का विषय हो सकता है भारतीयों के लिए नहीं। यहाँ का एकदेववाद और बहुदेवत्ववाद वैदिक सदाकार हो जाता हैं। इस विषय को लेकर वस्तुतः कभी भी कोई विरोध सामने नहीं आता है। मानव समाज और संस्कृति के सम्पर्क में ऐतिहासिक आलोचना के प्रसंग में जिस स्थिर सिद्धान्त पर पहुँचता है वहाँ वैदिक साहित्य के प्रमाणों को उद्धृत करता है और अपने को प्रतिष्ठित करता है। वैदिक क्रिया की बहुलता और चित्शक्ति के द्वारा जड़ शक्ति को वश में करने की प्रचेष्टा का परित्याग नहीं किया जा सकता है। जड़ की अनुभूति को स्वच्छ चैतन्य की भूमि में उत्तीर्ण कर एवं उसके साथ चेतना की सभ्यता का अनुभव कर उसको अपने अधीन करने की चेष्टा करना मुक्ति विहीन नहीं कहा जा सकता। प्राकृत इच्छा-शक्ति मन के ऊपर उच्चतर स्तर तक जाने तक उपभोग की क्रिया भी गम्भीर होने लगती है, इच्छाशक्ति की गंभीरता के कारण चित्त की सर्व सुख की सहायता में अब इच्छाशक्ति का प्रवाह संभव हैं या नहीं अनुसन्धान का विषय है।

यहीं से रहस्यविद्या का उद्भव होता है। मानव चित्त की यह एक स्वाभाविक प्रचेष्टा है। अध्यात्म चेतना की व्याप्ति का विशेष पर्व में व्यक्ति में अलौकिक शक्ति के आविर्भाव का साधन है यह सभी धर्म में स्वीकार्य है। शक्ति का आविर्भाव विच्छिन्न रूप में मानना ही पड़ता है। वैदिक धर्म मात्र क्रियाकाण्ड नहीं बाह्य क्रिया के समान ही अर्थ की व्यंजना भी है। क्रिया का लक्ष्य प्रकृति का वशीकार नहीं बल्कि आत्म चेतना का उन्मेष भी है, यहीं तो अभ्युदय और निःश्रेयस भी है। यह अभेद प्राचीनतम एक

ही का अभ्युत्थान अभ्युदय को लक्ष्य कर होता है, और इसी से निःश्रेयस भी होता है। तन्त्र और वेद ब्राह्मण में उभयतः इनका विस्तार है। क्रियाकाल इच्छाशक्ति के उद्‌बोधन का सहायक मात्र है। इच्छा सिद्ध चेतना का अस्फुट बोध हो उसको सक्रिय करने के लिए इन्द्रिय ग्राह्य उपकरणों की सहायता ली जाती है और वहीं से क्रिया काण्ड की उत्पत्ति होती है इसी के बाद योग का अवसर आता है और यह जब देहवाद वस्तु से सम्बद्ध हो जाता है तब तंत्र से सम्बन्ध हो जाता है। यहाँ के क्रिया काण्ड में दोनों एकाकार हो जाते हैं। अध्यात्म अर्थ को इंगित करते हैं तब योग की क्रिया प्रशस्त होती है और अधिभूत अर्थ में तन्त्र आता है। अर्थात् एक उपनिषद् भाव को लेता है और दूसरा रहस्य भाव को। दोनों का संमिश्रण वेद में प्राप्त होता है। उपनिषद् और संहिता भी समयसापेक्ष अव्याहत गति से चल रहा है। उपनिषद् की लक्ष्य चेतना का उत्तरायण है और उपसंहार में पुरुष का अपने स्वरूप में अवस्थान है। रहस्य का लक्ष्य सिद्ध चेतना के द्वारा आत्मा से चित्र का विच्छुरण है, ज्ञान और शक्ति का अविनाभूत दार्शनिक सिद्धान्त के ऊपर ही यह रहस्यवाद अवस्थित है, इसका प्रथम अनुभव आत्म चेतना में होता है। प्रकृति की अविरुद्ध शक्ति का उन्मेष चेतना का फल है, चित् शक्ति एक मौलिक वृत्ति है यह चेतना केन्द्रित होकर संहृत आत्म चैतन्य व्यक्तित्व का विकास करती है और यही आत्मशक्ति का विच्छुरण सम्मोहन सिद्ध व्यक्तित्व का वैशिष्ट्य है। यह शक्ति अतीन्द्रिय सायुज्य बोध है, इसका सामान्य सञ्चरण ही एकात्मता की भूमि पर अवस्थित कर देता है। अपने शरीर पर चेतना का प्रभाव पड़ने पर अपने शरीर का अन्य शरीर पर प्रत्यक्ष प्रभाव उपलक्षित होता है और इसका माध्यम भाषा का प्रयोग है। भाषा ही वहाँ इच्छा शक्ति का वाहन है। दुर्वह इच्छा शक्ति अपने वाहन नादात्मक मन्त्र का स्वरूप धारण कर लेती है। शक्ति की प्रबलता भाषा की प्रयोजनीयता है, फलतः इच्छा का समय साक्षात् अन्य पर शक्ति संचार करती है। मनोविज्ञान की पूर्व भूमिका का यह चरम भूमि है। किन्तु वहाँ अध्यात्म चेतना की प्रबलता है। संहृत आत्म चैतन्य की तीव्रता में मन अनिवार्य है। इसका सुन्दर चित्र वाक् सूक्त में अम्भृण कन्या के भुवनेश्वरी के आधृत के प्रकाश में परिलक्षित हैं। कात्यायन के अनुसार सूर्य ही एकमात्र देवता है। सूर्य का सायुज्य लाभ ही एकमात्र उद्देश्य है, इसका समर्थक वाजसनेयि संहिता में व्यक्त है, जहाँ सायुज्य लाभ की विशेष अभिव्यक्ति मिलती है। सत्य तो यह है कि वैदिक साहित्य आध्यात्मिक चेतना का वाङ्मय विग्रह है और यह आध्यामिक चेतना अधिदैव से होती है अधिभूत की भाषा से यह उत्तीर्ण होती है। 'चित्रं देवानामुदगादनीकम्' इसके उपसंहार में कहा गया है—सूर्यः आत्मा 'जगतस्तस्थुषश्च' वैदेशिक व्याख्याओं से इस आध्यात्मिक चेतना का संदेह सुलभ नहीं है, अतः ऐतिहासिक परिवेश में बुद्धि वैभव ही वेद व्याख्या का मूलाधार है। भारतीय दृष्टि में भारतवर्ष की संस्कृति अर्थात् हिन्दू भावना का मूलाधार वेद है। यह एक दीर्घकाल के इतिहास का

अविसंम्वादित रूप है। वेद के साथ ही भारतीय का निःश्वास प्रश्वास घुल मिल गया है। इनका मूलनिवास सरस्वती और यमुना के मध्य भाग में था भरत नामक किसी व्यक्ति के आधार पर यह भारत हो जाता है। भरतर्षभ विश्वामित्र आदि ये साध मण्डल के द्रष्टा हैं।

यह आर्यों की हिन्दू संज्ञा विदेशियों की देन है। वेद के देखने से यह ब्राह्मण या आर्य के शब्द से आभिहित होते थे। इनके साहित्य और संस्कृति में दिव्य शक्ति की प्रेरणा प्रौर वैदिक ऋषियों के अनुभव की प्रेरणा का वाहन वाक् था। वाक् की प्रेरणा में ऋषि के हृदय से ही वेदज्ञान प्रसूत होता है। वैदिक साहित्य को श्रुति कहा जाता है जो परम लोभ में अवस्थित है। यह वेद मंत्रमय है, मंत्रछन्द से अवद्ध है और यह ऋषियों के ज्ञान से दृष्ट है, यह शब्द राशि नित्य अपौरुषेय है। अध्यात्म प्रेरणा का अलौकिक दिव्य धर्म का उत्स यहाँ उपलब्ध है जिसे अनेक साधनाओं के द्वारा फलित करने की चेष्टा की गयी है। आपस्तंव के अनुसार मंत्र और ब्राह्मण वेद का नाम है। वेदव्यास से विभक्त यह ऋग् यजुः साम और अथर्व के रूप में प्रसूत होता है। वेद की व्याख्या संहिता के साथ ही ब्राह्मण भाग में मिलती है। आत्म-नियोग करने वाला ही ब्राह्मवादी कहलाता हैं। मीमांसा या ब्राह्मण का कोई विशेष लक्षण नहीं है। मंत्र का एक अलौकिक सामर्थ्य हैं और यह पर-ब्रह्म-मीमांसा और कर्म मीमांसा के रूप में प्रवर्तित है। मंत्र की ही रचना हुई हैं उसी का परिवर्द्धित परविधि है व्याख्यान ब्राह्मण है क्रिया की बहुलता के कारण यजुर्मन्त्रों का परिवर्धन हो गया है। मंत्र संहिता के साथयुक्त ब्राह्मण का भी तीन भाग ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद है और कर्म मीमांसा ही ब्राह्मण और पद में विविध आघातों के समाधान के रूप में पूर्वमीमांसा के नाम से प्रसिद्ध हुए। वेदानुशीलन में सहायक मीमांसा के ज्ञान के संपूर्ण वेद और वैदिक संस्कृति का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

वैदिक साहित्य-सामान्य परिचय

भारतवर्ष का सांस्कृतिक अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि हिन्दू भावना की ही यहाँ प्रधानता है। आचार्य रामेन्द्र सुन्दर ने हिन्दू समाज को वेदपन्थी समाज के अपर पर्याय के रूप में माना हैं, क्योंकि यह वैदिक शासन को स्वीकार करता है। किन्तु संस्कृति एक मिश्रित संस्कृति है, जिसमें सभी प्राणवन्त संस्कृतियाँ समाहित हैं। वेद हिन्दू के लिए मूर्धन्य ग्रन्थ है। यह धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ भी कहा जा सकता है। वेद के साथ आर्य के श्वास-प्रश्वास समाहित हैं। यह आज की हिन्दू संज्ञा विदेशियों की देन है, जो सिन्धु से सम्बद्ध है। सिन्धुधौत देश ही इसका मूलाधार है। इसमें सन्देह का अवसर नहीं कि वैदिकों ने कहीं भी अपना परिचय हिन्दू शब्द से नहीं दिया। ब्राह्मण शब्द से ऋषियों ने बहुधा अपना परिचय दिया है। साथ ही आर्य शब्द से भी उनका परिचय मिलता है। वस्तुतः उन तीन संज्ञाओं को तीन पर्व का द्योतक माना जा सकता है। उनमें आर्य संस्कृति मूल है और ये काल विवर्तन के रूप में उद्‌भूत हैं।

आर्य संस्कृति अखण्ड या अविमिश्र भावना को वहन नहीं करती ? उसके मध्य में अनेक संस्कृतियाँ मधुमिश्रण के रूप अपने को विसर्जित कर इसको और उन्नत ही किया है। यह एक ऐसी लचीली संस्कृति है, जहाँ अनेक संस्कृतियाँ अपने को विसर्जित कर देती हैं। आर्य संस्कृति में वैदिक, अवैदिक एवं अनार्य तीनों ही भावनाएँ सन्निहित हैं। इतना ही नहीं, अनेक वैदेशिक भावना भी इसमें समयानुसार सन्निहित रही हैं। यही कहा जा सकता है कि गङ्गोत्री के गङ्गा-प्रवाह में जैसे अनेक नदियों के अथवा अशुद्ध, अपवित्र जल अविच्छिन्न रूप से स्थान पाते रहे किन्तु वह गङ्गा ही है, वैसे ही आर्य संस्कृति भी अनेक संस्कृतियों को आत्मसात् करके अवस्थित है। आर्यों ने अपनी संस्कृति का परिचय वेद में प्रतिष्ठित किया है। यह वेद शब्द मात्र ऋग्वेद संहिता के ८।१९।५ में ही प्रयुक्त मिलता है। अनेक साधनाङ्गों के साथ अथर्व संहिता में बहुधा प्रयोग उपलब्ध है। दिव्य शक्ति की प्रेरणा और वाक् की विभूति इसे कहा जा सकता है। वाक् की प्रेरणा में ऋषि हृदय से यह उच्चारण की बाध्यता के कारण वेद की उपलब्धि है। इसकी अपर संज्ञा श्रुति भी हैं। जो भी हो, वेद एक ज्ञान का वाहन है जहाँ अध्यात्म-प्रेरणा के उत्स, धर्म की अलौकिक दीप्ति उपलब्ध है। यह तो सत्य है कि श्रद्धा के आवेश में अवेस्ता त्रिपिटक, बाइबिल, कुरान—किसी को भी प्राकृत मनुष्य की उक्ति नहीं वरन् ईश्वराविष्ट पुरुष की वाणी माना गया है किन्तु वेद का अविर्भाव होता है, उसका वक्ता नहीं है।

मन्त्र और ब्राह्मण के भेद से वेद का द्विधा विभाग है। वेद की अभिव्यक्ति को ब्राह्मण में प्रस्फुटित किया गया है। इसे द्वैपायन कृष्ण ने चार भागों में विभक्त किया जो आज ऋक् यजुष् साम और अथर्व के रूप में उपलब्ध है। प्रत्येक संहिता के साथ उसका अनुयायी ब्राह्मण भाग रहता है जिसे दूसरे शब्दों में ब्रह्म-सम्पर्कित विचार कहा जा सकता है। ब्रह्म मन्त्र और विद्या का अपर पर्याय है। मीमांसकों ने ब्राह्मण का कोई स्वतन्त्र लक्षण नहीं दिया है, इष्टार्थ के प्रेरक मन्त्र हैं और इसके अतिरिक्त सभी ब्राह्मण हैं। मत्र-संहिता और ब्राह्मण-साहित्य भाषा की दृष्टि से विभिन्न उपलब्ध होते हैं। संहिता की दृष्टि से वेद के मन्त्रों का चार भाग किया गया है। इसीलिए इसे चतुर्वेद कहा जाता है। किन्तु वेद को त्रयी भी कहा जाता है। यह भेद प्राचीनतम है, क्योंकि ऋ० वे० १०।१०।९ में यह भेद सुस्पष्ट अभिहित है। छन्दोबद्ध ऋक् है, गीतात्मक साम है, इसके अतिरिक्त यजुः है। अनन्तर ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् के रूप में भी विभाग किया जाता है। शुद्ध ब्राह्मण कर्मकाण्ड का धारक है। आरण्यक, उपनिषद् ज्ञानकाण्ड का वाहक है। तीनों के मूलाधार मन्त्र हैं। कर्म और ज्ञान दोनों सहचरित्र हैं। ज्ञान कर्म का प्रवर्तक है और कर्म के परिणाम में ज्ञान स्पष्ट होता है। ब्राह्मण से उपनिषद् पर्यन्त कर्म का ज्ञानाभिमुखी भाव स्पष्ट है। क्योंकि उपनिषद् भी ब्राह्मण के अन्तर्गत है। किन्तु उपनिषद् की भावना में सबलता के कारण

ज्ञान की ही प्रधानता हो गई और कर्म गौण हो गया। श्रुति के विरुद्ध स्मृति का नाम आता है। श्रुति अपौरुषेय है और स्मृति पुरुष निर्मित है। स्मृतियों में आध्यात्मिक एवं वैषयिक सभी भावनाओं को स्थान मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में ब्रह्मयज्ञ का एक विवरण मिलता है, जिसमें स्वाध्यायि या दैनन्दिन अध्येतव्य विषयों की तालिका मिलती है। उसमें ऋक्, यजुः, साम, अथर्वाङ्गिरस, अनुशासन-विद्या, वाकोवाक्य, इतिहासपुराण, गाथा एवं नाराशंसी निर्दिष्ट होने से सभी वैदिक साहित्य के अन्तर्गत हैं। विद्याओं के मध्य में सर्पविद्या, देवयजनविद्या एवं माया का उल्लेख मिलता है। वाकोवाक्य शब्द से मीमांसा एवं तर्क की उत्पत्ति है। नाराशंसी वीर प्रशस्ति है। इतिहास एवं पुराण को पञ्चम वेद कहा है। गाथा मन्त्र रचना की धारा है। यही प्राचीन स्वाध्याय है। श्रुति और स्मृति दोनों इसके अन्तर्गत हैं। बोध ही इसका उत्स है। इसी क्रम में न्याय और मीमांसा का उद्भव होता है। इस वैदिक साहित्य का शाखा भेद भी था। शाखा शब्द समग्र का बोधक है, अंश का नहीं। कोई भी शाखा हो, उसमें वेद की समग्र भावना और साधना का ही धारावाहिक परिचय मिलता है। शौनक के मत में ऋग्वेद की ५ शाखायें, यजुर्वेद की ८६, सामवेद की १००० शाखाएँ और अथर्ववेद की ९ और यजुर्वेद की १०० शाखाएँ कही गई हैं। प्रत्येक शाखा का संहिता भाग, ब्राह्मण एवं कल्पसूत्र होना उचित है। किन्तु आज इसका व्यतिक्रम मिलता है। किसी शाखा की संहिता, तो किसी शाखा का ब्राह्मण। ऋग्वेद की आश्वलायन शाखा महाराष्ट्र में चलती है किन्तु उनकी संहिता शाकल शाखा की है, ब्राह्मण ऐतरेय शाखा का है केवल कल्पसूत्र आश्वलायन शाखा का मिलता है। ऋक् संहिता की शाकल, शाङ्खायन और वाष्कल-तीन शाखायें मिलती हैं। कौषीतकि और शाङ्खायन एक ही शाखा नहीं है। प्राचीन श्लोक के अनुसार आश्वलायन शाकल के ही शिष्य थे। इस संहिता में बालखिल्य के साथ १०२८ सूक्त में १०५५२ ऋचायें हैं। शाकल संहिता में १० मण्डल में इसका विभाग है, किन्तु वाष्कल संहिता में आठ अष्टक विभाग हैं। मन्त्र संग्रह का नियम मिलने के कारण शाकल संहिता का विभाग युक्तियुक्त है। मण्डल का उपविभाग अनुवाक एवं अष्टक का अध्याय है। वाष्कल संहिता के ८ अष्टक का ६४ अध्याय है। शाकल संहिता में अनुवाक की संख्या ८५। प्रत्येक अध्याय की सूक्त संख्या प्रायः समान है। किन्तु अनुवाक की सूक्त संख्या अनियमित है। अनुवाक या अध्याय दोनों पाठ के अपर पर्याय हैं। ऋक् संहिता के प्रथम और दशम मण्डल में विभिन्न वंशीय ऋषियों के मन्त्र संग्रहीत है, दोनों मण्डलों की सूक्त संख्या १९१ है। द्वितीय से सप्तम पर्यन्त प्रत्येक मण्डल में एक वंश के ऋषि का मन्त्र है। इसलिए ये छः आर्षमण्डल कहे जाते हैं। अष्टम मण्डल विभिन्न ऋषियों के रचित प्रगीथों का संग्रह है। इसलिए प्रगाथ मण्डल भी प्रकीर्ण मण्डल है। नवम मण्डल सोम मन्त्र का संग्रह है और विभिन्न ऋषियों की

अभिव्यक्ति है। अतः यह भी प्रकीर्ण मण्डल ही कहा जायेगा। आधुनिक मनीषियों ने ८ मण्डल को प्राचीनतम भाग माना है, प्रगीथ और सोम मण्डल को परिशिष्ट और प्रथम और दशम मण्डल को परवर्ती काल की रचना माना है। इसके समर्थन में भाषा को आधार बनाया गया है। किन्तु भाव के आधार पर भी इन्होंने क्रमिक विकास के दर्शाने का असफल प्रयास किया है, क्योंकि ऋक्संहिता में भाव एक परिमण्डल ही है। दशम मण्डल में जो दार्शनिक भावनाओं का परिचय मिलता है, उसका आभास आर्षमण्डल में नहीं है, यह कथन सत्य नहीं है। आर्षमण्डल के ऋषि गृत्समद विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज एवं वसिष्ठ हैं। इनके प्रत्येक मण्डल अग्निसूक्त से आरम्भ होते हैं। यह सत्य है कि सोममण्डल का प्रारम्भ सोम मन्त्र से होता है और प्रगीथमण्डल के आरम्भ में भी अग्निसूक्त नहीं है। आर्षमण्डल के देवता के विन्यास की एक रीति है। अग्निसूक्त, उसके बाद इन्द्र सूक्त उसके बाद अन्य देवताओं के सूक्त। ऋग्वेद के अनुष्ठान एवं साधना की दृष्टि से अग्नि, इन्द्र एवं सोम—इस वेद के तीन प्रधान देवता हैं। सोमसूक्त सोममण्डल में संकलित है। देवताओं के सूक्त छन्द के क्रम के अनुसार दिए गए हैं। जगती छन्द का सूक्त पहले रहता है और गायत्री छन्द का अन्त में रहता है। प्रगीथ मण्डल का दूसरा नाम उद्गीथ मण्डल भी है। स्वाभाविक भी है, क्योंकि सोमयाग में उद्गाता का अधिक काम रहता है। इसके अधिकांश ऋषि कण्ववंशीय हैं। आर्षमण्डल प्रगीथमण्डल और सोममण्डल का सङ्कलन तन्त्र विद्या को इङ्गित करता है। देवताओं का आवाहन प्रशस्ति और उनके उद्देश्य से गान और उनको सोमपान कराना—यह यज्ञ की मूलरीति है। यथाक्रम होता, उद्गाता एवं अध्वर्यु और ब्रह्मा है, आर्षमण्डल का विशेष भाग प्रशस्ति संग्रह है। पवमान गुणविशिष्ट सोम कहलाता है। पार्थिव सोमलता संस्कृत एवं पूत होने पर अमृतरस-प्रवाहिनी होती है। उस समय उसके देवता पवमान सोम होते हैं। सोम का पवमान अध्वर्यु का काम है। इसलिए सोममण्डल के साथ उसका योग सुस्पष्ट है। मन्त्रद्रष्टा प्राचीन ऋषिवंशियों के प्रवर्तक के रूप में कई ऋषियों का नाम मिलता है। भृगु, विश्वामित्र, गौतम, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, कण्व, कश्यप और अङ्गिरा। प्रथम सात वंशों के ऋषियों का यथाक्रम में द्वितीय से अष्टम मण्डल के द्रष्टा के रूप में निर्देश है। ऋक् संहिता में इन सभी का नाम प्राप्त होता है। देवताओं में अग्नि एवं इन्द्र की प्रधानता है। दशम मण्डल के सूक्तों के सन्निवेश का एक वैशिष्ट्य है। प्रथम बड़ा और उसके बाद छोटे-छोटे सूक्तों का निर्देश है। छन्द के प्रयोग में भी दशम मण्डल का वैशिष्ट्य है। गायत्री की अपेक्षा अनुष्टुप् का व्यवहार अधिक है। संहिता को अधिकृत स्वरूप में रखने के लिए अनेक पाठों का प्रवर्तन किया गया है। उनमें संहितापाठ मूल है। संहिता का वर्ण स्वर का विकार रहता है, व्याकरण की सन्धि का नियम रहता है—यह संहितापाठ है। सन्धि को अलग कर जो पाठ होता है वह पद पाठ है। शाकल संहिता के पदपाठ के रचयिता शाकल्य हैं। संहितापाठ और पदपाठ को मिलाकर क्रम-

पाठ होता है। क्रमपाठ से ८ पाठ की सृष्टि होती है—जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड और घन।

सामसंहिता को ३ शाखायें मिलती हैं—राणायनीय, कौथुम और जैमिनीय या तलवकार। कौथुम संहिता का दो भाग है—आर्थिक और गान। आर्थिक के प्रायः सभी मन्त्र शाकल संहिता से लिए गए हैं। ९९ मन्त्र शाकल संहिता में नहीं मिलते। आर्थिक का भी दो भाग है—पूर्वार्थिक और उत्तरार्थिक। पूर्वार्थिक में स्वतन्त्र रूप से मन्त्र सङ्गृहीत हैं और उत्तरार्थिक में यागविधि के अनुसार समन्वित हैं। पूर्वार्थिक में मन्त्र स्वतन्त्र है, उत्तरार्थिक में सूक्त के आकार में है। उत्तरार्थिक की स्वरलिपि ऊहगान में है। ऊहगान का दूसरा नाम ऊहरहस्य भी है। साम के पाँच भाग हैं—जो भक्ति शब्द से कहे जाते हैं। प्रस्ताव जिसका गान करने वाला प्रस्तोता, उद्‌गीत जिसका गायक उद्‌गाता, प्रतिहर जिसका गायक प्रतिहर्ता, उपद्रव जिसका गाता उद्‌गाता। सब मिलकर अन्त में निधन। ऊँकार के उच्चारण का गान होता है जिसे हिङ्कार कहते हैं। ऊँकार या हिङ्कार को लेकर गान सप्तभक्ति है। वेद में तीन स्वर है—उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित। सामसंहिता के आर्थिक ग्रन्थपाठ के समय ये तीनों स्वर लगाये जाते है। नारद की शिक्षा के अनुसार ये स्वर पञ्चम मध्यम गान्धार ऋषभ षड्ज निषाद और धैवत शब्द के समान है।

यजुःसंहिता—

यजुर्वेद को कण्ववेद या अध्वर्युवेद भी कहा जाता है। यज्ञ ही कर्म है। देवता के उद्‌देश्य से द्रव्य त्याग यज्ञ है। त्यागकर्ता यजमान है और इस जटिल अनुष्ठान को निष्पन्न करने वाला ऋत्विक् हैं। देवता का आवाहन और प्रशस्ति पाठ, स्तुतिज्ञान एवं उनको उद्‌देश्य कर होम द्रव्य की आहुति-दान यही तीन यज्ञ का मुख्य साधन है। प्रशस्तिपाठ-कर्ता होता, स्तुतिगान कर्ता उद्‌गाता। गेय मन्त्र का संकलन सामसंहिता है। आहुति देने वाला अध्वर्यु है। इन मन्त्रों का सङ्कलन यजुःसंहिता है। ऋग्वेद की भाषा में अध्वर्यु यज्ञ का शरीर-निर्माण करता है। जिन मन्त्रों की सहायता से यह कार्य किया जाता है वे यजुष् हैं। यजुःसंहिता की दो धारायें हैं—कृष्ण और शुक्ल। मन्त्र और ब्राह्मण का एक साथ जहाँ निर्देश है वह कृष्ण है, जिस संहिता में केवल मन्त्र का संग्रह है वह—शुक्ल है। शुक्ल यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के अन्त में कहा गया है—"आदित्यानि इमानि शुक्लानि यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते"—अर्थात् वाजसनेय याज्ञवल्क्य ने आदित्य से इस शुक्ल यजुष् को प्राप्त कर इसकी व्याख्या की है। आदित्य की भावना से भास्कर होने के कारण यह शुक्ल है। एक ही मन्त्र भावना और तात्पर्यनिरूपण के आधार पर एक सम्प्रदाय में कृष्ण और दूसरे में शुक्ल हो जाता है। शुक्ल यजुर्वेद के वृहदारण्यकोप-निषद् के वंश ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि वेद के दो सम्प्रदाय थे—ब्रह्म और आदित्य

(बृहदा० ६.५) ब्रह्म सम्प्रदाय की आचार्य-शिष्य परम्परा प्रजापति से सांजीवीपुत्र है, आदित्य सम्प्रदाय की आदित्य अम्भृणी वाक् कश्यप आदि क्रम में चौदहवें पुरुष याज्ञवल्क्य होते हैं और अन्त में सांजीवी पुत्र आते हैं। ऐसा अवगत होता है कि सांजीवी पुत्र के समय ये दोनों एक हो गए हैं। पुराण में याज्ञवल्क्य विदग्धशाकल्य से ऋग्वेद पढ़ने जाते हैं, उनसे झगड़ा हो जाता है तदनन्तर वैशम्पायन से यजुर्वेद पढ़ने जाते हैं, उन्हें भी छोड़ देते हैं और आदित्य की उपासना से चारों वेद प्राप्त करते हैं (वि० पु० ३.५, भागवत १२.६, देवी पुराण ९.५)। आत्म पुराण और स्कन्दपुराण के अनुसार याज्ञवल्क्य ने आदित्य से चारों वेद पढ़ा था मात्र शुक्ल यजुर्वेद नहीं। इसीलिए शङ्कराचार्य ने याज्ञवल्क्य को चतुर्वेदी कहा (बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य ३.१.२)। गीता में "अयात् यामसंज्ञोऽयं कृत्स्न-कर्मप्रकाशकः" यह कहा गया है (गी० ४.१८)। कृत्स्न कर्म पारिभाषिक ही कर्म में अकर्म, अकर्म में कर्म देखने वाला कृत्स्नकर्मकृत् कहा जाता है। याज्ञवल्क्य से उसका समन्वय होता है। याज्ञवल्क्य का ब्रह्मवाद बौद्ध भावना का परवर्ति काल में परिपोषक रहा है। बौद्ध भावना के मूल में सांख्य की प्रेरणा है। सांख्य प्रवर्तक कपिल का शिष्य आसुरि है और याज्ञवल्क्य का शिष्य भी आसुरि है। यदि दोनों की एकता को छोड़कर याज्ञवल्क्य शिष्य और कपिल शिष्य—दोनों ही कपिल मत के समर्थक और प्रचारक हैं तो याज्ञवल्क्य का ही मत मूलाधार होता है।

यह कहा जा सकता है कि आर्य-भावना की दो मूलधाराएँ हैं—एक ऋषि प्रवर्तित एक मुनि प्रवर्तित। कपिल मुनिधारा के प्रथम ओर सिद्ध हैं। इसीलिए गीता में 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' (गी० १०.२६) कहा गया है। इनका दर्शन सांख्यदर्शन है। याज्ञवल्क्य के अक्षरवर्णवाद में सांख्यभावना अनुस्यूत है। मुनिधर्म एवं प्रव्रज्या दोनों ही उनके अङ्गीकृत हैं (बृ० उ० ३.५, १; ४.४.२२; ४.५.२)। सांख्य का २५ तत्त्व ब्रह्मतत्त्व का अङ्गीभूत है (बृ० उ० ४४.१७)। सांख्य योग का नारीविज्ञान सुपरिचित था (बृ० उ० ४.२.३; ३.२०)। प्रत्यग् दृष्टि से अक्षर ब्रह्मवाद एवं सांख्य का कैवल्यवाद ये दोनों ही मौन अनुभव की दिशायें हैं और याज्ञवल्क्य ऋषिधारा के बाहर है। कुरु पाञ्चाल के भाग को याज्ञिक ब्राह्मणों के प्रति उनकी अवज्ञा से सुस्पष्ट है (बृ० उ० ३.९.१८)। जनक के स्वभाव में उनके साथ में वादानुवाद से ही यह संकेत मिल रहा है। गीता के बाद या सांजीवीपुत्र के समय ब्रह्म-सम्प्रदाय आदित्य-सम्प्रदाय एक हो गये। याज्ञवल्क्य के जीवनकाल में ही स्त्री-प्रज्ञा—कात्यायनी, मैत्रेयी, गार्गी—इन तीन का आविर्भाव हो जाता है। केनोपनिषद् में हैमवती उमा के अतिरिक्त नारी का प्रसङ्ग नहीं आता है। वस्तुतः वंश ब्राह्मण में सुप्रजनन नारी की प्रधानता होने से मातृ नाम का परिचय मिलता है। क्योंकि गर्भाधान की यज्ञ के रूप में ही गणना की जाती है। पौराणिक दृष्टि इस विचार से समन्वय करता है कि—नारी पृथिवी नारी ऋक् नारी आद्या-शक्ति। इसका विस्तृत स्थान तन्त्र में मिलता है। इसकी प्रधानता में एक दृष्टि और भी

लक्ष्य करने योग्य है कि पिता पण्डित दुहिता की कामना करता है—"अथ य इच्छेद् दुहिता में पण्डिता जायेत" (बृ० उ० ६.४.१७)। शङ्कराचार्य ने पण्डिता की व्याख्या गृहकर्मनिपुणा के रूप में की है। यह सभी अम्भृनी और वाक् का प्रभाव है। सर्मपिणी या विद्युत्विसर्पिणी के रूप से वाक् विश्वामित्र की इष्टदेवता हैं (ऋ० वे ३.५३.१५ टीका)। आदित्य-सम्प्रदाय में विश्वामित्र और याज्ञवल्क्य दोनों का सम्बन्ध है।

शुक्लयजुर्वेद की दो शाखायें हैं—वाजसनेयी और माध्यन्दिन। वाजसनेयिसंहिता के शेष में पुरुष सूक्त, सर्वमेध मन्त्र, शिवसंकल्पादि मन्त्र अध्यात्मवाद का परिचायक है और अन्त में ईशोपनिषद् है।

अथर्ववेद संहिता :

अथर्ववेद संहिता को त्रयी विद्या का परिशिष्ट या उसके परिपूरक के रूप में माना जाता है। अथर्ववेद के प्रवर्तक के रूप में तीन ऋषियों का नाम पाया जाता है—अथर्वा, अङ्गिरस और भृगु। यही तीन ऋक् संहिता के प्राचीन पितृपुरुष के रूप में माने जाते हैं, यथा—"अङ्गिरसो नः पितरो न वग्वाऽथर्वाणो भृगवः सोम्यासः तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सोमनसे स्याम्" (ऋ० वे० १०.१४.६)। अथर्वा और अङ्गिरा ये दोनों यज्ञविधि और अग्निविद्या के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हैं। भृगु ने द्युलोक की अग्नि को भूलोक में मनुष्यों के मध्य में प्रतिष्ठित किया (ऋ० वे० १ ५८.६)। अथर्वा एवं भृगु अग्निविद्या के प्रवर्तक हैं, किन्तु अग्नि स्वयं ही अङ्गिरा है। इन तीनों के मूल में अग्नि की दीप्ति की ध्वनि मिलती है। अथर्व संहिता के मन्त्रों का एक पञ्चमांश ऋक्संहिता से लिया गया है, जो पादबद्ध मन्त्र हैं। अथर्व-संहिता का एक षष्ठांश यजुर्वेद के मन्त्रों के समान गद्य से रचित हैं। मन्त्र-रचना की जो धारा दोनों वेद में मिलती है, अथर्ववेद में भी उसी की अनुवृत्ति है, किन्तु दोनों के विनियोग में बहुत भेद है। तीन वेदों का विनियोग श्रौतकर्म में हैं। देवता के साथ सायुज्य के द्वारा अमृतत्व प्राप्ति ही लक्ष्य है। अथर्ववेद का प्रधान विनियोग गृह्यकर्म में है। अनेक शान्तिक और पौष्टिक क्रियाओं के द्वारा देवशक्ति को सहायता से अभ्युदय की प्राप्ति लक्ष्य है। इनसे अतिरिक्त अथर्व संहिता का एक अन्य वैशिष्ट्य है—उपनिषद् भावना। अथर्व संहिता की शौनक शाखा के ७३१ सूक्तों में ५९८७ मन्त्र हैं। सूक्त बीस काण्डों एवं काण्ड प्रपातक तथा अनुवादों में विभक्त है। संहिता के सम्पादन में एक विशिष्ट परिकल्पना का परिचय मिलता है। प्रथम से पञ्चम काण्ड पर्यन्त प्रत्येक काण्ड में एक ही समान सूक्तों का संग्रह है। किन्तु उनकी दीर्घता क्रमशः बढ़ती चलती हैं। इस काण्ड में सूक्तों की मन्त्र-संख्या कम हो गई हैं। सप्तम काण्ड परिशिष्ट के समान है। एक या दो मन्त्रों के ही सूक्त अधिक हैं, कहीं-कहीं दीर्घतर सूक्त भी हैं। सप्तम काण्ड तक अनेक आभ्युदायिक कर्मों के मन्त्र हैं। फलतः संहिता का यह भाग गार्हस्थ्य और सामाजिक जीवन का

पोषक तथा लोकहित के अनुकूल है। अधिक आयुलाभ के लिए ही ये आम्युदिक कर्म दिये गये हैं। भैषज्य अर्थात् आरोग्यकामना के लिए, शान्तिक अर्थात् भूतावेश आदि को दूर करने के लिए, पौष्टिक अर्थात् लक्ष्मीलाभ के लिए, सौमनस्य अर्थात् परस्पर मैत्री सम्पादन के लिए, आभिचारिक अर्थात् शत्रुनाश के लिए, प्रायश्चित्त एवं राजकर्म अर्थात् राष्ट्र के निरापद रूप एवं उन्नति के लिए दिये गये हैं। इनके अतिरिक्त विवाह गर्भाधान आदि के भी अनेक मन्त्र इस भाग में दिये गये हैं।

आठवें से बारहवें काण्ड तक अथर्व संहिता का द्वितीय भाग है। इस भाग में भी आम्युदयिक कर्मों के मन्त्र दिये गये हैं। किन्तु उपनिषद् भावना का ही इस भाग में विशेष स्थान है। वेद ब्राह्मण के आरण्यक अंश में जैसे यज्ञाङ्ग को लेकर रहस्योक्ति का प्राचुर्य देखा जाता है, यहाँ भी वैसा ही उपलब्ध होता है। सामान्य प्रतीक का अवलम्बन कर ऋषि का कविहृदय-रहस्य मुखर ही उठता है यथा—ऋषसूक्त, अजसूक्त, गोसूक्त, औषधिसूक्त आदि। यही कारण है कि सूक्तों का आयतन भी प्रायः विशाल हो गया है। उपनिषद् के ब्रह्मवाद का काव्यरूप भी यहाँ उपलब्ध होता है इसके लिए मधुविद्या, आत्मसूक्त आदि दर्शनीय है। ब्राह्मणों में "य एवं वेद" उन वचनों के द्वारा ज्ञान की प्रशंसा या विद्या की स्तुति का परिचय पग-पग पर उपलब्ध होता है। ये उक्तियाँ प्रथमतः यहीं प्राप्त होती हैं। कामसूक्त के प्राणसूक्त का भी किसी क्रिया के साथ संयुक्त नहीं किया जा सकता वरन् यहाँ दार्शनिक कविचित्त का स्वतन्त्र उच्छ्वास उपलब्ध होता है। अथर्ववेद का भूमिसूक्त पृथिवी की स्तुति के रूप में समग्र वैदिक साहित्य की अतुलनीय उपलब्धि है। ब्रह्मचर्य सूक्त में ब्रह्मचारी की महिमा उदात्तकण्ठ से वर्णित है। गोसूक्त में बन्ध्या गौ के ऊपर दो सूक्त हैं। इसमें रहस्यवाद की छाया सघन रूप में सन्ध्या भाषा की आदि जननी के रूप में उपलब्ध हैं। १३ से २० काण्ड अथर्व का तृतीय अंश है। इनमें १९ और २० परिशिष्ट अंश हैं। इनमें प्रत्येक काण्ड की विषयवस्तु का निर्देश है। काण्ड क्षुद्रायतन हैं। अष्टादश काण्ड विस्तृत हैं। त्रयोदश काण्ड में रोहित नाम से आदित्य का प्रसङ्ग है। आदित्य ही वैदिक देववाद का मूलाधार है। काण्ड के अन्त में ज्ञान की प्रशंसा है। अतः इसे उपनिषद् तत्त्व का प्रकाशक मानते हैं। चतुर्दश काण्ड विवाह प्रकरण है। पन्द्रहवें काण्ड में व्रात्यों की प्रशंसा है। १६वें काण्ड में शान्ति और स्वास्त्ययन के मन्त्र हैं। कतिपय दुःस्वप्न नाशक सूक्त हैं। यह काण्ड भी गद्य में रचित है। १७वाँ काण्ड आदित्य की स्तुति है। अठारहवें में पितृमेध प्रकरण है, जिसके अधिकांश मन्त्र ऋक् संहिता से लिए गये हैं। यह काण्ड पैप्पलाद संहिता में नहीं मिलता। इसके बाद दो काण्डों का उल्लेख अथर्व प्रातिशाख्य में नहीं मिलता। अतः मनीषियों का अनुमान है कि ये बाद में संयोजित किये गये हैं। १९वाँ काण्ड प्रकीर्ण सूक्तों का संग्रह है। इनमें भैषज्यविषयक तीन सूक्त हैं और छः दुःस्वप्ननाशक सूक्त हैं। कतिपय मणिधारण सूक्त इस काण्ड की विशेषता

है। इनसे अतिरिक्त यज्ञ, दर्भ, काल, रात्रि, नक्षत्र, शान्ति इत्यादि इसमें वर्णित है। पुरुषसूक्त परिवर्तित रूप में यहाँ संग्रहीत है। आत्म सूक्त में सद्वाक्यभाव का उल्लेख है—"वरदा वेदमातार:" इसका उल्लेख भी इसी काण्ड में हैं, जिसमें गायत्री की उपासना की दृष्टि सुस्पष्ट है। क्योंकि अनुक्रमणिका में इस सूक्त की देवता गायत्री है। बीसवें काण्ड में अधिकांश मन्त्र ऋक् संहिता से लिये गये हैं। अष्टम मण्डल का अधिक मन्त्र इसमें संगृहीत है। कुन्ताप सूक्त इसका मौलिक अंश है जो दुर्बोध है। अथर्व-संहिता में स्मार्त कर्म की प्रधानता है। सर्वविद् ब्रह्मा का सघन योग है। ब्रह्म प्रज्ञा और शक्ति दोनों का सन्निवेश है। श्रौतकर्म का लक्ष्य प्रज्ञा का उन्मेष देवता के सायुज्य में अमृतत्व या निःश्रेयस लाभ है। स्मार्त कर्म का लक्ष्य अभ्युदयलाभ है। अभ्युदय और निःश्रेयस में कोई विरोध नहीं है। दोनों ही ब्रह्मविद्या के फल हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद अखण्ड वेदविद्या के प्रकाशक हैं। भुक्ति-मुक्ति की समन्वय भावना जो तन्त्र की उपलब्धि है, उसे आथर्वणविद्या सम्प्रदाय की अनुवृत्ति कही जा सकती है। अथर्व में दार्शनिक रहस्योक्तियों का अभाव नहीं है। इस प्रकार यह तीन वेदों का उपजीव्य एवं सिद्धों की विभूति है।

ब्राह्मण

क्लीबलिङ्ग "ब्रह्म" शब्द से ब्राह्मण शब्द निष्पन्न होता है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ वृहत् की चेतना या शक्ति है। मन्त्र एवं मन्त्रशक्ति दोनों ही ब्रह्म हैं। बृहत् का स्वरूप, निरूपण करते हुए ऋक्संहिता में उसके अनेक पर्याय उपलब्ध होते हैं—स्वः, ज्योतिः, परमं, व्योम, परम पदम्, उरुलोकः, अमृतम् (द्र० ऋ०सं० ९.११३; ७.११)। वस्तुतः यज्ञ एक क्रिया है जो भाव की द्योतक है। भाव की अभिव्यक्ति की दृष्टि से क्रिया का जन्म होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि द्रव्य एवं बाह्य उपकरणों के आधार पर जिस तरह यज्ञ सम्पादित होता है, वैसे ही ज्ञान या आन्तर्भाव की भूमि पर ही इसकी सम्पत्ति हो सकती है। ब्राह्मण के अध्ययन से यह सुदृढ़ है कि यज्ञ में एक रहस्यात्मक भावभूमि सन्निहित रहती है। कर्म और ज्ञान की समन्वय भूमि पर ही ब्राह्मण प्रतिष्ठित है। क्रिया के रहस्य का ज्ञान जितना अपेक्षित है, उपनिषद् ज्ञान भी उसी रूप में अपरिहार्य है। कर्म एवं ज्ञान का विरोध परवर्ती काल की देन है। पूर्वमीमांसा उत्तर मीमांसा का विभेद इनका भेदक आधार है। भाषा को मूलाधार बनाकर आधुनिक मनीषियों ने संहितायुग का परवर्ती युग ब्राह्मणयुग को माना है। किन्तु भाषा के साक्ष्य पर ऋक्संहिता से अथर्व संहिता की अर्वाचीनता सिद्ध होने पर भी विद्या की दृष्टि से दोनों के समसामयिक होने में किसी तरह की बाधा अवगत नहीं होती। मन्त्र था, उसकी जिज्ञासा या मीमांसा नहीं थी—यह कथन साहसमात्र है। ऋग्वेद की श्रुतियाँ तत्त्वजिज्ञासा या ब्रह्मबोध का साक्षित्व वहन कर रही है। यजुर्वेद दूसरे शब्दों में कर्मवेद है। प्रयोगविज्ञान के समन्वय की उसके साथ स्वाभाविक प्रक्रिया है। अथर्व-

संहिता में ऋग्वेद के मन्त्रों की उपलब्धि मन्त्र साहित्य के समसामयिक होने में दृढ़तर प्रमाण है। पद्यबन्ध का माधुर्य गद्यबन्ध में उपलब्ध नहीं है। किन्तु चरिष्णुमन का धर्म कालक्रम में परिवर्तित होता है। फलतः भाषा पद्य से गद्य रूप में प्रवाहमान होने लगती है। अतः भाषा की प्रवाहमान धारा का यह शेष पर्व है। सूत्र-साहित्य के उद्भव के साथ ब्राह्मण धारा भी अवरुद्ध हो गई, किन्तु ज्ञानकाण्डीय ब्राह्मण की उपनिषद्धारा अक्षुण्ण रूप से बहती हुई पौराणिक पृष्ठों में अङ्कित होने लगी। कर्म को विधिवत् करने पर वह गद्य की एषणा से परिव्याप्त नित्य नूतन पथ का उन्मेष पाता है। इस तरह आर्यभावना या आर्य समाज आचार में स्थाष्णु और विचार में चरिष्णु होकर उपनिषद् तक गतिशील हो जाता है। मन्त्र और ब्राह्मण को अङ्गाङ्गि-भाव से समन्वित माना जाय तो कोई अयुक्त नहीं। ब्राह्मण का प्रधान विषय यज्ञ-विधि है, किन्तु यह यज्ञविधि सहज रूप से उपलब्ध न होकर अर्थवाद से समन्वित रहती है। कभी संशय की स्थिति में मीमांसा और तत्त्वविज्ञान में उपनिषद् ब्राह्मण के अङ्ग के रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस तरह आरण्यक और उपनिषद् को लेकर ब्राह्मण का विधिभाग परिपूर्ण होता है। यही उपनिषद् और आरण्यक कालक्रम में मीमांसा और वेदाङ्ग का मूलाधार हो जाता है। किन्तु सभी का मूलबीज संहिता की धारा में उपलब्ध है। दूसरे शब्दों में भ्रूण से शिशु, शिशु से युवा, युवा से वृद्ध ये चार भाग ही मन्त्र ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषद् है। ऋक्संहिता में देवता की प्रशस्ति मन्त्रों का सङ्कलन है। अतः इसके ब्राह्मण में होतृ कर्म की विज्ञप्ति और व्याख्या है। इसके दो माध्यम उपलब्ध हैं—ऐतरेय और शाङ्खायन। ऐतरेय ब्राह्मण का सङ्कलन महिदास ऐतरेय ने किया हैं। इसमें ४० अध्याय है। पाँच अध्याय लेकर एक-एक पञ्चिका है। प्रथम सोलह अध्यायों में अग्निष्टोम याग का विवरण मिलता है। अग्निष्टोम एक सोमयाग या निखिल सोमयाग का प्रकृतियाग है। ४ दिन की भूमिका के बाद एक दिन में याग होता है। अनन्तर दो अध्यायों में गवामयन योग का विवरण है। यह भी सौभाग्य है। किन्तु यह ३६० दिन या एक चाँद संवत्सर में सम्पन्न होता है। १६ से २४ अध्याय में द्वादशाह का विवरण है। एक सोमयाग १२ दिन तक चलता है। २५ से ३२ अध्याय पर्यन्त अग्निहोत्र याग का वर्णन हैं। यह श्रौतयाग के मध्य में सबसे सरल विवेचन है। अग्निहोत्री के सम्पूर्ण जीवन में प्रतिदिन इस याग को करना पड़ता है। ब्राह्मण का अंश राजसूय यज्ञ का विवरण है। इसमें क्षत्रिय यजमान होता है। इस अंश में ही हरिश्चन्द्र रोहित और द्युमत्सेन का उपाख्यान आता है। चरैवेति चरैवेति यह गाथा इसी के अन्तर्गत है। यह सत्य है कि इसका बीज ऋक्संहिता में भी मिलता है (५.२.७; १.२७.१३; १३; २५।११)। आधुनिक पण्डितों की दृष्टि से प्रथम पाँच पञ्चिका ब्राह्मण का प्राचीनतम अंश माना गया है। दूसरा ब्राह्मण शांखायन है जिसमें ३० अध्याय है। प्रथम ६ अध्यायों में अग्न्याधान, अग्निहोत्र,

दर्शनपौणमास एवं चातुर्मास याग का विवरण हैं। ये हविर्यज्ञ हैं। इनमें सामगान की आवश्यकता नहीं होती। अग्न्याधान करने पर आहिताग्नि होता है और परियाग का अधिकार प्राप्त होता है। अग्निहोत्र प्रतिदिन करना पड़ता है। दर्श और पौर्णमास अमावास्या और पूर्णिमा को करना पड़ता है। ये दोनों याग सभी अष्टयागों के प्रकृतियाग हैं। चातुर्मास्य याग एक वर्ष में ४ पर्वों में सम्पादित होता है। प्रथम पर्व का अनुष्ठान फाल्गुनी पूर्णिमा, दूसरा आषाढ़ पूर्णिमा, तृतीय पर्व कार्तिकी पूर्णिमा इसके बाद फाल्गुन के शुक्ल प्रतिपक्ष में चतुर्थ पर्व का अनुष्ठान होता है। शाङ्खचायन ब्राह्मण के सप्तम अध्याय से शेष अध्यायों में सोमयाग का विवरण है। इस ब्राह्मण में श्रौतयज्ञ—एक विशिष्ट शृंखला में संयोजित है। ये यज्ञ आदित्य की गति का अनुसरण करते हैं। अहोरात्र पक्षद्वय मास या ऋतुपर्याय या संवत्सर को काल मानकर इसका सम्पादन होता है। आधुनिक मनीषियों ने ऐतरेय को प्राचीनतर माना है।

सामवेद : ब्राह्मण

सामवेद के ९ ब्राह्मणों में जैमिनीय शाखा का जैमिनीय या तलबकार ब्राह्मण, कौथुमीय एवं राणायनीय शाखा का ताण्ड्य या पञ्चविंश या प्रौढ़ ब्राह्मण एवं मन्त्र या छान्दोग्य ब्राह्मण माना गया है। अन्य ब्राह्मण अनुब्राह्मण माने गए हैं। जैमिनीय ब्राह्मण को प्राचीन ब्राह्मण के रूप में माना गया है। सायण के भाष्य में शात्यायन ब्राह्मण के अनेक उद्धरण मिलते हैं। ये जैमिनीय ब्राह्मण से मेल खाते हैं। सम्भवतः यह जैमिनीय ब्राह्मण का प्राचीन ब्राह्मण था जो इस समय मिलता है। जैमिनीय ब्राह्मण ८ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम तीन अध्याय में कर्मकाण्ड है। चौथे से सात अध्याय पर्यन्त उपनिषद् ब्राह्मण है। यह आरण्यक और उपनिषद् का सम्मिश्रण है। प्रसिद्ध तलवकार या केनोपनिषद् सप्तम अध्याय के एकादश खण्ड से आरम्भ होता है और २१वें खण्ड में समाप्त होता है। इसके बाद अतिरिक्त सात खण्डों में सप्तम अध्याय शेष होता है। अष्टम अध्याय आर्षेय ब्राह्मण है। उसमें सामसंहिता का ग्रामगेय एवं आरण्यगेय गान के सामसमूहों के ऋषि इन्द्र देवता आदि की अनुक्रमणी है। आर्ष ब्राह्मण को एक अनुब्राह्मण माना जाता है। आचार्य शङ्कर ने अपने केनोपनिषद् की भाष्यभूमिका में जैमिनीय ब्राह्मण का जो विवरण प्रस्तुत किया है उसमें अध्यायक्रम भिन्न प्रकार का है। प्रथम ८ अध्याय में कर्मकाण्ड प्राणोपासना कर्माङ्ग सामोपासना गायत्र सामविषयक दर्शन एवं वंशक्रम की कथा और नवम अध्याय से पर ब्रह्मविषयक केनोपनिषद् सारब्रह्म निरुपित होता है।

ताण्ड्य ब्राह्मण :

इसके सङ्कलयिता ताण्ड्य ऋषि हैं। इस ब्राह्मण में २५ अध्याय हैं। इसलिए इसको पञ्चविंश ब्राह्मण भी कहा जाता है। ताण्ड्य ब्राह्मण और जैमिनीय ब्राह्मण

का विषय एक ही है किन्तु जैमिनीय ब्राह्मण का आख्यान भाग ताण्ड्य ब्राह्मण से समृद्ध है और ऐतिहासिक मूल्य धारण करता है। कतिपय अतिप्राचीन तान्त्रिक अनुष्ठानों का विवरण उसमें मिलता है जिसे शिष्टाचारविगर्हित मानकर पञ्चविंश ब्राह्मण में छोड़ दिया गया है। पञ्चविंश ब्राह्मण का प्रथम अध्याय यजुमंत्र की एक संहिता है। द्वितीय एवं तृतीय अध्याय में विष्टुति या स्तोमरचना की पद्धति का वर्णन है। सामगान सोमयाग में ही होता है। अतः सामवेदीय ब्राह्मण में केवल सोमयाग का ही विवरण पाया जाता है। जो सोमयाग एक दिन में निष्पन्न होता है, वह एकाह है जैसे ज्योतिष्टोम, गोष्टोम, आयुष्टोम, अभिजित्, विश्वजित्, सर्वजित् आदि। २ दिन से ११ दिन तक जिस यज्ञ में लगता है उसको अहीन कहते हैं, जैसे—कई प्रकार के आर्तरात्र संस्थापक याग, त्रिरात्र, चतुरात्र, पञ्चरात्र, नवरात्र और ११ दिन में सम्पन्न होने वाला पौण्डरीक इत्यादि। ताण्ड्य ब्राह्मण ज्योतिष्टोम या अग्निष्टोम का प्रकार भेद है। ये सभी एकाह एवं अहीन याग के प्रकृति या आदर्श हैं। इसके बाद १२ दिन में होने वाला द्वादशाह याग हैं जिसको मीमांसक 'अहीन' एवं सत्र कहते हैं। सत्र में १३ दिन से २१ दिन, एक वर्ष, तीन वर्ष, १२ वर्ष, १०० वर्ष एवं १००० वर्ष तक चल सकता है। मनुष्य का समस्त जीवन ही यज्ञ है। विश्व की सृष्टि प्रजापति का यज्ञ हैं। यही इसका आशय है। संवत्सर सहाय गवामयन सभी सूत्रों की प्रकृति है। ताण्ड्य एवं जैमिनीय ब्राह्मण में उद्गाता के अनुसार विवरण मिलता है। ताण्ड्य ब्राह्मण के नवम अध्याय में सोमप्रायश्चित्त का वर्णन है। सत्रह अध्याय में ब्रात्यस्तोम नामक एकाह की कथा है। इस भाग का उद्देश्य वैदिक सम्प्रदाय में व्रात्यों को अन्तर्मुक्त करना है।

इस प्रसङ्ग में संक्षेप में यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि वैदिक साहित्य के अनेक स्थानों में व्रात्यों के सम्बन्ध में चर्चा मिलती है। भारतवर्ष की आर्यसाधना के विवर्तन का एक सुन्दर इतिहास यहाँ उपलब्ध होता है। भारतवर्ष की अध्यात्मभावना की अवगति के पक्ष में इसकी विशिष्ट उपयोगिता है। पौराणिक गाथाओं में भी वैदिक धारा का अवैदिक धारा के प्रतिनिधियों के साथ संघर्ष की ही चर्चा उपलब्ध होती है। राजभक्ति के पोषक वैदिक धारा के क्रम में आभिजात्य की मर्यादा का अर्जन करते हैं, जो ब्राह्मण्य धर्म के नाम से परिचित है।

ब्राह्मण्य धर्म मूलतः देववादी है। उनकी आचार और अनुष्ठान की पद्धतियाँ वैदिक श्रौत गृह्य धर्मसूत्र से उद्भूत ब्राह्मण्य स्मृति और पुराणों में पाते हैं। इन्हीं के द्वारा आर्यों का शासन होता रहा है। संस्कृत भाषा ही इस धारा की वाहक रही है। ब्राह्मण्य धर्म एक जीवन्त धर्म है। अतः प्राणशक्ति के प्रेरणास्रोतस्वरूप बाहर के अनेक गम्भीर तत्त्वों को उसने आत्मसात् किया है। उसके आत्मसात् के साथ ही उसे संस्कृत का रूप

देकर चिर आचरित रीति को प्रदान करता है। ब्राह्मण वर्ग का अभिजात अंश वेद की भाषा में ब्रह्म या क्षत्र है। विश् (वैश्य) और साधारण जन अनभिजात कोटि में माने गये हैं। इन्हीं से त्रैवर्णिक समाज की व्यवस्था का उद्‌भव हुआ। वैश्य वेदपन्थी हैं, किन्तु उनके धर्मविश्वास और धर्माचारण में सरलता स्वाभाविक है। वेदमार्गी आर्यों की साधना और भावना का, इतिहास और पुराण है प्रेरक, जिसे प्राचीन ब्राह्मण में पञ्चमवेद के नाम से गिना गया है। यह नितान्त असंगत है कि पौराणिक ब्राह्मण्य धर्म परवर्ती युग की धारणा का निदर्शन है। अथर्ववेद के भाव ऋग्वेद के समकालीन होने पर भी कतिपय वैशिष्ट्य के साथ उपस्थित होते हैं। त्रयी विद्या में वैदिकभावना का एक प्रकाश मिलता है। अथर्वाङ्गिरस् एवं इतिहास पुराण में इसकी दूसरे रूप में दीप्ति मिलती है। एक ही समाज में वैदिक भावना के नजदीक अवैदिक भावना का भी एक स्रोत मिलता है अवैदिक भी आर्य ही हैं किन्तु धर्मविश्वास एवं धर्माचरण में वे उनसे सर्वथा भिन्न हैं। न तो ये वेदवादी हैं और न क्रियाविशेषबहुल आधार के अनुष्ठान में ही निष्णात हैं। यह कहा जा सकता है कि आज के युग में ब्राह्मण्य और हिन्दू धर्म में जो पार्थक्य है, वैसा ही वैदिक आर्यों के समय में भी होगा। इसमें सन्देह नहीं कि ब्राह्मण भी हिन्दू थे, किन्तु वे बुद्धिवादी थे। बुद्धिवादियों की प्राचीन संज्ञा बौद्ध या Rationalist है। संज्ञा के व्यापक अर्थ को मानकर व्यवहार करने पर यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि आर्य-भावना प्राचीनतम युग से ही दो धाराओं में प्रवाहित थी एक ब्राह्मण्य और दूसरा बौद्ध। एक के दर्शन का नाम मीमांसा और दूसरे के दर्शन का नाम तर्क है। एक की सृष्टि वेदान्त और दूसरे की सृष्टि सांख्य सिद्धान्त है। एक का साधन श्रद्धा और दूसरे का तप है। एक का साधन याग और दूसरे का योग है। एक ब्रह्मवादी है दूसरा आत्मवादी। एक का साधक ऋषि है दूसरे का मुनि। एक के भजनीय देवता जैसा कि नैपाली भाषा में दे-भाजु कहा जाता है। एक का अनुवह है—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म, और दूसरा मानुषात् परतरं न हि" एक के लिए प्रमाण वेदश्रुति है तो दूसरे के लिए आर्य। एक का माध्यम संस्कृत दूसरे का प्राकृत। ये दोनों परस्पर एक दूसरे पर आघात करते हुए आज भी प्रवाहमान् हैं। किन्तु भारतवर्ष की साधना भावना इस तरह ओतप्रोत है कि उनका पार्थक्य असम्भव है। अतः कोई भी प्रवृत्ति एक विरोध के रूप में आने पर भी इस भावना से प्रवाहित हो किसी को आराध्य बनाकर श्रद्धासुमन अर्पित करती है। आरम्भ में गणधर्म की भागवत और शेष दो धारायें थीं। शाक्त धारा दोनों के मध्य शक्ति-संचार करती हुई इनको पुष्पित-पल्लवित करती थी। दोनों ही धारायें आर्य एवं आदिम धारायें हैं। व्रात्य शब्द संघ या गण का वाचक है यह व्रत शब्द से निष्पन्न है। व्रात्य दलबद्ध होकर रहते थे और व्रात्यस्तोम के द्वारा ये याज्ञिक समाज में अन्तर्भुक्त होते थे। कात्यायन के अनुसार व्रात्य के विषय में व्यवहार्या भवन्ति यह कथन नितान्त सत्य है। ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार व्रात्यस्तोम के ४ भेद निर्दिष्ट हैं, जो हीन निन्दित कनिष्ठ

एवं ज्येष्ठ व्रात्य को लक्ष्य कर कहे गए हैं। इस प्रकार ताण्ड्य ब्राह्मण के अनुसार वेद-मार्ग के विरोधी व्रात्य माने गए हैं।

ताण्ड्यब्राह्मण का एक परिशिष्ट उपलब्ध होता है जो षड्विंश ब्राह्मण कहा जाता है। इसके ५ प्रपाठक हैं। तृतीय प्रपाठक में ५ नवीन यागों का विधान है—श्येन, इषु, सन्दांश, वज्र एवं विश्वदेव। तन्त्र की भाषा में यह रौद्र कर्म है। चतुर्थ प्रपाठक में ब्राह्मण की प्रातः-सन्ध्यानुष्ठान के सम्बन्ध में आलोचना की गई है। पंचम प्रपाठक अद्भुत ब्राह्मण है। तन्त्र का शान्तिकर्म इससे सामञ्जस्य रखता है। इसके दशम खण्ड में देवमन्दिर आदि का विधान किया गया है। सामवेद का एक प्रधान ब्राह्मण छान्दोग्य या मन्त्र या उपनिषद्ब्राह्मण कहलाता है। इसके १० प्रपाठक हैं। प्रथम दो प्रपाठक में ब्रीहकरण्ड के मन्त्रों का संग्रह है, शेष ८ प्रपाठक में छान्दोग्योपनिषद् हैं। इनके अतिरिक्त ५ और ब्राह्मण हैं जिन्हें अनुब्राह्मण कहा जाता है। सामविधान ब्राह्मण में कृच्छ्र चान्द्रायण आदि प्रायश्चित्तों का विधान है। इसमें तीन प्रपाठक हैं। आर्षेय ब्राह्मण है, इसके बाद दैवत ब्राह्मण हैं। इसमें तीन खण्ड हैं। इसके प्रथम खण्ड में साम का विधान या अन्त्यभाग के देवता का वर्णन है। द्वितीय खण्ड में छन्द के देवता का विवरण एवं तृतीय खण्ड में छन्द के नाम की व्युत्पत्ति है। साहित्योपनिषद् ब्राह्मण ५ खण्ड में विभक्त है। अन्त में वंशब्राह्मण ३ खण्ड में विभक्त है। इसमें सामवेद के सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्यों के वंशधारियों का विवरण है। सामवेद के आदिप्रवक्ता स्वयंभू, ब्रह्मा या श्रोता प्रजापति हैं। प्रजापति से इसका लाभ मृत्यु करता है, मृत्यु से वायु, वायु से इन्द्र, इन्द्र से अग्नि और अग्नि के द्वारा ही कश्यप मनुष्यों में इस वेद का लाभ कराया। मार्कण्डेयपुराण में भी प्रजापतिक्रम में वेद का विस्तार प्रदर्शित है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण :

कृष्ण यजुर्वेद का मन्त्र और ब्राह्मण एक ही साथ दिया गया है। शुक्लयजुर्वेद में उसका पृथक्-पृथक् संकलन होता है। इसका विश्लेषण संक्षेप में पूर्व में ही दिया गया है। कृष्ण-यजुर्वेद की काठक संहिता के ब्राह्मण के अतिरिक्त कोई भी ब्राह्मण नहीं मिलता। मैत्रायणी संहिता का कोई ब्राह्मण नहीं मिलता। तैत्तिरीय ब्राह्मण के तृतीय काण्ड के एकादश प्रपाठक में नचिकेता का उपाख्यान मिलता है। इसमें कठोपनिषद् की आख्यायिका का साम्य है। शुक्ल यजुर्वेद का अतिविपुल शतपथ ब्राह्मण है। १०० अध्यायों में होने के कारण इसे शतपथ कहा गया है। काण्व एवं माध्यन्दिन दो शाखाओं में इस ब्राह्मण की उपलब्धि होती है। काण्व और माध्यन्दिन दो शाखाओं में माध्यन्दिन शाखा का प्राधान्य है। दूसरा सामान्य विवरण निम्नलिखित है—शतपथ ब्राह्मण के प्रथम ९ काण्डों में वाजसनेयि संहिता की व्याख्या उपलब्ध होती है। द्वादश काण्ड का नाम मध्यम है। प्रथम काण्ड का विषय प्रकृति याग है। द्वितीय काण्ड में अग्निहोत्र, पिण्डपितृ-

यज्ञ दाक्षणायन आदि हैं। चतुर्थ काण्ड में सोमयाग पञ्चम में वाजपेय और राजसूय, छठें से दशम तक अग्निचयन वर्णित है। एकादश में पशुबन्ध, पञ्च महायज्ञ आदि हैं। द्वादश में द्वादशाह सत्र, संवत्सर सत्र और सौत्रामणि याग। त्रयोदश में अश्वमेध पुरुषमेध सर्वमेध और पुरुषमेध। चतुर्दश में प्रवार्य एवं बृहदारण्यक शतपथ ब्राह्मण में शाण्डिल्य और याज्ञवक्ल्य प्रधान हैं। आदित्य सम्प्रदाय प्रवर्त्तक हैं। शतपथ ब्राह्मण में श्रमण का उल्लेख मिलता है (१४.७.१.२२) तैतिरीय आरण्यक में इनको वातरसना कहा गया है—"वातरसना है वे ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वपन्थिनः"। वातरसन शब्द का अर्थ दिगम्बर होता है अर्थात् प्राणायाम के द्वारा वे प्राणसंयम में समर्थ होते हैं। यज्ञानुष्ठान के बिना भी विद्या के द्वारा यज्ञसाध्य फल का लाभ करते हैं। वातरसन मुनि का उल्लेख ऋक्-संहिता में भी मिलता है (१०।१३६)। इनको ऊर्ध्वस्रोता या ऊर्ध्वरेता कहते हैं। इस आर्य मुनिधारा का वहन श्रमणों ने किया। इसीलिए ब्राह्मण को प्रव्राज्य मुनिधारा में अर्हत्, बौद्ध, भिक्षु आदि शब्दों से निर्दिष्ट किया गया। व्रात्यों की पूर्वचर्चा तुलनीय हैं। शतपथ में ही विदेहमाधव ने सदानीरा के उपर उपनिषद् भावना को प्रवाहित किया था। व्रात्य और ब्राह्मण्य संस्कृति के मिश्रण से व्युत्पन्न दार्शनिक चिन्तनधारा का विशिष्ट रूप विदेह याज्ञवल्क्य के संवाद में उपलब्ध होता है। शतपथ ब्राह्मण में दो आख्यायिकायें उल्लेखनीय हैं—एक प्रजापति का दुहितृगमन और दूसरी पृथिवी का जलप्लावन। अथर्व संहिता का एक ही ब्राह्मण मिलता है जिसका नाम गोवथ है इसके दो भाग हैं—पूर्व और उत्तर। पूर्व भाग में ५ प्रपाठक हैं, उत्तर भाग में ६।

आरण्यक :

संहिता के प्रधान ब्राह्मणों का शेष अंश ही आरण्यक है। यह नाम संहिता और ब्राह्मण में ही मिलता है। शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड के शेष छः अध्याय बृहदारण्यक है। विद्या की दृष्टि से ब्राह्मण की स्वाभाविक परिणति आरण्यक में और आरण्यक की उपनिषद् में होती हैं। ब्राह्मण में यज्ञविद्या है, आरण्यक में रहस्यविद्या और उपनिषद् में ब्रह्मविद्या। ऋग्वेद के ऐतरेयब्राह्मण का परिशिष्ट अंश ऐतरेयारण्यक है और शाङ्खायनब्राह्मण का शाङ्खायनारण्यक। आरण्यक अध्याय एवं काण्ड में विभक्त है। सामवेद के आरण्यक जैमिनीय ब्राह्मण के अन्तर्गत है और छान्दोग्योपनिषद् का प्रथम अंश है। इसमें अनेक उपासनाओं की अवतारणा की गई है। कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय ब्राह्मण का परिशेष तैत्तिरीयारण्यक है। सप्तम से नवम प्रपाठक तक तैत्तिरीयोपनिषद् है। शुक्ल यजुर्वेद के शतपथब्राह्मण का शेष चतुर्दशकाण्ड का शेष वृहदारण्यक है। प्रथम तीन अध्याय में पूर्वार्ध हैं और छः अध्यायों में वृहदारण्यकोपनिषद् है।

उपनिषद्

उपनिषद् की व्युत्पत्ति को लेकर के अनेक विचार उपलब्ध होते हैं किन्तु सभी विद्यायें आचार्य के समीप जाकर परिचर्या द्वारा प्राप्त करने का विधान है, अतः सभी

विद्याएँ उपनिषद् कही जा सकती हैं। उपनिषद् का सबसे प्राचीन उल्लेख शाक्त संहिता के खिलसूक्त में मिलता है। वहाँ एक ही साथ निषत् और उपनिषद् शब्द का उल्लेख मिलता है। महाभारत में भी ऐसा ही उल्लेख हैं पारिभाषिक अर्थ में निषत् शब्द संहिता और ब्राह्मण में पाया जाता है अर्थात् देवता के आवेश का अनुभव। ऋक् संहिता में भी उपनिषद् शब्द का विशेष अर्थ में ही प्रयोग मिलता है अर्थात् देवता को लक्ष्य कर संवित् निवेदन के आधार का प्रतीक अर्थात् नित्य सामीप्य की भावना। आरण्यक और उपनिषद् के आधार पर निगूढतत्त्व में उपनिषद् शब्द का प्रयोग मिलता है। फलतः देवत्व के सान्निध्य से विद्या की उपलब्धि होती है। शङ्कर के अनुसार अविद्या का नाश करने वाला ही उपनिषद् है। उपलब्ध उपनिषदों की संख्या अनन्त हैं, किन्तु १४ उपनिषदों को विशेष महत्त्व दिया गया है। विषयवस्तु के अनुसार विभिन्न रूप में विभाजन उपलब्ध होता है। पौराणिक अनेक गाथाएँ जो वैदिक साहित्य से ली गई हैं और जो रहस्यात्मक विश्लेषण इसमें उपलब्ध होते हैं, वे इन्हीं के प्रभाव हैं।

अन्त में मैं अनेक व्याख्यान सहित मीमांसादर्शन का तृतीय भाग विद्वज्जनों के सम्मुख समुपस्थित करते हुए अतिशय मोद का अनुभव कर रहा हूँ।

यह सत्य है कि मैं पण्डित प्रवराचार्य श्रीबदरीनाथ शुक्ल एवं पण्डितप्रवर गुरुवर विद्यावाचस्पति श्रीब्रह्मदत्त द्विवेदी के शुभाशीष के सम्बल से ही इस तृतीय भाग के सम्पादन में समर्थ हो सका हूँ। आचार्यप्रवर पट्टाभिराम शास्त्रीजी की अभिमति से इस ग्रन्थ के सौष्ठव में मणिकाञ्चन योग द्वारा मेरा उत्साह द्विगुणित हुआ है।

यह सत्य है कि गुरुवर आचार्य श्री शुक्ल जी की प्रेरणा और सन्दिग्ध विषयों के विवरण के द्वारा उत्साहवर्धन ही मेरे लेखों का मूर्तरूप है। अस्वस्थता के कारण उनकी भूमिका के रूप में उपस्थिति से पाठकों को वञ्चित रहना पड़ा। अन्तिम भाग में गुरुदेव की विस्तृत भूमिका सुलभ रहेगी ऐसा विश्वास है।

इस ग्रन्थ के अशुद्ध्यादि परिमार्जन एवं ग्रन्थसम्पादन में 'पुराणेतिहासाचार्य' पं० कृपासिन्धु शर्मा ने मेरी सहायता की है इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

तारा प्रकाशन के अधिकारी उत्साही विद्यारसरसिक श्रीरमाशङ्कर पाण्ड्या एवं उदीयमान विद्यानुरागी चि० रविशङ्कर पाण्ड्या के उत्साह एवं कार्यकुशलता की प्रशंसा के साथ उनके चिरायुष्य के लिए ईश्वर से प्रार्थी हूँ। पाण्ड्याजी की प्रेरणा लता का ही यह तृतीय पुष्प है।

—महाप्रभुलाल गोस्वामी

मीमांसादर्शनम् विषय-सूची

द्वितीयाध्याये द्वितीयो पादः

विषयः पृष्ठ संख्या

शब्दान्तराधिकरणम् १–२०

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ॥१॥ सि० ॥

शा० भा० १, भा० वि० २, त० वा० ४, न्या० सु० ९, भा० प्र० १८.

अभ्यासाधिकरणम् २०–३७

एकस्यैवं पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ॥२॥ सि० ॥

शा० भा० २०, भा० वि० २१, त० वा० २२, न्या० सु० २८, भा० प्र० ३६

विद्वदधिकरणम् ३७–८५

प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥३॥ सि० ॥

शा० भा० ३७, भा० वि० ३८, त० वा० ४२

दुरुक्तचिन्ताकरणम् ४२

शंका तन्निरासः ५१

अथ तृतीयं पौर्णमास्याधिकरणम् ५३

न्या० सु० ५३, भा० प्र० ६७

विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ॥४॥ ६८

शा० भा० ६८, त० वा० ६९, न्या० सु० ६९, भा० प्र० ६९

गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ॥५॥ ७०

शा० भा० ७०, त० वा० ७०, न्या० सु० ७१, भा० प्र० ७१

चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्यं.पदिश्यते ॥६॥ ७२

शा० भा० ७२, त० वा० ७३, न्या० सु० ७६, भा० प्र० ८१

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥७॥ ८२

शा० भा० ८२, त० वा० ८२, न्या० सु० ८३, भा० प्र० ८३

लिङ्गदर्शनाच्च ॥८॥ ८३
शा० भा० ८३, त० वा० ८४, न्या० सु० ८४, भा० प्र० ८४

उपांशुयाजाधिकरणम् ८५–११०

पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ॥९॥ पू० ॥ ८५
शा० भा० ८५, भा० वि० ८६, त० वा० ८७, न्या० सु० ८८, भा० प्र० ८९

चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥१०॥ सि० ॥ ९०
शा० भा० ९०, भा० वि० ९१, त० वा० ९३, न्या० सु० ९७, भा० प्र० १०५

गुणोपबन्धात् ॥११॥ १०७
शा० भा० १०७, त० वा० १०७, न्या० सु० १०७, भा०प्र० १०८

प्राये वचनाच्च ॥१२॥ १०८
शा० भा० १०८, भा० वि० १०८, त० वा० १०८, न्या० सु० १०९, भा० प्र० ११०

आघाराग्निहोत्राधिकरणम् ११०–१८७

आघारोग्निहोत्रमरूपत्वात् ॥१३॥ पू० ॥ ११०
शा० भा० ११०, भा० वि० १११, त० वा० ११२, न्या० सु० ११२, भा० प्र० ११३

संज्ञोपबन्धात् ॥१४॥ ११४
शा० भा० ११४, भा० वि० ११४, त० वा० ११५, न्या० सु० ११६, भा० प्र० ११७

अप्रकृतत्वाच्च ॥१५॥ ११८
शा० भा० ११८, भा० वि० ११८, त० वा० ११८, न्या० सु० ११९

सिद्धान्तः

चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनःश्रुतिः ॥१६॥ सि०॥ १२०
शा० भा० १२०, भा० वि० १२१, त० वा० १२५
तत्र केषाञ्चिन्मतेन समाधानम् १२९
दध्यादिवदग्नीनां विकल्पेऽपि केषाञ्चिन्मतेन शंकासमाधानम् १३०
न्या० सु० १३२, भा० प्र० १५१

पशुसोमाधिकरणम् १५३–१८८

द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥१७॥ सि० ॥ १५३

शा० भा० १५३, भा० वि० १५४, त० वा० १५६, न्या० सु० १६०, भा० प्र० १६६

अचोदकाश्च संस्काराः ॥१८॥ १६७

शा० शा० १६७, भा० वि० १६८, न्या० सु० १७१, भा० प्र० १७३

तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद् भेदो द्रव्यगुणीभावात् ॥१९॥ १७३

शा० भा० १७३, भा० वि० १७४, त० वा० १७५
विकल्पप्रयोजकवर्णनम् १७७
सूत्रार्थवर्णनम् १७८
न्या० सु० १८०, भा० प्र० १८६

संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वाद् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥२०॥ १८७

शा० भा० १८७; भा० वि० १८७, त० वा० १८७
वृत्तिकारमतेन प्रयोजनविचारः १८७
न्या० सु० १८७, भा० प्र० १८८

संख्याधिकरणम् १८८–२१५

पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेदः स्यात् ॥२१॥ सि० ॥ १८८

शा० भा० १८८, भा० वि० १८९, त० वा० १९१
भाष्यमतेनाधिकरणरचना १९१
न्या० सु० १९५, भा० प्र० २०४

संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ॥२२॥ सि० ॥ २०५

शा० भा० २०५, त० वा० २०७. न्या० सु० २०९, भा प्र० २१५

गुणाधिकरणम् २१६–२३१

गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात् ॥२३॥ सि० ॥ २१६

शा० भा० २१६

त० वा० २१६
तद्धितचतुर्थीमन्त्रवर्णानां विरोधे प्राबल्यनिरूपणम् २१७
श्रुतिवाक्ययोर्यथाश्रुतार्थपरतया व्याख्या २१९
श्रुत्यर्थ-वाक्यार्थयोरसंनिकृष्टत्वविकृष्टत्वाभ्यां बलाबलनिरूपणम् २२०
संक्षेपेणोक्तस्यार्थस्य विस्तरेण व्याख्यानम् २२०
रूढिर्योगाद्बलीयसीति निरूपणम् २२२
उभयोरतुल्यबलत्ववर्णनम् २२२
आवाहनादिनिगमेषु देवतावाचकपदनिवेशोऽनियम इत्याद्यनेकदोष-
वर्णनम् २२३
न्या० सु० २२३, भा० प्र० २३१

गुणप्रत्युदाहरणाधिकरणम् २३२–२३३
अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयते ॥२४॥ सि० ॥ २३२
त० वा० २३२, न्या० सु० २३२, भा० प्र० २३३

इन्द्रियकामाधिकरणम् २३४–२६२
फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात्फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२५॥ २३४
ता० वा० २३५
शंकासमाधाने २३५
निमित्तफलाभ्यां तदेव कर्मेति आक्षेपप्रतिक्षेपौ २३५
उत्पत्तिवाक्येन गुणफलनिमित्तवाक्यानां सम्बन्ध इत्याशङ्कानिरासः २३६
उत्पत्तिवाक्येनैव भेदप्रतिनिरास इत्याशङ्कानिरासकरणम् २३६
भेदविरुद्धायाः प्रत्यभिज्ञाया निरासः २३७
सामान्यतो दृष्टानुमाने हेत्वाभासवर्णनम् २३८
सादृश्यमादाय शङ्का २३९
अस्य भाष्यस्यावलम्बनावगम्यगमकभावात् न भाष्याभिमत इति
केषाञ्चिन्मतस्योपन्यासनिरासौ २३९
उक्तानुमाने व्यभिचारोद्भावनम् २४०
न्या० सु० २४१, भा० २४८
अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत ॥२६॥ सि० ॥ २४८
शा० भा० २४८
गुणात् फलमिति सिद्धान्तस्योपपादनम् २५०
त० वा० २५०

प्रत्ययो दधिफलसम्बन्धविधानार्थं इत्यस्योपपादनम् २५१
अथ केषाञ्चिन्मतेन समाधानम्, तन्निरासश्च २५२
वार्त्तिकमतम् २५२
केषाञ्चिन्मतस्योपन्यासनिरासौ २५२
अस्य भाष्यस्य केषाञ्चित् व्याख्यानम्, तन्निरासश्च २५३
अथवेति प्रमादपाठ इति अन्येषां व्याख्यानस्य निरासेन स्वाभिप्राय-
वर्णनम् २५३
न्या० सु० २५४, भा० प्र० २६१

रेवत्यधिकरणम् २६२–२८९

समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ॥२७॥ सि० ॥ २६२
शा० भा० २६२, त० वा० २६५
सिद्धान्तः २६६
शङ्का २६६
तन्निरासः २६७
वारवन्तीयोद्देशेन रेवतीविधानायेति शङ्का २७०
कृत्वा शब्दस्य विधायकत्वाभावेऽपि फलतोविधायकत्वमिति तन्निरासः २७०
तत्रैव प्रकारान्तरवर्णनम् २७१
न्या० सु० २७३, भा० प्र० २८९

सौभराधिकरणम् २९०–३०७

सौरभे पुरुषश्रुतेर्निधने कामसंयोगः ॥२८॥ पू० ॥ ,,
शा० भा० २९०, त० वा० २९१
भाष्यानुसारिणा केषाञ्चित् व्याख्यानस्य
अनुवादनिरासौ २९२
न्या० सु० २९२, भा० प्र० २९५
सर्वस्य वोक्तकामत्वात्तस्मिन् कामश्रुतिः
स्यान्निधनार्था पुनः श्रुतिः ॥२९॥ सि० ॥ २९६
शा० भा० २९६, त० वा० २९६
केषाञ्चित् पक्षस्य समीक्षा २९७
अत्र वार्त्तिकमतम् २९७
अत्र वार्त्तिकमतम् ३००
न्या० सु० ३०१, भा० प्र० ३०७

द्वितीयाध्याये तृतीयः (रथन्तर)पादः

रथन्तराधिकरणम् ३०९–३२७

गुणस्तु क्रतुसंयोगात्कर्मान्तरं प्रयोजयेत्संयोगस्याशेषभूतत्वात् ॥१॥ पू० ॥ ३०९

शा० भा० ३०९, त० वा० ३११, न्या० सु० ३१३, भा० प्र० ३१९

एकस्य तु लिङ्गभेदात्प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात् ॥२॥ सि० ॥ ३२१

शा० भा० ३२१, त० वा० ३२२, न्या० सु० ३२४, भा० प्र० ३२७

अवेष्ट्यधिकरणम् ३२९–३५१

अवेष्टौ यज्ञसंयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते ॥३॥ सि० ॥ ३२९

शा० भा० ३२९, त० वा० ३३१, न्या० सु० ३३८, भा० प्र० ३५१

आधानाधिकरणम् ३५३–३६५

आधानेऽसर्वशेषत्वात् ॥४॥ सि० ॥ ३५३

शा० भा० ३५३, त० वा० ३५५, न्या० सु० ३५९, भा० प्र० ३६५

दाक्षायणयज्ञाधिकरणम् ३६७–३७५

अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ॥५॥ पू० ॥ ३६७

शा० भा० ३६७, त० वा० ३६७, न्या० सु० ३६७

अगुणा च कर्मचोदना ॥६॥ ३६८

शा० भा० ३६८, त० वा० ३६८, न्या० सु० ३६८, भा० प्र० ३६८

समाप्तं च फले वाक्यम् ॥७॥ ३६९

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु०, भा० प्र० ३६९

विकारो वा प्रकरणात् ॥८॥ सि० ॥ ३६९

शा० भा०, त० वा० ३६९, न्या० सु० ३९७, भा० प्र० ३७१

लिङ्गदर्शनाच्च ॥९॥ ३७१

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु०, भा० प्र० ३७१

गुणात्संज्ञोपबन्धः ॥१०॥ ३७३

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु० ३७३, भा० प्र० ३७४

समाप्तिरविशिष्टा ॥११॥ ३७४

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु० ३७४, भा० प्र० ३७५

द्रव्यदेवतायुक्तानां यागान्तरताधिकरणम् ३७५–३८७

संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥१२॥ पू० ॥ ३७५

शा० भा०, त० वा० ३७५, न्या० सु० ३७६, भा० प्र० ३७८

यावदुक्तं वा कर्मणः श्रुतिफलत्वात् ॥१३॥ ३८३

शा० भा०, त० वा० ३८०, न्या० सु० ३८१, भा० प्र० ३८३

यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात् ॥१४॥ सि० ३८३

शा० भा० ३८३, त० वा० ३८४, न्या०सु० ३८५, भा० प्र० ३८६

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥ ३८७

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु०, भा० प्र० ३८७

देवतासंयोगाभावे यागविधायकत्वाधिकरणम् ३८८–४०४

विशये प्रायदर्शनात् ॥१६॥ सि० ॥ ३८८

शा० भा० ३८८, त० वा० ३८९, न्या० सु० ३९०, भा० प्र० ३९२

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥१७॥ ३९३

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु०, भा० प्र० ३९३

संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ॥१८॥ सि० ॥ ३९४

शा० भा० ३९३, त० वा० ३९५, न्या० सु० ३९६, भा० प्र० ३९७

आग्रपात्नीवताधिकरणम् ३९८–४०५

पात्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः ॥१९॥ सि० ॥ ३९८

शा० भा० ३९८, त० वा० ३९९, न्या० सु० ४०१, भा० प्र० ४०४

मंथवदाभ्यग्रहाधिकरणम् ४०६–४१०

अद्रव्यत्वात्केवले कर्मशेषः स्यात् ॥२०॥ सि० ॥ ४०६

शा० भा०, त० वा० ४०६, न्या० सु० ४०७, भा० प्र० ४१०

चयनाधिकरणम् ४११–४१९

अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात्क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥२१॥ पू० ॥ ४११

शा० भा०, त० वा० ४११, न्या० सु० ४१२, भा० प्र० ४१४

द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥२२॥ सि० ॥ ४१४

शा० भा०, त० वा० ४१४, न्या० सु० ४१५, भा० प्र० ४१७

तत्संयोगात्क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ॥२३॥ ४१७

शा० भा०, त० वा० ४१७
वृत्त्यन्तरस्यानुवादनिरासौ ४१७
न्या० सु० ४१८, भा० प्र० ४१९

प्रकरणान्तराधिकरणम् ४१९–४३३

प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥२४॥ सि०॥ ४१९

शा० भा० ४१९
तत्र भाष्यमतम् ४२०
त० वा० ४२०
उक्तस्य भाष्यमतस्य समीक्षा ४२१
वार्तिकमतेन प्रकरणान्तराधिकरणम् ४२२
न्या० सु० ४२४, भा० प्र० ४२९

फलं चाकर्मसंन्निधौ ॥२५॥ सि० ॥ ४३०

शा० भा० ४३०, न्या० सु० ४४१, भा० प्र० ४३३

सन्निधौ फलादेःकर्मभेदकत्वाभावाधिकरणम् ४३४–४३९

सन्निधौ त्वविभागात्फलार्थेन पुनः श्रुतिः ॥२६॥ सि० ॥ ४३९

शा० भा० ४३४, त० वा० ४३५
केषाञ्चिन्मतस्यानुवादनिरासौ ४३६
वृत्तिमतस्योपन्यासनिरासौ ४३६
न्या० सु० ४३६, भा० प्र० ४३९

आग्नेयपुनश्श्रुतेः स्तुत्यर्थत्वाधिकरणम् ४३९–४४६

आग्नेयस्तूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत ॥२७॥ पू० ॥ ४३९

शा० भा०, त० वा० ४३९, न्या० सु०, भा० प्र० ४४०

अविभागात्तुकर्मणोद्विरुक्तेन विधीयते ॥२८॥ ४४१

शा० भा०, त० वा० ४४१, न्या० सु०, भा० प्र० ४४२

अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः ॥२९॥ सि० ॥ ४४३

शा० भा०, त० वा० ४४३, न्या० सु० ४४४, भा० प्र० ४४५

द्वितीयाध्याये: चतुर्थः पादः

यावज्जीवाधिकरणम् ४४६–४६८

यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ॥१॥ पू० ॥ ४४६

शा० भा०, त० वा० ४४६

भाष्योक्तविचारस्यासांगत्ये केषाञ्चित् समाधानम्, तन्निरासश्च ४४६

न्या० सु० ४४७, भा० प्र० ४५०

कर्त्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥२॥ सि० ॥ ४५०

शा० भा० ४५०, त० वा० ४५१, न्या० सु० ३५३, भा० प्र० ४५८

लिङ्गदर्शनाच्च कर्म धर्म हि प्रक्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत्स्यात् ॥३॥ ४५९

शा० भा०, त० वा० ४५९, न्या० सु० ४६० भा० प्र० ४६१

व्यपवर्गं च दर्शयति कालश्चेत्कर्मभेदः स्यात् ॥४॥ ४६२

शा० भा०, त० वा० ४६२, न्या० सु० ४६३, भा० प्र० ४६४

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥५॥ ४६४

शा० भा०, ४६४, त० वा० ४६५, न्या० सु०, भा० प्र० ४६६

विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥६॥ ४६६

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु० भा० प्र० ४६६

कर्तुस्तु धर्मनियमात्कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ॥७॥ ४६७

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु० ४६७, भा० प्र० ४६९

शाखान्तराधिकरणम् ४६९–५२४

नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनप्रायश्चित्तान्यार्थ-
दर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् ॥८॥ पू० ॥ ४६९

शा० भा० ४६९, त० वा० ४७१

अत्र शंका तत्र केषाञ्चित् समाधानम्, तन्निरासेन स्वमतञ्च ४७१

न्या० सु० ४७३, भा० प्र० ४७३

एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात् ॥९॥ सि० ॥ ४८७

शा० भा०, त० वा० ४८७, न्या० सु० ४८८, भा० प्र० ४९०

न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात् ॥१०॥ ४९१

शा० भा०, त० वा० ४९१, न्या० सु० भा० प्र० ४९२

सर्वेषां नैककर्म्यं स्यात् ॥११॥ ४९२

शा० भा०, त० वा० ४९२, न्या० सु० भा० प्र० ४९३

कृतकं चाभिधानम् ॥१२॥ ४९४

शा० भा०, त० वा० न्या० सु० भा० प्र० ४९४

एकत्वेऽपि परम् ॥१३॥ ४९५

शा० भा० ४९५

विद्यायां धर्मशास्त्रम् ॥१४॥ ५०१

शा० भा०, त० वा० न्या० सु० ४९५, भा० प्र० ४९६

आग्नेयवत्पुनदर्शनम् ॥१५॥ ४९७

शा० भा०, त० वा० न्या० सु० भा० प्र० ४९७

अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥१६॥ ४९७

शा० भा० ४९७, त० वा०, न्या० सु० ४९८, भा० प्र० ५००

वाक्यासमवायात् ॥१७॥ ५०१

त० वा०, भा० प्र० ५०१

वाक्यासंनिधेश्च ॥१८॥ ५०१

शा० भा० ५०१, त० वा०, न्या० सु० ५०२, भा० प्र० ५०३

न चैकं प्रति शिष्यते ॥१९॥ ५०३

शा० भा०, त० वा० ५०३, न्य० सु० ५०४, भा० प्र० ५०५

समाप्तिवच्च संप्रेक्षा ॥२०॥ ५०५

शा० भा०, त० वा० ५०५, न्या० सु० भा० प्र० ५०६

एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥२१॥ ५०६

शा० भा० ५०६, त० वा० ५०७

वाक्यसंयुक्तानां साङ्कर्यम्, प्राकरणिकानां व्यवस्थेतिवदतां केषाञ्चित् मतस्योपन्यासनिरासौ ५०७

न्या० सु० ५०७, भा० प्र० ५०९

प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥२२॥ ५०९

शा० भा० ५०९, त० वा०, न्या० सु०, भा० प्र० ५१०

प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥२३॥ ५१०

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु०, भा० प्र० ५१०

समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद्यथाज्ञाते प्रतीयेत ॥२४॥ ५११

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु० ५११, भा० प्र० ५१२

लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्न हि तत्र कर्मचोदना, तस्माद् द्वादशाहस्याऽऽहारव्यपदेशः स्यात् ॥२५॥ ५१२

शा० भा०, त० वा० ५१२, न्या० सु० भा० प्र० ५१३

द्रव्ये चाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥२६॥ ५१४

शा० भा० त० वा० ५१४, न्या० सु० ५१५ भा० प्र० ५१६

विहितप्रतिषेधात्पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥२७॥ ५१७

शा० भा० ५१७, त० वा०, न्या० सु०, भा० प्र० ५१८

सारस्वते विप्रतिषेधाद्यदेति स्यात् ॥२८॥ ५१८

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु० ५१८, भा० प्र० ५१९

उपहव्येऽप्रतिप्रसवः ॥२९॥ ५२०

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु०, भा० प्र० ५२०

गुणार्था वा पुनः श्रुतिः ॥३०॥ ५२१

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु०, भा० प्र० ५२१

प्रत्ययं चापि दर्शयति ॥३१॥ ५२१

शा० भा० ५२१, न्या० सु०, भा० प्र० ५२२

अपि वा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ॥३२॥ ५५२

शा० भा, त० वा०, न्या० सु०, भा० प्र० ५२२

विरोधिनां त्वसंयोगादैक कर्म्ये तत्संयोगाद्विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् ॥३३॥ ५२३

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु० ५२३, भा० प्र० ५२४

तृतीयाध्यायः प्रथमः पादः

शेषप्रतिज्ञाधिकरणम् ५२५–५३२

अथाऽतः शेषलक्षणम् ॥१॥ (प्रतिज्ञासूत्रम्) ५२५

शा० भा०, त० वा० ५२५

शेषलक्षणपदार्थनिरूपणम् ५२५

क्रमस्यावश्यकता तत्र प्रमाणानि च ५२६
सप्तमादिद्वादशान्तप्रतिपाद्यविषयनिर्देशः ५२६
शेषलक्षणशब्दस्य कृत्स्नशास्त्रविषयत्वं प्रतिपाद्य तृतीयाध्यायप्रतिपाद्यतया द्वितीयव्याख्यानम् ५२६
भेदनिरूपणस्य हेतुत्वोपपादनम् ५२७
अध्याययोस्संबन्धवर्णनम् ५२७,
प्रथमाध्यायप्रतिपाद्यो विषयः ५२७
द्वितीयाध्यायार्थवर्णनम् ५२८
कर्मभेदस्यैव शेषत्वनिरूपणे हेतुता ५२९
आक्षेपविस्मराभ्यां व्याख्यानवर्णनम् ५२९
अथ शब्दस्याधिकारार्थनिरूपणम् ५२९
अधिकारनिरूपणे क्रमपर्यन्तनिरूपणं हेतुः ५३०
शेषनिरूपणञ्च बहुप्रकारमिति वर्णनम् ५३०
तृतीयाध्यायप्रतिपाद्यविषयसंक्षेपः ५३१
भा० प्र० ५३२

शेषलक्षणाधिकरणम् ५३२–५३८

शेषः परार्थत्वात् ॥२॥ सि० ॥ ५३२
शा० भा०, त० वा० ५३२
अविनाभूतत्वादिलक्षणानां निराकरणमुखेन पारार्थत्वं लक्षणम् ५३३
प्रयोज्यत्वलक्षणस्य दूषणम् ५३४
प्रधानविध्यधिकत्वविधानम् ५३४
विध्यन्तविहितत्वमिति दूषणम् ५३४
उपकारकत्वमिति लक्षणस्य दूषणम् ५३५
अङ्गत्वलक्षणम् ५३६
भा० प्र० ५३८

बादर्यधिकरणम् ५३९–५४५

द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ॥३॥ पू० ॥ ५३९
शा० भा०, त० वा० ५३९, भा० प्र० ५४०
कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् ॥४॥ सि० ॥ ५४०
शा० भा० ५४०, त० वा० ५४१, भा० प्र० ५४१
फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥५॥ ५४०
शा० भा०, तवा०, भा० प्र० ५४१

पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥६॥ ५४२

शा० भा०, त० वा० ५४२, भा० प्र० ५४४

तेषामर्थाधिकरणम् ५४५–५५५

तेषामर्थेन सम्बन्धः ॥७॥ सि० ॥ ५४५

शा० भा०, त० वा० ५४५

तत्र केषाञ्चिन्मतोपन्यासः ५४६

भा० प्र० ५४७

विहितस्त सर्वधर्मः स्यात्संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च ॥८॥ ५४८

शा० भा०, त० वा० ५४८, भा० प्र० ५४९

अर्थलोपादकर्म स्यात् ॥९॥ ५४९

शा० भा०, त० वा०, भा० प्र० ५४९

फलं तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभावाद्विप्रयोगे स्यात् ॥१०॥ ५५०

शा० भा०, त० वा०, भा० प्र० ५५२

द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्यते ॥११॥ सि० ॥ ५५३

शा० भा० ५५३, त० वा० ५५४, भा० प्र० ५५५

अरुणाधिकरणम् ५५६–५८२

अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरेककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥१२॥ सि० ॥ ५५६

शा० भा० ५५६, त० वा० ५६३

पिङ्गाक्षीत्यादिशब्दानां गुणवाचित्वमिति शङ्का ५६३

मतुप्प्रत्ययस्य सम्बन्धवाचिकत्वम् ५६३

बहुव्रीहेस्सम्बन्धवाचित्वोपपादनम् ५६४

तन्निरासः ५६५

सम्बन्धवाचकत्वे गौरवकथनम् ५६५

अभिधानमिति केषाञ्चिन्मतम् ५६९

अपरेषां मतम् ५५९

तन्निरासेन पिंगाक्ष्यादिशब्दानां द्रव्यवाचित्वम् ५६९

लक्षणाया सावान्तरभेदाया निरूपणम् ५७३

अत्र गुणवाचिनां शब्दानां मध्ये केषाञ्चिदगुणवाचित्वम्, केषाञ्चिदगुणि-
परात्वं तथैव लक्षणायामपि विशेष इत्युपपादनम् ५७३

अत्र विषये शाब्दिकानां तार्किकाणाञ्च विशेषकथनम् ५७४
सिद्धान्तवर्णनम् ५७७
द्रव्यगुणयोः परस्परनियमस्योपपादनम् ५७८
भा० प्र० ५८२

ग्रहैकत्वाधिकरणम् ५८३–६४३

एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥१३॥ पू० ॥ ५८३
शा० भा० ५८३, त० वा० ५८४
पौरुषेयवाक्येषु विवक्षाविवक्षे वैदिकेषु श्रुताश्रुतयोर्ग्रहणमिति निरूपणम् ५८४
अभिधात्रीणां विनियोक्त्रीणां विधात्रीणां भेदप्रतिपादनम् ५८५
पूर्वव्याख्यातॄणामेव विवक्षाविवक्षे अर्वाचीनव्याख्यातृभिर्विवक्षतमविवक्षितमुच्यते इति निरूपणम् ५८६
अन्तर्यामिब्राह्मणावलम्बनेन समाधानान्तरम् ५८७
विधिशक्त्या गृहीतं विवक्षितम्, तेन त्यक्तञ्चाविवक्षितमिति वार्तिकमतम् ५८७
पूर्वपक्षः ५८८
न्या० सु० ५९०, भा० प्र० ६००

सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् ॥१४॥ सि० ॥ ६००
शा० भा० ६००, त० वा० ६०३
अष्टपक्ष्या उपन्यासः ६०४
पुनर्विशेष्यविशेषणभावेन विकल्पः ६०४
उद्देश्यत्वेन, उपादेयत्वेन च विकल्पः ६०४
एवं सन्देहमुपन्यस्य संख्याया विधेयत्वपक्षोपन्यासदूषणम् ६०५
सम्बन्धस्य युगपद्विधानं वा क्रमेण वेत्ति विकल्प्यदूषणम् ६०५
ग्रह-सम्मार्ग-भावनाभिरगृहीतत्वात् एकत्वस्याविवक्षेति क्रमशो विस्तरेण निरूपणम् ६०६
प्राप्ति-परिसंख्ययोः एकस्मिन्वाक्येऽसम्भवप्रतिपादनम् ६०६
भाष्यमतस्य निराकरणम् ६०७
अत्रविषये वार्त्तिकमतम् ६०८
अप्राप्तविधिः, फलतः परिसंख्येतिविशेषकथनम् ६०८
दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यनिरूपणम् ६१०

एकत्वस्याविवक्षायां कर्मत्वस्याप्यविवक्षाया सर्वग्रहसम्मार्गस्यासंभव इत्याशङ्का ६१३
अत्रैव शक्तं पदमिति न्यायमतं निरस्य स्वमतवर्णनम् ६१४
उक्तशंकायाः निरासः ६१४
एकत्वमुद्दिश्य संमार्गस्य विधानमिति दूषणम् ६१६
न्या० सु० ६१८, भा० प्र० ६४१
चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुति प्रतीयते ॥१५॥ ६४१
शा० भा० ६४१, त० वा०, न्या० सु०, भा० प्र० ६४२
संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥१६॥ पू० ॥ ६४३
शा० भा० ६४३,

चमसाधिकरणम् ६४३–६४८

त० वा० ६४३, न्या० सु० ६४४, भा० प्र० ६४५
व्यवस्था वाऽर्थस्य श्रुतिसंयोगात्तस्य शब्दप्रमाणत्वात् ॥१७॥ सि० ॥ ६४४
शा० भा० त० वा० ६४६, न्या० सु० ६४७, भा० प्र० ६४८

आनर्थक्यतदङ्गाधिकरणम् ६४९–६५३

आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ॥१८॥ ६४९
शा० भा० ६४९, त० वा० ६५०, न्या० सु० ६५१, भा० प्र० ६५३

अभिक्रमणाधिकरणम् ६५४–६५९

कर्तृगुणे कर्मासमवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥१९॥ पू० ॥ ६५४
शा० भा० ६५४, त० वा०, न्या० सु० ६५५, भा० प्र० ६५७
साकाक्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण ॥२०॥ सि० ॥ ६५७
शा० भा० ६५७, त० वा० ६५७, न्या० सु० ६५८
भाष्यमतनिराकरणेन वार्त्तिकमतेनाधिकरणार्थनिरूपणम् ६५९
भा० प्र० ६५९

उपवीतस्य दर्शपूर्णमासाङ्गताधिकरणम् ६६०–६७०

संदिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥२१॥ सि० ॥ ६६०
शा० भा० ६६०, त० वा० ६६२, न्या० सु० ६६५, भा० प्र० ६७०

वारणादीनां सर्वयज्ञाङ्गताधिकरणम् ६७२–६७९

गुणानां च परार्थत्वादसंबन्धः समत्वात् स्यात् ॥२२॥ सि० ॥ ६७४

शा० भा० ६७४, त० वा० ६७५

भाष्यमते आक्षेपः, समाधानम्, वात्तिकमतम् ६७६

न्या० सु० ६७७, भा० प्र० ६७९

वार्त्रघ्न्यादीनामाज्यभागाभङ्गताधिकरणम् ६८१–६९३

मिथश्चानर्थसम्बन्धात् ॥२३॥ सि० ॥ ६८१

शा० भा०, त० वा० ६८१, न्या० सु० ६८२, भा० प्र० ६८२

आनन्तर्यमचोदना ॥२४॥ सि० ॥ ६८५

शा० भा० ६८५, त० वा० ६८६

तत्र केषाञ्चिन्मतम् ६८६

न्या० सु० ६८७

उक्तपराजितशब्दार्थविवरणम् ६८९

भा० प्र० ६ २

वाक्यानां च समाप्तत्वात् ॥२५॥ ६९३

शा० भा०, त० वा०, न्या० सु०, भा० प्र० ६९४

आग्नेयस्य चतुर्थाधिकरणम् ६९४–७०२

शेषस्तु गुणसंयुक्ता साधारणः प्रतीयेत मिथस्तेषामसंबन्धात् ॥२६॥ पू० ॥ ६९४

शा० भा० ६९४, त० वा०, न्या सु० ६९५, भा० प्र० ६९७

व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धाल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः ॥२७॥ सि० ॥ ६९७

शा० भा० ६९७, त० वा० ६९८, न्या० सु० ७००

कातीश्रशब्दनिष्पत्तिवर्णनम् ७००

भा० प्र० ७०२

मीमांसादर्शनम्

अथ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ।

अथ प्रथमं शब्दान्तराधिकरणम्

[१] शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात् ॥ १ ॥ सि० ॥

शा० भा०—अस्ति ज्योतिष्टोमः तत्र श्रूयते 'सोमेन यजेत, दक्षिणानि जुहोति, हिरण्यमात्रेयाय ददाति' इति । यजति-ददाति-जुहोतयस्ते[१] किं संहत्य कार्यं कुर्वन्ति, उत वियुत्यैवेति[२] संशयः । साधकाः संहत्यापि साध्यन्तो दृश्यन्ते, वियुत्यापि । संहत्य तावत् त्रयो ग्रावाणः एकामुखां धारयन्तो दृश्यन्ते । नागदन्तकास्तु वियुत्यापि । एकैकस्मिन हि शक्यते शिक्यमवलम्बयितुम् । अतो यजति-ददाति-जुहोतयः संहत्य साधयेयुः, वियुत्य वेति जायते संशयः ॥

किं तावत् प्राप्तम् ? संहत्येति । कुतः ? अदृष्टार्थानामुपकारकल्पनाऽल्पीयसी न्याय्येति । कथम् ?

अदृष्टो[३] योऽश्रुतो वाऽर्थः स नास्तीत्यवगम्यते ।
तस्मिन्नसति दृष्टश्चेच्छ्रुतो वा न विरुध्यते ॥
विरुध्यमाने कल्प्यः स्याज्जायते तेन सोऽर्थवान् ।
विशेषश्चेन्न गम्येत, ततो नैकोऽपि कल्प्यते ॥

गम्यते च विशेषः—बहुभ्य एकमपूर्वमिति । तस्मात् समुदायश्चिकीर्षितः । ततो ह्यदृष्टे कल्प्यमाने अवयवानां समुदायं प्रत्यर्थवत्त्वादेकमपूर्वं समुदायात् कल्पितं भविष्यति । न चाशाब्दः समुदायः—अवयवशब्दैरेव समुदायशब्दोक्तत्वात् । तस्मात्समुदायश्चिकीर्षितः ।

अथ वा यजेतेत्यस्य पूर्वो भागो यजत्यर्थं ब्रवीति, उत्तरो भावयेदिति । तथा ददातीति पूर्वो भागो ददात्यर्थम्, उत्तरस्तमेव भावयेदित्यनुवदति । एवं जुहोतीति पूर्वो भागो जुहोत्यर्थम्, उत्तरस्तमेवानुवदति । तेनैकस्यां भावनायां त्रयो यजत्यादय उपाया विधीयन्ते श्रुत्या । तस्मादेतैर्यागदानहोमैर्विशिष्टापूर्वस्य भावना प्रतीयते । अत उच्यते—संहत्यैकमपूर्वं साधयन्तीति ।

यद्वा यजतिशब्देन विहितं[४] दानं दानहोमशब्देनानूद्यते गुणसंबन्धार्थम् । तस्मादेकमपूर्वमिति[५] प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ।

---

१. ब. जुहोतव्यः । २. ब. वियुत्येवेति । ३. ब. अदृष्टो वाऽश्रुतो योर्थः ।
४. ब. विहितं होमदानशब्देन । ५. ब. इत्येवं ।

ब्रूमः—प्रतिशब्दमपूर्वभेद इति। शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्। यजेतेत्यनेन केवलस्य यागस्य कर्तव्यतोच्यते, न तु जुहोतिशब्दाभिहितस्य, ददातिशब्दाभिहितस्य वा। शब्दान्तरत्वात्। प्रयोगवाक्यशेषभावेन हि समुदायस्य सत्तासम्बन्धो गम्यते, श्रुत्याऽवयवस्य यजेतेति। संनिहितयोरपि वाक्येन दानहोमयोः। श्रुत्या यागस्यैव सत्तासम्बन्धो गम्यते न दानहोमयोः। श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसी। तस्मान्न समुदायः शाब्दः। कल्प्यमानो हि [1]प्रयोगवचनेनैकवाक्यतां नीत्वा कल्प्येत। शब्दान्तरं च यजतेर्ददातिः। तत्र यद्यपि परो भागो भावनावचनः, सर्वेषु समानः तथाऽप्येकैकस्य पूर्वोऽवयवोऽन्यः, अन्यश्च। तेन समुदायः शब्दान्तरम्, अन्यस्मात्समुदायात्। तत्रार्थान्तरं व्यक्तम्। दद्यादिति दानेन साधयेदिति। केवलमेव दानं करणं भावनायाः प्रतीयते, न यागहोमौ सहायावपेक्षते। तथा जुहोतीति होमसाधनां भावनामाह, न दानयागावपेक्षते। तत्रैतावच्छब्देनावगतम्, दानेन केवलेन सिध्यतीति विज्ञानं निवर्तते। ददातिर्हि स्वेन कारकग्रामेण कृतानुबन्धो न यागम्, होमं वाऽनुबन्धमपेक्षते यजतिर्जुहोतिर्वाऽनुवादः, यागहोमयोरविवक्षाप्रसङ्गात्। न च दानमितरयोरनुवादः। पर[2]स्वत्वार्थत्वाद् ददातेः, इतरयोश्च त्यागार्थत्वात्।

प्रयोजनं—पूर्वपक्षे समुदायादपूर्वम्। सिद्धान्ते तु यागस्य फलवत्त्वादितरयोर्गुणभावः॥ १॥

इति प्रथमं शब्दान्तराधिकरणम्

भा० वि०—गतेयमुपोद्घातप्रसक्तानुप्रसक्तादिचिन्ता। अथेदानीं लक्षणार्थश्शब्दान्तरादिभिः कर्मभेदश्चिन्त्यते। तत्रापि शब्दान्तरस्यापर्यायधातुभेदरूपत्वेन धात्वर्थभेदद्वारा भावनाभेदकत्वस्य स्पष्टत्वात्तदेव प्रथममुदाहरति—**अस्तीत्यादिना**। एकप्रयोगवाक्यगताख्यातप्रत्ययसंबद्धानां यागादीनामुदाहरणत्वं सूचयितुं ज्योतिष्टोमगतत्वमुक्तम् विचारवीजं संशयमाह—**यजतीति**। अत्र यजत्यादिशब्दैः धातुवाचिभिस्तदर्था लक्ष्यन्ते। कार्यं भावनाविच्छेदं प्रश्नपूर्वकं सन्देहहेतुमाह—**कुत इत्यादिना**। उभयथा दर्शनफलमाह—**अत इति**। सर्वे धात्वर्थास्संहत्यैकां भावनां विशिषन्तीति विमर्शपूर्वकं पूर्वपक्षमाह—**किमिति**। भावनैक्ये हेतुं पृच्छति—**कुत इति**। उत्तरम्—अदृष्टार्थानामिति। उपक्रियत इत्युपकारः। फलं तस्य कल्पनेतियावत्, भावनाभेदे हि बह्वदृष्टकल्पना स्यात् अतस्तत्परिहाराय भावनैकत्वमाश्रयणीयमित्यर्थः। न्याय्यमुपपादयति—**कथमित्यादिना**। कल्पना-

---

१. ब. सप्रयोग। २. ब. परसम्बन्धार्थत्वात्।

फलमाह—**जायत इति**। तेन च कल्प्यमानेनादृष्टेन दृष्टः श्रुतो वार्थोऽर्थवान्भवतीत्यर्थः। ननु कल्प्यते चेदनेकमपि कल्प्यतामत आह—**विशेषश्चेदिति**। गम्यते चानेककल्पनायां गौरवमित्यत्र लाघवं चेत्याह—**गम्यते चेति**। अत एकमपूर्वमेकैव च भावनेत्याह—**अबहुभ्य इति**।

ननु धात्वर्थानां समुदायाप्रतीतेः संहृत्यानुरञ्जकत्वाभावात् कथमबहुत्वाख्यभावनैकत्वमत आह—**तस्मादिति**। यस्मात्कल्पनालाघवाय भावनैक्यं युक्तं तस्मात्तत्सिद्धयर्थं धात्वर्थसमुदायोऽनुरञ्जकः कर्तुं वेदस्येष्टोऽवसीयत इत्यर्थः, एतदेवोपपादयति—**ततो हीति**। धात्वर्थसमुदायात् भावनावच्छेदद्वारेणादृष्टे कल्प्यमान इत्यर्थः। ननु न धात्वर्थसमुदायश्चोदितः येन तस्मादेकमपूर्वं स्यादत आह—**न चेति**। कल्पनालाघवाय भावनैक्ये सिद्धे तदवच्छेदकस्य धात्वर्थसमुदायस्यैकैकधात्वर्थवाचिभिरपि यजत्यादिभिः अर्थादाक्षिप्तत्वेन शाब्दत्वसंभवादित्यर्थः। शाब्दत्वफलमाह—**तस्मादिति**। एवमनेकादृष्टकल्पनादोषेण भावनाभेदं निरस्याभेदे युक्त्यन्तरमाह—**अथ वेति**। पूर्वोपपत्तिं व्यावर्तयति—किमनयोपपत्त्या पूर्वार्धभेदेऽपि प्रत्ययैकत्वेनाभिन्नार्थप्रतीतेः शब्देनैव एकां भावनां प्रतीम इत्यर्थः। एकत्वे च भावनाया धात्वर्थानामपि संहृत्यावच्छेदकत्वं स्यादित्याह—**तेनेति**।

ननु भावनैक्ये किं धात्वर्थभेदेन ? एकेनैव तदवच्छेदकसिद्धेः इत्याशङ्क्याह—**तस्मादिति**। यस्मादेकमेव प्रयोगवाक्यविहितां भावनां प्रत्ययेनानूद्य बहवो विधीयन्ते तस्माद्धात्वर्थसमुदायावच्छिन्नैव भावनाऽपूर्वस्य हेतुरिति गम्यत इत्यर्थः। यजत्यादित्रये धात्वर्थैक्यादपि भावनैक्यमित्याह—**यद्वेति**। स्वत्वत्यागांशस्य सर्वत्र समानत्वादित्यर्थः। अनुवादप्रयोजनमाह—**गुणेति**। गुणशब्देनैकत्रात्रेयस्सम्पादनं हिरण्यं च कथ्यते, अपरत्र दक्षिणाकालत्वं तस्मात्फलैक्यात्साधनैक्याच्च कर्मैक्यमित्युपसंहरति—**तस्मादिति**। प्रतिज्ञां व्याकुर्वन् सिद्धान्तमाह—**एवमिति**। अपूर्वभेद इति। फलभेदद्वारा कर्मभेदोऽभिमतः ततश्च धातुरूपशब्दभेदे तदर्थभेदात्तदवच्छिन्नरूपभावनाभेद इति सूत्रावयवार्थः।

ननु धात्वर्थभेदेऽपि कथं भावनाभेदः इत्याशङ्क्य हेतुभागं व्याख्यातुं सूत्रं पठति—**शब्दान्तर इति**। व्याचष्टे—**यजेतेति**। यागादीनां तावच्छब्दभेदाद्भेदोऽवगम्यते ततश्चैकेन धात्वर्थेनोपरक्तायां भावनायां न धात्वर्थान्तरोपयोगः वैयर्थ्यात् तेन प्रतिधात्वर्थं भावनाभेद इत्यर्थः।

ननु धात्वर्थसमुदायो भावनावच्छेदको नैकैकस्तत्राह—**प्रयोगेति**। सत्ताशब्देनोत्पत्तिलक्षणार्थेन प्रयोगवाक्योत्पन्ना भावनोक्ता, तया संबन्धः। एतदुक्तं भवति—समुदायानुरागकल्पनस्यापूर्वकल्पनालाघवार्थत्वात् फलान्वयकल्प्यत्वाच्चापूर्वस्य फलान्वयस्य च धात्वर्थोत्पत्तिवाक्यानां प्रयोगवाक्यशेषत्वाधीनत्वात् समु-

दायानुरागोऽपि प्रयोगवाक्यैकवाक्यत्वहेतुको भवतीति अस्तु को दोषस्तत्राह—**श्रुत्येति**। एकपदोपादानलक्षणया श्रुत्यावयवस्य यागस्य सत्ताख्यभावनासंबन्धोऽवगम्यत इत्यर्थः। एतद्विवृणोति—**सन्निहितयोरिति**। अपिशब्देन सन्निधानमपि न स्ववाक्येन किंतु वाक्यैकवाक्यत्वेनेति सूचितम्। ननु समुदायस्य वाक्येनापि भावनासंबन्धोऽवगम्यत एव तत्राह—**श्रुतिश्चेति**। श्रुतिबलीयस्त्वफलमाह—**तस्मादिति**। तच्छब्दार्थं विवृणोति—**कल्प्यमानोऽपीति**। कल्प्येतेति। ततश्च श्रुतयागावयवान्वयबाध इति शेषः।

ननु धातुभेदेऽपि भावनावाचिप्रत्ययैक्यात् कथं शब्दान्तरत्वं तत्राह—**शब्दान्तरं चेति**। एतद्विवृणोति—**अत्र यद्यपीति**। समुदायः प्रकृति-प्रत्ययात्मक इति यावत्। शब्दान्तरत्वे सिद्धे तद्धेतुकं भावनाभेदमाह—**तत्रेति**। व्यक्तत्वं वाक्यार्थकथनेनोपपादयति—**ददातीति**। **दानेनेति**। प्रकृत्यर्थस्यैव प्रत्ययार्थं प्रतिप्रतिकरणत्वादित्यर्थः। केवलस्य करणत्वे फलितमाह—**तत्रैतदिति**। साधकतमत्वात्करणस्येति भावः।

ननु यथा केवलकरणस्य फलसाधनज्ञानमितिकर्तव्यापेक्षायां सेतिकर्त्तव्यताकस्य फलसाधनत्वज्ञानेन बाध्येत तथा केवलस्य धात्वर्थस्य भावनावच्छेदकत्वज्ञानमुत्पन्नमपि कारकापेक्षायां धात्वर्थान्तररूप-कारकावच्छिन्नस्यैव भावनावच्छेदकत्वज्ञानेन बाधिष्यत इत्याशङ्क्याह—**नन्विति**। तत्र हेतुः—**ददातीति**। स्वेनेति। स्ववाक्यगतेन द्रव्यसंप्रदानादिनेत्यर्थः। शब्दान्तरं चेत्यादिनोक्तमुपसंहरति—**तस्मादिति**। यत्तु धात्वर्थैक्यादपि भावनैक्यमिति तद्दूषयति—**न चेति**। अविवक्षाप्रसङ्गादिति। अनेकार्थत्वानुपपत्तेरिति भावः। अस्तु तर्हि यजतिर्ददात्यर्थस्य जुहोत्यर्थस्य वानुवादस्तत्राह—**न चेति**। यागशब्दो यजतिं लक्षयति, परसम्बन्धः परस्वत्वापादनम् आसेचनार्थत्वाच्च जुहोतेरित्यपि द्रष्टव्यम्, इतरस्य यजतेः त्यागार्थत्वात्, त्यागमात्रार्थत्वादित्यर्थः। समुदायादपूर्वसिद्धिरिति। धात्वर्थसमुदायादेकभावनावच्छेदद्वाराफलापूर्वसिद्धिरित्यर्थः। इतरयोः दानहोमयोरित्यर्थः॥ १॥

त० वा—उपोद्घातप्रसक्तानुप्रसक्तादौ गतेऽधुना।
शब्दान्तरादिभिर्भेदो[1] लक्षणार्थोऽभिधीयते॥

तत्र शब्दान्तरं तावत्स्पष्टत्वात्प्रथममुदाह्रियते। एकानेकाख्यातप्रत्ययसंबद्धाः सर्वे धातवो यजति, ददाति, जुहोति, निर्वपति, गृह्णाति, स्तृणाति, शंसति, स्तौति इत्येवमादाय उदाहरणम्। भाष्यकारेण तु स्वत्वपरित्यागांशेन यजत्यादित्रयं प्रत्यासन्नार्थत्वात्सुतरामभिन्नमाभासत इत्युदाहृतम्। तत्र पूर्वपक्ष-

१ क.॰ भेदाल्लक्षणार्थो।

त्रैविध्यदर्शनात्संशयोपन्यासोऽपि तदनुगुणः प्रतिभाति। तद्यथा तिस्रो भावनाः किमेकमपूर्वं कुर्वन्त्यत आरणाति, तथा त्रयो धात्वर्थाः किमेकां भावनां विशिषन्ति, उत तिस्रः, तथा त्रयो धातवः किमेकं धात्वर्थं वदन्ति, उत त्रीनिति। कार्यशब्दश्चापूर्वभावनाधात्वर्थेषु उपकार्यत्वाविशेषेण प्रयुज्यते। भावनाधात्वर्थधातवो ह्येषामुत्पादनेन विशेषणेन प्रतिपादनेनोपकारकत्वात्साधनत्वेनाभिधीयन्ते। कुतः संशयः ?

साधकत्वं द्विधा दृष्टं प्रत्येकसमुदाययोः।
वस्तुलक्षण एवातस्तद्दृष्टेः संशयोद्भवः॥

अथ वा पारमार्थिकोऽत्रायमेकः संशयः, किं धात्वर्थत्रयानुरक्तैका भावना अथ वा प्रतिधात्वर्थं भावनाभेद इति। भावनैव धात्वर्थानुरक्ता कर्मशब्देनोच्यते। तस्या एव शब्दान्तरादि-भेदकं भविष्यति, अपूर्वस्यानभिधेयत्वात्कर्मभेदानुनिष्पाद्येव तदिति, न पृथग्विचारमर्हति। प्रासङ्गिकस्तु धात्वर्थैकत्वोपन्यासः कथमप्यसार्वत्रिकः सन्यज्यादिषु भविष्यतीति, नातीव तन्त्रीकर्तव्यः। ततश्चैतदपि संशयकारणं पूर्वपक्षवादिनः प्रतिभाति—किं धात्वर्थान्प्रत्युपादीयमाना भावना प्रत्येकं संनिधाप्यते, अथ वा ते तां प्रत्युपादीयमानाः संहृत्य विशिषन्तीति। किं तावत्प्राप्तं संहृत्येति। तत्र **समुदायश्चिकीर्षितः, समुदायादेकमपूर्वं न चाऽशाब्दः समुदाय** इत्यादिषु पुनः पुनः समुदायशब्दोच्चारणादपूर्वैकत्वाभिधानाच्च तिसृभ्यो भावनाभ्य एकमपूर्वमिति पूर्वं पक्षः। इयं[1] चोपपत्तिः॥

अदृष्टं प्रथमं तावन्नास्तीत्येवं प्रतीयते।
तथैव निश्चयश्चात्र दृष्टं चेन्न विरुध्यते॥
दृष्टश्रुतविरोधे तु सत्यदृष्टं प्रकल्प्यते।
एकेन चाविरोधित्वे सिद्धे नानेककल्पना॥

तदेवाऽऽह—

'विरुध्यमाने कल्प्यः स्याज्ज्यायते तेन सोऽर्थवान्।' इति।

दृष्टः श्रुतो वा भवतीति। तत्राप्येकानेकार्थकल्पनयोर्विशेषश्चेद् गुरुलाघवं प्र.ति न गम्यते, ततोऽनेकोऽपि कल्प्येत, गम्यते चासौ। तस्मात्समुदायादेकमपूर्वम्।

तत्रैतत्स्यात्, केन भावनासमुदायश्चोदितो। यस्मादेकमपूर्वं स्यादित्यत आह—**न चाशब्दः[2] समुदायो अवयवशब्दैरेव चोदितत्वात्।**

अथ वेति—धात्वर्थत्रयानुरक्तैकभावनापक्षपरिग्रहः। तस्याप्युपपत्तिः॥

---

१ क. इयं वोपपत्तिः। २ क. वा शाब्दः।

प्रत्ययार्थप्रधानत्वात्प्रतिधातु न भिद्यते।
तत्रोपादीयमानत्वाद्धात्वर्था संहृताः पुनः॥

यदि हि धात्वर्थानां प्राधान्यं भवेत्, ततो भावना तान्प्रत्युपादीयमाना प्रतिप्रधानं भिद्यते। भावप्रधानत्वाच्चाऽऽख्यातस्य प्रकृतिप्रत्यययोश्च प्रत्ययार्थशेषत्वादरुणैकहायन्यादिवद्यागादिभिः संहृत्यैका भावना विशेष्यते। यद्यपि प्रधानानां गुणानुरोधेनाऽऽवृत्तिरयुक्ता, तथाऽपि केवलप्रकृतिप्रत्ययप्रयोगासंभवादवश्यं तावद्धातुसंबन्धार्थं प्रत्ययः पुनरावर्तयितव्यः। यदि तु केवलः प्रत्ययः क्रीणातिवच्छ्रूयेत।

ततः सकृदुच्चरित एवारुणादिभिरिव धातुभिः संबध्येत। अपदत्वान्न स्वतन्त्रः श्रूयत इत्यावर्तते। दृष्टा च विशेषणसंबन्धार्थमावृत्तिः 'आयुर्यज्ञेन कल्पतां' 'दध्ना जुहोति' 'पयसा जुहोति' 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' 'मैत्रावरुणं गृह्णाति' इत्येवमादिषु। तथाऽनुष्ठानावृत्तिरपि ज्योतिष्टोमस्यानेकद्रव्यदेवतासंयोगसंपादनार्था दृश्यते। तस्मादर्थैकत्ववशेन सर्वमिदं यजतिददातिजुहोतिविधानात्मकमेकं वाक्यमेकं कर्मैकं चापूर्वमिति। अयमेव चात्र पूर्वपक्षः साधुर्न पूर्वोक्तो भावनासमुदायसंभवात्[1]। कुतः ?

प्रसिद्धे भावनाभेदे भाव्यभेदो नियोगतः।
न चाऽऽसां समुदायत्वमेकशब्दाद्विनेष्यते॥

यदि हि भावनाभेदं पूर्ववाद्यभ्युपगच्छत्येव, ततः सा भावयितव्याऽपूर्वभेदादृते नैव भिद्यत इति, तद्भेदेऽपि सिद्धे किमनेन कृतं स्यात्। अपि च समुदायत्वापादनमेकशब्दसंयोगात्, समुदायानुवादरूपेण वा भवति। यथा 'य एवं विद्वान्पौर्णमासीं यजते' इति। फलादिसंबन्धेन वा। यथा 'राजसूयेन स्वराज्यकामः' इति न त्विहैकमपि पश्यामो येन समुदायत्वमध्यवस्येम।

ननु ज्योतिष्टोमेनेत्येष समुदायवचनो भविष्यति। न। तस्य यजिसामानाधिकरण्येन तन्मात्रवचनत्वात्। तस्मान्नैष पक्षः। एवं तु भाष्यग्रन्थो नेतव्यः। किं तावत्प्राप्तं धातुत्रयानुरक्तमिन्द्रायुधमिवैकं कर्मेति। तत्सिद्ध्यर्था त्वियमुपपत्तिः। एवमल्पादृष्टकल्पना भविष्यतीति। कर्मभेदे हि बह्वदृष्टकल्पना निष्प्रमाणिकाभ्युपगन्तव्या। **तस्मात्समुदायश्चिकीर्षित** इत्याद्येकस्यैव कर्मणोऽवयवाभिप्रायेणोक्तम्। अतो **यजेतेत्यस्य पूर्वो भागो यजत्यर्थं ब्रवीति,** उत्तरो भावयेदित्यादि निगमनम्।

अथ वेति प्रमादलिखितमिति मन्यन्ते। शक्यं त्वेतत्समर्थयितुम्, द्वे ह्येते पूर्वपक्षोपपत्ती भाष्यकारेणोपन्यस्ते। तत्रानेकादृष्टकल्पनादोषं पूर्वमुपन्यस्य,

---

१ क. समुदायसंभवा।

अथ वेत्युपपत्त्यन्तरमाह। एतदुक्तं भवति। किमेकादृष्टकल्पनोपपत्त्याऽथ वा शब्दनैवैकां भावनां प्रतिपादयामः। पूर्वार्धभेदेऽपि प्रत्ययैकत्वेनाभिन्नार्थप्रतीतेः स्तद्दर्शयति। तथा ददातीति पूर्वो ददात्यर्थम्, उत्तरस्तमेव भावयेदिति। एवं प्रतिभाति तमेव धात्वर्थं भावयेदिति। तत्त्वयुक्तम्। सर्वत्र धात्वर्थभाव्यत्वप्रतिषेधात्। न चैतत्पूर्वपक्षवादिनोऽपि क्वचिदुपयुज्यते। तथाऽनुवदतीति न शक्यं वदितुम्। तस्मादेवं वाच्यं पूर्वो ददात्यर्थः, उत्तरः पुनर्यो यजतेः परेणांशेनोक्तः तमेव भावयेदित्येवं धात्वर्थान्तरसंबन्धार्थमनुवदतीति। एवं जुहोतीत्यत्रापि। तथा च यजेतेत्यत्रैवं नाभिहितम्। न हि तत्र पूर्वतरप्राप्ता भावनाऽस्ति, याऽनूद्येत। यदि धात्वर्थभाव्यत्वम् भिधीयेत, तदविशिष्टं तत्रापीति। न तद्वर्जमुत्तरयोरेव ब्रूयात्। अतो भावनैकत्वप्रतिज्ञानाभिप्रायमेतत्। तस्मादेका भावना, अपूर्वं च।

यद्वा **यजतिशब्देन विहितमिति**—धात्वर्थैकत्वं वदति, स्वत्वत्यागांशसमत्वात्। अथापि लक्षणया ददाति जुहोति यजेतेत्यस्यानुवादः तथाऽपि कर्मान्तरनिमित्तादृष्टकल्पनातः सैव ज्यायसीत्याश्रीयते। न वाऽनुवादे लक्षणा दोषः। गुणविध्यर्थस्त्वनुवादः। एकत्राऽऽत्रेयः संप्रदानम्, हिरण्यं च प्रदेयं विधीयते। इतरत्र दाक्षिणानि विधीयन्ते। ननु नामधेयत्वान्नैवायं गुणविधिः। कर्मविधानपक्षे ह्येतस्य नामधेयत्वम्। अनुवादे वाक्यानर्थक्यप्रसङ्गादेकान्तेन गुणविधिरभ्युपगन्व्यः। तदा च यजतिददातिजुहोतय इति धात्वभिप्रायकम्। एकं कार्यमेकं धात्वर्थम्, तदेतरत्तदर्थमिति वा न्यायेनैकमपूर्वं गमयन्तीत्यर्थः। तस्मान्न कर्मभेदे इति॥

अत्रोच्यते—

धात्वर्थभेदे सर्वत्र विज्ञेयं भावनान्तरम्।
उत्पत्त्यैकानुरक्ता हि नान्येनाप्यनुरज्यते॥

यद्यप्येको भावनावचनः तदर्थस्य च प्राधान्यम्, तथाऽप्यनुरञ्जकधात्वर्थभेदाद्भावनान्तरं प्रत्येतव्यम्। न ह्येकस्यास्त्रयो धात्वर्थाः सन्निपतितुं समर्थाः। न च समुच्चयं प्रतिपद्यन्ते, करणांशावरोधित्वेन तुल्यार्थत्वादन्योन्यानिरपेक्षभिन्नशब्दोपादानाच्च। न ह्येको धातुस्त्रीन् धात्वर्थानुपादत्ते। न चैकस्मिन्पदे धातुत्रयं परस्परापेक्षं प्रत्ययं प्रत्युपादीयमानं संभवति। 'धातोः' इति प्रत्ययोत्पत्तौ विवक्षितैकत्वसंख्यत्वात्। न चैतत्पदत्रयमेकवाक्यतां गच्छति। विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वैकार्थत्वयोरभावात्। न वैकापूर्वकल्पनात एकवाक्यताऽऽपद्यते। 'समेषु वाक्यभेदः स्यात्' इत्यत्र प्रत्याख्याततत्वात्। न चापूर्वभेदाभेदपूर्वकौ कर्मभेदाभेदौ, विपरीताभ्युपगमात्। यदि च केवलैव भावना केनचिदुपादीयेत, ततोऽरुणादिभिरिवैकवाक्यगतैर्दध्यादिवद्वा भिन्नवाक्यगतैरेकैवानूद्यानूद्य, युगपद्वा विशिष्टविधानन्यायेन यागदानहोमैरनुरज्येत, न त्वस्याः पृथगुत्पत्तिरस्तीत्यवश्यं

ददात्यादीनामेकेन, समस्तैर्वोत्पादयितव्या। तत्र यदि तावत्समस्तैरुत्पाद्यते, तत उत्पन्नायाः पुनरुत्पत्त्यसंभवात्सिद्धं कर्मान्तरत्वम्।

अथैकेन तावदुत्पाद्यते, तत्रापि विनिगमनायां हेतोरभावाद्विशेषो न ज्ञायते। येन केनचिदुत्पत्तिरप्येतस्याः प्रतीयते, ततस्तद्व्यतिरिक्तेन धातुना नानुरज्यते। येनैव ह्येकेन धातुना कृतानुबन्धा भावनोत्पन्ना, तस्यैव श्रौतत्वेन बलीयस्त्वान्न पदान्तरस्थैर्धात्वर्थैः सह विकल्पः संभवतीति, ततः प्रच्युतैस्तैः स्वपदप्रतिपादितमवश्यं भावनान्तरमनुरञ्जनीयम्। एवमेकैकत्र स्वपदोपात्तधात्वर्थानुरञ्जनमौत्पत्तिकम्, श्रौतं च, धात्वर्थान्तरानुरञ्जनमुत्पन्नभाविवाक्यप्रकरणलभ्यं च। ददातिर्हि यजत्युपनिबद्धां भावनां निषेधन्[1] स्ववाक्यानुच्चरितां पदान्तरानुवर्तिनीं प्रकरणाद्वाक्याच्च प्राप्नुयादेवं यजतिरपि तत्र तत्रेति योज्यम्।

ननु च ददातिपदेऽप्यसौ पुनः श्रूयमाणा सैवेति प्रत्यभिज्ञायत इति न वक्तव्यम्। वाक्यप्रकरणाभ्यां ददातिसम्बन्धो भवतीति। सत्यं भावनामात्रसंबन्धः श्रुत्यैव प्रतीयते। यागानुरक्तभावनासम्बन्धे तु न श्रुतिव्यापारो युज्यते। ननु चैकत्वादेवास्या एवं भेदव्यवहारो न युक्तः। केन वा कर्मभेदपक्षेऽपि सामान्यैकत्वं नाभ्युपगम्यते।

नन्वत्र व्यक्तिनानात्वेऽपि नास्ति प्रमाणम्। कथं नास्ति ? यदा भिन्नधात्वर्थसंनिधानादसौ नानात्वेन प्रतिशब्दमुपलभ्यते। ननु च शब्दवदेव परोपाधिको भेदप्रत्ययो, न पारमार्थिको भावनाभेदः स्यात्। नैतदेवम्। शब्दस्यापि गकारादिभेदः पारमार्थिको नैव कस्यचिदनिष्टः तद्वदिहापि यागादिभेदे सिद्धे शब्दस्थानीयमनुष्ठानसामान्यं निरूप्यते। न च यथा शब्दस्यार्थान्तरभूता ध्वनयः द्रुतादिबुद्धिमपारमार्थिकीं कुर्वन्त्येवमत्र यागादयोऽदूरव्यतिरिक्ताः। तस्मादस्ति भेद इति।

आह च—

यया रक्तोपधानेन निरुद्धे स्फटिके सति।
कृष्णादिचोदनायुक्तं गम्यते स्फटिकान्तरम्॥
तथैकधातुसंबद्धभावनाचोदने सति।
भावनान्तरगामिन्यः स्युर्धात्वन्तरचोदनाः॥ इति।

यस्मात्प्रकृतिप्रत्ययोः स्वार्थाभिधाने स्मृतेराचाराच्च नित्यविवक्षितक्रमत्वेन पूर्वप्रयुक्तप्रकृत्यर्थव्यासेषु प्रतिपत्तृषु प्रत्ययांशः संनिपतन् कृतानुबन्धमेव स्वार्थं वदति। तस्मान्न कदाचित्प्रत्ययार्थः शुद्धो लभ्यते। यथोक्तं **प्रातिपदिकादुच्चरन्तो द्वितीयादिविभक्तिः प्रातिपदिकार्थो विशेषक इत्याहेति**। **प्रयोगवाक्यशेषभावेन**

१ क. निषेधमाणः।

हि समुदायस्य सत्तासंबन्ध इति। एकापूर्वकल्पनया हि समुदायानुरक्तभावना-कल्पनमाश्रितम्, फलसम्बन्धनिमित्ता वाऽपूर्वकल्पना। प्रयोगवाक्यशेषभावेन वोत्पत्तिवाक्यानां फलसंबन्धो भवति, न स्वरूपैः अवधृतस्वरूपाणि च कर्माणि प्रयोगवाक्येन गृह्यन्त इत्यवगते भेदे, न शक्यान्येकीकर्तुम। न च ददाति-जुहोत्योः प्रयोगवाक्यशेषभावं पश्यामः। 'यजेत स्वर्गकाम' इति केवलयाग-श्रवणात्। न च तेन दानहोमौ लभ्येते। स्वार्थत्यागप्रसङ्गात्, उभयाश्रवणे वा युगपच्छ्रुतिलक्षणापत्तिर्दोषः। तस्मान्न समुदायकल्पनाऽस्ति।

अतश्च धात्वन्यत्वेन पदान्तरत्वात्केवलविशिष्टता गम्यते। न च ज्ञानान्तरेण निवर्तते। न च धात्वर्थैकत्वम्। आसेचन-परस्वत्वापादानाभ्यधिकत्वात्। न च त्यागमात्रलक्षणा, स्वार्थवृत्तित्वेनापि वाक्यसमवायोपपत्तेः। न च दाक्षिणानि नाम गुणः कश्चित्प्रसिद्ध इति, सामानाधिकरण्यान्नामधेयत्वमेव युक्तम्। अतश्च वाक्यानर्थक्यं मा भूदिति होमो विधीयते। ददातिना तु यागमनूद्य गुणे विधी-यमाने हिरण्यात्रेयसंबन्धे वाक्यभेदप्रसङ्गाद्। गुणादपि भेदः सम्भवतीत्यत्रैकगुणो[1] निर्गुणो वाऽन्यो ददातिरुदाहर्तव्यः॥ १॥

इति प्रथमं शब्दान्तराधिकरणम्॥ १॥

अथ प्रथमं शाब्दान्तराधिकरणम्॥ १॥

न्या० सु०—लक्षणार्थविचारस्यावसरमाह—**उपोद्घातेति।** उपोद्घातभावार्थाधि-करणोक्तकर्मभेदानुनिष्पाद्यपूर्वभेदापवादार्थाख्यातद्वैविध्यप्रसक्तमन्त्रगताख्याताभिधायकत्वल-क्षणतृतीयप्रकारानुप्रसक्तमन्त्रलक्षणे प्रसक्तानुप्रसक्तं चेत्यध्यायोपक्रमभाष्यगतचशब्दप्रतिज्ञाते ऋक्सामलक्षणादौ समास इत्यर्थः।

शब्दान्तरस्याऽपर्यायभूतधातुभेदरूपत्वेन धात्वर्थभेदद्वारा भावनाभेदकत्वस्य स्पष्टत्वं प्रा च्युत्पाद्यत्वे कारणमाह—**तत्रेति।** भावार्थाधिकरणोक्तस्य धात्वर्थभेदानुनिष्पादिनाऽपूर्व-भेदस्य धात्वर्थभेदेऽप्यपूर्वभेदहेतुभावनाभेदाभावेनाक्षिप्य समाधानार्थतयास्यैवादौ सङ्गतत्वा-दिति हेत्वन्तरसूचनार्थस्तावच्छब्दः। स्पष्टत्वस्य वा कथं प्राग्वाच्यत्वहेतुतेत्याशङ्क्य स्थूल-सूक्ष्मयोः क्रमे बुद्ध्युत्पत्तेरिति सूचनार्थः। अस्तीतिभाष्येण ज्योतिष्टोमगतधातुभेदोदाहरण-स्यैकप्रयोगवाक्यगताख्यातप्रत्ययसम्बद्धानां प्रात्यात्मिकानेकाख्यातप्रत्ययसम्बद्धानां सर्वधातू-नामुदाहरणत्वज्ञापनं प्रयोजनमाह—**एकेति।** धातुत्रयोदाहरणं तर्हि किमर्थमित्याशङ्क्याह—**भाष्येति।** स्वत्वत्यागांशसाम्येन धातुत्रयार्थानामत्यन्तभेदाप्रतीतेर्धातुत्रयस्य पर्यायत्वभ्रमा-च्छब्दान्तरत्वाभिमतापर्यायभूतभेदाभावाशङ्कानिरासार्थं त्रयोदाहरणमित्याशयः। यजतीति सन्देहभाष्यं त्रिविधसन्देहपरतया परमतेन व्याचष्टे—**तत्रेति।** ननु धातुनिर्देशार्थानां यज-

१ क. अत्रेति नास्ति।

त्यादिशब्दानां लक्षणया धात्वर्थपरत्वे लक्षितलक्षणया भावनापरत्वे सम्भवत्यपि भावना-धात्वर्थयोर्धात्वर्थधातुजन्यत्वाभावात्कार्यशब्दो न युज्येतेत्याशङ्क्याह—**कार्येति**। विशेष्य-प्रतिपाद्ययोरप्युपकार्यशब्दैकदेशकार्यशब्देन भामाशब्देनेव सत्यभामायाः शङ्क्यमभिधान-मित्याशयः। कुर्वन्तीत्यप्युपकुर्वन्तीत्येवं व्याख्येयमित्याह—**भावनेति**। संहत्यापीत्यादिभाष्यं सन्देहहेत्वभिधानार्थत्वेनावतारयति—**कुत इति**। व्याचष्टे—**साधनत्वमिति**।

स्वमतेन संहत्यैकभावनाविशेषणत्वात्संहत्यैकमपूर्वं भावनाशब्दाश्चोदयन्त्युत वियुत्यानेक-भावनाविशेषणत्वाद्भिन्नान्यपूर्वाणीति भावनाभेदाभेदफलभूतापूर्वभेदाभेदचिन्ताद्वारा भावना-भेदाभेदावेव चिन्त्येते इत्येवं सन्देहभाष्यं व्याचष्टे—**अथ वेति**। प्राकरणिकसर्वधात्वर्थानु-रक्तेति वाच्येऽप्युदाहृतापेक्षया त्रयोक्तिः। ननु क्रियतइति व्युत्पत्त्यापूर्वस्य क्रियतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या धात्वर्थस्य कर्मशब्दवाच्यत्वाद्भावनाभेदे विचार्ये सौत्रः कर्मशब्दो न युज्येतेत्या-शङ्क्याह—**भावनैव चेति**। कर्मशब्दवाच्यधात्वर्थानुरागाद्भावनापि कर्मशब्देन वक्तुं शक्ये-त्याशयः। नन्वेवं क्लिष्टव्याख्याने को हेतुरित्याशङ्क्याह—**तस्या एवेति**। संख्यादिष्वपूर्व-भेदचिन्तया भाष्येऽप्यभावेनानाशङ्क्यत्वादादिशब्दोऽभ्यासविषयः। अभ्यासस्य धात्वर्थभेद-कत्वे वक्ष्यमाणेऽप्यपूर्वापेक्षयैवकारः। कस्माच्छब्दान्तरादेर्नापूर्वभेदकतेत्याशङ्क्याह—**अपूर्व-स्येति**। शब्दान्तरेणानुरञ्जकप्रकृत्यर्थहेतुकप्रत्ययार्थभेदावगमात्पुनर्विधानाख्ये चाभ्या-सेनाभिधानपूर्वकत्वाद्विधानस्याभिधेयस्यैव भेदावगममात्रान्नाभिधेयभेदकता युक्तेत्याशयः। अननुष्ठेयत्वादपि नापूर्वस्य भेदाभेदौ चिन्त्यावित्याह—**कर्मेति**।

नन्वपूर्वस्याविचार्यत्वेऽपि फलत्वाद्युज्येतोपन्यासः धात्वर्थैकत्वोपन्यासस्तु यद्वेति भाष्ये करिष्यमाणः कथं युज्येतेत्याशङ्क्याह—**प्रासङ्गिकत्वेति**। धात्वर्थभेदेऽपि भावनाभेदो नास्तीत्युक्ते, भावनैक्यप्रसङ्गाद्धात्वर्थैक्यं पूर्वपक्षातिशयायोक्तमित्यर्थः। प्रधानतैवास्य कस्मान्न स्यादित्याशङ्क्याह—**कथमिति**। सर्वधात्वर्थाव्यापकत्वान्नास्य प्रधानता युक्तेत्यर्थः। नन्वेकधात्वर्थानुरक्तायां भावनायां धात्वन्तरार्थानवकाशाद् गुणन्यायेनैव भावनाभेदसिद्धेः। पूर्वपक्षासम्भवाद्भावनाभेदाभेदसन्देहो न युक्त इत्याशङ्क्याह—**ततश्चेति**। किं सोमेन यजेतेत्यादिवाक्यैस्तत्तद्धात्वर्थविशिष्टा भावना विधीयमाना प्रतिधात्वर्थं भिद्यतेऽथ वा ज्योति-ष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्येनानादृतधात्वर्थविशेषां भावनां फलोद्देशेन विहितां सोमेन यजेतेत्यादिवाक्यैरनूद्य तां प्रति विधीयमाना यागदानहोमादयो धात्वार्थाः संहत्य विशिंषन्तीति सोमादिवाक्ये धात्वर्थविशिष्टभावनाविधिर्वाक्यान्तरविहितशुद्धभावनोद्देशेन वा धात्वर्थविधिरिति सन्देहो भावनाभेदाभेदसन्देहकारणमित्याशयः। ननु ज्योतिष्टोमवाक्येऽपि यागानुरक्तभावनाप्रतीतेर्धात्वर्थान्तरानुरागायोगान्न गुणन्यायातिक्रम इत्याशङ्क्य, फलवाक्ये धात्वर्थानुरागविवक्षायां भावनायाः फलं प्रत्युपादान-विधान-गुणभावाद्धात्वर्थं च प्रति उद्देशानुवादप्रधानभावाद्वैरूप्यापत्तेर्धात्वर्थानुरागविवक्षा पूर्वपक्षिणोऽभिमतेति सूचनार्थम्—**पूर्वोक्तम्**। भाष्योक्तसन्देहकारणानिवृत्त्यर्थोऽपिशब्दः। अयं चार्थः प्रयोगवाक्यशेषभावेन हि समुदायस्य सत्तासम्बन्धो गम्यत इत्यादिभाष्यालोचनयोक्तत्वान्न स्वोत्प्रेक्षितत्वेनोपहास्य।

परमतेन त्रिविधपूर्वपक्षाभिधानार्थत्वेन भाष्यं व्याख्यातुं पठति—**किं तावदिति**। संहत्यशब्दं तिस्रो भावनाः संहत्यैकमपूर्वं कुर्वन्तीत्येवं व्याख्यातुमाह—**तत्रेति**। अदृष्टार्थानामिति भाष्यस्यापूर्वैक्योक्तयैव व्याख्याततत्वात्, तदुपपादनार्थमदृष्ट इतिभाष्यावयवं व्याचष्टे—**इयं चेति**। विरुध्यमान इति भाष्यावयवार्थमाह—**दृष्टेति**। उक्तेऽर्थे भाष्यावयवं योजयति—**तदिति**। विशेषश्चेदित्यवयवं व्याचष्टे—**तत्रापीति**। बहुम्य इत्यवयवं तस्माच्छब्दान्तमुपसंहारार्थत्वेन व्याचष्टे—**तस्मादिति**।

ननु स्वर्गकामो यजेतेति फलवाक्ये यागभावनामात्रविधानात्कथं यागहोमदानादिभावनासमुदायस्य फलापूर्वसाधनतेत्याशङ्क्य निरासार्थं समुदाय इतिभाष्यमपनीततस्माच्छब्दकपाठेन सूचितव्याख्यानत्वादव्याख्याय तदुपपादनार्थं न चेति भाष्यमाशङ्कोत्तरत्वेन व्याचष्टे—**तत्रेति**। फलवाक्यगताख्यातविहितभावनासमुदायावयवभूतैकैकधात्वर्थावच्छिन्नभावनावाचिभिर्सोमादिवाक्यगतैर्यजतिजुहोतिददातीत्याख्यातशब्दैः कल्पनागौरवभयात्प्रतिभावनं भाष्यान्वयमसहमानैरेकभाष्यान्वयाय भावनासमुदायस्यार्थाक्षिप्तत्वेन शाब्दत्वात्फलवाक्ये फलसाधनतया युक्तो विधिरित्यर्थः।

अथ वेति भाष्यं पक्षान्तरपरिग्रहार्थत्वेन व्याचष्टे—**अथ वेति**। उत्तरस्तमेवानुवदतीति भावनानुवादाभिधानेनैकस्यां भावनायां त्रयो यजत्यादय उपाया विधीयन्त इति चोपायतया धात्वर्थविधानाभिधानेन सूचितामुपपत्तिमाह—**तस्यापीति**। श्लोकं व्याचष्टे—**यदि हीति**। धात्वर्थानां प्राधान्ये सति फलवत्स्वरूपेणाविधेयत्वापत्तेः फलवाक्यविहितभावनाप्रत्यभिज्ञानेऽपि सोमादिवाक्येषु तत्तद्धात्वर्थविशिष्टरूपेण विधीयमाना भावनैकधात्वर्थविशिष्टायां धात्वर्थान्तरनिवेशायोगाद् गुणन्यायेन प्रतिधात्वर्थं भिद्यते, भावप्रधानमाख्यातमिति स्मृते स्वाख्याते भावनायाः प्राधान्याद्भावशब्दस्य धात्वर्थविषयत्वव्याख्यानेऽपि वा प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्यार्थं सह ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थः प्राधान्येनेति स्मृतेः प्रत्ययार्थत्वेन भावनायाः प्राधान्यात्फलवाक्यविहितशुद्धभावनानुवादेन सोमादिवाक्यैरनादृतपौर्वापर्यैर्युगपत्सर्वधात्वर्थविधानान्न गुणन्यायोऽस्तीत्याशयः।

ननु सोमादिवाक्येषु भावनाविध्यभावे विशेषणसम्बन्धमात्रार्थं भावनाभिधानावृत्तिः स्यात् न चासौ युक्तेत्याशङ्क्याह—**यद्यपीति**। असत्यां गतौ गुणानुरोधेनापि प्रधानावृत्तिर्युक्तेत्याशयः। न तु केवलप्रकृतिप्रयोगासम्भवमात्रात्प्रत्ययावृत्तिसिद्धेः केवलप्रत्ययप्रयोगासम्भवः किमर्थमुक्त इत्याशङ्क्याह—**यदि त्विति**। कर्तृसंवादो विशेषणान्वयाभिधानावृत्तिर्दृष्टेत्याह—**दृष्टा चेति**। अनन्यगतिगुणसम्पादनार्था चानुष्ठानावृत्तिरपि दृष्टा, किमुताभिधानावृत्तिरित्याह—**तथेति**। नन्वेवं सति भिन्नवाक्योपादानाद्धात्वर्थानां प्रत्येकमेव भावनाविशेषणता युक्तेत्याशङ्क्याह—**तस्मादिति**। यस्मात्कल्पनालाघवाय संहत्य विशेषणत्वं प्रतीयते, तस्मात्सर्वधात्वर्थविशिष्टैकभावनाभिधानार्थत्वेनानेकार्थत्वात्सर्वं प्रकरणमेकं वाक्यमित्यर्थः। तस्मादित्युपसंहारभाष्यं सङ्क्षिप्य व्याचष्टे—**एकमिति**। संहत्य विशेषणत्वकल्पनस्यादृष्टकल्पनालाघवहेतुकत्वाभिधानार्थमत इति भाष्यं व्याचष्टे—**एकं चेति**।

तृतीयपूर्वपक्षाभिधानार्थं यद्वेति भाष्यं स्वल्पपरित्यागांशेत्यनेन व्याख्यातत्वादसार्वत्रिकत्वेन चानादृत्य तथोक्तत्वादुपेक्ष्य स्वमते पूर्वपक्षैकस्याभिधानायाद्यं पूर्वपक्षं दूषयितुमारभते—**अयमेव चेति**। एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कुत इति**। श्लोकं व्याचष्टे—**यदि हीति**। अदृष्टार्थभावनाभेदान्यथानुपपत्त्या भावनाभेदवदपूर्वभेदस्याप्यवश्याभ्युपगन्तव्यत्वापत्तेः किमनेन पूर्वपक्षेण सिद्धान्तप्रतिकूलं क्षतं स्यादित्यर्थः। कथमेकशब्दोपादानात्समुदायत्वापादनमित्यपेक्षिते समुदायानुवादरूपेण वा—**फलादिसम्बन्धेन वेत्युक्तम्**। पौर्णमासीमित्येकशब्दोपादानं तावद्यजिनाऽनूद्यमानानां यागानां समुदायत्वापादनार्थमेव। राजसूयेनेत्यस्य फलान्वयपरत्वात्समुदायापादनार्थत्वाभावेऽप्येकशब्दोपादानेनैकफलान्वयात्समुदायत्वापत्तिरित्याशयः।

ज्योतिष्टोमशब्दस्य सर्वप्राकरणिकतया या होमाद्यवच्छिन्नभावनासमूहवाचित्वमाशङ्कते—**ननु चेति**। यजिसामानाधिकरण्याद्भावनावाचित्वं तावदयुक्ता। धात्वर्थद्वारलक्षणया तु तद्वाचित्वाभ्युपगमेऽपि यजिमात्रसामानाधिकरण्याद्धोमाद्यवच्छिन्नभावनासमूहवाचिता दुराशङ्केति परिहरति—**नेति**। उपसंहरति—**तस्मादिति**।

का तर्हि भाष्यस्य गतिरित्याशङ्क्याह—**एवं त्विति**। अथेन्द्रायुधं लोहितशुक्लकृष्णैस्त्रिभिर्धातुभिः संहत्यानुरज्यते, तथा सर्वधात्वर्थभावनेति प्रतिज्ञाभाष्यव्याख्या। भावनैक्योपपादनार्थत्वेनादृष्टार्थानामित्यादिभाष्यं व्याचष्टे—**तत्सिद्ध्यर्थास्त्विति**। कर्मभेदे हीत्यनेनाऽवहुभ्य एकमपूर्वमिति अकारप्रश्लेषो भाष्ये सूचितः।

भावनैक्ये समुदायशब्दानुपपत्तिमाशङ्क्य धात्वर्थसमुदायानुरक्तस्यैकस्य भावनाख्यस्य कर्मणोऽनुरञ्जकस्य समुदायस्यावयवभूतानां धात्वर्थानां समुदायोऽभिप्रेत इत्येवं व्याचष्टे—**तस्माविति**। भाष्यं च धात्वर्थानां समुदायाप्रतीतेः कथं संहत्यानुरज्जकतेत्याशङ्कानिरासार्थत्वे यस्मात्कल्पनालाघवाय भावनैक्यं युक्तम्, तस्मात्तत्सिद्ध्यर्थे धात्वर्थसमुदायो ऽनुरञ्जकः कर्तुं वेदस्येष्टोऽवसीयत इत्येवं व्याख्येयम्।

अथ वेति भाष्यं पक्षान्तराभावेनायुक्तमाशङ्क्य परमतेनोपसंहारार्थत्वेन व्याचष्टे—**अत इति**। स्वमतेनोपपत्त्यन्तरार्थत्वेन व्याचष्टे—**शङ्क्यं त्विति**। अभिन्नार्थत्वमेवोत्तरस्तमेवेति भावनैक्याभिधानेन दर्शयतीत्याह—**तदिति**।

परेषां व्याख्यानं दूषयितुमुपन्यस्यति—**एवमिति**। दूषयति—**तत्त्विति**। स्वमतेन भावनापरामर्शितया तच्छब्दं व्याचष्टे—**तस्मादिति**। पूर्वभाष्यपर्यालोचनयाप्येष एवार्थः प्रतीयत इत्याह—**तथा चेति**। एतदेवोपपादयति—**अत इति**। तस्मादित्युपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**।

यजत्यादित्रये धात्वर्थैक्यादपि भावनैक्यमित्युपपत्त्यन्तराभिधानार्थं यद्वेति भाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**। यजत्यादित्रये धात्वर्थैक्यादपि भावनैक्यमित्युपपत्त्यन्तराभिधानार्थे यद्वेति भाष्यं व्याचष्टे—**यद्वेति**। ननु नैकांशसाम्यमात्रेण धात्वर्थैक्यं युक्तम् अथैकांशसाम्येन

सादृश्याद् गौणवृत्त्या ददातिजुहोतिभ्यां यजत्यर्थानुवादोऽभिहितः सोऽपि गौणत्वदोषापत्तेरयुक्त इत्याशङ्क्याह—**अथापीति**। जघन्यत्वसाम्याद् गौणतैव लक्षणाशब्देनोक्ता। समुदायवाचिना वा त्यागाख्यैकदेशे वृत्तिर्लक्षणाभिमता। गुणसम्बन्धार्थामिति भाष्यावयवं व्याचष्टे—**गुणेति**। को गुण इत्यपेक्षायामाह—**एकत्रेति**। प्राकाशावध्वर्यवे ददतीतिवत्सम्बन्धविधानादवाक्यभेदाभिप्रायः। दक्षिणाकालत्वलक्षणो गुणो दाक्षिणशब्देनाभिमतः।

ननु दक्षिणानयनोत्तरकालमेतद्धोमविधानात् क्रमेणैव दक्षिणाकालत्वप्राप्तेस्तत्प्रख्यन्यायेन दक्षिणाशब्दस्य नामत्वाद् गुणविधित्वं नास्तीत्याशङ्कते—**नन्विति**। धात्वर्थानुवादपक्षे गुणविधित्वापत्तिरिति परिहृति—**कर्मेति**। अस्मिश्च पक्षे सन्देहभाष्यगता यजत्यादिशब्दा श्रुतिवृत्ता एवेत्याह—**तदा चेति**। कार्यशब्दस्वरूपक्रमानुरोधात्क्रियासामान्यवाचिना करोतिना तद्विशेषात्किक्रियालक्षणाद्वाच्यधात्वर्थविषयो अर्थाक्षेप्यापूर्वविषयो वेत्याह—**एकमिति**। संहत्यकारित्वे कार्यैक्य लाभादेकमित्युक्तम्, एकं धात्वर्थमेकम् वापूर्वं त्रयो धातवो गमयन्तीति कुर्वन्तिशब्दार्थे व्याख्याते ददातिजुहोत्योर्गुणसम्बन्धार्थत्वेन धात्वर्थाविधायकत्वात्कथम् धात्वर्थसाध्यापूर्वगमकतेत्याशङ्क्य—**तदेत्युक्तम्**। यजत्यर्थानुग्राहकगुणविधायकत्वेन तयोर्यजत्यनुग्राहकत्वात्तत्सहकृतस्य यजतेरपूर्वगमकत्वमभिप्रेत्य संहत्येत्युक्तमित्याशयः। तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यं फलतो भावनैक्योपसंहारार्थत्वेन व्याचष्टे—**तस्मादिति**।

उत्तराधिकरणे अपूर्वशब्दस्य फलतः कर्मविषयतया व्याख्यास्यमानत्वादिहाव्याख्याय सिद्धान्तसूत्रं व्याचष्टे—**उच्यतइति**। शब्दान्तरस्य धात्वर्थभेदद्वारा भावनाभेदप्रमाणत्वं वक्तुम् धात्वर्थभेद इत्युक्तम् धात्वर्थस्य प्रयत्नाख्यभावनाजन्यत्वत्, तद्भेदस्य भावनाभेदकत्वासम्भवमाशङ्क्य ज्ञापकहेतुत्वं वक्तुम्—**विज्ञेयमित्युक्तम्**। संख्यादित्रयस्य भावनाभेदकत्वाभावेऽपि धात्वर्थभेदाद्भावनाभेदसिद्धि वक्तुम्—**सर्वत्रेत्युक्तम्**। कृतानुबन्धत्वव्याख्यानायोत्तरार्द्धम्।

ननु भावनावाचिप्रत्ययैक्यात् भावनायाः स्वतस्तावदैक्यप्रतीतेः प्राधान्याच्च धात्वर्थभेदेऽप्यावृत्त्यनुपपत्तेः कथम् धात्वर्थभेदाद्भेद इत्याशङ्क्य, निरस्य, लोकार्थं प्रपञ्चयति—**यद्यपीति**। सम्बन्धिनिरूपणाधननिरूपणस्य सम्बन्धस्य सम्बन्धिभेदेन ज्ञेयनिरूपणाधीननिरूपणस्य ज्ञानस्य ज्ञेयभेदेन भेददर्शनाद्यधीनं निरूपणं तत्तद्भेदेन भिद्यत इति व्याप्तेर्धात्वर्थाधीननिरूपणत्वाद्भावनाया धात्वर्थभेदेन भेदोऽनुमीयत इत्याशयः। कथमनुरञ्जकभेदस्यानुरज्यभेदाक्षेपकतेत्याशङ्क्याह—**न हीति**। भावनाया धात्वर्थावच्छेदं विना भावनान्तराद्व्यावृत्त्यप्रतीतेरेकभावनावच्छेदकत्वविरोधप्रसङ्गेनैकस्यां भावनायामनेकानुरञ्जकसमावेशायोगादनुरञ्जकभेदोऽनुरज्यभेदमाक्षिपतीत्याशयः। त्रयाणामप्येकस्यां भावनायां समावेशो न सम्भवति, किमुत प्रकरणगतानां सर्वधात्वर्थानामिति त्रय इत्यनेनोक्तम्। ननु प्रत्येकमनुरञ्जकत्वे माभूत्समावेशः, समुच्चितानामेव तु धात्वर्थानामेकभावनानुरञ्जकत्वं घटपटाविति युगपत् घटपटज्ञाने घटपटयोरिवैकज्ञानानुरञ्जकत्वं

भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**न चेति**। युगपत् घटपटसंयुक्तेनेन्द्रियेण घटपटविषयैकज्ञानोत्पत्तावपि ज्ञानजन्यार्थप्रकाशाख्यस्य फलस्याश्रयभूतघटपटभेदेन भेदात् घटप्रकाशांशे घटस्यानुरञ्जकत्वं पटप्रकाशांशे पटस्येत्यंशभेदेनोभयोरेकज्ञानानुरञ्जकत्वं युक्तम्। धात्वर्थस्य अनुकरणांशनिवेशेन भावनानुरञ्जकत्वात्करणांशस्य चैक्यान्नानेकानुरञ्जकत्वापेक्षेत्याशयः।

ननु समुच्चितानामेव करणांशनिवेशो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**अन्योन्येति**। भिन्नशब्दोपादानेऽपि धातुसमूहात्प्रत्ययोपात्तत्वादग्नीषोमयोरिव धात्वर्थसमुच्चयः स्याद्धातोस्तु प्रकृतित्वेनोपादेयतया विविक्षितसंख्यत्वान्न समूहात्प्रत्ययोत्पत्तावग्नीषोमयोरिव धात्वर्थसमुच्चयः स्यात् धातोस्तु प्रकृतित्वेनोपादेयतया विवक्षितसंख्यत्वान्न समूहात्प्रत्ययोत्पत्तिरित्याह—**न चेति**। नन्वेकस्मिन्पदेऽनेक-धातूपादानाभावेऽपि प्राकरणिकानां सर्वधातूनां प्रयोगवाक्यैकवाक्यत्वात् तद्विहितायां भावनायां प्राकरणिकसर्वधात्वर्थानां निवेशो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**न चेति**। प्रयोगवाक्ये शुद्धभावनाप्रतीत्यभावात्सोमादिवाक्येषु च भावनाविधिनिरपेक्षधात्वर्थविध्ययोगात्साकाङ्क्षत्वाभावेन प्राकरणिकसर्वधात्वर्थानुरक्तैकभावनाविधानरूपैकार्थत्वाभावान्नैकवाक्यता युक्तेत्याशयः।

ननु कल्पनालाघवायापूर्वैक्यावधारणात् तस्य च भावनैक्यं विनानुपपत्तेः सर्वप्राकरणिकवाक्यानामेकभावनाप्रयोजनत्वेनैकार्थ्यादेकवाक्यता भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**न चेति**।

रूपादुत्तरकाले हि विनियोगप्रयोजने।

इत्यनेन न्यायेनादृष्टप्रयोजनभेदाभेदयोर्मन्त्रभेदाभेदपूर्वकत्ववत्कर्मभेदाभेदपूर्वकत्वावगतेर्नापूर्वैक्येनैकार्थ्येऽप्येकवाक्यकल्पना युक्तेति प्रत्याख्यानप्रकारं प्रकृते योजयितुमाह—**न चेति**। ननु फलवाक्ये भावनाया धात्वर्थानुरागविवक्षायां फलं प्रत्युपादेयविधेयगुणत्वात्। धात्वर्थं च प्रत्युद्देश्यानुवाद्यप्रधानत्वाद्वैरूप्यापत्तेः शुद्धाया विधेयत्वात्सोमादिवाक्यैस्तदनुवादेन यागादिधात्वर्थानुरागविधानम्एवावाक्यत्वाभ्युपगमेन वा सर्वधात्वर्थानुरक्तैकभावनाविधानं युक्तमिति पूर्वपक्षाशयमाशङ्क्य निरस्यति—**यदि चेति**। ननु भिन्नवाक्यगतैरपि धात्वर्थैरनुरागसम्भवे किमित्यप्रतीयमानैकवाक्यत्वकल्पनेत्याशङ्क्य, अष्टदोषविकल्परिहाराय समुच्चयसिद्धर्थत्वं सूचयितुम्—**युगपद्वेत्युक्तम्**। पृथक्शब्देन धात्वर्थानुरागनिरपेक्षतोक्ता। प्रत्ययेन शुद्धभावनोपादानेऽप्यशक्यानुष्ठानत्वाद् बुद्धाया विधेयत्वासम्भवसूचनार्थो विधिवाच्युत्पत्तिशब्दः। भावनायाश्च धात्वर्थवत् कारकत्वानभ्युपगमात्कर्मकरणत्वाभावेन तन्निमित्तोद्देश्योपादेयत्वाद्यभावाद्धात्वर्थनिरपेक्षायाश्चाविहितत्वेन धात्वर्थान्वयेऽप्यनुवाद्यत्वाभावान्न वैरूप्यापत्तिरित्याशयः। यदा च धात्वर्थनिरपेक्षाया भावनाया विधेयत्व न सम्भवति, तदा ददात्यादीनां धात्वार्थानां मध्ये केनचिदेकेन धात्वर्थेन, समस्तैर्वा धात्वर्थैरवच्छिन्नोत्पादयितव्या, न शुद्धतेत्याह—**इतीति**।

ननु समस्तधात्वर्थावच्छिन्नभावनोत्पत्तिपक्षे पूर्वपक्षासिद्धिः स्यादित्याशङ्क्याह—**तत्रेति**। समस्तानामपि संहत्याऽवच्छेदकत्वायोगात्प्रत्येकमवच्छेदकत्वावगतेः, प्रतिधात्वर्थं

भावनाविधौ विहिताया विध्यसम्भवाद् भेदसिद्धिरित्यर्थः। अथैकेन धात्वर्थेनावच्छिन्ना भावनैकहायन्येव क्रयो विधीयते, अन्ये तु धात्वर्थास्तस्यामेव भावनायां हिरण्यादीनीव क्रये विधीयमानानि न भावनाभेदमापादयन्तीत्युच्यन्ते, तत्राप्येकहायनीवाक्यैनैकगुणोपादानरूपकर्मोत्पत्तिचिह्नवदिह कस्मिंश्चिद्वाक्ये भावनोत्पत्तिचिह्नाभावेन व्यवस्थाहेत्वभावादगृह्यमाणविशेषतया सर्वत्र भावनाविध्यापत्तेर्दुर्वारो भावनाभेद इत्याह—**अथेति**। धात्वर्थान्तरेषु भावनाविध्यभावसूचनार्थं तावच्छब्दः। अथागृह्यमाणविशेषत्वेऽप्यनेकोत्पत्त्यानर्थक्याद्येन केनचिदकेन धात्वर्थेनानुरक्ताया भावनाया उत्पत्तिरिष्यते, तथाप्येकधात्वर्थानुरक्तायां धात्वर्थान्तरस्य गुणन्यायेनानिवेशाद्भावनाभेद एवेत्याह—**येन केनचिदिति**। धातुशब्दोऽर्थपरः। श्लोकं व्याचष्टे—**येनैव हीति**। सर्वप्रकरणैकवाक्यत्वविवक्षया वाक्यशब्दप्रत्याख्यातं वाक्यभेदविवक्षया प्रकरणशब्दः एतदेवोदाहरणनिष्ठं विवृणोति—**ददातिर्हीति**।

सर्वत्र पदश्रुतिगम्यत्वात् तुल्यबलत्वमाशङ्कते—**ननु चेति**। धात्वर्थान्तरानुक्तभावनाविशेषान्वयस्य श्रुत्यानवगतेरतुल्यबलत्वमाह—**सत्यमिति**। ननु भावनायाः स्वतो वैलक्षण्यानवभासेन सर्वत्रैक्यात्, त्यागानुरक्तान्या, दानानुरक्तान्येति भेदव्यवहारो न युक्त इत्याशङ्कते—**ननु चेति**। भिन्नधात्वर्थानुष्ठाने प्रयत्नाख्यभावनाव्यक्तिवैलक्षण्यस्य स्वसंवेद्यत्वाद्वैलक्षण्यानवभासेन सामान्यस्यैक्यं वाच्यम्। तत्त्विष्टमेवेत्युपहासेन परिहरति—**केन चेति**। धात्वर्थानुरक्तभावनाव्यक्तिवाची कर्मशब्दः। व्यक्तेरपि धात्वर्थवैलक्षण्यं विना वैलक्षण्याप्रतीतेर्न भेदोऽस्तीत्याशङ्किता स्वाशयं दर्शयति—**नन्विति**। धात्वर्थवैलक्षण्याख्यसामग्र्यपेक्षोऽपि भावनाव्यक्तिवैलक्षण्यावभासो बाधाभावात्प्रमाणमिति निराकरोति—**कथमिति**। बाधाभावेऽप्यन्योपाधिकत्वाच्छब्दभेदप्रत्ययवद्भावनाभेदप्रत्ययो मिथ्येत्याशङ्किता स्वाशयं विवृणोति—**नन्विति**। अन्यसन्निधिजन्यत्वमात्रं वौपाधिकत्वमभिप्रेतम्, अन्यधर्माध्यासनिबन्धनत्वं वेति विकल्पं मनसि कृत्वाऽऽद्ये कल्पे तावत्प्रतिवर्णव्यञ्जकध्वनिभेदाद्भिन्नध्वनिसन्निधिजन्सत्वस्य सत्त्वेऽपि गकारोऽयं ककारोऽयमित्यादिप्रत्ययभेददर्शनादनैकान्तिकत्वम्, तदभिप्रायत्वेन दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वमाह—**नैतदिति**।

अथ द्रुतोऽयम्, मध्यमोऽयम्, विलम्बितोऽयमित्यादिभेदप्रत्ययदृष्टान्तेनान्यधर्माध्यासनिबन्धनत्वं भावनाभेदप्रत्ययस्य मिथ्यात्वे हेतुरभिप्रेतः। सोऽसिद्धः ध्वनिधर्मा हि त्रिचतुःपञ्चकमात्रत्वरूपा द्रुतादिवृत्तयः।

> तस्मादुच्चारणं तेषां मात्राकालं प्रतीयते।
> द्विमात्रं वा, त्रिमात्रं वा, न वर्णो मात्रिकः स्वयमिति ॥

शब्दे मात्रानिषेधात्। तत्कल्पनानुपपत्तेर्वस्तुतोऽसत्वादध्यासेन प्रतीयन्त इति युक्तम्। धात्वर्थधर्मस्त्वनन्तरं नियमेन किञ्चिदुत्पादनरूपः। भावनाफलस्यानन्तरोत्पत्तिनियमाभावान्न भावनायां प्रतीयते पूर्वापरीभावानिष्पन्नत्वरूपस्तु भावनायामपि व्यापारत्वेन वास्तवत्वान्नाध्यस्त इत्याशयेनाह—**न चेति**। द्रुतादिधर्मरहिताच्छब्दाद्विलक्षणधर्म-

तार्थान्तरशब्देनानन्तरं किंचिदुत्पादननियमरूपधर्मरहिताच्च भावनाख्यात्प्रयत्नाद्विलक्षण-धर्मत्ता व्यतिरिक्तशब्देन विवक्षिता । पूर्वापरीभावानिष्पन्नत्वरूपधात्वर्थधर्मतुल्यत्वप्रदर्शनार्थो नात्यन्तवाच्यदूरशब्दः । उपसंहरति—**तस्मादिति** । एवं धात्वर्थाधीननिरूपणत्वाद्धात्वर्थ-भेदे वास्तवं भावनास्वरूपभेदमुक्त्वेदानीं स्वरूपेण भावनाव्यक्त्यैक्येऽपि शब्दान्तरादिभि-र्विधेयरूपभेदस्य व्युत्पाद्यत्वाद्धात्वर्थानुरक्ताया एव च भावनाया विधेयत्वाद्धात्वर्थानुरक्त-रूपेण भेदो भविष्यतीति वक्तुं वृद्धानां श्लोकं पठति—**आह चेति** । रक्तेन लाक्षादिनोप-धानेनावरुद्धे स्फटिके चोदिते सति कृष्णस्फटिकमानयेत्यादिचोदनया यद्विहितम्, तद्रक्तचोदना-विहिते स्फटिके काष्ण्यदिर्निवेशायोगात्तस्मादन्यद्यथा गृह्यते, तथैकधात्वर्थावरुद्धा भावना-विधाने सति या धात्वर्थान्तरचोदनास्तास्ता भावनान्तरविषयाः स्युरित्यर्थः ।

नन्वेवं सति गुणन्यायादेव भेदसिद्धेः शब्दान्तरानर्थक्यं स्यादित्याशङ्क्याह—**यस्मा-त्त्विति** । पूर्वपक्षनिरुत्तरीकरणायैतदुक्तम् । वस्तुतस्तु यस्मात्प्रत्ययः कृतधात्वर्थावच्छेदमेव स्वार्थं वदति । तस्मात्फलवाक्येऽपि शुद्धभावनानवगतेर्नैकस्यां भावनायामनेकधात्वर्था-वच्छेदः सम्भवतीत्येतदिह व्युत्पाद्यमित्याशयः ।

ननु—

प्रकृतिप्रत्ययौ ब्रूतः प्राधान्येन सहेति यत् ।
भेदेनैवाभिधाने हि प्राधान्यं तत्तयोच्यते ॥
स्याच्चेत्स उभयोर्वाच्यः प्रत्यार्थः कथं भवेद् ।
व्यपदिश्येत नैकेन यद्यर्थ उभयोरसौ ॥
सर्वदा तूच्यते यस्मात्प्रकृत्यर्थोपसर्जनः ।
तेनासावुभयोरर्थः प्रयोजनतयोदितः ॥
यान्यावयवशक्तिभ्यां शक्तिः काचित्पदाश्रया ।
विद्यते यत एकस्माद्विशिष्टार्थगतिर्भवेद् ॥ इति ।

शब्दे प्रकृतिप्रत्यययोरन्विताभिधानस्य निरस्तत्वात्कृतानुबन्धमेव स्वार्थं प्रत्ययो वदतीत्ययुक्तमित्याशङ्क्य—**प्रकृतीत्युक्तम्** ।

'नित्यं विशिष्ट एवार्थे प्रत्ययो यत्प्रवर्त्तते ।
तत्पूर्वतरविज्ञातप्रकृत्यर्थविशेषणाद् ॥'

इत्यनेन न्यायेनाऽन्वितानभिधानेऽपि 'परश्चे'ति प्रत्ययस्य प्रकृतिपरत्वस्मृतेर्वृद्धप्रयोग-रूपाच्चाचारात्स्वार्थाभिधाने प्रकृतिप्रत्ययक्रमस्य नित्यं विवक्षितत्वावगतेरवर्ज्जनीया विशि-ष्टार्थावगतिरित्याशयः । इममेवार्थं तद्भूताधिकरणभाष्येण द्रढयति—**यथोक्तमिति** ।

यजेतेत्यनेनेति भाष्येण कृतानुबन्धत्वादिति सूत्रावयवं व्याख्याय, ननु धात्वर्थसमु-दायेनैवावच्छेदाख्योऽनुबन्धो भावनाया भविष्यतीत्याशङ्कानिरासार्थं प्रयोगेति भाष्यम्, उत्पत्तिवाक्यशेषत्वेनापि धात्वर्थसमूहस्यापि सत्ताशब्दोक्तभावनान्वयोपपत्तेरयुक्तमाशङ्क्यो-

पपादयति—**प्रयोगवाक्येति**। उत्पत्तिवाक्येनैव सर्वाणि प्राकरणिकानि गुण-फल-निमित्त-वाक्यानि सम्बन्ध्यन्ते, न परस्परेणेतीन्द्रियकामाधिकरणवार्त्तिकवक्ष्यमाणन्यायेन प्रयोगवाक्ये भावनोत्पत्त्यभावान्नान्येषां तच्छेषत्वं सम्भवतीत्याशङ्कयोत्पत्तिलक्षणार्थेन सत्ताशब्देन प्रयोगवाक्ये भावनोत्पत्तिर्विवक्षितेति भावनाशब्देन सूचितम्। समुदायानुरागकल्पनस्यापूर्वकल्पनालाघवार्थत्वात्फलान्वयकल्पत्वाच्चापूर्वस्य फलान्वयस्य च धात्वर्थोत्पत्तिवाक्यानां प्रयोगवाक्यशेषत्वाधीनत्वात्समुदायानुरागकल्पनस्य प्रयोगवाक्यशेषत्वहेतुकतेत्यर्थः।

ननु धात्वर्थावच्छेदानपेक्षेण स्वरूपेण भावनाया भाव्यनिष्ठत्वात्फलान्वयोपपत्तेस्तादृश्याश्च धात्वर्थोत्पादकसोमादिवाक्यानपेक्षाद्भावनोत्पादकात् ज्योतिष्टोमवाक्यात्प्रतीतेः किमर्था सोमादिवाक्यानां ज्योतिष्टोमवाक्यशेषत्वापेक्षेत्याशङ्कयाह—**नेति**। धात्वर्थावच्छेदं विनाननुष्ठेयत्वात्फलान्वयो न सम्भवतीत्याशयः। प्रकरणान्तरगतासु राजसूयादिभावनासु ज्योतिष्टोमभावनान्वयातिदेशसूचनार्थं बहुवचनम्। ननु भिन्नानामपि भावनानामेकप्रयोगवाक्यग्रहणात्समुदितानामेवापूर्वसाधनत्वाभ्युपगमेन कल्पनालाघवोपपत्तेः कथं प्रयोगवाक्यशेषत्वाद्धात्वर्थसमूहस्यैकभावनान्वयावगतिरित्याशङ्कयाह—**अवधृतेति**। अवधृतभेदानामेकवाक्योपादानेऽप्येकशब्दानुपादानात्समुदायानुवादरूपतयैकीकरणमशक्यमित्यर्थः। स्वर्गकामो यजेतेत्युपश्लेषलक्षणया श्रुत्या धात्वर्थं संपादनवदस्य यागस्यैव भावनासम्बन्धोऽवगम्यत इति, श्रुतेति भाष्योक्तार्थव्याख्यार्थे सन्निहितयोरपीति भाष्ये दानहोमयोः प्रयोगवाक्येऽनुपादानान्नैकवाक्योपादानलक्षणः संनिधिरस्तीत्यपिशब्दसूचितमर्थं व्याचष्टे—**न चेति**। श्रुत्येतिशब्दं यजेरुपलक्षणार्थत्वशङ्कानिराससूचनार्थत्वेन व्याचष्टे—**न चेति**।

ननु यागायागसङ्करे लिङ्गसमवायाद्यजिप्रवृत्तेस्तदान्तर्गतस्य यागस्याप्युक्तत्वान्न स्वार्थत्यागापत्तिरित्याशङ्कय—**अहोभयेति**। भावनावद्धात्वर्थानामपि सङ्करापत्तिहेतुत्वभावात्स्वरूपेण यागाभिधाने युगपद् वृत्तिद्वयापत्तिरित्याशयः। तस्मादित्युपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**। भावनावाचिप्रत्ययैक्यात् शब्दान्तरात्वानुपपत्तिमाशङ्कय, शब्दान्तर चेत्युपक्रमपूर्वकं शब्दान्तरत्वोपपादनार्थं तत्रार्थान्तरमित्यादि च शब्दान्तरहेतुकभावनाभेदोपसंहारभाष्यमेकहेलया व्याचष्टे—**अतश्चेति**।

ननु यथा केवलस्य प्रधानस्य फलसाधनत्वज्ञानमुत्पन्नमपि करणस्येतिकर्त्तव्यताकस्य फलसाधनत्वज्ञानेन बाध्यते, तथा केवलस्य धात्वर्थस्य भावनावच्छेदकत्वज्ञानमुत्पन्नमपि जन्यत्वेन तस्य भावनावच्छेदकत्वात् कारकानपेक्षेण च प्रत्ययवाच्याख्यभावनामात्रेण धात्वर्थाजननात्सिद्धरूपकारकाभ्युपगमे च तस्य निर्व्यापारस्य कारकत्वायोगाद्व्यापारकल्पनायां गौरवापत्तेर्धात्वर्थरूपकारकावच्छिन्नस्य धात्वर्थस्य भावनावच्छेदकत्वज्ञानेन बाधिष्यत इत्याशङ्कानिरासार्थं नन्विति भाष्यं व्याचष्टे—**न चेति**। दृष्टेनैव द्रव्यसम्प्रदानादिना कारकसङ्घेन दानादिधात्वर्थनिष्पत्तेर्न तन्निष्पादकधात्वर्थान्तरापेक्षेत्याशयः। यदा च शुद्धभावनाप्रतीत्यभावाद्धात्वर्थान्तरानपेक्षत्वान्न विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वम्। भावनाभेदे च भावयितव्यापूर्वभेदावश्यम्भावान्न संहत्यैकार्थम्, तदेकवाक्योपादानाभावादपि धात्वर्थ-

सम्पाद्यस्यैकभावनावच्छेदकता न युक्तेत्यभिधानार्थं तस्मादिति भाष्यम्। न वैतत्पदत्रयमेकवाक्यतां गच्छतीत्यादिना सा भवितव्यापूर्वभेदादृते नैव भिद्यत इत्यन्तेन च व्याख्यातप्रयत्वान्न व्याख्यातम्। यजत्यादित्रये धात्वर्थैक्याद्ध्यपि भावनैक्यमित्युपपत्त्यन्तरनिरासार्थं न चेत्यादिभाष्यं व्याचष्टे—न चेति। भाष्यस्थो दानमितिशब्दो धातुलक्षणार्थः। परसम्बन्धार्थत्वादित्यनेनासेचनार्थत्वात् जुहोतेरित्युपलक्षितमित्यासेचनशब्देन सूचितम्।

ननूद्देशत्यागप्रक्षेपसमुदायवाचिनो जुहोतेस्त्यागपरस्वत्वापादनसमुदायवाचिनश्च ददातेस्तदेकदेशत्यागमात्रलक्षणायैकार्थ्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न चेति। देवतोद्देशसद्भावेऽप्यासेचन-परस्वत्वापादानापेक्षो मात्रशब्दः। त्यागमात्रार्थत्वादिति भाष्येऽपि मात्रशब्दोऽनेन सूचितः। कालार्थे च तद्धितास्मृतेर्दाक्षिणशब्दस्य दक्षिणाकालवाचित्वात्प्रसिद्धेर्विधौ चावाचकशब्दायोगादर्थाक्षिप्तसाध्यांशसामानाधिकरण्याच्च नामत्वावगतेः कर्मण एव विधेयत्वात्सिद्धो भेद इत्याह—न चेति।

धात्वर्थभेदाभेदचिन्तायां ददातिवाक्ये गुणविधौ सम्बन्धविधेराघाराग्निहोत्राधिकरणे निराकरिष्यमाणत्वाद्वाक्यभेदापत्तेः पूर्वपक्षायोगादुक्तोदाहरणानुपपत्तिप्रसक्तेर्नेह तच्चिन्तेति प्रसङ्गाद्दर्शयितुमाह—ददातिना त्विति। प्रयोजनभाष्यं धात्वर्थसङ्घस्यैकं भावनावच्छेदकत्वे सर्वेषामेकापूर्वसाधनत्वादङ्गाङ्गित्वाभावः पूर्वपक्षे। सिद्धान्ते ज्योतिष्टोमयागाङ्गतेतरधात्वर्थानामित्येवं स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम्॥ १॥

॥ इति प्रथमं शब्दान्तराधिकरणम्॥

भा० प्र०—'मानाधीना मेयसिद्धिः' प्रमाण के अधीन प्रमेय की सिद्धि होती है, अतः प्रथम अध्याय में आचार्य जैमिनि ने प्रमाण का निरूपण किया है, प्रमाण की आलोचना के बाद द्वितीय अध्याय में प्रमेय धर्म का निरूपण आवश्यक होता है। प्रमेय धर्मों के स्वरूप भेद प्रदर्शन के लिए भावना के भेद का निरूपण आवश्यक है, क्योंकि भावना के भेद के आधार पर ही इस भेद का निरूपण सम्भव है। अतः स्वरूप का भेद निरूपण करने के लिए प्रसक्त भावना के भेद का निरूपण इस अध्याय से किया जा रहा है।

इस दृष्टि के अनुसार भावना का भेद निरूपण द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद का विषय होना चाहिए था, किन्तु अपूर्व का भेद भावना के भेद का फल होने से अपूर्व का स्वरूप निरूपण अपरिहार्य होने से अपूर्व के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, इस प्रसङ्ग में अन्य विषयों का भी निरूपण किया गया है, जो प्रसक्त और उपेक्षा के अनर्ह हैं। प्रकृत में भावना का भेद अर्थात् यागादि कर्मों का भेद निरूपित किया जा रहा है। प्रकृत में श्रुतियों में एक प्रकरण में अपर्याय धातु से निष्पन्न अर्थात् जो धातु अर्थ से और स्वरूप से भिन्न हैं उनसे विहित जो आख्यात प्रत्यय है—वे ही इस स्थल में उदाहरण के योग्य हैं। जैसे ज्योतिष्टोम एक कर्म है। उस याग कर्म के प्रसङ्ग में 'सोमेन यजेत' (य एवं विद्वान् सोमेन यजेत'। तै० सं० ३।२।२, शा० भा० ३।१।१३) सोम से

याग करे, 'दाक्षिणानि जुहोति' (बौधा० श्रौ० ८।५।१) दक्षिणा सम्बन्धी हवन करता है। 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति' (आत्रेयाय हिरण्यं ददाति'। शत० ५।३।४।२१) आत्रेय के लिए हिरण्य देता है। इत्यादि वाक्यों में 'यजेत', 'जुहोति' एवं 'ददाति' आदि में यज्, हु, दा आदि अपर्याय धातुओं से जो आख्यात तिङ् हैं, वे विभिन्न भावना के वाचक हैं या नहीं ? अर्थात् वे मिलकर एक अपूर्व को उत्पन्न करते हैं—यह संशय है। क्योंकि दोनों तरह के उदाहरण मिलते हैं, जैसे—तीन ग्रावा अर्थात् पत्थर भोजन के एक पात्र को धारण करते हैं, एक भोजन पात्र को भोजन निर्माण के समय तीन प्रस्तर पर रखा जाता है। (त्रयो ग्रावाह एकामुखां धारयन्तो दृश्यन्ते।) इसी प्रकार नागदन्त = खूंटी अकेले ही सामान को धारण करते हैं। अतः यजन्ति, जुहोति, ददाति मिलकर कार्यकारी हैं या स्वतन्त्र रूप से—यही संशय है।

इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का कहना है कि इस स्थल में यज्, हु एवं दा आदि धातु के भिन्न होने पर भी उससे जो तिङ् विभक्ति होती है, वह अभिन्न होने से प्रत्येक धातु में भावना का भेद नहीं हो सकता है। क्योंकि धातु भावना का वाचक नहीं है किन्तु आख्यात ही भावना का वाचक है इसलिए तीनों भावनाओं से एक ही अपूर्व की कल्पना करनी होगी। इसके समाधान में सिद्धान्ती का कहना है कि 'शब्दान्तरे कर्मभेदः' इस स्थल में यजेत्, जुहोति एवं ददाति आदि धातु का भेद होने के कारण भावना का भी भेद अवश्य मानना होगा। क्योंकि 'कृतानुबन्धत्वात्' धात्वर्थ के द्वारा ही भावना का अनुबन्ध अर्थात् अवच्छेद किया जाता है। धात्वर्थ के द्वारा ही भावना अवच्छिन्न अर्थात् सीमाबद्ध होती है। प्रकृत में धात्वर्थ का भेद होने पर भी आख्यात अभिन्न होने से भावना का भेद नहीं हो सकता है यह कथन तर्कसङ्गत नहीं है। क्योंकि व्याकरण के नियम के अनुसार अनेक धातुओं के आगे एक ही आख्यात प्रत्यय एक बार ही प्रयुक्त होगा, यह नियम नहीं है। अतः प्रत्येक धातु के आगे स्वतन्त्र भाव का एक-एक आख्यात प्रत्यय प्रयुक्त होने से एक विशेष धातु के द्वारा उपरक्त होने से वे अभिन्न होते हैं। इसलिए भिन्न-भिन्न धातु से उपरक्त विभिन्न आख्यात से विभिन्न भावना की प्रतीति होगी इसीलिए प्रकृत में याग, दान एवं होम की भावना परस्पर विभिन्न होने से सभी श्रुतियों से एक ही अपूर्व उत्पन्न होता है यह मानना उचित नहीं है। आशय यह है कि यजेत्, जुहोति, ददाति इन तीनों के पूर्वभाग में यज्, हु और दाह का प्रयोग है जो याग् हू और दान को कहता है और उसके उत्तर आख्यात प्रत्यय उसी भावना का अनुवाद करता है। इसी के आधार पर एक विशिष्ट अपूर्व की भावना का प्रश्न होता है। इस सूत्र के अनुसार शब्द का भेद होने से अपूर्व का भेद माना जाता है। यजेत् से याग की कर्त्तव्यता कही जाती है। यजेत् से याग् की ही सत्ता अवगत होती है। दान और होम की नहीं। दान और होम् का सन्निहित वाक्य के कारण सत्ता अवगत होती है श्रुति-सर्वापेक्षया बलवती है। इसलिए इससे भिन्न अपूर्व की उत्पत्ति मानना उचित है।

अर्थात् ये तीनों पृथक् कर्म हैं और इनमें याग स्वर्गादि फलयुक्त होने के कारण प्रधान है और इसके साथ फलरहित होम और दान गुणकर्म हैं। अपूर्व की उत्पत्ति तीनों से होती है, किन्तु याग् से उत्पन्न अपूर्व प्रधानापूर्व है और होम और दान से उत्पन्न अपूर्व अङ्गा-नुरूप है। 'शब्दान्तरे' = धातु भेद होने से, 'कर्मभेदः' = भावना का भेद होने से 'कृता-नुबन्धत्वात्' = धात्वर्थ के द्वारा भावना का अनुबन्ध अर्थात् अवच्छेद किया जाता है। अपपर्याय धातु भेद श्रुत होने पर उसके द्वारा भावना का भेद होता है क्योंकि धात्वर्थ के द्वारा भावना का अवच्छेद अर्थात् इसकी सीमा का अवच्छेद किया जाता है ॥ २ ॥

इति अङ्गापूर्वभेदाधिकरण।

अथ द्वितीयमभ्यासाधिकरणम्

[२] एकस्यैवं पुनः श्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् ॥२॥ सि० ॥

शा० भा०—समिधो यजति तनूनपात यजति इत्येवमादिः पञ्चकृत्वो-ऽभ्यस्तो यजतिशब्दः किमेकमपूर्वं चोदयति, किं प्रत्यभ्यासमपूर्वभेद इति। शब्दान्तरे कर्मभेद उक्तः। इह स एव शब्दः पुनः पुनरुच्चार्यते। तस्मादेक-मेवाऽत्राऽपूर्वम्। नन्वपूर्वान्तरमविदधदनर्थको भवति। सत्यमेवाप्रयोजनो भवति। बहुकृत्वोऽपि चोच्चार्यमाणो नान्यार्थो भवति। यत्प्रथम[1] उच्चारणे गम्यते, शतत[2]मेऽपि तदेव गम्यते। तस्मात्पञ्चकृत्वोऽभ्यस्तो यजतिशब्द एकमपूर्वं चोदयति। न चाभ्यासोऽनर्थको भविष्यति। तनूनपादादीर्देवता विधास्यति। तस्मादेकमपूर्वम्। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः। एकस्यैवं पुनः श्रुतिः स्यात्। कर्मभेदं कुर्यादित्यर्थः। तावत्येव विधीयमाने, असति कस्मिंश्चिद्विशेषे पुनःश्रुतिरनर्थिका भवेत्। ननूक्तं न शक्नो-त्यर्थान्तरं विधातुमिति। उच्यते। समिधो यजति इत्यपि प्रथमोऽनुवाद एव, दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत इति यागः प्राप्त एव। तत्र देवता न शक्या विधातुम्। श्रुतिप्राप्ता हि तत्र देवता। इयं वाक्यात् प्रकरणाद्वा। तयोर्विकल्पो न न्याय्यः। स एष देवतायागसम्बन्धो विधीयमानोऽक्रियमाणे यागे न शक्यः कर्तुमित्यनर्थकः स्यात्। क्रियमाणे तु शक्यते। तस्मादभ्यसितव्यो यागः। प्रत्यभ्यासं चादृष्टभेद[3] इति। न च यत् समित्सम्बन्धेन क्रियते, तत् तनू-नपात्सम्बन्धेन; भिन्नत्वात्तयोः। अतो न विकल्पः।

प्रयोजनं[4] पूर्वपक्षे सकृत् प्रयोग इति। सिद्धान्ते पुनः पुनः प्रयोग इति ॥२॥

इति द्वितीयमभ्यासाधिकरणम् ॥ २ ॥

---

१. ब. यत्प्रथमं उच्चार्यमाणे।
२. ब. शतकृत्वोऽपि।
३. ब. वापूर्व।
४. ब. पक्षोक्तं (इत्यधिकम्)।

भा० वि०—यद्यपि शब्दान्तरान्तरं शब्दभेदरूपत्वेन सादृश्यात्संज्ञाया विचार्यत्वं युक्तं तथापि धातुभेदे धात्वर्थभेदात् चेद्भावनाभेदः तर्हि धात्वर्थभेदे धात्वर्थाभेदात् भावनाया अप्यभेदं इति प्रत्युदाहरणरूपेण पूर्वपक्षसौकर्यादस्यान्तरसङ्गतिः विधिः पुनः श्रवणरूपमभ्यासमुदाहरति—**समिधो यजतीति**। धात्वैक्याद्विध्यभ्यासाच्च संशयमाह—**एष इति**। एकमपूर्वमिति। फलद्वारा कर्मभेदाभेदौ अभिमतौ पूर्वोक्तभेदहेत्वभावादेकमेव कर्मेति पूर्वपक्षमाह—**शब्दान्तर इति**। न चेह शब्दान्तर इति शेषः। न केवलं भेदहेत्वभावादभेदः प्रत्यभिज्ञाख्याभेदहेतुसद्भावाच्चेत्याह—**इहेति**। यस्माद्यजतिशब्दः सकृत्प्रत्यक्षेणावगतः पुनरुच्चार्यमाणोऽपि स एवेति कृत्वा तदर्थोऽपि स एव तस्मात्तत्साध्यं कर्मापि तदेवेत्याह—**तस्मादिति**।

ननु विधि पुनः श्रवणरूपस्याभ्यासस्य विधेयकर्मभेदं विनानर्थक्यापत्तेः कर्मान्तरमेवेति चोदयति—**नन्विति**। निष्प्रयोजनत्वापत्तिमात्रेण नाभिधेयभेदकल्पना युक्ता, अर्थैक्यप्रत्यभिज्ञानविरोधादिति परिहरति—**सत्यमित्यादिना**।

ननु वेदस्य प्रयोजनवदर्थाभिधायित्वस्यार्थवादाधिकरणे स्थितत्वात् निष्प्रयोजनत्वापादककर्मैकपक्षो न युक्त इत्याशङ्कामपाकुर्वन्नुपसंहरति—**तस्मादिति**। स्वरूपतरत्वेऽर्थवादानां प्रत्यक्षादिसापेक्षत्वेनाप्रामाण्यापत्तेः स्तुत्यर्थतोक्ता पुनः श्रुतेस्तु पूर्वकर्मविधायित्वेऽप्यनपेक्षत्वेनाप्रामाण्यानापत्तेः न निष्प्रयोजनत्वापत्तिमात्रेण भेदकतेत्याशयः, निष्प्रयोजनतापि नास्तीत्याह—**न चेति**। समिद्वाक्यविहिते कर्मणि विकल्पेन देवतान्तरविधानार्थत्वादित्याह—**तनूनपादिति**। सूत्रं व्याकुर्वन् सिद्धान्तमाह—**एवमिति**। यथा शब्दान्तरं तथा पुनः श्रुतिरपि कर्मभेदं कुर्यादिवं शब्दार्थमाह—**कर्मेति**। अविशेषादित्यादिहेतुभागं व्याचष्टे—**तावत्येवेति**। विधेरप्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावत्वाद्विहितविधौ अप्रामाण्यापत्तेः विधि पुनः श्रवणस्य विधेयभेदकत्वमाश्रयणीयमित्यर्थः। बहुकृत्वोऽपीत्यादिनोक्तामर्थान्तरविधानानुपपत्तिं परः स्मारयति—**नन्विति**। धात्वर्थैकत्वप्रत्यभिज्ञानात्तनूनपादादिदेवताकृष्टत्वाच्च विधिशक्तेरित्यभिसन्धिः। यद्यपि समिदादिशब्दानां देवताविधित्वं नवमे निराकरिष्यते तथाप्यभ्युपेत्य दूषयति—**उच्यत इत्यादि**। तत्र पुनः श्रुतेः देवताक्षिप्तशक्तित्वात् कर्मभेदकत्वाभावेऽपि गुणाद्भेदो भविष्यतीति वक्तुं समिद्वाक्येन शुद्धे यागे विहिते तदनुवादेन विकल्पेन तनूनपादादिदेवताविध्युपपत्तेः न गुणाद्भेद इति शङ्कां निराकुर्वन् आह—**समिधो यजतीत्यपीति**। तत्र हेतुः—**दर्शपूर्णमासाभ्यामिति**। अस्तु तर्हि तत्रैव समिदादिपदैः देवतागुणविधानं तत्राह—**तत्रेति**। देवताशब्दो द्रव्यस्याप्युपलक्षणार्थः आग्नेयोऽष्टाकपाल इत्युत्पत्तिवाक्यसिद्धत्वादुभयोरित्याह—**श्रुतीति**।

ननु श्रुतिप्राप्तायामपि देवतायां विकल्पेन देवतान्तरविधानं किं न स्यादत आह—**इयमिति।** अतुल्यबलत्वादिति भावः। एवं वाक्यान्तरसिद्धे यागे गुणविधानासंभवात् स्ववाक्य एव देवतायागसंबन्धो विधातव्यः। स च यागविधानमन्तरेण न शक्यो विधातुमिति प्रतिपादितेऽपि गुणविधित्वे यागान्तरविधिरापद्येतेत्याह—**स एष इति।** अविधीयमानत्वेनाक्रियमाण इत्यर्थः। अधिकरणार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति।** यस्मात्समिदादिवाक्यैः प्रधानयागानुवादे सति पुनः पुनर्यागस्याक्रियमाणत्वात् देवातान्तरान्वयकरणाशक्तेः विध्यानर्थक्यापत्तिः तस्माद्यागविधित्वमभ्युपगम्य विहिताविध्ययोगाच्च भिन्नान् यागानभ्युपगम्य भेदेन कार्या इत्यर्थः।

ननु यागभेदेऽपि प्रयाजसमाख्यया एककार्यत्वावगतेः विकल्पस्य न्याय्यत्वान्नाभ्यासो युक्तः इत्याशङ्क्याह—**प्रत्यभ्यासमिति।** एतद्विवृणोति—**न चेति।** यत्समिद्यागान्वयेन क्रतोरदृष्टमुपकाररूपं क्रियते न हि तदेव तनूनपाद्यागेन तयोर्यागयोः भिन्नत्वेन तदनुनिष्पाद्यपूर्वभेदावगतेः समाख्यायाश्च प्रधानप्राग्भावमात्रनिमित्तत्वेन कार्यभेदेऽप्यविरोधात् अतो न विकल्प इत्यर्थः। विचारप्रयोजनमाह—**प्रयोजनमिति।** ननु यागैक्येऽपि अनेकदेवतान्वयसम्पादनायानुष्ठानाभ्यासोऽनुपपत्तेः कथं पूर्वपक्षे सकृत्प्रयोगः प्रयोजनमित्याशङ्क्य निरासार्थमुक्तं—**पक्षोक्तमिति।** विकल्पेन देवतान्वयितया विधानोपगमात्सकृदनुष्ठानं प्रयोजनमभिमतमित्यर्थः ॥२॥

त० वा०—शब्दान्तराधिकरणप्रत्युदाहरणरूपेणाभ्यासस्य पूर्वपक्षः सुखमभिधीयत इति, तदनन्तरमारम्भः। तत्र 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' इत्यादिषु समिदादिशब्दानपोद्धृत्य यजतीत्येतत्पञ्चकृत्वोऽभिहितं किमेकस्य कर्मणो वाचकम्, अथानेकस्येत्युदाहृतम्।

तदाक्षिप्यते।

गुणो वा नामधेयं वा समिदादिपदं भवेत्।
ताभ्यामेव च भेदोऽत्र किमभ्यासः करिष्यति॥

षडपि भेदहेतवः पृथग्भूताः स्वसामर्थ्यमात्रव्यापारफला दर्शयितव्याः। तद्यावदत्र गुणनामधेययोर्भेदकरत्वं नापनीयते, न तावदभ्यासस्य परभागलाभोऽस्तीति, अन्यदुदाहर्तव्यम्। न च तत्संभवति। कुतः?

प्रयुज्यते हि वेदेषु नाऽऽख्यातं केवलं क्वचित्।
नाम किंचित्प्रयुक्तं चेत्तस्य चोक्तं गतिद्वयम्॥

'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' इत्येवमादीनि हि सर्वाणि परस्परासंगत्यौत्पत्तिकगुणयोगाद्भिद्यन्ते। 'भिन्ने जुहोति' 'स्कन्ने जुहोति' इत्यादीन्यपि 'फलं [1]चाकर्म-

१. क. वाऽकर्म।

संनिधौ' इत्यनेन न्यायेन निमित्तं प्रत्युपादीयमानत्वाद्भिद्यन्ते, निमित्तसंबन्धपरत्वाच्च नाभ्यासानर्थक्यमित्यभेदकत्वम्[1]। ये तु पञ्चशारदीयेषु "तान्पर्यग्निकृतांस्तान्पर्यग्निकृतान्" इत्येवमभ्यासमुदाहरन्ति, तेषां प्राकृत[2]पर्यग्निकरणानुवादप्रस्मरणसामर्थ्यं तत्। न वाऽत्र यजतिः श्रूयते, यस्याभ्यासाद्भेदः स्यादिति, न किंचिदुदाहरणम्।

यथोदाहृतेष्वेव तु समाधिः।

प्रायेणाऽऽख्यातसंबन्धि नामेष्टं पारतन्त्र्यभाक्।
तस्यैव प्रथमं तेन भेदाभेदनिमित्तता॥

यान्युपादेयार्थानि नामपदानि, तानि तावदाख्यातपरतन्त्रत्वात्तदनुसारीणि सन्ति तद्वृत्तिं प्रतीक्षन्ते। तच्चेत्प्रकृते निविष्टं नामपदमपि तस्यैव गुणविधिः, नामधेयं वा[3]। अथ तेनापूर्वं परिकल्पितमतस्तद्गामि नामपदमित्येवं भेदाभेदयोरवगतयोः पश्चादागच्छत्समिदादिपदमकिंचित्करत्वादुदास्ते। तेन तदपोद्धृत्याऽऽख्यातमात्रं विचार्यते।

नन्वेवं सति संज्ञागुणयोरभेदकत्वप्रसङ्गः। तत्र तौ भेदकौ, यत्राऽऽख्यातपदं न व्याप्रियते। तथा चोदाहरिष्यति 'अथैष ज्योतिः' 'वाजिभ्यो वाजिनम्' इति। वाजिने तावन्नैवाऽऽख्यातपदं श्रूयते। ज्योतिरादावप्याख्यातस्य गुणफलसंबन्धव्यापारेण प्रकृतनिवेशसंभवे सति, ततः पूर्वप्रवृत्तया संज्ञयैव भेदो भविष्यति। यत्राप्याख्यातस्य स्वरसेन प्रकृतकर्मनिवेशोपप्लवे सति तत्रासंभवन् गुणो विधीयते, तत्राप्यसौ भेदको। यथाऽत्रैवाभ्युपेत्यवादे वक्ष्यति। स एष देवतायागसंबन्धो विधीयमान इत्यादि। तच्चाऽऽख्यातस्य भेदशक्तौ विहतायां भवतीति, तदेवं तावत्प्रथमं परीक्ष्यते। **किमेकमपूर्वमिति—फलतः कर्मभेदाभेदोपन्यासः।**

यद्वा किमेकं कर्मापूर्वं चोदयति, उत पञ्चापि कर्माण्यपूर्वाणीति। किं प्राप्तम्? एकमपूर्वमिति। कुतः?

प्रत्ययार्थः समानोऽपि धातुभेदेन भिद्यते।
धातोरपि समानत्वे केन भेदोऽवधार्यते[4]॥

अपि च। पूर्वं तेनैव शब्देन बुद्धौ कर्म निवेशितम्।
न भेदं प्रत्यभिज्ञानात्पुनः श्रुत्या प्रपद्यते॥

यथैव यजतिशब्दः सकृत्प्रत्यक्षेणावगतः पुनरुच्चारणे स एवेति प्रत्यभिज्ञानान्न भिद्यते। तथा तदर्थोऽपि। यथा चात्रैव बुद्धबोधनकृत्प्रत्यक्षमनर्थकमपि भवन्न

---

१. क. अभेदकम्। २. क. प्रकृतेति।
३. क. शतकृत्वोऽपि। ४. क. अवधार्यताम्।

शक्नोति शब्दान्तरत्वं कर्तुम्, एवं पुनः श्रुतिरर्थान्तरत्वम् । न ह्यानर्थक्यं नाम क्वचित्प्रमाणवर्गेऽन्तर्भवति । यच्च वेदोऽवबोधयति, तन्मात्रमेव तत्प्रमाणवादिभिरभ्युपगन्तव्यम् । तदिहैकशब्देनाभेदे वेदेनावगमिते, योऽन्यत्वं कल्पयति, तेन वेद एवाप्रमाणीकृतः स्यात् । न च प्रमाणावगतमानर्थक्यं दोषाय । अस्ति वेयमपि गतिः प्रयोगवचनसंस्पृष्टः शब्दोऽर्थमवदध[1]त्स्वयं प्रयोगित्वेन गृह्यत इति ।

अथ वाऽऽभीक्ष्ण्यादिद्योतनार्थोऽभ्यासो भविष्यति । अस्ति हि लोके द्विर्वचनादतिरेकेणापि यावत्कृत्वोऽभ्यस्ते विवक्षितार्थप्रकाशनं भवति, तावत्कृत्वोऽभ्यासः । तथा च पञ्चेन्द्रोपाख्याने वृद्धकुमारीवरप्रार्थने पतिं मे देहीति पञ्चकृत्वोऽभ्यासो श्रूयते । न च यथा तत्र देवतायाश्छलग्राहित्वमेवमिह कस्यचित् । येन पतिपञ्चकवत्पञ्चयागकल्पना स्यात् ।

अथ वा सर्वेष्वप्युच्चारणेषु विधावाश्रीयमाणे कर्मैकत्वं विज्ञायते । यथा शाखान्तरीयेषु ज्योतिष्टोमादिवाक्येषु । तेन तुल्यार्थानां वैकल्पिकत्वात्तदेव कर्म कदाचित्समिद्वाक्येनाभिधास्यते, कदाचित्तनूनपाद्वाक्येन । न हि समानकार्यत्वेन व्रीहियवयोरेकस्याऽऽनर्थक्यादर्थान्तरसाधकत्वं विज्ञायते ।

अथ वा तनूनपादादिदेवताविधानार्थत्वान्नाऽऽनर्थक्यम् । कर्मविधाने हि सति नामधेयत्वं भवेत्, अनुवादे तु नामधेयविधिर्न संभवतीति गुणविधित्वम् । तस्मादप्यकर्मान्तरम् । यत्रापि च प्रदेशान्तरे तावेव शब्दार्थौ प्रत्यभिज्ञायेते, तत्रापि हि गृहान्निर्गतस्य पुनर्गृहजनप्रत्यभिज्ञायामिवार्थान्तरत्वमशक्यं वक्तुम् । किमुतेहानन्तरविपरिवृत्त्या बलीयस्याऽवरुद्धायां बुद्धौ । यदि च प्रत्युच्चारणमर्थान्यित्वं भवेत्, तदाऽनित्यव्यक्तिशब्दार्थत्वप्रसङ्गः ।

किं च । गत्वादिवन्न चैतेषु यागत्वं व्यतिरिच्यते ।
व्यक्त्यैकत्वे निरूढे च कथं कर्मान्तरं भवेत् ॥

यद्यपि च पुनःश्रुत्यर्थवत्त्वाय पञ्चकृत्वो यागोऽभ्यस्येत, तथाऽपि ज्योतिष्टोमवदेवाकर्मान्तरत्वं स्यात् । न चात्राभ्यासहेतुरस्ति, वाक्यसंयोगेन देवतानां वैकल्पिकत्वात् । तस्मादेको याग इति । एवं प्राप्ते ।

सिद्धान्तः ब्रूमः एकस्यापि पुनः श्रुतिरेवं स्यात्—यथा शब्दान्तरं भेदकम्, तथेत्यर्थः । कथम् ?

आख्यातप्रत्ययः पूर्वं विधत्ते कर्मशक्तितः ।
अन्येनाऽऽक्षिप्तशक्तिस्तु तदाकाङ्क्षत्यनूदितम् ॥

---

१. क. अददत् ।

यदि हि विपरिवृत्तिरनुवादकारणं स्यात् ततो न कर्मान्तरमध्यवसीयेत। न तु विपरिवृत्तिकृतमनुवादकत्वम्, किं तर्हि ?

अनुवादविशेषत्वं प्रकृतप्रत्ययाद्भवेत्।
तत्सामान्यप्रसिद्धिस्तु[1] स्ववाक्यादेव लभ्यते ॥

यदा हि विधायकस्य विधिशक्तिर्धात्वर्थादुत्तार्यते, तदाऽनेकविध्यशक्तेर्धात्वर्थानुवादः प्रार्थ्यते। तां च प्रार्थनां विपरिवृत्तिः पूरयति। धात्वर्थोत्तारणं च विधिशक्तेर्विधेयान्तरोपादाननिमित्तम्। यथा व्रीहिभिर्यजेत, 'दध्ना जुहोति' इति। सर्वत्रैवानेकार्थोपादाने विधिशक्त्यनेकसंभवात्, एकं किंचिदनूद्यतामित्यपेक्षायां सत्यां यद्विपरिवर्तते, यदित्यवधारणं भवति। ततश्च दध्यादेरप्राप्तत्वाद्धात्वर्थोऽनूद्यते। यदा तु खलु नैवानेकं विधेयमुपादीयते, तदा नैव तस्मिन्वाक्येऽनूद्यतां किंचिदित्यपेक्ष्यते। ततश्चाप्राप्ते सामान्यानुवादे, तत्सिद्ध्यपेक्षिणी विशेषानुवादकारणभूता किं विपरिवृत्तिः करिष्यति। तस्मान्न यत्प्राप्तं तदनूद्यत इति लक्षणम्। किं तर्हि, यदनूद्यतामित्यपेक्षितम्, तत् प्राप्तौ सत्यामनूद्यते, नैकाङ्गविकलमनुवादत्वापेक्षणेन प्राप्तिबुद्धिमात्रेण वा। तत्र यथैवानुवादापेक्षणे सत्यपि प्राप्त्यभावाद्विशिष्टविधानरूपेण विधिर्भवति, एवं प्राप्तिबुद्धौ सत्यामप्यनुवादत्वानपेक्षणाद्विधेः कर्मान्तरत्वं सत्यपि धातुप्रत्ययैकत्वप्रत्यभिज्ञाने।

यत्तु बलीयस्य विपरिवृत्त्या शतकृत्वोऽप्युक्ते तद्बुद्धिर्नापैतीति, प्रमाणबलाबलज्ञानात्सर्वं संभाव्यमेव[2] तत्। तथा हि—

श्रुतेः कर्मान्तरज्ञानं संनिधेरेककर्मधीः।
तत्र श्रुतिबलीयस्त्वं जानतां कथमेकता ॥

विधायिका हि श्रुतिरन्यानाक्षिप्ता धात्वर्थभावनयोरेव संनिरुद्धा तत्रैवाप्राप्तविषयस्वभावं विधित्वं प्रसुवाना पञ्चमस्थानाख्यप्रमाणकृतां प्राप्तबुद्धिमुपमृद्य विधेयत्वक्षमं कर्मान्तरं कल्पयति। स चेद्विधिः श्रुतिमनरुध्येत कर्मान्तरमध्यवस्यति, अथ संनिधिं ततो न कर्मान्तरत्वम्। यत्र पुनर्विधिश्रुतिरन्यत्र व्याप्रियते, तत्राविरोधात्संनिधिकृतं कर्मैकत्वज्ञानं भवति। तस्मादिह विधेययागव्यक्तिफलत्वोपात्तसामान्यैकत्वनिमित्तैव प्रत्यभिज्ञानभ्रान्तिः। न हि व्यक्तिप्रत्यभिज्ञाने किंचित्कारणमस्ति। यदत्र परमार्थेन प्रत्यभिज्ञायते, तदेकत्वे न कश्चिद्विवादः।

तथा हि—स्थिते यागत्वसामान्ये पशुसोमेष्टिकर्मणाम्।
विशेषव्यक्तिरूपेण भेदः सर्वत्र चिन्त्यते ॥

---

१. क० प्रवृत्तिस्तु। २. क. संभाव्यमेतत्।

ननु चात्र यजिश्रुत्यैवैककर्मविज्ञानान्न वक्तव्यं संनिधिकृतमेवैकत्वमिति, नैतदेवम् ।

यागोऽयमिति विज्ञानं यजिश्रुत्योपजन्यते ।
स एवेत्यन्य एवेति व्यापारोऽस्या न विद्यते ॥

न हि यः पूर्वविहितो यागः, स एवायमिति यजतिशब्दो वदति । औदासीन्येनैव त्वभिदधाने शब्दे संनिधिकृतामभेदबुद्धिमनभिजानतां श्रुतिनिमित्ता प्रत्यभिज्ञानभ्रान्तिः । ननु[1] तव व्यक्तेरशब्दार्थत्वादभिन्नं सामान्यं श्रुत्या विज्ञायते । येनैव व्यक्तिर[2]शब्दार्थस्तेनैवानेककर्मतां श्रुतिर्बोधयतीति । कथम् ?

व्यक्तयो हि विधीयन्ते सामान्येनोपलक्षिताः ।
तस्मात्तद्गतमेवात्र भेदाभेदनिरूपणम् ॥

यत्सामान्यं शब्दार्थभूतम्, तस्याननुष्ठेयत्वेनाविधेयत्वात्सर्वत्र व्यक्तय एव विधीयन्ते । तत्र 'समिधो यजती'त्येका व्यक्तिरसाधारणा चोद्यते । तनूनपातं यजतीत्यपरा । तस्मात्पञ्च व्यक्तय इति सिद्धम् ।

यत्त्वत्र गकारादिवद् व्यक्त्याकृतिभेदो नास्तीति । सत्यं नास्ति

किं तु—यन्मात्रमेकं कर्मेति स्वरूपेणावधार्यते ।
ततः परं न भेदोऽस्ति प्राक्तस्माद्भेदनिश्चयः ॥

यथैव गकारादीनां वर्णत्व-शब्दत्व-गुणत्वेषु सत्सु द्रुतादिभेदस्य परोपाधित्वाद् गकारादिरूपैकत्वसिद्धेर्गत्वादिमात्रं न कल्पितम्, तथाऽत्र सत्ता-कर्म-यागत्वेषु समिद्यागादिपर्यन्तेषु सत्सु देशकालयजमानादिभेदाद् द्रुतादिवृत्तिस्थानीयान्न भेदः । तथा हि—

पौर्णमासीसमिद्यागादामावास्यो न भिद्यते ।
यजमानान्तरेष्वेवं देशभेदेष्ववस्थितम् ॥

न च यत्र प्रत्यक्षेण केवलेन भेदोऽवगम्यते, तदेवैकं विद्यते, शब्दस्यापि प्रामाण्याविशेषात् । अतोऽत्र शब्दान्तरादिषट्कावधिरेव भेदोऽवधारयितव्यः । न हीष्टिपशुसोमैकाहाहीनसत्रेषु परोपाधिर्भेदप्रत्ययो विपर्येति वा कदाचित् । तेन तासु विधेयरूपासु व्यक्तिष्वेव नित्यास्वभिव्यञ्जकानि भिद्यन्ते । तेभ्यश्च फलस्वरूपसिद्धिर्यागत्वमेव वैकमवान्तरसामान्यम्, नान्यत्किंचित् ।

नन्वेकाहत्वादीन्यप्यवान्तरसामान्यानीष्यन्ते । न, कालविशेषयोगादेव दण्ड्यादिवदभिन्नशब्दप्रत्ययप्रवृत्तिसिद्धेः । एकेन ह्यह्ना योगादेकाहत्वम् । द्व्यादिभि-

---

१. क. न तव । २. क. अन्यशब्दार्थं ।

रहीनत्वं प्राग्द्वादशाहात्, स तु कथमप्युभयात्मा, तदवधिकमेव चाऽऽसहस्र[1]-संवत्सरं सततकालयोगनिमित्तं सत्रत्वम्, हविर्विशेषयोगादिष्ट्यादित्वमिति सिद्धम्। अथाप्यवान्तरसामान्यानि पुनः कल्प्यन्ते, तथाऽप्यस्मत्पक्षाविरोधः। एवं यदि ज्योतिष्टोमत्वादीनि देशकालादिभेदाच्च तद्व्यक्तयोऽत्यन्तातिरेकिण्यो भवन्ति, तथाऽप्यदोषः। तथा यद्यपि देवतोद्देशद्रव्यत्यागात्मकत्वात्सर्व एवैको यागः कल्प्यते, तेष्वपि भेदप्रमाणैस्तदनुष्ठाननानात्वावगमाद्व्यवहारसिद्धिः।

नन्वेवं सति ज्योतिष्टोमग्रहाभ्यासवत् समिदादियागाभ्यासेष्वकर्मान्तरत्व-प्रसङ्गः। सर्वथा तावदपूर्वभेदाद्धर्मव्यवस्थादीनि सिध्यन्ति, तथाऽपि तु येह कर्मभेदबुद्धिर्ग्रहयागेषु वाभ्यासभेदप्रसिद्धिः, तत्रैतन्निमित्तम्। इह सकलयाग-रूपानुष्ठानभेदचोद[2]नात्तत्र पुनः समरताभ्यासात्मकस्य ज्योतिष्टोमसंज्ञत्वाद्यद्यपि प्रत्यभ्यासं यागत्वमस्ति, न तु ज्योतिष्टोमत्वमित्यभ्यासेऽवयवबुद्धिर्नेतरत्रा-वयव्यन्तररूपानुपादानादिति विशेषः। एतज्ज्ञानस्य च प्रयोजनं पशुसोमा-धिकरणे वक्ष्यामः।

तस्मादभ्यसितव्यो याग इति च भाष्यमेतत्पक्षाश्रयणेनैव। अथ वा भिन्ना-स्वेव व्यक्तिषु सामान्यापेक्षमभ्यासवचनम्। **ननूक्तं न शक्नोत्यर्थान्तरं विधातु-मिति**—विधिशक्तेस्तनूनपादादिदेवताविधा[3]नाक्षेपे सति विपरिवृत्य विरोध इति मन्यसे। तत्र 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' इत्येवं समिदादिपदानां क्रमविनि-युक्तैर्वलिङ्गमन्त्रवर्णकल्पितदेवतासम्बन्धद्वारेण नामधेयत्वे सति, अविधेयत्वा-न्नास्ति विधिशक्त्याक्षेप इति वक्तव्ये, देवतायागसम्बन्धविधानोपन्यासोऽभ्यु-पेत्यवादेन।

यत्तावद्भवानप्राप्तत्वात्प्रथमस्य यागविधित्वं मन्यते, तदयुक्तम्, तस्यापि प्रधान[4]यागानुवादत्वात्। तत्र समिदादिशब्दैर्द्रव्यम्, देवता वा विधीयते। उभय-मपि चाऽऽग्नेयोऽष्टाकपाल इत्यादिभिरुत्पत्तिवाक्यैर्विहितेन द्रव्यदेवतेन विरु-ध्यते। अवश्यं चैतद्वाक्यकृतो देवताया[5]गसम्बन्धः कर्त्तव्यः। स च यागान्तरादृते न सम्भवतीति प्रति[6]पादिते गुणविधित्वे, कर्मान्तरत्वमापद्यते। एवं पूर्वत्र कर्मण्यु-त्तरोत्तरगुणविध्यसम्भवात्सर्वेषां कर्मान्तरत्वमिति व्यर्थो गुणविध्युपन्यासश्रमः। गुणविधित्वमपि न तावद् द्रव्यमीदृशेन शब्देन सम्भवतीति व्याख्यातं सक्त्वधि-करणे। विशेषेण च यजतेः कर्मभूतद्रव्यसम्बन्धो न घटते, न वाऽयं देवताविधि-रिति नवमे वक्ष्यते। तस्मात्कर्मविधिभिरेव भेदसिद्धिः॥ २॥

(इति द्वितीयमभ्यासाधिकरणम्॥ २॥)

---

१. क. सहस्रसंख्यवत्सर। २. क. चोदना तत्र। ३. क. भिधाना।
४. क. प्रथम। ५. क. देवतापदं नास्ति। ६. क. प्रतिपादितेऽपि।

अथ द्वितीयमभ्यासाधिकरणम्

भ्या० सु०—ननु शब्दभेदरूपत्वेन सञ्ज्ञायाः शब्दान्तरसादृश्यादनन्तरविचार्यत्वासमाप्तेः कथमभ्याससर्वानन्तरं विचार्यतेत्याशङ्क्याह—**शब्दान्तरेति**। धात्वर्थविषयत्वेन सञ्ज्ञायाः तन्मात्रभेदकत्वाच्छब्दान्तरस्य तु धात्वर्थवाचित्वेऽपि धात्वर्थस्य स्पष्टभेदत्वेनाऽभेदाशङ्कायोगाद्विशेषणशब्दानां च विशेष्यपरत्वेन धात्वर्थमात्रे धातोरपर्यवसानाद्धात्वर्थभेदद्वारा भावनाभेदकत्वाद्वैलक्षण्यम्, अभ्यासस्य तु पुनर्विधानात्मकत्वाद्विधेयश्च धात्वर्थानुरक्तभावनाविषयत्वेनोभयभेदकत्वाद्भावनाभेदकत्वांशेन साम्याद्धातुभेदे धात्वर्थभेदाद्भावनाभेदः, धात्वर्थभेदे तर्हि धात्वर्थभेदाद्भावनाया अप्यभेद इति च प्रत्युदाहरणरूपेण पूर्वपक्षसौकार्यादनन्तरसङ्गतिरित्याशयः।

उदाहरणासंभवेनाभ्यासचिन्तामाक्षेप्तुं भाष्योक्तं तावदुदाहरणमुपन्यासपूर्वकमाक्षिपति—**तत्रेति**। ननु प्रमाणान्तरसम्भवेप्यभ्यासोऽपि प्रमाणं न वेति चिन्ता भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**षडपीति**। एकस्मिन्विषयेऽनेकप्रमाणव्यापृतावेकप्रमाणव्युत्पादनेनैव कर्मभेदसिद्धेः प्रमाणान्तरस्य व्युत्पादने परस्याधिकस्यानन्यलभ्यस्य भागस्य भज्यमानस्य फलस्य लाभो नास्तीत्यर्थः। तर्हि उदाहरणान्तरं भवत्वित्याशङ्क्याह—**न चेति**। **एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति**। **कुत इति**। नन्वैन्द्रवायवादिनाम्नः संस्कार्यसोमपरत्वेनोक्तगतिद्वयाभावात्तद्युक्तमाख्यातमुदाहरणं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**ऐन्द्रवायवमिति**। देवतालक्षणगुणविधानार्थत्वादैन्द्रवायवादिनाम्नो वाऽपि गुणाद्भेद इत्यर्थः। भिन्नादिनाम्नस्तर्हि निमित्तार्थत्वेनागुणविधानार्थत्वात्तद्युक्तमाख्यातं भेदकं स्यादित्याशङ्क्याह—**भिन्न इति**। प्रकरणान्तरेण भेदसिद्धेरभ्यासस्य चाभेदकत्वान्नोदाहरणतेत्यर्थः।

कैश्चिद्वैशाख्याममावास्यायां सप्तदशमारुतीस्त्रिवत्सरा उपाकरोति सप्तदश पृश्नीनुक्ष्णस्तान्पर्यग्निकृतानेतरा लभते प्रेतरात्सृञ्जन्ति, ततः संवत्सरा नवनीतपृश्नारुणा आनयन्ति तांश्चैवोक्ष्णस्तान्पर्यग्निकृतानेतरा लभन्ते प्रेतरान्सृजन्ति, ततः संवत्सरे राजीवा आनयन्ति तांश्चैवोक्षणन्पर्यग्निकृतानेतरेतरा लभन्ते प्रेतरान्सृजन्ति ततः संवत्सरे पिशङ्गीरानयन्ति तांश्चैवोक्षणस्तान्पर्यग्निकृतानेतरा लभन्ते प्रेतरां सृजन्ति ततः संवत्सरे सारङ्गीरानयन्ति तांश्चोवोक्षणस्तान्पर्यग्निकृतानेतरा लभन्ते प्रेतरात्सृजन्ती (तै० ब्रा०)ति पञ्चशारदीयाख्याहीनसम्बन्धिषु पशुषु विहितेषु पञ्चकृत्वः पर्यग्निकरणाभ्यासमुदाहृतमुपन्यासपूर्वकं निरस्यति—**ये त्विति**। 'पञ्चशारदीयास्तथेति चेदि(११.३.५१)त्येकादशाधिकरणे प्राजापत्योत्सर्गवदुक्ष्णामप्युत्सर्गः संस्कारनिषेध इति प्राप्ते।

संस्कारनिषेधे सति त्रींस्त्रीनुक्ष्ण एकैकस्मिन्नहन्यालभेरन्यं चोत्तम इति प्राप्ते कर्मण्यनेकगुणविधानाद्वाक्यभेदापत्तेर्नवमोपान्त्यव्युत्पादितारण्योत्सर्गवत्कर्मशेषनिषेधेन चोदनैकवाक्यत्वादिति सूत्रेण सिद्धान्तयित्वा, संस्काराणां च दर्शनादिति सूत्रान्तरेण प्रतिवर्षं संस्कारानुवाददर्शनात्कर्मैक्ये च द्रव्याभेदेन पुनः पुनः संस्कारानर्थक्यात्प्रतिवर्षं कर्म-

समाप्तिरवसीयत इत्युक्त्वा, ननु वचनमेतद्भविष्यतीत्याशङ्क्य, पर्यग्निकरोति पर्यग्निकृतां-श्चोत्सर्जन्तीत्यनेकार्थविधौ वाक्यभेदापत्तेर्वत्सतरीषु च प्रकृतिप्राप्तानुवादत्वात्तत्साहचर्येणो-क्षस्वप्यनुवादतैव न्यायेति भाष्यकृद्वक्ष्यति। नन्वविधेयत्वात्पर्यग्निकरणस्य पुनर्विधान-रूपाभ्यासाभावेऽपि यागानां पुनर्विधानेन भेदस्यैकादशे वक्ष्यमाणत्वादुदाहरणत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**न चात्रेति**। द्रव्यदेवतान्वयकल्पत्वाद्यागानां तद्भेदेन गुणादेव यागभेदावगतेर्नाभ्यासस्य व्यापारोऽस्तीत्याशयः। उदाहरणासम्भवमुपसंहरतीति।

भाष्योक्तमेवोदहरणं समाधातुमाह—**यथोदाहृतेष्वेव त्विति**। भिन्ने जुहोतीत्यादेर-नुपादेयार्थस्याख्यातान्वितस्यापि नाम्नस्तत्पारतन्त्र्यभावात्—**प्रायेणेत्युक्तम्**। श्लोकं व्याचष्टे—**यानीति**।

ननु सर्ववाक्येषु चाख्यातं तेनाकाङ्क्षानिवर्त्यनात्

इत्यनेन न्यायेनाश्रुताख्याततत्केष्वपि वाक्येपु तत्कल्पनेनाख्यातवत्त्वान्न क्वचित्संज्ञा-गुणयोर्भेदकत्वं स्यादित्याशङ्कते—**नन्विति**। कल्पस्याख्यातस्य कल्पकपारतन्त्र्येण भेदाभेद-योरव्यापारात् ज्योतिरादौ 'चैतेन सहस्रदक्षिणेन यजेतेत्यादिगुणान्वयव्यापारेण, एतेनर्द्धिकामो यजेतेत्या'दिफलान्वयव्यापारेण च श्रुतस्याप्याख्यातस्य भेदाभेदयोर-व्यापारात्तदन्वितस्यापि नाम्नोऽपि भेदकत्वामविरुद्धमिति परिहरति—**तत्रेति**। भेदव्यापाराभावमात्रं सम्भवशब्देनोक्तम्।

ननु यच्छब्दाद्यनुपबद्धस्याख्यातस्य विधेयान्तरोपादानात्प्राक् प्रकृतनिवेशनिश्चये-ऽप्याख्यातसामानाधिकरण्यं विना संज्ञात्वानिश्चयात्कथं तयाभेद इत्याशङ्क्य—**तद् इत्युक्तम्**। यागसंज्ञात्वानिश्चयेऽप्यधिकारार्थाथशब्दान्वयेनानुष्ठेयक्रियासंज्ञात्वनिश्चयाद्भेद-कत्वोपपत्तिरित्याशयः। नन्वेवं सत'यैन्द्रवायवं गृह्णात्युद्भिदा यजेतेत्या'दिनाम्नामाख्यात-पारतन्त्र्याद्भेदकत्वानुपपत्तेः सर्वाणि परम्परासङ्गतौत्पत्तिकगुणयोगाद्भिद्यन्ते नाम्नैव चैवमादीनां भेद इति चायुक्तं स्यादित्याशङ्क्याह—**यत्रापीति**। अनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलमितिन्यायेनागत्या तत्र भेदकतेत्याशयः। एकसंज्ञावरुद्धे संज्ञिनि संज्ञान्तरस्याप्यसम्भवात्। गुणशब्देन संज्ञाप्युपलक्षिता आनर्थक्यनिमित्तत्वप्रदर्शनायैवादि-शब्देनाक्रियमाणे यागे न शक्यः कर्त्तुमित्यनर्थकः स्यादित्युदाहृतम्

नन्वेवं सत्यत्रापि गुणादेव भेदसिद्धेः किमभ्यासोपन्यासेनेत्याशङ्क्याह—**तच्चेति**। आख्यातस्य भेदकत्वसम्भवे तत्पारतन्त्र्याद् गुणस्य भेदकत्वं नास्तीत्याशयः। ननु भाष्येऽपूर्वभेदाभेदस्य सन्देहाभिधानात्किमेकस्य कर्मणो वाचकमनेकस्येत्ययुक्तमुक्तमित्या-शङ्क्य द्वेधा व्याचष्टे—**किमिति**। यजतिशब्दः किम् यागेऽभ्यासपूर्वमन्यत्कर्मैकं विधत्ते, किं वा प्रतियजतिशब्दाभ्यासमन्येषां कर्मणां भेद इति द्वितीयव्याख्यायां भाष्यार्थः। अपूर्वशब्दोऽन्यवाची कर्मविशेषणमित्याशयः।

पूर्वपक्षं प्रतिजानाति—**किमिति**। हेतुप्रश्नोत्तरत्वेन शब्दान्तर इति भाष्यं पूर्वोक्तभेदहेत्वभावाभिधानार्थत्वेन व्याचष्टे—**कुत इति**। इहेति भाष्यं कर्मप्रत्यभिज्ञाख्याभेदहेत्वन्तरार्थत्वेन व्याचष्टे—**अपि चेति**। शब्दस्य तत्त्वात्पूर्वमेव कर्मबुद्धौ निवेशितमित्यर्थः। श्लोकं व्याचष्टे—**यथैवेति**। नन्विति भाष्येणानन्यपरविधिपुनःश्रुतविधेयकर्मभेदं विनानर्थक्यापत्तेर्भेदकत्वमाशङ्क्य, सत्यमिति भाष्येणार्थशब्दोऽभिधेयवाची प्रयोजनवाची वेति विकल्प्याद्यपक्षे प्रयोजनाभावेऽप्यभिधेयसद्भावानर्थक्यमित्युक्तं तद्व्याचष्टे—**यथा चेति**। वार्त्तिके निष्प्रयोजनत्ववाच्यनर्थशब्दः। ननु वेदस्य प्रयोजनवदर्थाभिधायित्वनियमस्यार्थवादाधिकरणे स्थितत्वान्निष्प्रयोजनत्वापादकः कर्मैक्यपक्षे न युज्येतेत्याशङ्क्याह—**न चेति**। स्वरूपपरत्वेऽर्थवादानां प्रत्यक्षादिविरोधेनाप्रामाण्यापत्तेः स्तुत्यर्थतोक्ता। पुनःश्रुतेश्च पूर्वकर्मविधायित्वेऽप्यनपेक्षत्वेनाप्रामाण्यानापत्तेः निष्प्रयोजनत्वमात्रेण न भेदकत्वं कल्प्यमित्याशयः। न चेति भाष्येण निष्प्रयोजनतापि नास्तीत्युक्तम्। तत्र भाष्योक्तस्य देवताविध्यर्थत्वस्य गुणनिमित्तभेदापत्तेरयुक्तत्वेनाऽपरितोषात्स्वयं तावत्प्रयोजनत्रयमाह—**अस्ति चेति**। मन्त्रवत्कर्मकालप्रयोगितैकं प्रयोजनमित्याशयः। विधिश्रवणात्प्रयोगार्हरूपाभावेन प्रयोज्यत्वानुपपत्तेरपरितोषात्प्रयोजनान्तरमाह—अथ वेति। प्रतिप्रधानप्रयोगमावृत्तिः आभीक्ष्ण्यम्। आदिशब्देनाऽतिशयः।

नन्वाभीक्ष्ण्ये द्वे भवत इति स्मृतेः पञ्चकृत्वोऽभ्यासो न युक्त इत्याशङ्क्याह—**अस्ति हीति**। सकृत्प्रयुक्तात्प्रतीतेऽप्यर्थे तात्पर्यातिशयद्योतनार्थत्वादभ्यासस्यातिशयातिरेकार्थोऽभ्यासातिरेक इत्यर्थः। पञ्चकृत्वोऽप्यभ्यासो दृश्यत इत्याह—**तथेति**। इन्द्रस्य त्वष्टृपुत्रवधात्तेजोधर्ममाविशद्, बलं वायुं, रूपमश्विनौ, अर्द्धमात्मन्यतिष्ठन् ततः पाण्डुपत्न्यां कुन्त्यां धर्मेण तेजोनिक्षिप्तं युधिष्ठिरोऽभवद्वायुनिक्षिप्तं बलं भीमः, इन्द्रनिक्षिप्तं देहार्द्धमर्जुनः, अश्विभ्यां माद्र्यां निक्षिप्तं रूपं नकुलसहदेवाविति पञ्चानामिन्द्रावयवप्रकृतित्वादिन्द्रा एवेति पञ्चेन्द्रोपाख्याने कुमार्यैव वृद्धतां प्राप्तया पतिं मे देहीति पञ्चकृत्वो परमेश्वरः प्रार्थित इति श्रूयत इत्यर्थः।

नन्वेवं सति पतिपञ्चकवद्यागपञ्चकमपि स्यादित्याशङ्क्याह—**न चेति**। अर्थान्तरविवक्षया प्रयुक्तस्य शब्दस्यार्थान्तरकल्पनया प्रत्यवस्थानं छलम्। निद्रितेऽन्यमनस्के वा प्रबोध्यमाने बुध्यस्व बुध्यस्वेति यावत्प्रबोधम्। वृद्धकुमार्याश्च यावद्वरलाभमभ्याससम्भवेऽप्यपौरुषेयत्वाद्वेदे तादृगाशयानुपपत्तेः। प्रतिप्रधानानुष्ठानमावृत्तेश्च न्यायादेव सिद्धेरनुष्ठानादरस्य च विधित एव सिद्धेरपरितोषात्पञ्चानां विकल्पेन विधातृतेति **तृतीयं प्रयोजनमाह—अथ वेति**। अध्येतृभेदाभावाद्व्यवस्थितविकल्पानुपपत्तेरेकस्मिन्नध्येतरि विकल्पे सर्वाध्ययनानर्थक्यापत्तेरपरितोषाद्भाष्योक्तं प्रयोजनमभ्युपेत्यवादेनानुसन्धत्ते—**अथ वेति**।

ननु समिदादिशब्दानां देवताविध्यर्थत्वनिरासेन नामधेयत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाद्देवताविधानार्थता न युक्तेत्याशङ्क्याह—**कर्मेति**। विध्यपेक्षितविधेयविशेषसमर्पणार्थत्वान्नामधेयस्य प्राक्सिद्धविशेषापेक्षिण्यनुवादेऽनुपपत्तेरगत्या गुणार्थत्वापत्तिरित्यर्थः। वैश्वदेवादि-

नामधेयस्य गुणाद्युपबन्धोपयोगेनार्थवत्त्वादनुवादेऽप्युपपत्तिरित्याशयः। प्रत्यभिज्ञायाः कर्मैक्यप्रामाण्याभावेऽपि गुणविधावुपपदाक्रान्तविधिशक्तित्वेन कर्मानुवादावगतेर्गुणविधित्व-स्याप्यभ्युपेत्यवादत्वं सूचयितुमाह—**तस्मादपीति**। वस्तुतस्तु प्रत्यभिज्ञैवाभेदे हेतुरित्याह—**यत्रापि चेति**। न देशान्तरस्थशब्दार्थप्रत्यभिज्ञानोक्तिरतिशयार्था। विधेयभेदज्ञानं च विना विध्यभ्यासाज्ज्ञानाद्विध्यभ्यासाद्विधेयरूपभेदाभ्युपगमेऽन्यन्योन्याश्रयापत्तेः पुनरुच्चारण-रूपाद्वाचकाभ्यासाद्वाच्यभेदोऽभ्युपगन्तव्यः तत्र जातेर्भेदायोगाद्व्यक्तेर्वाच्यत्वापत्तेस्तस्याश्चा-नित्यत्वाच्छब्दार्थसम्बन्धानित्यत्वाद्वेदाप्रामाण्यापत्तिरित्याशयेनाह—**यदि चेति**।

तदा त्वन्ये त्वभेदमाचार्याः कर्मणामेव मन्यन्त इत्येतन्मताश्रयणेनैकैव यागव्यक्तिर्ग-कारादिव्यक्तिवन्नित्येष्यते, तदा तद्व्यतिरिक्तजात्यभावात्प्रत्यभिज्ञानायास्तद्विषयत्वाशङ्कानु-पपत्तेर्व्यक्त्यैक्यप्रामाण्यं स्पष्टमेवेत्याशयेनाह—**किं चेति**। संख्यानिबन्धनस्तु भेदो द्रव्यादिकारकात्मकव्यञ्जकभेदोपाधिको वर्णस्येव द्रुतादिभेदोपाधिक इत्याशयः। अस्मिंश्च पक्षेऽभ्यासार्थत्वेनापि पुनःश्रुत्युपपत्तेर्न कर्मप्रतीकतास्तीत्याह—**यद्यपि चेत**। स एव तर्ह्यस्त्वित्याशङ्क्याह—**न चेति**। ज्योतिष्टोमे ग्रहणान्वयित्वेन श्रुतानां देवतानां प्रकरणेन ग्रहणद्वारा योगान्वयात्, प्रकरणस्य च युगपत्सर्वाङ्गग्राहित्वात्समुच्चयावगतेः, प्रत्येकं च ग्रहणान्वयासंहतानां यागान्वययोगाभ्यासो युक्तो। न त्वत्र देवतासमुच्चयहेतुरस्तीत्याशयः। पूर्वपक्षप्रयोजनं चानेन समर्थितं तस्मादित्युपसंहारभाष्यस्थमपूर्वशब्दमयागेभ्योऽन्यत्ववाचितया व्याख्यातुमाह—**तस्मादिति**। भाष्योक्तां सूत्रव्याख्यां स्पष्टयति—**एवमिति**। विधेर-प्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावत्वाद्विहितविधावप्रामाण्यापत्तेर्विधिपुनःश्रवणस्य भेदकत्वावश्यम्भावा-त्कर्मैक्यवादिना कर्मानुवादाभ्युपगमेन विधिः पुनः श्रवणाभावो वाच्या इति मत्वा, तदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कथमिति**।

नन्वन्याक्षिप्तशक्तित्वाभावेऽपि विपरिवृत्तेरनुवादोऽवसीयत इत्याशङ्क्याह—**यदि हीति**। ननु व्रीहिभिर्यजेतेत्यादौ विपरिवर्तमानस्यैवानुवादाभ्युपगमादवश्यमनुवादे विपरिवृत्तेः किं-चित्कारो वाच्यः सूत्रानुवादत्वं चेत्तथा न क्रियते, किं तर्हि क्रियत इति पृष्टवोत्तरमाह—**किं तर्हीति**। सामान्यतस्त्वनुवादत्वप्रसिद्धिरन्याक्षिप्तविधिशक्तित्वादेवेत्याह—**तत्सामान्येति**। एतदेव व्याचष्टे—**यदा हीति**। नन्वनेकविध्यशक्तौ, न क्वचिद्विशिष्टविधिः स्यादित्या-शङ्क्याह—**ता चेति**। विपरिवृत्त्यभावे विशिष्टविधिरगत्या स्यादित्याशयः।

ननु य एवं विद्वान्पौर्णमासीं यजते इत्यादौ रूपालाभादिनाप्युत्तारणदर्शनात्किमन्या-क्षिप्तत्वेनेत्याशङ्क्याह—**धात्वर्थेति**। चतुर्जिह्वां गृह्णाति प्रयाजेभ्यस्तत्, गृह्णाति, अष्टावुपभृति गृह्णाति प्रयाजानुयाजेभ्यस्तत् गृह्णातीति वाक्यान्तराभ्यां जौह वोप भृताज्यद्रव्यलाभान्मान्त्रवर्णिकदेवतालाभाच्चात्रान्यो नोत्तारणहेतुरस्तीत्याशयः। ननु सामान्यतोऽनुवादत्वाप्रसिद्धावपि प्रकृतस्यानुवाद इत्यनुवादविशेषत्वमेव तर्हि विपरिवृत्ते-रस्त्वित्याशङ्क्याह—**सर्वत्रैवेति**। शब्दशक्त्यावगतस्य विधित्वस्यासम्भवावधारणं विना

नानुवादकता युक्तेत्याशयः। अतोऽनुवादकाङ्क्षा प्राप्तिश्चानुवादत्वे हेतुः, न प्राप्तिमात्रमित्युपसंहरति—**तस्मादिति**। अनुवादत्वावधारणेऽनुवादाकाङ्क्षायां हेतुत्वाभिधानस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तत्रेति**। पूर्वं तेनैव शब्देनैत्यनेन प्रत्यभिज्ञानात्कर्मैक्यावगतेर्न तद्विरुद्धो भेदः पुनर्विधानात् सिध्यतीति। तद् दूषयितुमनुभासते—**यत्त्विति**। **दूषयति—प्रमाणेति**। **एतदेव विवृणोति—तथा हीति**।

श्लोकं व्याचष्टे। **विधायका हीति**। ननु दध्यादिवाक्येऽपि तर्हि कर्मान्तरत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—**यत्र पुनरिति**। प्रत्यभिज्ञानस्यापि जातिविषयत्वेनोपपत्तेर्नात्यन्तबाध इत्याह—**तस्मादिति**। सामान्येनैक्ये चेदविवादः। कस्य तर्ह्यत्र भेदश्चिन्त्यत इत्यपेक्षायामाह—**तथा हीति**। पश्वादीनां यागत्वसामान्यैक्येऽपि पशुत्वाद्यवान्तरसामान्यात्मकविशेषरूपेणाऽन्योन्यं पशूनां चाग्नीषोमीयादीनाम्, सोमानां ज्योतिष्टोमादीनाम्, इष्टीनां च दर्शपूर्णमासाधानानां विधेयात्मकव्यक्तिरूपेणान्योन्यं भेदश्चिन्त्यत इत्यर्थः। सर्वत्र शब्देन संख्यादिसाधारणतास्याभिधानस्योक्ता।

ननु विधिश्रुत्या कर्मान्तरज्ञानवद्यजिश्रुत्यैवैक्यज्ञानान्न बलाबले विशेष इत्याशङ्कते—**ननु चेति**। यागत्वमात्रज्ञानं तया नैक्यज्ञानमिति परिहरति—**नैतदिति**। **श्लोकं व्याचष्टे**। **न हीति**। ननु शब्दार्थरूपस्येह भेदाभेदविचाराद्व्यक्तेश्चाशब्दार्थत्वाच्छब्दार्थभूतस्य च सामान्यस्यैक्याद्यजिश्रुत्यैव कर्मैक्यज्ञानसिद्धिरित्याशङ्किता स्वाशयं विवृणोति—**नन्विति**। शब्दावाच्यत्वेनेतरासामवाच्यत्वाच्छब्दार्थतायामेवैक्यापत्तेर्विपरीतसाधनो हेतुरित्याशयेन परिहरति—**येनैवेति**। नन्ववाच्यत्वे सत्यैक्यवद्भेदस्याप्यनवगमात्कथं विपरीतसाधनतेत्याशङ्क्यां प्रश्नपूर्वं निरस्यति—**कथमिति**। विधेयरूपस्येह भेदाभेदविचाराज्जातेश्चाननुष्ठेयत्वेनाविधेयत्वात्, तल्लक्षितानां व्यक्तीनामेव विधेयत्वावगतेर्विधेयसमर्पकस्य यजेस्तात्पर्यवृत्त्या व्यक्तिविषयत्वेनैक्यज्ञाने व्यापाराभावाद्विहितविधानायोगेन विधिपुनःश्रुत्या सन्नधिकृतैक्यज्ञानबाधाद्भेदज्ञानसिद्धिरित्याशयः।

श्लोकं व्याचष्टे—**यदिति**। गत्वादिवन्न चैतेष्वित्यनेन व्यक्त्याकृतिभेदाभावमुक्तं दूषणायानुभाषयते—**यस्त्विति**। दूषयति—**सत्यमिति**।

कर्मव्यक्तीनां स्वरूपेण क्षणिकत्वाद्व्यक्त्याकृतिभेदादिप्रमेयस्य विधेयरूपस्य विधिनित्यत्वेन नित्यत्वाद्विधेयकरूपव्यक्त्याकृतिभेदोऽपन्होतव्यः। स च शब्दान्तरादिभेदप्रमाणं विना नास्तीत्येतावता न तत्सद्भावेऽप्यपह्नोतुं शक्य इत्याशयेन श्लोकं व्याचष्टे—**यथैवेति**। व्रीहियवद्रव्यभेदेऽप्याग्नेयादेरभ्युदयनिमित्तदेवताभेदेऽपि चाभेदसूचनार्थं यजमानादीत्यादिशब्देन द्रव्यदेवतोपादानम्। एतदेव व्यवहारेण द्रढयति—**तथा हीति**। यागहोमादिकर्मव्यक्तिवद्यागव्यक्तीनां स्वरूपवैलक्षण्यानुपलब्धेर्भेदानुपपत्तिशङ्कानिरासार्थत्वेन प्राक् तस्मादिति व्याचष्टे—**न चेति**। यन्मात्रमिति श्लोकार्थमुपसंहरति—**अतोऽत्रेति**। अतः शब्दपरामृष्टप्रामाण्याविशेषमुपपादयति—**न हीति**। इष्ट्यादिषु समस्तेषु प्रत्येकं वा भेदप्रत्ययस्यात्नौपाधिकत्वाद् बाधाभावाच्च न प्रामाण्ये विशेष इत्यर्थः। देशादिभेदेऽपि

विधेयरूपेण व्यक्त्यभेदोपसंहारमेवकारसूचितं विवृणोति—**तेनेति** । येन कारणेन शब्दान्तरादिषट्कावधिरेव भेदः । तेन व्यक्तिभेदे शब्दान्तरादिप्रमाणाभावाच्छब्दव्यक्तिवद्यागव्यक्तिषु नित्याभिव्यञ्जकभेदाद्भेदप्रतीतिरित्याशयः । ननु कर्मणः पूर्वापरीभूतानिष्पन्नत्वरूपत्वान्नित्यत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क्य कूटस्थनित्यत्वाभावेऽपि नित्यविधिविषयत्वरूपेण प्रवाहनित्यत्वसूचनार्थम्—**तासु विधेयरूपास्वित्युक्तम्** । एकविधिविषयभूतव्यक्तिवद्भिन्नविधिविषयभूतेष्विष्टचादिषु भेदप्रत्ययस्याभिव्यञ्जकभेदनिबन्धनत्वनिरासायैवकारः ।

ननु सङ्कल्पात्मकयागस्वरूपस्य मानसप्रत्यक्षगम्यत्वात् द्विधेयरूपस्य च विधिगम्यत्वात्कथं देशाद्यभिव्यङ्ग्यतेत्याशङ्क्याह—**तेभ्यश्चेति** । विधेयरूपाश्रयस्य यागस्वरूपस्य देशादिभिर्निष्पादनादनिष्पन्नं चाश्रयरूपे तदाश्रयविधेयरूपाप्रतीतेर्देशादिना विधेयरूपाभिव्यक्तिरित्याशयः । द्रव्यदेवतामात्राद्यागसिद्धेर्न देशादिभ्यो यागसिद्धिरित्याशङ्क्य—**फलेत्युक्तम्** । देशादतीतिकर्त्तव्यतारहिताद्यागात्फलासिद्धेर्विधेयरूपोपलक्षितफलसाधनत्वरूपेण यागस्य देशादिभ्यः सिद्धिरित्याशयः ।

यदा त्वथ प्रत्यक्षे नित्ये एवेति शब्दाधिकरणभाष्यानुसाराद् बुद्धिकर्मणोरपि वर्णवत् कूटस्थनित्यतेष्यते, तदा यागनित्यत्वे अपूर्वकल्पनानुपपत्त्या शङ्कानिरासार्थत्वेनायं ग्रन्थोऽनुष्ठानं नित्ययागाभिव्यञ्जकमाश्रित्य शब्दाभिव्यञ्जकादुच्चारणाच्छब्दफलार्थप्रतीतिसिद्धिवत् तेभ्यो नित्ययागाभिव्यञ्जकेभ्योऽनुष्ठानेभ्यो यागफलस्य सिद्धि तेषां क्षणिकत्वाद्युक्ताऽपूर्वकल्पनेत्येवं योज्यः । नन्वनित्यानामपि व्यक्तीनां नित्यसामान्योपलक्षितानां नित्यविधिविषयत्वोपपत्तेर्व्यक्तिनित्यत्वाभ्युपगमो वृथेत्याशङ्क्याह—**यागत्वमेव चेति** । विध्यन्तरविषयव्यावृत्तावान्तरसामान्यं विनानन्यविहितविधिविषयोपलक्षणायोगाद्यागत्वातिरिक्तस्य वावान्तरसामान्यस्याभावाद्व्यक्तीनामेव प्रवाहरूपेण कूटस्थत्वेन वा नित्यताभ्युपगन्तव्येत्याशयः ।

ननु भिन्नासु ज्योतिष्टोमादिव्यक्तिषु अभिन्नस्यैकाहादिशब्दस्य तज्जन्यस्य च प्रत्ययस्य यागत्वातिरिक्तावान्तरसामान्याभावेऽनुपपत्तेस्तान्येष्टव्यानीत्याशङ्कते—**नन्विति** । एकोपाधियोगादुपपत्तेः परिहरति—**नेति** । एकाहशब्दस्योपाधिमाह—**एकेनेति** । अहीनशब्दस्याह—**द्व्यादिभिरिति** । यजिचोदिताहगणयोगस्योपाधित्वं प्रागित्यनेन सूचितम् । ननु द्वादशाहस्यापि यजिचोदिताहगणयोगेनाहीनत्वात्तस्मात्प्रागिति कस्मादुक्तमित्याशङ्क्याभ्युपैतिचोदितत्वसत्रलक्षणस्यापि सद्भावेन तस्य केवलाहीनत्वासम्भवादित्याह—**स त्विति** । आसीरन्नित्यआसिचोदितस्योपेयुरित्युपैतिचोदितगतस्य वा सततानुष्ठानस्य सत्रशब्दोपाधित्वमाह—**तदवधिकमेवेति** । द्वादशाहस्याप्यवधित्वेन सत्रतोक्ता । सहस्रसम्वत्सरं तदायुषामसम्भवान्मनुष्योष्वि(६–७–३१)त्यत्र षष्ठाधिकरणे सहस्रसम्वत्सरशब्दस्याहःसहस्रवाचितया वक्ष्यमाणत्वात् षट्त्रिंशत्सम्वत्सरादेस्तदवधिककालत्वेऽपि पूर्वपक्षे स्थित्वा सहस्रसम्वत्सरपर्यन्ततोक्ता । सर्वसत्रान्ते विधानाद्वा यागगतपशुसोमातिरिक्त-

हविष्यकत्वमिष्टिशब्दस्य पशुहविष्कत्वं, पशुशब्दस्य सोमहविष्कत्वं, सोमशब्दस्योपाधिमाह— **हविर्विशेषेति**। वस्तुवृत्तिकथनार्थं चेदमेकाहत्वाद्यवान्तरजात्यभावाभिधानम्। तत्सद्भावेपि त्वनेकज्योतिष्टोमविश्वजिदादिविधेयसाधारण्येनैकाहत्वादेरसाधारणविधेयोपलक्षणत्वायोगाद्व्यक्तिनियतताभ्युपगन्तव्येत्याह—**अथापीति**।

स्वमतेन शब्दान्तरादिषट्कस्य विधेयरूपभेदे व्यापारमभिप्रेत्य भिन्नानामपि व्यक्तीनां यजिवाच्यैक्ययागत्वजात्योपलक्षितानामेकविधिविषयत्वोपपत्तेर्विधिविशेषविषयत्वाच्च विधेयान्तरेभ्यो व्यावृत्त्युपपत्तेर्यागत्वातिरिक्तावान्तरजात्यभावोऽभिहितः। स्वरूपभेद एव तु शब्दान्तरादिषट्कव्यापाराभ्युपगमे विधेयान्तरव्यावर्त्तकप्रतिविध्यसाधारणावान्तरज्योतिष्टोमत्वादिजात्या विना विधेयान्तरेभ्यो व्यावृत्त्यनुपपत्तेर्ज्योतिष्टोमादिव्यक्त्याकृतिभेदेऽप्यदोषाद्गकारादिवद्व्यक्त्याकृतिभेदो नास्तीति यदुक्तं, तदयुक्तमित्याशयेन—**आहैवमिति**। एकाहत्वादिज्योतिष्टोमत्वादीनि प्रतिविध्यसाधारणान्यवान्तरसामान्यानि यदि कल्प्यन्ते, ततश्च स एवायं ज्योतिष्टोम इत्यादिप्रत्यभिज्ञायाः सामान्यविषयत्वोपपत्तेर्देशादिभेदाद्व्यक्तयो यदि भिन्ना भवन्ति, तथाप्यदोष इत्यर्थः॥ स्वरूपभेदाभेदचिन्तापक्षे भिन्नानां व्यक्तीनामेकविधिविषयत्वरूपेणैक्यस्यानादरसूचनार्थोऽत्यन्तशब्दः। पराभिमतत्रैलोक्यवर्त्तियागव्यक्त्यैक्याभ्युपगमेऽप्यनुष्ठानभेदविषयत्वेन भेदप्रमाणानां व्यापाराद् प्रौढ्या दर्शयति—**तथेति**।

कर्मभेदं कुर्यादिति भाष्यमस्मिन्पक्षे न युज्येतेत्याशयेनाशङ्कते—**नन्विति**। भाष्यस्यायुक्तत्वेऽपि भेदचिन्ताप्रयोजनं तावत्सिद्ध्यतीति परिहरति—**सर्वथा तावदिति**। भाष्यमप्युपपादयितुमाह—**तथापि त्विति**। ग्रहयागेषु ज्योतिष्टोमवाक्येन ज्योतिष्टोमरूपतयानुष्ठानविधानात् ज्योतिष्टोमरूपतायाश्च सर्वाभ्यासेष्वैक्यान्नानुष्ठानभेदचोदनेति विशेषनिमित्तमित्याशयः। विशेषनिमित्तान्तरमाह—**अभ्यासेष्विति**। ज्योतिष्टोमरूपावयवव्युत्पादनात्तदपेक्षया ग्रहयागाभ्यासेष्ववयवबुद्धिर्न प्रयाजाभ्यासेष्वित्यतोऽपि निमित्ताद्विशेषः। वैषम्यमित्यपिशब्दाभ्याहारेण योज्यम्।

नन्वेवमपि कर्मभेदशब्देनैवंविधवैषम्यसूचनस्य किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याह—**एतद्ज्ञानस्य चेति**। प्रयाजाभ्यासवत् ग्रहाभ्यासेष्वप्यनुष्ठानभेदचोदनायां धर्मग्रहणशक्तापूर्वभेदात्पशुसोमाधिकरणपूर्वपक्षवत्सिद्धान्तेऽपि सोमविकारेष्वेकस्यैव ग्रहणस्य धर्मैः सकृदनुष्ठानेन च भवितव्यमिति प्रकृतितुल्यानुष्ठानं पशुसोमाधिकरणसिद्धान्तप्रयोजनं न सेत्स्यतीत्याशयः। प्रौढरेव सबीजत्वार्थं भाष्यसम्मतिमाह—**तस्मादिति**।

अस्यैव स्वमतत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थं वक्ष्यमाणमेव भाष्यं स्वमतेनान्यथा व्याचष्टे—**अथ चेति**। बहुकृत्वोऽपीति पूर्वपक्षभाष्योक्तार्थानुभाषणार्थं नन्विति भाष्यं विहितविधानानर्थक्यापत्तेर्विधिपुनः श्रुतेः कर्मान्तरविधिशक्त्यवगमादयुक्तमाशङ्क्य व्याचष्टे—**नन्विति**। उच्यतइत्यादिभाष्यं समिदादिशब्दानां देवताविधित्वस्य नवमे निराकरिष्य-

माणत्वादयुक्तमाशङ्क्य, अभ्युपेत्यवादत्वेन व्याचष्टे—**तत्रेति**। कीदृशोऽभ्युपेत्यवाद इत्यपेक्षायां पुनःश्रुतेर्देवताविधानाक्षिप्तशक्तित्वात् कर्मभेदकत्वाभावेऽपि गुणाद्भेदो भविष्यतीत्येवं रूपं वक्तुं समिद्वाक्येन शुद्धे यागे विहिते तनूनपादादिवाक्ये देवताविध्युपपत्तेर्न गुणाद्भेद इत्याशङ्कानिरासार्थं समिधो यजतीत्यादिभाष्यं व्याचष्टे—**यत्तावदिति**। भाष्यस्थस्य देवताशब्दस्योपलक्षणार्थत्वज्ञापनार्थो द्रव्यशब्दः। गुणस्य भेदरूत्वाय पूर्वकर्मसंयोगासम्भवाभिधानार्थं तन्नेति भाष्यं व्याचष्टे—**उभयमपि चेति**। अभ्युपेत्यवादस्वरूपार्थं स एष इति भाष्यं व्याचष्टे—**अवश्यं चेति**। समिद्वाक्यन्यायमुत्तरेषु वाक्येष्वतिदिशति—**एवमिति**। अस्याप्यभ्युपेत्यवादत्वोपपादनार्थं गुणविधित्वं द्रव्यविधित्वेन देवताविधित्वेन चेत्येवं विकल्प्य, आद्यं पक्षं तावन्निरस्यति—**गुणेति**। द्वितीयान्तेन शब्देन द्रव्यविधिर्निरस्त इत्यर्थः। गुणविधित्वमपि कीदृगित्यध्याहृत्य योज्यम्। होमे च प्रतिपत्तिकर्मणि प्रस्तरप्रहरणादौ प्रक्षिप्यमाणांशेन कर्मभूतद्रव्यान्वयसम्भवेऽपि यागे कथंचिद् द्रव्यस्य प्राधान्यलक्षणकर्मत्वायोगान्न कर्मभूतद्रव्यान्वयः सम्भवतीत्याह—**विशेषेण चेति**।

'प्रयाजेऽपि चेदि'त्यत्राधिकरणे श्रुत्यविनियुक्तानां मन्त्राणां स्वार्थसमवायकल्पकत्वासभवान्मान्त्रवर्णिकदेवताप्राप्त्यभावेन तत्प्रख्यन्यायाभावान्नामधेयत्वानुपपत्तेर्विष्णुं यजतीतिवत्समिदादिशब्दानां द्वितीयान्तानां देवानां विधित्वं पूर्वपक्षयित्वा यजेः पूजावाचित्वाभावेन देवतायाः पूज्यमानकर्मत्वायोगात्तदुद्देशांशस्य वा समाप्तित्वेनात्, शब्दार्थत्वात्कर्मणोऽभिभूतत्वेन विवक्षानुपपत्तेरुद्देश्यत्वेऽपि चानीप्सितत्वात्प्राधान्यलक्षणकर्मत्वानुपपत्तेः श्रुत्यविनियुक्तानामपि मन्त्राणामुपांशुयाजवद्यागाकाङ्क्षितदेवताकल्पकत्वापपत्तेर्देवताविधित्वस्य निराकरिष्यमाणत्वाद्देवताविधित्वेनापि गुणविधित्वं न सम्भवतीति द्वितीयं पक्षं निरस्यति—**नचायमिति तस्मादिति**। सिद्धान्तोपसंहारभाष्यं फलतो यागभेदोपसंहारार्थत्वेन व्याचष्टे—**तस्मादिति**। अनेन च यस्मात्समिदादिवाक्यैः प्रधानयागानुवादे पुनःपुनर्यागस्याक्रियमाणत्वात् देवतान्तरान्वयकरणाशक्तेर्विध्यानर्थक्यापत्तिः तस्माद्यागविधित्वमभ्युपगम्य विहितविध्ययोगात् भिन्ना यागाभेदेन कार्या इत्येवं भाष्यं व्याख्यातम्।

ननु यागभेदेऽपि प्रयाजसमाख्ययैककार्यत्वावगतेर्विकल्पस्य न्याय्यत्वान्नाभ्यासो युक्त इत्याशङ्कानिरासार्थं प्रत्यभ्यासं चेति भाष्यम्। तद्विवरणार्थं च न च यत्समिद्यागान्वयेन क्रतोरदृष्टमुपकाररूपं क्रियते, तदेव तनूनपाद्यागान्वयेन तयोर्यागयोर्भिन्नत्वेन तदनुनिष्पाद्यदृष्टभेदावगतेः समाख्यायाश्च प्रधानप्राग्भावमात्रनिमित्तत्वेन कार्यभेदेऽप्यविरोधादित्यभिधानाय यागैक्येऽप्यनेकदेवतान्वयसम्पादनायानुष्ठानाभ्यासोपपत्तेः पूर्वपक्षप्रयोजनाभावशङ्कानिरासार्थं च प्रयोजनभाष्यं स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम्॥ २॥

इति द्वितीयमभ्यासाधिकरणम्

भा० प्र०—प्रकृत में एक ही प्रकरण में श्रुत धात्वर्थ का भेद नहीं है। किन्तु पुनः पुनः उल्लेख होता है ऐसी स्थिति में पूर्व अधिकरण में कहे गये नियमानुसार भावना के अर्थ का भेद नहीं हो सकता है। इस नियम की विचार कर कहा गया है कि उन स्थलों में भी भावना का भेद होगा, जैसे दर्शपूर्णमास प्रकरण में "समिधको यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, बर्हिर्यजति, स्वाहाकरं यजति, (तैत्तिरीय संहि० २।६।१) इन स्थलों में एक ही यज् धातु तिङ् से सम्बद्ध होकर पुनः पुनः अर्थात् पाँच बार उच्चारण किया जाता है। पूर्वपक्षियों का कहना है कि जब इन स्थलों में धातु का भेद नहीं है और प्रत्यय भी अभिन्न है, तब भावना का भेद नहीं हो सकता है। इसके समाधान में सिद्धान्त का कथन है—'एकस्य पुनः श्रुतिः एवं स्यात्' एक ही धातु जब आख्यात् = तिङ् से युक्त होकर पुनः-पुनः कही जाती हैं, तब इन स्थलों में भी भावना का भेद अवश्य ही मानना होगा। क्योंकि 'अनर्थकं हि' ऐसा न मानने पर पुनः पुनः पठेत् शब्द निरर्थक होने लगेंगे। यदि पूर्वपक्ष इसके समाधान में यह कहें कि अन्य वाक्यों से पूर्वप्राप्त यज्ञ का अनुवादपूर्वक 'तनूनपात्' आदि देवता या द्रव्यरूप गुण का विधान होने से एक ही धातु का पुनः-पुनः उल्लेख होने पर भी वह निरर्थक नहीं है, क्योंकि वह देवता विधिरूप विशेष अर्थ का प्रकाश करता है। इस प्रसंग में यह कहना उचित होगा कि प्रकृत में देवता का विधान नहीं हो सकता, क्योंकि चतुर्थी विभक्ति अथवा तद्धित प्रत्यय के द्वारा देवता का विधान होता है, यहाँ इनमें कुछ भी नहीं है। यदि इससे द्रव्य का विधान माना जाय तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि इस स्थल में तृतीया विभक्ति से युक्त किसी पद का प्रयोग नहीं है, क्योंकि 'दध्ना जुहोति' इत्यादि स्थलों में तृतीयान्त पद के द्वारा ही द्रव्यरूप गुण का विधान किया जाता है। प्रकृत में यजेत पद का विधित्व कृत् प्रत्यय के श्रवण से सिद्ध होने से वह श्रौत है, उसकी अनिवार्यता प्रकरण लक्ष्य या सन्निधि सिद्ध है। श्रुतिप्रकरण अथवा सन्निद्धि की अपेक्षा बलवान् यहाँ अनुवाद नहीं हो सकता है, इसलिए अग्निहोत्र जुहोति के समान 'समिधो यजति, तनूनपातं यजति' इत्यादि वाक्य से विहित समिध तनूनपात् आदि विभिन्न कर्मों का नामभेद है। यजेत पद के अभ्यास से यहाँ कर्मभेद या भावना भेद ही प्रकाशित होता है।

'एकस्य' = एक ही धातु का, 'पुनः श्रुतिः' = श्रुतियों में पुनः पुनः उल्लेख एवं इस प्रकार शब्दान्तर के समान 'स्यात्' होता है। अर्थात् भावना के भेद का प्रकाशन होता है। अविशेषात् = क्योंकि 'दध्ना जुहोति' इत्यादि स्थल 'दधि' आदि के समान विधेयगत कोई भी विशेषता नहीं है, 'अनर्थकं हि' अन्यथा वह अनर्थक ही होगा। आशय यह है कि तनूनपात आदि देवता का यह पुनः अभ्यास विधान करेगा, यह अभ्युगमवाद को मानकर यह पूर्वपक्ष की भावना को उत्थापित कर उसका विवरण प्रस्तुत किया गया। तनूनपात् आदि देवों का याग जैसा सम्बन्ध करने के लिए याग के बिना उत्पत्ति नहीं हो सकती है और याग के न करने से समिध इत्यादि वाक्य अनर्थक हो जायेंगे और याग करने पर

देवता और याग का सम्बन्ध उत्पन्न हो सकता है। अतः समिधो यजति आदि में जैसे देवता का याग से सम्बन्ध करने के लिए पूर्वपक्षी समिध का विधान मानता है, वैसे ही तनूनपात् आदि देवताओं का याग से सम्बन्ध जोड़ने का अभ्यास करना ही होगा ॥ २ ॥

द्वितीय अभ्यासाधिकरण, समिदादि अपूर्वभेदाधिकरण—२।२।३

अथ तृतीयं विद्वदधिकरणम्

[३] प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् ॥ ३ ॥ सि० ॥

शा० भा०—एवं हि समामनन्ति=यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति, तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव ना[1]वुपांशु पौर्णमास्यां यजन्' इति, 'ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्', 'ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्, ऐन्द्र पयोऽमावास्यायाम्' इति। तथा 'आघारमाघारयति, आज्यभागौ यजति, स्विष्टकृते समवद्यति, पत्नीसंयाजान् जयति समिष्टयजुर्जुहोति'। तथा य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वानमावास्यां यजते इति।

तत्र संदेहः—सर्वाण्येतानि समप्रधानानि, उताऽऽग्नेयादीनि पयोन्तानि प्रधानानि, आघारादीन्यारादुपकारकाण्यङ्गानि। तथा, य एवं विद्वानित्येवं संयुक्तौ प्रकृतानां कर्मणामनुवदितारौ, अथ वा य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वानमावास्यां यजते इत्यपूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ, तत्रेतरे गुणविधय इति। किं[2] प्राप्तम्। शब्दान्तरत्वादभ्यासाच्च समप्रधानानीति प्राप्ते—

ब्रूमः[3]—प्रकरणं तु पौर्णमास्यां, प्रकृतानामाग्नेयादीनामनुवदितारौ पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तौ। कुतः? रूपावचनात्। य एवं विद्वान् पौर्णमासी-संज्ञकं यागं यजत इति न सर्वे[4] यागा उच्यन्ते। यः पौर्णमासीसंज्ञकः, स विधीयते। न चैतदेवमवगच्छामः—कीदृशमेवंसंज्ञकस्य यागस्य रूपमिति। तेन न किंचित् प्रतिपद्येमहि। अतो ब्रूमो यद्यपूर्वस्य विधातारावनर्थकाविति। अथ नु प्रकृतानामनुवदितारौ। ततः संनिहिताः पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्ता यागा इति गम्यते रूपम्। तत्रार्थवत्ता वचनस्य। कथं पुनरेकवचनान्तो बहूनां वाचको भविष्यतीति यद्युच्यते, समुदायशब्दतयाऽव[5]कल्पिष्यते। रूपवन्तो हि पूर्वप्रकृता यागाः। तेषां च प्रचयशिष्टः समुदायोऽप्यस्ति। तदपेक्षोऽयमरूपशब्दः। तस्मादेकवचनान्तता न दोषः। भवति हि बहूना-मेकवचनान्तः शब्दः समुदायापेक्षः। यथा यूथं वनं कुलं परिष[6]दिति।

१. क. तौ उपांशु। २. क. किंतावत्। ३. ब. उच्यते।
४. ब. सर्वोयाग उच्यते। ५. ब. च कल्पिष्यते। ६. ब. पर्षादिति।

यदाऽऽग्नेयादीनां समुदायवचनावेतौ, तदा दर्शपूर्णमासशब्देनैत एवाभिधीयन्ते। तत एषां फलसम्बन्धः, फलवत्संनिधेस्त्वाघारादीन्याहुपकारकाणीति ॥ ३ ॥

भा० वि०—अभ्यासलक्षणभेदातिप्रसङ्गपरिहारार्थत्वादस्यानन्तरसङ्गतिः, विषयमाह—**दर्शपूर्णमासयोरिति**। तत्र तावदुक्तं वाक्यजातमधिकृत्याधिकरणस्य पूर्वोत्तरपक्षप्रयोजनरूपसमप्रधानाङ्गाङ्गिभावविषयं सन्देहमाह—**तत्रेति। सवर्णीति**। विद्वद्वाक्यैक्यविहितामावास्यापर्यन्तानीत्यर्थः। उतेत्यादिनानुवदितारावित्यन्तेन द्वितीयावचनव्यक्तिरुक्ता, अनेन च किमाग्नेयादिवाक्यानां पृथक्कर्मविधित्वे सत्येव पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तयोरपि तदतिरिक्तापूर्वकर्मविधायित्वमुताग्नेयादिवाक्यविहितकर्मसमुदायानुवादित्वं इत्येवं रूपः प्रकृतविचारहेतुरपि संशयस्सूचितो भवति। पूर्वपक्षे वचनव्यक्त्यन्तरमाह—**अथ वेति**। विद्वानित्येवापूर्वयोरितिपठितव्यम्। किमर्थं तर्ह्याग्नेयादिवाक्यमत आह—**तत्रेति**। विद्वद्वाक्यविहिते कर्मणीत्यर्थः। सिद्धान्तवचनव्यक्तिस्तु पूर्वैवेति न पृथगुक्ता। अत्र च पुनर्विधानदर्शनाद्रूपावचनाच्चाद्यस्संशयः द्वितीयस्त्वाग्नेयादिवाक्यस्य गुणविधित्वसंभवासंभवाभ्यामिति भेदः, विधित्वे च कर्मभेदस्य पूर्वन्यायेन सिद्धत्वात् विध्यनुवादावेव चिन्त्यौ न भेदाभेदवित्यभिप्रायः, तत्र प्रश्नपूर्वकमाग्नेयादिवाक्यविहितकर्मातिरेकेण विद्वद्वाक्यस्यापि कर्मान्तरविधायकत्वमित्याद्यं पूर्वपक्षमुत्पादयति—**किमिति**। अयागेभ्य आधारादिभ्यः शब्दान्तरत्वाद्यागेभ्यश्च प्रयाजादिभ्योऽभ्यासाद्भेदः ततश्च समप्रधानानीति योज्यम्।

अयमाशयः—समस्तानुवादेऽस्य वाक्यस्य निष्प्रयोजनत्वापत्तेः समिधो यजतीत्यादिवच्च पञ्चमलकारत्वेन विधित्वोपपत्तेः यच्छब्दोपबन्धेऽपि च यदाग्नेय इत्यादिवद्विधिशक्त्यनवलोपात् "सर्वस्मै वा एत यज्ञाय क्रियते यद्ध्रुवायामाज्यं' इति विहितसाधारणध्रौवाज्यद्रव्यलाभात् "वार्तिघ्नीपौर्णमासेऽनूच्येते वृधन्वती अमावास्यायां" इति वाक्यविहितानुवाक्यायुगलद्वयप्रतिपाद्याग्नीषोमदेवतालाभाच्चपूर्वविधित्वात् सर्वेषां चैषामाग्नेयादिकर्मणां दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति यजिनानूद्य फलसंबन्धबोधनात् प्राधान्यावगतेः सर्वाणि समप्रधानानीति, सिद्धान्तमाह—**इति प्राप्त इति**। तत्र प्रतिज्ञाभागमनूद्य व्याचष्टे—प्रकरणं त्वित्यादिना। सूत्रे प्रक्रियत इति प्रकरणं पौर्णमासीशब्दश्चामावास्योपलक्षणार्थः, ततश्च पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तयोर्वाक्ययोः प्रकृतं कर्मालम्बनमिति सूत्रार्थ इत्यर्थः। कथं रूपावचनस्य प्रकृतानुवादत्वे हेतुत्वमित्याशङ्क्योपपादयति—**य एवमिति**। पौर्णमासी इत्यादिसंज्ञाया विशेषप्रतिपत्त्यर्थत्वान्न यागमात्रविधिरित्यर्थः। ततः किमत आह—**न चेति**। न च मत्पक्षेऽप्युक्तमेव द्रव्यदैवतं रूपमिति वाच्यम्, आज्यभागाद्युपस्तरणादि च प्रकृत्य विहितस्य ध्रौवाज्यस्यै-

तत्कर्मार्थत्वाभावेन मान्त्रवर्णिकदेवतासंभवाच्चेत्यभिसन्धिः। रूपाज्ञानफलमाह—**तेनेति**। अपूर्वकर्मविशेषाप्रतिपत्तिफलमाह—**अत इति**। अज्ञातरूपत्वेनागृहीतविशेषे कर्मणि अप्रवर्तकत्वादानर्थक्यमेव विध्योः स्यादित्यर्थः।

नन्वनुवादोऽप्यज्ञातरूपस्य न संभवतीति तत्रापि अविशिष्टमानर्थक्यं तत्राह—**अथ त्विति**। तत्र वा कथमर्थवत्ता तत्राह—**तत इति**। प्रकृतादाग्नेयादिवाक्यादित्यर्थः। न च समस्तस्य वाक्यस्यानुवादत्वे निष्प्रयोजनत्वप्रसङ्गः दर्शपूर्णमासाभ्यामिति प्रयोगवचनोपात्तद्वित्वापेक्षितसमुदायद्वयोपपादनेनार्थवत्त्वोपपत्तेरित्याशयः।

ननु प्रकृताग्नेयादिकर्मणामनेकत्वात् पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोरेकवचनान्तयोस्तद्वाचित्वानुपपत्तिरित्याशङ्कते—**कथं पुनरिति**। समुदायिवचनस्यापि तद्गतसमुदायलक्षणवत्त्वात् तदेकत्वेनैकवचनान्तता भविष्यतीति परिहरति—समुदाय····

नन्वेवं सति लक्षणादोषपरिहारायापूर्वकर्मविधायितैव युक्ता नेत्याह—**रूपवतो हीति**। यद्यपि प्रकृतरूपवत्कर्माभिधायित्व एव पौर्णमास्यामावास्याशब्दयोरर्थवत्ता नारूपापूर्वकर्मवाचित्वे तथापि प्रकृतानामाग्नेयादीनां भिन्नवाक्यविहितानां सामान्यात्मकः समुदायो न सम्भवतीति तत्राह—**तेषामिति**। प्रचयेनानेकस्यैककालप्रयोगलक्षणधर्मान्वयेन शिष्टः कृत इत्यर्थः। ततश्च समुदायविषयस्य तद्गतैकत्वेनैकवचनान्ततापि युक्तेत्याह—**तदपेक्ष इत्यादिना**। ननु सत्यपि पौर्णमास्यामावास्यानामधेयोर्यजिसामानाधिकरण्येन तद्विषयत्वात्तेषां च बहुत्वान्नैकवचनोपपत्तिरित्याशङ्क्याह—**भवति हीति**। समुदायगतैकत्वस्य समुदायसमुदायिनोरत्यन्तभेदाभावेन समुदाय्यन्वयावधारणादेकवचनोपपत्तिरिरित्यर्थः, एवं च दर्शपूर्णमासशब्दावप्येतत्पर्यायौ व्याख्यातवित्याह—**येदेवति**। एककालान्वयलक्षणस्समुदायो वचनमाग्नेयाद्युक्तौ उपलक्षणीभूतं निमित्तमेतयोरिति सूत्रान्निमित्ते ल्युटं व्युत्पाद्य समुदायवचनशब्दो व्याख्येयः—**त एवेति**। आग्नेयादयस्समुदायिन इत्यर्थः। ततः किमित्याशङ्क्य गुणप्रधानभावासिद्धिफलमाह—**तत इति**। विद्वद्वाक्ययोः प्रकृतकर्मानुवादत्वे हेत्वन्तरमाह—**विशेषदर्शनाच्चेति**। एतद्व्याचष्टे—**यदि चेति**। यदि चैते कर्मान्तरे स्यातां ततः सर्वाणि समप्रधानानि अभविष्यन्, ततश्च न विकृतौ प्रयाजो लक्ष्यते इति योज्यम्, इष्टापत्तिं परिहरति—**दृश्यत इत्यादिना**। तदनेन पूर्वेषां प्रकृतानां प्रयाजादीनां विकृतौ कृष्णलहोमादेर्विशेषस्य दर्शनान्न सर्वेषां समप्राधान्यमिति सूत्रावयवो व्याख्यातः।

ननु समप्रधानत्वेऽपि प्रयाजानुवादेन कृष्णलविधानं विकृतौ किं न स्यादित्याशङ्क्य समेष्विति सूत्रावयवं व्याचष्टे—**सतीति**। कर्मणः करणभूतस्य

विकृतावप्रवृत्तेः वक्ष्यमाणत्वात् प्रयाजादेरपि समप्रधानतया करणत्वे सत्यप्रवृत्तिः स्यादित्यतो न समप्रधानत्वमित्यर्थः। इदानीं य एवं विद्वानित्येवापूर्वयोः कर्मणोः विधातारौ तत्रेतरे गुणविधय इति द्वितीयं पूर्वपक्षमुत्थापयति—**गुणस्त्विति।** तुशब्दार्थमाह—**नैतदिति।** एवं सिद्धान्तं व्यावर्त्यार्थसिद्धां पूर्वपक्षप्रतिज्ञामाह—**अपूर्वयोरिति।** तत्र श्रुतिसंयोगादिति सूत्रावयवं हेतुत्वेन व्याचष्टे—**तथा चेति।** सिद्धान्ते हि प्रकृतानामाग्नेयादीनामनेकार्थत्वात् तत्समुदायलक्षणार्थः पौर्णमास्यादिशब्दः। पूर्वपक्षे त्वपूर्वस्य कर्मण एकत्वात् न लक्षणाशब्दो भविष्यतीत्यर्थः। अनुरूपत्वेनापूर्वयोः कर्मणोर्विध्यसम्भवं पूर्वसूत्रोक्तमनुभाषते—**नन्विति।** आवृत्तश्रुतिसंयोगशब्दसहितं गुणशब्दमुत्तरत्वेन व्याचष्टे—**वाक्यान्तरेणेति।** अनेनाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चेति वाक्यान्तरेण कर्माभिधायिपौर्णमास्यमावास्याश्रुतिसंयोगात् गुणो रूपमवगम्यत इत्येवं सूत्रं योजितम्, एतद्विवृणोति—**यदेतदित्यादिना।** तद्रूपमिति। तस्य कर्मणो रूपमित्यर्थः एवं वाक्यार्थोपगमफलमाह—**अत इति।** सिद्धान्तमाह—**चोदनेति।** वाशब्दस्य गुणविधित्वनिरासार्थमभिप्रेत्य सिद्धान्तप्रतिज्ञां व्याचष्टे—**कर्मचोदनेति।** प्रश्नपूर्वकं हेतुभागमवतार्य व्याचष्टे—**कुत इत्यादिना।** युगपदित्यस्य व्याख्यानमेकेनैव वाक्येनेति, भवतु को दोषः? इत्याशङ्क्य चोदिते हीत्यादि व्याचष्टे—**न चेति।** यदि च गुणाः परस्परं सम्बध्येरन् तत एकस्मिन् बध्यमानेऽपरेऽपि विधीयेरन् न चैतदस्तीत्याह—**परस्परासम्बन्ध इति।** प्राप्ते कर्मण्यनेकगुणविधाने हि तदर्थत्वाद् गुणार्थत्वाद्वाक्यस्य तस्य तस्य गुणस्य विधानाय पुनः पुनः उपदिश्येतोच्चार्येत प्रत्ययः ततश्च वाक्यभेदप्रसङ्गात् अनेकगुणविशिष्टकर्मविधिरेवायमिति सूत्रार्थोऽनेन दर्शितः। इममेव प्राप्ते कर्मण्यनेकगुणविधावुच्चारणावृत्तिलक्षणं वाक्यभेदं प्रपञ्चयति—**तथा हीति।** तत्र पौर्णमास्युद्देशेनाष्टाकपालसम्बन्धविधौ तावद्वाक्यभेदमाह—**यदि तावदिति।** न तदेति। तदाष्टाकपालस्वरूपकर्तव्यतायां न विधिरित्यर्थः, तत्र सम्बन्धे तदा भवतेर्वर्तमानत्वादिति हेतुमाह—**तत्रेति।** यदाष्टाकपालस्वरूपमपि न विधिविषयः तदाग्नेयसम्बन्धस्याग्नेयस्वरूपस्य च विधानं दूरोत्सारितमित्याह—**तदानीमिति।** अन्तिकात् समीपे उपनिपतितोऽपीति सम्बन्धः, सम्बधुं स्वरूपं च लब्धुमिति शेषः। तत्र हेतुर्भवति सम्बन्धाभावादिति। ततश्चाग्नेयाष्टाकपालस्वरूपतत्सम्बन्धविधानाय भवत्यावृत्तौ स्यादेव वाक्यभेदः इत्याशयः। कर्मानुवादेनाग्नेयाविधावपि दोषमाह—**अथाग्नेय इति।** तथापीति। आग्नेयस्सत्तया सम्बध्यते इत्ययमर्थो न लभ्यत इति शेषः। सम्बन्धसिद्धिमप्याह—**आग्नेयेति।** पौर्णमासीविशिष्टाष्टाकपालमनूद्याग्नेयसम्बन्धविधौ दोषमाह—**अथ पौर्णमास्यामिति।** अत्र केनाष्टकपालो विहित इति अष्टाकपालोत्पत्तिर्निरस्ता केन तस्यां विहित इति चावृत्त्या तस्य पौर्णमास्यन्वयो

निरस्तः विधीयमानाग्नेयस्वरूपोत्पत्तिनिरासस्तु पूर्ववत् द्रष्टव्यः। इदानीं पौर्णमासीविशिष्टाग्नेयमनूद्याष्टाकपालसम्बन्धविधौ दोषमाह—**अथ तस्यामिति।** अष्टाकपालता विधीयत इत्यनुषङ्गः, स एवेति। अनूद्यमानाग्नेयोत्पत्तिपौर्णमास्यन्वयविधीयमानाष्टां कपालोत्पत्तिनिरासानतिदिशति—एवं च पृथक् तद्विधीनभ्युपगम्याग्नेयस्याष्टाकपालस्य वाष्टाकपालेनाग्नेयेन वान्वयविधौ वाक्यभेदः स्यादित्याशयः। पौर्णमासीपदस्य तन्त्रेणोभयसम्बन्धमनूद्य दूषयति—**अथेति।** एवं सति द्रव्यदेवतयोः स्वरूपोत्पत्तिः परस्परसम्बन्धोत्पत्तिश्च कर्तव्येति वाक्यभेद इत्यर्थः, नचारुणैकहायनीवत् पौर्णमास्याख्यक्रियाद्वारः परस्परान्वयो भविष्यति तद्वदत्र विशिष्टविधेरनभ्युपगमादिति भावः।

ननु परस्परासम्बन्धपरिहारार्थः प्रागेव द्रव्यदेवतयोः परस्परसम्बन्धः कल्प्यत इति चोदयति—**अथ द्रव्येति।** तत्र वचनव्यक्तिप्रकारमाह—**आग्नेय इति।** परिहरति—**तस्येति।** सम्बन्धस्येति यावत्, उपलक्षणमेतत्, द्रव्यदेवतास्वरूप्यप्रसिद्धत्वादिति द्रष्टव्यम्, तत्र च सर्वत्र विधिकल्पनायां वाक्यभेद इति भावः।

अथोक्तदोषपरिहारायान्यतस्सिद्धदेवतासंबन्धं द्रव्यमनूद्य धर्मसंबन्धो विधीयत इति चोदयति—**अथकेनचिदिति।** अत्र केनचिदाग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् रुक्कामः इत्यनेन वाक्येन विधानात् सङ्कल्पविषयीकारित इति सङ्कल्पशब्दो द्विणिजन्तो व्याख्येयः, परिहरति—**तथापीति।** अष्टाकपालसंबन्धसिद्ध्यर्थं आग्नेयत्वेऽनूद्यमाने देवताया विधेयत्वाभावादित्यर्थः। ननूपलक्षणार्थस्यैव विधेयताप्यस्त्विति शङ्कते—**अथेति।** सकृदुच्चारिते शब्दे विधित्वानुवादत्वरूपविरुद्धधर्मद्वयसमवायसंभवेन परिहरति—**सवक्तव्य इति।** एतद्विवृणोति—**न चेति।**

नन्वष्टाकपालस्य पौर्णमासीयागान्वये विहिते देवतां विना द्रव्यस्य यागान्वयायोगात् देवताकांक्षायां उपलक्षणत्वेन बुद्धिस्थस्याग्नेः देवतात्वं कल्पयिष्याम इति शङ्कते—**कल्पयिष्याम इति।** अग्न्युद्देशेन द्रव्यत्यागविधानाभावेऽग्नेर्देवतात्वासिद्धेः नैवमिति परिहरति—**नेति।**

अथासति विधाने देवताया अभावस्तत्राह—**संबन्धि शब्द इति।** त्यज्यमानद्रव्यसंबन्धापेक्षप्रवृत्तित्वात्मकसंबन्धिशब्दत्वाद्देवता शब्दस्येत्यर्थः। असंबन्धिशब्दत्वे गमकमाह—**स एवेति।** एवं पौर्णमासस्यनुवादेन द्रव्यदेवताविधौ निरस्ते तन्न्यायेनैवामावास्यानुवादेनापि तद्विधानस्य निरस्तत्वात् किं तर्ह्याग्नेयादिवाक्ये विधीयत इत्यपेक्षायामाह—**तस्मादिति।**

नन्वेवमपि यागं विना द्रव्यदेवतान्वयायोगादवश्यं यागापेक्षायां विद्वद्वाक्यविहिते यागे द्रव्यदेवतासंबन्धो विधीयतामत आह—**स एष इति।** स च यागः एषः एतद्वाक्यगत एव भवति न वाक्यान्तरगत इति भावः। वाक्यान्तरप्राप्ते

यागे द्रव्यदेवतान्वयविधौ द्रव्यदेवतायोरपि विध्यापत्तेः वाक्यभेद इत्याशयः। एवं तस्याग्नेयादिवाक्यविहितं यागान्तरमेव विद्वद्वाक्यविहितयोः यागयोः पौर्णमास्यमावास्याख्यायोरङ्गत्वेन विधीयमानं रूपं भविष्यतीत्याशङ्कामनूद्य दूषयति—**तेनेति**। यागस्य यागान्तरव्यवच्छिन्नरूपयागप्रत्यायकत्वासंभवादित्यर्थः। इदं चाग्नेयादिवाक्यस्थयोः पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः श्रुत्या कालार्थत्वप्रतीतेः अयुक्तमपि कर्मार्थत्वं प्रौढ्याभ्युपगम्योक्तमिति मन्तव्यम्। सिद्धान्तमुपसंहरति—**अत इति**। तथा न लक्षणाशब्दो भविष्यतीति पूर्वपक्षभाष्येणार्थादुक्तं विद्वद्वाक्यस्य पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोराग्नेयादियागसमुदायपरत्वे लाक्षणिकत्वदोषमनुभाष्य दूषयति—**यत्तूक्तमिति**। एकवचनान्वयायागत्या समुदायलक्षणा आश्रयणीयेति भावः। मुख्यासंभवे लक्षणाया अपि साधुत्वमुदाहरणेनाह—**यथेति**। न चेदं लक्षणासाधुत्वमस्माभिरेव प्रतिपादनीयमित्याह—**लक्षणापीति**। यथैतत्पूर्वपक्षद्वयं न संभवति तथा व्यपदेशोऽपीत्याह—व्यपदेशश्चेति। व्यपदेशमुदाहरति—**उग्राणीति**। द्वितीयपूर्वपक्षनिरासार्थत्वेन व्यपदेशं व्याचष्टे—**विकल्पे हीति**। यद्यमावास्यायामेक एव यागः तदाग्नेयस्य पुरोडाशस्यैन्द्रस्य च सान्नाय्यस्य दध्नः पयसो वा विकल्पः स्यात् तत्राग्नेयं प्रथममैन्द्रे उत्तरे इति पौर्वापर्यानुपपत्तिः संभ्रियन्त इति च संहृत्यभरणस्य धारणापरपर्यायस्य निष्पादनस्यानुपपत्तिरित्यर्थः। आद्ये तु पूर्वपक्षे विद्वद्वाक्यविहितकर्मान्तरसाधनं चतुर्थमपि हविरस्तीत्युत्तराणीति स्यान्नोत्तरे इत्येवं द्विवचनविषयतयापि व्यपदेशशब्दो व्याख्येयः, पक्षद्वयेऽपि चाग्नेयादिप्राधान्यवाचिनोग्रशब्देन प्रयाजादिगुणभावसूचनात्तद्विषयत्वमपि व्यपदेशशब्दस्य द्रष्टव्यम्, पक्षद्वयेऽपि लिङ्गदर्शनानुपपत्तिमाह—**लिङ्गदर्शनाच्चेति**। एतद्विभजते—**लिङ्गं चेति**। पौर्णमास्यां त्रीण्याग्नेयादीनि प्रधानानि पञ्च प्रयाजाः द्वावाज्यभागौ स्विष्टकृत् त्रयोऽनुयाजाः इत्याहवनीये यजिचोदितान्यङ्गानि एकादशेति चतुर्दशपौर्णमास्यामाहुतयः अमावास्यायां तु प्रधानाहुतिद्वित्वात् त्रयोदशेति विभागः, तत्र विद्वद्वाक्ययोः कर्मान्तरविधित्वे पौर्णमास्यां प्रधानाहुतिचतुष्ट्वात् पञ्चदशत्वसङ्ख्यापत्तेरमावास्यायां च प्रधानाहुतित्रित्वाच्च चतुर्दशसङ्ख्यापत्तेः चतुर्दशत्रयोदशत्वदर्शनानुपपत्तिः, तयोरेव कर्मविधित्वे प्रधानाहुत्यैक्येनोभयत्र द्वादशसङ्ख्यापत्तेः श्रुतसङ्ख्यानुपपत्तिरिति भावः॥ ३॥

त० वा०—समस्तान् दर्शपूर्णमासप्रकरणयागदिधीनुदाहृत्य किं सर्वेषां प्रधानत्वम्, उत केषांचिदेवेति भाष्यकारेण विचारः प्रस्तुतः। तत्राभिधीयते—

दुरुक्तचिन्ताकरणम्

अङ्गप्रधानचिन्तेयं चतुर्थाध्यायगोचरः।
केन नाम प्रसङ्गेन प्रस्तुता भेदलक्षणे॥

अभ्यासलक्षणभेदानन्तरमिदानीं संख्यानिमित्तं भेदमविचार्यैव कथमयं लक्षणानौपयिकोऽर्थश्चिन्त्यते।

केचिदाहुः। अयमपि लक्षणार्थं एव, **अनन्तरं प्रधानाप्रधानानि परीक्षिष्यन्त** इति वचनात्। तत्त्वयुक्तम्। तत्रैव पर्यनुयुज्य[1]म्। वचनस्याऽन्यथैव व्याख्यानात्। अपूर्वभेद[2]प्रतीत्यर्थं हि स तृतीयसिद्धोऽर्थोऽत्रोपन्यस्त इत्युपयुक्तम्। अयं[3] तु कर्मणामङ्गाङ्गिभावो न कथंचित्सम्बध्यते। महता प्रयत्नेनायं चतुर्थे साधयिष्यते "दर्शपूर्णमासयोरिज्याः प्रधानानि" = इत्यत्राधिकरणे। स्फुटत्वाच्च नान्यथा तन्नेतुं शक्यते। तस्मादिहाविचारणीयमेतत्। य एवं विद्वानित्येवं संयुक्तौ प्रकृतानुवादावथ वाऽपूर्वकर्मविधी, तत्रेतरे गुणविधय इत्यपि सर्वं यथोपन्यस्तेनाप्यधिकरणार्थेन न संगच्छतेऽथ त्वेतदेव विचार्यते, ततः पर्वं नोपन्यसितव्यम्। अपि च—

भेदे च दृष्टसामर्थ्यौ समप्राधान्यसिद्धये।
कथं शब्दान्तराभ्यासौ हेतुत्वेनोपवर्णितौ॥

शब्दान्तरत्वादभ्यासाच्च भेदस्तावदुच्यते। समप्रधानत्वमप्येताभ्यामेव प्रतिपाद्यत इत्यापूर्वा युक्तिः। न वाऽधिकरणद्वयशरीरस्य विविक्ताः पक्षहेतवो दृश्यन्ते, येन तन्त्रेण विचारद्वयमिदं प्रस्तुतमित्यध्यवस्येम। तस्मादेवं समर्थयितव्यम्।

इहाभ्यासलक्षणभेदातिप्रसङ्गापवादार्थमधिकरणे आरभ्यमाणे यथोदाहृतानां मध्ये द्वे एवोदाहरणे 'य एवं विद्वान्पौर्णमासीं यजते' 'य एवं विद्वानमावास्यां यजत' इति। तत्र संदेह—किमेतौ यजतिशब्दावपूर्वयोः कर्मणोर्विधायकावुत पौर्णमास्यमावास्याशब्दाभ्यां स्वाभिधेयकालविशेषयुक्तकर्मप्रतिपादकाभ्यां विशेष्यमाणौ प्रकृतानेव कांश्चिद्यागाननुवदत इति। तत्रेतरेषामाग्नेयादीनां गुणात्, प्रयाजादीनामभ्यासात्, आघारादीनां शब्दान्तरत्वात्सिद्धे भेदेऽधिकरणपक्षद्वयप्रयोजनभूतसमप्रधानभावाङ्गाङ्गिभावविषयत्वेनोपन्यासः, नाधिकरणशरीरविषयत्वेन। न हि समप्रधानत्वमङ्गाङ्गिभावश्चाधिकरणपक्षावित्युक्तम्।

तदिह पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तयोर्विधातृत्वं तदभिधेयकर्मभेदः समस्ताघारादीनां समप्राधान्यमित्येतत्त्रयमुत्तरोत्तरफलत्वेनाविनाभावसम्बन्धादेकः[4] पक्षः। तथा तयोरनुवादत्वं तद्वाच्यकर्माभेद आग्नेयादीन्प्रत्याघारादीनामङ्गत्वमिति तेनैव प्रकारेणापरस्त्रिकः। त्रितयस्य त्रितयस्य च स्वांशाविनाभावादेकसिद्ध्यैवेतरद्वयसिद्धिर्भवतीति पक्षद्वयेऽपि यदेव साधितम्, तेनैवेष्टसिद्धिं मत्वा

---

१. क. 'अस्य' इत्यधिकम्। २. क. अपूर्वभेदनिवृत्त्यर्थो।
३. क. अत्रेति। ४. क. सम्बद्धमेकं।

फलभूतस्तृतीयस्तृतीयोंऽश उपन्यस्तः। तत्र चार्थगृहीतावपि भेदाभेदौ विस्पष्टीकरणार्थं पुनरन्ते दर्शितौ।

किमर्थं पुनरादौ व्यवहितयोः समप्रधानाङ्गाङ्गिभावद्वारेण भेदाभेदयोरुपन्यासः कृतः? एषा ह्याचार्यस्य शैलीति केचित्। तथा हि पूर्वाधिकरणयोरप्यपूर्वभेदमेवोपन्यस्तवान्।

अथ वा यल्लिङ्गदर्शनं वक्ष्यति विकृतौ प्रयाजादयो दृश्यन्त इति, तत्साक्षाद्भेदनिराकरणासमर्थं[1] समप्रधानभावं निराकरिष्यति। तन्निराकरणे च सत्यविनाभावाद्विधिभेदावपि निराकृतावेव भवत इति, तदुपजीवनायेत्थमुपन्यासः। केवलभेदोपन्यासे तु तदसंबद्धमेव स्यात्।

तत्र द्वेधा पूर्वपक्षो भविष्यति एकः समप्राधान्यद्वारेणाऽऽग्नेयादीनां कर्मविधित्वे सत्येव पौर्णमास्यमावस्यासंयुक्तयोस्तद् व्यतिरिक्तकर्मविधानात्। अपरः पुनस्तयोरेव कर्मविधित्वम्, इतरेषां तु गुणविधानार्थत्वमित्येवम्, प्रथमं तावद् व्यतिरेकपक्षं परिगृह्णाति शब्दान्त[2]रत्वादभ्यासाच्च समप्रधानानीति। यद्यपि चैतौ हेतू साक्षात्समप्रधानत्वेन न संगच्छेते, तथाऽपि तत्प्रतिज्ञानेन योऽर्थाद्भेदः प्रतिज्ञातः तेन संबन्धादेकवाक्यत्वम्। एतदुक्तं भवति। अयागेभ्यः शब्दान्तरत्वात् यागेभ्यश्चाभ्यासाद्भेदः ततश्च समप्रधानानीति।

न च समस्तानुवादस्य किंचित्प्रयोजनमस्ति। न च गुणफलनिमित्तानां किंचिच्छ्रूयते, यत्र विधि[3]व्यापारतः कर्मस्वरूपविधानमुपेक्षेत। न चैषा संज्ञा केषुचित्प्रकृतेषु प्रसिद्धा। वर्तमानापदेशेऽपि च सति प्रयोगवचनार्थवादपञ्चमलकारादीनामन्यतमेन 'समिधो यजति' इत्यादिवद्विधिः। सत्यपि च यच्छब्दोपबन्धे "यदाग्नेयोऽष्टाकपाल" इत्यादिवत् विधिशक्त्यनवलोपः। न च शाखान्तरीयवद्विधिविकल्पः। शाखान्तराणां पुरुषान्तरं प्रति प्रतिपादनेनाऽर्थवत्त्वात्। न त्विह कर्मान्तरकल्पनादन्यत् प्रयोजनमस्ति। न च कस्यचिदन्यस्य विधेः स्तुतिः संभवति, एकवाक्यत्वाभावात्।

किं पुनरनयोः कर्मणोर्द्रव्यदेवतम्? तदुच्यते—

ध्रौवं साधारणं द्रव्यं देवता मान्त्रवर्णिकी।
रूपवन्तावतो यागौ विधीयेते पृथक्तया॥

सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यत इति सर्वार्थत्वाद्यथैवोपांशुयाजस्य ध्रौवाज्यद्रव्यकत्वम्, एवमनयोरपि यागयोः। तथाऽऽज्यभागयोः क्रमे चतस्रोऽनुवाक्याः पठ्यन्ते द्वे आग्नेय्यौ, द्वे सौम्यौ। ते बलीयसा वाक्येनावच्छिद्याऽनयोः कर्मणो-

१. क० सवर्थं सत्। २. क० शब्दान्तरा। ३. क० विधिर्व्यापृतः।

र्विधीयेते वार्त्रघ्नी पौर्णमास्यामनूच्येते वृधन्वती अमावास्यायाम् इति । न हि पौर्णमास्यमावास्याशब्दाभ्यामेतत्कर्मव्यतिरिक्तमन्यदिहोच्यते । ननु कालवचनावेताविह प्रयुज्येते । किं कालस्य मन्त्रसंबन्धेन । दृष्टश्च सप्तमीनिर्दिष्टानां कर्मणां प्रधानभावः तद्यथा येन कर्मणेर्त्सेत्तत्र जयां जुहुयात् इति । तेनानुवाक्याद्वयस्य तुल्यार्थतया विकल्प्यमानस्यानुरूपा याज्याऽपि कल्पयितव्या ।

अथ वा युगपद्विधानात्समुच्चये सति द्विदेवत्यकर्माध्यवसायाद् द्वे द्वे याज्ये अपि कल्पयितव्ये । यद्वैकैवाग्नीषोमदैवत्या । अथ वा वार्त्रघ्न्योरेवैका याज्या कर्तव्या, तथा वृधन्वत्योः । अतश्च श्रुतिविहितमन्त्रकर्मसंबन्धान्यथानुपपत्त्याऽग्नीषोमौ देवतोभयत्राध्यवसीयते । आज्यभागयोऽस्तु पुराकल्पसरूपेण[1] वाक्येन देवता तावत्प्राप्तैव, 'यस्यै कस्यैचिद्देवतायै हविर्निर्वपन् आज्यस्यैव नौ पुरस्ताद्यजन्, इति । याज्याप्राप्तिश्चाबाधितैवानुवाक्यागमश्च दाशतयीभ्यः कर्तव्य इति, न किंचिद्विरुद्धम् । तस्मादस्ति कर्मान्तरत्वेऽपि रूपमिति भेदोः । अतश्च समप्रधानानि[2] ।

भेद इति गृह्णीमः, समप्रधानत्वं तु न मृष्यामहे । कुतः ?

निवेशः केषुचित्त्वेव पृथक्त्वेनाभिधानयोः ।
फलं च तद्विशिष्टेभ्य इति साम्यं न युज्यते ॥

दर्शपूर्णमासाभिधाने हि विशिष्टयागवाचिनी, तेन तन्मात्रस्यैव फलत्वात्, इतरेषां तत्संनिधानादङ्गत्वेन भवितव्यम् ।

अत्राभिधीयते—

प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य नित्यमिष्टं विशेषणम् ।
तस्माद्यज्यनुरोधेन नामार्थोऽत्र निरू[3]प्यते ॥

सर्वत्र नामयुक्तकर्मविधाने सामानाधिकरण्यात्कदाचिद्यज्यर्थविशेषो नाम्ना निरूप्यते, कदाचिन्नामार्थो यजिना । यो यत्र पूर्वतरप्रसिद्धार्थो भवति, स इतरं स्वविषये स्थापयति । यथाज्योतिष्टोमेनेत्यत्र ज्योतिर्भिस्त्रिवृदादिभिः स्तौमैर्यागात्प्रसिद्धार्थेन नाम्ना दीक्षणीयादिभ्यो यजिर्निवर्त्य सोमयागो स्थाप्यते । तथा राजसूयेनेत्यत्र नाम यागायागविषयत्वेनोपप्लवमानं[4] प्रकृतयागप्रसिद्धेन यजिना स्वविषयं नीयते । तदिह प्रातिपदिकद्वयसमासद्विवचनार्थानां दर्शपूर्णमासपदोपात्तानां न क्वचित्प्रसिद्धिरस्ति, यया यजेस्तद्विषयत्वं विज्ञायेत । यजिः पुनर्यागमात्रे प्रसक्तः सन्नधिकारेण प्रकृतेषु स्थापितः शक्नोत्यप्रसिद्धं दर्शपूर्णमासशब्दं स्वविषये नियन्तुम् । ततश्च दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यविवक्षितावयवसमासार्थद्वित्वं

---

१. क. पुराकल्परूपेण ।
२. क. समप्राधान्यसिद्धिः ।
३. क. नियुज्यते ।
४. उपप्लवमाने ।

वर्णलोलीभावमात्ररूपेण केवलकरणसंवादिप्रकृताशेषयागनामत्वं राजसूयशब्दवत्प्रतिपद्यते 'सुपां सुपो भवन्ति' इति बहुवचनस्य स्थाने द्विवचनम्, समस्तसमुदायगतैकवचनस्य वा।

कथं पुनर्दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यप्रसिद्धम्। यदा तावत्—

वाच्यकालयुजो यागाः प्रकृताः सन्ति केचन।
द्विसंख्योत्पत्तियुक्ताश्च प्रसिद्धिर्येषु विद्यते॥

तन्नामाशेषस्वार्थपरित्यागेनात्यन्तपरानुरोधिवृत्तिं भजते, यत्र कश्चिदप्यंशोऽप्रसिद्धः। इह तु दर्शेन कालेन पौर्णमासेन च संयुक्ता आग्नेयादियागा विद्यन्ते। द्वित्वयुक्ताश्चाऽऽज्यभागादयस्तेषामयुक्तः परित्याग इति।

तदुच्यते—

प्रकृतिप्रत्ययौ पूर्णौ विशेष्टुं यजतिं क्षमौ।
आग्नेयाद्याज्याभागादावेकत्रैकार्थशून्यता॥

यद्यप्याग्नेयादिषु स्वाभिधेयकालयोगात्प्रातिपदिकं वर्तेत, तथाऽपि तेषां बहुत्वाद् द्वित्वानुपपत्तेरसमर्थं पदम्, यत्रापि द्वित्वमस्त्याघारयोराज्यभागयोर्वा, तत्रापि प्रातिपदिकस्यात्यन्तमशक्तिः। न चार्थप्रकरणशब्दान्तरैर्विस्पष्टं सामानाधिकरण्यमस्ति, येन केनचिद्वर्णसामान्यादाख्याविकारन्यायेन, गौणत्वेन वा तद्विषयत्वमध्यवसीयेत।

कस्मात्पुनरिमावेवापूर्वौ पूर्णमास्यमावास्यासंज्ञकौ द्वौ यागौ फलाय न विधीयेते। तथा हि—

सिद्धान्तेऽपि तु यागाभ्यां शब्दाभ्यामनुकीर्त्तितौ।
तावेव समुदायौ द्वौ विधास्येते फलं प्रति॥

यदि कश्चिदर्शपूर्णमासशब्दयोः, पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोश्च वैलक्षण्यान्न पूर्वकर्मप्रत्यभिज्ञानं फलवाक्येऽस्तीति ब्रूयात्, स वक्तव्यस्तुल्यस्ते दोषोऽयमिति। तवापि हि पौर्णमास्यमावास्यासंज्ञकावेव समुदायौ फलवन्ताविष्टौ। न च तयोः प्रयोगवाक्येऽस्ति शब्दत्वात्प्रत्यभिज्ञानम्। अथ तत्र विनाऽपि संज्ञानुसारेण कालयोगाद् वृत्तिरिष्यते, स ममाप्यस्त्येव कालयोगः "पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत" "अमावास्यायाममावास्यया यजेत" इति।

नैतदेवम्। एवमपि हि—

षण्णामग्न्यादियागानामनयोश्च द्वयोरयम्।
समानः कालसंयोग इति नेष्टावधारणा॥

न ह्यष्टानां कालसंयोगे सत्यवधारणे हेतुरस्ति, येनानयोरेव फलसम्बन्धः स्यात् ।

स्यादेतत् । एतेषां मध्ये ययोः कयोश्चित्फलसम्बन्ध इति । तदयुक्तम् ।

विशेषहेत्वभावे हि ग्रहणं निष्प्रमाणकम् ।
पक्षे वाऽङ्गप्रधानत्वं विरोधान्न विकल्पते ॥

विना विशेषहेतुना यागत्वकालसम्बन्धसाम्ये सति, यावेव गृहीतौ, तत्रैवेतरेषां प्राधान्यप्रामाण्यभाजां सतामङ्गत्वापादनाद् विरुद्धता स्यात् ।

अथ विकल्पेन सर्वेषां पाक्षिकोऽनुग्रहः कल्प्येत, तत्रापि तस्यैव कदाचित्प्रधानत्वं कदाचिदङ्गत्वमिति विप्रतिषिद्धम् । उभयात्मनां चाङ्गतया प्रवृत्तेः प्रधानत्वेन च निवृत्तेराग्नेयादीनां विकृतिगमने यावज्जीवं संशयप्रसङ्गः । सर्वसंख्याश्च केनचिदवान्तरसामान्यावच्छेदेन संख्येयेषु वर्तन्ते । न वाऽपूर्वयोराग्नेयादीनां वा समस्तानामेकदेशे वा किंचिदवान्तरसामान्यं दृश्यते, येन द्वित्वमवधार्येत । य एव हि गृहीतः । तस्यैव यागान्तरापेक्षयोद्भूतेन बहुत्वेन केवलात्मापेक्षेण चैकत्वेन द्वित्वं बाध्यते । ततश्च द्विवचनस्याप्रसिद्धिः । सिद्धान्ते तु शब्दद्वयेन समुदायद्वयापादनादसमुदायीकृतयागवैलक्षण्यादवान्तरधर्मयोगात्सम्भवति द्वित्वयोगः । तद्वशेन च कालयोगात्कथंचिद्दर्शपूर्णमासप्रातिपदिकयोरपि वृत्तिसिद्धिरित्युपपद्यते । यागविशेषणत्वं[1] न तु पूर्वपक्षे समुदायत्वापादनाभावात्संख्यावृत्तिरिति प्रकृतयागमात्र एव फलसम्बन्धः ।

अथ कस्मादष्टावेव यागाः पौर्णमास्यमावास्याकालगतद्वित्वापेक्षया लब्धविशेषणाः सन्तो न विधीयन्ते । यथा सिद्धान्ते समुदायगतद्वित्वापेक्षया षड् विधास्यन्ते । नेदृशेनास्फुटेन प्रकृतयागमात्रावलम्ब्याऽऽख्यातं शक्यं निनर्तयितुम् । न चात्यन्तव्यतिरेकात्कालगता संख्या यागसामा नाधिकरण्यनिर्देशार्हा भवति । समुदायसमुदायिनोस्त्वव्यतिरेकादविरुद्धः संख्यासम्बन्धः सिद्धान्ते । तस्मात्पूर्वपक्षे यजिवशेनैव नामपदवृत्तेरविशेषेण सर्वे यागाः समप्रधानाः । तथा प्राप्ते ।

अभिधीयते । प्रकरणं पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्त[2]योरालम्बनं स्यात् । प्रक्रियत इति प्रकरणम् । अथ वा प्रकरणं तयोः सहकारि भवेत्, ततश्च तन्मात्रप्रतिपाद्योऽर्थो ग्रहीतव्यः । कुतः—

विधायको नियुङ्क्ते हि[3] सर्वोऽसाधारणे यजौ ।
न च तत्र प्रवृत्तिः स्यादज्ञातद्रव्यदेवते ॥

न ह्यनेन यजिना, पौर्णमास्यमावस्यापदाभ्यां वा यागमात्रे बुद्धिः क्रियते । न च प्रकृतकर्मग्रहणं त्वत्पक्षेऽस्ति । तत्राजातरूपे सत्यपूर्वे कर्मणि न कथंचि-

१. क. यागत्व । २. क. युक्तयो । ३. क. तु ।

त्प्रवर्तेत[१]। ततश्च वाक्यमेवानर्थकं भवेत्। प्रकृतग्रहणे तु तेषां द्रव्यदेवतायोगादेतत्कालवर्तित्वाच्च रूपज्ञानादर्थवत्त्वम्।

ननूक्तं मत्पक्षेऽप्यस्ति द्रव्यदेवतमिति। सत्यम्।

यथाकथं चिल्लभ्येत द्रव्यं[२] साधारणं स्थितम्।
तथाऽपि देवता नास्तीत्यरूपत्वान्न मुच्यते॥

न हि मन्त्रवर्णिकी देवता सम्भवति। मन्त्राणां क्रमविशेषेणाऽऽज्यभागार्थत्वात्। न चास्य[३] वाक्येन बाधः। विरोधाभावात्। सर्वत्र ह्यविरोधेन वाक्ये निविशमाने विरोधपक्षस्त्यक्तव्यः[४]। इह च पौर्णमास्यमावास्याशब्दौ यदि कर्मवचनावेव स्याताम्, ततो न विरोधः परिह्रियेत[५]। कालवचनत्वे त्वनयोरविरोधः। साधारण्याच्चाविरोधपक्ष एव समर्थनीयः। किं च।

प्रथमं काल एवाऽऽभ्यां शब्दाभ्यां प्रतिपाद्यते।
पश्चात्तत्कर्म तद्योगादतः कालोऽत्र गृह्यते॥

यदि हि सर्वलोकप्रसिद्धः कालोऽत्र न समवेयात्, ततस्तदतिक्रमेण कर्मणी गृह्येयाताम्। अपि चोपपन्नतरा कालवचनत्वे सप्तमी, तस्य सर्वत्रैव कालस्याधिकरणत्वान्न कर्मणोऽधिकरणत्वानुपपत्तेर्यथा कथंचित्कल्पनीयं स्यात्।

यत्तु किं कालस्य मन्त्रसम्बन्धेनेति, यदि तादर्थ्यलक्षण एवैकः सम्बन्धो भवेत्, चात्रास्माभिरुच्येत, तत एवं युज्यते वक्तुम्। इह त्वाज्यभागौ प्रति तादर्थ्ये व्यवस्थिते संकरे च प्राप्ते, कालभेदेन प्रयुज्यमानयोर्मन्त्रयोर्व्यवस्थामात्रं क्रियते वार्त्रघ्नी पौर्णमासीस्थयोराज्यभागयोः, वृधन्वती अमावास्यास्थयोरिति। किं च।

प्रज्ञातदेवतत्वाच्च दृष्टार्थाऽल्पविधानता।
मत्पक्षे भवतस्त्वत्र प्रसक्ता बहुकल्पना॥

सर्वत्रैवाऽऽकाङ्क्षापूर्वकः सम्बन्धो भवति। आज्यभागौ च प्रज्ञाताग्नीषोमदेवत्यौ तदभिधानसमर्थमन्त्राकाङ्क्षित्वादयत्नेन मन्त्रान् गृह्णीतः। त्वत्पक्षे त्वपूर्वयोः कर्मणोरज्ञातदेवत्वान्न मन्त्रापेक्षा। ततश्च मन्त्र-तद्विशेष-द्वित्वादिकल्पनादनपेक्षितानेकार्थविधिप्रसङ्गः, पुनश्च मान्त्रवर्णिकानेकदेवताकल्पना। न ह्येकस्य कर्मणोऽनेकया देवतया, अनेकयाऽनुवाक्यया कार्यमस्ति। पुनश्चाश्रुतयाज्याकल्पनाश्रयणमाज्यभागयोश्चाश्रुतपुरोनुवाक्याकल्पनम्। यच्चैका याज्या, एका चाऽनुवाक्या भविष्यतीति। न तत्। अनुवाक्यासमाख्याबाधात्। अपि च त्वत्पक्षे

१. क. प्रवर्त्येत। २. क. ध्रौवं। ३. न वास्य। न च वाक्येन।
४. क. त्यज्यते। ५. क. परिह्रियेत।

लिङ्गस्याविनियोजकत्वाद्वाक्ये च करणत्वेनाऽऽश्रयणात् "वैष्णवीमनूच्य" इत्यादिवददृष्टार्थप्रसक्तेर्न प्रकाशकता, प्रकाश्येनानपेक्षितत्वात्। मान्त्रवर्णिकदेवता-कल्पनातश्च वरमारादुपकारकत्वम्। आज्यभागयोः पुनर्द्वित्वात्प्रज्ञातद्विदेवतत्वाच्च प्रकाश्याकाङ्क्षिताः प्रकाशका मन्त्रा लिङ्गकमविनियुक्ताः सन्त एकान्तेन दृष्टार्थतां प्रतिपद्यन्ते। तत्र च मन्त्रताद्विशेषद्वित्वादिषु प्राप्तेषु कालद्वारेण व्यवस्था-मात्रविधानाल्लाघवं वाक्यस्य, न वाऽऽनर्थक्यम्। न हि संनिधानाद्व्यवस्था सिद्धा। तस्मान्न देवताविधिः, असंबन्धात्। अतश्चारूपत्वादकर्मान्तरता।

किं पुनः समस्तानुवादस्य प्रयोजनम्। पश्य—

पदतद्भागवाक्यार्थविधिशून्या हि चोदना।
धर्मं प्रत्युपयोगित्वं न कथं चित्प्रपद्यते॥

उच्चते।

यथैवोत्पत्तिवाक्यानां प्रयोगवचनाङ्गता।
तथैव तदुपादानाद् द्वित्वसिद्ध्याऽनयोरपि॥

वाक्यद्वयेन हि समुदायद्वये कल्पिते दर्शपूर्णमासाभ्यामिति द्विवचनं सिध्य-तीत्यर्थवत्त्वम्। न हि विधिरेवैकः प्रयोजनवानिति कश्चिन्नियमहेतुरस्ति। अविधेरपि विधिशेषत्वेनार्थवत्त्वात्। न वाऽत्र विप्रकीर्णानामाग्नेयादीनामेतद्वाक्य-द्वयमन्तरेण द्वित्वसंख्यायोगित्वं संभवति। एतदेव चाभिप्रेत्यास्य पक्षस्य प्रयोजनमेव गुणप्रधानत्वमादित उपन्यस्तम्। इतरथा हि 'अविशेषादनर्थकं हि स्यात्' इत्यस्योत्तरमपरिकल्प्यानुवादपक्षो दुरुपन्यास एव स्यात्। तस्मादस्ति प्रयोजनं समस्तवाक्यानुवादेऽपीत्यदोषः।

कथं पुनरत्यन्तभिन्नानां कर्मणां समुदायीकरणं शक्यम्? शक्यमिति ब्रूमः।

एककालाभिसंयोगाद्भिन्नानामपि कर्मणाम्।
समुदायार्पणं शक्यमेकदेशस्थवृक्षवत्॥

यथैव ह्येकदेशावस्थितान्वृक्षानालोच्य वनमिति समुदायबुद्धिर्भवत्येवमेककाल-युक्तकर्मसमुदायनामधेयबुद्धिः। तद्गतैकत्वावधारणाच्च पौर्णमासीमित्येक-वचननिर्देशः। समुदायिवचनावेव चैतो तल्लक्षितसमुदायगतसंख्याद्वारेणैक-वचनान्तत्वं बिभृतः। न समुदाययोरेव नामधेये भवतः। तथा हि—

सामानाधिकरण्येन यागनामत्वनिश्चयः।
समुदाये च यागत्वं नाऽऽग्नेयादिष्ववस्थितम्॥

"पौर्णमासीं यजते" इति यजिसामानाधिकरण्याद्यागमनामधेयमेतदिति गम्यते। न चाऽऽग्नेयादीनां समुदाये यागत्वं समवेतम्, किं तर्हि? प्रत्येकमाग्नेया-

दिषु । तस्माद्यथैवैतेषु प्रत्येकं यजिः । एवं नामधेयमपि । न च समुदायोत्पत्तिरेकेन कालेन युक्तः । आग्नेयादीनामुत्पत्तिकाले परस्परानपेक्षत्वेन समुदायत्वानुपजननात् । ततः कालवशेनापि प्रत्येकं नामधेयमिति शक्यं वक्तुम् । यदि च समुदायिनैरपेक्ष्येण समुदाययोरेते नामनी स्याताम्, ततः प्रयोगवाक्येनापि समुदायौ फले विधीयेयाताम्, ततोऽवयवानामसाधनत्वात्समुदायादेकमपूर्वम् । अतश्च प्रत्येकापूर्वाणामभावात्कर्मभेदवैयर्थ्यप्रसङ्गः । सर्वधर्माणां चैकापूर्वनिबन्धनत्वात्संकीर्णवृत्तित्वं स्यात् ।

न च प्रत्येकमितिकर्तव्यतयाऽऽग्नेयादयः संबध्येरन् । ततश्च तद्गततन्त्रावृत्तिप्रयोगादिविचारासंबद्धत्वं भवेत् । न च प्रत्येकविकारे सौर्यादौ समस्तेतिकर्तव्यतातिदेशः स्यात्सहस्रादिशब्दवच्चावयववृत्त्यभावादेकपुरोडाशा पौर्णमासी, सांनाय्यरहिताऽमावास्येत्येवमादिव्यवहारोच्छेदप्रसङ्गः । संघातस्याचोदितत्वात्संघातस्य गुणत्वादित्येवमादिषु स्पष्टमेवंप्रकाराणां समुदायिवचनत्वमभ्युपगतम् । इतरथा हि स एव शब्दाभिहितत्वाच्चोद्येत फलसम्बन्धाच्च प्रधानं भवेत् । तस्मादुपसर्जनीभूतसमुदायाः समुदायिन एवाभिधीयन्ते । तेषां तु बहुत्वाद् बहुवचनप्रसङ्गेन लक्षणयैकवचनयोग इत्यभिप्रेत्य समुदायशब्दतयाऽवकल्पिष्यत इत्याह । तथा च **भवति हि बहूनामेकवचनान्तः समुदायापेक्ष** इति—अपेक्षामात्रमेव समुदायस्य ब्रवीति नाभिधेयत्वम् । यूथवनशब्दावपि यदा समुदायोपसर्जनसमुदायिवचनौ, तदा साकल्येन दृष्टान्तौ, यदा तु समुदायमेव ब्रूतस्तदा तन्निमित्तैकवचनलाभमात्रेण दृष्टान्तत्वम् । एतेन दर्शपूर्णमासशब्दावेतत्पर्यायौ व्याख्यातौ ।

तस्मादस्ति समुदायद्वित्वापेक्षानिमित्तैकत्वद्वयप्रत्ययसिद्धिः समुदायानुवादप्रयोजनम् । यथा वक्ष्यति[1] 'पृथक्त्वेनाभिधानयोर्निवेशः' इत्यत्र । तद्द्वित्वानुसारिणौ हि दर्शपूर्णमासशब्दौ तद्विषयौ भवतः । अस्ति च पौर्णमासीपूर्णमासशब्दयोर्बहु सारूप्यम्, तत्साहचर्याच्च दर्शशब्दस्यामावास्याविषयत्वम्, विपर्ययहेतुत्वेन वा लघीयस्येव प्रतिपत्तिर्यथा काण इति चक्षुष्मान् । तथा च वक्ष्यति शक्यते च चन्द्रमसोऽदर्शनाद्दर्श इति वक्तुम् । तथाऽन्वारम्भणीयावाक्यशेषेऽमावास्यादर्शशब्दौ समानाधिकरणौ दर्शयिष्यति । तेन समुदायद्वयोपलक्षितानां फलवत्त्वादितरेषामङ्गत्वम् ।

ननु चैवं सत्यनेनैव गतत्वाच्चतुर्थेऽधिकरणं नाऽरब्धव्यम् । नैष दोषः । स्थिते ह्येतस्मिन्प्रकृतयजतिमात्रग्रहणात्तत्र पूर्वः पक्षः, सिद्धान्तस्त्वेतदधिकरणप्रसादाद्भविष्यति । इतरथा तस्य पूर्वपक्ष एव स्यादिति प्रयोजनत्वेनाभिधानम् ।

---

१. क. चतुर्थे इत्यधिकम् ।

इदमपरं समुदायानुवादप्रयोजनं पौर्णमास्यां पौर्णमास्या 'अमावास्यायामावास्यया यजेत' इति कालसंयोगः । तत्रैतत्स्यात् । एतदपि वाक्यामनर्थकमुत्पत्तिवाक्यादेव कालसंयोगसिद्धेरिति । उच्यते—

अन्यथैव ह्ययं कालः करणांशेन युज्यते ।
अन्यथोत्पत्तिवाक्यस्थो निरपेक्षैः परस्परम् ॥

उत्पत्तिवाक्ये ह्यन्योन्यनिरपेक्षाणामाग्नेयादीनां निरङ्गानां च कालसंयोगस्तद्रूपत्वेनोपादानात् । अयं पुनस्तृतीयासंयोगात्करणभूतानाम् । तेषां च करणत्वं प्रयोगवाक्यादितरेतरयुक्तानामङ्गसहितानां चावगतमिति तादृशानां तदनुपादेयम्, कालं प्रत्युपादयिमानत्वात् । समस्तरूपविवक्षावशेन साङ्गस्त्रिकः परस्परसहितश्चैकपौर्णमास्या युक्तः, एकया चा[1]मावास्ययेति । यस्मिन् क्षण एको यागआरभ्य क्रियमाणः समाप्तिमनुभवति, तस्मिन्नेवेतरावित्यवधारणात्त्रिकस्य त्रिकस्य तन्त्रेण प्रयोगः सिद्धो भवति । औत्पत्तिककालानुरोधे तु भेदेनाङ्गवियुक्तानां च प्रयोगः स्यादित्यस्ति विशेषः ।

शङ्का तन्निरासः

ननु चैवं सति समुदायद्वयस्येतरेतरयुक्तस्य करणत्वान्नाङ्गसाहित्यवन्न परस्परतद्विवक्षाऽपीति, यथैवाङ्गानां तत्कालविज्ञानमेवं पौर्णमास्याऽमावास्याऽऽक्षिप्ता, अमावास्यया च पौर्णमासीत्युभयोरुभयत्र प्रसङ्गः । न चोत्पत्तिवाक्यशिष्टकालविरोधस्तत्राप्यनुष्ठानात् । न हि यः पौर्णमास्याममावास्यां करोति तेनामावास्यायाममावास्या न कृता भवति, तथा पौर्णमासी । न चोत्पत्तिवाक्येन कालान्तरं निषिद्धम्, स्वकालप्रतिपादनमात्रापेक्षयात् ।

अत्रोच्यते—

कालो यस्य न विज्ञातः स्वरूपं च न नश्यति ।
तस्य कालः परोपाधिरुच्यमानो न दुष्यति ॥

अमावास्या ह्युत्पत्तिकालनिराकाङ्क्षा पौर्णमासीसाहित्यलभ्यं पौर्णमासीकालं न प्रतीच्छति, एवं पौर्णमास्यमावास्याकालमित्येतयोः समुदाययोः कालान्तरकरणे सत्यौत्पत्तिकरूपविसम्वादाददर्शत्वमपूर्णमासत्वं च स्यात् । अङ्गानां त्वनिर्ज्ञातकालत्वेन साकाङ्क्षत्वादुत्पत्तिविसम्वादाभावाच्चाविरुद्धः साहित्यापेक्षलभ्यः कालः । आह—

अङ्गानां मुख्यकालत्वाद्वाक्यादस्माद्विनाऽप्ययम् ।
कालोऽस्त्येवेति नैतस्य वचसोऽत्र निमित्तता ॥

---

१. क. नामावास्ययेति ।

उच्यते—

मुख्यकालत्वमङ्गानां न स्थितं मान्त्रवर्णिकम् ।
इदमेव हि तद्वाक्यं यद्बलेनैतदुच्यते ॥

ननु दूरस्थान्युपकर्तुं न शक्नुवन्ति । संनिकृष्टस्थैरुपकर्तव्यमित्येतद्वा कुतः । सर्वत्र वचनानुसारेणोपकारानुपकारांशौ विज्ञायेते । तत्र संनिकर्षवचनाभावे विप्रकृष्टं नोपकरोतीति, न किंचित्प्रमाणम् ।

ननु चान्येनैव वाक्येनैष तन्त्रप्रयोग सिध्यति, 'य इष्ट्या पशुना सोमेन' इत्यादीनां तत्रापि करणविभक्तिनिर्देशादिष्टेः स्वसमुदायिस्वाङ्गसहितायाः कालं प्रत्युपादानादीदृशी विवक्षा लभ्यते । सत्यं लभ्यते, न त्विष्टः प्रयोगः सिध्यति । तथा हि—

इष्टिशब्दः समस्तं वा प्रत्येकं वाऽवलम्बते ।
न तावत्त्रिकमित्येकमन्यादृक् चेष्टितं भवेत् ॥

न तावत्त्रिकस्येष्टिशब्देन ग्रहणमित्यवधार्यते । तत्र प्रत्येकं यागत्वेनेष्टिशब्द-प्रवृत्तेरेकैकस्याममावास्यायां पौर्णमास्यां वा प्रयोग इति न सम्यक्प्रयोगसिद्धिः । अथ समस्तानामाग्नेयादीनां कथंचिद्रूढेः "प्रवृत्तत्वादिष्टेः सोमे प्रवृत्तिः" इतिवद् ग्रहणम् । एवमपि प्रयोगवचनैकत्वात्समुदायद्वयस्यापि पौर्णमास्याममावास्यायां वाऽनुष्ठानं स्यात् । तत्र स एवोत्पत्तिशिष्टकालविरोधः । तदनुरोधेन व्यस्थित-विकल्पाश्रयणमिति चेत् । एवमपि यथोत्पत्त्यनुरोधात्प्रत्येकानुष्ठानप्रसङ्गः, तथाऽ-ङ्गानां भेदेन पौर्णमास्यमावास्ये प्रत्युपादानाभावाद्यत्र क्वचनैकत्र प्रदेशेऽनुष्ठानं स्यात् । तस्मान्नैतद्वाक्यं ताभ्यां तुल्यार्थमिति प्रकृतावकिंचित्करत्वाद्विकृतीरेव सद्यस्कालतायै गच्छति ।

नन्वनेन तन्त्रप्रयोगः 'सिध्येत् समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इति देशस्यानु-पादेयत्वात्साहित्यविवक्षोपपत्तेः ।

तत्रोच्यते—समस्य केवला चैव तन्त्रता प्रतिपाद्यते ।
तेन सर्वैरसावेको ग्राह्यो न बहवः समाः ॥

भेदेनापि हि प्रयुज्यमानानामनन्यदेशगमनमात्रेण देशतन्त्रत्वसिद्धिः । अथे-तरेतरयोगवशाद्यदैवैकः समेन यागो युज्यते, तदैवेतरोऽपीति तन्त्रत्वमुच्यते । तथा सति षण्णामपि युगपदुपादानात्तथैव प्रयोगप्रसक्तेः, स एव विरोधः । यदि पुन-रुत्पत्तिवाक्यानुरोधेन प्रवर्तते । ततः प्रत्येकं कालसंयुक्तानां समं प्रति साहित्यं संपादनीयमिति षट्स्वेव पौर्णमास्यमावास्यासु प्रयोगः समाप्येत । अङ्गानि च तावतः कालादनुत्कृष्यमाणानि प्रयोक्तव्यानीति, यत्र क्वचनान्तराले क्रियेरन् ।

अथ वा प्रतिप्रधानावृत्तेर्न्याय्यत्वादेकैकं प्रधानं साङ्गमपवृज्येत। अथ तु यावतोत्पत्तिकालो विरुध्यते, तावन्मात्रं परिहाय यौगपद्येन समसंबन्धः कर्तव्य इत्यवधार्येत। तत एकस्यामेव पौर्णमास्याममावास्यायां वा त्रिकयोः प्रयुज्यमानयोर्यस्य कस्यचित्समीपेऽङ्गानि प्रयुज्येरन्।

अथ वा तदर्धमासान्तराले यत्र क्वचनाहनि। सर्वो ह्यसौ प्रधानकालः, प्रधानकालाबहिर्भावश्च संभावयितव्यो तात्यन्तसामीप्यमशक्यत्वात् तस्मान्नैतेनाप्यभिप्रेतप्रयोगसिद्धिः।

अनेनैव फलवाक्यमपि प्रत्युक्तम्। फलस्यापि देशवदेवानुपादेयत्वात्सर्वानितरेतरयुक्तान्साङ्गान्प्रति तन्त्रत्वे सिद्धे न प्रयोगतन्त्रत्वसिद्धिः। विप्रकृष्टकालैरेव ह्येकं फलं साध्यते। अथोच्येत फलं भवद्भावयेदेतौरित्थमिति साङ्गानि प्रधानानि युगपत्फलभवनकालेऽनुष्ठातव्यानि श्रूयन्ते। ततश्च न विप्रकृष्टानीति[1]। तत्रापि समुदायद्वयस्य युगपत्प्रयोगापत्तिदोषः। उत्पत्तिवाक्यानुरोधेन वा पूर्ववदेव प्रत्येकं प्रयोगादियोजना। न च फलभवनकालोऽस्मत्प्रत्यक्षः। सोऽपि हि प्रधानेतिकर्तव्यताकालेनैव परिच्छिद्यते ततश्चोत्पत्तिकालालोचनेन यावन्तं प्रयोगकालमङ्गप्रधानानि व्याप्नुवन्ति, तावानेव फलभवनकालस्तादृगेव तद्विषयं यौगपद्यमिति सर्वथा षट्सु पौर्णमास्यमावास्यासु द्वयोर्वा साङ्गानां चापवर्गः। एकसमुदायसमीपे वाऽङ्गप्रयोगोऽर्धमासान्तराले वा यत्र क्वचिदिति प्रसङ्गा[2]न्नैतद्वाक्यलभ्यस्त्रिकस्य त्रिकस्य साङ्गस्य स्वकाले प्रयोगो वाक्यान्तरात्सिध्यतीति। तस्मादर्थवान् "पौर्णमास्यां पौर्णमास्या[3] यजेत" इति कालविधिः।

नन्वेवं सत्युत्पत्तौ कालयोगोऽनर्थकः। कथमनर्थकः? पश्य—

यद्युत्पत्तौ न विद्येत यागानां कालसंगतिः।
समुदायानुवादत्वं निर्निमित्तं न लभ्यते॥

पौर्णमास्यमावास्याशब्दौ स्वाभिधेयकालयुक्तयागानुवादाविष्येते। तदभावे तु नैव ज्ञायेत का पौर्णमासी? काऽमावास्येति? तदज्ञानादलब्धार्थदर्शपूर्णमासपदाविशेषितप्रकृतयागमात्रग्रहणात् सर्वाणि समप्रधानानीत्येतदेव स्यात्। तस्मादवश्यं भवितव्यं प्रथमं कालसंयोगेन। अत एव वोपांशुयाजस्यानुत्पत्तिवाक्यमपि सत्पौर्णमासीसंयुक्तमुदाहृतम्॥ ३॥

अथ तृतीयं पौर्णमास्याधिकरणम्

न्या० सु०—समप्राधान्याङ्गाङ्गिभावचिन्ताया लक्षणासङ्गतिं, पौनरुक्त्यं चाशङ्कते—**समस्तानीति**। एवं समामनन्तीति प्रकारवाचिनैवंशब्देनानूयाजादिसूचनात्—**समस्ता-**

१. क. विप्रकृष्टव्यानीति। २. क. प्रसङ्गः तस्मात्। ३. पौर्णमास्येति कालविधिः।

नित्युक्तम् । आघारसमिष्टयजुषोर्होमत्वेऽपि यागेष्वेव समप्राधान्यशङ्कोपपत्तेर्भूम्ना यागशब्दः । अवघातादौ गुणप्रधानकर्मत्वचिन्ताया लक्षणार्थत्वाभावेऽपि यथा प्रासङ्गिकसङ्गतिः, तथापीह नास्तीति केन—नामेत्युक्तम् । विशेषतश्चेयं चतुर्थोपान्त्ये करिष्यमाणत्वात्पुनरुक्तेतीयमित्यनेनोक्तम् । असङ्गतिं तावद्विवृणोति—अभ्यासेति । लक्षणार्थत्वशङ्कामुपन्यासपूर्वं दूषयति—केचिदिति । पौनरुक्त्यं विवृणोति—महतेति । श्लोकार्थमुपसंहरति—तस्मादिति । चिन्ताद्वयं चैकस्मिन्नधिकरणे न युक्तमित्याह—य एवमिति ।

शब्दान्तरत्वादित्यपि भाष्यमयुक्तमित्याह—अपि चेति । श्लोकं व्याचष्टे—शब्दान्तरत्वादिति । ननु प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागादितिवत्तन्त्रेण चिन्ताद्वयं भविष्यतीत्याशङ्क्य—आह न चेति । समप्राधान्याङ्गाङ्गिभावयोः पक्षयोर्हेतू न दृश्येते इत्याशयः । विध्यनुवादचिन्तैवाधिकरणार्थो, नाद्येति समाधत्ते—तस्मादिति । द्वयोरेवोदाहरणत्वे वाक्यान्तरानर्थक्यमाशङ्क्याह—तत्रेतरेषामिति । कस्मात्समप्राधान्याङ्गाङ्गिभावो नाधिकरणपक्षावित्याशङ्क्य, पौनरुक्त्यासङ्गतिहेत्वभावात्मकयुक्तित्रयपरामर्शायोक्तशब्दः ।

नन्वेवमपि प्रकृतानां कर्मणामनुवदितारावपूर्वयोर्वा कर्मणोर्विधाताराविति प्रकृतापूर्वशब्दभ्यां भेदाभेदयोरपि चिन्त्यत्वप्रतीतेश्चिन्ताद्वयापत्तिरित्याशङ्क्याह—तदिहेति । विध्यनुवादसिद्धौ पूर्वन्यायादेव भेदाभेदयोः सिद्धेः पृथगचिन्त्यत्वात्त्रिकस्य त्रिकस्यैकपक्षतेत्यर्थः । किमर्थं तर्हि त्रयोपन्यास इत्याशङ्क्य—उत्तरफलत्वेनेत्युक्तम् । विधातृत्वेऽपि कर्मभेदाभावे पुनर्विधानार्थवत्त्वलफवाक्यस्थद्विवचनान्तदर्शपूर्णमासशब्दापेक्षितद्वित्वसम्पादनार्थमाग्नेयादिसमुदायद्वयविविधातृत्वापत्तेः सिद्धान्तवत्, तेषामेव फलान्वयेनेतरेषामङ्गत्वात्समप्राधान्यासिद्धेः, अनुवादत्वेऽपि चाग्नेयाद्यतिरिक्तकर्मानुवादित्वात्तेभ्योऽन्यत्वे सत्याग्नेयादिसमुदायद्वयाक्लृप्तेः फलवाक्यस्थदर्शपूर्णमासशब्दस्याग्नेयादिषट्कविषयत्वाप्रसिद्धेर्यजिविशेषकत्वायोगात्समप्राधान्यापत्त्याङ्गाङ्गिभावासिद्धेरुत्तरोत्तरस्य फलत्वज्ञापनार्थं त्रयोपन्यास इत्याशयः ।

नन्वेवमप्यभ्यासलक्षणभेदातिप्रसङ्गापत्रादार्थत्वेनाधिकरणस्य सङ्गतिसिद्ध्यर्थं भेदाभेदाभ्यां च विना विध्यनुवादत्वमात्रात्समप्राधान्याङ्गाङ्गिभावासिद्धेः प्रयोजनाभावेनाधिकरणानारम्यत्वप्रसङ्गाद्भेदाभेदावेवोपन्यसनीयावित्याशङ्क्याह—त्रितयस्य चेति । भेदाभेदयोः प्राधान्येन विचार्यत्वेऽप्युपायभूतविध्यनुवादद्वारा फलभूतसमप्राधान्याङ्गाङ्गिभावद्वारा चेष्टभेदाभेदसिद्धिं मत्वा न श्रुत्योपन्यास इत्याशयः । पश्चात्तर्हि प्रकृतापूर्वशब्दाभ्यां तयोः श्रुत्योपन्यासः किमर्थमित्याशङ्क्याह—तत्र चेति । नन्वादौ भेदाभेदावुपन्यस्य तत्सिद्ध्यर्थत्वेन विध्यनुवादचिन्ताकस्मान्न कृतेत्याशङ्कते—किमर्थं पुनरिति ।

फलद्वारोपन्यासो भाष्यकृत्प्रक्रियेति केषांचित्परिहारमाह—एषा हीति । स्वमतेन लिङ्गदर्शनानुसारेणैवं कृतिमिति परिहरति—अथ वेति । नन्वेवमपि तत्रेति सन्देहभाष्यावयवोऽनर्थक इत्याशङ्क्याह—तत्रेति । आग्नेयादिवाक्यानां कर्मविधायकत्वे सत्येन

विद्वद्वाक्ययोस्तद्वचतिरिक्तकर्मविधायित्वादेकः पूर्वपक्ष इत्युक्तशब्दान्तरत्वादिति भाष्यान्नेदृक् पूर्वपक्षः प्रतीयत इत्याशङ्क्य—**समप्राधान्यद्वारेणेत्युक्तम्**। द्वितीयपूर्वपक्षाभिप्रायसूत्रेति भाष्यावयव इत्याशयः। अनेन च विद्वत्संयुक्तावप्याख्यातप्रत्ययौ विधातारावित्यपिशब्दाध्याहारेणाद्यपूर्वपक्षवचनव्यक्तौ तावेवेत्येवशब्दाध्याहारेण चावृत्त्या द्वितीयपूर्वपक्षवचनव्यक्तावयवेति भाष्यावयवं व्याख्याय, विद्वद्वाक्याभ्यामेव कर्मविधावाग्नेयादि वाक्यानर्थक्याशङ्कानिरासार्थत्वेन तत्रेति भाष्यावयवो व्याख्यातो भवति—**किं तावदिति**। पूर्वपक्षभाष्यं व्याचष्टे—**प्रथमं तावदिति**। व्यतिरेकशब्देनाद्यपूर्वपक्षार्थतोक्ता। भेदे च इष्टसामर्थ्यावित्यनेनोक्तमाक्षेपं परिहरति—**यद्यपि चेति**। अभ्यासलक्षणभेदातिप्रसङ्गापवादार्थत्वेऽप्यधिकरणस्य समप्राधान्ये सत्यङ्गाभावात्किमपेक्ष्य प्रधानतेत्याशङ्क्याघारादीनां राजसूयवदङ्गत्वसूचनार्थं शब्दान्तरेणाऽयागेभ्यो भेदः पूर्वपक्षितः। ननु विद्वद्वाक्ययोरनुवादत्वेन विधातृत्वाभावान्न पूर्वन्यायद्वयविषयतेत्याशङ्क्याह—**न चेति**। प्रकृतयागानुवादे च प्रयाजादेरपि प्रकृतत्वाविशेषेणानुवादापत्तेः, सञ्ज्ञायाश्चाप्रसिद्धत्वेनाविशेषकत्वात्फलवाक्यस्थद्विवचनापेक्षिताग्नेयादिसमुदायद्वयसम्पादनमपि प्रयोजनं न सम्भवतीत्याशयेनाह—**न चैषेति**। न च लिङ्गाद्यभावेनाविधातृतेत्याह—**वर्त्तमानेति**। यावदुक्थोनोपाप्नोति, तावदुपाप्नोतीत्यर्थवादात् पौर्णमासीवाक्यस्य यावदतिरात्रेणोपाप्नोति तावदुपाप्नोतीत्यर्थवादाच्चामावास्यावाक्यस्य विधित्वनिश्चयः। यच्छब्दोपबन्धोऽपि न विधिशक्तिं व्याहन्तीत्याह—**सत्यपि चेति**। विधायकत्वे च सत्यभ्यासाद्भेदसिद्धिरित्याह—**न चेति**। नन्वर्थवादतानयोः कस्मान्न कल्पितेत्याशङ्क्याह—**न चेति**।

नन्वरूपत्वात्कर्मविधिर्न सम्भवतीत्याशङ्कते—**किं पुनरिति**। परिहरति—**तदिति**। हेत्वर्थतया साधारणशब्दं व्याचष्टे—**सर्वस्मै वा इति**। ननु विहिताज्यद्रव्यकेष्वेवानेन ध्रौवत्वमात्रविधिरित्याशङ्क्योपांशुयाजमन्तरा यजतीति। हविर्लिङ्गाश्रुतत्वाद्यथा कामी प्रतीयेतेति सूत्रेण दशमे हविर्विशेषाश्रवणेनोपांशुयाजे द्रव्यानियमं पूर्वपक्षयित्वा, 'ध्रौवाद्वा सर्वसंयोगादि'त्यनेनाविहितद्रव्यकेषु ध्रौवविधिर्वक्ष्यमाणो दृष्टान्तितः। यच्च तत्र भाष्यकृता 'आज्यस्यैव नावित्य'नेनाज्यविधिमाशङ्क्यैवमप्यनियमो यत्किंचिदाज्यमिति वक्ष्यते। तदभ्युपेत्यवादमात्रमित्याशयः।

ननु तृतीये 'मिथश्चानर्थसम्बन्ध इत्यत्राज्यभागक्रमाम्नानेन वार्त्रघ्नीवृधन्वत्याख्यमन्त्राणां तदङ्गत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्कथमनयोः' कर्मणोस्तद्वशाद्देवताप्राप्तिरित्याशङ्कां निरस्यन्मात्रवर्णिकं व्याचष्टे—**तथेति**। आग्नेयादेर्निज्ञातदेवतात्वेनार्थन्तरवाचिमन्त्रान्वययोगात्तादर्थ्येन वाक्यविनियोगानुपपत्तावपि विद्वद्वाक्यविहितयोः कर्मणोरनिर्ज्ञातदेवतात्वेनैतन्मन्त्रान्वयाविरोधात् वाक्येन क्रमं बाधित्वैतदङ्गतया विनियोगोपपत्तिरनयोरित्यनेन सूचिता। नन्वनुवाक्याविधिस्थयोः पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः कालवाचित्वात्कथं वाक्येन कर्माङ्गतेत्याशङ्क्याह—**न हीति**।

ननु कर्मणिलक्षणापत्तेः श्रुत्या कालार्थतैवोचितेत्याशङ्कते—**नन्विति**। कालस्याननुष्ठेयत्वेन मन्त्रानाकाङ्क्षत्वात्तदङ्गत्वे मन्त्रस्यानर्थक्यापत्तेरर्थवत्त्वाय लक्षणाप्युचितेति परिहरति—**किं हीति**। ननु कर्मणोऽधिकरणत्वायोगात्तद्वाचित्वे सप्तमी न युज्येतेत्याशङ्क्याह—**दृष्टश्चेति**। अधिकरणस्याधेयसंस्कार्यत्वेनागारे गावो वास्यान्तामित्यादौ प्राधान्यदर्शनाल्लक्षणयाधिकरणवाचिन्याः सप्तम्याः प्राधान्यार्थता युक्तेत्याशयः।

नन्वेकस्मिन्कर्मण्यनुवाक्याद्वयानर्थक्यं याज्यानुपलब्धेश्च यागानुष्ठानासिद्धिरित्याशङ्काद्वयं चतुर्धा परिहरति—**तेनेति**। अनुवाक्याद्वयस्यैकयागार्थत्वाद्विकल्पो याज्यापि चाश्रुताः देवतलक्षणयाज्यानुवाक्या इत्यसमाम्नातयाज्यानुवाक्याविषये यागाङ्गदेवतावाचियाज्यानुवाक्याकल्पनस्मृतेराग्नेय्यनुवाक्यापक्षे याज्याप्याग्नेयी। सौमीपक्षे सौमीकल्पेत्येकः परिहारः।

इतरेतरयोर्विहितद्वन्द्वापवादत्वेनैकशेषस्यापीतरेतरयोगावाचित्वादनुवाक्याद्वयस्य समुच्चयप्रतीतेस्तद्वशेनाग्नीषोमयोर्देवतात्वकल्पनात् द्वयोरर्थवत्त्वं, याज्या च तदानुरूप्येणैवाग्नेयी सौमी चान्या कल्पेति द्वितीयः।

कर्मद्वयाभिप्राया वीप्सा कल्पनालाघवेऽप्येकैव द्विदेवत्या याज्येति तृतीयः।

एकस्मिन्कर्मण्यनुवाक्याद्वयानर्थक्याद्याज्यानुवाक्यत्वेऽपि चेतरेतेतरयोगोपपत्तौ, अनुशब्दस्य च याज्यामपि प्रैषपश्चाद्भावेनाविरोधात्समुच्चितयोश्चाङ्गत्वेनाग्नीषोमदेवत्यकर्माध्यवसानान्मनोतान्यायेनैकदेशद्वारा तत्प्रकाशनेनोभयोः सम्वादोपपत्तेरश्रुतकल्पनापरिहाराच्च श्रुतयोरेव मध्येऽनुवाक्यैका याज्यैकेति चतुर्थः।

आज्यभागयोस्तर्ह्यनुवाक्याकल्प्यदेवतानुपपत्तेः साकाङ्क्षत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—**आज्यभागयोस्त्विति**। तौ होचतुरग्नीषोमौ किमावयोस्ततः स्यादित्यग्नीषोमयोः प्रक्रान्तयोः र्नाविति द्वितीयया यजिकर्मत्वनिर्देशाद्विष्णुं यजतीत्यादिवद्देवतात्वावधारणेत्याशयः। 'जुषाणोऽग्निराज्यस्य वेतु जुषाणः सोम आज्यस्य वेत्वि'ति याज्यायास्तु केन चित्साकाङ्क्षतानाशङ्क्येत्याह—**याज्येति**। नन्वनुवाक्ययोर्बाधितत्वात्तत्साकाङ्क्षत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—**अनुवाक्येति**। रूपवन्तावित्युत्तरार्द्धं व्याचष्टे—**तस्मादिति**। पूर्वपक्षभाष्यार्थं व्याख्यातमुपसंहरति—**अतश्चेति**।

ननु भेदेऽपि चतुर्थोपान्त्यन्यायेन दर्शपूर्णमासाख्यानामेव यागानां प्राधान्यान्नेतरेषामङ्गत्वात्समप्रधान्यसिद्धिरित्याशङ्कते—**भेद इति**। तमेव न्यायं प्रश्नपूर्वकमाह—**कुत इति**। पृथक्त्वेत्वाभिधानयोर्निवेशः। श्रुतितो व्यपदेशाच्च तत्पुनर्मुख्यलक्षणं तत्सन्निधावसंयुक्तं तदङ्गं स्याद्भागित्वात्कारणस्याश्रुतान्यसम्बन्ध४.४.३४ इति सिद्धान्तसूत्रावयवं केषु चिदेवेत्यध्याहारेण व्याख्यातं पूर्वार्द्धं दर्शपूर्णमासाभ्यामिति द्विवचनश्रुतेर्दर्श इत्यभिधानस्य पूर्णमासशब्दवाच्यात्पूर्णमास इत्यस्य च दर्शशब्दवाच्यात्पृथक्त्वेन निवेशः प्रतीयते। स च प्रकृतयागमात्रवाचित्वे पृथक्त्वायोगात्केषु चिदेव यागेषु युक्तो, न सर्वेष्वित्यर्थः। दर्शशब्दस्याप्रसिद्धार्थत्वात्पूर्णमासशब्दवच्च केन चिद्यागनाम्ना सारूप्याभावात्कथं

यागविशेषे निवेश इत्याशङ्क्यारम्भणीयावाक्यशेषे दर्शो वा एतयोः पूर्वः, पूर्णमास, उत्तरो, अथ यत्पूर्णमासं पूर्वमारभते तद् यथापूर्वं क्रियते, तस्मात्पूर्णमासमारभमाणः सरस्वत्यै चरुं निर्वपेत्सरस्वते द्वादशकपालममावास्याया वै सरस्वती पूर्णमासः सरस्वानुभावेतौ यथा पूर्वं कल्पयित्वाऽऽरभतइत्यमावास्याख्ययागविशेषस्य दर्शव्यपदेशाच्चन्द्रदर्शनाद्वामावास्यायां तिथौ दर्शव्यपदेशात्प्रतिपद्दर्शषष्ठीषु न कुर्याद्दन्तधावनमित्यादौ चामावास्यायां दर्शव्यपदेशात्प्रसिद्धार्थतोक्ता। अतो यागविशेषाणां फलवत्त्वात्फलवत्वस्यैव च प्राधान्यापरपर्यायमुख्यलक्षणत्वात्सन्निहितस्य फलासंयुक्तस्यासंयुक्तं प्रकरणादितिकर्त्तव्यतार्थित्वा ३.३.११ति तृतीयाजिकरणन्यायेनाङ्गत्वकारणभागित्वात्, अश्रुतान्यफलान्वयकल्पने च गौरवापत्तेरङ्गतैव युक्तेति सूत्रार्थः सङ्क्षेपेणोत्तरार्द्धेनोक्तः।

श्लोकं व्याचष्टे—**दर्शेति**। विद्वद्वाक्याभ्यां समुदायद्वयाकरणे दर्शपूर्णमासनाम्नो प्रसिद्धार्थत्वेन यज्यर्थाविशेषत्वान्न चतुर्थान्त्यन्यायमुदाहरति—**यथेति**। जोतींषि वा एतानि, य एते स्तोमा इत्यर्थवादे त्रिवृदादिस्तोमेषु ज्योतिष्ट्वव्यपदेशात्, ग्रहं वा गृहीत्वा, चमसं वोन्नीय, स्तोत्रमुपाकरोतीति च विधौ सोमयागस्य त्रिवृदादिस्तोमयोगावगमात्प्रसिद्धार्थेन नाम्ना यज्यर्थो विशेष्यत इत्यर्थः।

यजिना नामार्थविशेषणे चतुर्थस्यैव चतुर्थपादाद्यन्यायमुदाहरति—**तथेति**। राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेतेति फलविधिपरे वाक्ये यजेः प्रकृतेष्टिपशुसोमयागमात्रानुवादित्वावधारणात्प्रसिद्धार्थेन यजिना नाम विशेष्यत इत्यर्थः। उत्तरार्द्धं व्याचष्टे—**तदिहेति**।

ननु प्रकृतयागमात्रविषयत्वे दर्शपूर्णमासशब्दस्य तदवयवभूतयोर्दर्शपूर्णमासशब्दयोर्द्विवचनस्य च कोऽर्थ इत्याशङ्क्याह—**ततश्चेति**। अवयवार्थो समासार्थश्च द्वित्वं चाविवक्षितानि यस्मिन्पद इति विग्रहः। समासार्थेतरेतरयोगविवक्षायामवयवार्थाविवक्षानुपपत्तेस्तदविवक्षाभिधानम्। अर्थान्तरविवक्षायामपि करणत्वविवक्षया यजिसामानाधिकरण्याद्राजसूयनामवद्यागनामतेत्युक्तेऽवयवार्थाविवक्षायां प्रवृत्तिनिमित्ताभावात्कथं यागनामतेत्याशङ्क्य वर्णपङ्क्तिमात्ररूपत्वेन रूढितोक्ता। ननु रूढिर्योगमपहरतीति न्यायेनावयवार्थाविवक्षायामपि द्विवचनार्थाविवक्षा न युक्तेत्याशङ्क्याह—**सुपामिति**।

नन्वमावास्यापौर्णमासीकालवाचिनोदर्शपूर्णमासशब्दयोस्तद्योगिष्वाग्नेयादियागेषु द्विवचनस्य च द्वित्वयोगित्वाज्यभागादिषु लक्षणया प्रसिद्धिसम्भवान्नाप्रसिद्धार्थतेत्याशङ्कते—**कथं पुनरिति**। नन्वेवमपि प्रकृतिप्रत्ययसमुदायात्मकस्य पदस्याप्रसिद्धार्थत्वाद्यज्यनुरोधवृत्तित्वमपरिहार्यमित्याशङ्कां निरस्यन् श्लोकं व्याचष्टे—**तन्नामेति**। लब्धार्थप्रतिपादकानुरोधेनेवाविभक्तिव्याख्याविभक्त्यनुरोधेन वा प्रातिपदिकव्याख्या भविष्यतीत्याशयः। स्वार्थासमाप्तस्य वाक्यस्य वाक्यान्तरानन्वयवत्पदस्यापि स्वार्थासमाप्तस्य पदान्तरानन्वयानैकैकांशप्रसिद्धिमात्रेण यजिविशेषकता युक्तेति परिहरति—**तदिति**। श्लोकं व्याचष्टे—**यद्यपीति**।

नन्वाग्नेयवाक्येनासम्भवत्समुच्चयपौर्णमास्यमावास्याकालद्वयगुणककर्मविधानाद् गुणानुरोधेन च प्रधानावर्त्ययोगाच्च शब्दयोगाच्च कालविकल्पानुपपत्तेरेककर्मासम्भविगुणद्वययोगेनाग्नेययागद्वित्वावगतेस्तयोश्चैकवाक्यविहितत्वावान्तरसामान्यावच्छेदेनामावास्यापौर्णमासीकालयोगिषु यागान्तरेषु सत्स्वपि द्वित्वसंख्यावृत्त्युपपत्तेर्द्वयोरपि प्रकृतिप्रत्ययार्थयोस्तत्र सद्भावात्, दर्शपूर्णमासशब्दस्याग्नेययागद्वयवाचित्वेन प्रसिद्धत्वाद्यजिविशेषकत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**न चेति**। विद्वद्वाक्ययोः प्रकृतयागानुवादित्वाभावे पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोस्तद्वाच्यकालयोगिप्रकृतयागनामत्वानवगतेः, तयोर्वा लक्षणया प्रकृतयागप्रवृत्तावपि दर्शपूर्णमासशब्दयोस्तात्पर्यविधारणहेतुसामानाधिकरण्याभावात्पूर्णमासशब्दस्य किं चिद्वर्णसाम्याद्वाचकपौर्णमासीशब्दोपस्थापनेनाख्याभूतपौर्णमासीशब्दविकारमात्रत्वाद्वा ततोऽनन्यत्वेन दर्शशब्दस्य जघन्यवृत्तिसाम्याद् गौणत्वशब्दोक्त्या विरुद्धलक्षणयामावास्याशब्दैकार्थ्यकल्पनाद्दर्शपूर्णमासशब्दस्य प्रकृतपौर्णमास्यमावास्याकालयोगियागविषयत्वाध्यवसानं न भवतीत्यर्थः।

ननु ज्योतींषि वा एतानि य एते स्तोमा ? इतिवद्वाचकशब्दसामानाधिकरण्याभावेऽप्यथैते मोदमाना इवेत्यत्र यवशब्दस्य दीर्घशूकविषयत्वम् 'आग्नेय्याग्नीमित्यत्र चाग्नेयीशब्दस्य प्रकृताग्नेयीविषयतावसीयतइत्याशङ्क्य—**अर्थेत्युक्तम्**। शब्दान्तरवदर्थप्रकरणाभ्यामपि सामानाधिकरण्याध्यवसानं न भविष्यतीत्याशयः।

नन्वाग्नेययागयोः पौर्णमास्यमावास्यानामत्वानवगतेर्दर्शपूर्णमासशब्दस्य तद्विषयत्वाध्यवसानाभावेऽपि विद्वद्वाक्यस्थयोः पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोरर्थाक्षिप्तसाध्यांशसामानाधिकरण्येनापूर्वयागनामत्वावगतेर्दर्शपूर्णमासशब्दस्य तद्विषयत्वाध्यवसानात्प्रसिद्धार्थत्वेन यजिविशेषकत्वोपपत्तेर्विद्वद्वाक्यविहितयोरेव यागयोः फलवत्त्वेन प्राधान्यादितरेषामङ्गत्वं भविष्यतीत्याशङ्कते—**कस्मात्पुनरिति**। एतदेव सिद्धान्तन्यायतुल्यत्वापादनेनोपपादयति—**तथा हीति**। शङ्कोत्तरत्वेन श्लोकं व्याचष्टे—**यदीति**।

पौर्णमास्यामावास्याशब्दयोर्यागनामत्वेऽपि दर्शपूर्णमासशब्दस्य यागनामत्वानवधारणात्कालयोगेन च वृत्तेराग्नेयादिष्वपि तुल्यत्वेन विद्वद्वाक्यविहितयोर्यागयोराग्नेयवदेकवाक्यविधानाभावे भावनान्तरसामान्यावच्छेदाभावाद्वित्वसंख्यापरिच्छेद्यत्वानुपपत्तेर्नष्टानांमध्ये तयोर्निष्कर्षः सम्भवतीति परिहरति—**नैतदिति**। श्लोकं व्याचष्टे—**न हीति**। ननु निष्कर्षायोगेऽपि ययोः कयोश्चिद्वयोः फलान्वयो भविष्यतीत्याशङ्कते—**स्यादिति**। नित्यं वाष्टानां मध्ये ययोः कयोश्चिद्वयोः फलवत्त्वाय दर्शपूर्णमासशब्देन ग्रहणं, विकल्पेन वेति, विकल्पाद्यपक्षे निर्द्धारणहेत्वभावात्प्रमाणाभावो। द्वितीये चैकस्याङ्गप्रधानत्वविरोधापत्तिरिति परिहृति—**तदिति**। श्लोकं व्याचष्टे—**विनेति**। अतिदेशे सन्देहापत्तिश्च द्वितीये पक्षे स्यादित्याह—**उभयात्मनां चेति**। अभ्युपेत्यवादेन चैतदुक्तम्, वस्तुतस्त्ववान्तरसामान्यावच्छेदं विना द्वित्वानवधारणान्नैकोऽपि पक्षः सम्भवतीत्याह—**सर्वेति**।

ननु सिद्धान्तेऽपि षण्णां कथं द्वित्वापत्तिरित्याशङ्क्याह—**सिद्धान्ते त्विति**। नन्वेवं द्विवचनोपपत्तावपि प्रातिपदिकयोरप्रसिद्धार्थत्वाद्यजिविशेषकता न युक्तेत्याशङ्क्याह—**तद्वशेन चेति**। पूर्वपक्षे समुदायत्वानापादनाद्वैषम्यमाह—**नन्विति**। ननु समुदायगत-द्वित्वाभावेऽपि कालगतद्वित्वापेक्षं द्विवचनं भविष्यतीत्याशङ्कते—**अथेति**। विद्वद्वाक्याभ्यां फलवाक्यस्थदर्शपूर्णमासशब्दगतद्वित्वसम्पत्त्यर्थं समुदायद्वयानापादने दर्शपूर्णमासशब्देन तात्पर्यप्रमाणाभावादाग्नेयादिविषयतयानवधारितेनाख्यातं न विशेष्टुं शक्यमिति परिहरति—**नैद्वशेनेति**। कालगतायाः संख्याया यागान्वयकल्पना न शक्येत्याह—**न चेति**। समुदायगतसंख्यान्वयस्तु समुदायिनां युक्त इत्याह—**समुदायेति**। पूर्वपक्षप्रयोजनमुप-पादितमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

सूत्रं द्वेधा योजयन् तत्सिद्धान्तमाह—**तथेति**। पौर्णमासीशब्देनोदाहरणीभूतविद्वद्वाक्य-योरुपलक्षणम्। प्रकरणशब्दस्य कर्मण्युत्पत्तावालम्बनपदाध्याहारो। भावव्युत्पत्तौ सहकारिपदाध्याहार इत्यर्थः। द्वितीयव्याख्यानेऽपि प्रकृतानामिति भाष्यानुसारं वक्तुम्—**ततश्चेत्युक्तम्**। रूपावचनस्य प्रकृतानुवादहेतुत्वोपपादनार्थं य एवं विद्वानित्यादिभाष्येण सञ्ज्ञया कर्मविशेषाभिधानाद्रूपं च विनाविशेषाप्रतिपत्तेर्विध्यसम्भवोऽभिहित आघाराग्नि-होत्रादिकरणे सञ्ज्ञोपबन्धादित्यस्मिन्सूत्रे व्याख्यास्यमानत्वादुपेक्ष्य स्वयं विधिस्वभावमेव तावत्प्रश्नपूर्वमुपपादकमाह—**कुत इति**।

भाष्योक्तामप्युपपत्तिमनुसन्दधानः श्लोकं व्याचष्टे—**न हीति**। विध्यनुरोधोऽननुष्ठेय-सामान्यवाचित्वनिरासायानेनेति विशेषणेनोक्तः। अव्यक्तासु तु सोमस्ये(८१.१६)त्यनेन न्यायेनातिदेशाद्रूपलाभमाशङ्क्य, अव्यक्तचोदितत्वेन सोमधर्मातिदेशस्य वक्ष्यमाणत्वात्, इह च श्रुतस्याख्यातस्य यच्छब्दोपबन्धेनाविधायकत्वाद्विध्यध्याहारस्यैव विधानयोग्य-रूपवत्कर्मावगतिसापेक्षत्वादातिदेशिकरूपालाभाद्विध्यध्याहारे, विध्यध्याहाराच्च विधेयत्वे-नातिदेशिकरूपलाभे, अन्योन्याश्रयापत्तेर्नातिदेशाद् रूपलाभः सम्भवतीति सूचनार्थोऽपूर्व-शब्दः। नन्वनुवादोऽप्यज्ञातरूपस्य न सम्भवतीत्याशङ्क्यानुवादस्य बुद्धिविपरिवृत्ति-निमित्तत्वेन प्रकृतविषयत्वात्प्रकृतानां च ज्ञातरूपत्वेनानुवादसम्भवाभिधानार्थम् अथ त्विति भाष्यं व्याचष्टे—**प्रकृतेति**। पूर्वपक्षोक्तं द्रव्यदेवतमनुभाषणपूर्वं निरस्यति—**नन्विति**। सत्यमित्युपहासः सूचितः। यागमात्रसाधारणत्वेन स्थितस्य ध्रौवस्य सञ्ज्ञाविशेषावच्छिन्नयागविशेषानवच्छेदकत्वात्सत्यपि लाभेनावच्छेदकत्वाख्यारूपतास्तीत्या-शयः। यथाकथंचिदित्यनेन ध्रुवावाक्यस्यार्थवादसरूपस्याप्यन्यथानुपपत्त्या क्लेशेन ध्रौवत्वविशिष्टाज्यप्रापकत्वात्प्राप्तिक्लेशः सूचितः। मान्त्रवर्णिकदेवताप्राप्तिमाशङ्कितां निरस्यति—**न हीति**। न केवलं विरोधापत्तेः कर्मवाचित्वं न युक्तं किं तु लाक्षणिकत्वाद-पीत्याह—**किं चेति**। ननु लक्षणापि शब्दवृत्तिप्रकार एवेत्याशङ्क्याह—**यदि हीति**। सप्तमीनिर्देशादपि कालवाचितैव युक्तेत्याह—**अपि चेति**। कालस्य मन्त्रान्वयायोगात्तद्वा-चित्वानुपपत्तिर्योक्ता, तामप्यनुभाष्य निरस्यति—**यत्त्विति**।

नन्वाज्यभागयोः कालयोगाश्रवणात्प्रधानद्वारा कालयोगाश्रयणे वा पौर्णमासीस्थ-प्रधानाङ्गभूतयोरिति च युगपच्छ्रुतिलक्षणाविरोधापत्तेः कालतश्च व्यवस्थाश्रयणे विकृतिषु य इष्टयेति वाक्येन कालविकल्पविधानात् पौर्णमासीकालोपांशुयाजाग्नीषोमीयविकारो यदामावास्यायां क्रियतेऽमावास्याकालसान्नय्यविकारो वा पौर्णमास्याम्, तदा पौर्णमास-कालप्रधानाङ्गभूतयोराज्यभागयोर्वृधन्वतीप्राप्तेरमावास्याकालप्रधानाङ्गभूतयोश्च वार्त्रघ्नीप्राप्तेः प्रकृतिवद्भावबाधप्रसङ्गात्प्रधानसाद्गुण्यार्थत्वाच्चाङ्गगुणानुष्ठानस्य, तद्बाधे प्रधाने वैगुण्यापत्तेः, कर्मवाचित्वेनाऽपि च पौर्णमास्यमावास्याकर्माङ्गभूतयोर्वृधन्वत्यो इति कर्मकृतव्यवस्थार्थत्वेन वाक्यस्याविरोधोपपत्तेः, तत्र जयानिति वच्चाज्यभागव्यतिरेक-जनितप्राधान्यार्थतैव युक्ता, नापूर्वयोः कर्मणोः मन्त्रविधानार्थतेति स्वमतेन मान्त्रवर्णिक-देवताकल्पनानुपपत्तिप्रकारमाह—**किं चेति**। श्लोकं व्याचष्टे—**सर्वत्रैवेति**।

यत्वनुवाक्याद्वयानर्थक्यपरिहाराया श्रुतयाज्याकल्पनपरिहाराय च श्रुतयोरेव वार्त्रघ्नचोर्वृधन्वत्योश्च मध्येऽनुवाक्यैका, याज्या चैकेत्युक्तम्। तदनुभाष्य दूषयति—**यच्चेति**। अज्ञातदेवतात्वादेवापूर्वयोः कर्मणोः प्रकाश्येन देवतारूपेण प्रकाशकतया मन्त्रस्यान-पेक्षितत्वात्प्रकाशनाख्ये याज्यानुवाक्याकार्ये वार्त्रघ्नचोर्वृधन्वत्योर्वा विनियोगाद्याज्यात्व-वदनुवाक्यात्वमपि न स्यादित्याशयेनाह—**अपि चेति**। मन्त्रार्थस्य कर्मसमवाये सिद्धे मन्त्रस्यालिङ्गविनियोज्यत्वापत्तेस्तदभावाभिधानेन मन्त्रार्थस्य कर्मसमवायासिद्धिः प्रकाश-कानपक्षत्वायोक्ता, वाक्यीयविनियोगान्यथानुपपत्त्या मन्त्रार्थस्य कर्मसमवायकल्पनामा-शङ्कचा—**वाक्ये चेत्युक्तम्**। कर्मसमवेतार्थप्रकाशकत्वं विना मन्त्रस्य करणात्वा-योगात्करणत्वश्रवणे तदन्यथानुपपत्त्या मन्त्रार्थस्य कर्मसमवायकल्पना, नान्यथेतित्याशयः। अनुपूर्ववचियोगेनानुवाक्यात्वमाशङ्कयाज्ञातदेवते कर्मणि विहितायां वैष्णव्यां व्यभि-चारोऽभिहितः। ननु सन्निपत्योपकारित्वसिद्धयेऽनुवाक्यात्वं कल्पयिष्यतइत्याशङ्कचाह—**मान्त्रवर्णिकेति**। समवेतार्थत्वसम्भवे सन्निपत्योपकारित्वेनारादुपकारित्वं बाध्यते नान्यथेत्याशयः।

यच्चापूर्वकर्मविषयत्वेऽनुवाक्याद्वयानर्थक्यम्, लिङ्गाविनियोज्यत्वाच्चादृष्टार्थत्वमुक्त। तदुभयमप्याज्यभागविषयत्वेन प्राप्नोतीत्याह—**आज्यभागयोः पुनरिति**। यागद्वित्वाद्देव-ताद्वित्वाच्चानुवाक्याद्वयस्यार्थवत्त्वं लिङ्गविनियुक्तत्वाच्च दृष्टार्थतेति, दृष्टार्थशब्देनार्थ-वत्त्वस्यापि सूचनादित्यर्थः। यश्चानेकार्थविधिप्रसङ्गोऽपूर्वकर्मविषयत्वेऽस्तीत्याह—**तत्र चेति**। अपेक्षितविधानं त्वादावेवोक्तम्। नन्वाज्यभागाङ्गत्वस्य लिङ्गक्रमाभ्यामेव प्राप्तेस्तदर्थशास्त्रनर्थक्यमित्याशङ्कयाह—**न चेति**। लिङ्गस्य व्यवस्थापकत्वाशङ्कानुपपत्तेः, क्रममात्रस्य निरासः। मान्त्रवर्णिकदेवताप्राप्तचभावमुपसंहरति—**तस्मादिति** सूत्रार्थ-मुपसंहरति—**अतश्चेति**।

आनर्थक्यापत्त्यानुवादत्वानुपपत्तिमाशङ्कते—**किं पुनरिति**। आनर्थक्यमेवोपपादयति—**पश्येति**। दध्ना जुहोतीतिकरणत्वेन दधिविधानात्पदार्थचोदना, दण्डी प्रैषानन्वाहेति

दण्डप्रातिपदिकार्थविधानातद्भागार्थंचोदना, सोमेन यजेयेति विशिष्टविधानाद्वाक्यार्थंचोदनेति यथाग्नेयादिवाक्येष्वनेन कर्तृसमीहितं कुर्यादित्यवगमेऽपि कर्तृविशेषानुपादानात्, सामान्यस्य चाकर्तृत्वात्, कर्तृसमीहितसाधनत्वलक्षणधर्मबोधाशक्तत्वेऽपि स्वर्गकामवाक्यस्य कर्मकर्तृविशेषोपादानेन धर्मबोधोपयोगित्वात्तच्छेषत्वेनाग्नेयादिवाक्यानां धर्मप्रमोपयोगः, तथा विद्वद्वाक्ययोरपि प्रयोगवचनाङ्गत्वाद्धर्मप्रमोपयोगो भविष्यतीति परिहरति—**उच्यत इति**। कथमनयोः प्रयोगवचनाङ्गतेत्याशङ्क्य द्वित्वसिद्ध्या—**प्रयोजनभूतयेत्युक्तम्**। द्वित्वसम्पादकत्वेऽप्यनयोः कः प्रयोगवचनस्योपकार इत्यपेक्षिते प्रयोगवचने द्वित्वस्योपादानादित्युक्तम्।

श्लोकतात्पर्यं व्याचष्टे—**वाक्येति**। अविधायकत्वेनाऽनयोराग्नेयादिवाक्यवैषम्यमाशङ्क्याह—**न हीति**।

ननु समुदायद्वयावचनेऽपि पौर्णमास्यमावास्याख्यकालद्वययोगेनाग्नेयादीनां द्वित्वसिद्धेर्नानयोर्द्वित्वसिद्धिप्रयोजनतेत्याशङ्क्याह—**न चात्रेति**। कालकर्मणोरत्यन्तभेदात्कालगतसंख्यायोगः कर्मणो न सम्भवतीत्याशयः। विद्वद्वाक्याभ्यां विनाग्नेयादीनां द्वित्वासिद्धिं भाष्यकाराभिप्रेतत्वेन द्रढयति—**एतदेव चेति**। आग्नेयादीनि पयोन्तानि प्रधानानि, आघारादीन्यारादुपकाराकाण्यङ्गानीत्यनुवादपक्षे प्रयोजनस्याङ्गप्रधानत्वस्यादावुपन्यासात्तत्सिद्ध्यर्थंद्वित्वसिद्ध्यर्थताऽनुवादस्यऽवसीयत इत्याशयः। नवङ्गप्रधानत्वस्य प्रयोजनोपन्यासेऽधिकरणान्ते कार्यता स्यादित्याशङ्क्याह—**इतरथा हीति**। प्रयोजनमप्यनुवादत्वनिर्वाहायादावुपन्यस्तमित्याशयः। अनुवादानर्थक्यपरिहारमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

कथं पुनरित्यादिभाष्येणैकवचनान्तयोः पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोरनेकाग्नेयादिवाचित्वानुपपत्तिमाशङ्क्य, समुदायशब्दतयैकवचनाक्लृप्तिमुक्त्वा, कथं भिन्नवाक्यविहितानामाग्नेयादीनां साहित्यात्मकः समुदाय इत्याशङ्क्यऽरूपवन्तो हीत्यनेन प्रपञ्चेनानेकस्यैकधर्मान्वयेन शिष्टः कृतः समुदायोऽस्तीत्युक्तम्। तद्व्याख्यातुमाशङ्कते—**कथं पुनरिति**। अभेदे समुदायायोगाद्भिन्नवाक्यविधानाभिप्रायो भिन्नशब्दः। प्रकृतत्वाविशेषाद्यजेः सर्वप्रकृतयागविषयत्वप्रतीतेः सर्वेषां वैककालयोगाभावात्तन्निमित्तोऽपि समुदायो न सम्भवतीति सूचनायात्यन्तशब्दः। व्याचष्टे—**शब्दयसिति**। कालयोगनिमित्तनामधेयावच्छेदेन यजेः कालयोगियागविषयत्वावसायाद्भिन्नवाक्यविहितानामप्येककालान्वयात्समुदायः सम्भवतीत्याशयः। श्लोकं व्याचष्टे—**यथैव हीति**।

ननु सत्यपि समुदाये पौर्णमास्यमावास्यानामधेययोः सामानाधिकरण्येन यागविषयत्वात्तेषां च बहुत्वान्नैकवचनोपपत्तिरित्याशङ्कानिरासार्थं 'भवति ही'ति भाष्यं व्याचष्टे—**तद्गतेति**। समुदायगतकस्यैकत्वस्य समुदायसमुदायिनोरत्यन्तभेदाभावेन, लक्षणया वा समुदाय्यन्वयावधारणादित्यर्थः। यदाग्नेयादीनां समुदायवचनावेताविति समुदायानुवादप्रयोजनाङ्गाङ्गिभावाभिधानार्थादुत्तरभाष्यात्पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः समुदायवाचित्वशङ्कां निराकर्तुमाह—**समुदायीति**। तच्छब्देन समुदायिनः परामृष्टाः। एतदेवोपपाद-

यति—**तथा हीति**। नवं पूर्वेण सम्बद्धय किं त्वित्यद्धयाहारेणोत्तरावयवो योज्यः। श्लोकं व्याचष्टे—**पौर्णमासीमिति**। समुदायस्य च कालयोगाभावात्तन्निमित्तयोर्नाम्नोः समुदायवाचिता न युक्तेत्याह—**न चेति**। 'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेते'त्यत्र समुदायस्य कालयोगमाशङ्क्य, अनयोर्नाम्नोस्तद्वाक्यविहितकालयोगनिमित्तत्वेन नामप्रवृत्तौ सत्याम्, तन्नामकानां यागानां कालविधिः, कालविधौ च सति नामप्रवृत्तिरितीतरेतराश्रयापत्तेरुत्पत्तिवाक्यविहितकालयोगनिमित्तस्यापि समुदायनामत्वात्फले विधानापत्ते (रितियुक्तेति सूचनायोत्पत्तिशब्दः। समुदायनामत्वेऽवयवानामसाधनत्वापत्तेः प्रत्येकमपूर्वकल्पनप्रमाणाभावाद्धात्वर्थाभेदेन भावनाभेदाभावे सत्यनेकधात्वर्थानुरक्तत्वे चानयोर्दर्शपूर्णमासशब्दैनैतएवाभिधीयन्त इति भाष्यं विरुध्येतेत्याह—**यदि चेति**। समुदाययोश्च फलसाध्यैकैकभावनापत्तेः)[1] कर्मभेदवाचोयुक्तेरभिधेयाभावाद्धिगतार्थत्वं स्यादित्याह—**अत इति**।

तेषामर्थाधिकरणवक्ष्यमाणा च धर्मव्यवस्थापूर्वैक्ये भज्येतेत्याह—**सर्वेति**। एकादशगता तन्त्रावृत्तिचिन्ता, आदिशब्दोक्ता च द्वादशगता प्रसङ्गचिन्ताऽपूर्वैक्ये भज्येतेत्याह—**न चेति**। समस्तान्वये चेतिकर्त्तव्यतायाः प्रत्येकविकारे सौर्यादावतिदेशायोगादैकार्थ्याद्वा नियम्येन पूर्ववद्वा विकारो ही८.१.२८त्यष्टमाधिकरणसिद्धान्तो भज्येतेत्याह—**नन्विति**। दशमान्त्ये च प्राक्सोमादेकपुरोडाशा पौर्णमासी, सान्नाय्यरहितामावास्येति व्यवहारः पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः समुदायवाचित्वे न युज्येतेत्याह—**सहस्रेति**। नवमे च 'त्सरा वा एषा यज्ञस्य, तस्माद्यत्किंचित्प्राचीनमग्नीषोमीयात्तेनोपांशु चरन्तीति उदाहृत्य यज्ञभागधर्मोवैत दुपांशुत्वम्, पदार्थधर्मो वेति सन्दिग्धे यज्ञस्य फलवत्त्वेन धर्मप्रयुक्तसामर्थ्याद्यज्ञस्य यत्प्राचीनेति व्यवहितेनापि यज्ञशब्देन प्राचीनशब्दस्यान्वयप्रतीतेः श्रुत्या च प्राग्देशवाचीनः प्राचीनशब्दस्य लक्षणया तद्देशपदार्थपरत्वायोगाद्यभागधर्मत्वं पूर्वपक्षयित्वा, प्राचीनशब्दस्य वीप्सा किं चिच्छब्दसमभिव्याहृतयच्छब्दान्वयाद्वीप्सायाश्च बहुविषयत्वेनैकस्मिन्देशेऽनुपपत्तेर्लक्षणयाग्नीषोमीयप्राग्देशपदार्थपरत्वस्यैव न्याय्यत्वात्पदार्थधर्मतेति सिद्धान्तयितुं 'तद्देशानां वा सङ्घातस्याचोदितत्वादि९-१-२५ति सूत्रेऽङ्गप्रधानसङ्घातस्य यज्ञशब्दवाच्यत्वाभावात्साङ्गप्रधानसङ्घातापेक्षया च प्राग्भाविनोऽङ्गजातस्य यज्ञावयवत्वायोगेन प्राचीनयज्ञशब्दान्वयेऽप्यवयवव्यतिरेकजनितषष्ठ्यनुपपत्तेः।' तत्सम्बन्धितयोपांशुत्वस्याचोदितत्वान्न यज्ञभागधर्मतेति वक्ष्यमाणत्वात्, सप्तमान्त्ये च गवामयनिकेषु ज्योतिरादिष्वहस्सु नाम्नैकाहरूपज्योतिरादिधर्मेषु चोदकाच्च द्वादशाहधर्मेषु प्राप्तेषु चोदकबलीयस्त्वाद्द्वादशाहधर्माः कार्या, नामबलीयस्त्वाद्वैकाहधर्मा इति सन्दिग्धे प्रत्येकं फलसाधनत्वाभावेन नामावगतप्रात्यात्मिकधर्म्मानाकाङ्क्षत्वादविरुद्धाधिकधर्मातिदेशकत्वे च नामोपपत्तेर्द्वादशाहिकद्वादशोपसत्त्वेकादशिनीविहारदर्शनाभ्यां च लिङ्गाभ्यां चोदकानुग्रहेण द्वादशाहिकधर्मातिदेशे प्राप्ते, फलवाक्यसाधनभूतानामह्नां साहित्यावगमेऽप्युत्पत्तिवाक्येषु प्रत्येकमेव साधनत्वावगमाद्धर्माकाङ्क्षोपपत्तेर्नाम्ना च प्रत्यक्षत्वेनाऽनुमानिकाद्यागत्वाव्यक्त-

१. अयं पाठः प्रक्षिप्तः प्रतिभाति।

चोदितत्वाहर्गणत्वाद्यनेकलिङ्गापेक्षाच्चोदकाद् बलीयस्त्वात् ज्योतिरादिनाम्नां च यागवाचित्वेनाग्निकधर्मातिदेशकत्वायोगादेकाहरूपज्योतिरादिधर्मातिदेशं सिद्धान्तयित्वा लिङ्गं सङ्घातधर्मः स्यात्तदर्थापत्तेर्द्रव्यवदि७-४-१६ति सूत्रेणाहःसङ्घातात्मकस्य गवामयनस्याहःसङ्घातात्मकद्वादशाहकार्यापन्नत्वेन, नीवारादौ व्रीहिधर्मवत्तदीयद्वादशोपसत्त्वैकादशिनीविहारप्राप्तेलिङ्गद्वयोपपत्ति परमतेनोक्तां निराकर्त्तुं न वार्थधर्मत्वात्सङ्घातस्य गुणत्वादि७-४-१७त्यत्र द्वादशशब्देन संख्यावाचितार्थादुक्तस्यापि सङ्घातस्य फलसाधनीभूताहःशब्दोक्तयागविशेषणत्वेन गुणभूतत्वात्साधनत्वाभावेन धर्माग्राहकत्वान्न सङ्घातकार्यापत्त्या धर्मप्राप्तिर्युक्तेति वक्ष्यमाणत्वात्, सूत्रकृतोऽपि समुदायवाचित्वाभावाभिप्रायोऽवगत इत्याह—**सङ्घातस्येति**। यद्यप्यङ्गप्रधानसङ्घातसम्बन्धितयोपांशुत्वस्याचोदितत्वमनेनोक्तम्, तथापि यथाऽङ्गप्रधानानां समुदितानां फलसिद्धिहेतुत्वेऽपि समुदायस्य शब्दवाच्यत्वाभावात्तत्सम्बन्धित्वेनोपांशुत्वस्याचोदनात्, तथा प्रधानानां समुदितानामपि फलसाधनत्वे तत्समुदायस्य शब्दवाच्यत्वाभावेनाऽचोदनेति प्रकृतोपयोगसिद्धेरुदाहृतम्।

कथं तर्हि समुदायवचनावेताविति भाष्यमित्याशङ्क्याह—**तस्मादिति**।

सकृदुच्चरिते चास्मिन्विवक्षैकैव दृश्यत इत्यनेन न्यायेनामेकार्थस्यापि शब्दस्य सकृदुच्चारणेऽनैकार्थपरत्वायोगात्पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोरनेकयागनामत्वायोगशङ्कानिरासार्थं सकृदुच्चरितस्याप्यन्योन्यसापेक्षानेकार्थपरत्वोपपत्त्यै समुदायस्योपलक्षणाख्योपसर्जनत्वोक्त्यर्थत्वेन समुदायो वचनमाग्नेयाद्युक्तावुपलक्षणीकृतो निमित्तमेतयोरिति कृत्यल्युटो बहुलमिति निमित्ते ल्युटं व्युत्पाद्य समुदायवचनशब्दो व्याख्येय इत्याशयः। समुदायशब्दतयेति भाष्यस्य का गतिरित्याशङ्क्याह—**तेषां ञ्चिति**। समुदायिवाचिनोरपि पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोर्वाच्यसमुदायी लक्षितसमुदायगतसंख्याद्वारैकवचनयोगाभिधानार्थं समुदायशब्दतोक्तेत्यर्थः॥ कथं समुदायशब्दत्वोक्त्याऽयमर्थो लभ्यत इत्याशङ्क्य, समुदायापेक्षः शब्दः समुदायशब्द इति शाकपार्थिववन्मध्यमपादलोपिसमासत्वं भाष्यकृतोक्तमिति सूचयितुमाह—**तथा चेति**। नन्वनयोः समुदायवाचित्वाभावे समुदायवाचियूथादिशब्ददृष्टान्तोपादानयुक्तमित्याशङ्क्याह—**यूथेति**। कुलपर्षच्छब्दयोराकृतिवादेऽनुदाहृतत्वादस्त्येव सङ्गतिश्चात्र वृक्षा हि बहवो वनमित्यादिना समुदायोपलक्षितमुदायिवाचिता यूथादिशब्दानां तत्रोक्तेति सूचनार्थं द्विवचनम्। तन्त्राविरोधात्तु तेषां समुदायवाचित्वेऽपि समुदायनिमित्तैकवचनलाभमात्रसाम्याद्दृष्टान्तत्वोपपत्तिः।

यदा त्वित्यनेनोक्ता दर्शपूर्णमासशब्देन त एवाभिधीयन्त इति भाष्यावयवपर्यालोचनयापि समुदायवचनशब्दस्य समुदायिवाचित्वेन तत्पर्यायतया दर्शपूर्णमासशब्दयोसमुदाय्यभिधानत्वार्थत्वं गम्यत इति सूचयितुं वेदे इति भाष्यमर्थतो व्याचष्टे—**एतेनेति**। पौर्णमास्यामावास्याशब्दयोः समुदायिवाचित्वे त्वव्याख्योपपत्तेः समुदायिवाचितैव समुदायवचनशब्देनोक्तेत्याशयः।

तत इति भाष्यं समुदायानुवादप्रयोजनं स्मारयति—**तस्मादिति**। इदमेकमिदं चैकमित्येकत्वद्वयविषयं प्रत्ययमपेक्ष्य द्वित्वोत्पत्तेर्द्वित्वस्य निमित्तकारणं यो द्वित्वेऽनपेक्ष्यमाणत्वादपेक्षाख्य एकत्वद्वयप्रत्ययः। तस्य सिद्धिरित्यर्थः। एतदेव चतुर्थोपान्त्यन्यायाभिधानेनोपपादयितुं तदीयसिद्धान्तसूत्रावयवं तावत्पठति—**यथेति**। न्यायमभिधत्ते—**तद्द्वित्वेति**। पौर्णमास्यमावास्याशब्दोक्तसमुदायद्वित्वानुसारित्वाद्दर्शपूर्णमासशब्दयोः समुदायविषयत्वेऽभिहिते।

ननु द्विवचनान्तत्वमात्रेण पौर्णमास्यमावास्याशब्दविलक्षणयोर्दर्शपूर्णमासशब्दयोस्तत्सम्पादितसमुदायद्वित्वानुसारित्वानवसायात्कथं तद्विषयत्वावगतिरित्याशङ्क्याह—**अस्ति चेत्याद्युक्तम्**। दर्शशब्दस्य विरुद्धलक्षलक्षणया दर्शनविपर्ययादर्शनगमकत्वात्स्पष्टामावास्याविषयत्वप्रतिपत्तिरित्यर्थः। 'शक्यते चे'ति तत्रत्यं भाष्यं पठितम्। दर्शो वा एतयोः पूर्वं इत्युपक्रम्यामावास्या वै सरस्वतीत्युपसंहाराद्दर्शामावास्ययोः सामानाधिकरण्यावगतिः। भाष्यं व्याचष्टे—**तेनेति**। पौनरुक्त्यम् शङ्कते—**ननु चेति**। विद्वद्वाक्ययोः समुदायानुवादत्वे स्थितेऽपि दर्शपूर्णमासशब्दयोरप्रसिद्धार्थत्वाद्यागमात्रग्रहणशङ्कानिरासायैतदधिकरणस्य प्रयोजनाधिकरणं तदिति पौनरुक्त्यं परिहरति—**नैष दोषः**। इति हिशब्दोऽपि शब्दार्थे। पौर्णमास्याधिकरणं विनेज्याधिकरणपूर्वपक्ष एव न स्यादितीज्याधिकरणस्य पौर्णमास्यधिकरणाधीनत्वात्पौर्णमास्यधिकरणप्रयोजनत्वेनारम्भ इत्यर्थः। भाष्योक्तं फलवाक्यस्थद्वित्वसिद्धिप्रयोजनत्वमुपपाद्य, स्वयं कालवाक्यस्थयोस्तृतीयान्तयोः पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोराग्नेयादित्रिकद्वयनामत्वसिद्धिप्रयोजनताप्यस्तीत्याह—**इदमिति**। विद्वद्वाक्याभ्यामनयोः शब्दयोस्त्रिकद्वयनामत्वाकरणे का पौर्णमासी कामावास्येत्यज्ञानान्नैतद्वाक्यविहितस्त्रिकस्य त्रिकस्य कालयोगः सिद्धयतीत्याशयः। वाक्यान्तरैरेवाग्नेयादीनाङ्कालविधानेनैतस्य कालवाक्यस्यानर्थक्यान्नैतद्वाक्यापेक्षितनामनामिसम्बन्धसिद्धिप्रयोजनत्वं विद्वद्वाक्ययोः सम्भवतीत्याशङ्कते—**तत्रेति**। एतद्वाक्यविहितस्त्रिकस्य त्रिकस्य परस्परसहितस्य साङ्गस्य कालयोगो न वाक्यान्तरैः सिद्धयतीति परिहरति—**उच्यत इति**। श्लोकं व्याचष्टे—**उत्पत्तीति**।

परस्परसहितश्चेत्यनेनैकदेशकालकर्तृत्वं मुख्यानामेकशब्दोपदेशात्स्यादि ११-२-१त्येकादशाधिकरणवक्ष्यमाणा प्रधानकालतन्त्रतोक्ता। साङ्गशब्देनाङ्गानि तु विधानत्वात्प्रधानेनोपदिश्येरंस्तस्मादेकदेशत्वमि ११-२-७ति तदन्तरा गर्भिणीन्यायवक्ष्यमाणाङ्गाङ्गानां प्रधानकालतोक्ता। यस्मिन्नित्यनेन तुल्यानां तु यौगपद्यमेकशब्दोपदेशात्स्याद्विशेषग्रहणादि ११-१-५५त्येकादशाधिकरणवक्ष्यमाणस्याङ्गानुष्ठानतन्त्रत्वस्य प्रधानप्रयोगतन्त्रत्वमन्तरेणासिद्धेरर्थाक्षिप्ता प्रधानप्रयोगतन्त्रतोक्ता। कालयोगान्यथात्वप्रयोगान्यथात्वापादकतौत्पत्तिकेत्यनेनोक्ता।

नन्वितरेतरयुक्तानां साङ्गानां च कारणत्वावगमात्तादृशानां कालसंयोगे सति समुदायद्वयस्यापीतरेतरतरसाहित्यापत्तिः कालद्वये प्रयोगः स्यादित्यनिष्टापत्तिं शङ्कते—**ननु चेति**।

पौर्णमासीकालेऽमावास्याख्यसमुदायप्रयोगोऽमावास्याकाले वा पौर्णमास्याख्यसमुदायप्रयोगोऽन्यसाहित्यलभ्यत्वेनोपाधिकत्वादौपाधिकस्य त्वाकाङ्क्षां विना विधानायोगात्कालद्वयप्रयोगे चोत्पत्तिवाक्यविहितैककाल्यविरोधापत्तेर्नास्माद्वाक्यात्प्रयुज्यत इति परिहरति—**अत्रेति**। श्लोकं व्याचष्टे—**अमावास्या हीति**। कालद्वयप्रयोगे व्यवस्थितकालत्वनिमित्तद्विवचनान्तदर्शपूर्णमासशब्दवाच्यत्वायोगाद्यजिविशेषकत्वं न स्यादित्यदर्शत्वमित्यनेन सूचितम्।

ननु फलं भवत् भावयेदनेनेत्थमिति प्रयोगविधिनाङ्गप्रधानयोर्युगपदनुष्ठानविधानात्प्रयोगविधिवशेनैवाङ्गानां प्रधानकालत्वसिद्धेरेतद्वाक्यमनर्थकमित्याशयेनाशङ्कते—**आहेति**। फलभवनकालस्याप्रत्यक्षत्वेनाऽङ्गप्रधानकालपरिच्छेद्यत्वात्प्रधानानां चोत्पत्तिवाक्यालोचनेन प्रत्येकं कालयोगात् षट्सु पौर्णमास्यमावास्यासु प्रयोगावगमात्तावत्कालाबहिर्भावमात्रेणाऽङ्गानां प्रयोगवाक्यावगतप्रधानकालत्वोपपत्तेरेकस्यां पौर्णमास्याममावास्यायां वा साङ्गप्रधानप्रयोगो नैतद्वाक्यं विना लभ्यत इति, वक्ष्यमाणाशयेन परिहरति—**उच्यत इति**। मान्त्रवर्णिकमित्युपहासः। कालस्य प्रयोगाङ्गत्वात्प्रयोगस्य च साङ्गप्रधानविषयत्वादुत्पत्तिवाक्यावगतकालयोगेनैवाङ्गप्रधानयोरेककालत्वावगतेरित्यन्तैककालत्वायोगाच्च सन्निकृष्टकालत्वप्रतीतेर्दूरस्थानामङ्गानामनुपकारित्वावसायादेकस्यां पौर्णमास्याम्, अमावास्यायां वा साङ्गप्रधानप्रयोगोऽस्माद्विनैव लभ्यत इत्याशयेनाशङ्कते—**नन्विति**। उत्पत्तिवाक्यस्थस्य कालस्य प्रयोगाङ्गत्वात्साङ्गप्रधानविषयत्वानवगतेः सन्निकृष्टैरुपकर्त्तव्यमिति विधितोऽनवगमान्न दूरस्थानामनुपकारित्वे किंचित्प्रमाणमस्तीत्याशयेन परिहरति—**सन्निकृष्टैरिति**।

ननु य इष्ट्या पशुना सोमेन वा यजेत सोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां वेत्यनेनैव पश्वादेः सद्यस्कालत्वायाग्नेयादीनां प्रकृतौ पूर्वेद्युरन्वाधानाद्यङ्गविचारितद्वैयहकाल्याद्विकृतिष्वपि तत्प्राप्तेः सद्यस्कालत्वायेष्टिशब्दार्थवानित्याशयेन परस्परसाहित्याङ्गसाहित्ययोः सिद्धेरेतद्वाक्यमनर्थकमित्याशङ्कते—**ननु चेति**। षण्णामप्यनेन साहित्यं स्यान्न त्रिकस्येति परिहरति—**सत्यमिति**। श्लोकं व्याचष्टे—**न तावत्त्रिकस्येति**। रूढित्वप्रदर्शनाय सोमाङ्गेषु दीक्षणीयादीषु दार्शिकपौर्णमासिकविद्ध्यन्तप्रवृत्तेः, सोमेऽपीष्टेर्दर्शपूर्णमास्याख्याया विध्यन्तस्य प्रवृत्तिरिति पूर्वपक्षाभिधानार्थं सूत्रं पठितम्।

नन्वेवं सति पौर्णमास्यमावास्यावाक्याभ्यामेवेष्टप्रयोगसिद्धेरिष्टचेत्यनर्थकं स्यादित्याशङ्क्य—**प्रकृतावित्युक्तम्**। नन्विष्टिवाक्येनेष्टप्रयोगासिद्धावपि, देशवाक्ये त्रिकद्वयस्योत्पत्तिवाक्यावगतकालयोगनिमित्तभिन्नशब्दोपादानेनेतरेतरयोगावगतसाहित्यविवक्षया स्वसमुदायिस्वाङ्गसाहित्यमात्रसिद्धेरिष्टप्रयोगः सेत्स्यतीत्याशङ्कते—**नन्विति**। देशान्वयनिमित्तेन साहित्येन कालान्वयसाहित्यानवगतेर्नैकैकस्य त्रिकस्य साङ्गस्यैककालत्वं सिद्धचतीति परिहरति—**तत्रेति**। श्लोकं व्याचष्टे—**भेदेनापि हीति**। भेदेनापि प्रयुज्यमानानां देशं

प्रतिसाहित्योपपत्तेरितरेतरयोगानुरोधात्कालतन्त्रत्वाभ्युपगमे च षण्णामेवैककाल्यापत्तेरुत्पत्तिवाक्यानुरोधात्त्वितरेतरयोगाविवक्षायामन्योन्यानपेक्षाणां निरङ्गानां च कालयोगापत्तेर्न देशवाक्येनाप्यभिप्रेतप्रयोगसिद्धिरित्यर्थः ।

षट्स्वित्यनेन पूर्वं दृष्टान्तव्याजेनाग्नेयादेः प्रत्येकानुष्ठानापत्तिम्, अङ्गानां च षट्पक्षान्तराले सकृदनुष्ठानापत्तिमुक्तामत्रापि योजयित्वा प्रयोगभेदविधानाभावादिहापि वा कर्मपृथत्कात्तेषां तन्त्रविधानात्साङ्गानामुपदेशः स्यादित्येकादशवक्ष्यमाणप्रतिप्रधानावृत्तिन्यायाभावेऽप्यभ्युपेत्यवादेनाथ वेत्युक्तोत्पत्तिवाक्यावगतस्य पौर्णमासीकालत्वस्यामावास्याकालत्वस्य चैकस्यामपि पौर्णमास्याममावास्यायां वा प्रयोगे विरोधाभावाद्विरुद्धसमुदाययौगपद्यबाधेऽप्यनुपादेयसमदेशान्वयावगतस्वसमुदायियौगपद्यबाधायोगमथ त्वित्यनेनाशङ्क्य तत इत्यनेनैवमप्यावृत्त्योभयसमीपेऽङ्गप्रयोगस्येष्टस्यासिद्धिरित्युक्ते, करणविभक्तिवशेनोभयोरपि समुदाययोरङ्गसामीप्यावगतेस्तत्सम्पत्त्यर्थमावृत्तिम्—**आशङ्क्याथ वेत्युक्तम्** । सकृदृष्टाभ्यां नवम्यां वाङ्गप्रयोगे समुदायद्वयस्य तुल्याङ्गसामीप्यसम्पत्तेरत्यन्तसामीप्यस्य चैकस्मिन्नप्यशक्यत्वान्नावृत्तिसिद्धिरित्याशयः ।

ननु फलवाक्येन साध्यसाधनेतिकर्त्तव्यताविशिष्टभावनाविधायिनाङ्गप्रधानयोर्युगपत्प्रयोगविधानाद्यावता विलम्बेन विनानुष्ठानाशक्तिः ततोऽधिकस्य विलम्बस्य निवारणात्प्रधानकाल एवाङ्गानुष्ठानप्रतीतेरौत्पत्तिककालविरोधाच्च समुदायद्वययौगपद्यानुपपत्तेः कालवाक्याभ्यां विनापीष्टप्रयोगसिद्धिरित्याशङ्क्याह—**अनेनैवेति** । फलवाक्यस्य स्वरूपेण फलविधिमात्रार्थत्वाभ्युपगमादुत्पत्तिविनियोगवाक्यैकवाक्यतया च प्रयोगविधानार्थत्वाभ्युपगमात्फलविधित्वरूपेणेष्टप्रयोगसाधकत्वम्, प्रयोगविधित्वरूपेण वेति विकल्प्य आद्यपक्षेऽयमतिदेशः । एतदेव विवृणोति—**फलस्यापीति** । सिद्धेऽपीत्यपिशब्दस्योत्कर्षो । अन्यस्य वाध्याहारः । प्रयोगपरत्वं विना प्रयोगतन्त्रासाधकत्वात्कालतन्त्रासाधकतेत्याशयः । द्वितीयपक्षाश्रयणेनाशङ्कते—**अथेति** । प्रयोगाविधिमात्रालोचने षण्णामपि युगपदुपादानादिति पूर्वोक्तमेव न्यायेन समुदायद्वययौगपद्यापत्तेस्तस्याश्चौत्पत्तिवाक्यविरोधेन दोषत्वात्तदनुरोधे तु प्रत्येकं कालयुक्तानामित्यादिपूर्वोक्तेनैव न्यायेन प्रत्येकं प्रधानप्रयोगोऽङ्गानां च षट्पक्षान्तराले क्व चिदहनि प्रयोगः, साङ्गस्य वैकैकस्य प्रधानस्य प्रयोगस्त्रिकयोर्वा कालभेदेन प्रयुज्यमानयोरेकस्य कस्य चित्समीपेऽङ्गप्रयोगः, पक्षान्तराले वा क्व चिदहनीत्यत्रापि योजनापत्तेः प्रयोगविधिरूपेणापि नेष्टप्रयोगसिद्धिरित्याशयेन परिहरति—**तत्रापीति** ।

ननु फलभवनकालेऽङ्गप्रधानयोर्युगपदनुष्ठानावगतेस्त्रिकद्वयस्यौत्पत्तिकालविरोधार्थं कालभेदेनानुष्ठाने त्रिकद्वयस्याप्यङ्गयौगपद्याङ्गावृत्तेर्न्याय्यत्वादिष्टप्रयोगसिद्धिरित्याशङ्क्याह—**न चेति** । फलभवनकालेनाङ्गप्रधानकालपरिच्छेदे फलस्वरूपोत्पत्त्या कालान्तरभाविन्यैककाल्यायोगात्फलापूर्वोत्पत्तिकालेन परिच्छेद्यत्वापत्तेः, तस्य च क्षणिकत्वेनाङ्गप्रधानयोरेकक्षणेऽनुष्ठेयताऽऽपद्येत, अङ्गप्रधानकालेनैव तु फलापूर्वोत्पत्तिकालस्य परिच्छेद्यत्वात्तस्य

चाद्यपदार्थारम्भात् प्रभृत्यासमाप्तेरेकत्वादुत्पत्तिवाक्यावगतपौर्णमास्यमावास्याकालालोचनया यावन्तं षट्पक्षपरिमितम्, पक्षपरिमितं वा कालं प्रधानानि व्याप्नुवन्ति, तावतः फलभवन-कालत्वात्तावत्कालत्वात्तावत्कालमध्येऽगङ्गेष्वनुष्ठितेष्वङ्गप्रधानविषययौगपद्यसिद्धेरङ्गावृत्त्यना-क्षेपान्नेष्टप्रयोगसिद्धिरित्यभिधानायाङ्गप्रधानानीत्यङ्गशब्दे प्रयुक्ते, निरङ्गानां प्रधानाना-मुत्पत्तिवाक्ये कालविधानात्कथमङ्गानां प्रधानकालतेत्याशङ्क्य—**प्रयोगेत्युक्तम्** । प्रयोग-विधिविहितस्य साङ्गप्रधानप्रयोगस्यापि कालान्तराश्रवणादौत्पत्तिक एव कालोऽवसीयत-इत्याशयः । प्रत्येकं प्रयोगादियोजनं विवृण्वनुपसंहरतीतीति उत्पत्तिवाक्यमात्रानुरोधे तिसृषु पौर्णमासीषु त्रयाणां, तिसृष्वमावास्यासु त्रयाणां प्रधानानां प्रतिप्रधानमङ्गावृत्तिपक्षे साङ्गानामन्यथा यत्र क्व चनान्तराले चशब्देनाङ्गप्रयोगसूचनाच्छुद्धानामपवर्गः । प्रयोगोत्पत्तिद्वयालोचने द्वयोः पौर्णमास्यमावास्ययोस्त्रिकद्वयप्रयोगोऽङ्गप्रयोगश्चैकसमीपे, पक्षान्तराले वेति योज्यम् । कालवाक्यानर्थक्यपरिहारमुपसंहरति—**तस्मादिति** । काल-वाक्याभ्यामेव तर्हीष्टप्रयोगसिद्धेरुत्पत्तौ कालविध्यानर्थक्यमिति शङ्कते—**नन्विति** । पौर्णमास्यामावास्याशब्दविषयज्ञानं प्रयोजनमित्याशयेन परिहरति—**कथमिति** । एतदेव विवृणोति—**पश्येति** । श्लोकं व्याचष्टे—**पौर्णमासीति** । उपसंहरति—**तस्मादिति** । भाष्यकृतोऽप्येतदेव प्रयोजनमभिमतमिति सूचयितुमाह—**अत एवेति** ॥ ३ ॥

भा० प्र०—पूर्व सूत्र के द्वारा यह निर्णय किया गया है कि क्रिया की आवृत्ति से अपूर्व अर्थात् कर्म का भेद होता है । प्रकृत में उस सामान्य नियम का अपवाद स्वरूप कहा जा रहा है । दर्शपूर्णमास प्रकरण में "यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां च अच्युतो भवति । भावव्रतामग्नीषोमावास्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन् । ताभ्या-मेतमग्नीषोमीयमेकादेशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत् । ऐन्द्रं दध्यमावास्यायामैन्द्रं पयोऽमावा-स्यायाम्, (यह जो आग्नेय पुरोडाश है, वह अमावास्या और पौर्णमासी में अच्युत धर्म वाला होता है, वे अग्नि और सोम देवता ने कहा कि आज्य का ही हमारे लिए उपांशु पौर्णमासी में यजन करें, उन अग्नि और सोम देवता के लिए अग्निषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश पौर्णमास में दिया, इन्द्र देवता वाली दही अमावास्या में होता है, इन्द्र देवता वाला दूध अमावास्या में होता है । तथा आघारमाघारयति, आज्यभागो यजति, स्विष्टकृते समवद्यति, पत्नीसंयजनान् यजति, समिष्टयजुर्जुहोति, य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते, य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते । (आघार की धारा छोड़ता है, दो आज्यों का यजन करता है, स्विष्टकृत् देवता के लिए अवदान करता है, पत्नी संयाजों का यजन करता है, समष्टि यजु का हवन करता है, जो इस प्रकार से जानने वाला पौर्णमास याग करता है जो इस प्रकार जानने वाला अमावस्या याग करता है, तै० सं० २।५।११, २।६२—६) इस वचन में आग्नेय, उपांशुयाज, अग्नीषोमीय, आग्नेय ऐन्द्रदधि एवं ऐन्द्रपयः इन छः यागों का विधान कर पुनः कहा गया है 'य एवं विद्वान् पौर्णमासी यजते, य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते' (तै० सं० २।६।९) जो इस प्रकार जानकर पौर्णमासी याग, जो

इस प्रकार जानकर अमावस्या याग करे, इस स्थल में यह संशय होता है कि पूर्व अधिकरण के समान यहाँ भी क्या 'पौर्णमासी यजते' एवम् अमावस्यां यजते, इन वचनों से विभिन्न कर्मों का विधान होता है, या 'य एवं विद्वान्' इन दो वाक्यों में 'यदाग्नेयः अष्टाकपालः' इत्यादि वचनों से विहित छः यागों का ही अनुवाद किया जाता है ?

इस प्रकार संशय होने पर सिद्धान्त का उल्लेख कर अधिकरण का आरम्भ किया जाता है, "प्रकरणं तु पौर्णमास्याम्" इत्यादि। इस स्थल में "य एवं विद्वान्" इत्यादि विद्वद् वाक्य में अर्थात् विद्वद् शब्द घटित वाक्य में पौर्णमासी एवं अमावस्या संयुक्त प्रकरण प्रतिपाद्य आग्नेयादि छः यागों का ही अनुवाद किया जाता है, किन्तु किसी नवीन याग का विधान नहीं किया जाता है, क्योंकि "रूपावचनात्" इस स्थल में याग के रूप का उल्लेख नहीं है, रूप विहीन याग का विधान मानने पर विधि अनर्थक हो जायगी, क्योंकि, द्रव्य एवं देवता ये याग के दो रूप हैं, द्रव्य और देवता के न रहने पर याग निष्पन्न नहीं हो सकता है, कारण, देवता के उद्देश्य में द्रव्य का त्याग ही याग होने से द्रव्य एवं देवता के न रहने पर याग नहीं हो सकता है। अतः, यह प्रकरण प्रतिपाद्य छः यागों का अनुवाद है, पौर्णमासी एवं अमावस्या ये दो शब्द यथा क्रम में आग्नेय, अग्नीषोम एवं उपांशु, आग्नेय, ऐन्द्रदधि और ऐन्द्रपयः ये तीन-तीन यागों के समुदाय की समष्टि को अनुवाद वचन कहकर उनके आगे विहित एकवचन विभक्ति विरुद्ध नहीं है।

आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक ने इसकी व्याख्या में अच्युत शब्द की व्याख्या आदि का विवेचन किया है—वह उनके शब्दों में ही इस प्रकार है—पृ० ४५०–५१, ४५२–५३।

"पौर्णमास्याम्"—पौर्णमासी शब्दोपलक्षित विद्वद् वाक्य में अर्थात् य एवं विद्वान् इत्यादि वाक्य में "प्रकरणम्"—आरब्ध कर्म समुदाय होगा "रूपावचनात्"—क्योंकि इन यागों में रूप अर्थात् द्रव्य एवं देवता का उल्लेख नहीं है। 'य एवं विद्वान्' इत्यादि वाक्य में प्रकृत अर्थात् पूर्वोद्दिष्ट कर्म का ही विषय नहीं कहा गया है, क्योंकि इसमें याग के रूप जो द्रव्य एवं देवता का उल्लेख नहीं है ॥ ३ ॥

विशेषदर्शनाच्च सर्वेषां[1] समेषु ह्यप्रवृत्तिः स्यात् ॥ ४ ॥

शा० भा०—यदि च सर्वाणि समप्रधानान्यभविष्यन्न विकृतौ प्रयाजा अद्रक्ष्यन्त[2]। दृश्यन्ते तु, प्रयाजे कृष्णलं जुहोति इति। असत्याग्नेयगुणत्वे प्रयाजस्य तन्नोपपद्यते[3]। अतो न सर्वाणि समप्रधानानि[4] ॥ ४ ॥ युक्तिः ॥

---

१. व. पूर्वेषां।
२. ब. अद्रक्ष्यंत। दृश्यंते तु प्रयाजाः।
३. ब. नोपपद्येत।
४. ब. प्रधानानीति।

त० वा०—यदि चैते कर्मान्तरे स्यातम्, तत आघारादीनि समप्रधानानि स्युः। ततश्च "कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वात्फलनियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयस्तद्बन्धनत्वात्" इत्यनेन न्यायेनाऽऽग्नेयादिवत्प्रयाजादीनां करणांशोपनिपाताद्विहितकरणया विकृतिभावनया कथंभावाकाङ्क्षिण्या तत्पूरणासमर्थानामग्रहणात्प्राप्तप्रयाजानुवादेन कृष्णलविधानं नोपपद्येत। तस्मादाग्नेयगुणत्वे[1] प्रयाजादेः कथं स्यादिति, समुदायानुवादौ ॥ ४ ॥

न्या० सु०—यदि चेति भाष्येण समप्राधान्यनिरासार्थत्वेनैतत्सूत्रम्। पूर्वेषां प्राकृतानां प्रयाजादीनां विकृतौ कृष्णलहोमादिविशेषदर्शनान्न सर्वेषां समप्रधान्यमित्येवं व्याख्यातम्। तच्चशब्दात् पूर्वसूत्रोक्तेऽनुवादत्वे हेत्वन्तरसमुच्चयार्थत्वप्रतीतेरयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**यदि चेति**(८–१)। पूर्वपक्षप्रयोजनसमप्राधान्यनिरासद्वारा पूर्वपक्षनिरासेनार्थात्सिद्धान्तसिद्धेश्चशब्दोपपत्तिरित्याशयः। समप्राधान्ये कथं विकृतौ प्रयाजादिदर्शनानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह—**ततश्चेति**। कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वात्फलनियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयस्तद्बन्धनत्वाद्, इत्यष्टमाधिकरणे फलस्य स्वर्गस्य, नियमस्य यावज्जीवतायाः। कर्त्तुः स्वर्गकामस्य, समुदाययोराग्नेयादित्रयसाहित्यात्मकयोर्विकृत्यनन्वये कर्मणः करणभूतस्य विकृतावप्रवृत्तेर्हेतुतया वक्ष्यमाणत्वात्प्रयाजादेरपि करणत्वे सत्यप्रवृत्तिः स्यादित्याशयः। अत इत्युपसंहारभाष्यं सिद्धान्तप्रयोजनोपसंहारार्थत्वेन व्याचष्टे—**तस्मादिति** ॥ ४ ॥

भा० प्र०—इसके अनुवादत्व होने के कारणों का निर्देश करते इस सूत्र की अवतारणा की गई है "विशेषदर्शनात् च सर्वेषाम्" विशेष दृष्ट होने से यह पूर्व उपदिष्ट सभी यागों का अनुवाद है। यदि इसको अनुवाद न माना जाय तो क्या दोष है? इसके समाधान में कहा गया है कि "समेषु हि अप्रवृत्तिः स्यात्" ये दोनों यदि स्वतन्त्र कर्म हो तो समीप में पठित 'आधार' 'आज्यभाग' आदि सभी समान भाव में प्रधान हो सकते हैं। सभी यदि समान है, ऐसी स्थिति में वह इति कर्तव्यता न होने से उसका अतिदेश नहीं हो सकता है, "प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति" (तै० २।३।२) प्रत्येक प्रयाज में कृष्णाल सुवर्णनिर्मित गुञ्जा के परिमाण के दाने का होम करता है, इत्यादि वचनों से सौर्यादि विकृति स्थल में "विकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" के अनुसार उसका अतिदेश किया जाता है, किन्तु जो प्रधान या साधन होता है, उसका अतिदेश नहीं हो सकता है, क्योंकि, विकृति स्थल में 'कथम्' कैसे इस भाव की आकाङ्क्षा होने से इति कर्तव्यता का ही अतिदेश होता है, किन्तु जो प्रधान = जो साधन है, उसके द्वारा उस आकाङ्क्षा की पूर्ति न होने से, उसका अतिदेश नहीं हो सकता है, इसलिए समीप में पठित प्रयाज, अनुयाज आदि प्रधान नहीं है।

---

१. क० आग्नेयादिगुणत्वं।

"विशेष दर्शनात् च" = विशेष दर्शन होने से "सर्वेषाम्" = यह पूर्व में उपदिष्ट सभी यागों का ही अनुवाद है, "समेषु" = सभी समान हैं अर्थात् प्रधान हैं तो "अप्रवृत्तिः स्यात्" = अप्रवृत्ति होती है अर्थात् अतिदेश की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है।

प्रकृतियाग दर्शपौर्णमास में जो गुण कर्म होते हैं, उनका ही 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस अतिदेश से विकृतियागों से प्राप्ति होती है। विकृतियागो प्रधान कर्म का विधान सर्वत्र रहता है, उसकी पूर्णता के लिए जिन सहायक गुण कर्मों की आवश्यकता होती है, वे निर्दिष्ट नहीं रहते हैं, अतः इतिकर्तव्यता की आकाङ्क्षा होती है, उसी आकाङ्क्षा की पूर्ति के लिए प्रकृति के समान विकृति करनी चाहिए से पूर्ण होती है, पूर्वनिर्दिष्ट आग्नेय आदि सभी याग समान प्रधान हो तो प्रयाजयाग भी प्रधान होगा, ऐसी स्थिति में सौर्यादि विकृति यागों में उपस्थिति नहीं होगी किन्तु प्रयाजे प्रयाजे आदि वचनों से प्रयाज याग की सौर्यादि विकृति यागों में उपलब्ध होती है। 'यो ब्रह्मवर्चसकामः स्यात् तस्मा एतं सौर्यं चरुं निर्वपेत्' (तै० सं० २।३।२) ब्रह्मवर्चस् की कामनावाला पुरुष सूर्यदेवतासम्बन्धी चरु से याग करे, इस वाक्य से सौर्ययाग में प्रति प्रयाज कृष्ण का हवन विहित है, प्रधानता होने पर प्रति प्रयाज कृष्णल की आहुति की उपलब्धि नहीं होनी चाहिए ॥ ४ ॥

गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् ॥ ५ ॥

शा० भा०—नैतदस्ति पौर्णमास्यमावास्याशंयुक्तौ समुदायशब्दाविति। किंत्वपूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ। तथा न लक्षणाशब्दो भविष्यति। ननु रूपं नास्ति। वाक्यान्तरेण रूपमवगमिष्यामः[1]—पौर्णमास्यामाग्नेयोऽष्टाकपालो भवतीति। यदेतत्पौर्णमासी नाम कर्म, तस्यैतद् रूपमग्निर्देवता, पुरोडाशो द्रव्यमिति। अत आग्नेयादिभिर्गुणो विधीयत इति ॥ ५ ॥ पूर्वपक्षः ॥

त० वा०—पौर्णमासीमित्येकत्वं प्रातिपदिकार्थगतमेव भविष्यति, न तल्लक्षितसमुदायगतम्। प्रत्यक्षश्रुतश्च यजिर्द्रव्यदेवतासंबन्धात्क्लेशेनानुमातव्यो न भविष्यति। सोऽपि वाऽनेकः तदपूर्वमप्यनेकम्। समुदायानुवादत्वाच्च विधित्वं गुणवत्तरम्। प्रयाजादिदर्शनमपि "यत्र नित्यानुवादवचनानि स्युः" इत्येवं विशिष्टविधानेन वा, प्रकृतिस्थप्रयाजगुणविधिना वा सुपरिहरं मन्यमान एतावेव कर्मविधी, शेषा गुणविधय इत्यरूपतापरिहारमाह—अष्टाकपालादिवाक्येषु पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः कर्मवचनत्वाद्वाक्यसिद्धमेव रूपवत्त्वमिति ॥ ५ ॥

---

१. ब. गच्छामः।

न्या० सु०—नैतदिति भाष्येण सिद्धान्तनिरासार्थतया तुशब्दो व्याख्यातः तत्स्पष्टत्वादव्याख्याय श्रुतिसंयोगव्याख्यानार्थं तथेति भाष्यं व्याचष्टे—**पौर्णमासीति**। स्वयं श्रुतिसंयोगं व्याचष्टे—**प्रत्यक्षेति**। अस्मिन्व्याख्याने श्रुतिसंयोगशब्देन सिद्धान्ते कल्पनागौरवाभिधानात्पूर्वपक्षपक्षे तदभावमाह—**सोऽपि चेति**। नानुमातव्यो भविष्यतीत्यनुषङ्गः। अनेकमित्यत्र नानुमातव्यमिति विपरिणतानुषङ्गः। गुणशब्दं स्वयं तावद्विधित्वेऽधिको गुणोऽस्तीत्येवं व्याचष्टे—**समुदायेति**।

नन्विति भाष्येणारूपत्वेनापूर्वयोः कर्मणोर्विध्यसम्भवं पूर्वसूत्रोक्तमनुभाष्य वाक्यान्तरेणेत्यादिना गुणो-रूपं वाक्यान्तरस्थपौर्णमास्यमावास्याश्रुतिसंयोगादवगम्यतइत्येवमावृत्तश्रुतिसंयोगशब्दसहितो गुणशब्दो रूपत्वपरिहारार्थत्वेन व्याख्यातः तद्व्याचक्षाणोऽस्मिन्नपि पक्षे विद्वद्वाक्ययोर्दर्शपूर्णमासशब्दतात्पर्यावधारणार्थत्वाभावात्तात्पर्यावधारणं च विना लाक्षणिकशब्दप्रवृत्त्ययोगात्, दर्शपूर्णमासशब्दयोराग्नेयवाक्यविहितकर्मद्वयनामत्ववद्विद्वद्वाक्यविहितकर्मद्वयनामत्वस्याप्रसिद्धेर्यजिविशेषकत्वायोगात्, विशेषतश्चास्मिन्पक्षेऽष्टाकपालादिवाक्यैः कालाविधानात्पौर्णमास्यां पौर्णमास्येति वाक्यद्वयविहितकालयोगेन दर्शपूर्णमासशब्दप्रवृत्त्यभ्युपगमापत्तेस्तत्र च तृतीयानिर्देशात्करणकृतयोः पौर्णमास्यमावास्ययोः कालान्वयप्रतीतेः करणत्वस्य च फलवाक्याधीनत्वात्फलवाक्यस्थाभ्यां दर्शपूर्णमासशब्दाभ्यां विद्वद्वाक्यविहितयोः कर्मणोः फलान्वयावगमे करणत्वात्कालान्वयः। कालान्वये सति फलान्वयात्करणत्वावगतिरितीतरेतराश्रयापत्तेर्दर्शपूर्णमासशब्दयोरप्रसिद्धार्थत्वेन यजिविशेषकत्वायोगात्प्रकृतयागमात्रस्य फलान्वयात्समप्राधान्यापत्तेर्विकृतौ प्रयाजादिदर्शनानुपपत्तिरित्याशङ्कां निरस्यति—**प्रयाजादिति**। सप्तमोपान्त्ये सौर्यादौ लौकिकी पार्वणस्थालीपाकेतिकर्तव्यताग्रयणस्थालीपाकादौ इष्टप्रवृत्तित्वेनातिदेष्टव्येति पूर्वपक्षिते, बार्हस्पत्येऽर्द्धं बर्हिषो लुनातीति बर्हिषो लवनदर्शनम्, पितृयज्ञे च न होतारं वृणीतइति होतृवरणनिषेधदर्शनम्, सौर्ये च प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोतीति प्रयाजदर्शनम्, वैदिकेतिकर्तव्यतानतिदेशेन युज्येतेत्याशङ्क्यापि वा न्यायपूर्वत्वाद्यत्र नित्यानुवादवचनानि स्युरि७-४-५ति सूत्रेण यत्र बर्हिर्लवनं प्रत्यक्षविहितम्, तत्रार्द्धविधिः होतृवरणनिषेधो नित्यानुवादः। प्रयाजवाक्यं कृष्णलविशिष्टप्रयाजविधानार्थमिति पूर्वपक्षी परिहरिष्यति। सम्भवमात्रेण त्वत्र प्रकृतिस्थप्रयाजगुणविधिपक्षाभिधानम्।

यद्वावगतार्थविषयत्वाद्वीप्सायाः प्राप्त्याभावेऽनुपपत्तेरस्य वचनोदाहरणत्वं भाष्योक्तं दूषयित्वा, स्वयं प्रकृतिस्थप्रयाजानुवादत्वस्य लक्ष्यमाणत्वात्स्वाभिप्रायेणैतदुक्तम्। आद्यात्पूर्वपक्षात्भेदाभिधानायैतावेवेत्येवकारः। नन्वष्टाकपालादिवाक्येषु पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः कालवाचित्वेन विद्वद्वाक्यविहितकर्मानुवादिशब्दाभावान्न तैरत्र गुणविधिः सम्भवतीत्याशङ्कानिरासार्थं यदिति भाष्यं व्याचष्टे—**अष्टाकपालादीति**॥५॥

भा० प्र०—सिद्धान्ती के अनुसार पौर्णमासी एवं अमावस्या इन दो शब्दों को अनुवाद के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके पूर्वपक्ष के रूप में कहा गया है कि यह

अनुवाद नहीं है वरन् विधि है। द्रव्य और देवता के निर्देश नहीं है, अतः विधि नहीं हो सकती है। यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि "गुणस्तु श्रुतिसंयोगात्" = इस स्थल में "यदग्नये अष्टाकपालः" इस वाक्यान्तर से अग्नि नाम के देवता और अष्टाकपाल रूप (आठ कपाल में संस्कृत पुरोडाश रूप) द्रव्य ये दो गुण पाये जाते हैं, अतः द्रव्य और देवता का गुण विधान है।

"गुणः" = गुण अर्थात् द्रव्य और देवता रूपगुण "तु" = पक्ष परिवर्तन सूचक, 'श्रुतिसंयोगात्' = पौर्णमासी आदि शब्द के साथ संयोग अर्थात् सम्बन्ध होने से पौर्णमासी आदि शब्द के साथ "यदाग्नेयः" इस वाक्य से विहित गुण लब्ध होता है। इसलिए "य एवं विद्वान्" इत्यादि वाक्य में स्वतन्त्र दो कर्मों का किया गया है। यह पूर्वपक्ष है ॥ ५ ॥

चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्राच्चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्येत ॥ ६ ॥

शा० भा०—कर्मचोदना वा आग्नेयादयः स्युः। कुत.? गुणानां युगपच्छासनात्। एकेनैव वाक्येनात्रानेको गुणो विधातुमिष्यते भवता। न च शब्दान्तरेण चोदिते कर्मण्यनेको गुणः परस्परसम्बन्धे चासति शक्यते विधातुम्। कथम्? यदि तावत्पौर्णमास्यामष्टाकपालो भवतीति संबन्धो विवक्षितः, न तदाऽयमर्थोऽष्टाकपालः सत्तयाऽभिसंबध्यत इति। कर्तर्हि? अष्टाकपालः पौर्णमास्याऽभिसंबध्यत इति, तत्र तदा भवतिर्वन्ध्यद्रुते। तदानीमाग्नेय इत्ययमस्यान्तिकादप्युपनिपतितो भवतिसंबन्धाभावान्नानेन संबन्धुमर्हत्यष्टाकपाल[1] आग्नेयो भवतीति। अथाऽऽग्नेयः पौर्णमास्यां भवतीति विवक्ष्यते, तदाऽऽग्नेय पुरोडाशयोरसंबन्ध एव स्यात्। अथ पौर्णमास्यामष्टाकपालस्याऽऽग्नेयता विधीयते। वक्तव्यं[2] केन तस्यामष्टाकपालो विहित इति। अथ तस्यामाग्नेयस्याष्टाकपालता, तथाऽप्येष[3] दोषः। अथ पौर्णमासीत्युभास्यां संबध्येत। परस्परेण द्रव्यदेवतयोरसंबन्ध एव[4] स्यात्। अथ द्रव्यदेवते परस्परेण विशिष्टे सत्यौ पौर्णमास्या संबध्येयातामित्युच्यते। आग्नेयोऽष्टाकपालो यः, स पौर्णमास्यां भवतीति। तस्याऽप्रसिद्धत्वादेतदप्ययुक्तम्। अथ केनचिदग्नये संकल्पितः पौर्णमास्यां विधीयते। तथापि देवताया[5] अविधानाद्रूपाभाव एव। अथाग्निर्देवता भविष्यतीति कश्चिद्ब्रूयात्? स वक्तव्यो मिथश्चानर्थसंबन्ध

१. ब. संबन्ध। २. ब. तत्र वक्तव्यं। ३ ब. तथापि स एव दोषः।
४ ब. एव शब्दो नास्ति। ५. ब. देवताऽविधानात्।

इति, न ह्याग्नेयशब्दोऽनुवादो विधिश्च भवतीति[1]। कल्पयिष्यामो देवतामिति चेत् ? न। असति विधाने देवताया[2] अभावात्। संबन्धिशब्दोऽयं देवतेति। स एवाग्निरष्टाकपालस्य देवता, नाऽऽज्यस्य[3]। तस्मादवश्यमाग्नेयाष्टाकपालसंबन्धो विधातव्यः। स एष यागो भवतीति। तेन पौर्णमासीयागस्यापरो यागः संबन्धी विधीयते। न द्रव्यं देवता वा। न च यागस्य यागान्तरं[4] रूपं भवति। अतो रूपावचनात्पौर्णमास्यमावास्यासंयुक्तौ नापूर्वयोः कर्मणोर्विधातारौ।

यत्तूक्तं[5] पौर्णमास्यमावास्याशब्दौ लक्षणया प्रकृतान्यागाननुवदितुं[6] शक्नुतो नाऽऽञ्जस्येनेति। नैष दोषः। यदाऽऽञ्जस्येन शब्दार्थो नावकल्पते, तदा लक्षणयाऽपि कल्प्यमानः साधुर्भवति। यथा, अग्नौ तिष्ठति, अवटे तिष्ठति[7], अग्निसमीपे, अवटसमीपे तिष्ठतीति भवति संव्यवहारः। लक्षणाऽपि हि लौकिक्येवेति ॥ ६ ॥ उत्तरम् ॥

त० वा०—नैतेऽष्टाकपालादयो गुणविधयः। कुतः ?

प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः।
अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः ॥

कर्मोत्पत्तिवाक्ये हि प्रत्ययो भावनामप्राप्तत्वाद्विधातुमुपक्रमते। सा च यावद्धात्वर्थकारकैर्न परिपूर्यते, तावदनुष्ठातुमयोग्येति, न विधित्वपर्यवसानम्, तत्र भावनात्मांशभूतावगतकारकसामान्यन्यथानुपपत्त्याक्षिप्तविशेषोपलिप्सायां स्ववाक्योच्चारितकारकविभक्त्यन्तपदप्रतीतैर्विशेषैर्भावनामात्राकाङ्क्षिभिर्वाक्यादेव विशेष्यते। प्रतिपदं च यार्वात्कचिद् द्रव्याश्रितं जातिलिङ्गसंख्यादि, तत्सर्वमेकपदोपादानलक्षणश्रुतिप्रतिलब्धविशेषणविशेष्यभावप्रतिपन्नपरस्परशेषशेषित्वंविभक्तिश्रुत्यैव कारकात्मना भावनार्थत्वं प्रतिपद्यते। एवं यावन्ति पदानि संनिकर्षविप्रकर्षस्थानि तानि सर्वाण्यनुषङ्गाधिकरणोक्तेन—मार्गेणानादृत्य संनिकर्षविप्रकर्षौ, युगपत्संनिपतन्ति। ततः सर्वविशेषणविशिष्टामनुष्ठानयोग्यां भावनामासाद्य विधिः समाप्यते। स चैकेनैव प्रयत्नेन तां विशिष्टां विदधातीति नानेकशक्तिकल्पनापत्तिदोषः।

तथा हि— श्रौतव्यापारनानात्वे शब्दानामतिगौरवम्।
एकोक्त्यवसितानां तु नाथाक्षेपो विरुध्यते ॥

---

१. ब. भविष्यतीति। २. ब. देवताभावात्। ३. क. नाग्नेयेन।
४. ब. नचाज्यस्य। क. नाज्यस्य। ५. ब. यदुक्तं। ६. ब. नभिवदितुं।
७. ब. तिष्ठतीति।

विशिष्टायां भावनायामाधाय श्रौतं विधित्वं यद्यन्यत्रापि श्रुत्यैव पुनर्व्याप्रियेत, ततः पुनरुच्चारणदोषवैदिकत्वापत्त्या लभेत । अयं पुनः सकृद्विधाय निवृत्तव्यापारः स्वार्थान्यथानुपपत्त्या सर्वविशेषणेषु प्रत्येकनिष्ठानि विध्यन्तराण्याविर्भावयन् समाम्नायावगतैकरूपापरित्यागेनैवासकृदुच्चारणफले वर्तते ।

विशेषणविधिश्चायं पश्चाद्यद्यपि गम्यते ।
तथाऽपि त्वाकृतिन्यायात्ततः प्रागेव जायते ॥

विशिष्टनिमित्तत्वादर्थापत्तिः पश्चाद्भवन्ती यद्यपि विशेषणविधीनुत्तरकालमवगमयति, तथाऽपि त्वाकृत्यधिकरणन्यायेन विशेषणान्यनुपादाय विशिष्टव्यापारासंभवान्नूनं पूर्वतरं विशेषणविधयो निष्पन्नाः । यतस्तदधीनसिद्धिर्विशिष्टप्रत्ययो दृश्यत इति । तेन बहव एवैते विधय इति प्रत्यक्षार्थापत्तिलब्धा युगपत् क्रमेण वा व्याप्रियन्त इत्यनेकविध्यन्तरप्रसवसमर्थैकविशिष्टविधिप्रसादेनाऽनेकगुणविधानमपूर्वभावनाविधिपक्षे सुलभम्, नेतरत्र । कथम् ?

प्रधानं नीयमानं हि तत्राङ्गान्यपकर्षति ।[1]
अङ्गमाकृष्यमाणं तु नाङ्गान्तरमसंगतेः ॥

यदा हि भावनाऽन्यतः प्राप्ता भवति, तदा तस्याः पिष्टपेषणवत्प्रतिहतशक्तिर्विधायकस्तामविदधानो न तत्संगतार्थानेकविधिव्यापारप्रसवहेतुत्वं प्रतिपद्यते । विशिष्टविधाने ह्यर्थापत्त्या विध्यन्तराणि कल्प्यन्ते । न चात्र तत्संभवतीत्यनुपयुक्तश्रौतव्यापारावस्थ एव प्रत्ययः आनर्थक्यात्तदङ्गेषु इत्यनेन न्यायेन भावनातोऽवतीर्य तत्संबद्धानि कारकाण्युपसर्पति । तत्र यावन्त्येकपदोपात्तैककारकविशेषणानि जातिलिङ्गद्रव्यसंख्यादीनि, तानि विशिष्टभावनाविधिन्यायेनैव तत्कारकाक्षेपात्सर्वाणि विधीयन्त इति, प्राप्तायामपि भावनायामनेकार्थविध्युपपत्तिः ।

यदा त्वनेकपदोपात्तानेककारकोपनिपातो भवति, तदा कारकाणां परस्परसंबन्धाभावात्, तत्तत्पदेष्वप्यसंबध्यमानेषु यद्येकत्र विधिर्गच्छति, तदा नेतरत्र गतो भवति, एवमितरगमनेऽप्यन्यगमनानुपपत्तिः संबन्धात् । एवं च न भावनावदेकेन विहितेनेतरदर्थादाक्षेप्तुं शक्यते । तत्रार्थलभ्यविध्यन्तरप्रसूतावसत्यामेकात्मकः श्रौतो विधिरेकत्रौपक्षीयमाणो यद्यप्यन्यत्राप्यस्तीति कल्प्यते । तन्नासकृदुच्चारणादृते सिध्यतीति पौरुषेयोऽनेकोच्चारणप्रसङ्गः ।

तद्दर्शयति—चोदिते हि—प्राप्ते कर्मणि, तदर्थत्वात्—गुणार्थत्वात्, तस्य तस्य-गुणस्य, विधेये पुनः पुनरुपदिश्येत-उच्चार्येत, प्रत्यय इत्यर्थः । **परस्परसंबन्धे चासति शक्यते विधातुमिति** भाष्यमर्थापत्तिमूलोच्छेदप्रदर्शनार्थम् । लोकेऽपि च यत्प्रधानं राजप्रभृति क्वचिन्नीयते, तदात्मनाऽविनाभूतान्यमात्यादीन्यङ्गान्यप्य-

१. १ क० न्यपि कर्षति ।

शेषाण्याक्षिपति। यदा तु कश्चिद्भृत्यानां क्वचिद्गच्छति, तदा तदसंबन्धीनि भृत्यान्तराणि पदमपि न चलन्ति, तत्रावश्यं प्रयत्नान्तरमास्थेयम्। न च तदेकव्यापारसाध्यमित्यशक्यं सकृच्छ्रुतावुपादातुमिति।

एतमेवार्थं प्रपञ्चयति, यदि हि पौर्णमास्युद्देशेनाष्टाकपालो विधीयते, तदा तत्स्वरूपोत्पत्तिरपि तावदनुक्ता सती क्लेशेन लब्धा, किमुत पदार्थान्तरविधानम्। तदाह—**भवतिसंबन्धाभावान्नानेन संबध्यते। यथाऽऽग्नेयः पौर्णमास्यामित्यत्रापि** स्वरूपोत्पत्तिक्लेशः पूर्वोक्त एव द्रष्टव्य इति, तमप्रदर्श्यैवाष्टाकपालसंबन्धाभावः प्रदर्शितः। एवं पौर्णमासीविशिष्टान्यतरानुवादेऽप्यनूद्यमानस्योत्पत्तिः पौर्णमासीसंबन्धो विधीयमानस्याप्युत्पत्तिरितरेतरसंबन्धश्चेत्यतिगौरवम्। पौर्णमासीपदतन्त्रत्वेऽप्युभयोरुत्पत्तिः कर्तव्या, परस्परं संबन्धश्चेति दोषौ।

न चारुणैकहायनीवत्परस्परनियमसिद्धिः, विशिष्टविधानदोषात्। अतोऽष्टाकपालाननुरक्तया पौर्णमास्याऽऽग्नेयः संबध्यते, तदननुरक्तया वाऽष्टाकपाल इत्यसंबन्धः। एतत्परिहारार्थं परस्परसंबन्धं द्रव्यदेवतयोः प्रथममेव कुर्वन् उभयस्वरूपोत्पत्तिरन्यतरस्य चान्यतरत्र विधानमिति युगपद्विधीयमानपरस्परसंबन्धक्लेशमनुभूय पुनः पौर्णमासीसंबन्धक्लेशः।

तत्परिहारार्थमन्यतः सिद्धं देवतासंबन्धमनूद्य केवलकर्मसंबन्धं दर्शयति—**अथ केन** चिदग्नये संकल्पित इति। तत्र संकल्पितशब्दवशेन केचिदाहुः केनचिदनुष्ठात्रा संकल्पित इति। न त्वेतद्युक्तमिव। अन्येनार्धकर्मणि तदीयस्य हविषो हरणमिति। तस्माद्धि णिजन्तः संकल्पितशब्दः केनचिद्वाक्येन रुक्कामादियुक्तेन विहित इत्यर्थः। तत्राऽऽहाष्टकपालसंबन्धसिद्ध्यर्थं[1] माग्नेयशब्देऽनूद्यमाने पौर्णमासीगतस्य का देवतेति न ज्ञायते, युगपदुपलक्षणविधिकल्पने वाक्यभेद इति। अनेनैव मार्गेणाऽऽकृत्यधिकरणमुखप्रदर्शितैर्वचनव्यक्तिप्रकारैर्वाक्यभेदानन्त्यं प्रपञ्चयितव्यम्। तेनावश्यविधातव्योऽत्र द्रव्यदेवतासंबन्धः। न च स पूर्वप्राप्ते कर्मणि संभवतीति 'गुणश्चापूर्वसंयोग' इति कर्मान्तरत्वम्। कर्मान्तरत्वे च सति तदवस्थं रूपावचनमित्यनुवादता। अतश्च बलादेकवचनलक्षणाद्याश्रयणीयम्।

किं च— न वाऽनन्यक्रियायोगे वाक्यमेतत्समाप्यते।
न च स्वार्थसमाप्तत्वाद्वाक्यान्तरमपेक्षते॥

अष्टाकपालो भवतीति नायं पुरुषव्यापारः। न च पुरोडाशव्यापारमात्रं विधातुं शक्यम्। अभावनाविशेषात्मकत्वात्। तत्रावश्यकल्पनीये पुरुषव्यापारविशेषे यागकल्पनाऽऽपतति। तत्र यद्यपि प्रत्यक्षे लभ्यमाने न युक्तमानुमानिककल्पनम्, तथाऽप्यत्रापरिपूर्णे वाक्ये वाक्यान्तरानपेक्षिणि पौर्णमास्यमावास्यावाक्य-

---

१. क विध्यर्थं।

स्थो यजिरसंनिहित एवेति, नानुमानं प्रतिबध्नाति। अनुमिते च सति "य एवं विद्वान्" इत्यनुवादसरूपत्वादनुवाद एव विज्ञायते। क्रियासामानाधिकरण्याच्च 'यदाग्नेयोऽष्टाकपाल' इत्यादेर्यच्छब्दाद्विलक्षणः कर्तृसमानाधिकरणोऽयं 'य एवं विद्वान्' इत्युपबध्यमानो विधिसामर्थ्यं निरुन्ध्यात्। तथा चोक्तम्—

'क्रियापदैकयोगित्वे यच्छब्दो न रुजेद्विधिम्।
कर्तृयुक्तः स एवान्यप्रापितार्थानुवादकृत्' ॥ इति। ६ ॥

न्या० सु०—चोदनाशब्दव्याख्यानार्थं कर्मचोदनाशब्दं गुणविधित्वनिरासार्थतया व्याचष्टे—**नैत इति**। सूत्रशेषव्याख्यानार्थं कुत इति भाष्यं तात्पर्यतो व्याचष्टे—**कुत इति**। अप्राप्ते कर्मणि दृष्टस्यानेकगुणविधिप्रकारस्य प्राप्ते कर्मण्यसम्भवाभिधानायोत्तरार्द्धं तावद्व्याख्यातुं पीठिकां करोति—**कर्मोत्पत्तीति**। फलाद्यनुपादेयपरे वाक्ये कर्मविधावप्यनेकगुणविध्यसम्भवसूचनायोत्पत्तिशब्दः।

ननु कारकैर्विना भावनाविध्यपर्यवसाने, अग्निहोत्रादिवाक्ये कारकाश्रवणान्न विधिः स्यादित्याशङ्क्याह—**तत्रेति**। आत्मनो निष्पादकत्वेनांशभूततयावगतानि यानि कारकसामान्यानि, तदन्यथानुपपत्त्या कारकविशेषाक्षेपात्स्ववाक्ये कारकाश्रवणेऽपि विधिपर्यवसानं सम्भवतीत्याशयः। अर्थापत्त्या कारकविशेषाक्षेपे तद्वाचिपदार्थक्यमाशङ्क्य—**कारकविभक्त्यन्तेत्युक्तम्**। तत् ईदृशं ह्येकं वाक्यं श्रुतानुमितैकदेशे निष्पन्नमग्नीषोमीयेण पशुना यजेतेति पशुसोमाधिकरणवार्त्तिकवक्ष्यमाणन्यायेनाग्नेयेनाष्टाकपालेन यजेतेत्यादिप्रकारवचनव्यक्त्याश्रयणात्सर्वत्र कारकविभक्त्यन्तताभिप्रेता। यः कश्चिद्विशेषोस्तीत्यनिर्द्धारितविशेषाक्षेपेऽपि विशेषनिर्धारणार्थानि पदान्तराणीत्याशयः। वाक्यादेवेत्यनेन स्ववाक्योच्चारणस्योत्पत्तिशिष्टबलीयस्त्वं प्रयोजनं सूचितम्। विशेष्यते भावनेत्यन्वयः। नन्वेवं सत्यमूर्त्तत्वेन जात्यादेः कारकत्वायोगाद्भावनान्वयो न स्यादित्याशङ्क्याह—**प्रतिपदं चेति**। द्रव्याश्रितत्वेनामूर्त्तस्यापि द्रव्यद्वारा कारकत्वोपपत्तिरुक्ता।

ननु पशुत्वादिजातेरादिशब्दोक्तस्य चारुणादिगुणस्य, अभिक्रमणादिक्रियायाश्च श्रुतिलक्षणद्वारैकशब्दोपादानलक्षणया श्रुत्या लिङ्गसंख्ययोश्चैकपदोपादानलक्षणया श्रुत्या द्रव्यान्वयात् तादर्थ्यप्रतीतेः कथं भावनार्थतेत्याशङ्क्य—**एकेत्युक्तम्**। जात्यादेर्द्रव्येण सह विशेषणविशेष्यभावेऽपि जातिगुणयोः प्रातिपदिकार्थत्वात्प्रातिपदिकार्थकारकत्ववाचिन्या विभक्त्या संख्यायाश्च प्रत्ययार्थत्वेनैकाभिधानलक्षणया श्रुत्या लिङ्गस्यापि टाबादिप्रत्ययार्थत्वात्प्रातिपदिकार्थत्वाद्वा यथासम्भवं कारकत्ववाचिन्याश्रुत्या कारकत्वेन भावनार्थत्वप्रतीतेरभिक्रमणादेश्च धातुसम्बन्धाधिकारविहितणमुल्श्रुत्या धात्वर्थान्तरान्वयाभिधानात्तत्र वीप्सोक्ता। वृत्त्यन्यथानुपपत्त्यवगतसन्निपत्योपकारित्वेन कारकत्वावगत्याभावनार्थत्वप्रतीतेर्न द्रव्यशेषतास्तीत्याशयः। यथा द्रव्यस्य कारकत्वेन भावनार्थत्वान्न जात्यादिशेषता, तथा जात्यादेरपि न द्रव्यशेषतेति परस्परशब्देनोक्तम्।

नन्वेवमपि सन्निकृष्टपदान्वयमात्रेण भावनावैशिष्ट्यसिद्धेर्विप्रकृष्टपदानर्थक्यमित्याशङ्क्याह—**एवमिति**। कारकात्मना भावनार्थतैवैवंशब्देनोक्तां व्याचष्टे—**स चेति**। ननु विशिष्टविधौ विशेषणानामपि विधेयत्वात्कथं नानेकशक्तिकल्पनापत्तिरित्याशङ्क्याह—**तथा हीति**। श्लोकं व्याचष्टे—**विशिष्टायामिति**। ननु विशिष्टविधेः स्वार्थान्यथानुपपत्त्या विशेषणविधिकल्पकत्वे विशेषणे विहिते विशिष्टविधिः विशिष्टे च विहिते विशेषणविधिरितीतरेतराश्रयः स्यादित्याशङ्क्याह—**विशेषणेति**। पश्चात्कल्प्यस्यापि विशेषणविधेः प्राक्प्रवृत्तत्वेनैव कल्प्यत्वान्नेतरेतराश्रयापत्तिरित्याशयः। श्लोकं व्याचष्टे—**विशिष्टेति**। एकस्यानेकशक्तिकल्पनापत्तिपरिहारमुपसंहरति—**तेनेति**। विशेषणविशेष्यविधेरन्योन्यनैरपेक्षणापर्यवसानाद्युगपद्व्यापारो गम्यते। विशेष्यानुवादेन विशेषण विधिना क्रमेण। अप्राप्ते त्वित्युत्तरार्द्धं व्याख्यातमुपसंहरति—**इतीति**।

प्राप्ते कर्मणीति—पूर्वार्द्धं व्याख्यातुमुपक्रमते—**नेति**। एतदेव प्रश्नपूर्वं दृष्टान्तेनोपपादयति—**कथमिति**। श्लोकं व्याख्यास्यन् दार्ष्टान्तिकेऽङ्गाकर्षणन्यायं योजयति—**यदा हीति**। प्रतिघातस्य नित्यमपादानापेक्षत्वात्तस्या इति पञ्चम्यन्तसापेक्षत्वेऽपि समासविघातः प्रधाननयनन्यायस्तत्र नास्तीत्याह—**विशिष्टेति**। ननु प्राप्तं कर्मण्यनेकगुणविधानाशक्ता, अजया क्रीणातीत्यादिष्वनेकजात्यादिविधिः प्राप्ते सोमक्रयादौ न स्यादित्याशङ्क्याह—**तत्रेति**। यथानेककारकविशिष्टभावनाविधिना विशेषणभूतानेककारकविध्याक्षेपः तथानेकजात्यादिविशिष्टकारकविधिना विशेषणभूतानेकजात्यादिविध्याक्षेप इत्यर्थः।

नन्वेवं सत्यनेकस्यापि द्रव्यदेवतारूपस्य कारकस्यैवाग्नेयपदोपादानात्पदान्तरोपात्तस्यापि चाष्टाकपालस्य द्रव्यरूपैककारकत्वात्प्राप्ते कर्मणि विध्युपपत्तिरित्याशङ्क्याह—**यदा त्विति**। एकपदोपात्तस्याप्यनेकस्य कारकस्य परस्परान्वयाभावेनैकविशिष्टेतरविध्ययोगान्नैकयत्नेन विधिः सम्भवतीत्याशयः। एकस्यापि तु कारकस्यानेकपदोपात्तस्यैकयत्नेन विध्यसम्भवेऽनेकपदसम्बद्धमित्यात्राघाराग्निहोत्राधिकरणवार्त्तिके साधयिष्यते। दार्ष्टान्तिकेऽङ्गकर्षणन्यायं योजितमुपसंहरति—**एवं चेति**। अत्रैव सूत्रावयवं योजयति—**तदिति**।

भाष्यकृतां सूत्रानुक्तविशेषणोक्तौ प्रयोजनमाह—**परस्परेति**। दृष्टान्ते श्लोकं व्याचष्टे—**लोकेऽपि चेति**। अमात्येन गन्तव्यमिति सकृदुच्चारणव्यापारे सेनान्यादिगमनहेतुप्रयत्नान्तरोपादानाशक्तेरुच्चारणावृत्तिः स्यादिति दृष्टान्तपर्यवसानम्। श्रुतिशब्दः श्रुतिहेतूच्चारणलक्षणार्थः। यदि तावदित्यादेः स एवाग्निरष्टाकपालस्य नान्यस्येत्यन्तस्य प्राप्ते कर्मण्यनेकगुणविधावुच्चारणावृत्तेर्लक्षणावाक्यभेदाभिधानपरत्वं तावदाह—**एतमिति**। एतदेवावयवशो व्याचिख्यासुर्यदि तावदित्यादिभाष्यं व्याचष्टे—**यदीति**। कर्मान्वयितयाऽष्टाकपालविधौ अष्टाकपालस्वरूपकर्त्तव्यत्वस्यापि क्लेशलभ्यत्वादाग्नेयान्वयरूपार्थान्तरविधानं दूरोत्सादितमित्यर्थः। अर्थान्तरविध्यशक्तौ तदानीमिति भाष्यावयवं योजयति—**तदाहेति**।

अथाग्नेय इति भाष्यं न तदाग्नेयः सत्तया सम्बध्यतइत्यर्थो लभ्यतइत्यनुक्तत्वान्न्यूनमाशङ्क्या—**अथेति**। अथ पौर्णमास्यामित्यथ तस्यामिति च भाष्यद्वयमेकहेलया व्याचष्टे—

एवमिति। केन अष्टाकपालो विहित इत्यनूद्यमानाष्टाकपालोत्पत्तिर्निरस्ता। केन तस्याविहित इति चावृत्त्या तस्य पौर्णमास्यन्वयो निरस्तः। विधीयमानाग्नेयोत्पत्तिनिरासस्तु प्रागवत्सिद्धः। इतरत्राप्यनूद्यमानाग्नेयोत्पत्तिपौर्णमास्यन्वयविधीयमानाष्टाकपालोत्पत्तिनिरासः। स एवोत्पत्तिदेशेऽनेनोक्तः। एवं सत्यपि क्लेशेन तद्विधीनभ्युपगम्य, आग्नेयस्याष्टाकपालस्य वाष्टाकपालेनाग्नेयेन वान्वयविधावतिगौरवं स्यादित्यर्थः।

अथ पौर्णमासीति भाष्यं व्याचष्टे—**पौर्णमासीपदेति**। द्रव्यदेवतोभयस्वरूपकर्त्तव्यता पूर्वोक्तात्रापि योजिता। ननु पौर्णमास्याख्यक्रियान्वयद्वारः परस्परान्वयो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**न चेति**। द्रव्यदेवताविशिष्टपौर्णमासीविधौ सत्युभयविशेषणवशीकारं विनोभयविशिष्टत्वायोगादेकक्रियावशीकारात्परस्परनियमः सिद्धचेत्, तस्य त्वनिष्टत्वेन दुष्टत्वाद्या पौर्णमासीत्यनूद्य तस्यामाग्नेय इत्युक्तेऽष्टाकपालानुरागाप्रतीतेः, तस्यामष्टाकपाल इत्युक्ते चाग्नेयानुरागाप्रतीतेर्न क्रियाद्वारा द्रव्यदेवतयोः परस्परान्वयः सम्भवतीत्यर्थः। अथ द्रव्यदेवते इति भाष्यव्याख्यानपूर्वमथ केन चिदित्याशङ्काभाष्यमवतारयति—**एतदिति**। परस्परासम्बन्धपरिहारार्थं प्रागेव द्रव्यदेवतायाः परस्परसम्बन्धं कुर्वन्नन्यतः सिद्धं द्रव्यस्य देवतासम्बन्धमनूद्येत्युक्तम्।

ननु द्रव्यदेवतान्वयविधिपूर्वककर्मान्वयविध्यभ्युपगमेऽपि, द्रव्यदेवतान्वयसिद्धेरनुवादाभिधानं किमर्थमित्याशङ्क्यान्यतरसम्बन्धितयाऽन्यतरविधिर्द्वयोर्वा युगपदिति विकल्पैर्द्रव्यसम्बन्धितया देवताविधौ, देवतासम्बन्धितया द्रव्यविधौ उभयोर्द्रव्यदेवतयोः स्वरूपविधिः सम्बन्धविधिश्चेति क्लेशे युगपत्त्वितरेतरनैरपेक्ष्येणोभयविधौ परस्परसम्बन्धक्लेशमनुभूय, पौर्णमासीसम्बन्धक्लेशो यः तत्परिहारार्थमित्युक्तमिति, तच्छब्दाक्षिप्तयच्छब्दाध्याहारेणैकग्रन्थतया योज्यम्।

अवतारितभाष्यस्य परव्याख्यामुपन्यासपूर्वकं दूषयति—**तत्रेति**। परस्वहरणमेव तावन्निषिद्धत्वादयुक्तम्, विशेषतो हविषः सुतरामनपवृक्तकर्मण इत्यर्थः।

केन चिदाग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद्रुक्काम इत्यादिवाक्येन विधानात्सङ्कल्पविषयीकारित इत्येवं स्वमतेन व्याचष्टे—**तस्मादिति**। रुक्कामेष्ट्यां विहितस्य पुरोडाशस्य, तत्र त्यक्तस्यान्यत्रात्याज्यत्वेन साधारण्यायोगादाच्छिद्य विधौ च रुक्कामेष्ट्यसिद्ध्यापत्तेः, पौर्णमास्यां विध्ययोगेऽपि पुरोडाशान्तरस्य चाग्निनोपलक्षणायोगेऽपि, योऽष्टाकपालोऽन्यत्राग्नेयतया विहितः, स पौर्णमास्यां भवतीत्यष्टाकपालत्वसाम्यात्पुरोडाशान्तरस्याग्न्युपलक्षितस्य पौर्णमास्यां विधिरित्याशयः।

तथापीति परिहारभाष्यमाग्नेयपदान्वयेनैवाग्निदेवत्यत्वसिद्धेरयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**तत्राहेति**। अष्टाकपालस्य पौर्णमासीसम्बन्धविध्यर्थमुपलक्षणार्थमाग्नेय इति शब्दो वाचकोऽस्येति व्युत्पत्त्याग्नेयशब्दोक्तस्याग्नेयत्वस्यानूद्यमानात्वात्पौर्णमासीगतस्याष्टाकपालस्य नाग्निदेवत्यत्वसिद्धिरित्यर्थः। सिद्ध्यर्थमिति पाठे तूपलक्षणभूताग्निसम्बन्धसिद्ध्यर्थमिति

व्याख्येयम् । अथेति भाष्येणोपलक्षणार्थंत्ववद्विधानार्थंतामप्याग्नेयशब्दस्याशङ्क्य स वक्तव्य इत्यनेन वैश्वदेवशब्दवत्त्वात्सकृदुच्चरितस्याग्नेयादि शब्दस्य विध्यनुवादत्वासम्भवेन परिहृतम् । तद्वयाचष्टे—**युगपदिति** । कल्पयिष्याम इति भाष्येणाष्टाकपालस्य पौर्णमासीयागान्वये विहिते, देवतां विना द्रव्यस्य यागान्वयायोगाद्देवताकाङ्क्षायामुपलक्षणत्वेन बुद्धिस्थस्याग्नेर्देवतात्वकल्पनामाशङ्क्य, नासतीत्यनेन यस्य वाचकं शब्दमुद्दिश्य, स्मृत्वा वा हविस्त्यक्ष्यामीति सङ्कल्पः क्रियते । सा देवता भवतीति विधिशब्दाधिकरणवक्ष्यमाणलक्षणेन त्यज्यमानद्रव्यसम्बन्धापेक्षप्रवृत्तित्वात्मकसम्बन्धिशब्दत्वाद्देवताशब्दस्य गुर्वादिशब्दस्याध्यापनादिक्रियाजन्याध्याप्याद्यवच्छिन्नाध्यापयित्रादिगतातिशयवाचित्वावगतिवत्त्यागोद्देशक्रियाजन्यद्रव्यावच्छिन्नाग्न्यादिगतातिशयवाचित्वावगतेर्विधानं च विनाग्न्यादेर्द्रव्यत्यागोद्देश्यत्वप्रमाणाभावेनोद्देशक्रियाजन्यातिशयभाक्त्वायोगान्नाग्न्युद्देशेन द्रव्यत्यागविधि विनाग्नेर्देवतात्वसिद्धिरित्युक्तम् ।

'तदर्थो यादृशो यत्र देवतात्वेन चोदितः ।
मनागपि ततोऽन्यत्वं देवतेति न गम्यते ॥'

इति स्तुतशस्त्राधिकरणवार्त्तिके व्याख्यातम् । इतीतिकरणेन सूचितम् ।

एवं तर्हि योऽष्टाकपालतयान्यत्राग्नेयो विहितः, सः पौर्णमास्यां भवतीत्यन्यतः सिद्धं देवताया द्रव्यान्वयमनूद्य कर्मान्वयमात्रविधानादवाक्यभेदो भविष्यतीत्याशङ्क्य, कर्मविधिं विना न कथं चिद्वाक्यभेदपरिहारः सम्भवतीति दर्शयितुमाह—**अनेनैवेति** ।

'नियोगेन विकल्पेन द्वे वा सह समुच्चिते ।
सम्बन्धः समुदायो वा विशिष्टावेकयेतरे ॥'

इत्यनेन न्यायेन बहुप्रकारावचनव्यक्तीराशङ्क्य, देवतानुपलक्षितद्रव्यमात्रविधौ, द्रव्यानुपलक्षितदेवतामात्रविधौ वान्यतरपदानर्थक्यापत्तेर्यथा देवतोपलक्षितद्रव्यस्यैव विद्वद्वाक्यविहितकर्मान्वयविधौ विधिं विना देवतानवगतेरुपलक्षणार्थत्वेनोपचरितस्याग्नेयशब्दस्याविधित्वकल्पने, सकृदुच्चरितविध्यनुवादत्वायोगेनोच्चारणवृत्तिलक्षणो वाक्यभेदः तथा द्रव्योपलक्षिताया देवताया एवं विधौ द्रव्यस्यापि विना कर्मान्वयासिद्धेरुपलक्षणार्थस्याष्टाकपालशब्दस्य विधित्वकल्पनेऽपि द्रव्यं वा देवता वा विधीयत इत्यस्मिन्पक्षे विकल्पेनान्यतरस्योपलक्षणार्थस्य विधित्वकल्पनं वाक्यभेदः । द्रव्यं देवता चेति समुच्चयपक्षे स्पष्टो वाक्यभेदः । द्रव्यदेवतासम्बन्धसमुदाययोर्विधौ सम्बन्धो हि विधीयमानः सम्बन्धिनं तावदाक्षिपेद्धात्वर्थे पुनः स विधातव्यः । एवं सम्बन्धी अन्यथासम्बन्धस्यैवं सम्बन्धो शेषः स्यान्न क्रियाया इत्याघाराग्निहोत्राधिकरणवक्ष्यमाणन्यायेन द्रव्यदेवतयोरपि विध्यापत्तेर्वाक्यभेदः । अन्यतरविशिष्टान्यतरविधावपि द्रव्यदेवतयोर्भिन्नकारकत्वात्कारकयोश्चान्योन्यविशेषणविशेष्यभावाभावेनैककारकविशिष्टकारकान्तरविध्ययोगादेकस्वरूपविशिष्टान्तरस्वरूपविध्यभ्युपगमेचान्योन्यविशेषणत्वप्रसङ्गाद्धात्वर्थे पुनः स विधातव्य सम्बन्धीत्यनेन न्यायेन क्रियाङ्गत्वसिद्धयर्थं विशेषणस्यापि विध्यापत्तेर्वाक्यभेदः प्रपञ्चयितव्य इत्यर्थः ।

पौर्णमासीग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वेनामवास्याया अनुवादेनापि द्रव्यदेवताविधानस्य निरस्तत्वात्किं तद्वाग्नेयादिवाक्ये विधीयतइत्याशङ्कायां तस्मादित्यन्तभाष्यं व्याचष्टे—**तेनेति**। विद्वद्वाक्यविहित एव कर्मणि द्रव्यदेवतासम्बन्धो विधीयतामित्याशङ्कानिरासार्थं स एष इति भाष्यं व्याचष्टे—**न चेति**। यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादि(२–३–१४)त्यनेनैव न्यायेन योगं विना द्रव्यदेवतान्वयायोगाद्यागापेक्षायां वाक्यान्तरप्राप्ते यागे द्रव्यदेवतान्वयविधौ सम्बन्धौ विधीयमान इत्याघाराग्निहोत्राधिकरणवार्तिकोक्तन्यायेन द्रव्यदेवतयोरपि विध्यापत्तेर्वाक्यभेदप्रसङ्गादस्मिन्नेव वाक्ये द्रव्यदेवताविशिष्टयागविधानात्स एव यागो भवतीत्यपरोक्षवाचिनैषशब्देन वाक्यान्तरविहितात्परोक्षाद्यागाद्भेदः सूचित इत्याशयः।

एवं तर्ह्याग्नेयादिवाक्यविहितं यागान्तरमेव विद्वद्वाक्यविहितयोर्यागयोः पौर्णमास्यमावास्याशब्दोक्तयोरङ्गत्वेन विधीयमानं रूपं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासार्थं तेनेत्यादिभाष्यं व्याचष्टे—**कर्मान्तरत्वे चेति**। आग्नेयादिवाक्यस्थयोः पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः श्रुत्या कालार्थत्वप्रतीतेर्लक्षणाहेत्वभावाच्चायुक्तमत्याग्नेयादिवाक्यविहितानां यागानां विद्वद्वाक्यविहितयागाङ्गत्वं प्रौढ्याऽभ्युपेत्य यागस्य यागान्तरव्यवच्छिन्नरूपयागप्रत्यायकत्वायोगात् रूपत्वाभावो भाष्यकृतोक्त इत्यवयवव्याख्यया सूचितम्। श्रुत इति सिद्धान्तोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**इतीति**। पूर्वपक्षसूत्रस्थश्रुतिसंयोगशब्दव्याख्यानार्थं तथा न लक्षणाशब्दो भविष्यतीति भाष्येणार्थादुक्तं विद्वद्वाक्यस्थयोः पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोराग्नेयादियागसमुदायपरत्वे लाक्षणिकं दोषं यत्त्वितिभाष्येणानुभाष्य, तत्परिहारार्थं नैष इति भाष्यं व्याचष्टे—**अष्टश्चेति**। एकवचनान्वयाय समुदायलक्षणा श्रुत्यर्थान्वयायोगादगत्याश्रयणीयेत्यर्थः। कालवाचिभ्यां पौर्णमास्यमावास्याशब्दाभ्यां यागलक्षणा त्वत्पक्षेनापि तुल्येति सूचनायादिशब्दः।

यत्तु स्वयं श्रुतिशब्दव्याख्यानार्थं प्रत्यक्षश्रुतश्च यजिर्नं द्रव्यदेवतासम्बन्धाक्लेशेनानुमातव्यो भविष्यतीत्युक्तम्। तत्परिहरति—**किं चेति**। भावनैकविषयत्वाद्विधेर्द्रव्यदेवतान्वयं विदधताग्नेयादिवाक्ये तत्तदवच्छिन्नाया भावनाया एव विधेयत्वादव्यापारस्य च व्यापारान्वयं विना भावनावच्छेदकत्वायोगादपुंव्यापारत्वेन च भवत्युक्तस्य व्यापारस्य पुम्प्रयत्नापरपर्यायभावनावच्छेदकत्वायोगाद्भवत्युक्तक्रियातोऽन्यक्रियायोगाभावे वाक्यासमासंरसमासस्य चार्थाभावेनाऽर्थद्वारवाक्यान्तरान्वयायोगान्न वाक्यान्तरे प्रत्यक्षश्रुतोऽपि च यजिराग्नेयादिवाक्येऽन्वीयतइत्यर्थः। श्लोकं व्याचष्टे—**अष्टाकपाल इति**।

यत्तु स्वयं पूर्वपक्षसूत्रस्थगुणशब्दव्याख्यानार्थं समुदायानुवादत्वाच्च विधित्वं गुणवत्तरमित्युक्तं तत्परिहर्तुमाह—**अनुमिते चेति**। प्रकृतप्रत्यभिज्ञानाद्यच्छब्दोपबन्धेन वाऽनुवादसरूपत्वादनुवादतैवेह गुणवत्तरेत्याशयः। ननु सत्यपि यच्छब्दोपबन्धे यदाग्नेयोऽष्टाकपाल इत्यादिवद्विधिशक्त्याशङ्क्याह—**क्रियेति**। न वलोप इत्यत्र यच्छब्दस्य विधिशक्तिप्रतिबन्धकनिरासात्कथं विद्वद्वाक्ययोरनुवादसरूपता। यादृशी क्रिया तां कुर्यादिति क्रियारूपानुवादेऽपि कर्तव्यत्वाननुवादत्वेन क्रियासमानाधिकरणस्य यच्छब्दस्य विधिशक्त्य-

प्रतिबन्धकत्वेऽपि कर्तृसमानाधिकरणं कर्त्तृव्यत्वानुवादित्वाद्विधिशक्तिं प्रतिबध्नातीत्याशयः। वृद्धवाक्येनैतदेव द्रढयति—तथा चेति। रुजेर्नाशापरपर्यायभङ्गवाचित्वान्न नाशयेदित्यर्थः ॥६॥

भा० प्र०—पूर्वपक्षी ने कहा है कि "यदाग्नेयः अष्टाकपालः" इस वाक्यान्तर में द्रव्यदेवतारूप गुण का विधान होने से "य एवं विद्वान्" यह विद्वद् वाक्य अनुवाद नहीं है। वरन् स्वतन्त्र कर्म का ही विधायक है। इस आपत्ति के उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि "चोदना वा" "यदाग्नेयः", "अष्टाकपालः" इत्यादि श्रुतिवाक्य में कर्म चोदना अर्थात् अनुपदिष्ट कर्म का विधान किया जाता है। किन्तु "यत् आग्नेयः" इत्यादि वाक्य गुणविधि नहीं है। क्योंकि "गुणानां युगपत् शास्त्रात्" कारण एक साथ अनेक गुणों का शास्त्र अर्थात् प्राप्ति होती है। जो कर्म अन्य वचन से विहित है, उसमें अन्य वचन से एक साथ अनेक गुणों का विधान नहीं हो सकता है। क्योंकि एक साथ अनेक गुणों का विधान मानने पर वाक्यभेद की आपत्ति होगी, जिस स्थल में अप्राप्त कर्म वचन के द्वारा विहित होता एवं अनेक गुणविशिष्ट एक भावना ही विहित होती है। इसी प्रकार विशेषण विधान के बिना विशिष्ट की विधि उपपन्न नहीं होने से द्रव्यगुण आदि अनेक विशेषण रहने पर भी एक ही प्रयत्न में अर्थापत्ति के अधीन उनकी विधि सिद्ध होती है। किन्तु प्रत्येक गुण के विधान के लिए वाक्य की आवृत्ति नहीं करनी पड़ती है, इसलिए अप्राप्त कर्म में अनेक गुणों का विधान दोषावह नहीं है, इस प्रसङ्ग में तन्त्रवार्तिक में कहा गया है कि "अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येक यत्नतः।" अन्य पक्ष में यदि प्राप्त कर्म में अनेक गुणों का विधान किया जाता है अर्थात् जिस स्थल में प्रधान कर्म वचनान्तर से प्राप्त और अन्य वचन के द्वारा उसमें गुणों का विधान किया जाता है तो अनेक गुणों का विधान नहीं हो सकता है। क्योंकि उन स्थलों में भावना का विधान नहीं होता है, क्योंकि वह पूर्व में ही अन्य वचन से विहित होती है, ऐसी स्थिति में गुण का ही विधान होता है। केवल गुण का ही विधान होने से वहाँ विशिष्ट विधि नहीं है। विशिष्ट विधि न होने से विशेषण आदि की अर्थापत्ति के बल से ही विधि होगी—किन्तु यह भी नहीं हो सकती है, अतः एक-एक गुण के विधान के लिए एक-एक वाक्य की कल्पना करनी पड़ेगी और ऐसी स्थिति में वाक्यभेद अपरिहार्य होगा। कारण, एक ही विधायक वाक्य श्रुत होता है। ऐसी स्थिति में सभी गुण परस्पर विशिष्ट होकर विहित होंगे—यह भी नहीं कह सकते हैं। कारण, गुण किसी एक प्रधान का ही विशेषण होता है किन्तु गुणसमूह परस्पर विशिष्ट नहीं हो सकते हैं। इस विषय को "गुणानां च परार्थत्वात् असम्बद्धः समत्वात्" (३।१।२२) के द्वारा कहा जायेगा। इसलिए वाक्यभेद होने से प्राप्त कर्म में अनेक गुणों का विधान नहीं हो सकता है, वरन् भिन्न-भिन्न वाक्य से एक-एक गुण का उपदेश करना होगा। इसीलिए सूत्र में कहा गया है—"चोदिते हि तदर्थत्वात् तस्य तस्य उपदिश्येत"। आचार्य भट्टपाद ने भी कहा है—

"प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः", अतः "यदाग्नेयः" इत्यादि वाक्य से जो अग्नि देवता एवं अष्टाकपाल पुरोडाश द्रव्य इन दो गुणों का विधान होता है—यह कहना युक्तियुक्त नहीं है। इसीलिए याग का रूप जो द्रव्य एवं देवता उनके न रहने पर इस स्थल में विद्वद् वाक्यबोधित पौर्णमासी एवं अमावस्या नामक कर्मों का विधान नहीं हो सकता है।

कुतुहल वृत्तिकार ने कहा है कि "य एवं विद्वान् वाक्यश्रुतं यजेत" इसमें प्रत्ययांश भावना की पुनः-पुनः आवृत्ति कर अग्नि आदि देवता और अष्टाकपाल आदि पुरोडाश को कहना होगा, किससे याग सम्पन्न किया जाय ? अग्नि देवता से याग सिद्ध करें। अष्टाकपाल पुरोडाश से सिद्ध करें, अग्निषोमीय देवता से सिद्ध करें, एकादशकपाल से सिद्ध करें, इत्यादि रूप से कहा जायेगा। एक बार उपदिष्ट भावना की पुनः-पुनः आवृत्ति ठीक नहीं है।

इस सूत्र का विवरण युधिष्ठिर मीमांसक ने कहा है—"चोदना" = कर्मोत्पत्ति विधि, "वा" = पूर्वपक्ष निराश के लिए, "गुणानां युगपच्छास्त्रात्" = गुणों का युगपत् शास्त्र = शासन अर्थात् उपदेश होने से अर्थात् एक वचन से अनेक गुणों का होने से, "हि" = क्योंकि "चोदिते" = पूर्व उपदिष्ट अर्थात् प्राप्त कर्म में, "तदर्थत्वात्" गुणसमूह तदर्थ अर्थात् प्रधान के लिए होने से "तस्य तस्य" = प्रत्येक गुण का विषय, "उपदिश्येत" = भिन्न-भिन्न वाक्य से उपदिष्ट होता, "आग्नेयः अष्टाकपालः" इत्यादि वाक्य में गुण का उपदेश नहीं किया गया है, किन्तु यह अपूर्व विधि है = कर्मोत्पत्ति विधि है, क्योंकि अनेक गुण एक साथ उपदिष्ट होते हैं, यदि गुणविधि रहती तो प्रत्येक गुण का विषय भिन्न-भिन्न विधि के द्वारा उपदिष्ट रहता। यह पूर्व आपत्ति का समाधान ॥ ६ ॥

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥ ७ ॥

शा० भा०—'उग्राणि ह वा एतानि हवींषि अमावास्यायां संभ्रियन्ते, आग्नेयं प्रथमम्। ऐन्द्रे उत्तरे' इति समुच्चयं दर्शयति। आग्नेयादीनां गुणत्वे विकल्पः स्यात्। तत्राऽऽग्नेयं प्रथमम्, ऐन्द्रे उत्तरे द्वे इति व्यपदेशो नावकल्पेन। विकल्पे संभारपौर्वापर्यानुपपत्तिरिति ॥ ७ ॥

त० वा०— एकेष्टिर्ह्यमावास्या सांनाय्यौषधयोस्ततः।
विकल्पे सति संभारपौर्वापर्यं कुतो भवेत् ॥

कर्मभेदे हि भिन्नविषयत्वात्सांनाय्यपुरोडाशसमुच्चये सति संभ्रियन्त इति समस्तसंभरणं प्रथमोत्तराभिधानं चावकल्पते, नान्यथा। प्रथमपक्षे च चतुर्थमप्यपरमस्तीत्युत्तराणीति स्यात् नोत्तरे इति ॥ ७ ॥

न्या० सु०—भाष्यकारीयव्यपदेशशब्दस्य पौर्वापर्यविषयतया व्याख्यानं द्वितीय-पूर्वपक्षनिरासार्थम्, सम्भवविषयत्वोपलक्षणार्थं चेत्याह—एकेष्टिरिति । यद्येको यागोऽमा-वास्यायामिति विग्रहेण द्वितीयपूर्वपक्षनिरासार्थतोक्ता । संहृत्य युगद्भावो-धारणं निष्पादनं पौर्वापर्यं चेति द्वन्द्वैकवद्भावः । यागैक्येऽपि हविर्भेदादुभयोपपत्तिमाशङ्क्य—सान्नाय्ये-त्युक्तम् । यागैक्ये सत्याग्नेयस्यैन्द्रस्य सान्नाय्यस्य दध्नः पयसो वा विकल्पः स्यादित्यर्थः । व्यतिरेकमुखेन श्लोकं व्याचष्टे—कर्मेति । आद्यपूर्वपक्षे पौर्वापर्यविवक्षायां देवतान्वया-विवक्षयेन्द्रत्वविशेषणाविवक्षां मत्वा व्याख्याविभावार्थं स्वयमुत्तरइति । द्विवचनविषयत्वेन व्यपदेशशब्दं व्याचष्टे—प्रथमेति । पूर्वपक्षद्वयेऽपि सर्वेषां समप्राधान्येनाग्नेयादेः प्राधान्यलक्षणसाधकतमत्वरूपतैक्ष्ण्यशब्दवाच्योग्रत्वाभावादुग्रत्वविषयतयापि व्यपदेशव्याख्यानं च शब्दात्सूचितम् ॥ ७ ॥

भा० प्र०—आग्नेय आदि वाक्य में गुणविधि सम्भव नहीं है, इस प्रसङ्ग में अन्य कारण प्रदर्शन किया जा रहा है "उग्रादि ह वा एतानि हवींषि, अमावस्यायां सम्भ्रियन्ते, आग्नेयं प्रथमम्, ऐन्द्रे उत्तरे" (निश्चय ही ये उग्र हवियाँ अमावस्या कर्म में समाहृत होती हैं, जो प्रथम आग्नेय हवि है और जो उत्तर दो ऐन्द्र हवियाँ हैं) इस श्रुति वाक्य में आग्नेय आदि को (तीन को प्रधान कहा गया है, ऐसी स्थिति में इन विधियों को गुणविधि मानने पर इस प्रत्यक्ष श्रुति से बोधित प्रधानता का बोध होगा। आग्नेय आदि विधियाँ यदि गुणविधि होंगी तो इनमें विकल्प मानना पड़ेगा। विकल्प मानने पर एक पक्ष में इनकी अप्राप्ति होगी। इस श्रुति में "आग्नेयं प्रथमम्", "ऐन्द्रे उत्तरे द्वे" इस रूप में पौर्वापर्य का व्यपदेश = व्यवहार किया गया है, अतः पक्ष में इसकी आपत्ति नहीं मानी जा सकती है, क्योंकि, विकल्प मानने पर पक्ष में अप्राप्त होने से पूर्व एवं परभाव से इनका अनुष्ठान नहीं किया जा सकता है, इसलिए आग्नेयादि वाक्यों में गुणविधि नहीं मानी जा सकती है।

"तद्वत्" = प्रधान के समान, "व्यपदेशः च" = उल्लेख किया गया है। आग्नेयादि गुणविधि नहीं हो सकती है, क्योंकि शास्त्र में आग्नेय आदि तीन विधियों का प्रधान के समान उल्लेख किया गया है ॥ ७ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ८ ॥

शा० भा०—लिङ्गं च दृश्यते, चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते, त्रयोदशामावास्यायाम् इति ॥ ८ ॥

इति तृतीये पौर्णमास्यधिकरणम् ॥ ३ ॥

त० वा०—कर्मान्तरपक्षेऽभ्यधिकत्वाद्, गुणविधिपक्षे न्यूनत्वात्त्रयोदश-चतुर्दशत्वानुवादविरोधः। कुतः ?

पौर्णमास्यां यदा तिस्रो द्वे दर्शविषये यदा।
प्रधानाहुतयः सन्ति तदा संख्योपपद्यते॥

तस्मात्समुदायानुवादाविति सिद्धम्।

आह च—

'अरूपत्वाद्विधेयस्य प्रकृते शब्दशक्तितः॥
तत्रैव रूपलाभाच्च समुदायानुवादता'॥ इति। ८॥

(इति तृतीयं पौर्णमास्यधिकरणम्॥ ३॥)

न्या० सु०—पूर्वपक्षद्वयेऽपि श्रुत्यर्थाभ्यां लिङ्गानुपपत्तिमाह—**कर्मान्तरेति**। पञ्च प्रयाजा। द्वावाज्यभागौ, स्विष्टकृत्त्रयोऽनुयाजा इत्याहवनीये यजिचोदिताङ्गाहुतीनामेका-दशसंख्यत्वाद्विद्वाक्ययोः कर्मान्तरविधित्वपक्षे पौर्णमस्यां प्रधानाहुतिचतुष्टात्पञ्चदशसंख्या-पत्तेः अमावास्यायां च प्रधानाहुतित्रित्वाच्चतुर्दशसंख्यापत्तेराधिक्यात् तयोरेव कर्मत्रिधित्व-पक्षे प्रधानाहुत्यैक्येनोभयत्र द्वादशसंख्यापत्तेर्न्यूनत्वाच्छ्रुतसंख्यानुपपत्तिरित्यर्थः।

कर्मैक्यपक्षे न्यायेनाग्नेयादिवाक्यविहितानां प्रधानाहुतीनां विकल्पापत्तावपि, 'दशभिः क्रीणातीति'वच्चतुर्दशत्रयोदशवचनपर्यालोचनया समुच्चयावगमाद्याज्यानुवाक्याक्रमाच्चा-हुतिपौर्वापर्योपपत्तेर्लिङ्गव्यपदेशोपपत्तिमाशङ्क्य, सिद्धान्तपक्षेणानुवादतयाप्युपपन्नस्य चतुर्द-शत्रयोदशवचनस्य विधित्वकल्पनायोगात्, विधित्वे च प्राधान्याहुतीनामेवैतत्संख्यत्वापत्तेर-भ्यासलक्षणापत्तेश्च नैतत्समर्थनं युक्तमिति अनुवादशब्देन सूचितम्।

ननु सिद्धान्तेऽप्यसोमयाजिनः पौर्णमास्याम् अग्नीषोमीयाभावात्, अमावास्यायां च सान्नाय्याभावाल्लिङ्गानुपपत्तिरित्याशयेन पृष्टोत्तरमाह—**कुत इति**। सोमयाजिविषयत्वा-त्पौर्णमास्याम्, अमावास्यायां तु सोमयाजिनः सान्नाय्यद्वयस्य सम्प्रतिपन्नदेवतात्वेनैका-हुतित्वात् असोमयाजिनोऽप्यैन्द्राग्नस्य पुरोडाशस्य सान्नाय्यद्वयस्थाने विधानेनैककर्म्यादिवै-काहुतित्वावगतेः सदाप्रधानाहुतिद्वित्वाल्लिङ्गोपपत्तिरित्याशयः। अधिकरणार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति**। सुखग्रहणार्थं वृद्धानामधिकरणार्थसंग्रहश्लोकं पठति—**आहेति**॥ ८॥

इति तृतीयं पौर्णमास्यधिकरणम्॥

भा० प्र०—आग्नेय आदि वाक्यों से गुण का विधान मानने पर विकल्प की प्राप्ति होगी, किन्तु "चतुर्दशपौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते त्रयोदशामावस्यायामिति" अर्थात् पाँच प्रयाज, तीन अनुयाज, तीन प्रधान याग, (एक आग्नेय पुरोडाश, एक अग्नीषोमीय उपांशु याग, एक अग्नीषोमीय पुरोडाश) दो आज्य याग, एक स्विष्टकृत् इस प्रकार

चौदह। तेरह अमावस्या में पाँच प्रयाज, तीन अनुयाज, दो आज्य भाग, एक स्विष्टकृत् प्रधान याग की दो आहुतियों क्योंकि ऐन्द्रदधि और ऐन्द्र पय का एक देवता होने से एक एवम् आग्नेय पुरोडाश इस प्रकार तेरह आहुतियाँ होती हैं। इस श्रुति वाक्य में द्रव्य आहुतियों का समुच्चय ही उपदिष्ट है। अतः, आग्नेय आदि वाक्यों में गुण का विधान नहीं हो सकता है। इसलिए "य एवं विद्वान्" इत्यादि वाक्यों में अपूर्व अर्थात् अप्राप्त कर्म का विधान नहीं हो सकता है, वरन् ये पूर्व में उपदिष्ट कर्म का ही अनुवाद हैं।

"लिङ्गदर्शनात्" = समुच्चयबोधक लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक वचनदृष्ट होने से "च" = और सातवाँ पौर्णमासी अधिकरण अर्थात् आधारादि एवं आग्नेयादि का अङ्गाङ्गिभाव अधिक ॥ ८ ॥

अथ चतुर्थमुपांशुयाजाधिकरणम्

[४] पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् ॥ ९ ॥ पू०

शा० भा०—जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशावुपांशुयाजमन्तरा यजति इति। 'विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वायाग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय' इति। तत्र[1] संदेहः उपांशुयाजमन्तरा यजति इति किं विष्ण्वादिगुणकानां प्रकृतानां यागानां समुदायस्य वाचकः, अथ वाऽपूर्वस्य यागस्येति। तत उच्यते पौर्णमासीवदुपांशुयाजो भवितुमर्हति। कुतः? नामसंबन्धात्। नामसंबन्धो[2] हि विशिष्टो यागः श्रूयते उपांशुयाजसंज्ञकः। न[3] च द्रव्यदेवते रूपम्। प्रकृताश्चोपांशुगुणका याग विद्यन्ते[4]। तस्मात्समुदायशब्द इति।

ननूपांशुगुणकं यागान्तरमुपांशुत्वेन रूपेण रूपवद्विधीयते। नैवंजातीयकः शब्द उपांशुविशिष्टं यागं शक्नोति वक्तुम्। उपांशुयाग इति हि तस्य वक्ता। चजोः कुघिण्ण्यतोरिति कुत्वेन भवितव्यम्। अव्युत्पन्नः पुनरुपांशुयाजशब्दः[5]। तस्मान्न रूपवद्यागान्तरम्। अथापि नामसंयुक्तं यजतिसामान्यमेव[6], तथाऽप्यनुपदिष्टदेवताद्रव्यरूपं[7] न यागान्तरं प्रतिपद्येमहि।

नन्वेवं सति प्रकृतानामप्यवाचकः प्राप्नोति। मा भूदुपांशुयाजशब्दो, यजतिशब्दो भविष्यति। तथा सत्युपांशुयाजशब्देऽप्यनुवादत्वादनाज्ञस्येऽपि न दोषः ॥ ९ ॥ पूर्वपक्षः ॥

---

१. ब. अत्र। २. ब. नामसंबंधविशिष्टो। ३. ब. नास्य द्रव्यदेवतेरूपं।
४. ब. विज्ञायंते। ५. ब. अव्युत्पन्नस्तूपांशु। ६. ब. यजिसामान्य।
७. ब. दिष्टेद्रव्यदेवते रूपाभावात्।

भा० वि०—यद्यपि सापवादाभ्यासचिन्तायास्समाप्तत्वात् सङ्ख्यात्तनिमित्त-कर्मभेदः चिन्तनीयः तथापि समुदायानुवादापवादात्मकेनाधिकरणत्रयेणापवादा-पवादः क्रियत इति साधारणी सङ्गतिः। विष्ण्वादिवाक्यैः यागविधावुपांशु-याजत्रयापत्त्या पौर्णमास्यां षोडषाहुत्यापत्तेः लिङ्गदर्शनस्याप्याक्षेपेण पूर्वपक्षो-त्थानादुपांशुयाजचिन्ताया वैशेषिक्यावान्तरसङ्गतिर्द्रष्टव्या। विषयमुदाहरति—**जामित्वाय इति**। प्रकृतकर्मसम्भवासम्भवाभ्यां संशयमाह—**तत्रेति**। सूत्रं व्याकुर्वन् पूर्वपक्षमाह—तव इत्यादिना पौर्णमासीवद्भावस्समुदायानुवादत्वम्।

ननु विष्ण्वादिवाक्येषु विधेयत्वयोग्यस्वप्रधानभूतयागाश्रुतेः प्रकृतयागाभावात् पौर्णमासीवद्भावो न युक्त इति शङ्कते—**कुत इति**। तद्भावमुपपादयति—**नामसम्बन्धादिति**। एतद्विवृणोति—**नामेति**। यात्रासामान्यस्य प्रसिद्धतया-ननुष्ठेयतया चाविधेयस्य नामसम्बन्धायोगात् यागविशेषस्यारूपतयाननुष्ठेयस्य तत्सम्बन्धासम्भवात् विष्ण्वादियात्रसमुदाय एवोपांशुयाजनामविशिष्टोऽनूद्यते इत्यर्थः। अरूपत्वाच्चान्तरावाक्यस्य रूपवत्तया विष्ण्वादिवाक्यविहितयागसमु-दायत्वमेव युक्तमित्याह—**नात्रेति**। विष्ण्वादिवाक्ये तस्य विधिवाचित्वादुप-सर्जनत्वेनापि यागस्यार्थान्निष्कृष्य विधेयत्वोपपत्त्या प्रकृतकर्मसद्भावाच्च तदनुवादत्वमित्याह—**प्रकृतश्चेति**। हेतुत्रयफलमाह—**तस्मादिति**। न च यागत्रयस्योपांशुत्वाद्येकधर्मयोगादेव समुदायीकरणे शक्येऽपि अनुवादस्यानर्थक्य-मिति शक्यम्, अन्यथोपांशुपौर्णमास्या यजन्निति कालवाक्येऽग्नीषोमसङ्कीर्तनात् तद्दैवत्यस्यैव कालान्वये सति विद्वद्वाक्येनानुवादात् फलान्वयेन प्राधान्यावगतेः वैष्णवप्राजापत्ययोरङ्गत्वं स्यात् तत्परिहाराय समुदितानां कालान्वयसिद्धये समुदायानुवादोऽर्थवानिति भावः।

यदुक्तं नात्र द्रव्यदेवतं रूपं तत्र चोदयति—**नन्विति**। न हि द्रव्यदेवतं रूपमिति रूपलक्षणं किन्तु येन यागान्तराद्व्यवच्छिन्नो यागो निरुप्यते तदिति, शङ्क्यते चायमुपांशुत्वेन यागान्तराद्व्यवच्छिन्नः प्रत्येतुमिति तद्वान् विधीयत इत्यर्थः। अवयवार्थाङ्गीकरणेन गुणविधित्वे सति नैवायमुपांशुयाजशब्दः साधुः स्यादिति परिहरति—**नैवं जातीयक इति**। कुत इत्यत आह—**उपांश्विति** तदेव कुतस्तत्राह—**घञोरिति**। घञो ञित्त्वात्तदन्तत्वाच्च याजशब्दस्येति भावः।

ननु कात्यायनोपांशुयाजादिशब्दानां कुत्वनिषेधान्तकुत्वापत्तिरित्याशङ्क्य सूत्रविरोधायाव्युत्पन्ननामधेयविषयतया तद्वचनं व्याख्येयमिति मन्वानः परि-हरति—**अव्युत्पन्ने इति**। यस्मान्नोपांशुयाजशब्दः उपांशुत्वगुणविशिष्टयागविषयः तस्मान्न तेन रूपेण रूपवत्तेति निगमयति—**तस्मादिति**। भवतु तर्ह्यव्युत्पन्न एवायमुपांशुयाजशब्दः। न च विशेषासिद्ध्या नामत्वासम्भवः यागमात्रनामत्वो-

पपत्तिरिति चोदयति—**अथापीति**। इतरव्यावृत्तिप्रयोजनस्य नाम्नो विशेषविषयत्वेन सामान्यविषयत्वासम्भवेऽपि अभ्युपेत्य परामितासिद्ध्या परिहरति—**तथापीति**। ननु त्वयाप्युपांशुयाजशब्दस्य नामधेयत्वाभ्युपगमादवश्यं तत्प्रख्यन्यायेन विष्ण्वादिवाक्यविहितगुणयोगमाश्रित्य प्रसिद्धिरवाप्तव्या, ततश्च तुल्यो ऽसाधुत्वप्रसङ्गस्तवापीति चोदयति—**नन्विति परिहरति—माभूदिति**। अवाचक इत्यस्यात्समासान्निष्कृष्टस्य वाचक इत्यस्यानुषङ्गः तथाप्युपांशुयाजशब्दोऽनर्थकस्तत्राह—**तथा सतीति**।

ननु तस्यापि वाचकत्वेऽसाधुत्वमुक्तं तत्राह—**अनुवादत्वादिति**। विधौ ह्यत्यन्तमाञ्जस्येन कार्यं नानुवादे तस्य यजि प्राप्तानुवादरूपस्य किंचित्सादृश्यानुगमेऽप्यविरोधादिति भावः ॥ ९ ॥

त० वा०—इदानीमधिकरणत्रयेण समुदायानुवादापवादः क्रियते। तत्र 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इति तावत्सकलः प्रागुक्तो न्यायोऽस्ति। कुतः ?

यागान्विष्ण्वादिसंयुक्तैर्विहितान्रूपवत्तया ।
अरूपमन्तरायुक्तमगत्यैवावलम्बते ॥

तेषु तावत् तव्यप्रत्ययेनैकान्तिको विधिः। तत्र यदीदं यागान्तरं कल्प्यते, ततः प्राप्तं रूपाज्ञानम्, अदृष्टान्तरकल्पनं च। किं च।

अजामिकरणं चैषु प्रत्येकमवगम्यते ।
जामिदोषेण चोपांशुयाजोपन्यसनं कृतम् ॥

यथोपक्रममुपसंहाराज्जाम्युपन्यासस्याजामितायाश्चैकविषयत्वादेत एव विधयो गम्यन्ते। न ह्यन्तरालवाक्ये तादृगर्थवादो, विधिर्वा स्पष्टो दृश्यते। समुदायानुवादप्रयोजनं च कथं नाम 'उपांशु पौर्णमास्यां यजन्'[1] इत्यत्रैकीकृतानां कालसंबन्धे सति सर्वेषां प्राधान्यं स्यात्।

ननूपांशुगुणकर्मिति—कथं द्रव्यदेवताव्यतिरिक्तं रूपत्वेनोच्यते। नैष दोषः। सर्वथा येन यागान्तराद्व्यवच्छिन्नो यागो निरूप्यते, तदेव रूपम्। शक्यते चोपांशुत्वेनायं व्यवच्छिन्नरूपः प्रत्येतुमिति। अत आह—**नैवंजातीयकः शब्दः शक्नोतीति**। यदि ह्यवयवार्थभेदेन गुणविधिरयं कल्प्येत, ततो याजशब्दस्य घञन्तत्वादकृतकुत्वस्यासाधुत्वं स्यात्। अव्युत्पन्ननामधेयत्वे तु नैष प्रसङ्गः। नन्वेवं सतोति—नामधेयत्वेऽप्यवश्यं 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' इत्येवं 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' इत्यादिभिर्विहितं तद्गुणयोगमाश्रित्य प्रसिद्धिरवाप्तव्या। ततश्च तुल्यो दोष इति।

---

१. क. यजन्तीत्यत्रे।

तत्परिहरति—**मा भूदुपांशुयाजशब्दः, यजतिशब्दो भविष्यतीति।** विधौ ह्यत्यन्तमाञ्जस्येन कार्यम्। नामधेये तु [1]यजिप्राप्तानुवादरूपेण प्रवर्तमाने किंचित्सारूप्यानुगमेऽप्यविरोधः ॥ ९ ॥

अथ चतुर्थमुपांशुयाजाधिकरणम् ॥ ४ ॥

न्या० सु०—ननु सापवादाभ्यासचिन्तायाः समाप्तत्वात्संख्यादिनिमित्ते कर्मभेद चिन्त्ये, मध्ये चितान्तराण्यसङ्गतानीत्याशङ्क्य साधारणी सङ्गतिमाह—**इदानींमिति।** उपांशुयाजाघाराग्निहोत्रपशुसोमवाक्यानां वाक्यान्तरविहितसमुदायानुवादत्वे सत्युपांशुयाजादिकर्मभेदः विधित्वे त्वभेद इति भेदाभेदफलत्वाल्लक्षणसङ्गतिः सूचिता। अधिकरणत्रयमध्येऽप्यस्य प्राथम्यसिद्ध्यै वैशेषिकसङ्गतिसूचनपूर्वकं सूत्रं व्याचक्षाणः पूर्वपक्षमाह—**तत्रेति।** विष्ण्वादिवाक्यैर्यागविधावुपांशुयाजत्रयापत्त्या पौर्णमास्यां षोडशाहुत्त्यापत्तेर्लिङ्गदर्शनाक्षेपेण पूर्वपक्षोत्थानादुपांशुयाजचिन्ताया वैशेषिक्यनन्तरसङ्गतिस्तावच्छब्देन सूचिता। विष्ण्वादिवाक्येषु विधेयत्वयोग्यस्वप्रधानभूतयागाश्रुतेः प्रकृतयागाभावात्पौर्णमासीवद्भावायोगं कुत इति भाष्येणाशङ्क्य नामसम्बन्धादित्यादिना तद्वद्भावोपपादनं कृतं तत्रोपांशुयाजशब्दस्य नामधेयतायाः स्वानभिमतत्वात्संज्ञावच्छेदनिमित्तमुपेक्ष्य, अरूपत्वकृतयागसद्भावनिमित्तं तद्वद्भावं व्याचष्टे—**कुत इति।** श्लोकं व्याचष्टे—**एतेषु तावदिति।** तव्यस्य विधिवाचित्वादुपसर्जनत्वेनापि निर्दिष्टस्य यागस्यार्थान्निष्कृष्य विधेयत्वोपपत्तिसूचनार्थं तव्येत्युक्तम्। यजतीत्यस्य वर्त्तमानापदेशत्वान्नैकान्तिकविधितेति तावच्छब्देन सूचितम्। विष्णवादिवाक्यानां विधित्वाभावेऽप्यन्तरालवाक्ये रूपाज्ञानसाम्यात्ततो न केवलं रूपाज्ञानं किं त्वदृष्टान्तरकल्पनं च प्राप्तमिति योज्यम्।

तैत्तरीयकशाखाया'मुपांशुयाजमन्तरा यजत्यजामित्वाये'त्यन्तरालवाक्येऽप्यजामिकरणार्थं वाददर्शनाद्भाष्यकृतोपेक्षितमपि हेत्वन्तरमुदाहृते वाक्ये तादृगर्थवादादर्शनात्स्वयमाह—**किं चेति।** विष्ण्वादिवाक्येषु प्रत्येकमजामिकरणावगतेस्तदेकविषयत्वेन जामिदोषोक्तेरपि विष्ण्वादिवाक्यविषयस्तुत्यर्थत्वावगमात्तस्याश्चोपक्रमस्थत्वात्तदनुरोधेनोपसंहारस्थास्यापांशुत्वविशिष्टयागविधेरपि विष्ण्वादिवाक्यप्रतिपाद्यताऽवसीयत इत्याशयः। जामिदोषोपक्रमुपन्यसनमित्यर्थः। सहार्थतृतीययोक्तः। श्लोकं व्याचष्टे—**यथोपक्रममिति।** जाम्युपन्यासाजामित्वयोरेकविषयत्वेनाजामित्वस्य विष्ण्वादिवाक्योक्तयागविषयत्वाज्जामित्वस्याप्युपक्रमस्थस्य। सन्दिग्धेषु वाक्यशेषादि१-४-त्यनेन न्यायेन तद्विषयत्वावगतेः, रुपसंहारस्थस्य विधेरुपक्रमानुसारित्वस्य न्याय्यत्वादिति, विष्ण्वादियुक्ता एव विधय इत्यर्थः। जामिदोषेण सहोपन्यसनमिति योजनसूचनायोपन्यासशब्दः। समुदायानुवादव्यवहितस्यापि जामित्वस्याऽनुवादेन स्तुतेरनपेक्षितत्वेनाऽसम्बन्धाद्।

---

१. क० यथाप्राप्तानु।

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तेन सः ।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानर्थक्यमकारणम् ॥

इत्यनेन न्यायेनाऽपेक्षावशाद्विधिवाक्यान्वयोऽनेकैरपि चैकस्य तन्त्रेणान्वयो न विरुद्ध इत्याशयः । यागत्रयस्योपांशुत्वाद्येकधर्मयोगात्समुदायाकरणे शक्येऽप्यनुवादानर्थक्यमाशङ्क्याह—**समुदायेति** । अन्यथा कालवाक्येऽग्नीषोमकीर्त्तनात् तद्देवत्यस्योपांशुयाजस्य कालान्वये सति विद्वद्वाक्यस्थेन पौर्णमासीशब्देनानुवादात्फलवाक्यस्थेन पूर्णमासशब्देन फलान्वयात्प्राधान्यावगतेर्वैष्णवप्राजापत्ययोरङ्गत्वं स्यादित्याशयः ।

नन्वित्याशङ्काभाष्यमाक्षिपति—**नन्विति** । समाधत्ते—**नैष इति** । नैवं जातीयक इति परिहारभाष्यमवतारयन् व्याचष्टे—**अत इति** । नाम्नोऽप्युपांशुत्वगुणकयागत्वनिमित्तत्वादकृतकत्वस्य तदवाचकत्वापत्तेः पक्षद्वयसाम्येनादोषत्वशङ्कानिरासार्थमव्युत्पन्नस्त्विति भाष्यं व्याचष्टे—**व्युत्पन्नेति** । नन्वित्याशङ्काभाष्याशयं व्याचष्टे—**नन्विति** । माभूदिति परिहारभाष्याशयमवतारणपूर्वं व्याचष्टे—**तदिति** ॥ ९ ॥

भा० प्र०—पूर्व अधिकरण में समुदायानुवाद प्रदर्शित किया गया है । प्रस्तुत प्रसङ्ग में क्रमशः तीन अधिकरणों में उसी का अपवाद प्रदर्शित किया जा रहा है । श्रुतियों में दर्शपूर्णमास प्रकरण में "जामि वा एतद् यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ उपांशुयाजमन्तरा यजति" । विष्णुरुपांशु यष्टव्याऽवजामित्वाय" (तै० सं० २।६।६) इस यज्ञ में जामि अर्थात् आलस्यकर होता हैं, क्योंकि आगे-आगे निरन्तर क्रम में दो पुरोडाश साध्यकर्म किया जाता है, इसलिए इनमें उपांशुयजि करे । अजामित्व के लिए अर्थात् अनालस्य के लिए अर्थात् जामित्व = आलस्य न होने के लिए उपांशु अर्थात् एकान्त में विष्णु का याग = पूजा करनी चाहिए । अजामिता के लिए प्रजापति का याग करना चाहिए, एवम् अजामिता के लिए अग्नीषोमदेवता का याग करना चाहिए । इस प्रकार एक वाक्य पठित है । यहाँ भी क्या यजति के द्वारा एक बार एवं यष्टव्य के द्वारा तीन बार इस प्रकार चार बार धात्वर्थ का अभ्यास होकर चार भिन्न-भिन्न कर्म होंगे या इस स्थल में "उपांशु याजमन्तरा यजति" इस वाक्य से बोधित "उपांशुयाज" नाम का कर्म पूर्व अधिकरण के पौर्णमासी नाम के कर्म के समान अनुवाद माना जायगा एवं "विष्णुरुपांशुयष्टव्यः" इत्यादि तीन वाक्यों से तीन यागों का विधान होगा—यह संशय होता है ।

इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षियों का कहना है कि "पौर्णमासीवत् उपांशुयाजः स्यात्", अर्थात् "उपांशुयाजमन्तरा यजति" इस वाक्य का उपांशु यांग स्वतन्त्र कर्म नहीं है । वरन् पूर्व अधिकरण में कथित "पौर्णमासी" पद जिस प्रकार अनुवाद है, यह भी उसी प्रकार अनुवाद है । उपांशुयाज यह शब्द नामधेय के समान ही उल्लिखित है, अतः यह अनुवाद है । इसी प्रकार पौर्णमासी शब्द जिस प्रकार अनुवाद है, यह भी उसी तरह परवर्ती "विष्णुरुपांशु यष्टव्यः" इत्यादि तीन वाक्यों में जो तीन याग विहित होते हैं, उन समुदाय

का ही अनुवाद है। क्योंकि, इस स्थल में द्रव्य एवं देवता का निर्देश न होने से याग रूप रहित होगा। "उपांशु याजमन्तरा यजति" इस वाक्य में विधायक आख्यान भी नहीं है। क्योंकि, "यजति" पद लट्लकार का होने से उसके द्वारा विधि बोधित नहीं हो सकती है। अन्य पक्ष में परवर्ती तीन वाक्यों में "यष्टव्य" इस पद में तव्य प्रत्यय रहने से उसका विधायकत्व अवगत होता है, कारण, लिङ् लकार के समान तव्य प्रत्यय भी विधि का बोधक होता है।

"पौर्णमासीवत्" = पौर्णमासी के समान अर्थात् पूर्व अधिकरण में कथित विधिवाक्य का "पौर्णमासीम्" इस पद के समान "उपांशुयाजः स्यात्" = उपांशुयाज होगा अर्थात् "उपांशु याजन्मन्तरा यजति" इस श्रुतिवाक्य में जो उपांशुयाज नामक याग प्रतीत होता है, वह भी पौर्णमासी याग के समान होगा अर्थात् पौर्णमासी याग के समान वह भी स्वतन्त्र याग नहीं है, वरन् अनुवाद मात्र है। पूर्वपक्ष ॥ ९ ॥

चोदना वाऽप्रकृतत्वात् ॥ १०॥ सि०

शा० भा०—कर्मान्तरस्य वाचकः स्यात्, 'उपांशुयाजं यजती'ति। कुतः? प्रकृतानां यागानामभावात्। न चेत्प्रकृता विद्यन्ते, कस्य समुदायं वक्ष्यति। नन्विदानीमेवोक्तं विष्णवादिगुणकाः प्रकृता यागा विद्यन्त इति। न विद्यन्ते। न हि ते विधयो 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' इत्येवमादयः। अर्थवादा हि ते। कथम्? अस्मिन्वाक्ये विध्यन्तरस्य भावात्। 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इत्येतदेतस्मिन् वाक्ये विधीयते। यदीमेऽपि विधीयेरन् भिद्यते[1] तर्हि वाक्यम्। अपि च यागस्य, विष्णवादीनां च संबन्धोऽत्र[2] गम्यते[3]। न च यागस्य विधानम्।

ननु च 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इत्यत्राप्यन्तरालसंबन्धोऽवगम्यते। बाढम्। स तु विधीयते उपांशुत्वादिसंबद्धः। एकं हीदं वाक्यं नानेकं[4] विधातुमर्हति। कथम्? 'जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते' इत्येवमुपक्रममेतद्वाक्यमजामित्वायेत्येवमन्तम्। तस्य मध्ये समाम्नातं विष्णवादिवाक्यम्। तेन संबध्यमानं न वाक्यान्तरं भवितुमर्हति। तस्माद् 'विष्णुरुपांशु यष्टव्य' इत्येवमादयो न विधयः, किं तर्हि? अर्थवादाः। कः पुनरर्थवादः? आग्नेयाग्नीषोमीययोर्निरन्तरं क्रियमाणयोर्जामितादोष उक्तः। तं भिषजितुं 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इति विहितम्। कथं तेन भिषज्ययते[5]। तस्मिन् क्रियमाणे ज्ञायत एव यथा विष्णुर्यष्टव्यः प्रजापतिरग्नीषोमौ वेति। ततश्च[2] व्यवधानादजामिताऽवगम्यत एव। तेनाजामितार्थवादं[6] वक्ष्यामीति विष्णवादिसंबन्धोऽनूद्यते, त्वन्तरालसंबन्धस्यान्यत्प्रयोजनमस्त्यतो विधानात्।

---

१. ब. भिद्येत वाक्यं।　२. ब. यत्र।　३. ब. वाक्येन न यागस्य।
४. ब. भिषज्यते।　५. ब. तत्र।　६. ब. जामितामर्थवादं।

कथं विष्ण्वादयो यष्टव्या इत्यवगम्यते ? यष्टव्यानयष्टव्यान्वा विष्ण्वादीनुपांशुयाजामिष्टवाय संकीर्तयतीति गम्यते ।

तत्र केचित्तावदाहुः-प्राप्ता एवेति । कुतः ? शाखान्तरे विधानादिति । यद्यप्यप्राप्तिः तथाऽप्युपांशुत्वसामान्यात्प्रजापतिदेवता विष्णुश्चेत्यनुवादावेव । उपांशुधर्माणौ हि विष्णुप्रजापती । तस्माद्यत्किंचित्प्राजापत्यं यज्ञे, क्रियते इत्येवमादिसंकीर्तनान्मन्त्रसमाम्नानाच्च विष्णुमप्राप्तमपि प्राप्तमिव वदेत् । अग्नीषोमयोस्तु विधायकमुदाह्रियत एव 'तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव तावुपांशु पौर्णमास्यां यजन्' इति । तस्माद्यागान्तरम् ॥ १० ॥ सि० ॥

भा० वि०—सिद्धान्तमाह—**चोदना वेति**। तत्र चोदनापदं सोपस्कारं व्याचष्टे—**कर्मान्तरस्येति**। यदिदमाग्नेयादिभ्यः कर्मान्तरं चोद्यते तस्येत्यर्थः। न समुदायस्यानुवादक इति परपक्षव्यावृत्त्यर्थः सूत्रे वा शब्दः। प्रश्नपूर्वकं हेतुभागं व्याचष्टे—**कुत इत्यादिना**। विष्ण्वादिवाक्यानामर्थवादत्वेनाविधायकत्वादितिभावः।

ननु प्रकृतानां यागानामभावेऽपि किमिति समुदायं नानुवदिष्यति तत्राह—**न चेदिति**। कस्येति जातावेकवचनम्, परस्त्वविदितपराभिप्रायः स्वोक्तं स्मारयति—**नन्विति**। सिद्धान्ती स्वाभिसन्धिमाविष्कुर्वन् परिहरति—**न विद्यत इति**। तेषामविधित्वे हेतुरर्थवादाहित इति।

ननु विधिवाचितव्यप्रत्ययान्तानामेतेषां कथमर्थवादवादतेति पृच्छति—**कथमिति**। उत्तरम्—**अस्मिन्निति**। तव्यप्रत्ययस्त्वर्हार्थतयापि संभवतीति भावः। किं तद्विध्यन्तरम् ? तदाह—**उपांश्विति**। जामि वा इत्यादिना पुरोडाशयोरन्तराले कस्मिंश्चिदनुष्ठीयमानेदोषसङ्कीर्तनादन्तरालकालयोगिनो विधेयत्वप्रतीतेरित्यर्थः।

नन्वेतेऽपि विष्ण्वादिदेवतायोगात् विधिप्रत्ययसद्भावाच्च विधीयेरन् इति नेत्याह—**यदीति**। विष्ण्वादिवाक्यानामविधायकत्वे हेत्वन्तरमाह—**अपि चेति**। विष्ण्वादिदेवतायागान्वये श्रुत्या विहिते यागोऽर्थाद्देवतां प्रत्युपसर्जनभूतो विधेयः स्यात् तच्चान्तरालवाक्येन श्रौते स्वप्रधाने च यागे विधेये सम्भवत्ययुक्तमित्यर्थः।

नन्वन्तरालवाक्ये स्वप्रधानयागप्रतीतावप्यन्तरालसम्बन्धस्य विधेयत्वप्रतीतेः कथं यागविधित्वमिति चोदयति—**नन्विति**। परिहरति—**बाढमिति**। तुशब्दोऽवधारणे, आदिशब्दोऽन्तरालविषयः सत्युभयत्र गुणसम्बन्धे स एवोपांशुत्वान्तरालसम्बन्धस्तद्विशिष्टो यागो विधीयते न तु देवताविशिष्ट इत्यर्थः। नचैवमुपांशुयाजशब्दस्यासाधुत्वदोषः परपक्षेऽपि समानत्वात्, अनुवादत्वस्य चास्म-

त्पक्षेऽपि यजिविहितयागानुवादत्वेन सम्भवादिति द्रष्टव्यम्, देवताविशिष्टयाग-विधानासम्भवे हेतुरेकं हीति। विष्ण्वादिवाक्यानां विधायकत्वे वाक्यभेददोष-परिहारायान्तरा वाक्यमेव विधायकमित्यर्थः।

नन्वेकवाक्यत्वमेव कथमिति पृच्छति—**कथमिति**। जामितादोषोपक्रमस्य तत्प्रतिसमाधानोपसंहारस्य चैकरूपत्वादिति परिहरति—**जामिवा इति**। उपरि-धारणवाक्यवैषम्यप्रदर्शनाय तेन च संबाध्यमान इत्युक्तम्। एकवाक्यत्वफल-माह—**तस्मादिति**।

ननु विधौ प्रशंसावादोऽर्थवाद इति। नचान्तरालवाक्यविहितं कर्म अनेन प्रशस्यते, तत्कथमर्थवाद इति पृच्छति—**कः पुनरिति**। प्रशंसार्थत्वं दर्शयितुं विधिप्रवृत्तिप्रकारं तावदाह—**आग्नेयाग्नीषोमयोरिति**। जामितादोषापनयन-समर्थं कर्म विधातुमन्तरावाक्यमित्यर्थः। कथं तस्य दोषापनयनसामर्थ्यमिति पृच्छति—**कथमिति**। प्रसिद्धि हि तत्र देवता वैचित्र्यमिति वदता विष्ण्वादि-वाक्येनोत्तरमाह—**तस्मिन्निति**। यथाशब्दयोगात् तथा ज्ञायत एवेति योज्यम्।

ननु देवतावैचित्र्यप्रसिद्धावपि कथं दोषापनयनसामर्थ्यं कर्मणोऽत आह—**तत्र व्यवधानादिति**। सदृशकर्मनैरन्तर्यकृतो हि दोषः स विसदृशदेवताककर्म-व्यवधानात् अपनीयत एव। उपलक्षणं चैतत्। यद्ध्रुवायामाज्यमिति अनिर्दिष्ट-द्रव्यकस्य यागस्य ध्रौवाज्यविधानात् द्रव्यसादृश्यनिमित्तस्य दोषस्येहाशङ्कितत्वाच्च तेन देवतावैचित्र्यकरत्वद्वारेणाजामिकरत्वरूपप्राशस्त्यपरत्वाद्युक्तार्थवादतेति निगमयति—**तेनेति**। एवं विष्ण्वादिवाक्यानामविधायकत्वादन्तरावाक्यमेव विधायकमित्युक्त्वा तस्य विधायकत्वे हेत्वन्तरमाह—**नत्विति**। तुशब्दश्चार्थे। मासमग्निहोत्रं जुहोतीत्यादाविवानुपादेयान्तरालकालान्वयादपि कर्मविधायकतयैव युक्तेत्यर्थः।

ननु विष्ण्वादिवाक्यानामर्थवादत्वे देवताविधित्वाभावात् विष्ण्वादेरप्राप्तत्वे-नानुवादानुपपत्तिरिति शङ्कते—**कथं पुनरिति**। अयष्टव्यत्वेऽपि प्राधान्यगुणयोगा-दुपांशुयाजस्स्तुत्यर्थः यष्टव्यत्वकीर्तनमुपपन्नमिति परिहरति—**यष्टव्यानीति**।

ननु विष्ण्वादिवाक्यानां देवताविधित्वाभावे तद्विधायकाभावा द्विधिं विना च देवताया यागाक्षेपमात्रेणालाभाद्देवताराहित्येनोपांशुयागविधिरवसीयेदेदित्या-शङ्क्याह—**अत्र केचिदिति**। प्रापकं प्रश्नपूर्वकमाह—**कुत इति**। विष्णुर्वास्या-द्धौत्राम्नानादित्यादिना मान्त्रवर्णिकत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्तदेव हौत्रमृग्वेदाख्यं शाखान्तरमित्युच्यते। याज्यानुवाक्यायुगलमन्त्रवर्णेषु विधानात् प्राप्ता इत्यर्थः। प्रत्यक्षविधिप्राप्त्यभावेऽपि उपांशुत्वधर्मसाम्येन लिङ्गेन कल्प्यो या मान्त्रवर्णिको विधिः तेन प्राप्ता इत्याह—**यद्यपीति**। कथं विष्णुप्रजापत्योः उपांशुत्वधर्मकत्वमत

आह—**उपांशुत्वेति**। एवमादिशब्देन प्रजापत्यवाक्यसदृशं वैष्णववाक्यं गृहीतं शाखान्तरभाष्योक्तमेव मान्त्रवर्णिकत्वं विष्णुर्वा स्यादिति सूत्रवक्ष्यमाणद्योतनार्थं पुनराह—**मन्त्राम्नानाच्चेति**। वदेत् अर्थवाद इति शेषः। एवं विष्णुप्रजापत्योः मन्त्रवर्णप्राप्तौ लिङ्गमुक्त्वाग्नीषोमयोरपि मान्त्रवर्णिकत्वे लिङ्गमाह—**अग्नीषोमयोस्त्विति**। तावब्रूतामित्यादि कालविधायके वाक्येऽग्नीषोमयोरनुवादात् मान्त्रवर्णिकी प्राप्तिरनुमीयत इत्यर्थः। सूत्रार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ १० ॥

त० वा०—कर्मचोदना 'उपांशुयाजं यजति' इति, न समुदायानुवादः। कुतः ?

प्रकृतानामसद्भावाद्गम्यते नानुवादता।
यागो विष्ण्वादिसंयुक्तैर्न हि वाक्यैर्विधीयते ॥

यथा वैश्वानरवाक्ये द्वादशकपालेनोपक्रमोपसंहाराभ्यामष्टत्वादय एकवाक्यगमापद्यमानाः पृथग्विधित्वं न प्रतिपन्नाः। तथाऽत्रापि 'जामि वा एतदिति' विध्युपक्रमे दोषसंकीर्तनं कस्यचिद्विधीयमानस्याऽऽकाङ्क्षितं तदपनयनद्वारेण स्तुत्यर्थमिति गम्यते। जामिता च पुरोडाशयोरन्तराले कस्मिंश्चिदविधीयमाने भवतीति, यदन्तरालकालसंयोगेन विधास्यते, तस्याजामिकरत्वं प्रशंसेत्यवधारणादुपांशुयाजमन्तरेत्यस्य स्तुत्यर्हत्वेन ज्ञानाद्विष्ण्वादियुक्तेषु च तदपेक्षिताजामिरूपस्तुतिसंकीर्तनादनपेक्षितं विधित्वमनादृत्य स्तुत्यर्थता गृह्यते। न हि विष्ण्वादिसंयुक्तेष्वन्तरालकालसंयोगोऽस्ति, येनोपक्रमोक्तया जामितया तद्विधिः तद्गतं वा जामित्वं स्तावकतयाऽपेक्षितं संबध्येत। अन्तरालकालसंयुक्तस्य पुनर्विस्पष्टजाम्युपक्रमवाक्यविधानार्हत्वात्, तद्वशेन चेतरेषां स्तावकत्वोपयोगे सति नानेकादृष्टकल्पनानुबन्धिविध्यभ्युपगमो युक्तः।

किं च। विष्ण्वादियागसंबन्धे कृते यागोऽर्थतो भवेत्।
उपसर्जनभूतस्तु श्रौते चैतन्न युज्यते ॥

कर्मोत्पन्नस्तव्यप्रत्ययो यागोपसर्जनविष्ण्वादिप्रधानः तत्रार्थान्निकृष्य यागकर्तव्यता कल्पनीया। न चासौ युज्यते, अन्तरा यजति इत्यनेन प्रत्यक्षप्रधानोपदेशोपपत्तेः। तत्र यद्यपि तावद्विष्ण्वादियुक्तानि पृथग्वाक्यानि भवेयुः। तथाऽपि तस्मिन्नेवाऽन्तरालविहिते यागे देवता विदध्युः, न कर्मान्तराणि[1]। न च देवताऽप्येवंविधैः सम्यगभिधीयते। न ह्येते संप्रदानम्, देवतात्वं वा वदन्ति, किं तर्हि ? कर्मोपसर्जनद्रव्यवचनास्तत्र कर्मशक्तिं प्रधानीकृत्य द्वितीयातुल्यार्थता तावल्लब्धव्या। न च तावता देवतात्वं सिध्यति। त्यागार्थत्वाद्धि यजतेः परमार्थतस्त्यज्य-

---

१. क० कर्माणि।

मानं द्रव्यमेव कर्म भवति। ततस्तेनाऽऽप्यमाना देवता पश्चात्कर्म संपद्यते। तत्र द्विकर्मलक्षणप्रसक्तौ 'समाप्तिः शब्दार्थः ६-२-१' इत्यनेन न्यायेन पूर्वं त्यज्यमानकर्मतिरोधानेन परपूज्यमानकर्माविर्भावादेककर्मत्वावधारणेन संप्रदानत्वशक्तिमभिभूयैव निर्देशो भवति "विष्णुं यजति" "विष्णुर्यष्टव्य" इति। न तु तत्र देवतात्वमभिधीयते। किं तर्हि ? कर्मत्वान्यथानुपपत्तिलक्षणयैव गम्यमानं निश्चीयते।

ननु च यजतेर्देवतापूजात्मकत्वात्, तदीयकर्मदेवताशब्दौ पर्यायावेवेति न वक्तव्यं लक्षणया गम्यत इति। नैष साक्षाद्देवतापूजावचनः। कुतः ?

स्तुतेरपि हि पूजात्वाज्ज्ञायते यजिवाच्यता।
न वाऽतिथिवदेतस्याः पूज्यतेति च वक्ष्यते॥

न हि देवताः स्तुवानस्तत्पूजाव्यापृतोऽपि सन्कश्चिद्यजत इत्युच्यते। रूपासमवायित्वाच्च नातिथिवद्देवता पूज्यमानतां प्रतिपद्यते। न च यजिस्तत्पर इति नवमे वक्ष्यते। दानेन वोपाध्यायादिः पूज्यमानोऽपि न कर्म संपद्यमानो दृष्टः। एवं तर्हि तद्वदेव नित्यं देवतायाः संप्रदानत्वेनैव निर्देशः प्रसज्यते। नैतस्यास्तादृशं संप्रदानत्वमप्यस्ति, [1]प्रतिग्रहीतृत्वाभावात्।

अपि च दृश्यते हि क्वचित्संप्रदाननिर्देशः, योऽदाभ्यं गृहीत्वा, सोमाय यजते इति। सर्वथेयं देवता न वाऽन्यैः संप्रदानैस्तुल्या। न च कर्मभिरसाधारणैर्नैव त्वात्मनो केवलं यजिविषयं कर्म, संप्रदानं वा भवति। तच्चैतस्याः क्रियासाधनत्वात्सप्तमकारकासंभवाच्चैवं कल्प्यते। न हि देवताशब्दवाच्येनाऽऽत्मना धात्वर्थसंबन्धित्वं प्रतिपद्यते। तेन तदुद्देशत्यागांशेन प्रतिग्रहीतृव्यापाराद्विनाऽपि कथंचित्साकल्यकल्पनया संप्रदानं निर्दिश्यते।

यद्वोद्देशगतमाप्यमानत्वं त्यागांशेऽप्यध्यस्य सकलस्य यजेः कर्मत्वेनोच्यते। तेन तत्र संप्रदानत्वनिर्देशः तत्रैतदुक्तं भवति परस्वत्वमिवाऽऽपादयितुं तदुद्देशेन द्रव्यं त्यजेदिति। यत्रापि कर्मनिर्देशः तत्रैषोऽर्थः—त्युक्तुं द्रव्यं देवतामुद्दिशेदिति। तथा च केवलोद्देशव्यापारेषु त्यक्तृत्वरहितेषु यजेति प्रैषो भवति। तदेतदुभयमपि लाक्षणिकम्। तत्रापि संप्रदानत्वं त्यागांशाव्यभिचारित्वादसमस्तात्मकत्वाद् दूषितमपि सत्प्रत्यासन्नतरं देवतात्वस्य। कर्मत्वं तु क्रियान्तरेष्वपि व्याप्तमानत्वसंभवात्सव्याभिचारमिति विप्रकृष्टतरं देवतात्वस्य। न हि तद्देवतात्ववत्सकलं यजिं प्रति कर्मेत्यवधार्यते। परमार्थतः पुनर्देवताशब्देन तद्धितशब्देन वा देवतात्वमभिधीयते, न कारकविभक्त्या कयाचित्। तथा च।

देवतातद्धितोत्पादे न हि पाणिनिना तथा।
इदमग्नय इत्येवं तेन क्रीतमिवोदितम्॥

---

१. क० ग्रहीतृत्वा।

ये हि विभक्तिवाच्या अर्था भवन्ति, तद्विभक्तिसमर्थेभ्य एव तेभ्यस्तद्धित-विधानं दृश्यते, तेन क्रीतम्, तस्मै हितम्, ततः आगतः, तस्यापत्यम्, तत्र भवः इति। न तु देवतायां तस्या इदम्, तामनेन यजतीति वा निर्देशो दृश्यते। कथं तर्हि, सोऽस्य देवता इति। तस्मान्नूनमनन्यवाच्योऽयमर्थ इति गम्यते। ततश्च स्थितमेतन्न 'विष्णुरुपांशु यष्टव्य' इत्यनेन देवताऽप्यभिधीयत इति। तत्र क्लेशेन तां कल्पयित्वा यजिभावना कल्पनीया। ततश्च वरमर्थवादत्वमेवाऽऽश्रितम्। 'अन्तरा यजती'ति तु यद्यप्यन्तरालसंबन्धाविधिपरत्वान्न स्वरूपविधानार्थमित्या-शङ्क्यते[1], तथाऽप्यनन्यगतित्वाद्विशिष्टविधानम्। न हि यथेतरेषामर्थवादत्वे-नार्थवत्ता, तथेह केन चित्प्रकारेण। ननु च समुदायीकरणेनार्थवत्तेत्युक्तम्। यथा नैतेनार्थवत्ता तथाऽन्यार्थदर्शनं व्याचक्षाणा वक्ष्यामः।

किं च।

अन्तरालेऽनुपादेये कर्म तत्र विधीयते।
तादृग्विपरिवृत्तिश्च नेत्युत्पत्तिरपीष्यते॥

यादृशी ह्याख्यातेन स्वप्रधाना पूर्वापरीभूता भावनाऽन्तरालमनुपादेयं प्रत्यु-पात्ता, न तादृशी विष्णुर्यष्टव्य इत्यादिभिरुपस्थाप्यत इति, नोत्पत्तिविधिकल्पना-भङ्गः। तत्र सत्यपीतरेषां कर्मविधित्वे[2] कर्मान्तरं स्यात्। न प्रकृतानुवाद इति मत्वाऽऽह—कर्मान्तरस्य वाचकः स्यादिति। देवतायाः पुनरुपादेयत्वात्कर्मोद्देशेन विधिः संभवतीति, नानुवादबुद्धिरपैति। कर्मविध्यभ्युपगमे तु सत्यपि प्रकृत-सद्भावे तद्रूपाणां प्रकृतानामभावादित्यभिप्रायः।

अथ वा यदिदमाग्नेयादिभ्यः कर्मान्तरं चोद्यते, तस्योपांशुयाजं यजतीत्ययं वाचकः स्यात्, नेतरेषाम्। तस्मादन्तरालानुपादेयत्ववशेनास्यैकान्तिके कर्मविधित्वे सतीतरैरर्थवादैरेव भवितव्यम्। धात्वर्थं चान्यत्र विदधत्प्रत्ययः संनिकृष्ट-वृत्तिर्भविष्यति। **स तु विधीयत उपांशुत्वादिसंबन्ध** इति—उपांशुयाजशब्दं गुणविधिं मन्यते। यत्ववाचकत्वमस्मिन्पक्षे कुत्वप्रसङ्गादिति। तत्रोच्यते। तुल्य-मेतत्त्वत्पक्षे। कुतः ?

वाच्यवाचकसंबन्ध इष्टः शब्दार्थयोः पुरा।
पश्चाद्विध्यनुवादत्वे स्यातां साधारणाश्रये॥

वाच्यवाचकत्वेऽवधारिते, पश्चाद्विधिविधेयत्वम्, अनूद्यानुवादकत्वं वा कल्प्यते। तत्रोभयोरपि वाच्यवाचकसंबन्धः साधारण इति, तद्गतौ गुणदोषावपि साधारणौ। तेन नैको बोधो भवति।

---

१. क. विधानार्थत्व। २. क० काममित्यधिकम्।

स्यादेतत्। अनुवादत्वमवाचकस्यापि कथंचिद् दृष्टं, न विधित्वमिति। तदुच्यते। ममापि हि—

यजिना विहिते यागे याज इत्यनुवादभाक्।
विधिसंबन्ध्युपांशुत्वं न वैतदसमञ्जसम् ॥
न च तत्प्रख्यरूपेण नामैतदुपपद्यते।
विहितं न ह्युपांशुत्वं शास्त्रेणाऽन्येन केनचित् ॥

न तावद्विष्ण्वादियुक्तेन विहितम्, अर्थवादत्वात्। न 'उपांशु पौर्णमास्याम्, इत्यनेन। कालविधिव्यापृतेनाऽनेकविध्यशक्तेः। तस्मादुत्पत्तिस्थेनैव विधीयते। तथा च सूत्रकारो वक्ष्यति—'गुणोपबन्धात्' इति। जामित्वापनयनं च सर्वप्रकारं द्रव्यतः स्वरतो देवतातश्च ज्ञायत एव। यथा विष्णुर्यष्टव्यप्रजापतिरग्नीषोमौ वेति यागे चोदितेऽवश्यंभाविन्यां देवतायामनियमप्रसक्तौ केचिद्विष्ण्वादयः प्राधान्यप्रसिद्धया वैचित्र्यप्रदर्शनार्थं संकीर्त्तिताः। तेन यद्यपि परमार्थेन न यष्टव्याः तथाऽपि स्तुतिपरत्वादुपादानं गुणवादेन कथंचिदुच्यते। शाखान्तरे विधानात्प्राप्ता इति अनुदाहरणादस्फुटमेवमभिधाय, न हि किंचिदसाध्यं स्यात्। न च तस्मिन्सति दशमे 'तद्वच्च देवतायां स्यात्' इत्यादि विचार्य 'विष्णुर्वा स्याद्धौत्राम्नानात्' इत्यादिना मान्त्रवर्णिकत्वं जैमिनिराश्रयिष्यति। यद्यप्यप्राप्तिरिति चेहापि स्वयमेवाऽऽशङ्का दर्शिता। यदप्युक्तमुपांशुधर्मत्वात्प्राप्तौ "तस्माद्यत्किंचित्प्राजापत्यम्" इति तदप्ययुक्तम्। वचनव्यक्तिविपर्यासात्। न ह्येवं वचनं यदुपांशु तत्प्राजापत्यमिति। किं तर्हि। यत्प्राजापत्यं तदुपांश्विति। तेन नोपांशुत्वेन प्राजापत्यता लभ्या। अग्नीषोमयोस्तु विधायकमुदाह्रियत एवेति। एतदपि चतुर्थीतद्धितमन्त्रवर्णात्मकत्वादविधायकम्। यदि हि 'तावग्नीषोमावब्रूतां ततोऽस्माकं किमिति हि विजानन्तो यजमाना न वयं देवतायां प्रवर्तिता इति कल्पयेयुः। कालविधिपरत्वाच्च न देवताऽप्यनेन शक्या विधातुम्। देवतापरत्वे वा कालविधिपरित्यागात्पौर्णमासीशब्देनापि नानूद्येतेति पूर्णमासशब्देनाग्रहणादसति प्रधानत्वेऽङ्गत्वप्रसङ्गः। सूत्रकारेण च दशमेऽमावास्यायामुपांशुयाजमनिच्छतैतदेव पौर्णमासीकालविधिपरत्वेनोपन्यस्तम्।

अत्र समाधिः। मान्त्रवर्णिको देवताविधिरिति स्थितम्। उपांशुयाजक्रमे हि वैष्णवप्राजापत्याग्नीषोमीयानि याज्यापुरोनुवाक्यायुगलान्याम्नायन्ते। तैश्च तुल्यार्थत्वाद्विकल्पमानैः वैकल्पिक्य एव देवताः प्राप्यन्ते। तदेव हौत्रं शाखान्तरमित्याह। आध्वर्यवेऽपि तु क्वचिदस्त्येव याज्यानुवाक्याम्नानं हौत्ररूपेणेति तदभिप्रायं वा शाखान्तरवचनम्। उपांशुधर्मत्वं चा[1]स्यैव द्योतनार्थम्। अन्या हि

---

१. क० वास्यैव।

देवताऽत्रानीयमानाऽऽत्मीयं धर्ममुच्चैष्ट्वं जह्यात्, परधर्ममुपांशुत्वं प्राप्नुयादिति विरुद्धम्। विष्णुप्रजापत्योस्तु प्रत्यासन्नधर्मकत्वादविरोधः। तथा, अग्नीषोमयोस्त्विति—विधायके देवताविध्यसंभवाद्यथा संभवग्रहणेन पौर्णमासीकालस्य विधायकेऽग्नीषोमानुवादः प्राप्तिमुपोद्बलयति ॥ १० ॥

न्या० सु०—सूत्रं व्याचष्टे—**कर्मेति**। विष्ण्वादिसंयुक्तानां भिन्नवाक्यत्वाभावेऽप्यवान्तरपदसङ्घविषयो वाक्यशब्दः। विष्ण्वादिवाक्यानामविधायकत्वं न हीत्यादि भिद्येत वाक्यमित्यन्तभाष्योक्त्या युक्त्योपपादयति—**यथेति**। तथात्रापि न पृथग्विधित्वप्रतिपत्तिरित्यध्याहारेण, नानेकादृष्टकल्पनानुबन्धिविध्यभ्युपगमो युक्त इति व्यवहितान्वयेन वा पूरणीयम्।

ननु 'वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेदित्युपक्रान्ताया वैश्वानरेष्टेर्यस्मिन्जावएतामिष्टिं निर्वपतीत्युपसंहारेणैकवाक्यत्वावगमाद् दृष्टत्वादियुक्तानां शब्दानां पृथग्विधित्वायोगोऽप्यत्र जामित्वोपक्रमादजामित्वोपसंहाराच्चैकवाक्यत्वानवगतेर्न तत्तुल्यतेत्याशङ्क्यैकं हीदं वाक्यमिति भाष्योपपादितमेकवाक्यत्वं प्रपञ्चयितुम्—**जामि वा इत्युक्तम्**। सोदर्यवाचिजामिशब्दलक्षितस्य सादृश्यस्य नैरन्तर्यानुष्ठाने सत्यालस्यापादकत्वेन दोषत्वात् तत्कीर्त्तनस्य च निषेधाश्रुतेर्निन्दापर्यवसायित्वायोगादाकाङ्क्षावशेनाजामित्वकरकर्मस्तुत्यर्थत्वावगमाज्जामित्वोपन्यासयोरेकवाक्यताऽवसीयतइत्याशयः।

ननु जामित्वाजामित्वोपन्यासयोरेकवाक्यत्वादसायेऽप्यजामित्वस्य विष्ण्वादिवाक्योक्तयागविषयत्वात्तदेकवाक्यतया जामित्वस्यापि तद्विषयत्वावगतेस्तस्य चोपक्रमस्थत्वात्तदनुसारेणोपसंहारस्थस्य विधेरपि तद्विषयतावसीयतइत्याशङ्क्य, कः पुनरित्यादिभाष्योक्तार्थवादस्यान्तरालवाक्योक्तयागविषयत्वाद्विधेरपि तद्विषयत्वमुपपादयितुम्—**जामिता चेत्युक्तम्**। पञ्चम्यन्तवैश्वानरवाक्यवदत्रापि वाक्ये विध्यैक्यावसायान्न पृथक् विधितेत्यध्याहारेण, नानेकेति व्यवहितान्वयेन वा पूरणीयम्। नन्वेवमपि विष्ण्वादिवाक्येषु तव्यप्रत्ययैनैकान्तिकविधित्वावगमात्पृथक्विधित्वापत्तिरित्याशङ्क्य तस्मिन्क्रियमाणइति भाष्योक्तं विधित्वानादरमुपपादयितुम्—**विष्ण्वादीत्युक्तम्**। न हीत्यनेन विधित्वानपेक्षोपपादिता। विष्ण्वादियुक्तगतस्याजामित्वस्य जामितयान्वये सति विष्ण्वादियुक्तविधेस्तथान्वयः स्यात् नत्वजामित्वस्य विष्ण्वादियुक्तगतत्वं सम्भवति। विष्ण्वादियुक्तानामन्तरालसंयोगाभावेन स्तुत्यनर्हत्वादित्याशयः। नन्वन्तरालशुक्तस्याप्यजामित्वान्वयाश्रुतेर्न विधानार्हतास्तीत्याशङ्क्य, तत्र व्यवधानादिति भाष्योक्तमन्तरालसंयोगेनैवाजामित्वान्वयावगमाज्जाम्युपक्रमेण वाक्येन विधानार्हत्वं विवरीतुम्—**अन्तरालेत्युक्तम्**।

विष्ण्वादिवाक्यानां यागाविधायकत्वमेवापि चेति भाष्योक्तेन युक्त्यन्तरेणोपपादयति—**किं चेति**। विष्ण्वादिवाक्यैर्यागविधौ सति विष्ण्वादिदेवताया यागान्वये श्रुतेन विधिना कृते यागोऽर्थाद्देवतां प्रत्युपसर्जनभूतो विधेयः स्यात् तच्चान्तरालवाक्येन श्रुते चकारात्स्व-

प्रधानभूते यागे विधेये सम्भवत्ययुक्तमित्यर्थः । अनेन चार्थाक्षेपाधीनत्वेनोपसर्जनभूतस्य देवतासंस्कारकत्वापत्तेरविनियुक्तायाश्च देवतायाः संस्कार्यत्वायोगाद्देवताविधिसापेक्षत्वेन यागविधेर्विप्रकृष्टत्वमभिप्रेत्य भाष्ये वाक्यशब्दः प्रयुक्त इति सूचितम् । श्लोकं व्याचष्टे—**कर्मोत्पन्नइति** । याग उपसर्जनं विष्ण्वादिः प्रधानं यस्मिन्निति बहुव्रीहिं विगृह्य यागोपसर्जनश्चासौ विष्ण्वादिप्रधानश्चेति कर्मधारयो विग्राह्यः प्रत्यक्षस्य प्रधानस्य च यागस्य कर्त्तव्यत्वोपदेशोपपत्तेरित्यर्थः । एवं सत्यपि विधित्वे देवताविध्यापत्तेर्यागविधित्वं नास्तीत्याह—**तत्रेति** । देवताविधितैव तर्ह्यस्तु इत्याशङ्क्याह—**न चेति** । देवतान्वयानभिधायित्वात्तव्यप्रत्ययानां देवताविधायित्वासम्भवेऽभिहिते चतुर्थ्या देवतात्वानभिधायित्वेऽपि यथादेवताविधायित्वम्, तथा तव्यस्यापि भविष्यतीत्याशङ्क्य—**सम्प्रदानमित्युक्तम्** । त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वप्रतिग्रहीतृत्वसमुदायात्मकसम्प्रदानत्ववाचिनी चतुर्थी लक्षणया वाच्यैकदेशत्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वात्मकं देवतात्वं वदतीत्याशयः । ननु कर्मत्ववाचिन्याऽपि द्वितीयया विष्णुं यजतीत्यादौ देवताविधिदर्शनात्तद्वाचिनस्तव्यप्रत्ययस्यापि देवताविधायित्वं कस्मान्न स्यादित्याशङ्क्याह—**तत्रेति** । तव्यस्य द्वितीयावत्प्रधानभूतकर्मानभिधायित्वात्तत्तुल्यार्थतैव तावत् क्लेशलभ्या । न च तल्लाभमात्राद्देवतासिद्धिः देवतायाः कर्मत्वाभावादित्याशयः । कथं तर्हि देवतायास्तव्यद्वितीयाभ्यां निर्देश इत्याशङ्क्य निर्देशालम्बनमाह—**त्यागार्थत्वाद्धीति** । देवतोद्देशद्रव्यत्यागसमुदायवाचित्वाद्यजेस्तादृशस्य च कर्माभावाद् द्रव्यस्यापि पारमार्थिककर्मत्वाभावेऽपि देवतावच्छब्दमात्रोपकारित्वशङ्कानिवृत्तयेऽर्थरूपोपकारित्वप्रदर्शनार्थः परमार्थशब्दः । उद्देशविशिष्टत्यागवाचिनोऽपि यजेर्विशेषणांशानादरेण विशेष्यांशविवक्षया त्यागार्थत्वमभिप्रेत्य कर्म भवतीति ल्यब्लोपे पञ्चमी । नन्वेवं सति देवतायाः कथं कर्मतेत्याशङ्क्य देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागोत्तरकालं देवतामुद्दिश्य त्यज्यमानेन द्रव्येण देवतायाः प्रतिग्रहीतृत्वाभावेऽपि प्रतिश्रवणेनेवाप्रतिगृह्णतोऽपि ब्राह्मणस्य स्वाम्यापादनेनाप्यमानत्वात्तप्ते पयसि दध्यानयतीत्यत्रानयतिकर्मणा दध्नेव व्याप्यमानस्य पयसो—**द्वितीयकर्मत्वं भवतीत्युक्तम्** । ननु देवताया द्रव्येणाप्यमानत्वस्य दध्नेव पयसः संस्कार्यत्वमात्रविवक्षायां द्विकर्मकलक्षणो धातुः प्रसज्येत गवेव तु ब्राह्मणस्य स्वाम्यविवक्षायां सम्प्रदानत्वापत्तेश्चतुर्थी स्यादित्याशङ्क्य—**तत्रेत्युक्तम्** ।

प्रक्रमात्तु नियम्येतारम्भस्य क्रियानिमित्तत्वादि६—२—त्यत्र पष्ठाधिकरणसूत्रे प्रक्रान्तं कर्म वीतायामपि फलेच्छायां प्राप्ते वा फले, अवश्यं समापनीयमित्येतदुपपादनार्थं भाष्यकृतोपक्रमादारभ्य समाप्तिपर्यन्तस्य व्यापारसमूहस्याख्यातेन विधित्सितत्वात् श्रुत्या चारम्भसमाप्त्योर्विधौ गौरवापत्तेरारम्भमात्रविधौ च नियोगतः समाप्त्यसिद्धेर्यागादि समापयेदिति शास्त्रार्थ इति नायमारम्भसमाप्तिशब्दार्थः किं तर्हि समाप्तिरेव । समाप्त्या व्यर्थप्राप्तत्वादारम्भस्य तस्मात्परिसमाप्तिः शब्दार्थ इति भाष्येण वक्ष्यमाणत्वाद्देवतास्वाम्यापत्तेश्च देवतोद्देशविशिष्टद्रव्यत्यागोत्तरकालत्वेन समाप्तित्वात्तत्कर्ममात्राविर्भावेनैककर्मत्वावधारणात् द्विकर्मकधात्वप्रसक्तेर्देवतायाश्च प्रतिग्रहीतृत्वाभावेन सम्प्रदानत्वाभावाच्चतुर्थ्यप्रसक्तेस्तव्यद्वितीयोपपत्तिरित्यर्थः ।

न तु त्यज्यमानद्रव्याप्यमानस्य तव्यद्वितीयावाच्यत्वे तल्लक्षणत्वाद्देवतात्वमेव वाच्यं स्यादित्याशङ्क्याह—नन्विति । त्यज्यमानद्रव्योद्देशकर्मत्वं देवतात्वं तच्चोद्देशांशस्य विशेषणत्वेन द्वितीयानन्वयान्न द्वितीययोच्यते, देवतासंस्त्वाहवनीयप्रासंर्जुहोत्यर्थत्ववत् यज्यर्थत्वाभावान्नान्तरीयकसिद्धावपि अशास्त्रीयत्वेन तत्कर्मत्वलक्षणमाप्यमानत्वं न देवतात्वमित्याशयः । कथं तर्हि द्वितीयानिर्द्देशे देवतात्वसिद्धिरित्याशङ्क्याह—किं तर्हीति । देवतामुद्दिश्य त्यज्यमानेन द्रव्येणाप्यमानत्वलक्षणस्य कर्मत्वस्य त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वलक्षणाद्देवतात्वाविनानुपपत्तेस्तन्निमित्तया लक्षणया गम्यमानत्वाद्द्वितीयानिर्देशे देवतात्वनिश्चय इत्यर्थः ।

यजदेवपूजासङ्गतिकरणदानेष्विति स्मृतिवलेन पूजाकर्मत्वलक्षणं देवतात्वं द्वितीयावाच्यमित्याशङ्कते—नन्विति । व्याकरणस्यार्थान्वाख्यानार्थत्वाभावेनाऽर्थवत्त्वे प्रामाण्याभावात्पुराणादौ च यज्ञानधिकारिणो भीष्मादेर्यष्टृत्वकीर्त्तनालम्बनानि पूजाप्रतिष्ठादानानि दर्शयितुमौपचारिकार्थान्वाख्यानोपपत्तेर्यजेः पूजावाचित्वाभावान्न तत्कर्मत्वं देवतात्वमित्याशयेन परिहरति—नैष इति । एतदेव प्रश्नपूर्वकमुपपादयति—कुत इति । श्लोकं व्याचष्टे—न हीति ।

अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यज्ञकर्मप्रधानं स्याद्, गुणत्वे देवताश्रुतिरित्यत्र नवमाधिकरणसूत्रे विग्रहाद्यभावेन रूपासमवायाद्देवतायाः पूज्यत्वं निरस्य, तिथौ तत्प्रधानत्वमभावः कर्मणि स्यात्तस्य प्रीतिप्रधानत्वादिति दृष्टान्तवैषम्याभिधानार्थे सूत्रे विग्रहादिसद्भावेऽपि यजेः पूजावाचित्वाभावाद्यागकर्मणि देवताप्राधान्याभावा इति, मध्यमावयवेन देवताप्राधान्यस्य निषेत्स्यमानत्वम्, न चातिथिवदिति चकारसूचितम् । न च यजिरित्यनेन व्याख्यातं किं च पूजयतोः प्रीत्युत्पादनवाचित्वादुत्पादनस्य च करोत्यर्थत्वेन नित्यं सकर्मकत्वात्पूज्यस्य तत्कर्मत्वे सत्यपि, स्वास्थ्यकामः शयीतेत्यादौ प्रत्ययार्थकर्मणि स्वास्थ्यादावदर्शनेन द्वितीयाया धात्वर्थकर्मविषयत्वावसायाद्दानादिना च पूज्यस्य धात्वर्थकर्मत्वदर्शनाद्यागेन देवतायाः पूज्यत्वेऽपि यागकर्मत्वाभावान्न द्वितीयावाच्यतास्तीत्याशयेनाह—दानेन चेति ।

नन्वेवं सत्युपाध्यायवद्देवतायाः पूज्यत्वेन यज्यर्थत्यागकर्मणा त्याज्येन द्रव्येणाभिप्रेयमाणत्वात्सम्प्रदानत्वमेव देवतात्वं स्यादित्याशयेनाशङ्कते—एवं तर्हीति । मुख्यं वा संप्रदानत्वमापद्यते, गौणं वा । तत्र मुख्यं तावन्न सम्भवतीत्याह—नेति । तादृशशब्देनोपाध्यायवन्मुख्यतोक्ता । नन्वप्रतिग्रहीतृत्वान्मुख्यसम्प्रदानत्वाभावेन सम्प्रदानत्वनिर्देशाभावे सति मुख्यकर्मत्वाभावे सति मुख्यकर्मत्वाभावे कर्मत्वनिर्द्देशस्याप्यभावापत्तेर्विष्णुं यजतीत्यादिकर्मत्वनिर्देशान्मुख्यकर्मतैव देवतायाः प्रतीयतइत्याशङ्क्य, मुख्यसम्प्रदानत्वाभावेऽपि सम्प्रदानत्वनिर्देशवन्मुख्यकर्मत्वाभावेऽपि कर्मत्वनिर्द्देशोपपत्तिप्रदर्शनार्थं गौणसम्प्रदानत्वनिर्द्देशमुदाहरति—अपि चेति । क्व चित्शब्देन गौणत्वं सूचितम् ।

एवमौपचारिकपूज्यत्वाभ्युपगमेन गौणे कर्मत्वे, सम्प्रदानत्वे वा सत्यपि देवतात्वं नास्तीत्युक्त्वा, इदानीं देवतायाः पूज्यत्वाभावात्तन्निमित्तं कर्मत्वम्, सम्प्रदानत्वं वा गौणमपि नास्तीत्याह—**सर्वथेति** । न मुख्यवृत्त्या, नापि गौणवृत्त्येति सर्वथाशब्देन सूचितम् । कथं तर्हि विष्णुं यजति सोमाय यजतइत्यादौ द्वितीयाचतुर्थीनिर्देशः इत्याशङ्क्यै-तदालम्बनं वक्तुम्—**आहासाधारणेन त्विति** । पूजायाः प्रीत्युत्पादनात्मकत्वेन करोत्यर्थ-त्वाद्यजिपरप्रत्ययार्थत्वे सत्योदनस्येव पाके देवतायाः पूजाख्ये प्रत्ययार्थे मुख्येप्सिततमत्व-लक्षणकर्मत्वोपपत्तेर्विषस्येव वा भक्षणे गौणानीप्सितत्वलक्षणकर्मत्वोपपत्तेरप्रतिग्रहीतृत्वेऽपि च यच्चान्यस्मै प्रतिश्रुतमित्यत्राऽप्रतिग्रहीतुरिव पूजाकर्मत्वाद्यागे गौणसम्प्रदानत्वोपपत्तेस्त-द्व्यावृत्त्यर्थः केवलशब्दः । यजिपरस्य प्रत्ययस्य ददातिपरप्रत्ययवत्पूज्यवाचित्वाभावाद्या-गमात्रविषयं देवतायाः कर्मत्वम्, सम्प्रदानत्वं वा स्यात्, तच्च कर्मान्तरसम्प्रदानान्तर-व्यावृत्तेनैव रूपेण भवतीत्याशयः । देवतायाः कर्मान्तरसम्प्रदानान्तरविलक्षणकर्मत्वं सम्प्रदानत्वाभ्युपगमे हेतुमाह—**तच्चेति** ।

तत्कर्मत्वम्, सम्प्रदानत्वं वा यदेवंभूतमन्येभ्यो विलक्षणं कल्प्यते, तद्देवतायाः कारकत्वावगमात्कर्तृकरणापादानाधिकरणकर्मसम्प्रदानातिरिक्तस्य कारकस्याभावाद्देवता-याश्च कर्मसम्प्रदानातिरिक्तकारकत्वस्य कथं चिदप्ययोगात्पारिशेष्यात्कर्मत्वस्य, सम्प्रदान-त्वस्य वावगतेः कर्मान्तरसम्प्रदानान्तरतुल्यस्य च तस्यायोगादित्यर्थः । कथं देवताया कारकत्वावगतिरित्याशङ्क्याह—**न हीति** । कारकत्वं विना क्रियान्वयायोगात्प्रातिपदि-कवाच्येनाकारकरूपेण यागान्वयं न प्रतिपद्यते देवतेति । सर्वथेयं देवतेति देवताशब्दानुषङ्गेण योज्यम् । देवतावाच्यग्न्यादिप्रातिपदिकपरोऽत्रत्यो देवताशब्दो देवताशब्दवाच्येनापि रूपेण देवतायागान्वयं न प्रतिपद्यते, किमुताग्नयादिशब्दवाच्येनेत्यतिशयद्योतनार्थः ।

देवतातद्धितविषयो वा देवताशब्दः । तद्धितनिर्देशेऽपि देवताया द्रव्यमात्रान्वयप्रतीतेर्या-गान्वयार्थमग्निमनेन यजेत, आग्नेयं यजेतेति वा वचनव्यक्तिः कल्प्येत्याशयः । कीदृक् विलक्षणं रूपं कर्मसम्प्रदानयोरित्यपेक्षिते सम्प्रदानस्य तावत् त्याज्यद्रव्योद्देश्यत्वप्रतिग्रही-तृत्वसमुदायात्मकस्य तदेकदेशोद्देश्यत्वमात्रेण त्यज्यमानद्रव्यस्यान्यत्राविनियोज्यत्वलक्षण-देवतास्वत्वापत्तेः देवतायाः प्रतिग्रहीतृत्वाभावेऽपि तत्फललाभात्त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वमात्रे सकलसम्प्रदानरूपकल्पनात्मकं वैलक्षण्यमाह—**तेनेति** । येन कारणेनान्यसम्प्रदानतुल्यं देवतायाः सम्प्रदानत्वं नास्ति । तेन कारणेन देवतोद्देशद्रव्यत्यागात्मकस्य यागस्य त्यागांशप्राधान्यविवक्षायां प्रतिग्रहाद्विनापि तत्फललाभात्सकलसम्प्रदानत्वकल्पनेन चतुर्थी-निर्देश इत्यर्थः । उद्देश्यांशप्राधान्यविवक्षायां तद्विशेषणभूते त्यागांशे आप्यमानत्वाध्यासेन सकलं यागं प्रति कर्मत्वरूपं कर्मणो वैलक्षण्यमाह—**यद्वेति** । वचनव्यक्तिभेदेनैतदेव स्पष्टयति—**तनेति** । देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागाद्देवतास्वाम्यापत्तावपि तदापादनस्याविहितत्व-द्योतनायेवशब्दः । परस्वत्वापादनत्यागयोः प्राधान्यविवक्षायामपि पश्चाद्भावद्योतनार्थौ तुमुनौ ।

ननु देवताया रूपासमवायेन तदुद्देशस्याप्राधान्यान्न द्वितीयोक्तकर्मान्वयः सम्भवतीत्याशङ्क्य, होत्रादेर्द्रव्यस्यास्वाम्याभावात्त्यक्तृत्वायोगेन त्यागशून्ये देवतोद्देशमात्रे होतर्यजेत्यादेर्यजिप्रयोगात्प्राधान्यमुपपादयितुमाह—**तथा चेति**। नन्वेवं रूपयोरपि कर्मसम्प्रदानयोर्विभक्तिवाच्यत्वात् तद्रूपस्य देवतात्वस्य विभक्तिवाच्यता न विरुद्धेत्याशङ्क्या—**तदेतदिति**। अनेकवाच्यशक्तिकल्पनापत्तेर्नानयोर्देवतामात्रविषयोर्वाच्यत्वकल्पना युक्तेत्याशयः। नन्वेवमपि लाक्षणिकत्वाविशेषात्सम्प्रदाननिर्देशवत्कर्मनिर्देशेऽपि देवतात्वं कस्मान्नेष्यतइत्याशङ्क्याह—**तत्रापीति**। प्रतिग्रहीतृत्वाभावेनासमस्तात्मकत्वाद् दूषितमपि सम्प्रदानत्वमुद्देशत्यागाव्यभिचारित्वात्तत्सम्बन्धिनो देवतात्वस्य प्रत्यासन्नं कर्मत्वं तूद्देशत्यागव्यतिरिक्तेषु क्रियान्तरेष्वपि सम्भवेन सव्यभिचारित्वाद्विप्रकृष्टम्। ततश्च कर्मत्वेन देवतात्वलक्षणाऽत्यन्तक्लिष्टेत्याशयः।

ननु कर्मत्ववद्देवतात्वस्यापि सप्तदेवताः शंसतीत्यादौ क्रियान्तरेषु भावात्तु तन्मात्रेण कर्मत्वस्य देवतात्वाद्विप्रकर्षः स्यादित्याशङ्क्याह—**न हीति**। तत्प्रकृतं हविर्भक्त्वलक्षणं देवतात्वं सकल यथायजिमेव प्रति ननु क्रियान्तरमपि प्रति न तथा सकलं कर्म यजिमेव प्रतिक्रियान्तरेष्वपि कस्य चित्कर्मणः सद्भावादित्यर्थः। स्तुतिभाक्त्वलक्षणं त्वितरद्देवतात्वं न हविर्भक्त्वलक्षणमित्याशयः। ननु कर्मत्वसम्प्रदानत्वयोर्देवतात्वाभावाद्वितीयाचतुर्थ्यो देवतानभिधायित्वे कोऽन्यस्तद्वाची शब्दः स्यादित्याशङ्क्याह—**परमार्थतः पुनरिति**। स्मृतितिबलेनैतदेवोपपादयति—**तथा चेति**। क्रीतादितद्धितविधौ यथा तृतीयया कारकविभक्त्या वदनं कृतम्, न तथा देवतातद्धितविधाविदमग्नये, अनेनाग्निमिति वा कारकविभक्त्या वदनं कृतमित्यर्थः। भावे अनिष्टा श्लोक व्याचष्टे—**ये हीति**। अनन्यशब्दवाच्यत्वोपपादनस्य तव्यप्रत्ययवाच्यत्वोपयोगमाह—**ततश्चेति**। देवतायास्त्ववाच्यत्वोपपादनस्य प्रकृतयागविधायित्वाभावोपयोगमाह—**तत्रेति**। न त्विति भाष्येणान्तरालवाक्येऽपि यागान्तरालान्वयविधिप्रतीतेर्यागस्य स्वरूपविविक्लेशसाम्यमाशङ्क्य, बाढमित्यनेनोपांशुत्वान्तरालान्वयस्यैव विधेयत्वाभिधानेनाशङ्काशयानतिक्रमाद्विधित्वाभिधानाच्चायुक्तत्वमाशङ्क्यैकग्रन्थेनाशङ्कापरिहारभाष्यद्वयं तात्पर्यतो व्याचष्टे—**अन्तरेति**। विशिष्टार्थप्रतीतौ सम्बन्धस्य नान्तरीयकत्वात्, सम्बन्धशब्देन लक्षणया वैशिष्ट्याभिधानाद्विधित्वं च विनानर्थक्यापत्तेरनन्यगतित्वस्य हेतुत्वेन विवक्षितत्वाच्छङ्कापरिहार इत्याशयः। केन भाष्येणानन्यगतित्वं हेतुत्वेन विवक्षितमित्याशङ्क्य ऽनन्वन्तरालसम्बन्धस्यान्यत्प्रयोजनमिति भाष्येणेति सूचयितुमाह—**न हीति**।

उपांशुपौर्णमास्यां यजन्नित्यत्रैकीकृतानां कालसम्बन्धे सति सर्वेषां प्राधान्यं स्यादित्यत्र समुदायानुवादार्थवत्तोक्तेत्याशङ्क्ते—**ननु चेति**। शिरो वा एतद्यज्ञस्य यदाग्नेयो, हृदयमुपांशुयाजः, पादावग्नीषोमीय इत्यन्यार्थदर्शनस्य प्राधान्यद्योतकत्वेन व्याख्यायां पूर्वपक्षे अग्नीषोमीयोपांशुयाजयोरप्राधान्यापत्त्यभिधानेन समुदायानुवादानर्थक्यस्य वक्ष्यमाणत्वान्न सर्वोपांशुयाजप्राधान्यज्ञापनेनार्थवत्तेति परिहरति—**तथेति**।

एवं तु व्याख्यायमाने यदीमेऽपि विधीयेरन् भिद्यते वाक्यमित्यस्यानन्तरमेकं हीदमित्यादेर्विष्णवादिसम्बन्धो अनूद्यतइत्यन्तस्य भाष्यस्यान्वयापत्तेरुपांशुत्वादिसम्बन्धइत्यस्यानन्तरं च न त्वन्तरालसम्बन्धस्येत्यस्यान्वयापत्तेर्व्यवहितान्वयदोषभयान्नन्वित्यनेन विष्णवादिवाक्यविहितेषु यागेष्वन्तरालगुणविधानायाऽन्तरालवाक्यमित्याशङ्क्य, उपांशुत्वस्यादिशब्दोपात्तस्य चान्तरालस्य प्राप्ते कर्मण्येकेन वाक्येन विधानाशक्तेश्चोदना वा गुणानां युगपद् शास्त्रादि२-२-६त्यनेन न्यायेन विष्णवादिवाक्यैर्यागविधावप्यन्तरालवाक्येन कर्मान्तरविधानापत्तौ वाढमित्यनेनार्हतीत्यन्तेनोक्तायां विष्णवादिवाक्यप्राप्तानामुपांशुत्वस्यान्तरालवाक्येऽनुवादात्कथमनेकगुणविधानात्कर्मान्तरापत्तिरित्याशयेन कथमिति पृष्टे जामि वेत्यादिनानूद्यत इत्यन्तेन विष्णवादिवाक्यानां विधायकत्वायोगान्न तत्प्राप्तोपांशुत्वानुवादः सम्भवतीत्युक्ते, अनुपादेयान्तरालकालान्वयात्प्रकरणान्तरन्यायेनापि कर्मविधित्वाभिधानार्थम्, नन्वन्तरालसम्बन्धस्येति भाष्यमिति यथान्यासमेव भाष्यव्याख्यां सूचयितुमाह—**किं चेति**। नन्वनुपादेयान्वयेऽपि विष्णवादिवाक्यविहितयागविपरिवृत्तेः प्रकरणान्तरन्यायो नास्तीत्याशङ्क्याह—**तादृगिति**। एतदेव व्याचष्टे—**यादृशी हीति**। अस्मिंश्च व्याख्याने विष्णवादिवाक्यानां कर्मविधित्वेऽप्यन्तरालवाक्यस्य गुणात्, प्रकरणान्तराद्वा कर्मान्तरविधित्वाभिधानाद्भाष्यस्थः कर्मान्तरशब्दः समञ्जस एवेत्याह—**तत्रेति**। ननूद्देश्यत्वेन देवताया अपि कालवदनुपादेयत्वात्, तदन्वयेऽपि कर्मान्तरापत्तेस्तस्मिन्नेवान्तरालविहिते यागे देवतां विदध्युरिति वार्तिकमयुक्तं स्यादित्याशङ्क्याह—**देवतायाः पुनरिति**। अस्या इदमिति द्रव्यत्यागसङ्कल्पविषयत्वलक्षणोद्देश्यत्वेऽपि देवतायाः कर्मकाले शब्दप्रतिपाद्यत्वेनापाद्यत्वलक्षणोपादेयत्वान्न तदन्वयः—कर्मान्तरत्वापादक इत्याशयः।

ननु कर्मान्तरशब्दस्य विष्णवादिवाक्यानां कर्मविधित्वाभ्युपगमविषयत्वे प्रकृतानां यागानामभावादिति भाष्यमयुक्तं स्यादित्याशङ्क्याह—**कर्मेति**। आद्यव्याख्याने त्वाग्नेयाद्यपेक्षया कर्मान्तरशब्द इत्याह—**अथ वेति**। परमार्थतस्तु द्वितीये व्याख्याने विष्णवादिवाक्यानां विधित्वमनिष्टमेवेति दर्शयन्नुपसंहरति—**तस्मादिति**। प्रकरणान्तरन्यायाभावेऽप्यनुपादेयान्वयस्याकर्मविधित्वापादकत्वं दर्शयितुमाह—**धात्वर्थं चेति**। अनुपादेयाङ्गविधितोऽपि तदुद्देशेन कर्मैव विधेयमित्याशयः।

ननु कुत्वप्रसक्त्योपांशुयाजशब्दस्य गुणविधित्वायोगेनोपांशुत्वस्याविधेयत्वान्नानेकगुणविधानेन कर्मविधित्वसिद्धिरित्याशङ्कां निराकर्तुं प्रसक्तिं तावत्करोति—**स त्विति**। गुणविधित्वपक्षे कुत्वप्रसक्तिं नैवंजातीयक इति पूर्वपक्षभाष्योक्तां परिहर्तुमनुभाषते—**यत्त्विति**। पक्षद्वयसाम्येन परिहर्तुमुपपत्तिसाम्यं तावदाह—**तत्रेति**। एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कुत इति**। श्लोकं व्याचष्टे—**वाच्येति**। यस्त्वव्युत्पन्नस्त्विति, पूर्वपक्षभाष्येण पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्तीति पात्नीवतशब्दस्य त्वाष्ट्रपात्नीवतावाचकस्यापि किंचिद्वर्णसारूप्यावगमात्तदनुवादकत्वदर्शनेनोपांशुयाजशब्दस्यानुवादकत्वे वाचकत्वानपेक्षेति परिहार उक्तः। तन्निरासार्थमनुभाषते—**स्यादिति**। निराकरोति—**तदिति**। नन्वेवमपि नाम-

त्वनिरासेन गुणविधिनिश्चयः कथमित्याशङ्क्याह—**न चेति**। श्लोकं व्याचष्टे—**न तावदिति**। उपांशुयाजनामकत्वाच्चास्य कर्मण इदमवगम्यते नूनमस्योपांशुत्वं धर्म इति दशमोपान्त्याधिकरणभाष्यं त्वाग्नेयाग्नीषोमीयशब्दवद्धदयमुपांशुयाज इत्यादिवाक्यान्तरस्थगुणनिमित्तोपांशुयाजशब्दव्यवहारविषयमित्याशयः। अतोऽन्तरालवाक्यस्थेनैवोपांशुयाजशब्देनोपांशुत्वविधिरित्युपसंहरति—**तस्मादिति**। सूत्रकृतोऽपि गुणविधित्वेष्टेत्याह—**तथा चेति**। कथं तेनेति भाष्येण जामित्वापनयनप्रकारं पृष्ट्वा तस्मिन्नित्यनेन देवतावैलक्षण्यं प्रकारत्वेनोक्तं तत्पुरोडाशनैरन्तर्येणोक्तस्य जामित्वस्य द्रव्यवैलक्षण्यं विनानपनयनादयुक्तमाशङ्क्य, देवतावैलक्षण्यस्योपलक्षणार्थत्वं दर्शयितुमाह—**जामित्वेति**। सर्वस्मै वा तद्यज्ञाय गृह्यते यत् ध्रुवायामाज्यमित्यनेनानिर्दिष्टद्रव्यकेषु यागेष्वाज्यविधानाद् द्रव्यवैलक्षण्यमाग्नेयाग्नीषोमीययोर्मध्यमस्वरत्वात्स्वरवैलक्षण्यं विष्णुप्रजापतिपक्षे देवतावैलक्षण्यम्। युगपत्पुनरिति भाष्येण विष्ण्वादिवाक्यानामर्थवादत्वदेवताविधित्वाभावा-द्विष्ण्वादेरप्राप्तत्वेनानुवादानुपपत्तिमाशङ्क्य यष्टव्यानित्यनेनायष्टव्यत्वेऽप्युपांशुयाजस्तुत्यर्थं यष्टव्यत्वकीर्त्तनमित्युक्तम्। तस्य ज्ञायत एवेति भाष्येण विरोधमाशङ्क्य परिहर्त्तुमाह—**ज्ञायत एवेति**। देवतावैलक्षण्येनाग्नेयाग्नीषोमीयाभ्यामुपांशुयाजस्य वैचित्र्यप्रदर्शनार्थं कीर्त्तिता, न विष्ण्वादिवाक्यविहितत्वप्रदर्शनार्थम्। तेन कारणेन विष्ण्वादेरवश्ययष्टव्यत्वाभावेऽपि स्तुत्यर्थत्वेनोपादानाभिधानं न पूर्वभाष्यविरुद्धमित्याशयः। अयष्टव्ये यष्टव्यत्वोपपादनालम्बनम्—**गुणवादेनेत्यनेनोक्तम्। कीदृशो गुणवाद इत्यपेक्षिते प्राधान्येत्युक्तम्**। अग्निर्वै देवानामवमो, विष्णुः परम इति श्रुतेर्विष्णोः सर्वदेवानां मध्ये प्राधान्यप्रसिद्धिः। एत इति वै प्रजावतिर्देवानसृजतेति श्रुतेः प्रजापतेः प्राधान्यप्रसिद्धिरग्नीषोमीययोस्तु 'तावब्रूतामग्नीषोमावि'त्यत्र कीर्त्तनादुपांशुयाजे प्राधान्यप्रसिद्धिः। ननु विष्ण्वादेः प्राधान्यमात्रेण यष्टव्यत्वाभिधाने यागान्तरेष्वपि यष्टव्यत्वापत्तेर्वैलक्षण्यं न स्यादित्याशङ्क्य—**यागइत्युक्तम्**। विधिं विना देवतात्वाभावात्प्राप्तावनियमप्रसक्त्ययोगेऽपि या का चिदिह देवता स्यादित्यपेक्षायामनियमप्रसक्तिरुक्ता। निर्दिष्टदेवताकत्वाद्यागान्तरेष्वप्रसक्तिरित्याशयः।

ननु विष्णुरुपांशु यष्टव्य इत्येवमादीनां विधित्वाभावे विष्ण्वादेर्विधायकाभावाद्विध्येकगम्यत्वेन च देवताया यागाक्षेपमात्रेणालाभाद्देवताराहित्येनोपांशुयाजविधिरवसीदेदित्याशङ्क्य, तत्रेति भाष्येण शाखान्तरविधानेन विहितत्वमुक्त्वा 'यद्यपीत्यनेन' प्रत्यक्षविध्यभावे उपांशुधर्मकत्वेन विष्णुप्रजापत्योः कल्पविधिविहितत्वम्, विष्णोश्च मन्त्रवर्णकल्पेनापि विधिना विहितत्वम्, अग्नीषोमयोस्तु पुराकल्पसरूपार्थवादकल्पविधिविहितत्वमुक्तम्। तत्सर्वमाक्षेप्तुं शाखान्तरइति तावदाक्षिपति—**शाखान्तरइति**। अनुदाहृत्यैव शाखान्तरेऽस्तीत्यभिधाने, यस्मै यद्रोचते तत्सर्वं सिद्ध्येदित्याशयः। शाखान्तरं च देवताविधौ सत्युपांशुयाजे पूर्वाधिकरणपूर्वपक्षे द्रव्यानियमवत्कि देवतायामप्यनियमः शास्त्रैकप्रमाणत्वाद्वा देवतायास्तेन विना कल्पनायोगादाग्नेयमुपांशुयाजमन्तरा यजत्यैन्द्रमुपांशुयाजमन्तरा यजतीत्यादिप्राकरणिकवाक्यान्तरस्थाग्नेयादिपदानुषङ्गेण वैकल्पिकप्रकृताग्न्यादिदेवताविधिकल्पनया,

प्रकृतानामेव मध्ये या का चित्प्रजापतिधर्मोपांशुत्वदर्शनाद्वा प्रजापतिविधिकल्पनया, स एव प्रजापतिर्मनसा यजेतेति वा, प्रजापतेस्तूष्णीं भावधर्मकत्वविधानेनोपांशुत्वधर्मकत्वाभावात्प्रजापतिविधिकल्पनानुपपत्तेर्नियमसम्भवे चानियमायोगान्मुख्यत्वेनाग्नेयपदमात्रानुषङ्गेणाग्निविशिष्टोपांशुयाजविधिकल्पनयाग्निनियम इति विचारपूर्वकं 'विष्णुर्वा स्याद्धौत्रादमावास्या हविश्च स्याद्धौत्रस्य तत्र दर्शनादि'ति सूत्रेण मान्त्रवर्णिकदेवताश्रयणं न युज्येतेत्याह **न चेति**। अत्रत्यश्च यद्यपीति भाष्यावयवः प्रत्यक्षदेवताविधिसद्भावे न युज्येतेत्याह—**यद्यपीति**। प्रजापति मनसा यजेतेति प्रजापतितूष्णीम्भावधर्मकत्वश्रुतेः, तुष्णीं वै श्रेयस आकाङ्क्षते इत्यर्थवादाच्च श्रेयोऽभ्यर्थनतूष्णीङ्कार्यत्वावगतेः तस्मादाहुर्विष्णुर्देवानां श्रेष्ठ इति च विष्णोः श्रेयस्त्वश्रुतेस्तूष्णीम्भावधर्मकत्वावगमाद्यत्किं चित्प्राजापत्यमिति च वर्त्तमानापदेशस्य स्पष्टविधिविहिततूष्णीम्भावविरुद्धोपांशुत्वविध्यशक्तेर्देवताधर्मोपांशुत्वस्य यागे दर्शनेन विष्णुप्रजापतिदेवत्यत्वकल्पनायोगाद्यदुपांशु तत्प्राजापत्यमिति विपरीतवचनव्यक्त्याश्रयणेन तथापीत्यूक्तमित्यापाद्याक्षिपति—**यदप्युक्तमिति**। उपांशुयाजस्योपांशुधर्मत्वात् विष्णुप्रजापती प्राप्ताविति वदतोपांशुत्वस्य प्राजापत्यत्ववैष्णवत्वनिमित्तस्योपांशुयाजेऽपि समानत्वात्प्रजापतिर्देवता, विष्णुश्च प्राजापत्यवाक्यादेवमादिसङ्कीर्त्तनादित्यादिशब्दसूचिताच्च तत्सदृशाद्वैष्णववाक्याद्विष्णुप्रजापत्योरुपांशुधर्मकयागान्वयावगमादिति देवताया यागाभेदोपचारेणोपांशुधर्मशब्दप्रयोगमभ्युपगम्य भाष्यार्थः सूचितः। स्तुत्यर्थत्वेनापि प्राजापत्यवाक्यार्थोपपत्तेर्वचनव्यक्तिविपर्यासो न युक्त इत्याक्षेपाशयः॥ अग्नीषोमीययोस्त्विति भाष्यमाक्षिपति—**यदपीति**। ननु ताविति चतुर्थ्यादिशाद्देवताविधिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**यदि हीति**। विध्यधीनत्वात्प्रवृत्तेरग्नीषोमाभ्यामावाभ्यां यजेरन्नित्युक्तेऽप्यस्माकं किमग्नीषोमोक्तार्थानुष्ठानेनेति जानन्तो विधिना वयं प्रवर्तिता इति नावधारयेयुरित्यर्थः। अनेकार्थविधौ वाक्यभेदापत्तेर्नास्य देवताविधायितेत्याह—**कालेति**। देवतामात्रं तर्हि विधीयतामित्याशङ्क्याह—**देवतेति**।

ननु पुरोडाशद्वयान्तराले विधानादमावास्यायां च पुरोडाशैक्येनान्तरालयोगादुत्पत्तिवाक्यादेव पौर्णमासीकालत्वावगतेर्विद्वद्वाक्यस्थेन पौर्णमासीशब्देनानुवादात् फलवाक्यस्थेन पूर्णमासशब्देन ग्रहणोपपत्तेः प्राधान्यं सेत्स्यतीत्याशङ्क्याह—**सूत्रेति**। अपि वा पौर्णमास्यां स्यात्प्रधानशब्दसंयोगात्मन्त्रो यथा प्रधानं स्यादिति सूत्रेण प्रधानस्योपांशुयाजस्योपांशु पौर्णमास्यां यजन्निति शब्देन पौर्णमासीकालं संयोगात्पौर्णमास्यामेवोपांशुयाजः कार्यः। मन्त्रस्तु वैष्णवयाज्यानुवाक्यारूपेऽमावास्याक्रमाम्नातोऽपि प्रधानानुसारात्पौर्णमास्यामेव स्यादिति वदताऽस्यैव कालविधानार्थत्वेनोपन्यासान्नोत्पत्तिवाक्ये कालविधिरित्याशयः। पौर्णमासीशब्देनानपायश्च कालस्य लक्षणं हि पुरोडाशावित्यनेन न्यायेनैकपुरोडाशायां पौर्णमास्यामिवामावास्यायामप्युपांशुयाजोपपत्तिः पौर्णमासी विध्यभावे सूचिता। शाखान्तरइतिभाष्यं तावत्समाधातुमारभते—**अत्रेति**। शाखाभेदेनोपांशुयाजक्रमे वैष्णवादियाज्यानुवाक्यायुगलाम्नानात् श्रुत्यविनियुक्तस्यापि मन्त्रस्य प्रधानाकाङ्क्षितदेवताप्रकाशनलक्षणोपकारकत्व-

सम्भवेनाकङ्क्षितादृष्टोपकारकल्पनायोगाद्देवताकल्पकत्वोपपत्तेर्मन्त्रवर्णकल्पो देवताविधिर्विष्णुर्वा स्याद्धौत्राम्नानादि१०-८ति दशमोपान्त्यधिकरणगतसूत्रवक्ष्यमाणन्यायेन स्थितइत्यर्थः। सूत्रे विष्णुग्रहणमन्तरेण एकशाखायाममावास्यायां विष्णुयाज्यानुवाक्याम्नानादमावास्यायामेवोपांशुयाजहविः कार्यमिति प्रदर्शनार्थं पूर्वपक्षस्थेन कृतम्, न देवतान्तरनिवृत्त्यर्थमित्याशयः।

ननु नाना शाखाधीतानामपि याज्यानुवाक्यायुगलानां देवताकल्पनात्प्राक् दृष्टार्थत्वेनाऽनवसायाद्वसन्तमृतूनां प्रीणामीत्यादीनामेको ममेत्यादीनां च प्रयाजानुमन्त्रणानामिव समुच्चयापत्तेस्तत्कल्पानां देवतानामपि समुच्चयः प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह—**तैश्चेति**। देवताकल्पनात्प्रागपि याज्यानुवाक्यासामान्यतो यागाङ्गदेवताप्रकाशनलक्षणैककार्यत्वावगतेर्न समुच्चयो युक्त इत्याशयः। ननु याज्यानुवाक्यानां हौत्रप्रवचनाख्यवेदाम्नानेन, आध्वर्यवप्रवचनाख्ययजुर्वेदविहितोपांशुयाजापेक्षया वेदान्तरीयत्वाच्छाखान्तरीयत्वाभिधानं न प्रयुज्येतेत्याशङ्क्याह—**तदेव चेति**। वेदान्तरस्य शाखान्तरताप्यस्तीत्याशयः। वेदैक्यएव शाखान्तरव्यपदेशाश्रयेनापरितोपात्परिहारान्तरमाह—**आध्वर्यवेऽपि त्विति**। नन्वेवं सत्यध्वर्युप्रयोज्यत्वेव स्यादित्याशङ्क्य, होतर्यजेति प्रैषसामर्थ्याद्धोतृ—**प्रयोज्यत्वरूपेणेत्युक्तम्**। यथाश्रुतवचनव्यक्त्याश्रयणेनैव विष्णुप्रजापत्योरुपांशुधर्मकत्वावगतेर्यागस्य विष्णुप्रजापत्योश्चोपांशुत्वसाम्याद्विष्णुप्रजापतिदेवत्यत्वप्रापकलिङ्गोपन्यास इत्येवम्, तथापीति भाष्यं समाधत्ते—**उपांश्विति**। उपांशुधर्माणावित्यनेन यद्विष्णुप्रजापत्योरुपांशुत्वधर्मत्वमुक्तम्, तदुपांशुयाजस्य मन्त्रवर्णप्राप्तविष्णुप्रजापतिदेवत्यत्वद्योतनार्थमित्यर्थः। शाखान्तरभाष्योक्तस्य मान्त्रवर्णिकत्वस्य 'विष्णुर्वा स्यादि'ति सूत्रवक्ष्यमाणत्वद्योतनार्थं मन्त्राम्नानाच्चेति भाष्यमितिसूचनार्थश्चकारः। कथं विष्णुप्रजापत्योरुपांशुधर्मत्वेनोपांशुयाजस्य तद्देवत्यत्वद्योतनेत्यपेक्षायामाह—**अन्या हीति**। ननु प्रत्यक्षमानसत्वविविविरोधान्न लिङ्गेनोपांशुत्वप्राप्तिरित्याशङ्क्याह—**विष्ण्वति**। यथान्यो न शृणोति तथोच्चारणस्योपांशुत्वादन्याश्रवणसादृश्येन मानसत्वएवोपांशुशब्दोऽनुक्तदेवताकेषु विष्णुप्रजापतिदेवत्यत्वद्योतनार्थं प्रयुक्त इत्याशयः। अग्नीषोमयोस्त्विति भाष्यं कालविधायिनि वाक्येऽग्नीषोमयोः प्राप्तिरुदाह्रियतइत्येवं व्याचक्षाणः समाधत्ते—**तथेति**। तावब्रूतामित्यस्मिन्कालस्य विधायके वाक्येऽग्नीषोमीययोरनुवादेन मान्त्रवर्णिकीं प्राप्तिमग्नीषोमयोस्त्विति भाष्यमुपोद्बलयतीत्युक्ते ननु पुराकल्पसदृशस्यापि विधायकत्वाभ्युपगमे देवताविधायकतापि कस्मान्नेष्टेत्याशङ्क्य, कालस्य विधायके वाक्यभेदापत्तेर्देवता—**विध्यसम्भवादित्युक्तम्**। देवतैव तर्हि विधीयताम्, न काल इत्याशङ्क्यऽयथेत्यनेन देवताज्योपांशुत्वकालानामिह वाक्ये कीर्तितानां मध्येऽन्यतः प्राप्तिसम्भवासम्भवावालोच्य विधेयतया, अनुवाद्यतया च ग्रहणस्य न्याय्यत्वात्कालव्यतिरिक्तानां चान्यतः प्राप्तिसम्भवात्कालस्यै—**वैतद्विधायकमित्युक्तम्** ॥ १० ॥

भा० प्र०—पूर्व में कथित पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि "चोदना वा" विद्वद् वाक्य पठित पौर्णमासी शब्द के समान "उपांशुयाजमन्तरा यजति" इस

वाक्य का उपांशुयाज अनुवाद नहीं हो सकता है। वरन् इसको अपूर्व कर्म ही मानना होगा, कारण, "अप्रकृतत्वात्" क्योंकि इस स्थान में कोई प्रकृत कर्म नहीं है अर्थात् प्रस्तुत प्रसङ्ग में पूर्व में कोई भी अप्राप्त कर्म अन्य वचन के द्वारा विहित नहीं होता है, जिसका इसे अनुवाद माना जाय। "विष्णुरुपांशु यष्टव्यः" इत्यादि वाक्य यदि विधिवाक्य होता तो अन्तरावाक्य को अर्थात् "उपांशुयाजमन्तरा यजति" इस वाक्य को अनुवाद माना जाता। किन्तु "विष्णुरुपांशु" इत्यादि वाक्य विधि नहीं है, क्योंकि आग्नेय = अग्नि देवता के उद्देश्य से किया गया एवम् अग्नीषोम देवता के उद्देश्य में किया गया ये दो पुरोडाश यदि निरन्तर क्रम में किया जाय तो एक ही क्रिया निरन्तर क्रम में अनुष्ठित होने से जामिता अर्थात् आलस्य हो सकता है। वाक्य के आरम्भ में ही 'जामि वा एतत्' इत्यादि अंश में कहा गया है। उसी के परिहार के लिए मध्य में एक अन्य कर्म की व्यवस्था की गयी है, ऐसी स्थिति में नैरन्तर्य दोष नहीं होगा। उपांशुयाग उसी के मध्य अनुष्ठेय होने से अन्तरालगुण विशिष्ट कर्म है। किन्तु "विष्णुरुपांशु" इत्यादि वाक्य अन्तरालगुण विशिष्ट न होने से उससे अन्य कर्म का विधान नहीं हो सकता है। क्योंकि वैसे कर्मों से जामिता दोष का प्रतिकार नहीं हो सकता है। इसलिए अन्तरा वाक्य को ही विधि मानना उचित है अर्थात् उपांशुयाज ही विधेय अपूर्व कर्म है। इस स्थल में 'यजति' यह जो आख्यात है, यह लट् लकार नहीं है, वरन् लेट् पञ्चम लेट् लकार है, वह लकार लिङ्ग का समानार्थक है। इसलिए इस स्थल में विधि विभक्ति न होने से उपांशुयाग विधेय नहीं है, यह आपत्ति ठीक नहीं है। इसीलिए "उपांशुयाजमन्तरा यजति' यह वाक्य अर्थवाद नहीं है, अपितु विधि है। 'अन्तरा वाक्य' यदि विधि माना जाय तो उसके द्वारा अन्तरालत्व एवं उपांशुत्व विशिष्ट एक अपूर्व कर्म विहित होता है, ऐसी स्थिति में **"विष्णुरुपांशु"** इत्यादि को अर्थवाद ही मानना होगा।

यदि यह कहा जाय कि उनके द्वारा विष्णु आदि देवता रूप गुण का विधान किया जाता है, यह भी कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में वह अर्थवाद नहीं रहेगा। इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है कि "जामि वा एतद् यज्ञस्य क्रियते' इत्यादि से आरम्भ कर "अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्याव जामित्वाय" ये सभी मिलकर एक वाक्य हैं, कारण दो पुरोडाश निरन्तर भाव से अनुष्ठित होने पर जामिता होता है। इसके प्रतिकार के लिए इस वाक्य का उपक्रम या प्रवृत्ति है। "अग्नीषोमौ उपांशु यष्टव्यौ अजामित्वाय" इस अन्तिम वाक्य तक अंश में इस जामितादोषों का ही कथन है। इसलिए समग्र अंशों के मध्य में एकवाक्यता है। उनके मध्य में एकवाक्यता रहने से अनेक विधेय उसका विषय नहीं हो सकता है। अर्थात् उनके द्वारा एक से अधिक कर्म विहित नहीं हो सकता है। क्योंकि ऐसा होने से वाक्यभेद दोष होगा। 'अन्तरा' वाक्य से अन्तरालत्व एवं उपांशुविशिष्ट एक कर्म का विधान होता है। इसको अन्यथा नहीं कर सकते हैं। क्योंकि ऐसा होने से महान् अनर्थ होगा, अतः "विष्णुरुपांशु" इत्यादि वाक्य को ही अर्थवाद मानना होगा, इस

स्थल में अर्थवाद से 'उपांशुयाज' प्रशस्त होने से विष्णु, प्रजापति या अग्नीषोम देवता की पूजा (याग) की जाती है—यह प्रशंसा की जाती है। इस स्थल में उपांशुयाज में द्रव्य देवता रूप गुण न रहने से वह रूपहीन हो जायेगा, अतः उसका विधान नहीं हो सकता है। क्योंकि इस स्थल में उपांशुयाज में शाखाभेद से विष्णु, प्रजापति या अग्नीषोम इन तीनों का कोई एक देवता होगा एवं ध्रौव ध्रुवा में = होमसाधन पात्रविशेष में ग्रहण योग्य हवि ही द्रव्य है। "चोदना" = कर्मोत्पत्ति विधि, 'वा' = पूर्वपक्ष का निरासक है, "अप्रकृतत्वात्" = प्रकृत अर्थात् पूर्व से बोधित याग न होने से। उपांशुयाज वाक्य कर्मोत्पत्ति विधि अर्थात् उसके द्वारा "उपांशुयाज" नामक एक स्वतन्त्र कर्म का ही विधान होता है। किन्तु, वह अनुवाद नहीं है, क्योंकि, पूर्व में किसी कर्म का विधान नहीं है, जिसका अनुवाद इसे माना जाय ॥ १० ॥

गुणोपबन्धात् ॥ ११ ॥

शा० भा०—यदुच्यते न ज्ञायते कतमोऽसावुपांशुयाजसंज्ञको याग इति। यस्यायं गुण उपबद्ध 'उपांशु पौर्णमास्यां यजन्' इति। तस्मान्न दोषः ॥ ११ ॥ आशङ्कानिरासः ॥

भा० वि०—सूत्रव्यावर्त्यं दर्शयन् पूर्वपक्षोक्तामरूपत्वा शङ्कामनुवदति—**यदुच्येतेति**। रूपविशेषानवगमादिति भावः। उपांशुत्वगुणोपबन्धान्नारूपतेति सूत्रं व्याकुर्वन् परिहरति—**यस्येति**। स उपांशुयाजसंज्ञको विज्ञायत इत्यनुषङ्गः। उत्पत्तिवाक्यस्थस्योपांशुशब्दस्योपांशुविधानार्थत्वोपोद्बलनायोपांशुपौर्णमास्यामितिं वाक्यमुदाहृतम्, न त्वेतदेवोत्पत्तिवाक्यमिति द्रष्टव्यम्, यस्मादुपांशुत्वेन रूपेण रूपवत् तस्मान्नारूपत्वदोष इत्याह—**तस्मादिति**। इतश्च नोपांशुयाजवाक्यं पौर्णमासीवाक्यवत् समुदायानुवाद इत्याह ॥ ११ ॥

त० वा०—यस्यायं गुण उपबद्धो दृश्यते कालविधिपरे वाक्ये 'उपांशु पौर्णमास्यां यजन्नि'ति। न त्वेतदेव गुणस्योत्पत्तिवाक्यम्। अयागविधिपरे सत्यनेकार्थविधिप्रसङ्गात्। अत 'उपांशुयाजमन्तरा' इत्यनेनैव प्राप्तस्य संकीर्तनमिति ॥ ११ ॥

न्या० सु०—यदुच्यत इति भाष्येणोपांशुत्वगुणोपबन्धान्नारूपत्वेन पौर्णमासी लभ्यते इति पूर्वपक्षोक्तारूपत्वपरिहारार्थत्वेनैतत्सूत्रं व्याख्यातुमुपांश्विति वाक्यमुदाहृतम्। तद्देवतावदुपांशुत्वस्याप्यविधायकत्वाद्विध्यर्थत्वे चोपांशुशब्दस्य यागविशेषोपलक्षणार्थत्वायोगात्त्रिष्वपि पौर्णमासीयोगेषूपांशुत्वोपपत्तेर्नोदाहार्यमित्याशङ्क्योत्पत्तिवाक्यस्थस्योपांशुयाजशब्दस्योपांशुत्वविधानार्थत्वोपोद्बलनायैतदुदाहृतमिति सूचयन् व्याचष्टे—**यस्येति**।

यथाश्रुतार्थत्यागे हेतुमाह—नन्विति । नन्वार्थवादकल्पविधित्वमात्रेणैकस्य वाक्यस्यानेकार्थपरत्वे वाक्यभेदः शक्यपरिहारः । ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासे प्रायच्छदित्यादावनेकार्थविधौ चोदिते हि ते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्येतेत्यनेन वाक्यभेदाभिधानाद्रात्रिसत्रेऽप्यर्थवादकल्पस्य विधेः फलमात्रपरत्वान्नानेकार्थपरतास्तीत्याशयः । उपांशुत्वादिवच्चाज्यस्याप्यनेनैव विधानापत्तेर्हविर्लिङ्गाश्रुतित्वादिति दशमोपान्त्याधिकरणसूत्रविरोधः । किमर्थं तर्ह्येतदुदाहृतमित्यपेक्षायां पूर्वसूचितमेव प्राप्त्युपोद्‌वलनार्थत्वं प्रकटयति—अत इति ॥ ११ ॥

भा० प्र०—पूर्वपक्षी यदि यह कहें कि "उपांशुयाज" यह कर्म का नामधेय किस प्रकार है ? इसके उत्तर में कहना है कि **"गुणोबन्धात्"** "उपांशु पौर्णमास्यां यजन्" इस वाक्य में गुण का निर्देश है, अतः तत्प्रख्य न्याय से वह कर्म का नामधेय है ।

"गुणोबन्धात्" = गुण का उपवन्ध अर्थात् निर्देश होने से यह नाम है ॥ ११ ॥

प्राये वचनाच्च ॥ १२ ॥

शा० भा०—प्रधानकर्मप्राये वचनं प्रधानकर्मतामुपोद्बलयति । यथाऽन्यप्राये लिखितं दृष्ट्वा भवेदयमन्य इति मतिः । तस्मान्न समुदायशब्द इति ॥ १२ ॥ इति चतुर्थमुपांशुयाजाधिकरणम् ॥ ४ ॥

भा० वि०—एतद्व्याचष्टे—**प्रधानेति ।** प्रायेवचनमिति । यज्ञपुरुषस्य प्रधानावयवप्रकरणगतेनावयवेन हृदयमुपांशुयाज इति संस्तवनमित्यर्थः । अग्र्यः श्रेष्ठः, अयमप्यग्र्य इति प्रत्यय इति शेषः, विष्ण्वादिवाक्यैर्यागविधावुपांशुयाजभेदे सत्यग्नीषोमीयस्यैवोपांशुयाजस्य कालविधिप्रसङ्गेन विद्वद्वाक्यानूदितयोः फलवाक्यग्रहणेन प्राधान्याद्वैष्णवप्राजापत्ययोः गुणत्वापत्तेः उपांशुयाजमात्रप्राधान्यावगतिप्रसङ्गः इति भावः । प्रायेवचनफलवचनमाह—**तस्मादिति ।** प्रयोजनं तु पूर्वपक्षे कर्मनानात्वं सिद्धान्ते तदेकत्वमिति द्रष्टव्यम् ॥ १२ ॥

त० वा०—"हृदयमुपांशुयाज" इति यज्ञपुरुषस्य प्रधानप्रायेणावयवेन संस्तवात्प्रधानमित्यवगम्यते । कथं पुनरप्रधानत्वं पूर्वपक्षे प्रसज्यते । उच्यते ।

त्रयाणां वैष्णवादीनां समुदायेऽवधारिते ।
अग्नीषोमीय एवैकः पौर्णमास्यां विधीयते ॥

'तावब्रूतामग्नीषोमावि'ति योऽग्नीषोमदेवत्यः, स एवैकः कालविशेषसंयुक्तः पूर्णमासग्रहणेन फले चोद्यते । तत्र वैष्णवप्राजापत्ययोर्गुणभावात्सकलोपांशुयाजप्राधान्यवचनानुपपत्तिः ।

ननु तवापि वैकल्पिकदोषत्वाद्देवतासु यदैवाग्नीषोमीयदेवत्यः[1] तदैव प्राधान्यमिति, नित्यवत्प्रधानत्वसंकीर्तनं नैव घटते। नैष दोषः।

कालदेवतयोर्नात्र सम्बन्धोऽयं विधीयते।
यत्तु तल्लक्षितं कर्म तदन्यत्रापि विद्यते॥

यदि ह्यग्नीषोमयोरेव पौर्णमासीसंबन्धः क्रियते, ततो विष्णुप्रजापतिपक्षे न स्यात्। अयं पुनर्देवतोपलक्षितस्य यागस्य सम्बन्धः। सर्वत्र चोपलक्षणापायेऽप्युपलक्ष्यं गृह्यते। यथा वक्ष्यति, 'अनपायश्च कालस्य लक्षणं हि पुरोडाशौ' इति। न वैकस्यैव कर्मणः कदाचित्प्रधानत्वं कदाचिदङ्गत्वमित्युपपद्यते। नानात्वे त्वविरुद्धं स्यात्। न च सम्भवति तत्। तस्मादेककर्मत्वाय 'उपांशुयाजमन्तरा यजति' इत्ययमेव विधिः॥ १२॥

(इति चतुर्थमुपांशुयाजाधिकरणम् ॥ ४॥)

न्या० सु०—प्रधानेति भाष्येणोपांशुयाजस्य प्रधानप्राये वचनात् प्राधान्यावगतेर्विष्ण्वादिवाक्यैश्च विधानुपांशुयाजभेदे सत्यग्नीषोमीयस्यैवोपांशुयाजस्य कालविधिप्रसङ्गाद्विद्वाक्यानूदितत्वात्फलवाक्यग्रहेण प्राधान्याद्वैष्णवप्राजापत्ययोरुपांशुयाजयोर्गुणत्वापत्तेरुपांशुयाजमात्रप्राधान्यावगतिबाधप्रसङ्गान्नोपांशुयाजवाक्यं पौर्णमासीवाक्यवत्समुदायानुवाद इत्येवं सूत्रं व्याख्यातम्। तत्र किं प्राये वचनमित्यपेक्षायामुदाहरति—**हृदयमिति**। यज्ञस्यामूर्त्तत्वेन शिरोहृदयपादायोगमाशङ्क्य स्तुत्यर्थं पुरुषत्वोपचारः।

ननूपांशुयाजभेदेऽपि विध्युद्देशान्तर्गतत्वात्सन्निहितत्वाच्चोपांशुत्वस्यैवार्थवादस्थव्यवहितदेवतानपेक्षस्य यागोपलक्षकत्वात्सर्वेषामुपांशुयाजानां कालविध्यवगतेर्विशेषतश्च समुदायेनैकीकृतानां कालयोगावगतेः पक्षद्वयेऽप्यविशिष्टं प्राधान्यमित्याशङ्कते—**कथं पुनरिति**। यागोपलक्षणत्वं विना देवताकीर्त्तनानर्थक्यापत्तेरर्थवादस्थयोर्व्यवहितयोरपि वाग्नीषोमयोरुपांशुत्ववदुपलक्षणत्वावगमात्कालोद्देशेन चोपादीयमानानां यागानामनेकोपलक्षणान्वयेऽपि वाक्यभेदानापत्तेः, समुदायीकृतानामपि च कालान्वये समुदायशब्दाभावेनाग्नीषोमदेवत्यस्यैवोपांशुयाजस्य कालविधिप्रतीतेः प्राधान्यापत्तिरिति परिहरति—**उच्यत इति**।

अवधारितेऽपीत्यपिशब्दोऽध्याहार्यः। अग्नीषोमीय एवेत्यनेनाग्नीषोमयोरुपलक्षणत्वावश्यंभावः सूचितः। श्लोकं व्याचष्टे—**ताविति**।

नन्वेवं सत्युपांशुयाजैक्येऽप्यग्नीषोमपक्ष एव कालविधानापत्तेर्नित्यवत्प्राधान्यकीर्त्तनं न युज्येतेत्याशङ्कते—**नन्विति**। अष्टदोषदुष्टदेवताविकल्पापत्तेरप्युपांशुयाजैक्यपक्षो न युक्त इति सूचनार्थो दोषशब्दः। कर्मैक्ये सत्युपलक्षणापायेऽप्युपलक्ष्यानपायादेवतान्तरपक्षेऽप्यविशिष्टः कालविधिरिति परिहरति—**नैष इति**। श्लोकं व्याचष्टे—**यदि हीति**। सर्वत्रेत्युक्ते

---

१. क० दैवत्यः।

क्त्वेत्युदाहरणापेक्षायामसोमयाजिनोऽग्नीषोमीयपुरोडाशभावादन्तरालकालोपलक्षणीभूतपुरोडाशद्वयाभावेऽपि तदुपलक्षिताग्नेयपश्चाद्भावलक्षककलानपायादुपांशुयाजानिवृत्त्यभिधानार्थं दशमान्त्याधिकरणसूत्रमुदाहृतम्। एवं च सत्यग्नीषोमग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वेऽपि देवतान्तरपक्षे काल्योगनिवृत्तिप्रयोजनत्वानवगमात्फलवाक्ये वैरुप्यापत्तेश्च कादाचित्कप्राधान्यप्रयोजनत्वायोगादानर्थक्यपरिहारायाज्यग्रहणवत्स्तुत्यर्थतैव न्याय्येति सूचयितुमाह—**नचेति**। भेदे तूपलक्षणार्थतया विध्युद्देशान्तर्गतत्वेन प्रयोजनवत्तरत्वसम्भवे मन्दप्रयोजनस्य स्तुत्यर्थत्वस्यान्याय्यत्वादुपलक्षणार्थतैवोचितेति। सूचयितुमाह—**नानात्वे त्विति**। तस्मादित्युपसंहारभाष्यं प्रायवचनहेतुसाध्याभिधानार्थत्वेन व्याचष्टे—**तस्मादिति**। अधिकरणसिद्धान्तप्रयोजनाभिधानार्थम्—**चैककर्मत्वायेत्युक्तम्**॥ १२॥

इति चतुर्थमुपांशुयाजाधिकरणम्।

भा० प्र०—अन्य प्रधान कर्मों के साथ उल्लिखित होने पर भी उपांशुयाज अपूर्व कर्म है। "तस्य वा एतस्य आग्नेय एव शिरः हृदयमुपांशुयाजः पादावग्नीषोमीयः" इत्यादि वाक्य में आग्नेय एवं अग्नीषोमीय आदि प्रधान कर्मों के साथ पठित होने से उपांशुयाज भी प्रधान कर्म है अर्थात् स्वतन्त्र अप्राप्त कर्म है, इसलिए वह अर्थवाद नहीं हो सकता है।

इस अधिकरण का यह फल है कि पूर्वपक्षी के मत में विष्णु, प्रजापति एवं अग्नीषोम इन तीन देवताओं के उद्देश्य से तीन यागों के समुच्चय में अनुष्ठान करना चाहिये, सिद्धान्ती के मत में विकल्प से एक ही अनुष्ठेय है, इस प्रसङ्ग में शाखाभेद से विकल्प व्यवस्थित है।

"प्राये" = प्रधान की पंक्ति में "वचनात्" = वचन अर्थात् उल्लेख होने से॥ १२॥

अथ पञ्चममाघाराग्निहोत्राधिकरणम्।

[५] आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात् ॥ १३ ॥ पू०

शा० भा०—'आघारमाघारयति' इति श्रूयते। तथेमान्यपराणि, 'उर्ध्वमाघारयति, संततमाघारयति, ऋजुमाघारयति' इत्येवमादि। इदं च, 'अग्निहोत्रं जुहोति' तथा 'दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति' इत्येवमादि। तत्र संदेहः किमूर्ध्वमाघारयति[1], दध्ना जुहोति इत्येवमादिभिराघाराहोमाश्च विहिताः, तेषामाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोति' इत्येतौ समुदायानुवादौ, उतैतावेवापूर्वयोराघारहोमयोर्विधातारावििति। किं तावत्प्राप्तं? नापूर्वयोर्विधी इति। कुतः? अरूपत्वात्। न ह्येतयोः पूर्वेभ्यो होमाघारेभ्यो विस्पष्टं[2]

१. ब. ऋजु।　　२, ब, विस्पष्टं।

रूपमस्ति, यतः कर्मान्तरमध्यवस्येम[1] अतः प्रकृतानां[2] रूपवत्त्वात् । प्रकृतानुवादौ ॥ १३ ॥ पूर्वपक्षः ॥

भा० वि०—यद्यप्युपांशुयाजवत् प्रकृतकर्माभावेनेहापि समुदायानुवादत्वनिरासससिद्धेः पुनः प्रत्यवस्थानानुपपत्तिः तथाप्यूर्ध्वमाघारयति तण्डुलैः जुहोतीत्यादीनां स्वप्रधानकर्मविधायित्वेन विष्ण्वादिवाक्यवैलक्षण्यात् तद्विहितकर्मसमुदायानुवादत्वशङ्कोत्थानासङ्गतिः । विषयं वदन् निर्गुणकर्मश्रवणं गुणश्रवणं च क्रमेणोदाहरणद्वये दर्शयति—**आघारमित्यादिना** । अविज्ञातरूपस्यैव विधेयत्वसंभवासंभवाभ्यां संशयमाह—**तत्रेति** । प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षमाह—**किमित्यादिना** । तदनेन पूर्वाधिकरणपूर्वपक्षसूत्रात् पौर्णमासीवत्पदानुषङ्गेणाघाराग्निहोत्रं पौर्णमासीवत्समुदायानुवादः । नापूर्वयोर्विधायकमिति सूत्रं योजितम् । प्रश्नपूर्वकं हेतुभागं व्याचष्टे—**कुत इत्यादिना** । पूर्वेभ्य इति । दध्यूर्ध्वादिवाक्यविहितेभ्य इति यावत् । तावदाघाराग्निहोत्रवाक्ययोः स्ववाक्यविहितं रूपमस्ति न च दध्यूर्ध्वादिवाक्यविहितरूपापेक्षया विधित्वं एतद्वाक्यविहिते कर्मणि वाक्यान्तरैस्तदनुवादेन रूपविधिः वाक्यान्तरविहिते च रूपे सति तदपेक्षया कर्मविधिरितीतरेतराश्रया पत्तेरिति भावः ।

ननु दध्यूर्ध्वादिवाक्यानां कर्मविधितैव नास्ति कथं तत्समुदायानुवादत्वम् ? तत्राह—**अत इति** । नह्युपांशुयाजवाक्यवदेषामेकवाक्यता विष्ण्वादिवाक्यवत् स्तुत्यर्थता वेष्टा तेन निश्चिते विधित्वे कर्मनिरपेक्षगुणविध्ययोगाद्गुणविशिष्टकर्मविधितैव न्याय्येत्याशयः ।

ननु दध्यादिवाक्ये द्रव्यसद्भावेऽपि देवताभावादूर्ध्वादिवाक्ये द्रव्यदेवतयोः द्वयोरप्यभावात् कथं कर्मविधित्वमत आह—**प्रकृतानां रूपवत्त्वादिति** । दध्यादिवाक्यस्य यदग्नये चेत्यादिवाक्यविहितदेवतावत्त्वादूर्ध्वादिवाक्यस्य च तस्याघारमाघार्येति प्रयाजाङ्गाज्यद्रव्यकत्वात् ऊर्ध्वोऽध्वर इति मान्त्रवर्णिकदेवतावत्त्वाच्च कर्मविधित्वोपपत्तिरित्याशयः । समुदायानुवादत्वे हेत्वन्तरपरत्वं सूत्रस्य दर्शयितुं चशब्दाध्याहारेण व्याचष्टे—**संज्ञोपबन्धश्चेति** । संज्ञायाः कर्मसमीपे विशेषणत्वेन बन्धनं विवृणोति—**अग्निहोत्रं नामेति** । जुहोति करोतीति यावत् । भवतु को दोषस्तत्राह—**न चेति** । सर्वत्र विशेषप्रतिपत्त्यर्थत्वात् संज्ञाया विशेषस्य च रूपं विना निर्धारणात् संज्ञोपबन्धानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ १३ ॥

---

१. ब. मध्यवसेयम् ।

२. ब. प्रकृतत्वात् प्रकृतानुवादौ ।

अथ पञ्चममाघाराग्निहोत्राधिकरणम्

त० वा०—ऊर्ध्वमाघारयति तण्डुलैर्जुहोतीत्यादिभिरेवंभूता एवाऽऽघारा होमाश्च विहिता विपरिवर्त्तन्ते। न हि 'विष्णुरुपांशु यष्टव्यः' इत्यादिवद् द्रव्यप्राधान्येन यागहोमभावनयोरभिभवः। किं च।

न चैषामेकवाक्यत्वं न च स्तुतिपरा श्रुतिः।
ऐकान्तिको विधिस्तेन गुणवत्कर्मगोचरः॥

नोपांशुयाजवाक्यवदेषामेकवाक्यत्वमिष्टम्, न च स्तुत्यर्थता। तेनोभयपक्षे निश्चिते विधित्वे, गुणमात्रं विधीयताम्, तद्युक्तं वा कर्मेति। कर्मविधानं युक्तम्। कुतः?

विधित्वं प्रत्ययोपात्तं न नामपदमृच्छति।
तद्विधिर्भावनातश्चेत्सैव पूर्वं विधीयताम्॥

न तावद्दध्यादिशब्दैः स्वयं विधित्वमभिधीयते। न च प्रत्ययोपात्तं सत् भावनाधात्वर्थव्यतिरेकेण स्वतन्त्रैर्दध्यादिभिः सम्बध्यते। न हि भवति दध्ना यादिति। किं तर्हि दध्ना कुर्यादिति संबध्यते। होमं वाऽनेन कुर्यादिति। तस्माद्यत्प्रसादेन दध्यादेः कर्त्तव्यता, तावेव भावना-धात्वर्थौ व विधीयेते इति कुत एतत्। न हि तद्विध्यनपेक्षं कथंचिदपि गुणविधानं शक्यं दर्शयितुम्। यदैव हि दर्शयितुमुपक्रम्यते तदैव पूर्वतरं भावनाधात्वर्थविधिर्बलादापद्यते। तस्माद्धोमदध्यादिविशिष्टभावे[1]नैव विधीयते। ततश्च तासां रूपवतीनां प्रत्येकशिष्टः समुदायोऽस्ती'त्यग्निहोत्रं जुहोती'ति तदनुभावो विज्ञायते। निमित्त-फलचोदनयोश्च एकत्वोपजनः समुदायानुवादे प्रयोजनम्। एवं च सति दध्यादेर्भिन्नकर्मविषयत्वादन्याय्यो विकल्पो न प्रसज्यते।

तथो'र्ध्वमाघारयती'त्यादिषु यद्यपि द्रव्यदेवतं न श्रूयते, तथाऽप्युपांशुत्वन्यायेन व्यवच्छेदकारणत्वादूर्ध्वत्वादिभिरेव रूपवत्तायां कल्पितायाम्, आघारमाघारयतीत्यरूपः सन् स्वार्थे विनियोक्तुमशक्नुवन्ननुवादो भवति। तस्यापि प्रयोजनम् 'इन्द्र[2] ऊर्ध्वो अध्वर' इति मन्त्रविनियोगे, 'तस्याऽऽघारमाघार्य' इति च द्रव्यविधावेकत्वसिद्धिः॥ १३॥

अथ पञ्चममाघराग्निहोत्राधिकरणम्॥ ५॥

न्या० सु०—नापूर्वविधी इति भाष्येण पूर्वाधिकरणपूर्णपक्षसूत्रस्थपौर्णमासीवत्पदानुषङ्गेणाघाराग्निहोत्रं पौर्णमासीवत् समुदायानुवाद इत्येवमेतत्सूत्रं व्याख्यातम्। तत्रोपांशुयाजवत्प्रकृतकर्माभावेनेहापि समुदायानुवादत्वनिरासंसिद्धः प्रत्यवस्थानानुपपत्तिमाशङ्क्योः-

---

१. क० दध्यादिविशिष्टाभावना। २. क० इडऊर्ध्वो।

पांशुयाजवैषम्यमाहोर्ध्वमिति । वैषम्योक्त्यऽनन्तरसङ्गतिरपि सूचिता । ननूर्ध्वादिवाक्यानां कर्मविधितैव नास्तीत्याशङ्क्याह—**किं चेति** । एकोपक्रमसंहाराभावेनैकवाक्यत्वावगतेः । कथं चिच्चैकवाक्यत्वप्रतीतावपि ऊर्द्धत्वादेः कथं चित्प्राप्त्यभावेन स्तुत्यर्थत्वायोगाद्विधित्वावगतेः कर्मनिरपेक्षगुणविध्ययोगाद् गुणविशिष्टकर्मविधितैव न्याय्येत्याशयः । श्लोकं व्याचष्टे—**नेति** । कर्मनिरपेक्षगुणविधिसम्भवासम्भवसन्देहोऽत्र मूलसन्देहे हेतुरिति सूचयितुं सन्देहपूर्वं गुणवत्कर्मगोचरपदव्याख्या । एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कुत इति** । श्लोकं व्याचष्टे—**न तावदिति** । विधौ स्मृताया लिङो यासुडाडमविधानात् यादित्येतावतः प्रयोगाननुगतमपि विध्यविधायित्वमभ्युपेत्य—**न हीत्युक्तम्** । भावनाभिधायित्वं तु शुद्धस्य न प्रयोजनात्स्मृतेर्वावगम्यतइत्याशयः । कुर्याच्छब्दमात्रान्वयेऽपि धात्वर्थाद्व्यतिरेकः स्यान्न भावनातः वस्तुतस्तु करोत्यर्थस्यापि धात्वर्थानवच्छिन्नस्याप्रतीतेर्न तद्व्यतिरेकेणापि विधित्वस्य दध्याद्यन्वयः सम्भवतीति किं—**तर्हीत्यनेनोक्तम्** ।

ननु भावनाया धात्वर्थानपेक्षगुणविध्ययोगेऽपि तद्वारैव गुणविधिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**तस्मादिति** । अशक्तिमेवोक्तवचनव्यक्तिद्वयातिरिक्तवचनव्यक्त्यसम्भवेनोपपादयति—**यदेव-हीति** । दध्युदूर्ध्वादिवाक्यानां गुणवत्कर्मगोचरत्वमुपपादितमुपपादयति—**तस्मादिति** । ननु तस्मादेव तावपि समुदायानुवादाविति पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यात्समुदायानुवादत्वं पूर्वपक्ष्यभिमतं गम्यते । न च दध्युदूर्ध्वादिवाक्यविहितानां कर्मणां समुदायोऽस्त्येकधर्मयोगाभावादित्याशङ्क्याह—**ततश्चेति** । हवनाधारणरूपैकजातीयैकदेशे पठितत्वलक्षणैकधर्मयोगाख्येन प्रचयेनापादितः समुदायोऽस्तीत्यर्थः । धात्वर्थसमुदायस्येव धातुना भावनासमुदायस्यापि प्रत्ययेनानुवाद इति वक्तुम्—**तासामित्युक्तम्** । रूपवतीनामित्यनेनाघाराग्निहोत्रयोः स्ववाक्ये विहितरूपाभावाद्वाक्यान्तरविहितरूपापेक्षणे च विहिते कर्मणि वाक्यान्तरैस्तदनुवादेन रूपविधिः, वाक्यान्तरविहिते च रूपे सति कर्मविधिरितीतरतराश्रयापत्तेः, कर्मविध्ययोगं सूचयता न हीत्यरूपत्वव्याख्यानार्थं भाष्यं व्याख्यातम् । अनुवादप्रयोजनापेक्षायामग्निहोत्रवाक्ये तावद्यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादिति निमित्तचोदनाया'मग्निहोत्रं जुहुयादि'ति फलचोदनायां चैकत्वसिद्धि प्रयोजनमाह—**निमित्तेति** । पूर्वपक्षे निष्प्रयोजनत्वदोषं परिहृत्य, प्रत्युतान्याय्यविकल्पपरिहारो गुण एव स्यादित्याह—**एवं चेति** । नन्वाघारकर्मणोर्द्रव्यदेवतान्वयेन यागरूपतायास्तत्प्रख्याधिकरणेऽभिहितत्वाद्यागरूपस्य च द्रव्यदेवतस्याघारवाक्यवदूर्ध्वादिवाक्येऽप्यश्रुतेररूपता तुल्येत्याशङ्क्याह—**तथेति** । आघारवाक्येष्वनुवादप्रयोजनमाह—**तस्यापीति** ॥ १३ ॥

भा० प्र०—श्रुतियों में कहा गया है कि "आघारमाघारयति" इसके समीप में "ऊर्द्धवमाघारयति", "ऋजुमाघारयति" एवं "सन्ततमाघारयति" (तै० सं० २।५।११) ये वाक्य पढ़े गये हैं, इसी प्रकार अन्य स्थल में भी "अग्निहोत्रं जुहोति", "पयसा जुहोति" (तै० सं० १।५।९) यह पठित है । इसमें यह सन्देह होता है कि इस स्थल में

"अग्निहोत्रं जुहोति" एवं आघारमाघारयति, ये दो वाक्य विधि हैं या अनुवाद। इसमें पूर्वपक्षी का कहना है कि "अग्निहोत्रं जुहोति" यह वाक्य "दध्ना जुहोति" और "पयसा जुहोति" इस समुदाय अंश का अनुवाद है और "आघारमाघारयति" यह वाक्य भी "ऊर्ध्वमाघारयति" इत्यादि समुदाय अंश का अनुवाद है, किन्तु यह अपूर्व कर्म का विधायक नहीं है। क्योंकि "अरूपत्वात्" "अग्निहोत्रं जुहोति" एवम् "आघारमाघारयति" ये दो वाक्य विधि नहीं हो सकते है, क्योंकि, इस स्थल में याग का रूप जो द्रव्य उसका उल्लेख या प्राप्ति नहीं है।

"आघाराग्निहोत्रम्" = आघार वाक्य एवम् अग्निहोत्र वाक्य अनुवाद है, "अरूपत्वात्" इस स्थल में याग का रूप द्रव्य और देवता श्रुत नहीं है॥ १३॥

संज्ञोपबन्धात् ॥ १४ ॥

शा० भा०—संज्ञोपबन्धश्च भवति अग्निहोत्रं नाम होमं जुहोतीति, आघारसंज्ञकं कर्म करोतीति संज्ञाविशिष्टावाघारहोमौ विधीयेते। न च विज्ञायेते कोऽसावघारो नाम कर्मविशेषः? कश्चाग्निहोत्रसंज्ञक इति? ननु विज्ञायत आघारणम्-आघारः, हवनं-होमः। यद्याघारणसामान्यम्, होमसामान्यं च विधीयेते, विज्ञातपूर्वौ तर्ह्याघारहोमौ। तेनानुवादौ। अथाव्युत्पन्ना उभयोरपि संज्ञा, तथाऽपि नाऽऽघाराग्निहोत्रसामान्यमुच्येत, विशेषाश्रयत्वात् संज्ञायाः। न च स विशेषो गम्यत इत्यपूर्वाघारहोमविधी:[1]। नावकल्प्येते। अपि च कथं क्रिया साधनशब्देनोच्येत। ईप्सिततमं हि यत्साधनम्, तद् द्वितीयान्तेनोच्यते। क्रिया तिङन्तेन। अनुवादपक्षे क्रियाणां समुदायोऽर्थान्तरम्, तदीप्सिततमं साधनं भविष्यति॥ १४॥

भा० वि०—नन्वाघाराग्निहोत्रसंज्ञयोः यौगिकत्वाद्विनापि रूपं उद्भिदादिवत्संज्ञयैव कर्मविशेषो विज्ञायते इति चोदयति—**नन्विति**। उद्भित्संज्ञया पश्वनुत्पादककर्मव्यावृत्तेः अतिदेशिकद्रव्यदेवतालाभाच्च पशूत्पादकचित्रादिव्यावृत्तेः तत्र विशेषज्ञानसंभवेऽपि अत्र व्यवस्थितप्रकृत्यलाभेनातिदेशायोगात् द्रव्यदेवतासिद्धेः अनाघाराहवनरूपकर्मव्यावृत्तावपि संज्ञयाघारणहवनरूपकर्मान्तरा व्यावृत्तेः विशेषज्ञानासंभवेनाघारणहवनसामान्ययोरेव संज्ञित्वापत्तेः, तयोश्च दध्यादिवाक्यविहितविशेषान्तर्गतत्वेन ज्ञातपूर्वत्वादनुवादतैव स्यादिति परिहरति—**यदित्यादिना**।

ननु विधिस्वभावादेव विधेयान्तरव्यावृत्तकर्मविशेषप्रतीतेः अयौगिक्यामपि संज्ञायां विशेषज्ञानं सेत्स्यतीत्याशङ्कते—**अथेति**। तत्र वक्तव्यं संज्ञाया व्यावृत्ति-

१. ब. आघारोहोमविधानं नावकल्पते।

रित्यर्थः उताघारणहवनसामान्यं अथ तद्विशेष इति ? नाद्य इत्याह—**तथापीति**। विधिस्वभावाद्विधेयान्तरव्यावृत्तिप्रतीतावपि नञ्योगशून्यायाः संज्ञायाः व्यावृत्तिवाचित्वं न संभवतीत्यर्थः। नद्वितीय इत्याह—**नाघारणेति**। विशेषस्यैव विधेयतया संज्ञाविषयत्वेनाविधेयस्य सामान्यस्य तदसंभवादित्यर्थः। न तृतीय इत्याह—**न चेति**। विधेयत्वेन वाच्यत्वार्हस्य विशेषस्य रूपं विनानवगतेरित्यर्थः। फलितमाह—**इतीति**। द्वितीयान्ते संज्ञोपबन्धादित्येवमर्थतयापि सूत्रं व्याचष्टे—**अपि चेति**। साधनशब्देनेति। आघारमग्निहोत्रमिति च द्वितीयान्तेन कारकशब्देनेति यावत्। कानुपपत्तिस्तत्राह—**ईप्सिततमं हीति**। केन तर्हि क्रियोच्यते ? तत्राह—**क्रियेति**। अस्मत्पक्षे तु नायं दोष इत्याह—**अनुवादेति**। यद्यपि समुदायस्य समुदादिभ्योऽत्यन्तभेदो नास्ति तथापि समुदायिनामेव प्रत्येकरूपात् सामान्यरूपस्य भेदात् तस्यैव च समुदायशब्दवाच्यत्वात् तस्य चैकधर्मान्वयाख्यप्रचयद्वारा प्रत्येकरूपैः साध्यत्वात् कर्मकारकत्वोपपत्तिरित्याशयः। पूर्वं स्ववाक्यगतरूपाभावेऽपि वाक्यान्तरविहितरूपेण रूपवत्त्वमाशङ्क्येतरेतराश्रयदोष उक्तः॥ १४॥

त० वा०—अपि च।

विशेषप्रतिपत्यर्थं संज्ञा सर्वा प्रवर्त्तते।
यदा तदा विशेषोऽसौ कोऽस्येति न निरूप्यते॥
सामान्यं स्यादिदं ज्ञेयं ज्ञातत्वान्न क्रियान्तरम्।
तदज्ञेयतया नात्र[1] विधानमवकल्पते॥
क्रियाश्चाकारकत्वेन युज्यन्ते न द्वितीयया।
ताभिस्तु साध्यमानत्वात्समुदायस्य कर्मता॥

आघारम्, अग्निहोत्रमिति द्वितीयानिर्देशः। क्रियेप्सितस्य कारकस्य युज्यते। न च जुहोत्याघारयतिभ्यामात्मैवाप्तुमिष्यते। स्वात्मनि क्रियाविरोधात्। समुदायः पुनर्निष्कृष्य शब्देनार्थान्तरात्मनोच्यमानः शक्यः साध्यत्वेनाभिधातुम्। यथौदनपाकं पचतीति विशेषः सामान्येनेप्सिततमः कर्मत्वेनोच्यते।

ननु च समुदायस्य[2] समुदायिभ्योऽव्यतिरेकान्न कथं चित्साध्यत्वमवसीयत इत्युक्तमेव कर्मत्वम्। न। अवयवक्रियाप्रचयसाध्यत्वात्समुदायस्य। समस्ताभ्यो हि समुदायस्याव्यतिरेकादेवमुपादानं न स्यात्, प्रत्येकरूपात्तु समस्तरूपमर्थान्तरमिष्टम्। न च प्रत्येकरूपैर्विना समस्तरूपनिष्पत्तिरित्युपपन्नमीप्सिततमत्वम्।

ननु चैवमादयः समुदायिवचनत्वेनावधारिता इति समुदायिनां स्वात्मनि क्रियाविरोधस्तदवस्थ एव स्यात्। नैष दोषः। समुदायिवचनेनापि प्रातिपदिकेन

---

१. क० न्यत्र। २. क० समुदायस्याव्यतिरेकात्।

समुदायोऽपि लक्षणया गम्यते। ततश्चैकत्ववत्कर्मत्वं समुदायस्य प्रत्येष्यते। न च सामान्यविशेषभेदेनापि भवतः क्रियात्वकर्मत्वे पाकत्वसंभवतः। सामान्यविशेषशब्दयोर्भेदेनाऽनुपादानात्। एतच्च पौर्णमासीमित्यत्रापि सिद्धान्ते योज्यम्। तस्मात्तद्वदेव समुदायानुवादत्वम् ॥ १४ ॥

न्या० सु०—संज्ञोपबन्धश्चेति सूत्रव्याख्यानार्थं भाष्यं व्याचष्टे—**अपि चेति**। असौ संज्ञाप्रतिपाद्यो विशेषोऽस्य जुहोत्याघारयति वाक्यस्य कर्मणः क इति। रूपं विना न निर्द्धार्यतइत्यर्थः। नन्विति भाष्येणाघाराग्निहोत्रसंज्ञायायौगिकत्वेनोद्भिदादिवत्संज्ञयैव कर्मविशेषो विज्ञायतइत्याशङ्क्य, यदीत्यनेनोद्भित्संज्ञया पश्वनुत्पादककर्मव्यावृत्तेरातिदेशिकद्रव्यदेवतालाभाच्च पशूत्पादकचित्रादिव्यावृत्तेर्विशेषज्ञानसम्भवेऽप्यत्र व्यवस्थितप्रकृत्यलाभेनातिदेशायोगाद्दध्यादिवाक्येषु च शुद्धगुणविध्ययोगेनोपदेशतोऽपि द्रव्यदेवताऽलाभात्संज्ञया नाघारयागाहवनरूपकर्मव्यावृत्तावप्याघारणहवनरूपकर्मान्तराव्यावृत्तेर्विशेषज्ञानासम्भवेनाघारणहवनसामान्ययोरेव संज्ञित्वापत्तेः, तयोश्च दध्यादिवाक्यविहितविशेषान्तर्गतत्वेन ज्ञातपूर्वत्वादनुवादत्वं स्यादिति परिहृतम्। तद्व्याचष्टे—**सामान्यमिति**। आघाराग्निहोत्रसंज्ञयोर्यौगिकत्वेऽप्याघारणहवनसामान्यं प्रतिपाद्यं स्यादिदं चान्यत एव ज्ञातत्वान्न क्रियान्तरवद्विधानार्हमिति, वत्यर्थकल्पनया योज्यम्। अथेति भाष्येण विधिस्वभावादेव विधेयान्तरव्यावृत्तकर्मविशेषप्रतिपत्तेरयोगिक्यामपि संज्ञायां विशेषज्ञानं सेत्स्यतीत्याशङ्क्य, तथापीत्यनेन विधिस्वभावाद्विधेयान्तरव्यावृत्तिप्रतीतावपि नन्व्योगशून्यायाः संज्ञाया व्यावृत्तिवाचित्वाभावात्, तिष्ठतेरपि गतिनिवृत्तिवाचित्वे सत्युपवेशनादावपि प्रयोगापत्तेरुर्ध्वत्वोपलक्षणार्थत्वेन गतिनिवृत्त्यर्थत्वस्मृतेर्व्याख्येयत्वाच्छुद्धयोश्चाघारणहवनयोः सामान्यरूपत्वेनाविधेयतया विधानार्थं वाच्यत्वानर्हत्वाद्विधेयत्वेन च वाच्यत्वार्हस्य विशेषस्य रूपं विनानवगतत्वेनापूर्वविशेषविधिर्युज्येतेति परिहृतम्। तद्व्याचष्टे—**तदज्ञेयतयेति**। तस्य विधानार्हस्यापूर्वस्य क्रियान्तरस्यान्यत्र दध्यादिवाक्येषु विधिर्युज्यते, न त्वाघाराग्निहोत्रवाक्ययोः तत्र रूपाभावेनाज्ञेयत्वादित्यध्याहारेण योजना। नात्रेति तु पाठः सुगम एव। द्वितीयान्तसत्संज्ञोपबन्धादित्येवमन्यथा सूत्रव्याख्यानर्थमपि चेति भाष्यं व्याचष्टे—**क्रियाश्चेति**, कारकवाचित्वेन साधनशब्दव्याख्यानाय—**कारकत्वेनेत्युक्तम्**। उत्तरार्द्धेनानुवादेति भाष्यं व्याख्यातम्। श्लोकं व्याचष्टे—**आघारमिति**। समुदायस्य समुदायिभ्योऽत्यन्तभेदाभावेऽपि साध्यत्वोपपत्तिर्दृष्टान्तेनोक्ता।

ननु सामान्यशब्दोक्ताया भावनातो विशेषशब्दोक्तस्य धात्वर्थस्य व्यापाररूपत्वेनाभेदवद्भाव्याभाव्यनिष्ठत्वेन भेदस्यापि भावद्युक्तं कर्मत्वं समुदायस्य तु समुदायिभ्यः कथंचिदपि भेदाभावात्कथं कर्मतेत्याशङ्कते—**ननु चेति**। समुदायिभ्यः समुदायस्य भेदाभावेऽपि समुदायिनामेव प्रत्येकरूपासामस्त्यरूपस्य भेदात्, तस्यैव च समुदायशब्दवाच्यत्वादेकधर्मान्वयाख्यप्रचयद्वारा च प्रत्येकरूपैः साध्यत्वात्कर्मत्वोपपत्तिरिति 'क्रियाणामि'ति

भाष्यसूचितं परिहारमाह—नेति । समुदायस्यावयवभूतानां क्रियाणां प्रचयेन साध्यत्वान्नायुक्ता कर्मतेत्यर्थः । एतदेव विवृणोति—समस्ताभ्यो हीति ।

नन्वाघाराग्निहोत्रशब्दयोः पौर्णमास्यमावास्याशब्दन्यायेन प्रत्येकरूपवाचित्वावधारणात्प्रत्येकरूपस्यैव कर्मत्वं वाच्यम् । तच्च विरुद्धमित्याशङ्कते—ननु चेति । अवाच्यस्यापि सामस्त्यरूपस्य लक्षणयाऽवगतेः । कर्मत्वं भविष्यतीति परिहरति—नैष इति । ननु विधावप्योदनपाकं पचतीतिवद्भावनाधात्वर्थलक्षणसामान्यविशेषभेदेनापि क्रियाकर्मत्वोपपत्तेर्न कर्मत्वनिर्देशोऽनुवादत्वहेतुरित्याशङ्क्याह—न चेति । जुहोत्याघारयतिसामानाधिकरण्यं विनाग्निहोत्राघारशब्दयोर्धात्वर्थवाचित्वानवगतेः जुहोत्याघारयत्योश्च पाकमितिवद्भावनाख्यसामान्यशब्दादाख्यातप्रत्ययाद्भेदेनानुपादानाद्धात्वर्थस्य कर्मत्वम्, यद्भवतो अभिमतं तन्न सम्भवतीत्यर्थः । ननु तत्प्रख्याधिकरणे—

सामाधिकरण्यं च साध्यांशेनेह कर्मण ।

इति वार्त्तिके जुहोत्याघारयत्यर्थयोः शब्दभेदानुपादानेऽपि साध्यत्वस्योक्तत्वात् द्वितीयान्तसञ्ज्ञोपबन्धस्य पूर्वपक्षहेतुमात्रत्वप्रतीतेः किमात्रातिनिर्बन्धेनेत्याशङ्क्याह—एतदिति । पौर्णमासीसिद्धान्तौपयिकत्वान्निर्बन्ध इत्याशयः ।

भाष्यकृता तु धात्वर्थस्य भाव्यनिष्ठत्वाभावेन करोत्यर्थक्रियात्वाभावादकारकत्वे च क्रियारूपया भावनयाऽनन्वयापत्तेः, विधिसामर्थ्याच्च करणत्वावगमेऽपि कर्तृव्यापारव्याप्यत्वं विना करणत्वायोगेनार्थाद्व्याप्यरूपकर्मत्वप्रतीतेर्विधिपक्षेऽपि द्वितीयान्तसञ्ज्ञोपबन्धोपपत्तेरेतद्व्याख्यानादरेणाद्यैव व्याख्या य एवं विद्वान्पौर्णमासीसञ्ज्ञकं यागं यजतइत्यादिना पौर्णमासी सिद्धान्ते योजिता । द्विविधमपि सूत्रार्थमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ १४ ॥

भा० प्र०—अग्निहोत्र वाक्य एवम् आघार वाक्य विधि नहीं है, इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी ने अन्य कारणों का निरूपण करते हुए कहा है—"संज्ञोपबन्धात्" अग्निहोत्र और आघार वाक्य को विधि मानने पर अग्निहोत्र एवम् आघार इन दो कर्मों में विधि होगी। किन्तु, इनका रूप न होने से वैशिष्ट्य की अवगति नहीं होती है और वैशिष्ट्य के न रहने पर सामान्याकार होने से नाम भी नहीं हो सकता है, क्योंकि वैशिष्ट्य ही नाम है और नाम ही वैशिष्ट्य है। ऐसी स्थिति में विषय भी नहीं हो सकता है, क्योंकि सामान्य अनुष्ठेय नहीं हो सकता है। इनका विशेष आकार नहीं माना जाता है, वरन् अग्निहोत्र एवम् आघार होम है—यह सामान्य आकार ही अवगत रहता है। इनका सामान्य आकार ही ज्ञेय है, ऐसी स्थिति में विधि नहीं कहा जा सकता है, वरन् अनुवाद ही कहा जायेगा, क्योंकि सामान्य पूर्व से ही ज्ञात है और जो पूर्व से ज्ञात होता है, वह विधेय नहीं होता है ॥

"संज्ञोपबन्धात्" = संज्ञा का = नाम का उपबन्ध अर्थात् उल्लेख होने से—वह विधि नहीं हो सकती ॥ १४ ॥

अप्रकृतत्वाच्च ॥ १५ ॥

शा० भा०—न च प्रकृतमपि द्रव्यदेवतमाघारे विद्यते, येन रूपवान् स्यात्। तस्मादेतावपि समुदायशब्दाविति ॥ १५ ॥ युक्तिः ॥

भा० वि०—सम्प्रत्याघारस्य दर्शपूर्णमासप्रकरणपातित्वेन स्वयं प्रकृतत्वात् तत्संन्धितया वाक्यान्तरप्रकृतस्यापि द्रव्यदेवतस्याभावात् इत्येवं "अप्रकृतत्वाच्च" इति सूत्रं व्याचष्टे—**नचेति**। पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ १५ ॥

त० वा०—अथोच्येत यथा 'गुणस्तु श्रुतिसंयोगात्" इत्यत्र पक्षेऽन्येषां गुणविधित्वाद्रूपलाभ आशङ्कितः। तथा'ऽत्राग्निहोत्रं जुहोती'त्युत्पत्तिवाक्यत्वेन तण्डुलादिसंयुक्तै रूपलाभ इति। न। तत्र स्ववाक्यगतपौर्णमास्यमावस्यापदनिमित्तत्वादनुवादाशङ्कायाः। न चेह तण्डुलादिवाक्येऽग्निहोत्रशब्दोऽस्ति। यस्त्वस्ति जुहोतिशब्दः, स सर्वहोमसाधारणत्वान्नाग्निहोत्रविधिपर एव। ननु च प्रकरणाद्विशेषोऽवगम्यते। अत आह—**अप्रकृतत्वाच्चेति**। न ह्युत्पत्तिवाक्ये[1] अस्ति कर्मणां प्रकरणम्। फलसम्बन्धोत्तरकालत्वेन कथंभावात्मकस्य प्रकरणस्य प्रयोगवाक्यधीनप्रसू[2]तत्वात्।

तत्रैतत्स्यात्तदारूढस्यैव द्रव्यदेवतासम्बन्धो भविष्यतीति। तदुच्यते। अनभिज्ञातरूपस्य फले विधातुमशक्यत्वात्। अतः प्रसिद्धरूपाण्येव तेन ग्रहीष्यन्ते। ननु च 'तस्याघारमाघार्य' इति, 'इन्द्र ऊर्ध्वो अध्वरः' आघारमिति च द्रव्यमान्त्रवर्णिकदेवताविधौ नामप्रयोगाद्रूपं विज्ञास्यते। न। आघारशब्दस्य धात्वर्थाव्यतिरेकेण विशेषणकत्वात्। तत्र नाम्ना विशेषः प्रतीयते, यत्र कंचिद्विशेषमुपादाय नामानि प्रवर्तन्ते। अत्र पुनः संनिहितावर्थत्वात्समुदायप्रसिद्धिमन्तरेणाऽऽघारशब्दः क्षरणमात्रवाचित्वान्न विशेषे वर्तते।

ननु च प्रकरणाद्विशेषो लप्स्यते। तत्रापि सूत्रम्। न ह्याघारः प्रकृतः परप्रकरणपातित्वात्, दर्शपूर्णमासप्रकरणमेतत्सकलम्, नान्यस्य प्रकरणस्यान्यत्रावकाशः। सन्निधेर्विशेषागम इति चेत्? अत्रापि सूत्रम्; न वाक्यबलीयस्त्वेनात्र प्रकृतैरपि सम्बन्धात्। तदेवं वाक्यप्रकरणयोरविरोधो यदि द्रव्यदेवतासंयुक्तान्येवोत्पत्तिवाक्यान्यभ्युपगम्यन्ते, यत्र यः कश्चिद्रूपलेशोऽस्ति, तत्र निरूपिते कर्मणि केन चित्प्रकारान्तरेण गुणान्तराणि कल्पन्ते। सर्वेषु चोर्ध्वत्वं तण्डुलादि किंचिद्रूपमस्ति। न त्वाघारमाघारयति, अग्निहोत्रं जुहोतीत्यनयोः। तस्मात्समुदायानुवादौ ॥ १५ ॥

---

१. क० ह्युत्पत्तिवाक्ये कर्मणां फलसम्बन्धो। २. क० प्रभूततत्वात्।

न्या० सु०—न च प्रकृतमपीति भाष्येणैतत्सूत्रमाघारे प्राकरणिकाद्वाक्यान्तरादपि रूपानवगतेररूपत्वोपपादनार्थतया व्याख्यातमित्याभाति। तत्प्रख्याधिकरणे वाक्यान्तरतो द्रव्यदेवतालाभस्योक्तत्वादलाभे वोर्ध्वादिवाक्यैरप्याघार्यद्रव्यं विनाघारणविध्ययोगापत्तेर- युक्तं मत्वा स्वयमाघाराग्निहोत्रवाक्ययोररूपत्वेऽपि वाक्यान्तरेभ्यो रूपावगतेर्विधेयत्वोपपत्ति- शङ्कानिराकर्त्तुमेतत्सूत्रमिति वक्तुमाशङ्कां तावदाह—**अथेति**। तत्र वाक्यान्तरविहिते रूपे सति कर्मविधिः, कर्मणि च विहिते सति तत्र रूपविधिरितीतरेतराश्रयम्। शब्दार्थस्य प्रयोग- भूतत्वादिति सिद्धान्तसूत्रावयवेन परिहरिष्यमाणत्वादनुपन्यस्य, दृष्टान्तवैषम्येण परिहार- माह—**नेति**। न चोर्द्धादिवाक्येष्वाघारशब्दोऽस्तीत्यपि वाक्यसम्मन्त्रद्रव्यविधावाघारशब्दा- दप्यनुवाद्यविशेषाप्रतीतेर्वक्ष्यमाणत्वान्नोक्तम्। अनेन च तण्डुलादिवाक्येन प्रकृताग्निहोत्र- शब्दाभावादित्येवं सूत्रं योजितम्।

ननु यथा 'व्रीहिभिर्यजेते'त्यादौ दर्शपूर्णमासशब्दाभावेऽपि प्रकरणाद्यजेस्तद्विषयत्वाव- धारणम्, तथेह जुहोतेरग्निहोत्रविषयत्वावधारणं भविष्यतीत्याशङ्कते—**ननु चेति**। प्रकृति- शब्दाभावे व्युत्पाद्यावुत्पत्तिवाक्ये प्रकरणाभावादित्येवमेतच्छङ्कानिरासेऽप्येतत्सूत्रमवतारण- पूर्वं योजयति—**अत इति**। उत्पत्तिवाक्येऽपि सामान्यफलकरणत्वप्रतीतेरितिकर्त्तव्यता- काङ्क्षात्मकप्रकरणसद्भावेऽप्यज्ञातरूपस्य विध्ययोगात्फलकरणत्वप्रतीत्यभावाभिप्रायेणैतदुक्तं प्रयोगवाक्यारूढस्यैव तर्हि जुहोत्यर्थस्य फलकरणत्वात्प्रकरणेन द्रव्यदेवतान्वयोऽस्तीत्य- ज्ञाताशयः शङ्कते—**तत्रेति**। स्वाशयं प्रकटयन्परिहरति—**तदिति**। तण्डुलादिवाक्यविहि- तानां तु कर्मणां प्रज्ञातरूपत्वात्फलान्वये सति प्रकरणोपपत्तेः प्रकरणेन ग्रहणं युक्तमित्याह— **अत इति**।

नन्वाघारशब्दस्य मन्त्रद्रव्यविध्योर्भावादाघाररूपं ज्ञास्यतइत्याशङ्कते—**नन्विति**। विधौ सकलमन्त्रपाठेऽपि लाघवार्थं वार्त्तिके प्रतीकमात्रग्रहणं धात्वर्थानधिकार्थत्वान्नाघार- शब्दो धात्वर्थं विशेष्टुं शक्नोतीति परिहरति—**नेति**। एतदेवोपपादयति—**तत्रेति**। आघा- रेऽप्याशङ्कोपन्यासपूर्वकं तन्निरासेऽपि सूत्रं योजयति—**नन्विति**। एतदेव विवृणोति— **दर्शेति**। दर्शपूर्णमासप्रकरणपठितानामपि प्रयाजानामवान्तरप्रकरणस्याभिक्रमाधिकरणे व्युत्पादयिष्यमाणत्वादेतदप्यज्ञातरूपाघारविध्ययोगाशयं भाष्यमप्यस्मिन्नर्थे योज्यम्। कथं भावात्मकप्रकरणाभावेऽप्यधिकारलक्षणसान्निध्यात्मकात्प्रकरणाद्विशेषावगतिरित्याशङ्कोपन्या- सपूर्वं तन्निरासेऽपि नास्ति प्रकृतमस्येति विग्रहस्थषष्ठ्युक्तस्यसम्बन्धस्य नञा वयं प्रकृतमेवेति च प्रकृतशब्दो अवधारणमभिप्रेत्यैतत्सूत्रं योजयति—**सन्निधेरिति**। स्रौवाघारस्याप्याघार- यतिनानुवादोपपत्तेरित्याशयः। तण्डुलादेरपि वाक्यबलीयस्त्वेनाप्रकृतहोमान्वयसूचनार्थं बहुवचनम्।

नन्वेवं सति पूर्वपक्षेऽप्युदुर्ध्वत्वतण्डुलादेः स्रौवाघारजयाहोमादिभिरप्यन्वयः स्यादित्या- शङ्कयाह—**तदिति**। ज्ञातरूपाणां फलान्वयेन कथम्भावात्मकप्रकरणोपपत्तेः तस्य चापू- र्वसाधनत्वलक्षणार्थं वाक्येनापेक्षितत्वेनाविरोधादबाधः। सिद्धान्ते त्वज्ञातरूपयोराघाराग्नि-

होत्रवाक्योत्पादितयोः कर्मणोः फले विधानाशक्तेः कथंभावात्मकप्रकरणायोगादधिकारात्मकस्य च प्रकरणस्य वाक्येनानपेक्षणाद्विरोध इत्याशयः। तत्राधिकारात्मकस्य प्रकरणस्य वाक्यविरोधे सत्येवं वक्ष्यमाणप्रकारेणाविरोध इति, तत्रशब्दार्थे तच्छब्दो योज्यः।

नन्वेवमपि द्रव्यविशिष्टकर्मवाक्ये देवताभावात् देवताविशिष्टकर्मवाक्ये च द्रव्याभावादूर्ध्वादिवाक्ये वोभयाभावात्कर्मान्तरगुणस्य च कर्मान्तरेऽसन्वयादेकेन च होमानिष्पत्तेर्द्रव्यं च विनोर्द्ध्वत्वादिमात्रेणाघारानिष्पत्तेर्न विधिर्निवहतीत्याशङ्कयाह—**यत्र चेति**। अन्येनापि रूपेण कर्मान्तराद्व्यावृत्तेः कर्मणि विहिते येन विना कर्मानिष्पत्तिः तत्कर्मान्तरगतमन्यथानुपपत्त्या कल्प्यतइत्यर्थः। कश्चिदित्यनेनाद्रव्यं देवतस्याप्यूर्द्धत्वादेः कर्मरूपत्वे द्रव्यदेवतादविशेष उक्तः। एवं च यद्यूद्र्ध्वत्वादिवाक्येष्वपि न किंचिद्रूपं स्यात् ततो विशेषाग्रहणेनेतरयोरपि विधित्वं स्यात् न त्वेतदस्तीत्याह—**सर्वेषु चेति**। तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यम्—**तस्मादिति** ॥ १५ ॥

भा० प्र०—आघार वाक्य एवं अग्निहोत्र वाक्य अपूर्व कर्म का विधायक नहीं हो सकता है, इसके समर्थन में कारण प्रदर्शन करते हुए कहा गया है—"अप्रकृतत्वाच्च" आघार वाक्य में याग का रूप श्रुत अर्थात् उपदिष्ट न होने पर भी इनको अपूर्व कर्म का विधायक माना जा सकता था, यदि उनके समीप में प्रकरण में पठित अन्य वाक्य से द्रव्य एवं देवता का उपदेश रहता, किन्तु, ऐसा नहीं है, ऐसी स्थिति में उन्हें विधि नहीं कहा जा सकता हैं अपितु अनुवाद ही मानना होगा, अतः दध्ना जुहोति एवम् "ऊद्धर्वमाघारयति" इत्यादि वाक्य कर्म का विधान करता है।

"अप्रकृतत्वात्" = इनका प्रकृत अर्थात् प्रकरण में पठित या समीपवर्ती द्रव्यदेवता प्रकाशक वाक्य न होने से 'च' = यह अपूर्व कर्म का विधायक नहीं है। पूर्वपक्ष ॥ १५ ॥

सिद्धान्तः

चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्तत्संनिधेर्गुणार्थेन पुनःश्रुतिः ॥ १६ ॥ सि०

शा० भा०—न चैतदस्ति समुदायशब्दाविति। कर्मान्तरचोदने स्याताम्। कुतः? शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्। आघारयति, जुहोतीति होमाघारौ प्रयोक्तव्याविति शब्दर्थः। तेन कर्मान्तरे विधीयते इत्यवगच्छामः। आघाराग्निहोत्रशब्दौ च हवनाधारणसामान्यवाचिनौ प्रज्ञातौ। अतो नाऽविज्ञातार्थौ। तेन रूपवन्तौ सन्तौ विधीयेते ॥

यदुक्तम् 'ऊर्ध्वमाघारयति, दध्ना जुहोति' इत्येवमादिभिर्विहतत्वादनुवादाविति। नैतदेवम् न ह्येते होमाघारौ। विधातुं शक्नुवन्ति। 'ऊर्ध्वमाघारयति,

दध्ना जुहोती'ति च नैतदुक्तं भवति—आघारः कर्तव्यो होमः कर्तव्य इति। किं तर्हि? ऊर्ध्वताघारसंबन्धः[1] कर्तव्यः, दधिहोमसंबन्धः कर्तव्य इति। तस्मादप्राप्तत्वान्नानुवादो। ननु संबन्धे विहितेऽर्थाद्धोमाघारौ भविष्यतः नैतदेवम्। अस्मिन् हि सति विधानेन संबन्धः। तस्मान्नार्थादापद्येते होमाघारौ। अतोपूर्वौ विधीयेते इति ब्रूमः।

नन्वाघारयति, जुहोतीति होमाघारगतो व्यापारः श्रूयते, न दध्यूर्ध्वतादिसंबन्धः। सत्यं न श्रूयते। तत्संनिधेर्गुणार्थेन व्यापारश्रवणमवकल्पिष्यते[2]। ननु पदार्थान्तरगतं व्यापारं श्रुतिर्न शक्नोति वदितुम्। सत्यमेवमेतत्[3], स्वपदार्थगतं वक्ष्यति, तं तु स्वपदार्थं गुणशब्दो विशेक्ष्यति। स एव[4] विशिष्टः प्रत्येष्यत इति। भवेदेतद्विशिष्यात्स्वपदार्थं गुणशब्दो, न त्वेवंगुणगतो व्यापारः प्रतीयेत। तत्र किं भविष्यति? अव्याप्रियमाणेऽपि गुणे शब्दार्थोऽवक्लृप्तो भविष्यति[5]। गुणवचनसंनिधिरिदानीं किमर्थः? अनर्थकस्तु[6]। कथं पुनरनर्थको नाम वेदे[7] भवितुमर्हति। सत्यर्थे नानर्थकोऽसति त्वर्थे किमन्यदुच्येत। एवं तर्हि वाक्याद्भविष्यति, श्रुत्यर्थे सति न वाक्यार्थोऽवकल्प्यते। सत्यमेवमेतत्। अविवक्षिते त्ववकल्पिष्यते। कथमविवक्षा। गुणवचनस्याप्रमादपाठात्। स्वपदार्थस्य च शब्दान्तरेण विहितत्वात्। तस्मात्सिद्धं गुणार्थेन दध्ना जुहोतीत्येवमादीनां पुनःश्रुतिरिति। जुहोतेरुच्चारणं चानुवादो गुणसम्बन्धार्थः। यदि जुहोतीत्यनुवादः केनेदानीं गुणो विधीयते। दधिशब्देनेति मा वोचत। नन्विदानीमेव वाक्याद् गुणगतो व्यापारो गम्य इत्युक्तम्। सत्यमेवमेतत्। अविधीयमानस्तु कुतो गम्यत इति प्रमाणमस्य नावगम्येत। असति प्रमाणे व्यामोहः स्यात्।

एवं तर्हि विधायकौ जुहोत्याघारयतिशब्दौ। कस्य तर्ह्यनुवादः? धात्वर्थस्येति ब्रूमः। यदि विधायकौ, पूर्वमेव विहिते स्वार्थे, किमर्थं पुनरुच्चार्येते। वाक्यार्थो यः, तं विधातुमित्यदोषः। तस्मात्कर्मान्तरचोदने। यदुक्तं नास्त्याघारे[8] प्रकृतं द्रव्यदेवतमिति। किमेवं सति द्रव्यदेवतेन, यदा प्रसिद्धार्थाभिधानान्निर्ज्ञातमेवास्य रूपम्। अपि च चतुर्गृहीतं वा एतदभूतस्याऽऽघारमाघार्येत्याज्यमस्य द्रव्यं मान्त्रवर्णिको देवताविधिः। इन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वरो दिवि स्पृशतु महतो यशो यज्ञपते इन्द्रवान् स्ववान् स्वाहेत्याघारमाघारयतीति। एवमसाविन्द्रवान् यद्यस्येन्द्रो देवता तर्ह्यदि[9] देवताभिधानमेतदाघारस्य ततोऽनेनाऽऽघारः कृतो भवति। तस्मात्कर्मान्तरे[10] न समुदायशब्दाविति सिद्धम्॥ १६॥ आघाराग्निहोत्राधिकरणम्॥ ५॥

---

१. ब. क. ऊर्ध्वमाघार। २. ब कल्पयिष्यामः। ३. ब. सत्यमेतत्।
४. क० एव। ५. ब. भवति। ६. ब. अनर्थकश्च। ७. क० वेदो।
८. ब. आघारस्य। ९. ब. यदि च। १०. ब. कर्मान्ते।

भा० वि०—सिद्धान्त्याह—**चोदना वेति**। वाशब्दार्थमाह—**नैतदिति**। चोदनापदार्थं सोपस्कारमाह—**कर्मान्तरेति**। स्रौवाघारचतुर्होतृहोमाद्यपेक्षयान्तरशब्दः।

ननु वाक्यान्तरविहितरूपापेक्षणेऽन्योन्याश्रयापत्तेः स्ववाक्येन च रूपाज्ञानादरूपत्वे सति कथं कर्मचोदने स्याताम् इत्याक्षिपति—**कुत इति**। सूत्रावयवव्याख्यानेन समाधत्ते—**शब्दार्थस्येति**। आघारयति जुहोत्योः अन्यानाक्षिप्तविधिशक्तित्वात् कर्मप्रयोगविधानमेव वाच्योऽर्थ इत्यवगम्यत इत्यर्थः। अनेन विधिशब्दार्थस्य प्रयोगेऽनुष्ठाने भूतत्वाद्वर्तमानत्वाद्व्याप्रियमाणत्वादिति सूत्रावयवार्थो दर्शितः। भवत्वनुष्ठापकत्वं विधेः ततः किमत आह—**तेनेति**। अप्रवृत्तप्रवर्तनात्मकविधिस्वभावादेव विध्यन्तरविषयकर्मान्तरव्यावृत्तविधानार्हकर्मप्रतीतेः वाक्यान्तरावगतरूपवत्तया चानुष्ठानार्हत्वात् विधिनिर्वाहोपपत्तेः स्ववाक्याज्ञातरूपस्यापि कर्मणो विधेयत्वसम्भवात् कर्मान्तरे विधीयत इत्यर्थः।

यत्तु संज्ञायाविशेषविषयत्वात् विशेषस्य च रूपं विनासिद्धेः संज्ञोपबन्धानुपपत्तिरिति तत्रापीममेव सूत्रावयवं योजयति—**आघारेति**। हवनाघारणयोश्च विधिविषयभावनैकीभूतयोरेव संज्ञाविषयत्वात् तयोश्च विधिस्वभावादेव रूपं विना विशेषसिद्धेः संज्ञोपपत्तिरिति भावः, अत्राघाराग्निहोत्रशब्दार्थस्य प्रयोज्यात्मभूतत्वादिति सूत्रार्थः। तेन वाक्यान्तरावगतरूपवत्तयापि सम्भवत्येव विधानमिति निगमयति—**तेनेति**। पूर्वेभ्यो होमाघारेभ्यो इति पूर्वपक्षभाष्यावयवेनार्थादुक्तमनुभाषते—**यदुक्तमिति**। दूषयति—**नैतदिति**। अशक्तौ हेतुमाह—**ऊर्ध्वमित्यादिना**। दध्यादिविशेषणाक्षिप्तशक्तीनां विधीनां कर्मविधौ सामर्थ्यासम्भवादित्यर्थः। दध्यादिवाक्यानां कर्मविधित्वासम्भवफलमाह—**तस्मादिति**।

ननूपपदश्रवणाद्दध्यूर्ध्वादिवाक्यानां शुद्धहोमा घारविध्यशक्तावपि होमाघारसम्बन्धितया दध्यूर्ध्वादि विध्यभ्युपगमात् सम्बन्धस्य च द्विष्ठस्य प्रतिसम्बन्धिभ्यां विनानुपपत्तेः अर्थात्तयोरपि प्राप्तेराघाराग्निहोत्रवाक्ययोरनुवादत्वं भविष्यतीति शङ्कते—**नन्विति**। सम्बन्धशब्दोविशिष्टविषयः कर्मणोऽन्यतः प्राप्तत्वेन विध्यनर्हत्वात् मैवमिति परिहरति—**नैतदिति**। अस्मिन्नाघाराग्निहोत्रवाक्यस्थे कर्मविधाने प्रत्यक्षे सति सम्बन्धविधानेन सम्बन्धिमात्रं विधीयत इत्यर्थः, अस्मिन् पक्षे सम्बन्धिशब्देन स एवोक्तः सम्बन्धविधेरनाक्षेपकत्वे फलितमाह—**तस्मादिति,** होमाघारयोरन्यतः प्राप्तिफलमाह—**अत इति**।

ननु श्रुत्या धात्वर्थावच्छिन्नभावनाविधिप्रतीतेः न वाक्यीयसम्बन्धविधिर्युक्त इत्याशङ्कते—**नन्विति**। व्यापारशब्दो भावनाविषयः, सम्बन्धस्य यदान्तरान्वयलभ्यत्वेनाश्रुतत्वमङ्गीकृत्य सूत्रशेषव्याख्यानेन परिहरति—**सत्यमिति**। तस्य-

धात्वर्थावच्छिन्नावनाख्यकर्मणस्सन्निहिताघाराग्निहोत्रविधिप्राप्तत्वेनाविधेयत्वात् वाक्यीयगुणविध्यर्थं दध्यादिवाक्ये व्यापाराख्यकर्मश्रवणं न कर्मविधानार्थमित्यर्थः, नन्वाघारेत्यादि चोद्याशयं विवृणोति—**ननु पदार्थान्तरेऽपीति**। सत्यं न श्रूयत इति परिहाराशयं विवृणोति—**सत्यमिति**। यद्यपि विधिः स्वपदार्थाख्यधात्वर्थ-तमेव व्यापारं विधास्यति तथापि भावनाविशेषणभूतं स्वपदार्थं गुणशब्दो विशेक्ष्यतीति गुणस्य धात्वर्थद्वाराभावनाविशेषणत्वाद्विधेयत्वोपपत्तिरित्यर्थः।

ननु धात्वर्थावच्छिन्नभावनायाः प्राप्तत्वेनाविधेयत्वात् कथं तद्विशेषणतया गुणविधिस्तत्राह—**स एष इति**, सः स्वपदार्थरूपो धात्वर्थः। एष भावनाख्य-व्यापारविशेषणीभूतस्सन् गुणविशिष्टो विधिश्रुत्या प्रत्येव्यते विधास्यत इत्यर्थः, गुणविशिष्टधात्वर्थावच्छिन्नाया अप्राप्तत्वात्तादर्थ्येन विधानमिति भावः, यदि साक्षाद्गुणो न विधीयते ततः पुरुषस्य तत्राप्रवर्तितत्वात् तत्परित्यागेनापि कथं-चिदनुतिष्ठतः कृतार्थता स्यादिति मन्वानश्चोदयति—**भवेदिति**। यद्यपि तस्य भावनाख्यस्य व्यापारस्य सम्बन्धिनं धात्वर्थाख्यं पदार्थं गुणशब्दो विशिषन् व्यापारमपि विशिषन् स्यात् तथापि नानेनापि प्रकारेण गुणवच्छिन्नरूपेण व्यापारो विधेयः प्रतीयेतेत्यर्थः।

ननु भावनापरेऽपि विधावर्थाक्षेपाद्विशेषणभूतगुणानुष्ठानसिद्धेर्नेयमाशङ्का युक्ते-त्याक्षिपति—**तत्रेति**। वाक्यावगतविधेयभावनाविशेषणत्वान्यथानुपपत्त्या गुणेऽपि विधिकल्पनान्तर्किंचिद्दूषणमित्याशयः, शङ्किता स्वाभिप्रायं विवृणोति—**अव्याप्रियमाणेति**। व्यधिकरणे सप्तम्यौ विधेयायाभावनाया धात्वर्थाधीन-निरूपणत्ववत् गुणाधीननिरूपणत्वाभावेन गुणे पुंस्यव्याप्रियमाणे विधौ वा तस्मिन्नयोग्यत्वेनाव्याप्रियमाणेऽपि गुणानपेक्षधात्वर्थावच्छिन्नभावनाविधानेन विधिशब्दार्थोपपत्तेः नानुष्ठानं सेत्स्यतीत्याशयः।

ननु भावनाया गुणाधीननिरूपणत्वाभावाद्गुणानपेक्षविधानोपपत्तावपि स्ववाक्योपात्तगुणश्रुत्यानर्थक्यपरिहारार्थं गुणविधिः कल्प्यः इत्याक्षेप्ता शङ्कते—**गुणवचनेति**। भावनाविधिना गुणस्य विधातुमशक्यत्वात् भावनानिरपेक्षस्य च विधेः कल्पयितुमशक्यत्वात् अगत्यानर्थक्यमेव ज्याय इति शङ्किता परिहरति—**अनर्थकश्चेति**। परमित्यर्थे चशब्दः। सर्वस्य वेदस्याध्ययनविधिनार्थवत्त्वाव-धारणेनानर्थक्यायोगात् अवश्यकल्प्यो गुणविधिरित्याक्षेप्ताह—**कथं पुनरिति**। पूर्वपक्षे भावनानुष्ठानार्थत्वात् विधेः कारकशून्यायाश्चानुष्ठातुमशक्तेः विशिष्टविधिना विशेषणभूतकारकानुष्ठानाक्षेपार्थं गुणकल्प्यवचनसन्निध्यर्थवत्त्वोपपत्तेः नानर्थक्यं सिद्धान्ते तु दध्यादिवाक्ये विधेः भावनाविषयत्वेऽपि तदनुष्ठानार्थत्वाभावात् कारकानुष्ठानाक्षेपाशक्तेः सन्निध्याम्नातस्यापि गुणस्यानुष्ठानविगमादानर्थक्यमेव स्यादित्याह पूर्वपक्षी—**सत्यर्थं इति**। एवं समर्थितामाशङ्कां सिद्धान्ती दूषयति—

एवं तर्हीति। श्रौतार्थविधायकेनापि विधिना विधिप्रयोजनभूतगुणसमर्पणार्थं वाक्यापेक्षणात् वाक्यादेव गुणविधिर्भविष्यतीत्यर्थः भावनाविधिद्वारत्वात् गुणविधेः भावनानिरपेक्षे गुणे तात्पर्यायोगात् भावनैव तात्पर्येण विधीयतामिति मन्वानश्चोदयति—**श्रुत्यर्थं इति**। भावनाद्वारापि प्रवर्तमानस्य विधेरप्राप्तप्रापणस्वभावत्वेनान्यतः प्राप्तायां तात्पर्यायोगात् गुणे तात्पर्यावतारो युक्त इति परिहरति—**सत्यमिति**। अविवक्षिते तु श्रौतेऽर्थे इत्यनुषङ्गः श्रुत्यर्थाविवक्षामसहमानः पृच्छति—**कथमिति**। अविवक्षायां कारणद्वयं तत्सन्निधेरिति सूत्रावयवव्याख्यानेनाह—**गुणवचनस्येत्यादिना**। तस्य दध्नेत्यादिगुणवचनस्यास्मिन् वाक्ये सन्निधेः तदानर्थक्यपरिहाराय गुणे विधिसङ्क्रान्तिरेष्टव्येत्येकं कारणमनेनोक्तम् कारणान्तरमाह—**स्वपदार्थस्य चेति**। तस्य स्वपदार्थस्य धात्वर्थावच्छिन्ना भावनाख्यस्य शब्दान्तरेणाघारादिवाक्येन विहिततया प्राप्तत्वाच्चेत्यर्थः। उक्तहेतुभ्यो भावनायां विधेस्तात्पर्याभावात् गुणे तात्पर्यमवशिष्यत इति सूत्रावयवेनाह—**तस्मादिति**। एवं गुणविधिव्युत्पादनार्थत्वेन तत्सन्निधेरित्यादि सूत्रावयवं व्याख्यायेदानीमाख्यातार्थाविधावाख्यातानर्थक्यमाशङ्क्य तन्निरासार्थत्वेनेममेव सूत्रावयवं व्याचष्टे—**जुहोतेरिति**। तस्य कर्मणोऽग्निहोत्रादिवाक्ये चोदितस्य दध्यादिवाक्ये सन्निधानात् गुणार्था पुनः श्रुतिरिति सूत्रार्थः—**जुहोतेरिति**। धातोरेवानुवादत्वे परेणोक्तेऽपि प्रत्ययस्य केवलाप्रयोज्यत्वेनानुवादत्वमापाद्य चोदयति—**यदीति**। न तावद्दधिशब्देन नामपदस्याख्यातं कृत्यं वान्तरेण विधिशक्त्याभावादिति भावः।

ननु वाक्यावगतस्य गुणान्वयस्याप्राप्तत्वाद्विधेयत्वप्रतीतेस्तदन्यथानुपपत्तिकल्पितेनाख्यातेन विधिसंभवाच्छङ्कानुपपत्तिरित्याक्षिपति—**नन्विति**। गुणव्यापारो गुणभावना श्रुताख्यातत्यागेनाश्रुतकल्पनायोगान्मैवमिति पूर्वपक्षी समाधत्ते—**सत्यमिति**। अविधीयमान इत्यनेन श्रुताख्याताविषयता कुतोऽवगम्यत इति विधिकल्पनानुपपत्तिश्चोक्तेति विभागः क्लृप्तकल्प्ययोर्विध्योरसम्भवफलमाह—**इतीति**। ततः किमत आह—**असतीति**। प्रत्ययस्य विधिवाचित्वान्नोक्तदोष इति सिद्धान्ती परिहरति—**एवं तर्हीति**। ननु प्रत्ययस्य विधिवाचित्वे तद्वाच्याया भावनायाः धात्वर्थानवच्छिन्नायाः विधेयत्वायोगात् तस्यापि विधेयत्वापत्तिरिति शङ्कते—**कस्येति**। इहाविधीयमानस्यापि धात्वर्थस्यान्यतोऽवच्छेदकत्वेन प्राप्तेरनुवादत्वोपपत्तिरिति परिहरति—**धात्वर्थस्येति**।

ननु स्वपदोपात्तस्यापि धात्वर्थस्यान्यतः प्राप्तत्वेनानुवादाभ्युपगमे भावनाया अपि प्राप्त्यविशेषादनुवादापत्तेः भावनाविधानाभिधानमयुक्तमिति शङ्कते—**यदीति**। विधायको प्रत्ययावित्यनुषङ्गः, भावनानिरपेक्षगुणविधानाशक्तेः गुणविधानार्थं

प्राप्ताया अपि भावनाया गुणविशिष्टरूपेण विधानोपपत्तेः तदर्थं पुनरुच्चारणमिति परिहरति—**वाक्यार्थं इति**।

सिद्धान्तमुपसंहरति—**तस्मादिति**। आघारवाक्ये प्राकरणिकवाक्यान्तरतोऽपि रूपालाभमुक्तमनुवदति—**यदुक्तमिति**। विधिस्वाभाव्यादेव विधेयान्तरव्यावृत्ततया निर्ज्ञातस्वरूपस्य किं द्रव्यदेवतेनेति परिरति—**किमेवमिति**।

ननु विनाद्रव्यदेवतमनुष्ठानासिद्धेः तेनापि भाव्यं तत्राह—**अपि चेति**। आज्यं प्रयाजाङ्गभूतं कोऽसौ मन्त्रवर्णः यदीयो देवताविधिरित्याशङ्क्य विनियोजकवाक्यगृहीत इत्याह—**ऊर्ध्वं इति**। कथमनेनाघारदेवताविधीयते तत्राह—**एवमिति**। असौ मन्त्रः इन्द्राभिधायकः।

ननु मन्त्रस्येद्रदेवतावत्त्वेपि आघारस्य किमायातमत आह—**यदि चेति**। न च परप्रकरणपठितत्वादाघारस्य वाक्यान्तरतोऽपि रूपालाभः प्रयाजादाविवावान्तरप्रकरणोपगमादितिभावः।

प्रयोजनं तु पूर्वपक्षे दध्यादिवाक्यानां कर्मविधित्वाद्दध्यादिद्रव्यकेषु दशसु यागेषु यदग्नयेचेत्यादिवाक्यैः देवताविधानादेकदेवत्यत्वेन दध्यादिद्रव्याणां सान्नाय्यद्वयवत् सहप्रदानम्, सिद्धान्ते तु विकल्प इति आघारवाक्ये तु कर्मभेदे सत्यूर्ध्वत्वादीनां मध्ये यस्मान्तरा यस्तद्युक्तं कर्मावर्तनीयं कर्मैक्ये तु गुणलोपनिमित्तप्रायश्चित्तमेव नावृत्तिरिति प्रयोजनमिति द्रष्टव्यम्। अधिकरणार्थं निगमयति—**तस्मादिति**। कर्मान्तरे कर्मान्तरचोदने इति यावत्॥ १६॥

त० वा०—कर्मचोदने स्यातामिति वक्तव्ये, अन्तरग्रहणमुपांशुयाजाधिकरणवान्नेयम् आघारयतिजुहोत्योरनन्याक्षिप्तविधिशक्तित्वात्कर्मप्रयोगविधानमेव शब्दार्थं इत्यवगम्यते। न च प्रकृताघारहोमसद्भावः। प्रकृतवाक्यस्थानां विधीनामप्राप्तदध्याद्याक्षिप्तायां विधिशक्तौ कर्मानुवादबुद्ध्यनपायात्। "न चेदन्येन शिष्टाः" इति वाऽपवादान्न विशिष्टविधानन्यायः संभवति।

तद्दर्शयति **अस्मिन्हि सति विधाने**। प्रत्यक्षे न संबन्धः शक्नोत्यर्थादाक्षेप्तुमित्यर्थः। अथ वाऽस्मिन् हि सति संबन्धिविधौ, इतरेण गुणविधाने न संबन्ध एव केवल आश्रीयते। तस्मान्नैतद्वाक्यनिरपेक्षैः संबन्धविधिभिरर्थादपरौ कल्पयितुं होमाघारौ शक्येते, यद्बलेनाऽनयोरनुवादत्वं स्यात्। भावनाधात्वर्थावुज्झित्वा न विधिर्दध्यादिभिः संबध्यत इति चेत् सत्यमेतत्। न विधित्वं भावनात उत्तार्यते, तद्गतेनैव तु गुणः संस्पृश्यते। गुणस्य कारकविभक्त्या भावनामध्यनिक्षेपात्।

तेनैतदुपदिष्टं भवति। सर्वत्रैव विशिष्टविधानोत्तरकालं किं प्राप्तम्? किं न प्राप्तमित्यन्वेषणायामप्राप्तमात्रविषयोपसंहाराद्विधिर्भावनाधात्वर्थयोरनुवाद इत्य-

भिधीयते। न त्वादित एव तावनूद्य गुणौः द्रव्यं वा विधीयत इति, कदाचिदपि शास्त्रार्थाभिव्यक्तिः। तत्र पश्चात्तने व्यापारे मन्दबुद्धिप्रतिपत्त्यर्थं स्थूलेन न्यायेन कथ्यमाने शास्त्रकृता एवैता वचनव्यक्तय इति मन्यमानाः स्वयमिवान्येषामपि भ्रान्तिमुत्पादयितुमष्टौ श्रुतप्रकारान् परदौर्बल्यवतः केचिद्दर्शयन्ति—केषाञ्चिन्मतेन विधीनामष्टधाभेदनिरूपणम्, प्रथमः किल श्रुतिप्रकारो धात्वर्थविधानम्। द्वितीयः सगुणं धात्वर्थविधानम्। तृतीयः किंचिदुद्दिश्य धात्वर्थविधानम्। चतुर्थस्तवैव विशिष्टविधानम्। पञ्चमस्तु धात्वर्थोद्देशेनान्यस्य विधानम्। षष्ठस्तु धात्वर्थनान्ययोः संबन्धः सप्तमः पुनर्द्धात्वर्थविशिष्टेन प्रत्ययेनान्ययोः संबन्धः। अष्टमस्तु मुक्त्वा धात्वर्थमन्ययोरेव संबन्ध इति। तत्र तावद्यदुच्यते "अग्निहोत्रं जुहोति" इत्येतद्धात्वर्थविधानमिति। तन्निरासः तदयुक्तम्। न हि विधिर्भावनामुत्सृज्य धात्वर्थे निपतति, न च भावनां मुक्त्वाऽन्यत्र पुरुषः प्रवर्तते। सा हि पुरुषस्य स्वव्यापारोः धात्वर्थस्तु कदाचित्कर्माश्रितोऽपि भवति। यथाऽयमेव प्रक्षेपो द्व्यवदानाश्रितः, न चान्यदीयं व्यापारमन्यः शक्नोति कर्तुमिति, अवश्यं भावनाविशेषणत्वादेव दध्यादिवद्धात्वर्थो विधातव्यः। इदं च भावार्थाधिकरणेऽभिहितं यथा न धात्वर्थः साध्यत्वेन विधीयत इति। न ह्यकरणभूतोऽसौ साध्यापेक्षत्वाद्वाक्यान्तरेणापि फले विधातुं शक्येत। "सोमेन यजेत" इत्यत्रापि तद्भूताधिकरणोक्तेन मार्गेण धात्वर्थकारकाणामरुणैकहायन्यादिवत्परस्परेणासंबध्य, भावनासंबद्धानामुत्तरकालं परस्परोपकारित्वम्। तथा च सप्तमनवमाद्ययोर्वक्ष्यतीति, न विशिष्टधात्वर्थविधानम्। भावनां च प्रति यागस्य करणत्वाद् द्रव्यं प्रति कर्मत्वे सति, "ऐकशब्द्ये परार्थवत्" इत्येतदापद्यत इत्ययुक्तमेतत्।

तथा व्रीहीन्प्रोक्षतीत्यत्र न प्रोक्षणेन व्रीहीनिति कश्चित्संबन्धः। तेनोभयोः करोत्यर्थसंबन्धान्न धात्वर्थो व्रीहिषु विधीयते। यदि तु भावनाभिप्रायेणान्यत्र विधानमुच्यते, तत्सर्वत्राविशिष्टम्। न चास्य विशिष्टविधानाद् दुर्बलत्वमस्तीति तृतीयस्थाननिवेशोऽप्ययुक्तः। पक्षद्वयोक्तमपि निराकरणं "दशापवित्रेण ग्रहं संमार्ष्टि" इत्यत्राप्यापद्यत इत्ययुक्तमन्यत्र विशिष्टधात्वर्थविधानम्।

दध्ना जुहोति इत्यत्रापि न कदाचिद्दधि होमे करोतीत्ययमर्थः शब्देनोच्यते। न हि होमस्याधिकरणत्वं शब्दात्, वस्तुतो वा सिद्धम्। न च दध्नः कर्तव्यता, नित्यं करणात्मकत्वात्। इयमपि च श्रुतिर्द्विविधादपि विशिष्टविधेर्बलीयसी, एकविधिसंभवेऽनेकशक्तिकत्वानुपपत्तेः उभयपक्षभाविनश्च विप्रकृष्टार्थविधेरपर्यनुयोज्यत्वात्संनिकृष्टासंभवकृतमेव चास्य विप्रकृष्टस्य ग्रहणम्। तत्रोभयाश्रयणे युगपद्विप्रतिषिद्धसंभवापत्तिरगत्यैव गृह्यते अन्यत्र विशिष्टधात्वर्थविधानान्नातिगुर्व्येवेति, पञ्चमे स्थाने निवेशयितव्या। कामं वा शुद्धधात्वर्थविधानात् तस्य वाऽन्यत्र विधेरनन्तरा कर्तव्या।

यत्तु प्राकाशावध्वर्यवे ददाति इत्यनेन ददातिधात्वर्थे प्राकाशाध्वर्युसंबन्धो विधीयत इति। तदयुक्तम्, वचनव्यक्त्यविवेकात्। सर्वत्र हि यच्छब्देनानूद्यमानमुपनिबध्य तच्छब्दयुक्तं विधेयमुपनीयते। तदिह यदि तावद्यद्ददातीत्यत्राध्वर्युप्राकाशयोः संबन्ध इति विधीयते, ततः सकलदानानुवादात्समस्तदक्षिणाविकारप्रसङ्गः। प्रत्ययस्य चानेकविधिशक्तिकल्पना चोदिते सति कर्मण्यपरिहृतैव। संबन्धो हि विधीयमानः संबन्धिनं तावदाक्षिपेत्, धात्वर्थे तु पुनः स विधातव्य एव संबन्धी। अन्यथा संबन्धस्यैव संबन्धी शेषः स्यात्, न क्रियायाः।

तत्रैतत्स्याद्धात्वर्थानुरक्तः प्रत्ययो विदधदवश्यमेव तत्र विधास्यतीति। एवं तर्ह्युत्तरयोरपि श्रुत्योरत्रैवान्तर्भावाद्भेदेनोपादानं व्यर्थम्। न हि वायव्यं श्वेतमालभेत दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात् इति धात्वर्थाननुरक्तः प्रत्ययः संबन्धं विदधातीति। प्रकृतिलिङ्गमात्रफलश्चालभतिरुच्चार्यमाणो न द्रव्यदेवतासंबन्धविधावात्मानुरञ्जनेन किंचिदुपकरोति। न चाऽसौ संबन्ध आलभतिना संपादयितु शक्यः, यागविषयत्वाद् द्रव्यदेवतयोः। यदि चान्यसंबन्धकरणे प्रत्ययोच्चारणसिद्धिव्यतिरिक्तं किंचिद् धातुः कुर्यात् ततो दधीन्द्रियसंबन्धविधाने किमिति होमः परित्यज्येत। किमिति वा प्रकरणलभ्योऽभ्युपगम्येत। तस्मान्न धात्वर्थेऽन्यसंबन्धविधिः। पूर्ववच्च धात्वर्थाधिकरणता, कारककर्त्तव्यता च निराकर्त्तव्या। न च धात्वर्थे संबन्धस्यापि प्राग्भावनासंगतेर्विधिरित्युक्तम्। एव तावन्न दानमात्रे संबन्धविधिः।

अथाध्वर्युविशिष्टं दानमनू[1]द्यतामध्वर्युर्वा तद्विशिष्टः। एवमपि विशिष्टा[2]नुवादाद्वाक्यभेदः। शुद्धाध्वर्य्वनुवादे तु यद्यपि संप्रदानश्रुतेरर्थाद्दानमाक्षिप्यते, तथाऽपि संप्रदानसंप्रदेयसंबन्धस्य ददातिमन्तरेणानुपपद्यमानत्वाद् द्रव्यदेवतासंबन्धादिव यजेः कल्पनमिति, न धात्वर्थेऽन्यसंबन्ध इति वचनव्यक्तिः संभवति। अवश्यं चात्र[3] दानाध्वर्य्वोश्चादेकेन प्राप्तत्वात्प्राकाशावेव विधातव्यौ। तत्रार्थात्संबन्धविधिरिति न श्रुतित्वोपन्यासो घटते। वक्ष्यति चैतज्जावन्यधिकरणे यत्रान्यतरदप्राप्तं तत्रैवेतरोद्देशेनेतरविधिरर्थात्संबन्ध। उभयप्राप्तावनुभयप्राप्तौ वा केवलसंबन्धविधानमिति। तिसृणामपि च संबन्धविधिश्रुतीनां प्रत्ययविक्षेपसाम्यान्न बलाबले कश्चिद्विशेषः नापि समवायविरोधसंभवो यत्र तज्ज्ञानमुपयुज्यत इति मन्दफलं क्रमगणनोपन्यासस्य। **तस्मात्प्रस्तुताधिकरणन्यायेन सर्वत्र विशिष्टभावनाविधिरेव तत्त्वम्। इतरत्तु तत्र तत्र स्थूलबुद्धिप्रतिपादनोपायमात्रं भाष्यकारेण कृतमिति द्रष्टव्यम्।** यच्च संनिकर्षविप्रकर्षाभिधानम्, तद्भावनास्थ एव विधित्वे कारकाणां भावनाविशेषणत्वं प्रतीति मन्तव्यम्[4]। कथं पुनः प्राप्ता सती भावना

१. क० अनूद्येत। २. क० शिष्टानुवादात्। ३. क० चात्रा। ४. क० प्रतिपत्तव्यम्।

विधीयते। विशिष्टा न प्राप्तेति तादात्म्येन विधास्यते। फलतश्च तदा विशेषणार्थो विधिरिति व्यपदेक्ष्यते।

नन्वेवं सति विशेषणेष्वनवतरन्विधायको भावनाद्वारेणापूर्वविधिवत्प्राप्तकर्म-विधानेऽप्यनेकं विधातुं समर्थ इति "चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्येत" इत्यस्याविषयत्वं प्रसज्येत।

नैष दोषः। पश्य— विधित्वे भावनास्थेऽपि तादर्थ्यं प्रविभज्यते।
विशेषणफले चास्मिन्वाक्यभेदो भविष्यति॥

यदा हि भावनारूढं विधित्वं भावनार्थत्वेनैव गृह्यते, तदाऽर्थाद्विशेषणविधौ सति अवाक्यभेदं वक्ष्यामः। यदा तु तद्विशेषणार्थमित्यवधार्यते, तदा भावनायाः संनिहितप्रोषितत्वादनेकविशेषणयोगे सति यदर्थं विधित्वमवसीयते, तस्यैवैकस्य विधानं, नेतरस्य तद्देशस्यापि चक्षुषेव स्पर्शादेरिति वाक्यभेदो भविष्यति। सर्वत्र समानदेशमपि विधित्वं फलतः प्रचलितमिवैकत्रोपसंहृतं दर्शितम्। तस्मादविरोधः।

यस्त्वभ्युदितेष्टिप्राकाशादिविधिष्वनेकार्थविधिदोषः स सर्वपक्षेषु तुल्यः। यथा चास्मत्पक्षे न भविष्यति, तथा तदधिकरणेष्वेव वक्ष्यामः। **भवेदेतद्विशिष्यादिति।** यदि साक्षाद् गुणो न विधीयते, ततः पुरुषस्य तत्राप्रवर्तितत्वात्तत्परित्यागेना-प्यनुतिष्ठतः कृतार्थता स्यादिति मन्यते। **तत्र किं भविष्यतीति।** वाक्यलक्षण-विध्यभिप्रायेण प्रश्नः। **अध्याध्रियमाणे इति**—स्वाभिप्रायविवरणम्। स एव वा स्वयं कर्म निरूपयति। तेनैवाभिप्रायेण पुनः प्रश्नोत्तरे **गुणवचनसन्निधिरिति** तथा 'कथं पुनरि'ति तुल्यं च साम्प्रदायिकम्, इत्यभिप्रायेण। **असति त्वर्थे** किमिति। त्वयैवं क्रियते येन तदानर्थक्यमापद्यते। मत्पक्षे तु सत्यर्थे नानर्थक्यं भविष्यति। **एवं तर्हीति।** वाक्येन विशिष्टायां भावनायां प्रवर्तमानः श्रौतोऽपि विधिर्वाक्याद् भविष्यतीत्युच्यते। परस्तु यत्प्रसादेन स विधीयते, सैव तावद्वि-धीयतामिति **श्रुत्यर्थे सति न वाक्यार्थ** इत्याह—**सत्यमेतदिति।** विधिशक्ति-संक्रान्ति न चेदन्येन शिष्टा इति च दर्शयति। कथमिति सानुशयः प्रश्नः। स्वोक्तिर्वा। तस्मात्तत्संनिधेर्गुणस्य भावनानुप्रवेशाद्विधेयत्वम्। अथवा गुणसन्निधेः शक्तिसंचरणम्, भावनाधात्वर्थप्राप्तिसंनिधेर्वा श्रुत्यविरोधाद् गुणविधानम्। जुहोतेरिति स्पष्टमपि धातूच्चारणमनवबुध्य सकलाख्यातानुवादाभिप्रायेणाऽऽह— **यदि जुहोतीत्यनुवाद इति। दधिशब्देनेति मा वोचत इति।** वाजपेयाधिकरणवद् ग्रन्थच्छाया योजनीया। प्रत्ययो विधिरेव, धात्वर्थोऽनुवाद इति विवेकः **यदि विधायकाविति**—भावनायां प्राप्तायां कथं विधानमित्यभिप्रायः। **वाक्यार्थो यः तं विधातुमिति।** दध्नः पदार्थत्वान्नैव वाक्यार्थत्वं संभवतीत्येतदपि दधिविशिष्ट-भावनाभिप्रायमेव। **तस्मात्कर्मान्तरचोदने इति**—उपांशुयाजवदेव व्याख्येयम्।

जुहोत्याघारयतिलक्षितासाधारणार्थविषयत्वाच्च संज्ञोपबन्धसिद्धिः। इह विधीयमानत्वेन च कर्मान्तरेभ्यो व्यवच्छेदः। प्रकरणाच्च द्रव्यदेवतां लप्स्यत इति, नारूपत्वम्। न चोत्पत्तिवाक्ये कथंभावो नास्ति, फलसंबन्धं तु यावत्प्रतीक्षिष्यते। न चाविहितद्रव्यदेवतस्य फलविध्यनुपपत्तिः। होममात्रतया विहितस्य पश्चादपि तद्ग्रहणाविरोधात्। इष्यते चैवमादौ संनिधिवशेनाप्यनुवादः। प्राप्त्यपेक्षो ह्यसौ। यथा कथंचित्प्रत्यभिज्ञानं प्रार्थयते[1]। न च परप्रकरणे पाठादाघारत्यावान्तरप्रकरणलोपः। तस्यापि ह्याख्यातप्रत्ययवशेन किं केन कथमित्यस्त्यपेक्षा। तेन शक्यं प्रकरणेन द्रव्यदेवताविधानम्। बहूनि चादृष्टानि त्वया कल्प्यानि। न च तण्डुलादिहोमानामूर्ध्वाद्याघाराणां वा विहिता देवताऽस्ति। न च देवतावद् द्रव्यम्। सर्वे चैतेऽपूर्वकर्मविधित्वान्नान्योन्यं गुणविधयो भवन्ति। ततो यथोक्तमेवास्तु।

यत्तु क्रियायाः कर्मत्वनिर्देशो न युज्यत इति। अत्रोच्यते। भवति हि क्रियाणामपि संकल्पादिभिराप्यमानत्वात्कर्मत्वम्। तेन जुहोत्याक्षिप्तसंकल्पाद्यपेक्षयाऽग्निहोत्रमिति द्वितीयानिर्देशादविरोधः।

ननु च 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति, यत्सूर्याय च प्रजापतये च प्रातः' इत्यनयोरनेकगुणत्वात्[2]। 'चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्रात्[3]' इत्येतदापद्यते।

तत्र केषाञ्चिन्मतेन समाधानम्

तथा नामेति केचित्। एवं च यथापूर्वमाहुती जुहुयात्, सायमग्निहोत्रं प्रातरग्निहोत्रमित्येवमादयो भेदव्यवहाराः सिद्धा भवन्ति। न चात्र ज्योतिष्टोमस्येव ग्रहाभ्यासेष्ववयवबुद्धिः, उभयत्रापि साकल्यप्रतीतेः। एवं च दर्शपूर्णमासवदुभयत्र समस्तेतिकर्तव्यतावृत्तिरुपपद्यते। अन्यथा तु पशुतन्त्रविप्रकर्षन्यायेन सकृत्कृतैवोपकुर्यात्। न चैककर्मत्वे किंचित्प्रयोजनमस्ति। तस्माद् द्वयोराहुत्योः समुदायानुवाद इति।

अत्राभिधीयते—

समुदायानुवादस्य न तावद् दृश्यते फलम्।
प्रयोगवचनैकत्वं लप्स्यते राजसूयवत्॥

यथैव हि समुदायानुवादत्वमवयवशिष्टसमुदायैकत्वद्वारेण भवति, एवमेव प्रयोगवाक्यगतम् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम। इति भविष्यति। यथा च

---

१. क० प्रत्यभिज्ञानेन प्राथ्यंते। २ क० गुणविधित्वात्। ३. क० शासनात्।

'राजसूयेन स्वाराज्यकाम' इति विनाऽप्यन्येन समुदायानुवादेन सिद्धिरेव-मिहापीति ।

नन्वेवं सत्यापराग्निकानामपि होमानां प्रधानत्वं स्यात् । समुदायानुवादे वा केन तेषामपकर्षः । न हि यथा पौर्णमास्यमावास्या शब्दयोः प्रयाजादिभ्यः कालसंयोगेनावच्छेदः तथेह केनचित्क्रियते । नन्वग्नये होत्रमस्मिन्निति विशेषणं भविष्यति ? न । तेषामप्यग्निदेवत्यत्वात् । अपि चैवं सत्यनिष्टं तव प्रसज्येत् । प्रातराहुतेरग्निसंयोगाभावादनग्निहोत्रत्वेनाङ्गत्वं प्राप्नोति । तस्मात्सत्यसति वा समुदायानुवादे न कश्चिद्विशेषः । तथा यद्यापराग्निकानां होमानां भेदः, यदि वा सर्वाग्निष्वेकमेवाभ्यस्तकर्म क्रियते, सर्वथाऽग्निहोत्रशब्देन संनिध्यग्निसंयोगहोम-त्वाविशेषात्फलसंयोगेन समवधानत्वम् । तथा चैकेषां सर्वसामानाधिकरण्येनाग्नि-होत्रशब्दप्रयोगो 'गार्हपत्यान्वाहार्यवचनयोश्चतस्रश्चतस्र आहुतीराहवनीये च द्वे विधायाऽऽह 'य एवं विद्वान्विराट् संपन्नमग्निहोत्रं जुहोति' इति तस्मादनन्य-प्रयोजनत्वादग्निहोत्रं जुहोतीत्ययमेव कर्मविधिः । ततश्च तण्डुलादिवाक्यवदेव गार्हपत्यादिसंयोगस्य गुणार्थत्वान्न कर्मभेदहेतुरस्ति । तदेव हि प्रकृतं कर्म तत्र तत्र प्रत्यभिजानीमः ।

दध्यादिवदग्नीनां विकल्पेऽपि केषाञ्चिन्मतेन शंकासमाधानम्

कस्मात्पुनरेककर्मविषयत्वाद्दध्यादिवदेवाग्नयो न विकल्प्यन्ते । केचिदाहुः— अदृष्टार्थत्वादिति । निराधारस्यापि हि प्रक्षेपस्याप्रतिष्ठेऽपि द्रव्ये संभवाददृष्टा-र्थोऽग्निसंयोगः । तच्च सर्वमदृष्टं संभावनीयमिति, आवर्तते होमः । एवं तु सति पदादिभिरप्याहवनीयो न बाध्येत । अथ तत्र सकृद्धोमश्रवणादावृत्तिमयाद्बाधः, इहापि तत्तुल्यमिति, विकल्पप्रसङ्गः । तस्माद्विराट्संपन्नमित्येतस्मादेव वचनात्, 'संख्याविहितेषु[1] तु समुच्चयः' इत्यनेन न्यायेन समुच्चयः । अन्यथा हि ।

अग्निभ्योऽपूर्वसिद्धिः स्यादाधारत्वोपलक्षिता ।
व चैकेनावरुद्धत्वादाधारान्तरसंभवः ॥

सत्यप्यग्निसंयोगस्यादृष्टार्थत्वे सप्तमीश्रवणादाधारत्वप्रतिपत्तिद्वारं तदित्य-वगमात्, तस्य च प्रत्यक्षप्रतीतेरेकेनावरुद्धे कर्मणि नान्यत्सम्भवतीति विज्ञायते । तेनैकान्तेन विकल्पः प्राप्नोत्येव ।

कस्मात्पुनः 'तिस्र आहुतीर्जुहोति' इत्यादिवत्संख्यया कर्मभेदो न भवति ? न । उत्पन्ने सति कर्मणि संख्योपजननात् । उत्पत्तिस्था हि संख्या भेदिका भवति 'तिस्र आहुतीः' इत्यादिषु । इयं पुनरवधारिते कर्मण्युपजायमाना 'एकादश

१. क० संख्यायुक्तेषु ।

प्रयाजान्' इति वदभ्यसिनैव पूर्येतेति, न स्वरूपभेदाय प्रभवति। तेनैकमेव सर्वाग्निष्वभ्यस्तं कर्मेति निश्चीयत्ते।

यत्तु सायंप्रातर्वाक्ययोरनेकार्थत्वात्कर्मविधित्वमिति। तत्र ब्रूमः। 'सायं जुहोति' 'प्रातर्जुहोति' इति वाक्यान्तरप्राप्तः कालो देवताव्यवस्थापरे वाक्ये संकीर्त्यते। नन्वेवमपि कालविशिष्टकर्मानुवादाद्वाक्यभेदः स्यात्। न। प्रकरणलब्धे कर्मणि कालमात्रे देवताविधानात्। स तु कालो न स्वरूपेण देवतया संबध्यत इति, प्रकरणलभ्यकर्मानुरक्तः संबध्यते।

अथ वा विधीयमानसंप्रदानभूतदेवताकाङ्क्षितप्रकृतहोमपर्युपस्थापने न कालस्योपयोगः। न च लक्षणया लभ्यमानो होमो वाक्यं भिनत्ति। न च सायंकालेनाऽन्यत्र स्थितो लक्षितः। तेन सायंहोमस्याग्निप्रजापती भविष्यतः। एवं प्रातर्होमस्य सूर्यप्रजापती इति सिद्धम्।

नन्वेवमपि भिन्नपदोपात्ते द्वे द्वे देवते विदधती वाक्ये भिद्येयाताम्। न। एककारकत्वादिति केचित्। कारकान्यत्वे हि विधेव्यापारभेदो भवति। एककारकनिबन्धनं त्वर्थसहस्रमप्येकप्रयत्नसाध्यमित्युक्तम्।

अत्राभिधीयते—

अनेकपदसंबद्धं यद्येकमपि कारकम्।
तथाऽपि तदनावृत्तेः प्रत्ययैर्न विधीयते॥

विभक्त्या हि कारकं प्रत्याय्यते। सा च यत्रैकाऽग्नीषोमादौ, तत्र सकृदेव प्रत्ययस्य व्यापारो भवति। यत्र पुनर्भिन्नविभक्तिसंबद्धानेकपदोपात्तमेकमपि कारकं भवति। यथाऽत्रैवाग्नये च प्रजापतये चेति। तत्र युगपत्प्रत्यवेक्षणाभावादवश्यं भेदेनाग्निप्रजापती प्रत्ययेनाऽऽलोचयितव्यौ। कारकविभक्तिर्हि नाम पदार्थालोचनाय प्रत्ययं[1] प्रयुङ्क्ते। सा च नानोच्चारितानां नैव प्रयुङ्क्त इत्यावृत्तिप्रसङ्गः। तस्मान्नैष परिहार इति।

एवमभिधीयते। वाक्यद्वयेऽप्यस्मिन्प्रजापतिरेवैको विधीयते। अग्निसूर्ययोः पुनर्मन्त्रवर्णादेव प्राप्तिः, वाक्यान्तरेणैवंदेवत्यौ मन्त्रौ विहितौ। ताभ्यामेव चास्ते देवते प्राप्ते सत्यौ प्रजापतिविधावौचित्येन स्तुत्यर्थमुपादीयेते। यदपि च 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' इत्यत्रैते वाक्ये निर्दर्शिते, तदपि मन्त्रैवर्णप्राप्तिद्योतनार्थत्वेन द्रष्टव्यम्। एवं मन्त्रविध्योर्न पौनरुक्त्यं भविष्यति। अन्यथा तदर्थशास्त्रदोषपरिहारप्रयोजनगुणविधि-परिसंख्यार्थवादादीनामन्यतमेऽतिक्लेशः स्यात्। तस्मात्तत्र वाक्यभेद इति सिद्धम्।

---

१. क० प्रत्ययप्रयुक्ता।

यत्तु सायंप्रातर्होमयोरवयवबुद्धिर्नास्तीति दाक्षायणयज्ञादिवत्सकलकर्मावृत्तिप्रज्ञानात् तदित्यवगन्तव्यम् । नन्वेवं सति सकलकर्मपरिच्छेदात्मकत्वेन सायंप्रातःकालयोस्तुल्यार्थत्वाद्विकल्पे सति, सायं प्रातर्वाऽग्निहोत्रं होतव्यं, नोभयत्रेति प्राप्नोति । नैतदस्ति । यावज्जीवचोदनया तावज्जीवता सायं हुते, पुनर्जीवत एव प्रातःकाले सति समस्तनिमित्तोपजननान्नैमित्तिकहोमकरणं भविष्यति । सत्यमेवमपि सिध्यति । अयं तु विशेषो यदा सायं प्रातरभ्यस्तोऽयमेक एव प्रयोगो भवति । तदा सायं होमे कृते, यदा नाम यजमानस्य कदाचिदापद्भवति, तदा यथाकथंचित्प्रातर्होमः कर्तव्यः प्रक्रान्तासमाप्तिनिमित्तदोषपरिहारार्थम् । अथ तु वसन्ते ज्योतिष्टोमवत्सायंकाले समाप्तं कर्म, ततो नावश्यं प्रातर्होमः कर्तव्यः ।

किं च । काम्यः सर्वाङ्गसंयुक्तः प्रयोगश्च फलार्थिना ।
सायंप्रातर्विकल्पेन प्रयोक्तव्यस्तदा भवेत् ॥

अभ्यस्तैककर्मपक्षे तु कालद्वयेऽपि प्रयत्नेनावैगुण्यं संपादनीयम् । कथं पुनर्न विकल्प इति । वचनकृतात्समुच्चयादिति ब्रूमः । 'प्रवर्ग्यो वा एषः' इति हि प्रकृत्य ब्रवीति 'स वै सायं च प्रातश्च जुहोति' इति । भेदपक्षेऽपि चशब्दात्समुच्चयः । न च समुच्चये सति साहित्यापत्तिर्भवति । अनुपादेयत्वात्कालस्येत्यविरोधः । प्राप्तयोश्च वचनान्तरेण कालयोः समुच्चयार्थमेवेदं वाक्यमिति, न वाक्यभेददोषः । तस्मादभ्यस्तमेकं कर्म ।

यत्त्वङ्गानां भेदेन प्रयोगो न प्राप्नोतीति । नैष दोषः । कालं प्रति हि कर्मोपादीयमानं विवक्षिताङ्गसंयोगं भवति । तेन सायंतनस्य प्रधानस्य तत्कालाङ्गान्येवोपकुर्वन्ति नान्यकालानि, वैगुण्यात् । एवं प्रातस्तनस्यापीत्यावर्तते ।

यत्तु प्रयोजनं नास्तीति । तत्रोच्यते । कुण्डपायिनामयने 'मासमग्निहोत्रं जुह्वतीत्येककर्मविधानादेकेतिकर्तव्यतापेक्षणे सति सायंहोमस्य, प्रातर्होमस्य वा धर्मा आगच्छन्तीत्येकधर्मयुक्तं सकृदेव प्रयुज्येत । अभेदे तु यथाप्रकृतीति ॥ १६ ॥

(इति पञ्चममाघाराग्निहोत्राधिकरणम् ॥ ५ ॥)

न्या० सु०—दध्नचूर्द्धादिवाक्यानां कर्मविधित्वानभ्युपगमाद्भाष्यस्थकर्मान्तरोक्त्यनुपपत्तिमाशङ्क्य, अभ्युपेत्यवादेन स्रौवाघारचतुर्होतृहोमाद्यपेक्षया वा समाधत्ते—कर्मेति । कुत इत्यादिना रूपवन्तौ विधीयेते इत्यन्तेन भाष्येण वाक्यान्तरविहितरूपापेक्षणेऽन्योन्यान्याश्रयापत्तेः स्ववाक्याज्ञातरूपकर्मविध्ययोगस्यारूपत्वादित्यनेनोक्तस्याप्रवृत्तप्रवर्तनात्मकविधिस्वभावादेव विध्यन्तरविषयभूतकर्मान्तरव्यावृत्तविधानार्हकर्मप्रतीतेर्वाक्यान्तरावगतरूपवत्तया चानुष्ठानार्हत्वाद्विधिनिर्वाहोपपत्तेः । स्ववाक्याज्ञातरूपस्यापि कर्मणो विधिसम्भवाद्विधिनिर्वाहार्थं वाक्यान्तरविहितरूपापेक्षणेऽपि विधिप्रवृत्तावनपेक्षणान्नेतराश्रयमित्येवं परिहा-

रार्थतया विधिशब्दार्थस्य प्रयोगेऽनुष्ठाने भूतत्वाद्वर्त्तमानत्वाद्व्याप्रियमाणत्वादनुष्ठापकरूपत्वादन्यतः प्राप्ते चानुष्ठानेऽनुष्ठापनानर्थक्याद्रूपं विनापि कर्मान्तरं विधेयं प्रतीयते। तच्च वाक्यान्तरतो रूपावगत्या निर्वहतीत्येवं सूत्रावयवो व्याख्यातः। तदन्तर्गतेन चाघारेत्यनेनाविज्ञातार्थावित्यन्तेन हवनाघारणयोर्विधिविषयसमानयोस्तदेकीभूतयोः विधिविषयभूतयोरेव संज्ञाविषयत्वात्संज्ञोपबन्धोपपादनार्थतयाऽघाराग्निहोत्रशब्दार्थस्य प्रयोज्यात्मभूतत्वादित्येवं व्याख्यातः।

तत्र द्वितीयव्याख्यानार्थं भाष्यं जुहोत्याघारयति—**लक्षितेति**। वार्त्तिकेन व्याख्यास्यमानत्वादुपेक्ष्य, शेषं सङ्क्षेपतो व्याचष्टे—**आघारयतीति**। यदुक्तमिति भाष्येण पूर्वेभ्यो होमाघारेभ्य इति पूर्वपक्षभाष्यावयवसूचितमर्थमनुभाष्य, नैतदित्यादिना वाक्यार्थो यस्तं विधातुमित्यन्तेन तन्निरासार्थतया, तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनःश्रुतिरिति सूत्रावयवो व्याख्यातः तत्र तस्मान्नानुवादाविति भाष्यं तावत्तात्पर्यतो व्याचष्टे—**न चेति**।

नन्विति भाष्येणोपपादश्रवणाद्दध्यादिवाक्यानां शुद्धहोमाघारविध्यशक्तावपि होमाघारसम्बन्धितया दध्यूर्ध्वादिविध्यभ्युपगमात्सम्बन्धस्य च सम्बन्धिद्वयनिष्ठत्वात्प्रतिसम्बन्धिभ्यां विनानुपपत्तेः, अर्थापत्त्या तयोरपि प्राप्तिराघाराग्निहोत्रवाक्ययोरनुवादत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य नैतदेवमित्यनेन ब्रूम इत्यनेन निरस्तम्। तत्तात्पर्यस्तावद्व्याचष्टे—**न चेदिति**। भाष्यस्थस्य सम्बन्धशब्दस्य विशिष्टवाचित्वम्, शङ्कायाश्च विशिष्टविधानाशयत्वं तन्निरासार्थत्वं चोत्तरस्यानेनोक्तम्। अत्रैवावतारणपूर्वमस्मिन्नीति भाष्यावयवमध्याहारेण द्वेधा योजयति—**तदिति**। अस्मिन्नाघाराग्निहोत्रवाक्यस्थे प्रत्यक्षे कर्मविधाने सति न सम्बन्धोऽर्थादापादक इत्याद्या योजना। अस्मिन्सम्बन्धे विध्यर्थाक्षेप्ये होमाघाराख्यसम्बन्धिविधौ प्रत्यक्षे सति सम्बन्धाख्यगुणविधानेन सम्बन्धमात्रं विधीयतइति द्वितीयसम्बन्धशब्देनाऽस्मिन् पक्षे सम्बन्ध एवोक्त इति गुणशब्देनोक्तम्। तस्मादित्याशङ्कानिरासोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**। नन्वाघारयतीति भाष्येण श्रुत्या धात्वर्थावच्छिन्नभावनाविधिप्रतीतेर्न वाक्यीयसम्बन्धविधिर्युक्त इत्याशङ्क्य, सत्यमित्यनेन सम्बन्धस्य पदान्तरान्वयलभ्यत्वेनाश्रौतत्वेऽपि, तच्छब्दपरामृष्टस्य धात्वर्थावच्छिन्नभावनाख्यस्य कर्मणः सन्निहिताघाराग्निहोत्रविधिप्राप्तत्वेनोर्द्ध्वादिवाक्यैरविधेयत्वाद्वाक्यगुणविध्यर्थं कर्मश्रवणम्, न कर्मविध्यर्थमिति तन्निरासार्थत्वेन सूत्रावयवो व्याख्यातः तत्द्वयमेतच्छङ्कापरिहाराशयप्रपञ्चार्थैरुत्तरभाष्यैरेव व्याख्यास्यमानत्वान्न व्याख्यातम्।

ननु पदान्तरेत्याशङ्काशयविवरणार्थं भाष्यं व्याचष्टे—**भावनेति**। सत्यमेवमिति परिहाराशयविवरणार्थं भाष्यं व्याचष्टे—**सत्यमिति**। भावनामध्यशब्देन तं व्यापारशब्दोक्तभावनाविशेषणभूतं स्वपदार्थं धात्वर्थं गुणशब्दो विशेक्ष्यतीति गुणस्य भावनाद्वारधात्वर्थविशेषणत्वाभिधानेन भावनाविशेषणतैवोक्तेति सूचितम्। ननु गुणविधावपि भावनातो विध्यनुत्तारणे कर्मानुवादेन गुणविध्युत्घोषौ विरुध्येतेत्याशङ्क्याह—**तेनेति**। येन

कारणेनोद्ध्वादिवाक्येष्वपि स्वपदार्थं धात्वर्थंगतव्यापारं भावनां वक्ष्यतीत्युक्तम्। तेन कारणेन सर्वत्रैवैतद्वक्ष्यमाणमुपदिष्टं भवतीत्यर्थः। शास्त्राभिव्यक्तिरितीतिकरणाध्याहारेणोत्तरग्रन्थान्वयः। विशिष्टविधेः सार्वत्रिकत्वेऽपि तात्पर्याभिप्रायः कर्मानुवादेन गुणविध्युद्घोष इत्याशयः। नन्वेवमपि व्याख्यातॄणामष्टप्रकारश्रुत्युद्घोषो विरुध्येतेत्याशङ्क्य, भ्रान्तिमूलत्वं तदुद्घोषस्याह—**तत्रेति**। आत्मना यथा भ्रान्तिरुत्पन्ना, तथान्येषामप्युत्पादयितुमित्युपहासः किलेति भ्रान्तित्वं सूचितम्। भ्रान्तित्वोपपादनायाष्टावपि प्रकारान्, परदौर्बल्यनियमं च दूषयन् शुद्धधात्वर्थविधिरूपं प्रथमं प्रकारं तावत्सोदाहरणानुभाषणपूर्वं दूषयति—**तत्र तावदिति**। कस्मादयुक्तमित्यपेक्षायामेकाभिधानश्रुत्या भावनान्वयस्य प्रागवगमादिति हेतुमाह—**न हीति**। भावनानिरपेक्षस्य धात्वर्थस्य पुम्प्रवृत्त्यविषयत्वादप्यविधेयतेत्याह—**न चेति**। एतदेवोपपादयति—**सा हीति**। देहाश्रितस्यापि विष्णुक्रमादेः, आत्माश्रितस्यापि च यागादेः प्रयत्नरूपभावनां विना प्रवृत्त्यविषयऽपिशब्देन सूचिता। किं च भावनावद्धात्वर्थस्यानुष्ठेयनिष्पाद्यापरपर्यायसाध्यत्वेन विधानस्य।

अन्यदेव हि यागादौ सामान्यं करणात्मकम्।
अन्यच्च भावनानाम साध्यत्वेन व्यवस्थितम्॥

इति वार्त्तिके निरस्तत्वाद्ध्यादितत्करणत्वेनैव विधानावगतेः करणत्वस्य च क्रियारूपभावनान्वयनिबन्धनत्वान्न तां विना विधेयत्वोपपत्तिरित्याशयेनाह—**इदं चेति**। ननूत्पत्तिवाक्ये साध्यत्वेनापि हि विहितस्य किमर्थमपुरुषार्थरूपो धात्वर्थः साध्य इत्यपेक्षायां फलवाक्ये करणत्वेन विधानात्फलवत्त्वोपपत्तेर्नोत्पत्तिवाक्ये करणत्वेन विधिरित्याशङ्क्याह—**न हीति**। धात्वर्थस्य साध्यत्वेन विधौ पुरुषस्य किमर्थमित्यपेक्षायामपि विधेयस्य करणत्वानवगतेः साध्यानपेक्षत्वात्पदार्थापेक्षां च विना पदार्थान्तरान्वयायोगात्फलवाक्येऽपि करणत्वेन विधिर्न सम्भवतीत्युक्ते ननु भावनावत्करणत्वाभावेऽपि साध्यापेक्षा भविष्यतीत्याशङ्क्य—**असावित्युक्तम्**। भावनायाः करोत्यर्थरूपत्वेन नित्यं कर्मापरपर्यायसाध्यापेक्षत्वेऽपि धात्वर्थस्य करोत्यर्थत्वान्न करणत्वं विना साध्यापेक्षत्याशयः।

विशिष्टधात्वर्थविधिरूपं द्वितीयं प्रकारं दूषयति—**सोमेनेति**। तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नाय १–१–२५ इत्यनेन न्यायेन धात्वर्थस्य कारकाणां च परस्परान्वयमपेक्ष्य भावनयाऽन्वितानां पश्चाद्धात्वर्थस्यानिष्पन्नस्य करणत्वायोगात्कारकैश्च विना तदनिष्पत्तेः कारकापेक्षायां कारकाणां च सिद्धरूपत्वेन व्यापाररूपधात्वर्थनिष्पादनं विना साक्षाद्भावनान्वयायोगाद्धात्वर्थापेक्षायामरुणैकहायनीन्यायेनान्योन्यनियमान्न भावनाविधिनिरपेक्षो गुणविशिष्टधात्वर्थविधिर्युक्त इत्याशयः। सप्तमनवमाद्ययोश्च यजेतेत्थमितीतिकर्त्तव्यतायाधात्वर्थान्वयनिरासेनेत्थं कुर्यादिति भावनान्वयस्य भाष्यकृता वक्ष्यमाणत्वाद् गुणानां धात्वर्थविशेषणत्वानुपपत्तेर्न तद्विशिष्टधात्वर्थविधिरित्याह—**तथा चेति**। गुणान्वये च धात्वर्थस्य वैरूप्यं स्यादित्याह—**भावनां चेति**।

धात्वर्थस्यान्यत्र विधिरूपं तृतीयं प्रकारं दूषयति—**तथेति**। भावनानां तु धात्वर्थस्य कारकाणां वा विधेः सर्वत्राविशेषात्तदभिप्रायाऽन्यशब्दव्याख्या न युक्तेत्याह—**यदि त्विति**। अन्योद्देशेन च शुद्धधात्वर्थविधानस्य तन्निरपेक्षशुद्धधात्वर्थविधानात्पदान्तरापेक्षानिमित्त-विप्रकर्षेण दौर्बल्येऽपि अन्योद्देशनिरपेक्षविशिष्टधात्वर्थविधानेऽपि विप्रकर्षसाम्यात्, ततो दौर्बल्यानुपपत्तेः प्रत्युताश्रुतविशेषणविधिकल्पनाभावेन ततो बलीयस्त्वाद् द्वितीयस्थान-निवेशापत्तेः, तृतीयस्थाननिवेशो न युक्त इत्याह—**न चेति**।

अन्योद्देशेन विशिष्टधात्वर्थविधिरूपं चतुर्थं प्रकारं द्वितीयतृतीयपक्षोक्तदोषापादनेन दूषयति—**पक्षेति**। धात्वर्थेऽन्यविधिरूपं पञ्चमप्रकारं दूषयति—**दध्नेति**। तृतीयानिर्दिष्ट-स्यापि दध्नो विधेयत्वेनानुष्ठानविषयत्वाद्विधेर्दध्यनुष्ठेयमित्यभिप्रेत्यानुष्ठानार्थंकरोतिप्रयोगो-पपत्ते 'स्तत्र जयान् जुहुयादिति'वच्च प्राधान्यविवक्षयापि सप्तमीप्रयोगोपपत्तेर्होमाधिकरण-दध्यधिकर्त्तव्यत्वस्य परानभिप्रेतत्वेऽपि दधिहोमे करोतीति परोक्तावा वचनव्यक्तेरञ्जसै-षोऽर्थः प्रतिभातीत्यारोप्याच्छलेनेदं दूषणद्वयमुक्तम्। सप्तम्यश्रुतेर्न शब्दाद्धोमस्याधिकरणत्वम् स्थालीवच्च पतनप्रतिबन्धकत्वाभावान्नार्थरूपेण, दध्नश्च तृतीयाश्रुतेर्भूतभव्यसमुच्चारणन्या-येन करणत्वावगमात्कर्मत्वरूपा कर्त्तव्यता न युक्तेत्यर्थः।

यथा चान्यत्र शुद्धधात्वर्थविधिश्रुतिर्विशिष्टविधानाद् बलीयसी, तथा धात्वर्थेऽन्य-विधिश्रुतिरपीति पञ्चमस्थाननिवेशोऽस्या न युक्त इत्याह—**इयमपि चेति**। अन्यत्र शुद्ध-धात्वर्थविधेरपि द्विविधविशिष्टविध्यपेक्षया बलीयस्त्वसूचनार्थश्चकारः। हेतुमाह—**एकेति**। नन्वियं पदान्तरार्थविधिविषयत्वेन विप्रमृष्टार्थत्वाथं दुर्बलेत्याशङ्क्याह—**उभयेति**। विशिष्ट-विधावपि विशेषणभूतपदार्थान्तरविधिरित्याशयः। 'दध्ना जुहोती'त्यत्र च सन्निकृष्टार्थ-विध्यसम्भवकृतत्वाद्विप्रकृष्टार्थग्रहणं न दोषायेत्याह—**सन्निकृष्टेति**। प्रकृतश्रुतिविधेयदधि-परामर्शार्थोऽस्यशब्दः। तत्र तु विशिष्टविधावुभयोर्विशेषणविशेष्ययोर्विध्याश्रयणात्सन्निकृष्ट-विध्यर्थं तत्सम्भवो, विप्रकृष्टविध्यर्थं चासम्भवोऽभ्युपगन्तव्य इति युगपद्विरुद्धसम्भवासम्भवा-पत्तिरित्याह—**तत्रेति**। सन्निकृष्टासम्भवकृतत्वाद्विप्रकृष्टग्रहणस्योभयाश्रयणे सम्भवासम्भव-विरोधापत्तिरित्येकग्रन्थतया वा विशिष्टविधिदौर्बल्याभिधानार्थतयैतद्योज्यम्।

नन्वेवं सति न क्व चिद्विशिष्टविधिराश्रीयेतेत्याशङ्क्याह—**अगत्यैवेति**। विशिष्ट-विधिरित्यध्याहारः। यद्यपि च श्रौतेन विधिना सन्निकृष्टविधानात्काल्येन च विप्रकृष्टार्थ-विधानात्कालभेदेन विप्रतिषेधपरिहारोपपत्तेरन्योद्देशनिरपेक्षविशिष्टविधेरियं विप्रकृष्टार्थ-विषयत्वात् गुर्वी, तथाप्यन्यत्र विशिष्टविधानात्पदान्तरापेक्षानिमित्तविप्रकर्षस्योभयत्र सद्भा-वेनाविशेषाद् गुर्वी न भवत्येवेत्याह—**अन्यत्रेति**। तदेव त्वतिगुर्विति सूचनार्थोऽतिशब्दः। प्रकृतमुपसंहरति क्व तर्हि निवेशयितव्येत्यपेक्षायामाह—**काममिति**। श्रुतिलिङ्गादिवदासां पूर्वपूर्वानपेक्षत्वान्न क्रमोपन्यासेन प्रयोजनम्। यदि त्ववश्यं क्रमेणोपन्यस्तव्याः, ततो वरमेवं क्रम इति—**काममित्यनेनोक्तम्**।

धात्वर्थेऽन्यसम्बन्धविधिरूपं षष्ठं प्रकारं दूषयति—**यत्त्विति**। किं यद्ददातीति दानमात्रमनूद्य, तत्र प्रकाशावध्वर्यवे इत्यानन्तर्यावगतः प्रदीपाध्वर्युसम्बन्धो विधीयते, उताध्वर्यवे यद्ददातीति क्रियाकारकान्वये, क्रियाप्राधान्यविवक्षयाध्वर्युविशिष्टं दानमनूद्य तस्य प्रदीपसम्बन्धे विधीयमानेऽ'पीमाश्वादिष्टदक्षिणा' इति स्मृतेः। प्राकाशशब्दवाच्ययोः प्रदीपयोर्दानसम्बन्धस्य प्रदानत्वादानर्थक्यतदङ्गन्यायेन विशेषणेऽवताराद्विशेषणभूतस्याध्वर्योः प्रदीपसम्बन्धविधिर्विधेयसम्बन्धित्वेन वाध्वर्योरेव प्राधान्यविवक्षायाम्, दानविशिष्टमध्वर्युमनूद्य तस्य प्रदीपसम्बन्धविधिर्ददात्यविवक्षया वा शुद्धाध्वर्य्वनुवादेन प्रदीपसम्बन्धविधिरिति वचनव्यक्तीनां मध्ये कया धात्वर्थेऽन्यसम्बन्धविधिरित्यशक्यं विवेक्तुमित्यर्थः।

एतदेवोत्तरेण प्रपञ्चेन विवृणोति—**सर्वत्र हीति**। समस्ताया ज्योतिष्टोमिक्या दक्षिणाया अश्वमेधेऽति देशप्राप्तायाः प्राकाशदशमाधिकरणेऽध्वर्युभागमात्रविकारत्वाभिधानेन निवेश्यमानः प्रसज्येतेत्यर्थः। द्विष्ठत्वाच्च सम्बन्धस्याध्वर्य्वाख्यसम्बन्धिप्राप्तावपि प्राकाशाख्यसम्बन्ध्यप्राप्तौ विधातुमशक्यत्वात्प्राकाशयोरपि विध्यापत्तेर्वाक्यभेदः स्यादित्याह—**प्रत्ययस्य चेति**। ननु सम्बन्धविधिनैवार्थाक्षेपान्न वाक्यभेदापत्तिरित्याशङ्क्याह—**सम्बन्धो हीति**। एवमप्यर्थाक्षेपगौरवं तावदेको दोषः। धात्वर्थाङ्गत्वेन चार्थाक्षेपलभ्यस्यापि सम्बन्धिनो विधेयत्वात्प्रत्ययावृत्तिस्तदवस्थेत्याशयः। ननु सम्बन्धिविशिष्टस्यैव सम्बन्धस्य धात्वर्थाङ्गत्वात् विशेषणस्य चाङ्गत्वं विना विशिष्टस्याङ्गत्वासिद्धेः, सम्बन्धिनोऽपि धात्वर्थाङ्गतार्थादेव लप्स्यते। अतः सम्बन्धिनो धात्वर्थानङ्गत्वं वदता सम्बन्धस्यापि वाच्यम्। न च तद्वक्तुं शक्यम्। धात्वर्थानुरक्तेन प्रत्ययेन सम्बन्धस्य विधानाद्धात्वर्थाङ्गत्वावगतेरित्याशङ्कते—**तत्रेति**। धात्वर्थानुरक्तेन प्रत्ययेन विधानाद्धात्वर्थाङ्गत्वे च दध्ना जुहोतीत्यस्याः सम्बन्धविधित्वाभावाद्भेदोपादानार्थवत्त्वेऽपि वायव्येन्द्रियश्रुत्योः प्राकाशश्रुतिवत्सम्बन्धविधित्वाभ्युपगमाद्भेदोपादानानर्थक्यं दोषमाह—**एवं तर्हीति**। ननु वायव्यश्रुतावेव धात्वर्थस्य प्रकृतिद्योतनार्थे विधायकप्रत्ययानुरञ्जकत्वं युक्तम्, इन्द्रियश्रुतौ त्वविवक्षितत्वान्न प्रत्ययानुरञ्जकतेत्याशङ्क्याह—**न हीति**। प्रकृतिप्रत्यययोः पौर्वापर्यनियमाच्छुद्धप्रत्ययार्थानुपलब्धेर्धात्वर्थस्यानुरञ्जकता सर्वत्राविशिष्टेत्याशयः। वायव्यश्रुत्युपन्यासो दृष्टान्तार्थः।

नन्विन्द्रियश्रुतौ बलादापतितस्याप्यनुरञ्जकत्वस्यानुपकारित्वेन त्यागानुरञ्जकतेत्याशङ्क्य, वायव्यवाक्येऽपि तर्हि धात्वर्थानपेक्षाद्धातुमात्रादालभतिचोदिताग्निषोमीयपशुयागप्रकृतिद्योतनसिद्धेर्ददात्यर्थस्य चाध्वर्युप्राकाशसम्बन्धापादकत्ववदालभत्यर्थस्य द्रव्यदेवतासम्बन्धानापादकत्वेन विधायकप्रत्ययोपकारित्वाभावान्नानुरञ्जकत्वं स्यादित्याह—**प्रकृतीति**। लिङ्गशब्दो भावव्युत्पत्त्या द्योतनाख्यलिङ्गनवाची। उपकारिणोऽपि धातोरनुरञ्जकत्वानपेक्षणाद्धात्वर्थस्यानुरञ्जकता दूरोत्सारितेति सूचनायात्मशब्दः। ननु क्रियागर्भत्वात्सम्बन्धस्य धात्वर्थं विना द्रव्यदेवतसम्बन्धानिष्पत्तेर्धात्वर्थान्तरवाचिशब्दाश्रवणाच्च विधेयसम्बन्धापादनेनात्मनो विधायकस्योपकरिष्यतीत्याशङ्क्याह—**न चेति**।

यदि च श्वेतवाय्वोः सम्बन्धः कार्यः, सचालम्भतिद्वारेति विधीयेत, न ततो वाक्यभेदः स्यात्, विधेयापादकविधावपि त्ववाक्यभेदे गुणफलसम्बन्धापादकाश्रयाश्रयिसम्बन्धविधावप्यवाक्यभेदापत्तेरिन्द्रियवाक्येऽपि धात्वर्थत्यागोक्तिरयुक्ता स्यादित्याह—**यदि चेति**। विनापि त्वाश्रयाश्रयिसम्बन्धे गुणफलसम्बन्धोपपत्तौ प्रकरणलभ्याश्रयिसम्बन्धाभ्युपगमो विरुध्येतेत्याह—**किमिति वेति**।

सप्तमाष्टमश्रुतिप्रकारावप्यनेन प्रसङ्गाद् दूषितौ भवतः। अतो न धात्वर्थानुरक्तेन प्रत्ययेनान्यसम्बन्धस्य विधानाद्धात्वर्थाङ्गत्वसिद्धिरित्युत्तरश्रुतिप्रकारद्वयदूषणस्य प्रस्तुताशङ्कानिरासार्थत्वं दर्शयितुमाह—**तस्मादिति**। पञ्चमश्रुतिप्रकारवत्तु धात्वर्थाङ्गत्वसिद्ध्यर्थं दाने प्राकाशाध्वर्युसम्बन्धकर्तव्यत्वे आपाद्य निराकार्ये इत्याह—**पूर्ववच्चेति**। ननु धात्वर्थाङ्गतयेह सम्बन्धस्य विधिरिष्टो, न तु धात्वर्थस्याधिकरणत्वसम्बन्धस्य वा कर्मतेत्याशङ्क्याह—**न चेति**। दध्नोऽपि भावनान्वयात्प्राक् धात्वर्थे विधिर्न सम्भवतीत्यपिशब्दार्थः। कस्मादित्यपेक्षायामाह—**इतीति**। यथा भावनान्वयात्प्राक्कस्य चिद्धात्वर्थान्वयो न सम्भवति तथा तद्भूषाधिकरणोक्तेन मार्गेणेत्यादिवार्त्तिकेनोक्तमित्यर्थः। यद्ददाति, तत्राध्वर्युप्राकाशयोः सम्बन्ध इति वचनव्यक्तिनिरासमुपसंहरति—**एवं तावदिति**। अध्वर्यये यद्ददाति, तस्य प्राकाशसम्बन्ध इत्यस्यामपि वचनव्यक्तौ दानस्याध्वर्युविशिष्टत्वे अन्वयोर्वा दानविशिष्टत्वे वाक्यभेदः स्यादित्याह—**अथेति**। वोऽध्वर्युः, तस्मै प्राकाशावित्यस्यां तु वचनव्यक्तौ क्रियागर्भत्वात्सम्बन्धस्य ददाति विना सम्प्रदानसम्प्रदेयसम्बन्धायोगात्कल्पिते ददातौ सम्बन्धः। सम्बन्धाच्च ददातिकल्पनेतीतरेतराश्रयापत्तेर्न धात्वर्थेऽन्ययोः सम्बन्ध इति वचनस्य-श्रुतेर्व्यक्तिः-प्रकारः सम्भवतीत्याह—**शुद्धेति**।

ननु सम्प्रदानश्रुत्याक्षिप्ताद्धात्वर्थादेवाध्वर्युप्राकाशयोः सम्बन्धसिद्धेर्धातुकल्पनाभावान्नेतरेतराश्रयापत्तिरित्याशङ्क्य—**यद्यपीत्युक्तम्**। धात्वर्थस्याशाब्दत्वेऽन्वयायोगात्, अन्वयसिद्धयेऽवश्यङ्कल्प्यो धातुरित्याशयः। यथा च सोमेन यजेतेति श्रुतयजिसद्भावान्नेन्द्रवायवादिवाक्येष्वन्ययजिकल्पना युक्ता, तथेहापि श्रुतददात्यविवक्षयाऽन्यददातिकल्पनायोगान्न शुद्धाध्वर्य्वनुवादोपपत्तिरिति सूचनार्थो दृष्टान्तः। दानाध्वर्य्वनुवादेन च तत्सम्बन्धितया प्राकाशविधानेनार्थात्सम्बन्धविधिसिद्धावपि तात्पर्याभावाच्छ्रुतिप्रकारत्वानुपपत्तिरित्याह—**अवश्यं चेति**। अन्यतराप्राप्तौ सम्बन्धस्याश्रौतत्वे भाष्यकृत्संमतिमाह—**वक्ष्यति चेति**। यत्र च सम्बन्धो विधीयते, तत्रान्यतरस्यान्यत्र विधानम्, सम्बन्धो नान्तरीयको। यद्वा सम्बन्धस्य विधानानान्तरीयकौ सम्बन्धिनाविति तृतीयाधिकरणभाष्ये सम्बन्धविधिद्वैविध्यमुक्त्वा, यत्रोभौ लक्षणत्वेन, तत्र स्वशब्देन सम्बन्धो विधीयते। यत्र त्वन्यतरो लक्षणत्वेन, तत्रैकं लक्षयित्वान्यतरो विधीयत इति विषयोदाहरणभाष्ये प्राग्वक्ष्यमाणमपि 'प्रहृत्य परिधीन् हारीयोजनं जुहोती'त्यादावुभयप्राप्तौ सम्बन्धस्य श्रौतत्वं, जाघन्या पत्नीः संयाजयन्तीत्यनभिमतत्वाद्व्यतिरेकप्रदर्शनमात्रायेति सूचनार्थम्—**पश्चादुक्तम्**। विधेयान्तराभावेनार्थाक्षेपायोगात् श्रौतत्वसिद्ध्यर्थः केवलशब्दः। उभयाप्राप्तौ सम्बन्धिनोः सम्बन्ध-

विधिनान्तरीयकत्वायोगादनुदाहरिष्यमाणाप्युभयाप्राप्तिर्वायव्यं श्वेतमित्यादौ विशिष्टविधिरूपसम्बन्धविधिनान्तरीयकत्वविषयतयाऽनुभयप्राप्तौ वेत्यनेनोदाहृता । आख्यातेन च पदार्थान्तरान्वयविधौ बुद्धिविक्षेपस्य श्रुतित्रयेऽपि साम्यान्न बलाबले विशेष इत्याह—**तिसृणामिति** ।

ननु सन्निकर्षविप्रकर्षाविशेषेऽपि धात्वर्थेऽन्यान्वयविधौ धात्वर्थस्याविषयत्वेऽपि विधेयविषयतया ग्रहणेनानुग्रहाद्धात्वर्थानुरक्ते, ननुप्रत्ययेनान्यान्वयविधौ धात्वर्थस्याविधेयत्वेऽपि, विधेयविषयतयाप्यग्रहणात्ततो दौर्बल्यं प्रत्यययारनुञ्जकत्वेन तु ग्रहणेनात्यन्तत्यागाभावाद्धात्वर्थत्यागेनान्यान्वयविधितो बलीस्त्वमित्याशङ्क्याह—**नापीति** । विधेयविषयत्वप्रत्ययानुरञ्जकत्वत्यागानामेकधात्वर्थविषयत्वाभावेनाविरोधान्न बलाबलज्ञानोपयोग इत्याशयः । अतः परदौर्बल्याभावक्रमेणोपन्यासः सप्तमाष्टमश्रुत्योश्च षष्ठश्रुत्यन्तर्भावादष्टत्वगणनोपन्यासोऽनर्थक इत्याह—**इतीति** । प्रकरणार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति** । पुनःश्रुतिरिति सूत्रावयवेन विहिताया अपि भावनायाः पुनर्विधानाभिधानात्स्वपदार्थगतं वक्ष्यतीति च भाष्यावयवेन स्वपदार्थधात्वर्थगतं भावनाख्यं व्यापारं विधिश्रुतिर्विधास्यतीत्यभिधानात्सर्वत्र विशिष्टभावनाविधिप्रतीतिरधिकरणगतसूत्रभाष्यावयवविवक्षया लाक्षणिकोऽधिकरणशब्दः । प्रस्तुतदध्यूर्वादिवाक्यरूपविषयवाची वा ।

ननु सर्वत्र भावनाविधौ न क्वचिद्विप्रकृष्टार्थविध्यभिधानं युज्येतेत्याशङ्क्याह—**यश्चेति** । सन्निकृष्टं धात्वर्थस्य भावनाविशेषणत्वम्, विप्रकृष्टं गुणस्येत्याशयः । स एष इति भाष्यं स्वस्वपदार्थभूतो धात्वर्थ एष भावनाख्यव्यापारविशेषणीभूतः सन् गुणविशिष्टो विधिश्रुत्या प्रत्येष्यते विधास्यते इत्येवं व्याख्यातुमाशङ्कते—**कथं पुनरिति** । शङ्कानिरासार्थत्वेन भाष्यं व्याचष्टे—**विशिष्टेति** । ततश्च गुणविधिव्यपदेशोऽपि फलाभिप्रायेणोपपत्स्यत इत्याह—**फलतश्चेति** । ननु प्राप्तत्वेऽपि कर्मणो विशिष्टविधौ सत्यनेकार्थविधिनिमित्तप्रत्ययावृत्त्यभिधानं विरुध्येतेत्याशङ्कते—**नन्विति** । श्रुतिवृत्त्या विधेः सर्वत्र भावनाविषयत्वेऽपि प्राप्तायां तस्यामप्राप्तप्रापणाविषयस्वभावत्वाद्विधेस्तात्पर्यवृत्त्या विशेषणत्वात्सकृदुच्चरितस्य चानेकतात्पर्यायोगादपरिहार्या वृत्तिरिति परिहरति—**नैष इति** । कृदन्तविधिशब्दोत्पन्नेन भावप्रयत्नेन सम्बन्धाभिधानात्तैर्विधेर्भावनया सह विषयविषयिलक्षणस्य सम्बन्धस्य श्रुतिवृत्त्या सार्वत्रिकत्वेऽपि तादर्थ्यस्य तात्पर्यपरपर्यायस्य तत्प्रयोजनत्वस्य तत्फलत्वस्याप्राप्तविषयतयाविभक्तत्वाद्व्यवस्थितत्वाद्विशेषणफले विधित्वेऽनेकविशेषणपरे सत्यपरिहार्यो वाक्यभेद इत्यर्थः । श्लोकं व्याचष्टे—**यदा हीति** । अर्थाद्विशेषणविधाववाक्यभेदस्यैक्ये उक्त्यवसितानां तु नार्थाक्षेपो विरुध्यते इति पौर्णमास्यधिकरणवार्त्तिकोक्तत्वेऽपि भाष्यकृतो निर्वृत्तवारवन्तीयको यागो विधीयते ।

ननु वारवन्तीयनिर्वृत्तिरर्थात्तु रेवतीषु वारवन्तीयमभिनिर्वर्त्स्यतीत्यनेन वारवन्तीयाधिकरणे वक्ष्यमाणत्वाद्वक्ष्याम इत्युक्तम्—प्रपूर्वस्य वसेः स्वस्थानात्प्रस्थितस्यान्यत्र वासे प्रयोगाद्भावनातः प्रस्थायापरत्रौषितत्वादित्यर्थः । स्पर्शादेरज्ञानमित्यध्याहारः । ननु

योग्यतालक्षणसम्बन्धेन चक्षुषो ग्राहकत्वाच्चक्षुर्ग्राह्यरूपसमानदेशस्यापि स्पर्शादेर्योग्यत्वेनाग्रहणं युक्तम् । विधेस्तु विशेषणेऽप्यवतारस्य भावनान्वयमात्रापेक्षत्वाद्भावनायाश्च सर्वविशेषणेष्वैक्यान्न व्यवस्था युक्तेत्याशङ्क्याह—सर्वेति । विधित्वस्य यो देशो भावनाख्यः, स सर्वेषां विशेषणानां यद्यपि समानः । तथापि भावनातः प्रचलितस्य फलालोचनहेतुकत्वादेकस्य च विधेरनेकफलत्वायोगादेकत्रैव विशेषणे विधित्वं पर्यवसितम् । चोदिते हि तदर्थत्वादित्यत्र दर्शितमिति, फलमालोच्येति ल्यब्लोपपञ्चम्यर्थे तसिमङ्गीकृत्य व्याख्येयम् । विधेर्विशेषणेष्ववतारस्य तात्पर्यापेक्षत्वात्तात्पर्यस्य चैकत्रैवोपपत्तेरेकत्रैवावतारो युक्त इत्याशयः । विरोधपरिहारमुपसंहरति—तस्मादिति ।

ननु विशेषणफलेन विधानेऽनेकार्थविधौ वाक्यभेददोषे सत्यभ्युदितेष्टिविधावग्न्यादिदेवतातद्गुणदात्रादिरूपानेकार्थविधानात्प्राकाशादिविधिषु प्राकाशादिदेयतत्विशेषणहिरण्यमयत्वादिरूपानेकार्थविधानाद्दोषः स्यादित्याशङ्क्याह—यस्त्विति । पञ्चमादिश्रुतिप्रकारचतुष्टयापेक्षः सर्वशब्दः । ये मध्यमास्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदित्यभ्युदितेष्टिविधौ हि चन्द्राभ्युदये निमित्ते भावनामनादृत्य द्व्प्रकृतदर्शाख्यधात्वर्थोद्देशेनान्यविधानेऽपि देवतावद्गुणरूपानेकार्थविधानात्प्राकाशादिविधिषु च धात्वर्थेऽन्यसम्बन्धविधानेऽपि देयतद्विशेषणरूपानेकार्थविधानात् त्रिष्वपि च सम्बन्धविधिपक्षेषु सम्बन्धो विधीयमानः सम्बन्धिनं तावदाक्षिपेदिति । वार्त्तिकोक्तन्यायेन सम्बन्धाक्षिप्तयोः सम्बन्धिनोरक्रियाङ्गत्वेनाननुष्ठेयत्वादनुष्ठेयत्वसिद्धयै क्रियाङ्गत्वेन तयोरपि विधानापत्तेस्तुल्यो वाक्यभेदः ततश्चोभयवादितुल्यत्वान्नैकः पर्यनुयोज्य इत्याशयः ।

नन्वेवं सति वाक्यभेदपरिहारायाऽभ्युदितेष्टिविधौ यागान्तरविधानापत्तेः प्राकाशादिविधिषु च प्रकृते दक्षिणादाने प्राकाशादिमात्रविधानात्समस्तप्राकृतदक्षिणाबाधापत्तेस्तदधिकरणसिद्धान्तहानिः स्यादित्याशङ्क्याह—यथेति । षष्ठेऽभ्युदितेष्ट्यधिकरणे टुप्टीकायां नैवात्रानेकगुणा विधीयन्ते, किं तर्हि विद्यमानस्यैव हविषो मध्यमभागाग्निदातृत्वविशिष्टा भावना प्रकृतयागसंम्बद्धा विधीयते इत्यादिवार्त्तिकेन प्रकृतदर्शयागाभेदेऽपि तदवच्छिन्नभावनान्तराभ्युपगमेन वाक्यभेदः परिहरिष्यते । दशमे प्राकाशाधिकरणे यद्वा सर्वविशेषणविशिष्टो ददातिरपूर्वो विधीयत इति भाष्येणैव कर्मान्तरविधानाभिधानात्तेनैव न्यायेनोत्तराधिकरणेषु 'स ब्रह्मणे देय' इति श्वेताश्वब्रह्मविशिष्टदानान्तविधिप्रतीतेः 'सप्रियाय सगोत्राय ब्रह्मणे देय इति सोमचमसप्रियसगोत्रब्रह्मविशिष्टदानान्तरविधिप्रतीतेः, यजुर्युक्तं रथमध्वर्यवे ददातीति' यजुर्युक्तरथाध्वर्युविशिष्टदानान्तरविधिप्रतीतेर्वाक्यभेदपरिहारो भविष्यतीत्याशयः ।

भवेदित्याशङ्काभाष्यं तं तु स्वपदार्थमित्यनेन गुणस्य भावनाविशेषणीभूतधात्वर्थविशेषणत्वोक्त्या भावनाविशेषणत्वस्योक्तत्वादयुक्तमाशङ्क्य, यद्यपि तस्य भावनाख्यव्यापारस्य सम्बन्धिनं धात्वर्थाख्यं पदार्थं गुणशब्दो विंशिषन् व्यापारं विशिंष्यात्, तथापि विनाऽनेन प्रकारेण गुणावच्छिन्नरूपेण व्यापारो विधेयः प्रतीयेतेत्येवं विधेयत्वनिरासार्थत्वेन

व्याचष्टे—**भवेदिति**। गुणस्य साक्षाद्विधेयत्वयोग्यतायां गुणविधानार्थं तदवच्छिन्नरूपविधेयत्वं स्यात्, तस्य त्वयोग्यत्वाद् गुणविशिष्टायां भावनायामेव विधेस्तात्पर्यावसायान्न गुणविधानार्थंत्वौपपत्तिरिति साक्षाच्छब्देन सूचितम्। भावनापरेऽपि विधावर्थाक्षेपाद्धि विशेषणभूतगुणानुष्ठानसिद्धेर्नेयमाशङ्का युक्तेत्याशङ्काक्षेपार्थं तत्रेति भाष्यमनुष्ठानस्य विध्यधीनत्वाद्विधिं विनानुपपत्तेरयुक्तमाशङ्क्य, वाक्यावगतविधेयभावनाविशेषणत्वानुपपत्तिकल्पितगुणविध्याशयत्वेन व्याचष्टे—**तत्रेति**। अथाव्याप्रियमाणेऽपीति भाष्यं व्यधिकरणे सप्तम्यामङ्गीकृत्य विधेयाया भावनाया धात्वर्थाधीननिरूपणत्वाद् गुणाधीननिरूपणत्वाभावाद् गुणे पुंस्त्वव्याप्रियमाणे विधौ वा तस्मिन्नेवाव्याप्रियमाणेऽपि गुणानपेक्षधात्वर्थावच्छिन्नभावनाविधानेन विधिशब्दार्थोपपत्तेर्नानुष्ठानं सेत्स्यतीत्याशङ्काशयविवरणार्थत्वेन व्याचष्टे—**अव्याप्रियमाणेऽपीति**।

तत्रेत्यादिनैकग्रन्थेन वा स एवाशङ्कितान्येनापृष्ट एवानुष्ठानं निरूपयत्यन्यथा व्याचष्टे—**स एवेति**। स्वयं शब्देन प्रश्नानपेक्षोक्ता भावनाया गुणाधीननिरूपणत्वाभावाद् गुणानपेक्षविधेयत्वापत्तावपि स्ववाक्योपात्तगुणश्रुत्यानर्थक्यपरिहारार्थङ्गुणविधिः कल्प्य इति, पुनराशङ्काक्षेपार्थङ्गुणेति भाष्यम्भावनाविधिना गुणस्य विधातुमशक्यत्वाद्भावनानिरपेक्षस्य च विधेः कल्पनायोगादगत्यानर्थक्यमेव ज्याय इत्याशङ्काशयविवरणार्थं वानर्थकश्चेति भाष्यमेकहेलया व्याचष्टे—**तेनैवेति**। विधिकल्पनाशयः प्रश्नः, कल्पनानुपपत्त्याशयं चोत्तरमित्यर्थः। सर्वस्य वेदस्याध्ययनविधिनार्थवत्त्वावधारणे आनर्थक्यायोगादवश्यकल्प्यो गुणविधिरित्याशङ्काक्षेपाशयविवरणार्थं कथं पुनरिति भाष्यं व्याचष्टे—**तथेति**। यथा तत्र किं भविष्यतीति प्रश्नः कल्पविध्याशयः। तथायमपि प्रश्नः कल्पविध्याशय इत्युक्तेः पौनरुक्त्यं तर्हीत्याशङ्काशयाधिक्यं वेत्यनेनोक्तम्। पूर्वपक्षे भावनानुष्ठानार्थत्वाद्विधेः कारकशून्यायाश्चानुष्ठानाशक्तेर्विशिष्टविधिना विशेषणभूतकारकानुष्ठानाक्षेपार्थं गुणवचनेन सान्निध्यार्थवत्त्वोपपत्तेर्नानर्थक्यम्। सिद्धान्ते तु दध्यादिवाक्ये विधेर्भावनारूढत्वेऽपि तदनुष्ठानर्थत्वाभावात्कारकानुष्ठानाक्षेपाशक्तेः सन्निध्याम्नातस्यापि गुणस्यानुष्ठानानवगमादानर्थक्यमित्युत्तरार्थं भाष्यम्। सिद्धान्तेऽपि गुणानुष्ठानार्थत्वाभ्युपगमादयुक्तमाशङ्क्य, मध्यप्रतीकेनावतायाऽनर्थक्यापादनार्थत्वेन व्याचष्टे—**असति त्वर्थं इति**। भवेदित्यादि किमन्यदुच्येतेत्यन्तभाष्योक्ताशंका परिहारार्थमेवन्तर्हीति भाष्यं वाक्यशब्दे श्रवणादेकाभिधानलक्षणश्रुत्यपात्तभावनानपेक्षगुणविधानार्थं तथा भासमानं भावनार्थविधायकेनापि विधिना विधिप्रयोजनभूतगुणसमर्पणार्थवाक्यापेक्षणाभिधानार्थत्वेन व्याचष्टे—**एवं तर्हीति**। वाक्याद्भविष्यतीति वाक्ये किं भविष्यतीत्यपेक्षायामतिक्रान्तावेक्षणेन गुणतस्य व्यापारस्य विधेयत्वप्रतीतिरित्यवगमात्—**विधिरित्युक्तम्**।

ननु गुणगतो व्यापारो भविष्यतीति भाष्यार्थकल्पनयाऽनेन विधिशब्देन भाष्यगता व्यापारशब्दा विधिवाचित्वेन व्याख्याता इति भ्रमितव्यम्, नन्विदानीमेव वाक्याद् गुणव्यापार—**अवगम्यतइत्युक्तम्**। सत्यमेतदविधीयमानस्तु कुतोऽवगम्यतइति वक्ष्यमाण-

भाष्ये व्यापारस्याविधीयमानत्वोक्त्यनुपपत्तिप्रसङ्गाद्विधिवाचित्वे च व्यापारशब्दानां भावनावाचिशब्दान्तरस्येहाभावात्प्रस्तुताधिकरणन्यायेन सर्वत्र लिङ्शिष्टभावनाविधिरेव तत्वमिति वार्त्तिकं निरालम्बनमेव स्यात्। श्रुतिबलीयस्त्वेन पूर्वपक्षिप्रत्यवस्थानार्थं श्रुत्यर्थे सतीति भाष्यं श्रुत्युपात्तायां भावनायां विधेस्तात्पर्यायोगेन श्रुतिविरोधाभावादयुक्तमाशङ्क्य, भावनाविधिद्वारत्वाद् गुणविधेर्भावनानिरपेक्षे गुणे तात्पर्यायोगादापाद्योक्त्यर्थत्वेन व्याचष्टे—**परस्त्विति**। भावनाद्वारापि प्रवर्त्तमानस्य विधेरप्राप्तप्रापणस्वभावत्वेनान्यतः प्राप्तायां तात्पर्यायोगादानर्थक्यतदङ्गन्यायेन गुणं तात्पर्यावतारो युक्त इति परिहारार्थं 'सत्यमित्यादिविहितत्वादित्यन्तं भाष्यं व्याचष्टे—**सत्यमिति**। तत्सन्निधेरिति सूत्रावयवव्याख्यानार्थं स्वपदार्थस्येति भाष्यावयवं कर्मान्तरविधानोपपत्तेरयुक्तमाशङ्क्य, कथंचित्प्राप्तिसम्भवे विशिष्टविधिगौरवान्याय्यत्वाभिधानार्थस्तद्गुणाधिकरणाधिकरणसूत्रावयवः पठितः।

नन्वेवं सति तेनैव न्यायेन श्रुत्यर्थाविवक्षासिद्धेः प्रश्नो न युक्त इत्याशङ्क्य—**कथमित्युक्तम्**। श्रुत्यर्थाविवक्षायां द्वेषातिशयेनोक्तन्यायापरामर्शात्प्रश्नः श्रुत्यर्थाविवक्षावादिन एव वा हेत्ववतारार्थं प्रश्नोक्तिरित्यर्थः। तत्सन्निधेरिति सूत्रावयवव्याख्योपसंहारार्थे तस्मादिति भाष्यम्। तस्मात्शब्दपरामृष्टतत्सन्निधिं त्रेधा व्याचष्टे—**तस्मादिति**। पौर्णमास्यधिकरणादिस्थानां चोदनाशब्दानां शब्दान्तरे कर्मभेद इति कर्मशब्दालोचनेन कर्मचोदनाविषयतया व्याख्यानात्तस्मिन्कर्मणि गुणत्वस्य संशब्दोक्तेनैकैकीभावेन विधानात्कारकद्रव्यावस्थाविशेषत्वेन क्रियायाः, क्रियाकारकयोरत्यन्तभेदाभावात्क्रियाद्वारा गुणस्य विधेयत्वोपपत्तिरित्याद्ये व्याख्याने तत्सन्निधिशब्दार्थस्तस्य गुणस्य सन्निधौ पठितस्याविधाने प्रमादपाठापत्तिरिति। द्वितीये तस्याः कर्मचोदनाया वाक्यान्तरस्थायाः प्रत्यभिज्ञानान्न दध्यादिवाक्ये कर्मणि विधेयतेति। तृतीये सत्यं न श्रूयतइत्यादिभाष्येण गुणविधिव्युत्पादनार्थत्वेन तत्सन्निधेरित्यादिसूत्रावयवं व्याख्यायाख्यातपदार्थाविधावाख्यातपदानर्थक्यशङ्कानिरासार्थत्वेन तस्य कर्मणोऽग्निहोत्राघारवाच्यचोदितस्य दध्यादिवाक्ये सन्निधानाद् गुणान्वयार्था पुनःश्रुतिरित्येवं व्याख्यातुं जुहोतेरिति भाष्यं स्पष्टत्वादव्याख्याय, यदीत्याशङ्काभाष्यं विधायकप्रत्ययानुवादत्वानभिधानादयुक्तमाशङ्क्य, धातोरनुवादत्वे प्रत्ययस्यापि केवलाप्रयोज्यत्वेनानुवादत्वापादनाशयत्वेन व्याचष्टे—**जुहोतेरिति**।

नन्वेवमपि दध्यादिशब्दस्य विधायकत्वानिरासात्प्रश्नो न युक्त इत्याशङ्क्याह—**दधिशब्देनेति**। यथा वाजपेयाधिकरणे, यदि यजेतेत्यनुवादः। केनेदानीं गुणो विधीयतइति ? प्रश्नोपपादनार्थं वाजपेयशब्देनेति मा वोचः न ह्याख्यातं, वा क्रुत्यं वान्तरेण—**नामपदस्य विधिशक्तिरस्तीत्युक्तम्**। तथात्रापि वाच्यमित्यर्थः। छायाशब्दः प्रक्रियार्थः। वाक्यावगतस्य गुणान्वयस्याप्राप्तत्वाद्विधेयत्वप्रतीतेस्तदन्यथानुपपत्तिकल्पितेनाख्यातेन विधिसम्भवाच्छङ्काक्षेपार्थं 'नन्विति भाष्यं श्रुताख्यातत्यागेनाश्रुतकल्पनायोगेनाशङ्कासमाधानार्थं च सत्यमिति भाष्यं स्पष्टत्वादव्याख्याय, एवं तर्हीत्युत्तरभाष्यं व्याचष्टे—**प्रत्यय इति**। प्रत्ययस्य

विधित्वे तद्वाच्याया भावनाया विधेयत्वापत्तेर्धात्वर्थानवच्छिन्नाथाश्च तस्या विध्ययोगाद्धात्वर्थस्यापि विधेयत्वापत्तिरिति, कस्येति भाष्येणाशङ्क्येहाविधीयमानस्याप्यन्यतोऽवच्छेदकत्वेन प्राप्तेरनुवादोपपत्त्यभिधानार्थं धात्वर्थस्येति भाष्यं व्याचष्टे—**धात्वर्थं इति**। धातुप्रत्यययोः सहप्रयोगनियमेऽप्यर्थभेदाद्विध्यनुवादविभागोपपत्तिसूचनार्थो विवेकशब्दः।

ननु स्वपदोपात्तस्यापि धात्वर्थस्याऽन्यतः प्राप्तत्वेनानुवादाभ्युपगमे भावनाया अपि प्राप्त्यविशेषेणानुवादापत्तेर्व्यापारशब्देन भावनाविधानाभिधानं न युक्तमित्याशङ्कार्थं 'यदीति भाष्यं व्याचष्टे—**यदीति**। भावनानिरपेक्षगुणविधानाशक्तेर्गुणविधानार्थं प्राप्ताया अपि भावनाया गुणविशिष्टरूपेण गुणविधानोपपत्त्यभिधानार्थं 'वाक्यार्थ' इति भाष्यं पराभिमतधात्वर्थोद्देशेनाऽन्यविधिनिरासेन विशिष्टभावनाविध्यभिप्रायत्वेन व्याचष्टे—**वाक्यार्थं इति**। यथैवं तर्हि वाक्याद्भविष्यतीति भाष्यं विशिष्टभावनाशयम्। तथेतदपीत्यर्थः। तस्मादिति सिद्धान्तोपसंहारभाष्यमुपक्रमभाष्यव्याख्यया व्याख्यातमप्यनन्तरोक्तवाक्यार्थविध्यालोचनेन भ्रान्त्यापादकत्वाद्व्याचष्टे—**तस्मादिति**। केवलगुणविध्यसम्भवाद्वाक्यान्तरतोऽप्याघारणहवनरूपकर्मान्तरव्यावृत्तरूपाप्रतीतेः संज्ञोपबन्धासम्भवस्योक्तस्य केवलगुणविधिव्युत्पादनात्परिहारसिद्धेर्भाष्यकृतोपेक्षितं परिहारं स्वयमाह—**जुहोतीति**।

ननु सजातीयकर्मान्तरव्यावृत्तिर्न जुहोत्याघारयतिभ्यां सेत्स्यतीत्याशङ्क्याह—**इहेति**। विधिस्वभावात्सर्वतो व्यावृत्तेः संज्ञोपबन्धोपपत्तिरित्यर्थः। अप्रकृतत्वाच्चेति सूत्रोक्तं प्राकरणिकवाक्यान्तरतोऽपि रूपालाभं परिहरति—**प्रकरणाच्चेति**। यत्त्वज्ञातरूपस्य कर्मणो विध्यसम्भवात्फलकरणत्वानवगतेः, उत्पत्तिवाक्ये कथंभावात्मकं प्रकरणं नास्तीत्युक्तम्। तद्वाक्यान्तरतो रूपलाभसम्भवे स्वभावात् ज्ञातरूपस्यापि कर्मणो विधिसम्भवादेव कर्मान्तरव्यावृत्तिसिद्धेर्विधिसम्भवादुत्पत्तिवाक्येऽपि सामान्यतः फलकरणत्वावगतेः प्रकरणं सम्भवतीत्येवं परिहरति—**न चेति**।

ननु प्रकारविशेषाकाङ्क्षात्मकत्वात्कथम्भावस्य फलविशेषान्वयोत्तरकालत्वाच्च प्रकारविशेषाकाङ्क्षाया नोत्पत्तिवाक्ये कथम्भावोपपत्तिरित्याशङ्क्याह—**फलेति**। निर्विशेषसामान्याभावादुत्पत्तिवाक्येऽप्यनिर्द्धारितफलादिविशेषप्रतीतेरनिर्द्धारितफलविशेषान्वयोत्तरकालं कथम्भावोपपत्तिरित्याशङ्क्याह—**फलेति**। निर्विशेषसामान्याभावादुत्पत्तिवाक्येऽप्यनिर्द्धारितफलादिविशेषप्रतीतेनिर्द्धारितफलविशेषान्वयोत्तरकालं कथम्भावोपपत्तिरित्याशयः। या चानभिज्ञातरूपस्य फले विधातुमशक्यतोक्ता। साप्ययुक्तेत्याह—**न चेति**। होममात्ररूपेण फले विहितस्य कर्मणो द्रव्यादिग्रहणे विरोधाभावादित्यर्थः। विशेषतोऽत्र द्रव्यादेर्वाक्यग्राह्यत्वेन प्रकरणानपेक्षणात्सन्निधिमात्रेण च कर्मानुवादोपपत्तेः कथम्भावाभावेऽप्यविरोध इत्याह—**इष्यते चेति**। वाक्यान्तरप्राप्तं च कर्माऽनूद्य वाक्यान्तरेण रूपग्रहणसम्भवे स्ववाक्याज्ञातरूपस्यापि कर्मणो वाक्यान्तरतो रूपलाभाद्विधिनिर्वाहोपपत्तेर्विध्ययोगाभिप्रायेणाघारप्रकरणनिरासायोगात्परप्रकरणपाठमात्रेण तन्निरासो वाच्यः। स चाभिक्रमाधिकरणे निराकरिष्यमाणत्वादयुक्त इत्याशयेनाह—**न चेति**। एतदेवोपसंहरति—**तेनेति**।

तदुक्तमित्यादिभाष्यमप्याघारप्रकरणसद्भावाभिधानार्थमित्यनेन सूचितम्। तण्डुलोद्ध्वदिवाक्यानां कर्मविधित्वे कर्मबहुत्वात्, तदनुनिष्पाद्यपूर्वबहुत्वकल्पनापद्येतेत्याह—**बहूनि चेति**। अथानेकादृष्टकल्पनापत्तावपि रूपवत्त्वेनैषां विधित्वमिष्यते। तदपि नास्तीत्याह—**न चेति**। तण्डुलादियुक्तानां होमानां देवता नास्ति, ऊर्ध्वादियुक्तानां चाघाराणां यथा देवता नास्त्येवं द्रव्यमपीत्युभयाभावाभिधानम्। यदग्नये चेति देवतायुक्ते होमे द्रव्याभावः। तस्याघारमिन्द्र ऊर्ध्वोऽध्वर इति वाक्यविहिते चाघारेऽन्यतराभावश्चकारेण सूचितः। कर्मान्तरविधेश्च कर्मान्तरे गुणसमर्पकत्वायोगान्न वाक्यान्तराद्देवतादिलाभ इत्याह—**सर्वे चेति**। तस्मादित्यधिकरणार्थोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तत इति**। ननु वाक्यान्तराद्रूपलाभसम्भवाभिधानेनाऽद्यसंज्ञोपबन्धव्याख्यायां परिहारसिद्धावपि, द्वितीयव्याख्यायां परिहारानभिधानान्नोपसंहारो युक्त इत्याशङ्क्यानुभाषणपूर्वं परिहरति—**यस्त्वति**। प्रयत्नरूपभावनासाध्यत्वेऽपि होमादिधात्वर्थस्य करणभूतधात्वर्थानवच्छिन्नाया भावनायाः कर्मान्वयायोगात्तदवच्छेदकत्वेन सङ्कल्पादिधात्वर्थोपन्यासोऽनुष्ठेयहोमादिस्वरूपानुसन्धानम्, द्रव्यादिकारकसमवायाभिधानं वा, आदिशब्दोपात्तम्। क्रियात्वेऽपि धात्वर्थस्य जन्यत्वात्कर्मत्वोपपत्तिः। वस्तुतस्तु धात्वर्थस्य करोत्यर्थरूपक्रियात्वमेव नास्तीत्यपिशब्दार्थः।

ननु सङ्कल्पादेरनुपादानान्न तदपेक्षया कर्मत्वनिर्देशोपपत्तिरित्याशङ्क्याह—**तेनेति**। अनिष्पन्नस्य होमादेः फलकरणत्वायोगात्सङ्कल्पादिनिष्पादितेन होमेन फलं भावयेदिति शास्त्रार्थोऽवसीयतइत्याशयः। ननु दध्यादिवाक्यानां कर्मविधित्वाभावेऽप्यग्निसूर्यवाक्ययोरनेकगुणविधानात्कर्मविधित्वावगतेरग्निहोत्रवाक्यस्य तद्वाक्यविहितसायम्प्रातर्होमद्वयसमुदायानुवादत्वं भविष्यतीत्याशङ्कते—**ननु चेति**। कर्मविधानं यदनेनोक्तम्, तदापद्यतइत्यर्थः।

अत्र कैश्चिद्भाष्यमनादृत्योत्सूत्रं पूर्वपक्षं कृत्वा, आद्यसूत्रत्रयेण समुदायानुवादत्वसिद्धान्तमुपवर्ण्य, अग्निहोत्रे देवतायाः प्रकरणादप्यप्राप्तेर्विधित्वासम्भवस्य प्रकृतत्वाच्चेति सिद्धान्तसूत्रोक्तस्याग्निसूर्यवाक्याभ्यां देवताप्राप्तेरनुपपत्तिमाशङ्क्याग्निसूर्यवाक्ययोः कर्मविधित्वं 'चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वादि'ति सूत्रावयवेनानेकगुणविधानान्यथानुपपत्त्योक्ताग्निसूर्यवाक्ययोरपि द्रव्याभावात्कर्मविधित्वानुपपत्तिमाशङ्क्य दध्यादिवाक्यैर्द्रव्यप्राप्तिरुत्तरावयवेनोक्तेत्युक्तम्। तेषां मतं दूषयितुमुपन्यस्यति—**तथा नामेति**। अत्रैव परोक्तामुपपत्तिमाह—**एवं चेति**। आहुती इति द्वित्वसंख्यायाः पृथक्त्वनिवेशाद्भेदव्यवहारः व्यपदेशभेदः स्पष्टः। धर्मभेदोऽपि भेदापादकत्वाद्भेदं व्यवहारयतीत्यादिशब्देनोक्तः। नन्वभ्यासविषयाभेदे व्यवहारा भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह—**न चात्रेति**। एकस्मिन्नभ्यासे सकलो ज्योतिष्टोम इति प्रतीत्यभावाद्युक्तं ज्योतिष्टोमावयवत्वम्, इह त्वेकैकस्मिन्सकलमग्निहोत्रमिति प्रतीतेर्नाग्निहोत्रावयवतेत्यर्थः। उभयत्र च समस्तेतिकर्त्तव्यतावृत्तिर्भेदापादिकेत्याह—**एवञ्चेति**।

ननु कर्मैक्येऽपि कालभेदादितिकर्त्तव्यतावृत्तिर्युक्तेत्याशङ्क्याह—**अन्यथात्विति**। एकादशे दर्शपूर्णमासाख्ययोः समुदाययोः, राजसूयाख्यानामिष्टिपशुसोमयागानाम्, चातुर्मास्याख्यानां च वैश्वदेवादिपर्वणां कालभेदादङ्गवृत्तौ सिद्धान्तितायाम्, सवनीयपशौ च या पशुपुरोडाशाङ्गप्रचाराणां कालभेदेऽप्यङ्गानावृत्तिवदिहाप्यनावृत्तिरित्याशङ्क्यैकस्य कर्मणः प्रक्रमात्प्रभृत्यासमाप्तेरेककालत्वात्सवनीयपशोश्चैककर्म्यात्प्रयोगाख्यस्य तन्त्रस्य विप्रकृष्टकालत्वेऽप्यङ्गानावृत्तिर्युक्तेति वैषम्यं वक्ष्यमाणं दृष्टान्तितम्। दध्यादिवाक्यानां च कर्मविधित्वे दध्यादीनां भिन्नकर्मविषयत्वात्समुच्चये सति सम्प्रतिपन्नदेवतात्वात्सहप्रदानापत्तेर्विकल्पसिद्धयर्थं कर्मैक्यायाग्निहोत्रवाक्यस्य विधायकत्वं सिद्धान्तयितव्यम्। सूर्याग्निवाक्ययोस्तु कर्मविधित्वे पक्षद्वयेऽपि दध्यादिविकल्पसिद्धेर्विचारोऽनर्थकः स्यादित्याशयेनाह—**न चेति**। परमतमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

सूर्याग्निवाक्ययोः कर्मविधित्वे सत्येककर्मासम्भविदेवताद्वयरूपगुणभेदितस्यैकैकवाक्यविहितस्य कर्मद्वयस्यैक्यमुपचर्या, अपराग्निकहोमानां चाग्निहोत्रवाक्यात्पश्चाद्विहितत्वेनानुवादायोगमभिप्रेत्य, सायम्प्रातराहवनीयहोमविवक्षयाहुत्योरित्युक्तम्। परमतमुपन्यस्तं दूषयन्समुदायानुवादमेव तावन्निष्प्रयोजनत्वेन दूषयति—**उच्यत इति**। 'दर्शपूर्णमासाभ्यामि'ति द्विवचनस्य समुदायानुवादाव्यतिरेकणासिद्धेर्विद्वद्वाक्ययोः समुदायानुवादोऽर्थवान् अग्निहोत्रमिति वैकवचनस्य राजसूयेनेत्येकवचनवत् समुदायानुवादं विनाऽप्यसमुदायीकृतानामेव प्रकृतानां कर्मणामेकफलान्वयात्समुदायसिद्धौ सत्यां तद्‌गतैकत्वद्वारा सिद्धेः समुदायानुवादोऽनर्थक इत्याशयः। नन्वग्निहोत्रशब्दविशेषितेन धातुना फलान्वयावगमात्ततः प्रागेव समुदायत्वसिद्धयर्थं समुदायानुवादोऽर्थवानित्याशङ्क्यां निरस्यन् श्लोकं व्याचष्टे—**यथैव हीति**। अनवगतफलानामपि कर्मणामेकप्रकरणद्विधानलक्षणैकधर्मान्वयाख्यात्प्रचयात्साहित्याख्यः समुदायः सेत्स्यतीत्याशङ्कानिरासाशयः। प्राक्फलान्वयात्समुदायासिद्धावप्राप्तत्वान्नानुवादोऽपि सिद्धयेदिति सूचनार्थो दृष्टान्तः। समुदायसिद्धयैवैकवचनालम्बनैकत्वसिद्धिर्न तत्सिद्धयर्थोऽप्यनुवादो युक्त इति सूचनायैकत्वशब्दः। एवमग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति प्रयोगवाक्यगतमग्निहोत्रपदमपि प्रचयशिष्टसमुदायैकत्वद्वारेण भविष्यतीत्यध्याहारेण योज्यम्। यथा चेति श्लोकव्याख्याम्।

नन्वग्निहोत्रशब्दस्यैकप्रकरणविधानलक्षणप्रचयकृतसमुदायनिमित्तत्वे सति गार्हपत्यान्वाहार्यपचनहोमानामपि प्रकृतत्वाविशेषात् ग्रहणेन फलान्वयापत्तेर्दर्शपूर्णमासादौ च सर्वत्र गार्हपत्यान्वाहार्यपचनयोः प्रधानकर्माधिकरणत्वाभावव्याप्तेरग्निहोत्रद्रव्यस्य च चतुरुन्नयनविधानाच्चतुरुन्नयनसंस्कृतस्यैव प्रधानहोमार्थत्वावगमात्तस्य चाहवनीयहोममात्रार्थत्वादाहवनीयाधिकरणहोमविधायकाग्निसूर्यवाक्यानन्तर्याच्चाग्निहोत्रं जुहोतीति समुदायानुवादस्थस्याग्निहोत्रशब्दस्याहवनीयहोममात्रविषयत्वेन तन्मात्रस्य फलान्वयावगतेर्नैकप्रकरणविधानापादितसमुदायनिमित्तताग्निहोत्रशब्दस्य सम्भवतीत्येतद्वाक्याभावेऽग्निसूर्यवाक्यविहितहोममात्रसमुदायासिद्धेस्तत्सिद्धयर्थः समुदायानुवादोऽर्थवानित्याशयेनाशङ्कते—**नन्विति**।

प्रकृतत्वाविशेषेण जुहोतेः सर्वहोमग्राहित्वावसायाद्वैदिके चार्थेऽनुमानाप्रवृत्तेः पिण्डपितृयज्ञादेश्च प्रणीताग्नौ विहितस्याहवनीयानधिकरणत्वेऽपि प्राधान्यदर्शनात्संस्कारव्यवस्थामात्रेण च प्राधान्यव्यवस्थानुपपत्तेः, आनन्तर्यस्य च पञ्चमक्रमात्मकप्रमाणत्वेन प्रकरणेन बाधाद्राजसूयशब्दवत्प्रकृतमात्रग्राहिजुहोतिसामानाधिकरण्येनाग्निहोत्रशब्दस्य सूर्यप्रकृतहोमविषयत्वावसायान्नाहवनीयहोममात्रसिद्धयर्थत्वं समुदायानुवादस्य सम्भवतीत्याशयेन परिहरति—**समुदायेति** ।

ननु बहुव्रीहेः सर्वनामार्थवृत्तित्वात्सन्निहिताहवनीयहोमविषयत्वावगतेरापराग्निकेभ्यो व्यवच्छेदो, भविष्यतीत्याशयेन शङ्कते—**नन्विति** । पाश्चात्येऽप्यथैष ज्योतिरित्यादौ सर्वनामप्रयोगदर्शनेन प्राक्भावमनादृत्य सन्निधिमात्रापेक्षणादापराग्निकहोमानामपि चैकप्रकरणगतत्वेन सन्निध्यविशेषादत्यन्तसन्निधेश्च द्वयोरप्यसम्भवात्सन्निहितार्थवृत्तित्वेन विशेषणत्वानुपपत्तेरग्निदेवत्यहोमाभिधायित्वेन विशेषणत्वं वाच्यम् । तच्चापराग्निकनामप्यग्निदेवत्यत्वान्न सम्भवतीत्यापाद्योक्त्या परिहरति—**नेति** । अग्निदेवत्यत्वे च विशेषणे सति प्रातर्होमस्यापि प्राधान्यं न स्यादित्याह—**अपि चेति** । अतः समुदायानुवादाभाववत्समुदायानुवादेऽपि सर्वेषां प्राधान्यात्समुदायानुवादोऽनर्थक इत्युपसंहरति—**तस्मादिति** ।

नन्वग्निहोत्रवाक्यस्य विधित्वे सर्वाग्निष्वभ्यस्तस्य कर्मणो भेदाभावात्प्राधान्याविशेषेऽप्यग्निसूर्यादिवाक्यानां कर्मविधित्वेऽग्निहोत्रवाक्यस्यानन्यप्रयोजनत्वात्समुदायानुवादार्थत्वावगतेः प्रकृतमात्रग्रहणे च समुदायानुवादानर्थक्यापत्तेः प्राग्विहिताहवनीयहोममात्रानुवादावसायादापराग्निकानामङ्गत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**तथेति** । सूर्याग्न्यादिवाक्यानां कर्मविधित्वाभावेऽपि गुणार्थतयाऽर्थवत्त्वोपपत्तेर्न तेषां कर्मविधित्वाभ्युपगमेनाग्निहोत्रवाक्यस्य समुदायानुवादताभ्युपगन्तुं युक्तेत्याशयः । शाखान्तरे च 'द्वे आहवनीये, चतस्रो गार्हपत्ये, चतस्रोऽन्वाहार्यपचने, दश सम्पद्यते दशाक्षरा विराट् । य एवं विद्वान् विराट् सम्पन्नमग्निहोत्रं जुहोती'ति सर्वहोमविषयत्वेताग्निहोत्रशब्दप्रयोगात्सर्वविषयतैवाऽग्निहोत्रशब्दस्य निश्चीयत इत्याह—**तथा चेति** । विराट्शब्दस्य दशकाख्यत्वादापराग्निकहोमाग्रहणे च दशकासम्पत्तेः सर्वविषयत्वलिङ्गेन विराट्सम्पत्त्युपन्यासः । अतः समुदायानुवादानर्थक्याद् गुणविधित्वस्य च तत्प्रख्याधिकरणे निरस्तत्वात्कर्मविधितैवाग्निहोत्रवाक्यस्य युक्तेत्याह—**तस्मादिति** ।

नन्वेवमपि गार्हपत्यादिवाक्येषु संख्याधिकरणरूपानेकगुणविधानात्कर्मविधिप्रतीतेः कर्मभेदे सति कर्मैक्यं न सिध्यतीत्याशङ्क्याह—**ततश्चेति** । 'यदाहवनीये जुहो'तीत्यनारभ्यवादेन सर्वहोमानामाहवनीयाधिकरणत्वप्राप्तेराहवनीये द्वे इत्यस्याहुत्यन्तरपरिसंख्यार्थत्वादष्टानामाहुतीनामधिकरणापेक्षायां गार्हपत्यान्वाहार्यपचनाधिकरणत्वविधौ 'समं स्याद्श्रुतित्वादि'१०-३-त्यनेन न्यायेनैकैकत्र चतुष्ट्वस्य प्राप्तस्यानुवादाद् गार्हपत्ये जुहोत्यन्वाहार्यपचने जुहोतीति वाक्यन्तराभ्यां वा गार्हपत्यान्वाहार्यपचनप्राप्तेश्चतुरावृत्तिलक्षणगुण-

मात्रविधानार्थत्वात्, तत्संयोगस्याहवनीयसंयोगस्य च द्विरावृत्तिलक्षणगुणमात्रविधानार्थत्वान्न वाक्यभेदापत्तिरित्याशयः। ननु कर्मैक्ये सत्यग्नीनां विकल्पापत्तेस्तत्संयोगेन विहितानामावृत्तीनामपि विकल्पप्रसङ्गाद्विराट्सम्पत्त्यनुवादो न युज्येतेत्याशयेनाशङ्कते— **कस्मात्पुनरिति**।

केषांचित्परिहारं दूषयितुमुपन्यस्यति— **के चिदिति**। प्रक्षेप्यस्य द्रव्यस्य क्व चित्प्रतिष्ठां विनाप्याधारासिद्धयोजनमात्रेण प्रक्षेपसिद्धेरग्निसंयोगस्यादृष्टार्थत्वेनैक्यार्थ्ये प्रमाणाभावान्न विकल्प इत्यर्थः। अदृष्टार्थत्वे सति वैकल्पिकबाधायोगादविशेषेण यच्छास्त्रमन्याय्यत्वाद्विकल्पस्य तत्सन्दिग्धमाराद्विशेषशिष्टं स्यादि१०-८-ति दशमाधिकरणविरोधः स्यादिति दूषणमाह— **एवं त्विति**। तत्राज्ञानुरोधेनाश्रुतावृत्त्ययोगाद् बाधसम्भवेऽपीहावृत्तिश्रवणाद्विकल्पनानुपपत्तिरित्याशयेनाशङ्कते— **अथेति**। द्विरावृत्त्यादिश्रवणेऽपि दशकृत्वा आवृत्त्यश्रवणाद्विराट्श्रुतेश्चानुवादसरूपत्वात्साम्यमित्याशयेन परिहरति— **इहापीति**।

स्वमतेनानुवादसरूपत्वमन्यतः प्राप्त्यभावाद्विधित्वे सति द्वादशाधिकरणन्यायेन समुच्चयसिद्धिरिति परिहरति— **तस्मादिति**। विराट्सम्पत्त्यविधाने त्वदृष्टार्थत्वेऽप्याहवनीयादिसंयोगस्य प्रत्येकमाहुतीनां स्थानविशेषनियमात्स्थानान्तरपाते च प्रायश्चित्ताम्नानात्, त्कर्ममध्ये चानुगतेऽग्नौ लौकिकाग्निब्राह्मणपाण्यादौ होमविधिदर्शनात्सप्तमीश्रुतेश्चाधारणत्वद्वारैवादृष्टार्थत्वावसायान्न देवताग्निशब्दक्रियमि६-४-त्यत्र वाग्निप्रतिनिधिनिरासस्य प्रत्यक्षदृश्याग्निरूपस्य दृष्टार्थत्वेऽप्याहवनीयादिरूपस्यादृष्टार्थत्वेनान्यत्र तदवयवानुवृत्तौ प्रमाणाभावादुपपत्ते अन्योन्यनिरपेक्षस्य च विभक्तिश्रुत्या आधारत्वप्रतीतेर्विकल्प एव स्यादित्याह— **अन्यथा हीति**। श्लोकं व्याचष्टे— **सत्यपीति**।

ननु विद्वद्वाक्यस्य विधित्वाभ्युपगमे द्विचतुर्दशकृत्व आवृत्तिलक्षणानेकगुणविधानात्कर्मोत्पादकत्वापत्तेरुत्पत्तिस्थया संख्यया कर्मभेदः स्यादित्याशयेनाशङ्कते— **कस्मात्पुनरिति**। अग्निहोत्रवाक्यस्यानन्यप्रयोजनत्वेन कर्मोत्पादकत्वावसायाद्विरावृत्त्यादिवाक्यानां च विभागेनैकैकगुविधायकत्वोपपत्तेरनुत्पत्तिस्थत्वान्नेयं संख्या भेदिकेत्याशयेन परिहरति— **नेति**। नन्वनुत्पत्तिस्थापि संख्या कस्मान्न भेदिकेत्याशङ्क्याह— **उत्पत्तिस्था हीति**। उत्पत्तिवाक्यावधारितसंख्ये कर्मणि संख्यान्तरानिवेशादावृत्त्यापि च संख्यान्तरसम्पादनोपपत्तेर्नास्वरूपभेदकत्वं सम्भवतीत्याशयः। अग्निहोत्रवाक्यस्य कर्मविधित्वे कर्मैक्यसिद्धिमुपपादितामुपसंहरति— **तेनेति**। परोक्तं समुदायानुवादत्वं निष्प्रयोजनत्वेन दूषयित्वा, अग्निसूर्यवाक्योर्गुणविधित्वे वाक्यभेदापत्तेः। कर्मविधित्वमाशङ्कितमनुभाषणपूर्वकं दूषयति— **यत्त्विति**। चशब्दात्समुच्चितस्य देवताद्वयस्य सकृच्छ्रुतेन प्रत्ययेन विधानोत्पत्तेः कालदेवतारूपाणामेकार्थविधानाद्वाक्यभेदो वाच्यः। स चात्र कालानुवादान्नास्तीत्याशयः।

नन्वनेकार्थविधिलक्षणवाक्यभेदाभावेऽपि विशिष्टानुवादलक्षणो वाक्यभेदः स्यादित्याशङ्कते— **नन्विति**। कालमात्रानुवादात्परिहरति— **नेति**। जुहोतेस्तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य, प्रकरणलभ्यकर्मानुवादतोक्ता, ननु कालस्य देवतान्वयो न सम्भवतीत्याशङ्क्य, द्वेधा

परिहरति—स त्विति । प्राकरणिकाद्वाक्यान्तरात्कालस्य कर्मान्वयावगतेस्तद्द्वारा देवतान्वय इत्येकः परिहारः । विधीयमानया सम्प्रदानभूतया देवतया आकाङ्क्षितत्वात्प्राकरणिकवाक्यान्तरेण च होमस्य कालान्वयितयावगतेस्तल्लक्षणार्थः कालनिर्देश इति द्वितीयः । ननु प्रत्यक्षश्रुतत्वाद्धोमस्य कालेन लक्षणा न युक्तेत्याशङ्क्याह—न चेति । वाक्यभेदापत्तेः श्रुतस्य होमस्य कालेन विशेष्टुमशक्यात्प्रत्ययानुग्राहकत्वेन च धात्वर्थानर्थक्यपरिहारोपपत्तेर्लक्षणयैव लाभोऽभ्युपगन्तव्य इत्याशयः ।

ननु कालेन होमलक्षणायामनयायो हि कालस्येत्येनेन न्यायेनैककाललक्षितहोमस्य कालान्तरेऽप्यनपायादग्नीषोमलक्षितोपांशुयाजे विधीयमानस्य पौर्णमासीकालस्य देवतान्तरयुक्तेऽपि प्राप्तिवदेककाललक्षिते होमे विधीयमानाया देवतायाः कालान्तरयुक्तेऽपि प्राप्तेर्व्यवस्थापरत्वोक्तिर्न युज्येतेत्याशङ्क्याह—न चेति । कर्मस्वरूपमात्रलक्षणे सत्येकैकेनैव तत्सिद्धेः कालद्वयोपादानानर्थक्यप्रसङ्गात्स्वानुरक्तकर्मलक्षणे कालान्तरयुक्ते कर्मण्यप्राप्तेर्नोपांशुयाजतुल्यतेत्याशयः । अतोऽग्निसूर्यवाक्ययोर्व्यवस्थापरता युक्तेत्याह—तेनेति ।

व्यवस्थायाः सूर्याग्निमात्रविषयत्वेऽपीतरेतरयुक्तदेवताद्वयविधेः प्रत्येकव्यापाराभावे वाच्यभेदसूचनार्थौ द्वन्द्वनिर्देशौ । द्वन्द्वनिर्देशसूचितमपि वाक्यभेदपरिहारमजानतां वाक्यभेदोक्त्याशयमाशङ्कते—नन्विति । चशब्दाद्देवताद्वयसमुच्चयस्य सकृच्छ्रुतेन प्रत्ययेन विधानावगतेर्वाक्यभेदाभावेऽपि वाक्यभेदमाशङ्कमानेनाग्नेयपदोपात्तद्रव्यदेवतरूपानेककारकवदग्निप्रजापत्योरनेककारकत्वं वाच्यम् । तच्च नास्तीत्यनेककारकत्वं परानभिमतमप्यापाद्यान्येषां परिहारं दूषयितुमुपन्यस्यति—नेति । प्रतिपदं च यावत्किंचित् द्रव्याश्रितं जातिलिङ्गसंख्यादीत्यादि पौर्णमास्यधिकरणवार्त्तिकोक्तं परामृष्टम् । पृथक्चतुर्थीनिर्देशादग्नीषोमवत् समुच्चितयोः कारकत्वाप्रतीतेः, कारकयोस्तु समुच्चये कारकभेदापत्तेरग्नये दात्रइत्यादिवद्विशेषणविशेष्यभावात्त्वेककारकत्वे च शब्दानुपपत्तिप्रसङ्गात्सत्यपि वा विशेषणविशेष्यभावेनैककारकत्वे भिन्नकारकविभक्त्युपात्तयोररुणयैकहायन्यादिवत्क्रियान्वयं विना परस्परविशेषणविशेष्यभावायोगाद्यज्जुहोति तदग्नये, तच्च प्रजापतित्वगुणविशिष्टाय जुहोतीति प्रत्येकविधिव्यापारापत्तेरपरिहार्यो वाक्यभेद इत्याशयेन दूषयति—अग्नेति । 'अग्नये दात्र' इति वद्विशेषणविशेष्यत्वाङ्गीकरणेन प्रजापतित्वगुणविशिष्टस्याग्नेः कारकत्वाद्यद्यप्येकं कारकं तथाप्यनेककारकपदोपात्तयोः कारकविभक्तिश्रुत्या क्रियान्वयावगतेः क्रियान्वयात्प्राग्विशेषणविशेष्यत्वाप्रतीतेः प्रत्येकं विधिव्यापाराद्विधायकप्रत्ययावृत्तिः स्यात् । वस्तुतस्तु प्रजापतेः स्वतन्त्रदेवतात्वप्रसिद्धेर्विशेषणत्वाभावेन कारकैक्यं नास्तीति यद्यपिशब्दार्थः । श्लोकं व्याचष्टे—विभक्त्या हीति । समासस्यैकपद्यात्सकृच्छ्रुतप्रत्ययान्वयो युक्तः 'अग्नये च प्रजापतये चे'त्यत्र समासाभावेनेतरेतरयुक्तस्याग्नीषोमवत्कारकत्वाभावाद्विशेषणत्वविशेष्यत्वाप्रतीतेश्च विशिष्टस्य कारकत्वाभावात्परमार्थतस्तावन्नैकं कारकं यद्यप्येकम्, तथाप्यनेकपदोपादानात्प्रत्ययावृत्त्यापत्तिरित्यपि शब्दार्थः ।

ननु सम्प्रदानत्वमात्ररूपेण कारकैक्योक्तिः सम्भवति। सामान्यस्याविधेयत्वात्, विभक्तिभेदे च कारकविभक्त्यैक्यायोगादावृत्त्युपपादनार्थं प्रत्ययस्य क्रियैकविषयत्वेन क्रियान्वयं विना चार्थस्य विषयीकरणरूपालोचनायोगात्कारकत्वं च विना क्रियान्वयायोगाद्विभक्तिप्रयुक्तस्य प्रत्ययस्य नामार्थालोचनतोक्ता। भिन्नयोरपि कारकयोश्चशब्देनेतरेतरयुक्तयोर्विषयत्वावगमात्प्रत्येकं विधिव्यापाराभावाद्भिन्नयोरपि विधेयत्वे विषयाभेदाद्वाक्यभेदपरिहारसम्भवेऽपि यद्यवश्यमेकार्थविधिरेव वाक्यभेदपरिहाराय वाच्य इत्याग्रहः ततो देवताद्वयविधौ कारकैक्यसम्भवात्सामान्यरूपेणैक्यसम्भवेऽप्यनेकपदोपात्तयोरितरेतरयोगाविवक्षायामनेकविधेयत्वापत्तेस्त्वदुक्तपरिहारायोगाद्वरमेकदेवताविधानाभ्युपगमेन वाक्यभेदः परिहर्त्तव्य इत्याह—**तस्मादिति**। प्रजापतिमात्रविधौ व्यवस्थानुपपत्तेः सायम्प्रातःशब्दयोरविवक्षितार्थत्वादेकेनैव वाक्येन कालद्वयेऽपि कर्मैक्यात्प्रजापतिप्राप्तेर्वाक्यान्तरानर्थक्यप्रसङ्गाद्विधेयस्य प्रजापत्तेर्देवतान्तरसाहित्येन स्तुत्यर्थं पुनः प्रजापतिसङ्कीर्त्तनमित्यभ्युपगमे विध्यर्थवादयोरेकवाक्यत्वाद्वयव्यवस्थानुपपत्तेर्यथा 'ग्नाई पत्नीवन्नि' ति मन्त्रवर्णाद्देवताभूताग्निप्राप्तेस्तद्विशेषणमात्रं पात्नीवतं गृह्णातीति तद्धितेन विधीयते, तथात्राप्यग्निसूर्ययोः प्रजापतित्वविशेषणं सायमग्नेः प्रजापतित्वं विशेषणम्, प्रातः सूर्यस्येत्येवं व्यवस्थया विधीयतइत्येवं व्याख्येयम्। नाग्नेः सूर्यस्य वा शुद्धस्य देवतात्वम्, किं तु प्रजापतित्वविशेषणमपि देवतात्वान्तर्गतमित्यभिधानर्थत्वाभ्युपगमेन चशब्दानर्थक्यं परिहार्य्यमित्याशयः। विशेष्ययोर्देवताभूतयोरग्निसूर्ययोः कुतः प्राप्तिरित्याशङ्कयाह—**आग्नीति**। अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं जुहोति, सूर्यो ज्योतिः ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातर्जुहोतीति वाक्यान्तरविहितमन्त्रवशाद्विशेष्यप्राप्तिरित्यर्थः। प्रजापत्तेः स्वतन्त्रदेवतात्वे गुणवृत्त्यैन्द्रीवन्मन्त्रयोः प्रजापतिप्रकाशकत्वोपपत्तेर्देवताकल्पकत्वायोगान्न मूर्द्धाग्निसूर्यप्राप्त्यर्थोऽयं ग्रन्थः।

नन्वग्निसूर्ययोरन्यतः प्राप्तत्वे प्रजापतिविधौ कीर्त्तनं किमर्थमित्याशङ्कयाह—**तस्यामेव चेति**। स्तुतिशब्दस्य गुणवत्त्वाभिधानवाचित्वाद्विधीयमानप्रजापतित्वलक्षणगुणापेक्षितगुणिसमर्पणायोपादानमित्यर्थः। ननु प्रजापतिशब्दस्य देवताविशेषे रूढत्वात्प्रजापालनगुणवाचिता न युक्तेत्याशङ्का, अगत्या गुणवाचित्वाङ्गीकरणौचित्याभिधानाय—**औचित्येनेत्युक्तम्**। नन्वेवं सति तत् प्रत्यख्याधिकरणे—यदग्नये चेत्यनेनाग्निप्राप्त्यभिधानं न युज्येतेत्याशङ्कयाह—**यदपि चेति**। मन्त्रतः प्राप्तस्याग्नेर्विशेष्यत्वेनानुवादायोगान्मन्त्रस्याग्निप्रापकत्वलिङ्गतयेदं तत्रोदाहृतमित्यर्थः। नन्वग्निप्रजापत्योर्विशेषणविशेष्यभावे अग्नेः पूर्वाहुतिः, प्रजापतेरुत्तरेत्यादिविरोधेनापि पक्षस्यानभिमतत्वात्केन विशेषणोपन्यास इत्याशङ्क्य—**आहैवं चेति**। ब्राह्मणेनाग्निसूर्ययोरविधाने लिङ्गात्, तद्देवत्यमन्त्राप्राप्तेर्मन्त्रविषययोर्विध्योर्नानर्थक्यापत्तिरित्यर्थः।

ननु लिङ्गात्केवलदेवत्यमन्त्रप्राप्तावप्य 'ग्निर्ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति सायं जुहोति सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति प्रातर्जुहोत'ति मिश्रदेवत्यमन्त्रविधानात्पर्युदस्तयोः

प्रतिप्रसवार्थत्वेनानर्थक्यं परिहर्त्तुं शक्यमित्याशङ्क्याह—**अन्यथेति**। परिह्रियते अनेनेति करणे परिहारशब्दं व्युत्पाद्य परिहारश्च तत्प्रयोजनं चेति कर्मधारयोविग्राह्यः। तदर्थशास्त्रत्वलक्षणस्य दोषस्य परिहारकं यत्प्रयोजनं मन्त्राधिकरणे गुणविधिरूपं परिसंख्यारूपम्, अर्थवादरूपं चोक्तं तत्तावन्न सम्भवति यत्त्वादिशब्दोक्तं पर्युदस्तमन्त्रप्रतिप्रसवरूपमिहाभिमतं प्रयोजनम्, तस्मिन्कल्प्यमानेऽति क्लेशः स्यादिति कल्प्यमानपदाध्याहारेण व्याख्येयम्। नन्वतिक्लेशापत्तावप्य'ग्नेः पूर्वाहुतिः प्रजापतिरुत्तरेत्या'दिश्रुतिविरुद्धविशेषणविशेष्यत्वकल्पना न युक्तेत्याशङ्क्याह—**तस्मादिति**। एकार्थविधिं विना वाक्यभेदपरिहारासम्भवाभिमानिनं प्रत्येकार्थविध्युपपादनार्थं मन्त्रवर्णप्राप्तयोरग्निसूर्ययोः प्रजापतित्वलक्षणविशेषणरूपैकार्थविधिरनभिमतोऽप्युक्तो न पारमार्थिक इत्याशयः। कस्तर्हि पारमार्थिको वाक्यभेदपरिहार इत्याशङ्क्याह—**एतीति**। येन कारणेन पारमार्थिको वाक्यभेदपरिहारो भवति, तत्प्रागेवाग्निप्रजापती सूर्यप्रजापती इति चेतरेतरसाहित्यवाचिद्वन्द्वनिर्देशात्सूचितमित्यर्थः। अयमाशयः—यथा 'गौश्चाश्वश्चाश्वतरश्च गर्दभश्चाजाश्चावयश्च व्रीहयश्च यवाश्च तिलाश्च माषाश्च, तस्य द्वादशशतं दक्षिणे'ति वाक्ये च शब्देनेतरेतरसहितस्य गवादिशब्दस्य दक्षिणाशब्दान्वयावगमात्समुदितानां गवादीनामेकदक्षिणात्वावगते'र्द्धेनुर्दक्षिणे'ति विकृतौ विहिताया धेनोः समस्तदक्षिणाविकारत्वं दशमे वक्ष्यते, तथेहापि 'यज्जुहोति, तदग्नये च प्रजापतये चेति चशब्दात्समुच्चितयोरेवाग्निप्रजापतिशब्दयोर्विधायकान्वयप्रतीतेः' प्रतिपदं विधेरपर्यवसानेनविधिव्यापारभेदाभावात्पृथक् चतुर्थीनिर्देशात्कारकभेदप्रतीतेर्भिन्नयोरपि विधेयत्वे प्रत्ययावृत्त्यप्रसक्तेः, समुदितरूपस्य च विधेयत्वेन विधेयभेदाभावादनेकार्थत्वाप्रसक्तेर्देवताद्वयविधावपि न वाक्यभेदापत्तिरिति। प्रपञ्चितं चैतत्तन्त्रसारे वाजपेयाधिकरणे। अत्रापि तत्प्रख्याधिकरणे अस्माभिरुपपादितमिति, ग्रन्थगौरवभयान्न बहुप्रपञ्च्यते।

यत्तु ग्रहाभ्यासेषु ज्योतिष्टोमावयववृद्धिवत्सायम्प्रातर्होमयोरग्निहोत्रावयववृद्ध्यभावेन तद्भेदव्यवहारस्यावयवविषयत्वायौगाद्भेदोपपादकत्वमुक्तम्। तदप्यनुभाषणपूर्वं दूषयति—**यत्त्विति**। यथा दर्शपूर्णमासावृत्त्यात्मके दाक्षायणयज्ञेसकलयोर्दर्शपूर्णमासयोर्द्विरावृत्तेर्नावृत्तावयववृद्धिः, तथाऽग्निहोत्रस्यापि सकलस्य विराड्वाक्याद्दशकृत्वोऽभ्यस्तस्य 'द्वे आहवनीये, द्वे गार्हपत्ये, द्वे अन्वाहार्यपचन' इति वाक्यात्षड्कृत्वोऽभ्यस्तस्य, 'तस्य वा एतस्याग्निहोत्रस्य सप्त च शतानि विंशतिश्च संवत्सरे सायमाहुतयः, सप्त वा एव शतानि विंशतिश्च संवत्सरे प्रातराहुतय इति वाक्या'न्तरालोचनया वा द्विरभ्यस्तस्य सायम्प्रातःकालयोरावृत्तेर्नावृत्तावयववृद्धिरित्यर्थः।

नन्वेकस्मिन्कालेऽग्निहोत्रसाकल्ये सति दाक्षायणयज्ञवदावृत्त्यविधानात्प्रयोगसमासेः कालद्वयेऽनुष्ठानप्रमाणाभावादाचारविरोधः स्यात् सूर्याग्निवाक्यविहितयोस्तु कर्मणोरग्निहोत्रवाक्येन समुदायानुवादे प्रयोगवाक्यस्थेनाग्निहोत्रशब्देन कर्मद्वयग्रहणात्कालद्वयेऽनुष्ठानोपपत्तिरित्याशयेन स एव पूर्वपक्षो प्रत्यवतिष्ठते—**नन्विति**। एकैकस्मिन्काले प्रयोगसमाप्तावपि 'सायं जुहोति, प्रातर्जुहोतीति वाक्यान्तरप्राप्तयोः कालयोः प्रयोगापेक्षित्वेन तच्छेष-

त्वावगतेर्यावज्जीवं सायम्प्रातर्जुहुयादिति प्रयोगशास्त्रार्थावधारणादङ्गत्वेऽपि कालस्यानुपादेयत्वसाम्येनार्थान्निमित्तभूतजीवनविशेषणत्वावगतेः कालावच्छिन्नस्य जीवनस्य निमित्तत्वाप्रतिनिमित्तं च नैमित्तिकानुष्ठानस्य षष्ठे वक्ष्यमाणत्वान्नैमित्तिकहोमकरणं तावदेकस्मिन्काले प्रयोगसमाप्तावपि, यावज्जीवचोदनया भविष्यतीत्यनुष्ठानाविरोध इत्याशयेनैकदेशिनः परिहारं दूषयितुमुपन्यस्यति—**नेति**। उभयत्रानुष्ठानस्यानेन प्रकारेण सिद्धावपि सायं होमे कृते यजमानापद्यर्त्विग्द्वारा प्राप्तहोमोऽवश्यकार्यत्वाचारविरोधः प्रयोगभेदपक्षे दुष्परिहर इति दूषणमाह—**सत्यमिति**। अस्याचारस्यैकप्रयोगपक्षे न्यायमूलत्वप्रदर्शनार्थम्—**प्रक्रान्तेत्युक्तम्**। काम्यप्रयोगे चोभयत्रानुष्ठानविरोधोऽपि दुष्परिहर इत्याह—**किंचेति**। नन्वेकस्मिन्कालेऽनुष्ठानात्फलसिद्धावपि कालान्तरे नैमित्तिकानुष्ठानोपपत्तेर्नाचारविरोधः इत्याशङ्क्य—**सर्वाङ्गसंयुक्तः फलार्थिना चेत्युक्तम्**। कालद्वये सर्वाङ्गादरः फलप्रार्थनं च विरुध्येतेत्याशयः। प्रयोगैक्येऽत्वविरोध इत्याह—**अभ्यस्तेति**।

एकदेशिपरिहारं दूषयित्वा स्वमतेन प्रश्नपूर्वं परिहरति—**कथं पुनरिति**। 'तिस्र एव साह्नस्योपसद' इत्यादिवाक्यपर्यालोचनया पूर्वाह्णापराह्णोपसत्प्रयोगैक्यावसायात् 'पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्येण चरन्ती'त्युपसत्पूर्वं प्रयोज्यत्वविधानेन प्रवर्ग्यस्यापि पूर्वाह्णापराह्णान्तस्यैकप्रयोगगतत्वावगतेस्तदुपमानेनाग्निहोत्रस्य कालद्वयेऽभ्यस्तस्यैकप्रयोगत्वं द्रढयितुं प्रवर्ग्येऽपि माप्रक्रमोपन्यासः। ननु सायम्प्रातर्होमयोर्भिन्नकर्मत्वेऽग्निहोत्रवाक्ये समुदायानुवादस्यार्थवत्त्वाय समुदितयोः फलसाधनत्वावगमात्तत्समुच्चयसिद्धेर्नास्य वैशब्दयोगादनुवादस्वरूपस्य वचनत्वकल्पनापद्यते। कर्मैक्ये तु वचनं विना कालद्वयसमुच्चयासिद्धेर्वचनत्वक्लेशापत्तिरित्याशङ्क्याह—**भेदेति**। विराड्वाक्याद्यालोचनेन दशकृत्वः, षट्कृत्वो द्विर्द्विर्वैकस्मिन्कालेऽभ्यस्तस्याग्निहोत्रशब्दवाच्यत्वावगतेः कालद्वयाभ्यस्तकर्मसमुदायानुवादायोगाद्भेदपक्षेऽपि वचनं विना समुच्चयो न सिद्ध्यतीत्याशयः। शब्दादेव समुच्चयो न वाक्यादित्यर्थः।

नन्वेवमपि कालयोगिनश्चशब्दात्कालसाहित्यावगतेः परस्परसहिते कालद्वये सकृदनुष्ठानापत्तेर्नाभ्याससिद्धिरित्याशङ्क्याह—**न चेति**। अनुपादेयत्वेन कालसाहित्यस्याशक्यसम्पादत्वाभ्यासेनैव कालद्वयान्वयः सम्पाद्य इत्यर्थः। ननु कालयोः कर्मण्युद्देश्यत्वात्समुच्चयस्य चोपादेयत्वात्समुच्चयविशिष्टकालविध्यनुपपत्तेः, स्वातन्त्र्येण कालसमुच्चयरूपानेकार्थविशिष्टविधौ वाक्यभेदः स्यादित्याशङ्क्याह—**प्राप्तयोश्चेति**। अतः सायम्प्रातरभ्यस्तमेकं कर्मेत्युपसंहरति—**तस्मादिति**। कर्मैक्येऽङ्गावृत्त्ययोगमाशङ्कितमनुभाषणपूर्वं परिहरति—**यत्त्विति**। प्रयोगवेलायां कालापेक्षत्वादनुत्पत्तिवाक्यस्थत्वाच्चोपांशुयाजाङ्गभूतकालवदुत्पत्तिशेषत्वानवगतेः कालस्य प्रयोगाङ्गत्वेन विध्यवधारणात्प्रयोगस्य च साङ्गप्रधानविषयत्वात्प्रयोगविधौ प्रधानस्याङ्गसाहित्येन विशेषणस्य चोपादेयविशेषणत्वेन विवक्षितत्वात्कालद्वयान्वयेन साङ्गस्य द्विः प्रयोगोऽवसीयते। सवनीयपशौ तु प्रयोगैकदेशभूतानां वपाप्रचारादीनामनेककालान्वयेऽपि प्रयोगावच्छेदककालभेदाभावान्नेतिकर्त्तव्यतापत्तिरित्याशयः। प्रधानैक्येऽपि प्रयोगावयवभूतयोरभ्यासयोः सायम्प्रातःकालान्वयात्सायन्त-

नस्य प्रातस्तनस्येति व्यपदेशौ । यदप्यग्निसूर्यवाक्योः कर्मविधायित्वं निराकृत्य, कर्मैक्यसिद्धये अग्निहोत्रवाक्यस्य कर्मविधायित्वं सिद्धान्तितम्—**निष्प्रयोजनमित्युक्तम्** । तदप्यनुभाषणपूर्वं परिहरति—**यत्त्विति** । दध्यादीनां विकल्पाविशेषेऽपि अग्निसूर्यवाक्ययोः कर्मविधित्वे कर्मभेदाद्विकृतावेककर्माणि विकल्पो विभागो हि चोदनैकत्वादि८-१-त्यष्टमाधिकरणन्यायेन सायम्प्रातर्होमाङ्गयोर्विकल्पेन प्राप्तेः । कौण्डपायिनां होमः सायम्प्रातर्होमाङ्गयोर्विकल्पेन प्राप्तेः । कौण्डपायिनां होमः सायम्प्रातर्वा कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगइत्यत्यन्तसंयोगे द्वितीयास्मृतेरहरहर्वा चोदितत्वादिति सङ्कर्षे वक्ष्यमाणन्यायेन प्रत्यहं सकृत्कार्यः । सिद्धान्ते तु कर्मैक्योत्सायं प्रातः प्राकृतः प्रकृतिवदभ्यसितव्य इत्यभ्यासप्रयोजनवान् सिद्धान्त इत्यर्थः । दध्यादिवाक्यानां तु कर्मविधित्वपूर्वपक्षे दध्यादिद्रव्यकेषु दशसु कर्मसु 'यदग्नये चे'त्यादिवाक्यैर्देवताविधानात्सम्प्रतिपन्नदेवतात्वेन दध्यादिद्रव्याणां सान्नाय्यद्वयवत्सहप्रदानम् । सिद्धान्ते तु विकल्प इति स्पष्टं प्रयोजनम् ।

आघारे तु कर्मैक्येऽप्यूर्ध्वत्वादीनां भिन्नार्थत्वात्समुच्चयाविशेषेऽपि कर्मभेदेऽपि च समुदायीकरणार्थवत्त्वाय प्रयोगतन्त्रत्वाविशेषेऽपि कर्मभेदे सत्यूर्ध्वत्वादीनां मध्ये यस्यान्तरायः तद्युक्तं कर्मावर्त्तनीयम् । कर्मैक्ये तु गुणलोपे प्रायश्चित्तम्, नावृत्तिरिति प्रयोजनम् ॥१६॥

इति पञ्चममाघाराग्निहोत्राधिकरणम् ।

भा० प्र०—आघार वाक्य एवम् अग्निहोत्रवाक्य विधिवाक्य नहीं है । इस प्रकार पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती ने कहा है—"चोदना वा" = आघार वाक्य एवम् अग्निहोत्र वाक्य अनुवाद नहीं है, वरन् विधिवाक्य है । कारण, "शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्" = होम का एवम् आघार का प्रयोग करना होगा । यही उक्त दो वाक्यों का अर्थ है । पक्षान्तर में "ऊद्ध्वमाघारयति" एवं "दध्ना जुहोति" इत्यादि वाक्य को उत्पत्ति विधिवाक्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि इसके द्वारा आघार का एवं होम के साथ ऊद्ध्वं एवं दधिरूप गुण का सम्बन्ध करना होगा—यही उसका अर्थ है।

आघार एवम् होम यदि पूर्व से वचनान्तर से विहित नहीं है, ऐसा होने पर उसमें ऊद्ध्वं एवं दधिरूप गुण का सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है । यदि यह कहा जाय "ऊद्ध्वमाघारयति" एवं "दध्ना जुहोति" ये दो वाक्य गुणविशिष्ट कर्म का विधायक होने से वचनान्तर से कर्म के विधान की आवश्यकता नहीं है । इस प्रसङ्ग में यह कहा जा सकता है, यह पक्ष स्वीकार करने पर विशिष्ट की विधि स्वीकार की जायगी तो गौरव दोष होगा । किन्तु, यदि उपायान्तर रहता है तो गौरव दोष स्वीकार करना उचित नहीं है । इस स्थल में अग्निहोत्र वाक्य एवम् आघार वाक्य को विधायक मानने पर दधि वाक्य में विशिष्ट विधि स्वीकार नहीं किये जाने से गौरव दोष भी नहीं होगा । इसलिए अग्निहोत्र वाक्य एवम् आघार वाक्य को ही उत्पत्ति विधि एवम् दध्यादि वाक्य गुण विधिवाक्य कहना उचित है ।

यदि यह कहा जाय कि दध्यादि रूप जो गुण वह सिद्ध पदार्थ होने से विधि नहीं हो सकती है। "आघारयति" एवम् "जुहोति" ये दो आख्यातों जब पूर्व में विधान किया है, तब दूसरी बार विधान नहीं किया जा सकता है। क्योंकि, उसकी विधिशक्ति क्षीण होने से अनुवादी हो गया है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि इस स्थल में "जुहोति" एवम् "आघारयति" इन दो आख्यातों का प्रकृत्यंश धात्वर्थ वही अनुवादी और उसका जो प्रत्ययांश के मध्य में विधिशक्ति = विधायकत्त्व रहता है, वह गुण में संक्रमित होकर दधि एवं ऊद्र्ध्वत्वरूप गुण का विधान करता है। इसीलिए कुमारिल ने कहा है—

सर्वत्राख्यातसम्बन्धे श्रूयमाणे पदान्तरे।
विधिशक्त्युपसंक्रान्तेः स्याद्धातोरनुवादता॥

आख्यात संश्लिष्ट प्रधान विधिबोधित यागादिवाचक पद छोड़कर वैसा अन्य पद यदि श्रुति से बोधित होता है, ऐसी स्थिति में उस पद का प्रकृत्यंश जो धातु वह विधेय न होकर अनुवाद होगा, क्योंकि एक बार प्रधान विधि से विहित होता है, उस द्वितीय पद की जो विधिशक्ति = विधायकता वह गुण में संक्रान्त होता है, अर्थात् गुण का ही विधान करता है। अग्निहोत्रादि वाक्य में याग का रूप उल्लिखित नहीं होने से वह सामान्याकार होता है एवं सामान्य अनुष्ठेय होने से वह विधि भी नहीं हो सकता है— यह आपत्ति भी सङ्गत नहीं है। क्योंकि, वह जब विधि है, तब वह सामान्य का अतिक्रम कर अन्यत्र अविहित होमविशेष का ग्रहण करेगा। वस्तुतः पक्ष में इस स्थल में याग का रूप नहीं है—वह नहीं है, क्योंकि मान्त्रवर्णिकी = मन्त्रवर्ण से उपलब्ध देवता एवं दध्यादि रूप द्रव्य जब सन्निहित वाक्य से प्राप्त हो जाता है, तब किस रूप में इसको रूपहीन कहा जा सकता है। रूपहीन न होने पर द्रव्यदेवतात्मक रूप रहने पर इसको सामान्याकार नहीं कहा जाता है। किन्तु, यह यागविशेष ही होता है। अतएव आघार वाक्य एवम् अग्निहोत्र वाक्य अनुवाद नहीं, वरन् वह विधि है।

इस अधिकरण का यह प्रयोजन है कि पूर्वपक्षी के मत में दध्यादि विशिष्ट कर्म का समुच्चय में अनुष्ठान और सिद्धान्ती के मतानुसार उसका गुण होने से उसका विकल्प में अनुष्ठान कर्तव्य है।

"चोदना" = कर्मोत्पत्तिविधि, "वा" = पूर्वपक्ष का निवारक है, "शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात्" = आघारादि शब्द का अर्थ प्रयोग बोधक होने से "तत्सन्निधेः" = उसके सन्निधान में होने से, "पुनः श्रुतिः" = आघारयति एवं जुहोति इन दो आख्यात का पुनः उल्लेख होने से, "गुणार्थेन" = गुण के विधान के लिए। "अग्निहोत्रं जुहोति" एवम् "आघारयति" ये दोनों वाक्य विधायक हैं, क्योंकि उसका अर्थ प्रयोग का बोधक है। "दध्ना जुहोति" इत्यादि वाक्य में जो आख्यात का पुनः उल्लेख देखा जाता है, इस उल्लेख का गुणविधान करना ही अर्थ है॥ १६॥

आघारादि अपूर्वताधिकरण।

अथ षष्ठं पशुसोमाधिकरणम्

[६] द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणार्थेन ॥ १७ ॥ सि० ॥

शा० भा०—ज्योतिष्टोमे श्रूयते 'यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते' इति। तत्रेदमामनन्ति[1]। हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया, अथ वक्षस इति। तथा[2] 'सोमेन यजेत' इति, तथा[3] ऐन्द्रवायवं गृह्णाति, मैत्रावरुणं गृह्णाति, आश्विनं गृह्णात्येवमादि। तत्र संशयः—किमवद्यतिगृह्णातिभ्यां चोदितानां कर्मणामेवा[4]ऽऽलभतियजती समुदायस्यानुवदितारौ, अथाऽपूर्वयोः कर्मणोर्विधाताराविति ? किं तावत्प्राप्तम् ? समुदायस्येति। कुतः ? ये इमे आलभतियजतिभ्यां कर्मणी विधीयेयातामिति चिन्त्येते, पूर्वमेव ते अवद्यतिगृह्णातिभ्यामवगमिते।

न चावगमि[5]तोऽर्थो विधीयते। हृदयादींस्तु पशुशब्देनाऽनुवदति, सोमशब्देन च रसम्। तस्मात् 'सोमेन यजेत' इत्यनुवादो यजतिः[6]। 'यजेत स्वर्गकामो, वसन्ते वसन्ते' इति फल-गुणसंबन्धार्थः। 'पशुमालभेत' इति चाऽऽलभतिरग्नीषोमसंबन्धार्थः।

अपि च 'दशैतानध्वर्युः प्रातःसवने ग्रहान् गृह्णाति' इति समुच्चयो दृश्यते। तथा आश्विनो दशमो गृह्यते, तृतीयो हूयते' इति च क्रमः। यदि चापूर्वौ यागौ विधीयेते, तत्रैन्द्रवायवादिभिर्देवता विधीयेरंस्ता एकार्थाः सत्यो विकल्प्येरन्। यथा 'खादिरे बध्नाति पालाशे बध्नाति, रोहितके बध्नाती'ति। तत्र क्रमसमुच्चयदर्शने नोपपद्येयाताम्।

अथ पुनरस्मिन्समुदायवचने यजतौ, सम्यगेतदवक्लृप्तं भवति। तत्स्मात्समुदायानुवादौ। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—अपूर्वयोः कर्मणोर्विधानचोदने पशुसोमयोः। कुतः ? सोमशब्दः क्षीरिण्यां लतायां प्रसिद्धः। न रसे। आकृतिवचनो हि सोमशब्दो न व्यक्तिवचनः। तथा शृङ्गिणि पुच्छवति लोमशे चतुष्पदि द्रव्यविशेषे पशुशब्दमाकृतिवचनमुपचरन्ति। न चैवमाकृतिकद्रव्याः प्रकृता यागा विद्यन्ते, येषामिमौ समुदायस्यानुवदितारौ भवेताम्।

ननु पशुविकारो हृदयादिः पशुशब्देनाग्नीषोमसम्बन्धार्थमनूद्यते। नैतदेवम्। पशुरग्नीषोमीयो भवतीत्येतावदुच्यते, नायं प्रकृतो हृदयादिः पशुरिति।

---

१. ब. तत्रैतदामनन्ति। २. क० यथा सोमेन। ३. क० तत्राप्यैन्द्रवायवं।
४. ब. कर्मणामिमावलभति। ५. ब. अवगतार्थो। ६. ब. यजिः।

तत्र यदि लौकिकस्य पशोर्ग्रहणम्, ततो मुख्यः पशुशब्दः। यदि हृदयादेः, ततो जघन्यो विकारसंबन्धेन। तथा सोमशब्दोऽपि विकारसंबन्धेनानुवादः स्यात्। तस्मादपूर्वे कर्मणी विधीयेयाताम्, नानुवादौ। अथ ऐन्द्रवायवादिषु प्रकृतेषु यागेषु लता विधीयेतेति। उच्यते। न सा शक्या वाक्येनैन्द्रवायवो ज्ञातुम्। श्रुत्या हि रस ऐन्द्रवायवः।

तस्माद् द्रव्यसंयोगवचनः प्रकृतेषु योगेष्वपि सत्सु विधातुम्, अनुवदितुं वा न शक्नुवन्ननर्थकः स्यात्। तस्मादपूर्वकर्मणी विधीयेयाताम्, न प्रकृतानामनुवादाविति ॥ १७ ॥ सिद्धान्तः ॥

भा० वि०—दध्यादिवाक्यानामाघारादिवाक्यविहितकर्मणो गुणविधित्वसम्भवेन कर्मविधित्वाभावात् प्रकृतकर्मासम्भवेनाघारादिवाक्यस्य समुदायादिसमुदायानुवादत्वासम्भवेऽपि हृदयैन्द्रवायवादिवाक्यानां पशुसोमवाक्यविहितयोः कर्मणोः गुणविधित्वायोगात् कर्मविधित्वापत्तौ प्रकृतकर्मसम्भवात् पशुसोमयोर्वाक्ययोस्समुदायानुवादत्वं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासात् सङ्गतिमभिप्रेत्य विषयमाह—**ज्योतिष्टोम इति**। हृदयादिवाक्यानामैन्द्रवायवादिवाक्यानां च कर्मविधित्वासम्भवासम्भवाभ्यां संशयमाह—**तत्रेति**। प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षमाह—**किमिति**। समुदायस्यानुवदितारावित्यनुषङ्गः।

नन्ववद्यतिगृह्णात्योरयागनामत्वेन यागचोदकत्वाभावात् आलभतेश्च हिंसार्थस्य यागार्थत्वाभावात् कथमवद्यतिगृह्णातिभ्यां चोदितानामालभतियजतिसमुदायानुवादावित्याक्षिपति—**कुत इति**। समाधत्ते—**ये इमेति**। अवदानस्य सान्नाय्यादौ यागीयद्रव्यसंस्कारत्वदर्शनेन हृदयाद्यवदानस्यापि यागीयद्रव्यसंस्कारत्वानुमानात् ग्रहणस्य च त्यागं विना देवतासम्बन्धार्थत्वाभावेन यागपर्यन्तत्वात् अवतिगृह्णात्योः यागलक्षणार्थत्वसम्भवेन तच्चोदितानां कर्मणां आलभतियजती समुदायानुवादौ, आलभतिश्चाग्नीषोमीयपदावगतद्रव्यदेवतासम्बन्धानुमितयागलक्षणार्थ इति भावः।

ननु हृदयादिवाक्यैः हृदयादिरसद्रव्यकेषु यागेषु विहितेषु पशुसोमशब्दयोरप्राप्तार्थत्वेनानुवादत्वायोगात् उत्पत्तिशिष्टगुणावरोधेन च गुणविध्ययोगात् अनर्थक्यमेव स्यादत आह—**हृदयादीनिति**। लक्षणया पशुशब्देन हृदयादेरनुवादः सोमशब्देन च रसस्येत्यर्थः। अतः पशुवाक्ये पशुशब्द आलभतिश्च सोमवाक्ये सोमशब्दो यजातिश्चानुवादावित्याह—**तस्मादिति**।

ननु पशुसोमशब्दाभ्यां लक्षणया हृदयाद्यनुवादोऽनर्थकस्तत्राह—**सोऽग्नीषोमेति**। पश्वनुवादो देवताविधानार्थ इत्यर्थः। सोमशब्देन तु रसानुवादो लक्षितलक्षणया सोमशब्दस्य नामधेयत्वोपयोगीति द्रष्टव्यम् इतश्चैन्द्रवायवादिवाक्ये कर्मविधिर्न

इत्याह—**अपिचेति**। दश गृह्णातीति ग्रहणे समुच्चयदर्शनात्तस्य च यागार्थत्वात् यागेऽपि समुच्चयः। प्रतीयत इत्यर्थः। दशमो गृह्यते तृतीयो हूयते इति च प्रकृति प्रत्ययाभ्यां द्वयोरपि क्रमसमुच्चयौ प्रतीयेते इत्यर्थः। ततः किमत आह—**यदि चेति**। विधीयेते पशुसोमवाक्याभ्यामिति शेषः, तत्रैवेति सोमयाग एवेत्यर्थः। तथापि किमित्यत आह—**ता एकार्था इति**। एकार्थत्वेन विकल्पप्राप्तौ दृष्टान्तो—**यथेति**। एकबन्धनार्थत्वात् यथा खादिरादयः तत्सम्बन्धितया विकल्प्यन्त इत्यर्थः, विकल्पापत्तौ दोषमाह—**तत्रेति**। विकल्प्यमानदेवताकस्य यागस्यैकत्वादिति भावः।

ननु त्वत्पक्षेऽपि कर्मबहुत्वात् प्रयोगवाक्ये ज्योतिष्टोमेत्येकवचनानुपपत्तिस्तत्राह—**अथ पुनरिति**। अस्यैव व्याख्यानम्–अस्मिन् यजतौ समुदायवचने सतीति, सोमेनेति समुदायानुवादबलात् समुदितानां फलसाधनत्वावगतिरित्यर्थः, यस्माद्धृदयादिवाक्यानामेव कर्मविधित्वं तस्मात् पशुसोमवाक्ये समुदायानुवादावित्याह—**तस्मादिति**। चोदनापशुसोमयोरिति सूत्रावयवं व्याकुर्वन् सिद्धान्तमाह—**एवमिति**। सूत्रे चोदनेत्येकवचनप्रयोगेऽपि पशुसोमयोरिति सप्तमीद्विचनेनोदाहरणपरिग्रहात् कर्मणोश्चोदनेइति द्विवचनान्तेन व्याख्या अपूर्वशब्दश्चोदनात्वोपपादकः विधानशब्देन प्रकारवाचिना शुद्धकर्मचोदनाशङ्का निरासार्थं गुणविशिष्टचोदनात्वमुक्तम्, प्रश्नपूर्वकं हेतुमपूर्वद्रव्यसंयोगादित्येवमर्थतया व्याचष्टे—**कुत इत्यादिना**।

ननु सोमशब्दवाच्यायां लतायां रसस्याप्यन्तर्भावात् सापि सोमशब्दार्थं इत्याह, अत आह—**आकृतिवचनो हीति**। उपचरति प्रयुज्यत इति यावत् पशुसोमशब्दयोराकृतिविशिष्टद्रव्यविशेषवाचित्वे फलितमाह—**न चेति**। अवद्यति गृह्णातिभ्यां चोदितानां हृदयादि रसद्रव्यकत्वेनैवमाकृतिद्रव्याभावादितिभावः। पशुविकारस्य हृदयादेः पशुशब्देन लक्षणया सोमविकारस्य च रसस्य सोमशब्देन लक्षणयाभिधानान्नापूर्वद्रव्यसंयोगोऽस्तीत्याशङ्कते—**नन्विति**। प्रकारणेऽप्यनर्थको द्रव्यसंयोग इति सूत्रावयवं व्याचक्षाणः परिहरति—**नैतदेवमिति**।

ननु यद्यपि पश्वग्नीषोमसम्बन्धमात्रमत्रोक्तं न हृदयादेः पशुशब्दार्थत्वं तथापि प्रकृतत्वात् लक्षणया तदर्थत्वं कल्प्यते, तत्राह—**तत्रेति**। मुख्यार्थसम्भवे लक्षणाश्रयणमनुपपन्नमिति भावः। पशुशब्दे दर्शितं न्यायं सोमशब्देऽप्यतिदिशति—**तथेति**। अनेन प्रक्रियत इति व्युत्पत्त्या प्रकृते हृदयादौ रसे च वर्तमानो द्रव्यं यागेन संयोजयतीति व्युत्पत्त्या द्रव्यसंयोगशब्दोक्तः पशुशब्दस्सोमशब्दश्च मुख्यार्थत्यागापत्तेरनर्थकः स्यादिति सूत्रावयवो व्याख्यातः, सिद्धान्तमुपसंहरति—**नानुवादा-तस्मादिति**। अपूर्वद्रव्यकत्वादिति यावत्, कर्मणोः विधेयत्वफलमाह—**नानुवादाविति**। पशुसोमशब्दौ अवद्यति गृह्णाति वेति शेषः ॥ १७ ॥

त० वा०—पशोर्दुष्प्रतिपादनतरत्वात्पूर्वाभिधानम्। द्वौ चात्र शब्दौ समुदायानुवादत्वेनाऽऽशङ्क्येते पशुशब्दस्तदग्नीषोमसंबन्धानुमितश्च यजिः। ईदृशं ह्येतद्वाक्यं श्रुतानुमितैकदेशनिष्पन्नं यदग्नीषोमीयेण पशुना यजेतेति। तत्र किं हृदयादीना पशुशब्दोऽनुवादः, अवद्यत्यनुमितानां यागानां च यजिः, उतापूर्वः पशुः, यागश्च विधीयते। तत्रेतरे गुणविधय इति संदिह्यते। तथैन्द्रवायवादिवाक्यैर्द्रव्यदेवतासंबन्धानुमिताः[1] यागाः तद्गतश्च सोमरसः किं यजतिसोमशब्दाभ्यामनूद्यते, किं वा द्रव्ययुक्तं कर्म विधीयत इति।

'किमवद्यतिगृह्णातिभ्यां चोदितानामि'ति। अनयोर्यागपर्यायत्वाभावात्, तत्संबन्धानुमितानाम्, तद्गताख्यातप्रत्ययविहितानां वेत्येतत्प्रदर्शनार्थं तद्भाष्यम्। आलभतिरपि च तदनुमितयज्युपलक्षणार्थः।

अथ वाऽवद्यतौ नैव यागानुवाद इत्युपन्यस्यते। कथं तर्हि। तदाक्षिप्तस्य संस्पर्शनस्याऽऽलभतिरनुवादः। तद्द्वारेणैव च प्रत्यवदानं देवतासंयोगात् तावतां, च यागानामनुमानं उत् पशुसंयुक्त एको यागोऽनुमीयत इति। तथा सोमेऽप्ययमेव यागो यद्देवतोद्देशेन द्रव्यग्रहणमिति। तथा सति यथाश्रुतेनैव भाष्येण संदेहोपन्यासः।

तत्र पौर्णमासीवदेव समुदायानुवादत्वम्।

तथा हि—

यथाऽऽग्नेयादिवाक्यानां न प्राग्यागानुमानतः।
स्वार्थपर्यवसायित्वं तथा सोमेऽपि गम्यताम्॥

न ह्यैन्द्रवायवमित्यादिद्रव्यदेवतासंयोगोऽननुमिते यागे निराकाङ्क्षी न भवति। न चापरिपूर्णं वाक्यं वाक्यान्तरमाकाङ्क्षति, येनानुमानवेलायां 'सोमेन यजेत' इत्ययमनुप्रविशेत्। एतद्विहितस्य वा देवताविरहादरूपस्य सतस्तैर्देवता विधीयते। यदा तु तैः कल्पितो यजिः। तदा नैव यागस्य यागान्तरं रूपं भवतीति, बलात्प्रकृतानुवादत्वमापद्यते। यश्चात्र पक्षे विशिष्टविध्याश्रयणदोषः, स भवत्पक्षेऽत्यविशिष्ट, सोमद्रव्यकयागविधानात्। अपि च तवेह चैन्द्रवायवादिवाक्येषु च। मत्पक्षे तु तेष्वेव केवलेष्विति विशेषः।

किं च।

यादृशं द्रव्यसंबद्धं भवान्कर्म विधित्सति।
तादृशस्याविधेयत्वमनन्तरमुदाहृतम्॥

एकत्रैवेदृशे गुणे श्रूयमाणे विधिशक्तिः संक्रामतीत्यग्निहोत्रेऽभिहितम्। अतो न कर्मानुवादबुद्धिमपैतीत्यनुवादत्वं यजेः। तत्र सोमशब्देन द्रव्यमेव गृह्णातिना सामान्याक्षिप्तं नियम्यते।

---

१. क० संयोगानुमिता यागाः। संबन्धानुमितो यागः।

अथवा 'सोमं क्रीणाति' 'सोममभिषुणोति' 'सोमं पावयति' इत्यादिभिः प्राकरणिकैर्गुणवाक्यैः सोमरसे कल्पिते गृह्णातिचोदना प्रवृत्ता इति। सोमो न विधीयते, ततश्च स्वाभाविककरणत्वयुक्तयागसामानाधिकरण्यात्—'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' इति नामधेयी भवति। ननु ज्योतिष्टोम इत्यपरं नामधेयमस्त्येव। यदीदमप्यवगम्यते, किं नो बाध्यते। तथा च याज्ञिकानां व्यवहारेषु नामद्वय-मुपलभामहे। समस्तवाक्यानुवादस्य तु तदेव प्रयोजनम्, यत्प्रयोगवाक्यगतैकत्वो-पजननं नाम। तस्मानुवाद इति।

भवेदत्र द्रव्यदेवतासंयोगादेवम्। पशौ तु 'वत्समालभेत' इत्येतत्सदृशेन देवतारहितहृदयादिद्रव्यमात्रसंयोगिनाऽवद्यतिना कथं यागविधानम्? कथं वा हृदयाद्यनुवादः पशुग्रहणेनेति वक्तव्यम्?

उच्यते।

यथैवपशुसामान्ये मन्त्राच्छागः प्रतीयते।
तथैव हृदयादीनां ममासौ प्रकृतिर्मतः॥

हृदयादिभिः प्रकृतिद्रव्येऽपेक्षिते मन्त्रवर्णाच्छागे लब्धे, तदन्तर्गतं पशुत्वं तावदनूद्यते। तत्र तु देवतायां यागो विधीयतां नाम।

अथवा सांनाय्यं वा तत्प्रभवत्वात्' इत्यनेनैव न्यायेनाऽयमवद्यतिः सारूप्या-त्सांनाय्यावद्यतिप्रकृतिः। स च दर्शपूर्णमासयागद्रव्यसंस्कारार्थः प्रसिद्धः। तत्र यदि हृदयादीनि यागद्रव्याणि, ततस्तत्संयोगभाञ्जि भवन्ति, नान्यथा। तेन यथैव पूतीकानामभिषसंबन्धे[1] श्रूयमाणे, तदर्हत्वान्यथाऽनुपपत्त्या यागसंगतिरश्रूयमा-णाऽपि गम्यते, तथाऽत्रेत्युत्प्रेक्ष्यमाणे यागमनुमाय तदनुपपत्तेर्यागोऽप्यस्तीति गम्यते, तथाऽनुमितानां च प्रतिद्रव्यमवस्थितानां समुदायोऽनूद्यते। साधारणश्चायं तवाप्यानुमानिकयागाभ्युपगम इति नैतेनास्मत्पक्षदौर्बल्यम्। सोमयागैकत्वे तुल्या-र्थानामिन्द्रवाय्वादीनां विकल्पे सति, क्रमसमुच्चयदर्शनं नोपपद्यते।

पश्य—

यथैकबन्धनार्थत्वात्पलाशखदिरादयः।
तत्संबन्धे विकल्पन्ते यागेऽस्मिन्देवतास्तथा॥

मम तु भिन्नयागविषयत्वाद्देवतानाम्, यागानां चादृष्टार्थानां युगपदेकशब्देन फले विधानादुपपत्स्यते। पशावपि 'हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया' इति क्रम-दर्शनम्, 'एकादश वै पशोरवदानानि' इति च समुच्चयदर्शनं सदपि नोपात्तम्, एकयागत्वेऽपि समस्तपशुसाधनत्वेन तदुपपत्तेः। न हि हृदयादिष्वसमुच्चीयमाने-

---

१. क० फलचमसस्य च—भक्षसंबन्धे इत्यधिकम्।

षूत्पत्तिवाक्यश्रुतेन समस्तेन पशुनेष्टं स्यात्। यन्मात्रं 'तत्र वचनान्तरवशेनाव-नेष्यते, तन्मात्रव्यतिरिक्तेन सर्वेण यष्टव्यमिति न्यायः। सोमे तु नैवं समस्त-चोदनोत्पत्तावस्तीत्युदाह्रियते। तस्मात्समुदायानुवादाविति प्राप्ते।

अभिधीयते—

प्रकृतप्रत्यभिज्ञानं वाक्ये यत्रोपलक्ष्यते।
तत्र स्यादनुवादत्वं[1] न चात्रैव प्रतीयते॥

यदि पौर्णमासीवदशेषरूपप्रत्यभिज्ञानं भवेत्, ततोऽनुवादः कल्प्येत। यदि वा यजिमात्रस्यानुवादत्वमिष्यते, ततः परित्यक्तविशेषणोऽनुवाद इत्यवधार्येत। अत्र पुनः प्रकृता हृदयादिद्रव्यका, रसद्रव्यकाश्च यागाः। इमौ च पशुसोमद्रव्यकौ, न चैवं सति प्रत्यभिज्ञानमस्तीत्यनुवादत्वासंभवः।

तत्रैतत्स्यात्, विकारेषु प्रकृतिवदुपचारात्, हृदयादिष्वेव रसे च पशुसोम-शब्दौ वत्स्येंते इति? तत्, न। विना कारणेन लक्षणानाश्रयणात्। विस्पष्टे हि परशब्दसामानाधिकरण्ये सत्यनन्यथासंभवे च जघन्यवृत्तिः शब्दो भवति। न चैतदुभयमप्यस्ति। शक्यं हि मुख्यपशुसोमद्रव्यं यागान्तरं विधातुम्। न च प्रकृते-ष्वनिविशमानावेतौ शब्दौ नोपपद्येते। तेन यद्यपि तात्रदवद्यति-गृह्णातिभ्यां चोदिता यागाः। तथाऽपि कर्मान्तरत्वप्रसङ्गः। कस्मात्? तेष्वेव यागेषु स्वद्रव्य-प्रकृत्यपेक्षेषु पशुसोमौ न विधीयेते। तत्राऽऽह—**'श्रुत्या हि रस ऐन्द्रवायव' इति।** पशुस्तावद्देवताविधिपरत्वादनुपत्तिवाक्ये सति अशक्य एव विधातुमिति नैवोप-न्यस्यते। सोमलतापि वाक्यविधेया श्रौतरसविरोधे सति न संबध्यते।

कथं पुनरनुपात्तद्रव्यविशेषेष्वैन्द्रवायवदादिविधिषु रसस्य श्रौतत्वम्। अधिकार-लभ्यो ह्यसौ। ततश्च वाक्यप्राप्ता लतैव बलीयसी स्यात्? उच्यते—

श्रुत्यैव द्रव्यसंबन्धो देवतातद्धितैः कृतः।
अधिकारेण तस्यैव केवलेष्टा विशेष्यता॥

गुणश्चापूर्वसंयोगे, इत्यत्राधिकरणे विस्तरेणाभिधास्यते, यथा तद्धि तश्रुत्या वाक्यप्रकरणादिलभ्यस्य विशेषस्यैवास्यशब्दवाच्यस्य देवतासंबन्धे कृते, कोऽसौ द्रव्यविशेष इत्यपेक्षायाम्, वाक्यप्रकरणादिभिस्तदवाप्तिः केवला। न तु तैरेव देवतासंबन्ध इति।

किं च—

उत्पत्तिवाक्यशिष्टश्च रसो वाक्यान्तराल्लता।
प्रकृतापेक्षिणस्तेन दुर्बलैषाऽवगम्यते॥

---

१. क० तत्र तस्यानुवादत्वं।

ततश्च गुणादपि ते भेदः प्राप्नोति । शक्यपरिहारं त्विदम् ।

कुतः ?

यथैवाष्टाकपालादौ श्रौतेऽपि सति वाक्यतः ।
व्रीह्यादयो विधीयन्ते तथा सोमो विधास्यते ।

विधीयमानं हि दुर्बलं विरुद्धं बाध्यते, नानुगुणम् । अनुगुणश्च सोमो रसस्य प्रकृत्यपेक्षिणः, तादर्थ्येन संबन्धात् । तद्यथा 'आग्नेयोऽष्टाकपाल' इति श्रुति विहितेऽप्यष्टाकपाले सति, व्रीहियवौ विधीयमानौ न विरुध्येते, पुरोडाशापेक्षित-प्रकृतिरूपत्वात् । न हि व्रीहीन् गृह्णन्नष्टाकपालं न करोति । तेन चात्र न कर्मान्तरता । तथाऽत्र न सोमे गृह्यमाणे, रसः परित्यक्त इत्यविरोधात्पूर्वंत्रैव संभवन्न गुणो भेदकः स्यात् । अपि च सिद्धान्तेऽप्येतत्तुल्यमनभिषुतलतादानानभ्युपगमात् । तत्र यथा तव रसप्रकृतिर्लता भवति, तथा पूर्वपक्षेऽपि भविष्यति । अपि च विरुद्ध-तरं तवाऽऽपद्यते । कथम् ?

उत्पत्तिवचनात्सिद्धा लता चेद्यागसाधनम् ।
न सा वाक्यान्तरैः पश्चाद्रसीभवितुमर्हति ॥

रसस्य प्रकृत्या विना निष्पत्त्यभावादाकाङ्क्षितः प्रकृतिसंबन्धो वाक्यान्त-रेणापि क्रियमाणो न विरुध्येत । प्रकृतेस्त्वविकृताया एव सामर्थ्यादनपेक्षिता विकारापत्तिरुत्पत्तिवाक्यविरोधिनी न युक्ता वाक्यान्तरैः कर्तुम् । तस्माद् व्रीहि-यववाक्यमुद्रामुद्रितत्वादनुद्घाट्यैव[1] गुणविधित्वम्, समुदायानुवादमात्रं निराकार्यं पशौ तन्मात्रेणापि सिद्धेः । सोमे तु व्रीहिवाक्यतुल्यत्वाशङ्कामधिकां निराकर्तु-मुत्तरं सूत्रं प्रस्तोतव्यम् ।

अथ वा भङ्क्त्वैव पूर्वोपपत्तिम्, उत्तरयैव निर्णयः । पूर्वसूत्रेण वा पूर्वपक्षं परिगृह्य, उत्तरं तु सूत्रं तुशब्दस्थानचशब्दमुत्तरपक्षे योजयितव्यम् । कथं पुनर्द्रव्य-संयोगादित्यनेन पूर्वपक्षोऽभिधीयते ? तदुच्यते । 'हृदयस्याग्रेऽवद्यति' 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' इत्येताः किं दध्यादिवद्[2] गुणार्थाः श्रुतयः, ततश्चोत्तरयोरुत्पत्तिचोद-नार्थत्वम्, उतैता एव कर्मचोदना इति ॥ किं प्राप्ते ? नैताः पूर्ववद् गुणार्थाः पुनः-श्रुतयः, किं तूत्पत्तिचोदनाः । कथम् ? द्रव्यसंयोगात्—हृदयादिद्रव्यसंयोगात्तैरेव वाक्यैश्चोदना पशुसोमयोः । किं कारणम् ? इतरथा हि प्रकरणेन हृदयादिसंयोगो यागाङ्गत्वं[3] प्रतिपद्येत । न चासौ तस्य गुणार्थेन संभवति, उत्पत्तिवाक्यशिष्टपशु-लताविरोधात् ।

---

१. क० अनुवाद्यैव । २. क० पूर्ववत् । ३. क० यागत्वं ।

अथ वा पूर्वोक्तेन न्यायेनाऽन्यत एव पशुसोमयोः सिद्धत्वात्, अस्मिन्प्रकरणे पुनरर्थको द्रव्यसंयोगस्त्वत्पक्षे भवेत्। मम तु सोमशब्दो नामधेयम्। अग्नीषोमीयवाक्यं च देवताविधानार्थमिति, न किंचिदनर्थकम्। तस्मादवद्यतिगृह्णातिसंयुक्तैव यागोत्पत्तिचोदना स्यात् ॥ १७ ॥

अथ षष्ठं पशुसोमाधिकरणम् ।

न्या० सु०—द्रव्यसंयोगाच्चोदनापशुसोमयोः प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो न हि तस्य गुणोऽर्थेन नन्वाघाराग्निहोत्रयोरङ्गाङ्गिसम्बन्धाभावेनाभ्यर्हितं पूर्वं निपततीत्यस्याविषयत्वादल्पाच्तरत्वेनाघारशब्दस्य पूर्वनिपातो युक्तः। इह तु पशुशब्दस्य घ्यन्तत्वेऽपि 'लक्षणहेत्वोः क्रियाया' इत्यादौ घ्यन्तस्य पूर्वनिपातव्यभिचारात्सोमस्य प्राधान्येनाभ्यर्हितत्वात्पशोः पूर्वतराभिधानमयुक्तमित्याशङ्क्याह—**पशोरिति**। न्यायनिष्ठे शास्त्रे न्यायव्युत्पादनादरविषयस्याभ्यर्हितत्वात्पशोश्च पूर्वपक्षस्य क्लिष्टत्वेन न्यायव्युत्पादनादरविषयत्वात् पूर्वनिपातो युक्त इत्याशयः। सूत्रे च पशुमात्रग्रहणेऽपि 'दैक्षस्य चेतरेष्वि'ति दैक्षस्य सर्वपशुप्रकृतित्वेन वक्ष्यमाणत्वादग्नीषोमीयस्यैव 'वरुणपाशाभ्यां वा एषोऽभिधीयते यो दीक्षित' इति दीक्षोपक्रमविधानेन दैक्षशब्दवाच्यत्वात्स एवोदाहर्त्तव्य इति सूचयितुं भाष्येऽर्थवादावयवोदाहृणम्। 'हृदयादींस्तु पशुशब्देनानुवदति' **सोमशब्देन च रसमिति**। पूर्वपक्षभाष्ये पशुसोमशब्दयोरप्यनुवादत्वाभिधानाच्छब्दद्वयस्य सन्देहविषयत्वमाह—**द्वौ चेति**। पशावपि यज्यनुवादेन पूर्वपक्षवचनव्यक्तिं परमतेन दर्शयितुम्, तस्मिन्पक्षे हृदयादिवाक्येष्वेव यज्यनुमानात्पशुवाक्ये यजेरभावान्न शङ्का युक्तेत्याशङ्क्य देवतान्वयान्यथानुपपत्त्या 'यत्पशुना यजेत तदग्नीषोमीयेणेति प्राप्तेष्वपि यागेषु—यज्यमुमानं युक्तमित्युक्तम्'। सन्देहस्वरूपमाह—**तत्रेति**। कथं तर्हि भाष्यकृताधातुमात्रानुवादतावद्यतिगृह्णात्यभिहितकर्मविषयताचोक्तेत्याशङ्क्याह—**किमवद्यतीति**। गृह्णात्यवद्यत्योर्यागानभिधायकत्वाद्यजतिचोदनादुपायिचोदनादित्यादावभिधानार्थत्वेन दृष्टस्यापि चोदयतेरिहाभिधानार्थत्वानुपपत्तेराक्षेपापरपर्यायकल्पनावाचित्वमङ्गीकृत्यावद्यतेर्यागीयद्रव्यसंस्कारार्थावदानवाचित्वेन यागकल्पत्वमङ्गीकृत्यावद्यतिसम्बन्धानुमितानामित्येवं व्याख्याते गृह्णातावेतद्व्याख्यानासम्भवेनापरितोषाद्विधिवाचित्वमङ्गीकृत्यावद्यतिगृह्णातिशब्दयोः प्रत्ययलक्षणार्थत्वाभ्युपगमेन व्याख्यान्तरं कृतम्। हृदयादिरससमुदायवाचिनौ पशुसोमशब्दावित्यप्यनेन भाष्येणोपलक्षितमिति प्रदर्शनशब्देनोक्तम्।

ननूभयत्र यजेरनुवादकतायामालभतिशब्दो न युज्येतेत्याशङ्क्याह—**आलभतिरपि चेति**। अस्यां पूर्वपक्षवचनव्यक्तौ भाष्यानार्जवापत्तेरवद्यतिगृहणात्याक्षिप्तानां स्पर्शनयागकर्मणां समुदायस्यालभतियजती वदितारावििति यथाश्रुतं भाष्यं व्याख्यातुम्, स्वमतेन पशावालभत्यनुवादपूर्वपक्षवचनव्यक्तिमङ्गीकृत्य सन्देहस्वरूपमाह—**अथ वेति**। अवद्यतियुक्तेषु वाक्येषु यागविध्यप्रतीतेः पशुवाक्ये यागानुवादायोगद्योतनाय—**अवद्यताविद्युक्तम्**। नन्वेवं सति पूर्वपक्षेऽपि पशुवाक्ये यागविध्यापत्तेः कः पूर्वोत्तरपक्षयोर्विशेष इत्याशङ्क्य,

यत्पशुशब्दलक्षितं हृदयाद्यालभतेस्तदग्नीषोमीयं कुर्यादिति हृदयाद्यालम्भानुवादद्वारेणैकादशानामवदानानां प्रत्येकं देवतान्वयादेकादशयागाः पूर्वपक्षे, सिद्धान्ते च पशुद्रव्यैक्येन देवतान्वयैक्यादेको याग इति विशेषोऽभिहितः। लक्षणसङ्गतिश्चानेन भेदाभेदफलत्वात् सूचिता। अनन्तरसङ्गतिस्त्वाघाराग्निहोत्रवाक्यविहितयोः कर्मणोर्दध्यूर्द्ध्वादिवाक्यानां गुणविधित्वोपपत्तेकर्मविधित्वाभावात्प्रकृतकर्माभावेन समुदायानुवादे निरस्ते, हृदयैन्द्रवायवादिवाक्यानां पशुसोमवाक्यविहितयोः कर्मणोर्गुणविधित्वायोगात्कर्मविधित्वापत्तेः प्रकृतकर्मसद्भावात्पशुसोमवाक्ययोः समुदायानुवादत्वं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासार्थत्वात्स्पष्टा।

नन्ववद्यतिना स्पर्शनाक्षेपेऽपि गृह्णातिना यागानाक्षेपान्नेयं व्याख्या युक्तेत्याशङ्क्य यथावद्यतौ स्पर्शनाक्षेपः, तथा सोमेऽपि यागाक्षेपइत्युक्ते तदुपादनाय—**अयमेवेत्युक्तम्।** ग्रहणस्य यागपर्यन्तत्वं विना देवतान्वयायोगाद्यागपर्यन्तत्वं सामानाधिकरण्योक्त्या विवक्षितम्।

यद्वा यथा पशौ पूर्वपक्षे बहवो यागाः। सिद्धान्ते त्वेकः तथा सोमेऽपीत्युक्ते तदुपपादनार्थं पूर्वपक्षे ग्रहणवाक्येष्वेव यागकल्पनाभिधानायाऽयमेवेत्युक्तम्। भाष्यान्जस्यादालभत्यनुवादव्याख्यैव युक्ता, न यज्यनुवादव्याख्येत्याह—**तथा सतीति।** भाष्यकृद्व्याख्यानेऽपि पूर्वपक्षस्य सौत्रत्वसिद्ध्यर्थमुपांशुयाजाधिकरणपूर्वपक्षसूत्रस्थेन पौर्णमासीवच्छब्देनेहापि पूर्वपक्षाभिधानं सूचयत्पूर्वपक्षमारभते—**तत्रेति।**

नन्विह रूपश्रवणात्कथं पौर्णमासीतुल्यतेत्याशङ्क्य, सोमवाक्येदेवतानवगतेः, ऐन्द्रवायवादिवाक्यानां च यागानुमानात्प्रागपर्यवसानेन वाक्यान्तरानन्वयाद्देवतासमर्पकत्वानुपपत्तेः, यागानां च रूपत्वाभावादरूपत्वमुपपादयति—**तथा हीति।** श्लोकं व्याचष्टे—**न हीति।** ननु दध्यादिवाक्यवदैन्द्रवायवादिवाक्येष्वपि विधिगौरवापत्तेः कर्मविधित्वाभ्युपगमो न युक्त इत्याशङ्क्याह—**यश्चेति।** सिद्धान्ते चैन्द्रवायवादिवाक्येष्वपि देवताविशिष्टग्रहणविध्यभ्युपगमादुभयत्र गौरवापत्तिरित्याह—**अपि चेति।** तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिरित्यत्र चोपपदश्रुतौ सम्भवदनुवादस्य कर्मणो विधेयत्वनिषेधान्न सोमवाक्ये यागविधिरित्याह—**किं चेति।** सम्भवदनुवादत्वं यादृशशब्देनोक्तम्। पूर्वपक्षे सोमशब्दस्याप्यनुवादत्वात्—**भवानित्युक्तम्।** श्लोकं व्याचष्टे—**एकत्रैवेति।** सत्याङ्गतावेकत्रैव विधिशक्त्यभ्युपगमस्य न्याय्यत्वात्सम्भवदनुवादे कर्मणि सति गुणे विधिशक्तिः संक्रामतीत्यग्निहोत्राधिकरणेऽभिहितमित्यर्थः।

किं तावदित्यादिभाष्येणालभतियजत्योरनुवादत्वेऽभिहिते हृदयादिरसद्रव्यकेषु यागेषु पशुसोमशब्दयोरप्राप्तार्थत्वेनानुवादायोगादुत्पत्तिशिष्टगुणावरोधेन च विध्ययोगादानर्थक्यमाशङ्क्य हृदयादींस्त्वित्यनेन लक्षणया हृदयादिरसानुवादकतोक्ता। तत्र पशुवाक्ये देवताविध्यभ्युपगमाद्वाक्यभेदापत्तेर्द्रव्यविध्ययोगेऽपि सोमवाक्ये 'अथैन्द्रवायवादिवाक्येषु लता विधीयत' इति भाष्ये द्रव्यविधेराशङ्किष्यमाणत्वात्पक्षद्वयमाह—**तत्रेति।** ननु

पशुशब्देन हृदयाद्यनुवादो देवतान्वयायाऽर्थवान्, सोमशब्देन तु रसानुवादोऽनर्थक इत्याशङ्क्य, लक्षितलक्षणया नामधेयत्वेनोपयोगमाह—**ततश्चेति**। द्रव्ये रूढत्वाद्यागनामत्वेनावभासमानमप्यानर्थक्यपरिहारार्थं नामधेयं भवतीति च्विप्रत्ययार्थः। नामान्तरसद्भावान्नामानर्थक्यमाशङ्क्यते—**नन्विति**। स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि, पशुः सोम(आ-श्रौ० सू०)इत्यादौ सोमशब्देनापि व्यवहारान्नानर्थक्यमिति परिहरति—**यदीति**।

नन्वेवं सति समस्तवाक्यानुवादोऽनर्थकः स्यादित्याशङ्क्याह—**समस्तेति**। यत्पौर्णमासीवाक्ये प्रयोगवाक्यगतसंख्योपजननं प्रयोजनमुक्तम्, तदेवात्रापीत्यर्थसोमशब्दस्यानुवादत्वमुक्तमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

नन्वैन्द्रवायवादिवाक्येषु द्रव्यदेवतान्वयाद्यागकल्पनोपपत्तेः, क्रयादिवाक्येभ्यश्च सोमरसावगतेः सोमवाक्ये पूर्वपक्षसम्भवेऽपि, हृदयादिवाक्येषु देवताविरहाद्यागकल्पनानुपपत्तेर्हृदयादेश्च पशुप्रकृतित्वस्यान्यतोऽनवगतेः पशुवाक्ये पूर्वपक्षो न सम्भवतीत्याशङ्क्ते—**भवेदिति**। पशुशब्देन हृदयाद्यनुवादं तावदुपपादयति—**उच्यत इति**। पश्चान्त्यवक्ष्यमाणो दृष्टान्तः। उत्तरार्द्धं व्याचष्टे—**हृदयादिभिरिति**। नन्वेवमपि यागानुवादो न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**तत्र त्विति**। आलम्भानुवादेनेह पूर्वपक्षोः न यागानुवादेनेत्याशयः। यागानुवादमपि प्रौढ्योपपादयति—**अथ वेति**। पशुसान्नाय्ययोः पशुप्रभवत्वसाम्येन द्रव्यसारूप्यात्पशुयागस्याष्टमे सान्नाय्ययागविकारत्वाभिधानात्, तेनैव न्यायेन हृदयाद्यवदानस्य द्रव्यसारूप्यात्सान्नाय्यावदानप्रकृतिकत्वावगतेः सान्नाय्यावदानस्य च यागीयद्रव्यसंस्कारार्थत्वेनाऽस्यापि तथात्वावसायाद् हृदयादीनां संस्कार्यत्वान्यथानुपपत्त्या पूतीकफलचमसवद्यागान्वयप्रतीतेः प्रत्यवदानं यागकल्पनात्पशुवाक्ये यागसमुदायानुवाद.पपत्तिरित्यर्थः। परमतत्वद्योतनायोत्प्रेक्ष्यमाणशब्दः।

यच्च सोमवाक्ये प्रत्यक्षयजिसद्भावान्नैन्द्रवायवादिवाक्येषु तत्कल्पना युक्तेति दूषणम्, तदिहोभयत्राप्यानुमानिकत्वाविशेषान्नाशङ्क्यमित्याह—**साधारणश्चेति**। 'दश गृह्णातीति ग्रहणसमुच्चयदर्शनात्, तस्य च यागार्थत्वाद्यागसमुच्चयप्रतीते'र्दशमो गृह्यते, तृतीयो हूयत इति च द्वयोरपि क्रमदर्शनाद्यागैक्ये च दध्यादिवद्दे'वताविकल्पापत्तेः क्रमसमुच्चयानुपपत्तिप्रसङ्गाद्यागभेदार्थमपि ऐन्द्रवादिवाक्यानामेव यागविधितोश्रयणीयेत्यभिधानार्थमपि चेति भाष्यं व्याचष्टे—**सोमेति**। एतदेव 'संस्कारस्तु न भिद्येते'ति सूत्रे खादिरतादिवैषम्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् तद्दृष्टान्तेनोपपादयति—**पश्येति**। ननु भेदपक्षेऽपि 'ग्रहं वा गृहीत्वा, चमसं वोन्नीय, स्तोत्रमुपाकरोती(तै० सं० ३-३)ति प्रत्येकं ज्योतिःशब्दवाच्यस्तोमयोगनिमित्तज्योतिष्टोमशब्दवाच्यत्वात्प्रत्येकं फलान्वयेन यागविकल्पापत्तेः क्रमसमुच्चयदर्शनानुपपत्तिरित्याशङ्क्य, समुदायानुवादबलात्समुदितानां फलान्वयावगत्यभिधानार्थमथ पुनरिति भाष्यं व्याचष्टे—**मम त्विति**। पशौ क्रमसमुच्चयदर्शनानुपन्यासस्याशयमाह—**पशाविति**।

एतदेव विवृणोति—**न हीति**। ननु हृदयादिसमुच्चयेऽपि लोहितं निरस्यतीत्यादिवाक्यान्तरवशेन कंषां चित्पश्ववयवानामपनयान्न सर्वेण पशुनेष्टं स्यादित्याशङ्क्याह—**यन्मात्रमिति**। किं **चिदपनयेति** वाहुल्यात् सामस्त्यव्यवहारोपपत्तिरित्याशयः। नन्वेवं सत्यनिसिद्धेन हृदयाद्येकादशावदानातिरिक्तेनापि यागापत्तेरेकादशभ्य एव हृदयादिभ्योऽवदेयमिति दशमाधिकरणसिद्धान्तो विरुध्येतेत्याशङ्क्याह—**एतीति**। न्यायात्सर्वप्राप्तावप्येकादश'पशोरवदानानीत्यस्यानन्यप्रयोजनत्वादवयवान्तरपरिसंख्यार्थत्वेन तत्रत्यः सिद्धान्त इत्याशयः। समुच्चयांशेन त्वनुवादकत्वादिह लिङ्गत्वेनोपन्यासः।

ननु सोमस्यापि दशमुष्टेस्त्रिपवर्णो द्रोणकलशादिपु बहूदकादिपु[1] तस्य प्रादेशमात्रेण पात्रेण समस्तस्य ग्रहीतुमशक्यत्वात्सोमयागैक्येऽपि समस्तसोमसाधनकत्वादेव क्रमसमुच्चयदर्शनोपपत्तिरित्याशङ्क्याह—**सोमे त्विति**। उत्पत्तिवाक्ये सोमस्य समस्तचोदनाभावात्पशुवैषम्यं भाष्यकृतोऽभिमतमित्याशयः। तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**। सूत्रे चोदनेत्येकवचनप्रयोगेऽपि पशुसोमयोरिति सप्तमीद्विवचनेनोदाहरणद्वयपरिग्रहात्कर्मणोश्चोदने इति द्विवचनान्तेन व्याख्याय, शुद्धकर्मचोदनाशङ्कानिरासार्थं प्रकारवाचिविधानशब्दप्रयोगेण विशिष्टचोदनात्वमुक्तम्, तत्स्पष्टत्वादव्याख्या अपूर्वद्रव्यसंयोगादि'त्येकं द्रव्यसंयोगलक्षणहेतुव्याख्यानर्थस्य कुत इत्यादिभाष्यस्य तात्पर्यं व्याचष्टे—**इतीति**। श्लोकं व्याचष्टे—**यदि हीति**। एवं विद्वानित्येवंशब्देन प्रकृताशेषरूपपरामर्शादशेषरूपप्रत्यभिज्ञानेऽभिहिते विद्वच्छब्दान्वयेनैवं शब्दस्य यज्यनन्वयाद्यागरूपापरामर्शकत्वे तु द्रव्यं संयोगमात्रमनेनैव भाष्येणोक्तमिति सूचयितुम्—**यदि वेत्युक्तम्**। पशुविकारस्य हृदयादेर्लक्षणया पशुशब्देनाभिधानात्सोमविकारस्य च रसस्य सोमशब्देनाभिधानान्नपूर्वद्रव्यसंयोगोऽस्तीत्याशङ्कानिरासार्थत्वेन 'प्रकरणे ह्यनर्थको द्रव्यसंयोग' इति सूत्रावयवस्य पशुसोमाख्यं द्रव्यं यागे संयोजयतीति व्युत्पत्त्या द्रव्यसंयोगशब्दोक्तिः।

पशुशब्दः, सोमशब्दश्च प्रक्रियतइति व्युत्पत्त्या प्रकृते हृदयादौ रसे च मुख्यार्थत्यागापत्तेर्न प्रवर्त्ततइत्येवं व्याख्यानार्थं नन्वित्याशङ्काभाष्यं तावद्व्याचष्टे—**तत्रेति**। नैतदित्यादिव्याख्याभाष्यं व्याचष्टे—**तत्रेति**। किं लक्षणाश्रयणे कारणं यदिह नास्तीत्यपेक्षायामाह—**विस्पष्टे हीति**। यष्टीाक्रोशन्तीतिवत्परशब्दसामानाधिकरण्याभावेऽपि गङ्गायां घोष इत्यादौ लक्षणां विना पदान्तरान्वयासम्भवे लक्षणादर्शनाद्—**अनन्यथासम्भवे वेत्युक्तम्**।

ननूत्पत्तिशिष्टरसहृदयाद्यवरुद्धयोर्यागयोर्लता-प्राणिविध्ययोगात्पशुशब्दस्य च प्रकृतहृदयाद्यनिवेशे देवताविधिपरे वाक्ये द्रव्यविध्ययोगेनार्थक्यापत्तेः, अस्त्यनन्यथा सम्भव इत्याशङ्क्याह—**शक्यं हीति**। यागान्तरविध्यभ्युपगमान्नैकोऽपि दोष इत्याशयः। अपूर्वयोः कर्मणोरिति सिद्धान्तोपक्रमस्थमपूर्वशब्दं उपांशुयाजाघाराग्निहोत्राधिकरणसिद्धान्तोपक्रम-

---

1. बदूरकादिषु इति मु० पु० पा०।

भाष्यस्थकर्मान्तरशब्दवदभ्युपेत्यवादत्वेन व्याचक्षणः, तस्मादित्युपसंहारभाष्यं तदनुसारितया व्याचष्टे—**तेनेति**। न हि तस्य गुणार्थेनेति सूत्रावयवं प्रकृतेषु यागेष्वनर्थको द्रव्यसंयोग इत्येवमर्थावृत्तपूर्वावयवसहितमाशङ्कोत्तरत्वेन व्याख्यातुमथेत्याशङ्काभाष्यमुत्पत्तिशिष्टरसावरुद्धे यागे प्रदेयतया लताविध्याशङ्कानुपपत्तेरयुक्तमाशङ्क्य, प्रदेयप्रकृतित्वेन लताविध्याशङ्कार्थतया व्याचष्टे—**कस्मादिति**। भाष्यानारूढपशुग्रहणेन सिद्धान्ते द्वयोरपि प्रदेयप्रकृतित्वेन विधिः सूचितः।

न सेति भाष्यं मध्यप्रतीकेनोत्तरतयावतारयति—**तत्राहेति**। प्रदेयप्रकृतित्वेनापि विधौ शङ्किते गृह्णादिवाक्येष्वण्व्या धारया गृह्णातीति प्राकरणिकवाक्यान्तरालोचनेन धाराग्रहणयोग्यद्रव्यप्रतीतावपि स्वाभाविकद्रवत्वयुक्तस्योदकादेरपि धाराग्रहणोपपत्तेर्विकारद्रव्यानवगमेन 'सोममभिषुणोतीत्यादिवाक्यालोचनाद्विकारद्रव्यावगमाभ्युपगमे तु प्रकृतिद्रव्यस्याप्यवगमे प्रकृत्यनपेक्षणात्प्रदेयतयैव विधेयत्वं शङ्कनीयमित्यापाद्य, श्रौतरसावरुद्धेषु योगेषु वाक्येन लताविध्यनुपपत्त्यभिधानार्थत्वेन भाष्यं व्याचिख्यासुरवद्यतिवाक्येषु हृदायादिविकारद्रव्यप्रतीतेस्तत्प्रकृतित्वेन पशुविध्याशङ्कापरिहारौ कस्मान्नौपन्यस्तावित्याशङ्कानिरासपूर्वं व्याचष्टे—**पशुस्तावदिति**। ननुतद्धितश्रुत्यनुपात्तत्वान्न रसस्य लतातो बलीयस्त्वम्, प्रत्युत प्रकरणलभ्यत्वाद्दौर्बल्यमित्याशङ्कते—**कथं पुनरिति**। सारय देवतेति सन्निहितविशेषवाचिसर्वनामस्यशब्दार्थे तद्धितस्मृतेः श्रौतत्वमाह्योच्यत इति। नन्वनुपात्तस्य द्रव्यविशेषस्य देवतान्वयो न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**अधिकारेणेति**। सन्निहितत्वोपलक्षितस्य द्रव्यविशेषस्य तद्धितश्रुत्या देवतान्वये कृते, कस्येति निर्द्धारणापेक्षायां प्रकरणान्निर्द्धार्यत इत्यर्थः। एतच्च 'तद्धितनिर्देशे श्रुत्ये'ति गुणाधिकरणभाष्यव्याख्यावेलायां [देवतासङ्गतिः श्रुत्या तद्धितान्तात्प्रतीयते] इत्यादिवार्तिकेनोपपादयिष्याम इत्याह—**गुणश्चेति**। वैश्वदेवाधिकरणव्युत्पादितोत्पत्त्युत्पन्नशिष्टबलाबलाभिधानार्थं चैतद्भाष्यमिति सूचयितुं युक्त्यन्तरमाह—**किं चेति**। दुर्बलतरत्वसूचनार्थं प्रवृत्तापेक्षत्वं वाक्यान्तरस्य विशेषणम्। लतायाश्च दौर्बल्याद्रसावरुद्धेषु यागेषु विधातुमशक्यत्वे सति न केवलं प्रकृतप्रत्यभिज्ञानानुवादायोगाद्यागस्य-विधेयत्वापत्तेः पुनर्विधानलक्षणादभ्यासाद्भेदः, किं तु गुणादपीत्याह—**ततश्चेति**। व्याख्यातं भाष्यं दूषयितुमारभते—**शक्येति**। प्रकृतेषु यागेषु रसविरोधात्प्रदेयतया लताविध्ययोगेऽपि व्रीहिवत्प्रदेयप्रकृतितया विध्युपपत्तेः शक्यपरिहारं भाष्योक्तं दूषणमित्याशयः।

नन्वष्टाकपालादिशब्दानां संस्कृततद्धितान्तत्वात् 'ते पुरोडाशं कूर्मं भूत्वा सर्पन्तमपश्यन्नि-(तै. सं.-२.५)त्याग्नेयवाक्यशेषाच्चाष्टाकपालशब्दस्य पुरोडाशविषयत्वावगमाद्विकारद्रव्यप्रतीतेः प्रकृत्यपेक्षायां युक्तः प्रकृतित्वेन व्रीहिविधिः, ऐन्द्रवायवादिवाक्येषु तु धारावाक्याद्रवद्रव्यावगमेऽपि विकारद्रव्यत्वानवगतेरभिषवादिवाक्यालोचने तु प्रकृतिद्रव्यस्याप्यवगतेर्न लतायाः प्रकृतित्वेन विधिर्युक्त इत्याशयेन पृच्छति—**कुत इति**। विकारद्रव्यत्वाभावेऽपि धानादिवत्कपालसंस्कार्यत्वोपपत्तेर्वाक्यशेषस्य च 'विष्णुरुपांशु यष्टव्य' इत्यादिवत्

'ऊर्जाऽवरुध्या' इत्यादिकञ्च स्तुतिमात्रोपयुक्तस्य विध्युद्देशापेक्षितार्थसमर्पकत्वायोगादश्वशफमात्रः पुरोडाशो भवतीत्यादिविध्यन्तरालोचनाच्च पुरोडाशप्रतीत्या विध्युद्देशपर्यवसानोपपत्तौ स्तुत्युपयुक्तस्य रात्रिसत्रवत्परावृत्त्यविधित्वकल्पनानुपपत्तेरष्टाकपालादौ प्रकरणानालोचने प्रकृतिविकारद्रव्ययोर्द्वयोरप्यप्रतीतेस्तदालोचने च द्वयोरपि प्रतीतेः, किं प्रकृतिकोऽसावित्यनपेक्षायामपि किं पुरोडाशप्रकृतिभूता व्रीहयस्तन्निष्पत्तौ व्यापारयितव्याः, किं वाऽनोवासो-जाघनीवद्यथाकथंचिन्निष्पन्नं व्रीहिमयपुरोडाशस्वरूपमात्रं व्यापारयितव्यमित्यपेक्षायां निर्वापावघातपेषणसंयवनपिण्डकरणादिनिष्पादकविधिदर्शनेन प्रयोगकाले निष्पादनावगमात्, असम्भवेऽपि निष्पादकविध्यनालोचने च 'पर्णमयी जुहूर्भवती'त्या-(तै० सं०—३२)दिवत्प्रकृतिद्रव्यविधानेऽपि यथाकथंचिद्विशिष्टद्रव्यलाभेनापि प्रयोगोपपत्तेः, प्रयोगकाले निष्पादनानाक्षेपापत्तेर्यथा व्रीहीणामविधानेसक्तुवदसंस्कार्यत्वापत्तेर्निर्वापादिविधीनामारादुपकारित्वप्रसङ्गाद्यागाङ्गत्वेनैव विहितेषु व्रीहिषु योग्यतया पुरोडाशप्रकृतित्वेनाऽविरोधेऽोपपत्तौ विरोधापादकसाक्षाद्यागसाधनत्वाङ्गीकरणानौचित्यात्प्रकृतिताऽवसीयते, तथा सोमेऽपीत्याशयेनोत्तरमाह—**यथैवेति** । **श्लोकं व्याचष्टे** । **विधीयमानं हीति** ।

लताविशिष्टयागविधिपक्षेऽपि चाभिषवेण लतास्वरूपनाशात्प्रदेयप्रकृतित्वेनैव यागाङ्गता तुल्येत्याह—**अपि चेति** । रसलतयोश्च विरोधाभ्युपगमे रसस्योत्पत्तिशिष्टत्वपक्षे लताया दौर्बल्यात्तदानुगुण्येन प्रवृत्तेस्तदा । अपेक्षितप्रकृतित्वाङ्गीकरणेन विरोधः शक्यपरिहारः लतायास्तूत्पत्तिशिष्टत्वे दुष्परिहर इत्याह—**अपि चेति** । **श्लोकं व्याचष्टे** । **रसस्येति** । का तर्ह्यैन्द्रवायवादिष्वित्यादेर्भाष्यस्य गतिरित्यपेक्षायामुत्पत्तिशिष्टरसावरोधात्प्रदेयत्वेन लताविध्याशङ्कानुपपत्तेः प्रदेयप्रकृतित्वाशङ्कायाश्च निराकर्तुमशक्यत्वादुपेक्षणीयत्वं वक्तुमाह **तस्मादिति** । पशुसोमाख्यगुणस्य प्रदेयप्रकृतित्वेन विधिरित्याशङ्का नोद्घाटनीयेति वाच्ये, तन्निरासार्थस्य न हीति सूत्रावयवस्याप्युपेक्षणीयत्वसूचनायाऽनुद्घाटयैवोत्तरं सूत्रं प्रस्ताव्यमिति ल्यपि प्रयुक्ते, अवयवदोषेण सकलसूत्रापेक्षां प्रसज्यमानां निराकर्तुं समुदायेत्युक्ते गुणविधित्वाशङ्कायामनिरस्तायां कथं कर्मविधित्वसिद्धान्तसिद्धिरित्याशङ्कय पशावित्युक्तम् । प्राप्ते कर्मण्यनेकगुणविध्ययोगादेव तत्राशङ्का नोत्तिष्ठतीत्याशयः । सोमे कथं सिद्धान्तसिद्धिरित्यपेक्षायामुत्तरसूत्रेण गृह्णातिवाक्यानां कर्मविधित्वनिरासादिति सोमे त्वित्यनेनोक्तमिति योज्यम् । समुदायानुवादत्वमात्रं निराकृत्यमिति सुगमः पाठः ।

एवं तु सूत्रभाष्यकृतोर्द्वयोरप्यबुद्धिपूर्वकारित्वापत्तेः पूर्वत्रापरितोषेणोत्पत्तिशिष्टरसावरोधान्नैन्द्रवायवादिवाक्यविहितेषु यागेषु लताविधातुं शक्येति पूर्वसूत्रावयवोक्तामुपपत्तिं चकारेणोत्पत्तिशिष्टरसावरोधेऽपि तत्प्रकृतित्वेन लताविधिसम्भवरूपनिराकरणहेतुसूचनपूर्वमुत्तरसूत्रेणैन्द्रवायवादिवाक्यानां कर्मविधायित्वाभावान्न रसस्योत्पत्तिशिष्टतेत्येवं निराकृत्यैन्द्रवायवादिवाक्यानां कर्मविधित्वाभावलक्षणयैवोपपत्त्या सोमवाक्यस्य कर्मविधित्वं निर्णेतव्यमिति पक्षान्तरमाह—**अथ वेति** ।

निराकार्योपपत्त्युपन्यासस्यापि मन्दप्रयोजनत्वेनेहाप्यरितोषात्स्वयमन्यथा सूत्रव्याख्यामारभते—**पूर्वेति**। पशुसोमवाक्योदाहरणेऽस्य सूत्रस्य पूर्वपक्षोक्तचाशक्तिमाशङ्कते—**कथं पुर्नारति**। गृह्णात्यवद्यतिवाक्योदाहरणाङ्गीकरणेन पूर्वपक्षे सूत्रं योजयितुं सन्देहस्वरूपं तावदाह—**उच्यते इति**। योजयति—**किमति**। पशुसोमवाक्ययोरुत्पत्तिचोदनात्वे सति प्रकरणापेक्षो गृह्णात्यवद्यतिवाक्येषु रसहृदयादिद्रव्यसंयोगो विधीयमानो न यागाङ्गत्वं प्रतिपद्येतेति मध्यमावयवे व्याख्याते ऽवदानग्रहणयोः पशुसोमसंस्कारार्थत्वेनाविरोधशङ्कानिरासार्थतयाशङ्क्य, स्वरूपनाशकत्वात्संस्कारार्थत्वायोगाभिधानार्थत्वेन न हीति सूत्रावयवं व्याख्याय, प्रदेयप्रकृतित्वेनाविरोधाशङ्कानिरासार्थतया तस्योत्पत्तिवाक्यैः प्रदेयत्वेन प्रकृतस्य रसहृदयादेः प्रकृतित्वलक्षणगुणार्थेन पशुसोमयोः संस्कारवाक्यैरेव 'सोमं क्रीणाती'त्यादिवार्तिकोक्तेन न्यायेन सिद्धतया विध्ययोगात्प्रकृतेरसहृदयादौ प्रकृतित्वेन पशुसोमद्रव्यसंयोगोऽनर्थक इति व्याख्यान्तरेऽथवेत्यनेन कृते, मम त्वित्यनेन पूर्वपक्षेऽर्थवत्तोक्ता। पूर्वपक्षसूत्रार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ १७ ॥

भा० प्र०—श्रुति में ज्योतिष्टोम प्रकरण में "यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभेत" (जो यज्ञ में दीक्षित है, वह अग्नीषोमीय पशु का वध करे) इस वाक्य के सन्निधान में "हृदयस्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथ वक्षसः" तै० सं० ६।३।१०) प्रथम पशु के हृदय भाग का अवदान (खण्ड) करे, अनन्तर जिह्वा अंश का अनन्तर वक्ष अंश का यह वाक्य पढ़ा गया है।

इसी प्रकार "सोमेन यजेत" सोमयाग करे इस श्रुति के समीप में "ऐन्द्रवायवं गृह्णाति" अर्थात् इन्द्र वायु देवता के उद्देश में सोम का ग्रहण करे एवं मित्रावरुण देवता के उद्देश में सोम ग्रहण करे—ये दो वाक्य कहे गये हैं। इनमें यह संशय है कि "हृदयस्याग्रे अवद्यति" इत्यादि वाक्य में एवम् "ऐन्द्रवायवं गृह्णाति" इत्यादि वाक्य में जो याग विहित है उसी का "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" एवं "सोमेन यजेत" ये दो वाक्य अनुवाद हैं या "अग्नीषोमीयम्" इत्यादि दो वाक्य अनुवाद नहीं हैं, वरन् उन्हीं के द्वारा याग का विधान किया गया है।

इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का कहना है "हृदयस्याग्रे अवद्यति" इत्यादि वाक्यों के द्वारा ही हृदयादि द्रव्य विशिष्ट कतिपय यागों का विधान किया गया है। अग्नीषोमीयम् इत्यादि वाक्यों से उन्हीं का अनुवाद कर अग्नीषोम नाम के देवता का विधान किया गया है। इसी प्रकार "ऐन्द्रवायवम्" इत्यादि कतिपय यागों का विधान किया गया है, कारण, इस स्थल में 'इन्द्रवायू' इस प्रातिपदिक से देवता एवं इन्द्रवायू के आगे विहित तद्धित प्रत्यय से सोम स्वरूप द्रव्य की प्रतीति होती है। "सोमेन यजेत" इस वाक्य में उन्हीं के समुदाय का अनुवाद करता है।

समाधान में सिद्धान्ती ने कहा है "चोदना पशुसोमयोः", पशु एवं सोमपद युक्त वाक्य से ही अपूर्व कर्म का विधान किया जाता है। अतः, इस स्थल में अग्नीषोमीय

वाक्य एवं "सोमेन यजेत्" यह वाक्य अनुवाद नहीं हो सकता है। हृदयादि वाक्य में एवम् ऐन्द्रवायवादिवाक्य से जो याग विहित होता है—यह उसी का अनुवाद होगा—यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि, "द्रव्य संयोगात्" पशु एवं सोमरूप अपूर्व द्रव्य का सम्बन्ध उपदिष्ट होता है। आशय यह है कि पशुपद हृदयादि का वाचक न होने से उसके द्वारा हृदयादि याग का अनुवाद नहीं हो सकता है। क्योंकि, हृदयादि ही पशु नहीं हैं। वरन्, ये पशु के विकार या अवयव विशेष हैं। इस प्रकार सोमपद इसका अभिधायक न होने से वह प्रदेय नहीं है। प्रदेय न होने पर ऐन्द्रवायवादि वाक्य से विहित याग का अनुवाद नहीं हो सकता है। ऐन्द्रवायवादि विहित याग में सोम लभ्य रूप गुण का विधान भी नहीं हो सकता है, कारण, "अन्या धारया" इत्यादि वाक्य में रस विषय कहना आरम्भ कर ऐन्द्रवायव इस पद के तद्धित प्रत्यय के श्रवण से वही विहित होता है, अतः, उसका अतिक्रमण कर सोमलता की प्राप्ति नहीं हो सकती है। इसीलिए पशुपद एवं सोमपद प्रकरण प्रतिपादित हृदयादि का एवं रस द्रव्य वाचक न होने से उसका आनर्थक्य होने से यह अनुवाद नहीं वरन् विधि है। इसीलिए सूत्र में, कहा गया है प्रकरणे ह्यानर्थक्यं द्रव्यसंयोगाः।

"पशुसोमयोः" = पशु एवं सोमपद प्रयुक्त दो वाक्यों में "चोदना" = अपूर्व कर्म का उपदेश, "द्रव्यसंयोगात्" = पशु एवं सोमरूप द्रव्यों के साथ संयोग अर्थात् सम्बन्ध होने से, "हि" = क्योंकि "प्रकरणे" = प्रकृत हृदयादि वाक्य में एवम् ऐन्द्रवायवादि वाक्य में याग विहित होने पर "द्रव्यसंयोगः" = पशु सोमपद प्रयुक्त दो वाक्यों में उपदिष्ट द्रव्य का संयोग, "अनर्थकः" अनर्थक होता है, कारण, उसमें अर्थात् पशुशब्द एवं सोमशब्द में लक्षणा करनी होगी, "हि" = क्योंकि, "तस्य" = उसका अर्थात् हृदयादि वाक्य से विहित याग का, "गुणार्थे न" = गुण के लिए विधान नहीं हो सकता है ॥ १७॥

अचोदकाश्च संस्काराः ॥ १८ ॥

शा० भा०—एवं तावत्प्रकृतेषु सत्स्वपि नानुवादावित्युक्तम्। अथेदानीं प्रकृता एव यागा न सन्तीत्युच्यते। कुतः? अचोदकाः संस्काराः। न चैन्द्रवायवादिभिर्यागा विधीयन्ते[1]।

अत 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' इति इन्द्रवायुभ्यां संकल्पयतीत्येतावदुक्तं भवति। तत्र यागमन्तरेण संकल्पयतीत्येतन्न युज्यत इति, यागः कल्प्येत। स[2] एवाऽऽम्नातो यागो यस्मिन्सति संकल्पोऽवकल्प्येत। तस्मान्न ऐन्द्रवायवं गृह्णातीत्येवमादिभिर्यागा विधीयेरन् तेन ग्रहणमुपकल्पनमात्रं दृष्टार्थम्। उपकल्प्यमाने तु

---

१. ब. ऐन्द्रवायवं गृह्णातीति इन्द्रवायुभ्यां संकल्पयती–त्येतावदुक्तं भवति (इत्यधिकम्)।

२. ब. स चात्रास्ति यागो।

देवतासंकीर्तनमदृष्टाय। प्रकृतानां यागानामभावान्न समुदायशब्दो यजतिः। तथाऽऽलभतिशब्द इति ॥ १८ ॥ आ० नि० ॥

भा० वि०—नन्वैन्द्रवायवादिवाक्यविहितेषु यागेषु स्वद्रव्यप्रकृत्यपेक्षिषु प्रकृतित्वेन लतामात्रं विधीयतां किमपूर्वयागविधानेनेति चोदयति—**अथेति**। आवृत्तपूर्वावयवसहितं नहीति सूत्रावयवं व्याचक्षाणः परिहरति—**नसेति**। कुत इत्यत आह—**श्रुत्या हीति**। ऐन्द्रवायवादिपदस्य द्रव्यमात्रविषयतया तद्विशेषाकाङ्क्षायां **अण्व्या** धारया गृह्णाति इति द्रवद्रव्यप्रतीतावपि स्वाभाविकद्रवत्वयुक्तस्योदकादेरपि सम्भवेन प्रकृत्यपेक्षानवगमात् सोममभिषुणोतीत्यादिवाक्यालोचनया विकारद्रव्यविशेषाभ्युपगमे प्रकृतिद्रव्यस्यापि सोमस्यावगमेन प्रकृत्यनपेक्षणात् प्रदेयद्रव्यतयैव लताया अपि विधेयत्वमापतति, तत्र चैन्द्रवायवादिश्रुत्या रसस्य प्रदेयद्रव्यत्वावगमात्, न सोमवाक्येन लताया अपि प्रदेयतया विधानं सम्भवति श्रुतिविरोधे वाक्यस्य दौर्बल्यात् उत्पत्तिशिष्टरसावरुद्धे च यागे लताविधानानुपपत्तेरितिभावः, लताविध्यसम्भवे फलितं दूषणमाह—**तस्मादिति**। द्रव्यस्य यागेन संयोगं वक्तीति द्रव्यसंयोगवचनः सोमशब्दः अनुवदितुमिति विकारसम्बन्धेन रसमनुवदितुमिति लक्षणापत्तेरशक्नुवन्निर्तिभावः, अनेन यस्माद्गुणार्थेन प्रकृतिद्रव्यस्य प्रदेयद्रव्यस्य वा विधानार्थत्वेन सोमशब्दस्यार्थवत्ता न सम्भवति तस्मात् प्रकृतेषु कर्मसु सत्स्वप्यनर्थको द्रव्यसंयोग इति सूत्रार्थो दर्शितः पशुवाक्यस्य तु पूर्वपक्षे देवताविधित्वान्न पशुशब्दस्य द्रव्यविधित्वशङ्कापीत्यभिप्रेत्योपसंहरति—**तस्मादिति**।

ननु गुणाधिकरणवक्ष्यमाणन्यायेन तद्धितस्यैव द्रव्यविशेषविषयत्वादैन्द्रवायवादिवाक्यैरेव सोमरसप्रतीतावप्यभिषवादीनां सोमसंस्कारत्वात् सोमविनियोगोऽभ्युपगन्तव्यः अन्यथा तेषामर्थकर्मत्वप्रसङ्गात्, तेनादित एव सोमरसस्येव देवतासम्बन्धप्रतीतेः कास्य प्रकृतिरिति जिज्ञासाभावेऽपि प्रकृतिरूपलताप्रभृत्युपादानप्रयोजनोविधिः प्रकृतिर्द्रव्यविधिरित्युच्यते ततः प्रदेयतया लताविध्यसम्भवेऽपि प्रकृति तया तद्विधानासम्भवात्, नहि तस्येत्यादिनोक्तः परिहारोऽनुपपन्न इत्याशङ्क्य परिहारान्तरमाह—**अचोदकाश्चेति**। अभ्युपगम्य वादत्वान्न विवक्षितः पूर्वसूत्रावयवोक्तः परिहारः किन्तु आवादिक इति सूचनाय सूत्रतात्पर्यमाह—**एवमिति**। नानुवादार्थमालभतियजत्योरिति शेषः, प्रकृतयागाभावे हेतुं पृच्छति—**कुत इति**। सूत्रमादाय चोदका इति भागं हेतुत्वेन व्याचष्टे—**न चेति**। किं तर्हि विधीयत इत्याशङ्क्य संस्कारा इति भागं व्याचष्टे—**ऐन्द्रवायवमिति**। ग्रहणाद्युपकल्पनाख्यानि संस्काररूपाणि विधीयत इत्यर्थः, ननु देवतोद्देशेन गृहीतं द्रव्यं यावद्यागेन न सम्बध्यते न तावद्दैवत्यं कृतं भवति इति तदन्यथानुपपत्त्या

यागोऽपि तत्र कल्प्यते, तत्राह—**तत्रेति**। यदैवान्यथानुपपत्त्या यागं कल्पयितुमारभते तदैव सोमेन यजेतेति सन्निहितः प्रत्यक्षो यजिरविशेषात् सर्वद्रव्यदेवतासंयोगानुपपादयितुमुपतिष्ठन् यागान्तरकल्पनाप्रमाणं निरुवद्धीत्यर्थः। तेन निष्प्रमाणकत्वान्नाश्रिता यागकल्पना शक्येत्याह—**तस्मादिति**। ननु देवतोद्देशेन ग्रहणमपि तस्य द्रव्यदेवतासम्बन्धोपपादकयागकल्पकत्वाभावेऽनर्थकं स्यादत आह—**तेनेति**। इन्द्रवायुभ्यामित्यादिसङ्कीर्तनमदृष्टार्थत्वान्नानर्थकमित्यर्थः, ऐन्द्रवायववादिवाक्यान्तं देवताविशिष्टग्रहणसंस्कारविधायकत्वेन कर्मविधित्वाभावे फलितमाह—**अत इति**। अवद्यतेश्चावखण्डनमात्रार्थतया द्रव्यदेवतासम्बन्धवद्यायागानुमापकत्वाभावेन तत्रापि यागाप्राप्तेः आलभतिशब्दोऽपि न समुदायानुवाद इत्याह—**तथेति** ॥ १८ ॥

त० वा०—नैवैतौ समुदायानुवादौ 'चोदना वाऽप्रकृतत्वात्' इत्येतस्मादेव हेतोः। कथं प्रकृता न संभवन्ति। यतोऽवद्यतिगृह्णातयो न यागानां चोदकाः, किं तर्हि? संस्कारमात्रविधयः। तन्मात्रपर्यवसानात्। तन्मात्रपर्यवसायिनि निष्प्रमाणकत्वान्नाश्रुतयागकल्पनं शक्यम्। एवं हि स कल्प्यमानः कल्प्येत देवतोद्देशेन गृहीतं द्रव्यं न यावद्यागेन संबध्यते, न तावत्तद्देवत्यं कृत्यं कृतं भवतीति। तत्र यदैवाथानुपपत्त्या यागं कल्पयितुमारभते, तदैव संनिहितः प्रत्यक्षो यजिरविशेषात्सर्वान्द्रव्यदेवतासंयोगानुपपादयितुमुपतिष्ठन्यागान्तरकल्पनाप्रमाणं निरुणद्धि। तस्मिंश्चाप्रमिते कस्य समुदानुवादो भविष्यति।

यदुक्तमाग्नेयादिवन्नापरिकल्पिते यजौ वाक्यान्तरापेक्षेति। तत्र ब्रूमः—

पुंव्यापारनियोगेन वाक्यं सर्वत्र पूर्यते।
तदलाभे त्वपूर्णत्वं तल्लाभे वाक्यसंगतिः॥

'आग्नेयौऽष्टाकपालो भवती'ति न यागादन्यः पुंव्यापारः प्रतीयत इति प्राक्तदनुमानादपरिपूर्णं वाक्यम्। इह 'त्वैन्द्रवायवं गृहणाती'ति ग्रहणभावनायां पुरुषो नियुज्यते। तत्र प्रागपि यज्यनुमानादस्ति विधेर्विषय इति समाप्यते वाक्यम्। इदं त्वन्यत्, यत्-ततः परमपि किंचिदपेक्ष्यते। सर्वमेव हि वाक्यं स्वार्थे पर्यवसिते अर्थान्तरापेक्षां न जहाति। न च तावता तदसमाप्तं भवति। या त्वसावपेक्षा, सा वाक्यान्तरेण पूरयिष्यत इत्यवगमान्न वाक्यान्तरसम्बन्धं न सहते। तेन यज्यनुमानवेलायां प्रतिवाक्यं सोमेन यजेत' इत्यस्योपस्थानं न विरुध्यते। 'आग्नेयोऽष्टाकपालः' इति तु भवतेरपुरुषव्यापारात्मकत्वात्प्राग्यजेर्न किंचिद्विहितम्, न किंचित्प्रतिषिद्धमित्यसमाप्ते वाक्ये, वाक्यान्तरे चानपेक्षिते यजिरनुमीयमानो न वाक्यान्तरगतः सम्बध्यत इति वैषम्यम्।

अथ यदुक्तमुत्पत्तिशिष्टयोः पशुसोमयोर्न वाक्यान्तरगत्या विकारापत्तिर्युक्तेति। तत्र ब्रूमः—

द्रव्येणात्यन्तभिन्नेन सह चिन्त्यं बलाबलम्।
हृदयादिरसद्वारमङ्गत्वं पशुसोमयोः॥

यद्यत्रौत्पत्तिकौ पशुसोमौ परित्यज्य, अत्यन्तव्यतिरिक्तं किंचिद् द्रव्यं विधीयते, ततो विरोधः स्यात्। इह तु पशुनैव हृदयादिद्वारेण यागः साध्यते। सोमेन च रसद्वारेण। न चेतिकर्तव्यतासम्बन्धे कश्चिद्विरोधः। पशुसोमौ हि यागसाधनत्वेन चोद्यमानावितिकर्तव्यतामाकाङ्क्षतः। तत्र च रसहृदयादि-निष्पत्तिद्वारेणेत्येवं कथंभावः पूर्यते। तेनानुग्राहकत्वान्न तत्कल्पने विरोधापत्तिः।

यत्तु प्राकरणिकैः क्रयादिवाक्यैरेव प्राप्तत्वादिह द्रव्यसंयोगोऽनर्थक इति। तत्रापि अचोदकाश्च संस्कारा इत्येवोत्तरम्। न हि ते विधयः-सोमस्य पशोर्वा चोदकाः, किं तर्हीतयोरेव संस्कारकाः। तेन चोदितस्य द्रव्यस्य यथाकथंचिदु-पादानेन यागसाधनत्वे प्रसक्ते, क्रयोपात्तेनैव, अभिषवादिसंस्कृतेन च साधयि-तव्यामिति विधीयते। न च मन्त्रवर्णस्यात्यन्ताविहितच्छागप्रापणसामर्थ्यम्, पशुचोदनाविहितस्य तु सन्देहापनयनमात्रमुपयुज्यते[1]। न चावद्यतिरेकान्तेन यागमनुमापयति, विनाऽपि तेन खण्डनमात्रतया लोके वेदे चोपपत्तेः। द्रव्यदेवता-संयोगस्तु न कथंचिद्यागाद्विना सिध्यतीत्यनुमानवैषम्यम्।

न[2] च सांनाय्यावद्यतिः प्रकृतौ चोदितः, अर्थगृहीतत्वाद्यतस्तद्धर्मप्राप्तिरपि स्यात्। न चास्य यागद्रव्यार्थत्वमितिकर्तव्यता, येन तदतिदिश्येत। न चेदृशेऽर्थे सामान्यतोदृष्टं प्रक्रमते। पूतिकाभिषव-फलचमसभक्षयोस्तु वाक्यप्रकरणाभ्यां तादात्म्यविज्ञानमित्यसमानता। सोमवाक्येऽपि विशिष्टविधौ प्रत्यक्षोपात्ते सत्यानुमानिकासम्भवादेवातुल्यत्वम्। न चैन्द्रवायवादिवाक्येऽप्यष्टाकपालादि-वाक्येष्विव गुणवाक्यत्वेऽपि वाक्यभेदः ?

कुतः ?

विधेयानेकभावेऽपि देवताग्रहणात्मना।
क्रियान्तरप्रसादेन विशिष्टविधि सम्भवः॥

शक्यते हीन्द्रवाय्वादिविशिष्टग्रहणभावनाविधिराश्रयितुम्। अर्थप्राप्ते वा ग्रहणे समासोपात्तैकदेवताविधानमात्रमविरुद्धम्। प्रकरणलभ्यश्च प्रधानसम्बन्ध इति, गुणवाक्यत्वेऽप्यदोषः। तस्मादेषां संस्कारत्वादन्यतो यागमपेक्षमाणानाम विरुद्धोऽन्येन यागविधिः। एवं च सति ज्योतिष्टोमेनेत्येकवचनं मुख्यमेव भवति। न च सोमशब्दः क्लेशेनानर्थकं द्वितीयना[3]मत्वं प्रतिपत्स्य[4]ते। न चाऽऽघाराग्नि-

१. क० युज्यते। २. क० न चावद्यतिसान्नाय्यैः न चायं सान्नाय्यावद्यतिः।
३. क० द्वितीयमानत्वं। ४. प्रतिपत्स्यति।

होत्रपूर्वपक्षसदृशः समस्तवाक्यानुवादोऽनर्थक आश्रितो भविष्यति । तेन चोदना पशुसोमयोरिति सिद्धम् ॥ १८ ॥

न्या०सु०—पूर्वसूत्रसमर्थनार्थं गृह्णात्यवद्यतिवाक्यानां कर्मविधित्वपूर्वपक्षकरणेऽप्यधिकरणत्रयस्य समुदायानुवादापवादार्थत्वेन पशुसोमवाक्ययोः समुदायानुवादपूर्वपक्षस्यैव विवक्षितत्वात्तन्निवृत्त्यर्थत्वेन तुशब्दस्थाने वाशब्दं व्याचष्टे—**नैवेति**। पशुसोमवाक्यस्थयोराख्यातशब्दयोः समुदायानुवादत्वनिराससाध्येऽवद्यतिगृह्णातिपराणां प्रत्ययानां यागाचोदकत्वस्य साक्षादहेतुत्वात्पूर्वाधिकरणसिद्धान्तहेतोश्चशब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वादित्यस्य निर्गुणाख्यातश्रुतिविषयत्वेनेहाभावात्तत्पूर्वाधिकरणसिद्धान्तहेतोरप्रकृतत्वादित्यस्य पूर्वाधिकरणेऽपि प्रकृतकर्मसद्भावे निर्गुणश्रुतावपि पौर्णमासीवत्समुदायानुवादापत्तेरपेक्षित्येनानुषक्तस्यात्राप्यनुषङ्गं करोति—**चोदना चेति** । अप्रकृतत्वोपपादनार्थत्वेन प्रश्नपूर्वं सूत्रं योजयति—**कथमिति** । संस्कारविधिष्वपि यागकल्पनं पूर्वपक्षोक्तं निराकर्त्तुमारभते—**तन्मात्रेति** । ऐन्द्रवायवादिवाक्येषु तावत्सोमेन यजेते ति श्रुतयागप्रत्यभिज्ञानात्कल्पनानुपपत्तिमाह—**एवं हीति** । भाष्यमप्यनेन व्याख्यातं भवति । यागानुमानात्प्रागाग्नेयादिवाक्यवत्स्वार्थपर्यवसानं पूर्वपक्षोक्तमनुभाषणपूर्वं परिहरति—**यदुक्तमिति** । अतोऽत्र नियोगापरपर्यायविधिविषयभूतपुंव्यापारलाभाद्वाक्यस्य सङ्गतार्थत्वं पर्यवसानमस्तीत्यर्थः । तल्लाभे पूर्णत्वात् वाक्यान्तरसङ्गतिर्युक्तेति वा योज्यम् । श्लोकं व्याचष्टे—**आग्नेय इति** । समाप्यते शब्देन सङ्गतिशब्दस्य समाप्त्यर्थत्वं व्याख्यातम् ।

ननु ग्रहणभावनालाभेऽपि यागं विना देवतान्वयासिद्धेः कथं वाक्यसमाप्तिरित्याशङ्क्याह—**इदं त्विति** । स्वकार्यक्षमत्वनिबन्धनत्वेनासमाप्तेर्विधिविषयलाभमात्राद्विधानाख्ये कार्ये विधिवाक्यस्य क्षमत्वसिद्धेः, सापेक्षत्वेऽपि समाप्त्युपपत्तिरित्याशयः । सापेक्षत्वनिबन्धनया त्वसमाप्त्या वाक्यान्तरानन्वयेन कस्य चिद्वाक्यस्य वाक्यान्तरानन्वयः स्यादिति दर्शयितुमाह—**सर्वमेव हीति** । समाप्त्यभिधानस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयन्वाक्यान्तरान्वयार्थत्वेन सङ्गतिशब्दं व्याचष्टे—**तेनेति** । न सापेक्षस्यापि वाक्यान्तरान्वये सत्याग्नेयादिवाक्यस्यापि कस्मान्न स्यादित्याशङ्क्य, विधिविषयालाभादित्याह—**आग्नेय इति** । पूर्वपक्षसूत्रस्थचोदनाशब्दसूचितं यागानुमानात् प्रागपर्यवसानं परिहृत्य, अवदानग्रहणयोः पशुसोमस्वरूपनाशकत्वेनोत्पत्तिशिष्टस्य पशुसोमद्रव्यस्य संस्कारलक्षणगुणार्थेन विध्ययोगात्प्रकरणे विधीयमानो हृदयादिरसः संयुक्तो अवदानग्रहणाख्यः पदार्थः अनर्थकः स्यादिति प्रकरणे हीत्यादिसूत्रावयवोक्तं सिद्धान्तदूषणमनुभाषणपूर्वं परिहरति—**अथेति** । सूत्रोक्तस्य दोषस्य सूत्रेणापरिहारे सूत्रकृतः शून्यहृदयत्वापत्तेश्चोदयतेः प्रेरणे स्मरणेन नुदिसमानार्थत्वान्नुदेश्चापनयनाख्ये बाधे प्रयोगाच्चोदकशब्दस्य बाधकवाचित्वमङ्गीकृत्यावदानग्रहणपदार्थाः संस्कारत्वात्पशुसोमयोरबाधका इत्येवमस्मिन्परिहारे सूत्रं योज्यम् । विशसनाभिषवादिना पशुसोमयोर्विनाशात्साधनत्वासम्भवाशङ्का द्वारशब्देन निरस्ता । प्रदेयप्रकृतित्वेनैव पशुसोमयोः साधनतेत्याशयः । श्लोकं व्याचष्टे—**यदीति** ।

ननु 'न हि द्रव्यकथम्भावादतिदेशोऽत्र कल्प्यत' इति संख्याधिकरणवार्त्तिके द्रव्यस्येतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षाया निराकरिष्यमाणत्वान्न पशुसोमयोरितिकर्त्तव्यतान्वयः सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**पश्विति**। संख्याधिकरणपूर्वपक्षे सप्तदशानां पशूनामेकसाधनत्वेन प्रत्येकं साधनत्वाभावादितिकर्त्तव्यतानाकाङ्क्षत्वेऽपीह साधनत्वसद्भावाद्युक्तेतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षेत्याशयः। संस्कारवाक्येभ्य एव पशुसोमयोः प्रदेयप्रकृतित्वेन प्राप्त्युपपत्तेः प्रकृतित्वलक्षणगुणार्थत्वेन विध्ययोगात्प्रकृते हृदयादौ रसे पशुसोमद्रव्यसंयोगोऽनर्थकः स्यादित्येवमर्थाङ्गीकरणेन प्रकरणे हीत्यादिसूत्रावयवोक्तं दूषणमनुभाषणपूर्वं परिहरति—**यत्त्विति**। उत्पत्तिशिष्टविरोधोत्तरस्यापि सौत्रतापिशब्देनोक्ता। पशुसोमयोरविनियोगे क्रयोपाकरणादिवाक्यानां सक्तुहोमादिवाक्यवदारादुपकारिकर्मविधायित्वापत्तेर्न पशुसोमाक्षेपशक्तिरस्तीत्याशयः। या च हृदयादिभिः प्रकृतिद्रव्यापेक्षिते 'छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूही' ति मन्त्रवर्णेन छागलाभात्तदन्तर्गतपशुत्वप्राप्तिरुक्ता। साऽस्य मन्त्रस्य सूक्तवाकादिवच्छ्रुत्यविनियुक्तत्वेनात्यन्ताप्राप्तार्थप्रापणाशक्तेर्विनियोजकस्य लिङ्गस्य सामर्थ्यलक्षणत्वात्तस्य च वाक्यशेषवत्सन्दिग्धार्थनिर्णायकत्वेनार्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वादि'त्यत्र स्थितत्वादयुक्तेत्याह—**न चेति**। कथं तर्हि षष्ठान्त्ये छागप्राप्त्यभिधानमित्याशङ्क्याह—**पश्विति**।

अनेनैव 'यथैव पशुसामान्य' इति वार्त्तिकोक्तस्य पूर्वपक्षस्य निरस्तत्वात्प्रसङ्गेनाथ वा सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वादित्यनेन न्यायेनेत्यादिवार्तिकोक्तं पूर्वपक्षं निरस्यति—**न चेति**। ततश्च साधारणश्चायं तवाप्यानुमानिकयागाभ्युपगम इति यदुक्तम्, तदप्ययुक्तमित्याह—**द्रव्येति**। या च सान्नाय्यावदानप्रकृतित्वेन हृदयाद्यवदानानां यागीयद्रव्यसंस्कारार्थत्वाद्यागानुमापकतोक्ता, सापि सान्नाय्यावदानस्य चतुरवत्तहोमविधिनार्थगृहीतत्वेनाविधेयत्वाद्विधेयानि हृदयाद्यवदानानि प्रति प्रकृतित्वानुपपत्तेः संस्कारार्थत्वस्य चानङ्गत्वेनानतिदेश्यत्वादयुक्तेत्याह—**न चेति**।

नन्वतिदेशाभावेप्यवदानत्वेन हेतुना यागीयद्रव्यसंस्कारार्थतानुमास्यते। अत आह—**न चेति**। पूतीकानभिषुणुयात् 'तत्तमस्मै भक्षं प्रयच्छेदित्यनयोस्तु प्रकृताभिषवभक्षप्रत्यभिज्ञाना' यदि सोमं न विन्देत, यदि सोमं बिभक्षयिषेदित्येकवाक्यत्वाच्च यागद्रव्यार्थत्वविज्ञानं युक्तमिति दृष्टान्तवैषम्यमाह—**प्रतीकेति**। प्रसङ्गाद्यश्चात्र पक्षे विशिष्टविधितुल्यत्वं निरस्यति—**सोम इति**।

नन्वैन्द्रवायवादिवाक्येषु यागविध्यभावे देवताया ग्रहणानन्वयाद्विशेषणविशेष्यत्वशून्ययोर्देवताग्रहणयोर्विधेयत्वापत्तेर्वाक्यभेदप्रसङ्गादालभतिवत्प्रकृतिवल्लिङ्गद्योतनाय गृह्णातिपरप्रत्ययेनैन्द्रवायवं कुर्यादिति वचनव्यक्त्याश्रयणेन विशिष्टयागविधिरवसीयतइत्याशङ्क्याह—**न चेति**। सोमरसमिन्द्रवायुदेवत्यं कर्त्तुं पात्रे गृह्णीयादिति विहिते यागसम्पाद्यत्वाद् द्रव्यदेवतान्वयस्य ग्रहणमात्रेणासिद्धावपि प्रकरणलभ्ययागान्वयासिद्ध्युपपत्तेर्न वाक्यभेद इत्याशयेन प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कुत**। इति देवताग्रहणं चेत्यनेन रूपेण विधेयानेकभावेऽपि

प्रकरणलभ्ययागाख्यक्रियान्तरप्रसादेन देवताविशिष्टग्रहणविधिसम्भव इत्यर्थः। श्लोकं व्याचष्टे—**शक्यते इति**। 'ग्रहैर्जुहोतीतिविध्यर्थस्य ग्रहणपात्रेषु ग्रहणमन्तरेणानिष्पत्तेरर्थप्राप्तग्रहणानुवादसम्भवाद्विशिष्टविधिगौरवमपि नास्तीत्यर्थप्राप्त्यभिधानेनोक्तम्। समासेत्यनेन देवताद्वयनिमित्तवाक्यभेदाशङ्का निरस्ता। यागान्वयं विना ग्रहणस्य देवतान्वयानुपपत्त्या शङ्कानिरार्थत्वेन क्रियान्तरप्रसादेनेति व्याख्यातुम्—**प्रकरणेत्युक्तम्**। देवताग्रहणयोर्यागगुणत्वात्परस्परानपेक्षत्वेऽपि यागद्वारा परस्परान्वयोपपत्तेर्देवताविशिष्टग्रहणविधिसम्भवाभिधानार्थम्—**गुणेत्युक्तम्**। 'यादृशं द्रव्यसम्बद्धमि'त्येतद्वार्त्तिकोक्तं प्रकृतयागसद्भावात्सोमवाक्ये यागविध्यसम्भवं परिहर्त्तुमाह—**तस्मादिति**। सोमवाक्यस्य यागविधित्वे गुणत्रयमाह—**एवं च सतीति**। समुदायानुवादाभावेऽपि राजसूयवत्प्रयोगवाक्यस्थैकत्वसिद्धेर्ज्योतिष्टोमशब्दस्य च सोमद्रव्यकयागवाचित्वाद्दीक्षणीयादिव्यावृत्तिसिद्धेरानर्थक्यमित्याशयः। आद्यसूत्रोक्ताया युक्तेः सिद्धान्तेऽनुपपत्तेः, पूर्वपक्षे तद्योजितम्। पशुसोमवाक्ययोस्तु विधित्वसिद्धान्तोऽतो युक्त एवेति सूचयन्सिद्धान्तमुपसंहरति—**तेनेति**॥ १८॥

भा० प्र०—पूर्व अभ्युपगमवाद में कहा गया है कि प्रकृत याग रहने पर भी अनुवाद नहीं हो सकता है। प्रकृत में दिखाया गया है कि पूर्व में पुरोवाद रूप में किसी याग का उल्लेख नहीं है। पुरोवाद के बिना अनुवाद नहीं हो सकता है। "हृदयस्य" इत्यादि वाक्य से बोधित अवदान अर्थात् खण्डीकरण एवम् "ऐन्द्रवायवं गृह्णाति" इत्यादि वाक्यों से विहित ग्रहण "अचोदका." = याग नहीं है, वरन् "संस्काराः" = संस्कार मात्र है। अवदान एवं शूलभेदन आदि से पशु का संस्कार होता है एवं ग्रहण से सोमरस का भी संस्कार होता है, उसके साथ देवता का स्मरण है वह भी अपूर्व का साधन होता है। "अचोदकाः" = अपूर्व कर्म की विधि नहीं है, "च" = किन्तु "संस्काराः" = ग्रहण संस्कार है॥ १८॥

तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद्भेदो द्रव्यगुणीभावात् ॥ १९ ॥

शा० भा०-पशौ वृत्ता कथा दशमे पुनरुद्भविष्यति। सोम इदानीं वर्तते कथं क्रमसमुच्चयाविति? इन्द्रवाय्वाद्या देवता नैवं श्रूयन्ते इन्द्रवायुभ्यां यागो निर्वर्तयितव्यो, मित्रावरुणाभ्यां यागो निर्वर्तयितव्य इति। यद्येवमश्रोष्यन्त यागं प्रति देवता व्यकल्पिष्यन्त। केवलया हि देवतया तदा यागो निर्वर्त्यत इति विहितमभविष्यत्। अथ पुनरिमा अदृष्टार्थं गृह्णातिसंस्कारं प्रति देवता विधीयन्ते। तत्रेन्द्रवायुसंकल्पादन्यो मित्रावरुणसंकल्पः। तेन गृह्णातौ तत्कृतादवृष्टाददृष्टान्तरमुत्पादयति[1]। एवपरेष्वपि ग्रहणेषु। तस्मात्समुच्चयः।

---

१. ब० उत्पाद्यते।

ग्रहणं च नियतपरिमाणेषूर्ध्वपात्रेषु प्रादेशमात्रेषु नियतपरिमाणेषु द्रोणकलशेषु संस्कृतस्य दशमुष्टिपरिमितस्य[1] कृत्स्नस्य सोमस्य[2] नावकल्पिते। यद्यपि चावकल्पेत[3], तथाऽपि नित्यवद्विहितानां देवतानां विकल्पपक्षे तावत्प्रयोगवचनो मा बाधीति, अवयवग्रहणमेव न्याय्यम्। कृत्स्नग्रहणे[4] हि तदेवेन्द्रवायुभ्यां संकल्पितम्, तदेव मित्रावरुणाभ्यामिति नावकल्पेत। तस्मात्कल्पनभेदात्पृथगवस्थितः सोमो नानादेवतत्वादेव नैक्येन शक्यः कर्तुम्। न चासति यागे देवताभ्यः शक्यते संकल्पयितुम्। तस्मादवश्यं यथासंकल्पिता देवता यष्टव्याः। तासु चेज्यमानासु 'ज्योतिष्टोमेन यजेते'ति श्रुतो यागो निर्वृत्त एव भवति। न देवतान्तरमाकाङ्क्षति। कृत्स्नेन च दशमुष्टिना सोमेन यागः श्रुतः, सोऽसति अभ्यासे नावकल्पत इति, अर्थात्स गुणो भविष्यतीत्यभ्यसितव्यो यागः। न ह्यनभ्यस्तः सर्वाभिर्देवताभिः सर्वेण सोमेन सम्पन्नो भविष्यति। तस्मिंश्चाभ्यस्यमाने क्रमसमुच्चयौ युक्तावेव भवतः। तस्मात्तयोर्दर्शनं युज्यत एवेति॥ १९॥ उपसंहारः॥

भा० वि०—सूत्रस्य सोमविचारविषयत्वं वक्तुं पशुविषयायाश्चिन्तायाः पर्यवसितत्वमाह—**पशाविति**।

ननु पशावपि किं प्रत्यङ्गमवदानं उतैकस्मात्? अथ परिगणितेभ्यो हृदयादिभ्य इत्यादि विचारस्य कर्तव्यत्वात् कथं पर्यवसानमत आह—**दशम इति**। पशोरेकहविष्ट्वं समस्तचोदितत्वादित्यादावित्यर्थः सोमे तु क्रमसमुच्चययोः परिचोदितत्वात् तत्परिहारेण विना न पर्यवसानमित्याह—**सोम इति**। वर्तते कथेत्यनुषङ्गः। तामेवाह—**कथमिति**। एवं परिचोदनापरिहारं प्रतिज्ञातमुपपादयति—**इन्द्रवाद्या इति**। यदि वाक्येनैव दध्यादीनामिव होमेन देवतानामपि यागेन सम्बन्धः श्रूयेत ततस्तद्वदेवान्योन्यनिरपेक्षैर्वाक्यैस्तुल्यार्थत्वेन ज्ञायमाना विकल्पभाजो भवेयुरिति न क्रमसमुच्चयावुपपद्येयाताम्, इमाः पुनः प्रकरणेन यागसम्बन्धं प्रतिपद्यमाना अपर्यायमेव तेन सम्बध्यन्त इति न विकल्पावकाश इत्यर्थः।

ननु वाक्येन यागसम्बन्धेऽपि कथं विकल्पप्राप्तिरत आह—**यद्येवमिति**। तत्र हेतुः—**केवलयेति**। अन्यनिरपेक्षयेति यावत्। नन्विहापि ग्रहणद्वारादेवतानां यागान्वयात् तत्र च वाक्येन प्रत्येकमेव विनियोगात् प्रत्येकं तुल्यार्थतया विकल्पोऽवसीयत इत्याशङ्क्याह—**अद्य पुनरिति**। ग्रहणस्य स्वरूपेण दृष्टार्थत्वेऽपि

---

१. ब० दशमुष्टेः कृत्स्नस्य।
२. ब० सोमरसस्य।
३. ब० वावकल्पेत।
४. ब० कृत्स्नग्रहणेऽपि यद्देवेन्द्र।

देवतोद्देशस्य विधीयमानस्यादृष्टार्थतया तद्विशिष्टरूपेण तस्याप्यदृष्टार्थतैवेत्यर्थः तत्र च विधीयमानदेवताभेदात् ग्रहणस्यापि भेद इत्याह—**तत्रेति**। ग्रहणभेदे तज्जन्यादृष्टभेदमाह—**तेनेति**। गृह्णातौ मित्रावरुणसङ्कल्पे तत्कृतादिन्द्रवायुसङ्कल्पकृतादित्यर्थः। अश्विनादिष्वप्यदृष्टभेदमाह—**एवमपरेष्विति**। तेनायं सूत्रार्थः—पूर्वसूत्रस्थसंस्कारशब्दोऽवस्थापितग्रहणविशेषणभूतो देवतासंयोगस्तच्छब्देन परामृश्यते ततश्च देवतासंयोगभेदाद्ग्रहणकर्मणोऽभ्यास इत्युक्तं भवति।

ननु गृहीतस्य ग्रहणमनर्थकमत आह—**द्रव्यपृथक्त्वादिति**। ग्रहणसंस्कार्यद्रव्यपृथक्त्वादर्थवत्तेत्यर्थः। कथं देवतोद्देशभेदस्य ग्रहणाभ्यासहेतुतेत्याशङ्कां निरस्यति—**अनर्थकं स्यादिति**। सकृद्ग्रहणेनेकदेवतोद्देशस्यावश्यकत्वेनानुष्ठानायोगात् तच्छ्रवणमनर्थकं स्यात् इत्यर्थः। अतो भिन्नार्थत्वाद्देवतानां समुच्चयोपपत्तिरित्यभ्यासप्रयोजनमाह—**भेद इति**। ग्रहणकर्मण इति शेषः।

ननु देवतोद्देशभेदेन द्रव्यभेदेऽप्येकस्मिन् ग्रहणे बन्धने खादिरादिवद्विकल्पेनानेकद्रव्यान्वयसम्भवादनेकदेवतान्वयोपपत्तेः न देवतोद्देशभेदाद्ग्रहणाभ्यासकल्पना युक्तेत्याशङ्क्याह—**द्रव्यगुणीभावादिति**। बन्धनस्य खादिरादिकान् प्रति गुणाभावाभावेन तद्भेदेऽपि भेदाभावात् खादिरादीनां विकल्पेनान्वयः ग्रहणस्य तु द्रव्यं प्रति गुणीभावात्तद्भेदेन भेदान्न विकल्पेन द्रव्यान्वय इत्यर्थं इति सूत्रार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति**। दृष्टार्थत्वेऽपि ग्रहणस्य ग्राह्यभेदात् समुच्चयसिद्धिमाह—**ग्रहणं चेति**। ग्रहणं च कृत्स्नस्य सोमरसस्य समुच्चयं विनावकल्पत इत्यध्याहारेणान्वयः। कुत इत्यत आह—**दशमुष्टीति**। दशमुष्टीर्मिमीत इति वचनात् तावन्मात्रपरिमितसोमरसस्येत्यर्थः। ननु दशमुष्टेरप्यभिषवे सति रसस्याल्पत्वादेकस्मिन्पात्रे ग्रहणोपपत्तेर्न ग्राह्यभेदस्तत्राह—**नियतपरिमाणेषूदककलशोष्विति**। पात्रमहत्त्वाशङ्कानिरासाय नियतेत्यादि विशेषणम्। नियतत्वमेवाह—**प्रादेशेति**।

ननु कृत्स्नग्रहणसमर्थमहापरिमाणपात्रोपादाने तस्मिन्नेव कृत्स्नस्य ग्रहणं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**यद्यपि चेति**। तथापि नावकल्पेतेत्यन्वयः, श्रुतपरिमाणपात्रत्यागेनाश्रुतपात्रान्तरोपादानानुपपत्तेरित्याशयः। इतश्चावयवग्रहणमेव न्याय्यं न कृत्स्नग्रहणमित्याह—**नित्यवदिति**। यदि च नित्यवद्विहितानामप्यैकार्थ्यं भवेद्व्रीहियवादिवदगत्या विकल्पाश्रयणं न त्वेतदस्तीत्याह—**कृत्स्नस्येति**। यद्द्रव्यमिन्द्रवायुभ्यां दातव्यमिति सङ्कल्पितं तस्य त्यक्तप्रायस्य मित्रावरुणाभ्यामपि त्यागानुपपत्तेरित्यर्थः।

नन्ववयवशो ग्रहणेन ग्राह्यभेदाद्ग्रहणाभ्यासोपपत्तेः तद्विषयकक्रमसमुच्चयदर्शनोपपत्तावप्यवयवशो गृहीतस्यापि सोमरसस्यैकीकरणेन कृत्स्नस्य सङ्क-

त्यागोपपत्तेः । तृतीयो हूयत इति यागविषयकक्रमसमुच्चयदर्शनानुपपत्तिरित्याशङ्कां निरसितुमपि सूत्रं योजयति—**तस्मादिति**। एकीकरणे प्रकल्पनभेदस्य वैयर्थ्यापत्तेः पृथगवस्थितसोमसंभावनार्थमभ्यसितव्यो याग इत्यर्थः । एवं च तद्भेदात्प्रकल्पनभेदादेव प्रकल्पितद्रव्यपृथक्त्वात् यागकर्मणोऽभ्यास इति सूत्रावयवो व्याख्यातः । एकीकरणसम्भवे हेत्वनन्तरमनर्थकं हि स्यादिति सूत्रावयवं व्याचष्टे—**नानेति**। एकीकरणे यथा सङ्कल्पितानां देवतानां स्वैःस्वैर्भागैः पृथक् पृथक् संबन्धानुपपत्तेरित्यर्थः ।

नन्वेकीकरणसम्भवेऽप्येकेनैव भागेन विहितयागनिष्पत्तेरश्रुताभ्यासकल्पना न युक्तेत्याशङ्क्याह—**न चेति**। देवताविशिष्टस्य ग्रहणस्य यागाङ्गत्वात् इत्यर्थः । तथापि किमित्याशङ्क्य देवताभेदाद्यागाभ्याससिद्धिरित्याह—**तस्मादिति**। ज्योतिष्टोमशब्दस्याभ्यस्तरूपयागवाचित्वादपि न यागैक्यमित्याह—**तासु चेति**। सर्वास्वेवेज्यमानासु ज्योतिष्टोमेनेति श्रुतो यागो निवृत्तो भवति नैकस्यां देवतायामित्यर्थः ।

ननु ज्योतिष्टोमस्येन्द्रवाय्वादिदेवतानिर्वर्त्यत्वे तद्भेदात् भेदः स्यात् देवतान्तरनिर्वर्त्यत्वे तु नैवमत आह—**न देवतान्तरमिति**। श्रुतदेवतात्यागेनाश्रुतकल्पनानुपपत्तेररूपत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । यागाभ्यासे हेत्वन्तरं भेदो द्रव्यगुणीभावादिति सूत्रावयवं व्याचष्टे—**कृत्स्नेन चेति**। असत्यभ्यास इति ग्रहणसाधनत्वाद्यागस्य तत्र च ग्रहणं चेत्यादिनाभ्यासस्योक्तत्वादित्यर्थः । स गुणो भविष्यतीति । स याग ऐन्द्रवायवादिसोमगुणस्तदधीनो भविष्यतीत्यर्थः । एवं द्रव्यदेवताभेदान्यथानुपपत्त्या यागभेदमभिधादान्यथोपपत्तिं जानीते—**न हीति**। इति शब्दः सूत्रव्याख्यानसमाप्त्यर्थः अभ्यासोपपादनप्रयोजनमाह—**तस्मिंश्चेति**। परिचोदनापरिहारमुपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ १९ ॥

त० वा०—क्रमसमुच्चययोः पशावपरिचोदितत्वाद् वृत्ता कथा 'पशोरेकहविष्ट्वम्, इत्यत्रोद्भविष्यति—किं समस्तादवदातव्यमुत प्रत्यङ्गमुतैकस्मादथवा हृदयादिभ्यः परिगणितेभ्य इति ।

सोमे तु परिचोदनापरिहारोऽभिधीयते—

वाक्येन यदि यागस्य श्रूयेरन् देवताः पृथक् ।
व्यकल्पिष्यन्त सर्वास्तु युगपद्यागसंगताः ॥
यत्र वाक्येन सम्बन्धो निरपेक्षेण[1] चोद्यते ।
तत्र तुल्यार्थवर्तित्वान्नोपपन्नः समुच्चयः ॥

१. क० निरपेक्षोऽवधार्यते ।

यद्यैन्द्रवायवेन यजेत, इन्द्रवायुभ्यां वा यागं निर्वर्तयेदिति श्रूयेत, ततोऽन्योन्यनिरपेक्षैर्वाक्यैस्तुल्यार्थत्वेन ज्ञायमाना विकल्पभाजो भवेयुः। इमाः पुनर्ग्रहणसम्बद्धाः श्रुताः प्रकरणेन यागसम्बन्धं प्रतिपद्यन्ते। न च प्रकरणव्यापारः पर्यायः, येनान्योन्यनिरपेक्षाः सम्बध्येरन्। सर्वग्रहणेषु हि युगपदितिकर्तव्यतात्वेन गृहीतेषु तद्गता देवतास्तन्मात्रेणापर्यवस्यन्त्यः प्रकरणिना योगेनाऽऽकाङ्क्षिता युगपदेव सम्बध्यन्ते।

विकल्पप्रयोजकवर्णनम्

तत्र नाम विकल्पो युज्यते, यत्रेतरेतरनिरपेक्षाः समानार्थे नियुज्यन्ते। किं कारणम्?

प्रत्येकं हि समर्थत्वं वाक्यादेवावधारितम्।
सापेक्षत्वे विपद्येतेत्येवं सर्वं विकल्पते॥

न त्विह प्रत्येकं ज्योतिष्टोमनिर्वर्तनसामर्थ्यमिन्द्रवाय्वादीनामवगम्यते, तादृग्विनियोजकाभावात्। सत्यपि च प्रत्येकं यागनिर्वर्तनसामर्थ्ये, तद्विशेषज्योतिष्टोमनिर्वृत्तिर्यथावचनं विज्ञायत इति, नैव प्रत्येकं तुल्यार्थत्वम्। प्रत्येकं तुल्यार्थाश्च व्रीहियवादयो विकल्पन्ते। वाक्यसंयोगिनो हि ते परस्परनिरपेक्षाः स्वेन स्वेन वाक्येन विनियुज्यन्ते।

ननु 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' इति वाक्यमेव त्रिनियोजकमुपलभ्यते। अतश्च 'मैत्रावरुणम्' इत्येतस्य पूर्वनिरपेक्षमेव देवताविधिसामर्थ्यं विज्ञायते। सत्यम्। ग्रहणं प्रत्यन्योन्यनिरपेक्षा विधीयन्ते, न तु तत्रैकार्थत्वम्, अदृष्टार्थत्वात्। कथमदृष्टार्थत्वमिति चेत्?

उच्यते।

पूर्वं प्रधानसम्बद्धं संस्कारे श्रूयते यदि।
यद् दृष्टार्थं विना तेन यदि वाऽसौ न सिध्यति॥

यदि हि प्रथमं यागेन सम्बद्धाः सत्यो देवता निर्वापावाहनादिष्विव ग्रहणेषु पुनः श्रूयेरन्, यदि वा ताभिर्विना ग्रहणमेव न निर्वर्तेत, ततस्तत्र श्रवणं दृष्टार्थमनागतस्मृतिरूपेण कल्पेत। न त्विन्द्रवाय्वादयः प्रथमं ज्योतिष्टोमे श्रुताः। नापि तदभावेन ग्रहणं सिध्यति। तत्रैवं च सत्यपि यत् देवतायुक्तं ग्रहणं कर्तव्यमिति श्रूयते, तत्रादृष्टादृते न किंचित्प्रयोजनमस्ति।

ननु च यागस्यैता देवता भविष्यन्तीति ज्ञात्वा विनाऽपि प्रथमविनियोगेन तद्विषयस्मृत्यर्थत्वं विज्ञायते?

नैतदस्ति । कुतः ?

सर्वेण विधिवेलायां प्रयोजनमपेक्ष्यते ।
तद्वेलायामतः कल्प्यो दृष्टादृष्टार्थनिर्णयः ॥

'ऐन्द्रवायवं गृह्णाति' इत्येतद्वाक्यप्रवृत्तिकाले किं प्रयोजनमित्यपेक्षा भवति । तत्र यद्यपि प्रकरणवशादिति कर्तव्यतात्मकस्य ग्रहणस्य यागसम्बन्धः कथमपि भवतीत्यवधार्यते, तथाऽपि देवतानामन्यसंयुक्तत्वादक्रियारूपत्वाच्च न प्रकरणेन यागार्थत्वं विज्ञायत इत्यवश्यम्, यागसम्बन्धनिरपेक्षं तावद् ग्रहणं प्रति प्रयोजनं कल्प्यमित्यदृष्टकल्पनमापद्यते । तस्मिंस्तु शास्त्रवेलायामवधारिते यद्यनुष्ठानकाले दृष्टमप्यनुनिष्पादि भवति, केन तन्निवार्यते । न तु तेन शास्त्रप्रवृत्तिः प्रतिबध्यते । तेन प्रतिवाक्यं देवतासंयोगानामदृष्टार्थत्वात्समुच्चयः । तत्र 'न च यत्समित्सं-बन्धेन क्रियते तत् तनूनपात्सम्बन्धेन' इत्यनेन न्यायेनभेदेन श्रुता देवता ग्रहणसम्बद्धा नोपपद्यते, यदि ग्रहणं नाऽऽवर्तते इति, प्रतिदेवतं सोमो ग्रहीतव्यः ।

सूत्रार्थवर्णनम्

एषे तावत्सूत्रार्थः—तद्भेदात्—देवतासंयोगभेदाद् ग्रहणकर्मणोऽभ्यासः देवता-संयुक्तग्रहणसंस्कार्यद्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि संयोगान्तरश्रवणमननुष्ठीयमानमनर्थकं स्यात् । तेन ग्रहणस्य भेदः, संस्कार्यं द्रव्यं प्रति गुणभावात् । एतद्देवतावन्ति ग्रहणानि यागप्रक्रमात्मकत्वान्न यागादृते देवतार्थं द्रव्यं संस्कर्तुं शक्नुवन्तीत्येवम-पेक्षिते, भविष्यति कश्चिद्यागो य एतानि देवतासंबन्धमापादयिष्यतीति । यागोऽपि चाविहितदेवताकः श्रुतिलिङ्गवाक्यैर्देवतामलभमानः प्रकरणस्य चेदृशे वस्तुन्य-क्रियात्मके व्यापाराभावाद् ग्रहणेषु तावद्विनियोजकं भवति। तानि चापर्याय-विधानाद्भिन्नादृष्टसंबन्धित्वाच्च युगपद् गृह्यन्ते, तद्वशेन देवतानामपि समुच्चयसिद्धिः ।

ननु प्रकरणगृहीतानामप्येकार्थानां पुरोडाशविभागमन्त्रप्रभृतीनामिष्यत एव विकल्पः । सत्यमिष्टः न तु तत्र प्रकरणं केवलं व्याप्रियते । लिङ्गानुमितया श्रुत्या प्रत्येकं विभागाङ्गत्वे विज्ञाते, दर्शपूर्णमासविभागार्थत्वमात्रं प्रकरणाद्भवति, विभागान्तरेऽप्यानर्थक्यात्[1] । तत्र यद्यपि दर्शपूर्णमासौ समुच्चयेन गृह्णीतः, तथाऽपि न विभागद्वारनिरपेक्षयोः सामर्थ्यमस्ति । यच्च द्वारम्, तत्-द्विकल्पेनावरुद्धं न समुच्चयगम्यम् । इह पुनर्विपरीतमेव[2] तत् । यान्येव हि द्वाराणि ग्रहणानि, तेष्वेव देवताः समुच्चिताः । तत्र प्रत्येकं ग्रहणयोग्योऽपि द्वारसमर्पणवशेन प्रवर्तमानः किमिदानीं करिष्यति ।

---

१. क० विभागान्तरेष्वानर्थक्यात् । २. क० विपरीतमेतत् ।

ननु ग्रहणानामपि प्रत्येकं द्रव्यप्रकल्पनरूपेण देवतासमर्पणेन च प्रधानोपकार-सामर्थ्यमस्तीति, विभागमन्त्रवद्विकल्पेन भवितव्यम्। भवेदेवं यदि पूर्वं नानादेवतो यागोऽवगतः स्यात्। ततस्तदर्थोऽयं द्रव्यप्रकल्पनभेद इत्यवगम्यते, न न त्वसावेवमवगत इति प्रकल्पनभेदाम्नानमदृष्टार्थं विज्ञायते। अवश्यं च गुणात्प्र-कल्पनानि भेत्तव्यानि। न ह्येकस्मिन्प्रकल्पने युगपत्, पर्यायेण वा देवताः संकल्पयितुं शक्यन्ते। यौगपद्यं तावत्क्रमवर्तिन्या वाचा नैव शक्यम्, अदेवताभूत एव समुदायः संकल्पितः स्यात्। न हीन्द्रवाय्वादिसमुदाये देवतात्वं केनचिदुक्तम्। प्रतिपदोत्पन्नैस्तद्धितैः प्रत्येकं प्रतीयमानत्वात्। न च क्रमेणोद्देशः। कथम् ?

द्रव्यस्य गृह्यमाणस्य देवतोद्देशचोदना।
न चैकां देवतां मुक्त्वा तदुद्देशस्य सम्भवः॥

यदि तु प्रागूर्ध्वं वा ग्रहणादुद्दिशेत्, अचोदितमेव कुर्यात्।

किं च—

एतस्या इति संकल्प उद्देशोऽत्ताभिधीयते।
अन्यस्मिन्क्रियमाणे च पूर्वस्तत्र विपद्यते॥

यद् द्रव्यमिन्द्रवायुभ्यां दातव्यमिति संकल्पितम्, तस्य त्यक्तप्रायत्वादनंशो यजमानः कथमिव वक्ष्यति मित्रवारुणाभ्यामेतदेवेति। तत्रैकामुद्दिश्य देवतान्तर-संकल्पे क्रियमाणे पूर्वदेवतातस्तद् द्रव्यमाच्छिन्नं स्यात्। पूर्वसंकल्पालोचनेन वा नैवोत्तरः पारमार्थिकत्वं प्रतिपद्यत इत्यसत्संव्यवहारमात्रमेवानुष्ठीयेत, न चोदनार्थः। तेनावश्यं यावद्देवतं ग्रहणभेदः कर्तव्यः।

किं च—

शक्यते चागृहीतेऽपि यत्र क्वचिदवस्थिते।
द्रव्येऽस्मिन्देवतोद्देष्टुमित्यदृष्टार्थता विधेः॥

देवतोद्देशस्वत्वत्यागात्मको हि यागः। शक्यते च पूयमानावस्थेनापि सोमेन क्रयोत्तरकालं वा सर्वावस्थावियुक्तेनापि निर्वर्तयितुमित्यशेषोत्तरसंस्कारविधानम-दृष्टार्थम्। यत्र तु पुरोडाशादि द्रव्यं चोद्यते, तत्र यावदवहन्त्यादिविधानं सत्सर्वं तन्निष्पत्त्यर्थत्वाद् दृष्टार्थं भवति। न च[1] ग्रहचयसस्थेन सोमेन यष्टव्यमित्युत्पत्ति-चोदना, लतामात्रपर्यवसानात्। तेनाऽत्मीयादृष्टभेदनिर्वृत्त्यर्थमपि ग्रहणानि समुच्चेतव्यानि। 'दशमुष्टीर्मिमीते' इति च प्रकरणे परिमाणं श्रुतम्। अतः 'सोमेन यजेत्' इत्येतद्वचनमेव विशेष्यते दशमुष्टिना सोमेन यजेतेति। स च नियतपरिमाणोनोदकेनाभिषुतोऽल्पपरिमाणेषु भिन्नेषु ग्रहचमसेषु न ग्रहणभेद-

---

१. .. क० न चेह।

मन्तरेण शक्यते ग्रहीतुमिति, भेदेन गृह्यते। तथावस्थेन च यागो निर्वर्तयितव्यः। सोऽप्यनभ्यस्तस्तथाऽवस्थितं न शक्नोति सर्वं संभावयितुमिति प्रयोजनवशेनाभ्यस्यते।

तेन तत्रापि सूत्रम्—तद्भेदात् प्रकल्पितसोमभेदाद्यागकर्मणोऽभ्यासः, स्वीकृतद्रव्यपृथक्त्वादशेषमत्यज्यमानमनर्थकं स्यात्। अत उत्पत्तौ सकृच्छ्रुतस्यापि वाक्यान्तरप्रकल्पितावस्थौत्पत्तिकद्रव्यगुणत्ववशेनानुष्ठानभेदः।

तद्धि द्रव्यमवश्यं यथागृहीतमेव दातव्यम्। पुनरेकीकरणे पूर्वकृतग्रहणभेदवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न च यथासंकल्पिताः स्वैर्भागैर्देवताः सम्बध्येरन्। न च त्यागकाले सर्वाः संकल्पयितुं शक्यन्ते, येनाभ्यासभीतैः सर्वोद्देशेन सकृदेव सर्वं द्रव्यं मिश्रीकृतं दीयेत। तथा कृतेऽपि च भागसंकरः प्राप्नोत्येव। प्रकल्पिते च भागनानात्वे वचनादृतेऽवश्यं परिहार्या संकरापत्तिः। तस्माद्यथासंकल्पितस्य प्रदानात्सर्वदेवतासमुच्चये सत्युपपन्नमेतत्—'दशैतानध्वर्युः प्रातःसवने ग्रहान्गृह्णाति' 'आश्विनो दशमो गृह्यते' 'तं तृतीयं जुहोति' इति। तेन सिद्धमेककर्मत्वम् ॥ १९ ॥

न्या० सु०—पशुविषयायाश्चिन्तायाः पर्यवसितत्वं भाष्योक्तमुपपादयति—**क्रमेति**। कत्राधिकरणे कीदृशी वोद्धव्यिष्यतीत्यपेक्षायामाह—**पशोरिति**। 'अग्नीषोमीयं पशुमालभेते'ति तद्धितेनाष्टाकपालादिवत्समस्तपशोर्देवतान्वयात्प्रदेयत्वलक्षणविष्ट्वावगतेः 'समस्तादवदाने पशोरेकहविष्ट्वं समस्तचोदितत्वादि'ति सूत्रेण पूर्वपक्षिते प्रत्यङ्गं वा ग्रहणवदङ्गानां पृथक्प्रकल्पनादिति सूत्रेण पशुस्वरूपस्य विशसनेन नाशितत्वात्प्रदेयत्वानुपपत्तेः पृथक्कल्पितेभ्यश्च हृदयादिभ्योऽवदानविधानात्, तद्धितोक्तस्य देवतान्वयस्य साक्षादसम्भवादगत्या व्यवहितविषयत्वावगतेः प्रत्यङ्गं हविष्ट्वेनावदानस्य सिद्धान्तयिष्यमाणत्वात्प्रत्येकमङ्गानां हविष्ट्वविवक्षयोत प्रत्यङ्गमित्युतशब्दं पूर्वन्निपात्य साङ्गानां हविष्ट्वे सिद्धे तद्विशेषचिन्तायां सर्वाङ्गविवक्षया प्रत्यङ्गमुतैकस्मादित्यावृत्त्या योज्यम्। हृदयजिह्वावक्षोयकृद्वृक्कौ सव्यन्दोरुभे पार्श्वे दक्षिणाश्रोणिगुदं तृतीयमित्येकादशदैवतान्यवदानानि परिगणितानि।

सोम इति परिहारप्रतिज्ञाभाष्यं व्याचष्टे—**सोमेत्विति**। इन्द्रवाय्वा इति परिहारभाष्यं व्याचष्टे—**वाक्येनेति**। ततो विकल्पिष्यन्ते इत्यध्याहारेण यदिशब्दान्वयः, वाक्यव्यतिरेकवाचिना तुशब्देन प्रकरणसूचनात्प्रकरणेन तु यागसङ्गतत्वात्सर्वासां समुच्चय इति, सर्वशब्देन समुच्चये सूचिते। प्रकरणेनाप्यन्वये तुल्यार्थत्वाद् विकल्पः कस्मान्न भवतीत्याशङ्क्य अन्योन्यनैरपेक्ष्येणान्वयाभावाद्विकल्पानापत्त्यभिधानार्थम्—**युगपदित्युक्तम्**। वाक्येनान्वये समुच्चयः कस्मान्न भवतीत्याशङ्क्य, यत्र 'दध्ना जुहोतीत्या'दौ वाक्येनान्वयश्चोद्यते, तत्र तुल्यार्थत्वादसमुच्चय इत्युक्ते, प्रकरणेनाप्यन्वये तुल्यार्थत्वाविशेषमाशङ्क्या-

न्योन्यसापेक्षतुल्यार्थत्वाभावात्समुच्चयानापत्यभिधानार्थं निरपेक्षेणेत्यनेन पृथक्शब्दोक्तं नैरपेक्ष्यं व्याख्यातम् । आद्यं श्लोकं व्याचष्टे—यदीति । य इमाः पुनरित्यादियुगपदेव सम्बन्ध्यन्तइत्यनेन सर्वास्त्विति श्लोकावयवो व्याख्यातः । देवतानामक्रियात्मकत्वात् प्रकरणग्रहणानुपपत्तिमाशङ्क्य, सर्वेत्यनेन ग्रहणाख्यक्रियाद्वारा तदुपपादितम् । द्वितीयं श्लोकं व्याचष्टे—तत्र नामेति । एतदेव प्रश्नपूर्वकमुपपादयति—किमिति ।

नन्विन्द्रवाय्वादीनां देवतात्वेनैव सामर्थ्यात्प्रत्येकं च देवतात्वावगतेः प्रत्येकमेव सामर्थ्यमवसीयतइत्याशङ्क्याह—नन्विति । ननु त्यज्यमानद्रव्योद्देश्यत्वमात्रेण देवताया यागनिष्पादकत्वात्प्रत्येकमेव चोद्देश्यत्वप्रतीतेरेकैकया देवतयाऽस्त्वेव यागसिद्धिरित्याशङ्क्याह—सत्यपि चेति । यागरूपनिष्पत्तावपि यागाभ्यासात्मकज्योतिष्टोमरूपनिष्पादनसामर्थ्यस्य शब्दैकसमधिगम्यत्वाद्देवताविनियोजकशब्दकल्पनायाश्च प्रकरणाधीनत्वात्तस्य चापर्यायप्रवृत्तित्वान्न प्रत्येकं सामर्थ्ये प्रमाणमस्तीत्याशयः ।

नन्वेकार्थास्तु विकल्पेरन्समुच्चये ह्यावृत्तिः स्यात्प्रधानस्ये१२-३-८ति द्वादशाधिकरणे तुल्यार्थत्वमात्रेण विकल्पस्य वक्ष्यमाणत्वात् प्रत्येकत्वविशेषणमयुक्तमाशङ्क्याह—प्रत्येकमिति । 'दधिमधुपयोघृतं धाना उदकं तण्डुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यमि'ति चित्रेष्टिद्रव्याणां तुल्यार्थत्वेऽप्यन्योन्यसापेक्षत्वेन विकल्पाभावाद्विशेषणार्थवत्तेत्याशयः । दृष्टान्तेऽन्योन्यनैरपेक्ष्यमुपपादयति—वाक्येति ।

ननु ग्रहणद्वारा देवतानां यागान्वयात्, तत्र च वाक्येन प्रत्येकमेव विनियोगात्प्रत्येकं तुल्यार्थताऽवसीयत इत्याशङ्कानिरासार्थं भाष्यकारस्यादृष्टसंस्काराभिधानमितिसूचयितुमाशङ्कां तावदाह—नन्विति । ग्रहणसंस्कारस्यादृष्टार्थत्वेन प्रमाणान्तरतो भेदाभेदानवधारणान्न तादर्थ्येन विहितानां भिन्नानां देवतानामैकार्थ्ये प्रमाणमस्तीत्याशङ्कानिरासार्थमथ पुनरित्याद्येवमपरेष्वपि, ग्रहणेष्वित्यन्तं भाष्यं ग्रहपात्रे सोमग्रहणं विना 'ग्रहैर्जुहोती'तिविध्यर्थानिष्पत्तेर्ग्रहणस्य दृष्टार्थत्वादयुक्तमाशङ्क्योद्देश्यत्वेन देवताया ग्रहणसाधनत्वाद्यागवच्च ग्रहणस्य देवतोद्देशाधीननिष्पत्तित्वाभावेन ग्रहणं देवतोद्देशस्यादृष्टार्थत्वात्तद्विशिष्टरूपेण ग्रहणस्यादृष्टार्थताभिप्रेतेति सूचयन्परिहरति—सत्यमिति । ग्रहणे देवतान्वयस्यादृष्टार्थत्वान्नैकार्थ्यमिति वदता ग्रहणसंस्कारार्थत्वेन देवताविधानाद् तत्र देवतोद्देशस्य दृष्टार्थत्वायोगात् ग्रहणेनादृष्टः संस्कारो जन्यत इति भाष्यार्थः—सूचितः ।

ननु निर्वापादिष्विव देवतोद्देशस्य यक्ष्यमाणदेवतास्मृत्यर्थत्वान्नादृष्टार्थतेत्याशङ्कते—कथमिति । ग्रहणान्वयात्प्राग्देवताया यागेऽन्वये सति देवतास्मृत्या प्रधानोपकारसिद्धेर्ग्रहणे देवतोद्देशः स्मृत्यर्थः स्यात्, नत्विह तथास्तीति परिहरति—उच्यतइति । नन्वन्यत्राविनियोगेअपि यागवद्ग्रहणे देवतोद्देशस्यादृष्टार्थत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य, विनेत्युक्तम् । देवतोद्देश्ययागावयवत्वात्तेन विना यागासिद्धेर्यागसिद्ध्यर्थमेव तत्रोद्देशः । ग्रहणावयवत्वाभावात्तु नोद्देशेन विना ग्रहणसंस्कारासिद्धिरित्याशयः । श्लोकं व्याचष्टे—यदि हीति । ततःशब्देन तदित्यव्ययं व्याख्यातम् । श्रवणशब्देन कर्मव्युत्पत्त्या देवतावाचिशब्दाभिधानाद्देवतोद्देशोऽदृष्टार्थ-

मिति नपुंसकलिङ्गसिद्धयर्थं विवक्षितः। ननु प्राग्यागान्वयानवगमेऽपि ग्रहणान्वयद्वारा यागान्वयज्ञानात्तत्स्मृत्यर्थत्वाविरोध इत्याशङ्कते—**ननु चेति**। विधीयमानस्य देवतोद्देशस्य प्रयोजनापेक्षावेलायां देवतास्मृतेः प्रधानोपकारित्वानवगमेन प्रयोजनत्वयोग्यत्वानवधारणात्प्रयोजनत्वकल्पना न युक्तेत्याशयेन प्रतिज्ञाहेतुप्रश्नपूर्वं परिहरति—**नैतदिति**।

ननु विधीयमानाया एव देवतायाः प्रकरणात्प्रधानार्थत्वावगतेः तत्स्मृतेः प्रयोजनत्वयोग्यतावधारयिष्यतइत्याशङ्कां निरस्यन् श्लोकं व्याचष्टे—**ऐन्द्रवायवमिति**। देवतानां वाक्येन ग्रहणसंयोगादसंयुक्तग्राहिणा प्रकरणेनाऽग्राह्यत्वेऽभिहिते व्रीहिप्रोक्षणादिवदविरोधात्संयुक्तस्यापि ग्राह्यत्वोपपत्तिमाशङ्क्य, अक्रियात्मकत्वेन प्रकरणग्रहणायोग्यतोक्ता। ननु पश्चादपि देवतास्मरणस्य प्रयोजनत्वयोग्यतावधारणे दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पना न न्याय्येत्याशङ्क्याऽनुनिष्पादिनोऽपि शास्त्रेण प्रयोजनतयाऽनङ्गीकृतत्वान्न तेन शास्त्रस्यादृष्टप्रयोजनकल्पने—**प्रवृत्तिः प्रतिबध्यतइत्युक्तम्**। तस्यापीत्युपसंहारभाष्यं देवतोद्देशसमुच्चयद्वारग्रहणसमुच्चयाभिधानार्थत्वेन व्याचष्टे—**तेनेति**।

नन्वदृष्टार्थत्वाद्देवतोद्देशसमुच्चयेऽपि ग्रहणानां स्वरूपेण दृष्टार्थत्वाद्विकल्पो भविष्यतीत्याशङ्क्य, न चेत्यभ्यासाधिकरणभाष्योक्तगुणभेदनिमित्तकर्मभेदन्यायाभिधानम्। यदि ग्रहणानि न समुच्चीयन्तइति वाच्ये भेदानभ्युपगमेऽभ्यासेनापि समुच्चयः स्येत्स्यतीति प्रौढिप्रदर्शनार्थम्—**नावर्त्ततइत्युक्तम्**। अत्रैव सूत्रं योजयति—**एष तावदिति**। यागाभ्यासविषयतया वक्ष्यमाणार्थान्तरसूचनार्थस्तावच्छब्दः। संस्कारशब्दोक्तेन ग्रहणेन विशेषणभूतदेवतासंयोगोपस्थापनात्तच्छब्देन परामर्शोपपत्तिः गृहीतस्य ग्रहणायोगाशङ्कानिरासार्थं द्रव्यपृथक्त्वादिति सूत्रावयवपूरणार्थम्—**देवतासंयुक्तेत्युक्तम्**। कथम्, देवतोद्देशभेदस्य ग्रहणाभ्यासे हेतुतेत्याशङ्कानिरासार्थमनर्थकं हीत्यवयवं सकृद् ग्रहणेनैकदेवतोद्देशस्याशक्यत्वेनानुष्ठानायोगात्तच्छ्रवणानर्थक्याभिधानार्थत्वेन व्याख्यातुम्—**संयोगान्तरेत्युक्तम्**। अतो भिन्नार्थत्वाद्देवतानां समुच्चयोपपत्तिरित्यभ्यासोक्तिप्रयोजनाभिधानार्थत्वेन भेदशब्दं व्याख्यातुम्—**तेनेत्युक्तम्**। देवतोद्देशस्य द्रव्यविषयत्वादेकस्मिश्च द्रव्येऽनेकदेवतोद्देशायोगात्प्रकृतिप्रत्ययपौर्वापर्यनियमाच्च धात्वर्थभेदेन भावनाभेदवत्प्रकृत्यर्थदेवताभेदेन प्रत्ययार्थद्रव्यभेदस्य न्याय्यत्वाद्देवतोद्देशभेदेन द्रव्यभेदेऽप्येकस्मिन् ग्रहणे बन्धने खादिरत्वादिविकल्पेनानेकद्रव्यान्वयसम्भवेनाऽनेकदेवतान्वयोपपत्तेर्न देवतोद्देशभेदाद्ग्रहणाभ्यासकल्पना युक्तेत्याशङ्कानिरासार्थं द्रव्यगुणीभावादित्यवयवं पूरयितुम्—**संस्कार्यमित्युक्तम्**। खादिरादेस्त्वसंस्कार्यत्वेन बन्धनं प्रति गुणत्वान्न बन्धनभेदोपपादकतेत्याशयः।

ननूक्तप्रकारेण ग्रहणे देवतोद्देशस्यादृष्टार्थत्वात्तत्समुच्चयेन ग्रहणाभ्यासप्रतीतेर्दशमो गृह्यते, दश गृह्णातीति ग्रहणविषयक्रमसमुच्चयदर्शनोपपत्तावपि विना तेन 'यदि वासौ न सिद्धयतीत्'यनेनैव न्यायेन यागे देवतोद्देशस्य दृष्टत्वात्प्रकरणगृहीतानामपि देवतानां विभागमन्त्रादिवद्विकल्पोपपत्तेः, यागाभ्यासानापादकत्वा'त्तृतीयो हूयते' इति यागविषये क्रमसमुच्चयदर्शने नोपपद्येयातामेवेत्याशयेनाशङ्क्याह—**एतद्देवतावन्तीति**। देवतासंयोगानाम-

दृष्टार्थत्वादित्यनेनैव देवतासमुच्चयस्योक्तत्वाद्यागेऽपि देवतानां समुच्चयसिद्धिरिति प्रतिज्ञाने, तदुपपादनार्थमिन्द्रवाय्वादिदेवतायुक्तानां ग्रहणानां द्रव्यदेवतान्वयापादकयागापेक्षत्वाद्यागस्य च श्रुत्यादित्रयालभ्यमानदेवतत्वेनाविहितदेवताकतया देवतापेक्षत्वात्प्रकरणस्य चाक्रियात्मकदेवताविनियोगे व्यापाराभावाद् ग्रहणविनियोगद्वारा देवताविनियोजकत्वावगतेर्देवताविशिष्टात्मना च ग्रहणानामदृष्टार्थत्वाद्यागप्रकरणेन समुच्चितानां ग्रहणमुक्तं तद्विनियोजकमिति तच्छब्दोऽध्याहार्यः।

ननु भगो वां विभजत्वित्यादिमन्त्राणां प्रकरणग्राह्यत्वेऽपि विकल्पदर्शनान्न यागे देवतासमुच्चयसिद्धिरित्याशङ्कते—**नन्विति**। मन्त्राणामप्यक्रियात्मकत्वेन साक्षात्करणाग्राह्यत्वात्पौरोडाशिकसमाख्यया लब्धसामान्यसम्बन्धेन लिङ्गेन विभागाङ्गत्वज्ञानोत्तरकालं तद्द्वारा प्रकरणेन ग्रहणाल्लिङ्गेन च विभागे विकल्पेन मन्त्रविनियोगाद्वैषम्यमाह—**सत्यमिति**।

ननु समाख्ययैव सामान्यसम्बन्धलाभे प्रकरणानपेक्षेण लिङ्गेन त्रैयम्बकपुरोडाशविभागेऽपि मन्त्रविनियोगापत्तेः प्रकरणबाधान्न दार्शपौर्णमासिकपुरोडाशविभागमात्रार्थत्वं स्यादित्याशङ्क्य—**विभागान्तरेष्वित्युक्तम्**। आनर्थक्यपरिहारायापूर्वसाधनलक्षणार्थं प्रकरणमप्यनुग्राह्यमित्याशयः। ग्रहणानां भेदेऽपि सामान्यरूपेणैक्यविवक्षया देवतासमुच्चयाभिधानम्। नन्वेवमपि यागस्य प्रत्येकं देवताग्रहणसमर्थत्वाद्विकल्पो भविष्यतीत्याशङ्क्य—**तत्रेत्युक्तम्**। ननु द्वारभूतानां ग्रहणानामपि यागीयद्रव्यपृथक्करणार्थत्वेन दृष्टार्थत्वाद्देवतोद्देशस्यापि च यागापेक्षितदेवतासमर्पणेन दृष्टार्थत्वोपपत्तेर्विकल्पस्य न्याय्यत्वात्तद्द्वाराऽपि प्रविष्टानां देवतानां विकल्प एव युक्त इत्याशङ्कते—**नन्विति**। एकदेवतासमर्पणेन यागस्य नैराकाङ्क्ष्यसिद्धेरनेकदेवताविशिष्टग्रहणाम्नानानर्थक्यप्रसङ्गाद्देवताविकल्पार्थे चानेकाम्नाने गुणपरत्वेन ग्रहणभेदकत्वायोगाद् ग्रहणस्य भेदाभावेन विकल्पानुपपत्तेस्तद्द्वारा देवताविकल्पायोगादनेकदेवताविशिष्टग्रहणानुष्ठानायैवानेकाम्नानस्याङ्गीकार्यत्वादनेकदेवत्ययागानवगतेश्चानेकदेवताविशिष्टग्रहणानुष्ठानस्य दृष्टार्थत्वायोगाद्विकल्पानुपपत्तिरिति परिहरति—**भवेदिति**। ग्रहणस्य दृष्टार्थत्वेऽपि तद्भेदस्यादृष्टार्थतेति भेदशब्देनोक्तम्।

ननु पुनः श्रुतेर्देवतान्वयार्थत्वेन भेदकत्वाभावाद् ग्रहणस्य भेदानुपपत्तेस्तत्राप्यैकार्थ्याद्देवतानां विकल्पापत्तेः कथं तद्द्वारा यागे समुच्चयः स्यादित्याशङ्क्याह—**अवश्यं चेति**। निर्गुणग्रहणाश्रुतेः केन चिद्वाक्येन देवताविशिष्टग्रहणापत्तेरङ्गीकार्यत्वाद्वाक्यान्तरैरुत्पत्तिशिष्टदेवतावरुद्धग्रहणे देवतान्तरविध्यशक्तेः ग्रहणान्तराण्येव विधीयन्तइत्याशयः। वस्त्वशक्तेरपि गुणस्यात्र भेदकतोत्पत्त्यतिशयं वक्तुमारम्भते—**न हीति**। युगपत्तावत्सर्वोद्देशोऽशक्य एवेत्याह—**यौगपद्यं तावदिति**। नन्विन्द्रवायुमित्रावरुणाद्यास्तैः प्रातिपदिकैर्निर्दिश्य सर्वान्ते सकृच्चतुर्थ्युच्चारणेन सर्वा युगपदुद्देष्टुं शक्या इत्याशङ्क्याह—**अदेवताभूत एव चेति**। सकृच्चतुर्थीनिर्देशे समुदायो देवत्वेनोद्दिष्टः स्यात्। न चास्य देवतात्वमस्तीत्यर्थः। विशिष्टविधिना विशेषणक्रमोद्देशासम्भवं प्रतिज्ञाहेतुप्रश्नपूर्वमुपपादयति—**न चेति**। विशिष्टविधिना विशेषण-

विशेष्ययोर्देवतोद्देशग्रहणयोरिन्द्रवायूद्देशविशिष्टं ग्रहणं कार्यमिति युगपद्विधानाद्भागाख्यकरणभेदेन च यौगपद्यसम्पादनशक्तेर्विक्षेपः । ननु ज्ञानाद् गृह्यमाणे द्रव्ये देवतोद्देशः कार्यः । न च ग्रहणकाले सर्वदेवतोद्देशः शक्य इत्यर्थः । त्रिचतुरदेवतोद्देशसम्भवेऽप्यल्पाभिप्रायेण—**एकमित्युक्तम्** । नचैककाल्यासम्भवेऽपि प्रागूर्ध्वं वा ग्रहणप्रत्यासन्ने काले क्रमेण सर्वोद्देशः सम्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**यदि त्विति** । (प्राकृतदेवतोद्देशनाशापत्तेरपि क्रमेणोद्देशो न भवतीत्याह—**किं चेति** । दास्यामीति त्यागरूपतेतिकरणेन परामृष्टा । श्लोकं व्याचष्टे—**यदिति** ।[1]) एकदेवतोद्देशेन त्यक्षामीति सङ्कल्पितस्य । तदानीमित्युक्तस्यान्यन्यत्राविनियोज्यत्वम्—**प्रायशब्देनोक्तम्** । 'इन्द्रवायुभ्यां गृह्णामी'ति शब्दोच्चारणरूपस्योद्देशस्याध्वर्यवत्वेऽपि त्यागसङ्कल्परूपोद्देशं विना तस्यापर्यवसानात्, तस्य च यजमानादन्येन कर्त्तुमशक्यत्वात्—**यजमानइत्युक्तम्** । पूर्वपक्षीऽयुक्ते रुपलक्षणार्थत्वम्—**पूर्वसङ्कल्पेत्यनेनोक्तम्** । गुणहेतुकभेदाक्तिमुपसंहरति—**तेनेति** ।

एवं ग्रहणस्वरूपस्य दृष्टार्थत्वेऽपि देवतोद्देशविशिष्टरूपेणादृष्टार्थत्वाभिधानपरतया भाष्यं व्याख्याय, इदानीं स्वरूपेणैव दृष्टार्थत्वाभिधानपरतया व्याख्यातुमाह—**किं चेति** । श्लोकं व्याचष्टे—**देवतोद्देशेति** । प्रकरणालोचनेन रसस्य प्रदेयत्वावसायात्, तत्सिद्धेश्च पाचनाद्यसंस्काराधीनत्वात्पूयमानावस्थेनेत्युक्तम् । उत्पत्तिवाक्यमात्रालोचने तु लतायाः प्रदेयत्वप्रतीतेः, क्रयातिरिक्तसंस्काराणामदृष्टार्थत्वं प्रौढ्या वक्तुं क्रयोत्तरकालतोक्ता । रसविधानमेव पुरोडाशादिवैषम्याभिधानेन सूचयितुमाह —**यत्र त्विति** । ननु 'ग्रहैर्जुहोति, चमसैर्जुहोती'ति विध्यर्थस्य ग्रहचमसपात्रेषु ग्रहणमन्तरेणासिद्धेः तत्सिद्ध्यर्थत्वाद् ग्रहणं दृष्टार्थमेवेत्याशङ्क्याह—**न चेति** । ग्रहचमसविध्योरप्यदृष्टार्थत्वात्, तद्द्वारा ग्रहणस्यापि प्रधानं प्रति दृष्टोपकारित्वाभावाददृष्टार्थतेत्याशयः । सोमस्य यागसाधनत्वविधिकाले ग्रहचमसस्थत्वविधौ सत्यन्यत्रस्थस्य साधनत्वाभावाद् ग्रहचमसस्थत्वं दृष्टार्थं स्यात् । उत्तरकालं तु प्रकरणालोचनयागवत्तस्यापि तत्स्थत्वस्य साधनानन्तर्गतेरदृष्टार्थतेति सूचनायोत्पत्तिशब्दः । अतो न केवलं नानादेवतोद्देशजन्यादृष्टभेदनिष्पत्त्यर्थंग्रहणानि समुच्चेतव्यानि, किं तु स्वजन्यादृष्टभेदनिष्पत्त्यर्थमपीत्यदृष्टार्थत्वोक्तिप्रयोजनमाह—**तेनेति** । दृष्टार्थत्वेऽपि ग्रहणस्य ग्राह्यभेदात्समुच्चयाभिधानार्थं 'ग्रहणं चे'ति भाष्यं व्याचष्टे—**दशेति** । 'कृत्स्नस्य ग्रहणं नावकल्पत'इत्यभिधानमनिष्टापादकत्वादयुक्तमाशङ्क्य, समुच्चयं विनेत्यध्याहारेण व्याख्यातुं स कृत्स्नः सोमो न ग्रहणभेदमन्तरेण शक्यते—**ग्रहीतुमित्युक्तम्** । दशमुष्टेरभिषवे सति रसस्याल्पत्वादेकस्मिन्पात्रे ग्रहणोपपत्त्याशङ्कानिरासार्थत्वद्रोणकलशेषु संस्काराभिधानं व्याख्यातुम्—**नियतेत्युक्तम्** ।

यानि चैवाभिषूयन्ते पुष्पमूलफलैः शुभैः । इति—

मिश्रीकरणेऽभिषुणोतिप्रयोगदर्शनात् मिश्रीकृतवाच्यभिषुतशब्दः प्रादेशमात्रोक्तिप्रयोजनमल्पशब्देनोक्तम् ।

---

१. अयं पा० २ पु० मा० ।

नन्वयागसाधनभूतसोमावयवग्रहणस्यादृष्टार्थत्वोपपत्तेः कृत्स्नस्यैव ग्राह्यताया न्याय्यत्वात्कृत्स्नग्रहणसमर्थमहापरिमाणपात्रोत्पादनेनैकस्मिन्पात्रे कृत्स्नस्य सोमस्य ग्रहणमुपपत्स्यतइत्याशङ्कानिरासार्थं यद्यपि चेत्यादिनाऽवकल्पेतेत्यन्तं भाष्यं श्रुतपरिमाणपात्रकलशत्यागेनाश्रुतपात्रान्तरोत्पादनाशङ्कानुपपत्तेर्नित्यवद्विहितानामपि चैकार्थ्ये व्रीहियवादिवदगत्या विकल्पाश्रयणोपपत्तेर्देवतासमुच्चयशङ्कानिरासार्थस्य कृत्स्नस्य ग्रहणं हीतिभाष्यावयवस्यैतस्या इति सङ्कल्प इत्यादिवार्त्तिकेन व्याख्यातार्थत्वान्न व्याख्यातम् । नन्ववयवशो ग्रहणेन गृह्यभेदाग्रहणाभ्यासोपपत्तेस्तद्विषयक्रमसमुच्चयदर्शनोपपत्तावप्यवयवशो गृहीतस्यापि सोमस्यैकीकरणेन कृत्स्नस्य सकृद्यागसाधनत्वोपपत्तेस्'तृतीयो हूयते' इति यागविषयक्रमसमुच्चयदर्शनानुपपत्तिरित्याशङ्कानिरासार्थं 'तस्मादित्या'दिभाष्यं तात्पर्यस्तावद्व्याचष्टे—तथावस्थेन चेति । भेदेन गृहीतस्य सोमस्यैकीकरणायोगाद्भिदावस्थितस्यैव यागनिष्पादकत्वावगतेरनभ्यस्तस्य च यागस्य तथावस्थितसर्वसोमविषयसमीहितकार्योपयोगित्वकरणलक्षणसम्भावनयाभ्यसितव्यो याग इत्यर्थः । येन कारणेन यागाभासो भाष्यकृतोक्तः तेन कारणेन ग्रहणाभ्यासवद्यागाभ्यासेऽपि सूत्रं योज्यमित्याह—तेनेति । योजयति 'तद्भेदादिति' दृष्टार्थत्वे ग्रहणस्य भेदकप्रमाणाभावेन भेदायोगाद्भाष्यकृतोक्तं तद्भेदमनाहृत्य, संस्कारेण संस्कार्यद्रव्योपस्थापनात्तच्छब्देन परामर्शः । यागवेलायामेकीकरणे प्राक् पृथक्करणमनर्थकमिति भाष्यकृद्व्याख्यानं सूत्रादप्रतीतेरनादृत्य यागानभ्यासे द्रव्यपृथक्त्वमनर्थकमित्येवं व्याख्यातुम्—अशेषमित्युक्तम् । पश्ववयवानामिव सोमावयवानामप्यसर्वत्यागोपपत्तिमाशङ्क्यैकादशपशोरवदानानीति वदिहावयवान्तरपरिसंख्याभावात्पशुवैषम्याभिधानार्थत्वेन पृथक्कृतस्य कृत्स्नस्य द्रव्यस्य यागं गुणीभावाद्यागानुष्ठानभेद इत्येवं व्याख्यातुम्—अत इत्युक्तम् । 'अङ्गैः स्विष्टकृतं यजतीत्या'दिना अवयवान्तराणामन्यत्र विनियोगवत्सोमावयवानामन्यत्राविनियोगेनानर्थक्यपरिहारायोगसूचनार्थोऽतः शब्दः । वाक्यान्तरैः कल्पिताभेदावस्था यस्यौत्पत्तिकस्य द्रव्यस्य, तस्य यद्यागं प्रति गुणत्वं तदंशेनेत्यर्थः । तात्पर्यतो व्याख्यातं भाष्यवयवशो व्याचिख्यासुरनर्थकं हि स्यादिति सूत्रावयवव्याख्यानार्थं नानेति भाष्यं कथमशक्यतेत्यपेक्षायामुपपादयितुमाह—तद्धीति । सूत्रावयवोक्तोपपत्त्यभिधानात्तद्व्याख्यानार्थतैकदेश्यनिरासभाष्यस्य सूचिता । भाष्योक्तामुपपत्तिं व्याचष्टे—न चेति । पुनरेकीकरणइत्यनुषङ्गः । भागव्यवस्थानुपपत्त्याशयेन भाष्योक्तामुपपत्तिं व्याख्याय, सर्वदेवतोद्देशानुपपत्त्याशयेन व्याचष्टे—न चेति । प्रस्तरप्रहरणोत्तमप्रयाजवत्क्रमेण सर्वा देवता उद्दिश्य सर्वत्यागोपपत्तेः सर्वदेवतोद्देशानुपपत्तिपरिहारसम्भवेऽपि भागव्यवस्थानुपपत्तिरशक्यपरिहरेत्याह—तथा कृतेऽपि चेति । सर्वदेवतोद्देशेन सकृद्दाने कृतेऽपीत्यर्थः ।

ननु वायव्यैन्द्रवायववत्सङ्करोऽपि न दोषायेत्याशङ्क्याह—प्रकल्पिते चेति । सङ्करे भागनानात्वकल्पनानर्थक्यापत्तेरेकपात्रा गृह्यन्ते इति वच्चेत्सङ्करविध्यभावात्सङ्करोऽनर्थक इत्याशयः । नन्वैकध्यकरणाशक्तावप्येकेन भागेन विहितयागनिष्पत्तेर्नाश्रुताभ्यासकल्पना युक्तेत्याशङ्कानिरासार्थं 'न चेति भाष्यमेतद्देवतावन्ति ग्रहणानीत्यादिवार्त्तिकेन व्याख्यातार्थत्वात् ज्योतिष्टोमशब्दस्याभ्यस्तयागरूपवाचित्वेनाभ्यासस्य ज्योतिष्टोमश्रुत्युक्तत्वा-

भिधानार्थं च 'तासु चेति' भाष्यं न त्विह प्रत्येकं ज्योतिष्टोमनिर्वर्त्तनसामर्थ्यमित्यादिवार्त्तिकेन सर्वास्वेवेज्यमानासु श्रुतो ज्योतिष्टोमाख्यो यागो निर्वृत्तो भवति नैकस्यां देवतायामिति व्याख्यातार्थत्वान्न देवतान्तरमिति च भाष्यं प्रकृतदेवताविनिर्वृत्यत्वादेव च श्रुतो यागो न देवतान्तरमाकाङ्क्षत्यन्यथा देवताशून्यत्वेनारूपत्वाच्छ्रुतो यागो न निर्वर्तेतेत्येवं स्पष्टार्थत्वात्कृत्स्नेन चेत्यादि च भाष्यं 'देश मुष्टीर्मिमीत' इति चेत्यादिवार्त्तिकेन भाष्यान्तरव्याख्यानार्थेनापि तस्मात्प्रकल्पनभेदादिभाष्यसमुदायतात्पर्यव्याख्यानार्थतयाऽवस्थितेन चेत्यादिवार्त्तिकसहितेनार्थाद्भेदो द्रव्यगुणीभावादिति सूत्रावयवव्याख्यानार्थत्वेन व्याख्यातत्वादव्याख्याय तस्मिंश्चेत्येत्यभ्यासोपपादनप्रयोजनाभिधानाभिधार्थं तस्मादिति परिचोदनापरिहारोपसंहारार्थं च भाष्यं निगमनपूर्वकमेकहेलया व्याचष्टे—**तस्मादिति**। दशेति ग्रहणसमुच्चयदर्शनं दशम इति क्रमदर्शनं तृतीयमित्येकमेव प्रकृत्यंशेन समुच्चयदर्शनं प्रत्ययांशेन च क्रमदर्शनं यथासङ्कल्पितस्य पृथगवस्थितस्य कृत्स्नस्य सोमस्य प्रदानात्सर्वदेवतासमुच्चयाच्चोपपन्नमित्यर्थः। समुदायानुवादापवादस्य कर्मभेदापवादसिद्धयर्थत्वाल्लक्षणसङ्गतिरप्यस्तीति सूचयन्नधिकरणार्थमुपसंहरति—**तेनेति** ॥ १९ ॥

भा० प्र०—इस प्रकार आशङ्का की जा सकती है कि "सोमेन यजेत" इस वाक्य को विधि मानने पर इसके द्वारा एक याग का ही विधान होगा, किन्तु ऐसा मानने पर इस याग में ऐन्द्रवायव आदि अनेकानेक देवता का सम्बन्ध श्रुतियों में कहा गया है, वह सम्भव नहीं होगा, क्योंकि एक याग में एक से अधिक वाक्य में अनेक देवता की विधि रहने पर देवताओं का समुच्चय नहीं हो सकता है, वरन् विकल्प ही होगा। इस प्रकार की आशङ्का के उत्तर में कहा जाता है—"तद्भेदात् कर्मणः अभ्यासः" इस स्थल में देवता का भेद रहने से विहित सोमग्रहण रूप कर्म का अभ्यास अर्थात् आवृत्ति या अनेक बार अनुष्ठान करना होगा, क्योंकि "द्रव्यपृथक्त्वात्" सोम द्रव्य का पृथक्त्व यतः दशमुष्टि सोम के ग्रहण की विधि है और वह एक देवता का सङ्कल्प करने से प्रत्येक देवता के ही रहते हैं, ऐसा न मानने पर "अनर्थकं स्यात्" इस प्रकार देवता के सम्बन्ध का उपदेश अनर्थक होगा। इसलिए देवता का समुच्चय होगा, अतः यह विकल्प होता है—यह न कहकर सभी देवताओं के साथ याग का सम्बन्ध रहता है।

"तद्भेदात्" = देवता के सम्बन्ध का भेद होने से "कर्मणः अभ्यासः" = विहित ग्रहण रूप कर्म का अभ्यास अर्थात् आवृत्ति पुनः-पुनः अनुष्ठान करना होगा, "द्रव्यपृथक्त्वात्" = ग्रहण के द्वारा संस्कार्य द्रव्य का अर्थात् सोम का पृथक्त्व अर्थात् भेद होने से "हि" = क्योंकि "अनर्थकम्" = संयोगान्तर का अर्थात् द्रव्यान्तर के सम्बन्ध का जो श्रवण अर्थात् श्रुतियों में उल्लेख रहने से उसके अनुसार अनुष्ठान न होने पर वह अनर्थक होगा। "द्रव्यगुणीभावात्" क्योंकि द्रव्य के प्रति गुणीभाव अर्थात् अङ्गत्व रहने से अर्थात् संस्कार्य द्रव्य के प्रति ग्रहण का गुणीभाव होने से अर्थात् ग्रहण संस्कार्य द्रव्य का गुण होता है ॥ १९ ॥

संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वाद् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् ॥ २० ॥

शा० भा०—यदप्युच्यते—यथा खादिरे बध्नाति, पालाशे[1] बध्नाति, इति खादिरादयः संस्कारे विकल्पन्ते, तद्वद्देवता विकल्पयिष्यन्त इति। तच्च नैवं युक्तम्। तत्र संस्कारमभिनिर्वर्तयितुं खादिरादयः श्रूयन्ते। यदि चेन्द्रवाय्वाद्या अपि ग्रहदेवता[2] यागमभिनिर्वर्तयितुं श्रुयेरन्, ततोऽत्रापि विकल्पः स्यात्। न त्वेता यागे श्रुताः। तस्मात्समुच्चीयेरन् ॥ २० ॥ आशङ्कानिरासः ॥ इति षष्ठं पशुसोमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

भा० वि०—देवतानां विकल्पेन यागान्वये पराभिमतं दृष्टान्तं दूषयति—संस्कारस्त्विवति। चोद्यमनूद्योत्तरत्वेन सूत्रं व्याचष्टे—**यदपीत्यादिना**। तत्र हि बन्धनाख्यसंस्कारमभिनिर्वर्तयितुं तद्गुणभावेन श्रूयमाणानां खदिरादीनां भेदेऽपि न बन्धनभेद इति खदिरादयो वकल्प्यन्त इति युक्तमित्यर्थः। देवतास्तु नैवमित्याह—**यदि चेति**। देवताविशिष्टद्रव्यं प्रति गुणभावस्योक्तत्वादित्यर्थः। विकल्पासंभवफलमाह—**तस्मादिति** ॥ २० ॥

त० वा०—प्रयोजनं पूर्वपक्षे सोमविकारेष्वेकस्यैव ग्रहस्य धर्मैः सकृदनुष्ठानेन भवितव्यम्। सिद्धान्ते तु प्रकृतितुल्यमेवाऽनुष्ठानमिति ॥ २० ॥

इति षष्ठं पशुसोमाधिकरणम् ॥ ६ ॥

वृत्तिकारमतेन

प्रयोजनविचारः

न्या० सु०—ननु कर्मैक्येऽपि तत्तद्देवतोद्देशेन पृथक् द्रव्यत्यागे सत्यनुष्ठाने विशेषाभावात्किं चिन्तायाः प्रयोजनमित्याशङ्क्याह—**प्रयोजनमिति**। प्रकृतौ विशेषाभावेऽपि कर्मभेदे सत्यकर्मणि त्रिकल्पो विभागो हि चोदनैकत्वादित्याष्टमाधिकरणन्यायेनैकस्यैन्द्रवायवादिवाक्यविहितस्य यागस्य विकृतौ विकल्पेन विध्यन्तातिदेशाद्विकल्पेनैकस्य धर्माः कार्या सकृच्च यागः, कर्मैक्ये यथा प्रकृतीति विशेष इत्यर्थः। ऐन्द्रवायवादिवाक्यैश्च यागविधावैन्द्रवायवेन यजेतेति वचनव्यक्त्यापत्तेर्ज्योतिष्टोमस्यापि स्वार्थविहितद्रव्यदेवतावत्त्वलक्षणव्यक्तचोदनत्वा-देकाहाहीनसत्रेष्वव्यक्तचोदनत्वेन ज्योतिष्टोमसादृश्याभावान्न तदीयविध्यन्तप्रवृत्तिः सोमवाक्ये। ननु विधौ द्रव्यश्रवणेऽपि स्वार्थविहितदेवताराहित्येन ज्योतिष्टोमस्याप्यव्यक्तचोद-

---

१. ब० पालाशे बध्नाति इति नास्ति। २. ब० ग्रहपदं नास्ति।

नत्वात्तत्सादृश्येनै काहादिषु ज्योतिष्टोमिकविध्यन्तप्रकृतिरिति । प्रयोजनान्तरं त्वव्यक्तासु तु सोमस्येत्यष्टमाधिकरणेन सुज्ञानत्वान्नोक्तम् ॥ २० ॥

इति षष्ठं पशुसोमाधिकरणम् ।

भा० प्र०—यदि पूर्वपक्षी यह कहता है कि "खादिरे बध्नाति" "पालाशे बध्नाति" अर्थात् "खदिर के काष्ठ के यूप में बाँधे" "पलाश के काष्ठ के यूप में बाँधे" इत्यादि स्थलों में जैसे खदिर आदि का विकल्प होता है वैसे ही देवता का भी विकल्प होता है, ऐसी स्थिति में यह कहा जायगा कि "संस्कारस्तु न भिद्यते" ऐसे स्थलों में खण्ड बन्धन रूप संस्कार का भेद अर्थात् अनेक बार अनुष्ठान नहीं होता है, कारण "द्रव्यस्य परार्थत्वात् गुणभूतत्वात्" द्रव्य यूप बन्धन रूप संस्कार निष्पादन के लिए होने से जिस किसी एक यूप के द्वारा ही बन्धन रूप संस्कार सम्पादित होता है। यूप रूप द्रव्य संस्कार का अङ्ग होने से अङ्ग के अनुरोध में जो संस्कार रूप प्रधान की आवृत्ति अर्थात् पुनः पुनः अनुष्ठान होगा, वह भी नहीं हो सकता है। इसलिए यूप का ही विकल्प होता है। किन्तु ग्रह के अर्थात् सोम पात्र के इन्द्र, वायु आदि जो देवता उपदिष्ट हुए हैं, वे याग के सम्पादन के लिए उपदिष्ट नहीं हुए हैं। इसलिए यूप के समान उनका विकल्प नहीं होगा, वरन्, ये ग्रह के देवता हैं ग्रह अनेक हैं एवं सभी को सोम ग्रहण भी करना होगा इसलिए उनका समुच्चय ही होगा।

"संस्कारः तु" = किन्तु पशुबन्धन रूप संस्कार, "न भिद्यते" = भिन्न-भिन्न नहीं होता है, "द्रव्यस्य" = यूप रूप द्रव्य का, "परार्थत्वात्" = परार्थत्व होने से अर्थात् यूप बन्धन सम्पादन के लिए होने से, "गुणभूतत्वात्" = गुण भूत ही होता है ॥२०॥

यह छठा पशुसोमाधिकरण है।

अथ सप्तमं संख्याधिकरणम्

[७] पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेदः स्यात् ॥ २१ ॥ सि०

शा० भा०—अस्ति वाजपेयः—'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इति। तत्र प्राजापत्याः पशवः। 'सप्तदश प्राजापत्यान्पशूनालभते'—सप्तदशो वै प्रजापतिः। प्रजापतेराप्त्यै। श्यामास्तूपरा एकरूपा भवन्ति, एवमेव हि प्रजापतिः समृद्ध्यै। तत्र संदिह्यते–किं सप्तदशैतानि कर्माणि, अथ सप्तदशपशुगुणकमेकं कर्मेति। किं तावत्प्राप्तम्? एकं कर्मेति। कुतः? प्रजापतये सप्तदश पशवः संकल्प्यन्ते। किमेकं यागमभिनिर्वर्तयितुम्, उत बहूनिति संशये, एकमिति न्याय्यम्। यो हि बहून्यागान्कल्पयति, कल्पयत्यसावेकम्। तत्रैकस्मिन्नेव

परिक्लृप्ते सप्तदशानामेव पशूनां परिकल्पनमुपपन्नं[1] भवति। केन च द्वितीयादीन्यागानवकल्पयेम। एवमल्पीयस्यदृष्टानुमानप्रसङ्गकल्पना[2] भवति। तस्मादेको यागः सप्तदशभिः पशुभिर्निवर्तयितव्य[3] इति। एवं प्राप्ते—

ब्रूमः—संख्यया कर्मभेदो भवेत्। पृथक्त्वे पशूनां सति सप्तदशसंख्या निविशेत। तच्च पशूनां पृथक्त्वं बहुषु यागेष्ववकल्पते, नैकस्मिन्। कथम्? एकादशभिरवदानैरसौ यागो निर्वर्तयितव्य इत्येवं चोदकः प्रतिदिशति। तानि चैकस्मादेव पशोरवाप्यन्ते। तत्र द्वितीयादेरालम्भो नावदानसम्पादनाय भवितुमर्हति। एकमालभ्यदानमन्वालभ्येरन्नदृष्टार्थायापरे[4]। तथा सति, अतदर्थत्वान्न ते प्राजापत्या भवेयुः। तत्र प्राजापत्यानिति श्रवणमुपरुध्यते। तेनैकस्मिन्पशौ पृथक्त्वनिवेशिनी[5] सप्तदशसंख्या नावकल्प्येत। बहुषु यागेषु बहुभिरेवावदानगणैः प्रयोजनम्। तेन सप्तदशभ्यो यागेभ्यः सप्तदश पशूनुपाददीरन् तत्र संख्यासामञ्जस्यं भविष्यति। तस्मात्सप्तदश यागाः।

नन्वेकस्मिन्नपि यागे सप्तदशभिरवदानगणैर्यक्ष्यते, वचनात्। नैतदेवम्[6]। पशुषु हि सा संख्या श्रूयते, नावदानगणेषु। अवदानानि हवींषि यागसाधनानि, न पश्वाकृतिः। सा ह्यवदानप्रकृतिद्रव्यं विशिषन्ती[7] प्रकृतौ प्रधानस्योपकृतवतीति, विकृतावप्यवदानप्रकृतिद्रव्यं विशिषन्ती प्रधानस्योपकरिष्यति। तत्र च पशोः सप्तदशसंख्या विकारिका, नावदानगणस्य। तस्मादेकस्मै अवदानगणायैकः पशुरालब्धव्यः प्राप्नोति। तत्र सप्तदशसंख्या नोपपद्यते। एवमेवावकल्पिष्यते, यदि शृङ्गाभिप्राया, वर्णाभिप्राया[8], रूपाभिप्राया वाऽभविष्यन् सप्तदश पशवः श्वेतः कृष्णो रोहित इत्येवमादयः। तेषामन्यतमो गृह्यत इति।

अथवा तूपराः शृङ्गिण एकशृङ्गा इत्येवमादयस्तेषामन्यतम इति। ते हि श्यामास्तूपरा एकरूपाः श्रूयन्ते। तदेषु[9] बहुषु यागेषूपपद्यते, नैकस्मिन्। तस्मात्सप्तदश यागा इति।

प्रयोजनम्—एकस्मिन्नष्टे, दुष्टे, कृत्स्नः पशुगण आवर्तेत। एकमालभ्यमानमन्वालभेरन्[10] पूर्वपक्षेऽदृष्टार्थम्। सिद्धान्त एक एव पशुरावर्तते। न हि कर्मभेदे पशुः पश्वन्तरमाकाङ्क्षतीति[11] ॥ २१ ॥ इति सप्तमं संख्याधिकरणम् ॥ ७ ॥

---

१. व० संकल्पनं। २. ब० अनुमानकल्पना। ३. क० निर्वर्त्यते।
४. व० अदृष्टयापरे। ५. क० पृथक्त्वं निवेशिनी। ६. व० नैतत्।
७. व० विशिषंती प्रधानस्य। ८. व० एतत्पदं नास्ति। ९. व० तदेतद्बहुषु।
१०. व० अन्येत्वालभ्येरन् अस्मिन्पक्षे अदृष्टार्थाः। ११. व० पशुः पशुमाकांक्षतीति।

भा० वि०—प्रयोजनं पूर्वपक्षे सोमविकारेष्वेकस्यैव च ग्रहस्य सकृदनुष्ठानेन च भवितव्यम्। सिद्धान्ते यथाप्रकृतीतिपृथक्त्वनिवेशितत्वात्सङ्ख्यया कर्मभेदः स्यात्। एवमभ्यासभेदनिमित्तभेदापवादभूतायाः पौर्णमास्यधिकरणकृतायाः समुदायानुवादचिन्तायाः अपवादत्वेन येयं चिन्ता अधिकरणत्रयेण कृता तस्यां समाप्तायामपवाद्यद्वारेणाभ्यासचिन्तायाः बुद्धिस्थत्वादभ्यासस्य चासकृच्छ्रवणरूपत्वादिह च सकृच्छ्रुतेरभ्यासप्रत्युदाहरणरूपेण पूर्वपक्षोत्थानात्सङ्गतिः। वृत्तिकारोदाहरणेन तिस्र आहुतीर्जुहोतीत्यादौ कर्मण्येव सङ्ख्याश्रवणात्पूर्वपक्षाशङ्का मन्देति मत्वा विषयान्तरमाह—**अस्तीति**। अत्र प्रजापतिर्देवता अस्येति प्राजापत्य इति तद्धितमुत्पाद्य प्रजापत्यश्च प्राजापत्यश्चेति सप्तदशकृत्व उच्चार्य सरूपैकशेषः क्रियते, किं वा सास्यदेवतेति सर्वनामार्थे तद्धितस्मरणात् प्रजापतिर्देवतैषामिति कृतैकशेषेण सर्वनाम्ना निर्दिश्य तद्धितः क्रियते इत्यनिर्धारणात् संशयमाह—**तत्रेति**। प्रश्नपूर्वकं पूर्वपक्षमाह—**किमिति**। ननु देवताविशिष्टद्रव्याणां यागकल्पकानामनेकत्वात् कथमेकत्वमिति पृच्छति—कुत इति। विमर्शपूर्वकमेकत्वे युक्तिमाह—**प्रजापतय इति**। प्राजापत्यशब्दस्यैकशेषत्वकल्पने तस्यावृत्तिपूर्वकत्वात् केवलप्रत्ययप्रयोगासम्भवेन प्रकृतिनिरपेक्षप्रत्ययावृत्त्ययोगात् प्रकृतिप्रत्यययोर्द्वयोरप्येकशेषकल्पनापत्तेर्गौरवं स्यात्, सर्वनाम्नस्त्वेकशेषकल्पने गौरवानावत्तिरतश्च कृतैकशेषेण सर्वनाम्नाभिहितस्य द्रव्यसमुदायस्य प्रजापतिनैकेन संयोगात् द्रव्यदेवतासंयोगैक्येन यागैक्योपपत्तिरिति न्याय्यमित्यनेनोक्तम्। अनेककल्पनादेककल्पनस्य लघीयस्त्वाच्च कर्मैक्यमित्याह—**यो हीति**। यद्वा ननु प्रागेवानेककल्पनादल्पस्याकल्पितत्वेनानुपपत्त्यपरिहारात् कथमनेककल्पनालाभ इत्याशङ्क्यैकादिक्रमेणैव सप्तदशकर्माणि कल्पयितव्यानि तत्र प्रथमेनैव चरितार्थत्वादितरानर्थक्यमित्याह—**यो हीति**।

ननु लघीयस्त्वेऽप्येकस्य यागस्यैकेनैव चरितार्थत्वात् पश्वन्तरानर्थक्यपरिहाराय यागान्तरकल्पनमत आह—**तत्रेति**। वचनवशेन समुदितानामेव साधनत्वकल्पनादिति भावः। कल्पनं श्रवणं केनेति न कोऽपि हेतुरित्यर्थः। न केवलमेवं सत्यनेककल्पनापरिहार एवानेकादृष्टकल्पनापरिहारोऽपीत्याह—**एवं सतीति**।

पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तस्मादिति**। सिद्धान्तसूत्रमवतार्य व्याचष्टे—**एवमित्यादिना**। कथं सङ्ख्यया भेदावगतिरित्याशङ्क्य अवयवान्तरं व्याचष्टे—**पृथक्त्वे हीति**। पृथक्त्वेन सहैकार्थनिवेशित्वादिति सूत्रार्थः।

ननु पशुसङ्ख्यया पशुभेदेऽपि कथं कर्मभेदस्तत्राह—**तच्चेति**। ननु बहूनामपि द्रव्याणां समुदितानां प्रजापतिना संयोगस्यैक्यं स्यादिति पृच्छति—**कथमिति** ॥ २१ ॥

॥ श्रीः ॥

अथ सप्तमं संख्याधिकरणम्

त० वा०—गतोऽभ्यासापवादप्रसङ्गः[1]। संख्याया भेद इदानीमभिधीयते। तत्र 'तिस्र आहुतर्जुहोति' 'द्वादश द्वादशानि जुहोति' इत्येवमादय उत्पद्यमानकर्मसामानाधिकरण्यचोदिताः स्वसंख्यायुक्ता उदाहर्तव्याः। सकृज्जुहोतिश्रवणात्कर्मैकत्वे सति, संख्यानुग्रहोऽभ्यासेन भविष्यतीति प्राप्ते।

अभिधातव्यम्। उत्पद्यमानस्यैवात्र होमस्य संख्यासंबन्धः श्रूयते, नोत्पन्नस्य पश्चात् 'एकादश प्रयाजान्' इतिवत्। न च पृथक्त्वेन विना संख्याया आत्मलाभः संभवति। न चाभ्यासपूरिता संख्या समञ्जसा भवति। अगत्या हि सा नियतपरिमाणप्रयाजोपसदादिविषयत्वेनाऽऽश्रयिष्यते। संभवति चात्र प्रागनवधारितसंख्यान्तरत्वात्स्वरूपत[2] एव भेदः। तस्मात्कर्मपृथक्त्वनिवेशिन्येवैषा, नाभ्यासपृथक्त्वाश्रयाऽऽश्रयितव्या। तथा च वक्ष्यति 'आगमेन[3] वाऽभ्यासस्याश्रुतत्वात्' इति।

ननु च जुहोतिशब्दात्प्रथममेको होमोऽवधारित इत्यभ्यासेन पूरणमेव प्राप्नोति। न। जुहोतिशब्दाभिहितस्य कर्मणोऽसत्त्वभूतत्वेनासंख्यत्वात्। या हि तत्र जुहोतिपदे संख्या, कर्तुः खलु सा भविष्यति, न भावनाधात्वर्थयोः। तत्र सकृदाम्नानवशादर्थादिकसंख्यं होममुत्प्रेक्षितुमारभमाण एव स्ववाक्यश्रुतया संख्यया त्रार्यमाणस्तत्परिच्छिन्नमेवाङ्गीकुर्वंस्स्वरूपभेदं सर्वत्र प्रतिपद्यते। तस्मात्कर्मभेद इति।

भाष्यमतेनाधिकरणरचना

यत्तु भाष्यकारेण 'सप्तदश प्राजापत्यान्' इत्युदाहृतम्। तत्र द्रव्यगताऽपि संख्या कर्मभेदं करोतीत्येतद् दुष्प्रतिपादं प्रतिपादयामीत्यनेनैवाभिप्रायेण। कुतः संशयः ? उच्यते।

किं न्वयं तद्धितान्तानामेकशेषः कृतो भवेत्।
किं वा कृतैकशेषाणां पश्चात्तद्धितसंगतिः॥

यदि प्रजापतिरेतेषां देवतेति कृतैकशेषेण सर्वनाम्ना निर्दिश्य तद्धितः क्रियते, तत एक एव संबन्धः सप्तदशानां द्रव्याणामेकस्याश्च देवताया इत्येककर्मत्वम्। अथ तु प्रजापतिर्देवताऽस्येति प्राजापत्यश्च प्राजापत्यश्चेति सप्तदशकृत्व उच्चार्य प्राजापत्या इति सरूपैकशेषः क्रियते, ततः सप्तदशैव द्रव्यदेवतासंयोगाः पृथक्प्रदर्शिता इति, प्रतिसंयोगं यागानुमानात्कर्मभेदः। किं तावत्प्राप्तम् ? एककर्मेति। कुतः ?

---

१. क० प्रसङ्गविचारः।   २. स्वत एव।   ३. क० आगमाद। आगमो वा।

प्रत्ययार्थबहुत्वं हि प्रत्यक्षमुपलभ्यते ।
तत्कृतं चैकशेषत्वमिति न प्रकृतौ भवेत् ॥

यो हि प्राजापत्यः प्राजात्यश्चेत्येवमेकशेषं करोति, तेनोभयोः प्रकृतिप्रत्यययोरसावभ्युपगतो भवति । तस्य च निमित्तं बहुवचनान्यथानुपपत्तिः । न च तत्रातिपदिके बहुवचनमुपलभ्यते, येन तस्याप्येकशेषः क्रियते । न च तदेकशेषमन्तरेण प्रत्ययार्थस्य दर्शयितुं न शक्यते, विगृह्यमाणवेलायां सर्वनाम्ना कथ्यमानत्वात् । तस्मात्सकृच्छ्रुत एव प्रजापतिर्बहुभिर्द्रव्यैः संबध्यते ।

किं च ।

कर्माण्यश्रूयमाणानि तदपूर्वाणि चात्र मे ।
न कल्प्यानि भविष्यन्ति सिद्धेऽर्थे स्तोककल्पनात् ॥

कृत्वाऽपि तद्धितान्तेनैव[1] चैकशेषम्, न तावन्मात्रेण मुच्यते । पुनरदृष्टाश्रुतानि कर्मणि, अपूर्वाणि च कल्पयितव्यानि । न च तानि यथेष्टं कल्पयितुं लभ्यन्त इत्युक्तं शब्दान्तराधिकरणे । यन्मात्रेण विना चोदितद्रव्यदेवतासम्बन्धानुपपत्तिः[2] । तन्मात्रमेवादृष्टाश्रुतमर्थापत्त्या कल्पयितुं शक्यते, नान्यत् । तेनाभ्यधिकं न लभ्यते । अवश्यं ह्येकादिक्रमेण सप्तदश कर्माण्यपूर्वाणि च कल्पयितव्यानि । तत्र प्रथमकल्पनेनैवानुष्ठानतन्त्रत्ववदगृह्यमाणविशेषत्वात्सर्वद्रव्याणि यागवन्ति जातानीति, नोपरिष्टाद्गन्तुं शक्यते ।

किं च ।

न चान्यभेदेनान्यस्य भेदो भवितुमर्हति ।
हृदयाद्यवदानानां न भेदात्कर्म भिद्यते ॥

यदि हि द्रव्यभेदात्क्रियाणां भेदः स्यात्, ततो हृदयादिभेदेन द्व्यवदानभेदेनापि वा भेदः स्यात् । न चार्हति भवितुम्, वक्ष्यति हि—'अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूपशब्दाविभागाच्च' इति । प्रकृतौ च कृत्स्ने पशौ यागसाधनत्वेन चोदिते तथैवोत्सृष्टव्ये प्राप्ते, हृदयाद्येकादशावदानप्रकृतित्वेन पशुना यागः साधयितव्य इति वाक्यान्तरवशादवगम्यते । तेनासौ पशोर्धर्मो, न यागस्य । इहापि सप्तदशानां यागसाधनत्वेऽवगतेऽतिदेशेन प्रत्येकं सर्वधर्माः प्राप्यन्त इत्येकोऽपि यागः सप्तदशावदानगणानतिदेशेन गृह्णन्न विहन्यते । तस्मादेकं कर्मेति प्राप्ते ।

उच्यते ।

एककर्मत्वपक्षे स्यादेक एवात्र चोदकः ।
ततश्चैकगणप्राप्त्या न सर्वपशुसंग्रहः ॥

---

१. क० तद्धितन्ते नैव । २. क० चोदितव्ये देवता ।

न ह्येतदेतावत्येव वाक्यं पर्यवस्यति प्राजापत्यान्पशूनिति, किं तर्हि ? प्रकृतिवदित्यपरो वाक्यशेषः। एककर्मत्वे चात्र सवनीयः प्रकृतिर्भवेत्। तत्र चैकोऽवदानगणो यागस्य साधनमासीदिति[1], अत्राप्येक एव प्राप्नोति। सोऽपि विवक्षितैकसंख्यपशुनिष्पन्न आसीदिति, तादृगेव कर्तव्यः। ततश्चैकेनैव पशुना सिद्धत्वान्न पश्वन्तराणि प्रजापतिना सम्बध्यन्त इति, स्वपादोपात्तं बहुत्वम्, वाक्यप्राप्तं च सप्तदशत्वमुभयमपि नानुष्ठीयेत। यदा तु सप्तदश यागा इति बुद्धिः क्रियते, तदा प्रतिकर्मावसायिभिश्चोदकैस्तावन्तः एवावदानगणाः प्राप्यन्ते। तत्सिद्ध्यर्थं चाश्रुतानामपि सप्तदशानां पशूनामागमः क्रियते, किं पुनः ? श्रुतानामुपादानम्।

ननु च प्रत्यक्षं यागैकत्वमुत्सृज्य, न युक्तमानुमानिकचोदकानुरोधेन नानात्वं कल्पयितुम्। पश्य—

यागोपदेशवेलायामेकानेकत्वकल्पना।
तद्वशेनाऽतिदेशश्च नोपदेशस्तदाश्रयः॥

उत्पत्तिवेलायां हि कर्मणामेकानेकत्वनिर्णयो भवति। उत्पत्तिश्च सर्वत्रोपदेशेन गम्यते, नातिदेशेन। न ह्यनुत्पन्ने कर्मणि कथंभावो भवति। न च तस्मिन्नसत्यतिदेशः प्रवर्तते। तस्माच्चिरप्रवृत्तभेदाभेदज्ञानावसरभावित्वान्नातिदेशवशेन भेदज्ञानं युक्तम्।

अत्रोच्यते।

संदिग्धे वाक्यशेषेभ्यो निर्णयः प्राक्समर्थितः।
सामर्थ्याच्च तदत्रास्ति द्वयं निर्णयकारणम्॥

नात्रास्माभिरतिदेशेनैव कर्मभेदोऽवधारितः। केन तर्हि ? प्राजापत्यानित्युपदेशेनैव। स तु द्रव्यदेवतायजिसद्भावमात्ररूपेण निर्णीतः। परिमाणं प्रत्यनिश्चितसामर्थ्यविशेषः प्रागुपदिष्टसंदिह्यमानैकशेषतद्धितपौर्वापर्यरूपः सन्नतिदेशात्मकेन वाक्यशेषेण तद्ग्रहणानुरूपसामर्थ्येन च निर्णीयते। यद्यपि च पश्चात्तनोऽतिदेशः। तथाऽपि सोऽत्र भविष्यतीत्यादित एव ज्ञात्वा तदविरुद्धार्थवृत्तित्वमुपदेशस्याध्यवसीयते। ततश्च यद्यपि प्रजापतिर्देवतैषामिति विगृह्य वाक्यार्थोन्नयनं प्रक्रम्यते, तथाऽप्यन्ते विसंवाददर्शनाद् भ्रान्त्या मयाऽसौ विग्रहः कृत इति न बुद्धिपूर्वकारी नाध्यवस्यति। न चात्रैष प्रकारोऽस्ति, येनातिदेश एवं पूर्वज्ञानानुरोधेन प्रवर्तेत। न ह्यसौ प्रकृतावपठ्यमानान्सप्तदशावदानगणानेकस्मिन्कर्मणि[2] ज्ञापयितुं समर्थः। नाप्येकस्यैव गणस्य सप्तदश प्रकृतिद्रव्याणि। न वाऽसौ संदिग्धः येनोपदेशान्निर्णीयेत। न च संदेहावस्थत्वादुपदेशेनैकान्तिकोऽतिदेशस्य विरोधो, येनैकगणप्राप्तिर्बाध्येत। न ह्येककर्मत्वमुपदिष्टम्। सर्वत्र चाविरोधसंभवे विरोधो

१. क० अवदानगणः साधन। २. क० अविद्यमानान्।

नाऽऽश्रीयते। शक्यते चात्र कर्मबहुत्वाभ्युपगमेनाविरोधः सम्पादयितुम्। तस्मादेवमुपदेशवचनं व्यज्यते। प्रजापतिर्देवताऽस्येति विगृह्य सप्तदशानां तन्त्रेणोच्चारणम्। ततश्चाऽऽग्नेयाग्नीषोमीयादिवदेव भिन्नैर्देवतासंयोगैर्भिन्ना यागाश्चोद्यन्ते।

यदुक्तं—भवति पशोरयं धर्म एकादशावदानं[1] नाम। स चैककर्मत्वेऽपि प्रतिपशु भेत्स्यत इति। तदयुक्तम्। कुतः ?

न हि द्रव्यकथंभावादतिदेशोऽत्र कल्पते।
कर्मोद्भूतः कथंभावः कर्मधर्मान्प्रतीच्छति॥

प्राजापत्यपशुयागेन भावयेत्कथमिति ह्यपेक्ष्यते, न पशुना कथमिति, त्यज्यमानत्वेन द्रव्यस्य ज्ञातप्रकारत्वात्, प्रवृत्तावपि चैकपशुनिष्पन्नैकादशावदानगणसाध्यत्वं यागधर्मो न पशोः, निष्फलत्वात्। तद्धर्मत्वपक्षे ह्यवदानैरसौ संस्क्रियेत। न च तेन[2] प्रयोजनम्, विनाशितत्वात्। यागेन तु सिद्धेनार्थस्तत्सम्बन्धिनाऽपूर्वेण वेति सर्वमिदं तन्निर्वृत्तिप्रकारत्वेनाऽऽश्रीयते। तस्मान्नैका यागोऽनेकगणं समर्थो ग्रहीतुम्। न च तदग्रहेऽनेकपशुग्रहणम्। यद्यपि चावदानप्रकृतेरेकत्वं सप्तदशसंख्यया बाध्यत इति नानापशुनिष्पन्न एक एव गण गृह्यतामिति बुद्धिर्भवेत्, तथाऽप्येकादश पशव उपयुज्येरन्। न सप्तदश **नन्वेकस्मिन्नपि यागे सप्तदशभिरवदानगणैर्यक्ष्यत इति** अनेकादृष्टकल्पनाभयात्पशुशब्देनावदानगणं यागप्रत्यासत्तेर्लक्षयित्वा तत्परिच्छेदार्था सप्तदशसंख्या विधास्यत इति मन्यते। नैतदेवम्, लक्षणाकारणाभावात्। न ह्यसति विरोधे लक्षणा युक्ता। तेनैतत्संकटमापद्यते—सप्तदश पशवः कर्तव्याः, एकेन चावदानगणेनैकपशुनिष्पन्नेनैको यागः साधयितव्य इति। न चैतत्कथंचिदनुष्ठान[3]शक्यम्। अथान्यत्रापि श्रुता संख्याऽन्यत्रापि नीयते, ततोऽपूर्वप्रत्यासन्नतरेषु वरं यागेष्वेव कल्पिता। न चाविरोधसम्भवात्किंचिदपि चोदकस्य बाधनीयमित्युक्तम्। प्रमाणवशाच्चानेकादृष्टकल्पनाऽपि निर्दोषा। कृत्स्नवाक्यगमनिकार्थं शृङ्गीभिप्रायाद्युपन्यासः। एतदुक्तं भवति। ये सप्तदशवर्णादिभेदभिन्नाः पशवः तेषां कश्चित्प्राजापत्यः कर्तव्य इति। तत्राऽऽह—**ते हि श्यामास्तूपरा एकरूपाः**[4] **श्रूयन्ते। तस्मात्सप्तदश यागा इति।**

प्रयोजनं यद्यपि पूर्वपक्षवादिनो नाभिप्रेतम्, तथाऽप्येकस्यैव साक्षाद्यागसाधनत्वमितरे तत्संख्यासम्पादनार्थमुपादीयन्ते इत्येकस्मादवदातव्यम्। तद्विनाशे चेतरेऽप्यावर्तेरन्। अथवाऽर्धकृतेषु[5] य एव नष्टः, तत्रैव समस्तानामावृत्तिः।

---

१. क० एकदशावदानगणप्रदानं। २. ४ क० तेन संस्कृतेन।
३. क० अनुष्ठातुं। ४. क० एतत्पदंनास्ति। ५. क० संस्कारेषु इत्यधिकम्।

ननु च तथैव सप्तदशसु यागेषु सहक्रियमाणेषु एकविनाशे सति 'अहर्गणे तु यस्मिन्नपच्छेदः'[1] इत्यनेन न्यायेनेतरेषु प्रतीक्ष्यमाणेषु स एवाऽऽवर्तते, तथैव द्रव्यसाहित्येऽपि स्यात्। नैतदेवम्। तथाहि—सप्तदशसंख्यैकार्थसमवायिव्यासङ्गि-यागसाधनत्वमिति तादृशस्यैवोपकरणादिभिर्भवितव्यम्। तत्र यदेव द्रव्यं नष्टं, तेनैव विना यथाश्रुतसाधनविनाशो जात इति संस्कारास्तिष्ठत्स्वपि द्रव्येषु साधनात्प्रच्युता इति पुनरादित एव कर्तव्याः। तथा यस्याप्यभिनवानीतस्य ते क्रियन्ते, तस्यापि ते साधनभूतस्य श्रुताः। न च सप्तदशत्वेन विनाऽस्य साधनत्व-मस्तीति तत्सिद्धयेऽवश्यमितरेऽप्यपेक्षितव्या इति।

सिद्धान्ते त्वन्योन्यनिरपेक्षसाधनत्वशक्तियुक्तानां सहप्रयोगमात्रं क्रियत इत्युपपन्ना तन्मात्रावृत्तिः। नन्वेवं सति पूर्वपक्षन्यायेन स्तोत्रशस्त्रेषु, 'तां चतुर्भिरादत्तै' इत्यादिषु चैकमन्त्रविनाशे समस्तावृत्तिः प्राप्नोति। न। तत्र प्रत्येकं साधनत्वे सति वचनेन समुच्चयाश्रयणात्। यत्कुर्वाणा हि ते मन्त्राः स्तोत्रादीनि साधयन्ति, तत्रैषां प्रत्येककाङ्क्षानिवर्तनसामर्थ्यम्। अन्यथा ह्येक-मन्त्रतैव स्यात्। भिन्नैरेव च प्रात्यात्मिकैर्मन्त्रकार्यैः संहत्य कार्यान्तरमारभ्यते, न मन्त्रेषु व्यासङ्गि साधनत्वम्। पशूनां तु व्यासङ्गीत्युक्तम्। मन्त्रकार्याणां तर्हि संहत्यकारित्वादेकविनाशे समस्तावृत्तिः स्यात्। नैतदस्ति साधनविनाश-व्यतिरेकेण कार्यविनाशाभावात्। साधनेष्वेव पुरुषस्य व्यापार इति तद्विनाशा-नुरोधेनैवानुष्ठानमिति विशेषः॥ २१॥

(इति सप्तमं संख्याधिकरणम्) ॥ ७॥

अथ सप्तमं संख्याधिकरणम् ॥७॥

न्या० सु०—संख्यानिमित्तभेदविचारस्याऽभ्यासनिमित्तभेदविचारेण सङ्कच्छ्रुतेरभ्यास-प्रत्युदाहरणरूपेण पूर्वपक्षोत्थानात्संमतिं दर्शयितुमाह—गत इति। प्रासङ्गिकचिन्तायाः सम्बन्धित्वेन प्रसञ्जकचिन्ताबुद्धिस्थकरणसामर्थ्याद्यथा यत्प्रसक्त्या या चिन्ता क्रियते, तत्समासौ प्रसञ्जकचिन्ता बुद्धिस्था भवति, तथापवादकचिन्ता अपि सम्बन्धित्वाविशेषेणाप-वाद्यचिन्ताबुद्धिस्थीकरणसामर्थ्याद्यदपवादेन चिन्ताया चिन्ता क्रियते, तत्समासावपवाद्य-चिन्तापि बुद्धिस्थी भवतीत्यधिकरणत्रयकृतया समुदायानुवादापवादचिन्तया अभ्यासनिमित्त-भेदापवादभूतायाः समुदायानुवादचिन्तायाः पौर्णमास्यधिकरणकृताया बुद्धिस्थीकरणात् तद्द्वारा समुदायानुवादापवाद्याभ्यासचिन्ताया बुद्धिस्थत्वात् तत्सङ्गत्याभिधानोपपत्तिसूचना-याभ्यासनिमित्तभेदापवादानन्तरं तदपवादत्वेन प्रसङ्गो बुद्धिस्थत्वं यस्येति विग्रहाभ्युपगमेना-भ्यासापवादापवादः प्रसङ्गशब्देनोक्तः। सोमयागस्यैकत्वेऽप्यभ्यासेन क्रमसमुच्चयदर्शनो-पपत्तिवत्तिस्र आहुतीरिति त्रित्वसंख्याया अभ्यासेनोपपत्तेर्न कर्मभेदकतेत्यनन्तरोक्ताभ्यासोप-जीवनेन पूर्वपक्षकरणादनन्तरसङ्गतिसूचनायेदानीं शब्दः।

---

१. क० अवच्छेदः।

ननु प्राजापत्यवाक्येऽभ्यासेन पूर्वपक्षाकरणान्नेदानीं शब्दसूचितानन्तरसङ्गतिः सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**तन्नेति**। द्रव्यसंख्यानिवृत्त्यर्थं स्वशब्देन कर्मणि परामृष्टे 'समिधो यजतीत्यादिबहुत्वसंख्याया अप्युदाहरणत्वोपपत्तेस्तन्निवृत्त्यर्थम्—**चोदिता इत्युक्तम्**। समिदादिनामधेयस्य देवतायोगनिमित्तत्वा'त्समिधोऽग्नआज्यस्य व्यन्त्वि'त्यादिमन्त्रवर्णप्राप्तदेवता, बहुत्वानुवादोपपत्तेर्न कर्मभेदकतेत्याशयः 'एकादश प्रयाजान्यजतीत्याद्युत्पन्नकर्मसंख्यानिवृत्त्यर्थमुत्पद्यमानत्वविशेषणम्। पार्वणौ [1]'जुहोत्याज्यभागौ यजतीत्याद्युत्पद्यमानकर्मगतसंख्यान्तरग्रहणायादिशब्दः। सर्वत्रानन्यपरपुनःश्रुत्या कर्मोत्पत्त्यवगतेर्न प्रमेयानुप्रवेशित्वापत्तिः। सकृच्छ्रुत्या कर्मैक्यावगतेर्विज्ञातसंख्ये कर्मण्येकादशप्रायाजानित्यादिवदनपेक्षितपदान्तरोपात्तसंख्यानिवेशायोगादावृत्तिकल्पनया च संख्यानुग्रहोपपत्तेर्न कर्म भेदे इति वक्ष्यमाणाशयेन पूर्वपक्षमाह—**सकृदिति**।

आख्याते कर्मसंख्यानुपादानाद्वाक्यान्तरश्रुतयागसम्भवे चैन्द्रवायवादिवाक्ये यागकल्पनानुपपत्तिवत्पदान्तरश्रुतसंख्यासम्भवात्स्वपदसंख्याकल्पनानुपपत्तेरनिर्ज्ञातसंख्यत्वात्कर्मस्वरूपे संख्यानिवेशोपपत्तेः। पृथक्त्वैकार्थनिवेशित्वाच्चैकातिरिक्ते संख्याया भेदं विनानुपपत्तेः संख्यापि भेत्रीति वक्ष्यमाणाशयेन सिद्धान्तमाह—**इतीति**। धात्वर्थनामत्वेनाहुतिशब्दस्याहुतीरिति संख्याया धात्वर्थविषयत्वावधारणाद्धात्वर्थमात्रभेदकत्वं होमशब्देन सूचितम्। पृथक्त्वेन विनेत्यनेन यत्र पृथक्त्वं, यत्र निवेश इत्येवं पृथक्त्वैकार्थनिवेशवाचित्वेन पृथक्त्वनिवेशशब्दो व्याख्यातः। यस्त्वभ्यासेन संख्यानुग्रहोऽभिहितः। स न युक्त इत्याह—**न चेति**। कथं तर्हि दशमे पशुपुरोडाशस्यारादुपकारित्वनिरासेन देवतासंस्कारत्वे सिद्धान्तिते, सौत्रामण्यामाश्विनसारस्वतैन्द्रेषु पशुष्वैन्द्रसावित्रवारुणानां पुरोडाशानां पशुदेवतासंस्कारत्वायोगमाशङ्क्य तन्निरासार्थे अभ्यासो वा प्रयोजवदेकदेशोऽन्यदेवत्य १०—१इति सूत्रे तद्यथा पशौ पञ्चानां प्रयाजानां चोदकेन प्राप्तानामेकादशसंख्या विधीयते, सा चान्तरेणाभ्यासं नावकल्पतइत्यभ्यस्यन्ते प्रयाजा इत्यभ्यासेन संख्यापूरणं भाष्यकृद्वक्ष्यतीत्याशङ्क्याह—**अगत्या सा हीति**। इह त्वनिर्ज्ञातसंख्यत्वात्स्वरूपभेदोपपत्तेर्नागतिरस्तीत्याह—**सम्भवति चेति**। तु शब्दार्थे चशब्दः। एतदेवोपसंहरति—**तस्मादिति**। अत एवैकविंशेनातिरात्रेण प्रजाकामं याजयेदित्यादिस्तोमवृद्धावागमेन संख्यापूरणं दशमे वक्ष्यते इत्याह—**तथा चेति**। पूर्वपक्षाशयं विवृणोति—**ननु चेति**। सिद्धान्ताशयं विवृणोति—**नेति**। निष्पन्नरूपत्वेनाप्रतीतिः असत्त्वम्। ननु तिङ्वाच्यायाः संख्यायाः सुब्वाच्यसंख्यावत्प्रकृत्यर्थविषयत्वावगतेः कथं धात्वर्थस्यासंख्यतेत्याशङ्क्याह—**या हीति**। तिङ्वाच्यायाः संख्यायाः प्रकृत्यर्थविषयताया स्मृत्याचारविरोधान्नानुमातुं शक्येत्याशयः। भावनाग्रहणं दृष्टान्तार्थम्। ननु तिङ्वाच्यस्यैकत्वस्य धात्वर्थगामित्वाभावेऽपि निः संख्यधात्वर्थानुष्ठानाशक्तेः संख्यापेक्षायां सकृच्छ्रुत्यैकत्वावगतेर्न पदान्तरोक्तसंख्याश्रमणं युक्तमित्याशङ्क्याह—**तन्नेति**। सिद्धान्तमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

---

१. पार्वणं जुहोतीति ३ पु० पा०।

कर्मसंख्यानुदाहार्यत्वे कस्माद्भाष्यकृता द्रव्यसंख्योदाहृतेत्याशङ्क्याह—**यस्त्विति** । तत्रेति सन्देहभाष्यं यागकल्पकप्राजापत्यशब्दार्थभूतदेवताविशिष्टद्रव्यसासदश्यात्कर्मसासदश्य-प्रतीतेः पूर्वपक्षायोगेनाक्षिपति—**कुत इति** । 'सास्य देवतेति' सर्वनामार्थे तद्धितप्रवृत्तेः सर्वनाम्नश्च सन्निहितपशुपरामर्शित्वात्पशुशब्दस्य बहुवचनान्तत्वेनैकशेषत्वावधारणात्तत्परा-मर्शित्वसिद्धये सर्वनाम्नोऽप्यस्य चास्य चेति ससदशकृत्व उच्चार्यैषामिति सरूपैकशेषं कृत्वा प्रजापतिर्देवतेति देवतासम्बन्धे प्राजापत्य इति तद्धितः कार्यः । सन्निहितपरा-मर्शित्वेऽपि वा सर्वनाम्नस्तद्धितान्तपदान्तर्गतत्वेन बहुवचनान्वयात्प्रागपरिपूर्णे तद्धितान्ते पदे पदान्तरान्वयायोगात्पशुशब्दगतबहुवचनालोचनेनैकशेषाप्रतीतेः । पशुशब्दस्य च तद्धितविषयसमर्पकत्वेन के प्राजापत्या इत्यपेक्षायामन्वयात्तद्गतस्य बहुवचनस्य प्राजापत्य-शब्दगतबहुवचनोक्तसंख्यानुवादित्वावगतेः, सर्वनाम्नस्तद्वशेनैकशेषत्वकल्पनायोगात्तद्धिता-न्तानामेव शब्दानामेकशेषत्वं न सर्वनाम्न (इति सर्वनामैकशेषत्वसदसद्भावसन्देहे तत्द्रव्यदेवतान्वयभेदाभेदसन्देहात्कर्मभेदाभेदसन्देहमुपपादयितुमाह—**उच्यत इति** । यो बहुवचनान्यथानुपपत्त्यैकशेषः कथ्यते किमयं तद्धितान्तानां प्राजापत्यशब्दानामेव कृतः, स न युक्तो भवेन्न तु सर्वनाम्नः[1]) कार्य इति सिद्धान्तवचनव्यक्तिः कृतैकशेषाणां वा सर्वनाम्नां पश्चात्कृतेन तद्धितेन देवतासङ्क्लृप्तिरिति पूर्वपक्षवचनव्यक्तिरितरेतरयोगाख्यचार्थ-स्मृतद्वन्द्वापवादत्वेनैकशेषस्येतरेतरयोगवाचित्वावगतेरितरेतरयोगिनां चेतरेतरसापेक्षत्वेना-सामर्थ्यापत्तेरेकशेषे कृते तद्धितानुपपत्तिप्रसङ्ग इति पूर्वपक्षदूषणसूचनार्थं पश्चादुक्तवचन-व्यक्तिद्वयस्य प्रातिलोम्येन पूर्वसिद्धान्तपक्षोपयोगितामाह—**यदीति** । ससदशानामित्यनेन पशुसमूहस्य द्रव्याख्यसम्बन्ध्यैक्ये सम्बन्धैक्यसिद्धयेऽभिहिते द्रव्यैक्येऽपीन्द्राय रथन्तरायेन्द्राय बार्हतायेन्द्राय वैरूपायेन्द्राय वैराजायेन्द्राय रैवतायेन्द्राय शाक्वरायेतिवद्देवताभेदे सम्बन्धभेदापत्तेस्तच्छङ्कानिरासाय—**एकस्याश्चेत्युक्तम्** । कुक्कुटावानय मिथुनं करिष्याम इत्यादिविरूपैकशेषस्यार्थप्रकरणसापेक्षत्वाद्विलम्बेनावगतेः शीघ्रप्रतीतिसूचनार्थः सरूपशब्दः ।

किं तावदिति पूर्वपक्षप्रतिज्ञाभाष्यं व्याचष्टे—**किं तावदिति** । (कृत इत्यादिभाष्येण प्रश्नजिज्ञासोपन्यासपूर्वं ससदशपशुसमूहस्यैकदेवतासङ्क्लृप्त्येनोपपत्तिं यागैक्ये हेतुत्वेनोक्ता-मुपपादयितुमाह—**कुत इति**[2] ।) विग्रहवाक्यस्य तद्धितपदार्थकथनार्थत्वाद्विग्रहवाक्यस्थ-सर्वनामपरामृष्टस्य पशुशब्दार्थस्य तद्धितप्रत्ययार्थत्वावगतेः पशुशब्देस्थेन बहुवचनेन तद्धितप्रत्ययार्थस्य पशुद्रव्यस्य तद्धितोत्पत्तेः प्राग्विग्रहवेलायामेव बहुत्वोपलम्भात्प्राजापत्य-शब्दस्थस्य बहुवचनस्य तदनुवादित्वोपपत्तेस्तद्धितान्ते प्राजापत्यशब्दे बहुवचननिमित्तैक-शेषत्वकल्पनायोगात्सर्वनाम्नामेवैकशेषः कार्यो, न तद्धितान्तानामेवेत्याशयः । प्राजापत्य-शब्दस्य चैकशेषत्वकल्पने तस्यावृत्तिपूर्वकत्वात्केवलप्रत्ययप्रयोगासम्भवेन प्रकृतिनिरपेक्षतद्धित-मात्रवृत्त्ययोगात्प्रकृतिप्रत्यययोर्द्वयोरप्येकशेषकल्पनापत्त्या गौरवं स्यात् सर्वनाम्नस्त्वेकशेष-

---

१. अयं पा० ३ पु० ना० ।   २. अयं पा० ३ पु० ना० ।

कल्पने गौरवानापत्तिरित्याशयेनोपपत्त्यन्तरमाह—**इतीति** । इतिकरणेनोक्तप्रकारपरामर्शात्तद्धितान्तैकशेषत्वाभावएव प्रजापतिप्रातिपदिकात्मिकायां प्रकृतौ प्रत्यये चोभयत्रैकशेषत्वं न भवेद्येन गौरवं न स्यादित्येवं चशब्दयोरध्याहारेणोपपत्त्यन्तरं योज्यम् । द्वयोरिति वाच्ये प्रत्ययानन्तरं बहुवचनश्रुतेस्तत्रैकशेषकल्पनोपपत्तावपि, प्रकृतौ बहुवचनाश्रुतेर्नैकशेषकल्पना युक्तेति सूचयितुम्—**प्रकृतावित्युक्तम्** । पूर्वपक्षे लाघवोक्त्या सिद्धान्ते गौरवं सूचितमुपपादयितुमाह—**यो हीति** । (ननु प्राजापत्यशब्दस्थबहुवनान्यथानुपपत्त्योभयोरेकशेषकल्पना युक्तेत्याशङ्क्य प्राजापत्यशब्दप्रतिपादके बहुवचनानुपलब्धिरुक्ता[1]) ननु प्राजापत्यशब्दस्थबहुवचनोपपत्त्यर्थं प्राजापत्यर्थशब्दे प्रत्ययार्थबहुत्वस्यावश्यदर्शनीयत्वात्तस्य च प्राजापत्यशब्दैकशेषं विना दर्शयितुमशक्यत्वात्प्रत्ययमात्रस्य चैकशेषत्वायोगाद्युक्तैवोभयोरेकशेषकल्पनेत्याशङ्क्य, प्रत्ययार्थबहुत्वस्य विगृह्यमाणप्राजापत्यशब्दवेलायां कृतैकशेषेण बहुवचनान्तेन सर्वनाम्नोक्तत्वात्सर्वनाम्नश्च तद्धितप्रत्ययार्थकथनार्थत्वात्सर्वनाम्नस्थबहुवचनोक्तं प्रत्ययार्थबहुत्वं प्राजापत्यशब्दैकशेषत्वं विनापि प्राजापत्यशब्दस्थेन बहुवचनेनानुवादाय दर्शयितुम्—**शक्यतएवेत्युक्तम्** ।

ये तु प्रत्ययानन्तरं बहुवचनश्रुतेस्तन्मात्रस्यैकशेषतापत्तेर्न[2] श्लोकेनोच्यते कृत्स्नश्लोकव्याख्यानार्थश्च यो हीत्यादिग्रन्थ इति व्याचक्षते । तत्पक्षे तद्धितप्रत्ययस्य देवताविशिष्टद्रव्यवाचित्वात् तन्मात्रैकशेषत्वेऽपि यागकल्पकदेवताविशिष्टरूपभेदाद्यागभेदापत्तेः पूर्वपक्षासिद्धिः । न च तदेकशेषमन्तरेणेत्यस्य च सर्वनाम्ना प्रत्ययैकशेषत्वस्य कथ्यमानत्वात्प्रातिपदिकैकशेषत्वं विनापि प्रत्ययरूपस्यार्थस्यैकशेषता दर्शयितुं शक्येत्येवं व्याख्येयत्वापत्तेः कथं सर्वनाम्ना प्रत्ययैकपदशेषत्वं वक्ष्यतइति वाच्यम् । सर्वनाम्नैकशेषत्वाभ्युपगमेन तद्धितान्तैकशेषनिरासस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तस्मादिति** । प्रजापतिसकृच्छ्रुतत्वोक्तिर्देवताभेदनिरासार्था । सप्तदशानामेवेति भाष्यावयवोक्तामनुपपत्तिं व्याख्याय, यो हि बहून्यागानित्यनेनोक्तमेवमल्पीयसीत्यनेन चोक्तामेकहेलया व्याचष्टे—**किं चेति** । स्तोककल्पनेनैव द्रव्यदेवतान्वयरूपस्यार्थस्य सिद्धत्वान्न मे पक्षे बहुकल्पनाऽस्तीत्यर्थः । मइति विशेषणसामर्थ्यात्परपक्षे सूचितं कल्पनागौरवमुपपादयति—**कृत्वापि हीति** ।

ननु कल्पनासाम्ये बह्वल्पकल्पनयोः को विशेष इत्याशङ्क्याह—**न चेति** । अदृष्टार्थानामुपकारकल्पनाऽल्पीयसी व्याप्येत्यादिभाष्ये अल्पकल्पनयानुपपत्तिपरिहारसम्भवे बहुकल्पनायां नार्थापत्तिः प्रभवतीत्युक्तमित्यर्थः । शब्दान्तराधिकरणपूर्वपक्षोक्तमेव न्यायमत्रापि योजयति—**यन्मात्रेण विनेति** । ननु प्रागेवानेककल्पनेऽल्पस्याकल्पितत्वेनानुपपत्त्यपरिहारात्कथमधिकालाभ इत्याशङ्कानिरासार्थं 'यो हीं'ति भाष्योक्तमेव कल्पनाक्रमं विवृणोति—**अवश्यं हीति** । नन्वेवमपि कल्पकसासदृश्यात्कल्पसासदृश्यं युक्तमेवेत्याशङ्क्याह—**तत्रेति** । यथा यागभेदेऽपि देवतैक्याद्देवतोद्देशेन त्यक्ते द्रव्येऽयं यागानुष्ठितो नायमित्यगृह्यमाणविशेषत्वात्सकृदनुष्ठानेनामेकयागसिद्धेर्नानुष्ठानभेदः कल्प्यते, तथा द्रव्यभेदेऽपि यागकल्पक-

१. अयं पा० ३ पु० ना० । २. एकशेषतानेनेति ३ पु० पा० ।

देवतान्वयैक्यादेकस्मिन्यागे कल्पितेऽस्य द्रव्यस्य देवतान्वयः सिद्धः। नास्येति विशेषाग्रहात्सर्वद्रव्याणां देवतान्वयसिद्धेर्नानेकयागकल्पना युक्तेत्यर्थः।

ननु देवतान्वयैक्येऽप्येकस्मिन्यागेऽनेकद्रव्यानर्थक्यापत्तेर्द्रव्यभेदाद्यागभेदः कल्पयिष्यत इत्याशङ्क्याह—**किं चेति**। न हि[1] हृदयादिभेदात्तदपादानकद्व्यवदानभेदाद्वाग्नीषोमीयादिपशुयागकर्म भिद्यतइति द्रव्यभेदस्य यागभेदव्यभिचारितोक्ता। श्लोकं व्याचष्टे—**यद्वि हीति**। द्रव्यभेदस्य यागभेदासाधकतैव षष्ठाधिकरणसिद्धान्तावयवसूत्रेणोपपादिता। नन्वेकस्य यागस्यैकपशुनिष्पन्नेनैकेनैव हृदयाद्येकादशावदानगणेन सिद्धेः पश्वन्तराणां यागसाधनत्वाभावेन देवतान्वयाभावापत्तेः। सप्तदशानां प्राजापत्यत्वं न स्यादित्याशङ्क्याह—**प्रकृतौ चेति**। अवदीयतेऽस्मादित्यपादानव्युत्पत्त्या हृदयादिष्ववदानशब्दपश्वङ्गत्वेनावदानगणस्योपाकरणादिवत्प्रतिपश्वावृत्तेस्तत्प्रकृतित्वेन सप्तदशानामपि पशूनां यागसाधनत्वोपपत्तिरित्याशयः। 'तस्मादि'ति पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**।

विग्रहकाले तद्धितपदस्य विभक्त्यनन्वयेनापरिपूर्णत्वात्तदर्थकथनार्थविग्रहवाक्यान्तर्गतस्य सर्वनाम्नः पशुशब्दान्वयायोगेन तद्गतबहुवचनालोचनाऽऽभावात्तन्निमित्तैकशेषानवगतेः, कृते च सर्वनामैकशेषे तस्येतरेतरयोगवाचित्वात्सर्वनामपरामृष्टानां द्रव्याणामितरेतरसापेक्षत्वेनासामर्थ्यापत्तेस्तद्धितानुत्पत्तिप्रसङ्गात्तद्धितापेक्षत्वे वेतरेतरयोगासम्भयेनैकशेषानुपपत्तिप्रसङ्गादितरेतरयोगे च समुदायस्य देवतान्वयापत्तेः प्राजापत्यशब्दे बहुवचनानुपपत्तिप्रसङ्गात् द्रव्यस्वरूपापेक्षया वा कथं चिद् बहुवचनोत्पत्तौ विग्रहतद्धितयोर्द्वयोरप्येकशेषकल्पनापत्तेः सर्वनामैकशेषत्वायोगादेकवचनान्तेन सर्वनाम्ना विग्रहावगतेः प्रत्येकं देवतान्वयावसायेन द्रव्यभेदाद्यागभेद इति सर्वनामैकशेषत्वनिरासेन सिद्धान्तोक्तिसम्भवेऽपि यत्रैकया चतुर्थ्या बहुवचनान्तपदोक्तानां पशूनां 'पर्यग्निकृतानारण्यानुत्सृजन्तीत्या'द्युत्सर्गविध्यभावेनातिदेशप्राप्तैकादशावदानगणवतां देवतान्वयः क्रियते, तत्रापि यागभेदसिद्ध्यर्थं चोदकप्राप्तैकपशुनिष्पन्नैकादशावदानगणसाधनत्वबलेन भाष्यकृतोक्तं सिद्धान्तमुपपादयितुमाह—**इतीति**।

दधि मधु पयो घृतं धाना उदकं तन्तुलास्तत्संसृष्टं प्राजापत्यमिति संसृष्टानां दध्यादीनामेकदेवतान्वयाद्यागैक्येऽपि मधूदकयोराज्यविकारत्वेनाष्टमे वक्ष्यमाणत्वाच्चोदकैक्ये चाज्यद्विकारानाज्यविकारयोः समसंख्यत्वेन भूयोऽनुग्रहन्यायाविषयत्वान्मुख्यानुरोधेन सर्वेषु दध्रिधर्मप्राप्तेराज्यविकारस्त्वोक्त्यानर्थक्यप्रसङ्गात्प्रतिद्रव्यं चोदकभेदावगतेः कर्मैक्ये चोदकैक्योक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य—**अत्रेत्युक्तम्**। द्रव्यधर्मविषयत्वात्, तस्य न्यायस्यैकादशावदानगणस्य च यागधर्मत्वाद्दशावदानगणे कर्मैक्ये सति चोदकैक्यं स्यादित्याशयः। एकस्य गणस्यैकस्माच्च पशोर्गणस्य प्राप्तचेत्येकशब्दो द्वेधा विग्रहविवक्षया तन्त्रेण प्रयुक्तः।

---

१. तर्हीति ३ पु० पा०।

श्लोकं व्याचष्टे—**न हीति**। वाक्यशेषेण सन्दिग्धोपदेशनिर्णयार्थत्वं चोदकोपन्यासस्य सूचयितुं वाक्यशेषत्वोक्तिः।

ननु प्रकृतिवद्वाक्यशेषाङ्गीकारेऽपि 'तत्प्रवृत्तिर्गणेषु स्यादि'८-१त्यष्टमाधिकरणे प्राजापत्येष्वेकादेशिनीविध्यन्तातिदेशस्य वक्ष्यमाणत्वात्, तस्यां च प्रतिपश्ववदानगणदर्शनादिहापि तत्प्राप्तिरुपपत्स्यतइत्याशङ्क्य, भिन्नयागविषयत्वात्, तस्य न्यायस्य यागैक्यपक्षे सुत्याकालत्वसाम्येनैकादशिनीवत्प्राजापत्येष्वपि सवनीयविध्यन्तापत्तिरुक्ता। तत्र प्राजापत्या इति श्रवणमुपरुध्येत। सप्तदशसंख्या नावकल्पेतेति च भाष्यावयवद्वयस्य विविक्तविषयत्वं स्वपदोपात्तमित्यनेनोक्तम्। यागभेदे संख्यासामञ्जस्योपपादनार्थं बहुष्विति भाष्यं व्याचष्टे—**यदा त्विति**। पशुयागसाप्तदश्यबुद्धौ केन चित्प्रमाणेन कृतायामश्रुतमपि पशुसाप्तदश्यं स्तोमत्रिवृद्धावश्रुतसामागमवदागमेन [1]पूर्येतेत्यभ्युपगम्यवादार्थः। वाक्यशेषत्वोक्तिसूचितं चोदकोपन्यासाभिप्रायं विवरीतुमाशङ्कते—**ननु चेति**। शङ्कामेवोपपादयति—**पश्वेति**। श्लोकं व्याचष्टे—**नात्रेति**। प्राजापत्यानीतीतिकरणेन टुप्टीकोक्तः सिद्धान्तोपक्रमेऽस्माभिः दर्शितः। सर्वनामैकशेषत्वनिराशेन तद्धितान्तैकशेषोपपादनप्रकारः सूचितः। तद्धितव्युत्पादनात्प्रागपिकरणे पूर्वपक्षासिद्धेः सर्वनामैकशेषस्य तु पश्चादपि करणे सिद्धान्तासिद्धेरेकशेषस्य तद्धितात्प्राक्करणं तद्विषयत्वायोगात्सर्वनामविषयत्वं पश्चात्करणे तद्विषयतेति पौर्वापर्योक्त्यैकशेषः सर्वनामविषयः। तद्धितविषयो वेति सन्देहो दर्शितः। प्राक् सन्देहोपपादनावसरोपदिष्टं सदिह्यमानमेकशेषस्य तद्धितात्पौर्वापर्यस्योपदेशस्य रूपमिति विगृह्यैवंरूपत्वात्किमेकयागविधायमुपदेशः, अनेकयागविधायी वेति विधेयपरिमाणविषयसामर्थ्यविशेषो न निश्चितोऽस्येति विग्रहोक्तस्य विधेर्भेदानिश्चयस्योपदेशेनैव कर्मभेदोऽवधारित इति निश्चयोक्तिविरुद्धत्वात्प्रौढ्याऽभ्युपेत्यवादमात्रत्वं द्रष्टव्यम्। तच्छब्देनातिदेशोक्त्युपस्थापितातिदेशविषयभूतप्राकृताङ्गपरामर्शात्प्राकृतैकपशुनिष्पन्नैकावदानगणग्रहणे यादृशं सामर्थ्यमेकपशुसाध्याया विकृतेः प्रकृतिवद्वाक्यशेषान्वयानुपपत्त्या कल्प्यते तादृशेनात्रापि कल्पितेनोपदेशः सप्तदशयागविधायितया निर्णीयतइत्यर्थः। यस्तु कर्मोत्पत्तिकालएव भेदाभेदावधारणावसरान्न पाश्चात्यातिदेशाधीनतेत्युक्तम्, तत्सत्यप्यवसरे सन्दिग्धत्वेनाऽवधारणासामर्थ्यात्परिहरति—**यद्यपि चेति**।

ननु देवताविशिष्टद्रव्यवाचिप्राजापत्यप्रातिपदिकपरबहुवचनवतोपदेशेनैव यागबहुत्वनिश्चयोपपत्तेः किमतिदेशापेक्षयेत्याशङ्क्याह—**ततश्चेति**। परमार्थेनोपदेशानिश्चयोपपत्तावपि, प्रौढ्या सन्देहमभ्युपेत्यातिदेशान्निर्णयाभिधानमित्याशयः। विपर्ययोक्तिरतिशयार्थाननुपक्रमबलीयस्त्वादुपदेशानुरोधेनातिदेशेन वर्तितव्यमित्याशङ्क्याह—**न चात्रेति**। 'आनर्थक्यप्रतिहतानां विपरीतं बलाबलमितिन्यायेनान्यगतित्वादतिदेशोऽप्यत्रोपदेशाद् बलीयानित्याशयः। प्रकृतिद्रव्याणि पापयितुं समर्थं इत्यनुषङ्गः। यश्चोपदेशस्यातिदेशानुरोधे

---

१. क्रियेते इ० ४ पु० आ०।

वृत्तित्वे सन्दिग्धत्वरूपो विरुद्धरूपश्च प्रकारः, सोऽत्र नास्तीति न चेत्यादिनोक्तं। तेनोभयथापि विग्रहोपपत्तावतिदेशानुरोधादेकवचनान्तेनैव सर्वनाम्नो विगृह्य तद्धितानामेकशेषत्वनिश्चयाद् द्रव्यदेवतान्वयभेदेन यागभेदसिद्धिरिति सिद्धान्तोपसंहारार्थं तस्मादितिभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति।

ननु प्रदेयैकादशावदानगणप्रकृतित्वस्य पशुधर्मत्वात्कर्मैक्येऽपि प्रतिपश्वावृत्तेन्र्याय्यत्वात्सप्तदशावदानगणप्राप्त्युपपत्तेरतिदेशाविरोधात्तदनुरोधेन यागभेदानवधारणान्नायमुपसंहारो युक्त इत्याशङ्क्य पूर्वपक्षोक्तं पशुधर्मत्वमनुभाषणपूर्वं दूषयति—यदुक्तमिति। पशुसंस्कारेपूपाकरणादिषु द्रव्यकथम्भावोपपत्तावप्यत्रावदानगणेऽवदानप्राप्तिः प्राक् त्यज्यमानत्वलक्षणस्य प्रकारस्य तद्धितसामर्थ्यादेव ज्ञातत्वात्कथम्भावो नास्तीत्यनेनोक्तम्। यागस्य तु कथं पशुना निष्पादितेन मयाऽपूर्वं साधनीयं, किं पुरोडाशवत्साक्षाद्, व्रीहिवद्वा प्रदेयावदानगणप्रकृतित्वेनेत्यवदानगणे कथम्भावोद्भावाद्यागधर्मत्वेनैवावदानगणस्यावसीयत इत्यर्थः। श्लोकं व्याचष्टे—प्राजापत्येति। ननु प्राजापत्यपशुष्ववदानोपदेशाभावात्साक्षात्साधनत्वोपपत्तेरवदानगणानपेक्षायामप्यग्नीषोमीयेऽवदाननाशितस्य पशोः साक्षाद्यागसाधनत्वायोगात्कथं मया यागः साधनीय इत्यवदानगणापेक्षोपपत्तेः। पश्वङ्गताऽवदानगणस्य भविष्यतीत्याशङ्क्याह—प्रकृतावपि चेति। नाशितस्य पशोः सक्तुवन्निष्फलत्वाद्धर्माकाङ्क्षा न युक्तेत्याशयः। ननु संस्कारकत्वेनावदानानपेक्षणेऽपि द्वारत्वेन यागस्यापूर्वापेक्षावत्पशोरवदानापेक्षा भविष्यतीत्याशङ्क्याह—तद्धर्मत्वेनेति। अवदानोपदेशात्प्राक् पशोर्विनाशाज्ज्ञानाद्यागवत् द्वारापेक्षानुपपत्तेर्द्वारत्वे वापूर्ववदेवद्वारिधर्मत्वायोगात्पशुधर्मत्वमिच्छता हृदयाद्यवदानानां पशुसंस्कारतैव, द्व्यवदानस्य पुरोडाशसंस्कारत्वावदेष्टव्येत्याशयः।

'क्रत्वर्थश्चापि संस्कारः पशोनारादुपक्रिया।
दृष्टैव त्ववदानानां निष्पत्तिः क्रत्वपेक्षिता॥'

इति वार्त्तिके तु हिंसायाः पशुसंस्कारत्वाभिधानं तस्याः प्राणवियोजनात्मकत्वेऽपि स्वरूपनाशकत्वाभावादवदानप्रकृतित्वौपयिकत्वाच्चाविरुद्धम्। अवदानानां पशुधर्मत्वनिरासस्य पूर्वोक्तमतिदेशस्यैकस्मिन्कर्मणि सप्तदशावदानगणप्रापणासामर्थ्यमेकस्य चावदानगणस्य सप्तदशद्रव्यप्रकृतिप्रापणासामर्थ्यं प्रत्युपयोगमाह—तस्मादिति।

नन्वौपदेशिक्या सप्तदशसंख्यया अतिदेशिक्या हृदयाद्येकादशावदानगणप्रकृत्येकत्वसंख्याया बाधादनेकगणाग्रहणे अप्यनेकपशुग्रहणं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—यद्यपि चेति। सप्तदशयागकल्पनेनाविरोधोपपत्तेर्बाधाभावो यद्यपिशब्देन सूचितः। नन्वित्याशङ्काभाष्यं पशुसामानाधिकरण्येन श्रुतस्य सप्तदशत्वस्यावदानगणस्थत्वायोगादयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—नन्विति। पश्ववदानगणयोः सम्बन्धाप्रसिद्धेर्लक्षणानुपपत्तिमाशङ्क्य—यागेत्युक्तम्। पशुशब्दस्य प्राजापत्यशब्दसामाधिकरण्याद्यागीयद्रव्यवाचित्वावगतेः, अवदानगणस्य च साक्षाद्यागसाधनत्वात्तल्लक्षणा युक्तेत्याशयः 'नैतदि'ति परिहारभाष्यं पशुष्वपि श्रुतायाः संख्यायां

लक्षणयाऽवदानगणस्य त्वस्योक्तत्वादयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**नैतदिति**। पशोरपि यागीयद्रव्यप्रकृतित्वाद्यागीयत्वोपपत्तेर्लक्षणाकारणविरोधाभावान्न लक्षणा युक्तेत्याशयः पशुभिरेव तर्हि सप्तदशभिश्चोदकं बाधित्वा [1]यक्ष्यतइत्याशङ्कानिरासार्थमवदानानि चेत्यादिभाष्यं तात्पर्यतो व्याचष्टे—**तेनेति**।

ननु शुक्लकृष्णादिवर्णभेदभिन्नानामृजुवक्रादिशृङ्गभेदभिन्नानां कुब्जवामनादिसंस्थानभेदभिन्नानां वा सप्तदशानां मध्ये कश्चिदेकः पशुरित्येवमभिप्राय सप्तदशसंख्या यागैक्ये अप्युपत्स्यतइत्याशङ्कार्थमेवमिति भाष्यम्। अश्रुतवर्णादिविषयकत्वकल्पनप्रामाणाभावाद्वर्णादीनां च साप्तदश्यनियमाभावादानर्थक्यापत्तेश्च, ये सप्तदशेत्यनुवादानुपपत्तेर्विशेषानवधारणाच्च वर्णान्तरादिव्यवच्छेदानुपपत्तेरयुक्तमाशङ्क्य, मन्दाऽप्याशङ्का पशुप्रातिपदिकस्यावदानलक्षणार्थत्वाभावात्प्राजापत्यैकपशुनिर्द्धारणावच्छेदकपशुबहुत्वाच्च बहुवचनोपपत्तेरतिदेशप्राप्तैकपशुनिर्द्धारणावच्छेदकपशुबहुत्वाच्च बहुवचनोपपत्तेरतिदेशप्राप्तैकपशुनिष्पन्नैकादशावदानसाध्यत्वाच्च कृत्स्नस्य प्रकृतिवद्वाक्यशेषसहितस्योपदेशवाक्यस्यागमनिकार्थमुपन्यस्तेत्याह—**कृत्स्नेति**। शङ्काशयमुक्त्वाऽर्थं व्याचष्टे—**एतदिति**। श्यामत्वं नियमाद्वर्णाशयत्वमशृङ्गत्वाख्यरूपपरत्वनियमाच्छङ्काशयत्वं न युक्तम्, पश्वनेकत्वं च विनानेकसंस्थानाप्रसक्तेः संस्थानैक्यरूपैक्यरूपैक्योक्तिरनर्थिकेति, परिहारार्थत्वेन 'ते हीति भाष्यं व्याचष्टे—**तत्रेति**। तस्मादित्यधिकरणार्थोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**।

पूर्वपक्षप्रयोजनभाष्यं प्रजापतये सप्तदश पशवः सङ्कल्पन्त इति पूर्वपक्षोपक्रमादेको यागः सप्तदशभिः पशुभिर्निर्वर्त्स्यत इति उपसंहाराच्च सर्वपशुसाध्ययागत्वस्य पूर्वपक्षार्थत्वावगतेरेकपशुसाधनत्वस्य पश्वन्तरादृष्टार्थत्वस्य च पूर्वपक्ष्यनभिमतत्वावसायादयुक्तमाशङ्क्यैकमालभ्यमानमन्वालभ्येरन्न दृष्टायापर इति सिद्धान्तभाष्येऽप्यभिमतस्याप्येकपशुसाधनत्वस्येतरादृष्टार्थत्वस्य चापादनादापाद्योक्त्यर्थत्वेनोपपादयति—**प्रयोजनमिति**। अवदातव्यमित्यनेनावदानप्राग्भाविनामुपाकरणादीनां विशसनान्तानां पशुसंस्कारत्वादेकस्यावदानप्रकृतित्वरूपसाक्षात्साधनत्वेऽपि सप्तदशसंख्यस्य साधनत्वात्साधनत्वप्रयुक्तत्वाच्च संस्काराणां सर्वपशुष्वनुष्ठानम्। अवदानानां तु संस्कारत्वाभावादेकस्मादेव पशोरनुष्ठानमिति सूचयताऽऽलभतेः संस्कारमात्रोपलक्षणार्थत्वोक्तेश्चावदानप्रकृतित्वनिरासार्थत्वं व्याख्यातम्। यदा चैकस्यैवावदानप्रकृतित्वेन यागसाधनत्वात्प्राधान्ये, पश्वन्तराणां तु साधनभूतपशुसंख्यासम्पादनार्थत्वात्तादर्थ्यमिति पूर्वपक्षप्रयोजनमापादितम्, तदैकपशुनाशे कृत्स्नपशुगणावृत्त्याख्यप्रयोजनान्तरोक्तिर्गुणानुरोधेनेतरावृत्त्ययोगादवदानप्रकृतिभूतपशुनाऽत्राविषयेति दर्शयितुमाह—**तद्विनाशे चेति**।

पूर्वोपात्तानामपि पशूनां विनष्टत्वापशुप्रतिनिधिभूतपश्वन्तरसंख्यासम्पादनार्थत्वोपपत्तेः, कृतानामपि संस्काराणां पुनः क्रिया पश्वावृत्तित्वेन विवक्षिता। एकस्य तु पशोरवदान-

1. पक्ष्यत इति मु० पु० पा।

प्रकृतित्वे पश्वन्तराणां देवतानन्वयापत्तेः प्राजापत्यशब्दस्य बहुवचनायोगप्रसङ्गादापाद्योक्तप्रयोजनापरितोषेणैकस्मिन्नित्याद्यप्रयोजनभाष्यमवदानगणस्य प्रतिपश्वावर्त्त्या सर्वपशूनां यागसाधनत्वाविशेषात्समप्राधान्यमभिप्रेत्य यस्य कस्य चित्पशोर्नाशे कृत्स्नपशुगुणावृत्त्युक्तचर्थत्वेनान्यथा व्याख्यातुमाह—**अथ वेति**। य एव कश्चिदेको अनेको वा पशुर्नष्टः तस्मिन्यस्मिन्कस्मिश्चिन्नष्टे समस्तपश्वावृत्तिः। न त्वेकस्मिन्नष्टे पशौ सर्वेषां यागसाधनत्वाविशेषादित्येवकारार्थः। ननु यथाप्रस्तोतोद्गातृप्रतिहर्तॄणामन्योन्यहस्तधारणेन समन्वारब्धानां सदो गच्छतामुद्गात्रा हस्तमोचनेन विभागाख्ये विच्छेदे कृते यज्ञावृत्तिर्विहिताऽतिदेशेनाहर्गणं प्राप्ता किं यस्मिन्नहन्यवच्छेदस्तस्यैवावृत्तिः, कृत्स्नस्य वाहर्गणस्येति सन्दिग्धे साहित्यसम्पत्त्यर्थं कृत्स्नावृत्तौ प्राप्तायामहर्गणेषु यस्मिन्नवच्छेदः, तदावर्त्तेत कर्मपृथक्त्वादि६-५-ति षष्ठाधिकरणसूत्रेण प्रत्येकमितिकर्त्तव्यतान्वयादेकस्यैवावृत्तिर्वक्ष्यते, तथात्रापि प्राप्तेर्न कृत्स्नपशुगणावृत्तिर्युक्तेत्याशङ्कते—**नन्विति**। पृथगुत्पन्नत्वेनाऽह्ना प्रत्येकं साधनशक्तयवगमात्सह प्रयोगेऽप्याग्नेयादिवत्प्रत्येकमितिकर्त्तव्यतान्वयोपपत्तिरेकावृत्त्युपपत्तावपि पशूनां पूर्वपक्षेव्यासङ्गिसाधनत्वात्तादृशानामेवेतिकर्त्तव्यतान्वयार्थं समस्तावृत्तिर्युक्तेति परिहरति—**नैतदिति**।

सिद्धान्तप्रयोजनभाष्यं व्याचष्टे—**सिद्धान्ते त्विति**। ननु समुच्चितानां साधनत्वविधावेकनाशे कृत्स्नावृत्ता'वेकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयैस्त्रिवृद्बहिष्पवमानमित्या'दौ समुच्चितानां मन्त्राणां स्तोत्रसाधनत्वविधानात्, 'तृचं शंसति सूक्तं शंसतीत्या'दौ च शस्त्रसाधनत्वविधानात्, 'तां चतुर्भिरादत्त' 'इत्यादौ' चाभ्र्यादानादिसाधनत्वविधानादेकमन्त्रविनाशे कृत्स्नमन्त्रावृत्तिः स्यादित्याशङ्कते—**नन्विति**। स्वार्थाभिधानद्वारा मन्त्राणां स्तोत्रादिसाधनत्वात्प्रतिमन्त्रं च वाक्यार्थभेदात्प्रत्येकमेव स्वार्थाभिधानाख्यावान्तरकार्यद्वारा स्तोत्रादिसाधनत्वे सति संख्यायुक्तेन वचनेन साधनानां समुच्चयाश्रयणात्समुच्चितसाधनत्वाभावेन साधनत्वस्य व्यासङ्गित्वाभावान्नैकनाशे कृत्स्नावृत्त्यापत्तिरिति परिहरति—**नेति**। एतदेव विवृणोति—**यदिति**। प्रत्येकं वाक्यार्थाभिधाननिष्पादनाशक्तौ विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वे सत्यैकार्थत्वापत्तेरेकस्तोत्रादिसाधनानामैकमन्त्र्यं स्यादित्यर्थः।

ननु मन्त्राणां स्वार्थाभिधानलक्षणेऽवान्तरकार्ये प्रत्येकंनिर्वर्त्तनसामर्थ्ये स्तोत्रादौ संहत्यकारित्वात्साधनत्वं व्यासङ्गि भविष्यतीत्याशङ्क्य—**भिन्नैरेव चेत्युक्तम्**। वाक्यार्थाभिधानानां प्रत्येकं स्तोत्रादिसाधनत्वशक्तिर्भिन्नशब्देनोक्ता। संहत्यशब्देन साधनसाहित्यं मन्त्रकार्यैर्वाक्यार्थाभिधाने प्रत्येकं स्तोत्रादिसाधनशक्तिमद्भिरेव साधनसमुच्चयविधिना सहकृत्य स्तोत्रादिकार्यान्तरारम्भावगतेर्व्यासज्यसाधनत्वावसायान्न कार्यान्तरेऽपि मन्त्राणां व्यासज्यसाधनतेत्यर्थः। पशूनां तु न मन्त्रवत्साधनानां साहित्यम्, किं तु सहितानां साधनतेति वैषम्यमाह—**पशूनां त्विति**। मन्त्रवत्तत्कार्याणामपि सहितसाधनत्वाभावेऽपि प्रकारान्तरेणापि कृत्स्नावृत्तिद्योतनायाशङ्कते—**तावन्मन्त्रेति**। एकमन्त्रनाशेनैककार्यनाशे, सति कृत्स्नस्वकार्यावृत्तिः स्यात्, ततश्च तत्सिद्ध्यर्थं कृत्स्नमन्त्रावृत्तिरपि स्यादित्याशयः। परिहरति—**नेति**। कार्याणां नान्तरीयकत्वेन सहितसाधनतया विध्यभावादेककार्यनाशे साधनत्वरूपनाशकल्पनानुपपत्तेः साधनभूतमन्त्रनाशेनैव नाशस्याभ्युपेतव्यत्वान्मन्त्राणां च

प्रत्येकं साधनत्वेनैकमन्त्रनाशेऽप्यविनष्टमन्त्रे कार्यनाशायोगादनुनिष्पादित्वेन च मन्त्रावृत्तिं विनाऽवर्त्तयितुमशक्यत्वान्निष्पन्नाविनष्टस्य च कार्यस्य साधनावृत्त्यनपेक्षकत्वान्नावृत्तिर्युक्तेत्याशयः। मन्त्राणां पशुवैषम्यमुपसंहरति—इतीति ॥ २१ ॥

॥ इति सप्तमं संख्याधिकरणम् ॥

भा० प्र०—धातु के अभ्यास में आख्यात का भेद होने से कर्म का भेद होता है—यह पूर्व में कहा गया है। इसके बाद प्रत्यवस्थान सङ्गति क्रम में चार अधिकरण वर्णित किये गए हैं। प्रकृत में उसी का प्रत्युदाहरणरूप में पूर्वपक्ष किया जा सकता है। वाजपेय प्रकरण में "सप्तदश प्राजपत्यान् पशूनालभेत्" (तै० ब्रा० १।३।४) अर्थात् प्रजापति देवता के उद्देश में सतरह पशु का वध कर उनके द्वारा याग करें—यह जो वाक्य पढ़ा गया है इसमें धात्वर्थ का अभ्यास न होने से आख्यात का भेद बन्धन जो कर्मभेद होगा अर्थात् सप्तदश कर्म होगा यह नहीं कहा जा सकता है क्योंकि, इस स्थल में पशुरूप द्रव्य एवं प्रजापति नामक देवता सर्वत्र अभिन्न अर्थात् एकरूप हैं। इसलिए सर्वत्र एक ही द्रव्य एवं एक ही देवता होने से याग का रूपभेद नहीं होने से सतरह पशुओं के द्वारा एक ही याग सम्पादित होगा। क्योंकि, सप्तदश संख्या पशुद्रव्यगत और पशु याग का शरीर होता है। यदि "तिस्रः आहुतीर्जुहोति" इस वाक्य से विहित कर्म के समान इस स्थल में संख्या क्रियागामिनी होती है, ऐसी स्थिति में संख्या के भेद के अनुसार कर्म का भी भेद हो सकता है, किन्तु, यहाँ श्रूयमाण संख्या क्रियागत न होकर द्रव्यगत होने से उसके लिए कर्म का भेद नहीं हो सकता है। इस स्थल में कर्म का भेद मानने पर अप्रामाणिक अनेक अदृष्ट=अपूर्व की ही कल्पना करने से कल्पनागौरव दोष भी होगा। किन्तु लाघव सम्भव होने पर कल्पनागौरव मानना उचित नहीं है। इसीलिए इस स्थल में कर्मभेद नहीं है, किन्तु यह सतरह पशु की समष्टि से साध्य एक कर्ममात्र है।

इस पूर्वपक्ष के समाधान में सिद्धान्ती का कहना है "संख्यया कर्मभेदः" संख्या के अनुसार कर्म का भेद होता है। क्योंकि, इन स्थलों में संख्या के साथ अन्वित होकर अपेक्षित देवता का प्रकाश अधिक आवश्यक है। क्योंकि देवता के बिना याग का स्वरूप निष्पन्न नहीं होता है और इसके अनुसार प्रजापति जिसका देवता है, इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रजापत्य' शब्द निष्पन्न होता है, उसके साथ प्रथम पशुपद का अन्वय होता है, अनन्तर कर्मकारक एवं उसके बाद सप्तदश संख्या के साथ पशुपद का अन्वय होता है। अतः "प्राजापत्यपशु" कहने पर प्रजापतिरूपदेवताविशिष्ट एवं एक पशु के द्वारा साध्य याग अवगत होता है। अनन्तर सप्तदश संख्या के साथ अन्वित होने पर उसे सतरह याग कहा जाता है, अतः इस स्थल में एक याग नहीं हो सकता है, वरन् संख्या के भेद से याग का भेद होता है।

संख्या के भेद से जो याग का भेद माना गया है, इसको मानने का अन्य कारण यह भी है कि अतिदेशविधि के द्वारा यह अवगत होता है कि इस पशुयाग में ग्यारह

अवदान अर्थात् खण्ड का होम किया जाता है। ग्यारह खण्ड एक पशु का करने पर भी ग्यारह टुकड़ा प्राप्त किया जाता है अथवा प्रत्येक खण्ड से एक अवदान ग्रहण किया जाय तब भी ग्यारह खण्ड से ग्यारह टुकड़ा प्राप्त होता है। परिणामस्वरूप सोलह खण्ड या छः खण्ड निरर्थक हो जाता है। श्रुति के द्वारा उपदिष्ट है कि पशु जो निरर्थक होंगे—उनके शरीरांश से किसी हवि की आहुति नहीं होगी—यह नहीं माना जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि अन्य अंश अदृष्टार्थक होगा अर्थात् अन्य के वध से यागीय अपूर्व होगा, यह भी नहीं कहा जा सकता है, कारण श्रुति में पशुओं में जो प्राजापत्यत्व कहा गया है—उसका बाध होगा, क्योंकि, पशु का अङ्गकीप्रजापति देवता के उद्देश्य से आहुति न देने पर वह प्राजापत्य नहीं हो सकता है, इसलिए इस स्थल में सप्तदश संख्या के अनुसार प्राजापत्य पशुविशिष्ट सतरह याग स्वीकार करना होगा। ऐसा मानने पर प्रत्येक खण्ड से जैसे पृथक् रूप में एक एक याग निष्पन्न होता है, वैसे ही पृथक्त्व का आश्रयण कर जो खण्ड हैं उनमें एकादश संख्या भी निविष्ट हो जाती है। इसलिए प्रत्येक खण्ड से ही ग्यारह खण्ड का अवदान निष्पन्न हो सकता है, इस स्थिति में किसी प्रकार की निरर्थकता का प्रसङ्ग नहीं होता है, इसीलिए सूत्र में कहा गया है "पृथक्त्व-निवेशात्"। पूर्वपक्षी ने अदृष्ट कल्पनारूप गौरव दोष का उत्थापन किया है—वह भी व्यर्थ ही है, क्योंकि, फलमुखगौरवदोषावह नहीं होता, प्रमाण के द्वारा जब कर्मभेद अवधारित है तब उसके अनुसार अनेक अदृष्ट की कल्पना भी प्रामाणिक है।

इस अधिकरण का यह प्रयोजन है कि पूर्वपक्षी के मत में पशुयाग का उपाकरण आदि सभी संस्कार किये जाते हैं, वे एक एक संस्कार सतरह पशु में क्रमिक रूप से अनुष्ठेय हैं, अर्थात् सतरह पशु में भिन्न भिन्न उपाकरण संस्कार करने ने यदि मध्य स्थल में एक पशु नष्ट हो जाता है तो उसके स्थान पर अन्य पशु लाकर सभी संस्कार आरम्भ किये जायेंगे। किन्तु सिद्धान्ती के मत में एक एक पशु में अन्य निरपेक्षभाव में सभी संस्कार किए जाने से जो पशु नष्ट होंगे, उसके स्थान पर अन्य पशु लाकर केवल उसी का संस्कार करना होगा अन्य का नहीं।

"पृथक्त्वनिवेशात्" = पृथक्त्व के साथ उसके आश्रयद्रव्य में अवदानसम्बन्धीय एकादश आदि संख्या का अन्वय होने से "संख्ययाकर्मभेदः" = संख्या के कारण ही कर्म का भेद होता है ॥ २१ ॥

॥ सप्तमसंख्याकृतकर्मभेदाधिकरणम् ॥

[८] संज्ञा चोत्पत्तिसंयोगात् ॥ २२ ॥ सि०

शा० भा०—'अथैष ज्योतिः, अथैष विश्वज्योतिः, अथैष सर्वज्योतिः—एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत' इति श्रूयते। अत्र संदेहः[1]—किमेभिर्नामधेयैः प्रकृतं

१. ब० संशयः।

ज्योतिष्टोमं संकीर्त्य तत्र[1] सहस्रदक्षिणादिर्गुणो विधीयते, अथवा वक्ष्यमाण-विशेषाणि कर्मान्तराण्युपदिश्यन्त इति। किं प्राप्तम्? प्रकरणानुग्रहात्प्रकृतस्य गुणविधानमिति। ननु वाक्यसामर्थ्याज्ज्योतिरादीनामेते गुणा विधायिष्यन्ते। नैष दोषः। ज्योतिष्टोमस्यैवैतानि वाचकानि। ज्योतिरिति ज्योतिष्टोमस्य प्रतीकमुपादीयते, विश्वज्योतिरिति। त्रिवृदादीन्यस्य ज्योतींषि वाक्यशेष[2]-संकीर्तितानि। तानि सर्वाण्यस्य। तेनासौ विश्वज्योतिः सर्वज्योतिश्च ज्योति-ष्टोम [3]इत्येव प्राप्तम्। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः संज्ञा[4] हि तिस्रो भेदिकाः तेषां ज्योतिराद्याः। उत्पत्तिवाक्ये ह्येताः श्रूयन्ते। नासामिमाः पुनः श्रुतयः। तस्मादथैष ज्योतिरित्यपूर्वस्य कर्मणो विधायकं वाक्यम्। अनुवादे हि सत्यप्रवृत्तिविशेषकरमनर्थकं स्यात्। प्रकृतस्य च गुणविधाने विकल्पो भवेत्। तत्र पक्षे बाधः। न च ज्योतिरादयो ज्योतिष्टो-मस्य वदितारः। समुदायान्तराणि ह्येतानि। न चावयवेन समानेन समुदाया-न्तरं तदर्थमेव भवति। यथा शालाशब्दो गृहवचनः, तत्र न शालाशब्दसामा-न्यान्मालाशब्दादयोऽपि गृहवचना भवन्ति।

यत्तु ज्योतिष्टोमस्य ज्योतिरिति प्रतीकमुपादीयत इति। प्रकरणसामर्थ्याद्धि तत्र[5] ज्योतिष्टोमशब्देन परोक्षेणैक[6]वाक्यता भवेत्। सा प्रत्यक्षं ज्योतिःशब्देन सहैकवाक्यतां बाधेत। न चैतन्न्याय्यम्। वाक्यं हि प्रकरणाद्बलीयः।

अथ पुनरयं द्योतनार्थ[7]त्वाद्वा ज्योतिष्मत्त्वाद्वा कर्मान्तरे वर्त्स्यति। यश्च त्रिवृदादीनि ज्योतींषि, तेषां साकल्यवचनो विश्वज्योतिः सर्वज्योतिरिति चेत्?

नेति ब्रूमः। न हि त्रिवृदादिषु ज्योतिःशब्दः प्रसिद्धः। एवं ब्रुवन् प्रसिद्धिं बाधेत। यत्तु वाक्य[8]शेषाज्ज्योतिःशब्दस्त्रिवृदादिवचन इति। तस्मिन्नेव वाक्ये स तत्र प्रयुक्त[9] इति गम्यते प्रमाणान्तरेण, न शब्देन। यत्र तु तत्प्रमाणान्तरं नास्ति, न तत्र वर्तितुमर्हति। यथा सिंहो देवदत्त इति सिंहशब्दो देवदत्तवचनः प्रमाणान्तरेण, न तु सिंहमालभेतेति यत्र, तत्र तु तत् प्रमाणान्तरं नास्ति। न तत्र वर्तितुमर्हति। यथा सिंहो देवदत्त इति सिंहशब्दो देवदत्तवचनः प्रमाणा-न्तरेण, न तु सिंहमालभेतेति यत्र, तत्र तु तत् प्रमाणान्तरं नास्ति। तस्मान्न विश्वज्योतिः सर्वज्योतिरिति च ज्योतिष्टोमस्य [10]वदितारौ। न चेज्ज्योतिष्टोम उच्यते, सर्वाणि[11] कर्मान्तराणि इति ॥२२॥ इत्यष्टमं संज्ञाधिकरणम् ॥८॥

---

१. ब० तस्य। २. ब. वाक्यशेषे। ३. ब. इत्येवं प्राप्तेब्रूमः।
४. ब. संज्ञाहिभेत्र्येषां ज्योतिराद्या। ५. ब. तत्र या।
६. ब. परोक्षा एकवाक्यता। ७. ब. द्योतनाद्वा। ८. ब. वाक्यशेषे।
९. ब. प्रयुज्यत इति। १०. ब. वक्तारौ। ११. ब. सर्वाण्यपूर्वाणिकर्मांतराणि।

त० वा०—बहुविचारित्वाद् गुणप्रकरणभेदावुपेक्ष्य संज्ञा तावदुदाह्रियते। तत्र अथैषज्ज्योतिः' इत्यादिष्वथशब्दैषशब्दयोः[1] पूर्वप्रकृतापेक्षत्वात्प्रकृतहान्यप्रकृत-प्रक्रियाकल्पनदौर्बल्यादेकस्यापि च दाक्षायणयज्ञादिवद्वक्ष्यमाणेन गुणयोगेनानेक-नामधेयत्वसिद्धेः। न च गुणफलसंबन्धपरे वाक्ये सति कर्मान्तरम्, कर्मानुसारि चापूर्वम्, तत्सिद्ध्यर्थानि चात्यन्ताश्रुतेतिकर्तव्यतादीनि कल्पितानि भविष्यन्ति। कथंभावापेक्षया च ज्योतिष्टोमः सहस्रदक्षिणादि गृह्णन्न वारितो भविष्यति। न च कर्मान्तरविधावथशब्देन पूर्वापेक्षेण किंचित्फलमस्ति। न हि क्रतुः क्रत्वन्तरम-पेक्षते। न च क्रतूनां क्रमविवक्षेति वक्ष्यामः। तेन क्रमार्थमपि नाथशब्दश्रवणम्। न च संज्ञा भावनां ब्रवीति। नापि धात्वर्थो यजत्यादिवत्तदुपश्लिष्टः, येन तद्भेद-बुद्धिः स्यात्। न चेयं विधात्री श्रुतिः, येन विहिते कर्मान्तरे पुरुषं प्रवर्तयेत्। न चाप्रवर्तिते पुरुषे भेदः प्रतीतोऽपि ग्रहैकत्ववद्विवक्ष्यते। यस्त्वत्र विधायकः स गुणाद्याक्षेपान्न कर्मस्वरूपे निपतति। न चेदसावाक्षिप्तः। ततोऽभ्यासादेव भेदः स्यात्। न संज्ञातः। 'फलसम्बन्धोऽपि' च संनिधौ त्वविभागात्। इत्यनेन न्यायेन न कर्मान्तरबुद्धिं करोति।

यद्वा दधिगोदोहनादिवत्प्रकृतकर्माश्रयात्सहस्रदक्षिणादेर्गुणादेवैतत्फलमित्यध्य-वसानादकर्मान्तरत्वम्।

ज्योतिरादिषु त्वयमपरो विशेषः यज्ज्योतिष्टोमनामैकदेशत्वेन तद्बुद्ध्यनपायः। तथा 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा' इति तत्र तत्र प्रयोगो दृश्यते। तस्माच्छब्दान्तरा-भ्याससंख्यापूर्वकर्मायोग्यगुणप्रकरणान्तराणामभावादभेद इति प्राप्ते।

अभिधीयते।

अनुक्ते कर्मशब्दे या संज्ञा पूर्वं प्रवर्तते।
न वस्त्वन्तरबुद्धेः सा कथंचिदपनीयते॥

या ह्युत्पन्ने पूर्वोच्चारित आख्यातशब्दे संज्ञा प्रवर्तते, सा पूर्वमेवाऽऽख्यातेन भेदाभेदयोरन्यतरत्र निश्चये कृते पश्चात्प्रवर्तमाना न भिन्द्यात्। इयं पुनरुत्पत्स्य-मानसंयुक्ता संख्यावच्च पृथक्त्वनिवेशिनी। कथम्। सर्वत्रैव तावदनेकार्थानेक-शब्दयोरन्याय्यत्वादर्थान्तरदर्शनात्संज्ञान्तरमपेक्षते। संज्ञान्तरदर्शनाच्चार्थान्तरत्वम्, तच्चोभयमपि बलीयसस्तद्बाधकप्रत्यभिज्ञानाद्बाध्यते। यावत्तु तादृग्बाधकविज्ञानं नास्ति, तावदनपोदितमौत्सर्गिकं भेदज्ञानमास्ते। तदिह पूर्वप्रस्तुतज्योतिष्टोम-विलक्षणमनन्तरम् 'अथैष गोः' इति संज्ञान्तरमुच्चार्यमाणमेव पूर्वसम्बन्धानु-भवादृते तत्र बुद्धिमनादधदात्मानुरञ्जितप्रत्याय्यार्थान्तरबुद्धिं करोति। तत्र प्रागूर्ध्वं वा संज्ञी स्यादित्यन्विष्यमाणे यावन्तः प्रागुच्चारिता यजतयः ते सर्वे

---

१. क० शब्दयोगपूर्वप्रकृता।

ज्योतिष्टोमबुद्धावविच्छिन्नायां प्रवृत्तत्वात्तद्विषयत्वेनावधारिता नार्थान्तरत्वम्, संज्ञान्तरभाक्त्वं वा लभन्ते। यस्तु प्रस्तूयमानः, स यद्यपि फलगुन्तेणोपबन्धादन्यत्र व्यापृते विधायके तद्वशेन न भिद्यते, तथाऽप्यसम्बद्धपदव्यवायन्यायेन गोशब्दे पूर्वत्रानिविशमाने तद्बुद्धावननुषज्जमानायां प्रकरणविच्छेदे ज्ञातेऽर्थान्तरकलुषितायां च बुद्धौ निपतत्संज्ञान्तराविरुद्धं च ज्योतिष्टोमं गन्तुमशक्नुवन्विच्छिन्नानुसन्धानादर्थान्तरे वर्तते। तथा हि—

संज्ञानदीव्यवच्छिन्नो यजिः पूर्वं न गच्छति।
न च पूर्वस्तमित्येवं बलादर्थान्तरं गताः॥

एवं च सति अथशब्दः पूर्वप्रकृतापेक्षणानन्तर्याद्यसम्भवात्कर्मान्तराधिकारार्थे एवावगम्यते। एषशब्दोऽपि संनिहितप्रत्यक्षवचनः सन्यथैव च पूर्वप्रकृते तद्रूपत्वाद्वर्तते, तथोत्तरे प्रस्तूयमानेऽपीत्यविशेषः। प्रकृतविच्छेदाप्रकृतप्रक्रिये च संज्ञाश्रुतिवशादाश्रीयमाणे निर्दोषे। **नासामिमाः पुन श्रुतय इति।** प्रथमोच्चारितत्वान्नैव पुनः श्रुतित्वाशङ्काऽस्तीत्येवं वर्ण्यते। नोत्पन्ने कर्मणि पुनः श्रूयन्त इत्यभिप्रायः। समस्तमेव च वाक्यमनर्थकं भवेत्। अथैष ज्योतिरिति ह्यनुक्त्वाऽपि शक्यन्ते सहस्रदक्षिणादयो गुणा विधातुम्।

कर्मैकत्वपक्षे च द्वादशशतप्रभृतीनां सहस्रदक्षिणादीनां च तुल्यार्थत्वाद्विकल्पः स्यात्। स चान्याय्यः। कर्मान्तरत्वे तु नैष दोषः। न च गुणात्फलमवसीयते, संज्ञाविच्छिन्नाश्रयलाभा[1]सम्भवात्। प्रस्तूयमानकर्मसम्बन्धश्च संज्ञागुणफलादीनां वाक्येन, पूर्वकर्मसम्बन्धः प्रकरणेन। तस्मादपि कर्मान्तरम्।

न च ज्योतिरादीनां ज्योतिष्टोमावयवत्वम्, न हि कण्वरथन्तरावयवो रथन्तरमिति निश्चीयते। यत्तु 'वसन्ते ज्योतिषा यजेत' इति प्रयोगो दृष्ट इति, स प्रमाणान्तरावगमवशाद्गौण इति दृष्टव्यम्। न चेह तादृक्प्रमाणान्तरमस्ति, येन तद्विषयत्वमवगम्येत।

योऽपि त्रिवृदादिषु ज्योतिःशब्दप्रयोगः सोऽपि तत्रैव वाक्ये सामानाधिकरण्यादौपचारिक इति न सर्वत्र लभ्यते। तथा हि।

सिंहशब्दः क्वचिद्गौणो माणवादौ निरूपितः।
नाऽऽलम्भे श्रूयमाणोऽपि तदर्थः परिगृह्यते॥

तस्मान्मुख्यार्थपरिग्रहाद्भेदिका संज्ञेति सिद्धम्॥ २२॥

(इत्यष्टमं संज्ञाधिकरणम्॥ ८॥)

---

१. क० भानासम्भवात्।

॰अथाष्टमं संज्ञाधिकरणम् ॥ ८ ॥

न्या॰ सु॰—ननु संख्या-गुणयोः कर्माङ्गत्वेन तुल्यरूपत्वाद् गुणनिमित्तभेदचिन्ता-संख्यानिमित्तभेदचिन्तानन्तरं युक्ता, न संज्ञानिमित्तभेदचिन्तेत्याशङ्क्याह—**बह्विति**। बहुचिन्तायां बह्वायासत्वाकृत्यान्तराक्षिप्तचित्तेन कर्तुमशक्तेस्ततः प्रागल्पचिन्ताया युक्तत्वादल्पत्वसाम्येन च बुद्धिस्थत्वात्संख्याचिन्तानन्तरं संज्ञाचिन्ता युक्तेत्याशयः। पृथक्त्वनिवेशाख्यहेतुसाम्यादप्यनन्तरसङ्गतिः। संख्यावच्च पृथक्त्वनिवेशिनीति वार्त्तिके सूचयिष्यते—**किमेभिरिति**। भाष्ये[1] प्रकृतसङ्कीर्त्तनकान्येतानि नामानि, कर्मान्तरोपदेशीनि वेति संज्ञाया भेदकत्वसद्भावसन्दोहोक्त्यर्थत्वेन स्पष्टत्वादव्याख्याय, किं प्राप्तमिति पूर्वपक्षभाष्यं प्रकरणस्य तादर्थ्यप्रमाणत्वेन भेदाभेदयोरव्यापाराद् गुणविधानस्य च कर्मान्तरेऽप्युपपत्तेस्तदुपन्यासानर्थक्यादयुक्तमाशङ्क्य पूर्वप्रकृतस्य पश्चादुच्चारिताभ्यामथैष शब्दाभ्यां ग्रहणादित्येवम्, प्रकृतप्रत्यभिज्ञानस्यानुग्राह्यत्वादित्येवं वा प्रकरणानुग्रहशब्दव्याख्यानं गुणविध्युक्तेश्च कर्मविध्यभावेन कल्पनालाघवाभिधानार्थत्वं सूचयितुमाह—**तत्रेति**। पञ्चम्यन्तापेक्षितं साध्यमकर्मान्तरत्वमिति वक्ष्यमाणमनुसन्धेयम्। एषशब्दस्य सर्वनामत्वात्पूर्वप्रकृतपरामर्शित्वलक्षणं पूर्वप्रकृतापेक्षत्वम्। अथशब्दस्य तु कर्मभेदप्रमाणाभावेनाधिकारार्थत्वायोगात्पूर्वप्रकृतकर्मापेक्षत्वानन्तर्यार्थतया च स्वयमेव निषेत्स्यमानत्वाद् गुणविधानार्थस्य ज्योतिःशब्देन ज्योतिष्टोमानुवादस्य पूर्वप्रकृतज्योतिष्टोमविध्यपेक्षित्ववाचित्वलक्षणं पूर्वप्रकृतापेक्षत्वमभिप्रेतं प्रकृतहानेरप्रकृतप्रक्रियाकल्पनस्य च दौर्बल्यलक्षितबाध्यत्वोक्त्या प्रकरणशब्दस्य तद्बाधकप्रकृतप्रत्यभिज्ञानलक्षणार्थत्वं सूचितम्। पृथक्त्वनिवेशिशङ्काश्रुतिबलेन प्रकृतकर्मप्रत्यभिज्ञानस्यैव बाध्यत्वमाशङ्क्य, ज्योतिरिति ज्योतिष्टोमस्य प्रतीकमित्यादिभाष्ये वक्ष्यमाणेन ज्योतिःशब्दवाच्यत्रिवृदादिसर्वस्तोमवत्त्वलक्षणगुणयोगेना'थ पुनरि'ति भाष्यवक्ष्यमाणेन च द्योतनादिगुणयोगेनैकस्यापि ज्योतिष्टोमस्यानेकसंज्ञोपपत्तिरुक्ता। अनेकानि नामधेयानि यस्यासावनेकनामधेयस्तस्य भावस्तत्त्वमिति विग्रहः। यथैकस्यैव दर्शपूर्णमासाख्यस्य कर्मणोऽयनादिशब्दवाच्यावृत्त्यादिगुणयोगेनानेकदाक्षायणादि संज्ञोपपत्तिरिति दृष्टान्तार्थः। न चेत्यनेन गुणविध्युक्तेः कल्पनालाघवाभिधानार्थत्वं सूचितम्। गुणोक्त्या फलस्याप्युपलक्षणं सूचयितुं फलशब्दः। गुणान्वयार्थं फलान्वयार्थं वा ज्योतिरादिशब्देन ज्योतिष्टोमसङ्कीर्त्तनार्थत्वोपपत्तेर्न संज्ञान्तरं कर्मान्तराक्षेपकमित्याशयः। भविष्यन्तीत्यध्यवसानादकर्मान्तरत्वमिति वक्ष्यमाणसाध्यानुषङ्गः। भाष्यमप्यथैषशब्दाभ्यां प्रकृतग्रहणात्तदुपबद्धायाः संज्ञायाः प्रकृतविषयत्वावगतेः, प्रकृतप्रत्यभिज्ञानस्य वानुग्राह्यत्वात्प्रकृतस्य च गुणविधानार्थम्, फलविधानार्थं वानेकसंज्ञोपपत्तेर्ज्योतिष्टोम एव ज्योतिरादिसंज्ञकः, न कर्मान्तरमित्येवं प्राप्तमिति वक्ष्यमाणसाध्यान्वयेन पूरणीयम्। संज्ञाया वा भेदकत्वनिरासायैव प्रकृते गुणविधानोपपादनार्थं प्रकरणानुग्रहोक्तिरित्येकवाक्यत्वेन भाष्यस्य

१. संदिहभाष्यामिति ३ पु॰ पा॰।

व्याख्यान्तरं सूचयितुमाह—**कथम्भावेति**। अत्रापि भविष्यतीत्यध्यवसानादकर्मान्तरत्वमिति वक्ष्यमाणसाध्यानुषङ्गः। किं चाथशब्दोपबन्धेन वा संज्ञाया भेदकत्वं स्यात्, स्वतो वा तत्राधिकारार्थत्वे मन्दकफलत्वापत्तेः पूर्वप्रकृतकर्मापेक्षितार्थत्वेनापेक्ष्यापेक्ष्यकभावस्य भेदाधिष्ठानत्वाद्भेदद्योतकताऽथशब्दस्य वाच्या। न चाङ्गाङ्गिभावं, संहत्य फलसाधनत्वं वा विनान्योन्यापेक्षा सम्भवतीत्याशयेनाह—**न चेति**। पञ्चमे च क्रतूनां क्रमानादरस्य वक्ष्यमाणत्वादानन्तर्यार्थत्वस्याप्यनुपपत्तेर्न तद्वशेनापि भेदद्योतकतेत्याह—**न च क्रतूनामिति**। स्वतस्तु संख्यायाभेदकत्वमनाशङ्क्यमेव। भावनाभेदो हि लक्षणार्थः। न च ज्योतिरादिसंज्ञा भावनावाचिनी येन तां भिन्द्यादित्याह—**न च संज्ञेति**। ननु भावनावाचित्वाभावेऽपि संज्ञाया धात्वर्थवाचित्वाच्छब्दान्तरवद्धात्वर्थद्वारा भावनाभेदकत्वं (भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**न च धात्वर्थ इति**। धातूक्तस्य धात्वर्थस्य भावनासंलग्नत्वात्, तदवच्छेदकत्वावगतेर्बोध्यस्य बुद्धिभेदकत्ववद्भावनाभेदकत्वं युक्तं, नामोक्तस्य तु भावनोपश्लेषाभावेन तदवच्छेदकत्वानवगतेरबुध्यमानस्य घटादेर्बुध्या भेदकत्वं न सम्भवतीत्याशयः[1])।

ननु शब्दान्तरवत्संज्ञाया भावनावच्छेदकत्वरूपेण धात्वर्थवाचित्वाभावाच्छब्दान्तरन्यायेन भावनाभेदकत्वायोगेऽपि संज्ञाया विधेयविशेषप्रतिपत्त्यर्थत्वाद्भावनानिरपेक्षस्य च धात्वर्थस्य विधेयत्वायोगाद्विधेयभावनाभेदं विनाऽनर्थक्यापत्तेरभ्यासन्यायेन भावनाभेदकत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**न चेति**। (विधेरप्रवृत्तप्रवर्त्तनस्वाभावत्वादन्यतः प्राप्तेर्विधित्वव्याघातापत्तेः पुनर्विधानलक्षणस्याभ्यासस्य भेदकत्वं युक्तं[2]) सञ्ज्ञायास्त्वप्रवृत्तप्रवर्त्तनस्वभावत्वाभावान्नाभ्यासन्यायविषयताऽस्तीत्याशयः। नन्वप्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावत्वाभावेऽपि विधेयविशेषप्रतिपत्त्यर्थत्वात्सञ्ज्ञायाः सञ्ज्ञान्तरात्प्रतिपन्ने विशेषे सञ्ज्ञान्तरानर्थक्यापत्तेर्भेदकत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**न चाप्रवर्त्तित इति**। नानासञ्ज्ञानामविशेषाद्विकल्पेनाऽर्थवत्त्वोपपत्तेर्न तत्वद्भेदप्रतीतिरित्यपिशब्दार्थः। प्रतीतोऽपि तु भेदो विध्यसंस्पर्शादनादृत्य इत्यतिशयोक्तिः।

ननु सञ्ज्ञाया विधातृत्वाभावात्स्वतो भेदकत्वायोगेऽपि ज्योतिरादिसञ्ज्ञस्य यागस्यैतेन सहस्रदक्षिणेन यजेतेत्येतच्छब्दपरामृष्टस्याख्यातेन विधानाद्विधायकोपबृंहिताया भेदकत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**यस्त्विति**। विधायकस्यान्याक्षिप्तत्वे सञ्ज्ञाविषयभूतकर्मस्वरूपविषयत्वाभावाद्भिन्नविषयत्वेन सञ्ज्ञाविषयभूतकर्मभेदद्योतकत्वानुपपत्तेर्विशिष्टविधित्वाद्वा, अन्यानाक्षिप्तत्वाभ्युपगमे सञ्ज्ञानिरपेक्षस्यैव तस्य भेदकत्वापपत्तेः सञ्ज्ञासहकारित्वायोगान्न विधायकसहकृताया अपि सञ्ज्ञाया भेदकता युक्तेत्याशयः। आदिशब्देनैतेनर्द्धिकामो यजेतेत्यादौ फलाक्षिप्ततोक्ता। गुणादिना कर्मस्वरूपादुत्तार्यऽस्माभिमुख्येन क्षेपः प्रेरणं विधायकस्यात्मानि सञ्चारणमाक्षेपः। प्रयुक्तिवाचिना वाक्षेपशब्देनाऽतदर्थस्य प्रयुक्त्ययोगात्तादर्थ्यं लक्षितम्। ननु गुणार्थस्य विधायकस्य सञ्ज्ञाविषयभूतकर्मस्वरूपविषयत्वा-

---

१. अयं पा० ३ पु० ना०। २. अयं पा० ३ पु० ना०।

भावात्सञ्ज्ञाविषयभूतकर्मभेदद्योतकत्वायोगेऽपि फलस्यानुपादेयत्वेन कर्मोद्दिश्योपादातुम-शक्यत्वात्फलार्थस्य विधायकस्य फलोद्देशेन कर्मोपादायकत्वात्प्रकरणान्तरन्यायेन कर्मस्वरूप-विषयत्वात्सञ्ज्ञां च विना प्रकृतबुद्धिविच्छेदासिद्धेस्तन्निरपेक्षस्यानुपादेयान्वयस्य भेदकत्वा-भावात्सञ्ज्ञासहकारित्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—फलेति। सञ्ज्ञां विना प्रकृतबुद्धि-विच्छेदाभावे प्रकरणान्तरन्यायान्विषयत्वात्, अन्यतो वा प्रकृतिबुद्धिविच्छेदे संज्ञान-पेक्षणात्फलान्वितकर्मविधिसहकृतताया भेदकत्वं न सम्भवतीत्याशयः। गुणफलयोस्त्वेक-वाक्योपदाने प्रकृतकर्माश्रितस्य गुणस्य फलसाधनत्वावगमात्फलान्वयस्य भेदकत्वशङ्का नास्तीत्याह—यद्वेति। नन्विति भाष्येणापूर्वसञ्ज्ञाक्षिप्तस्य कर्मान्तरस्यैतेन सहस्रदक्षिणे-नेत्येतच्छब्दसमभिव्याहारलक्षणाद्वाक्याद् गुणान्वयप्रतीतेः प्रकृतस्य गुणविध्ययोगमाशङ्क्य नैष इत्यनेन ज्योतिःशब्दस्य ज्योतिष्टोमशब्दप्रतीकत्वाद्विश्वज्योतिः, सर्वज्योतिःशब्दयोश्च ज्योतिःशब्दवाच्यत्रिवृदादिस्तोमयोगात् ज्योतिष्टोमवाचित्वावगतेः प्रकरणस्य वाक्यविरोध उक्तः। तदत्राधिकरणे न्यायतुल्यत्वादथैष गौरित्यादीनामप्युदाहरणत्वावगतेर्गवादिशब्दानां च ज्योतिष्टोमे प्रवृत्तिनिमित्तादर्शनादव्यापकत्वेनायुक्तमाशङ्क्य सर्वेषामुदाहरणत्वेऽप्युदाहरण-विशेषे पूर्वपक्षोपपत्तिविशेषप्रदर्शनार्थत्वेनोपपादयति—ज्योतिरादिषु त्विति। तुशब्देन तत्राथैषज्योतिरित्यादिष्वित्युदाहरणपरिग्रहार्थवार्त्तिकस्थस्यादिशब्दस्याथैष गौः, अथैष आयुरित्याद्युदाहरणान्तरपरिग्रहार्थत्वं सूचितम्। अवयवसादृश्येऽप्यवयवान्तरत्वात् ब्राह्मणशब्दाद् ब्रह्मशब्दस्येव ज्योतिष्टोमशब्दो ज्योतिःशब्दस्य पदान्तरत्वावगतेस्तत्प्रती-कत्वाभावमाशङ्क्य, ज्योतिष्टोमशब्दार्थे प्रयोगात्तत्प्रतीकतोपपादिता। विश्वज्योतिरिति भाष्यावयवः स्पष्टत्वान्न व्याख्यातः। तस्मात्सञ्ज्ञान्तरविषयेऽपि सञ्ज्ञान्तरप्रयोगदर्शनेन सञ्ज्ञायाः स्वतो भेदकत्वाभावाच्छब्दान्तरादीनां च सहकारिणामभावान्न कर्मभेद इति पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति।

सञ्ज्ञा हीतिभाष्येण संख्ययेति तृतीयोक्तस्य भेदहेतुत्वस्य चशब्देनानुकर्षणात् सञ्ज्ञापि कर्मभेदहेतुरित्येवं सञ्ज्ञा चेति सूत्रावयवं व्याख्यायः। उत्पत्तिसंयोगो व्याख्यातः तदाथैष ज्योतिरादावाख्याताभावेन सञ्ज्ञां विनोत्पत्तिवाक्यत्वानवधारणादुत्पत्तिवाक्यस्थाया अपि च समिदादिसञ्ज्ञाया भेदकत्वानभ्युपगमादयुक्तमाशङ्क्याऽऽख्यातपारतन्त्र्यानिरासायाख्यातेन भेदाभेदावधारणात्प्रागेव सञ्ज्ञाश्रुतेरित्येव प्राथम्यवाचितयोत्पत्तिशब्दं व्याख्यातुमाह—इतीति। आख्यातसमुच्चारिताया अप्युद्भिदादिसञ्ज्ञाया नाम्नैव चैवमादीनां भेदइत्युद्भि-दधिकरणवार्त्तिकेऽभिहितत्वात्समिदादिसञ्ज्ञाया अपि वाख्यातोच्चारणात्प्रागेव प्रवृत्तेर्भेदा-भेदावधारणव्यापाराभावार्थोऽनुक्तशब्दो व्याख्येयः। 'उद्भिदा यजेत पशुकाम' इत्यादेस्तु कर्मशब्दस्य फलादिपरत्वोपपत्तेः समिदादिवदनन्यपरपुनःश्रुतित्वाभावाद्भेदावधारणायशक्तेर्यं एवं विद्वान्पौर्णमासीं यजतेइत्यादिवच्च यच्छब्दोपबन्धाभावादतिदेशतश्च रूपलाभसम्भवे-नारूपत्वाभावादभेदावधारणाशक्तेः सञ्ज्ञाया भेदकत्वोपपत्तिरित्याशयः। वस्त्वन्तरबुद्धेः सकाशात्सञ्ज्ञानपनयनोक्त्या पौर्णमास्यादिसञ्ज्ञाया अपि स्वतो वस्त्वन्तरबुद्धिहेतु-

ताऽस्त्येव। यच्छब्दोपबद्धेन च रूपकर्मशब्दोनाभेदावधारणादपनीयतइति सूचितम्। अनुक्त इति विशेषणस्य फलं दर्शयन् श्लोकं व्याचष्टे—**या हीति**। अनुक्तशब्दस्य सूत्रभाष्यस्थोत्पत्तिशब्दव्याख्यार्थत्वसूचनायोत्पन्न इत्युक्त्वा संज्ञातः पूर्वं भेदकत्वेनाभेदकत्वेन वावधारित इति। समुच्चरितधूमं हर्म्यतलमितिवन्निश्चयापरपर्यायाभिव्यक्तिवाचिनोच्चरतिना वचिर्व्याख्यातः। पदिचर्योश्च गमिसमानार्थत्वेन ज्ञानार्थत्वादुच्छब्दस्य चोत्कर्षार्थत्वेन निश्चयरूपज्ञानोत्कर्षवाचित्वादुत्पन्नोच्चरितशब्दयोरवधारितार्थत्वाविशेषः।

ननु कर्मशब्दसमानाधिकरण्यं विना संज्ञायाः कर्मनामत्वाप्रसिद्धेः कथं तद्भेदकतेत्याशङ्क्य, संज्ञावशातपश्चाद्भिन्नकर्मविषयत्वेनावधारयिष्यमाणकर्मशब्दसामानाधिकरण्यमेतेन यजेतेत्युत्पत्स्यमानशब्देनोक्तम्। नन्वेवं संज्ञावशेनाख्यातस्य कर्मान्तरविषयत्वावधारणं तथाऽवधारिताख्यातसमानाधिकरण्याच्च संज्ञायाः कर्मान्तरनामत्वावधारणम्। इतरेतराश्रयं स्यादित्याशङ्क्य, संज्ञायाः सर्वसंज्ञाविषयत्वनिवेशायोगेन पृथक्त्वनिवेशात्कर्मनामतायामाख्यातापेक्षणेऽपि भेदकत्वे निरपेक्ष्यं संख्यावच्चेत्यनेनोक्तम्। पृथक्त्वनिवेशएवात्रापि हेतुश्चशब्देनानुकृष्टः अपवादकाभेदावधारकाख्यातसंयोगनिवृत्त्यर्थं तूत्पत्तिसंयोगोक्तिरिति सूचनार्थो दृष्टान्तः।

पृथक्त्वनिवेशित्वमेव प्रश्नपूर्वमुपपादयितुं सामान्यन्यायं तावदाह—**कथमिति**। अनेकार्थत्वस्यान्याय्यत्वेनार्थान्तरदर्शनात्संज्ञान्तरापेक्षोक्तिर्दृष्टान्तार्था औत्सर्गिकोक्त्याऽन्योन्याश्रयत्वशङ्का परिहृता। सामान्यन्यायं प्रकृते योजयति—**तदिहेति**। ज्योतिरादेः संज्ञान्तरत्वस्योपपादनापेक्षत्वान्निश्चितसंज्ञान्तरत्वमुदाहरणान्तरमुक्तम्। सर्वशब्दः 'सोमेन यजेत ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेते'त्यादिसोमयागवाचिप्रकृतसर्वयजति'विषयः। प्रागुच्चारिताः सर्वे यजतयो ज्योतिष्टोमविषयत्वाद् गाव्यादिसंज्ञान्तरसामानाधिकरण्यं न लभन्ते, येन ज्योतिष्टोमविषययजिसामानाधिकरण्यात्संज्ञान्तरस्यापि ज्योतिष्टोम एव संज्ञी स्यादित्युक्ते, अर्थान्तरशब्देन लुप्तविषयशब्दकेनार्थान्तरविषयत्वालाभो दृष्टान्तत्वेनोक्तः। प्रागुच्चारितयजिविषयभूतो ज्योतिष्टोमश्चेन्न संज्ञी कस्तर्हि संज्ञीत्यपेक्षिते 'यस्त्वेतेन यजेते'ति प्रस्तूयमानो यजतिः सोऽर्थान्तरे वर्त्ततइति कृत्वा, तद्विषयभूतो यागः संज्ञान्तरस्य संज्ञीत्युक्तः। ननु तस्यापि गुणोपबन्धात्, फलोपबन्धाद्वा विधायकस्य गुणं फलेच्छाव्यापृतत्वेन यज्यर्थे व्यापाराभावादभ्यासन्यायेनार्थान्तरे वृत्त्ययोगात्कथं तद्विषयभूतो यागः संज्ञान्तरस्य संज्ञी स्यादित्याशङ्क्य, यद्यपि प्रस्तूयमानो यजतिर्विधायकवशेन भिन्नार्थविषयो न भवति, तथापि विच्छिन्नानुसन्धानत्वादर्थान्तरे वर्त्ततइत्युक्तेऽनुसन्धानविच्छेदोपपादनायाऽर्थान्तरानुरक्तायां बुद्धौ यजेर्निपातमुक्तमुपपादयितुं प्रकरणविच्छेदस्योक्तस्योपपादनार्थं पूर्वकर्मविषयाया बुद्धेः प्रस्तूयमानयज्युच्चारणकाले ननु वृत्तिमुक्तामुपपादयितुं गोशब्दस्य पूर्वकर्मण्यनिवेशेऽभिहिते गोशब्दस्य पूर्वांशनिवेशेऽपि कस्मात्पूर्वं बुध्यननुषङ्ग इत्याशङ्क्य व्यवायान्नानुषज्यतइतिन्यायोक्तिः। प्रस्तूयमानस्य यजेः संज्ञान्तरावरुद्धं ज्योतिष्टोमं प्रति गमनाशक्तौ ज्योतिष्टोमसंज्ञाविलक्षणगवादिसंज्ञान्तरावच्छेदं हेतुं रूपकद्वाराह—**तथा हीति**।

पूर्वस्य यजेः प्रस्तूयमानं यजर्थागमनं दृष्टान्ततयोक्तम्। प्रस्तूयमानस्य यजेरर्थान्तरवृत्तिमुपसंहरतीति या तु कर्मान्तरपक्षे, अथ शब्दस्य पूर्वप्रकृतविध्यपेक्षावाचित्वायोगात्क्रतोश्च क्रत्वन्तरानपेक्षत्वेन पूर्वप्रकृतक्रत्वपेक्षावाचित्वायोगादविवक्षितक्रमत्वेन चानन्तर्यार्थत्वायोगादानर्थक्यापत्तिरुक्ता। सा कर्मान्तरत्वे सत्यधिकारार्थत्वोपपत्तेर्नास्तीत्याह—**एवं च सतीति**। आदिशब्दः पूर्वपक्षभिमतपूर्वप्रकृतविध्यपेक्षाग्रहणार्थः। प्रतिपत्तृचित्तसमाधानार्थत्वाच्चाधिकारोक्तेर्नैष्फल्यानापत्तिरित्याशयः। एषशब्दस्य वैष देवदत्त इति प्रागनिर्दिष्टेऽपि सन्निहिते प्रत्यक्षे प्रयोगदर्शनात्प्राक् प्रकृतेऽपि सन्निहितप्रत्यक्षत्वेनैव प्रयोगोपपत्तेः प्राक्प्रकृतत्वस्य वाच्यत्वकल्पनायोगात्सन्निहितप्रत्यक्षरूपत्वस्य चोत्तरकालं प्रस्तूयमानेऽप्यविशेषान्नैषशब्दः। प्राक् प्रकृतत्वमपेक्ष्यतइत्याह—**एष शब्दोऽपीति**।

या च प्रकृतहान्यप्रकृतप्रक्रियाकल्पनायोर्दुष्टतोक्ता, सापि तयोः संज्ञाश्रुतिप्रभवत्वादयुक्तेत्याह—**प्रकृतेति**। नासामिति भाष्यं पुनःश्रुतित्वाशङ्कानिरासार्थत्वेनाभासमानशङ्कानुपपत्त्याक्षिपति—**नासामिति**। एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेतेति गुणसंक्रान्तशक्तिनाख्यातेनाभेदावधारणान्न संज्ञाया भेत्तृत्वं सम्भवतीत्याशङ्क्यामाख्यातस्य विशिष्टविधित्वोपपत्तेरभेदावधारणाशक्तत्वान्निराकर्तुमभेदावधारणोत्तरकालत्वं पुनःशब्देनोच्यते, नावृत्तिरित्याशयेन समाधत्ते—**इतीति**। गुणसंक्रान्तशक्तित्वेनाख्यातस्याभिन्नतयाऽवधारिते कर्मणि पश्चाद्यदि ज्योतिरादिसञ्ज्ञानामिमानि श्रवणानि स्युः। ततो न भिद्युर्न त्वाख्यतेनाभेदः शक्योऽवधारयितुमिति भाष्यार्थोऽवधारयितुमिति भाष्यार्थोऽनेनोक्तः।

ननु विधिभेदं विना विधेयभेदायोगा'दथैष ज्योतिरित्या'दौ च विध्यप्रतीतेर्न सञ्ज्ञाया भेत्तृतायुक्तेत्याशङ्क्य, ज्योतिः सञ्ज्ञको यागः कार्य इत्यध्याहारेण यागविधित्वभिधानार्थं तस्मादितिभाष्यं यस्मात्सञ्ज्ञाभेदाद्भिन्नो यागः तस्मादेतद्विधायकमित्यर्थप्रतीतेः स्पष्टत्वादव्याख्याय तदुपपादनार्थमनुवादानामनर्थवत्त्वाभ्युपगमादयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**समस्तमेवेति**। तेषां तु क्रमादिविधायित्वेन अर्थवत्तेत्याशयः। ननु गुणविधयेऽनुवादोऽर्थवान् भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**अथेति**। यागानुवादेऽपि प्रकरणत्तद्गुणत्वं सेत्स्यतीत्याशयः। अथैष ज्योतिरित्यनेन च कर्मान्तरविधौ सहस्रदक्षिणादीनां ज्योतिष्टोमाङ्गत्वापत्तेः, तत्र च तद्विरोधिगुणान्तरविधानादष्टदोषो विकल्पः स्यादित्यभिधानार्थं प्रकृतस्य चेति भाष्यं व्याचष्टे—**कर्मैकत्वेति**।

ननु कर्मान्तरेऽप्यतिदेशात् द्वादशशतादिप्राप्तेर्विकल्पः स्यादित्याशङ्क्याह—**कर्मान्तरत्वे त्विति**। आतिदेशिकस्यौपदेशिकेन बाधान्न विकल्पापत्तिरित्याशयः। अनेन च पूर्वपक्षे द्वादशशतादीनां च विकल्पः, सिद्धान्ते कर्मभेदाद्व्यवस्थेति प्रयोजनमपि सूचितम्। नन्वकर्मान्तरत्वेऽपि सहस्रदक्षिणादेः फले विधानात्काम्यत्वेन नित्यद्वादशशतादिबाधकत्वान्न विकल्पापत्तिरित्याशङ्क्याह—**न चेति**। प्रकृताश्रयलाभे सति विकल्पदोषः शक्येतैव परिहर्तुम्, सञ्ज्ञया तु प्रकृतबुद्धिविच्छेदात्प्रकृते कर्मणीव फलेऽपि गुणो विधातुमशक्य इत्याशयः।

ननु गुणफलयोरेकवाक्योपादाने गुणविशिष्टस्य कर्मणः फले विधौ वाजपेयाधिकरणोक्त-वैरूप्यापत्तेर्गुणस्यैव फले विध्यवगमाद् गुणसंक्रान्तशक्तिनाख्यातेन कर्माभेदेऽवधारिते सञ्ज्ञाया भेदकत्वान्न प्रकृतबुद्धिविच्छेदकतेत्याशङ्क्याह—**प्रस्तूयमानेति**। अधिकारार्थाथ-शब्दसमभिव्याहारेणैषशब्दस्य प्रस्तूयमानकर्मविषयत्वावसायादेतेन यजेतेत्येषशब्दनिर्दिष्ट-प्रस्तूयमानकर्मप्रतिनिर्देशकैतच्छब्दसमभिव्याहृतस्य यजेरपि प्रस्तूयमानकर्मविषयत्वावगतेस्त-देकवाक्यत्वबलेन संज्ञादीनां प्रकरणावगतं पूर्वकर्मान्वयं बाधित्वा, प्रस्तूयमानकर्मान्व-यावधारणात्सञ्ज्ञया प्रकृतबुद्धिर्विच्छिद्यतएवेत्याशयः। यस्त्रिरात्रे विभ्रंशत्तेन तस्मिन्पुन-रस्त्यथ यो ज्योतिष्टोमे प्रायश्चित्तिमभूदपि ह्येतेनैकविंशतिदक्षिणेन पुनर्यजेतेत्यग्निष्टोम-विभ्रंशनिमित्तप्रायश्चित्तार्थत्वेनापि ज्योतिषो विधानादादिशब्दस्तद्विषयः। ततश्च न केवलं सञ्ज्ञातः कर्मान्तरत्वं, किं त्वथशब्दसमभिव्याहारादपीति सूचयितुमाह—**तस्मादपीति**। तस्माच्छब्देन प्रस्तूयमानकर्मान्वयपरामर्शात्, तस्य च प्रस्तावापरपर्यायाधिकारार्थाथ-शब्दसमभिव्याहाराधीनत्वादेवं सूचनोपपत्तिः। ज्योतिरादिसञ्ज्ञानां ज्योतिष्टोमवाचित्वाद-भेदकत्वं पूर्वपक्षोक्तं ज्योतिष्टोमशब्दावयवत्वाद्वाऽस्यां ज्योतिष्टोमवाचित्वम्, अवयवार्था-लोचनया वेति विकल्प्याद्यपक्षनिरासार्थं तावन्न चेत्यादिभाष्यं व्याचष्टे—**न चेति**।

दशमे कण्वरथन्तरपृष्ठकार्ये विहितमवयवभूतेन रथन्तरशब्देन रथन्तरधर्मातिदेशाद्र-थन्तरयोनौ गेयमिति पूर्वपक्षिते कण्वरथन्तरशब्दस्य 'पुनानः सोम धारयेऽत्य'स्यामृत्युत्पन्ने सामविशेषे रूढत्वाद्रथन्तरशब्दस्य तदवयवत्वं स्वयोनौ गेयत्वं सिद्धान्तयितुं निराकरिष्यमाणं दृष्टान्तितम्। विश्वज्योतिःसर्वज्योतिःशब्दयोरेकदेशसादृश्येऽप्येकदेशान्तरेणासादृश्याच्छाला-मालाशब्ददृष्टान्तेन ज्योतिष्टोमशब्दवयवत्वनिरासद्वारा तदर्थवाचित्वे निरस्ते, ज्योतिःशब्दस्य ज्योतिष्टोमशब्दप्रतीकत्वं पूर्वपक्षोक्तं 'यत्त्विति भाष्येणानुभाष्य' तन्निरासार्थं प्रकरण-सामर्थ्याद्धीति भाष्यं प्रतीकत्वोपपादनार्थं पूर्वपक्षवार्त्तिकोक्तप्रयोगदर्शनानुभाषणपूर्वं व्याचष्टे—**तत्त्विति**।

नन्वेतेन यजेतेत्येतच्छब्दसमभिव्याहारालोचनया यजेर्ज्योतिःशब्दैकवाक्यत्वावगमेऽपि प्रवृत्तिनिमित्ताभावात्कर्मान्तरे ज्योतिःशब्दप्रवृत्त्ययोगमाशङ्क्य द्योततेर्धातोर्द्युतेर्सिन्नादेश्च ज इत्यौणादिके सिन्प्रत्ययविधेर्दकारस्य च जकारादेशविधेर्ऋद्धिसाधनत्वकारितं द्योतनम्, मत्वर्थलक्षणया वा ज्योतिष्मत्त्वं प्रवृत्तिनिमित्तं वक्तुमथ पुनरिति भाष्यमर्थतो व्याचष्टे—**न चेति**। भाष्योक्तकर्मान्तरप्रवृत्तिनिमित्तसद्भावान्नेहान्यथानर्थक्यापत्तिप्रमाणकान् गौण-त्वात् ज्योतिष्टोमविषयताऽवगम्यतइत्याशयः। अवयवार्थालोचनया विश्वज्योतिःसर्व-ज्योतिःशब्दयोर्ज्योतिष्टोमवाचितेति द्वितीयं पक्षं पूर्वपक्षोक्तं यच्चेति, भाष्येणानुभाष्य तन्निरासार्थं 'न हीति भाष्यं व्याचष्टे—**योऽपीति**। तस्मादित्यधिकरणार्थोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति** ॥ २२ ॥

॥ इत्यष्टमं संज्ञाधिकरणम् ॥

भा० प्र०—श्रुति में ज्योतिष्टोम प्रकरण में "अथैष ज्योतिः" "अथैष विश्वज्योतिः", "अथैष सर्वज्योतिः", "एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत", यह कहा गया। इस स्थल में "ज्योतिः", "विश्वज्योतिः" एवं "सर्वज्योतिः" इन तीन शब्दों के द्वारा पूर्ववर्णित ज्योतिष्टोम याग का अनुवाद कर उसमें "सहस्रदक्षिण" रूप गुण का विधान किया गया है या ये स्वतन्त्र कर्म की विधियाँ हैं, यह संशय होता है।

इसमें पूर्वपक्षी का कहना है कि 'ज्योतिः', 'विश्वज्योतिः' आदि ज्योतिष्टोम की ही संज्ञा होने से एवम् 'एषः' इस पद में एतद् शब्द के द्वारा सन्निहित प्रकृत अर्थात् जिसके षविय में कहना आरम्भ किया गया है, उस विषय का ही परामर्श होने से इस स्थल में 'ज्योतिः' आदि शब्दों के द्वारा प्रस्तूयमान ज्योतिष्टोम का ही अनुवाद कर उसमें 'सहस्र दक्षिणा' रूप गुण का विधान किया गया है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष के समाधान में सिद्धान्ती ने कहा है कि "संज्ञा च" संज्ञा भी कर्मभेद का हेतु हैं। "अतएव अथैष ज्योतिः" इत्यादि वाक्य में तीन स्वतन्त्र संज्ञा होने से इस स्थल में संज्ञा के द्वारा भिन्न-भिन्न कर्मों का ही उपदेश किया गया है। इस स्थान में याग के साथ सामानाधिकरण्य होने से 'ज्योतिः' आदि शब्द संज्ञा अर्थात् नामधेय है। इस स्थल में 'अथ' शब्द होने पर 'ज्योतिः' आदि शब्द पूर्वप्रकृत ज्योतिष्टोम से जो पृथक् वही बोधित होता है। यदि इस स्थल में उत्पत्ति संयोग नहीं रहता तो उत्पन्न संयोग अर्थात् वचनान्तर विहित कर्म के साथ सम्बन्ध बोधित होता। ऐसी स्थिति में गुणविधि होता। किन्तु, इस स्थल में उत्पत्ति संयोग होने से—यह अपूर्व धी ही विधि है। इसलिए सूत्र में हेतु रूप में कहा गया है—"उत्पत्ति संयोगात्"। यदि इस स्थल में गुणविधि कहा जाय तो विकल्प की प्रसक्ति होगी। किन्तु विकल्प आठ दोषों से ग्रस्त होने से सभावपक्ष में उसका स्वीकार करना उचित नहीं है। 'ज्योतिः' आदि शब्द ज्योतिष्टोमवाचक है—यह भी नहीं है; क्योंकि, ज्योतिष्टोम का अवयव नहीं है, किन्तु वह स्वतन्त्र समुदाय अर्थात् संज्ञा है। इस स्थल में 'एतत्' शब्द का प्रयोग रहने से जो पूर्व को सन्निहित ज्योतिष्टोम अभिहित होता है—यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, 'एतद्' शब्द के द्वारा अतीत सन्निहित के समान आगामी सन्निहित भी अभिहित होता है। इसलिए अपूर्व कर्म का विधान स्वीकार करने पर भी 'एतद्' शब्द के प्रयोग का कोई भी असामञ्जस्य नहीं होता है।

'संज्ञा च' = संज्ञा भी कर्मभेद का हेतु, "उत्पत्तिसंयोगात्" = क्योंकि, उत्पत्ति वाक्य के साथ अर्थात् कर्म विधायक वाक्य के साथ संयोग होने से पूर्ववत् पृथक्त्व निवेशी होता है। यह आठवाँ संज्ञाकृत कर्मभेदाधिकरण ॥ २२ ॥

[९] गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात् ॥२३॥ सि०

शा० भा०—चातुर्मास्येषु वैश्वदेवे[1] समामनन्ति 'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा वाजिभ्यो वाजिनम्' इति। तत्र संदिह्यते किमामिक्षागुणके कर्मणि वाजिनं गुणविधिरुत तस्माद्वाजिनगुणककर्मान्तरमिति। किं प्राप्तम्। गुणविधिरिति। कुतः। वाजेनान्नेन आमिक्षया वाजिनो विश्वेदेवाताननूद्य वाजिनं विधीयते, तेनोभयं वैश्वदेवमामिक्षा, वाजिनं च। तस्मिन्नेव च कर्मणि वाजिनगुणविधिः। यथा, अग्निहोत्रं जुहोतीत्युक्ते दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति, इति। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः गुणश्चाप्रकृतेन देवताभिधानेन संबध्यमानः कर्मान्तरं विदध्यात्। समे हि तदेते वाक्ये भवतः। उभे अपि अपूर्वयोर्यागयोर्विधातृणी। कथं पुनरपूर्वदेवताभिधानम्, यदेदानीमेवोक्तं विश्वेषां देवानामनुवादो वाजिभ्य इति। तदुच्यते। इह विश्वेषां देवानां देवतात्वं क्वचिच्छ्रुत्या, क्वचिद्वाक्येन। तद्धितनिर्देशे श्रुत्या, चतुर्थीनिर्देशे वाक्येन॥ यत्र श्रुत्या देवतात्वम्, तत्राऽऽमिक्षया सहैकवाक्यत्वम्। यत्र चतुर्थी, तत्र वाजिनेन। तत्रैषामेकत्र श्रुत्या देवतात्वं वाक्येन द्रव्यविशेषसंबन्धः।

एकत्रोभयमपि वाक्येन। तदिह देवतात्वं प्रति श्रुतिवाक्ययोर्विरोधः। विरोधे च श्रुतिर्बलीयसीत्यामिक्षावाक्ये देवतात्वं विश्वेषां देवानाम्, न वाजिनवाक्य इत्यध्यवसीयते। तेनावगम्यतेऽप्रकृतेन देवतापदेनाऽस्य संबन्ध इति। तस्मात्कर्मान्तरमिति ॥२३॥

इति नवमं गुणाधिकरणम् ॥९॥

अथ नवमं गुणाधिकरणम्

त० वा०—अतः परं प्राक्प्रकरणभेदाद् गुणनिमित्तो भेदाभेदविचारो वर्तिष्यते। चतुर्मास्येषु वैश्वदेवे पर्वणि 'वैश्वदेव्याभिक्षा' इति द्रव्यदेवतासंयोगानुमितं यागं विधायोच्यते 'वाजिभ्यो वाजिनम्' इति। तत्र संदेहः—किं तस्मिन्नेव कर्मणि गुणविधिः, उतानेनापि द्रव्यदेवतासंयोगेन यागान्तरं कल्प्यते। तत्रोभयमपि द्रव्यदेवतं पूर्वत्र विधीयत इति पक्षः सम्भवन्नपि नोपन्यस्तः। प्रमाणान्तरप्राप्ते कर्मण्यनेकगुणविधानस्य पौर्णमास्यधिकरणे निराकृतत्वात्। तेन वाजिनमेव केवलं किं पूर्वस्मिन्कर्मणि तया च देवतया सम्बध्यते, उत देवतान्तरेण यागान्तरेण चापूर्वेण सम्बध्यत इति। किं प्राप्तम्, पूर्वत्रैव वाजिनगुणविधानमिति।

१. ब. वैश्वदेवेपर्वणि ।

कुतः ?

अनन्तरोपदिष्टे वाजेनान्नेन वाजिनः ।
विश्वेदेवाः प्रतीतन्ते तच्च कर्मेह वाजिनम् ॥

वाजिनो नाम केचन नैव देवताविशेषाः प्रसिद्धाः । न चाप्रसिद्धाः पदार्था वाक्यार्थं निष्पादयन्ति । सर्वत्र समुदायप्रसिद्धावलभ्यमानायामवयवप्रसिद्धिर्गृह्यते । तदिह 'वैश्वदेव्यामिक्षा' इत्यनेव वाक्येनाऽभिक्षावत्तया वाजिनो विश्वेदेवाः कल्पिताः । ते च वाजिनसंयोगेनावगम्यमाना न शक्याः परित्युक्तम् । ते च तेन पूर्वानुमितेन यागेनानुरक्ताः । तत्र वाजिनसंयोगान्यथानुपपत्त्या यागे कल्प्यमाने वाजिपदोपात्तयागातिक्रमकारणाभावात्, तत्सद्भावे चान्यविषयार्थापत्त्यनुत्थानात्स एव यागः, तदेवापूर्वम्, सैव देवतेति निश्चयान्न व्यतिरिक्तकल्पनं लभ्यते । तस्मात्तत्रैव कर्मण्यामिक्षावाजिनयोर्विकल्पः, समुच्चयो वा ।

सत्यपि चोत्पत्तिवाक्यशिष्टत्वे निष्कृष्य यागं गुणान्तरं विधास्यते । यद्यपि च द्रव्यदेवतासंयोगानुमितत्वादसौ न निष्कृष्टः श्रुतः । तथाऽपि क्रियात्मनाऽस्त्येवाऽऽनुमानिकी व्यतिरेकबुद्धिः । यागपदमेव वाऽत्रानुमीयते । तदाऽऽमिक्षापरित्यागेऽपि न विनश्यति । वाजिशब्दोऽपि च तदनुमितयागप्रतिपत्त्यर्थमेवोच्चार्यते । न हि तन्निरपेक्षो वाजिवाजिनसम्बन्धोऽवकल्पते, कारकाणां परस्परसम्बन्धाभावात् । तस्मान्न कर्मान्तरमिति ।

अत्राभिधीयते ।

गुणान्तरावरुद्धत्वात्पूर्वकर्मण्यसम्भवात् ।
क्रियान्तरमतिं कुर्यादात्मसंगतये गुणः ॥

अपूर्वः, कर्मान्तरसंयोगानर्हो वा गुणः कर्मान्तरं कल्पयति । वाक्ययोः समत्वात्—इतरेतरनिरपेक्षत्वात् । उभौ हि द्रव्यदेवतासंयोगावात्मविरोधेनान्योन्यावकाशमप्रयच्छन्तौ पृथक्कर्मणी विधत्तः । सत्यम्, पूर्वत्रासम्भवन्गुणोऽन्यत्कल्पयति । कथं न पूर्वकर्मणा, तद्देवतया वा वाजिनं न सम्बध्यते । तत्कार्यवर्तिगुणावरोधात् । कथं न समुच्चयः । 'एकार्थास्तु विकल्पेरन्' इति हि स्थास्यत्येतत् । विकल्प एवास्त्विति चेत् । न । अतुल्यबलत्वात् ।

तद्दर्शयति—श्रुत्या विश्वेषां देवानां तदुपात्तस्य च कर्मण आमिक्षासम्बन्धः, वाजिनसम्बन्धस्तु वाक्येन ।

तद्धितचतुर्थीमन्त्रवर्णानां विरोधे प्राबल्यनिरूपणम्

सर्वत्रैव तावत्—

तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन चेष्यते ।
देवतासंगतिस्तत्र दुर्बलं च परं परम् ॥

आह । मन्त्रस्य तावदविधायकत्वाल्लिङ्गवच्छ्रुतितो दौर्बल्यं भवेत् । चतुर्थीतद्धितयोस्तु को विशेष इति वक्तव्यम् ? तदुच्यते ।

देवतासंगतिः श्रुत्या तद्धितान्तात्प्रतीयते ।
चतुर्थ्यन्तात्तु वाक्येन पदद्वयसमीपतः ॥

वैश्वदेवीति हि श्रुत्यैव देवतासम्बन्धः प्रत्यायितः[1] । इतरत्र तु 'वाजिभ्यो वाजिनम्' इति पदद्वयसामीप्यादवगम्यते ।

नन्विहाप्यामिक्षापदसंनिधानवशेनैव द्रव्यदेवतासम्बन्धः प्रतीयत इति तुल्यं वाक्यगम्यत्वं भवेत् । अथ वैश्वदेवीति श्रुत्या देवतात्वम्, वाक्येन द्रव्यसम्बन्धः, स इहाप्यविशिष्टः । चतुर्थीश्रुत्या देवतात्वेऽभिहिते, वाक्येन द्रव्यसंगतिमात्रकरणात् । अथ द्रव्यमात्रसम्बन्धे तद्धितान्तेनैव कृते विशेषमात्रमामिक्षापदसंनिधेर्भविष्यतीत्युच्यते । तदप्यविशिष्टमितरत्रापि । वाजिभ्य इत्येकपदेनैव सम्प्रदानं ब्रुवता सम्प्रदेयाद्विना तदनुपपत्तेः सामान्याक्षेपे सति वाजिनपदसंनिधानेन विशेषमात्रप्रतीतेः । अपि च भवतु नाम तद्धितश्रुतेर्द्रव्यमात्रसम्बन्धः । तत्र द्रव्यमात्रं वाजिनेऽप्यविशिष्टमिति न विरुध्यते । विशेषयोस्त्वमिक्षावाजिनयोर्विरोधः । तयोश्चोभयत्र वाक्यलभ्यसम्बन्धत्वादविशेषः । तेन विकल्पः प्राप्नोत्येव ।

तदुच्यते ।

नैव हि द्रव्यमात्रस्य तद्धितैर्देवतोच्यते ।
अस्य शब्दाभिधेयस्य विशेषस्यैव देवता ॥

विश्वेदेवा देवताऽस्या इति हि न सर्वनाम्ना द्रव्यसामान्यमभिधीयते । किं तर्हि, संनिहितो विशेषः, स एव व्यवहारक्षमो नानिरूपितं द्रव्यमात्रम् । अतः प्रातिपदिकेन योऽर्थ उपात्तः स प्रमाणान्तरगम्यस्य द्रव्यविशेषस्य देवतेत्येतत्तद्धितेन श्रुत्यैवोच्यते । ततश्चान्तर्णीतसम्बन्धदेवतोपसर्जनद्रव्यविशेषप्रत्यये पदान्तरनिरपेक्षेण तद्धितान्तेन पदेन निर्वर्तिते, कः पुनरसौ द्रव्यविशेषो यस्य तद्धितेन देवतोक्तेत्यन्वेषणायामयमित्यामिक्षापदेनोपनीयते । तत्र तदा तावत्प्रागेव विशिष्टप्रत्ययात्सम्बन्धोऽभिहितः । तदा न लक्ष्यमाणो भवति । अथापि प्रकृतिप्रत्यययोः स्वार्थवृत्तयोरेव नैरन्तर्यादन्तराले सम्बन्धोऽवगम्यमानो भवति । तथाऽप्यत्रैकपदस्थत्वात्पदद्वयसंनिधिगम्याद्बलीयान्विज्ञायमान श्रौत इत्युच्यते । तेनैतौ द्वौ सम्बन्धावेको द्रव्यदेवतासम्बन्धः । परो विशेषणविशेष्यभावः । तत्र पूर्वः श्रौतः । उत्तरो वाक्यलक्षण इति विशेषः ।

---

१. क०प्रत्यायितः ।

अतश्च नैवात्र नीलोत्पलादिवदर्थद्वारं वैश्वदेव्यामिक्षाशब्दयोर्विशेषणविशेष्यत्वम्, किं तर्हि ?

आमिक्षां देवतायुक्तां वदत्येवैष तद्धितः।
आमिक्षापदसांनिध्यात्तस्यैव विषयार्पणम् ॥

नवात्र तद्धितान्तेनैकोऽर्थोऽभिहितः, आमिक्षापदेनान्यः। पश्चात्तयोर्विशेषणविशेष्यता, तद्धितान्तवाच्यस्य प्रथमप्रतीतेः। किं तर्हि तद्धितान्तस्यानुपयुक्तानभिधानशक्तेरेव प्रतीक्षमाणस्योपपदेन विषयदानमात्रं क्रियते। तेनाऽऽमिक्षापदसंनिधिबलाद्वैश्वदेवीशब्द एव तामभिधत्ते। न चेदानीमामिक्षापदस्यानुवादत्वम्, तेन विना तद्धितान्तस्य तद्विषयत्वाप्रतीतेः। न च वाक्यार्थत्वम्, तद्धितान्तपदार्थस्य पृथगप्रसिद्धेः। न हि द्वौ स्वतन्त्रौ पदार्थावगृहीत्वा वाक्यार्थः प्रतीयते। तेनाभिधेयोपनयनमात्रकारित्वान्न तद्धितश्रुतेरामिक्षापदेनार्थविप्रकर्षः क्रियते। तथा चाऽऽह।

'श्रुत्यैवोपपदस्यार्थः सर्वनाम्नाऽभिधीयते।
तदर्थस्तद्धितेनैवं त्रयाणामेकवाच्यता ॥ इति।

तेन यैवाऽऽमिक्षा, सैव देवतासम्बन्धं यास्यतीत्येवमुक्ता सती वैश्वदेवीशब्दे नोच्यते। तेन शब्दयोरेवात्र सामानाधिकरण्यम्, नार्थयोः। इतरत्र तु—

न प्रातिपदिकेनोक्तं न विभक्त्या हविः स्वतः।
न वास्य देवतायोग इति वाक्यात्प्रतीयते ॥

वाजिभ्य इति तु नात्र प्रातिपदिकेन, विभक्त्या, वोभाभ्यां वा द्रव्यसामान्यविशेष, तत्सम्बन्धानामन्यतममप्यभिधीयते। किं तर्हि प्रातिपदिकार्थः सम्प्रदानमित्येतावन्मात्रमित्युक्तम्। तत्र न कथंचिद् द्रव्यसम्बन्धः पदेऽन्तर्गत इत्यवश्यं वाक्येनैव वाजिनपदसामीप्यात्प्रत्यायितव्यः। अपि च।

यथेहास्यपदार्थोऽपि[1] तद्धितेऽन्तर्गतः स्मृतः।
न सम्प्रदानमस्येति चतुर्थ्येवं विधीयते ॥

श्रुतिवाक्ययोर्यथाश्रुतार्थपरतया व्याख्या

'साऽस्य देवता' इति अस्य पदार्थे देवतातद्धितो विधीयते, नत्वेवं तत्सम्प्रदानमस्येति चतुर्थी विधीयते, येनास्य पदार्थोऽप्युपादीयेत। किं तर्हि ? सम्प्रदानमात्रमेव तदभिधेयत्वेनोक्तम्। तथा च प्रतीयते। तेन त्वन्यथानुपपद्यमानेन सम्प्रदेयविषयमाकाङ्क्षामात्रं केवलमुत्पाद्यते। न चैतावताऽभिधेयत्वं भवति,

१. क० यथेहान्यपदार्थोऽपि।

सर्ववाक्यार्थानां पदार्थत्वप्रसङ्गात्। अकाङ्क्षया त्वेतावत्क्रियते। येन पदान्तरोच्चारणे सति सम्बन्धी जायते। निराकाङ्क्षत्वे पुनः सोऽपि न स्यात्। तेन यद्यपि चतुर्थीश्रुत्या देवतात्वमुक्तम्, तथाऽपि द्रव्यसम्बन्धो वाक्येनैव। तत्र चास्माकं विवाद इति, दुर्बलो वाजिनसम्बन्धः।

श्रुत्यर्थ-वाक्यार्थयोस्संनिकृष्टत्वविकृष्टत्वाभ्यां प्रबलाबलनिरूपणम्

किं च।

श्रुत्यर्थः संनिकृष्टत्वं वाक्यार्थो विप्रकृष्टता।
विप्रकृष्टप्रकारोऽतः सर्व एव प्रपञ्च्यते॥

सर्वप्रकारमामिक्षासम्बन्धस्य संनिकर्षलक्षणं श्रौतत्वम्।

वाजिनसम्बन्धे च विप्रकर्षाद्वाक्यीयत्वम्। तद्यथा यद्यपि तावद् द्रव्यविशेषणस्य तद्धितो न ब्रूयाद्देवतात्वं, तथाऽपि सामान्यस्य तावद् ब्रवीति, न चतुर्थ्यन्तेनं सामान्यमप्युच्यत इति विशेषः। यत्तु सामान्यं वाजिनेऽप्यविरुद्धमिति, तदयुक्तम्। वैश्वदेवीति हि स्त्रीप्रत्ययेन समानपदगतेनैव स्त्रीद्रव्यं किमपि संनिहितमित्यवधार्यते। न च वाजिनस्य स्त्रीत्वम्, संनिधिर्वाऽस्तीत्यनाश्रयणम्। अपि च।

वाजिभ्यो वाजिनं कुर्यादिति नैवास्ति संगतिः।
तत्र तत्सिद्धयेऽवश्यं दानाध्याहारकल्पना॥

कर्तव्यतावचनमामिक्षावाक्येऽप्यध्याहारात्, प्रयोगवचनाद्वा लब्धव्यमिति, न पर्यनुयुज्यते। 'वाजिभ्यो वाजिनम्' इति तु ददातिमनध्याहृत्य न शक्यः सम्बन्धः प्रत्येतुं, यथा वैश्वदेव्यामिक्षेति। कुतः ?

नाम्नां द्विधैव सम्बन्धः सर्ववाक्येष्ववस्थितेः।
सामानाधिकरण्येन षष्ठ्या वा प्रतिपाद्यते॥

संक्षेपेणोक्तस्यार्थस्य विस्तरेण व्याख्यानम्

न चात्र सामानाधिकरण्यं, षष्ठीं वा[1] पश्यामः। न च वाजिभ्य इति कारकविभक्तिः क्रियापदादन्येन सम्बध्यते। न चेह तदुपात्तम्। तत्राध्याहारकल्पनादेको विप्रकर्षः। त्रिपदसम्बन्धगौरवादपरः। इतरत्रापि यजिकल्पनादविशेष इति चेत् ? न। तस्य सम्बन्धोत्तरकालानुमेयत्वात्। वैश्वदेव्यामिक्षेति हि निष्पन्ने सम्बन्धे यजिरनुमीयते, न तदधीना सम्बन्धप्रतीतिः। तव तु परस्वत्वापादनासम्भवात्स च भविष्यत्यर्थसम्बन्धार्थम्। आदितश्च द्रव्यदेवतापदैकवाक्यत्वसिद्धये ददातिरिति विशेषः। कल्पिते च ददातौ कारकयोः परस्परसम्बन्धा-

1. १क० षष्ठीं च।

भावात् तेन तावत्सह सम्बन्धः। तत एकार्थत्वात्परस्परनियम इति विप्रकृष्टता। न त्वामिक्षायां तद्धि किंचिदिति संनिकर्षः। सत्यपि च वाजिवाजिनयोः साक्षात् सम्बन्धे वैयधिकरण्याद्विप्रकृष्टत्वम्। वैश्वदेव्यामिक्षेति तु सामानाधिकरण्या-त्संनिकृष्टता। तथा च वक्ष्यति 'समर्थतराणि हि समानविभक्तीनि भवन्ति दुर्बलो विविभक्तिरिति'।

किं च।

सम्प्रदानत्वमात्रं चतुर्थी वाजिनां वदेत्।
देवता लक्ष्यमाणा तु पुनर्दूरेण वाजिने॥

न हि तद्धितवद्देवतायां चतुर्थ्युत्पत्तिः स्मर्यते। क्व तर्हि ? सम्प्रदाने। न च सम्प्रदानस्यैव देवतात्वं, मा भूत् 'हिरण्यमात्रेयाय ददाति' इत्यत्राऽऽत्रेयो देवता। यदि च देवतासम्प्रदानं स्यात्, ततो यागदानयोरभेद एव स्यात्। प्रतिग्रहे व्यापृतं च कारकं सम्प्रदानं भवति। न च देवतायाः प्रतिग्रहीतृत्वं सम्भवति। तेनावश्यं यः सम्प्रदानत्वात्प्राग्भावी तदुद्देशः चतुर्थ्या लक्षयितव्यः।

यद्वा परस्वत्वापादानसम्बन्धोत्तरकालभाव्यैश्वर्यम्, तादात्म्यप्रसिद्धेर्देवता-त्वस्य। यद्यप्यनिराकरणात्मकसंप्रदानमेव देवतेत्यभ्युपगमः तथाऽपि सामान्येन व्यभिचारिविशेषलक्षणाद्विप्रकृष्टत्वम्।

अपि च—

चतुर्थीपञ्चमीरूपसंदेहाद्विप्रकृष्टता।
तद्धितस्य त्वसंदेहान्न बुद्धिर्विप्रकृष्यते॥

वाजिभ्य इति रूपसामान्यात्प्रसक्तं सद्यावत्पञ्चमीत्वमपनीय, चतुर्थीत्वं साध्यते, तावन्मतिविक्षेपः। ननु तद्धितेऽप्यनेकापत्याद्यर्थसंदेहात्तुल्यमेतत्। विषम उपन्यासः। शब्दसंदेहो मयोपन्यस्तः, त्वयाऽर्थसंदेहः। सर्वथा तावत्तद्धितत्वम-संदिग्धम्। अर्थः पुनर्योग्यत्वादितरासंभवेन देवतात्मको निर्णेष्यते। भवतस्तु निर्णीतेऽपि शब्दे चतुर्थ्यर्थानेकत्वादुपपदकारकलक्षणसंदेहादस्त्येव विप्रकर्षः। तेनार्थसंदेह उभयोः समत्वान्नैकश्चोद्यते। शब्दसंदेहस्त्वसाधारणत्वाच्चोदितः।

किञ्च—

आमिक्षोत्पद्यमानेन कर्मणा सह युज्यते।
ततो वाक्यान्तरोपात्तमुत्पन्नेन तु वाजिनम्॥

यथा चोत्पत्तिशिष्टस्य बलीयस्त्वं, न च क्रियामात्रं निष्कृष्य गुणान्तरं विधातुं शक्यते। तथोक्तं चित्राधिकरणे वैश्वदेवाधिकरणे च। वैश्वदेवाधिकरण-न्यायेन च प्रकरणमपेक्षितव्यमपरं वाजिनवाक्येन।

कुतः ?

द्रव्यदैवतसंबन्धा[1] यागमात्रमपेक्षते ।
आमिक्षायाग एवेति तत्र प्रकरणाद्भवेत् ॥

वाजिनं हि विना यागेन वाजिभिर्न संबध्यत इति कञ्चिद्यागमपेक्षते तत्र यदामिक्षायागस्यैव तदप्यङ्गमिति कल्प्यते, तत्प्रकरणात् । ततश्च यद्यपि वाक्येनैवाऽऽमिक्षायागे विश्वे देवा विधीयन्ते, तथाऽप्यन्यनिरपेक्षविहितत्वादामिक्षायाः प्रकरणसापेक्षवाक्यविहितांद्वाजिनाद्बलीयस्त्वं भवेदिति विशेषः । प्रकरणानपेक्षयागसंबन्धे चान्येषामिहाप्रतीतेरपूर्वयागः संबन्धो भवतीति भेदः । न चैवमादीनामनुपात्तपुरुषव्यापाराणामननुमिते यागे वाक्यान्तरापेक्षाऽस्तीत्युक्तमाग्नेयादिषु ।

रूढिर्योगाद्बलीयसीति निरूपणम्

विश्वे देवाश्च रूढ्यैव संबध्यन्ते पयस्यया ।
वाजिनेन तु संबन्धो भवेदवयवानुगः ॥

वाजिन इति ह्यवयवप्रसिद्ध्या विश्वे देवाः प्रत्याय्यन्ते । वाक्यार्थवच्चावयवार्थौ समुच्चित्य संबन्धं कल्पयित्वा सा भवन्ती श्रुतिमात्रोपनिपातलभ्यायाः समुदायप्रसिद्धेर्दुर्बला भवतीति, दुर्बलतरः संयोगो वाजिनस्य ।

वाजिशब्दोऽपि वाऽश्वादौ सुनिरूढः स्वभावतः ।
क्लेशेनैव विना कार्याद्विश्वदेवेषु[2] वर्तते ॥

देवतात्वं नाम यस्यैव शब्दनोक्तम्, तस्यैत योगस्यायोग्यस्य वा भवतीति, न जातिनिमित्तम्, येनायं वाजिशब्दो बलादन्यत्र नीयते । अतश्च वाजिशब्दोऽश्वानां देवतात्वं वदन्विता कार्येण दुर्बलयाऽवयवप्रसिद्ध्या विश्वदेवेषु[3] कल्प्यते—इति विप्रकर्षः ।

उभयोरतुल्यबलत्ववर्णनम्

सत्यप्यवयवार्थे च वाजिन्यन्याऽपि देवता ।
पुरोडाशादिनेत्येवं क्लेशात्प्रकृतनिश्चयः ॥

सर्वे ह्यग्न्यादयः पुरोडाशादिभिरन्नैर्वाजिनो विज्ञायन्ते । तत्राऽऽमिक्षायां तावदन्नशब्दः प्रयुक्तः, न पुरोडाशादावित्येकः क्लेशः । पुनरपि चाऽऽमिक्षामात्रग्रहणे सति वैश्वदेव्यामिक्षयैव तद्वतां ग्रहणमित्यपरः । ततश्च स्वरसेन श्रुतिरन्यत्रापि वर्तमाना सती प्रकरणेनैव विशेषे स्थापयितव्या । न च तत्र किञ्चिन्निमित्तमस्ति । गुणभावेनोपादीयमानत्वाद्देवतायाः । संस्कार्यत्वे च 'व्रीहीन्प्रक्षति' इत्यादिष्विव कथञ्चिदपूर्वसाधनलक्षणायां[4] प्रकृतग्रहणं भवेत् । न चात्र तदस्ति,

१. क० संयोगो, २. क० विश्वेदेवेषु ।
३. क० विश्वेदेवेषु, ४. क० लक्षणया ।

विनाऽपि तेन कर्मणः प्रयोजनवत्त्वोपपत्तेः। कामं वाजिनस्यैव प्रतिपत्तिः संस्कारो भवेत् न देवतायाः, प्रकृतग्रहणे चाग्न्यादीनां सद्भावादनवधारणम्।

अथ विश्वदेवेषु सर्वे संगृहीता भविष्यन्तीति तेषां ग्रहणम्। तदयुक्तम्। सर्वसंग्रहस्याप्रमाणकत्वात्। बहुवचनश्रुत्या सर्वग्रहणमिति चेत्? न। तस्य त्रिष्वेव चरितार्थत्वात्। न च त्रिष्ववधारणज्ञानमिति चेत्? न। 'मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवत्' इत्यवधारणहेतुसद्भावात्। तस्मान्न विश्वदेवग्रहणे किञ्चित्प्रमाणम्। साकाङ्क्षा च देवता द्रव्येण संबध्येत्। सा चात्र वाजिशब्देन द्रव्यवत्येवोपादीयमाना[1] निराकाङ्क्षैव प्रत्याययितेति, च द्रव्यान्तरसंबन्धं क्षमते। तस्मादतुल्यबलत्वम्।

आवाहनादिनिगमेषु देवतावाचकपदनिवेशेऽनियमइत्याद्यनेकदोषवर्णनम्

किं च।

श्रुत्यैव समवायित्वं देवतानां स्वकर्मसु।
विश्वदेवश्रुतिस्तत्र वाजिशब्देन दुर्लभा॥

यदि हि वाजिनयागेऽपि विश्वे[2] देवा एव देवतात्वेनाभ्युपगम्यन्ते, ततोऽवश्यं निगमस्थानेषु विश्वदेवश्रुतिरेवोच्चारणीया। सा चात्र विधिशब्देऽनुच्चारितत्वादशक्या लब्धुम्। तत्रैवं क्लेशेन लभ्यते। वाजिशब्दः किञ्चिदर्थं वदति। सोऽपि रूपासमवायाद्विश्वदेवशब्दं लक्षयति। ततोऽसौ वाजिनत्यागवेलायामुच्चार्यमाणत्वेन विधीयत इति क्लेशः। तत्रापि चार्थेन शब्दलक्षणायामविशेषात्सर्वे देवा निःशेषा देवा इत्यादयः सर्वे पर्यायाः प्राप्नुवन्तीति, विश्वदेवशब्दो दुर्लभः। न चान्यशब्दोच्चारणे, तेषां देवतात्वं भवति। विधिशब्दस्य मन्त्रत्वे भावः' इति वक्ष्यति। वाजिनशब्द[3] एवात्र पुरुषः शास्त्रेण प्रवर्तित इति, तदुच्चारणेनैव वाजिनस्य देवता सम्पादनीया। ततश्च यद्यपि विश्वदेवार्थं एवेह वाजिशब्देनोच्यमानो देवता भवति, इतरत्र विश्वदेवशब्देन, तथाऽपि महेन्द्रन्यायेन विनियोगभेदाद्विस्पष्टं देवतापृथक्त्वमित्यपरोऽयं द्रव्यदेवतासंबन्धो[4] विज्ञायते। न च प्राप्ते कर्मण्यनेकार्थगुणविधानं संभवतीत्युपपन्नमेतत्, गुणश्चापूर्वसंयोगे भेदक इति॥ २३॥

(इति नवमं गुणाधिकरणम्) ॥ ९॥

अथ नवमं गुणाधिकरणम् ॥ ९ ॥

न्या० सु०—संज्ञावद् गुणस्यापि पूर्वकर्मनिवेशानर्हत्वेन भेदकत्वाद् गुणचिन्तायाः संज्ञाचिन्तानन्तरं सङ्गतिमाह—अत इति। वाजिनवाक्यमेवाधिकरणस्य विषयः।

---

१. क० द्रव्यइत्येव, २. क० विश्वदेवा, ३. क० वाजिशब्द एवात्र।
४. क० संयोगीविधीयते।

प्रतियोगियागविधायित्वेन तु वैश्यदेवीवाक्यम्, दध्यानयसंस्कृत्तसपयः परामर्शितच्छब्द-व्याख्यानार्थं च तत्तवाक्यमुपन्यस्तमिति विवेक्तुमाह—**चातुर्मास्येष्विति**। सन्देहभाष्यं व्याचष्टे—**तत्रेति**। देवताया अप्यप्राप्यत्वादुभयविधिः कस्मान्न पूर्वपक्षित इत्याशङ्क्याह—**तत्रेति**। तस्माद्युक्तं सन्देहभाष्यमित्याह—**तेनेति**। पूर्वपक्षप्रतिज्ञाभाष्यं व्याचष्टे—**किमिति**। वाजिनामप्यप्राप्तेर्विधेयत्वावगमात्प्राप्ते च कर्मण्यनेकगुणविध्ययोगान्न पूर्वत्र गुणविधिः सम्भवतीत्याशयेन प्रश्नपूर्वं कुत इत्याशयेन पूर्वं कुत इत्यादिपूर्वपक्षभाष्यं व्याचष्टे—**कुत इति**। नन्वेवं देवताप्रतीतावपि कर्माप्रतीतेः कथं तत्र द्रव्यविधिरित्याशङ्क्य, द्रव्यदेवतान्वयस्य कर्मनिबन्धनतयैवावगतत्वाद्विश्वेदेवामिक्षान्वयानुमितं कर्मापि वाजि-शब्दादेव प्रतीयतइत्युक्तम्। तस्मादिह पूर्वविहिते कर्मणि वाजिनविध्युपपत्तिरित्युपसंहारः। ननु वाजिशब्दस्य रूढ्या देवताविशेषवाचित्वान्नावयवयोगकल्पना युक्तेत्याशङ्कां निरस्यन् श्लोकं व्याचष्टे—**वाजिनो नामेति**।

नन्वेकस्मिन्कर्मणि गुणद्वयसमावेशः कथमित्याशङ्कानिरासार्थं तेनोभयमिति भाष्यं द्वेधा व्याचष्टे—**तस्मादिति**। वाजयोगस्य देवताविशेषणत्वे वाजिदशब्दादामिक्षान्वया-परित्यागेनैव वाजिनान्वयावगतेः समुच्चयः। उपलक्षणमात्रत्वे तु वाजिविधावामिक्षान्वया-प्रतीतेरन्योन्यनिरपेक्षैकार्थ्यादिकल्प इत्याशयः। ननूत्पत्तिशिष्टबलीयस्त्वस्य वैश्वदेवाधि-करणे स्थितत्वादुत्पत्तिशिष्टामिक्षावरुद्धे यागे वाजिनविध्यनुपपत्तेर्न विकल्पः, समुच्चयो वा युक्त इत्याशङ्क्याह—**सत्यपि चेति**। वैश्वदेवशब्दवत् वाजिनशब्दस्य नामधेयत्वायोगाद् गुणविधित्वं विनानर्थक्यापत्तेर्वाजमेषामस्तीति च सर्वनामार्थवृत्तिना वाजिशब्देन देवताद्वारा सन्निहितयागोपस्थापनात् गुणविशिष्टकर्मान्तरविध्यनुपपत्तेरामिक्षानिराकाङ्क्षेऽपि सोमक्रये हिरण्यादिविधिवत्ससम्भवतीति स्पष्टत्वादनुक्त्वा विकल्पोपपादनार्थं निष्कर्षोक्तिः।

ननु क्रयवद्यागस्येह स्वशब्दानुक्तत्वाद् द्रव्यदेवतानुमितत्वं च। ततो निष्क्रष्टु-मशक्यत्वान्न निष्कृष्टे यागे गुणान्तरविधिः सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**यद्यपि चेति**। द्रव्यदेवतानुरक्तत्वेनाप्यनुमितस्य यागस्य क्रियारूपतया कारकरूपाभ्यां द्रव्यदेवताभ्यां निष्कर्षः सम्भवतीत्याशयः। ननु सत्यपि व्यतिरेके वैश्वदेवीशब्दाच्छुद्धयागाप्रतीतेरशब्दाव-गतस्य च शाब्दवाजिनान्वयायोगान्न तस्मिन्वाजिनविधिः सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**यागेति**। वैश्वदेव्यामिक्षाया यजेतेति श्रुतानुमितैकदेशनिष्पन्ने वाक्ये शुद्धयागवाचिपदानु-मानाच्छब्देनापि निष्कर्षः सम्भवतीत्याशयः। नन्वेवं वैश्वदेवीवाक्ये निकृष्टयागोक्तावपि वाजिशब्देन निष्कृष्टाननुवादान्न तत्र वाजिनविधिः सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**वाजीति**। तत्रापि वाजिदेवत्यो यो यागस्तत्र वाजिनं कुर्यादिति निष्कृष्टयागवाची शब्दोऽनुमीयत इत्याशयः। तेन पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**।

अनेकगुणोपादानलक्षणस्य पूर्वकर्मसंयोगहेतोः पौर्णमास्यधिकरणव्युत्पादितस्यात्रा-भावात् गुणान्तरावरोधलक्षणं हेत्वन्तरमत्राभिमतमिति दर्शयन् सिद्धान्तमाह—**अत्रेति**। अप्रकृतेतेति भाष्येण नञ्समासपूर्वकोत्तरपदसमासेनापूर्वसंयोगव्याख्यानेऽपि दध्यादेः

कर्मान्तरसंयोगार्हस्य भेदकत्वनिवृत्त्यर्थमपूर्वेणैव संयोग इत्यवधारणेन पूर्वकर्मासंयोगस्यैवोक्तत्वात्पूर्वकर्मण्यसम्भवादित्यनेनैव सूचितमपूर्वसंयोगशब्दस्य व्याख्याद्वयमाह—**अपूर्वेति**। कारकयोः साक्षादनन्वयाद्देवताशब्दं कर्मलक्षणार्थं मत्वा—**कर्मान्तरेत्युक्तम्**।

द्वितीयव्याख्यायामुत्तरपदसमासपूर्वको नञ्समासः पूर्वकर्मसंयोगानर्हत्वेऽपि वैश्वदेववाक्यत्वकर्मोत्पादकत्वाभावे भेदकत्वायोगादपूर्वसंयोगस्य भेदापादकत्वाय कर्मविध्याक्षेपकत्वाभिधानार्थत्वेन वाक्ययोरिति सूत्रावयवव्याख्यानार्थं 'स मे ह्री'ति भाष्यमिति सूचयन्सूत्रावयवं व्याचष्टे—**वाक्ययोरिति**। अपूर्वसंयोगाक्षेपार्थं कथं पुनरिति भाष्यं व्याचष्टे—**सत्यमिति**। यदेत्याक्षेपभाष्यावयवं शङ्कोत्तरत्वेन व्याख्यातु सिद्धान्तिनः शङ्कामाह—**तत्कार्येति**। समुच्चयाशयत्वेन तावद् व्याचष्टे—**कथमिति**। विकल्पाशयेनैतमेव भाष्यावयवं व्याख्यातुमेकार्थास्तु विकल्पेरन्समुच्चये ह्यावृत्तिः स्यान्प्रधानस्येति द्वादशाधिकरणन्यायेन समुच्चयासम्भवं शङ्कते—**एकार्थास्त्विति**। आमिक्षावाक्ये निरपेक्षामिक्षासाधनकत्वेनावगते यागे समुच्चयविध्ययोगाद्वाजयोगस्य चोपलक्षणमात्रत्वोपपत्तेर्न क्रयद्रव्यवद्वचनात्समुच्चयसिद्धिरित्याशयः। विध्यकल्पाशयत्वेन व्याचष्टे—**विकल्प एवेति**।

समाधानार्थं तदुच्यत इति भाष्यं व्याचष्टे—**नेति**। तद्धितेति भाष्यं पूर्वभाष्योक्तातुल्यबलत्वत्वविवरार्थत्वेन व्याचष्टे—**तदिति**। भाष्यद्वयेऽपि तद्धितचतुर्थ्योः श्रुतिवाक्यत्वकृतबलाबलोक्त्यविशेषात्पौनरुक्त्यमाशङ्क्य, पूर्वस्य तावत्सामान्यन्यायोक्त्यार्थत्वं सूचयितुमाह—**सर्वत्रैव तावदिति**। क्व चित्तद्धितेन, क्व चिच्चतुर्थ्येति वाच्ये बलाबलोक्तये श्रुतिवाक्योपन्यास इत्यनेन सूचितम्। द्वितीयस्य बलाबलोपपादनार्थत्वं सूचयितुं शङ्कते—**आहेति**। द्वयोः श्रुतित्वाविशेषादित्याशयः। विशेषोक्तौ भाष्यं योजयति—**तदिति**। यत्रेति भाष्यस्य प्रकृते सामान्यन्याययोजनार्थत्वं सूचयितुमाह—**वैश्वदेवी हीति**।

देवतान्वयस्योभयत्र श्रौतत्वाद् द्रव्यान्वयस्य तूभयत्र वाक्यीयत्वाच्छ्रुतिवाक्यत्वकृतविशेषायोगाशङ्कानिरासार्थं 'तत्रैषामि'ति भाष्यमाक्षिपति—**नन्विति**। भाष्यस्थो विशेषशब्दस्तद्धितान्तर्गतास्यशब्दोक्तद्रव्यान्वयस्याश्रौतत्वाद्वाक्यीयत्वोक्तययोगमाशङ्क्य, सामान्यस्याप्रदेयत्वेन देवतान्वयानर्हत्वाद्विशेषस्यैवान्वयो वाच्यः। स च वाक्याधीन इत्यभिधानार्थोऽथ द्रव्यमात्रान्वयस्य श्रौतत्वेऽपि विशेषान्वयो वाक्यगम्य इत्यभिधानार्थं इति विकल्प्य, आद्यपक्षे द्रव्यान्वयस्योभयत्र वाक्यीयत्वाद्देवतात्वस्य उभयत्र श्रौतत्वादविशेषे द्रव्यसङ्गतिमात्रं करणादित्यन्तेनोक्तेऽथ द्रव्यमात्रसंयोग इत्यादिना चतुर्थ्या अपि कर्माभिप्रेयमाणत्वलक्षणसंप्रदानवाचित्वात्कर्मभूतद्रव्यान्वयोक्तिं विना सम्प्रदानोक्त्यनुपपत्तेर्द्रव्यान्वयवाचित्वस्यापि सम्प्रदानवाचित्वस्मृत्याक्षेपाद् द्रव्यान्वयस्यापि श्रौतत्वावगत्याशयेन द्वितीयपक्षेऽप्यविशेषमुक्त्वापि चेत्यादिना द्रव्यमात्रान्वये विरोधाभावेन बलाबलस्यावाच्यत्वात् विशेषान्वयस्योभयत्र वाक्यीयत्वान्नैकस्यापि श्रौततास्तीत्युक्तमिति विवेकः।

आक्षिप्तं भाष्यं समाधातुं श्रुत्या देवतात्वमिति भाष्यावयवं तावत्तद्धितान्ताद्देवताशब्दात्परस्यभावप्रत्यस्य सम्बन्धवाचित्वमङ्गीकृत्य द्रव्यविशेषस्य श्रौतदेवतान्वयोक्त्यर्थत्वेन व्याचष्टे—**तद्धिति**। विशेषस्यैव देवतोच्यतइत्यनुषङ्गः। अस्य शब्दस्य विशेषवाचित्वमुपपादयन् श्लोकं व्याचष्टे—**विश्वेदेवा इति**। विशेषस्यैव सर्वनामवाच्यत्वात्त्यागलक्षणव्यवहारयोग्यत्वाच्चास्यशब्देनाभिधानात्तद्धितेन देवतान्वयोक्तिरित्यर्थः। सम्बन्धग्रहणाशक्तेर्विशेषस्य वाच्यत्वायोगमाशङ्क्य, सन्निहितत्वं सम्बन्धोपलक्षणत्वेनोक्तम्।

ननु द्रव्यविशेषस्यैव देवतान्वये तद्धितेनोक्ते सत्यामिक्षाशब्दोऽनर्थक इत्याशङ्कानिरासार्थत्वेन द्रव्यविशेषस्य देवतासम्बन्धितया तद्धितोक्तस्यामिक्षया सह विशेषणविशेष्यसम्बन्धो वाक्येन गम्यतइत्येवमुत्तरावयवं व्याख्यातुमाह—**ततश्चेति**। त्यज्यमानं द्रव्यं प्रत्युद्देश्यत्वेन देवताया विशेषत्वात्सामान्यस्य च त्यागायोगाद्विशेषावगत्युपादानायोपसर्जनत्वमुक्त्वा, सम्बन्धं विनोपसर्जनत्वासिद्धेस्तत्सिद्धयेऽन्तर्णीतः सम्बन्धो यस्यां देवतायां सोपसर्जनं यस्य द्रव्यस्य तत्प्रत्यये तद्धितान्तेन सन्निहितो द्रव्यविशेषो देवताविशिष्ट इत्येवं निष्पादिते स्वरूपावगतिं विना तदपर्यवसानात्तत्समर्पणाय—**आमिक्षापदेनेत्युक्तम्**।

ननु देवताविशिष्टस्य तद्धितान्तपदवाच्यत्वाभ्युपगमे सम्बन्धस्य लक्ष्यमाणत्वापत्तेः श्रौतत्वोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य, वैय्याकरणमतेन श्रौतत्वोक्तिरित्याह—**तत्रेति**। एवं तु स्वमते श्रौतत्वासिद्धेरपरितोषादेकपदगम्यत्वेनौपचारिकी श्रौतत्वोक्तिरित्यन्यथा परिहरति—**अथापीति**।

भाष्यावयवद्वयस्योक्तमेव विविक्तविषयत्वं स्पष्टयति—**तनेति**। येन कारणेनामिक्षापदेन तद्धितोक्तो द्रव्यविशेषः समर्प्यते, तेन कारणेन विशेषणविशेष्यत्वलक्षणस्यासम्बन्धस्याभावात् द्वाविह सम्बन्धावित्यर्थः। नन्वेवं सति पदान्तरान्वयसापेक्षत्वाच्छ्रुतेरपि न वाक्याद्विशेषः स्यादित्याशङ्क्याह—**इतीति**। सर्वनाम्नः पदान्तरसन्निधापितार्थविषयत्वात्तेन विना स्वार्थाभिधानपर्यवसानानुपपत्तेः पदान्तरस्यापि सन्निधापकस्य सर्वनामश्रुतिव्यापान्तरागतत्वावसायात्पर्यवसिताभिधानाभिधेयार्थाकाङ्क्षासन्निधियोग्यत्वाधीनपदान्तरान्वयात्सर्वनामार्थवृत्तितद्विषयसमर्पकपदद्वयान्वयस्य शीघ्रं प्रतीतेरस्त्यामिक्षावाजिनयोर्विशेष इत्याशयः।

ननु विशेषणविशेष्यत्वलक्षणसम्बन्धाभ्युपगमे तस्य भेदाधिष्ठानत्वाद्वैश्वदेव्यामिक्षाशब्दयोर्भिन्नार्थत्वापत्तेर्नीलोत्पलशब्दयोरिव वाक्यलक्षणएवान्वयः स्यात्, न श्रौत इत्याशङ्क्याह—**ततश्चेति**। यतश्च कारणादामिक्षापदेन तद्धितोक्तद्रव्यविशेषसमर्पणनिमित्तं विशेषणविशेष्यत्वम्। अतोऽर्थभेदसमर्पणायोगाद्भिन्नार्थत्वानुपपत्तेर्नार्थयोर्विशेषणविशेष्यत्वम्, किं तु शब्दयोरेवेत्यर्थः। किं तर्हि विशेषणविशेष्यत्वे द्वारमित्यपेक्षायामामिक्षापदसन्निधानात्तद्धितस्य द्रव्यविशेषवाचित्वव्यवस्थापनं द्वारमाह—**किं तर्हीति**। पदद्वयश्रवणानन्तरं तत्प्रतीतेः समुदायवाच्यत्वशङ्का तद्धितएवेत्येवकारेण निरस्ता। सर्वनामार्थवृत्तित्वलक्षणोपपत्तिर्विशेषशब्देनोक्ता। श्लोकं व्याचष्टे—**नैवेति**। अपत्यादितद्धितवद्विशेषानाभिधानेऽपि

सन्निहितत्वमात्रत्वाभिधानात्पर्यवसानमाशङ्क्य—**अनुपयुक्तेत्युक्तम्** । औपगवादिशब्दे देवदत्तादिविशेषाप्रतीतावप्युपगवपत्यत्वमात्रप्रतीत्युपपत्तेर्युक्तमभिधानपर्यवसानं, सन्निहितत्वस्य तु प्रकृत्यर्थेनाविशेषणान्निर्विशेषणस्य च सर्वपदार्थसाधारण्येनानुपयोगितयाऽनभिधेयत्वादपत्यादिविशेषणवच्चोपपदार्थविशेषणफलत्वाभावान्न सन्निहितत्वमात्राभिधाने तद्धितस्य शक्तिः कल्प्येत्याशयः । वैश्वदेवीशब्दे एवेत्यनेन तद्धितएवेत्यन्वयः सूचितः । न चेत्यनेनोत्तरार्द्धं व्याख्यातम् ।

नन्वामिक्षापदेन विनामिक्षाविषयत्वाप्रतीतौ देवतायोगस्यामिक्षाविषयत्वं वाक्यार्थः स्यादित्याशङ्कानिरासायामिक्षामेवेत्यावृत्त्यैवकारान्वयसूचनार्थम्—**न च वाक्यार्थत्वमित्याद्युक्तम्** । सन्निहितार्थविशेषविहितत्वात्तद्धितस्य तत्समर्पकपदानपेक्षस्यान्वर्थाप्रसिद्धेः स्वतन्त्रपदार्थग्रहणाद्वाक्यार्थत्वानुपपत्तिरित्यर्थः । भाष्यस्थविशेषपदोक्तशङ्कानिरासोपपादनार्थं तद्धितस्य विषयार्पणमेवेत्येकारान्वयं सूचयितुम्—**तेनेत्युक्तम्** । उपपदसर्वनामतद्धितानामैकार्थ्ये वृद्धसम्मतिमाह—**तथा चेति** । आमिक्षाशब्देनैव सिद्धेर्वैश्वदेवीशब्दानर्थक्यं त्वनाशङ्क्यमेवेति सूचयन्नैकार्थ्यमुपसंहरति—**तेनेति** । यैवेत्येवकारेणामिक्षा—**शब्दोक्तैवेत्युक्तम्** । सैव वैश्वदेवीशब्देनोक्ता सती देवतासम्बन्धं यास्यतीत्येतदर्थं वैश्वदेवीशब्देनोच्यते इति । क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे लृङ्व्याख्यानेन योज्यम् । एकार्थं प्रवृत्तिनिमित्तभेदाभावात्सामानाधिकरण्यायोगमाशङ्क्यामिक्षाशब्दस्यामिक्षात्वम्, वैश्वदेवीशब्दस्य देवतान्वयं प्रवृत्तिनिमित्तं देवतान्वयार्थामिक्षाशब्दोक्तार्थोक्तिपरामर्शिना तच्छब्देन सूचयन्नर्थविशेषणविशेष्यत्वानपेक्षत्वमुपसंहरति—**तेनेति** । वाजिने तु द्रव्यदेवतान्वयो, विशेषणविशेष्यत्वं च द्वयमपि वाक्यीयमेवेत्यभिधानार्थमेकत्रेति भाष्यं व्याचष्टे—**इतरत्र त्विति** । सम्प्रदेयाद्विना सम्प्रदानायोगादर्थाक्षेपेण विभक्त्या द्रव्यदेवतायोगोक्तिमाशङ्क्य—**स्वत इत्युक्तम्** । समान्यतो द्रव्यदेवतायोगाक्षेपेऽपि स्वेन वाजिनशब्दवाच्येन रूपेण हविषो देवतायोगो न विभक्त्योक्त इत्यर्थः । श्लोकं व्याचष्टे—**वाजिभ्य इति** । तस्य द्रव्यविशेषस्य देवतासम्बन्धः । तत्सम्बन्धः सामान्यतो विशेषतो वा द्रव्यदेवतासम्बन्धो 'न वाजिपदेऽन्तर्गत इति, कथं चिच्छब्देनोक्तम् । यदि च तद्धितवच्चतुर्थी सर्वनामार्थे स्मर्येत, ततः सम्प्रदेयस्य द्रव्यस्य सम्प्रदानभूतदेवतान्वयश्चतुर्थ्यन्ते पदेऽन्तर्गतः स्यात् । नत्वेतदस्तीत्याह—**अपि चेति** । देवतात्वापेक्षयापिशब्दः । श्लोकं व्याचष्टे—**सास्येति** । यदि चान्यपदार्थोऽपि चतुर्थ्यन्तात्प्रतीयेत, ततो स्मृतोऽपि देवतान्वश्चतुर्थ्यन्ते पदेऽन्तर्गतः स्यात्, न त्वेतदप्यस्तीति सम्प्रदानमात्रं प्रतीयत इति वदतोक्तम् ।

ननु सम्प्रदेयं विना सम्प्रदानायोगात्सम्प्रदेयमपि चतुर्थ्यन्तात्प्रतीयतएवेत्याशङ्क्याह—**तेन त्विति** । ननु सम्प्रदानमात्रस्य चतुर्थ्यर्थत्वे देवतात्वस्यापि तयानुक्तत्वाद्वाक्येनापि द्रव्यदेवतावगत्यनुपपत्तेरुभयस्य वाक्यीयत्वोक्तिरयुक्ता स्यादित्याशङ्क्याह—**तेनेति** । लक्षणया देवतात्वोक्तिमभ्युपगम्य भाष्यमित्याशयः । नन्वेवं सति देवतात्वस्यामिक्षावाजिनवाक्ययोः, श्रौतत्वाविशेषात्तुल्यबलत्वं स्यादित्याशङ्क्याह—**तत्र चेति** । अनेन च

तदिहेति भाष्यस्थोऽपि देवतात्वशब्दः पूर्वभाष्यस्थवत्सम्बन्धवाचितया व्याख्यातः। श्रौतवाक्यीयत्वविशेषोक्तिप्रयोजनाभिधानार्थं 'विरोधे चेत्यादि' भाष्यं व्याचष्टे—**इतीति**।

सन्निकर्षविप्रकर्षौ वा भाष्यस्थाभ्यां श्रुतिवाक्यशब्दाभ्यां विवक्षिताविति व्याख्यानान्तरमाह—**किं चेति**। श्रुतिशब्दस्य सन्निकृष्टत्वमर्थो, वाक्यशब्दस्य विप्रकृष्टतार्थं इत्यर्थः। कथमामिक्षान्वयस्य सन्निकृष्टत्वम्, वाजिनान्वयस्य विप्रकृष्टापेक्षितेऽष्टप्रकारं संनिकर्षविप्रकर्षाभिधानं प्रतिजानाति तावत्—**विप्रकृष्टेति**। एतदेव व्याचष्टे—**सर्वेति**। आमिक्षायां सामान्यतो देवतान्वयाभिधानं, न वाजिनस्येति तावत्प्रकारमाह—**तद्यथेति**। यद्यपि च भवतु नामेत्यनेन द्रव्यमात्ररूपत्वाविरुद्धात्मतोक्ता, तामनुभाषणपूर्वं दूषयति—**यस्त्विति**। वैश्वदेवीतीतिकरणेन सन्निहितार्थवृत्तितद्धितपरस्त्रीप्रत्ययपरामर्शात्, तेन च सन्निहितस्त्रीद्रव्योक्तेर्वाजिने न नपुंसकव्यवहितशब्दनिर्दिष्टे स्त्रीत्वसान्निध्ययोगाद्विरोधोऽस्त्येवेत्याशयः।

ददातिकल्पनाकल्पनरूपं प्रकारान्तरमाह—**अपि चेति**। अवश्यकल्पकर्त्तव्यतावचनेनैव पदद्वयान्वयसिद्धौ ददातिकल्पनानापत्तेस्तत्कल्पनसिद्ध्यर्थं सम्प्रदानसम्प्रदेयसङ्गतिर्ददाति विना—**नास्तीत्युक्तम्**। देवशब्देऽपि कल्पनीये धातुमात्रकल्पनस्यासाधारण्येन पर्यनुयोज्यत्वसूचनार्थं धात्वर्थेन तल्लक्षणा अवश्यकल्पकर्त्तव्यतावचनकल्पनेऽपि विप्रकर्षसिद्धेः कस्मान्न निरस्ता इत्याशङ्कां निरस्यन् श्लोकं व्याचष्टे—**कर्त्तव्यतेति**। प्रश्नपूर्ववैधर्म्यमुपपादयति—**कुत इति**। वैश्वदेव्यामिक्षाशब्दयोस्तु सामाधिकारण्याद्वैधर्म्यदृष्टान्तत्वोपपत्तिरित्याशयः।

वाजिशब्दस्य कारकविभक्तचन्तत्वादपि न नाम्नान्वयः सम्भवतीत्याह—**न चेति**। ददात्यध्याहारे च विप्रकर्षद्वयापत्तिर्दोष इत्याह—**तत्रेति**। नन्वामिक्षावाक्येऽपि वैश्वदेव्यामिक्षया यजेतेति कल्पनाद्विप्रकर्षद्वयापत्तिरविशिष्टेत्याशङ्क्ते—**इतरत्रापीति**। पदद्वयान्वयहेतुत्वाभावान्नान्वयविप्रकर्षापादकं यजिकल्पनमित्याशयेन परिहरति—**नेति**। आमिक्षावाक्ये च यजिमात्रं कल्प्यम्, वाजिनवाक्ये तु यजिर्ददातिश्चेति विशेषमाह—**तव त्विति**। वाजिनवाक्यस्यानेकदोषदुष्टत्वसूचनार्थं परकीयत्वं विवक्षितुम्—**तवेत्युक्तम्**। त्वदीये वाजिनवाक्येऽर्थयोर्द्रव्यदेवतयोः सम्बन्धसिद्ध्यर्थम्, यजिश्च पश्चाद्भविष्यत्यादौ च द्रव्यदेवतापदयोरन्वयार्थं ददातिरित्युक्ते ददातिनैवार्थयोरप्यन्वयसिद्धेः, किं यजिनेत्याशङ्क्य—**परेत्युक्तम्**। परस्या देवतायाः प्रतिगृहीतृत्वाभावेन तत्स्वत्वापादनलक्षणदानायोगान्न तेन द्रव्यदेवतान्वयः सम्भवतीत्याशयः।

व्यतिरेकवाचिना तुशब्देनामिक्षावाक्ये यजिमात्रकल्पनेति सूचितं चतुर्थ्याश्चोत्सर्गतोऽवगतस्यापि सम्प्रदानवाचित्वस्य वाजिनपदन्वयात्प्रागपवादकोपपदयोगाभावान्निश्चयेनानिर्णीतस्य देवतात्वलक्षकत्वायोगात्प्रागेव च देवतात्वलक्षणायां ददातिकल्पनायोगापत्तेः, सम्प्रदानसम्प्रदेयपदैकवाक्यत्वार्थं कल्पितेन ददातिना तदन्वये निष्पादिते वाजिनप्रतिग्रही-

तृत्वाभावात्सम्प्रदानत्वानुपपत्तेर्देवतालक्षणार्थत्वं वाजिपदस्याभिप्रेत्य देवतापदत्वोक्तिर्ददाति-कल्पनोत्तरकालमपि कारकपदयोरन्योन्यान्वये विप्रकर्षमाह—**कल्पितेऽपि चेति**। वैश्वदेव्या-मिक्षाशब्दयोस्तु सामानाधिकरण्यात्कारकविभक्त्यन्तत्वाभावाच्च न कश्चिद्विप्रकर्षहेतु-रित्याह—**नन्विति**।

सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यलक्षणं तृतीयं प्रकारमाह—**सत्यपि चेति**। सर्वत्रैक-विषयत्वनिबन्धनत्वादन्वयस्यैकविभक्त्यन्तत्वं विनैकविषयत्वाप्रतीतेर्वाजिसम्प्रदानकं वाजिन-विभक्त्यन्तत्वाय सम्प्रानवाचिन्याश्चतुर्थ्याः सम्प्रदेयलक्षणार्थत्वाद्वैयधिकरण्ये विप्रकृष्ट-त्याशयः। एतदेवारुणाधिरण्यभाष्यसम्मत्या द्रढयति—**तथा चेति**।

श्रुतिलक्षणात्मकं चतुर्थं प्रकारमाह—**किं चेति**। लक्षणामुपपादयति—**न हीति**। दृष्टान्तेनामिक्षायां श्रुतिः सूचिता प्रसिद्धिविरोधान्नात्रेयस्य देवतात्वमस्तीत्याशयः। सम्प्रदानस्य देवतात्वेऽनिष्टापत्त्यन्तरमाह—**यदि चेति**। विरुद्धलक्षणत्वादपि सम्प्रदानस्य देवतात्वं नास्तीत्याह—**प्रतिग्रह इति**। एवमपि कथं सम्प्रदानत्वेन देवतात्वं लभ्यतइत्य-पेक्षायां प्रकारद्वयमाह—**तेनेति**। तस्या देवताया उद्देश इति समासान्तर्गतषष्ठ्युक्तस्यो-द्देशकर्मत्वस्य विशेषणप्रधानेन निर्देशेन लक्ष्यतोक्ता। नन्वप्रतिग्रहीतृत्वाद्देवतायामैश्वर्यं सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**तादात्म्येति**।

देवब्राह्मणराज्ञां च विज्ञेयं द्रव्यमुत्तमम्।

इत्यादौ ब्राह्मणादिवद्देवताया अप्यैश्वर्यप्रसिद्धेर्यस्यै वा कस्यै देवतायै पशुरालभ्यते सैव मेधपतिरित्यर्थवादेभ्यश्च देवतात्वस्यैश्वर्यरूपत्वप्रसिद्धेः, प्रतिग्रहाभावेऽपि तदुद्देशपूर्वकेण त्यागेन तदधीनत्वापादनान्मुख्यैश्वर्याभावेऽपि औपचारिकमैश्वर्यमस्तीत्याशयः।

येऽपि सम्प्रदानद्वैविध्यमभ्युपगम्य प्रतिग्रहणात्मकस्य सम्प्रदानस्य देवतात्वाभावेऽप्य-निराकरणात्मकसम्प्रदानस्य देवतात्वमिच्छन्ति, तन्मतेऽपि चतुर्थ्युक्तेन सम्प्रदानत्वसामान्ये तत्तद्विशेषदेवतात्वलक्षणाद्विप्रकर्ष इत्याह—**यद्यपीति**। सन्दिग्धत्वलक्षणं पञ्चमं पञ्चमं प्रकारमाह—**अपि चेति**। श्लोकं व्याचष्टे—**वाजिभ्य इति**। शङ्कोत्तरत्वेनोत्तरार्द्धं व्याख्यातुम्—**नन्वित्याद्युक्तम्**। सकलरूपसाम्येपि।

पदावधारणोपायान् बहूनिच्छन्ति सूरयः।
क्रमन्यूनातिरिक्तत्वस्वरवाक्यस्मृतिश्रुतीः ॥ इति

प्रकृतिप्रत्ययान्वाख्यानस्मृतेरपि पदभेदावधारणोपायत्वेनेष्टत्व'प्रयाजाः सविभक्तिकाः कर्त्तव्या' इत्यादौ च वेदेऽपि विभक्तिप्रसिद्धेर्विभक्तीनां पारिभाषिकत्वाभावादन्वाख्यानभेदेन शब्दभेदात्सन्देहोपपत्तेरर्थसन्देहस्य चोभयसाधारण्येनापर्युनुयोज्यत्वाच्छब्दसन्देह एव विप्रकर्षापादक इत्याशयः।

उत्पन्नशिष्टत्वलक्षणं षष्ठं प्रकारमाह—**किं चेति**। अस्तु तावदुत्पन्नशिष्टत्वलक्षणो विशेषो वैश्वदेवाधिकरणोक्तेनो'त्पत्तिवाक्यविज्ञातमि'त्यादिचित्राधिकरणवार्त्तिकोपपादिते-

नोत्पत्तिशिष्टबलीयस्त्वेनोत्पत्तिशिष्टगुणावरुद्धे कर्मणि गुणान्तरं विधातुमेवाशक्यमित्याह—**यथा चेति**।

श्लोकोक्तमुत्पत्त्युत्पन्नशिष्टत्वविशेषस्य सन्निकर्षविप्रकर्षप्रकारत्वमुपपादयितुं प्रतिजानाति—**वैश्वदेवेति**। प्रश्नपूर्वं वैश्वदेवाधिकरणोक्तमेव न्यायमुपपादनार्थं स्मारयति—**कुत इति**। श्लोकं व्याचष्टे—**वाजिनं हीति**। अस्मिंश्च व्याख्यानप्रकारे सामान्यतोऽप्यामिक्षान्वयस्य श्रौतत्वाभावेऽपि वाजिनाद् बलीयस्त्वमित्याह—**ततश्चेति**। वाक्येनैव सामान्यतोप्यामिक्षादेवतान्वयितया विधीयत इति वाच्ये, तथापि सामान्यस्यऽब्रवीतीत्याद्यप्रकारानभ्युपगमेऽपि आमिक्षाया बलीयस्त्वोक्त्यैतद्बुद्धिस्थीरीकरणार्था विपरीतोक्तिः।

ननु यागमात्रान्वयेऽपि भेदस्तावन्न सिध्यतीत्याशङ्क्याह—**प्रकरणानपेक्षेति**। अप्रकृतानां यागानामप्रतीतेः, प्राकृतानां चानपेक्षणाद्यागान्वयायोगाद्विशिष्टविधिरेवापद्येतेत्याशयः। स्वार्थासमासत्वेन च वाक्यान्तरानपेक्षत्वान्न तद्विहिते कर्मण्यनेन गुणविधिः सम्भवतीत्याह—**न चेति**। रूढियौगिकत्वलक्षणं सप्तमं प्रकारमाह—**विश्वदेवाश्चेति**। उत्तरार्द्धं व्याचष्टे—**वाजिन इति हीति**। अवयवप्रसिद्धेर्विप्रकर्षोपपादनार्थं 'मक्षरैरेव बुध्यन्त' इति प्रोक्षण्याधिकरणवार्त्तिकोक्तं दौर्बल्यं स्मारयति—**वाक्यार्थवच्चेति**। न केवलं विश्वेदेवस्थे शब्दस्थया रूढ्या वाजिशब्दस्थावयवप्रसिद्धिबाधः, किं त्वात्मस्थयापीत्याह—**वाजीति**। देवतात्वेऽश्वानामयोग्यत्वादस्त्येव विश्वेषु देवेषु वृत्तेर्देवतात्वसिद्धिः। कार्यमित्याशङ्कां निरस्यन् श्लोकं व्याचष्टे—**देवतात्वं नामेति**। अन्यत्र देवतात्वोक्त्यानवगतयोग्यत्वस्याग्न्यादेः, अनवगतयोग्यत्वस्य वाश्वादेः शब्दैकसमधिगम्यत्वाद्युक्तं देवतात्वमित्यर्थः। यौगिकत्वाभ्युपगमेऽपि विश्वदेवविषयता क्लेशगम्येत्याह—**सत्यपीति**। श्लोकं व्याचष्टे—**सर्वे हीति**।

ननु व्रीहीन्प्रोक्षती'त्यादिवत् प्रकृतग्रहणं भविष्यतीत्याशङ्क्य वैषम्यमाह—**गुणेति**। एतदेव विवृणाति—**संस्कार्यत्वे हीति**। देवतायाः संस्कार्यत्वे विनाप्यारादुपकारित्वाद्यागस्य प्रयोजनवत्त्वापपत्तिरित्यर्थः। संस्कारकर्मत्वेऽपि तप्तस्य पयसो दध्यानयनसंस्कृतस्यामिक्षाशब्देन घनीभूतस्य वैश्वदेवयागे विनियोगात्तदनुनिष्पादिनो द्रवस्य वाजिनशब्दोक्तस्योपयुक्तशेषत्वात्प्रतिपत्त्युपे...स्य प्रतिपत्तिर्भविष्यतीत्याह—**कामं वेति**। प्रकृतग्रहणेऽप्यग्न्यादीनामष्टानां प्रकृतत्वाविशेषाद्विश्वेदेवमात्रविषयत्वं न सिध्यतीत्याह—**प्रकृतेति**। ननु विश्वदेवशब्देनाष्टानामपि ग्रहणं भविष्यतीत्याशङ्कते—**अथेति**। एकदेवतोद्देशेन यागसिद्धेः सर्वदेवतोद्देशो निष्प्रमाणक इति परिहरति—**तदिति**। बहुवचनं प्रमाणत्वेनाशङ्कते—**बह्विति**। न तत्सर्वोद्देशे प्रमाणमिति परिहरति—**नेति**। अष्टानां मध्ये केऽत्रयोग्राह्या इत्यनवधारणात्सर्वग्रहणं भविष्यतीत्याशङ्कते—**न त्रिष्वति**। द्वादशाधिकारणन्यायेनाद्यास्तिस्रो देवता इत्यवधारणं सम्भवतीति परिहरति—**न मुख्यं वेति**। अतोऽष्टानां मध्ये विश्वदेवमात्रग्रहणं निष्प्रमाणकमित्युपसंहरति—**तस्मादिति**। अनन्तरोपदिष्टवाजवतां च वाजिशब्देनोक्तौ नैराकाङ्क्ष्यान्न वाजिनान्वयी युक्त इत्याह—**साकाङ्क्षा चेति**।

सप्तमं प्रकारमुपसंहरति—**तस्मादिति**। देवशब्दस्य वाजिशब्देन लाभोपपत्तेर्दुलंभत्वोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य—**तत्रापि चेत्युक्तम्**। वाजिशब्दोच्चारणेनैव विश्वेदेवग्रहणसिद्धेः किं प्रयोजनलाभेनेत्याशङ्क्याह—**न चेति**। शास्त्रेण च वाजिशब्दोच्चारणएव पुरुषस्य प्रवर्त्तितत्वान्न वाजिशब्देनार्थद्वारा विश्वदेवशब्दलक्षणायां प्रमाणमस्तीत्याह—**वाजीति**। एवं च वाजिनयागे विश्वेषां देवतात्वे सत्यपि वाजिशब्देनैवोक्तानां देवतात्वात् देवताभेदेनामिक्षावाक्यस्थदेवतानुवादायोगात्पौर्णमास्यधिकरणव्युत्पादितया प्राप्ते कर्मण्यनेकार्थविध्यशक्त्यापि कर्मभेदसिद्धिरित्याह—**ततश्चेति**। परस्मादिति सूत्रार्थोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**इतीति** ॥ २३ ॥

भा० प्र०—चातुर्मास्य प्रकरण के वैश्वदेव नामक प्रथम पर्व में कहा गया है "तप्ते पयसि दध्यानयति। सा वैश्वदेवी आमिक्षा। वाजिभ्यो वाजिनम्"। तप्त दूध में दधि दे, उसमें जो आमिक्षा = छेना होगा, वह विश्वदेव नामक देवता को और वाजिन अर्थात् उसका जल वाजी देवता का होगा। इस स्थल में "वाजिभ्यो वाजिनम्" यह जो वाक्य है वह आमिक्षागुणप्रयुक्त कर्म में गुणविधि है या वाजिनगुणप्रयुक्त अपूर्व कर्म की विधि है—यह सन्देह है। पूर्वपक्षी ने कहा हैं यहाँ विश्वदेव नामक देवता और वाजि नामक देवता भिन्न नहीं होने से इस स्थल में पूर्व उपदिष्ट कर्म में 'वाजिन' रूप गुण का विधान किया गया है और यह वाजिनरूप गुण आमिक्षा द्रव्य के साथ समुचित भाव में या विकल्पित भाव में प्रकृतकर्म में स्थान प्राप्त करेगा। वाज = अन्न वह जिसका है, उस देवता को वाजी कहा जाता है। यहाँ विश्वदेव नामक देवता के उद्देश्य से आमिक्षारूप बाज = अन्न का निवेदन करने से विश्वदेव नामक देवता ही 'वाजी' शब्द से कहा जाता है, इसलिए एक ही देवता के उद्देश्य से वाजिनरूप गुण का ही विधान है, अतः कर्मभेद नहीं हो सकता है।

इसके समाधान में सिद्धान्ती का कहना हैं कि "गुणश्चापूर्वसंयोगे" नवीन देवता का निर्देश रहने पर उसके साथ सम्बद्ध गुण भी कर्म भेद का साधन होता है। यहाँ वैश्वदेव याग में जो वाजिन गुण का विधान किया गया है, यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि, इस स्थल में प्रकृत-कर्म में 'आमिक्षा' द्रव्यरूप गुण उत्पत्ति वाक्य में उपदिष्ट होने से वह "उत्पत्ति शिष्ट" है। अन्य वाक्य में वाजिन गुण का विधान होने से वह उत्पन्न शिष्ट है। उत्पत्ति विशिष्ट और उत्पत्ति शिष्ट में विकल्प नहीं हो सकता है, क्योंकि, उत्पत्ति शिष्ट गुण और उत्पन्न शिष्ट गुण में उत्पत्ति शिष्ट गुण बलवान् होता है। प्रकृत में आमिक्षा और वाजिन इन दो गुणों में विकल्प नहीं हो सकता है, पूर्वोक्त कारण से ही इनका समुच्चय भी सम्भव नहीं है, अतः वाजिन द्रव्य प्रकृत कर्म में प्रविष्ट नहीं हो सकता हैं अतः, वाजी नामक देवता पूर्वोक्त विश्वदेव नामक देवता से स्वतन्त्र है—यह भी प्रतीत होता है। शब्दगत कुछ भी पार्थक्य रहने पर जब देवता का भेद हो

जाता है। यह "स्वतन्त्राधिकरणे" (२।१।५) अधिकरण के १३ से २९ सूत्रों में इन्द्र एवं महेन्द्र देवता की आलोचना में व्याख्यात है। ऐसी स्थिति में अत्यन्त पृथक वाजी शब्द भिन्न देवता का वाचक है इसमें सन्देह का अवसर हीं नहीं है। अतः इन स्थलों में द्रव्य और देवता का भेद होने से कर्म का भी भेद है। इसलिए वाजिरूप देवता ही कर्म भेद का साधन है। अतः गुणकृत कर्मभेद यहाँ मानना ही होगा।

"अपूर्वसंयोगे" = पूर्व संयोग न रहने पर अर्थात् पूर्व कर्म में निवेश न होने पर "गुणः च" = गुण और कर्म का भेद प्रकाशित करता है, "वाक्ययोः समत्वात्" = क्योंकि इन स्थलों में दो वाक्यों की समता अर्थात् परस्पर निरपेक्षता रहती है ॥२३॥

अथ यदुपवर्णितं यथा 'अग्निहोत्रं जुहोति' इत्युक्ते, दध्ना जुहोति इत्येवमादयो गुणविषय इति। तत्रोच्यते—

[१०] अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेत ॥२४॥ सि०

युक्तं यत्तत्र गुणविधानम्, न तत्राप्रकृतेन केनचिद् गुणेन संबन्धः। प्रकृतेन [1]त्वस्ति [2]यागेन। तस्मादनुपवर्णनमेतत्। शङ्कानिरासः॥

इति नवमं गुणाधिकरणम्।

अथ दशमं गुणप्रत्युदाहरणविकरणम्।

अथवा अधिकरणान्तरम्। 'दध्ना जुहोति' इत्येवमादीनि कर्मान्तराणि विकल्पपरिजिहीर्षयाऽवकल्प्यन्ते। तदेव तु कर्म जुहोतीतिशब्दादवगम्यते, न कर्मान्तरम्। तस्मात्तत्रैव गुणविधिः वचनाद्विकल्पश्चेति सिद्धम् ॥२४॥

यद्वा द्रव्यविशेषानुक्तिकृतकर्मैक्याधिकरणम् ॥१०॥

त० वा०—अगुणे तु कर्मशब्द इति प्रत्युदाहरणसूत्रम्।
अन्येनानवरुद्धे हि गुणो यत्र विधीयते।
तस्मिन्गुणविधिः शक्य इति कर्म न भिद्यते ॥ २४ ॥
(इति दशमं गुणप्रत्युदाहरणाधिकरणम्) ॥ १० ॥

न्या० सु०—अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयेतेति सूत्रमथेत्यादिभाष्येणोपवर्णनापरिहारार्थत्वेन व्याख्यायाऽथवेत्यादिना दध्यादेरपि गुणस्याष्टदोषविकल्पापत्तेः पूर्वकर्मण्यसम्भवाद्भेदकत्वप्रसक्तावयवादार्थतयाऽधिकरणान्तरत्वेन व्याख्यातम्। तत्र द्वितीयव्याख्यायां तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिरित्यनेन पौनरुक्त्यापत्तेः प्रयोगकालीनविकल्पालोचनेन चोत्पत्तिशास्त्रान्यथात्वकरणायोगात्पूर्वपक्षानुपपत्तेराद्यैव व्याख्या युक्तेत्याह—अगुणेति। गुणान्तरा-

१. ब. चास्ति। २. ब. योगः।

वरुद्धकर्मोत्पत्त्यभावेनोदाहरणभेदहेतुत्वेनोक्तस्यापूर्वसंयोगस्याभावात्प्रत्युदाहरणत्वं दध्यादेर्वैषम्योक्तयेऽनेनोच्यतइत्यर्थः । प्रत्युदाहरणत्वं विवृणोति—**अन्येनेति** ॥ २४ ॥

इति दशमं गुणाधिकरणम्

भा० प्र०—पूर्वपक्षी ने कहा है कि "दध्ना जुहोति", "पयसा जुहोति" इन दो वाक्यों के द्वारा जैसे "अग्निहोत्रं जुहोति" इस वाक्य से विहित कर्म में दो गुणों का विधान होता है। इस स्थल में भी उसी प्रकार "आमिक्षा" एवं "वाजिन" द्रव्य रूप दो गुणों का विकल्प विहित होगा। ऐसी स्थिति में कहा जायगा कि "अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयते", अग्निहोत्र वाक्य में जो कर्म विहित होता है, वह गुण विहित होने से परवर्ती दो वाक्यों में उनके गुणों का विधान किया गया है। इन दो वाक्यों से विहित दो गुण ही उत्पन्न शिष्ट होने पर तुल्यबल होने में उनका विकल्प हो सकता है, किन्तु इस स्थल में "आमिक्षा" उत्पत्ति शिष्ट एवं "वाजिन" उत्पन्न शिष्ट होने से समबल नहीं है, अतः उनका विकल्प नहीं हो सकता है। (यह ९ वाँ गुणाधिकरण है।)

इस सूत्र को भगवान् भाष्यकार ने पूर्वोदाहरण के प्रत्युदाहरण के रूप में अधिकरणान्तर रूप में भी व्याख्या की है। "दध्ना जुहोति" एवं "पयसा जुहोति" इन दो वाक्यों में भी पूर्व के समान गुणभेद के कारण कर्मभेद होगा—इस प्रकार पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त रूप में कहा गया है कि "अगुणे तु कर्मशब्दे गुणस्तत्र प्रतीयते" पूर्वाधिकरण में गुण से इन दो वाक्यों के द्वारा उपदिष्ट गुणों का अतिशय पार्थक्य है, क्योंकि इस स्थल में दोनों गुण उत्पन्नशिष्ट हैं, किन्तु पूर्व अधिकरण में दो गुणों में एक उत्पत्तिशिष्ट और दूसरा उत्पन्नशिष्ट है। अतः पूर्व अधिकरण के समान इस स्थल में गुणकृत कर्मभेद नहीं हो सकता है, किन्तु "अग्निहोत्रं जुहोति" इस वाक्य में जो निर्गुण कर्मों का विधान "दध्ना जुहोति" एवं "पयसा जुहोति" इन दो वाक्यों से किया गया है, उन्हीं का द्रव्यरूप गुण उपदिष्ट होता है। दही एवं पयो द्रव्यरूप दो गुण ही उत्पन्नशिष्ट होने से तुल्यबल होने के कारण उन्हीं का विकल्प होगा, समुच्चय नहीं होगा, क्योंकि एक गुण के द्वारा ही याग के निष्पन्न हो जाने से गुण की आकङ्क्षा निवृत्त हो जाती है, इसलिए अन्य गुण निरर्थक हैं, इसीलिए व्रीहि एवं यव के समान इनका विकल्प ही होगा। पूर्व अधिकरण के प्रत्युदाहरणस्वरूप में इस अधिकरण की प्रवृत्ति है।

"कर्मशब्दे अगुणे (सति) तु" = किन्तु कर्मशब्द अर्थात् कर्मोत्पत्ति विधि यदि अगुण अर्थात् गुणरहित हो तो "गुणस्तत्र प्रतीयते" = उस कर्म में गुण की प्रतीति होती है अर्थात् विधान होता है ॥ २४ ॥

यह दशम गुणप्रत्युदाहरण अधिकरण है।

अथैकादशमिन्द्रियकामाधिकरणम्[1]।

[११] फलश्रुतेस्तु कर्म स्यात्फलस्य कर्मयोगित्वात् ॥२५॥

अग्निहोत्रं प्रकृत्य समामनन्ति[1] 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इत्येवमादि। तत्र संशयः[2]। किमग्निहोत्रहोमाद्धोमान्तरं दध्यादिहोम[3]ः, उत दध्यादेर्गुणात्फलमिति।

किं प्राप्तम्? होमान्तरमिति। कुतः? फलश्रुतेः। फलमिह श्रूयते। तच्च कर्मणो न्याय्यम्। किं दृष्टं हि कर्मणः फलं कृष्यादितो व्रीह्यादि? नेति ब्रूमः। न ह्येतद् दृष्टेनाऽनेन सिध्यति। यदि दर्शनं हेतुः फलज्ञाने, कृष्यादौ पदार्थे तद्दर्शनम्, न होमे। अथ कृषौ दृष्टमन्यत्रापि भवति। द्रव्यादपि प्रसज्यते। अथ कृषिसदृशा[4]द्भवतीत्युच्यते, कृषिसदृशो[5] होमः, क्रियात्वात्। न द्रव्यम्। असदृशं हि तदिति, होमोऽप्यसदृशः।

मन्त्रदेवतादिसाधनत्वाद्धोमस्य। लाङ्गलादिसाधनत्वाच्च कृषेः। त्यागात्मकत्वाद्धोमस्य। पाटनात्मकत्वाच्च कृषेः।

अथ किंचित्सादृश्यं गृह्यते। द्रव्यस्यापि सदनित्यमित्येवमादि किंचित्सादृश्यमस्ति। अथ द्रव्यादन्यत्सदृशतरमस्तीति कृत्वा न द्रव्यं सदृशमित्युच्यते। होमादप्यन्यत्कृषेः सदृशतरमस्ति दृष्टार्थमिति कृत्वा होमोऽप्यसदृशः स्यात्। न चैतत्सिद्धं यत्क्वचिद् दृश्यते, तदन्यस्मिन्सदृशमात्रेऽदृष्टमपि भवितुमर्हतीति। यद्धि यस्य कारणभूतं दृष्टम्, सिद्धे तच्चेत्? साध्येऽपि कारणभूतमित्यवगम्यते। भवति तत्तस्य साधकम्। यन्न ज्ञायते कारणभूतमिति, न तत्सदृश[6]मपि साधकम्। तस्मात्सदृश[6]मपि साधकम्, असाधकं वेति परीक्षितव्यमिति।

अथ यत्कर्म तत्फलवद् दृष्टम्।

होमोऽपि कर्म, तेनापि फलवता भवितव्यमिति। उपरते कर्मणि द्रव्याणाम्, तत्संयोगानां च द्रव्यान्तरं फलं दृष्टमिति, द्रव्यमपि फलवत्स्यात्। अपि च कृषेर्नादृष्टमिति, तत्सादृश्याद्धोमादपि नादृष्टं भवेत्। कृषिसादृश्याद्वा व्रीहिरेव भवेत्, नेन्द्रियम्। तस्मान्नैवंजातीयकष्वेतद्भवति दृष्टसिद्धिरिति।

कथं तर्हि होमान्न्याय्यं फलमिति। उच्यते। शब्देनावगम्यते तत्फलम्। यतः फलमिति शब्द आह। ततो न्याय्यम्। होमाच्च फलमिति श्रुत्याशब्देन गम्यते, दध्नः फलमिति वाक्येन। श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी। तस्माद्धोमात्फलमिति न्याय्यम्, दध्नः फलमिति चान्याय्यम्।

१. ब. इदमाम्नायते। २. ब. संदेहः। ३. ब. दध्यादिभिः। ४. ब० भविष्यतीत्युच्यते। ५. ब० सदृशश्च। ६. ब० सादृश्य।

अपि च दध्युभयमसमर्थं कर्तुम्, फलं साधयितुम्, होमं च। ननु कम्बलनिर्णेजनवदेतद्भविष्यति। निर्णेजनं ह्युभयं करोति—कम्बलशुद्धिम्, पादयोश्च निर्मलताम्। न ब्रूम एकस्योभयं प्रयोजनमभिनिष्पादयितुं सामर्थ्यं नास्तीति। किं तर्हि? फले गुणभूतं दधि, होमे चेत्येकं वाक्यं वदितुमसमर्थमिति। यदि फलं दध्ना कुर्यादिति ब्रूयात्, न दध्ना होममिति। अथ दध्ना होमं साधयेदिति ब्रूयात्, न फलमिति। उभयवचने भिद्येत वाक्यम्। अभिन्नं चेदमुपलभ्यते। तस्मान्न गुणात्फलमिति, अतोऽग्निहोत्रहोमाद्दधिहोमः कर्मान्तरमिति॥ २५॥ पूर्वपक्षः॥

त० वा०—'अग्निहोत्रं जुहोति' इति प्रकृत्य 'दध्नेन्द्रियकामस्य' इति श्रूयते। तत्र संदेहः—किं पूर्वस्मादिदं कर्मान्तरम्, उत तस्यैव गुणात्फलमिति। द्वयमेव पुरस्तादवस्थितम् अगुणोत्पत्तौ कर्मणि तत्रैव गुणः, सगुणोत्पत्तौ तु प्रकारान्तरेण चाविधीयमानानेकगुणसंगतौ सत्यां कर्मान्तरत्वमिति। तदिहागुणश्च कर्मशब्दः, अनेकार्थोपादानं च वाक्ये श्रूयते। तेन सम्भवासम्भवयोः संदेहः। तत एतत्सिद्ध्यर्थमिदं विचारयितव्यम् किमिह होमात्फलम्, उत गुणात्।

शंकासमाधाने

किमर्थं पुनः 'गोदोहनेन पशुकामस्य' इत्येतद् वृत्त्यन्तरोदाहृतमतिक्रम्यते, भेदाभेदयोरनुपयोगात्। क्रत्वर्थपुरुषार्थविचारे हि तस्यैतस्य वोदाहरणे न कश्चिद्विशेषः स्यात्। इह तु भेदाभेदलक्षणे तदनुगुणमुदाहर्तव्यम्। न च प्रणयनस्य देशान्तरप्राप्तिसंस्कारात्मकत्वाद्भेदाभेदयोर्विशेषः। यदि च गोदोहनात्फलम्, यदि च तद्वतः प्रणयनात्, उभयथाऽपि तादृगेवानुष्ठानम्। इह पुनर्यदि गुणात्फलम्, ततः सायंप्रातराहुत्योरेव दधि प्रयोक्तव्यम्। अथ होमात्। ततो नैयमिकहोमव्यतिरिक्तमनियतकालं दधिसाधनकं होमान्तरं सकृदेव दर्विहोमत्वादपूर्वं क्रियत इत्यस्ति भेदज्ञाने विशेषः।

निमित्तफलाभ्यां तदेव कर्मेति आक्षेपप्रतिक्षेपौ

ननु च होमादपि फले 'संनिधौ त्वविभागात्' इत्यनेन न्यायेन स्वर्गयावज्जीवयोरिव तदेव कर्म विधीयते। नैतदेवम्—

यदि नामाविभागः स्यात्कर्मणः प्रत्यभिज्ञया।
ततस्तदेव कर्म स्यादन्यथा भेदनिश्चयः॥

फलनिमित्तादौ हि विधीयमानं कर्मानुत्पन्नं तैः सम्बन्द्धुं न शक्नोतीत्यर्थादुत्पत्तिविधित्वमप्यनुभवितुमुपक्रमते। तत्र यदि बलीयस्या विपरिवृत्त्या ताद्रूप्यादप्रच्युतया पूर्वकर्मोत्पत्तिरूपं स्थाप्यते, तत्रोत्पादकशक्तिविरोधात्प्रत्यभिज्ञावबलेन

तदेव कर्माऽध्यवसीयत इति, न भिद्यते। यदा तु पूर्वकर्मरूपात्किंचिदप्याधिक्यं[1] विज्ञायते, तदा नैवाविभागज्ञानमस्तीत्यर्थादुत्पत्तिविधिर्भवन्नन्येन तद्रूपोत्पत्तिसमर्थेन विध्यन्तरेणानिवारितशक्तिः सत्यप्यन्यपरत्वेऽनुपादेयं प्रत्युपादानात्कर्म भिनत्ति। न च 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इत्यत्रेन्द्रियं प्रत्युपादानाद्दधिविशिष्टहोमान्तरबुद्धिर्भवन्ती केनचित्तद्रूपोत्पत्तिमुपस्थापयता वार्यते।

कुतः ?

मोहो हि प्रकृतः शुद्धः स्ववाक्यादवधारितः।
सोऽस्मिन्दधिविशिष्टत्वाद्विभागेनैव गम्यते॥

'अग्निहोत्रं जुहोति' इति होमः शुद्ध उत्पन्नः। इह च दधिविशिष्टः श्रूयते, तेनाविभागादित्यस्याभेदहेतोरसिद्धत्वाद्भिद्यते।

ननु 'दध्ना जुहोति' इत्यस्त्येव दधिविशिष्टो होमः। न। तस्यानुत्पत्तिवाक्यत्वात्। येन तावदसावुत्पादितः। न तत्र दधिविशिष्टः, यत्र दधिसम्बन्धः। तत्र नोत्पादितः, तत्संनिधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिरिति साधित्वात्। उत्पत्तिवाक्येनैव च फलवाक्यस्योत्पादकत्वं प्रतिबध्नता कर्मान्तरत्वं निराक्रियते, न गुणवाक्येनानुत्पादकत्वात्।

उत्पत्तिवाक्येन गुणफलनिमित्तवाक्यानां सम्बन्ध इत्याशङ्कानिरासः

उत्पत्तिवाक्येनैव च सर्वाणि प्राकरणिकानि गुणफलनिमित्तवाक्यानि सम्बध्यन्ते, न परस्परेण। कुतः ?

तान्युत्पत्तिमपेक्षन्ते सा चाऽव्यवहिता यतः।
गुणादीनां त्वसम्बन्धाद् व्यवधिः स्यात्परस्परम्॥

अनुत्पन्नस्य गुणादिभिरसम्बन्धादुत्पत्तिः सर्वैरपेक्ष्यते। न तु परस्परापेक्षायां किञ्चित्कारणमस्ति। सैव च सर्वत्रानुस्यूतत्वादसंबन्धिनाऽव्यवधीयमाना सम्बध्यते। गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धे सति एकेनापि व्यवहितानामननुषङ्गान्न केनचिदेकवाक्यत्वमस्तीति न 'दध्नेन्द्रियकामस्य' इत्यत्र 'दध्ना जुहोति' इत्येददुपतिष्ठते। वक्ष्यति चैतत् 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इत्याधिकरणे।

उत्पत्तिवाक्येनैव भेदप्रतीतिनिरास इत्याशङ्कानिरासकरणम्

तत्रैतत्स्यात् सैवोत्पत्तिर्वाक्यान्तरेण दधिमती कल्पिताऽनुषज्यमानाऽत्र भेदबुद्धिं निराकरिष्यति।

---

१. क० किञ्चिदप्यर्थाधिक्यं।

तदनुपपन्नम् । एवं हि सति—

वाक्यान्तरेण तत्कर्म यथा दध्ना विशेषितम् ।
तण्डुलादिभिरप्येवमिति नैकात्मिकं भवेत् ॥

उत्पत्तिवाक्ये तावत्केवले निरीक्ष्यमाणे शुद्धहोमावगमादप्रत्यभिज्ञानम् । अथ प्राकरणिकगुणवाक्यानुरक्तमालोच्यते, तथाऽपि तण्डुलादिद्रव्यविशिष्टत्वान्नैव केवलदधियुक्ते वाक्येऽस्ति प्रत्यभिज्ञानम् । अथ दधिसद्भावमात्रापेक्षिर्णन्द्रिय-कामवाक्ये सत्यपि तण्डुलादीन्यनपेक्षितत्वादसत्तुल्यान्यनाश्रित्य केवलं दधि ग्रहीष्यत इति । तथा सति तदेवाऽऽपतितं भवति । 'दध्ना जुहोति' इत्येतदेव वाक्यं केवलं गृह्यत इति । निवारितं चैतत् ।

भेदविरुद्धायाः प्रत्यभिज्ञाया निरासः

अपि च—

दध्यत्र दशमे पक्षे तद्धोमस्य विशेषणम् ।
नित्यं चेन्द्रियकामस्य तेनापि न निरूप्यते ॥

यद्यपि तावद्दध्यादीनि नित्यं होमे समुच्चीयेरन्, तथा सति विचित्रमपि कर्मैकदेशग्रहणेन चोदितमिति कथंचित्कल्प्येत । दध्यादीनां तु वैकल्पिकत्वादेकैकस्यैव दशमे पक्षे होमाङ्गत्वम् । अतश्च दधिवाक्येऽप्यालोच्यमाने[1] पाक्षिकं दधि दृश्यते । नित्यवच्च तदिन्द्रियकामहोमे श्रूयते । तस्मादपि न प्रत्यभिज्ञायते । न च यदा[2] 'दध्ना जुहुयादि'त्येवमनुवदितुं शक्यते । फलस्याविधेयत्वात् । एषा ह्यत्र वचनव्यक्तिः यदीन्द्रियकामः तदा नित्यं केवलदधिविशिष्टं होमं कुर्यादिति । न चासौ तादृगन्यतः प्राप्त इति भिद्यते ।

ननु होमरूपमात्रं तावत्प्रतिज्ञातं तत्प्रत्यभिज्ञानाच्चाभेदसिद्धिः । यत्तु द्रव्यं न प्रत्यभिज्ञायते, न तत्कर्मभेदकारणम् । तस्मात्तदेव कर्म गुणमात्राभ्यधिकं फले विधीयते ।

नैतदेवम् । कुतः ?

प्राप्ते कर्मण्यनेकार्थविधिः पूर्वं निराकृतः ।
त्वत्पक्षेऽनेकसम्बन्धविधिश्चात्र प्रसज्यते ॥

दधिहोमसम्बन्धं, होमफलसम्बन्धं च विदधद्वाक्यं भिद्यते । तेनावश्यं विशिष्ट-विधिरभ्युपगन्तव्यः । ततश्च सिद्धं कर्मान्तरत्वम् । यथैव चार्थादनियतानेक-द्रव्यकत्वे प्राप्ते केवलदधिनियमानेकार्थविधानम्, तथैव परस्परानपेक्षैस्तण्डुला-दिविधिवाक्यैर्वैकल्पिकदशद्रव्यकत्वे कल्पिते तण्डुलादिव्युदासेन केवलदधिनियम-

१. क० आलोच्यमानं ।　　२. क० यद्दध्ना ।

करणात्। न ह्यसावेतस्माद्वाक्यादृते कथंचिदपि प्राप्तः, तेन होमात्फले भवति कर्मान्तरत्वम्। अतः पूर्वपक्षः परिगृह्यते।

कर्मशब्देऽगुणेऽप्यत्र कर्म भूयो विधीयते।
फलं हि श्रुतमेतस्मिन्कर्मतस्तच्च युज्यते॥

समस्तमेव भावार्थाधिकरणं पूर्वपक्षः। तत्र ह्येतदवस्थितम्—आख्यातशब्दाः फलपदेन सम्बध्यते, न द्रव्यगुणशब्दा इति। तस्मात्फलस्य कर्मयोगित्वात्, फलश्रुतौ सत्यां कर्म विधीयते, न कर्मणि गुणः। कथम्?

प्राप्तस्तावद् गुणो नैव विधानं पुनरर्हति।
अप्राप्तविधिपक्षेऽपि भवेद्व्यर्था फलश्रुतिः॥

तत्र नामागुणे कर्मशब्दे सति गुणो विधीयते। यत्र सगुणो न भवति। यत्र चार्थान्तरं न श्रूयते। न चेह द्वयमपि तदस्ति। दध्नो वाक्यान्तरेणैव प्राप्तत्वात्, फलस्य चाभ्यधिकस्योपादानात्। अत आह—'**फलमिह श्रूयते तच्च कर्मणो न्याय्यमि'ति**। **तत्र किं दृष्टं हि कर्मणः फलमिति** प्रश्नस्य द्विधा प्रतिभासः। **एकस्तावन्नेति ब्रूमः। न ह्येतद् दृष्टेनानेन** सिध्यतीत्यादेर्निराकरणपरत्वेन सिद्धान्तच्छायानुसारात्किमित्येतावानेव प्रश्नः। किमित्येतन्नाय्यमित्यर्थः। इतर आह—**दृष्टं हि कर्मणः फलमिति**। तस्योत्तरं **नेति ब्रूम**[1] इति। यदीत्यादि तावत्स्वयमेवाऽऽशङ्क्य निराकरोति—**यावत्तस्मान्नैवंजातीयकेष्वेतद्भवतीति**। **तत्र तु कथं तर्हि होमान्न्याय्यं फलमित्ययमैकान्तिकः** सिद्धान्तवादिनः प्रश्नः। स चाऽऽत्मीयवचनोपसंहारादनन्तरं दुःश्लिष्टः प्रतिभातीत्येषैव ग्रन्थयोजना युक्ततरा। **तच्च कर्मणो न्याय्यमिति** पूर्वपक्षवादिनाऽभिहिते सिद्धान्तवादी दधिपदानर्थक्यभयेन भावार्थाधिकरणन्यायासम्भवाच्छब्दस्यासामर्थ्यं मन्यमानः पृच्छति—**किं दृष्टं हि कर्मणः फलं कृष्यादित** इत्यनेन न्यायेन सामान्यतोदृष्टेन होमात्फलं मन्यस इति। यद्यपि च चोदनालक्षणधर्माभ्युपगमादनुमानादीनामीदृशेष्वर्थेष्वसामर्थ्यं स्थापितम्, तथाऽपि वेदार्थनिर्णये तेषां कारणत्वानिषेधात्तदर्थमनुमानोपन्यासः।

सामान्यतो दृष्टा अनुमाने हेत्वाभासवर्णनम्

परः पुनर्भावार्थाधिकरणवासितान्तःकरण आक्षिपन्नाह—मा मे अध्यारोपमेवं दाः। शब्दे सति न ह्यनुमानं ब्रवीमि। न चैतेन सामान्यतोदृष्टेनास्मदभिमतं सिध्यति। असिद्धानैकान्तिकविरुद्धादिदोषदुष्टत्वादनुमानस्य। कथम्? यदि तावद्धोमः फलवान्फलवत्तया दृश्यमानत्वादित्युच्यते। ततः प्रतिज्ञातार्थैकदेशत्वाद-

1. क० ब्रूमे इत्यादि। तावत्स्वयमेव।

सिद्धत्वम् । अथ कृष्णादीनां फलवत्तया दृश्यमानत्वादिति ततोऽप्यपक्षधर्मत्वम् । अथ विनैव पक्षधर्मत्वाद्यदृच्छामात्रेण कल्प्येत, ततस्तद् द्रव्येष्वविशिष्टम् ।

सादृश्यमादाय शङ्का

अथ सादृश्यद्वारेणोपमया कल्प्येत्, तच्च सादृश्यं फलवद्भिः कृष्यादिभिः सह होमस्य क्रियात्मना विद्यते, न द्रव्यस्याक्रियात्मकत्वात्, इति । तत्र द्रव्यस्याप्यस्त्येव किञ्चित्सादृश्यमिति मनसि कृत्वा यदि प्रत्यासन्नावान्तरसादृश्यापेक्षया तन्निराक्रियते, ततः शक्यं प्रत्यासन्नतरापेक्षया होमस्यापि निराकर्तुमिति मन्यमान आह—**होमोऽप्यसदृशः** साधनस्वरूपफलभेदात्कृषेः ।

अथ किञ्चित्सादृश्यं गृह्यते—तद्द्रव्यस्यापि सदनित्यम्, द्रव्यवत्कार्यमित्यादिधर्मभेदादस्तीति पूर्वाभिप्रायविवरणम् । **अथ द्रव्यादन्यत्सदृशतरमस्तीति**—आपेक्षिकत्वात्सादृश्यस्य सुसदृशेऽपेक्षिते विप्रकृष्टं विसदृशमेव भवति । तेन क्रियात्वे कृषिहोमवर्तिन्यपेक्षिते विप्रकृष्टत्वात्सदनित्यादियुक्तं द्रव्यमसदृशमेवेत्युच्यते । तथा सति क्रियान्तरमपि दृष्टार्थभोजनगमनाद्यवान्तरसादृश्यापेक्षया कृषिहोमयोर्विप्रकृष्टत्वादसादृश्यमेवेत्यकारणं स्यात् ।

आह च—

'नास्मिन्परमसादृश्यं दृश्यते कृषिहोमयोः ।
किञ्चित्सादृश्यदृष्टिस्तु द्रव्येऽप्यस्तीत्यनिश्चयः' ॥ इति ।

न चैतत्सिद्धमिति उपमानेन, साधर्म्यमात्रानुमानेन वा सर्वधर्मप्राप्तिः, अनुमानोक्तव्याप्यव्यापकभावनिरपेक्षाऽयुक्ता, सर्वपदार्थानामेकत्वप्रसङ्गात् । तथा चोक्तं—न हि देवदत्तस्य श्यामत्वे यज्ञदत्तस्य श्यामत्वं भवितुमर्हति ।

तथा हि—

न सास्नानुगतिर्दृष्टा गवये सदृशे गवा ।
प्रकृतेश्च फलादीनि न यान्ति विकृतिं क्वचित् ॥

अस्य भाष्यस्यावलम्बनावगम्यगमकभावात् न भाष्याभिमत इति केषाञ्चिन्मतस्योपन्यासनिरासौ

यद्धि यस्य कारणभूतं दृष्टं, **सिद्धे**—दृष्टान्तधर्मिणि, **तच्चेत्साध्येऽपि**—पक्षे, **कारणभूतमिति** गम्यते, **भवति तत्तस्य साधकमिति** । अतो वचनात्कार्यकारणयोरेव गम्यगमकभावो भाष्यकाराभिप्रेत इति केचिन्मन्यन्ते । तत्त्वयुक्तम् । अकार्यकारणभूतानाप्यनित्यत्वकृतकत्वादीनां गम्यगमकभावप्रसिद्धेः । कार्यकारणयोरपि च न तथा कारणं गमकं व्यभिचारबहुत्वाद्यथा कार्यम् । तस्माल्लिङ्गमेव व्याप्यत्वेन दृष्टं सपक्षे व्यापकस्यान्यत्र साध्यभूतस्य गमकत्वसम्भावनया गृह्यमाणं

कारणमित्युक्तमिति[1] द्रष्टव्यम्। एतच्च हेत्वधिकरणे व्याख्यातम्। तथा च विवृणोति तस्मात्सदृशमपि[2] साधकमसाधकं वेति परीक्षितव्यमिति।

उक्तानुमाने व्यभिचारां भावनम्

यदि तर्हि परीक्षितेन च[3] कारणेनाभिहितेन कार्यमिदमभिधीयते। 'दध्नेन्द्रियकामस्य' इत्यत्र वाक्ये यत्कर्म तत्फलात्, कर्मत्वात् कृष्यादिवत्। कर्मसाध्यं वेदं फलं फलत्वाद् व्रीह्यादिवत्। इत्येतदनुमाय, अथ **यत्कर्म तत्फलवदिति,** प्रतिसाधनाभिधानेनानैकान्तिकीकरोति, **उपरते कर्मणि द्रव्याणां**—तन्त्वादीनाम्, **तत्संयोगादीनां च द्रव्यान्तरं**—पटादि फलं दृष्टमिति। उपरतग्रहणं च कर्मव्यतिरेकप्रदर्शनार्थम्। एवं हि शङ्क्यते कदाचिदिहापि कर्मनिमित्तमेव फलं वदेत्। तेन ब्रवीति इन्द्रियकामवाक्ये दधि फलवद्द्रव्यत्वात्तन्तुवत्। इन्द्रियं वा द्रव्यजन्यं फलत्वात्पटादिवत्। **अपि च कृषेर्नादृष्टमिति** हेतोर्विरुद्धत्वं वदति। यथैव ह्ययं हेतुः कर्मणः फलवत्त्वं, फलस्य वा कर्मजन्यत्वं साधयति एवं दृष्टार्थफलत्वम्[4]। अशब्दगम्यफलत्वं[5] वा साधयति तस्मान्नैवंजातीयके कार्यकारणभावे समस्तहेतुदोषसङ्गादेतद्भवति क्वचिद् दृष्टादन्यत्रादृष्टस्यापि सिद्धिरिति। यद्येतदनुमानं त्यथैव निराकृतं, **कथं तर्हि होमान्न्याय्यं फलमित्युच्यते।**

यद्वा, इतिकरणान्त एव प्रश्नः। उच्यते। **शब्देनावगम्यते तत्फलमिति।** भावार्थाधिकरणोपन्यासेनोत्तरम्। **तस्माद्धोमात्फलमिति न्याय्यम्। दध्नः फलमिति चान्याय्यमित्यर्थसिद्धं** सद्यदुच्यते, तत्तुल्यबलवत्त्वनिराकरणार्थम्। कदाचिद्धि द्वयमपि न्याय्यं भवेत्।

अपि च **दध्युभवमसमर्थं कर्तुमिति।** न तावत्कर्मानिपेक्षस्य दध्नः करणत्वमस्ति। येन केवलं फलसंबन्ध्येव स्यात्। अत उभयत्र विधातव्यम्। न च तच्छक्यमिति। **ननु कम्बलनिर्णेजनवादिति** प्रासङ्गिककर्मसंबन्धाभिप्रायेण, वस्त्वसामर्थ्यनिराकरणार्थं वा। तथा हि **दध्युभयमसमर्थमिति**— यथाश्रुतगृहीतेन परवचनेन वस्त्वसामर्थ्यमेवोक्तमिति दृश्यते।

न ब्रूम एकस्योभयं प्रयोजनं न युक्तमिति। न वयं वस्तुसामर्थ्यमपह्नुमहे। किं तर्हि? समर्थेऽपि वस्तुन्यविहितादनुष्ठानादवश्यं दध्युभयार्थत्वेन विधातव्यम्। न चैतदस्ति, अनेकसम्बन्धकरणे वाक्यभेदप्रसङ्गात्। सन्निकृष्टासम्भवेन विप्रकृष्टोऽर्थो विधीयते। तदिह दधिहोमसम्बन्धे संनिकृष्टे, दधिफलसम्बन्धे

---

१. क० कारक। २. क० सादृश्य। एवञ्चेति० मु० पु० पा०।
३. क० तव। ४. क० दृष्टफलत्वं।
५. क० व्रीह्याद्यन्यतम–फलत्वं–इत्यधिकम्॥

च विप्रकृष्टे, युगपद्विधीयमाने युगपदेव सम्भवासम्भवावभ्युपेतव्यौ स्याताम्। तस्मादन्यतरपरित्यागे सति त्वत्पक्षसिद्धिर्भवतीति, सन्निकृष्टवशेन[1] दध्यपि होमेन सम्बध्यते, सोऽपि फलेनेति, कर्मयुक्ते सति फले सिद्धं कर्मान्तरत्वमिति ॥२५॥

अथैकादशमिन्द्रियकामाधिकरणम् ॥ ११ ॥

न्या० सु०—सम्भवत्प्रकृताश्रयलाभस्य गुणस्योदाहरणत्वाभिधानार्थमग्निहोत्रमिति भाष्यं व्याचष्टे—**अग्निहोत्रमिति**। सन्देहभाष्यं व्याचष्टे—**तत्रेति**। तस्यैवेति सिद्धान्तवचनव्यक्तिपूरणेनापवादतयानन्तरसङ्गतिः सूचितां गुणशब्दस्य सिद्धार्थवाचित्वात्सिद्धस्य फलसाधनत्वायोगाद्वाक्यभेदापत्तेश्चानेनैव द्वारभूतव्यापारविध्ययोगाद्गुणफलान्वयायोगाशङ्कानिरासार्थं प्रकृतकर्मसम्बन्धोक्तिः।

ननु शुद्धकर्मोत्पत्तौ गुणस्यानन्तरस्तत्र एवाभेदकत्वोक्तेः पूर्वपक्षयोगात्सन्देहो न युक्त इत्याशङ्क्याह—**द्वयमेवेति**। यथा शुद्धोत्पत्तावभेदकतोक्ता तथानेकस्य गुणस्य प्राप्ते कर्मण्याशङ्क्य विधित्वाद्भेदकतापि चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्रादित्यनोक्ते ननु विध्यशक्तेस्तत्र भेदकत्वादिह गुणनिमित्तभेदकरणे पूर्वपक्षहेतुत्वेनोपन्यासो न युक्त इत्याशङ्क्य, यथा सगुणकर्मोत्पत्तौ पूर्वसंयोगानर्हत्वात् गुणस्य भेदकत्वं, तथा शुद्धोत्पत्तावनेकस्यैव पूर्वकर्मसंयोगानर्हत्वहेतुसाम्याद्भेदकत्वम्। विध्यशक्तिस्तु पूर्वसंयोगानर्हत्वोपपादिकेति सूचनार्थं दृष्टान्तत्वेन—**सगुणोत्पत्तावित्युक्तम्**। प्रकारान्तरव्याख्यानार्थम्—**विधीयमानेत्युक्तम्**। द्वयमेवेत्येवकारणे प्राप्ते कर्मण्यनेकविध्यशक्तेः साक्षाद्भेदहेतुत्वाभावः सूचितः। भेदहेतुत्वेन क्लृप्तस्य गुणस्यानेकार्थोपादानेऽप्युपपत्तौ नाव्याभिन्या विध्यशक्तेर्भेदकतेत्याशयः। एवमपि कथं सन्देहोपपत्तिरित्याशङ्क्य—**तेनेत्युक्तम्**। गुणफलात्मकानेकार्थोपादानस्य पूर्वत्रासम्भवे चाभेदकत्वात्सम्भवासम्भवविषयः सन्देहो भेदाभेदसन्देहहेतुरित्याशयः।

नन्वेवमपि किमग्निहोत्रहोमान्तरमिति पूर्वपक्षवचनव्यक्तिप्रतियोगितया स एवेति सिद्धान्तवचनव्यक्तिदर्शयितव्या। न गुणात्फलमितीत्याशङ्क्याह—**ततः इति**। यतः कारणात्पूर्वकर्मण्यनेकार्थोपादानसम्भवासम्भवसन्देहो भेदाभेदसन्देहहेतुः। ततः कारणादेतयोः सम्भवासम्भवयोः सिद्धयर्थं फलान्वयः कस्येति विचार्यमित्यर्थः। कर्मणो हि फलान्वयेऽनुपादेयफलान्वयेन कर्मोत्पत्तेः प्रतीयमनाया बाधकस्य प्रत्यभिज्ञानस्य गुणाधिक्येनाऽभावात्पूर्वस्मिन्कर्मणि गुणफलोपादानासम्भवः। गुणफलान्वयत्वाश्रयत्नेन पूर्वकर्म्मापेक्षणात्सम्भव इत्याशयः।

वृत्यन्तरोदाहृत्यातिक्रमेणेहोदाहरणान्तरोपादाने प्रश्नपूर्वकारणमाह—**किमर्थं पुनरिति**। ननु भेदाभेदयोरनुष्ठानविशेषानुपयोगेऽपि कर्मणः फलान्वये दधिगोदाहेनादेः क्रत्वर्थत्वात्फलकामनां विनाप्यनुष्ठानं, विकृतौ चातिदेशः स्यात्। गुणफलान्वये तु पुरुषार्थत्वात्सत्यां

---

१. क० सन्निकर्षवशेन।

कामनायामनुष्ठानमनतिदेशाश्चेत्यनुष्ठानविशेषस्य द्वयेऽपि साम्यात्किंविशेष इत्याशङ्क्याह—**क्रत्वर्थेति**। गोदोहनादेः पुरुषार्थत्वेऽपि क्रत्वर्थतापीति क्रत्वर्थपुरुषार्थचिन्ता चतुर्थे करिष्यमाणत्वान्नेह कार्येत्याशयः।

नन्वनुष्ठानविशेषानुपयोगेऽपि भेदाभेदनिर्णयस्तावद्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**इह त्विति**। अनुष्ठानानुपयोगिनिर्णयानर्थक्यादुपयोगानुगुणमेवोदाहार्यमित्याशयः। कथं गोदोहनोदाहरणे भेदाभेदयोरनुष्ठानविशेषानुपयोग इत्याशङ्क्योपपादयति—**न चेति**।

ननु गोदोहनात्फले क्रत्वर्थप्रणयनाश्रितस्य फलसाधनत्वादन्तःक्रतुप्रयोगः, प्रणयनात्तु फले क्रत्वर्थात्प्रणयनात्तस्य भेदापत्तेर्विना एतद्यज्ञाच्छिद्यते यदन्यस्य तन्त्रे प्रतेतेऽन्यस्य तन्त्रं प्रतीयते इति क्रतुमध्येऽन्यप्रयोगनिषेधाद् बहिः क्रत्वित्यनुष्ठानविशेषाशङ्कानिरासार्थम्—**प्रणयनस्येत्युक्तम्**। देशान्तरप्रापणरूपसंस्कारस्वभावत्वात्प्रणयनस्य प्रणेतव्यापेक्षायां स्ववाक्ये प्रणेतव्याश्रवणा'च्चमसेनापः प्रणयेदि'ति सन्निहितवाक्यान्तरश्रुतनामपां प्रणेतव्यत्वावगतेः, तासां च क्रत्वर्थत्वेन नैराकाङ्क्ष्यात्पदकर्मवत्प्रणयनस्याप्रयोजकत्वेनान्यासामनाक्षेपाद् बहिः प्रयोगे च पृथगितिकर्त्तव्यतानुष्ठानाक्षेपापत्तेः प्रयुक्तिलाघवार्थं भेदेऽप्यन्तःक्रतुप्रयोगः सेत्स्यतीत्याशयः।

दध्युदाहरणे तु भेदाभेदयोरनुष्ठानविशेषोपयोगोऽस्तीत्याह—**इह पुनरिति**। नन्विहापि पृथगितिकर्त्तव्यतानुष्ठानाक्षेपापत्तेः प्रयुक्तिलाघवायऽन्तःक्रतुप्रयोगो भविष्यतीशङ्क्य—**दर्वीत्युक्तम्**। सर्वेषां जुहोतिचोदितानां दर्विहोमाख्यत्वस्यापूर्वत्वस्य च वक्ष्यमाणत्वादित्याशयः। अग्निहोत्रविध्यन्तग्रहणात्सायम्प्रातरभ्याससिद्धेः सकृत् क्रियानुपपत्तिशङ्कानिरासार्था वा पूर्वोक्तिः। प्रयोजनाभावमात्रेण चेह गोदोहनस्यानुदाहरणोक्तिः। परमार्थतस्तु तस्यापि दाक्षायणादेरुक्थ्यादिसंस्थानां च फलान्वयेनैव न्यायेन सिद्धे तत्र तत्रांशान्तरचिन्तेति द्रष्टव्यम्। ननु स्वर्गे याज्जीवशब्दोक्ते च जीवनेऽनुपादेये विधीयमानोऽपि होमः प्रत्यभिज्ञानाद्यथा न भिद्यते, तथेहापीति कर्मफलान्वयोक्तेर्भेदानुपयोगमाशङ्कते—**नन्विति**। गुणाधिक्येनाप्रत्यभिज्ञानाद्वैषम्यमाह—**नैतदिति**। श्लोकं व्याचष्टे—**फलेति**। प्रत्यभिज्ञासम्भवं प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कुत इति**। श्लोकं व्याचष्टे—**अग्निहोत्रमिति**।

शुद्धोत्पन्नस्यापि वाक्यान्तरेण दधिवैशिष्ट्यात्प्रत्यभिज्ञानं शङ्कते—**नन्विति**। तस्यामुत्पादकत्वेन मुख्यत्वनिमित्तबलीयस्त्वाभावादुत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं न सम्भवतीत्याशयेन परिहरति—**नेति**। एतदेव विवृणोति—**येन तावदिति**। अतुल्यकार्यत्वादप्यगुणवाक्यस्योत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं न सम्भवतीत्याह—**उत्पत्तीति**। फलवाक्यानन्वयादपि गुणवाक्यस्य फलोत्पादकत्वप्रतिबन्धकत्वं न सम्भवतीत्याह—**उत्पत्तीति**। एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कुत इति**। गुणादिवाक्यानामपेक्षासन्निधिभ्यामुत्पत्तिवाक्येनैवान्वयः परस्परं त्वनपेक्षत्वादेव तावदनन्वयः। दध्नेन्द्रियकामस्येत्यादौ कथं चिदपेक्षासम्भवेऽप्यसम्बद्धव्यवायेनाननुषङ्गात्सन्निधिरनाशङ्क्य एवेत्यर्थः श्लोकं व्याचष्टे—**अनुत्पन्नस्येति**।

नन्वित्यनेन परस्परानपेक्षोत्पत्तिमेवोपेक्षन्तइत्यवधारणाभ्युपगमेन सूचिता । चतुर्थे त्वैकस्य दध्नः क्रत्वर्थत्वे पुरुषार्थत्वे च दध्ना जुहोति, दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादिति संयोगपृथक्त्वं कारणमित्युक्ते, 'शेष इति चोदि'ति सूत्रेण दध्ना जुहोतीति विहितस्य दध्नः फलापेक्षायामितरेण इन्द्रियफलत्वोक्तेरेकवाक्यत्वात्संयोगपृथक्त्वाभावमाशङ्क्य 'नार्थपृथक्त्वादि'ति सूत्रेण होमार्थत्वेन विहितस्य दध्नः फलानाकाङ्क्षत्वादेकवाक्यताभावं वक्ष्यतीत्याह—**वक्ष्यति चेति** । ननु फलवाक्यस्य गुणवाक्यानन्वयेऽप्युत्पत्तिवाक्येनैव गुणवाक्यान्वितेनान्वयाद्दधिविशिष्टप्रत्यभिज्ञोपपत्स्यतइत्याशङ्कते—**तत्रेति** ।

एवमपि—

'पयोदधियवागूश्च सर्प्पिरोदनतण्डुलाः ।

सोमो मांसं तथा तैलमापस्तानि दशैव तु' ॥ इति ।

दशद्रव्यविशिष्टत्वादुत्पत्तेर्नेह प्रत्यभिज्ञा सम्भवतीत्याशयेन परिहरति—**तदिति** । दशद्रव्यवैशिष्ट्याद्वैलक्षण्येन प्रत्यभिज्ञाने निरस्तेयदिकश्चित्फलवाक्ये गुणवाक्यानालोचनादवैलक्षण्यं ब्रूयात्, तन्मते प्रत्यभिज्ञानुत्पत्तिः प्रागेवोक्तेति सूचनपूर्वं श्लोकं व्याचष्टे—**उत्पत्तीति** ।

ननु दशद्रव्यवैशिष्ट्ये सत्यप्याकाङ्क्षावशाद्दधिमात्रविशिष्टो होमः फलवाक्ये ग्रहीष्यतइत्याशङ्कते—**अथ दधिसद्भावेति** । फलवाक्यस्य दधिवाक्यान्वयमनपेक्ष्य गुणवाक्यान्वितोत्पत्तिवाक्यमात्रान्वयद्वारा फलवाक्येन दधिविशिष्टहोमग्रहणे सर्वगुणवाक्यानामगृह्यमाणाविशेषत्वेन युगपत्फलवाक्यान्वयात्केवलदधिविशिष्टहोमग्रहणाशक्तेस्तन्मात्रग्रहणमिच्छता फलवाक्यस्य दधिवाक्यान्वयोऽभ्युपेतव्यः । स च प्रागेव वारित इति परिहरति—**तथा सतीति** ।

ननु दशानां द्रव्याणां समुच्चयेन होमविशेषणत्वे सति दधिमात्रविशिष्टहोमग्रहणाशक्तिरस्तु तेषां तु विकल्पेनान्वयाशक्यो दधिमात्रविशिष्टो होमो ग्रहीतुमित्याशङ्क्याह—**अपि चेति** । एवमपि नित्यपाक्षिकत्वेन वैलक्षण्यात्प्रत्यभिज्ञा न सम्भवतीत्याशयः । श्लोकं व्याचष्टे—**यद्यपि तावदिति** । ननु फलवाक्येनापि दधिपक्ष एव होमो ग्रहीष्यतइत्याशङ्क्याह—**न चेति** । उद्देशं विना यदाशब्दान्वयायोगात्फलादेशे च होमस्योपादेयत्वावगतेरुद्देश्यत्वायोगान्नित्यं दध्नो विशेषणत्वापत्तेर्नित्यदधिविशिष्टस्य च होमस्यान्यतो प्राप्तेर्विधेयत्वाद्भेदापत्तिरित्याशयः ।

ननु नित्यदधिविशिष्टरूपाप्रत्यभिज्ञानेऽपि फले विधीयमानस्य होमस्वरूपस्य प्रत्यभिज्ञानोपपत्तेः कर्मफलान्वयोत्तरकालं कर्मणो गुणाधिक्यं विधीयमानमपि न भेदमापादयतीत्याशङ्कते—**नन्विति** । एवं सति प्रत्यभिज्ञोपपत्तावप्यनेकार्थविधानादाग्नेयादिष्विव कर्मभेदापत्तिरिति परिहरति—**नैतदिति** । श्लोकं व्याचष्टे—**दधिहोमेति** । ननु विकल्पेन प्राप्तस्य दध्नो नियममात्रकरणान्नानेकार्थविध्यापत्तिरित्याशङ्क्याह—**तथैव चेति** । नियम-

स्यापि विधित्वादन्यथा च गुणवाक्यानालोचनेऽप्यर्थादनियतानेकद्रव्यप्राप्तेर्दधिशब्देन नियममात्रकरणात्कर्मफलान्वयरूपैकार्थविधानादवाक्याभेदापत्तेर्यथा दध्यादेर्वाक्यान्तरेण विधाविन्द्रियकामवाक्ये यदि फलान्वयमनादृत्य केवलो दधिनियमः क्रियते, तत एवैकार्थविधानम् । फलान्वयस्यापि तु विधेयत्वादपरिहार्यमनेकार्थविधानतया वैकल्पिकपशुद्रव्यफले वाक्यान्तरैः कल्पितेऽपि यदि केवलस्य दधिनियमस्य करणम्, तत एवैकार्थं विधानं सिद्धयेन्न त्वेतदस्तीति व्यवधारणकल्पनया ज्योज्यम् । विशेषतोऽस्मिन्पक्षे तण्डुलादिपरिसंख्यापत्तेरपरिहार्यानेकार्थतेति तण्डुलादीत्यनेन सूचितम् । फलान्वयस्यापि तु करणे दधिनियमस्याप्यन्यतोऽप्राप्तस्य करणादपरिहार्यो वाक्यभेद इति सूचयितुमाह—**न हीति**। होमात्फले भेदापत्तिमुपपादितामुपसंहरति—**तेनेति**। विधेयशब्दाध्याहारेण कर्मात्र विधेयं स्यादिति भेदसिद्धयै कर्मविधित्वं प्रतिज्ञाय, तद्धेतुत्वेन कर्मणः फलान्वयः सूत्रशेषेणोक्त इत्येवं किमित्यादिभाष्यव्याख्यातेऽथ सूत्रं योजयन् पूर्वपक्षमाह—**अत इति**। भाष्यस्थन्याय्यशब्दं भावार्थाधिकरणन्यायविषयं सूचयन् श्लोकं व्याचष्टे—**समस्तमेवेति**। कर्मणः फलान्वयसम्भवो, गुणस्य चासम्भव इति द्वयस्यापि भावार्थाधिकरणसिद्धत्वोक्त्यर्थः। ननु फले गुणविध्ययोगेऽपि, कर्मणि गुणो विधास्यते। अत आह—**नेति**। एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कथमिति**। अप्राप्तस्यापि गोदोहनादेः फलश्रुतिवैय्यर्थ्यापत्तेर्न कर्मणि विधिर्युक्त इत्युत्तरार्द्धेनोक्तं श्लोकं व्याचष्टे—**तत्र नामेति**। कर्मणि गुणविध्ययोगेऽपि फले गुणविधिर्भविष्यतीत्याशङ्कापि तस्माद्धोमात्फलमिति न्याय्यम्। न दध्नः फलमिति न्याय्यमित्यादिभाष्यपर्यालोचनया कर्मण एव न्याय्यम्, न गुणादित्यवधारणप्रतीतेरनेनैव भाष्येण निरस्तेति सूचयन् समस्तं पूर्वपक्षभाष्यं व्याख्यानायाऽवतारयति—**अत इति**।

समस्तं भाष्यमवतारितमवयवशो व्याख्यास्यमानं किमित्यस्य दृष्टं हीत्येतदेकवाक्यतया, भिन्नवाक्यतया च द्वेधा प्रतिभानेऽप्येकवाक्यतैव युक्तेति वक्तुमुपक्रमते—**तत्रेति**। एतद्भाष्यमध्य इति तत्रशब्देनोक्तं भिन्नवाक्यत्वव्याख्यां दूषयितुमुपन्यस्यति—**एकस्तावदिति**। ननु दृष्टं हीत्येतदेकवाक्यतया किमेतदेव न्याय्यत्वे कारणम्, कारणान्तरं वेति कारणविशेषप्रश्नप्रतीतेः किमितीति कारणप्रश्नार्थत्वेन व्याख्या न युक्तेत्याशङ्क्यैतावानित्युक्ते तदुपपादनार्थम्—**नेतीत्युक्तम्**। सिद्धान्तप्रक्रियात्वं नञ्योगान्निराकरणप्रतीत्योपपादितम्। दृष्टं हीत्यादेस्तर्हि कथं योजनेत्यपेक्षायाम्—**इतर इत्याद्युक्तम्**। दृष्टं हीत्यनेन पूर्वपक्षिणोक्ते सामान्यतो दृष्टेनेत्यादिना सिद्धान्ती स्वयमेव यदीत्याद्याशङ्क्य शङ्कां निराकरोतीत्यर्थः। नेति ब्रूम इत्यादेर्दृष्टादृष्टसिद्धिरित्येतस्य सिद्धान्तग्रन्थत्वे कथं तर्हीति सिद्धान्ती प्रश्नस्यासङ्गतत्वापत्तेरिमां व्याख्यां दूषयति—**तत्र त्विति**। पूर्वपक्षिप्रश्न एव तद्ध्वंसावस्त्वित्याशङ्क्य, होमफलान्वयाक्षेपविषयत्वात्सिद्धान्तिप्रश्नत्वावगतिरैकान्तिकशब्देन सूचिता।

स्वमतेन दृष्टं हीत्येकवाक्यतया किमिति प्रश्नं व्याख्यातुं सम्यक्त्वं तावदाह—**इतीति**। कीदृशीत्यपेक्षायामाह—**तच्चेति**। स्थितन्यायसम्भवोपपादनार्थम्—**दधीत्युक्तम्**। नन्वन-

न्यप्रमाणकत्वाद्वेदार्थेऽनुमानाशङ्का न युक्तेत्याशङ्क्याह—**यद्यपि चेति**। वेदावगम्यऽर्थेऽनुमानादीनां निषिद्धेऽपि कारणत्वे वेदार्थसन्देहे योऽनुमानाद्यविरुद्धः सोऽङ्गीकार्यो, न विरुद्ध इत्येवं वेदार्थनिर्णये तेषां हेतुत्वं भविष्यतीत्याशयेनेतीति पूर्वपक्षभाष्यं व्याचष्टे—**पुनरिति**। सामान्यतो दृष्टे पूर्वपक्षिणा होमफलान्वयरूपवेदार्थनिर्णायकत्वेनाभ्युपगम्यमाने बहून् दोषानुद्भावयिष्यामीत्येवं दुष्टाशयेन सिद्धान्तिना सामान्यतो दृष्टं मदभिप्रेतत्वेनारोपितमिति विदितसिद्धान्त्याशयत्वं पूर्वपक्षिणः सूचयितुं—**मेत्युक्तम्**। निर्दोषकारणासम्भवे काशकुशावलम्बनन्यायेनानुमानं मया वाच्यम्, शब्दस्य करणस्य सद्भावादनुमानस्य च बहुदोषत्वेन मयापि ज्ञातत्वान्नानुमानमहं ब्रवीमीत्यर्थः। कृष्यादितः कर्मणः साक्षाद् व्रीह्यादिफलं दृष्टमिति कर्मफलान्वयस्य न्याय्यत्वे कारणमारोपयता सिद्धान्तिना यत्कर्मफलान्वये साध्ये कर्मणः फलवत्तया दर्शनमुक्तम्, तत्किं हेतुत्वेन, सादृश्यरूपेण वा साधर्म्यमात्रत्वेनैवेति त्रेधा विकल्प्य, स्वयमेवाशङ्काशङ्क्य पूर्वपक्षिणा यदीत्यादिभाष्येण निरस्तम्। तद्व्याख्यातुमुपक्रमते—**कथमिति**। यदीति हेतुत्वाशङ्काभाष्यं व्याचष्टे—**यदि तावदिति**। कृष्यादाविति भाष्येण होमविषयः कर्मशब्दः कृष्यादिविषयो वेति विकल्प्यहोमदर्शनमसिद्धं कृष्यादौ च यद्दर्शनं तद्धोमधर्म इति दोषद्वयमुक्तम्। तद्व्याचष्टे—**तत इति**। फलवत्त्वस्य साध्यत्वेन साध्यधर्मविशिष्टधर्मिरूपप्रतिज्ञार्थैकदेशत्वादसिद्धेरसतश्च दर्शनायोगादसिद्धतेत्याशयः। स्थवीयसोऽपि द्वितीयकल्पस्य कृष्यादितः कर्मण इति सामानाधिकरण्यादाद्यकल्पेऽपि च होमस्थस्य फलवत्त्वदर्शनस्य कृष्यादावन्वयाभावेन स्थवीयस्त्वतुल्यत्वादुत्थानम्। ननु दृष्टं हीति भाष्यस्य व्याप्त्याभिधानमात्रत्वात्तद्गतस्य कर्मशब्दस्य हेतुविशेषणार्थत्वाप्रतीतेर्फलवत्त्वदर्शनमात्रं व्याप्तिपक्षधर्मत्वसम्भवाद्धेतुरित्याशङ्कार्थम्, अथेति भाष्यं होमे फलवत्त्वदर्शनमात्रस्याप्यसिद्धत्वेनापक्षधर्मत्वापरिहारादयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**अथ विनेति**। वस्तुतो सदपि पक्षधर्मत्वं कल्पनयाऽभ्युपगम्याशङ्केत्याशयः वास्तवपक्षधर्मत्वाभावेऽपि कल्प्यत पक्षधर्मतेत्यर्थः। फलवत्त्वमात्रस्याद्रव्येऽपि तन्त्वादौ पटादिफले दर्शनात्, द्रव्यादपि दध्नः फलापत्तेरिष्टविघातकारी हेतुस्तन्त्वादेर्वा निष्फलाभ्युपगमेऽप्यन्वयव्यतिरेकजस्य फलवत्त्वदर्शनस्यापह्नोतुमशक्यत्वादनैकान्तिक इत्यभिधानार्थं द्रव्यादपीति भाष्यं व्याचष्टे—**तत इति**।

ननु सौर्यादौ प्रयाजादिदर्शपूर्णमासधर्मान्वियेनावगतात्सादृश्यात्तदीयानुयाजादिधर्मान्तरान्वयस्य तथा हि लिङ्गदर्शनमिति वदता वक्ष्यमाणत्वात्प्रसिद्धधर्मान्वयेन प्रवृत्तस्योपमानस्याप्रसिद्धधर्मान्वयेऽपि प्रामाण्यप्रतीतेर्होमे कृषिसादृश्यात्फलवत्त्वोपमानं भविष्यतीत्याशङ्कार्थमथ कृषीति भाष्यं व्याचष्टे—**अथ सादृश्येति**। उपमया फलवत्त्वं कल्प्यत इत्यर्थः साधनवैलक्षण्येन, स्वरूपवैलक्षण्येन च होमस्याप्यसादृश्यादुपमानसम्भवोक्त्यर्थम्। होमोऽपीति भाष्ये किं चिद्वैलक्षण्येऽपि व्यापाररूपत्वेन सादृश्याविघातादयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**तत्रेति**। धर्मसामान्यभूयस्त्वलक्षणत्वात्सादृश्यस्य भूयस्त्वस्य त्वापेक्षिकत्वेन भूयस्तरापेक्षायां भूयसोऽप्यवभूयस्त्वापत्तेः सुसदृशापेक्षायां मन्दसादृश्यस्य सादृश्यभावो युक्त

एवेत्याशयः। प्रक्षेपाधिकस्त्यागो विवक्षितः। यदीत्यादिशङ्कोत्तराणि पूर्वपक्षवचनत्वेनैकग्रन्थत्वेऽपि विवेकायास्माभिः पृथक् कृतानि सुसदृशानपेक्षणेऽतिप्रसङ्गापत्तिलक्षणकारणैक्यर्थमथेत्यादिभाष्यं व्याचष्टे—अथेति। सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणां 'सामान्यमि' (वै० द० १-१-८) ति कश्यपवचनाद्ध्नोऽपि सद्रूपत्वादिधर्मसामान्ययोगेन कृषिसादृश्यापत्तेस्तत्परिहारार्थं सुसदृशापेक्षेति योऽभिप्रायः पूर्वं मनसि कृतः, सोऽनेन विवृत इत्यर्थः। होमोऽपीति भाष्याभिप्रायविवरणार्थमथ द्रव्यादिभाष्यं व्याचष्टे—अथेति। भाष्यार्थं वृद्धश्लोकेन सङ्क्षिपति—आह चेति। न चेतिभाष्यमुपमानस्य यावद्दृष्टैकावच्छिन्नापराधारधर्मविषयत्वेनाप्रसिद्धधर्मान्वये प्रामाण्यायोगात्सौर्यादौ तु प्रकृतधर्मातिदेशस्य करणानुग्रहान्यथानुपपत्तिप्रभवार्थापत्तिप्रमाणकत्वेन लिङ्गदर्शनस्योपोद्बलनमात्रार्थत्वात्सादृश्यमात्रेणादृष्टधर्मोपमानं न सम्भवतीत्यभिधानार्थं जातिप्रयोगापत्तेः साधर्म्यमात्रेणानुमानं च सम्भवतीत्यभिधानार्थं वेति द्वेधा व्याचष्टे—न चेति। फलवत्तया दृश्यमानकृषिसाधर्म्याद्धोमस्य फलवत्त्वानुमाने सत्त्वादिना द्रव्यसाधर्म्याद्ध्नोऽपि फलवत्त्वं स्यादिति साधर्म्यसमाख्या जातिः साधनादिवैलक्षण्येन कृषिवैधर्म्यान्निष्फलतेति वैधर्म्यसमाख्याविकल्पसमाख्यादीन्यपि जात्यन्तराणि यथासम्भवं योज्यानि। साधर्म्यशब्देन भाष्यस्थस्य सादृश्यशब्दस्य व्याख्यान्तरं कृतम्। मात्रशब्दव्याख्यानायानुमानवादोक्तनियम्यनियामकत्वलक्षणव्याप्यव्यापकभावे नैरपेक्ष्योक्तिः साधर्म्यमात्रेण सर्वधर्मप्राप्त्ययोगं चोदनासूत्रस्थेन भाष्येण द्रढयति—तथा हीति। यद्धीतिभाष्यं स्वरूपतस्तावद्व्याचष्टे—यद्धीति। आक्षेप्तुमाह—अत इति। साध्याक्षेपकत्वशक्तिः प्रयोजकत्वाख्या कारणशब्देनाभिप्रेतेति समाधत्ते—तस्मादिति। दृष्टान्ते सन्ततोर्ध्वगत्याद्यवच्छिन्नस्य धूमादेर्विपक्षवृत्त्यभावात्साध्याक्षेपशक्तिलक्षणप्रयोजकत्वरूपव्याप्यत्वावगमेऽपि गोपालघुटिकादौ तादृग्रूपत्वाभावे साध्यानाक्षेपकत्वदर्शनात्पक्षे तादूप्येणैव प्रत्यभिज्ञायमानस्य साधकतेति वक्तुं सपक्षे यद्व्यापकस्य साध्यभूतस्य गमकत्वसम्भावनात्मककारणत्वलक्षणव्याप्यत्वरूपेण दृष्टं, तदन्यत्र पक्षे तथाविधमेव गृह्यमाणं साधकमिति वदता तच्चेद्यथाविधं करणभूतम्, तथाविधमेव साध्येऽप्यवगम्यतइत्येवं कारणभूतमितीतिकरणस्य तादृग्रूपप्रत्यभिज्ञानार्थत्वमभ्युगम्य भाष्यं व्याख्यातम्। कारणशब्दस्य शक्त्यभिप्रायत्वं प्रकटयितुं नन्वप्रसिद्धेः। कार्यकारणभावेइति भाष्यस्य स्वयं कृतां व्याख्यां स्मारयति—एवं चेति। न चैतत्स्वमनीषिकामात्रेणैवं व्याख्यायते किं त्वत्रत्योपसंहारभाष्यालोचनयैवेत्याह—तथा चेति। अथेति हेत्वन्तराशङ्काभाष्यं तन्निरासार्थं चोपरत इति भाष्यमेकग्रन्थेनावतारणपूर्वकं व्याचष्टे—यदि तर्हीति। इदमापक्षधर्मत्वाभावेन दूषितात्फलवत्त्वदर्शनात्कर्मत्वस्य हेतोः पक्षधर्मत्वनिश्चयाद्विशेषः सूचितः। भाष्योक्तस्यानुमानस्य प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तान्वदताग्निहोत्रवाक्यविहितस्य कर्मणः सिद्धान्तिनापि फलवत्त्वाभ्युपगमात्सिद्धसाध्यतापरिहारायात्र वाक्ये यच्छ्रुतमिति विशेषितम्। अर्थाक्षिप्तेः प्रयोगान्तरे फलस्याप्येतदेव विशेषणमिदमोक्तमनु-

१. अविशेषइत्याकरे पाठः।

माष्येत्यनेन दृष्टं हीति भाष्योक्तस्यैवानुमानस्यायमपि विकल्प इति सूचितम्। सम्प्रति साधनत्वस्यापि सन्देहहेतुत्वेनैकान्ताख्यनिर्णयसाधकत्वाद्—**अनैकान्तिकी करोतीत्युक्तम्**। तदेव फलवदिति सावधारणस्य प्रतिज्ञार्थत्वात्सम्प्रति साधनत्वोपपत्तिः। दधिहोमसम्बन्धस्यापि सिद्धान्तिना फलसाधनत्वेनैष्टत्वात्तदभिप्रायेणैतद्वाक्यश्रुतो दधिहोमसम्बन्धः फलवान्द्रव्यसम्बन्धत्वात्तन्तुसंयोगवदित्यनुमानसूचनार्थं संयोगानां चेति भाष्यावयवनोक्ते दधिहोमसम्बन्धस्य द्व्याश्रितत्वेन द्रव्यमात्रश्रितत्वाभावाद् द्रव्यसम्बन्धत्वस्यासिद्धत्वमाशङ्क्यानेकाश्रितत्वेऽपि [योगस्य द्व्याश्रयत्वेऽपि भवत्यन्तराश्रयो] व्यपदेश प्र. सू. श्लो. वा. सं. इत्यनेन न्यायेनैकाश्रितत्वाविरोधसूचनार्थस्तच्छब्दः। शक्तिरूप एव च क्रियाकारकयोः सम्बन्ध इतिवार्त्तिकात्, शक्तेः फलसाधनत्वप्रतीतेर्दध्नेति तृतीयोक्ता दध्नो होमकरणत्व[1]-च्छक्तिः फलवती शक्तित्वात्तन्तुशक्तिवदिति चशब्दसूचितानुमानान्तरप्रदर्शनायादिशब्दः। पटादेर्वानादिकर्मजन्यत्वात्साध्यविकलत्वं दृष्टान्तस्याशङ्क्य कर्मणो विनष्टत्वेनाऽभावे सति पटाद्युत्पत्तेस्तन्तुजन्यत्वायोगोवत्यर्थत्वेनोपरतग्रहणं व्याख्यातुम्—**उपरतेत्यात्युक्तम्**। फलोत्पत्तिकाले उपरतग्रहणसूचितः साध्यविकलत्वाभावः। तद्दर्शनार्थमित्यर्थः। कर्माभावे फलोक्तिदर्शनार्थमित्यर्थः। द्रव्यमपीति भाष्यावयवव्याख्यानार्थम्—**तेनेत्युक्तम्**। उपरतग्रहणसूचितः साध्यविकलत्वाभावस्तच्छब्देन परामृष्टः। अपि चेति भाष्ये धर्मविशेषविपरीतसाधनत्वलक्षणविरुद्धत्वोक्त्यर्थत्वेन व्याचष्टे—**अपि चेति**। दृष्टोऽर्थः फलमस्येति विग्रहः। प्रत्यक्षदृष्टत्वस्याशब्दगम्यत्वोक्त्या व्याख्यानादानन्तर्याशयोऽयं दृष्टशब्दः। येऽपि यथा निरपेक्षस्य कर्मणः संयोगविभागो फलम्, अभिघाताद्यपेक्षस्य च वेगाख्यः संस्कारः तथावयवसंयोगापेक्षस्यावयविद्रव्यमपीति वदन्ति, तन्मतेऽप्यवयवसंयोगापेक्षत्वात्, तदारब्धमवयविद्रव्यमेव व्रीह्यादितुल्यं स्यात्। नापरोक्षार्थग्रहणशक्तिरूपमिन्द्रियमित्यभिधानार्थं कृषीति भाष्यं व्याख्यातुम्—**व्रीह्यादीत्युक्तम्**। तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**। एवंजातीयकशब्देन शब्दैकसमधिगम्यत्वोक्त्या हेतोरप्रयोजकत्वं सूचितम्।

कथं तर्हीति सिद्धान्तिप्रश्नभाष्यमवधिद्वयेन व्याचष्टे—**यदीति**। द्वितीयावधिनोत्तरभाष्यं व्याचष्टे—**उच्यत इति**। आद्यावधिपक्षे शब्देनेत्यवधारणीयं विशिष्टविधानाद्विपदानर्थक्यमपरिहार्यमित्याशयः। तस्मादित्युपसंहारभाष्यमेकस्य न्याय्यत्वोक्त्यावितरान्याय्यत्वस्यार्थसिद्धत्वेनातिरिक्तत्वादयुक्तमाशङ्क्य समाधत्ते—**तस्मादिति**। न केवलमेकवोपादानलक्षणया श्रुत्या होमस्य फलभावनाकरणत्वावगतेर्वाक्योपात्तस्य दध्नः करणत्वाभावः, किं तु दध्नः फले होमे च विधौ वाक्यभेदापत्तेरपीत्यभिधानार्थमपि चेति भाष्यं होमे दधिविधेः सिद्धान्तिनोऽनिष्टत्वादयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**अपि चेति**। निर्व्यापारस्याव्यापाररूपस्य करणत्वायोगादापाद्यैतदुक्तमित्याशयः।

नन्वित्याशङ्काभाष्यं वस्तुसामर्थ्येऽपि वाक्यभेदापत्तेरुभयार्थत्वेन विध्ययोगाद्विध्यधीनत्वाच्च तादर्थ्यस्यायुक्तमाशङ्क्य व्याचष्टे—**नन्विति**। फलार्थमेव विहितस्याश्रयापेक्षायां

१. करणत्वऽच्छिक्तिरिति मु० पु० पा०।

प्रकरणाद्धोमस्याश्रयत्वावगमात्प्रसङ्गेन होमसाधनत्वसिद्धेर्नोभयार्थत्वायोभयत्र विध्यापादनं युक्तमित्याशयः ।

यद्यैकस्य वस्तुनोऽनेककार्याशक्त्याशयमसामर्थ्याभिधानमिति मत्वेयमाशङ्केत्यन्यथा व्याचष्टे—**वस्त्विति** । नन्वेकस्य वस्तुनोऽनेककार्योत्पादनशक्तेरनेकत्र दर्शनाद्वस्त्वशक्त्याशयेनासमर्थ्योक्त्यनुपपत्तेर्विध्यशक्त्याशयैर्वा सामर्थ्योक्तिरवसीयतइत्याशङ्क्याह—**तथा हीति** । न ब्रूम इति परिहारभाष्यं व्याचष्टे—**न ब्रूम इति** । अविहितेत्यनेनाश्रयापेक्षायामपि विधिं विना दधिहोमान्वयानुष्ठानासिद्धेः प्रसङ्गसिद्धिर्निरस्ता । युगपत्सम्भवासम्भवाभ्युपगमापत्तेरप्युभयार्थत्वेन विधिर्न सम्भवतीत्याह—**सन्निकृष्टेति** । स्वपदार्थेऽन्यान्वयविधानाद्दधिहोमान्वयः सन्निकृष्टः । ननूभयार्थत्वेन विध्ययोगेऽपि फलपदानर्थक्यपरिहारार्थं सन्निकृष्टत्यागेन विप्रकृष्टः विधिरपि युक्त इत्याशङ्क्याह—**तस्मादिति** । दधिविशिष्टस्य होमस्य फले विधौ स्वपदार्थस्यैवान्यान्वयविधानात्सन्निकृष्टविध्युपपत्तेस्तदभिमतो विप्रकृष्टविधिर्न सम्भवतीत्याशयः—**तस्मादिति** । पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यं सूत्रोक्तकर्मफलान्वयोपसंहारार्थत्वेन व्याचष्टे—**इतीति** ॥२५॥

भा० प्र०—श्रुतियों में कहा है कि "दध्ना इन्द्रिय कामस्य जुहुयात्" अर्थात् इन्द्रिय की कामना करने वाला व्यक्ति दही के द्वारा होम करे । इसमें प्रश्न होता है कि यह गुणविधि है या कर्म विधि है । पूर्वपक्षी का कहना है कि पूर्व में "दध्ना जुहोति", "पयसा जुहोति" इत्यादि वाक्यों में गुण विधि माना गया हैं, अतः यहाँ भी यह गुणविधि ही है । किन्तु "दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्" यह गुण नहीं हो सकता है, वरन् "कर्म स्यात्" यह अपूर्व विधि ही है, कारण "फलश्रुतेः" इस स्थल में इन्द्रियरूप फल कहा गया है, अतः, गुणविधि नहीं हो सकती है, कारण "फलस्य कर्मयोगित्वात्" केवल द्रव्यात्मक गुण से फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्रिया से ही फल की उत्पत्ति होती है, क्योंकि, कर्म फलयोगी होता है, अर्थात् अपूर्व कर्म के साथ सम्बद्ध होता है, इसीलिए "दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्" यह अपूर्व कर्मविधि है ।

"फलश्रुतेः" = फलश्रुति अर्थात् फल का उल्लेख होने से, "तु" = प्रत्यवस्थान में, "कर्म स्यात्" = अपूर्व कर्म होगा, "फलस्य कर्मयोगित्वात्" = क्योंकि फल कर्मयोगी अर्थात् अपूर्व कर्म के साथ सम्बन्धयुक्त है । "दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्" = इस वाक्य में अपूर्व कर्म का ही विधान किया गया है, क्योंकि, इस स्थल में फलश्रुति है, और अपूर्व कर्म ही फलसंयुक्त होता है ॥ २५ ॥

अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत ॥ २६ ॥ सि०

शा० भा०—तुशब्दात्पक्षो विपरिवर्तते । कर्मान्तरम्, किंतु गुणात्फलमिति । कथम् ? अतुल्ये ह्येते वाक्ये । 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यत्र

कर्मसमभिव्याहृतं फलं—स्वर्गकामो होमेन कुर्यादिति। दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयादिति—गुणसमभिव्याहृतम्। न ह्यत्र होम इन्द्रियाय कर्तव्य इति प्रतीयते। किं तर्हि? दध्ना होम इन्द्रियकामस्येति। होमस्य दधिसम्बन्ध इन्द्रियाय। न होमस्योत्पत्तिः। य इन्द्रियकामः स्यात्, स दध्ना होमं कुर्यादिति। कतमोऽत्र शब्दः पुरुषप्रयत्नस्य वक्तेति? जुहुयादिति ब्रूमः।

ननु श्रुत्या होमसम्बद्धमेष पुरुषप्रयत्नं वदति, वाक्येन दधिसम्बन्धम्। न च वाक्यं श्रुतिमपबाधितुमर्हति। न च युगपदुभयसम्बन्धो न विरुध्यते। वाक्यं हि तथा भिद्येतेति।

अत्रोच्यते। ये भवदीयं पक्षमाश्रयेरंस्ते श्रुतिमपबाधेरंस्तराम्। अस्मदीये तु पुनः पक्षे जुहुयादिति धात्वर्थः केवलोऽपबाधितो भवति। युष्मदीये तु कृत्स्न एव दध्नेति शब्दः। तं चाप्रमाद्यन्तः समामनन्तीति गम्यते। न चैतत्प्रमत्तगीतमित्युक्तं—तुल्यं हि[1] सांप्रदायिकमिति। तस्मान्न कर्मसमभिव्याहृतं फलम्।

गुणसमभिव्याहृते तु न कस्यचित्प्रमादपाठः। अवश्यं हि जुहुयादिति दधीन्द्रियकामयोः सम्बन्धविधानार्थं वक्तव्यं भवति। ननूच्यमानेऽपि न केवलः करोत्यर्थोऽवगम्यते। केवलेन च नः प्रयोजनम्। स च होमसम्बन्धः। तस्मादसमञ्जसमिति। नेति ब्रूमः। होमसम्बद्धोऽप्यसौ करोत्यर्थ एव, केवलं त्वस्य होमसम्बन्धे विशेषः, न तु करोत्यर्थतां बाधते। इन्द्रियकामस्य होमसम्बद्धं प्रयत्नं दधिसम्बद्धं कुर्यादिति।

नन्वेवं सति स एव दोषः होमसमभिव्याहृतं फलमिति। उच्यते। जुहुयादितिशब्दस्यैतत्सामर्थ्यं—यद्धोमविशिष्टं प्रयत्नमाह। न त्वत्र होमः साधनत्वेन विधीयते, साध्यत्वेन[2] विशिष्टस्तु प्रयत्नो वाक्येन दध्याश्रितोऽवगम्यते। अत एव च वृत्तिकारेणोक्तम्, 'होममाश्रितोः[3] गुणः फलं साधयिष्यति। यथा राजपुरुषो राजानमाश्रितो राजकर्म करोती'ति। तस्माद्दध्नः फलं—य इन्द्रियकामः स दध्ना कुर्यादिन्द्रियमिति। कथमिति? अनयाऽग्निहोत्रेतिकर्तव्यतयेति। कुत एतत्? फलसाधनस्य दध्न इति कर्तव्यताकाङ्क्षत्वात्। अस्याश्च इति कर्तव्यतायाः संनिधानात्, चोदनालिङ्गस्य च जुहोत्यर्थस्य दर्शनात्। यस्मादेव चायं जुहोत्यर्थोनुवादः। तस्मादविधायकः। न चान्यद्धोमस्य विधायकं नास्तीति। तस्मान्न कर्मान्तरम्। तस्माद्दध्नः फलमिति।

अथवा दधिशब्दस्य विवक्षितार्थत्वाद्दधिहोमसम्बन्धोऽयं वाक्येन विधीयते। तेन दध्नो होमेन सम्बध्यमानात् फलं भविष्यतीति॥ २६॥ सिद्धान्तः॥

इत्येकादशमिन्द्रियकामाधिकरणम्॥ ११॥

---

१. ब० च। २. ब. न साध्यत्वेन। ३. ब. होमाश्रितो गुणः।

गुणात् फलमिति सिद्धान्तस्योपपादनम्

त० वा०—यादृशेषु वाक्येषु धात्वर्थात्फलमिति भावार्थाधिकरणे साधितं[1] तैरननुगम्यमेतत् । कथम् ?

यावद्धि विधिसामर्थ्यं धात्वर्थादनपोद्धृतम् ।
तावद्यः फलसम्बन्धः स धात्वर्थस्य गम्यते ॥
भवेत्फलश्रुतिर्या तु गुणसंवरिते विधौ ।
सा तद्गतविधिस्पृष्टा तेन यात्येकवाक्यताम् ॥

भावनास्थमेव[2] विधित्वं तादर्थ्यभेदेन तत्र तत्र संक्रामति । तद्यदा धात्वर्थम्, संक्रान्त्यवस्थां फलवतीं भावनामासादयति, तदा धात्वर्थमेव करणीकरोति । अन्यच्च[3] तदर्थं भवति । तच्च 'अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः' इत्यादिषु नाम्नो विधिशक्त्यपहारासमर्थत्वादविहतम् । इह तु दधिपदमशेषनामधेयलक्षणासंस्पर्शादवश्यं विधातव्यं सदुत्तारयति धात्वर्थोपनिपतितं विधित्वम् । अतश्चाऽऽकाङ्क्षितधात्वर्थानुवादायां दध्यनुरक्तायां भावनायां फलमुपलभ्यमानं दधिसाधनकमेवावधार्यते, न होमसाधनकम् । न ह्यविधीयमानानामर्थानां साधनत्वं सम्भवति । न च विधेयान्तरोपादाने सति अतिक्रान्तार्थविधानमवकल्पत इत्युक्तम् । यथा च दध्ना विध्याक्षेपान्न होमविधानम् । तथा फलपदप्रत्यवेक्षणान्न होमे दधिविधानम् । किं तर्हि ? फलभावनायाम् । तस्माद्दध्नः फलमिति ।

कतमोऽत्र शब्दः पुरुषप्रयत्नस्य वक्तेति । दधिफलपदयोर्भावनानभिधायकत्वेन साक्षाद्विधिविषयत्वानुपपत्तेराख्यातप्रत्ययापेक्षणे[4] च 'आश्रितत्वात्प्रयोगस्य' इत्येवं धात्वर्थत्यागाशक्तेः तत एव फलेन भवितव्यमिति मन्वानस्य प्रश्नः । सिद्धान्तवादी तु प्रत्ययार्थविधित्वं धात्वर्थानुवादत्वं च विभक्त पश्यन्नाह—**जुहुयादिति । ननु श्रुत्या होमसम्बद्धमेष** इति—परस्य स्वाभिप्रायविवरणम् । पुरुषप्रयत्नश्च विध्युपेता भावनोच्यते । सत्यं भावार्थाधिकरणन्यायेन श्रुतिबलीयस्त्वादेवमन्यत्राऽऽश्रितम् । इह च ये भवदीयं पक्षमाश्रयेरंस्ते श्रुतिमपबाधेरंस्तराम् ।

कथम् ?

स्याद्बह्वर्थविधानं ते स्तोकार्थविधिसम्भवे ।
मत्वर्थश्चोपलक्ष्येत पदत्यागोऽन्यथा भवेत् ॥

स्तोकार्थविधिसंभवे तावद्विधायको बहुतरार्थविधानमुपेक्षते । होमस्य च फलभावनाकरणत्वाद्भावयेदिन्द्रियं होमेनेत्येवमवस्थितस्य करणभूतेनैव दध्ना

---

१. क० गत । २. क० भावनात्वमेव । ३. क० सर्वमित्यधिकम् ।
४, क० प्रत्यवेक्षणे ।

समत्वात्संबन्धेऽनुपपद्यमानेऽवश्यं मत्वर्थलक्षणा परिग्रहीतव्या-दधिमता होमेनेति। न च तस्यां किंचित्प्रमाणमस्ति। न च दधिशब्दस्यासति प्रवृत्तिनिमित्ते कर्मनामधेयत्वं घटते। सोऽयमुभयस्माद् भ्रष्टो दधिशब्दोऽनर्थक एव प्राप्नोति। ततश्च शब्दधर्मसंनिकर्षानुग्रहेण धर्म्येव शब्दः परित्यागाद्बाधित इति बाध्येततरां श्रुतिः। गुणसमभिव्याहारपक्षे तु न कस्यचिद्बाधः।

प्रत्ययो दधिफलसंबन्धविधानार्थ इत्यस्योपपादनम्

तत्रैतदुच्यते। जुहोतीति शब्दो बाधित इति तत्परिहारार्थमाह—**अवश्यं जुहुयादिति** वक्तव्यम्। कथम् ?

न दधीन्द्रियसंबन्धो भावनाप्रत्ययाद्विना।
न चास्योच्चारणं शक्यं केनचिद्धातुना विना॥

प्रत्ययस्तावदवश्यमेव दधीन्द्रियविशिष्टां भावनां विधातुमुच्चारयितव्यः। स च केवलप्रयोगासंभवाद्धातुव्यतिरिक्तप्रकृत्यनुपपत्तेश्च, यतः कुतश्चिद्धातोः पर उच्चारयितव्यः। ततश्च यत्र क्वचन धातावुपादातव्ये प्राप्ते, प्रकरणप्राप्तहोमोपादानमङ्गीकृतम्। दधिसंबन्धोऽपि चास्य प्रकरणादेवाऽऽश्रयाश्रयिरूपः प्राप्तोऽनुवदिष्यते। यथा च न विभक्तेर्वचनमेवैकं प्रयोजनमिति, ग्रहादिषु कारकमात्रप्रतिपत्त्यर्थमुच्चार्यमाणनान्तरीयकत्वादविवक्षितामपि संख्यां प्रत्याययतीति वक्ष्यते तथाऽत्र प्रत्ययानुग्रहार्थमपि धातुरुच्चार्यमाणः संबन्धबलादविवक्षितमपि स्वार्थं प्रत्याययति। न हि तस्यार्थप्रत्यायनमात्रमवैकं प्रयोजनमिति वक्तव्यम्। **ननूच्यमानेऽपोति**—प्रत्ययानुग्रहार्थं धातुरुच्चार्यमाणः स्वार्थं प्रत्याययतीति। न चास्य ग्रहैकत्ववदविवक्षाकारणं किंचिदस्ति। तस्माद्यथाभिलषितकेवलकरोत्यर्थासंभवादसमर्थमेतदिति। नैष दोषः। सत्यपि होमसंबन्धे करोत्यर्थानपायात्तावन्मात्रेण प्रयोजनसिद्धिः। यस्तु होमसंबन्धकृतो विशेषः नासौ किंचिद्विरुणद्धि। प्रकारान्तरेण वा भावनां विशेक्ष्यति।

नन्वेवं सति स एव दोष इति। अपरित्यज्यमानोऽपि होमो बलात्करणीभवतीति मन्यते। सिद्धान्तवादी त्वाह—वाक्यान्तराभ्यस्तस्य **जुहुयादिति शब्दस्यैतत्सामर्थ्यं**, येन तवेयं भ्रान्तिर्भवतिहोम एव करणमिति। निपुणतस्तु पश्यतां यथैव प्रत्यासत्तेः साध्यांशमुपधावन्नयोग्यत्वात्प्रच्याव्यते, तथाऽत्र दधिपदानुरोधेन साधनांशात्। यथा च तत्र प्रतीयमानं भावनाविशेषण[1]त्वमंशान्तरेऽवस्थितम्, एवमिहापि गुणाश्रयत्वेनावस्थास्यते। यथोक्तं वृत्तिकारेण **होमाश्रितो गुणः फलं साधयिष्यतोति**।

---

१. क० विशेषणमंशान्तरे।

कः पुनराश्रयाश्रयिसंबन्धो नाम ? किं केन कथंभावव्यतिरिक्त उताव्यतिरिक्त इति । केचित्तवदाहुर्व्यातिरिक्त एवायमिति । कथम् ?

तत्र केषाञ्चिन्मतेन समाधानम्, तन्निरासश्च

यथैवांशत्रयापेक्षा भावनाऽन्यत्र गम्यते ।
यथा गुणविशिष्टायां चतुर्थोंऽशोऽप्यपेक्ष्यते ॥

यत्र धात्वर्थकरणिका भावना चोद्यते, तत्रांशत्रेयेणैव समाप्यते । यत्र गुणः करणत्वेन चोद्यते । तेन च करणभूतेन फलमुत्पादयितव्यम्, नोदासीनेन । तत्रास्य कंचिद्धात्वर्थमकुर्वतः करणत्वानुपपत्तेः, कं धात्वर्थं साधयता तेन फलं भावयितव्यमिति चतुर्थमपेक्षान्तरं जायते । यश्च धात्वर्थः साध्यः, स एव गुणस्य करणत्वोपजननादाश्रय इत्युच्यते । [1]तत्र वाक्येऽन्यसंबन्धपरे वाक्यभेदप्रसङ्गात्स्वयमाश्रयं दर्शयितुमशक्नुवति प्रकरणादग्निहोत्रहोम आश्रयो लभ्यते । तथालब्धश्च प्रत्ययानुग्रहार्थप्रवृत्तेनाऽऽलम्भादिवच्च चोदनालिङ्गभूतेन धातुनाऽनूद्यते । 'यदेकस्मादपूर्वं तदेतरत्तदर्थमिति' च न्यायेन धात्वर्थो नाम पदार्थानुग्रहार्थोऽध्यवसीयते ।

वार्तिकमतम्

शक्यते त्वत्र न चतुर्थ्यपेक्षाऽस्तीति वक्तुम् । करणापेक्षैव ह्येषा प्रविततत्तरा जाता । धात्वर्थेन हि सा शीघ्रं निवर्त्यते । गुणस्य तु क्रियासंबन्धोत्तरकालं करणत्वं निष्पद्यत इति चिरतरेण । तस्मात्तिस्र एवापेक्षाः । तेन होमोपजनितकरणत्वे फलवति गुणेऽवधारिते कथंभावापेक्षायां सत्यामग्निहोत्रेतिकर्तव्यतैव पूरणीभवतीत्यादिसंस्थाधिकरणविषयः पर्यवसितेऽधिकरणार्थे प्रसङ्गादभिधीयते तत्र **अनयाऽग्निहोत्रेतिकर्तव्यतयेति** ।

केषाञ्चिन्मतस्योपन्यासनिरासो

केचित्तावदाहुः—अग्निहोत्रमेवेतिकर्तव्यतेति । तत्त्वयुक्तम् । करणव्यतिरिक्तत्वादितिकर्तव्यतायाः । होमस्य च प्रागुक्तेन न्यायेन करणांशाव्यतिरेकात् । अतोऽग्निप्रणयनादिकैवाग्निहोत्रेतिकर्तव्यतेत्युच्यते । **कुत एतदिति** । कथमधात्वर्थस्येतिकर्तव्यसम्बन्ध इत्यभिमानात् । **फलसाधनस्य दध्न इति** । यथैव होमस्य करणत्वादितिकर्तव्यतानुग्राह्यत्वं भवति, एवं तत एव कारणाद्दध्नोऽपीति । **अस्याश्चेतिकर्तव्यतायाः संनिधानादिति** । संस्थाधिकरणविप्रतिषिद्धसमानविधानत्वाभ्युपगमापत्तेश्चोदनालिङ्गस्य चेति पुनरतिदेशन्यायोपन्यासादसम्बद्धत्वम् । यदि तावत्संनिधानात्संबध्यते किं चोदनालिङ्गसद्भावेन । अथ

---

१. क० उत वाक्यभेद प्रसंगात् ।

चोदनालिङ्गसद्भावः, प्रमाणम्, स दूरस्थस्याप्यविशिष्ट इति, व्यर्था संनिधानवाचोयुक्तिः। अत एवं वक्तव्यम्। आश्रयतयोपस्थितेन होमेनोपकारप्रदानक्रमेणेतिकर्तव्यतायाः संनिधानात्, अतिदेशनिमित्तस्य च **चोदनालिङ्गस्य जुहोत्यर्थस्य दर्शनात्**। यस्मादेव चायं चोदनालिङ्गत्वेन जुहोत्यर्थः प्रकरणात्प्राप्तोऽनुवदिष्यते, तस्मादस्योत्पत्तेः फलं वा प्रति प्रत्ययो न विधायकः। केन प्राप्तस्यानुवाद इति। चेदत आह—**न चान्यद्धोमस्योत्पत्तिवाक्यं विधायकं नास्तीति।**

अस्य भाष्यस्य केषाञ्चित् व्याख्यानम्, तन्निरासश्च

केचित्त्वन्यथाऽस्य वचनस्यार्थं वर्णयन्ति। न चान्यद्दधिफलादिन्द्रियादग्निहोत्रहोमस्य स्वर्गादिफलं नास्ति, स्ववाक्येन प्राप्तत्वादिति। तत्त्वनाशङ्किताप्रस्तुतोपन्यासादसम्बद्धमिति पूर्वोक्तमेव न्यायः। तस्मान्न कर्मान्तरम्।

किं तर्हि ? तस्मिन्नेव कर्मणि दध्नः फलम्, होमश्चानुग्राहकः। अथवा तेनैव कारणेन, दधिशब्दस्याप्रमादपाठात्केवलाच्च दध्नः फलसिद्ध्यसंभवादुभयतिरस्कारेण दधिहोमसम्बन्धादेव फलमुभयोश्च दधिहोमयोस्तादर्थ्यम्। अत्र तु पूर्वोक्तेन न्यायेन दधिहोमसम्बन्धकृतो वाक्यस्यास्य चैकवाक्यत्वाभावाद्द्विफलसम्बन्धे चानिर्वृत्ते होमसम्बन्धः प्राकरणिको नास्तीत्यनेनैव वाक्येन होमसम्बन्धं कृत्वा फलं प्रति विधावाश्रीयमाणेऽनेकार्थविधानाद्वाक्यभेदः स्यात्। अतो दध्न एव मित्येषैव व्याख्या युज्यते। तथा च समाप्तावुपसंहृतं **तेन[1] दध्नो होमेन सम्बध्यमानात्फलमिति**। तेन अथ[2]वेति विकल्पमात्रप्रदर्शनार्थं द्रष्टव्यम्।

अथवेति प्रमादपाठ इति अन्येषां व्याख्यानस्य निरासेन स्वाभिप्रायवर्णनम्

अन्ये तु वदन्ति। एक एवायं पक्षः सोपपत्तिक आदित आरभ्योपसंह्रियते। **तस्माद्दध्नः फलम्। अतो दधिशब्दस्य विवक्षितत्वादिति** च पाठः। अथवेति तु प्रमादलिखितमिति। शक्यपरिहारं त्विदम्। कथम्[3] ? यदैव दध्नेन्द्रियकामस्य भावयेदिति सम्बध्यते, तदैव करणभूताद्दध्नः फलमित्यवगमात्करणत्वान्यथानुपपत्तिकारितः क्रियामात्रसम्बन्धोऽवगम्यते। शक्तिरूप एव च क्रियाकारकयोः सम्बन्ध इति, करणविभक्त्यन्तर्गतत्वात्प्रत्ययार्थस्य च प्राधान्यात्प्रातिपदिकार्थोपसर्जनः सम्बन्ध एव फलाय विधीयते। तस्मिंस्तु विहिते, पूर्ववदेव प्रकरणात्क्रियाविशेषो होमो लभ्यते। तत्र तु द्रव्यदेवतासम्बन्धन्यायेन क्रियाकारकसम्बन्धस्य फलसम्बन्धे वृद्धे, कोऽसौ क्रियाविशेष इत्यपेक्षायां विशेषणविशेष्यसम्बन्धं कर्तुं प्रकरणेन होम उपनीयते। तेनोच्यते दधिहोमसम्बन्धः फलाय

---

१. क० तस्मात्। २. क० यद्वेति। ३. क० कथमिति।

विधीयत इति। ततश्चाथवेति सम्यक्पाठ एव। समाप्त्युपसंहारस्त्वाद्यपक्षस्य द्रष्टव्यः। अथवाऽस्यैव सम्बध्यमानग्रहणेन दध्युपसर्जनसम्बन्धनिर्देश इत्यदोषः।

ननु दध्नेति चेन्द्रियकामस्येति च पदद्वयव्यापाराद्वाक्यं[1] भिद्येत। नैषं दोषः। कुतः ?

नैव ह्यनेकसम्बन्धाद्वाक्यभेदः प्रसज्यते।
अनेकविधिशक्त्या हि भेदो नास्ति च सोऽत्र नः॥

बहवोऽपि ह्यर्था युगपदेकेन सम्बध्यन्ते। न च तावता वाक्यं भिद्यते अनेकविधितो हि वाक्यभेद उक्तः। स चात्र नास्त्येव। फलस्याविधेयत्वात्। एषा ह्यत्र वचनव्यक्तिः यदिन्द्रियं भावयेदित्यनूद्य, तद्दध्नेति विधीयते। यो हि यदिच्छति, स तत्करोतीति हीन्द्रियं भावयितु स्वरसत एव पुरुषः प्रवर्तते। ततश्च तदंशयुक्तां भावनां प्रत्ययोऽनूद्य करणांशमात्रयुक्तां विधत्त इत्येकार्थविधानान्न वाक्यभेदः। तस्माद्दधिपदस्यार्थवत्त्वाय गुणात्फलम्, अकर्मान्तरत्वं चेति सिद्धम्॥ २६॥

(इत्येकादशम् इन्द्रियकामाधिकरणम् ॥११॥)

न्या० सू०—स्वर्गकामवाक्यात्तुल्यत्वोक्तेर्भावार्थाधिकरणन्यायाविषयत्वसिद्धि प्रयोजनमाह—**यादृशेष्विति**। फलस्यैकत्र कर्मान्वयेन, अपरत्र गुणान्वयेनातुल्यत्वम्। भाष्यव्याख्यातं प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कथमिति**। सर्वत्रविधेर्भावनाविषयत्वाद् गुणसञ्चारायोगाशङ्कानिरासमाघाराग्निहोत्राधिकरणोक्तं स्मारयन् श्लोकं व्याचष्टे—**भावनारथमेवेति**। नन्वग्निहोत्रनामवद्दधिपदस्यापि वैकल्पिकदधिप्राप्तेस्तत्प्रख्यन्यायेन नामत्वोपपत्तेर्विधातव्यार्थत्वायोगान्न तेन धात्वर्थापतितस्य विधित्वस्य धात्वर्थादुत्तारणं सम्भवतीत्याशङ्क्य —**अशेषेष्युक्तम्**। कर्मविषयतत्प्रख्यान्यशास्त्रसद्भावेऽपि फले तत्प्रापणवैय्यर्थाभावान्नेह तत्प्रख्यन्यायोऽस्तीत्याशयः।

ननु विधेयान्तरोपादानेऽपि विशिष्टविध्युपपत्तेर्धात्वर्थाद्विधित्वानुत्तारणाद्दधिविशिष्टस्य होमस्य साधनत्वोपपत्तिरवसीयतइत्याशङ्क्याह—**न चेति**। तत् सन्निधेर्गुणार्थेन पुनः श्रुतिरित्यत्रोक्तं परामृष्टम्। ननु विशिष्टविध्ययोगेऽपि होमे दधिविध्युपपत्तेर्न गुणफलान्वयः सेत्स्यतीत्याशङ्क्याह—**यथा चेति**। दध्नो वाक्यान्तरात् प्राप्तेः, तण्डुलादिवैयर्थ्यापत्तेश्च तद्व्युदासार्थविध्याशङ्कायोगान्न होमदधिविधिरित्याशयः। गोदोहनादेः प्रणयनादौ विध्याशङ्कां दधिव्याजेन निरसितुम्—**फलेत्युक्तम्**। अतुल्यत्वोपपादनस्य प्रकृतोपयोगमाह—**तस्मादिति**।

गुणफलयोः कारकत्वेन क्रियां विनान्वयायोगात्, स दध्ना कुर्यादित्यनेन दधिविशिष्टभावनाविधावुक्ते नामपदयोर्भावनाभिधायित्वादाख्यातपदार्थस्य चाविधेयत्वाभ्युपगमाद्विधे-

1. क० पदद्वयसम्बन्धव्यापारात्।

यत्वाभ्युपगमे वा भावार्थाधिकरणोक्तश्रुतिबलीयस्त्वाद्धात्वर्थस्यैव फलान्वयापत्तिरित्याशङ्कार्थं कतमोऽत्रेति भाष्यं व्याचष्टे—**कतमोऽत्रेति**। फलान्वयस्याप्रवृत्तप्रवर्त्तनात्मकविधिविषयत्वाभावेऽप्यज्ञातज्ञापनात्मकविधिविषयत्वसद्भावात्प्राप्तायां च भावनायां फलान्वयज्ञापने, गुणान्वयज्ञापने च भावना या विधिप्रत्ययावृत्तिलक्षणवाक्यभेदापत्तेर्भावनाविध्यवगमे अपि धात्वर्थविध्यापादकहेत्वभावान्न धात्वर्थस्य फलान्वयापत्तिरित्याशयेन जुहुयादिष्युत्तरभाष्यं व्याचष्टे—**सिद्धान्तेति**। विधित्वम्-विधिसम्बन्धः विधेयतेत्यर्थः। नन्वित्याशङ्काभाष्यं व्याचष्टे—**नन्विति**।

ननु होमान्वयस्य श्रौतत्वोक्तावपि विधेयत्वानभिधानात्कथमनेन प्रश्नाभिप्रायविवरणमित्याशङ्क्याह—**पुरुषेति**। प्रत्ययान्तस्य पुरुषाव्यभिचारित्वाद्विशेषणानर्थक्यापत्तेः पुरुषानुष्ठेयत्वेन प्रयत्नं वदतीत्यर्थावगमाद्विध्यधीनत्वाच्चानुष्ठेयत्वस्य होमसम्बद्धं प्रयत्नं विधेयं वदतीत्यभिधानाद्धोमस्यापि विधेयतोक्ता भवतीत्याशयः। होमान्वयविधौ दधिपदानर्थक्यापत्तेस्तत्परिहारायैकपदोपादानलक्षणप्रत्यासत्तिरूपायाः श्रुतेः शब्दधर्मत्वेनाक्षरश्रवणलक्षणश्रुतितो दुर्बलाया बाधाद्युक्त एवेत्यभिधानार्थमत्रेति परिहारभाष्यं व्याचष्टे—**सत्यमिति**। अस्मदीयेष्वितिभाष्यं स्पष्टत्वादव्याख्याय युष्मदीयेत्विति भाष्यं पूर्वोक्तदधिश्रुतिबाधातिशयोपपादनार्थत्वेन प्रश्नपूर्वं व्याचष्टे—**कथमिति**। श्लोकं व्याचष्टे—**स्तोकार्थेति**। तस्मादिति पूर्वपक्षनिरासोपसंहारभाष्यं स्पष्टत्वादव्याख्याय, स्वपक्षसाधुत्वोक्त्यर्थं 'गुणेति' भाष्यं व्याचष्टे—**गुणेति**। अवश्यं हीति भाष्यं शङ्कोत्तरत्वेनावतारयति—**तत्रेति**। एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कथमिति**। श्लोकं व्याचष्टे—**प्रत्ययस्तावदिति**। एवमपि धातुविशेषस्य कथं वक्तव्यतेत्याशङ्क्य—**ततश्चेत्युक्तम्**। अप्राप्तार्थधातूच्चारणे धात्वर्थविध्यापत्तेर्गुणफलान्वयरूपविवक्षितार्थालाभात्प्रकरणप्राप्तहोमानुवादिधातूपादानमङ्गीकृतमित्याशयः। होमशब्दस्तद्वाचिधातुलक्षणार्थः।

ननु जुहोत्युपादानेऽपि निराश्रयस्य गुणस्य फलसाधनत्वायोगाद्विधित्सितस्याश्रयाश्रयिसम्बन्धस्यापि विध्यापत्तेर्वाक्यभेदप्रसङ्गाज्जुहोत्यनुपादाने तु पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीयादित्यादिवद्धोमं कुर्वता दध्नेन्द्रियं कुर्यादित्याश्रयाश्रयिसम्बन्धविधायिवाक्यकल्पनेन गुणफलान्वयोपपत्तेर्जुहोत्युपादानमयुक्तमित्याशङ्क्याह—**दधिसम्बन्धोऽपि चेति**। वाक्यभेदापत्तेः श्रुतस्य वाक्यस्याश्रयाश्रयिसम्बन्धविध्यशक्तित्वेन वाक्यभेदापत्तेः श्रुतस्य वाक्यस्याश्रयाश्रयिसम्बन्धविध्यशक्तित्वेन वाक्यकल्पनाप्रतिबन्धकत्वादधिकारलक्षणप्रकरणोपस्थापितहोमान्वयविधायकादेव वाक्यात्प्राप्तस्याश्रयाश्रयिसम्बन्धस्यानुवादान्न वाक्यभेदापत्तिरित्याशयः। अनेकचैकस्य विधेः सम्बन्धद्वयविध्यसामर्थ्यं पूर्वपक्षोक्तं परिहृतम्।

नन्वनुवादमात्रार्थत्वे जुहोतेरविवक्षितार्थत्वादानार्थक्यं स्यादित्याशङ्क्याह—**यथा चेति**। अर्थाविवक्षायामपि प्रत्ययानुग्रहार्थवत्त्वेनार्थवत्त्वं भविष्यतीत्यर्थः।

नन्वित्याशङ्काभाष्यं प्रत्ययानुग्रहायाप्युच्चारिताद्धातोः प्रतीतस्य होमस्याश्रयत्वेनाप्यवश्यविधेयतया ग्रहैकत्ववद्विध्यसंस्पर्शलक्षणाविवक्षाकारणाभावाद्विधानापत्तेस्तस्यैव भावार्था-

धिकरणन्यायात्फलसाधनं स्यादित्यभिप्रायत्वेन व्याचष्टे—**नन्विति**। विध्यसंस्पर्शलक्षणा-विवक्षाकारणाभावेऽपि वाक्यभेदापत्तेरनुवाद्यत्वलक्षणाविवक्षाकारणासद्भावेनाऽविधेयात्वान्न फलसाधनत्वापत्तिरित्यभिप्रायं 'नेति' परिहाभाष्यं व्याचष्टे—**नैष दोष इति**। करोत्यर्थस्य होमान्वयप्रतीतावपि तन्निरपेक्षस्य विधेयत्वानपायात् तन्मात्रविधानेन च गुणफलान्वयरूप-प्रयोजनसिद्धेः, कल्पविधिप्राप्तभावनावच्छेदकगुणाश्रयत्वाद्वा भावनाविशेषणत्वानुवादोपपत्तेर्न विधेयत्वापत्तिरित्यर्थः। भाष्यमपि होमान्वितोऽपि करोत्यर्थः शुद्ध एव विधेयः होमान्वय-रूपस्तु करोत्यर्थविशेषो अनूद्यते केवलम्। ननु होमविशिष्टं प्रयत्नं कुर्यादिति करोत्यर्थविधौ होमविशिष्टतानूद्यमाना करोत्यर्थस्य विधेयतां बाधते, येन साऽपि विधेया स्यादिति व्याख्येयम्।

नन्वित्यगृहीताभिप्रायशङ्काभाष्यं व्याचष्टे—**नन्विति**। प्रतीयमानत्वरूपेणापरित्यज्य-मानो होमो विधेयोऽपि भवन्करणीभवतीत्यपिशब्दसूचितोऽर्थः। परिहाराभिप्रायविवरणा-र्थमुच्यतइति भाष्यं व्यचष्टे—**सिद्धान्तेति**। शब्दसामर्थ्याद्धोमान्वितभावनाप्रतीतावपि दधिपदानर्थक्यापत्तेर्होमस्य फलसाधनत्वेन विध्ययोगात्साधनत्वप्रतीतिर्भ्रान्तेत्यर्थः। साध्य-त्वेनाविधेयत्वोक्तेः दृष्टान्तार्थत्वं वक्तुम्—**यथैवेत्युक्तम्**। दधिपदेत्यनेन वाक्यशब्दस्य वाक्योपात्तदधिपदानर्थक्यापत्तिलक्षणहोमविधिनिरासहेतूक्त्यर्थतोक्ता। दध्यवच्छिन्नताश्रित-शब्देनोक्तेत्यंशशब्देन सूचितम्। होमवैशिष्ट्यप्रतीतेस्तर्हि का गतिरित्याशङ्कानिरासार्थता विशिष्टशब्दस्य यथा चेत्यनेनोक्ता।

ननु होमस्याविधेयत्वे दध्नः साक्षात्फलसाधनत्वापत्तेस्तस्येति सूत्रावयवेन होमस्या-श्रयत्वोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य, यत एव दध्यवच्छिन्ना भावना गम्यते, अत एव धात्वर्थान-पेक्षस्य गुणस्य भावनावच्छेदकत्वायोगाद्धोमद्वारा गुणस्य फलसाधनतोपवर्णनोक्तेत्यभिधा-नार्थमत एवेति भाष्यं व्याचष्टे—**यथेति**। राजदृष्टान्तेन द्वारवाचिताश्रयशब्दस्योपवर्णनो-क्तेति सूचनार्थं दृष्टान्तोऽप्युदाहृतः। तस्मादिति सिद्धान्तोपसंहारे भाष्यं स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम्। कथमितीति कर्त्तव्यताप्रश्नभाष्यं द्वारतयान्वितेन धात्वर्थेनैव गुणस्यानुग्रहसिद्धेः इतिकर्त्तव्यतानाकाङ्क्षत्वादयुक्तमाशङ्क्योपपादयितुमाश्रयाश्रयिसम्बन्धोंऽशत्रयातिरिक्तः, कर-णांशान्तर्गतो वेति पृच्छति—**कः पुनरिति**। द्वारान्वयस्यांशत्रयातिरिक्तत्वे गुणस्य करणत्वे द्वारेणैवानुग्रहसिद्धेः कथम्भावायोगात्तत्सिद्धयर्थमतिरेकानतिरेकौ विचार्यावित्याशयः। प्रश्नार्थं विवृणोति—**किमिति**।

व्यतिरेकपक्षं गृह्णाति—**केचित्तावदिति**। प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कथमिति**। गुणक-रणिकायां भावनायां द्वारांशेनैव कथम्भावाकाङ्क्षानिवृत्तौ वा व्यतिरेकाव्यतिरेकचिन्ता-नर्थक्यापत्तेर्धात्वर्थकरणभावनांशत्रयातिरेकप्रदर्शनार्थश्चतुर्थशब्दः। श्लोकं व्याचष्टे—**यत्रेति**। धात्वर्थेन गुणस्य करणत्वनिष्पादने सिद्धान्तवद्धात्वर्थस्य करणांशान्तर्गत्यापत्तेः करणत्वस्य साधकतमत्वलक्षणत्वात्, तमबर्थस्य चातिशयस्यापेक्षिकत्वादपेक्ष्यमाणानु-

ग्राहकधात्वर्थाभावेऽनुपपत्तिरभिप्रेता । आपेक्षिकत्वातिशयरूपस्य करणत्वस्यापेक्ष्यमाणेनानुग्राहकेणोपजननमभिप्रेतं करणांशातिरेके च सति आश्रयस्य करणत्वोपजननेन करणानुग्राहकतयाङ्गत्वात्प्रकरणेनाश्रयलाभोपपत्तिरित्याह—**तत्रेति** । अङ्गत्वादेव च प्रकरणेनाश्रयलाभोपपत्तेश्चोदनालिङ्गभूतेन धातुनाऽनुवादोपपत्तिरित्याह—**तथा लब्धश्चेति** । कथं पुनः करणांशातिरेकमात्रेणाङ्गत्वसिद्धिरित्याशङ्क्याह—**पदेति** । नामपदमस्येति नामार्थो बहुव्रीहिणोक्तः । स्वमतेन करणांशेऽव्यतिरेकमाह—**शक्यते त्विति** । प्रविततरत्वमुपपादयति—**धात्वर्थेन हीति** । धात्वर्थस्य व्यापाररूपत्वात्साक्षात्कारकत्वोपपत्तेर्भावनावच्छेदकत्वोपपत्तेश्च शीघ्रं कारणाकाङ्क्षानिवर्त्तकत्वम्, गुणस्य त्वव्यापाररूपत्वात्काष्ठादिवत्साक्षात्कारकत्वानुपपत्तेर्भावनावच्छेदकत्वानुपपत्तेश्च भावनाख्यक्रियावच्छेदकधात्वर्थसम्बन्धोत्तरकालं करणत्वनिष्पत्तेश्चिरेण करणाकाङ्क्षानिवर्त्तकतेत्यर्थः । करणांशान्तर्गतिमाश्रयस्योपसंहरति—**तस्मादिति** ।

आश्रयस्यांशत्रयातिरेकनिरासः किमर्थं इत्यपेक्षायां कथम्भावोपपत्तिप्रयोजनत्वोक्तिपूर्णं संस्थाधिकरणन्यायेन सर्वेषां गुणानां काम्यानामाश्रयैः सह सामानविध्यनिरासात्तत्रैव गुणस्य कर्मसादृश्याभावेन तद्धर्मतातिदेशायोगादितिकर्त्तव्यताविरहेण करणत्वानिर्वाहाशङ्कानिरासार्थमाश्रयभूतकर्मधर्मादिदेशस्य वक्तव्यत्वात्सन्निधानात्तु नित्यस्येतिकर्त्तव्यतयेति गम्यत इति च संस्थाधिकरणभाष्ये वक्ष्यमाणत्वादिहाभिधानमयुक्तं प्रासङ्गिकाभिधानेऽपि वा यस्मादेवं चायं जुहोत्यर्थोऽनुवाद इत्यादिभाष्येणाधिकरणशेषे समासेऽभिधेयत्वात्, ततः प्रागयुक्तमभिधानमित्याशङ्काद्वयं निरस्यति—**तेनेति** । एतदधिकरणव्युत्पाद्यगुणकरणत्वनिर्वाहायेहैवाश्रयधर्मातिदेशस्य वक्तव्यत्वेन प्रसक्तत्वादापन्नत्वादग्निहोत्रस्य चाश्रयत्वेनोपस्थानाद्विध्यन्ताश्रयित्वेऽभिहिते, तस्य स्वयं फलवत्त्वेन गुणं प्रति द्वारत्वाख्याश्रयत्वायोग्यत्वादन्यस्य चाश्रयत्वयोग्यस्य होमस्याप्रकृतत्वादनेनैव वाक्येनाश्रयविधौ वाक्यभेदापत्तेर्गुणफलान्वयानुपपत्तिरित्याशङ्काशेषस्याग्निहोत्रविध्यन्तातिदेशोक्तेः । प्रागनुत्थानात्तन्निरासार्थम् । यस्मादेव चेत्यादिभाष्यशेषं विनाप्यधिकरणपर्यवसानोपपत्तेस्ततः प्रागस्मिन्नधिकरणेऽभिधानं युक्तमित्याशयः ।

यद्यपि च संस्थाधिकरणे सामानविध्ये निरस्ते कुतस्तर्हीतिकर्त्तव्यताप्राप्तिरित्यपेक्षायामाश्रयगतेतिकर्त्तव्यतानिर्देशो वक्ष्यते, तथापीह गुणफलान्वयनिर्वाहार्थं वक्तव्य एवेति प्रयोजनभेदेनापौनरुक्त्यसूचनार्थं संस्थाधिकरणविषयत्वोक्तिः ।

यद्वा संस्थानां काम्यत्वेनानित्यत्वान्नित्यधर्मान्वयानुपपत्तेः सामानविध्यायोगाद्विकारतान्यदीयधर्मग्राहितेति विकारशब्देनान्यदीयधर्मग्राहित्वेऽभिहिते कस्यासौ विकार इत्यपेक्षिते स नित्यस्येति सूत्रावयवेन नित्यस्याश्रयस्योक्थ्यादिः काम्यो गुणो विकार इति नित्यत्वसाम्येनाश्रयस्य नित्यधर्मान्वयाविरोधादित्येवं 'विकारास्तु कामसंयोगे स नित्यस्य समत्वादि'ति संस्थाधिकरणसिद्धान्तसूत्रस्य व्याख्यान्तरसूचनार्थः ।

आश्रयधर्मातिदेशस्य वक्तव्यत्वमुक्त्वा तदभिधानार्थंस्यानथेति भाष्यस्य किं केन कथं भावेऽप्यतिरिक्ताश्रयापेक्षावादिव्याख्यां दूषणायोपन्यस्यति—**तत्रेति**। दूषयति—**तत्त्विति**। स्वमतेन षष्ठीसमासत्वेन व्याचष्टे—**अत इति**। प्रश्ने कुत इति भाष्यं नासौ साध्यस्य भवतीति साधनेन सम्बन्ध्यन्तइत्यादिसंस्थाधिकरणभाष्ये साध्यभूतधात्वर्थान्वयद्वारा साधनभूतस्य गुणस्येतिकर्त्तव्यतान्वयस्य वक्ष्यमाणत्वाद् गुणस्य साक्षादितिकर्तव्यतान्वया-योग्यत्वावगतेः कर्त्तव्यताविशेषत्वाच्चेतिकर्त्तव्यतायाः कर्त्तव्यतापरपर्यायानुष्ठेयरूपेण धात्वर्थेनैवान्वययोग्यत्वप्रतीतेः। सिद्धरूपस्य गुणस्येतिकर्त्तव्यतान्वयो न सम्भवतीतित्यभि-प्रायत्वेन व्याचष्टे—**कुत इति**। करणत्वप्रयुक्तत्वादितिकर्त्तव्यतान्वयस्य साक्षात्करणत्वा-भावाद् गुणस्य साक्षादितिकर्त्तव्यतान्वयेऽपि धात्वर्थद्वारा करणत्वेन तद्वारेतिकर्त्तव्यता-न्वयाविरोधात्कर्त्तव्यताविशेषत्वोक्तेश्चानुष्ठेयवाचित्वे धात्वर्थस्याप्यनुष्ठेयत्वेनेतिकर्त्तव्यतां प्रति प्रयोजकत्वापत्तेरपूर्वप्रयुक्त्युक्तिबाधप्रसङ्गाद् भाव्यान्वयिवानित्वावगतेर्गुणस्यापि करणत्वेन भाव्यफलापूर्वान्वयाविशेषाद्धात्वर्थवदितिकर्त्तव्यतान्वयो युक्त एवेत्याशयः। फलसाधनस्येत्युत्तरभाष्यं व्याचष्टे—**फलेति**। गुणस्येतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षित्वेऽप्यग्निहोत्र-गतायाः कथम्प्राप्तिरित्याशङ्कानिरासार्थं 'यस्याश्चेति' भाष्यं सन्निधानशब्दस्य प्रकरणे, स्थाने वा प्रसिद्धेः, ताभ्यां चेतिकर्त्तव्यताप्राप्तौ संस्थाधिकरणनिराकरिष्यमाणसामान-विध्यापत्तेरतिदेशहेतुचोदनालिङ्गोक्तिविरोधापत्तेश्चायुक्तमित्याक्षिपति—**अस्याश्चेति**। चोद-नालिङ्गस्यापि प्रकृतविशेषसन्निधावनेनैवातिदेशहेतुत्वादतिदेशहेतुत्वनैवेह सन्निध्युक्तिर्न सामानविध्यमापादयति। जुहोतेस्तु नारिष्टादिसाधारण्येन चोदनालिङ्गत्वायोगादभ्युच्चय-हेतुत्वेनोपन्यास इत्याशयेन समाधत्त—**तद्इति**। स्वातन्त्र्येणेतिकर्त्तव्यतासन्निधाने समान-विध्यापत्तेस्तन्निरासार्थं होमद्वारत्वेऽभिहिते होमस्यैव कथं सन्निधिरित्यपेक्षायाम्—**आश्रयतयेत्युक्तम्**।

नन्वतिदेशस्य प्रकृतिविशेषमात्रज्ञानात्सिद्धेराश्रयत्वेनाग्निहोत्रस्य सन्निधानादिति वाच्यइतिकर्त्तव्यतासन्निध्युक्तिस्त्वनर्थिकेत्याशङ्क्याग्निहोत्रार्थमेवानुष्ठितायाः प्रसङ्गात्तन्त्रमध्य-पतितं दध्यपि प्रत्युपकारसूचनायेतिकर्त्तव्यतासन्निध्युक्तिरिति सूचनाय—**उपकारेत्युक्तम्**। दध्नः करणत्वनिष्पादनलक्षणोपकारप्रदानं यथा स्वफलसिद्धयर्थमेवानुष्ठितेन होमेन प्रसङ्गात् क्रियते, तथेतिकर्त्तव्यतयापि होमसन्निधापितया प्रसङ्गादुपकारः क्रियतइति प्रकारवाचिना क्रमशब्देनोक्तम्। चोदनालिङ्गस्याभ्युच्चयमात्रर्थत्वं चशब्देनोक्तम्। जुहोतेर्वा नारिष्टादि-साधारण्याच्चोदनालिङ्गत्वाद् प्रागपि तदर्थस्य प्रत्यभिज्ञायमानस्याग्निहोत्राख्यसाधारण्या-च्चोदनालिङ्गताभिप्रेता।

नन्वग्निहोत्रस्य स्वयं फलवत्त्वेन गुणं प्रत्याश्रयत्वानर्हत्वादनेनैव वाक्येनाश्रयत्वयोग्य-होमान्तरविधौ वाक्यभेदः स्यादित्याशङ्कानिरासार्थं यस्मादेव चेति भाष्यमप्राप्तत्वात्प्रयो-जनाभावाच्चानुवादानुपपत्तेरयुक्तमाशङ्क्य व्याचष्टे—**यस्मादेव चेति**। प्रकरणात्प्राप्तिः चोदनालिङ्गत्वं च प्रयोजनमित्यर्थः। न विद्यते विधायकोऽस्येति बहुव्रीह्यर्थव्याख्याना-

यास्येत्युक्तम् । वाक्यभेदापत्तेः श्रुतेन प्रत्ययेनाश्रयत्वाविधानेऽप्युत्पत्तिफलान्वयवत्प्राकरणिकाद्विध्यन्तरादाश्रयत्वप्राप्तेर्विधिं च विना प्रकरणावगतेऽप्याश्रयान्वये पुरुषस्याप्रवृत्तेरवश्यकल्पानुमानिकाश्रयविधायिप्रत्ययसद्भावाद्विधायकप्रत्ययराहित्योक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्योत्पत्ति - फलान्वयविषयएव विधायाकाभावो विवक्षितो नाश्रयत्वविषय इति परिसंख्यारूपेण सूचयितुमुत्पत्तेः फलं वा—प्रतीत्युक्तम् । न चेति भाष्यं गुणकामवाक्यस्य कर्मोत्पत्तिवाक्यांनन्वयात्, तत्प्राप्तकर्मानुवादकत्वं न सम्भवतीत्याशङ्कोत्तरत्वेन व्याचष्टे—केनेति । उभयाकाङ्क्षाल :णान्वयाभावेऽपि गुणकामस्याश्रयभूतकर्मोत्पत्त्यपेक्षत्वादुत्पत्तिवाक्यान्वयोऽस्तीत्याशयः । परिसंख्यासूचनार्थं गुणकामवाक्यस्य कर्मफलान्वयाविधायित्वे प्रागुक्तेऽपि फलवाक्यान्वयाभावेन तत्प्राप्तकर्मानुवादस्यानाशङ्क्यत्वात्फलं प्रति वा विधायकं वाक्यं नास्तीति व्याख्या न कृता ।

ननु गुणकामवाक्ये फलवाक्यप्राप्तहोमानुवादसिद्धयर्थं नान्यद्धोमस्य फलविधायकं वाक्यं नास्तीत्यवाच्येऽपि होमस्य फलापेक्षत्वात्, तस्यैवेन्द्रियं फलं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासायाऽस्य भाष्यस्यैषोऽर्थः कैश्चिद् कृतः । स किमित्युपेक्षित इत्याशङ्क्योपन्यासपूर्वं तद्व्याख्यां दूषयति—के चित्त्विति । होमस्याविधेयत्वे विहिते फलविध्याशङ्कानुत्थानादप्रस्तुतोपन्यासापत्तिरित्याशयः । तस्मादित्याशङ्काशेषनिरासोपसंहारभाष्यं भिन्नवाक्यतया भासमानमेकवाक्यतया व्याचष्टे—तस्मादिति । अग्निहोत्रवाक्यप्राप्तकर्मानुवादित्वेनेन्द्रियवाक्यस्य कर्मान्तरविधायित्वाभावान्न गुणफलान्वयविधायित्वानुपपत्तिरिति भाष्यार्थे दर्शिते, जुहोतेः प्रत्ययानुग्रहार्थत्ववच्चोदनालिङ्गत्ववच्चाश्रयलिङ्गत्वमपि फलमनुवादार्थवत्त्वाय सूचयितुं गुणफलात्मककारकान्वयस्य क्रियात्मकभावनाद्वारत्वाद् गुणस्य भावनावच्छेदकतया धात्वर्थद्वारत्वाद्धोमस्यानुग्राहकतोक्ता ।

गुणधात्वर्थयोः साध्यसाधनान्वयस्य वा फलसाधनतेति पक्षान्तरोक्त्यर्थमथ वेति भाष्यं व्याचष्टे—अथ वेति । येन कारणेन दध्नः फलमुक्तम्, तेनैव सम्बन्धादित्युक्ते किं तत्कारणमित्यपेक्षिते विवक्षितशब्दोक्तं दधिशब्दोप्रमादपाठत्वे कारणमुक्त्वा दध्न एव तर्हि फलं युक्तमित्याशङ्क्य—केवलाच्चेत्युक्तम् । अस्मिन्पक्षे वाक्यभेदं शङ्कते—अत्र त्विति । अत्र पक्षेऽनेनैव वाक्येन दधिहोमान्वयविधानात्तस्य फलान्वयविधानाच्च वाक्यभेदः स्यादित्युक्ते, प्रकरणाद्धोमान्वयो भविष्यतीत्याशङ्क्य—दधिफलसम्बन्धे चेत्युक्तम् । गुणस्य फलान्वयोत्तरकालं तदन्यथानुपपत्त्या सामान्यतो धात्वर्थान्वयेऽवगते तद्विशेषापेक्षायां प्रकरणाद्धोमाख्यो विशेषो लभ्यते नान्यथेत्याशयः । दध्ना जुहोतीति वाक्यात्तर्हि होमान्वयो भविष्यतीत्याशङ्क्य—पूर्वोक्तेनेत्युक्तम् । 'गुणादीनां त्वसम्बन्धादि'ति वार्तिकोक्तेन न्यायेनेन्द्रियवाक्यस्य दधिहोमान्वयकारिवाक्यैकवाक्यत्वाभावान्नेन्द्रियवाक्ये तत्कारितहोमान्वयग्रहणमित्याशयः । तस्मादाद्यैवेन्द्रियवाक्यव्याख्या युक्तेत्याह—अत इति । अत्रैव समाप्तिभाष्यानुगुण्यमाह—तथा चेति । का तर्ह्यत्र वेति भाष्यस्य गतिरित्याशङ्क्याह—तेनेति । युक्तिशून्योत्प्रेक्षाविकल्पः । एवं तु समस्तभाष्यभङ्गापत्तेराद्यपक्षोप-

संहारैकवाक्यत्वेन व्याचष्टे—अन्ये त्विति। उपसंहारे दधिशब्दस्य विवक्षितत्वादिति हेतूक्त्यानर्थक्यमाशङ्क्य—सोपपत्तिकइत्युक्तम्। सम्बद्धशब्देन विशेषणप्रधानेन सम्बन्धोपसर्जनदधिनिर्देशात्समस्तभाष्यैकवाक्यत्वाविरोध इत्याशयः। भाष्यस्थेतिकरणव्याख्यानायेति शब्दः।

स्वमतोपपादनाय वाक्यभेददूषणपरिहारं प्रतिजानाति—शक्येति। प्रश्नपूर्वं परिहरति—कथमिति। तृतीयोक्तस्य करणत्वस्येन्द्रियभावनाद्देशेन विधानात्तस्य च क्रियासम्बन्धिरूपत्वादर्थापत्त्या प्रतिसम्बन्धिरूपक्रियाप्रतीतेः सम्बन्धावगमान्न वाक्यभेद इत्याशयः। क्रियात्मकभावनावच्छेदकधात्वर्थविशेषानिर्धारणं मात्रशब्देनोक्तम्।

ननु वाक्यभेदाभावेऽपि श्रुतस्य दध्नो विधेयत्वसम्भवे गम्यमानस्य सम्बन्धस्य विधेयत्वकल्पना न युक्तेत्याशङ्क्याह—शक्तीति। करणशक्तिरेव क्रियाकारकरूपार्थद्वयाधीननिरूपणत्वात्सम्बन्धशब्देनोपचरितेत्याशयः।

नन्वेवमपि करणत्ववद्दध्नोऽपि विधेयत्वात्तस्य च धर्मित्वेन प्राधान्यात्करणत्वविशिष्टस्य दध्नः फलहेतुत्वं युक्तम्, न दधिविशिष्टस्य करणत्वस्येत्याशङ्क्याहेतीतिशाब्दे व्यवहारे शाब्दस्यैव प्राधान्यस्य विवक्षितत्वात्सम्बन्धस्यैव विभक्त्योक्तत्वेन प्रत्ययार्थतया शब्दतः प्राधान्यात्फलहेतुता युक्तेत्याशयः। नन्वेवमपि होमाख्यधात्वर्थविशेषानवच्छिन्नक्रियामात्रसम्बन्धस्य फलसाधनत्वविधौ धात्वर्थविशेषानपेक्षणाद्धोमावच्छिन्नक्रियासम्बन्धस्य तु विधौ प्रकरणालोचनात्प्रागेव होमलाभाभ्युपगमापत्तेर्नोभयथापि प्रकरणाद्धोमलाभोपपत्तिरित्याशङ्क्याह—तत्र त्विति। यथा वैश्वदेवीशब्देनैव सन्निहितस्य द्रव्यविशेषस्य देवतान्वयेऽभिहितेऽप्यामिक्षाशब्दो विशेष्यान्वयार्थः, तथेहापि धात्वर्थविशेषानवच्छिन्नायां भावनायां दध्नः करणत्वायोगाद्वाक्यभेदापत्तेश्च वाक्योपात्तेन जुहोतिनेदन्तया धात्वर्थविशेषानुपनयनाच्चप्रकरणाद्धात्वर्थविशेषो लप्स्यते। तदवच्छिन्नायां भावनायां करणं सद्दधिफलसाधनमिति प्रकरणल्लभ्यधात्वर्थविशेषावच्छिन्नया क्रियया सह दध्याख्यकारकसम्बन्धस्य फलान्वये वाक्येनावगते कोऽसौ क्रियात्मकभावनावच्छेदको धात्वर्थविशेषः प्रकरणलभ्य इति निर्द्धारणापेक्षायां प्रकरणाद्विशेषनिर्धारणेत्यर्थः। प्राकरणिकहोमलाभोक्तेर्भाष्योपपादनं प्रयोजनमाह—तेनेति।

ननु दध्नेन्द्रियं भावयेदिति फलभावनायां दध्नः करणत्वाभिधानाद्धोमभावनां प्रति करणत्वानगतेः फलभावनाकरणत्वलक्षणस्यैव तु क्रियाकारकान्वयस्य फलहेतुत्वाभ्युपगमे कर्मफलान्वयेऽपि फलभावनाकरणाभूताद्धोमात्फलमित्यपि वक्तुं शक्यत्वात्क्रियाकारकान्वयस्य फले विधानापत्तेरन्यतरप्राप्तौ च, सम्बन्धविधेर्जाघन्यविकरणे निषेत्स्यमानत्वाद्धोमप्राप्तौ दधिहोमसम्बन्धविध्यनुपपत्तेरप्राप्तौ वा होमस्यापि विध्यापत्तेरयुक्तमिदं पक्षान्तरमित्याशङ्क्याह—ततश्चेति। समस्तभाष्यसमर्थनायाऽयुक्तमपि पक्षान्तरं प्रौढ्यौपपादितमित्याशयः।

समाप्तिभाष्यं कथं तर्हि समर्थनीयमित्याशङ्क्य, द्वेधा समर्थयते—**समाप्तीति।** विशेषणभूतसम्बन्धप्रधानोऽयं निर्देश इत्याशयः। ननु कारकाणामन्योन्यान्वयायोगाद् गुणस्य साक्षात्फले विध्यनुपपत्तेर्भावनायां विधेयत्वात्, प्राप्तायां च तस्यां फलान्वये, गुणान्वये च ज्ञाप्यमाने सकृदुच्चरितस्य वाक्यस्यानेकार्थपरत्वायोगादावृत्तिलक्षणवाक्यभेदापत्तेस्तत्परिहारार्थं गुणफलान्वितापूर्वभावनाविध्यभ्युपगमेऽपि गौरवलक्षणो वाक्यभेदः स्यादित्याशङ्कते—**नन्विति।** पदद्वयान्वयव्यापारस्य पदद्वयसमभिव्याहारलभ्यत्वेनैकार्थंवाच्यनेकपदकल्पनाकार्थापत्तिप्रसवशक्तिकल्पनालक्षणगौरवानापादकत्वादनेकार्थविशिष्टैकभावनाविधायकस्य विधिप्रत्ययस्य नैकविधिकल्पकार्थापत्तिप्रसवशक्तिकल्पनाद् गौरवं वाच्यम्। तच्चेह फलान्वयस्याविधेयत्वान्नास्तीत्याशयेन प्रतिज्ञाहेतुप्रश्नपूर्वं परिहरति—**नैष इति।** श्लोकं व्याचष्टे—**बहवोऽपीति।** फलभावनायां प्रवृत्तेर्विध्यनपेक्षत्वोपपादनार्थम्—**यो ह्यभ्युक्तम्।** ननु भावनास्थेऽपि विधित्वे गुणार्थत्वाद्विधेर्भावनायामतात्पर्याद्विधेयस्य च गुणस्य करणत्वात्क्रियात्मकभावनाकाङ्क्षत्वेऽपि प्रकृतस्वर्गफलकभावनान्वयान्नैराकाङ्क्ष्योपपत्तेर्भाव्यानाकाङ्क्षत्वादनुवाद्यायाश्च भावनाया भाव्येन विशेष्टुमशक्यत्वाद्भावनामात्रानुवादेन दधिविध्यापत्तेः, इन्द्रियविशिष्टभावनानुवादोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य, दधिविशिष्टायां भावनानुवादोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य दधिविशिष्टायां भावनायां विधेस्तात्पर्यं वक्तुम्—**भावनां विधत्तइत्युक्तम्।** विधिमात्रार्थस्यापि प्रत्ययस्य स्वारसिकफलांशप्रवृत्त्यनुमोदत्वाभिप्रायेणानुवादकत्वोक्तेर्नैकस्य प्रत्ययस्य विध्यनुवादार्थत्वविरोधः।

ननु गुणकामेषु भावनाविध्यभ्युपगमे विहितविध्ययोगाद्भावनाभेदः स्यात्, विधेयायाश्च भावनायाः करणाकाङ्क्षायां प्रत्यासत्तेर्धात्वर्थस्यैव कारणात्वान्न गुणात्फलं स्यादित्याशङ्काद्वयं निरस्यन्नधिकरणार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति।** प्राप्तायां भावनायां गुणफलयोर्द्वयोरन्वयायोगादन्यतरानर्थक्यापत्तेः, अभावनान्तरविध्यभ्युपगमेऽपि धात्वर्थस्य प्राप्तत्वेनाविधेयत्वात्करणत्वानुपपत्तेर्गुणस्यैव करणत्वम्, विधेयत्वादेव च धात्वर्थस्याभेदात्तस्यैव चेह कर्मशब्देनोक्तत्वादकर्मान्तरता युक्तेत्याशयः ॥ २६ ॥

इत्यैकादशमिन्द्रियकामाधिकारणम् ॥

भा० प्र०—पूर्वकथित पूर्वपक्ष के समाधान में सिद्धान्ती का कहना है कि फल सम्बन्ध रहने पर अपूर्व ही कर्म रहेगा—यह बात नहीं है। कारण, "अतुल्यत्वात् तु वाक्ययोः", "अग्निहोत्रं जुहोति स्वर्गकामः" इस वाक्य में फलश्रुति है एवं "दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्" इस वाक्य में भी फलश्रुति है और ये दोनों वाक्य समान नहीं हैं, क्योंकि समीक्षा करने पर शुद्ध कर्म से फल लाभ होता है। 'दध्ना' इत्यादि वाक्य की समालोचना करने पर इस स्थल में गुण से फल की उत्पत्ति कही गयी है। इसलिए "गुणे तस्य प्रतीयेत"—"दध्ना इन्द्रियकामस्य" इस वाक्य में पूर्वोपदिष्ट कर्म का ही गुण में फल सम्बन्ध प्रतीत होने से यह अपूर्व कर्म नहीं है, अपितु गुणफल विधि है। फल के

उद्देश्य से दधिरूप गुण विहित होता है। यदि यह कहा जाय कि गुण अक्रियात्मक होता है अर्थात् क्रियास्वरूप नहीं होता है, अतः फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि होमरूप क्रिया का आश्रयण कर दधिद्रव्यरूप गुण भी उपदिष्ट फल का जनक होगा। अतः इस स्थल में फल के उद्देश्य से गुण का विधान किया गया है। यदि कहा जाय कि "दध्ना जुहोति" इस वाक्य में पूर्व से ही गुण का विधान किये जाने से वह प्राप्त है। इसलिए इस स्थल में पुनः दही का विधान नहीं हो सकता है, क्योंकि, अप्राप्त का ही विधान होता है, प्राप्त का विधान नहीं होता है। दही रूप गुण इन्द्रियरूप फल का जनक है, वह अज्ञात होने से इस स्थल में इन्द्रियरूप फल के साथ दहीरूप गुण का सम्बन्ध बोधित होता है। किन्तु इसको अपूर्व कर्म की विधि मानने पर मत्वर्थ लक्षणा अथवा गौरव दोष होता है, क्योंकि इसमें "दधिमता होमेन इन्द्रियं भावयेत्" इस प्रकार का वाक्य होना चाहिये।

इस अधिकरण से यह लाभ है कि पूर्वपक्षी के मत में किसी भी समय होम किया जा सकता है, कारण, यह फल के लिए अनुष्ठित होता है। सिद्धान्ती के मत में अग्निहोत्र के समय सायंकाल एवं प्रातःकाल समय में ही नित्य होम में दही का प्रयोग करना चाहिये।

"वाक्ययोः अतुलभ्यत्वात्" = उत्पत्ति विधि एवं गुणविधि का दोनों वाक्य समान नहीं हैं, अतः "तु" = पूर्वपक्ष व्यावर्तक है, "तस्य" = उसका अर्थात् होम का, "गुणे प्रतीयेत"—गुण में फलसम्बन्ध प्रतीत होगा। एकादश इन्द्रिय कामाधिकरण।

दध्यादि द्रव्य का सफलत्वाधिकरण। सिद्धान्त ॥ २६ ॥

अथ द्वादशं रेवत्यधिकरणम्

[१२] समेषु कर्मयुक्तं स्यात् ॥ २७ ॥ सि०

शा० भा०—'त्रिवृदग्निष्टुदग्निष्टोमः। तस्य वायव्यास्वेकविंशमग्निष्टोमसाम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत' इति। एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोम-साम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत' इति। अत्रायमर्थः सांशयिकः—किं तस्यैवाग्निष्टुतोऽग्निष्टोमस्य गुणाद्वा[1]रवन्तीयात्पशवः फलम्। एतेन यजेतेत्यनु-वादः। अथ किम् 'एतेन यजेतेति विदितस्यैतद्वचनम्, नाविदितस्य। अतो न विध्यन्तरम्। पशुकाम एवं[2] यजेतेत्युच्यते, न यजेतेति। कथं कृत्वा वारवन्तीयं कृत्वेति। अपि चैतस्यैवेति विस्पष्टमकर्मान्तरवचनम्। तस्माद्गुणात्फल[3]मित्येवं प्राप्तम्। एवं प्राप्ते।

---

१. ब. गुणेवारवन्तीये। २. ब. एवं कृत्वा। ३. ब. गुणात्फलमिति एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—

समेष्वेवंजातीयकेषु भिन्नवाक्येषु कर्मयुक्तं फलं भवेत् एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयं कृत्वेति। न ह्येतस्य रेवत्यः सन्ति, यास्वस्य वारवन्तीयं भवेत्। तत्र रेवत्यो भवन्ति, तासु च वारवन्तीयं विधीयेतेति वाक्यं भिद्येत। अथोच्यते—अस्य पूर्वा रेवतीरुपादाय तासु च वारवन्तीयं कृत्वा, एतेन यजेतेत्यनुवदतीति। तथाऽग्निष्टोमसामेति नावकल्प्येत। अथाग्निष्टोमसामकार्ये भवतीत्युच्यते, एतस्यैवेत्येतदविवक्षितं स्यात्। उभयस्मिन्विवक्ष्यमाणे[1] भिद्येत वाक्यम्। तस्मात्कर्मान्तरम्।

अथ कर्मान्तरे कथमवाक्यभेदः। रेवतीषु ऋक्षु वारवन्तीयं साम कृत्वा पशुकामो यजेतेत्यपूर्वो यागः सर्वैर्विशेषणैर्विशिष्टो विधीयते। तेनैकार्थत्वं, विभागे च साकाङ्क्षत्वमित्येकवाक्यत्वमुपपद्यते[2]। नन्वर्थभेदो यागश्चैवं ह्यपूर्वः कर्तव्यः, रेवतीषु वारवन्तीयमपूर्वमिति। नेति ब्रूमः। निर्वृत्तवारवन्तीयरेवतीगुणको यागो विधीयते। न वारवन्तीयनिर्वृत्तिः। अर्थाद्रेवतीषु वारवन्तीयमभिनिर्वर्त्स्यति। शक्यते च तन्निर्वर्तयितुम्। उच्यते। रेवतीनां वारवन्तीयस्य च सम्बन्धो न विहितः स्यात्। तत्र च रेवतीष्वन्यान्यपि सामानि भवेयुः। वारवन्तीयं चान्यास्वपि ऋक्षु। नैष दोषः। कृत्वेत्यभिनिर्वृत्तः सम्बन्धो यागायोच्यते[3], तेन सम्बन्धो गम्यते। द्वावप्येतावर्थौ कृत्वेत्येष शब्दः शक्नोति वदितुमभिनिर्वृत्तिं, पूर्वकालतां च। यथा शोणमानयेति रक्तगुणसम्बद्धोऽश्वः शब्दनैवाऽऽनयतौ[4] विधीयते इति, न वाक्यभेदो भवत्येवमत्रापि द्रष्टव्यम्।

नन्वेवमपि बहवोऽर्था रेवत्यो वारवन्तीयं तत्सम्बन्धो, यागः, पशुकामश्चेति। नैष दोषः। बहवः श्रूयन्ते। एकोऽत्र विधीयते यागो विशिष्टः। ननु रेवत्योऽपि विधीयन्ते, वारवन्तीयमपि। यदि न विधीयेरन्नैव तद्विशिष्टो यागः प्रतीयेत। न ह्यविधाय विशेषणं, शक्यते विशिष्टो विधातुम्। तस्माद्बहुषु विधीयमानेषु नैकार्थ्यम्।

अत्रोच्यते। अर्थ इति प्रयोजनमभिधीयते। यावन्ति पदान्येकं प्रयोजनमभिनिर्वर्तयन्ति, तावन्त्येकं वाक्यम्। न चात्र बहूनि प्रयोजनानि। न ह्यत्रानेकस्याभिप्रेतस्यानेकं पदं विधायकमस्ति। रेवतीष्विति नैतत्केवलं रेवतीनां विधायकम्। रेवतीषु वारवन्तीयमित्यत्रापि पदद्वये वारवन्तीयशब्दो द्वितीयान्तः। तस्मात्सम्बन्धोऽभिप्रेतो गम्यते। प्रातिपदिकार्थेऽस्याव्यतिरेकात्।

---

१. ब. विवक्षिते।　　२. ब. इत्येकं वाक्यमुपपद्यते।

३. ब. यागस्याच्येत।　　४. ब. अ नयतो।

कृत्वेत्यपि करोतिर्न सम्बन्धमात्रे पर्यवसितः परप्रयोजनसम्बन्धमाह। एवं विशिष्टस्तु यजतिर्न परार्थः। तदेकमेषां पदार्थानां प्रयोजनम्। तस्मादेकवाक्यत्वम्। गुणे पुनः फले प्रकल्प्यमानेऽग्निष्टोमसाम्नः कार्ये वारवन्तीयम्। एतस्य च यदग्निष्टोमसामेति वाक्यभेदः स्यात्। अथोच्यते, रेवत्यादिसर्वविशेषणविशिष्टो याग एतस्याग्निष्टुतो विधीयेत। तथाऽपि पशुकामसम्बन्धाद् भिद्यते[1] शक्यम्। अथैवमुच्येत। रेवतीषु कृतेन वारवन्तीयेन पशुकामो यजेतेति। नैवं शक्यम्। ऋगन्तरप्रगाणाद्विशेषहानाद्वैगुण्यं स्यात्।

नन्विदानीमेवोक्तं शक्यते हि रेवतीषु वारवन्तीयं कर्तुमिति। सति वचने असति वचने न वारवन्तीयग्रहणेन गृह्यते। वचनं तर्हि भविष्यति। पशुकामो रेवतीषु वारवन्तीयमभिनिवर्तयेत्। ततो यजेतेति यजतिरनुवादः। यदि वचनं रेवतीषु वारवन्तीयसम्बन्धस्य, सिद्धं कर्मान्तरं, नाग्निष्टुतो गुणविधिः। ननु ततो यजेतेति यागानुवादाद्यागेनास्याङ्गप्रयोजनसम्बन्धोभविष्यति। नैवं शक्यम्। यागं प्रत्यङ्गभावे[2] पशुकामं प्रत्यसम्बन्धः[3]। उभयसम्बन्धे वाक्यं भिद्येत।

अथ यागसम्बन्धोऽनुवादः प्रकरणेन[4] चाङ्गता। नेदमुपपन्नम्[5]। प्रकरणाद्धि वाक्यं बलवत्तरम्। तस्मात्कर्मान्तरंयागगुणकं वा रेवतीषु वारवन्तीयं, तद्गुणको वा यागः। तत्र यागपशुकामयोः सम्बन्धस्य विधात्रीं यजतेरुपरितनीं विभक्तिमुपलभामहे लिङ्गम्। न तु रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धस्य विधायकं साक्षात्किचिदुपलभ्यते तस्मात्सर्वविशेषणविशिष्टो यागः पशुकामस्य विधीयत इति सिद्धम्।

अथ पुनर्विशिष्टे यागे विधीयमाने तद्रेवतीषु वारवन्तीयं कथमग्निष्टोमसाम भवतीति। उच्यते। वचनादग्निष्टोमसाम्नः कार्ये भविष्यतीति। किमिव[6] हि वचनं न कुर्यात्। नास्ति वचनस्यातिभारः। अथ यदुक्तमेतस्यैवेति। अनन्तरापेक्षं वचनमिति। तत्राप्यविरोधादेतद्धर्मकस्येति[7] लक्षणाशब्दो भविष्यति। तस्मान्न गुणात्फलम्[8]। कर्मान्तरमेवंधर्मकमिति, सिद्धं समेष्वेवंजातीयकेषु कर्मयुक्तं फलमिति ॥ २७॥

इति द्वादशं रेवत्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

---

१. ब. भिद्येतैव। २. ब. प्रत्यगभावेविधीयमाने। ३. ब. असम्बन्धः प्राप्तः। ४. ब. प्रकरणाच्चांगतेति। ५. ब. तदुपपन्नम्। ६. ब. किंनुवचनं। ७. ब. तन्न्यायविरोधात्। ८. ब. गुणेफलं।

अथ द्वादशं रेवत्यधिकरणम्

त० वा०—इदानीमस्यापवादार्थमुत्तरमधिकरणमारभ्यते। तत्र विषयं तावद्दर्शयति—'त्रिवृदग्निष्टुदग्निष्टोमः' 'तस्य वायव्यास्वेकविंशमग्निष्टोमसाम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत्' इत्येतमग्निष्टुतं प्रकृत्य वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कार्यम्—इति च गुणं विधाय पुनर्ब्रवीति—'एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत' इति। तत्रापि पूर्ववदेव संदेहः किं गुणविशिष्टो यागः पूर्वस्माद्व्यतिरिक्तश्चोद्यते ? किं वा पूर्वस्यैव गुणादिन्द्रियवत्पशवः फलमिति। किं तावत्प्राप्तं ? समस्तेनैव पूर्वाधिकरणेन गुणात्फलमिति।

तथा हि—

रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धव्यापृते विधौ।
श्रूयते फलमत्रापि यागोऽतो न विधीयते॥

रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धं च करिष्यति।
विनैव प्रत्ययावृत्त्या कृत्वा शब्दः पृथक्श्रुतिः॥

यस्तु रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धोत्पत्तिविधानात्, तस्य च फलं प्रति विधानात्प्रत्ययावृत्तिलक्षणो वाक्यभेद आशङ्क्यते, सोऽपि नाऽऽशङ्कितव्यः, स्वयमेव वेदेन तत्फलस्योपात्तत्वात्। रेवतीषु वारवन्तीयं कृत्वेति निष्पादिते हि सम्बन्धे यजेः परेण लिङा फलसम्बन्धः केवलः कर्तव्यः। तेन नाऽऽवृत्तिदोषो भविष्यति। तत्राप्याधारनिर्देशाद्रेवतीनां परार्थता, प्राधान्याद्वारवन्तीयं फलं प्रति विधीयते। गुणोपादानवशेन धात्वर्थादुत्तारितो विधायकः फलाय गुणं विदधद्यदन्यत्राज्ञातशेषत्वं विधत्ते। रेवत्यश्च सप्तमीनिर्देशाद्वारवन्तीयशेषभूतत्वात्प्रयोजनान्तरमनपेक्षमाणा न फलेन सम्बध्यन्ते। तद्गुणकं तु वारवन्तीयं द्वितीयानिर्देशादवगतप्राधान्यं करोत्यभिहितां भावनां प्रति धात्वर्थस्थानीयं प्रतीयमानं प्रयोजनापेक्षत्वात्फलवत्तां प्रतिपद्यते।

अथवोभय[1]तिरस्कारेणात्रापि सम्बन्धादेव फलमिति वक्तव्यम्। एवं च सति विपरिवृत्तिप्राप्तो यजिः प्रकृतार्थावलम्बी वैतच्छब्दः। तस्माच्च यजिसमानाधिकरणात्परा षष्ठी फलवता गुणेन सह प्रकरणात्प्राप्तमाश्रयाश्रयिसम्बन्धं वदन्ती प्रमाणाभावाच्चाऽऽश्रयान्तरासंबन्धात्तन्निवृत्तिरूपप्रवृत्त एवकारः पूर्वोच्चरितेन वचनान्तरेण च प्राप्तमग्निष्टोमसंबन्धविशिष्टं वारवन्तीयमित्यादि[2] सर्वकर्मान्तरत्वान्नित्यप्राप्तमनूद्यमानं न प्रत्ययमायासयिष्यति। कर्मान्तरपक्षे तु सर्वमप्राप्तत्वाद्विधातव्यम्। न च तल्लभ्यते। कुतः ?

---

१. क० अथचोभय।   २. क० इत्यादिवत्।

एकशक्तिः स्वभावेन सर्वदैव विधायकः ।
अल्पार्थविधिसंतुष्टो नानेकार्थविधिक्षमः ॥

तेन कृत्वाशब्देन रेवतीनां वारन्तीयसंबन्धमात्रम्, लिङ्गा च फलसम्बन्धमात्रं विधीयत इति ज्यायान्गुणविधिपक्षः । सर्वे चैतेऽनुवादा यज्यनुवादेनैव तन्मूलत्वात्प्रदर्शिता भवन्तीति, न भाष्यकारेण प्रत्येकमुपवर्णिताः । तस्मान्न कर्मान्तरमिति प्राप्ते ।

अभिधीयते—

सिद्धान्तः

आश्रयत्वेन गृह्णाति यो गुणः प्रकृतां क्रियाम् ।
तत्संस्बन्धानुवादत्वात्तत्र भेदो न गम्यते ॥

इदं तावद्वाक्यमेतस्यैव रेवतीष्वित्यादि यजिमच्छ्रूयते । स च यजिर्यादृगत्र श्रूयते, तादृग्यदि कुतश्चित्प्राप्तः, ततः शक्यकर्मान्तरत्वमध्यवसातुम् । तद्यथा— दधिहोमसंबन्धा[1]लाभादिन्द्रियकामवाक्ये । श्रुतफलसंबन्धमात्रे वाक्येन विधीयमाने, प्रकरणादेवाऽऽश्रयापेक्षायां[2] लब्धो होमसंबन्ध इत्यनूद्यते । शक्नोति हि दधि साक्षादेव होमं निर्वर्तयितुम्, न तु रेवतीगुणकं वारवन्तीयं यागनिर्वृत्तिसमर्थम्, अद्रव्यदेवतात्मकत्वात् । तथा हि—

देवताद्रव्यकर्तृभ्यो नातिरिक्तमपेक्षते ।
यागः साधनमित्येवं साम्ना नैवैष साध्यते ॥

तस्मात्प्रकरणवशेन बुद्धावुपप्लवमानोऽपि यागः सामाश्रयत्वमयोग्यत्वादप्रतिपद्यमानो न रेवतीवारवन्तीयवाक्ये शक्योऽनुवदितुम्. प्राप्तिप्रमाणाभावात् ।

यत्तु वारवन्तीयस्य साध्यत्वेनाऽऽश्रयत्वप्रतिपत्तिक्षमं स्तोत्रम्, न तस्य प्रकरणम् । आतिदेशिकत्वादग्निष्टुति स्तोत्राणाम् । आह च—

'स्तोत्रसाधनभूतत्वं साम्नो योग्यतया स्थितम् ।
स्तोत्रं च प्रकृतं नास्तीत्याश्रयो न प्रतीयते ॥' इति ।

शङ्का

अथोच्येत यथाऽनेन शक्यते यागः कर्तुम्, तथा कुर्वदाश्रयिष्यति । यथा च शक्नोति याग आश्रयत्वं प्रतिपत्तुम्, तथा प्रतिपत्स्यते । सर्वाख्यातसहकारिशक्त्यनुसारेणावगमात् । 'आनर्थक्यात्तदङ्गेषु' इत्यनेन न्यायेनाङ्गभूतस्तोत्रद्वारेणाऽऽश्रयाश्रयिसंबन्धः सेत्स्यतीति ।

---

१. क० दधिहोमसंबन्धादिन्द्रिय । २. क० आश्रयापेक्षया ।

तन्निरासः

तदनुपपन्नम् । उक्तं ह्येतत्—

तन्नामाङ्गेषु कल्प्येत यदङ्गत्वेन चोदितम् ।
प्राधान्यावस्थितं यत्तु तदङ्गं नोपसर्पति ॥

'सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपः' इति सप्तदशारत्नित्वं गुणत्वेन चोद्यमानं साक्षाद्वाजपेयस्यासंभवाद्यथा शक्नोति, तथोपकरिष्यतीत्यध्यवसानात्तदङ्गपशु-यूपाङ्गत्वेनावधार्यते । यदि तथैव वारवन्तीयमपि यागाङ्गत्वेन चोद्येत, ततस्तत्रा-संभवात्तदङ्गानि स्तोत्राण्युपसर्पेत् । इदं पुनः फले विहितं गुणभूतां क्रियामाश्रय-त्वेनोपेक्षमाणं यदि योग्यां लभते, ततो गृह्णाति । अथ न लभते ततो वाक्यादर्था-न्तरत्वं प्रतिपद्यते । न चैतदन्यथाऽनर्थकं भवति । कर्मान्तरविधाने सुतरामर्थ-वत्त्वात् । अत्यन्तभेदाच्च यागस्तोत्रयोर्न स्तोत्रे साधिते, यागः साधित इति शक्यं वक्तुम् । तत्र यथैव क्रत्वन्तरे श्रुतम्, क्रत्वन्तरे क्रियेत तादृगेवैतत्स्यात् । वाजपेयस्येति तु सामान्यसम्बन्धमात्रवाचिनी षष्ठी पारम्पर्याद्यागेऽप्यविरुद्धेति वैषम्यम् । यद्यपि स्तोत्रद्वारेण क्रतोराश्रयत्वं स्यात्, तथाऽपि सर्वस्तोत्रेषु प्रसज्य-मानेष्वग्निष्टोमसोमत्यनर्थकं भवेत् । तत्राग्निष्टोमसाम्नि वाक्येनैवाऽऽश्रये कल्प्य-माने वाक्यभेदः, पुनरपि च वाक्येनाग्निष्टोमसाममात्रसंबन्धेऽवगम्यमाने यद्येत-स्यैवेति विशेष्यते, ततोऽपि वाक्यभेदः । एतस्यैवेति च[1] पूर्वं संबन्धे, तथैव सर्वतदीयस्तोत्रसंबन्धापत्तेरग्निष्टोमसामेति विशेषणात्, स एव वाक्यभेदः । ऋक्सामसंबन्धकरणकृतं चातिगौरवं स्थितमेव ।

ननु चास्मिन्नग्निष्टुत्याश्रयत्वेन लब्धे पूर्वविधिनैव शेषमवाप्स्यते । वारव-न्तीयं हि क्रतुमाश्रयद्यत्र स्थाने स्थितं साधयद् दृष्टम्, न[2] ततोऽन्यत्र भविष्यति । क्रतुरपि च तन्नान्यस्तोत्रगामित्वेनापेक्षिष्यते । प्रकृतक्रत्वग्निष्टोमसामसंबन्धि वारवन्तीयातिक्रमकारणाभावाच्च न क्रत्वन्तरस्तोत्रान्तरसंबन्धाशङ्का । नैत-देवम् । यदि हि वारन्तीयाग्निष्टोमसामविधिवाक्यं रेवतीवाक्येनापेक्ष्यते, तत एवं विज्ञायेत । न तु तदपेक्षाऽस्ति । गुणादिवाक्यानां परस्परसंबन्धाभावादित्युक्तं प्राक् । पूर्वसंबन्धविलक्षणश्चायं क्रतोर्वारवन्तीयेन संबन्धो न तत्कल्पितस्थानविष-यत्वं प्रतिपत्स्यते । कर्माङ्गभूतस्य हि तस्यैतत्क्रमत्वग्निष्टोमसामत्वं विज्ञातम् । इदानीं पुरुषार्थभूतत्वाद्वेदस्तावन्न तदेव स्थानं कल्पयति । सामान्यतोदृष्टकल्पना-याश्चैवंजातीयकेष्वप्रमाणत्वमुक्तम् ।

आह च—

फलाय विहितं साम स्वतन्त्रं रूपमात्रतः ।
वेदस्वाध्यायमेवैकमुत्पत्त्यर्थमपेक्षते ॥ इति ।

---

१. क० चापूर्वसंबन्धे । २. क० नेति ।

यदि वारवन्तीयमग्निष्टुत्येव प्रथममुत्पाद्येत, ततो गत्यन्तराभावादनुक्तमपि तद्विषयं विज्ञायेत। इदं पुनः समाम्नायमात्राधीनोत्पत्ति तत एव गृहीत्वा फलाय चोद्यते। तत्र क्रत्वन्तरस्तोत्रान्तरैरेतत्क्रत्वग्निष्टोमसाम्नो न कश्चिद्विशेषः। यदि च वारवन्तीयसंस्कारः कश्चिद्विधीयेत, ततः कथंचिद्व्रीहिप्रोक्षणादिष्विव प्रकृतप्रत्ययो भवेत्। न चैवमस्ति। तस्मान्नाग्निष्टोमसामसंबन्धसिद्धिः।

ननु च पुरुषार्थमपि सदेतत्क्रतुमसाधयन्न शक्नोति पुरुषार्थं भवितुमिति, प्रासङ्गिक्यां क्रतुसिद्धौ पूर्वक्लृप्तं स्थानं लभ्यते[1]। यथेज्यार्थे दधिपयसी प्रणीताधर्मानुपलभेते। तत्रैवैतद्भवति, यत्र गुणभूता धर्मा भवन्ति। न चेहाग्निष्टोमसामत्वं नाम वारवन्तीयस्य गुणः। प्रकरणग्रहणे हि सति गुणत्वमपि स्यात्। तदेव त्वद्याप्यसिद्धावस्थम्। यदि तु केनचित्प्रकारेणाग्निष्टोमसामसंबन्धोऽवगम्यते, ततस्तद्धर्मास्तस्य प्रणीताधर्मवन्नैव कश्चिद्वारयिष्यति। तस्मान्नैषोऽपि परिहारो भवतीति, अपूर्वकर्मविधिनैवैकवाक्यत्वमुपपादनीयम्। तथा सति हि यद्यपि सर्वमप्राप्तम्, तथाऽपि विशिष्टविधिना शक्यं विधातुम्। किं पुनर्यदा निकायित्वात्पूर्वाग्निष्टुद्धर्मेष्वत्रादिश्यमानेषु बह्वेव प्राप्तम्। एतच्छब्दस्तावद्धर्मलक्षणयाऽनुवादो भविष्यति। न चानुवादे लक्षणादोषः। प्रस्तूयमानकर्मवचनत्वेन वा 'अथैष ज्योतिः' इत्यादिवन्मुख्यरूपेणैव वर्तिष्यते। तदा[2] वारवन्तीयं क्रत्वर्थभूतमतिदेशेनैव प्राप्नोतीति तदप्यनुवदिष्यते। कृत्वाशब्दकल्पितरेवतीवारावन्तीयसंबन्धविशिष्टयागमात्रविधानात्तु लाघवं विधेः।

नन्वग्निष्टोमसाम्नो रेवतीवारवन्तीयसंबन्धो यागश्चात्र विधीयत इत्यन्यैर्विशिष्टविधिभिर्वैषम्यं विधायकस्य स्यात्। तथा हि—

नैकप्रयत्नसाध्यत्वं क्रियान्तरविशेषणे।
तेन क्रियां विधायाऽन्यस्तत्र कार्यः पुनर्विधिः॥

यान्येकक्रियाविशेषणानि भवन्ति, तानि तया विधीयमानयाऽर्थादाक्षिप्यमाणानि न विधायकव्यापारं भिन्दन्ति। क्रियान्तरविशेषणे पुनर्विधीयमाने तया क्रियया संबन्धरहितयाऽनाक्षिप्यमाणे, अवश्यं विधायकस्याऽऽवृत्तिरेष्टव्येति वाक्यभेदः प्राप्नोत्येव।

नैष दोषः।

कृत्वा शब्दार्थमेवैकं गृह्णीते भावनोत्तरा।
सोऽपि स्वगोचरप्राप्तं ग्रहीष्यति विशेषणम्॥
नवेन क्रतुना पश्चादृक्सामग्रहणे कृते।
क्लृप्तस्थानेन साम्नैव रेवतीस्थानकल्पना॥

---

१. क० लप्स्यते। २. क० तदत्रक्रत्वर्थमग्निष्टोमसाम्नैव संबद्धम्।

रेवतीवारवन्तीयसंबन्धं निष्पाद्य, उत्तरभावनापेक्षोऽवस्थितः स्वविशेषणविशिष्टः क्त्वाशब्दार्थः क्रतुना गृह्यते। अतश्च स्वविशेषणाक्षेप एव क्रतोः। स तु तत्संबन्धं साक्षादनुपजीवन्गुणभूतत्वादङ्गेषु निक्षिपन्नतिदेशविज्ञातस्थानावारवन्तीयवशेन रेवतीरपि तद्विषयाः कल्पयति। तेन यद्यप्यत्र वाक्येऽग्निष्टोमसाम न विधीयते, तथाऽपि क्रतुविशेषणमपि तन्न संक्रामतीत्यदोषः। अतश्च प्रकृतयागसंबन्धस्त्वत्पक्षे वारवन्तीयस्य नास्ति।

पश्य— आत्मना ह्यक्रियारूपैर्गुणैराश्रीयते क्रिया।
वारवन्तीयगीतेस्तु क्रियया किं प्रयोजनम्॥

दधिगोदोहनादीनि क्रियया विना करणत्वमलभमानानि तामपेक्षन्ते। वारवन्तीयं पुनर्गायतिधातुवाच्यक्रियात्मकत्वाद्विनैव क्रियान्तरेण यागवत्फलभवनसमर्थमित्यनपेक्षत्वाद्यागेनासंबध्यमानं स्वतन्त्रमेव रेवतीषु गीयमानमग्निष्टुत्प्रयोगाद्बहिरेव फलं साधयेत्। ततश्चैतस्यैवेति चाग्निष्टोमसामेति च क्त्वाशब्दश्च यजेतेति च सर्वमसंबद्धं स्यात्। तस्माद्यागात्फलम्। स च पूर्वविलक्षणविशेषणविशिष्टत्वात्कर्मान्तरम्।

समेष्विति—अयोग्यत्वाद्यागगुणयोराश्रयाश्रयिसंबन्धानपेक्षत्वाभिप्रायम्। क्रियात्मकत्वाद्वा क्रियान्तरानपेक्षत्वमुच्यते। **भिन्नवाक्येष्विति**। पक्षद्वयेऽपि गुणफलसंबन्धस्य यागान्तरविधानस्य वाऽर्थान्तरत्वात्सेत्स्यत्येव लक्षणतो वाक्यभेदे पूर्वक्रतुसंबन्धे भवत्येव किंचिदेव वाक्यरूपम्। क्रत्वन्तरसंबन्धे त्वत्यन्तभेद इत्यभिप्रायः। **न ह्येतस्य रेवत्यः सन्ति**—आनन्तर्यात्तावदेषा वचनव्यक्तिः प्रतिभाति, एतस्य या रेवत्यस्तासु वारवन्तीयं कृत्वेति। तत्र यद्यपि प्रकरणलभ्यत्वादेतस्येति विशिष्टानुवादो न वाक्यं भिनत्ति, तथाऽपि रेवतीस्वरूपकर्तव्यतैव तावदप्राप्तेति नानूद्यते। तत्र रेवत्यः प्रयोक्तव्याः, तासु च वारवन्तीयमित्येको वाक्यभेदः, एतच्छब्दवैयर्थ्यं च। अथ त्वेतच्छब्दानुग्रहार्थमेतस्य रेवत्यः कर्तव्याः, तासु च वारवन्तीयं, तच्च फलायेति विधीयते यजिश्चानूद्यत इति, तथाऽप्यर्थत्रयनिमित्तवाक्यभेदाभ्युपगमेनाग्निष्टोमसामसंबन्धो विधातुमनुवदितुं वाऽशक्यत्वादुभयथाऽपि नावकल्पते। अथ सोऽपि विधीयेत, तथा सति पूर्वस्माद्विध्यपगमादग्निष्टोम[1]साममात्रप्रसङ्गादेतस्यैवेत्यनर्थकं, विधीयमाने वाक्यभेद इत्येका ग्रन्थयोजना।

अथवा—यथाक्रमावस्थित एवैतच्छब्दो रेवतीविशेषणं, स तथाभूतएवाभ्युपगम्यते। ततश्चैवं वचनं व्यज्यते—एतस्य या रेवत्यस्तासु वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कृत्वेति। तत्तु[2] कस्य क्रतोरित्यविशेषणादेतच्छब्दस्य च रेवतीविशेषणत्वेनोपक्षीणत्वादेतस्याग्निष्टोमसामेति न लभ्यते। तद्विवक्षायां वा पुनरपि वाक्यभेदः।

---

१. क० अग्निष्टोममात्र प्रसङ्गात्। २. क० तत्र।

इहैव सर्वाः पूर्वपक्षवचनव्यक्तीर्निराकृत्य, सिद्धान्ते कथमवाक्यभेद इति प्रष्टव्ये पूर्वपक्षवादी विस्मितः पृच्छति। तथा नाम संप्रति[1] विहिते सति अनेनाऽऽकाश एवेयन्तो वाक्यभेदा इन्द्रजालवदेव दर्शिताः। ततः पृच्छामि तावदेतस्य कथमवाक्यभेद इति। सिद्धान्तवादी त्वप्राप्तकर्म विधीयते। विशिष्टविधानोपपत्तौ सत्यामेकार्थत्वादित्याह।

वारवन्तीयोद्देशेन रेवतीविधानायेति शङ्का

नन्वर्थभेद इति—क्त्वान्ताख्यातोपात्तभावनाद्वयैकवाक्यत्वासंभवाभिप्रायेण। **नेति ब्रूम इति**—गुणभूतैकभावनाविशिष्टप्रधानभूतभावनान्तरविधानाभिप्रायम्। **रेवतीनां वारवन्तीयस्य[2] च सम्बन्धो न विहितः स्यादिति**—विशेषणविशेषणानामविधेयत्वल्लिङ्गा तावन्न विधीयते। क्त्वाशब्दश्च नैव विधौ स्मर्यते। तेन यद्यपि सम्बद्धा भावनाऽभिधीयते तथाऽपि। विध्यधीनप्रवृत्तित्वात्पुरुषः सतीमपि तामसतीमिव प्रतिपद्यते। तेन[3] यागभावनामात्रविशेषणत्वाद्रेवतीवारवन्तीययोस्तदबहिर्भावमात्रेण प्रयोक्तव्ययोरन्योन्यनियमप्रमाणाभावादेकस्तोत्रविषयत्वे, तदेकदेशनियमे चासति रेवतीषु ऋक्ष्वन्यान्यपि गायत्रामहीयवादीनि सामानि प्राप्नुवन्ति। सामापि वारवन्तीयमन्यास्वावापभूतासु गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्सु प्राप्नोति। तत्र रेवतीषु वारवन्तीयमिति सम्बन्धप्रतीतिर्व्यर्थाः स्यात्। अतो वारवन्तीयमेव यथावधूतस्थानमुद्दिश्य रेवत्यो विहिता इति।

क्त्वा शब्दस्य विधायकत्वाभावेऽपि फलतोविधायकत्वमिति तन्निराशः

नैष दोषः—

विधित्वं यद्यपि श्रुत्या न क्त्वेति ब्रवीत्ययम्।
तथ्याऽप्येवंविधे तस्य विधित्वं फलमिष्यते॥

सर्वत्रैव यत्रेदं कृत्वेदं कुर्यादिति श्रूयते। तत्र यदि तावत्त्वान्तधातुवाच्या क्रियाऽन्यत एव प्राप्ता, ततो निमित्तार्थं श्रवणं भवति। अथ तु न प्राप्ता, तत उत्तरस्याः करणं पूर्वनिर्वृत्त्युत्तरकालत्वेन विहितं तामननुष्ठाय यथा कर्तुं न शक्यत इत्यर्थादवश्यं कर्तव्या सती विहितवद्विज्ञास्यते। न चेह रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धः प्राग्विधेः कुतश्चित्प्राप्तो, येन निमित्ततयाऽऽश्रीयेत। तस्मादनुष्ठेय एव विज्ञायते। यदि तर्ह्यनुष्ठेयत्वेन सम्बन्ध उपपन्नः कथमुत्तरयाऽनुष्ठेयत्वोपात्तयैव सह सम्बध्यते।

तदर्थमाह—**द्वावप्येतावर्थौ क्त्वेत्येष शब्दः शक्नोति वदितुमिति**। कथमेकनानेकार्थावगतिरिति चेदत आह—दृष्टा हि क्वचिदियमपि गतिः। **यथा शोण-**

१. क० सुप्रतिविहिते। २. क० वारवन्तीयस्यासम्बन्धो।
३. क० तेनप्रतिपद्ययागभावना।

मानयेति। प्रमाणान्तरप्राप्तेऽप्यानयतौ रक्तोऽश्वश्चोद्यमानो न रक्ताश्वशब्दाभ्यामिवाभिहितो वाक्यभेदं जनयति। तथाऽत्र क्त्वाशब्दोपात्ता निर्वृत्तिः, पूर्वकालत्वं चेति।

तत्रैव प्रकारान्तरवर्णनम्

अथवा।

तत्रैव न विधीयेत विशेषणविशेषणम्।
यत्र द्रव्याङ्गभूतं तन्न कर्माङ्गं प्रतीयते॥

"तत्रैकत्वमयज्ञाङ्गभूतमर्थस्य गुणभूतत्वात्" इति द्रव्यविशेषणानां विध्यसंस्पर्शो[1] वक्ष्यते। रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धस्तु करोतेर्विशेषणम्। सामान्यभूतत्वाच्च करोत्यर्थस्तद्रहितो नानुष्ठेयत्वं प्रतिपद्यते। तेन मृष्यामहे हविषा विशेषणमितिवद्यजिभावनाविशेषणस्य करोत्यर्थस्यावश्यं रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धविशिष्टताऽभ्युपगन्तव्या। तथा च क्रियाविशेषणानामपि प्रयाजादीनां विशेषणानि द्रव्यदेवतादीनि दर्शपूर्णमासादिषूपयोक्ष्यन्ते। तस्मान्निष्पन्नसम्बन्धविशेषितायां भावनायामृक्सामयोर्नियमः सेत्स्यति। क्त्वाशब्दश्चात्र प्रतिपत्तिक्रमनियमनिर्वृत्त्यर्थ एव द्रष्टव्यो, नानुष्ठाननिर्वृत्त्यर्थः। अग्निष्टोमसाम्नः प्राग्यागादप्रयोगात्। अतो नैवं विज्ञायते रेवतीषु वारवन्तीयं प्रयुज्य यष्टव्यमिति। किं तर्हि? एवं करिष्यामीति परिकल्प्य यागः प्रक्रमितव्य इति। **नन्वेवमपीति**। यावदभिधेयं विधिकल्पनादनेकार्थत्वान्नैकवाक्यत्वमिति मन्यते। **नैष दोष इति**। न तावदभिधेयनानात्वेनानेकार्थत्वं भवतीत्युक्तम्। अथ प्रयोजनभूतविधेयनानात्वमेव मन्येथाः। तत्रोच्यते—

श्रूयन्ते बहवोऽत्रार्था एक एव विधीयते।
विशिष्टा भावना सा च याग इत्युपलक्षिता॥

ननु रेवत्योऽपि विधीयन्त इति। यदि श्रुतमात्रानुपात्येवानेकार्थत्वं भवेत्, तत एष परिहारः स्यात्। एते तु सर्वे विधीयमानत्वात्प्रयोजनभूतास्तस्मादनेकार्थत्वमस्त्येवेति। उच्यते—

विधेयमात्रमप्यत्र नार्थ इत्यभिधीयते।
प्रधानविधियुक्तोऽर्थः स चैकोऽत्र विधीयते॥

तदाह **न ह्यत्रानेकस्य** प्रयोजनत्वेनाभिप्रेतस्यानेकं पदं विधायकमिति। तथा ह्यवान्तरकर्मत्वात्तत्क्रियाणां न प्राग्यजिभावनातः पर्यवसानम्। विशिष्टविध्युत्तरकालं तु न किंचिदपेक्ष्यते। तस्मात्सिद्धमेकार्थत्वादेकवाक्यत्वम्। गुणविधित्वे चोक्ता वाक्यभेदाः।

1. क० विध्यसम्भवो।

अथोच्येत इति। एतच्छब्दसमर्थनार्थम्। सिद्धेऽपि कर्मान्तरत्वे कर्मयुक्तफलपक्षात्पक्षान्तरमिति निराक्रियते। तत्रैषा वचनव्यक्तिः—रेवतीषु वारवन्तीय-[1] मग्निष्टोमसाम कृत्वा, एतस्याङ्गत्वेन यजेतेति। किमेवं भविष्यति प्रकरणं तावन्न बाधिष्यते। एतस्यैवेति च प्रकृतग्राहि समीपस्थितसंबन्धिपदमनुग्रहीष्यते। तत्रोच्यते। न पशुकामपदानर्थक्यप्रसङ्गात्। तदपरित्यागे वाक्यभेदप्रसङ्गः। न ह्येकस्य[1] क्रतुं फलं च प्रति युगपद्विधानमवकल्पते।

अथैवमुच्येत रेवतीषु कृतेनेति। प्रथमोपन्यस्तमेव पक्षं दोषान्तराभिधित्सया पुनरुपन्यस्यतीति केचित्। अथवा नैवम्। कथं तर्हि गुणकामेषु याज्ञिकानां द्वयी प्रतिपत्तिः. केषांचिन्मीमांसकवदेव गुणात्फलम्। अपरेषां तु गुणः क्रत्वर्थ एव, तद्वस्तु क्रतोः फलान्तरसंबन्धः। अत्रैषा वचनव्यक्तिः। नित्यं तावदनेन ब्रह्मवर्चसकामो यजेत। यदि तु पशुकामः स्यात् ततोऽनेनैव रेवत्यादिविशिष्टेनेति। तथा सति च—

प्रत्ययः संनिकृष्टार्थविधिं तावत्करिष्यति।
न चान्यपर उत्पत्तिं विधानाच्च विशिष्टता॥

यागं हि फले विदधत्प्रत्ययो न विप्रकृष्यते। न चानुत्पत्तिपरः सन्नुत्पत्तिमपि कल्पयिष्यति। अनेकार्थविधानं च यथैवौत्पत्तिविधौ कर्मविधाननिमित्तं लभ्यते, तथा फलविधावपि फलोद्देशेन कर्मविधानादित्येवं मन्यमानो वदति—**अथ रेवतीषु कृतेन वारवन्तीयेन पशुकामो यजेतेति**। स्तोत्रद्वारेण यागसाधनत्वोपपत्तेः करणतृतीयैवैषा। अथवेत्थंभूतलक्षणा। अनेनैवेत्थंभूतेन पशुकामो यजेतेति। तत्रोत्तरम्। **नैवं शक्यम् ऋगन्तरप्रगाणाद्विशेषहा नाद्वैगुण्यमिति**। यदि तदेवेदं कर्म, ततस्तस्य वायव्यास्वग्निष्टोमसाम विहितं। तदृगन्तरे रेवत्याख्ये गयिमानं पूर्वविहितवायव्याख्यविशेषहानाद्विर्गुणं भवेत्। नन्विदानीमेवाऽऽत्मीये पक्षे भवतैव तत्र रेवतीषु ऋक्ष्वन्यान्यपि सामानि प्राप्नुवन्त्येवं पर्यनुयुक्तेनाभिहितम्। नैष दोषः। कृत्वेति निर्वृत्तः सम्बन्धो यागा[2]योच्यते। द्वावेतावर्थौ कृत्वेत्येष शब्दः शक्नोति वदितुमिति।

सिद्धान्तवादी त्वपूर्वकर्मविधावनेकार्थविधानं शक्यं, नान्यत्रेति मन्यमान आह—**सति वचने** मत्पक्षे शक्यं, भवत्पक्षे त्वसति वारवन्तीयग्रहणमात्रेण लभ्यमानासु रेवतीष्वशक्यमिति। परः पुनराह—**वचनं तर्हि भविष्यतीति**। तेनैवाभिप्रायेण। फले विशिष्टकर्मविधानात्कृत्वाशब्दस्य चाविधायकत्वात्। यजिरनुवाद—इति च सत्यपि फलं प्रति विधान उत्पत्त्यविधानाभिप्रायेण। सिद्धान्तवादो स्वाभिप्रेतानेकार्थविध्यन्यथानुपपत्तिफलं कथयति—**यदि वचनं**

---

१. क० ह्येकस्य यागस्य। २. क० यागस्य।

सिद्धं तर्हि कर्मान्तरं न पूर्वस्यैवाग्निष्टुतो गुणविधानमिति। **ननु ततो यजेतेति यागानुवादादिति** वचनेनानिराकृतत्वादद्यापि स्वपक्षमेव बलीयांसं मन्यते। **नैवं शक्यमिति** सिद्धान्तविवरणम्। यदि हि रेवतीगुणकं वारवन्तीयं यागं प्रति गुणत्वेन विधीयते ततोऽवश्यं स उद्देष्टव्यः। ततश्चोद्दिश्यमानत्वादेव फलपदं न तेन गुणेन वा सम्बध्यत इत्यनर्थकमेव स्यात्। सम्बध्यमानं वा वाक्यं भिन्द्यात्। गुणविशिष्टकर्मविधाने वाऽप्रत्यभिज्ञायमानत्वादेकान्तेन कर्मान्तरत्वम्। न च यत्पशुकामो यजेतेत्यप्राप्तत्वादनुवादः सम्भवति। एतेन रेवतीवारवन्तीयविधिं प्रत्यस्य, निमित्तत्वं प्रत्युक्तम्। अतश्च न वारवन्तीयं केनचिद्बलवत्तरेण प्रमाणेन रेवतीभिः सम्बद्धमिति विशेषहानाद्विगुणं भवेत्। अथ **यागसम्बधोऽनुवाद इति**। गुणादेव फले सति प्रकरणादवगतं यागाङ्गत्वमस्मिवाक्येऽनुवदिष्यत इति। कः पुनराश्रयाश्रयिसम्बन्धात्पूर्वनिराकृतादस्य विशेषो, येनोपन्यस्यते। स उच्यते। तत्र हि 'आनर्थक्यात्तदङ्गेषु' इत्येतन्निराकृतम्। अङ्गत्वज्ञाने तु तत्सम्भवादग्निष्टोमसामसम्बन्धः सुलभ इत्यभिप्रायः। तन्निराकरोति—**प्रकरणाद्धि वाक्यं बलवत्तरमिति**। आश्रयाश्रयिसम्बन्धो हि फलसम्बन्धानुगुणत्वात्सम्भवन्गृह्यते। स तु न सम्भवतीत्युक्तम्। अङ्गाङ्गिसम्बन्धस्तु क्रतुकथंभावग्रहणात्स्यात्। तच्च नास्ति। "असंयुक्तं प्रकरणात्" इति वक्ष्यति। संयुक्तं चैतत्फलेन। तस्मादविरोधात् गुणफलविशिष्टकर्मान्तरविधानम्।

तत्रैतत्स्यात्। सत्यपि कर्मान्तरत्वे तदनुगृहीताद् गुणादेव फलमिति। तद्विकल्प्य भावार्थाधिकरणन्यायेन प्रत्ययसन्निकर्षेण यागफलसम्वन्धावगमान्निराकरोति। तस्मात्कर्मविधिः। **अथ पुनर्विशिष्टे यागे विधीयमाने** क्रियान्तरस्याग्निष्टोमसाम्नो विशेषणेन कथं सम्बन्ध इति। तत्रोत्तरं **वचनादिति**। प्रागुक्तन्यायेनाऽऽतिदेशिकं वचनं द्रष्टव्यम्। **अग्निष्टोमसाम्नः** कार्यं इति। न किंचिदग्निष्टोमाख्यं सामावस्थितं विद्यते यस्य वारन्तीयं कार्यापन्नमिति कल्पते। तेन प्राकृतयज्ञायज्ञीयकार्यापत्त्यभिप्रायेणोक्तम्। अथवाऽग्निष्टोमसाम्न इति स्तोत्रस्यैव कार्ये तादर्थ्येन वर्तिष्यत इत्यर्थः। तस्मात्समेषु कर्मयुक्तं फलं स्यादिति सिद्धम् ॥२७॥

(इति द्वादशं रेवत्यधिकरणम् ॥१२॥)

॥ अथ द्वादशं रेवत्यधिकरणम् ॥ १२ ॥

न्या० सु०—प्रकृताश्रयालाभे गुणफलान्वयापवादार्थत्वेन, धात्वर्थभेदापवादार्थत्वेन वाऽनन्तरसङ्गतिमाह—**इदानीमिति**। रेवतीवाक्यस्यैव विचार्यत्वादग्निष्टुद्वाक्योदाहरणानर्थक्यमाशङ्क्याह—**तत्रेति**। गुणफलान्वयस्य, कर्मान्तरत्वस्य च पूर्वकर्मापेक्षत्वाद्विचार्यप्रतियोगिकर्मविधायित्वेनाग्निष्टुद्वाक्यस्यापि विचारविषयताऽस्तीत्याशयः। वारवन्तीयस्याग्निष्टोमसामत्वाप्राप्तौ पक्षद्वयेऽपि वाक्यभेदापत्तेस्तत्परिहारार्थं भाष्यानुदाहृतमपि

१८

वारवन्तीयवाक्यमुदाहृतम्—तत्रेति। सन्देहभाष्यं व्याचष्टे—तत्रापीति। पूर्वपक्षवचनव्यक्तिः विलष्टत्वसूचनार्थं पश्चादुक्ता। पूर्वपक्षभाष्यं संक्षिप्य व्याचष्टे—किमिति। विदितस्येति भाष्योक्तो धात्वर्थानुवादः। पशुकाम एवंकृत्वेत्यादिभाष्योक्तश्च। फलस्य कर्मसमभिव्याहारनिरासेन गुणसमभिव्याहारः समस्तशब्देन व्याख्यातः। एतदेवोपपादयति—तथा हीति।

ननु रेवतीवारवन्तीयान्वयविधानात्, तस्य च फलान्वयविधानाद्वाक्यभेदः स्यादित्याशङ्क्याह—रेवतीति। पृथक्श्रुतिः—श्रवणमस्येति विग्रहः। शङ्कोत्तरत्वेन श्लोकं व्याचष्टे—यस्त्विति। उत्पत्तिशब्देनोत्पत्तिफलत्वाल्लक्षणया रेवतीवारवन्तीययोः सम्बन्धापादिका रेवत्याधारवारवन्तीयक्रियोक्ता। तेन रेवतीषु वारवन्तीयं कुयात्, तेन च पशून् कुर्यादित्यावृत्तिः स्यादित्याशङ्कार्थः। क्त्वाप्रत्ययेन विधावस्मृतेनापि धातुवाच्यायाः क्रियायाः पूर्वकालत्वोक्तेस्तस्याश्चाप्राप्तत्वेनानुष्ठानं विना पूर्वकालत्वायोगाद्विधिफलानुष्ठानाक्षेपसिद्धेर्न विधिप्रत्ययावृत्तिरित्युत्तरार्थः। नन्वेवमप्यग्निष्टुति वारवन्तीयस्य प्राप्तत्वाद्रेवतीषु विधिसंक्रान्तेस्तासामेव फलहेतुत्वापत्तेर्वारवन्तीये पशवः फलमिति भाष्यमयुक्तमित्याशङ्कयाह—तत्रापीति। गुणफलान्वयविवादे तेनेति सर्वनाम्नो गुणपरामर्शित्वस्याभ्युपगन्तव्यत्वात्, तस्य च प्राधान्यनिर्दिष्टपरामर्शित्वाद्रेवतीषु कृतेन वारवन्तीयेन पशून्कुयादिति वाक्यार्थप्रतीतेर्वारन्तीयस्य क्रत्वर्थत्वेन प्राप्तस्यादपि दधिवत्फलं प्रति विधिर्युक्त इत्याशयः। यागवद्वारवन्तीयस्यापि प्राप्तत्वाद्विधिर्न सम्भवतीत्याशङ्कां गुणोपादानवशेन यागाद्विधायकोत्तारणं न प्राप्तमात्रेण, रेवतीनां च करणीभूतगुणपरामर्शिनैतच्छदेन विलिङ्गसंख्यात्वादुपादानाशक्तेर्न वारवन्तीयाद्विधायकोत्तरणावगतिरित्याशयेन निरस्यन् श्लोकं व्याचष्टे—गुणेति।

नन्ववगतप्राधान्यस्यान्याथंता न युक्तेत्याशङ्कय धात्वर्थस्थानीयशब्देनेप्सिततमत्वाभावेऽप्यनीप्सितकर्मत्वेन प्राधान्योपचार इत्युक्ते, तथापि कर्मत्वेनोक्तस्य कथं करणतेत्याशङ्कय करोतिवाच्यां भावनां प्रति कर्मत्वेऽप्याख्यातोक्तां प्रतिकरणत्वाविरोधः। करोत्यभिहितामित्यनेनोक्तः दधिहोमसम्बन्धो वाक्येन विधीयते इति पूर्वाधिकरणभाष्योक्तेन न्यायेनेहापि रेवतीष्विति सप्तमीश्रुतेरधिकरणभूताभ्यो रेवतीभ्यः फलमित्यवगमादधिकरणत्वाक्षिप्तस्य चाधाराधेयसम्बन्धस्य विभक्त्यन्तर्गतत्वेन प्रत्ययार्थतया प्राधान्याच्छ्रुत्या फले विधिप्रतीतेरेतेनेत्येकवचनान्तेन च सर्वनाम्नो परामर्शोपपत्तेर्यत्पशून्भावयेत्तदेतेन रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धेनेति वचनव्यक्त्यभ्युपगमे तु सम्बन्धादेव फलमित्याह—अथ वेति।

नन्वन्येषामपि वाक्यभेदानां सिद्धान्ते वक्ष्यमाणानां कः परिहारः पूर्वपक्षिणोऽभिमत इत्याशङ्क्याह—एवं च सतीति। क्त्वाशब्दार्थस्य, रेवत्यन्वयविषयत्वेनाप्राप्तस्याऽप्येकविंशतिमग्निष्टोमसाम कृत्वेत्यतो वारवन्तीयवाक्यसहिताद्वारवन्तीयाग्निष्टोमसाम विषयत्वेन प्राप्तस्यादिशब्देनानुवादः सूचितः। सिद्धान्तएव त्वतिगौरवलक्षणो वाक्यभेदः स्यादित्याह—कर्मान्तरेति। अल्पार्थविधौ च सर्वपदार्थसम्भवे बह्वर्थविधिर्न लभ्यत इति प्रतिज्ञाहेतुप्रश्नगौरव-

लक्षणोऽपूर्वमुपपादयति—**तत्रैति**। पूर्वपक्षे वाक्यभेदपरिहारमुपसंहरति—**तेनेति**। भाष्यकृता तर्ह्येतच्छब्दादीनामनुवादकता कस्मान्नोक्तेत्याशङ्क्याह—**सर्वं चेति**। प्रकृतवाच्येतच्छब्दान्वयेनाभेदोक्त्यर्थमपि चेतिभाष्यं स्पष्टत्वादव्याख्याय तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यं फलतो व्याचष्टे—**तस्मादिति**।

प्रकृताश्रयलाभाद् गुणफलान्वयानुपपत्तिं वक्तुं गुणफलान्वयस्य प्रकृताश्रयलाभापेक्षां दर्शयन् सिद्धान्तमारभते—**इतीति**। स गुणः फले विधातुं शक्य इति वाच्ये प्रकृताश्रयालाभे गुणफलान्वयायोगवद्धात्ववगतस्य कर्मसम्बन्धस्यानुवादत्वायोगाद्विध्यापत्तेः प्रकृतयागाश्रितस्य वारवन्तीयस्य फलान्वयाभ्युपगमेऽपि दुष्परिहरो वाक्यभेद इति सूचयितुं फलभूतयागाभेदोक्तिः। उत्तरार्द्धसूचितमर्थं विवृणोति—**इदं तावदिति**। फले विधीयमानस्य गुणस्याश्रयभूतधात्वर्थापेक्षायामेकवाक्योपात्तस्य यागस्याश्रयत्वप्रतीतेस्तादृशस्य प्राप्तत्वेनानुवादायोगाद्विध्यापत्तेर्विध्ययोगाद्यागान्तरत्वं स्यादित्याशयः। स चेति यज्यर्थः परामृष्टः। अत्रैव दृष्टान्तमाह—**तद्यथेति**। यथेन्द्रियकामवाक्येऽन्यत एव दध्नो होमान्वयलाभान्न कर्मान्तरता व्यवसितेति पूर्वानुषङ्गेण योज्यम्। दृष्टान्तं विवृणोति—**श्रुतेति**।

यद्वा दधिहोमसम्बन्धमात्रे विधीयमानइति ल्यब्लोपे पञ्चमीमङ्गीकृत्यैकग्रन्थतया योज्यम्। नन्विहाप्याश्रयापेक्षायां प्रकरणान्वयो लप्स्यत इत्याशङ्क्याह—**शक्नोति हीति**। साम्नो यागनिष्पत्त्यशक्तावपि रेवतीनां याज्यानुवाक्यावद्देवतोद्देशद्वारा निष्पादकत्वं भविष्यतीत्याशङ्कामग्निष्टुत्याग्नेया ग्रहा भवन्तीति सर्वाभ्यासेष्वग्निदेवत्याच्च श्रुतेरैन्द्रीणामृचां साधनत्वायोगान्निराकर्त्तुं शक्यामपि सप्तम्या सामाधारत्वश्रुतेर्यागसाधनत्वाशङ्कैव नोत्तिष्ठतीत्येवं निराकर्त्तुम्—**रेवतीगुणकमित्युक्तम्**। एतदेवोपपादयति—**तथा हीति**। साक्षाद्यागसाधनान्तरपरिसंख्यार्थं कर्तृग्रहणम्, देवताभिधानार्थगक्षराभिव्यक्तिद्वारापि स्तोत्रसाधनत्ववद्यागसाधनत्वं यज्ञकर्मणीत्येकश्रुत्यविधिविरोधान्नानास्वरसमाहारात्मकस्य साम्नो न सम्भवतीति सूचयितुम्—**साम्नेत्युक्तम्**। तत्सम्बन्धानुवादित्वादित्यनेन सूचितमर्थमुपसंहरति—**तस्मादिति**। नन्वेवमपि स्तोत्रस्याश्रयत्वोपपत्तेर्गुणफलान्वयो निर्वक्ष्यतीत्याशङ्क्याह—**यस्त्विति**।

नन्ववान्तरप्रकरणात्प्रणयनस्य गोदोहनाश्रयत्ववदिहापि वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कार्यमित्यग्निष्टोमस्तोत्रावान्तरप्रकरणान्तःपातकल्पतयाग्निष्टोमस्तोत्रस्याश्रयत्वमभ्युपगमिष्याम इत्याशङ्क्य—**आदिदेशिकत्वादित्युक्तम्**। उत्पत्तावेव प्रकरणाभिव्यक्तेर्विकृतावुत्पत्त्यभावान्न स्तोत्राणां प्रकरणं सम्भवतीत्याशयः। वारवन्तीयस्याश्रयालाभं वृद्धवाक्येन द्रढयति—**आह चेति**। ननु षड्जादिस्वरसमाहाररूपाया गीतेः सिद्धरूपायाः फलसाधनत्वेन विधीयमनाया निर्व्यापारायाः साधनत्वायोग.त्साध्यभूतव्यापारापेक्षायां प्रकरणाद्यागसाधनत्वस्यावगतस्य साक्षादसम्भवेऽपि तदङ्गस्तोत्रद्वारोपपत्तेर्गुणफलान्वयो निर्वक्ष्यतीत्याशङ्कते—**अथेति**। वारवन्तीयस्य यागानङ्गत्वाद्याङ्गाङ्गभूते स्तोत्रेऽवतारो न सम्भवतीति परिहर्त्तुं यो हि प्रधानोपकारित्वेन श्रूयते, स तदङ्गेऽपि स्थित उपकरोतीत्येवं कल्पतइत्यौदुम्बराधि-

करणवार्त्तिकोक्तमङ्गावतारन्यायस्याङ्गमात्रविषयत्वं स्मारयति—तद्विति । एतदेवाङ्गावतारन्यायोदाहरणे सप्तदशारत्नित्वे वाजपेयाङ्गत्वं दर्शयन्नुपपादयति—सप्तदशेति । वाजपेयोपकारित्वं विना तदङ्गत्वायोगाद्वाजपेयस्य च साक्षात्परिमाणेनोपकारासम्भवाद्यथा वाजपेयस्योपकर्त्तुं शक्नोति सप्तदशारत्नित्वम्, तथोपकरिष्यतीत्यध्यवसानाद्वाजपेयाङ्गपशुयागाङ्गयूपाङ्गत्वद्वारोपकरोतीत्यवधार्यतइत्यर्थः । इदं पुनरित्यनेनोत्तरार्द्धमुपपादितम् । वारवन्तीयस्य क्रियानङ्गत्वं वक्तुमनङ्गभूताया अपि क्रियाया वारवन्तीयस्य करणत्वोपजननेनोपकारित्वाद् गुणभूततोक्ता । ननु वारवन्तीयस्य क्रियां प्रत्यनङ्गत्वेऽपि फलसाधनत्वान्यथानुपपत्त्या साधनत्वावगमात्साक्षात्साधनत्वायोगेऽपि स्तोत्रद्वारा कल्पयिष्यत इत्याशङ्क्य, योग्यतानपेक्षेणाकाङ्क्षामात्रेण साध्यक्रियान्वयायोगं केवलम्, न तु सप्तदशारत्नित्ववच्चोद्यमानमित्युक्तम् । अङ्गत्वं चपरम्परयाप्युपकारित्वमात्रेण युक्तम् । आश्रयापेक्षायास्तु निर्व्यापारस्य कारकत्वानुपपत्तेर्व्यापारवत्त्वसिद्धचर्थत्वादयोग्यतया च क्रियया व्यापारवत्त्वासिद्धेः फलसाधनत्वानुपपादकव्यवहिताश्रयकल्पना न युक्तेत्याश्रयत्वोक्त्या च सूचितम् । अप्रकृतमेव तर्ह्याश्रयत्वयोग्यं क्रियान्तरं कल्पयिष्यतइत्याशङ्क्य—अथेत्युक्तम् । कर्मान्तराङ्गत्वरूपवाक्यार्थान्तरप्रतिपत्त्यापि वारवन्तीयार्थवत्त्वोपपत्तेः फलान्वयस्यावश्योपादेयत्वाभावान्नाप्राकृताश्रयकल्पना युक्तेत्याशयः । अन्यथापि चानर्थक्यपरिहारोपपत्तौ नानर्थक्यतदङ्गन्यायोऽस्तीत्याह—न चेति । फलान्वयवत्कर्मान्तरान्वये प्राकरणिकाश्रयान्वयकल्पनक्लेशाभावात्—सुतरामित्युक्तम् ।

नन्वावृत्तिसंस्थादेर्गुणस्य प्रकृतकर्मस्वरूपसाधनत्वाभावेऽपि कर्मसम्बन्धिप्रयोगपरिच्छेदसाधनत्वात्फलान्वयद्वारवन्तीयस्यापि यागसम्बन्धिस्तोत्रसाधनत्वात्फलान्वयो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—अत्यन्तेति । कर्मसिद्धिं विना प्रयोगपरिच्छेदसिद्धेः प्रयोगपरिच्छेदे साधिते कर्मसाधितमिति बुद्धेर्वैषम्यमित्याशयः । नन्वत्यन्तभेदेऽपि सम्बन्धिसम्बन्धात्पशुयागेऽनुगृहीते वाजपेयोऽनुगृहीत इति बुद्धिवत्स्तोत्रे कृते यागः कृत इति बुद्धिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—वाजपेयस्येति । पशुयागविषयो यागशब्दः । साध्यसाधनभावलक्षणसम्बन्धविशेषस्तु न व्यवधाने सम्भवतीत्याशयः । यथा कथंचिद्यागाश्रयत्वप्राप्तेस्तत्सम्बन्धानुवादोपपत्तावप्यष्टोमाख्यस्तोत्रसाधनसामत्वलक्षणस्याग्निष्टोमसामत्वलक्षणस्याग्निष्टोमसामत्वस्याप्राप्तेरनुवादायोगाद्वाक्यभेदापत्तेश्च विध्ययोगादग्निष्टोमसामशब्दोऽनर्थकः स्यादित्याह—यद्यपीति । आश्रयत्वेन प्रसज्यमानेष्वित्यध्याहारः । अग्निष्टोमसाम्नीति सामशब्दः स्तोत्रलक्षणार्थः । एवमेतस्येत्युभयथा[1] अनर्थकं स्यादित्याह—पुनरपि चेति । सन्निधानेनाग्निष्टुद्यागाङ्गाग्निष्टोमस्तोत्रसम्बन्धलाभशङ्कानिरासार्थम्—वाक्येनेत्युक्तम् । 'एतस्य यदग्निष्टोमस्तोत्रसाधनं साम' तद्रेवतीषु वारवन्तीयं कृत्वा पशून्भावयेदित्यग्निष्टोमसाम्नोऽग्निष्टुता विशेषणे विशिष्टानुवादाद्वाक्यभेदः स्यादित्यर्थः । अथैतस्य यत्स्तोत्रसाम तद्रेवतीषु

१. एवमेतस्येत्यारभ्यऋक्सामित्यन्तस्य ग्रन्थस्य पाठान्तरं वाक्येनेत्यारभ्य ऋक्सामेत्यन्तं ज्ञेयम् ।

वारवन्तीयं कृत्वेति पूर्वं वारवन्तीयस्याग्निष्टुत्सम्बन्धः क्रियते, ततः पूर्ववत्सर्वस्तोत्रान्वयापत्तेरग्निष्टोमशब्दानर्थक्यात्प्रसङ्गात्तत्परिहारार्थं विशेषणे यथा वाक्येनाश्रयकल्पने वाक्यभेदः तथैत्र स्यादित्याह —**तस्यैवेति**। तथैव वाक्यभेदे पौनरुक्त्यमाशङ्क्यैतस्यैवेति विशेषणे यो विशिष्टानुवादलक्षणः, स एवेत्यनेकार्थविधिलक्षणादन्यतोक्ता। रेवतीवारवन्तीयान्वयस्य च क्त्वाप्रत्ययेनाक्षेपोपपत्तेः विधायकानावृत्तावप्येकस्य वाक्यस्यानेकार्थव्यापाराद् गौरवमपरिहार्यमित्याह—**ऋक्सामेति**। वारवन्तीयस्य फलं प्रति विधेयोपादेयगुणभावाद्रेवतीः प्रत्यनुवाद्योद्देश्यप्रधानभावाद्वैरूप्यं चकारेण सूचितम्।

नन्वग्निष्टुत्प्रकरणेनाश्रयान्वयलाभात्तस्मिंश्च वारवन्तीयमग्निष्टोम सामकार्यमिति विधिना वारवन्तीयस्याग्निष्टुत्सम्बन्ध्यग्निष्टोमस्तोत्रान्वयासेनं वाक्यभेदापत्तिरित्याशङ्कते—**ननु चेति**। क्रत्वर्थस्य वारवन्तीयस्याग्निष्टोमस्तोत्रान्वयविधानेऽपि फलार्थस्य कथं तदन्वयसिद्धिरित्याशङ्क्याह—**वारव. ीयं हीति**। वारवन्तीयेन साध्यतया क्रत्वपेक्षणादग्निष्टोमस्तोत्रद्वारैत्र च वारवन्तीयस्य साधनत्वात्क्रतोश्च साध्यत्वात्प्रकृतातिक्रमकारणाभावाच्च नान्यगतत्वाशङ्केत्यर्थः। पुरुषार्थस्य वा [1]वाक्येनाग्निष्टोमस्तोत्राश्रयत्वविधाने च प्रकरणलभ्याश्रयानपेक्षणात्स्वतन्त्राग्निष्टोमस्तोत्रप्रयोगाभावेऽपि क्रत्वन्तरार्थप्रयोज्यस्याप्यग्निष्टोमस्तोत्रस्याश्रयत्वोपपत्तेरेतच्छब्दानर्थक्यप्रसङ्गं परिहर्तुम्, तेनाश्रयविशेषणं वारवन्तीयस्याश्रयान्वयविधिनिमित्तवाक्यभेदवदाश्रयस्याग्निष्टुद्विशेषणविधिनिमित्तोऽपि वाक्यभेदः स्यादित्याह—**पुनरपि चेति**। एतस्य यद्वारवन्तीयं, तद्रेवतीषु कृत्वा पशून् भावयेदिति। प्रकरणप्राप्तक्रत्वङ्गत्वस्यैव वारवन्तीयस्य रेवत्याधारतया विधीयमानस्य फलान्वयविधानात्तस्य च वारवन्तीयाग्निष्टोमसामविधिवाक्येनाग्निष्टोमस्तोत्रद्वारैवाग्निष्टुदङ्गत्वावगमान्नैतद्वाक्यभेदद्वयापत्तिरित्याशङ्क्याह—**एतस्यैवेति**। वारवन्तीयस्य रेवत्यन्वयात्प्रागग्निष्टुदन्वयेऽप्याग्नेय्याग्नीध्रमुपतिष्ठतइत्यत्र प्राकृतानामाग्नेयीनां स्तोत्रादिद्वारा क्रत्वन्वयेऽपि द्वारविशेषानपेक्षे क्रत्वन्वयाश्रयणेनोपस्थानान्वयवद्वारवन्तीयस्याप्यग्निष्टोमस्तोत्रान्वयानपेक्षक्रत्वन्वयमात्रोपलक्षितस्य फलान्वयोपपत्तेः। क्रत्वन्वयप्राग्भाविफलान्वयपक्षवत्पश्चाद्भाविफलान्वयपक्षेऽपि सर्वस्तोत्रान्वयापत्तेः द्वितीयवाक्यभेदाभावे चाद्यो वाक्यभेदः स्यादेवेत्यपिशब्दार्थे वाशब्दः। स एवेत्येवशब्दोत्कर्षाङ्गीकारेण व्याख्येयम्। क्रत्वन्वयानुवादपूर्वं च वारवन्तीयस्य रेवत्यन्वयकरणे कृत्वाशब्दस्यातिगौरवं स्यादित्याह—**ऋक्सामेति**[2]। रेवतीयस्य वारवन्तीयवाक्येन वाऽग्निष्टोमस्तोत्रगामित्वं स्यात्, तद्वाक्यविहिताद्वास्याभेदात्, सामान्यतोदृष्टेन वेति त्रेधा विकल्प्य, गुणादीनां त्वसम्बन्धादिति वार्त्तिके गुणादिवाक्यानामन्योन्यान्वयाभावस्योक्तत्वाद्रेवतीवाक्यस्य वारवन्तीयवाक्यैकत्वाभावेनाद्यं तावत्कल्पं दूषयति—**नैतदिति**। वारवन्तीयरूपैक्येऽपि क्रत्वर्थपुरुषार्थरूपेण भेदाद्देवदत्तस्येव युद्ध-

---

१. इदं पाठान्तरं।

२. इदं पाठान्तरमित्यारभ्यैतावत्पर्यन्तः ग्रन्थः पुनरुक्तः प्रतिभाति।

भोजनावस्थयोः स्थानैक्यनियमो नास्तीति द्वितीयं दूषयति—**पूर्वेति**। पुरुषार्थस्य वारवन्तीयस्यात्मनो व्यापारवत्त्वसिद्धयर्थं क्रतुं साधयतोऽपि क्रत्वङ्गत्वं वैलक्षण्योक्त्या निरस्तम्। ननु वेदस्य तत्स्थानत्वाकल्पकत्वेऽपि क्रत्वर्थवारवन्तीयवत्, क्रत्वन्तःप्रयोज्यवारवन्तीयत्वात्पुरुषार्थस्यापि सामन्यतोदृष्टेनाप्यग्निष्टोमस्तोत्रस्थानत्वकल्पना भविष्यतीति तृतीयं कल्पमाशङ्क्य दूषयति—**सामान्यतोदृष्टेति**। विशेषणेनाधानाङ्गवारवन्तीयादिव्यभिचारनिवृत्तावपि शब्दैकसमधिगम्येष्वर्थेषु सामान्यतोदृष्टप्रमाणत्वस्य 'नैवंजातीयकेष्वेतद्भवति दृष्टाददृष्टसिद्धिरि'तीति पूर्वाधिकरणभाष्येणोक्तत्वान्न सामान्यतो दृष्टेनाप्यग्निष्टोमस्तोत्रस्थानत्वसिद्धिरित्यर्थः। अग्निष्टोमस्तोत्रस्थानत्वानवगतिमेव वृद्धवाक्येनोपपादयति—**आह चेति**। फलाय विहितं सामवेदमध्ये पाठं स्वरूपज्ञानार्थमपेक्षते, न क्रतुकालीनमग्निष्टोमस्तोत्रस्थाने पाठं वारवन्तीयरूपमात्रविधानेनाग्निष्टोमस्तोत्रान्वयनैरपेक्ष्यलक्षणस्वातन्त्र्यावगमादित्यर्थः।

ननूक्थ्यादीनां फले विधीयमानानां ज्योतिष्टोममाश्रयतां वाक्यान्तरवशेनान्ते निवेशवद्वारवन्तीयस्याप्याश्रयभूतेऽग्निष्टुत्यग्निष्टोमस्तोत्रस्थाने विधानात्तत्रैव निवेशो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**यदीति**। स्थानान्तरादर्शनेनोक्थ्यादीनामन्यत्र निवेशो, नाश्रये तत्स्थानत्वदर्शनमात्रादित्याशयः। प्रकृतातिक्रमकारणाभावादिति यदुक्तम्, तदपि दूषयति **यदि चेति**। शङ्कादूषणमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

ननु पुरुषार्थस्यापि वारवन्तीयस्य प्रसङ्गेन क्रतुसाधनत्वात्क्रत्वर्थवारवन्तीयधर्मलाभो भविष्यतीत्याशङ्कते—**ननु चेति**। यथाभ्युदितेष्टयामिज्यार्थयोरपि दधिपयसोस्तण्डुलैः सहश्रपणविधानेन प्रासङ्गिकतण्डुलश्रपणरूपप्रतीतौ कार्यसाधनत्वात्प्रणीताधर्मलाभ इति नावमिकदृष्टान्तार्थः। ग्रहणप्रणयनादीनां प्रणीताद्यङ्गत्वात्, कार्यप्रयुक्तत्वाच्चाङ्गानां प्रणीताकार्यश्रपणापूर्वोपकारित्वावगतेरनङ्गस्थितानामपि चोपकारिस्थितत्वमात्रेणोपकारित्वोपपत्तेः श्रपणोपकारिणोर्दधिपयसोः स्थितानां श्रपणापूर्वोपकारित्वात् प्रणीताकार्यापन्नयोर्दधिपयसोर्युक्तं कारणम्। अग्निष्टोमसामत्वस्य तु क्रत्वर्थवारवन्तीयानङ्गत्वात्, अनङ्गस्य चानतिदेश्यत्वात्क्रत्वर्थवारवन्तीयकार्यापन्नेऽपि पुरुषार्थरूपवारवन्तीये अतिदेशानुपपत्तेर्नानुष्ठानं युक्तमिति वैषम्यमाह—**तत्रैवेति**। क्रत्वर्थवारवन्तीयाङ्गताऽग्निष्टोमसामत्वस्यानाशङ्क्यैवेत्यर्थान्तरन्यासेनाह—**प्रकरणेति**। फलार्थेन वारवन्तीयेन प्रकृताग्निष्टुद्ग्रहणे सति वारवन्तीयस्याष्टुत्साधनत्वे अग्निष्टोमसामत्वस्य द्वारत्वेनोपकारित्वात्पुरुषार्थं वारवन्तीयं प्रति गुणत्वं शङ्क्येत क्रत्वर्थं तु प्रतिगुणताशङ्कितुमप्यशक्येत्याशयः। साक्षाच्च साम्नो यागसाधनत्वाशक्तेरग्निष्टोमस्तोत्रद्वारा यागसाधनत्वम्, यागसाधनत्वाच्चाग्निष्टोमस्तोत्रान्वय इत्यन्योन्याश्रयापत्तेः प्रकृताग्निष्टुद्ग्रहणस्यैवासिद्धत्वात्पुरुषार्थमपि प्रति गुणत्वं नास्तीति—**तदेव त्विस्यनेनोक्तम्**। कदाचिदप्यसिद्धमितिवाच्ये—**मृद्वृत्त्याद्यापीत्युक्तम्**।

नन्वग्निष्टोमसामत्वस्य क्रत्वर्थवारवन्तीयानङ्गत्वेऽपि प्राकृताग्निष्टोमसाम यज्ञायज्ञीयधर्माणां कार्यापत्त्या वारवन्तीयाङ्गत्वात्पुरुषार्थेऽपि वारवन्तीये प्रासङ्गिकक्रतुसाधनत्वात्

प्राप्ते अग्निष्टोमसामधर्मकत्वात् गुणवृत्त्याग्निष्टोमसामत्वानुवादोपपत्तेर्नं वाक्यभेदो भविष्यतीत्याशङ्कामर्थान्तरन्यासेनैव निरस्यन्नाह—**यदि त्विति**। पुरुषार्थस्य वारवन्तीयस्याग्निष्टोमसामशब्दवाच्याग्निष्टोमस्तोत्रसम्बन्धावगमे सत्यग्निष्टोमसामभूतक्रत्वर्थवारवन्तीयधर्माणां पुरुषार्थे वारवन्तीये दधिपयसोरिव प्रणीताधर्माणां प्राप्तिः स्यात् तदनवगमात्तु क्रतुसाधनसामत्वमात्रेण सामान्तरेष्विवाग्निष्टोमसामधर्माप्राप्तेः कार्यप्रयुक्तत्वाच्च धर्माणां वारवन्तीयत्वमात्रेणाधानाद्यङ्गवारवन्तीय इव प्राप्तचयोगान्न गुणवृत्त्याप्यग्निष्टोमसामत्वानुवादोपपत्तिरित्याशयः। अतः प्रासङ्गिकक्रतुसाधनत्वेनाग्निष्टोमसामत्वलाभादपि वाक्यभेदपरिहारो न सम्भवतीत्युपसंहरति—**तस्मादिति**। अतो गुणफलान्वये वाक्यभेदपरिहाराशक्तेः तत्परिहारार्थं यागान्तरविधिरेष्टव्य इत्याह—**इतीति**।

ननु यागान्तरविधावप्राप्तानेकार्थविशिष्टयागविधानाद् गौरवं स्यादित्याशङ्क्याह—**तथा सति हीति**। 'साद्यस्काः साहस्रा' इति चैकेन शब्देन युगपदुपादानलक्षणसङ्ख्याख्यनिकायवतामग्निष्टुदादीनामेकाहानां निकायित्वावान्तरसामान्येन सुसदृशत्वात्पूर्वस्याग्निष्टुतो विध्यन्तो रेवत्यादियागेषु उत्तरेषु प्रवर्त्तते इत्यष्टमे निकायिनां च पूर्वस्योत्तरेषु प्रवृत्तिः स्यादि८-१त्यत्र वक्ष्यमाणत्वात्तदीयधर्मप्राप्तेरित्यर्थः। बहुप्राप्तिमेव विवृणोति—**एषशब्दस्तावदिति**। अतः क्त्वाशब्दाक्षिप्तार्थविशिष्टयागमात्रविधानाल्लाघवमित्युपसंहरति—**क्त्वाशब्देति**।

ननु रेवतीवारवन्तीयान्वयस्याग्निष्टोमस्तोत्रक्रियाविशेषणत्वात्तस्याश्चेहाविधेयत्वात् न विशिष्टविधिः सम्भवतीत्याशङ्कते—**न त्विति**। एतदेव विवृणोति—**तथा हीति**। श्लोकं व्याचष्टे—**यानीति**। अग्निष्टोमस्तोत्रस्याविधेयत्वात्तत्विशेषणत्वेन रेवतीवारवन्तीयान्वयानपेक्षेऽपि क्त्वाशब्दोक्तायाः अग्निष्टोमस्तोत्रभावनायाः स्वरूपेण प्राप्ताया अपि रेवतीवारवन्तीयान्वयविशिष्टरूपेणाप्राप्तेस्तादर्थ्येन विधेयत्वात्तद्विशेषणसत्त्वेनाक्षेपोपपत्तेर्वाक्यभेदाप्रसङ्गाद्विशिष्टविधिः सम्भवतीति परिहरति—**नैष इति**। करोत्यर्थमिति वाच्ये करोत्यर्थस्याकारकर्त्वात्क्रियारूपभावनान्वयायोगाशङ्कानिरासार्थं धातुसम्बन्धाधिकारविहितक्त्वाप्रत्ययसामर्थ्यात्क्रिययोरप्यन्वयः प्रतीतेः क्रियाकारकलक्षणान्वयायोगेऽपि च समानकर्तृकत्वेन पूर्वोत्तरकालत्वेन च विशेषणविशेष्यरूपान्वयोपपत्तिसूचनार्थं क्त्वान्तकरोत्युक्तिः। ननु क्त्वाशब्दोक्तभावनाद्वारा यागभावनाया रेवतीवारवन्तीयान्वयग्रहणेऽप्यग्निष्टोमसाम्ना विशेषणे वाक्यभेदापत्तेरग्निष्टोमस्तोत्रावच्छिन्नैव भावना क्त्वाशब्देनोक्तेति ज्ञातुमशक्यत्वाद्वारवन्तीयस्य च स्वरूपेणातिदेशतो अग्निष्टोमस्तोत्रान्वयप्राप्तावपि रेवत्याधाररूपेणाप्राप्तेस्तद्रूपविधावग्निष्टोमसामत्वानुवादायोगादग्निष्टोमसामशब्दोऽनर्थकः स्यादित्याशङ्क्याह—**नवेनेति**। भावनावच्छेदकधात्वर्थान्वयं विना रेवतीवारवन्तीयान्वयस्य भावनाविशेषणत्वायोगात्साम्नश्च यागसाधनत्वाशक्तेः प्रधानभूतयागाख्यधात्वर्थान्वयायोगाद्रेवतीषु वारवन्तीयं यागसाधनं कृत्वेति, यागस्य क्त्वाशब्दोक्तभावनावच्छेदकत्वानुपपत्तेस्तदवच्छेदकधात्वर्थापेक्षायां वारवन्तीयस्यातिदेशतो अग्निष्टोमस्तोत्रभावनाविशेषणत्वावगतेर्वारवन्तीयान्वितानां

रेवतीनामपि तद्विशेषणत्वावगताद्रेवत्यधारस्य वारवन्तीयस्याप्यग्निष्टोमसामत्वानुवादोपपत्तिरित्याशयः। आद्यं श्लोकं व्याचष्टे—रेवतीति। कृदन्ताक्षेपशब्दयोगेन क्रतोरिति षष्ठ्याः कर्तृवाचित्वात्स्वविशेषणस्यैव क्रतुनाक्षेप इत्यर्थः। द्वितीयो व्याचष्टे—सत्त्विति। साक्षाद्रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धोपजीवनाशक्तेर्गुणत्वेन चानर्थक्यतदङ्गन्यायविषयत्वादङ्गेषु तत्सम्बन्धं विक्षेप्तुमारभमाणः क्रतुः क्वाङ्गे निक्षेसव्य इत्यपेक्षायां वारवन्तीयस्यातिदेशेन विज्ञातस्थानत्वाद्रेवतीरपि तत्स्थानाः कल्पयतीत्यत्र वाक्येऽग्निष्टोमस्तोत्रसाधनायाविधानेऽपि रेवतीवारवन्तीयान्वयः क्रतुविशेषणमप्यग्निष्टोमस्तोत्रे संक्रामतीत्यग्निष्टोमसामशब्दानर्थक्यदोषो नास्तीत्यर्थः। एवमद्रव्यदेवतात्मकत्वेन वारवन्तीयस्य यागसिद्धचशक्तत्वान्न साक्षात्प्रकृतयागान्वयोऽस्ति। अङ्गावतारन्यायाविषयत्वाच्च स्तोत्रद्वारापि पुरुषार्थत्वपक्षे नास्ति। क्रत्वर्थत्वपक्षे त्वङ्गावतारन्यायविषयत्वादस्तीति वैषम्यमुक्त्वा, साम्नः स्वयं क्रियारूपत्वेनाश्रयभूतक्रियान्तरानपेक्षत्वात्पुरुषार्थस्य चाङ्गत्वेनान्वयायोगादिति वक्ष्यमाणादपि कारणात्प्रकृतयागान्वयो नास्तीत्याह—अतश्चेति। परपक्षदूषणवेलायामेवेतदपि कारणं वाच्यं-सत्कस्मात्स्वपक्षसमर्थनात्पश्चादुक्तमित्याशङ्क्य, मन्दत्वसूचनायेतीषदर्थवाच्याङ्प्रयोगेण दर्शितम्। वारवन्तीयस्य गीतिरूपत्वेन क्रियात्वादाश्रयभूतक्रियानपेक्षत्वे सौभरस्यापि वृष्ट्यादिफलार्थस्यानेनैव न्यायेनाश्रयानपेक्षत्वाद्व्यूहः। क्रतुप्रयोगापत्तेः क्रत्वङ्गभूतस्तोत्राश्रयत्वप्राप्त्यभावेन स्तुवीतेत्यनुवादानुपपत्तिप्रसङ्गात्करणनिर्देशमात्रेण त्वाश्रयापेक्षत्वे यागादेरपि करणत्वाभ्युपगमादाश्रयापेक्षापत्तेर्वारवन्तीयस्यापि च फलभावनाकरणत्वे पशुकामो ह्येतेनेत्येतच्छब्देन परामर्शापत्तेः करणत्वनिर्देशेनाश्रयापेक्षत्वस्यापरिहार्यत्वप्रसङ्गाद्यागादिवच्च सौरभस्यापि फलभावनाकरणत्वमात्रात्करणत्वनिर्देशोपपत्तेः। प्रत्युतैकक्रियाकरणस्यान्यकरणत्वानुपपत्तेः फलभावनाकरणत्वमात्रात्करणत्वनिर्देशोपपत्तेर्वाच्यत्वादनभिमतैव साम्नः क्रियारूपता प्रौढ्योक्तेति गम्यते। षड्जादिस्वरसमूहात्मकत्वेन गीतेः सिद्धरूपत्वात्तद्रूपस्यापि साम्नः क्रियात्वाभावात् अपि तु कर्मशब्दः स्याद्भावोऽर्थः प्रसिद्धग्रहणत्वाद्विकारो ह्यविशिष्टोऽन्यैरि-७-२-ति सासमिक्याश्च क्रियात्वोक्तेः 'सामार्थो यः कश्च गीतेः सस्वर' इति श्रुतेः सामशब्दस्य षड्जर्षभगान्धारमध्यमपञ्चमधैवताख्यस्वरसमूहवाचित्वावगमात् स्वरशब्दस्य च [मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरमि] त्यादिदर्शनाद्वायवीयसंयोगविभागजनितनादाख्यध्वन्यपरपर्यायघोषात्मकशब्दपरत्वावगतेस्तस्य चाकाशगुणत्वप्रसिद्धेः, क्रियात्वे च साम्नो अशब्दात्मकत्वेनोच्चारणाख्याध्ययनायोगात्सामान्यधीयतइति प्रयोगायोगापत्तेर्ध्वनिनाप्रापरपर्यायस्वरात्मकगीतिजनिकायामुच्चारणक्रियायामृचं प्रति प्रधानसाम्नो गुणभूतत्वाय संस्कारकर्मत्वव्यपदेशसिद्धयर्थं गीतित्वमुपचर्य व्याख्यातुं शक्यत्वादुच्चारणक्रियाद्वारैव च वक्ष्यमाणाधिकरणस्थायाहीपयादिप्रति सौरभस्याश्रयत्वोपपत्तेरुपपादयितुं शक्यत्वाद्वारवन्तीयस्य च क्रियात्वे तस्यैवाग्निष्टुतो अग्निष्टोमस्य गुणे वारवन्तीये पशवः फलमिति पूर्वपक्षवचनव्यक्तचयोगात्सन्देहासम्भवेनाधिकरणा रम्भानापत्तेर्न पारमार्थिकी क्रियात्वोक्तिः ससमाधिकरणे तु स्वरस्य सामत्व निरासो न ह्यभिवत्पक्षेणामभिव्यञ्जको योऽनादेः स कवतीषु भावयितुं शक्यो, यदि भाव्येत न

कवत्यो भवेयुरिति तत्रत्यभाष्यालोचनयैव गीत्याख्यषड्जादिस्वराभावेऽप्यक्षराभिव्यक्तिदर्शनेन तेषां स्वानुरक्तत्वरूपाभिव्यञ्जकत्वेऽप्यक्षरस्वरूपानभिव्यञ्जकत्वात्तदभिव्यञ्जकवायवीयसंयोग-विभागानां स्वरजनकत्वात्स्वरत्वमुपचर्यतइति द्रष्टव्यम्। तद्वैधर्म्योक्त्यैव षड्जादिस्वरूपस्यार्थ-स्याभिवनीयस्य कवतीषु भावयितुं शक्यताया भावोऽर्थ इति, तत्रत्यसिद्धान्तसूत्रावयवेना-भिधानात्तेनापि क्रियावाचिता सामशब्दस्योक्तेति नाशङ्कनीयम्। रथन्तरादिशब्दस्य च गायति वाच्यत्वेन प्रसिद्धगानवाचित्वादृग्वाचित्वे प्रसिद्धग्रहणत्वादित्यवयवेन निरस्ते, हन्तिपिष्यादि-जन्यविकारवदृग्विकारवाचित्वात् दृग्वाचिता न युक्तेति, विकारो ह्यविशिष्टोऽन्यैरित्य-न्त्यावयवेन हेत्वन्तराभिधानान्न हन्त्यादिदृष्टान्तोक्त्या क्रियात्वं सामसु चिन्तितमिति शङ्कनीयम्। किं तत्कारणमित्यपेक्षायामाह—**पश्येति**। श्लोकं व्याचष्टे—**दधीति**। गडि-वदनैकदेशे शकिशक्तौ विशिअवयवइत्यादावक्रियायामपि धातुस्मृतेर्गण्डादिशब्दाच्च क्रिया-नवगतेर्धातुवाच्यत्वमात्रात् क्रियात्वासिद्धेः परमार्थतो वारवन्तीयस्याव्यापारत्वेनाक्रियात्वेऽपि प्रायेण धातूनां क्रियावाचित्वादौपचारिकक्रियात्वसूचनार्थं धातुवाच्यत्वोक्तिः। क्रियानपेक्षत्वे को दोष इत्यपेक्षायामाह—**ततश्चेति**। सिद्धान्तमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

सूत्रतात्पर्यं व्याख्याय, भाष्यमनुसन्दधानः समेष्विति सूत्रावयवं भाष्यकृद्व्याख्यानस्य क्लिष्टत्वात्स्वयं तावद्व्याचष्टे—**समेष्विति**। गुणशब्दस्येह सिद्धरूपार्थवाचित्वादाश्रयत्वान-पेक्षत्वेऽभ्युच्चयमात्रेण क्रियात्मकत्वहेतूक्तिः। भाष्यकृद्व्याख्यानमपि समर्थयते—**भिन्नेति**। न हीति भाष्यमप्राधान्याद्रेवतीनामेतच्छब्दान्वयायोगादप्राप्तेश्चोद्देश्यत्वायोगाशङ्कानुप-पत्तेरयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**न हीति**। वारवन्तीयात् प्राथम्योक्ते[र्यद्वृत्तयोगः प्राथम्य-मित्याद्युद्देश्यलक्षणमि]ति न्यायेनोद्देश्यत्वम्, उद्देश्यत्वाच्च प्राधान्यमप्याभातीत्यानन्तर्योक्त्या सूचितम्। ननु सतीष्वपि रेवतीषु विशिष्टानुवाददोषः प्राप्नुवन्कस्मानोक्त इत्याशङ्क्याह—**तत्रेति**। तच्चाग्निष्टोमसामेत्यपरोऽपि वाक्यभेदः प्राप्नोतीति सूचनायैकशब्दः। असतीनां च रेवतीनां फलार्थवारवन्तीयान्वयविधौ क्रत्वन्वयाप्तेरन्यत्र च गुणभूतानामन्यान्वयविध्ययोगा-द्धेतच्छब्दोऽर्थशून्यः स्यादित्येतच्छब्दान्वयानुक्त्या सूचितम्।

भाष्यकृतेत्युत्तरभाष्यपातनिकार्थमाह—**तच्छब्देति**। शुद्धानां रेवतीनां वारवन्तीयं प्रति विधौ पश्चादग्निष्टुद्यागान्वयायोगेऽपि प्रागेव यागान्वयितया तां विधाय, तासां च यागान्वये द्वारापेक्षायाम्, द्वारतया वारवतीयान्वयं विधाय, यागविशिष्टरेवतीविशिष्टस्य वारवन्तीयस्य फलान्वयविधिर्भविष्यतीत्याशङ्कार्थमथेति भाष्यं व्याचष्टे—**अथ त्विति**। रेवतीविशिष्टस्य वारवन्तीयस्याग्निष्टोमसामत्वाप्राप्तेरनुत्रादायोगाद्वाक्यभेदापत्तेश्च विध्य-योगादग्निष्टोमसामशब्दानर्थक्यदोषोक्त्यर्थं 'तथेति भाष्यं रेवतीयागान्वयरेवतीवारवन्तीया-न्वयवारवन्तीयफलान्वयरूपार्थत्रयविधिनिमित्तवाक्यभेदानुपन्यासयुक्तमाशङ्क्य व्याचष्टे—**तथापीति**।

गौणं लाक्षणिकं वापि वाक्यभेदेन वा स्वयम्।
वेदोयमाश्रयत्यर्थं को नु तं प्रतिकूलयेत्॥ (तं० वा० पृ० २२३)

इत्यनेन न्यायेन वाक्यभेदत्रयाभ्युपगमवच्चतुष्टयाभ्युपगमेऽप्यदोष इत्याशयेनाशङ्कार्थमथेति भाष्यं व्याचष्टे—**अथेति**। एतस्यैवेति परिहारभाष्यमेतत्पदानुरोधेनैवाग्निष्टुद्रेवत्यन्वयाभ्युपगमादयुक्तमाशङ्क्य, द्वेधा व्याचष्टे—**तथा सतीति**। वारवन्तीयस्याग्निष्टोमसामत्वविधावनुज्ञाते वाक्यभेदत्रयातिरेकापत्तेस्तत्परिहारार्थमग्निष्टुद्रेवत्यन्वयविध्यपगमाद्वाक्यभेदत्रयातिरेकापत्तेरेव चैतच्छब्दस्य रेवतीशब्दवदग्निष्टोमसामशब्देनाप्यनन्वयादानर्थक्यम्। तच्चैतस्याग्निष्टोमसामेत्यन्वयविधौ वाक्यभेदत्रयातिरेकापत्तेरित्याद्यन्याख्यानेऽर्थः। रेवतीविशेषणत्वेनैतच्छब्दविवक्षायामपि वाक्यभेदपञ्चकापत्तेः सकृच्छ्रुतस्यैतच्छब्दस्यानेकविशेषणात्वायोगादग्निष्टोमसामविशेषणत्वाविवक्षाविवक्षायां वा वाक्यभेदपञ्चकापत्तिरिति द्वितीये। यथा विशिष्टानुवादपक्षे यथाक्रममवस्थितस्यैतच्छब्दस्य रेवतीविशेषणत्वम्, तथा रेवत्युपादानपक्षेऽपि यथाक्रममेवावस्थानम्, नोत्कर्ष इत्येवकारार्थः। अस्मिन्पक्षे रेवतीनामुपादेयत्वात्सामाम्नायसिद्धा या रेवत्यः। ता एतस्याग्निष्टुतः कार्या इति स्वरूपानुवादार्थतया यच्छब्दो योज्यः।

सिद्धान्तेऽपि कर्मान्तरस्य क्रियान्तरविशेषणस्यैव विधानात् वाक्यभेदोऽपरिहार्य इत्याशयेनाथेति प्रश्नभाष्यं गुणे पुनः फले कल्पनातः इत्यादिभाष्येण पूर्वपक्षे वक्ष्यमाणानां वाक्यभेदानामसमासत्वान्मध्ये सिद्धान्तदोषं शङ्कानवकाशादयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**इहैवेति**। यागान्तरस्याग्निष्टुद्यागाङ्गत्वेन विधिः। गुणविशिष्टस्य वाग्निष्टुतः फले विधिः। फलार्थस्यापि वा गुणस्य प्रकरणप्राप्तागाङ्गत्वानुवाद इति पक्षान्तराणां सिद्धान्तप्रतियोगित्वात्पूर्वपक्षत्वमभ्युपेत्यापि प्रश्नावसरसमर्थनायैतदुक्तं फले गुणविधिः प्रकरणप्राप्ताश्रयीभूतयागानुवादश्चेति। त्वन्नत्यपूर्वपक्षवचनव्यत्ययः सर्वा निरस्ता एव। विस्मयहेतुदर्शनपूर्वं भाष्यं व्याचष्टे—**तथा नानेति**। यजेतेति विदितस्यैतद्वचनमिति पूर्वभाष्योक्तयागानुवादद्वारेतरानुवादसिद्धिः, एवं च सति विपरिवृत्तिप्राप्तौ यजिरित्यादिवार्त्तिकोक्त्या तथा शब्देन परामृष्टायागस्यायोग्यत्वेनाश्रयत्वाप्राप्तेर्वस्तुतोऽसम्भवन्नप्यनुवादः पूर्वपक्षे स्थित्वोक्त इति नामशब्देन सूचितम्।

रेवतीष्वित्युत्तरभाष्यं व्याचष्टे—**सिद्धान्तेति**।

नन्विति प्रश्नाशयविवरणभाष्यं स्वविशेषणविशिष्टायाः क्त्वाशब्दोक्ताया भावनाया यागभावनाविशेषणत्वाद्विशिष्टैकार्थविध्युपपत्तेरयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**नन्विति**। क्त्वान्तत्वोक्त्या 'तस्य वायव्यास्वेकविंशमग्निष्टोमसाम कृत्वेति' कृत्वाशब्दोक्तभावनाया रेवती यागेऽतिदेशप्राप्तायाः प्रत्यभिज्ञानादविधेयत्वेन विधेयभावनाविशेषणत्वायोगः सूचितः। स्वरूपेणाविधेयत्वेऽपि रेवतीवारवन्तीयान्वयविशिष्टरूपेण विधेयत्वाद्विशेषणत्वोपपत्तिरित्याशयेनेतीति परिहारभाष्यं व्याचष्टे—**नेति**। उच्यतइत्याशङ्काभाष्यं विधेययागभावनाविशेषणत्वात्कृत्वाशब्दार्थस्य लिङ्गार्थाद्विधानेऽपि, रेवतीवारवन्तीयान्वयो लिङा, क्त्वाप्रत्ययेन वा न विहित इत्येवं व्याचष्टे—**रेवतीनामिति**।

ननु रेवतीवारवन्तीयैरन्वयाविधानेऽप्युभयोः क्त्वाशब्दोक्तैकभावनाविशेषणत्वेनारुणै-कहायनीवदन्योन्यनियमसिद्धेः। समभिव्याहारलभ्यान्वयप्रतीतिरविरुद्धेत्याशङ्कानिरासार्थं तत्रेति भाष्यमरुणैकहायनीन्यायवैषम्योक्त्यशक्तेरयुक्तमाशङ्कचोपपादयति—तेनेति। रेवतीवारवन्तीयविशिष्टक्त्वाशब्दार्थविशिष्टयागभावनाविध्यर्थाक्षेपात्क्त्वाशब्दार्थस्य रेवतीवारवन्तीयविशिष्टत्वप्रतीत्या तयोरन्योन्यनियमः प्रतीतोऽप्यविधेयत्वान्नादर्त्तव्य इत्याशयः। सम्बद्धेति विशेषणप्रधानो निर्देशः। नन्वविधेयत्वे रेवतीवारवन्तीययोरप्रयोग एव स्यादित्याशङ्कच—यागेत्युक्तम्। क्त्वाशब्दोक्तभावनाविशेषणत्वेन प्रतीयमानयोः कथं यागभावनाविशेषणतेत्याशङ्कच—यद्यपीत्युक्तम्। रेवतीवारवन्तीयसम्बद्धत्वरूपेणोक्तत्वात्सम्बद्धत्वरूपेण सतीं प्रतीयमानामपि क्त्वाशब्दवाच्यां सम्बद्धत्वरूपस्याविधेयत्वाच्छुद्धायाश्चानुष्ठानाशक्तेरनादरणीयत्वादसतीमप्रतीयमानामिव प्रतिपद्य रेवतीष्वन्यान्यपि सामानि प्राप्नुवन्ति, सामाप्यन्यास्वृक्षु प्राप्नोतीत्यध्यवस्यतीत्यध्याहारेण ल्यप्प्रत्ययो योज्यः। सन्निहितक्त्वाशब्दोक्तभावनाविशेषणत्वस्याविधेयत्वेनानादरणीयत्वाद्व्यवहितयाप्येकवाक्योपात्तया प्रधानभूतया यागभावनयाऽन्वयो युक्त इत्याशयः।

ननु यागभावनाविशेषणत्वेऽपि साक्षात्तदन्वयायोगात्, अङ्गत्वेन चाङ्गावतारन्यायविषयत्वात्तदङ्गावतारावगतेः। कस्मिन्नङ्गविशेषेऽवतार इत्यपेक्षायाम्, वारवन्तीयस्य प्रकृतावग्निष्टुत्यग्निष्टोमस्तोत्रविषयत्वेनेहापि तद्विषयत्वावगमाद्रेवतीनां चाधारत्वश्रुतेः। सामैव प्रत्यृचामाधारत्वप्रसिद्धेः सामान्तराणां चातिदेशतो निर्ज्ञातचेनर्गन्तरानाकाङ्क्षत्वादेकाग्निष्टोमस्तोत्रविषयतयान्योन्यनियमः सेत्स्यतीत्याशङ्कच—एकस्तोत्रेत्युक्तम्। वारवन्तीयस्याग्निष्टोमस्तोत्रविषयत्वेनातिदेशतः प्राप्तेरुपदेशानर्थक्यापत्तेः स्तोत्रान्तरविषयत्वावगमाच्चात्र च प्राकृतसामकार्यापत्तिप्रमाणाभावेनाधिक्यावापावगतेरारोप्यमाणानां च साम्नां 'त्रीणि ह वै' यज्ञस्योदराणि गायत्रीबृहत्यनुष्टुप्स्वत्र ह्येवावपन्त्यत एवोद्वपन्तीति श्रुत्या प्राकृतीष्वेव गायत्र्यादिष्वभ्यस्यमानासु निवेशावगतेः ऋगन्तरानाकाङ्क्षत्वाद्रेवतीनां तद्विषयत्वानवगतेरेकस्तोत्रविषयत्वानियमादेकस्तोत्रविषयत्वेऽपि वानेकसामकयोर्माध्यन्दिनार्भवपवमानयोर्यस्मिन्नेवाद्ये, मध्यमे, अन्त्ये वा स्तोत्रैकदेशे वारवन्तीये तस्मिन्नेव रेवत्यइति नियमाभावान्नान्योन्यनियमः सेत्स्यतीत्याशयः। उप्यन्ते प्रक्षिप्यन्ते सामान्यास्त्विति अधिकरणवाचि घञन्तेनावापशब्देनागन्तुकस्य साम्नोऽभिनिर्ज्ञातप्राकृतर्गाधारत्वेनाधारभूतर्गन्तरानाकाङ्क्षत्वं सूचितम्।

एवं सति को दोष इत्यपेक्षायामाह—तत्रेति। तेनानयोरन्वयायातिदेशेऽवगताग्निष्टोमस्तोत्रस्थानवारवन्तीयोद्देशेन रेवतीविध्यापत्तेर्यागभावनानन्वयान् दुष्परिहरो वाक्यभेदः स्यादित्याह—अत इति। यागभावनान्वयनिरासायैवकारः। नैष दोष इत्यादिपरिहारभाष्याशयमाह—नैष इति। अप्राप्तविषयत्वं विधिशब्देनोक्ता अप्राप्तेऽर्थे क्त्वेत्यस्य विध्यन्वयः विधेयत्वाख्यः फलमित्यर्थः।

श्लोकार्थमुपपादयति—सर्वत्रैवेति। क्त्वाशब्दार्थविशिष्टयागभावनाविधिना विशेषणस्याविधानेऽपि क्त्वाप्रत्ययेन धातुवाच्यायाः क्रियायाः क्रियान्तरसमानकर्तृकत्वाभिधानात्,

अनुष्ठानं च विना कर्तृत्वायोगादनुष्ठानागवतेरप्राप्तत्वाच्च रेवतीवारवन्तीयानुवादायान्वयक्रियाया 'अभिषुत्य हुत्वेति'वन्निमित्तार्थश्रवणायोगादनुष्ठानानुवादानुपपत्तेः, विधावस्मृतस्यापि क्त्वा शब्दस्यार्थाद्विध्याक्षेपकत्वाद्विधेयं क्त्वा शब्दार्थविशेषणस्य रेवतीवारवन्तीयान्वयस्य विधेयत्वोपपत्तिरित्याशयः ।

क्त्वाशब्दोक्तायाः क्रियायाः प्राप्तत्वान्निमित्तार्थश्रवणोपपत्तिमाशङ्क्य, स्वरूपेण प्राप्तावपि रेवतीवारवन्तीयान्वयवैशिष्ट्यरूपेणाप्राप्तेः, तदर्थ्येनैव च विधेयत्वाभ्युपगमान्न निमित्तत्वाश्रयणं युक्तमिति—**न चेहेत्यनेनोक्तम्** । द्वाविति भाष्यं शङ्कोत्तरत्वेन व्याचष्टे—**यदि तर्हीति** । यथेति दृष्टान्तभाष्यमपि सकृदुच्चरितस्य क्त्वाप्रत्ययस्यानुष्ठेयत्वपूर्वकालत्वरूपानेकार्थपरत्वायोगादाप्रवृत्तिलक्षणो वाक्यभेदः स्यादिति शङ्कोत्तरत्वेन व्याचष्टे—**कथमिति** । पूर्वकालत्वानुष्ठेयत्वयोर्विशेषणविशेष्यभावात्पूर्वकालत्वविशिष्टानुष्ठेयत्वरूपैकार्थोपपत्तेर्विशिष्टरूपेण च क्त्वाप्रत्ययेनोपादानादेकशब्दोपादानलक्षणाया अपि च वाक्यभेदपरिहारप्रक्रियायाः शोणशब्दे च त्वैकार्थसमवायिरक्तावान्तरजातिवाचिनि दृष्टत्वान्न वाक्यभेदापत्तिरित्याशयः ।

क्त्वाप्रत्ययान्निष्पादितापरपर्यायानुष्ठानावगमेऽपि भुक्त्वागच्छतीत्यादौ विध्यभावे तत्कार्यत्वाप्रतीतेः क्त्वाशब्देनैव च तदर्थाविधौ 'न चेदन्येन शिष्टा' इत्यनेन न्यायेन विशिष्टयागभावनाविध्ययोगापत्तेर्भाष्योक्तपरिहारापरितोषात्स्वयं निर्विशेषणस्य करोत्यर्थस्य विशेषणत्वायोगाद्रेवतीवारवन्तीयान्वयस्य विधेययागभावनाविशेषणान्तर्भावाभ्युपगमेन लिङैव विधेयत्वमुपपादयति—**अथ वेति** । द्रव्यस्याविशेषितस्यापि स्वरूपमात्रेण विशेषणत्वोपपत्तेः, तद्विशेषणस्यानन्तर्भावादविधेयत्वेऽपि करोत्यर्थस्याविशेषितस्य निरूपणाशक्तेर्विशेषणत्वायोगाद्विधेयविशेषणान्तर्गतत्वाद्रेवतीवारवन्तीयान्वयस्य विशेषणविशेषणत्वेऽपि विधेयता युक्तेत्याशयः ।

श्लोकं व्याचष्टे—**तत्रेति** । पश्वेकत्वाधिकरणपूर्वपक्षन्यायस्यापि क्रियाविशेषणत्वहेतुकविवक्षासिद्धान्तेनाबाधादुपन्यासः । यागभावनाविशेषणस्य करोत्यर्थस्य रेवतीवारवन्तीयान्वयविशिष्टतां विना विशेषणत्वायोगात्सावश्यमभ्युपगन्तव्येत्युक्ते, कथं पदान्तरोपात्तस्यान्तर्गतिरित्यपेक्षायां, यस्योभयं हविरार्त्तिमाच्छेदित्यत्रार्तेर्निमित्तभूतया 'मृष्यामहे हविषा विशेषणमि६-४ति वदता भाष्यकारेण पदान्तरोक्तहविर्विशिष्टाया आर्त्तेर्निमित्तात्वोक्त्य निमित्तान्तर्गतिमुक्तां दृष्टान्तत्वेन सूचयितुमार्त्यधिकरणभाष्यं पठितम् । ननु विशेषणविशेषणस्य कथं प्रधानान्वय इत्याशङ्क्याह—**तथा चेति** । अङ्गगुणविरोधे च तादर्थ्यादि-१२-३त्यत्राङ्गसाद्गुण्यानुष्ठानस्य प्रधानसाद्गुणार्थताया वक्ष्यमाणत्वादित्याशयः । रेवतीवारवन्तीयान्वयविध्युपपादनस्यानियमाशङ्कापरिहारोपयोगमाह—**तस्मादिति** । रेवतीवारवन्तीयान्वयेन विशेषितायां क्त्वाशब्दोक्तायां भावनायामृक्सामयोर्नियम इत्युक्ते तस्याः पूर्वकालत्वलक्षणनिष्पन्नरूपत्वात्कथमनिष्पन्नरूपेणान्वयेन विशेषणमित्याशङ्क्य, शुद्धस्य

करोत्यर्थस्य पूर्वकालत्वनिरूपणाशक्तेर्विशिष्टस्य पूर्वकालत्वोक्त्या विशेषणस्य पूर्वकालत्वोक्तिर्निष्पन्नशब्देन सूचिता ।

ननु वारवन्तीयस्यातिदेशतोऽग्निष्टोमस्तोत्रसाधनत्वावगमात्, तस्य च सर्वस्तोत्रान्त्यत्वेन यागात्प्रागयोगात्पूर्वकालत्वानुपपत्तेः । क्त्वाप्रत्ययस्य च 'मुखं व्यादाय स्वपितीतिवत्समानकर्तृकत्वमात्रेणोपपत्तेः, पूर्वकालवाचित्वायोगान्न तद्वशेनानुष्ठेयतया क्त्वाप्रत्ययोपात्तस्य रेवतीवारवन्तीयान्वयस्योत्तरक्रियान्वयः सिद्ध्येदित्याशङ्क्याह—**क्त्वाशब्दश्चेति** । मुखं व्यादाय स्वपिति, सम्मील्य, हसतीत्युपसङ्ख्यानात्समानकर्तृत्वमात्रवाचित्वेऽपीह स्मृतेः प्रयोगाच्च पूर्वकालवाचित्वस्यावगतस्य त्यागायोगादनेकार्थस्य करोतेरिहानुष्ठानवाचित्वायोगेऽपि यागप्रक्रमात्प्रागेवाविकलानुष्ठानसिद्ध्यर्थं सर्वं पदार्थानामिदं करिष्यामीत्येवमध्यवसेयत्वाद्वाचा करोति मनसा करोतीत्यादौ चाध्यवसानेऽपि प्रयोगदर्शनात्परिकल्पनाध्यवसानापरपर्यायप्रतिपत्तिवाचित्वावगतेः । सामानुष्ठानस्य चर्त्विक्कर्तृत्वाद्यजमानकर्तृकयागसमानकर्तृकत्वस्याप्यनुपपत्तेः क्त्वाप्रत्ययस्य, पूर्वकालवाचित्वाविरोध इत्याशयः ।

नन्वेवमपीत्याशङ्काभाष्यमर्थैकत्वादेकं वाक्यमित्यत्रार्थशब्दस्य प्रयोजनवाचित्वाभ्युपगमाद्वाच्यभेदमात्रेण वाक्यभेदानापत्तेरयुक्तमाशङ्क्य, विधिप्रयोजनत्वाद्वाक्यस्य विधेयभेदाशयत्वेन व्याचष्टे—**नन्विति** । नैष इति परिहारभाष्यं रेवत्याभिधानस्याप्यप्राप्तार्थत्वेन विधिप्रयोजनत्वाद्विधेयभेदप्रतीतेरयुक्तमाशङ्क्य रेवत्यादिविशिष्टैकयागभावनाविधिसिद्ध्यर्थं रेवत्याद्यभिधानोपपत्तेर्न विधेयभेदोऽस्तीत्येवमर्थत्वेन व्याचष्टे—**नैष दोष इति** । वाच्यनानात्वेनाऽनेकार्थत्वस्यार्थैकत्वादित्यत्र प्रयोजनैकत्वादुपपन्नमिति भाष्येण निरस्तत्वात्प्रयोजनस्य च विशिष्टभावनाविधानस्यैकत्वान्न वाक्यभेदापत्तिरित्युक्ते भावनाया विधेयत्वे यागविध्युक्तिर्भाष्यकारीया न युक्तेत्याशङ्क्य—**सा चेत्युक्तम्** ।

नन्वितिभाष्यं पूर्वशङ्काशयविवरणार्थत्वेन व्याचष्टे—**नन्विति** । वाच्यानेकत्वनिमित्तानेकार्थत्वशङ्काभ्रान्तिनिवृत्त्यर्थम्—**यदीत्युक्तम्** । अत्रेति परिहारभाष्यं विशिष्टविध्यन्यथानुपपत्तिकल्पितैर्विधिभिरनेकार्थविधानेऽपि प्राधान्येनैव विधेयस्य प्रयोजनत्वात् तस्य चात्रैकत्वान्न वाक्यभेदापत्तिरित्येवमर्थत्वेन व्याचष्टे—**उच्यतइति** । न हीति भाष्यावयवमनेकप्राधान्यनिरासोपपादनार्थत्वेनावतारणपूर्वकं व्याचष्टे—**तदाहेति** । एतदेवोपपादयति—**तथा हीति** । धारणव्यापृतरेवतीपर्यवसाने रेवत्यो धारयेयुरिति निर्देशप्रसङ्गाद्रेवत्याश्रयणव्यापृतवारवन्तीयपर्यवसाने, सम्बन्धिद्वयसम्बन्धेन व्यापृतसम्बन्धपर्यवसाने वा रेवतीषु वारवन्तीयं कुर्यादिति निर्देशापत्तेः फलपर्यवसाने पशवः स्युरिति निर्देशापत्तेः, तच्छब्दपरामृष्टरेवत्यो वारवन्तीयमिति भाष्योक्तरेवतीवारवन्तीयतत्सम्बधयागपशुक्रियाणां यजमानव्यापारयागभावनान्तरव्यापारत्वावसायात्ततः प्राग्विधेरपर्यवसानापत्तेर्नानेकस्य प्राधान्येन विधिः सम्भवतीत्याशयः ।

तस्मादिति वाक्यभेदपरिहारोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति** । ननु गुणफलान्वयपक्षेऽप्येतच्छब्दस्याग्निष्टोमसाममात्रविशेषणत्वाभ्युपगमादेतच्छब्दस्योभयविशेषत्वनिमित्तो वा-

क्यभेदः परिहर्त्तुं शक्य इत्याशङ्कानिरासार्थं 'गुणे पुनरि'ति भाष्यं व्याचष्टे—**गुणेति**। तथाप्यग्निष्टोमसाम्नो वारवन्तीयेनाग्निष्टुतान्वयविधानाद्वाक्यभेदोऽपरिहार्य इत्याशयः। अथेति भाष्येणाग्निष्टुद्यागाङ्गत्वेन यागान्तरं रेवतीवारवन्तीयवाक्येन विधास्यतइत्याशङ्क्य, तथाप्रीत्यनेन निरस्तम्। तदनेनापि प्रकारेण कर्मान्तरत्वसिद्धेः पूर्वपक्षानुपयोगित्वात्सिद्धान्ताविरोधाच्चानर्थकमित्याशङ्क्याह— **:थेति**। शङ्काभाष्यं व्याचष्टे—**तत्रेति**। एवंविधपक्षान्तराभ्युपगमे को गुणो भविष्यतीति पृच्छति—**किमिति**। गुणविषयत्वेऽपि सामान्यविवक्षया नपुंसकनिर्देशाविरोधः प्रकरणाबाधैतत्पदानुग्रहरूपं गुणद्वयमाह—**प्रकरणं तावदिति**। परिहारभाष्यं व्याचष्टे—**तत्रेति**। कीदृग्वाक्यभेद इत्यपेक्षायां प्रत्युद्देश्यं वाक्यपरिसमाप्तिलक्षण इति दर्शयितुमाह—**न हीति**। अथैवमित्यादिशङ्काभाष्यं गुणफलान्वयस्याभिधानात्पुनरुक्तमाभासमानं परमते तादर्थ्यमेम्युपेत्यैव रेवत्याख्यर्गन्तप्रगानाद्वायव्यर्गाधारत्वलक्षणत्रिशेषहानेताश्रयदैगुण्यरूपदोषान्तरोक्त्यर्थत्वेन व्याचष्टे—**अथेति**।

अग्निष्टुद्यागस्यैव गुणान्तरविशिष्टस्य फलान्वयाभिधानायैतदिति स्वमतेनार्थान्तरं गुणकामत्वापरित्यागेनैव वक्तुमाह—**अथ वेति**। एतदेव पक्षान्तरमुपपादयति—**तथा सतीति**। कर्मान्तरपक्षेऽपि सन्निकृष्टार्थविधिर्लप्स्यतइत्याशङ्क्य—**न चेत्युक्तम्**। गुणविशिष्टकर्मान्तरविधौ गुणपरत्वात्कर्मोत्पत्तिपरत्वायोगेऽपि कर्मोत्पत्तिसिद्धयर्थं उत्पत्तिपरत्वस्यापि कल्प्यत्वात् गौरवापत्तिर्नास्मिन्पक्षइति विशेष इत्याशयः। उत्पत्तिं करिष्यतीत्यनुषङ्गः। नन्वनुत्पत्तिपरत्वे रेवत्यः तासां च पदान्तरोपात्तवारवन्तीयान्वय इत्यनेकार्थविधिर्न लभ्यतइत्याशङ्क्य—**विधानाच्चेत्युक्तम्**। फलस्यानुपादेयत्वेन प्राप्तस्यापि कर्मणः फले विधानादनेकगुणविशिष्टता सेत्स्यतीत्यर्थः।

श्लोकं व्याचष्टे—**यागं हीति**। फलस्याज्ञातज्ञापनं विधिर्विवक्षितः। [ननु विशेषणफले चास्मिन् वाक्यभेदो भविष्यति]। इत्यनेन न्यायेन कर्मविधानेऽपि तात्पर्यस्य फलेऽवताराद् गुणविशिष्टत्वानुपपत्तिरित्याशङ्क्य विधेः। फलपरत्वनिरासार्थं तस्योद्देश्यतोक्ता। इति करणः श्लोकार्थसमाप्त्यर्थः।

ननु फले विधीयमानस्य कर्मणोऽर्थादुत्पत्तिविधिमप्यनुभवितुं प्रक्रममाणस्य गुणान्तराधिक्ये बलवद्विपरिवृत्त्यभावेनोत्पत्तेरनिवारणात्कथमकर्मान्तरतेत्याशङ्क्य, मन्यमानशब्देनानभिमतत्वं सूचयितुमाह—**एवमिति**। नन्वेवं सति साम्नो यागासाधनत्वात्तृतीया न युज्येतेत्याशङ्क्य, द्वेधा समर्थयते—**स्तोत्रेति**। दोषान्तरोक्त्यर्थं नैव शक्यमिति भाष्यं व्याचष्टे—**तत्रेति**। गुणान्तरविशिष्टत्वे प्रत्यभिज्ञानतिरोधानेनानुपादेयान्वयनिमित्तकर्मोत्पत्त्यनिवारणात्कर्मान्तरत्वापत्तेर्न पूर्वस्मिन्यागे रेवतीवारवन्तीयान्वयविधिः शक्य इत्याशयः।

रेवतीवारवन्तीयान्वयस्य क्रियान्तरविशेषणत्वाल्लिङां विध्यशक्तेर्ऋगन्तराणामविधेयत्वमभिप्रेत्यैतदुक्तमिति, तन्निरासाय लिङोऽशक्तत्वेऽपि क्त्वाशब्दस्य विधिशक्तेरुक्तत्वाद्विधेयत्वोपपत्तेर्गुणफलान्वयपक्षे काम्येनैव गुणविशिष्टकर्मफलान्वयपक्षे नैमित्तिकेन ऋगन्तरप्रगानेन नित्यवायव्याधारत्वरूपविशेषबाधाद्धानेऽपि वैगुण्यानापत्तिरित्यभिधानार्थं

नन्वित्याशङ्काभाष्यं व्याचष्टे—**नन्विति**। कृत्वाशब्देन विधातुं शक्यमिति सूचनार्थो भाष्ये करोति। कर्मान्तरपक्षे नीरूपस्य कर्मणो विधेयत्वायोगेन साधनाकाङ्क्षत्वाद्विधायाच्च प्रागतिदेशतो लाभाभावादर्थात्साधनान्तरविधिर्युक्तः। पूर्वकर्मपक्षे त्वनाकाङ्क्षितसाधन-विधायित्वकल्पना कृत्वाशब्दस्य न युक्तेत्याशयं सतीति परिहारभाष्यं व्याचष्टे—**सिद्धान्तेति**। वचनं तर्हीत्याशङ्काभाष्यं वचनशब्दस्य पूर्वभाष्यस्थवचनशब्दवत्कर्मान्तरविधिवाचित्वेऽभ्युप-गमविरोधापत्तेर्गुणान्तरविशिष्टप्रकृतकर्मविधिवाचित्वे तु प्रकृते कर्मानाकाङ्क्षितगुणान्तर-विधिकल्पनस्यानन्तरभाष्यनिरस्तत्वेन गुणान्तरविशिष्टप्रकृतकर्मविध्ययोगादयुक्तमाशङ्क्यो-पपादयितुमाह—**वचनं तर्हीति**। केनेत्यपेक्षायां गुणान्तरविशिष्टप्रकृतकर्मविधेर्निरस्तस्याप्य-निरस्तत्वं मत्वेयमाशङ्केति सूचनार्थं पूर्वोक्ताभिप्रायद्वयोक्तिः।

ननु कर्मविध्यभ्युपगमे यजत्यनुवादोक्तिर्न युज्येत्याशङ्क्याह—**यजिरिति**। फलोद्देशेन कर्मविधानेऽपि फलान्वयस्यापि गुणान्वयद्विशेषणत्वात्, तत्पक्षपरत्वे गुणविधेरेवायोगेना-नेकगुणविधेर्दूरोत्सारितत्वापत्तेरुत्पत्तिपरत्वं विनानेकार्थविध्ययोगात्तदन्यथानुपपत्त्योत्पत्ति-परत्वावगतेरुत्पन्नोत्पत्त्ययोगात्कर्मान्तरत्वसिद्ध्युक्त्यर्थं 'यदीति परिहारभाष्यं व्याचष्टे—**सिद्धान्तेति**। स्वाभिप्रेतं कर्मान्तरत्वं यदनेकार्थविध्यन्यथानुपपत्तेः फलं तत्कथयतीति वदताऽनेकार्थविध्यन्यथानुपपत्त्या प्रकृतकर्मविधिनिरस्तइति प्रकटितम्। अनेन वा रेवती-वारवन्तीयसम्बन्धसम्बन्धितया कर्मणो वचनमित्यध्याहारेण भाष्यव्याख्या सूचिता।

ननु कृत्वा यजेतेत्युपपदाक्रान्तत्वेन विधिशक्तेर्योगादवताराद्यागस्वरूपानुवादावगते-रङ्गाङ्गिसम्बन्धार्थत्वेन चानुभावादार्थवत्त्वोपपत्तेर्न कर्मान्तरत्वसिद्धिरित्याशङ्कार्थं नन्विति भाष्यं पूर्वस्मिन्कर्मण्यनेकार्थविधौ वाक्यभेदापत्तेः कर्मान्तरत्वसिद्ध्युक्त्या सूचितत्वादयुक्त-माशङ्क्योपपादयति—**नन्विति**। गुणान्तरविशिष्टप्रकृतकर्मविधिपक्षस्य कर्मान्तरत्वसिद्ध्यु-क्तिसूचितवाक्यभेदापत्त्या निरस्तस्यापि कण्ठोक्त्या वाक्यभेदवचनेनानिरस्तत्वात्पुनः शङ्को-पपत्तिरित्याशयः। भाष्यं च कृत्वाशब्दसमभिव्याहाराद्गुणे विधिसंक्रान्तिसूचनार्थंस्ततः शब्दः। प्रयोजनशब्दस्य प्रधानवाचित्वाद्रेवतीवारवन्तीयसम्बन्धस्याङ्गप्रधानलक्षणो यागेन सम्बन्धो भविष्यतीत्यर्थः। इहाप्युत्पत्त्यविधानाभिप्रायैवानुवादोक्तिः। नैवमिति परिहार-भाष्यं कर्मान्तरत्वसिद्ध्युक्तिसूचितार्थविवरणत्वेन व्यचष्टे—**नैवमिति**। कीदृग्विवरणमित्य-पेक्षायामाह—**यदि हीति**। न तेन यागेन सम्बध्यइत्युक्ते, गुणेन तर्हि सम्बध्यतामित्या-शङ्क्य गुणेनापि न सम्बध्यतइति नञनुषङ्गापिशब्दाध्याहाराभ्यां वदता यागस्य रेवतीय-सम्बन्धस्य च पशुकामं प्रत्यसम्बन्ध इत्येवं भाष्यं व्याख्यातम्।

यद्वा गुणेनेतीत्थंभूततृतीयया गुणविशिष्टेन यागेनेत्यभिधानाद्विशिष्टस्य यागस्य पशुकामं प्रत्यसम्बन्ध इत्येवं व्याख्यातम्। उभयेतिभाष्यं रेवतीयसम्बन्धस्य यागफलाभ्यां सम्बन्ध इत्येवमर्थमाभासमानमस्मिन्पक्षे गुणस्य फलान्वयाभावादयुक्तमाशङ्क्य, यागस्य गुण-फलाभ्यां सम्बन्ध इत्येवं व्याख्यातुमाह—**सम्बध्यमानं चेति**। फलपदं गुणविशिष्टेन यागेन सम्बध्यमानं यागस्योभयसम्बन्धापादकत्वाद्वाक्यं भिन्द्यादित्यर्थः। वाक्यभेदोक्तेरुपलक्षण-

त्वास्त्वयं पूर्वाधिकरणोपक्रमोक्तं कर्मान्तरत्वे युक्त्यन्तरं स्मारयति—**गुणेति**। या च यदि तु पशुकामः स्यात्ततोऽनेनैव रेवत्यादिविशिष्टेनेति वचनव्यक्तिरुक्ता, साप्यप्राप्तफलान्वयानुवादायोगादयुक्तेत्याह—**न चेति**। अप्राप्तत्वादेव फलान्वयस्य यदिशब्दोक्ता निमित्ततापि प्रत्युक्तेत्याह—**तेनेति**। फलान्वयस्य निमित्तत्वाभावे नैमित्तिकेनगंन्तरप्रगानेन नित्यवायव्याधारत्वाख्यविशेषबाधाद्वैगुण्यपरिहाराशङ्का न युक्तेत्याह—**अतश्चेति**।

ननु रेवतीवारवन्तीयान्वयस्य यागाङ्गत्वे यागस्य च फलान्वये विधीयमाने वाक्यभेदापत्तेः, प्रकृतस्य यागस्य गुणविशिष्टस्य फले विध्ययोगेऽपि गुणस्यैव फले विधिः, प्रकरणप्राप्तयागाङ्गत्वानुवादश्च भविष्यतीति पक्षान्तराशङ्कार्थमथेति भाष्यं व्याचष्टे—**अथेति**। नन्वाश्रयाश्रयिभावानुवादनिरासन्यायेनैवाङ्गत्वानुवादनिराससिद्धेः पृथगुपन्यासो न युक्त इत्याशङ्कानिरासार्थं प्रश्नपूर्वं विशेषमाह—**कः पुनरिति**। गुणफलान्वयविधायिनो वाक्यस्याश्रयलाभार्थं प्रकरणापेक्षत्वेन तद्बाधकत्वायोगात्प्रकरणेनाऽङ्गत्वज्ञाने सत्यानर्थक्यतदङ्गन्यायविषयत्वसम्भवाद्योग्यत्वात्स्तोत्रेऽवतरतो वारवन्तीयस्य तद्विशेषापेक्षायां क्रतुमात्रार्थो वारवन्तीयेऽग्निष्टोमस्तोत्रसाधनत्वदर्शनेनास्यापि तत्स्थानत्वावगतेस्तद्वारा रेवतीनामपि तत्स्थानत्वावधारणादनुवादोपपत्तिरित्याशयः। 'तदिति' परिहारभाष्यं व्याचष्टे—**तदिति**। आश्रयलाभायाधिकारलक्षणप्रकरणापेक्षत्वेऽप्यङ्गत्वप्रमाणभूतकथम्भावलक्षणप्रकरणानपेक्षत्वात्, तस्य 'चासंयुक्तंप्रकरणादि३।३-६ति तृतीयाधिकरणसूत्रे श्रुत्यादित्रयसंयुक्ताङ्गविषयत्वविधेधाद्वाक्यबाधितेन प्रकरणेनाङ्गता न शक्यावगन्तुमित्याशयः। तस्मादित्युपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**। 'यागगुणकं वेति' भाष्यं शङ्कोत्तरत्वेन व्याचष्टे—**तत्रेति**। रेवतीवारवन्तीयस्येति भाष्यावयवेन रेवत्याधारस्य वारवन्तीयस्य फलसम्बन्धोऽभिहितः। तस्मादिति सिद्धान्तोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**।

रेवत्याधारस्य वारवन्तीयस्य यागगुणत्वेऽग्निष्टोमस्तोत्रान्वयो न स्यादित्याशङ्कार्थमथ पुनरिति भाष्यं व्याचष्टे—**अथ पुनरिति**। क्रियान्तरस्य यागस्य विशेषणंन रेवत्याधारेण वारवन्तीयेन सहाग्निष्टोमसाम्नः कथं सम्बन्ध इत्यर्थः। 'उच्यत' इति परिहारभाष्यं कृत्वाशब्दस्य रेवतीवारवन्तीयान्वयार्थत्वेनाग्निष्टोमसामान्वयायोगादनेन वचनेनाग्निष्टोमसामत्वासिद्धेरयुक्तमाशङ्क्य वारवन्तीयमग्निष्टोमसाम कार्यमित्यग्निष्टुत्प्रकरणस्थातिदेशप्राप्तवचनान्वयेनोपपादयति[१]—**तत्रेति**। नन्वतिदेशाद्वारवन्तीयस्याग्निष्टोमस्तोत्रस्थानत्वप्राप्तावपि, रेवतीनां कथं तत्स्थानत्वप्राप्तिरित्याशङ्क्य क्लृप्तस्थानेन साम्नैव रेवतीस्थानकल्पनेति प्रागुक्तन्यायोपन्यासः। अस्यैव भाष्यस्य स्वरूपार्थं व्याख्यातुमाक्षिपति—**अग्निष्टोमेति**। द्वेधा व्याचष्टे—**तेनेति**। प्रकृतौ ज्योतिष्टोमे यज्ञायज्ञीयस्याग्निष्टोमाख्यस्तोत्रसाधनत्वेनाग्निष्टोमसामशब्दवाच्यत्वात्, तत्कार्यापत्तिर्वारवन्तीयस्याद्यव्याख्यानेऽभिप्रेता। द्वितीये सामशब्दस्य सामसाध्यस्तोत्रलक्षणार्थत्वमभिप्रेत्य कार्यार्थत्वात्सामननियमस्य

१. वचनाशयत्वेनेति २ पु० पा०।

स्तोत्रकार्यार्थत्वेन वृत्तिर्विवक्षिता। अथेति भाष्येणापि चैतस्यैवेति विस्पष्टकर्मान्तरवचनमिति पूर्वपक्षभाष्यार्थमनुभाष्य, तन्न्यायविरोधादित्यनेन परिहृतम्। तदेतच्छन्दस्तावद्धर्मलक्षणायानु'वादो भविष्यतीति वार्तिकेन व्याख्यातत्वादव्याख्याय तस्मादित्यधिकरणार्थोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति।॥ २७॥

इति द्वादशं रेवत्यधिकरणम्

भा० प्र०—पूर्व अधिकरण में वर्णित विचार का अपवाद प्रदर्शन का एक दध्यादि द्रव्य के सफलत्व के अधिकरण का वर्णन किया गया है। श्रुति में "त्रिवृदग्निष्टुदग्निष्टोमस्तस्य वायव्यास्वृक्षेकविंशमग्निष्टोम साम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत" (तैं० सं० ७।१।१०) यह वाक्य है, इसी के पास "एतस्यैव रेवतीपु वारवन्तीयमग्निष्टोम साम कृत्वा पशुकामो ह्येतेन यजेत" (तैं० सं० १।८।१८) यह वाक्य है। इसका अर्थ यह हैं कि "त्रिवृत् अग्निष्टुत् अग्निष्टोमः" इस वाक्य में जो अग्निष्टुत् शब्द है, वह अग्निष्टोम नामक याग का विकृतिभूत एक दिन में साध्य एक याग का नाम है, उसी को गुणविशेष के कारण 'त्रिवृत्' इस नाम से कहा जाता है, यह साम "यज्ञा-यज्ञा वो अग्नयः" इत्यादि अग्निसम्बद्ध ऋक् में "एकविंशस्तोम" अर्थात् सामविशेष युक्त होकर गोत होता है। इस स्थल में "तस्य वायव्यासु एकविंशम् अग्निष्टोम साम कृत्वा ब्रह्मवर्चसकामो यजेत" इस वाक्य में कहा गया है कि "अग्निष्टुत्" नामक यज्ञ में ब्रह्मवर्चस की कामना करने पर अग्निष्टोम नामक साम मन्त्र को आग्नेयी ऋचाओं में गान कर "उपत्वा जामयो गिरः" इत्यादि वायव्य अर्थात् वायुदेवता सम्बन्धी ऋचाओं में एकविंश स्तोम से युक्त कर गान करे। इस वाक्य के ही समीप में "एकस्यैव रेवतीपु वायवन्तीयम् अग्निसाम कृत्वा पशुकामः हि एतेन यजेत" इस वाक्य में कहा गया है कि पशुरूप फल की कामना होने पर रेवती नामक ऋचाओं में अर्थात् 'रेवती' इस शब्द से युक्त "रेवतीर्नः सधमादः" इत्यादि ऋचाओं में "वायवन्तीय" नामक साम का गान करे और इसी से अग्निष्टोम नामक साग का गान हो जायेगा।

इस प्रसङ्ग में यह संशय होता है कि "एतस्यैव रेवतीपु" इत्यादि वाक्य के पशुरूप फल के लिए 'रेवती' नाम की ऋचाओं में "वारवन्तीय" नाम के सोम का विधान किया गया है, वह "अग्निष्टुत्" याग में गुणफल विधि है या वह अपूर्व कर्म की विधि है? इस संशय में पूर्वपक्षी का कहना है कि पूर्व अधिकरण में "दध्ना इन्द्रियकामस्य" इत्यादि वाक्य को जैसे गुणफल विधि मानकर सिद्धान्त किया गया है, इस स्थल में भी "एतस्यैव रेवतीपु" इत्यादि वाक्य भी उसी तरह गुणफल विधि ही होगी। इस स्थल में "एतस्यैव" इन दो पदों का अर्थात् 'एतद्' एवं 'एव' इन दो शब्दों से यह प्रतिपादित होता हैं, कारण, 'एतद्' शब्द प्रकृत का परामर्श करता है, अर्थात् प्रस्तुत जो विषय है उसी का प्रतिपादन आरम्भ करता है अर्थात् उसी विपय का स्मरण कराता है और

'एव' शब्द अन्य योग का व्यवच्छेद अर्थ को कहता हैं, अतः, इस एव शब्द के द्वारा अन्य के सम्बन्ध का निवारण होता है।

इसके समाधान में सिद्धान्ती का कहना है कि यह गुण फलविधि नहीं हो सकती है, क्योंकि, इससे वाक्यभेद हो जायगा, कारण, एक ही वाक्य से 'अग्निष्टुत्' याग में 'रेवती' ऋचाओं में वायवन्तीय साम का सम्बन्ध एवं उससे पशुरूप फल का सम्बन्ध दोनों का बोधन नहीं हो सकता है, अतः वाक्यभेद मानना होगा। यदि 'अग्निष्टुत्' याग में 'रेवती' ऋचाओं का सम्बन्ध पूर्व से प्राप्त है, अतः इस वाक्य से केवल रेवती ऋचाओं के साथ वायवन्तीय सोम का सम्बन्ध बोधित होता है किन्तु 'अग्निष्टुत्' याग में 'रेवती' ऋचाओं का सम्बन्ध पूर्व से प्राप्त न होने से उसके द्वारा गुणफल का विधान नहीं हो सकता है। पूर्व प्रसङ्ग के पक्ष में होम के साथ दधि का सम्बन्ध लोक से प्राप्त होने से वह शास्त्र का विषय नहीं है, केवल दही और फल का सम्बन्ध बोध ही शास्त्र का विषय है, अतः वहाँ वाक्यभेद नहीं होता है। इसलिए "एतस्यैव रेवतीषु" इत्यादि वाक्य को गुणफल विधि नहीं कहा जा सकता है, वरन् इसको गुणविशिष्ट अपूर्व कर्म की ही विधि कहा जायगा। 'एतद्' और 'एव' इन दो शब्दों को प्रकृत परामर्शी न मानकर विधीयमान कर्म विषयक मानने में भी दोष नहीं है।

'समेषु' = समान स्थल में अर्थात् जिस स्थल में गुण को क्रिया के समान मानकर क्रिया का आश्रित नहीं है उस स्थल में "कर्मयुक्तं स्यात्" = कर्मयुक्त होगा अर्थात् गुण के साथ सम्बन्ध नहीं होगा वरन् कर्म के साथ सम्बन्ध होगा। ऐसे स्थल में गुणविधि नहीं है अपितु अपूर्व कर्मविधि होगी। बारहवाँ देवताधिकरण अर्थात् वायवन्तीय आदि का कर्मान्तराधिकरण ॥ २७ ॥

अथ त्रयोदशं सौभराधिकरणम्

[१३] सौरभे पुरुषश्रुतेर्निधने कामसंयोगः ॥२८॥ पू०

शा० भा०—यो वृष्टिकामो, योऽन्नाद्यकामो, यः स्वर्गकामः, स सौभरेण स्तुवीत, सर्वे वै कामाः सौभर[1] इति समाम्नाय ततः समामनन्ति 'हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्, ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय, ऊ इति स्वर्गकामाय' इति। तत्र विचार्यते—किं सौभरं वृष्टेर्निमित्तं, हीषित्येतदपरं वृष्टर्निमित्तम्, अथ सौभरमेव वृष्टेर्निमित्तम्। यदा तद्वृष्टेर्निमित्तं, तदा हीषिति सौभरस्य निधनं कर्तव्यमिति, एवमूर्गित्यन्नाद्यकामस्य, ऊ इति स्वर्गकामस्य च तुल्यो विचारः। कथं निधनादपरं फलम्? कथं वा निधनव्यवस्थार्थं श्रवणमिति। यद्येवमभिसम्बन्धः क्रियते हीषिति वृष्टिकामाय कुर्यादिति, ततो निधनादपरं फलम्। अथैवमभिसम्बन्धः— हीषिति निधनं कुर्यादिति, तदा निधनव्यवस्थार्थं श्रवणम्। तदा वृष्टिकामायेति

---

१. ब. मिति।

सौभरविशेषणं क्रियते, न हीषा सम्बन्धः । किं तावत्प्राप्तम् ? सौभरे निधनेऽपरः कामो विधीयत इति । कुतः ? पुरुषश्रुतेः । पुरुषप्रयत्नस्यात्र श्रवणं भवति कुर्यादिति । तद्वृष्टिकामस्य हीषश्च सम्बन्धे कर्तव्ये वक्तव्यं भवति, न तु सौभरनिधनसम्बन्धे । तत्र हि[1] साङ्गं सौभरं कुर्यादिति प्रयोगवचन[2]सामर्थ्यादिव सिद्धम्[3] । तस्मात्कुर्यादिति पुरुषप्रयत्नवचनादवगच्छामो यतरस्मिन् पक्षे पुरुषप्रयत्नवचनमर्थवत्, तत[4]रोऽयं पक्ष इति । तत्रास्मिन् पक्षेऽर्थवद्, निधनादपरं फलमिति । तस्मात्सौभरे एकः कामः भेदेन निध[5]नादपि द्वितीयः काम इति ।

अथवा वृष्टिकामायेति पुरुषश्रुतिः । वृष्टिं यः कामयते, स पुरुषो वृष्टिकामशब्देनोच्यते । तदस्मिन् पक्षे श्रुतिर्विनियोक्त्री । इतरस्मिन् पक्षे पुनर्वृष्टिकामशब्देन पुरुषवचनेन सता सौभरं लक्ष्येत । तथा लक्षणाशब्दः स्यात् । श्रुतिलक्षणाविषये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा । तस्मात्पश्यामो निधने द्वितीयः काम इति । एवं च फलभूयस्त्वं भविष्यति । तस्मान्निधनेऽपरः कामः ॥ २८ ॥ पूर्वपक्षः ॥

अथ त्रयोदशं सौभराधिकरणम्

त० वा०—ज्योतिष्टोमे सौभरमुक्थ्यानां ब्रह्मसाम विहितम् । पुनश्च तदेव 'यदि रथन्तरसाम' 'यदि बृहत्साम' इति च निमित्तयोर्विहितम् । ततः पुनः 'यो वृष्टिकामो, योऽन्नाद्यकामो, यः स्वर्गकामः; स सौभरेण स्तुवीत' इति नित्यस्यैव सतः फलत्रयसंबन्ध कृतः । तथा च वक्ष्यति एवंजातीयकेषु कामेषु 'नित्यस्य समत्वात्' इति । क्रत्वर्थपुरुषार्थं चैवंजातीयकं भवतीति वक्ष्यति एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इति । एतदपि वक्ष्यति यथा विकल्पेनैतान्यस्य फलानि भवन्ति 'योगासिद्धिर्वाऽर्थस्योत्पत्त्ययोगित्वात्' इति ।

तदेवंरूपं सौभरं प्रकृत्य पुनः श्रूयते 'हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्, ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय, 'ऊ इति स्वर्गकामाय' इति । निधनमिति चान्त्या सामभक्तिरभिधीयते । तत्रैतद्विचार्यते किं सौभरं निरपेक्षं फलानि साधयति, इमानि वृष्ट्यादीनि हीषादिनिधनफलानि पृथगेव भवन्ति, उत सौभरस्यैव तत्तत्फलं साधयतस्तत्तन्निधनं नियम्यत इति । यद्यपि चात्र कर्मभेदाभेदौ न स्तः तथाऽपि प्रसङ्गादुपन्यस्येते ।

अथवा कर्मभेदाभेदवत्फलापूर्वभेदाभेदावपि लक्षणार्थाविति संबन्धः । एवं चानुष्ठानेऽपि विशेषो भवति । यदा वृष्टिकामेन सौभरं प्रक्रान्तं तदेतरयोरपि निधनयोः स्वफलप्रार्थनावशेन प्रयोगः । अपि च वृष्टिप्रार्थनयोरपि भेदः कर्तव्यो,

१. ब. हीषंगं । २. ब. प्रयोगवचने, ३. सिद्धं स्यात् ।
४. ब. अर्थवद्भवतितरोऽयं । ५. ब. निधनेऽपि ।

यदि निधनादपरं फलम् । अथ तु निधननियमः ततो ह्रीषेव प्रयोक्तव्यमेकैव वृष्टिः प्रार्थयितव्या । एवमन्नाद्यकाम-स्वर्गकामयोरपि दर्शयितव्यम् । कुतः संशयः ?

भाष्यानुसारिणा केषाञ्चित् व्याख्यानस्य अनुवादनिरासौ

केचित्तावद्भाष्यकारकृतेन वचनव्यक्तिद्वयप्रतिभानेन वर्णयन्ति किं ह्रीषादिशब्दानां वृष्टिकामादिपदैः संबन्धः अथ निधनपदेनेति । यद्यपि चोत्तरयोर्निधनमिति न श्रूयते, तथाऽप्याकाङ्क्षावशेनानुषज्यमानं सर्वसंबन्धित्वेन कथ्यते । किं तावत्प्राप्तम्—

पुनर्विधानसामर्थ्यात्स्वार्थत्वाच्च फलश्रुतेः ।
फलभूयस्त्वलाभाच्च ह्रीषादेरपरं फलम् ॥

यदि हि सौभरफलान्येवै[1]तान्यभविष्यत् ततः पुनर्वचनमनर्थकमापत्स्यत । नं हि विधेयं तस्य तदा किंचिदपि लभ्यते । ह्रीषादीनां शाखान्तरेषु सौभरनिधनत्वेन पाठादेव प्राप्तत्वात् । नियमार्था श्रुतिरिति चेत् ? न्न । श्रुतिप्राप्तानां नियमेन निवर्तयितुमशक्यत्वात् । सर्व एव तावन्नियमोऽन्यव्यावृत्तिफलत्वादन्याय्यः ।

तथाऽपि तु यथाऽर्थाक्षिप्तावस्थानि वस्त्वन्तराणि भवन्ति । तत्रैकश्रवणवशेनेतरन्नि[2]वर्तते । न त्विह ह्रीषादीनामर्थात्प्रयोगः, येनैकविधानादितरनिवृत्तिर्गम्येत । सौभरश्रुत्या हि तानि प्राप्यन्ते । तत्र न शक्यं विधिमात्रप्रवृत्तया पुनःश्रुत्या गत्यन्तरे संभवति बाधनं कर्तुम् । अस्मत्पक्षे तु काम्यत्वादन्य[3]तरद्वचनं क्रत्वर्थप्राप्तेतरबाधेनैव भविष्यति । वाक्यान्तराविहितं च वृष्टिह्रीषादिसंबन्धं विदधद्वाक्यमर्थवद्भवति । वृष्टिकामशब्दश्च स्वार्थत्वेन संभवन्न निधनव्यवस्थापरे वाक्ये सौभरविशेषणार्थः कल्पितो भविष्यति । पुरुषार्थभूयस्त्वं च विध्यात्मके वेदे पुरुषप्रवर्तनसौकर्यादिष्यते । तस्मान्निधनादपरं फलमिति ॥२८॥

॥ अथ त्रयोदशं सौभराधिकरणम् ॥ १३ ॥

न्या० सु०—सौभरस्य केवलकाम्यत्वे ह्रीषादेः समाम्नायावगतस्य निधनान्वयस्य क्रत्वर्थे सौभरेऽनुपयुक्तत्वात्समाम्नायानर्थक्यपरिहारार्थं काम्यसौभरविषयत्वावगतेर्निधनत्वानुवादसम्भवाद्वाक्यभेदापत्त्या पूर्वपक्षानिरासासम्भवम्, तत्साध्यफलार्थस्य ह्रीषादेर्भेदेन प्रार्थनेऽपि मन्दप्रयोजनत्वापत्तेः, फले विध्ययोगात्पूर्वपक्षासम्भवं चाशङ्क्य नित्ये नैमित्तिके च सौभरे ह्रीषादेरनन्यसाध्यफलसाधनत्वं भविष्यतीति सूचयितुं त्रैविध्यमाह—**ज्योतिष्टोम** इति । 'यदि बृहत्सामातिरात्रः स्यात्सौभरमुक्थ्यानां ब्रह्मसाम कार्यं यदि रथन्तरसामा सौरभं कुर्यादि'ति वाक्याभ्यां बृहद्रथन्तरयोर्निमित्तयोः सौरभविहितमित्यर्थः । नित्यविधिस्तु

---

१. क० फलान्येतानि । २. क० इतराणि निवर्त्यन्ते । ३. क० बलवत् ।

षोडशीसंस्थाविषयः । फलान्वये कादाचित्कत्वापत्तेर्नित्यत्वायोगात्सौभरमुक्थ्यानां ब्रह्मसाम भवतीति साक्षायणयज्ञे 'द्वे पौर्णमास्यौ यजेत' द्वे अमावास्ये इति काम्याया दर्शपूर्णमासावृत्तेरिवोत्पत्त्यर्थं भविष्यतीत्याशङ्क्य—नित्यस्यैवेत्युक्तम् । फलोद्देशपूर्वकस्यानुष्ठानस्य कादाचित्कत्वेऽपि तन्निरपेक्षानुष्ठानस्य नित्यतोपपन्नेत्याशयः । काम्यस्यापि नित्यत्वाविरोधं संस्थाधिकरणसिद्धान्तसूत्रावयवेन द्रढयति—तथा चेति ।

ननु क्रत्वर्थे सति पारार्थ्यज्ञानात्फलश्रुतिरर्थवादः स्यादित्याशङ्क्याह—क्रत्विति । अर्थवादकल्प्यफलविषयः पर्णमय्यधिकरणन्याय इत्याशयः । नन्वेवमप्येकस्मात्सौभरप्रयोगात्फलत्रयसिद्धेर्निधनव्यवस्थानुपपत्तेः, सिद्धान्तासम्भवे नेदमनारम्भ्यमित्याशङ्क्य, प्रयोगभेदेनानेकफलसानधत्वं चतुर्थाधिकरणे वक्ष्यमाणमाह—एतदपि चेति । 'सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासावित्याविशेषश्रुतेरेकस्मिन्प्रयोगे सर्वफलोत्पत्तिं पूर्वपक्षयित्वा, अर्थस्य फललक्षणस्योत्पत्त्या प्रयोगे सोपादानलक्षणयोगाभावादनुपादेयस्य चाविवक्षितसाहित्यत्वात्सर्वशब्दस्य च प्रकृतग्राहित्वात्प्रकृतानां चेष्टिसाध्यानां पशुग्रामादीनामन्योन्यनिरपेक्ष्यसाध्यत्वावगमात्तादृशानामेव सर्वशब्दानिर्दिष्टानां दर्शपूर्णमाससाध्यत्वावगतेरेकमेव फलमेकस्मिन्प्रयोगे भवतीति योगेन पर्यायेण फलसिद्धिरिति सिद्धान्तयिष्यते ।

अधिकरणारम्भसिद्धयर्थं क्रत्वर्थस्यैव सौभरस्य फलत्रयान्वयः । स च पर्यायेणेत्युक्त्वा निधनवाक्यमात्रस्य चिन्ताविषयत्वात्सौभरवाक्योदाहरणमनर्थकमाशङ्क्य, गुणफलान्वयस्याश्रयलाभार्थं निधनव्यवस्थायाश्च विषयलाभार्थमिति पक्षद्वयेऽप्युपयोगं प्रकृत्येतिशब्देन सूचयन्नुदाहरणभाष्यं व्याचष्टे—तदिति । तत्रेति सन्देहभाष्यं व्याचष्टे—तत्रेति । ननु संख्यासञ्ज्ञावद् गुणस्यापि धात्वर्थानपेक्षस्य भावनानन्वयात्साक्षाद्भावनाभेदकत्वानुपपत्तेः संख्याया कर्मभेद इति धात्वर्थभेदवाचिनः कर्मभेदपदस्यात्रानुषङ्गाद्धात्वर्थभेदाभेदयोर्गुणप्रकरणे विचार्यत्वावगतेरिह वोभयथापि धात्वर्थाभेदात्प्रकरणसङ्गतिं विचारस्याशङ्क्य, भावनाभेदाभेदविचारस्य प्रासङ्गिकत्वेन तावत्सङ्गतिमाह—यद्यपि चेति ।

भावनाभेदाभेदयोरपि वा लक्षणार्थत्वेन गुणप्रकरणेऽप्यनुषङ्गाद्धात्वर्थभेदाभेदवत्प्रकरणसङ्गतिः सम्भवतीति परिहारान्तरमाह—अथ वेति । तस्या एव च शब्दान्तरं भेदकं भविष्यत्यपूर्वस्यानभिधेयत्वात्कर्मभेदानुनिष्पाद्येव च तदिति, न पृथग्विचारमर्हतीति शब्दान्तराधिकरणवार्तिकेऽपूर्वभेदस्य लक्षणार्थत्वनिषेधाद्भावनाभेदाभेदाविति वाच्ये । शुद्धाया भावनाया निरूपणाशक्तेर्भेदचिन्तानुपपत्तिमाशङ्क्य धात्वर्थावच्छेदनेन भेदानिरूपणेऽपि फलावच्छेदेन भेदं निरूपयितुं फलतोऽपूर्वाभिभवेति व्युत्पत्त्या भावना फलापूर्वशब्देनोक्ता । भावनाभेदाभेदयोरेव लक्षणार्थत्वेऽपि धात्वर्थानिरपेक्षायास्तस्या निरूपणाशक्तेस्तत्सिद्धयर्थं धात्वर्थभेदाभेदयोरपि विचार्यत्वाल्लक्षणार्थतापिशब्देनोक्ता ।

यद्वा लक्षणार्था चेत् ? वेदा क्रत्वाप्रकरणेनापि सम्बन्ध इति सूचनार्थत्वेनोत्कृष्यापिशब्दो योज्यः । फलभेदादेव च कर्मैक्याविशेषेऽप्यनुष्ठानविशेषसिद्धेर्विचारस्य प्रयोजनवत्त्वं

सेत्स्यतीत्याह—**एवं चेति**। हीषादेः फले विधौ निधनव्यवस्थापकाभावात् वृष्ट्यर्थं सौभरे हीष्वनियमाभावादन्नाद्यर्थं स्वर्गार्थं वा इतरयोरपि प्रयोगे निधनव्यवस्थायां हीषेव प्रयोक्तव्यमित्येको विशेषः। यदा तु हीषापि वृष्टिमेव प्रार्थ्यते, तदा द्वे वृष्टी पूर्वपक्षे प्रार्थनीये सिद्धान्ते त्वेकैव। सौभरेणेति विशेषान्तरं वृष्ट्यभावात्सस्यशोषापत्तौ यावत्या वृष्ट्या सस्यानि निष्पद्यन्ते, तावत्या एव काम्यमानत्वात्तावत्याश्च सौभरादेव सिद्धेर्वृष्टेः सर्वस्य चासन्नतयैव कान्तं वृष्ट्यादीति विचारग्रन्थवार्त्तिके कालान्तरीयतया काम्यत्वनिषेधात्कालान्तरीयशोषशङ्कायामपि वृष्टिकामनानुपपत्तेरभ्युच्चयमात्रेणोक्तमिति सूचनयापि च शब्दः। कथमिति सन्देहहेतुप्रश्नभाष्यं व्याचष्टे—**कुत इति**।

यद्येवमित्यादेरधिकरणसमाप्तिपर्यन्तस्यान्येषां व्याख्यां दूषयितुमुपन्यस्यति—**केचित्तावदिति**। ननूत्तरयोर्वाक्ययोर्निधनपदाश्रुतेर्निधनपदान्वयो न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**यद्यपि चेति**। शाखान्तरे त्रिष्वपि वाक्येषु निधनपदश्रुतेस्तदालोचनेनेहास्याकाङ्क्षाकल्पनयाऽनुषङ्गोपपत्तिर्यद्यपिशब्देन सूचिता। पूर्वपक्षभाष्यं व्याचष्टे—**किं तावदिति**। पुरुषप्रवर्त्तकविधिलक्षणार्थं पुरुषशब्दमभिप्रेत्य पुरुषश्रुतिव्याख्यानार्थं पुरुषस्येत्यादिभाष्यमाद्यपदेन व्याख्यातम्। विधौ पुरुषस्येत्यादिभाष्यमाद्यपदेन व्याख्यातम्। विधौ पुरुषशब्दस्यासाधुत्वा'न्न चाविहितमङ्गं भवती'ति च न्यायेन नियतस्य निधनस्याङ्गत्वात् समाम्नायात्साधारण्यतः प्राप्तस्यापि विध्यर्थवत्त्वोपपत्तेरपरितोषादन्यथापुरुषश्रुतिव्याख्यानार्थमथ वेति भाष्यम्। निधनपदेनापि हीषान्वये निधनाक्षिप्तसौभरविशेषणत्वेन श्रुतिवृत्तस्यैव वृष्टिकामपदस्याऽन्वयोपपत्तेः सौभरलक्षणार्थत्वायोगादयुक्तमाशङ्क्य, श्रुतिशब्दः स्वप्राधान्यवाची। लक्षणाशब्दश्चान्यविशेषणत्ववाचीत्येवं द्वितीयेन व्याख्यातम्, सूत्रसूचितहेत्वन्तरोक्त्यर्थमेवं चेति भाष्यम्। वृष्ट्याद्यर्थं सौभरावयवत्वाद्धीषादेः सौभरद्वारा वृष्ट्याद्यन्वयसिद्धेर्निधने कामसंयोग इति प्रतिज्ञासूत्रावयवानुपपत्तिमाशङ्क्य फलान्तराभिप्रायत्वेन व्याख्यानार्थं सौभर इति पूर्वपक्षोपक्रमभाष्यम्।

श्लोकस्य समस्तपूर्वपक्षभाष्यव्याख्यार्थत्वसूचनायान्त्येन व्याख्यातम्। हीषादेरित्यनेन निधनशब्दस्य हीषादिलक्षणार्थतोक्ता। फलान्तरान्वय हीषादेः सौभरानपेक्षत्वापत्तेर्निधनत्वासिद्धिमाशङ्क्य, फले विहितस्य हीषादेराश्रयापेक्षायां प्रकरणात्सौभराश्रयत्वावगतेस्तत्र च निधनत्वेनैव समाम्नानान्निधनत्वानुवादोपपत्तिरिति सूचनार्थः। सौभर इति सूत्रावयवो निधनशब्दस्य हीषादिलक्षणार्थत्वव्याख्ययैव व्याख्यातो भवति। आद्यपादं व्याचष्टे—**यदि हीति**। शाखाभेदेन हीषादेः सौभरनिधनत्वेन पठितस्य सौभरविधिश्रुत्या विकल्पेन प्राप्तस्य स्वरसतः प्रापणात्मकविधिमात्रप्रवृत्त्यैकपुनःश्रुत्या फलान्वयित्वेनाप्राप्तविध्यर्थतया गतिसम्भवेऽन्यव्यावृत्तिफलत्वायोगाद् बाधानुपपत्तेर्नियमोऽनर्थकः स्यादित्याशयः। द्वितीयं व्याचष्टे—**वृष्टिकामेति**। तृतीयं व्याचष्टे—**पुरुषार्थेति**। चतुर्थं व्याचष्टे—**तस्मादिति**॥२८॥

भा० प्र०—वेद में कहा गया है कि "यो वृष्टिकामो योऽन्नाद्यकामो यः स्वर्गकामः स सौरभेन स्तवीता सर्वे वै कामाः सौभरे" (ता० म० ब्रा०–८–८) जो व्यक्ति वृष्टि की कामना करे एवं जो व्यक्ति अन्नाद्यकामी एवं जो स्वर्गकामी है, वह सौभर के द्वारा याग करे, इस प्रकार की एक विधि है। इसी के बाद पुनः वेद में कहा गया है—'हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्। ऊर्गित्यन्नाद्यक.माय। ऊइति स्वर्गकामाय।" वृष्टि की कामना के लिए "हीप्" इस निधन = सामविशेष को करे, अन्नाद्य कामना के लिए "ऊर्क्" इस सामांश विशेष को करे। स्वर्ग की कामना के लिए "ऊ" इस निधन = सामविशेष को करे। इस स्थल में जो "सौभर" शब्द यह सामांश विशेष का नाम है। "निधन" यह साम के अंश विशेष का नाम हैं। साम दो प्रकार है (१) 'पाञ्चभक्तिक' और (२) 'साप्तभक्तिक' अर्थात् पाँच भाग और सात भाग से युक्त। उनमें प्रत्येक अंश का 'प्रस्तार', 'उद्गीथ' इत्यादि विशेष-विशेष नाम हैं। उनमें जो अन्तिम अंश है, उसका नाम 'निधन' है। इस स्थल में "यो वृष्टिकामः" इत्यादि श्रुतिवाक्य में 'सौभर' नाम के साम के द्वारा स्तोत्र करना चाहिये और 'वृष्टि', 'अन्नाद्य' एवं 'स्वर्ग' उसके फल के रूप में है। आगे की श्रुति में भी 'हीप्', 'ऊर्क्' एवं 'ऊ' इन तीन निधनों का विषय कहा गया है और इन तीनों का भी वृष्टि, अन्नाद्य और स्वर्ग फल कहा गया है। इसमें यह संशय होता है कि 'हीप्' इत्यादि निधनों में जो वृष्टि आदि फलों का उपदेश है, वह क्या सौभर वाक्य में उपदिष्ट फलों से स्वतन्त्र है या 'हीप्' इत्यादि वाक्यों में सौभर वाक्य में उपदिष्ट फलों का ही अनुवाद कर 'हीप्' इत्यादि निधनों का विधान किया गया है। इसमें पूर्वपक्षी का कहना है कि "निधनं कामसंयोगः"—हीप् इत्यादि वाक्यों में "हीप् इति वृष्टिकामाय कुर्यात्" इस प्रकार अन्वय करना चाहिये अर्थात् वृष्टि की कामना के साथ 'हीप्' इसका सम्बन्ध होगा। कारण "पुरुषश्रुतेः" 'वृष्टिकामाय' आदि पदों में तादर्थ्य में चतुर्थी होने से 'हीप्' आदि निधन वृष्टिकामी पुरुष की कामना के लिए अंग होता है और 'हीष्' आदि निधन वृष्टि आदि कामी पुरुष की कामना के लिए अंग होता है। 'हीप्' आदि पुरुष की अभिलषित वृष्टि आदि फल का यदि साधन = हेतु या निष्पादक होता है, तभी उसकी कामनावान् पुरुष का अंग हो सकता है। इसीलिए 'हीष्' इत्यादि वाक्य में जो वृष्टि आदि फल श्रुत होता है, वह 'हीप्' आदि निधन का स्वतन्त्र फल है। अतः इस स्थल में सौभर का फल वृष्टि है एवं 'हीप्' इस निधन का फल भी वृष्टि है, दोनों को मिलाकर अधिक वृष्टि होगी—यही सूचित होता है।

"सौभरे" = सौभर नाम के साम में अर्थात् "सौभर" नाम के साम में आश्रित "हीप्" इत्यादि निधन में, "पुरुषश्रुतेः" = पुरुष संयोग होने से अर्थात् कामनावान् अधिकारी पुरुष का निर्देश होने से 'निधनं' = निधन अर्थात् साम का अंश विशेष, "कामसंयोगः" = कामसंयोग अर्थात् फलसंयोग अर्थात् फलान्तर की जनकता होगी। यह पूर्वपक्ष है ॥२८॥

सर्वस्य वोक्तकामत्वात्तस्मिन् कामश्रुतिः स्यान्निधनार्था पुनः श्रुतिः ॥ २९ ॥ सि०

शा० भा०—वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। न चैतदस्ति—यदुक्तं निधनेऽपरः काम इति। नैवं सम्बन्धः क्रियते वृष्टिकामाय हीषिति कुर्यादिति। कथं तर्हि? हीषिति निधनं सौभरस्येति। कथम्? हीषो वृष्टिकामसम्बन्धे क्रियमाणे, निधनं कुर्यादिति सम्बन्धो न कृतः स्यात्। तत्र हीषिति निधनमिति नावकल्प्येत। तत्रोभयसम्बन्धे, वाक्यभेदः। तत्र निधनशब्दः प्रमादसमाम्नात इति गम्यते। न चैवंजातीयकः प्रमादसमाम्नात इत्युक्तम्। तस्मान्न हीषो वृष्टिकामेन संबन्धः। तेन न निधनादपरं फलम्।

अथ हीषो निधनसम्बन्धे कथमवाक्यभेद इति। उच्यते। वृष्टिकामाय सौभरमस्त्येव सौभरस्य निधनप्राप्तिरस्त्येव। तत्र हीषिति कुर्यादित्येष[1] एवार्थो विधीयते। तस्मादवाक्यभेद इति। अतो निधनव्यवस्थेति गम्यते। एवमेव ऊर्गिति, ऊ इति च वदितव्यम्। सर्वस्य सौभरस्य ऊर्वृष्टिस्वर्गकामत्वाच्छक्यते कामवचनैः सौभरं लक्षयितुम्। किमर्थं लक्ष्यत इति? निधनार्था पुनःश्रुतिर्निधनव्यवस्थां करिष्यतीत्यर्थः ॥ २९ ॥ सिद्धान्तः ॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य
द्वितीयः पादः।

त० वा०—उच्यते—

निधनश्रुतिवैयर्थ्यान्न हीषः फलसंगतिः।
निधनेन तु संबन्धे फलशिष्टं विशेषणम् ॥

हीषा वृष्टिं कुर्यात्तां च निधनभूतेनेति वाक्यभेदः तदसंबन्धे चाऽऽनर्थक्यम्। अस्मत्पक्षे न किंचिदनर्थकम्। सर्वस्य सौभरस्य वचनान्तरैरुक्तवृष्ट्यादिकामत्वेन, तत्पदानां च प्राप्तत्वाद्धीषादिसंबन्धमात्रे विधीयमाने वाक्यभेदाभावः। न च वचनमनर्थकं, निधनविशेषनियमार्थत्वात्। विनाऽपि च गुणकामत्वेनास्त्येवात्र हि परोक्षवृत्त्या निधनान्तरं प्राप्नोति। इदं पुनः प्रत्यक्षं, तस्माद्बलीयः। यथा चाऽर्थादाक्षिप्यमाणं श्रौतेन निवर्त्यते, यथा परोक्षवृत्त्याऽपीति।

अथवा सौरभशब्दवाच्याया गीतेर्नैव, किंचिद्बाध्यते। अक्षरविधानेनाक्षरान्तरमात्रबाधनात्। यदि हि गीत्यन्तरावयवो विधीयेत्, ततः सौभरावयवोऽपि बाध्येत। स्तोभाक्षरबाधस्त्वयं निधनविषय इत्यदोषः। तस्मान्निधननियमार्थं पुनःश्रुतिरिति।

---

१. ब. एकएवार्थो।

केषाञ्चित् पक्षस्य समीक्षा

एवं तु व्याख्यायमानेऽस्ति किंचिद्वाच्यम् । तदुच्यते—

न तावत्संशयो युक्तो वचनव्यक्तिभेदतः ।
हीषो निधनसंबन्धो नेष्टो हि व्यवधानतः ॥

हीषिति निधनमिति व्यवहितकल्पनादोषादनिष्टः संबन्धः । तथोत्तरपक्षेऽपि—

निधने हीष्विधानं चेद्वृष्टिकामविशेषिते ।
विशिष्टार्थानुवादत्वाद्वाक्यभेदः स्फुटो भवेत् ॥

निधनानुवादेन हीषादिविधाने फलपदमनर्थकं, पुनःश्रुतिवैयर्थ्यं च स्यात् । सौभरग्रहणेनैव हि निधनमात्रसंबन्धः प्राप्त इति, न तन्मात्रवचनेनाऽर्थः । तत्र यदि वृष्टिकामाय[1] यद्यत्सौभरं, तस्य यन्निधनमिति विशिष्टमनूद्य, तत्र हीष्पदं प्रयुञ्जीतेति विधीयते, ततोऽनेकसंबन्धकरणाद्वाक्यं भिद्येत । यद्यपि वृष्टिकाम-सौभर-तन्निधनानि प्राप्तानि, तथाऽप्यनेकेषामपि संनिधिरस्तीति व्यवच्छेदार्थमवश्यं यत्नः कर्तव्यः । ततश्चानेकार्थत्वमिति दुर्बलः सिद्धान्तः । पूर्वपक्षनिराकरणमपि न सम्यक्कृतं, समाम्नायादेव हीषादीनां निधनत्वसिद्धेः ।

अत्र वार्तिकमतम्

तस्मादेवं वर्णनीयम् ।

वृष्टिकामपदेनैव संबन्धे सति संशयः ।
फलेन साधनेनेति वाक्यसामर्थ्यवीक्षणात् ॥

अत्र हीषिति वृष्टिकामायेत्येवमेवावस्थिते संदेहः—किं साक्षात्फलेन हीषः संबन्धः अथ फललक्षितेन साधनविशेषेणेति । तदा च हीषिति निधनमिति, एतत्फलं भवतीति वचनव्यक्तिरिव भाष्यकारेण दर्शिता । वृष्टिकामायेति सौभरविशेषणमिति सौभरस्य निधनवाक्ये स्वपदेनानुपादानाल्लक्षणारूपेणैव विशेषणत्वम् । न हीषा संबन्ध इति फलस्वरूपासंबन्धाभिप्रायेण । तत्र तथैव विधिपुनःश्रुत्यपेक्षं व्याख्यानम् ।

प्रयोगवचनसामर्थ्यादेव सिद्धं स्यादिति, अपरा व्याख्या । यदि हि स्वार्थप्रवृत्तस्यैव सौभरस्य निधनमात्रं नियम्येत, ततस्तत्प्रयोगवचनेनैवोपनीतमात्रहीषादिविधिसिद्धेर्विध्यानर्थक्यं भवेत् । फलसंबन्धपक्षे तु न प्रयोगवचनः समर्थ इत्यर्थवत्ता ।

किं च ।

वृष्टिकामपदेनात्र श्रुत्यैवाभिहितः पुमान् ।
साधनापेक्षिणस्तस्य हीषादिपदसंगतिः ॥

---

१. क० वृष्टिकामो ।

अन्यथाऽनेन सौभरं प्रकरणावगतमपि वृष्टिसाधनशक्तियुक्तं लक्ष्येत । न च तदाश्रयणे किंचित्प्रयोजनमस्ति । तथा श्रुतिलक्षणाविषये चेति ब्रुवतो भाष्यकारस्याप्येतदेव व्याख्यानमभिप्रेतमिति गम्यते ।

सिद्धान्तस्तु—

सौभरस्य समस्तस्य यः कामोऽभिहितः पुरा ।
नियन्तुं निधनं तस्य स एवायमनूद्यते ॥

सर्वस्यैव सौभरस्यायं कामसंयोगः पूर्वोक्त एव प्रत्यभिज्ञायमानः कीर्त्यत इति, नापूर्वफलप्रतिपत्तिः । किमर्था तु प्राप्तस्य पुनःश्रुतिरित्यत आह—निधनार्था पुनःश्रुतिरिति ।

कस्मात्पुनःश्रुत्युपात्तेन फलेनैव हीषादयो न संबध्यन्ते । तत्रोच्यते—

यथैव वारवन्तीयं नेष्टमाश्रयमाप्नु[1]यात् ।
फले तथैव हीषादि नाऽऽमोत्याश्रयमीप्सितम् ॥

हीषा वृष्टिं साधयेदिति हि गृह्यमाणेऽवश्यं किमाश्रितेनेत्यपेक्ष्यते । तत्र यत्सौभरं प्रकृतम्, तत्तावन्न शक्तमाश्रयत्वं प्रतिपत्तुम् । समस्तं हि साम सौभरशब्देनोच्यते । न च तद्धीषा साधयितुं शक्यम् । यथा दध्ना होमः । तद्धि सकलं होमं व्याप्तुं शक्नोति । न तु हीषा सौभरं व्याप्यते, बह्वक्षरसाध्यत्वात् । न च तदसाधयत आश्रयाश्रयिसंबन्धोऽवकल्पते । यत्तु तेन व्याप्त्या साधयितुं शक्यते निधनम्, न तस्य प्रकरणमस्तीति, न वाक्याद्विनाऽऽश्रयत्वं प्रतिपद्यते । तत्र यदि वाक्येनैव फलसंबन्धः । तेनैव चाऽऽश्रयलाभस्ततो वाक्यं भिद्यते । तथा निधनमात्रानुवादेन हीषादिसंबन्धे प्रकरणं बाधित्वा सर्वसाम[2]संबन्धप्रसङ्गे पुनः सौभरस्य यदिति कथमपि विशेषणीयम्, तत्रापि पुनर्मतिः क्लेशनीया ।

किं च ।

यद्यप्यवयवद्वारं भवेत्सौभरसाधनम् ।
तथाऽपि भवत्यनेकत्वात्क हीषिति न गम्यते ॥

न तावत्सौभरावयवेन निधनेन साधितेन प्रकरणलभ्यसौभरं साधितं भवति, अवयवस्य सौभरत्वेनाप्रतीतेः । न च यथा शक्नुयात्. तथाऽऽश्रयेदित्येषा कल्पनाऽस्तीत्युक्तम् । उपेत्यापि त्वाश्रयत्वमनेकप्रस्तावादिभक्तिनि सौभरे कतमस्यां भक्तौ हीषादयः प्रयुज्यन्तामिति नैव ज्ञायते । 'मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवत्' इति प्रस्तावे वा प्राप्नुवन्ति । तत्र निधनमित्यनुवादो नावकल्प्यते ।

---

१. क० आप्तवत् । २. क० सामेति ।

अथोच्येत यथोक्थ्यादीनां फलाय चोदितानां प्रकरणाज्ज्योतिष्टोममाश्रयतामसमस्तव्यापित्वेनानेकावयवत्वेऽपि सति वाक्यान्तरवशेनान्ते निवेशो भवति। एवमत्रापि फले विहितानां हीषादीनामाश्रयत्वेन सौभरमुपसर्पतां समाम्नायवशेन लब्धस्थानानां निधनत्वमनुवदिष्यत इति। तदयुक्तम्। कुतः—

अनन्यविषयत्वेन स्थानमुक्थ्यादिषु स्थितम्।
हीषादिस्तु बहुस्थानः क स्यादिति न गम्यते॥

युक्तमुक्थ्यादीनां प्रदेशान्तरेष्वदृष्टेरलौकिकत्वाच्च क्रत्वन्तरनिवेशित्वम्। न हि तेषां स्थानान्तरं दृष्टपूर्वम्। न चाविज्ञातस्थानविशेषाणां रूपावधारणम्, फलसंबन्धो वा। न चान्यत्रवर्तमानानां स्वरूपप्रयुक्त उक्थ्यादिव्यपदेशसंभवः। योऽपि वचनान्तरेण स्थानविशेषलाभः, सोऽपि पृथक्क्रत्वर्थत्वाविज्ञानादनयैव फलचोदना गृह्यत इति, तदर्थ एव विज्ञायते। हीषादीनां यः पुनः समाम्नायप्राप्तः स्थानविशेषसंबन्धः, स तावत्सौभरविधानेन, क्रत्वर्थत्वेन, सौभरफलार्थत्वेन चोप[1]योजितः। इदानीं तु फलं प्रति स्वतन्त्रस्य हीषो विधानाल्लोकवेदसामान्तरभक्त्यन्तरप्रकृतभक्तिवर्तित्वादिविशेषो न ज्ञायते, कावतिष्ठताम्। यदि हि प्रकृत एव विहित इति विज्ञायेत, ततस्तस्य ज्ञातस्थानत्वात्संदेहो न स्यात्।

ननु चैकत्वाच्छन्दस्य य एवायं प्रकृतः स्यात्, स एव लोकादिष्वपीति तद्गतग्रहणेऽपि तदेव विशेषस्थानं भविष्यतीति। नैतदेवम्। कुतः?

एकत्वेऽपि हि शब्दस्य शक्तिभेदः प्रयोजने।
तत्र कार्यान्तरस्थानं न स्यात्कार्यान्तरेष्वपि॥

न शब्दैकत्वेन यत्किंचित्कार्ये स्थानं दृष्टसामर्थ्यम्, तदेवान्यत्रापीति शक्यते वक्तुम्। न हि यत् देवदत्तस्य युध्यमानस्य स्थानमवगतम्, तदेव भुञ्जनस्यापि भवतीति गम्यते। कार्यप्रयुक्ता हि स्थानविशेषादयो, न स्वरूपप्रयुक्ता। स्वरूपस्य स्थानान्तरेऽप्यविभागात्। अतः कार्यान्यत्वादेकस्यापि स्थानभेदप्राप्तिः। न च यत्सौभराङ्गभूतस्य हीषः स्थानम्, तदेव पुरुषार्थस्यापीत्यवधारणं शक्यम्। प्रासङ्गिकसौभरसाधनत्वादिति चेत्? न। तस्यैव स्थानविशेषलाभात्प्रागसिद्धत्वात्। इतरेतराश्रयं हि स्यात् सौभरसाधनत्वेन स्थानविशेषः। तस्माच्च साधनत्वमिति।

ननु यथाऽभ्युदितेष्ट्यां मध्यमादितण्डुला उपादीयमानत्वेऽपि प्रकृता गृह्यन्ते, तथात्र हीषादयो ग्रहीष्यन्ते। युक्तं तत्र प्रकृतगामिविभजतिवाक्यापेक्षितानां देवतासंयोगवाक्यानां तद्विषयत्वाच्चच्छन्दोपबद्धमध्यमादिविभागस्य च प्रकृत-

---

१. क० चोपयुज्यते।

प्रत्ययानतिरेकादन्येषामग्रहणम्। इह तु न हीषादीनां तादृक्कारणमस्तीति, न लौकिकप्रत्ययो निवर्तते। तस्मान्नैवं वाक्यार्थः संभवतीत्ययमपरः परिगृह्यते। यदा सर्वप्रकारमन्विष्यमाणोऽपि श्रौतः फलसंबन्धो न लब्धः, तदा मा बाधितरां श्रुतिरिति, प्रकृतसाधनलक्षणा विज्ञायते। तत्रैषोऽर्थो भवति—प्रकृताय वृष्टिसाधनाय हृषिशब्दोऽङ्गमिति। प्रकृतगामी च वृष्टिशब्दस्तत्साधनभूतं सौभरमेव लक्षयति, नान्यत्। न चान्यसाधनभूतम्, अप्रतीतेः। सत्यामपि च हीषादीनां प्राप्तौ नियमार्थत्वादर्थवद्वाक्यमित्युक्तम्। ते च हीषादयो यथाभूताः सौभरेणाऽऽक्षिप्ताः। तथाभूता एव नियम्यन्त इति, विनाऽपि निधनशब्दसंयोगेन सिद्धं निधनत्वमनूद्यते। तद्दर्शयति—**वृष्टिकामाय सौभरमस्त्येवेत्यादि**।

तदेतदधिकरणं गुणक्रियाफलप्रतिपादनपरयोरन्तराधिकरणयोरुभयोरत्यपवादभूतम्। वृष्ट्यादिशब्देनैवेदं फलं साधनलक्षणयेति प्रतिपादनात्। यस्तु वाक्यभेदश्चोदित आसीत्, स निधनसंबन्धे सति श्रुत्या प्रकरणेन वा सौभरे विशेषणत्वेनोपादीयमाने भवेत्। न त्विह तदुभयमप्यस्ति। वृष्टिकामपदेनैव संबन्धात्, प्रकरणलभ्यत्वाच्च सौभरविशेषणत्वस्य। न च प्रकरणलभ्या विशेषा वाक्यं भिन्दन्ति। तस्माददोषः।

अत्र वार्तिकमतम्

इदं त्विह विचारयितव्यं भवति—किं यत्र क्वचन शाखायामधीतस्य सौभरस्य वृष्ट्यादिसाधनभूतस्य हीषादयो नियम्यन्ते, उत यत्र हीष्निधनकं पठ्यते, तच्छाखागतं वृष्टिकामस्य प्रयोक्तव्यम्, एवमूङ्निधनकम्, ऊनिधनकं चेति सदृशो विचारः। तत्रानियमेन सहस्रशाखागतसौभरप्रयोगविकल्पे सति वृष्टिकामादिनिमित्ते हीषादिमात्रनियम इति प्राप्ते।

अभिधीयते—यत्र तन्निधनकं पठ्यते, तच्छाखागतैव वृष्टिकामादेः समस्ता गीतिरुपादातव्येति, कुतः ?

प्रपद्यते रूपविनाशभीतेर्गीतिर्न गीत्यन्तरभक्तियोगम्।
अतः समस्तैव विकल्प्यमाना यथासमाम्नायमसौ नियम्या॥

सामरूपं हि समाम्नायादवगम्यते। तच्चाल्पेनान्यत्वेनाप्रत्यभिज्ञानादन्यदेव भवति। तत्र यदि शाखान्तरीयायां गीतौ शाखान्तरीयनिधनं प्रयुज्येत, ततो रूपान्यत्वं स्यात्। न च वचनादृते ऐरवद्विकारः। तच्छाखागतगीतिग्रहणेनाविरोधोपपत्तेः सर्वत्रासंभवाद्विकाराश्रयणम्। अस्ति चात्र गतिः विकल्पप्राप्तौ चायं नियमः। समस्तस्य च साम्नः पदार्थत्वाद्विकल्पप्राप्तिः। नावयवानाम्। अतो नान्यदीयनिधनविधानम्। अत एकदेशनियमे सति कांस्यभोजिन्यायेन

समस्तनियमः। एषोऽपि चात्र वाक्यार्थः संभवति—उभयोः प्राप्तयोः संबन्धमात्रं विधीयते। यद्वृष्टिकामाय सौभरम्, यच्च हीषित्येवं निधनं तदेकत्र संपादनीयमिति। तस्मात्समस्तगीतिनियम इति सिद्धम् ॥२९॥

(इति त्रयोदशं सौभराधिकरणम् ॥१३॥)

इति श्रीभट्टकुमारिलविरचिते मीमांसाभाष्यव्याख्याने तन्त्रवार्तिके

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥

न्या० सु०—वाशब्दव्याख्यानार्थं तेन नास्य निधनादपरं फलमिति भाष्यं व्याचष्टे—**उच्यत इति**। अथेति भाष्येण हीषादेर्निधनपदान्वये फलपदस्य वाक्यभेदभयेनानन्वयात्प्रमादसमाम्नायापत्तिरित्याशङ्क्य तन्निरासार्थत्वेन वृष्टिकामायेत्यादिका या कामश्रुतिः, सा तच्छब्दपरामृष्टसौभरविषया तद्विशेषणार्था। न हीपादेः फलान्वयविध्यर्थत्येवं 'सर्वस्योक्तकामत्वात्तस्मिन्कामश्रुतिः स्यादिति सूत्रावयवव्याख्यानार्थंनुच्यतइत्यादिभाष्यं व्याचष्टे—**निधनेन त्विति**। फलश्रुतेर्हीषाद्यनन्वयेऽपि निधनव्यवस्थाविषयभूतसौभरविशेषणार्थत्वान्नानर्थक्यापत्तिरिति विशेषणत्वोक्त्या सूचितम्। निधनमात्रे हीष्विधौ निधानान्तरानर्थक्यापत्तेर्निर्विशेषणस्य निधनस्यार्तिवदनुवादायोगाद् वृष्टिकामस्य प्रकरणलभ्यनिधनविशेषणसौभरद्वारा निधनविशेषणत्वेनावगतस्यानुवादान्तर्गत्यत्रगतेरवाक्यभेदाशयः। भाष्ये लक्षयतिर्विशेषणवाची।

पूर्वार्द्धं व्याचष्टे—**हीषेति**। हीषेः निधनपदेनासम्बन्धे निधनपदानर्थक्यमित्यर्थः—**उत्तरार्द्धं व्याचष्टे**। **अस्मत्पक्षे त्विति**। सौभरफलान्वयविधायिनो यो वृष्टिकाम इति वचनान्तरस्यैक्यैऽपि फलस्योद्देश्यत्वाप्रत्युद्देश्यं च वाक्यसमासेवंचनान्तरैरिति बहुवचनं पदशब्दस्य लक्षणयावयववाचित्वासौभरावयवानां निधनादीनां समाम्नायादेव प्राप्तत्वाद्धीषादिनियममात्रविधौ नानेकार्थविधिलक्षणवाक्यभेदापत्तिरित्यर्थः। किमर्थं त्वित्याशङ्कोत्तरत्वेन निधनार्थेति सूत्रावयवव्याख्यानार्थं भाष्यं व्याचष्टे—**न चेति**। वृष्ट्यादिफलत्वेनोक्तस्यापि सौभरस्यात्रोपलक्षणं नानर्थकमित्यर्थः। यत्तु काम्यत्वाभावे हीषादीनां बलविशेषाभावेनान्योन्यबाधकत्वायोगान्नियमानर्थक्यमुक्तं तत्परिहरति—**विनापि चेति**। सौभरत्वसामान्याभावात्सर्वासां प्रस्तावोद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनाख्यानां भक्तानां यः साधारणत्वात्सामान्यरूपः समूहस्तद्वाचित्वादित्यर्थः। तथापि कथं बाध इत्यपेक्षायामाह—**तच्छ्रुत्या हीति**। सौभरश्रुत्या लक्षणया निधनान्तरप्राप्तेरर्थाक्षिप्तवद्विप्रकर्षाविशेषाद् बाधा युक्तेत्यर्थः। सौभरशब्दस्य वाक्षरवाचित्वाभावात्तद्बाधे श्रुत्यर्थबाधो नास्तीति परिहारमाह—**अथ वेति**। स्तुतिसाधनर्गक्षराभिव्यक्त्यर्थत्वात्साम्नस्तद्बाधे प्रधानबाधद्वारापि बाधः शङ्क्येत ऋगक्षरातिरिक्तविवर्णाक्षराख्यसौभरबाधे तु तस्य नियतकालसामभागपरिपूर्णार्थत्वेन साम प्रति गुणभूतत्वात्तद्बाधेन कथं चित्सामबाधेति सूचनार्थम्—**स्तोभेत्युक्तम्**। परव्याख्यां दूषयितुमुपक्रमते—**एवं त्विति**। सन्देहहेतुं तावत् दूषयति—**तदिति**। श्लोकं व्याचष्टे—**हीषिति**।

सिद्धान्तं दूषयति—**तथेति**। श्लोकं व्याचष्टे—**निधनेति**। निधनमात्रानुवादेन हीष्विधौ फलपदानर्थक्यात्सौभरश्रुत्यैव च प्राप्तत्वेन पुनः श्रुत्यानर्थक्याद्व्यवहितान्वयदोषपरिहारार्थं च वृष्टिकामविशिष्टनिधनानुवादेन हीष्विधानस्योक्तत्वाद्वृष्टिकामत्वादेः प्राप्तत्वादनेकार्थविधिलक्षणवाक्यभेदाभावेऽप्यबाधः कामत्वादेरपि प्राप्तेर्नित्यानुवादायोगाद्यथा चार्त्तेः शुद्धाया नित्यत्वेन निमित्तत्वायोगाद्विशिष्टाया निमित्तताश्रिता तथेह विधेयान्वयनिरपेक्षस्वरूपमात्रालोचने शुद्धस्यापि निधनस्यानुवादोपपत्तेर्विशेषणस्यानुवादान्तर्गत्याश्रयणहेत्वभावाद्विशिष्टानुवादलक्षणो वाक्यभेदोऽपरिहार्य इत्यर्थः। प्रकृताश्रयालाभस्य पूर्वपक्षनिरासहेतोरनुक्तत्वान्निधनान्वयविधिनिमित्तवाक्यभेदप्रसङ्गस्य च निरासहेतोः सुपरिहरत्वात्त्वपूर्वपक्षनिरासोऽप्ययुक्त इत्याह—**पूर्वपक्षेति**। स्वमतेन व्याचक्षाणः सन्देहस्वरूपं तद्धेतुं च तावत्प्रतिज्ञापूर्वमाह—**तस्मादिति**। श्रुत्या फलपरत्वसम्भवे साधनभूतसौभरलक्षणानुपपत्तेः सन्देहायोगमाशङ्क्य प्रकृतसौभराश्रयत्वसम्भवासम्भवलक्षणसन्देहहेतुसूचनार्थम्—**वाक्येरयुक्तम्**। प्रकृताश्रयालाभाद् गुणफलान्वये वाक्यासामर्थ्ये सति श्रुत्यसम्भवाल्लक्षणोपपत्तेर्वाक्यसामर्थ्यसदसद्भावालोचनात्सन्देहोपपत्तिरित्याशयः।

श्लोकं व्याचष्टे—**हीषिति**। कथं तर्हि भाष्यं व्याख्येयमित्यपेक्षायामाह—**तदा चेति**। वृष्टिसाधने सौभरे हीष्विधौ समाम्नायादेव प्राप्तेः फलतो निधनव्यवस्थार्थत्वावगतेर्हीषिति निधनमित्यर्थो लभ्यत इत्याशयः। विधेयहीषक्षरान्वये च वृष्टिकामशब्दस्य हीषक्षरान्वयान्यथानुपपत्त्या सौभरलक्षणार्थत्वकल्पनोपपत्तेस्तद्विषयतया विशेषणशब्दो व्याख्येय इत्याह—**वृष्टिकामायेति**। ननु सिद्धान्तेऽपि हीषक्षरान्वयिसौभरोपलक्षणार्थत्वाद् वृष्टिकामशब्दस्य हीषक्षरान्वयाभ्युपगमेन हीषेति सिद्धान्तवचनव्यक्तिभाष्यावयवेन तन्निरासो न युज्येतेत्याशङ्क्याह—**न हीषेति**। वृष्टिकामशब्दोक्तस्य फलस्य सौभरोपलक्षणत्वमनपेक्ष्य स्वेन रूपेण न सम्बन्ध इत्यर्थः।

पूर्वोक्ते सन्देहे सन्देहभाष्यमुपपाद्य, पुरुषश्रुतिव्याख्याभाष्यं यथापुनर्विधानसामर्थ्यादित्यनेन हीषादित्वनियोगविध्याशयं व्याख्यातम्। तथैव व्याख्येयमित्याह—**तत्रेति**। तत्रशब्दस्योक्तेन प्रकारेण सन्देहोपपत्तौ सत्यामित्यर्थः।

व्याख्यातभाष्यान्तर्गतस्य 'प्रयोगेति' भाष्यावयवस्य श्रुतिप्राप्तानां नियमेन निवर्त्तयितुमशक्यत्वादित्यादि वाक्यात्तर्केन हीषादिप्रयोगस्य सौभरश्रुत्याख्यवचनप्राप्तत्वेन समर्थत्वाद् बाधितुमशक्यत्वान्नियमार्थत्वेनापि विधेरर्थवत्त्वेन सम्भवतीति सूचिताद्व्याख्यानादन्यथा सौभरप्रयोगविधिनैव तदङ्गभूतहीषाद्यनुष्ठानसिद्धेः कुर्यादिति पृथक्प्रयोगविधिरनर्थकः स्यादित्येवमपि व्याख्या सम्भवतीत्याह—**प्रयोगेति**। तामेव दर्शयति—**यदि हीति**।

अथ वेति द्वितीयपुरुषश्रुतिव्याख्याभाष्यम्। अस्मिन्व्याख्याने सिद्धान्तेऽपि निधनपदानन्वयेन तस्य सौभरलक्षणार्थत्वायोगात्स्ववाक्यानुपात्तस्य विशेष्टुमशक्यत्वाद् वृष्टिकामशब्दस्य सौभरलक्षणार्थत्वेऽपि तद्विशेषणत्वानभ्युपगमात्स्वप्राधान्योपपत्तेर्भाष्यानाञ्जस्या-

पत्तेश्च स्वार्थत्वाच्च फलश्रुतेरिति स्वप्राधान्याशयव्याख्यानायोगाद्यथाश्रुतं व्याचष्टे—किं चेति।

ननु प्रकृतसौभराधिकारिपुरुषप्रत्यभिज्ञानात्तस्य चावगतसौभरसाधनत्वेन काम्यमानवृष्टिसाधनानपेक्षत्वात्साधनवाचिहीषादिपदान्वयानुपपत्तेः। शाखाभेदप्राप्तानेकहीषादिव्यवस्थापेक्षत्वावगमाद्धीषादिपदानां निधनव्यवस्थार्थत्वप्रतीतेः क्व तेषां व्यवस्थेति निधनव्यवस्थाविषयापेक्षायां यथा 'यदग्नये च प्रजापतये च सायं जुहोति, यत्सूर्याय च प्रजापतये च प्रातरि'ति देवताव्यवस्थार्थयोर्वाक्ययोर्व्यवस्थाविषयभूतहोमलक्षणार्थत्वेन सायम्प्रातशब्दयोर्देवतापदान्वयः, तथा वृष्टिकामादिशब्दानां निधनव्यवस्थाविषयभूतसौभरलक्षणार्थत्वेन हीषादिपदान्वयसम्भवे प्रत्यभिज्ञाऽविरुद्धा। पूर्ववृष्टिकामादिकल्पनया प्रकृताश्रयलाभक्लेशापादिका गुणफलान्वयकल्पना न युक्तेत्याशङ्क्याह—साधनेति। अग्निसूर्ययोरन्यतोऽप्राप्तयोः कालद्वयलक्षितहोमे विधानात्फलतो व्यवस्था युक्ता। इह तु सौभरश्रुतिप्राप्तनिरन्तरव्यावृत्तौ त्रिदोषपरिसंख्यापत्तेः व्यवस्थार्थत्वायोगात्प्रकृतानुपपत्तेरपूर्ववृष्टिकामाद्यवगमात्साधनापेक्षायां साधनसमर्पणार्थेनैव हीषादिपदेन वृष्टिकामादेः सम्बन्धः, न व्यवस्थार्थेनेत्याशयः। अपूर्वेष्टिकामाद्यवगतिः साधनापेक्षित्वोक्त्या सूचिता। इतरस्मिन्निति भाष्यं व्याचष्टे—अन्यथेति। अनेन च भाष्येणास्मत्कृतमेव सन्देहव्याख्यानं स्फुटीकृतमित्याह—तथेति। अभ्युच्चयमात्रार्थत्वाद् भूयस्त्वभाष्यमुपेक्षितम्—हीषो निधनपदानन्वयाद्वाक्यभेदाशङ्कानुपपत्तेस्तन्निरासार्थत्वेनाद्य सिद्धान्तसूत्राव्याख्यानायोगात्, स्वयं सर्वस्य सौभरस्योक्तकामत्वेन प्रकृतप्रत्यभिज्ञानाल्लक्षणया प्रकृतसौभरानुवादिका कामश्रुतिर्नापूर्वफलोक्त्यर्थेत्येवं व्याचष्टे—सिद्धान्ते त्विति।

श्लोकं व्याचष्टे—सर्वस्येति। परोक्षवृत्त्या निधनान्तरप्राप्तेर्मन्थरत्वादप्राप्तावस्थस्यैव हीषः प्रत्यक्षवृत्त्या शीघ्रं विधानान्न त्रिदोषत्वापत्तिरित्याशयः। वृष्ट्यादेः स्ववाक्यानुपात्तसौभरविशेषणत्वायोगात्किमर्थं सौभरं विशेष्यतइत्याशङ्कोत्तरत्वेनोत्तरावयवव्याख्यानायोगात्किमर्थमनूद्यतइत्याशङ्कोत्तरत्वेन व्याचष्टे—किमर्थेति। वृष्टिकामादिशब्दैः श्रुत्युपात्तफलत्यागेन सौभरलक्षणा न युक्तेत्याशङ्कते—कस्मात्पुनरिति। प्रकृतस्य सौभरस्यैकाक्षरसाध्यत्वेनाश्रयत्वायोग्यत्वादाश्रयत्वयोग्यस्य च निधनस्य प्रकरणाभावात्प्रकृताश्रयालाभेन गुणफलान्वयायोगाच्छ्रुत्यर्थान्वयानुपपत्तेर्लक्षणा युक्तेति परिहरति—तदिति। फले साध्ये नेष्टमाश्रयमाप्नुवदित्यन्वयः। श्लोकं व्याचष्टे—हीषेति। न केवलं फलान्वयपरेण वाक्येनैवाश्रयलाभाद्वाक्यभेदः, किं स्वाश्रयभूतस्य निधनस्य सौभरेण विशेषणादपीत्याह—तथेति। स्ववाक्ये सौभरानुपादानात्प्रकरणाद्विशेषलाभः कथमपीत्यनेन सूचितः। एवं सति को दोष इत्याशङ्क्याह—तत्रापीति।

ननु साक्षात्सौभरस्याश्रयत्वायोग्यत्वेऽप्यवयवावियविनोरत्यन्तभेदाभावेनाऽत्यन्तभेदाच्च यागस्तोत्रयोर्न स्तोत्रे साधिते यागः साधित इति शक्यं वक्तुमिति, पूर्वाधिकरणवार्तिकोक्तन्यायाभावादवयवद्वाराऽश्रयत्वोपपत्तेस्तस्य च प्रकरणलभ्यत्वान्न वाक्यभेदापत्तिरित्याशङ्क्या-

भ्युपेत्यवादेन परिहरति—किं चेति। हीषित्यक्षरं यद्यपि सौभरस्य साधनं, तथापि क्व भक्तौ तन्निविशतइत्यनेन च धारणान्निधनानुपपत्तेस्तद्विधावपरिहार्यो वाक्यभेद इत्याशयः। सामानाधिकरण्यबुद्धिहेतुकत्वादभेदस्यैकस्मिंश्चावयवेऽवयविसामानाधिकरण्यबुद्ध्यभावेनाभेदाभावादेकावयवसाधनत्वेनावयविसाधनत्वानुपपत्तेरनङ्गे चाङ्गावतारन्यायस्य प्रधान्यावस्थितम्। यत्तु तदङ्गेनोपसर्पतीति पूर्वाधिकरणवार्त्तिके निषिद्धत्वाद्यथा शक्नुयात्तथाश्रयेदिति कल्पनानुपपत्तेरभ्युपेत्यवादमात्रत्वं दर्शयन् श्लोकं व्याचष्टे—न तावदिति। द्वादशाधिकरणसूत्रोदाहरणेनातिशयोक्तिः। ननु यथा पशुकामस्यौक्थ्यं गृह्णीयात्षोडशिना वीर्यकामः स्तुवीतातिरात्रेण प्रजाकामं याजयेदित्युक्थ्यादिग्रहयागाभ्यासानां फले विहितानां यागाभ्याससमुदायात्मकज्योतिष्टोमाश्रितत्वेनावगतानां ज्योतिष्टोमस्यानेकयागाभ्यासरूपावयवस्योक्थ्याद्यभ्यासमात्रेणाव्याप्तेः क्वावयवे स्थितानां ज्योतिष्टोमसाधनतेत्यपेक्षायां तमग्निष्टोमात्पराञ्चं गृह्णीयादित्युक्थ्यस्याग्निष्टोमपरत्वं वाक्यात्तं पराञ्चमुक्थ्येभ्यो गृह्णीयादिति च षोडशिनस्तत्परत्वं वाक्यादतिरात्रि षोडशिनं गृह्णातीतिचोक्थ्यपरत्वेनावगतस्य षोडशिनाऽतिरात्रे विधानादतिरात्रस्य सर्वान्त्यत्वप्रतीतेरन्ते निवेशस्तथा समाम्नायाद्भविष्यतीप्याशङ्कते—अथेति। उक्थ्यादीनां ज्योतिष्टोमस्याद्ये मध्यमे वा प्रदेशान्तरे क्वाप्यदृष्टेरलौकिकत्वेन चान्यत्र स्थितानां रूपावधारणफलान्वयोक्थ्यादिव्यपदेशासम्भवात्सम्भवत्स्वपि रूपावधारणफलान्वयोक्थ्यादिव्यपदेशेषु वाक्यान्तरावगतस्यान्ते निवेशस्य विषयान्तराविज्ञानेन फलार्थोक्थ्यादिविषयत्वात्रधारणाद्युक्तोऽन्ते निवेश हीषादीनां लोकावेदसामान्तरभक्त्यन्तरेष्वपि दृष्टेरन्तनिवेशानियमात्सौभरान्तनिवेशस्य च पाठप्राप्तस्य क्रतुपुरुषार्थसौभरसिद्ध्यर्थंहीषादिविषयत्वेनोपयोजितत्वात्स्वातन्त्र्येण फले विहितानां स्थाननिवेशानवगतेर्निधनानुवादो न सम्भवतीति परिहरति—तदिति। श्लोकं व्याचष्टे—युक्तमिति। अलौकिकत्वं त्रेधोपपादयितुम्—न चेत्युक्तम्। ग्रहयागाभ्यासत्वस्यान्यत्रापि भावात् ज्योतिष्टोमरूपनिष्पत्त्यर्थाभ्यासातिरिक्तत्वेनैवेषां निरूप्यत्वात्तन्मध्यपाते च ज्योतिष्टोमरूपनिष्पत्तावेव व्यापारापत्तेरद्रव्यत्वात्केवले कर्मशेषः स्यादित्यश्वदाभ्यन्यायेन यागान्तरत्वायोगान्नान्तनिवेशं विना रूपावधारणं न चानवधारितरूपाणां फले विधिरुक्थ्यादिसंज्ञा चोपपद्यत इति स्वरूपेण फलान्वयित्वेन संज्ञित्वेन च त्रेधाप्यलौकिकतेत्याशयः। सम्भवत्यप्यन्यथा रूपाद्यवधारणे वाचनिकस्यान्ते निवेशस्यानन्यविषयत्वात्फलार्थस्यैवोक्थ्यादेर्विषयत्वावसाय इत्यधानार्थोऽनन्यविषयत्वेनेति श्लोकावयवो अन्तनिवेशं विना रूपाद्यवधारणाभ्युपगमे अप्यन्तनिवेशोपपादनार्थं इति योऽपि चेति पश्चाद्व्याख्यया सूचितम्। अनेन चोक्थ्यादिषु व्यवस्थितं नियतमेव स्थानं यद्यप्यव्यवस्थितं तथापि वाचनिकस्य स्थाननिवेशस्यानन्यविषयत्वादेतद्विषयतयैव व्यवस्थितमित्यपि योजना सूचिता। क्रत्वर्थत्वेन फलार्थत्वेन च यत्सौभरविधानन्तेनोपयोजित इत्युक्ते गुणफलान्वयविधिवाक्येनाश्रयान्वयाविधाने अप्यविहितस्याग्राह्यत्वापत्तेः कल्पितविधिविषयत्वाभ्युपगमाद्धीषादेः फलान्वयसिद्ध्यर्थेन सौभरविधानेनोपयोजित इति भ्रान्तिं निरसितुं सौभरेण फलं विशेषितं नन्वस्य हीषादेर्लोकादिवर्त्तित्वे

अपि प्रकृतस्य सौभरावयवभूतस्यानन्यवर्त्तित्वान्निश्चय इत्याशङ्क्याह—यदीति। प्रकृतनियमे प्रमाणं नास्तीत्याशयः। ननु स्वरूपेण हीषादेः प्रकृतग्रहणनियामकाभावे अन्याश्रयत्वेन गृहीते सौभरे हीषादेर्निधनस्थानत्वात्फलार्थस्यापि हीषादेः सौभरावयवत्वेन सौभरे समाप्ता तेन हीषादिनैक्यान्निधनस्थानत्वं सेत्स्यतीत्याशङ्कते—ननु चेति। यद्यपि लोकादिगतो हीषादिर्गुणफलान्वये विधिना गृह्यते तथापि प्रकृतसौभराश्रितत्वाद्य एव सौभरावयवत्वेन समाम्नातो हीषादिः प्रकृतः फलार्थो अपि स एवेति सौभरावयवत्वेनैकत्वात्तदेव स्थानं भविष्यतीत्येकस्य हीषादेर्नानास्थानत्वादर्शनेनैवान्तनिवेशनियामकाभावस्योक्तत्वात्स्वरूपैक्यमात्रेणाशङ्कानुपपत्तेः सौभरावयवत्वेनैक्यं व्याख्येयम्। सत्यप्यैक्ये प्रयोजनभेदे स्थानस्य देवदत्तादौ शक्तिभेददर्शनात्स्थानान्तरे अपि च सौभरारम्भसमाप्त्यन्तराले प्रयुक्तस्य हीषादेः सौभरावयवत्वोपपत्तेरवयवान्तरोपजनापत्तेश्चोनश्यादिवदविरोधान्न कार्यान्यत्वे तत्स्थानत्वनियमसिद्धिरिति परिहृति—नैतदिति। श्लोकं व्याचष्टे—न शब्दैकत्वेनेति। स्थानं इष्टसामर्थ्यमित्यनेन शक्तिभेदः तत्स्थानस्येत्यध्याहारः सूचितः। स्वरूपनाशाशङ्कानुपपत्तेस्तन्निरासायोगादात्मीयवाचिस्वशब्दाङ्गीकारेण सौभरात्मीयस्य तदवयवत्वरूपस्यानाशादिति व्याख्येयम्। न चेत्यनेनोत्तरार्द्धं व्याख्यातं वारवन्तीये निरस्तमपि प्रणीताधर्मन्यायमितरेतराश्रयाख्यदोषान्तराभिधित्सया पुनरुपन्यासपूर्वं निरस्यति—प्रासङ्गिकेति। निधनस्थानप्रयोगाभावे समाम्नातेनैव हीषा सौभरसिद्धेः फलार्थस्य हीषः सौभरसाधनत्वायोगात्स्थाननिवेशादेव सौरभसाधनता वाच्येत्याशयः।

नन्वप्रकृतस्य हीषादेः फले विधौ तस्य सौभरसाधनत्वात्प्राक् स्थानविशेषासिद्धेरितरेतराश्रयं स्यात्, प्रकृतप्रत्यभिज्ञाने तु तद्विरोधेनाऽप्रकृतग्रहणायोगात्। प्रकृतग्रहणावगतेस्तस्य च समाम्नायादेव स्थानविशेषसिद्धेर्नेतरेतराश्रयापत्तिरित्याशयेनाशङ्कते—नन्विति। यदि च वारवन्तीयसंस्कारः कश्चिद्विधीयेत, ततः कथं चिद् व्रीहिप्रोक्षणादिष्विव प्रकृतप्रत्ययो भवेदिति पूर्वाधिकरणवार्त्तिकन्यायेनोपादीयमानत्वे, प्रकृतग्रहणायोगमाशङ्क्य, 'यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदियात्स त्रेधा तण्डुलान्विभजेद्ये मध्यमास्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्, ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दध्नश्चरुम्, ये क्षोदिष्ठास्तान्विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुमि'ति अभ्युदितेष्टावुपादीयमानत्वेऽपि तण्डुलादीनां प्रकृतग्रहणं दृष्टान्तितम्। चन्द्राभ्युदयेनिमित्ते दार्शं हविः दार्शेभ्यो देवताभ्योऽपनयेदिति विभजतिवाक्यार्थस्य षष्ठे वक्ष्यमाणत्वात्, देवतां विना प्रक्रान्तदर्शानिष्पत्तेर्देवतान्वयाकाङ्क्षायां मध्यमादिवाक्यैरत्र प्रकृतस्य हविषो देवतान्तरविधावनपेक्षितविध्यापत्तेः प्रकृतहविर्विषयत्वावगमाद्यच्छब्दोपबन्धेन प्रकृतविषयत्वदृढीकरणात्प्रकृतनियमो युक्तः, इह तु श्रुतिकृतस्य हीषादिमात्रप्रत्ययस्य प्रत्यभिज्ञारूपेण सन्निधिना—

'श्रुतेः कर्मान्तरज्ञानं सन्निधेरेककर्मता।
तत्र श्रुतिबलीयस्त्वं जानतां कथमेकता॥'

इति न्यायेन बाधायोगाद्वेत्वन्तराभावाच्च न प्रकृतनियमस्स भवतीति वैषम्योक्त्या परिहरति—**युक्तं तत्रेति**। अतो गुणफलान्वयरूपवाक्यार्थायोगान्निधनव्यवस्थारूप एव वाक्यार्थो युक्त इत्युपसंहरति—**तस्मादिति**।

ननु वृष्टिकामादिशब्देन सौभरलक्षणापत्तेर्निधनव्यवस्थापक्षोऽप्ययुक्त इत्याशङ्क्याह—**यदेति**। अनेन च पुरुषश्रुतेरिति पूर्वपक्षहेतोर्द्वितीयव्याख्यापक्षे परिहारः उक्तः। ननु साधनलक्षणायामपि कारीर्यादिसाधनलक्षणाप्रसङ्गे सौभरेण विशेषणाद्वाक्यभेदः स्यादित्या-शङ्क्याह—**तत्रेति**। लक्षणायाः प्रकृतविषयव्यवस्थापकत्वात्प्रकृतस्यैव साधनस्य लक्षणे-त्याशयः। निधनव्यवस्थाविषयभूतप्रकृतसौभरविशेषलक्षणार्थत्वाच्च वृष्टिकामशब्दस्य कारीर्यादिलक्षणाशङ्कामपि नाधिरोहतीत्याह—**प्रकृतेति**। कामोपबद्धानां पदानां फलपरत्व-स्यैकादशाद्ये वक्ष्यमाणत्वाद् वृष्टिकामशब्दएव वृष्टिशब्द उक्तः। यथान्नाद्यस्य, स्वर्गस्य वा साधनभूतं सौभरं वृष्टिशब्दो लक्षयतीत्याशङ्का न सम्भवति, तथा वृष्टिसाधनकारी-र्यादिलक्षणाशङ्कापि न सम्भवतीति सूचनार्थम्—**दृष्टान्तत्वेन न चेत्युक्तम्**। पुरुषश्रुतेरिति पूर्वपक्षहेतोर्विधिपुनःश्रुत्यपेक्षव्याख्यापक्षे परिहारमाह—**सत्यामपि चेति**। काम्यत्वाभावे हीषादीनां तुल्यबलत्वेनैकस्येतरबाधकत्वायोगान्नियमायोगाशङ्का विनापि च गुणकामत्वे-नेत्यादिवार्त्तिके निरस्तेतीत्युक्तमित्यनेनोक्तम्।

ननु प्रवो देवाऽग्नय इत्याज्यसूक्ते समाम्नायावगतक्रमाक्रमान्तरेण चाप्रयोगदर्शनेन सौभराङ्गरूपापि विधीयमानस्य हीषादेः समाम्नायावगतस्थाननियमप्रमाणाभावात् वृष्टि-साधनं यत्सौभरं तस्य च यन्निधनमिति विशिष्टानुवादाद्वाक्यभेदोऽस्मिन्नपि पक्षे स्यादित्या-शङ्क्याह—**ते चेति**। नियमस्य यथाप्राप्तविषयत्वान्नापूर्वविधाविव क्रमान्तराशङ्केत्याशयः। व्याख्यातेऽर्थे भाष्यं योजयति—**तदिति**।

समाप्तेऽधिकरणार्थे परव्याख्यादूषणव्याक्षिप्तचित्तत्वात्प्रागनुक्तामनन्तरसङ्गतिमाह—**तदिति**। ननु वृष्टिसाधनस्य सौभरेण विशेषणादस्मिन्नपि सिद्धान्तव्याख्याने परव्याख्या-वद्विशिष्टानुवादलक्षणवाक्यभेदस्य प्रसक्तस्यापरिहृतत्वेनाधिकरणार्थासमाप्तेरन्तराले स्वाव-सरानुक्तानन्तरसङ्गत्यभिधानमयुक्तमाशङ्क्यास्मिन् व्याख्याने वाक्यभेदाप्रसक्तिमाह—**यस्त्विति**। हीषो निधनान्वये तस्योद्देश्यत्वेनाविवक्षितविशेषणत्वाद्वाक्यापन्नस्य निधन-मात्रान्वयस्य प्रकरणलभ्यसौभरविशेषणत्वेनापादनप्रसङ्गाद्वाक्यभेदापत्तिः। फलपदान्वये तु तस्योद्देश्यलक्षणार्थत्वेन स्वयमनुद्देश्यत्वाल्लक्षणायाश्च हीषाद्यन्वयसिद्ध्यर्थत्वेन तदन्वया-पादकप्रकृतसौभरविषयत्वावगमान्न वाक्यभेदप्रसक्तिरित्याशयः।

परव्याख्याने चोदित आसीदिति भूतनिर्देशेनोक्तं प्रसङ्गान्निधनमात्रव्यवस्थार्थान्येतानि वाक्यानि तन्निधनकसौभरविशेषव्यवस्थार्थानि वेत्यनुष्ठानौपयिकं चिन्तान्तरं प्रस्तौति—**इदं त्विति**। सर्वशाखागतानां सौभरविशेषाणां 'न चैकं प्रतिशिष्यत' इत्यनेन व्यवस्थाया प्राप्तेरेकस्माच्च फलसिद्धेः समुच्चयायोगेऽपि विकल्पेन प्रयोगोपपत्तेर्हीषादिश्रुतेः सौभरा-वाचित्वेन तद्व्यवस्थापकत्वायोगान्निधनमात्रव्यवस्थार्थानीति पूर्वपक्षमाह—**तत्रेति**।

सिद्धान्तं प्रतिजानातीति प्रश्नपूर्वमुपपादयति—कथमिति। सौभरगीत्यविशेषेऽपि प्रतिशाखमवान्तरगीतिविशेषसद्भावाच्छाखान्तरस्थस्य सौभरगीतिविशेषस्य शाखान्तरस्थसौभरभक्तियोगे सत्याधारभूताक्षरभूताक्षरविशेषाधीनस्वात्स्वरविशेषात् क्रमगीतिविशेषाभिव्यक्तेर्विकल्पप्राप्तिविषयस्यैव नियमविषयत्वात्समस्तस्य च सौभरस्य वृष्ट्यादिसाधनत्वेन विधानाद्विकल्पप्राप्तेः शाखाभेदेन पठितस्य समस्तस्यैव सौभरस्य व्यवस्थेत्यर्थः।

श्लोकं व्याचष्टे—सामरूपं हीति। सूक्ष्मभिदभिन्नत्वाद् गीतिविशेषाणां भक्त्यन्तरयोगे रूपनाशापत्तेरित्याद्ययुक्त्यर्थः।

ननु 'न गिरागिरेति' ब्रूयादिति गिरापदनिषेधानुवादेनैरं कृत्वोद्गेयमितिरापदविधानाद्यज्ञायज्ञीयस्य गिरापदस्थाने इरापदप्रयोगाद्रूपान्यत्वापत्तिर्यथा न विरुध्यते, तथा रूपान्यत्वापत्तिरविरुद्धेत्याशङ्क्य—न चेत्युक्तम्। तत्र रूपान्यत्वात्मकविकारानभ्युपगताविरापदविधिविरोधापत्तेस्तत्परिहारार्थं विकारो युक्तः। न त्विह विरोधो अस्तीत्याशयः।

ननु विकाराश्रयणे विरोधो नास्तीत्याशङ्क्य—सर्वत्र चेत्युक्तम्। प्राप्तरूपान्यत्वात्मके विकारे प्राप्तिप्रमाणविरोधापत्तेः शरैः कुशानां, फलचमसेन सोमस्य सूर्यादिपदेन वाग्न्यादिपदस्यागत्यैव बाधदर्शनात् सत्याङ्गतौ बाधा न युक्तेत्याशयः। विकल्पप्राप्तौ चेत्यनेन समस्तैव चेति चशब्दाध्याहारेण युक्त्यन्तरोक्त्यर्थत्वेनोत्तरार्द्धं व्याख्यातम्। ननु निधनमात्रनियमश्रुतौ अश्रुतसमस्तनियमाभ्युपगमो न युक्त इत्याशङ्क्याह—अत इति। शिष्याचार्ययोः सहभोजनप्राप्तौ शिष्यस्य कांस्यभाजित्वनियममनियतपात्रभोज्याचार्यो अनुरुन्धानो लोके दृश्यतइति द्वादशाधिकरणसिद्धो दृष्टान्तः।

यद्वा वृष्टिकामः सौभरेणेति विहितः सौभरप्राप्तेः समाम्नायाच्च हीष्प्राप्तेरुभयप्राप्तौ च सम्बन्धविधिर्जाघन्यधिकरणे वक्ष्यमाणत्वात्सम्बन्धविधिप्रतीतेर्हीष निधनसौभरविशेषोपादानं च विना सम्बन्धासिद्धेर्हीङ्निधनकसौभरनियम एव विध्यर्थं इत्याह—एषोऽपि चेति। एवमेव सिद्धान्तमुपसंहरति—तस्मादिति ॥२९॥

इति त्रयोदशं सौभराधिकरणम्।

इति श्रीमत्त्रिकाण्डमीमांसामण्डनप्रतिवसन्तसोमयाजिभट्टमाधवात्मजभट्टसोमेश्वरकृतौ तन्त्रवार्तिकटीकायां सर्वानवद्यकरिण्यां न्यायसुधाख्यायां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः।

भा० प्र०—पूर्वपक्षी ने जो 'हीष्' इत्यादि वाक्य की फलश्रुति को फलान्तर विधि कहा—वह ठीक नहीं है। कारण, ऐसा मानने पर वाक्यभेद होगा, क्योंकि एक वाक्य के द्वारा निधन के साथ 'हीष्' आदि का सम्बन्ध एवं फल के साथ सम्बन्ध का बोध नहीं हो सकता है। इस प्रकार के अर्थबोध के लिए दो वाक्यों की आवश्यकता है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में दो वाक्य न होने से एक वाक्य को ही दो वाक्यों के रूप में परिणत कर उस

अर्थ की प्रतीति करानी होगी। इसीलिए वृष्टिकामना के साथ "हीष्" इसका सम्बन्ध नहीं है, अपितु "हीष्" इस "निधनं सौभरस्य" इस प्रकार से ही अभिसम्बन्ध होगा। अतः वृष्टि आदि 'हीष्' आदि निधन का फल नहीं है, वरन् वह पूर्व में उपदिष्ट सौभर का ही फल है और 'हीष्' इत्यादि वाक्यों में उसी का अनुवाद है, इसीलिए 'हीष्' इत्यादि वाक्य का फल पूर्वनिर्दिष्ट फल से भिन्न नहीं है। अतः इसमें नवीन फल की चर्चा नहीं की गयी है। यदि नूतन फल की चर्चा होती तो 'हीष्' इत्यादि नियम के लिए ही विधि होती है, अतः 'हीष्' इत्यादि नियमविधि है। वृष्टिरूप फल को उद्दिश्य कर 'हीष्' इस प्रकार 'निधन' करना चाहिये, अन्य प्रकार से नहीं—इस प्रकार नियम का विधान हीं इसका उद्देश्य है और इसमें 'वृष्टिकामाय' आदि पद वृष्टिसाधन की सौभर में लक्षणा कर उसके उद्देश्य से 'हीष्' आदि विधान किया गया है। अतः "हीषिति वृष्टि-कामाय" इसका अर्थ 'निधन' के स्थान पर स्थित 'हीष्' इस स्तोत्र के द्वारा वृष्टिरूप फल की भावना = उत्पादना करे। अन्यान्य अर्थ को भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

"सर्वस्य" = समग्र सौभर साम का, "वा" = पूर्वपक्ष नियमार्थक है, "उक्त काम-त्वात्" = काम अर्थात् फल कहा गया है, "तस्मिन्" = उसमें ही अर्थात् यह सौभर वाक्य ही "कामश्रुतिः स्यात्" = कामश्रुति अर्थात् काम फल सम्बन्ध कहा गया है, "निधनार्था" = निधन के लिए अर्थात् "निधन के नियम के साधनार्थ, "पुनःश्रुति" = कामना का पुनः कथन की चर्चा है अर्थात् 'हीष्' इत्यादि वाक्य 'हीष्' आदि निधन के नियम विधि की व्यवस्था के लिए फलकीर्त्तन अनुवाद है और सौभर वाक्य में ही फल सम्बन्ध कहा जाता है। यह १३ वाँ सौभर अधिकरण समाप्त हुआ ॥२९॥

मीमांसाधिकरण के द्वितीय अध्याय का द्वितीय पाद समाप्त हुआ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः (रथन्तर) पादः ।

अथ प्रथमं रथन्तराधिकरणम्

[१] गुणस्तु क्रतुसंयोगात्कर्मान्तरं प्रयोजयेत्संयोगस्याशेषभूतत्वात् ।। १ ।। पू०]

शा० भा०—अस्ति ज्योतिष्टोमः । 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इति । तं प्रकृत्य श्रूयते 'यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्, ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्, यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान्, यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान्' इति । तत्र संदिह्यते—किं ग्रहाग्रताविशेषो ज्योतिष्टोमस्य विधीयते, उत कर्मान्तरस्य रथन्तरसाम्नो, बृहत्साम्नश्चेति ।

यदि रथन्तरसामग्रहणेन बृहत्सामग्रहणेन च ज्योतिष्टोमोऽभिधीयते, ततस्तस्य ग्रहाग्रताविशेषः । अथ नाभिधीयते, ततः कर्मान्तरस्येति । किं तावत्प्राप्तम् ? प्रकरणाज्ज्योतिष्टोमस्येति प्राप्ते ।

उच्यते—गुणस्तु क्रतुसंयोगादिति । तुशब्दः पक्षं व्यावर्तयति—नैतदस्ति, ज्योतिष्टोमस्येति । कुतः ? क्रतुसंयोगात् । कथं तर्हि । कर्मान्तरस्येति । ननु ज्योतिष्टोमक्रतोरेवैष एवंजातीयकोवादः,—रथंतरसामा बृहत्सामेति । नेति ब्रूमः । यदि न कृत्स्नक्रतुसंयोगो भवेत् । ज्योतिष्टोमस्य वादः । कृत्स्नक्रतुसंयोगस्त्वेषः । कथं कृत्स्नक्रतुसंयोगो भवति ? कथं वा न कृत्स्नक्रतुसंयोग इति ? यदि रथन्तरसत्ता वा, बृहत्सत्ता वा निमित्तं ग्रहाग्रताविशेषस्य, ततो न कृत्स्नक्रतुसंयोगः ।

रथन्तरं बृहद्वा यदि सामास्ति, तत ऐन्द्रवायवाग्रता शुक्राग्रता चेति[१], [२]ततो ज्योतिष्टोमस्य गुणविधिः । अथ रथन्तरसामसत्ता बृहत्सामसत्ता वा न निमित्तं, ततः कृत्स्नक्रतुसंयोगः । यदि रथंतरसामेति कोऽर्थः ? अयमर्थः—यदि रथंतरसाम अस्य विशेषणं क्रतोरिति । कुत एतत् ? समासपदसामर्थ्यात् । समर्थानां हि पदानां समासो भवति । सामर्थ्यं च भवति विशेषणविशेष्यभावे । असाधारणं च भवति विशेषणम् । तत्रायमर्थो—यदि रथन्तरमेव साम, बृहदेव वा, नान्यदिति । ज्योतिष्टोमस्य च बहूनि सामानि गायत्रादीनि । तस्मान्न ज्योतिष्टोमस्य वाचकावेतौ शब्दाविति । तेन यद्यपि प्रकरणाज्ज्योतिष्टोमस्य गुणविधिरिति गम्यते, तथाऽपि तद्बाधित्वा वाक्येन रथंतरसाम्नो बृहत्साम्नश्च भवितुमर्हति ।

---

१. ब० वेति ।   २. ब. तत्र ।

ननु यथा ज्योतिष्टोमो न रथंतरसामा, एवमन्योऽपि न रथंतरसामा[1] कश्चिदस्ति। उच्यते। कर्मान्तरं रथंतरसामकं कल्पयिष्यत्येतद्वाक्यम्—यदि रथंतरसामा सोमः स्यात्, इति। ननु नास्त्यत्र विधायकः शब्दः ? उच्यते। अस्ति य एष स्यादिति। आह। नैष विधातुं शक्नोति, यदिशब्दसंबन्धात्। विद्यमानस्य निमित्तार्थेन एवंजातीयकः शब्दो भवति, न विधानार्थेनेति।

अत्र ब्रूमः। यदेतत्, सयदिकं वाक्यम्—यदि रथंतरसामा सोमः स्यादिति। अत्रावान्तरवाक्यमस्ति, रथंतरसामा सोमः स्यादिति। यदवान्तरवाक्यं, तस्यान्योऽर्थः, अन्यश्च सयदिकस्य। सय[2]दिको न शक्नोति विधातुम्। यद् अवान्तरवाक्यं, तद्विधास्यति। न च रथंतरसाम्नो बृहत्साम्नो वा भावो निमित्तत्वेन श्रूयमाणोऽप्यर्थवान्भवति। तस्मादविवक्षितो यदिसंबन्धः। तस्मिंश्चाविवक्षिते पदद्वयमिदं रथंतरसामा सोमः स्यादिति शक्नोति रथंतरसामानं क्रतुं विधातुं, यदीत्यनर्थकम्।

अथ वा, यदि रोचेतेत्यध्याहारः। अथ वा, यथैतद्भवति-पयसा षाष्टिकं भुञ्जति, यदि शालिं भुञ्जीत, तत्र दध्युपसिञ्चेदिति। एवंजातीयकेन वाक्येन शालिभोजनं विहितं भवति। एवमत्रापि विहितं द्रष्टव्यम्। यदि रथंतरसामा सोमः स्यादैन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान्गृह्णीयादिति। कथं पुनः शालिभोजनं तेन वाक्येन[3] विहितं भवतीति ? उच्यते। व्यत्यासेन संबन्धः कल्प्येत[4], यदि दध्युपसेचनमिच्छेच्छालिं भुञ्जीतेति।

ननु न खल्विच्छतेः परां लिङ्विभक्तिमुपलभामहे, सिञ्चतेर्हि तां परां समामनन्तीति। सिञ्चतेः खलु सा परा समुच्चरन्ती कमेरर्थं गमयति कामप्रवेदने हि तां मन्यामह इति, एवमिहापि[5] यद्यैन्द्रवायवाग्रान्ग्रहान् गृह्णीयादिति गृहीतुमिच्छेदित्यर्थः, ततो रथंतरसामानं क्रतुं कुर्यादिति। नन्वेवं सतीच्छामात्रं भवेत्, न ग्रहाग्रताविशेषविधानम्[6]। उच्यते। यथाऽस्मिल्लौकिके वाक्ये यदि दध्युपसेचनमिच्छेच्छालिं भुञ्जीतेति दध्युपसेचनसंकीर्तनाद्दध्युपसिक्तं शालिं भुञ्जीतेति तेनैकवाक्यत्वाद्गम्यते, एवमत्रापि ग्रहागताविशेष[7]संकीर्तनात्तेनैकवाक्यत्वाद् ग्रहाग्रताविशिष्टो रथंतरसामा गम्यते।

अथवाऽत्र हेतुहेतुमतोर्लिङ्। रथंतरसामा सोम ऐन्द्रवायवाग्राणां ग्रहाणां हेतुः कर्तव्य इति। तस्मात्कृत्स्नक्रतुसंयोगाद्गुणः कर्मान्तरं प्रयोजयेत्। एवं कृत्स्नक्रतुसंयोगोऽर्थवान्भविष्यति।

१. ब० सामाख्यः। २. ब० सयदिकं। ३. ब० 'वाक्येन' इत्येतत् पदंनास्ति। ४. ब० कल्पते। ५. ब. मत्रापि। ६. ब० ग्रहाग्रताविधानं। ७. ब० कीर्तनात्।

अपि च पूर्वेण निमित्तेन भवितव्यं, परेण नैमित्तिकेन। कथम्? सति[1] हि निमित्ते नैमित्तिकं भवितुमर्हति, नासति। यच्च भविष्यत्तन्न सत्, भविष्यच्च रथंतरसाम, तत्कथं पूर्वकालस्य ग्रहाग्रताविशेषस्य निमित्तं भविष्यतीति।

अपि च निःसंदिग्धं जगत्सामा कर्मान्तरं, तत्सामान्यादितरदपि कर्मान्तरमिति गम्यते। तस्मान्न ज्योतिष्टोमस्य गुणविधानमिति ॥१॥ पूर्वपक्षः ॥

अथ प्रथमं रथन्तराधिकरणम्

त० वा०—ज्योतिष्टोमे प्रथमं बृहद्रथन्तरे वैकल्पिके[2] पृथक् पृष्ठसाधनत्वेन चोदिते। तत पुनः श्रूयते 'यदि रथंतरसामा सोमः स्यादैन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान्गृह्णीयात्', 'यदि बृहत्सामा शुक्राग्रान्' इति। तत्र सगुणं कर्म श्रूयमाणं संदिह्यते—किं कर्मान्तरं ज्योतिष्टोमात् उत तस्यैव ग्रहाग्रताविशेषविधानं प्रति रथंतरावच्छिन्नस्य निमित्तार्थं श्रवणमिति। तत एतत्सिद्ध्यर्थमिदं विचारयितव्यं—किमयं कृत्स्नक्रतुसंयोगो रथंतरस्य, अथ सत्तामात्रसंयोग इति। तत्सिद्ध्यर्थमप्येतच्चिन्तनीयम्—किं क्रतुविशिष्टं रथंतरम्। उत रथंतरविशिष्टः क्रतुरिहाऽऽश्रीयते इति।

ननु च यदिशब्दोपबन्धादिह निमित्तं प्रतीयते, तस्य चोद्दिश्यमानत्वाद्विशेषणविशेष्यभावो नावकल्पेत। भवेन्निमितार्थत्वमेतस्य यदि यादृगयं प्रत्येष्यते, तादृशस्य कुतश्चित्प्राप्तिर्विज्ञायेत। अप्राप्तिपक्षे तु बलाद्विधानमापद्यते। निमित्तत्वमपि च यादृशस्येह श्रूयते, यदि तादृशो ज्योतिष्टोमः ततस्तस्यैव गुणार्थत्वेन श्रवणमिति संगस्यते[3]। यदि तु तादृङ् न भवति, ततस्तादृशत्वमापाद्य निमित्तीकर्तव्यः। यत्संबन्धाच्च प्राङ्निमित्तत्वमेव नोपजायते, भवति तन्निमितस्यापि विशेषणम्। यथाऽऽर्त्यधिकरणे वक्ष्यते—'मृष्यामहे हविषा विशेषणमिति'। तस्मान्न विशिष्टानुवाददोष इति।

किं तावत्प्राप्तम्? प्रकरणाद्रथन्तरसामत्वस्य, बृहत्सामत्वस्य च वचनान्तरेण प्राप्तेर्यदिशब्देन च प्राप्त्यपेक्षत्वनिमित्तत्वप्रतीतेर्ग्रहाग्रताविशेषस्य च प्रयोगवचनेन ग्रहणाद्बलीयसा च विरोधिना गुणान्तरेणानवरोधात्, 'तत्संनिधेर्गुणार्थेन पुनश्रुतिः' इत्यकर्मान्तरत्वम्।

एवं सिद्धान्तं प्राप्तं तुशब्देन व्यावर्त्य, सौत्रः पूर्वपक्षः परिगृह्यते कर्मान्तरमिति। कुतः?

समासः सति सामर्थ्ये तच्चापीष्टं विशेषणे।
विशेषणं व्यवच्छेत्तृ ज्योतिष्टोमे च नास्ति तत् ॥

'गुणश्चापूर्वसंयोगे' इति पूर्वकर्मासंबद्धो गुणो भेदक इत्युक्तम्। इह च बहुव्रीह्यर्थसद्भावस्य यदिशब्दोपबन्धेन निमीत्तत्वं गम्यते, न रथंतरसत्ताया-

---

१. ब० सतिनिमित्तं। २. क० पृथगिति। ३. क० गम्यते।

उपसर्जनत्वात्। न च क्रतुविशिष्टं रथंतरमिह प्रतीयते, येन तदेव निमित्तं कल्प्येत। न च तत् क्रतुनाऽवच्छेत्तुं शक्यते, अन्यत्रापि विद्यमानत्वात्। एवं हि तदवच्छिद्यते यदि रथंतरमस्यैव सामेति, न त्वेवं सम्भवति। तस्मादवश्यमेव कर्तव्यं यदि रथंतरमेवास्य सामेति। न चैवमात्मकत्वं ज्योतिष्टोमस्य, अन्यस्य वाऽवगतं, यन्निमित्तं भवेत्। अतो निमित्तप्रतीतिं परित्यज्य तदन्यथानुपपत्त्यैव केवलरथंतरसामककर्मान्तरविधिरध्यवसीयते। शक्यं हि तदपूर्वं कर्तुम्। न च रथंतरसत्तामात्रं विशेषणम्, अव्यापकत्वात्। न विशेषणादृते सामर्थ्यम्। न च सामर्थ्येन विना समासोऽवकल्पते। दृश्यते वाऽसावत्रेति पूर्वस्यात्राप्रत्यभिज्ञानम्।

अथ कस्मात्स एव केवलरथंतरसामकः पक्षे न क्रियते, न शक्यमेवं कर्तुम्, साक्षाद्विहितस्तोत्रसम्बन्धिसामान्तरविरोधात्। इदं हि क्रतुसम्बन्धेन श्रुतम् 'आनर्थक्यात्तदङ्गेषु' इत्यनेन न्यायेन स्तोत्रेष्ववतरति। गायत्र्यादीनि तु स्तोत्रेषु साक्षाद्विधीयन्ते, तस्माद्बलवन्ति। क्रत्वन्तरे तु प्रत्यक्षशिष्टं तथंतरं तेभ्यश्चोदकप्राप्तेभ्यो बलवत्तरं भवतीत्यदोषः। एवं चान्यपदार्थविधानात्तत्प्रधानो बहुव्रीहिरनुग्रहीष्यते। अन्यथा ह्युपसर्जनपरत्वं लोहितोष्णीषादिवाक्यवदगत्या परिगृह्येत। यदि य ग्रहाग्रताविधानेन सहैतदेकं वाक्यं, ततस्तत्रापि रथंतरविधानं चानेकत्वादपूर्वभावनाविधिनैव निस्तीर्यते। सोमः स्यादिति चाऽऽनन्तर्यात्. कर्तव्यतैव विज्ञायते, रथंतरसामत्वकर्तव्यता तु व्यवहितकल्पनयैव स्यात्। सोमशब्देन च प्रकृतिलिङ्गेन ज्योतिष्टोमप्रकृतिरेवायं भविष्यति। तस्मात्कर्मविधिः। इदमेव भाष्यकारो दर्शयति—**यदि रथंतरसामेत्यस्य कोऽर्थं** इत्यादिना। ग्रहाग्रताविशेषश्चास्यैव क्रतोर्वाक्येन, अवान्तरप्रकरणेन वा भविष्यति। यद्यपि महावाक्येष्ववान्तरवाक्यान्यप्रमाणं, तथाऽप्यर्थासम्भवादविवक्षिते महावाक्येऽवान्तरवाक्याश्रयणाद्विधिशक्तेरबाधः।

परित्यागाद्वरमध्याहृत्य पूरणमिति मत्वा, **'अथ वा यदि रोचेतेति'** दर्शयति। तत्कर्तव्य[1]**ताक्षिप्तायाश्च रुचेः प्रमाणवानेवाध्याहार इति,** न स्वमनीषिकामात्रमभिहितम्। अध्याहारादपि स्वपदवृत्तिरेव व्यवहितकल्पनया लघीयसी, धर्ममात्रबाधादिति मत्वा **यदि शालिं भुञ्जीतेत्युदाहृत्य** पक्षान्तरं कल्पयति। परस्तु दृष्टान्तस्यैवासिद्धेः **कथं पुनरिति** व्यत्ययेन सम्बन्धः, **कामप्रवेदने हि**[2] लिङ् इच्छां प्रत्यायतीति सिद्धान्तविवरणम्। तत्रैष वाक्यार्थो भवति। यश्चैन्द्रवायवान् ग्रहान् ग्रहीतुमिच्छेद्रथंतरसामानं क्रतुं कुर्यादिति। ततश्च यदिशब्दरहितं सोमः स्यादिति पदद्वयं विधायकं ग्रहान् गृह्णीयादित्येतत्तु यद्यप्यविधायकं, तथाऽपीच्छार्थत्वाद्यो हि यदिच्छति, स तत्करोतीत्येवं विधिफलं लप्स्यते।

---

१. क० तत्कर्तव्यताङ्गत्वाक्षिप्तायाः। २. क० च।

अथ वा इच्छामात्रयुक्तमुपात्तं ग्रहाग्रत्वं स्यादित्येषैव लिङ् विधास्यति।

विनैव व्यवहितकल्पनयाऽप्ययं पक्षो भवन् बलवत्तर इति मन्वानोऽथवा हेतुहेतुमतोर्लिङित्युपन्यस्यति। तत्र सोमः स्यादिति हेतौ लिङ् गृह्णीयादिति विधावेव। तेनैतदुक्तं भवति—रथंतरसामसोमहेतुकानैन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयादिति। न चाक्रियमाणेऽसौ हेतुत्वं प्रतिपद्यत इत्यर्थाद्विहितो भविष्यतीति।

अथ वा हेतुमति गृह्णीयादिति लिङ्, सोमः स्यादिति विधावनुक्तमपि च सोमस्य हेतुत्वं हेतुमदाक्षेपात्संनिवेश्य भविष्यति। तत्राप्येषोऽर्थोग्रहाग्रताविशेषकारणभूतः सोमयागः कर्तव्य इति।

यदिशब्दपरित्यागो रूढ्यध्याहारकल्पना।
व्यवधानेन सम्बन्धो हेतुहेतुमतोश्च लिङ्॥

इति पक्षविकल्पसंग्रहश्लोकः। सर्वं चैतदवैष्ट्यधिकरणसिद्धान्त एवोपयोक्ष्यत इत्यत्र प्रपञ्चितम्।

किं च।

निष्पन्नेन निमित्तेन निष्पाद्यं प्रतिभूयते।
न रथंतरसत्ता च निष्पन्ना क्रतुसत्त्ववत्॥

प्रातःसवने हि ग्रहग्रता भवति, माध्यंदिने रथंतरम्, न चानिष्पन्नस्य निमित्तता युक्ता। कारणपर्यायत्वान्निमित्तशब्दस्य। मम तु नैव किंचिन्निमित्तम्। अथ वा क्रतुः। स चाऽऽदित एव विद्यते। जगत्सामा च न ज्योतिष्टोम इति 'जगत्साम्नि सामाभावात्, इति वक्ष्यते। अतश्च 'तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम्' इति कर्मान्तरत्वमिति॥ १॥

अथ प्रथमं रथन्तराधिकरणम् ॥१॥

न्या० सु०—निश्चितविधेयत्वस्य गुणस्य क्व पूर्वत्रासम्भवाद्भेदकत्वं क्व फले विधानेन, व्यवस्थार्थत्वेम् वा पूर्वत्र सम्भवात् अभेदकतेति निर्णीते सन्दिग्धविधेयत्वस्य क्व विधेयत्वात् भेदकत्वं क्व वा तदभावादभेदकतेति निर्णतुं यदि रथन्तरसामा यदि बृहत्सामेति वाक्ययोः किं रथन्तरसामत्वबृहत्सामत्वे विधीयेते ज्योतिष्टोमएव वा ग्रहाग्रविशेषविधौ निमित्ततयोच्यते इति चिन्तां दर्शयितुं तत्रेति सन्देहभाष्यं एकपूर्वसाधनीभूतस्तुतिसमूहात्मकस्तोत्रविशेषरूपपृष्ठैक्येऽप्यवान्तरकार्यभूतायाः स्तुतेर्गुणसङ्कीर्णात्मकत्वाद् द्रव्यान्तरेण शूरादेर्बृहता च चित्रादेर्गुणस्य कीर्त्तनात् बृहद्रथन्तरयोर्द्वारभेदेन पृष्ठसाधनत्वात्समुच्चयावगतेर्नित्यत्वेन कादाचित्कत्वान्निमित्तत्वानुपपत्तेः, सिद्धान्तवचनशक्ययोगादयुक्तमाशङ्क्योपपादयितुमाह—ज्योतिष्टोम इति। न्यायाद् बृहद्रथन्तरयोः समुच्चयावगमेऽपि बृहद्वा रथन्तरं वेति वचनाद्विकल्पावगतेः पाक्षिकत्वान्निमित्तत्वोपपत्तिरित्याशयः।

एवमपि कर्माश्रुतेस्तद्भेदाभेदसन्देहो न युक्त इत्याशङ्कां निरस्यन्, भेदाभेदविषयत्वेन सन्देहभाष्यं व्याचष्टे—तत्रेति। रथन्तरसामत्वस्य बृहत्सामत्वस्य वा गुणस्य सोमयागविषयत्वात्सोमशब्दस्य सोमसाध्ययागलक्षणार्थत्वसूचनार्थं सगुणमित्युक्तम्। बृहद्रथन्तरसामत्वयोर्ज्योतिष्टोमे प्राप्तत्वेन विधेयत्वात्सामान्तरनिवृत्त्यर्थत्वे च तद्विध्यानर्थक्यापत्तेः। कर्मान्तरत्वनिश्चयात्सिद्धान्तासम्भवेन सन्देहायोगमाशङ्क्य, प्राप्तयोरपि बृहद्रथन्तरसामत्वयोर्ग्रहाग्रविशेषविधौ निमित्तार्थं कीर्त्तनमिति सूचनार्था ग्रहाग्रताविशेषविध्युक्तिरित्येवं सिद्धान्तवचनव्यक्तिभाष्यं व्याख्यातुम्—तस्यैवेत्युक्तम्। यदीति सन्देहहेतुभाष्यं प्रकरणाद् बृहद्रथन्तरसामशब्दयोर्ज्योतिष्टोमवाचित्वावगतेः पूर्वपक्षायोगादयुक्तमाशङ्क्योपपादयितुमाह—तत इति। सर्वसामकार्येषु रथन्तरमेव, बृहदेव वा, न सामान्तराणीति कृत्स्नेन क्रतुना रथन्तरस्य, बृहतो वा संयोगे ज्योतिष्टोमे सामान्तरविध्यानर्थकापत्तेस्तदयोगात्कर्मान्तरत्वं, रथन्तरं बृहद्भवत्येवेति सत्तामात्रेण रथन्तरस्य, बृहतो वा क्रतुसंयोगे त्वकर्मान्तरतेत्याशयः।

नन्वेवं सति बृहद्रथन्तरयोर्विशेषणत्वेन सामान्तरव्यावर्त्तकत्वावगतेः कृत्स्नक्रतुसंयोगस्यैव न्याय्यत्वात्सिद्धान्तानुपपत्तेः, सन्देहो न युज्येतेत्याशङ्क्य, सत्ताव्यावृत्त्यापि बृहद्रथन्तरयोः पाक्षिकत्वात् विशेषणत्वोपपत्तेर्न तन्मात्रेण कृत्स्नक्रतुसंयोगसिद्धिरिति परिहारसम्भवेऽपि प्रौढ्या क्रतोरेव विशेषणत्वाभ्युपगमने सिद्धान्तसम्भवं वक्तुमाह—तत्सिद्धयर्थमपीति। विशिष्टानुवाददोषापत्तेर्विशेषणविशेष्यत्वायोगमाशङ्कते—ननु चेति। पूर्वपक्षे तावन्निमित्तत्वं नास्तीति परिहरति—भवेदिति। केवलबृहद्रथन्तरसामकत्वस्याप्राप्तत्वान्निमित्तत्वं न सम्भवतीत्याशयः।

ननु सिद्धान्तेऽपि अप्राप्तत्वादेव केवलबृहद्रथन्तरसामकत्वस्य निमित्तत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—निमित्तत्वमपि चेति। समासश्रुत्यवगतस्य केवलरथन्तरसामकत्वस्य, केवलबृहत्सामकत्वस्य वा प्राप्त्यभावान्निमित्तत्वायोगेऽपि रथन्तरवत्त्वस्य बृहद्वत्त्वस्य वा निमित्तत्वसम्भवात्बृहद्रथन्तरयोरसत्ताव्यावृत्त्याऽन्योन्यमात्रव्यावृत्त्या वा विशेषणत्वाभ्युपगमेन विशेष्यत्वाभ्युपगमेन वा बृहद्रथन्तरसामकत्वापादनेन निमित्तता सिद्धान्तेऽभ्युपगन्तव्येत्याशयः।

नन्वेवमपि विशिष्टानुवाददोषापत्तेः कः परिहार इत्यपेक्षायामाह—यत्सम्बन्धाच्चेति। शुद्धस्य क्रतोः, साम्नो वा ग्रहाग्रविधौ निमित्तत्वायोगाद्विशिष्टस्यैव निमित्तत्वावगतेर्विशेषणस्याप्युद्देश्यान्तर्गतेर्न विशिष्टानुवाददोषापत्तिरित्याशयः। शुद्धस्योद्देश्यत्वायोगे विशेषणस्योद्देश्यान्तर्गत्यभ्युपगमेऽपि वाक्यभेदानापत्तिसूचनायाऽऽत्यंधिकरणभाष्यपाठः। पूर्वपक्षसूत्रस्थतुशब्दव्यावर्त्यसिद्धान्तोक्त्यर्थं किं तावदिति भाष्यप्रकरणोक्तिर्युक्त्यन्तराणामभ्युपलक्षार्थेत्येवं व्याचष्टे—किं तावदिति। सन्निधिलक्षणात्प्रकरणात्सोमशब्दस्य ज्योतिष्टोमविषयत्वप्रतीतेर्बृहत्पृष्ठं भवति, रथन्तरं पृष्ठं भवतीति वचनान्तरेण बृहद्रथन्तरप्राप्तेर्यदिशब्दप्रतीतस्य च निमित्तत्वस्य प्राप्त्यपेक्षत्वात्, अकर्मान्तरत्वे च ग्रहाग्रविशेषस्य ज्योतिष्टोमप्रयोगवचनेन ग्रहणात्प्रकृतकथम्भावानुग्रहोपपत्तेर्ज्योतिष्टोमस्य चोत्पत्तिशिष्टसामान्तराभावेन बृहद्रथन्तरविरोधिगुणान्तरानवरोधात् बृहद्रथन्तरयोः पूर्वकर्मसंयोगानर्हत्वाभावेन भेदकत्वानुपपत्तेर्दध्ना

जुहोती'त्यादिवच्च प्रकृतकर्मप्रत्यभिज्ञानादकर्मान्तरतेत्यर्थः। बृहद्रथन्तरसामत्वलक्षणो गुणः कर्मान्तरमाक्षिपेदिति पूर्वपक्षप्रतिज्ञार्थसूत्रावयवव्याख्यानार्थमिति भाष्यं व्याचष्टे—**एवमिति**। वृहद्रथन्तरसामशब्दयोरपूर्वक्रतुसंयोगादित्येवमर्थाभ्युपगमेन हेत्वर्थे क्रतुसंयोगादिति सूत्रावयवे पठिते, नन्वितिभाष्येण शब्दद्वयस्यापि ज्योतिष्टोमवाचित्वोपपत्तेर्हेत्वसिद्धिमाशङ्क्य नेति ब्रूम इत्यनेन संयोगस्य कृत्स्नभूतत्वादित्येवमर्थेनान्त्सूत्रावयवेन तन्निरासमुपक्रम्य, तदुपपादनार्थं कथमित्यादिना तत्सन्देहहेतुरुक्तः तं प्रागेव व्याख्यातत्वादुपेक्ष्य, कृत्स्नक्रतुसंयोगोपपादनार्थस्य 'यदि रथन्तरसामे'ति कोऽर्थं इत्यादिभाष्यस्यार्थं व्याचष्टे—**कुत इति**। सामर्थ्यस्यैकार्थ्याधीनत्वाद्विशेषणविशेष्यत्वं च विनैकार्थ्यायोगाद्विशेषणत्वापेक्षाऽव्यवच्छेद्यत्वशब्देनासाधारण्यं व्याख्यातम्। ज्योतिष्टोमस्य चेति भाष्यावयवोऽन्त्यपादेन व्याख्यातः।

प्रातिलोम्येन श्लोकं व्याख्यातुं ज्योतिष्टोमे केवलबृहद्रथन्तरसामकत्वाभावमात्रेण कथं कर्मान्तरत्वसिद्धिरित्यपेक्षायां, केवलरथन्तरसामकत्वलक्षणात्केवलबृहत्सामकत्वलक्षणाद्वा गुणाद्भेदसिद्धिं वक्तुमाह—**गुणश्चेति**। तस्मात्कर्मान्तरमिति हिशब्दान्वयायाऽध्याहार्यम्। ननु विधेयस्यैव गुणस्य भेदकत्वात् बृहद्रथन्तरसामकत्वयोश्च निमित्तत्वेनाऽविधेयत्वान्न भेदकतेत्याशङ्क्याह—**इह चेति**। यदिशब्दोपबन्धेनेह निमित्तत्वं गम्यमानं बहुव्रीह्यर्थस्य विद्यमानस्य गम्येत। तस्य च केवलबृहद्रथन्तरसामकत्वरूपस्याविद्यमानत्वेन निमित्तत्वायोगाद्विधेयत्वेन युक्ता भेदकतेत्याशयः।

ननु बहुव्रीह्यर्थस्य निमित्तत्वायोगेऽपि रथन्तरस्य, बृहतो वा विद्यमानत्वान्निमित्तत्वायोगेऽपि रथन्तरस्य, बृहतो वा विद्यमानत्वान्निमित्ततोपपत्स्यतइत्याशङ्क्याह—**नेति**। ननु रथन्तरमस्य सामेति विग्रहे, रथन्तरस्य विशेष्यत्वप्रतीतेर्निमित्ततोपपत्स्यतइत्याशङ्क्याह—**न चेति**। विग्रहवाक्यस्यावैदिकत्वेन समासस्थस्यैव विशेषणविशेष्यत्वस्य ग्राह्यत्वात्, तत्र च 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहावि(पा० सू० अ० पा० सू०)ति विशेषणस्य पूर्वनिपातस्मृतेः पूर्वनिपाताद्रथन्तरस्य विशेष्यता न युक्तेत्याशयः। क्रत्वन्तरेष्वपि च रथन्तरसद्भावान्न रथन्तरं क्रतुना विशेष्टुं शक्यमित्याह—**न च तदिति**। अतो रथन्तरमेवास्य सामेति बहुव्रीह्यर्थत्वात्, तस्य चाप्राप्तत्वान्निमित्तत्वं न सम्भवतीत्युपसंहरति—**तस्मादिति**। अतो निमित्तत्वायोगेन विधेयत्वावगतेः केवलरथन्तरमेवास्य सामेति बहुव्रीह्यर्थत्वात्, तस्य चाप्राप्तत्वान्निमित्तत्वं न सम्भवतीत्युपसंहरति—**तस्मादिति**। अतो निमित्तत्वायोगेन विधेयत्वावगतेः केवलरथन्तरसामकत्वलक्षणस्य गुणस्य भेदकता युक्तेति प्रकृतमुपसंहरति—**अत इति**। निमित्तत्वमसम्भवात्त्याज्यमित्यभिहितम्। निमित्तत्वान्यथानुपपत्त्या केवलरथन्तरसामकक्रत्वन्तरस्य विधेयत्वकल्पनापक्षस्तु केवलरथन्तरसामकक्रत्वन्तरस्य नित्यत्वेन निमित्तत्वायोगात्प्रौढिमात्रेणोक्तः।

ननु कर्मान्तरेऽप्यतिदेशात् गायत्रादिसामान्तरप्राप्तेः केवलरथन्तरसामत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**शक्यं हीति**। अतिदेशस्योपदेशेन बाधोपपत्तेरित्याशयः। श्लोकान्त्यपादं व्याख्याय सामान्तरव्यावृत्त्या रथन्तरस्य ज्योतिष्टोमविशेषणत्वायोगेऽप्ययोगव्यावृत्त्यां

विशेषणत्वं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासार्थत्वेन तृतीयं व्याचष्टे—न चेति। रथन्तरस्याविशेषात्सर्वसामकार्यविशेषणत्वप्रतीतेः पृष्ठव्यतिरिक्तेषु च सामकार्येषु तस्यायोगव्यावृत्तेरप्ययोगान्न सर्वव्यापिविशेषणत्वं सम्भवतीत्याशयः। 'महाबलभिदं चेच्छस्त्रमि'त्यादिवत्तर्ह्यविशेषणस्यैव मात्रेण निमित्तत्वं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासार्थत्वेन द्वितीयं व्याचष्टे—नेति। विशेषणादिगायत्रच्छन्दस इत्यादिवत्तर्ह्यसामर्थ्यमेवास्त्वित्याशङ्कानिरासार्थत्वेनाद्यं व्याचष्टे—न च सामर्थ्येनेति। गायत्रच्छन्दःप्रभृतीनां तु मन्त्रगतत्वेन विधावशक्तत्वादगत्या यथा कथं चिद् गतिः कल्प्येत्याशयः। समासाभावावस्तु शङ्कितुमेवाशक्य इत्याह—दृश्यते चेति। अतः सिद्धा कर्मान्तरतेत्याह—एतीति।

ज्योतिष्टोम एव तर्ह्येकसामत्वं विकल्पेन विधास्यत इति शङ्कते—अथेति। विषमशिष्टत्वाद्विकल्पायोगमाह—न शक्यमिति। एतदेवोपपादयति—इदं हीति। क्रत्वन्तरेऽपि तर्ह्येकसामकत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—क्रत्वन्तरे त्विति। अनेन च ननु यथेत्याद्याशङ्का परिहारभाष्यार्थो व्याख्यातः। स्वार्थप्राधान्याविघातादपि केवलरथन्तरसामकक्रत्वन्तरविधिरेव युक्त इत्याह—एवं चेति। ननु निमित्तार्थत्वेऽपि बहुव्रीह्यार्थस्यैव निमित्तत्वात्स्वार्थप्राधान्यं न विहन्यतइत्याशङ्क्याह—अन्यथा हीति। क्रतोः स्वरूपेण निमित्तत्वायोगादित्याशयः। उक्तेन च प्रकारेण केवलरथन्तरसामकत्वस्यावश्यविधेयत्वे व्यवहितान्वय-हेतुहेतुमल्लिङ्गपक्षयोर्यदि रथन्तरसामेत्यस्य ग्रहाग्रताविध्येकवाक्यत्वाभ्युपगमात् 'चोदना वा गुणानां युगपच्छास्त्रादि'त्यनेन न्यायेनानेकार्थोपादानलक्षणादपि गुणात्कर्मान्तरविधिसिद्धिरित्याह—यदि चेति। ऐन्द्रवायवाग्रत्वस्य ग्रहणविशेषणत्वेन यागविशेषणत्वाभावात्, तस्य च पूर्वपक्षेऽप्यतिदेशलभ्यत्वेनाविधेयत्वात्, तद्द्वारपि विधेययागविशेषणत्वानुपपत्तेः। कर्मान्तरस्याप्यैन्द्रवायवाग्रत्वविशिष्टस्य विध्ययोगमाशङ्क्यैन्द्रवायवाग्रत्वविशिष्टगृह्णातिपरप्रत्ययोक्तापूर्वभावनाविशिष्टयागभावनान्तरविध्युपपत्तिसूचनार्था ग्रहाग्रभावना विधानशब्देनोक्ता। क्रत्वर्थोत्पादकस्य वाजिनादेर्गुणस्य तन्निरपेक्षभावनाभेदकत्वाभावेऽपि तदनुत्पादकस्य साक्षाद्भावनयैवान्वयाद्भेदकत्वसूचनायाऽपूर्वभावनाविध्युक्तिः। विधायकस्याच्छब्दानन्तर्यादपि सोमशब्दलक्षितयागविधिरवसीयतइत्याह—सोम इति।

नन्वितिकर्त्तव्यतानुपदेशान्न कर्मान्तरविधिर्निर्वहतीत्याशङ्काह—सोमेति। व्याख्यातेऽर्थे भाष्यमनुसन्धत्ते—इदमेवेति। वाक्येनेति भाष्यावयवं यदिशब्दत्याग-रुच्यध्याहारपक्षयोर्ग्रहाग्रविधेर्यागविध्येकवाक्यत्वाभावादयुक्तमाशङ्क्य, 'वाक्यग्रहणस्य च यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात्, सौभरेण स्तुवीते'ति सन्दंशाभिव्यङ्ग्यावान्तरप्रकरणोपलक्षणत्वेनोपपादयितुमाह—ग्रहाग्रेति। 'आहे'ति भाष्येण स्याच्छब्दस्य यदिशब्दोपहतशक्तित्वाद्यागविध्यमाशङ्क्य, यदिशब्दत्यागेनानुपघातोक्त्यर्थं 'मत्र ब्रूम' इत्यादिभाष्यं महावाक्येऽवान्तरवाक्याप्रामाण्यादयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—यद्यपीति।

अथ वा यदीत्यथवाशब्दं यदिशब्दत्यागपक्षनिवृत्त्यर्थत्वेन व्याचष्टे—परित्यागवदिति। ननु कल्पकाभावात्स्वोत्प्रेक्षामात्रकल्पितो रुच्याध्याहारः प्रसज्येतेत्याशङ्क्याह—कर्त्तव्यतेति।

विधिनाऽनिच्छतः प्रवर्त्तयितुमशक्यत्वात्कार्यत्वान्यथानुपपत्त्या रुचिः कल्प्यतइत्याशयः। वैकल्पिकत्वसिद्धिश्च रुच्यध्याहारप्रयोजनमेवकारेण सूचिता।

अथ वा यथेत्यप्यथवाशब्दमध्याहारपक्षनिरासार्थत्वेन व्याचष्टे—अध्याहारादपीति। पक्षान्तरमन्यथाभूतं यद्वचयति। तदेवं मत्वेत्यर्थः। कथं पुनरित्याशङ्काभाष्यं दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वोक्त्यर्थत्वेन व्याचष्टे—परस्त्विति। यद्युपवन्वात्साक्षान्न शालिभोजनस्य विधेयत्वप्रतीतिर्व्यत्ययाभ्युपगमेऽपि दध्युपसेचनस्य शालिभोजनं प्रति यदिशब्दावगतनिमित्तत्वायोगात्, तदेकवाक्यत्वानुपपत्तेः। स यदि केन वाक्येन विहितत्वोक्तिः। कथमित्याशयः।

उच्यत इति भाष्येण व्यवहितान्वयकल्पनया दध्युपसेचनस्येष्यमाणत्वेनावगतस्य भोज्यव्यञ्जनार्थत्वेनेष्यमाणतया 'षाष्टिकान् पयसा भुञ्जीते'ति व्यञ्जनार्थपयःसाहचर्येणावधारणात् भोजनप्रयुक्तत्वेन तदभावेऽनुष्ठानासिद्धेः कांस्यभोजिन्यायेनोपसेचननियमाच्छालिभोजननियमावगतेः, स यदि केन वाक्येन भोजनविधिसिद्धिरिति परिहृतेन वैखल्वित्यनेन यदिशब्दान्वयेऽपि, इच्छावाचित्वाभावान्नेष्यमाणत्वावगतिः सम्भवतीत्याशङ्क्योच्यतइत्यनेन 'कामप्रवेदनेऽकच्चिदि'तीति कच्चिच्छब्दोपपदवर्जं कामस्येच्छायाः प्रवेदने-प्रज्ञापने गम्यमाने लिङ्विभक्तिस्मरणाल्लिङैवेष्यमाणत्वावगतिरुपपादिता। तत्र कथं व्यत्ययो लिङश्च कामप्रवेदनार्थताऽवगम्यतइत्याशङ्क्याह—व्यत्ययेनेति। 'अमगत्यादिष्वि'ति गत्यर्थस्यामो धातोर्भावे क्तप्रत्ययमुत्पाद्याऽनुनासिकस्य क्विप् झलोः क्ङितीति दीर्घत्वादान्तङ्गतमवगतमित्यान्तशब्दस्य ज्ञानवाचित्वाल्लोकप्रसिद्धस्य व्यत्ययकामप्रवेदनार्थत्वज्ञानस्य सिद्धं च तदान्तं चेति विग्रहेणोक्तस्य विवरणम्। कथनमित्यर्थः। एवंजातीयके वाक्ये लोके व्यत्ययकामप्रवेदनार्थत्वप्रतीतेरनिष्पन्नस्य चोपसेचनस्य निमित्तत्वायोगात्, तदिच्छाया निष्पन्नाया यदिशब्देन निमित्तत्वोक्त्यवगतेस्तत्समभिव्याहृताया लिङः कामप्रवेदनार्थत्वस्य न्याय्यत्वादङ्गभूतोपसेचनकर्त्तव्यतया च प्रधानभूतेष्यमाणभोजनाक्षेपाशक्तेर्भोजनेष्यमाणत्वोक्तिवैयर्थ्यप्रसङ्गाद्वचत्ययस्य न्याय्यत्वावगतेर्व्यत्ययकामप्रवेदनार्थलिङङ्गीकरणं युक्तमित्याशयः।

एवमिति दार्ष्टान्तिकभाष्यं व्याचष्टे—तत्रेति। स यदि लौकिकवाक्येष्वेवं विधवान्यार्थदर्शने सतीति तत्रशब्दार्थः। व्यत्ययाभ्युपगमस्य किं प्रयोजनमित्यपेक्षायां विधिशक्तिप्रतिबन्धकयदिशब्दापनयनं प्रयोजनमाह—ततश्चेति। गुणविधायिरथन्तरसामशब्दानपेक्षत्वेऽपि कर्मविधिस्तावत्सम्भवतीति पदद्वयोपन्यासेन सूचितम्।

नन्वेवं सतीति भाष्येण ग्रहाग्रताविधेर्यदिशब्दान्वये सत्यविधायकत्वापत्तेर्ग्रहाग्रता नानुष्ठेया स्यादित्याशङ्क्योच्यतइत्यादिना परिहृतम्। तस्याशयद्वयमाह—ग्रहानिति। ऐन्द्रवायवशुक्राग्रत्वयोर्विधेयत्वेनेष्टत्वात्तच्छब्दयोरुपन्यसनीयत्वेऽपि तयोरप्राप्तत्वाद्विधायकाश्रवणेऽपि विधायककल्पनेनावश्यविधेयत्वसूचनायाऽनुपन्यासः। इष्यमाणस्य साध्यत्वावगतेः फलवच्च यागानुष्ठानमात्रेण ग्रहाग्रत्वासिद्धेः, पृथक प्रयत्नसाध्यत्वात्कर्त्तव्यत्वकल्पनेत्याद्या-

शयार्थः । ग्रहाग्रताविशेषमिच्छतो यागोपदेशेन ग्रहाग्रताया यागप्रयुक्तत्वसूचनेन यागाङ्गत्वबोधनात्साङ्गयागविधिनैव ग्रहाग्रताविशेषस्यापि विधिरिति द्वितीयाशयार्थः ।

हेतुहेतुमतोर्लिङिति हेतौ कारणे स्वार्थान्यानुष्ठानापादके तत्प्रयोजको हेतुश्चेति हेतुसंज्ञत्वेन स्मृते प्रयोजके हेतुमति च फले परेण स्वार्थानुष्ठेतयाऽऽपाद्ये प्रयोज्ये लिङ्विभक्तिस्मृतेः स्यादिति हेतौ लिङ् गृह्णीयादिति विधौ गृह्णीयादिति चाहेतुमति स्यादिति विधावित्ति पक्षान्तरोपन्यासोऽपि पूर्वापरितोषेणैवेत्याह—विनैवेति । न केवलं यदिशब्दत्यागाध्याहारभ्यां विनेत्यपिशब्दार्थः । रथन्तरसामेति भाष्यं हेतौ स्यादिति लिङ्पक्षे रथन्तरसामसोमहेतुका ऐन्द्रवायवाग्राग्रहाः कर्त्तव्या इत्येवं विशेषणपरत्वेन व्याख्यातुमाह—तत्रेति । यागकर्त्तव्यताऽस्मिन्पेक्षे न सिद्ध्येदित्याशङ्क्याह—चेति ।

हेतुमति गृह्णीयादिति लिङ्पक्षेऽप्येतदेव भाष्यम् । ऐन्द्रवायवाग्रत्वहेतुरथन्तरसामा सोमः कर्त्तव्य इत्येवं व्याख्यास्यन् पक्षं तावदाह—अथ वेति । ननु हेतुमति लिङ्पक्षे यदिशब्दस्य व्यवहितान्वयाभावेऽपि ऐन्द्रवायवाग्रत्वस्य विशेषणत्वेन प्रागभिधेयत्वा'दैन्द्रवायवाग्रान् गृह्णीयाद्यदि रथन्तरसामा सोमः स्यादि'ति पदानुपूर्व्या वाक्यार्थव्याख्यापत्तेर्मध्यपतितस्य यदिशब्दस्य पूर्वच्चारितहेतुमदर्थं लिङन्वयाभ्युपगमे न स्यादिति लिङन्वयाभावान्निरूपपदायाश्च लिङो हेत्वर्थत्वानुपपत्तेः सोमयागस्य केन चिच्छब्देन हेतुत्वोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याह—अनुक्तमपि चेति ।

हेतुमता हेतुमात्राक्षेपात्सोम एव हेतुरिति कथमवधारणेत्याशङ्क्य, सन्निधेश्चेत्युक्तं भाष्यं व्याचष्टे—तत्रापीति । परप्रकरणस्थस्य क्रत्वन्तरस्यावान्तरप्रकरणाभिव्यञ्जकसन्देशशून्यायां शखायां वाक्यं विना ग्रहाग्रविशेषष्य तदङ्गत्वायोगादङ्गाङ्गित्वलक्षणार्थत्वं प्रयोज्यप्रयोजकत्वाख्यहेतुहेतुमत्वोक्तेर्वक्तुं कार्यते—अन्यार्थमन्यदनुष्ठाप्यतेऽनेनेति व्युत्पन्नेन कारणशब्देन हेतुशब्दो वैयाकरणानुसाराद्व्याख्यातः । फलशब्देन च वैयाकरणानां हेतुमच्छब्दव्याख्या परार्थापाद्यानुष्ठानत्वलक्षणप्रयोज्यत्वविवरणायैव द्रष्टव्या ।

सुखग्रहणायोक्तांश्चतुरः पक्षान्सगृह्णाति—यदि शब्देति । ननु किमर्थः पूर्वपक्षेऽतिनिर्बन्ध इत्यपेक्षायामाह—सर्वं चेति । तस्मादिति सूत्रार्थोपसंहारभाष्यं स्पष्टत्वादव्याख्याय, बृहद्रथन्तरसामसंयोगस्य ग्रहाग्रत्वलक्षणाङ्गरूपशेषानुष्ठानवेलायाऽमभूतत्वात्-अनिष्पन्नत्वादित्येवं संयोगस्येति सूत्रावयवव्याख्यानार्थमपि चेति भाष्यं व्याचष्टे—किं चेति । क्रतोरपि ग्रहणवेलायामनिष्पन्नत्वात्कथं हेतुमल्लिङ्पक्षे निमित्ततेत्याशङ्क्य अनिष्पन्नस्याप्यारब्धत्वेन वर्त्तमानत्वान्निमित्तत्वं भवतीति वैधर्म्यदृष्टान्तेन सूचितम् । श्लोकं व्याचष्टे—प्रातःसवने हीति । स्वसत्तयान्यानुष्ठानापादकवाच्ययं कारणशब्दः पक्षत्रयाशयेन मम त्वित्युक्तं चतुर्थपक्षाशयेनाह—अथ वेति । क्रतोरप्यनिष्पन्नत्वेनानिमित्तत्वाशङ्का, स चेत्वनेन निरस्ता । यदि जगत्सामाग्रयणाग्रानिति जगत्सामसंयोगस्य ज्योतिष्टोमं प्रत्यनङ्गभूतत्वाद्, तत्साहचर्येण बृहद्रथन्तरसामसंयोगयोरप्यनङ्गत्वात्कर्मान्तराक्षेपकतेत्येवं संयोगस्येति सूत्रावयवव्याख्या-

नार्थम् । 'अपि च निःसन्दिग्धमिति भाष्यं व्याचष्टे—जगत्सामा चेति । जगदाख्यस्य साम्नः क्व चिदभावाज्जगत्यामृच्युत्पन्नस्य साम्नो जगत्सञ्ज्ञत्वप्रतीतेः सामशब्दस्य रथन्तरसाम-बृहत्सामेतिवत् तुल्यवन्निर्देशात्पृष्ठसाधनसामवाचित्वावगतेर्विषुवति च 'महादिवाकीर्त्यं पृष्ठं भवतीति 'बिभ्राद्बृहत् पिबत्वि'ति जगत्यामुत्पन्नस्य महादिवाकीर्त्यस्य साम्नः पृष्ठसाधनत्वेन विधानात् विषुवत्येवाग्रयणस्याग्रत्वं निविशतइति वक्तुं, दशमे ज्योतिष्टोमस्य जगत्सामत्वं निषेत्स्यति ॥१॥

भा० प्र०—पूर्वपाद में कर्म का भेद प्रतिपादित किया गया है । इस पाद में उन कर्मों का ही व्यतिक्रम प्रदर्शित होगा । इस पाद का प्रधान प्रतिपाद्य विषय कर्मों का भेद कहाँ नहीं होता है ? श्रुतियों में ज्योतिष्टोम प्रकरण में कहा है कि "यदि रथन्तरसामा सोमः स्यात् ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात् यदि बृहत्कामा शुक्राग्रान्, यदि जगत्सामा आग्रयणाग्रान् ।" "सोमलता से साध्य याग में यदि रथन्तर नाम का साम अर्थात् गेय रहता है तो "ऐन्द्रवायव" नाम के ग्रह को आगे कर अन्य ग्रहों का ग्रहण करना चाहिए, यदि 'जगत्' नाम का सोम अर्थात् गेय रहे तो 'आग्रयण' नाम के ग्रह को पहले कर अन्य ग्रहों का ग्रहण करना चाहिये ।" सोमलता के जो याग किया जाता है, उसी को इस स्थल में सोम कहा जाता है । 'रथन्तर', 'बृहत्' एवं 'जगत्' यह तीन प्रकार के सोम का नाम है । इनका सोमयाग में माध्यन्दिन सवन में पृष्ठस्तोत्र में विकल्पित भाव में गेय रूप में विधान है । सोमयाग में प्रातःकाल में, मध्यकाल में एवं अपराह्ण समय में एक-एक बार याग कर तीन बार याग करना होता है । इनमें प्रत्येक में अनुष्ठान के विषय में कुछ वैशिष्ट्य भी है । यह जो तीन बार याग किया जाता है, इनमें प्रत्येक को सवन कहा जाता है । प्रत्येक में सोमलता के द्वारा रस निकालकर उससे अग्नि में हवन करना चाहिये । उसी को क्रमशः प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन एवं तृतीय सवन के नाम से अभिहित किया जाता है । इन तीन सवनों को मिलाकर 'सोमयाग' होता है । माध्यन्दिन सवन में सोमविशेष से गीयमान चार सूक्तों को 'पृष्ठस्तोत्र' कहा जाता है ।

ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन, शुक्र, मन्थि, आग्रयण, उक्थ्य, ध्रुव इत्यादि ग्रहों का नाम है । इनका प्रातःसवन में ग्रहण किया जाता है । दारुमय पात्रविशेष में सोम का रस गृहीत होता है—उसका नाम ग्रह है । होम के लिए पात्र में गृहीत सोमरस को भी ग्रह ही कहा जाता है । अतः कथित श्रुतिवचन का आशय यह है कि सोमयाग यदि रथन्तर साम से युक्त रहता है = उसमें रथन्तर साम गेय रहता है तो बृहत् एवं जगत् साम न रहता है तो ऐन्द्रवायव नाम का ग्रह प्रथम ग्रहण के योग्य रहता है । इस प्रकार 'बृहद्' अथवा 'जगत्' नाम का साम रहने पर शुक्र अथवा आग्रयण नाम का ग्रह प्रथम ग्राह्य है ।

पूर्व कथित वाक्य में रथन्तर आदि साम से युक्त ज्योतिष्टोम से अतिरिक्त अन्य अपूर्व कर्म का विधान किया गया है या इनके द्वारा प्रस्तुत ज्योतिष्टोम में ग्रहाग्रहता रूप

गुण का उपदेश किया गया है—यह सन्देह है। इसमें पूर्वपक्षी का कहना है कि "गुणस्तु कर्मान्तरं प्रयोजयेत्।" रथन्तरादि साम अपूर्व कर्म का ही विधान करता है, क्योंकि "क्रतुसंयोगात्" = समग्र क्रतु के साथ उसका संयोग अर्थात् सम्बन्ध रहता है। श्रुतियों में 'रथन्तर सामा' यह उल्लेख रहने पर 'रथन्तर' नामक साम बहुव्रीहि समास में प्रविष्ट होकर सोम का विशेषण होता है, जो असाधारण होता है, वही विशेषण होता है। अतः 'रथन्तर सामा' इस अंश का 'रथन्तर ही साम जिसका है', इस प्रकार विग्रह कर अवगत होता है कि सोम में एकमात्र 'रथन्तर' अथवा 'बृहत्' ही विकल्पित भाव में साम रहता है। ऐसी स्थिति में इस स्थल में ज्योतिष्टोम में ग्रहाग्रता रूप गुण विहित नहीं हो सकता है। कारण, ज्योतिष्टोम में केवल रथन्तर साम नहीं है, किन्तु उसमें 'गायत्र' साम आदि अन्य साम भी हैं। जिस स्थल में अन्य साम हैं, उसमें रथन्तर साम विशेषण नहीं हो सकता है, क्योंकि वह उसमें असाधारण नहीं है। श्रुतियों में 'रथन्तर सामा' इस प्रकार का निर्देश रहने पर 'रथन्तर' साम को विशेषण न मानने का कोई उपाय नहीं है, क्योंकि "समर्थः पदविधिः" (पा० सू० २–१–१) इस पाणिनि सूत्र से यह अवगत होता है कि सामर्थ्य के बिना समास नहीं होता है, निरपेक्षता रूप सामर्थ्य विशेषण में ही रहता है। विशेषण विशेष्य को अन्य उसके सजातीय से भिन्न कर देता है, इसीलिए वार्तिककार ने कहा है—

समासः सति सामर्थ्ये तच्चापीष्टं विशेषणे।
विशेषणं व्यवच्छेत्तु ज्योतिष्टोमे च नास्ति तत्॥

रथन्तर साम नामक सोम, सोम का विशेषण होने से वह सहस्रक्रतु को व्याप्त कर रहता है, अतः सोम स्वतन्त्र कर्म है यह माने बिना अन्य उपाय नहीं है। इस पक्ष में 'यदि' शब्द का अर्थ अविवक्षित होगा अथवा "यदि रोचते" इस प्रकार में रुचि के अध्याहार की कल्पना कर 'यदि' शब्द की सार्थकता की रक्षा हो सकती है। अथवा "यदि शालिं भुञ्जीत तत्र दध्युपसिञ्चेत्" इस लौकिक वाक्य में जैसे "यदि दधि उपसिञ्चेत् तदा शालिं भुञ्जीत" इस प्रकार से व्यत्यास कर यदि शब्द का अन्वय स्वीकार किया जाता है, वैसे ही यहाँ भी "यदि ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात् रथन्तरसामा सोमः स्यात्" इस प्रकार व्यतिक्रम कर यदि शब्द का अन्वय किया जा सकता है। "रथन्तर सामा सोमः स्यात्" यह जो अवान्तर वाक्य है, यही प्रकृत में विधायक है, "ऐन्द्रवायवान् ग्रहान् गृह्णीयात्" इस वाक्य में "गृह्णीयात्" इस पद में "कामप्रवेदन" अर्थ में अर्थात् इच्छा अर्थ में लिङ् का प्रयोग माना जायगा। अतः इसका अर्थ होगा, "यदि ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात् = ग्रहीतुमिच्छेत्" अर्थात् यदि ऐन्द्रवायव ग्रह को आगेकर अन्य ग्रहों के ग्रहण की इच्छा हो" अथवा इस स्थल में "हेतुहेतुमतोर्लिङ्" इस सूत्र के अनुसार निमित्तनैमित्तिक अर्थ में लिङ् का प्रयोग रहता है, अतः "रथन्तरसामा" इस समस्त शब्द से साम का समग्र क्रतु के साथ सम्बन्ध बोधित होता है, उसकी

रक्षा के लिए इसको कर्मान्तर की ही माननी होगी, पक्षान्तर में गुणविधि स्वीकार करने पर समग्र क्रतु के साथ सम्बन्ध नहीं रहता है, एवं गुणतावादी "यदि" शब्द के द्वारा निमित्त नैमित्तिक भाव मानने पर वह भी सङ्गत नहीं होता है, कारण, सभी स्थलों में निमित्त पूर्वकालवर्ती एवं नैमित्तिक परभावी होता है—यही नियम है, किन्तु इस स्थल में गुणविधि मानने पर उसका अन्यथा रूप हो जायगा, कारण, इस पक्ष में रथन्तर सामको ग्रहाग्रता विशेष का हेतु मानना होगा और ग्रहाग्रता ग्रहण नैमितिक होने पर भी पूर्व-कालवर्ती रथन्तर साम परवर्ती कालीन ही होता है। कारण, कर्मों में पूर्व में ही प्रातः सवनकाल में अग्रताविशिष्ट ग्रहग्रहण करने की विधि है, बाद में माध्यन्दिन सवन में पृष्ठ-स्तोत्र में रथन्तर साम गान के करने का उपदेश है, ग्रहाग्रता की गुणतावादी को रथन्तर साम को ही ग्रह ग्रहाग्रता ग्रहण का निमित्त मानना होगा, किन्तु इस स्थल में "रथन्तर" शब्द बहुव्रीहि समास में प्रविष्ट होकर गुणीभूत हो गया है, अतः उसके साथ "यदि" शब्द का अन्वय नहीं हो सकता है, उसके साथ "यदि" शब्द का अन्वय न होने पर उसकी ग्रहाग्रता का निमित्त भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, "यदि" शब्द के द्वारा ही इस स्थल में निमित्तता सूचित होती है, "यदि" शब्द के साथ उसका सम्बन्ध रहने पर वह बहुव्रीहि समास में प्रविष्ट नहीं हो सकता है। क्योंकि, "ऋद्धस्य राजमातङ्गाः" इत्यादि सापेक्षा पदका समास नहीं होता है। अर्थात् ऋद्ध के साथ राज्ञः का पुरुष का समास नहीं होता है। इसीलिए "रथन्तरं सामा" इत्यादि सापेक्ष पद का समास नहीं हो सकता है, किन्तु वह ऐन्द्रवायवाग्रत्व एवं रथन्तररूप गुणविशिष्ट कर्मान्तर का ही उपदेश है।

"गुणः" = रथन्तर साम आदि गुण, "तु" = प्रत्यवस्थान में, "कर्मान्तरं प्रयोज-येत्" = अन्य कर्मों का अर्थात् अपूर्व कर्म का प्रयोग अर्थात् विधान करेगा, "क्रतुसंयोगात्" = क्रतु के अर्थात् यज्ञ के साथ संयोग अर्थात् सम्बन्ध रहने से, "संयोगस्य अशेष-भूतत्वात्" = क्योंकि रथन्तर सामका संयोग समग्र क्रतु को परिव्याप्त कर स्थित है। यह पूर्वपक्ष है ॥१॥

एकस्य तु लिङ्गभेदात्प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात्॥२॥ [सि०]

शा० भा०—तुशब्दात्पक्षोऽन्यथा भवति। नैतदस्ति—यदुक्तं क्रत्वन्तर-मिति। कथं तर्हि ? ज्योतिष्टोमस्यैव ग्रहाग्रताविशेष इति। कुतः ? प्रकरण-सामर्थ्यात्। नन्वेतदुक्तम्—वाक्यसामर्थ्यात्क्रत्वन्तरस्य रथंतरसाम्नो बृहत्साम्न-श्चेति। परिहृतमेतज्ज्योतिष्टोम एव रथंतरसामा बृहत्सामा चेति[1]। पुनर्दूषित-मनेकसामत्वाज्ज्योतिष्टोमस्य, विशेषणं रथंतरेण बृहता वा न प्रकल्पत इति। तदुच्यते। प्रकल्पते[2] विशेषणम्, बृहद्रथंतरयोर्वैकल्पिकत्वात्। भवति स प्रयोगो,

१. ब० वेति। २ ब० प्रकल्पेत।

२१

यत्र रथंतरं नास्ति। भवति च स प्रयोगो [1]विद्यमानरथंतरसामकः। तदेतद्रथंतरं सत्तयैवासाधारणत्वाद्विशेषकम्[2]।

तस्माज्ज्योतिष्टोम एव रथंतरसामा बृहत्सामा चेति[3]।

अथ यदुक्तं पूर्वेण निमित्तेन भवितव्यमुत्तरेण नैमित्तिकेनेति। नैतत्। नियोगतो भवति हि भविष्यदपि निमित्तम्। यथा वर्षिष्यतीति कृषिगृहकर्मानुष्ठानम्। अपि च तददृष्टम्, इदं च वाचनिकं निमित्तम्। तद्यथावचनं भवितुमर्हति। स्यादिति चेयं लिङ् त्रिष्वपि कालेषु भवति। तस्माद्भविष्यदपि निमित्तम्।

यत्तु जगत्सा[4]मेति कर्मान्तरं, तत्सामान्याद्रथंतरसामाऽपि कर्मान्तरमिति।

जगत्साम, असंभवात्कर्मान्तरं संभवति। रथंतरसाम्नो बृहत्साम्नश्च ज्योतिष्टोमस्याभिधानम्। तस्मान्न कर्मान्तरमिति ॥२॥ सि० ॥

इति प्रथमं रथन्तराधिकरणम् ॥ १ ॥

त० वा०—पूर्वोक्तैरेव हेतुभिर्ज्योतिष्टोमस्य गुणविधिरयं, न कर्मान्तरम्। एकस्यैव हि तेन लिङ्गेन रथंतरसामत्वेन, बृहत्सामत्वेन च ग्रहाग्रताविधिप्रयोजनार्थमुच्चारणं क्रियते। गुणवाक्यत्वाच्चाकर्मान्तरप्रत्यये सत्येकत्वं विज्ञायते।

अथ वा रथंतरादिविधानाज्ज्योतिष्टोमस्य गुणवाक्यैरेवमात्मकत्वं चोदितमिति, नार्थान्तरत्वं प्रतीयते। ततश्च कर्मैकत्वम्।

यत्तु विशेषणाभावात्सामान्तरसापेक्षविशेषणत्वाद्वा रथंतरसामेति समासो नावकल्पत इति।

तत्र ब्रूमः—

इष्यते पाक्षिकं वस्तु सत्तयैव विशेषणम्।
विग्रहे यद्विशेष्यत्वं तस्य चेह निमित्तता ॥

यदि हि रथंतरं नित्यं ज्योतिष्टोमे, अन्यसहितं वा स्यात्, ततो न व्यवच्छिन्द्यादपि, यतस्त्वरथंतरोऽपि ज्योतिष्टोमप्रयोगोऽस्त्येव। ततस्तद्व्यवच्छेदमुखेनादित विशेषणफलम्। यदि चैवकारं विना विशेषणबुद्धिर्न भवति, तत एवमसौ दर्शयितव्यो यदि रथंतरं सामास्यास्त्येवेति। बहुव्रीहेश्च मत्वर्थवर्तित्वान्मतुपश्चास्तित्वयोगविषयत्वान्नैवकारस्याश्रुतसत्तासम्बन्धकल्पना।

यद्वा यदि रथंतरं सामैवास्य भवतीति। तत्र कोऽर्थ एवशब्दस्य? तद्धि तथंतरं यद्यपि सर्वदा साम, तथाऽपि यदा क्रतौ न भवति, तदा तं प्रति साम-

१. ब० यो विद्यमानरथंतरकः। २. ब० विशेषणम्।
३. ब० वेति। ४. ब० जगत्सामाकर्मान्तरं।

कार्यासत्त्वादसामैवेति। सत्तापक्षे रथंतरं सामेति वक्ष्यते। अवश्यं च क्रत्वपेक्षमेवैतत्सामत्वं वक्तव्यम्। रथंतरस्वरूपे सामत्वस्य नित्यं पौनरुक्त्यात्। न च रथंतरस्य सापेक्षत्वं ज्योतिष्टोमे, येन समासो न स्यात्। द्वन्द्वनिर्दिष्टेषु ह्येकस्तोत्रविषयेषु चैतद्भवति। केवलेषु तु भिन्नस्तोत्रविषयसाधनेषु प्रत्येकनिरपेक्षमेव साधनत्वमिति, सामर्थ्यं न विहन्यते।

यद्वा पौनरुक्त्यादेव सामशब्दस्तत्साध्यस्तोत्रलक्षणार्थः सन् रथंतरपर्युपस्थापितं पृष्ठं लक्षयति। अथवा बृहद्रथन्तरयोरवान्तरप्रकरणादवान्तरकार्ययोगाच्च विरोधिनोः स्पर्धमानयोर्यथाऽवस्थितानुवाद[1]सारूप्यात्सामान्तराण्यनपेक्ष्य परस्परावच्छेदेनैव विशेषणत्वसिद्धिः। तेनोपपन्नं रथंतरविशिष्टस्य क्रतोर्निमित्तत्वम्।

अथवाऽस्तु रथंतरं क्रतुविशिष्टं निमित्तमिति। ननु च तदेव न प्रतीयते। उच्यते। सत्यं न प्रतीयते, किं तु यदा समस्तक्रतुसंयोगाभावाद्रथंतरविशिष्टः क्रतुर्न गृहीतः तदा विगृह्यमाणे समासे यो विपरीतो विशेषणविशेष्यभावः प्रतीयते, रथंतरमस्य सामेति स ग्रहीष्यते। षष्ठ्यन्तत्वाच्च क्रतुर्विशेषणमेव समासाभिव्यङ्ग्यविशेष्यत्वभावात्तथा विवक्षिष्यते। यद्यपि च क्रत्वन्तरेष्वपि वस्तुस्वरूपेण रथंतरमस्ति, तथाऽप्यत्र तावद्विद्यते, तावन्मात्रेण च विशेषणत्वोपपत्तिः। स्ववाक्ये चासाधारणत्वं विशेषणकारणं, न वस्तुलक्षणं मा भून्नीलमुत्पलं देवदत्तस्य गौरित्येवमादीनां विशेषणत्वोच्छेदः।

तथा हि—

न लोके देवदत्तस्य गोसम्बन्धोऽस्ति केवलम्।
उत्पलस्य च नीलत्वं तस्यैवोच्येत येन तत्॥

यदि च वस्तुत एवासाधारणत्वं भवेत्, नैव शब्देन विशेषणमुपादीयेत। न ह्यत्र विशेषणफलमस्ति अग्निरुष्ण इति। तस्मादवश्यं वाक्यगतमेवासाधारणत्वमाश्रयितव्यम्। अस्ति चात्रापि तत्। ज्योतिष्टोमगतस्यैव रथंतरस्य निमित्तत्वेनेष्टत्वात्। प्रथमतरप्रतीतं च रथंतरं निमित्तत्वेनोत्सृज्य, न निमित्तान्तरकल्पनायां प्रमाणं विद्यते। तस्मादुभयथाप्यदोषान्निमित्तमिति न यदिशब्दपरित्यागादीनामाश्रयणं युक्तम्। न च कामप्रवेदनहेतुमत्प्रतीतिस्तावद्भवति, यावन्निमित्तत्वमेव न प्रतीतम्। तत्सम्भवे च नाप्रतीतग्रहणं युक्तम्। भूतभविष्यद्वर्तमानानां चानियमेन लोके वेदे च निमित्तत्वं दृष्टमिति रथंतरभविष्यत्त्वमचोद्यम्। अपि च यदेकान्तेनावधारितं, तन्निष्पन्नमेव। ज्योतिष्टोमप्रक्रमे चावधारितमेकान्तेन रथंतरं प्रयोज्येत इति, सर्ववैकल्पिकानां क्रतुप्रक्रमएवावधारणादवश्यमृत्विग्यजमानैरेवमिदं कर्तव्यमित्यवधार्य प्रवर्तितव्यम्। तद्दर्शने प्रयोगकौशलाभ्यासादि-

१. क० अस्ति।

सिद्धेः। न च निमित्तं नैमित्तिकस्य रूपसंनिधानेनोपकरोति। कथं तर्हि? ज्ञायमानत्वेन। तस्मादप्रयुक्तमपि संकल्पितत्वाद्रथंतरं निमित्तम्। यदा त्वेकदेशस्थेनापि तेन विशेषितः क्रतुर्निमित्तं, तदाऽसौ वर्तत एवेत्यविरोधः। न च लिङः कालविशेषसम्बन्धेनोत्पत्तिः, येनान्यतरविषयमेव निमित्तं ब्रूयात्। सर्वथा हि शक्यं दर्शयितुं यदि रथंतरसामा सोमो भूतो, भवति, भविष्यति चेति। तत्रेहार्थवशेनैवं विज्ञायते यदिरथंतरं भविष्यतीति।

यत्तु जगत्साम सामान्यतोदृष्टमुक्तम्। तदयुक्तम्। तस्यैवंजातीयकेऽत्रप्रमाणत्वात्। अथ वा प्रकरणे द्वित्वबहुत्वयुक्तप्रतिपद्विधानादिव जगत्सामत्वासम्भवात्तदिति वैषम्यम्। अपि च तत्रापि नैवापूर्वकर्मोत्पत्तिः। किं तर्हि? अप्रकृतस्य विषुवतो निमित्तत्वेन ग्रहणम्। तस्मान्निमित्तार्थानि सर्वाणि श्रवणानीति ॥ २ ॥

इति प्रथमं रथन्तराधिकरणम् ॥ १ ॥

न्या० सु०—पूर्वपक्षनिरासद्वारा सिद्धान्तोक्त्यर्थतया तुशब्दव्याख्यार्थे तुशब्दादिभाष्ये प्रकरणग्रहणं प्रागुक्तद्युक्त्यन्तराणामप्युपलक्षणायेति दर्शयितुमाह—पूर्वेति। ननु ज्योतिष्टोमस्य ग्रहाग्रत्वलक्षणगुणविधौ प्रकरणादेव तद्गुणत्वलाभात्, तद्वाची सोमशब्दोऽनर्थकः स्यादित्याशङ्कानिरासार्थमेकस्येत्यादिसूत्रावयवं व्याचष्टे—एकस्यैव हीति। भावे लकारव्याख्यानायोच्चारणमित्युक्तम्। सोमः स्यादिति कर्मविधिप्रतीतेर्भेदमाशङ्क्य ग्रहाग्रविशेषलक्षणगुणविधानार्थत्वेनाकर्मविधित्वात्कर्मभेदानिरासार्थमेकत्वमिति सूत्रावयवं व्याचष्टे—गुणेति।

नन्वेतदुक्तमित्यादिभाष्येण बृहद्रथन्तरसामशब्दयोरनेकसामकत्वाज्ज्योतिष्टोमेऽनुपपत्त्याशङ्कानिरासार्थत्वेन ज्योतिष्टोमस्य 'बृहद्वा पृष्ठं, रथन्तरं पृष्ठं वा भवतीति गुणवाक्यान्वयात् बृहद्रथन्तरवत्त्वेनाने'कसामत्वेऽपि बृहद्रथन्तरसामव्यपदेशोपपत्तेर्न बृहद्रथन्तरसामत्वलक्षणाद्वा गुणाद्भेद इत्येवमेकत्वमिति सूत्रावयवस्य सूचितं व्याख्यान्तरमाह—अथ वेति। बृहद्वा पृष्ठं रथन्तरं वेति वाक्याद् बृहद्रथन्तरयोर्वैकल्पिकत्वावगतेरयोगव्यावृत्त्या विशेषणत्वसम्भवसूचनार्थं गुणवाक्यैरिति बहुवचनम्। पुनरिति भाष्यं समासासम्भवानुभाषणार्थत्वेन व्याख्यातुमाह—यस्त्विति। विशेषणाभावादिति भावव्युत्पन्नेन विशेषणशब्देन नामेकसामकस्य क्रतोरेकेन साम्ना विशेषणाभावेऽभिहिते ननु सामान्तरव्यावृत्त्या बृहद्रथन्तरयोर्विशेषणत्वासम्भवेऽपि वैकल्पिकत्वात्स्वायोगव्यावृत्त्या विशेषणत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य, अस्य क्रतोर्यत्सामेति सर्वसामकार्यानुवादेन तत्र रथन्तरं भवत्येवेति अयोगव्यावृत्तेरव्यापकत्वैनासम्भवस्य न च रथन्तरसत्तामात्रं विशेषणत्वापत्तेः सापेक्षत्वेनासामर्थ्यात्समासविघातः स्यादिति सामान्तरेत्यनेनोक्तम्। तदुच्यतइत्यादिभाष्योक्तं तावत्परिहारमाह—तत्रेति। प्रौढ्या स्वयं परिहारान्तरमाह—विग्रह इति। पूर्वार्द्धं व्याचष्टे—यदि हीति। पाक्षिकत्वविशेषणफलं नित्यशब्देनोक्तम्। स्वातन्त्र्यलक्षणार्थवस्तुशब्दोक्तान्यनैरपेक्ष्यविशेषणफल-

मन्यसहितशब्देनोक्तम् । ॰ स तयैवेत्येवकारेणान्यव्यवच्छेदव्यासयोर्व्यावर्तितत्वान्नित्यस्य चान्यव्यवच्छेदं विना अन्यसहितस्य च व्याप्तिविना विशेषणत्वायोगादुभयमुक्तम् । पाक्षिकत्वात्त्वन्यव्यवच्छेदाभावेऽप्ययोगव्यावृत्त्या विशेषणत्वसम्भवे यतस्त्वित्यनेनोक्ते नन्वेवकारं विना विशेषणत्वानभिव्यक्तेर्यत एव कारस्ततोऽन्यस्य व्यावृत्तिरिति न्यायेनैवकारस्यान्यव्यवच्छेदवाचित्वान्नाभावव्यवच्छेदोपपत्तिरित्याशङ्क्य—यदि चेत्युक्तम् । विनाप्येवकारं समाससामर्थ्याद्विशेषणत्वाभिव्यक्तिर्यदिशब्देनोक्ता । एवकारापेक्षणेऽप्यत्र सत्ताया विशेषणत्वात्, तदस्यास्तीति वाऽस्त्यर्थस्मृतमत्वर्थवृत्तिबहुव्रीह्युक्तत्वाच्च तत एवैवकारप्रयोगेणाऽसत्त्वव्यावृत्तिर्युक्तेत्याशयः । यद्वेत्यनेन श्रुतविशेष्यान्वितेनाप्येवकारेण रथन्तरासत्त्वव्यावृत्तिसिद्धेर्नाश्रुतसत्तान्वयोऽवश्यकल्प्य इत्युक्ते, कथमन्यान्वितेनैवकारेणान्यासत्त्वव्यावृत्तिसिद्धिरित्याशयेन 'तत्रेति पृष्ठे तद्धीत्यनेन सामरूपतया नित्यत्वेन तद्विपयावधारणानर्थक्यादस्य क्रतोः सामकार्यं करोत्येवेत्यवधारणार्थप्रतीतेरसतश्च कार्यकरणत्वायोगाद्—असत्त्वव्यावृत्तिसिद्धिरित्युक्तम् ।

ननु पाक्षिकत्वेऽपि ज्योतिष्टोमगतसर्वसामकार्यव्यापित्वात्केवलस्य विशेपणत्वानुपपत्तेः सामान्तरसापेक्षस्य विशेषणत्वाभ्युपगमापत्तेः समासानुपपत्तिरित्याशङ्क्य, अन्यसहितं च स्यादित्यनेन सूचितं परिहारमाह—न चेति । बृहद्रथन्तरे सामनी भवत इत्यादिवत् द्वंद्वनिर्देशे तदभावेऽपिवा गायत्रामहीयवादिवदेकस्तोत्रविषयत्वे सत्यन्यसाहित्यं विना विशेषणत्वायोगात्केवलस्य सापेक्षत्वापत्तिः । 'रथन्तरं पृष्ठं भवती'ति तु सामान्तरनिरपेक्षस्य रथन्तरस्य पृष्ठाख्यस्तोत्रसाधनत्वेन विधानादस्य क्रतोर्यत्सामेत्यनुवादेऽपि रथन्तरसाध्यपृष्ठस्तोत्रमात्रद्वारा क्रतुसम्बन्धित्वप्रतीतेः सर्वसामकार्यव्यापित्वेऽपि विशेपणत्वसम्भवान्न सापेक्षत्वापत्तिरित्याशयः । सामशब्दस्य क्रतुसम्बन्धिरूपवाचित्वेपि रथन्तरशब्दसमभिव्याहारात्पृष्ठमात्रद्वारा क्रत्वन्वयनिमित्तत्वावगतेः पृष्ठसिद्धयै च रथन्तरस्य सामान्तरानपेक्षत्वात्समासाविघातः प्रौढिमात्रेणोक्तः । परमार्थतस्तु सामशब्दं विनापि क्रतुसम्बन्धिनो रथन्तरस्य निमित्तत्वप्रतीत्युपपत्तेः । सामशब्दानर्थक्यप्रसङ्गा 'दुक्थ्यो वैरूपसामा षोडशी वैराजसामे'त्यादिषु 'पृष्ठार्थे वा प्रकृतिलिङ्गसंयोगादि८-१त्यनेन' न्यायेन वैरूपादेः पृष्ठसाधनद्योतनार्थत्वेन साम्नः पृष्ठलक्षणार्थत्वात् दूरापास्ता सामान्तरापेक्षेति ।

यद्वेत्यनेनोक्तम् । सामशब्दस्य च पृष्ठलक्षणार्थत्वे बृहद्रथन्तरयोस्तद्विषयत्वेनेतरेतरव्यावृत्त्यापि विशेषणत्वं सम्भवतीत्याह—अथ वेति । पूर्वार्द्धंव्याख्यानमुपसंहरति—तेनेति । उत्तरार्द्धं व्याख्यातुमुपक्रमते—अथ वास्त्विति । विग्रहे यद्विशेष्यत्वमित्यवयवं न च क्रतुविशिष्टं रथन्तरमिह प्रतीयत इति पूर्वोक्तं दूषणमनुभाषते—ननु चेति । परिहारत्वेन श्लोकावयवं व्याचष्टे—उच्यत इति । कृत्स्नसंयोगाभावेन रथन्तरस्य विशेषणत्वायोगादवैदिकस्यापि च विग्रहवाक्यस्य वैदिकसमासव्याख्यानार्थत्वेन वेदानुमतत्वात्तद्गतापि विशेष्यताऽगत्याङ्गीक्रियतइत्याशयः । वृत्तिविग्रहयोर्भिन्नार्थत्वायोगाद्रथन्तरं साम यस्याः

साविति विग्रहस्यापि अन्यपदार्थप्राधान्यार्थत्वावगतेर्लोहितोष्णीषादिवद्विशेषणतात्पर्यमात्रमत्राभिप्रेतमिति विवक्षोक्त्या सूचितम् ।

ननु क्रत्वन्तरेष्वपि रथन्तरस्याभावान्न क्रतुना विशेषणं सम्भवतीत्याशङ्कयाह—**यद्यपि चेति**। सर्वाङ्गोपसंहारिणा क्रतुप्रयोगविधिना युगपत्सर्वसामग्रहणाद्विनियोगवाक्येभ्यश्च प्रकरणालोचनं विनाक्रत्वन्वयाप्रतीतेरेकैकसामान्वयानवगमान्नैकेन साम्ना क्रतुर्विशेष्टुं शक्यः। साम्नस्त्वेकैकेन क्रतुना पर्यायेणान्वयादेकेन विशेषणत्वोपपत्तिरनन्तरमेवोपपादयिष्यते। यद्यपि तु विधिना रथन्तरस्य युगपदनेकक्रतुसाधारण्याप्रतीतावपि वास्तवात्साधारण्यादस्यैव रथन्तरं सामेति क्रत्वन्तरव्यावृत्त्या ज्योतिष्टोमस्य रथन्तरविशेषणत्वासम्भवः, तथाप्ययोगव्यावृत्त्या सम्भवतीत्यभ्युपेत्यवादाशयः। परमार्थतस्तु कार्यान्वये विशेषणापेक्षणात्स्ववाक्योपात्तैन्द्रवायवाग्रत्वलक्षणकार्यान्वयिनि च रथंतरे ज्योतिष्टोमस्यासाधारण्योपपत्तेर्ज्योतिष्टोमस्यैव रथन्तरमैन्द्रवायवाग्रत्वे निमित्तमित्यन्यव्यावृत्त्या विशेषणत्वसम्भवं वक्तुमाह—**स्ववाक्ये चेति**।

देवदत्तस्य गौरानय इत्यादौ वस्तुतो देवदत्तयज्ञदत्तादीनां गोसम्बन्धतुल्यत्वेऽप्यानयनान्विते गवि देवदत्तस्यासाधारण्याद्विशेषणतेत्याशयः। दृष्टान्तमेवोपपादयति—**तथा हीति**। गोसम्बन्धो न देवदत्तस्य केवलः, किं तु यज्ञदत्तादेरपि, येन गौस्तस्यैवोच्येत, न चोत्पलस्य नीलत्वं केवलम्, किं तु रक्ततापि, येन तदेवोत्पलमुच्येतेत्येव योज्यम्। वस्तुतोऽसाधारण्ये च विशेषणमनर्थकं स्यादित्याह—**यदि चेति**। अतो देवदत्तस्य गौरित्यादौ वाक्योपात्तानयनादिकार्यान्वितगवादिविशेष्यविषयमेव देवदत्तादेर्विशेषणस्यासाधारण्यं वाच्यम्, न वास्तवमित्याह—**तस्मादिति**।

नन्वन्येषामपि सोमयागानां ज्योतिष्टोमविकारत्वाद्रथन्तरसामत्वनिमित्तैन्द्रवायवाग्रत्वप्राप्तेरैन्द्रवायवाग्रत्वनिमित्तभूतरथन्तरविषयमपि ज्योतिष्टोमस्यासाधारण्यं भवतीत्याशङ्क्याह—**अस्ति चेति**। क्रत्वन्तरस्थस्य रथन्तरस्यातिदेशान्निमित्तत्वप्राप्तावप्युपदेशात् ज्योतिष्टोमस्थस्यैव निमित्तत्वेन 'पवमाने वा अत्र रथन्तरं कुर्वन्ती'त्यादौ स्तोत्रान्तरसाधनरथन्तरवति क्रत्वन्तरे रथन्तरनिमित्तैन्द्रवायवाग्रत्वप्राप्तिनिवृत्त्यर्थमिष्टत्वात् ज्योतिष्टोमस्यापि स्ववाक्योपात्तकार्यान्वितरथन्तरविषयमसाधारण्यमस्तीत्यर्थः। शुद्धस्य च निमित्तत्वायोगान्निमित्तत्वप्रतीत्युत्तरकालं तन्निर्वाहार्थं विशेषणान्वयाभ्युपगमात्, ततः प्राग्विशेषणविशेष्यभावानपेक्षणादुपसर्जनत्वेन रथन्तरस्य निमित्तत्वनिषेधानुपपत्तेः क्रतुरथन्तरयोर्मध्ये कस्य निमित्तत्वम्, कस्य निमित्तविशेषणतेत्यपेक्षायां प्रथमप्रतीतत्वाद्रथन्तरस्यैव निमित्तता युक्तेत्याह—**प्रथमतरेति**। 'इष्यते पाक्षिकं वस्त्वि'ति श्लोकव्याख्यानमुपसंहरति—**तस्मादिति**। सम्भवति च रथन्तरविशिष्टस्य ज्योतिष्टोमस्य, ज्योतिष्टोमविशिष्टस्य वा रथन्तरस्य निमित्तत्वे यदिशब्दत्यागादयश्चत्वारोऽपि पक्षा न युक्ता इत्या—**हेतीति**। शुद्धायाश्च लिङः कामप्रवेदने, हेतुहेतुमतोर्वा प्रयोगाभावात् यदिशब्दोक्तस्य निमित्तत्वस्यानिष्पन्नक्रियाविषयत्वायोगान्निष्पन्नतदिच्छाविषयत्वाभ्युपगमेन तदुपबद्धाया लिङः

कामप्रवेदनार्थतां निमित्तत्वायोगाद्वा तद्गतेन स्वत्तयाप्यनुष्ठानप्रयोजकत्वेन प्रयोजकत्व-साम्यात्स्वार्थान्यानुष्ठानप्रयोजकत्वलक्षणया हेत्वर्थतां मथ्ययानाग्न्यनुत्पत्तिनिमित्तकरक्षो-घ्न्यनुवचनविधिशेषे वा 'रक्षांसि वा एवं तर्ह्यालभन्ते, यर्हि न जायते, यर्हि चिरं जायते'-इत्यग्न्युत्पत्तिप्रतिबन्धकरक्षोपघातार्थत्वे रक्षोघ्नीस्तुत्यर्थं यहर्चुपबद्धस्याग्न्यजन्मनस्तहर्चुप-बद्धरक्षः प्राप्तिनिमित्तकनैमित्तिकत्वकीर्त्तनात् यर्हि शब्दसमानार्थस्य यदिशब्दस्य नैमित्तिक-वाचित्वमभ्युपेत्य तद्गतेनान्यसत्तयाऽस्यानुष्ठानस्य प्रयोज्यवेन प्रयोज्यत्वसाम्यात्परार्थप्रयो-ज्यस्वानुष्ठानत्वलक्षणया तदुपबद्धाया लिङो हेतुमदर्थतां वक्तुम्, निमित्तत्वप्रतीतेरवश्याभ्युप-गन्तव्यात्प्रतीतस्य च निमित्तत्वस्योक्तरीत्या सम्भवित्वेन त्यागायोगान्नाप्रतीतकामप्रवेद-नाद्यर्थग्रहणं युक्तमित्याह—न चेति। वृहद्रथन्तरयोर्ग्रहणवेलायामनिष्पन्नत्वान्निमित्तत्वा-योगस्याथेत्याद्यनुभाषणपूर्वं परिहारभाष्यं व्याचष्टे—भूतेति।

लोके भूतस्य पुत्रजन्मादेरुत्सवादौ, वर्त्तमानस्य च क्षेमसुभिक्षत्वस्य वासे, भविष्यतश्च वर्षस्य, गृहकरणे वेदे च पुत्रजन्मादेरेव भूतस्येष्ट्यादौ, वर्त्तमानस्य च दीक्षितत्वस्य दानादि-पर्युदासे, भविष्यतश्च दर्शपूर्णमासारम्भस्यारम्भणीयायां निमित्तत्वायोगहेतुत्वेनाशङ्कनीय-मित्यर्थः। यदि तु निष्पन्नेनैव निमित्तेन भाव्यमित्याग्रहः ततः सङ्कल्पितत्वेनानुष्ठितस्यापि भोजनस्य स्थासम्मार्जने निमित्तत्वोपपत्तेर्निष्पन्नकार्यकारित्वान्निमित्तत्वोपचारः सम्भवत्ये-वेत्याह—अपि चेति। सूक्तवाकएव याज्येतिवदौपचारिकत्वद्योतनायैवकारः एकान्तावधारि-तत्वमेवोपपादयति—ज्योतिष्टोमेति। अङ्गभेदेन साङ्गप्रधानप्रयोगप्रक्रमे वैकल्पिकाङ्गानव-धारणात् कस्य चित्प्रयोगस्य निरुपितैकरूपस्योपक्रमपूर्वसमाप्त्यसिद्धेरिदं कुर्यामिदं वेति च प्रयोगमध्ये दोलायमानमत्तेः कालविक्षेपात् प्रयोगनैपुण्यासिद्धेः प्रयोग प्राशुभावार्थं च शुष्केष्टिकाले निरूपितैकरूपप्रयोगाभ्यासासिद्धेर्वैकल्पिकाङ्गानिमित्तकेषु नानर्त्विकर्तृकेष्वैन्द्रवायवाग्रत्वादिषु नानर्वित्ज्ञां यजमानस्य च सम्प्रतिपत्त्यसिद्धेः प्रयोगस्य कौशलस्याभ्यासस्यादिशब्दोक्तायाश्च सम्प्रतिपत्तेर्वैकल्पिकाङ्गावधारणाधीनसिद्धत्वादेवं विधाङ्गमिदं कर्म कर्त्तव्यमित्यवधारण-पूर्वकप्रवृत्तिनियमाज्ज्योतिष्टोमक्रमेणैव रथन्तरं प्रयोक्ष्यतइत्येकान्तेनावधारितमित्यर्थः।

एकान्तावधारणमात्रेण कथन्निष्पन्नकार्यकारितेत्याशङ्क्याह—न चेति। एतदेवोप-संहरति—तस्मादिति। क्रतोस्तु निमित्तत्वे वर्त्तमानमेव निमित्तं भविष्यतीत्याह—यदा त्विति। स्यादितिचेति भाष्यं व्याचष्टे—चेदिति। यत्त्वित्यादिसामान्यतो दृष्टानुभाषणपूर्वं परिहारभाष्यं द्वेधा व्याचष्टे—यत्त्विति। स्वयं साध्यविकल्पत्वं दृष्टान्तस्याह—अपि चेति। तस्मादित्यधिकरणार्थोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति। जगत्साम्नोऽप्यपूर्वकर्मत्वाभावात् ज्योतिष्टोमापेक्ष या कर्मान्तरं जगत्सामेत्युक्तम्। न विषुवदपेक्षयेति बहुवचनेन सूचितम् ॥२॥

इति प्रथमं रथन्तराधिकरणम्।

भा० प्र०—"रथन्तर सामा" इत्यादि को कर्मान्तरविधि के रूप में जो पूर्वपक्षी ने प्रतिपादन किया हैं—वह समीचीन नहीं हैं, वरन् इसको गुणविधि ही मानना उचित होगा। क्योंकि, पूर्वपक्षियों के द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त को मानने पर 'यदि' के अर्थ

का परित्याग करना होगा, अथवा रुचि का अध्याहार कल्पना और व्यत्यस्त भाव में दूरान्वय मानना होगा एवं प्रकरण का परित्याग और अप्रकृत कल्पना भी करनी होगी, किन्तु गुणविधि स्वीकार करने पर इन दोषों का प्रसङ्ग नहीं होगा। ऐसी स्थिति में गुणविधि की कल्पना करना असम्भव है, क्योंकि गुणविधि मानने पर इन दोषों को भी मानना होगा। इस स्थल में गुणविधि स्वीकार करने पर सभी दोषों के साथ कर्मान्तरता को मानना उचित नहीं है। गुणविधि मानने पर रथन्तर साम का विशेषणत्व नहीं रहेगा, यह भी कहना ठीक नहीं है। कारण, इतरव्यावर्तकत्व अर्थात् अन्य से वैशिष्ट्य का निर्देश करना ही विशेषण का फल है। इस स्थल में माध्यन्दिन सवन का पृष्ठस्तोत्र में 'रथन्तर', 'वृहत्' एवं 'जगत्' इन तीन प्रकार का साम विकल्प में विहित है, अतः रथन्तरादि वाक्य में परस्पर की व्यावृत्ति विशेषण से बोधित होता है। जव रथन्तर साम गेय होगा, तब वृहत् एवं जगत् नाम का साम गेय नहीं होगा। इसी प्रकार इस स्थल में नियमविधि मानने पर रथन्तर का अयोग अर्थात् अप्राप्ति की निवृत्ति करना ही विशेषण का प्रयोजन है, इस प्रकार वृहत् और जगत् नाम के सामों की भी व्यावृत्ति अर्थसिद्ध होगी। पाक्षिक अर्थात् वैकल्पिक वस्तु स्वरूपसत् भाव में ही विशेषण होता है, अतः रथन्तर रहित ज्योतिष्टोम का व्यवच्छेद अर्थात् व्यावृत्ति कराना भी विशेषण का प्रयोजन है।

रथन्तर शब्द साम में प्रविष्ट होने से 'यदि' शब्द के उसका अन्वय नहीं हो सकता है, यदि शब्द के साथ अन्वय न होने पर 'यदि' शब्द के द्वारा रथन्तर की हेतुता की सूचना भी असङ्गत होगी। इस प्रकार आपत्ति का जो उत्थापन किया गया है, वह भी अकिञ्चित्कर है, क्योंकि केवल रथन्तर को ऐन्द्रवायव ग्रहाग्रता को हेतु नहीं कहा जाता है, वरन् रथन्तर विशिष्ट क्रतु को ही ग्रहाग्रता निमित्त कहा गया है। 'मलिनः स्नायात्' इस वाक्य में मलिनता विशिष्ट व्यक्ति के पक्ष में स्नान विहित होने पर भी इस स्थल में मलिनता विशेषण होने पर भी स्नान का हेतु होता है, वैसे ही रथन्तर युक्त क्रतु ग्रहाग्रता का निमित्त होने पर भी रथन्तर ही ऐन्द्रवायव ग्रहाग्रता का हेतु होता है।

बाद में होने वाली अनिष्पन्न वस्तु हेतु नहीं हो सकती है, इस प्रकार का कथन भी यहाँ सङ्गत नहीं होता है, क्योंकि इस स्थल में जब अनिष्पन्न बाद में होने वाले रथन्तर की हेतुता वाचनिक अर्थात् श्रुतिवचन से बोधित है, तब लौकिक दृष्टान्त में उसके विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं हो सकती है, किन्तु वचन में जैसा उल्लेख है, वैसा ही समझना होगा, इसीलिए स्थानान्तर में पूर्व में रैवत्यधिकरण आदि स्थल में भगवान् भाष्यकार ने कहा है कि "किमिव हि वचनं न कुर्यात् वचनस्यातिभावः" अर्थात् शास्त्रवाक्य किसी विषय का ही विधान नहीं कर सकता है एवं वचन के पक्ष में विधान करने पर गुरुतर विषय क्या है ?

वस्तुतः इस पक्ष में इसका कोई लौकिक दृष्टान्त नहीं है, ऐसी भी बात नहीं है। जैसे भोजन के लिए स्थान का मार्जन किया जाता है, भोजन अनिष्पन्न परवर्ती काल में

होने पर भी वह जैसे पूर्वकालीन स्थान मार्जन का साधन होता है, वैसे ही इस स्थल में रथन्तर ग्रह की अग्रता का साधन होगा। अतः इस स्थल में ग्रहाग्रतारूप गुण का ही विधान किया जाता है, इसके गुणवाक्य होने से इसके द्वारा जब कर्म का भेद प्रतिपादित नहीं हो सकता है, तब प्रकृत ज्योतिष्टोम एवं रथन्तरादि विशिष्ट सोम एक ही कर्म है—यह प्रतीत होता है। इसीलिए भगवान् जैमिनि ने 'एकत्वं गुणवाक्यात्' यह कहा है।

"एकस्य" = एक ज्योतिष्टोम का ही, "तु" = पूर्वपक्ष के निरास के लिए, "लिङ्ग-भेदाद्" = लिङ्ग का अर्थात् रथन्तर सामत्व एवं बृहत्सामत्व रूप विशेषण का भेद-साधन, "प्रयोजनार्थम्" = प्रयोजन के लिए अर्थात् ग्रहाग्रता विधान रूप प्रयोजन के लिए, "उच्यते" = उल्लिखित होता है, "एकत्वं" = वस्तुतः इस स्थल में कर्म का एकत्व ही है, "गुणवाक्यात्" = क्योंकि यह गुणवाक्य होता है और गुणविधि के स्थल में कर्म का भेद नहीं होता है। यह प्रथम रथन्तराधिकरण है ॥२॥

अथ द्वितीयमवेष्ट्यधिकरणम्

[२] अवेष्टौ यज्ञसंयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते ॥ ३ ॥ सि०

शा० भा०—अस्ति राजसूयः 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इति। तं प्रकृत्याऽऽमनन्ति अवेष्टिं नामेष्टिम्—'आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा' इत्येवमादि। तां प्रकृत्य विधीयते—'यदि ब्राह्मणो यजेत, बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाऽऽहुतिमाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेत्, यदि राजन्य, ऐन्द्रं,[१] यदि वैश्यो, वैश्वदेवम्, इति। तत्र संदिह्यते—किं ब्राह्मणादीनां प्राप्तानां निमित्तार्थेन श्रवणम्, उत ब्राह्मणादीनामयं यागो विधीयते इति।

कथं निमित्तार्थता भवेत्? कथं वा यागविधानमिति? यदि राजशब्दो ब्राह्मणादिष्वपि केनचित्प्रकारेण, ततो निमित्तार्थता। अथ क्षत्त्रिय एव, ततः प्रापकाण्येवंजातीयकानि श्रवणानि। किं तावत्प्राप्तम्? निमित्तार्थतेति। तत एवं[२] तावदुपवर्ण्यते—यौगिको राजशब्द इति। राज्यं यस्य कर्म, स राजा। किं पुना राजकर्म? जनपदपुरपरिरक्षणे ततश्चोद्धरणे राज्यशब्दमार्यावर्त-निवासिनः प्रयुञ्जते। राज्ञः कर्म राज्यमिति चाऽभियुक्ता उपदिशन्ति। तेन मन्यामहे यस्यैतत्कर्म, स राजेति। यथा ये उदमेघं नाम कंचित् पुरुषं नावेदिषुः, तस्य तु पुत्रमौदमेघिरित्येवं विदुः, शक्नुयुस्ते यस्तस्य पिता, स उदमेघ इति कल्पयितुम्। उदमेघपुत्रस्यैवं समभिव्याहारो भवतीति। एवं राज्ययोगाद्राजशब्द इति विज्ञायते।

---

१. ब. ऐन्द्रमिति। २. ब. एतत्तावत्।

ननु जनपदपुरपरिरक्षणवृत्तिमनुपजीवत्यपि क्षत्त्रिये राजशब्दमान्ध्राः प्रयुञ्जते प्रयोक्तारः[1] । न ब्रूमो न प्रयुञ्जत इति । किं तर्हि ? कर्मविशेषनिमित्तत्वाद्राजशब्दस्य, तद्योगादपि राजशब्दो भवतीत्येतदुपपादयामः । प्रयुञ्जते च तद्युक्ते राजशब्दमक्षत्त्रियेऽपि । तदस्मिन्नुपपन्ने प्रकरणवशात्, यादिशब्दसमभिव्याहाराच्च राजसूयस्यैव गुणविधानं भविष्यति, न ब्राह्मणस्य, वैश्यस्य च कर्मान्तरं विधायिष्यतीति ।

अथ वा, असार्वलौकिकस्य प्रयोगस्य सार्वलौकिकेन प्रयोगेण विरुध्यमानस्याप्रामाण्यं स्यात् । अभ्युपगच्छन्ति हि ते जनपदिनः[2] सार्वभौमं प्रयोगम् ।

अपि चाविप्रगीता लौकिका अर्था विप्रगीतेभ्यः प्रत्ययिततरा भवन्ति । तथा, आर्यावर्तनिवासिनां शब्दार्थोपायेष्वभियुक्तानामभिव्याहरतां कर्माणि चानुतिष्ठतामन्त्यजनपदवासिभ्यो म्लेच्छेभ्यः समीचीनतर आचारो भवति । तस्माद्यौगिको राजशब्दः । निमित्तार्थानि श्रवणानि, राजसूयस्य गुणविधिः । न कर्मान्तरमिति ।

एवं प्राप्ते ब्रूमः । अवेष्टौ तु खलु क्रतुप्रधानं ब्राह्मणादिश्रवणं ब्राह्मणादीनामवेष्टियागं विधातुं न निमित्तार्थम् । कुतः । अप्राप्तत्वाद्ब्राह्मणवैश्ययोः । कथमप्राप्तिः । क्षत्त्रियस्य राजसूयविधानात् । राजा राजसूयेन यजेत इति । नन्क्तं— यौगिको राजशब्द इति ।

एतदप्ययुक्तम् । यतो जातिवचन इति । ननूभयाभिधाने यदि शब्दसम्बन्धात्, प्रकरणाच्च न कर्मान्तरविधानं न्याय्यमित्युक्तम् ।

अत्रोच्यते । नोभयाभिधानमवकल्पते[3] । कुतः ? यदि तावज्जातिशब्दो राजेति, ततस्तत्कर्मत्वाज्जपदपरिपालने राज्यशब्दो भविष्यति । तेनाऽऽर्यावर्तनिवासिनां प्रयोगो न विरोत्स्यते । अथ यदि राज्यशब्दः परिपालने नित्यसंबद्धो भविष्यति, ततस्तस्य कर्तेति राजशब्दः क्षत्त्रियजातौ तन्निमित्तो भविष्यति । तत्राऽऽन्ध्राणां प्रयोगो न विरोत्स्यते । तस्मान्न प्रयोगदर्शनादुभावपि राजराज्यशब्दौ जातिपरिपालनाभ्यां नित्यसंबद्धावित्यभ्युपगन्तव्यम् । को नु खलु निर्णयः ? राजजातीयस्य कर्म इत्यतः परिपालनं राज्यशब्देनोच्यते । एवं हि स्मरन्तोऽभियुक्ताः, तस्य कर्म इति ष्यञ्प्रत्ययं विदधति, न तु तस्य कर्तेति । प्रत्ययलोपं वा, प्रातिपदिकप्रत्यापत्तिं वा समामनन्ति । तस्माद्राज्ञः कर्म राज्यं, न राज्यस्य कर्ता राजा ।

---

१. ब. एतत्पदं नास्ति । २. ब. जनपदिनः प्रयोक्तारः ।

३. ब. प्रकल्पते ।

ननु यो यो जनपदपुरपरिरक्षणं करोति, तं तु लोको राजशब्दे नाभिवदति। उच्यते। योगाल्लोक प्रयुङ्क्ते। परिपालने राज्यशब्दप्रसिद्ध इति। स तु परिपालने राज्यशब्दो राजयोगादित्यस्माभिरुक्तम्। तस्माद्राजशब्दः प्रसिद्धेर्मूलम्। तद्योगाद्राज्यशब्दः। तद्योगादपि ब्राह्मणवैश्ययो राजशब्दः प्रयुज्यते। न त्वेवं स्मरन्ति, राज्ययोगाद्राजेति।

यत्तूक्तम्—अनुमानाद्राज्यस्य कर्ता यः, स राजा। यथा औदमेघेः पिता उदमेघ इति। उच्यते। अनुमानात्प्रयोगो बलवान्। राज्यस्य कर्तारं राजेत्यनुमिमीमहे। क्षत्त्रिये तु प्रत्यक्षं प्रयुञ्जानानुपलभामहे। तथा योगमप्यनुमिमीमहे, राज्यस्य कर्ता राजेति। राज्ञः कर्म राज्यमिति तु स्मरन्ति। अनुमिमानाश्च स्मृतिमनुमिमते स्म। स्मरन्तस्तु प्रत्यक्षमुपलभन्ते। तेन तत्र स्मृतिर्बलीयसीति।

आह। यो यो राज्यं करोति, तत्र राजशब्दं प्रयुञ्जते। न यद्राज्ञः कर्म, तद्राज्यमिति। तेन मन्यामहे, राज्ययोगो राजशब्द प्रवृत्तौ निमित्तं, न तु राजयोगो राज्यशब्दप्रवृत्ताविति। न ब्रूमः—प्रयोगाद्वयं राजयोगं राज्यशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमवगच्छाम इति। कथं तर्हि? स्मरणात्। प्रयोगाच्च स्मृतिर्बलीयसी प्रयोगाद्धि स्मृतिरनुमीयेत। अपि च राज्ययोगस्य निमित्तता व्यभिचरति। जनपदपरिपालनमकुर्वत्यपि राजेत्यान्ध्रा वदन्तीत्युक्तम्। ननु राजयोगाद्राज्यमित्येतदपि व्यभिचरति। न हि राज्ञः स्पन्दितं निमिषितं च सर्वं राज्य मित्युच्यते। यदि वयं प्रयोगान्निमित्तभावं ब्रूयाम। तत एतमुपालभ्येमहि। स्मृत्या तु वयं निमित्तभावं ब्रूमः। तेन यद्यद्राजजातीयस्य कर्म जात्या विशेष्यते, तद्राज्यमित्यभ्युपगच्छामः।

यत्तूक्तम्—आन्ध्रा अपि राज्ययोगाद्राजानमभ्युपगच्छन्तीति। परिहृतमेतत्, प्रयोगो दुर्बलः स्मृतेरिति। यदुक्तम्, आर्यावर्तनिवासिनः प्रमाणमितरेभ्य आचारेभ्य इति। तुल्यः शब्दप्रयोग आचारेष्वित्युक्तम्। तस्माज्जातिनिमित्तो राजशब्दः। एवं चेद्यसंयोगात्क्षत्त्रियस्य राजसूयेन, यागविधिरवेष्टिरिति॥ ३॥ क० अवेष्ट्यधिकरणम्॥ २॥

त० वा०—'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत' इत्यस्य प्रकरणे 'आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा' इत्यादिभिर्द्रव्यदेवतासंयोगैरवेष्टिसंज्ञकामिष्टिं विधाय श्रूयते 'यदि ब्राह्मणो यजेत, बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाऽऽहुतिमाहुतिं हुत्वा, अभिघारयेत्', 'यदि राजन्य ऐन्द्रं', 'यदि वैश्यो वैश्वदेवम्' इति। तत्र पूर्ववदेव संदेहः—किं राजसूयमध्यस्थाया एवावेष्टेर्वर्णविशेषसंबन्धं प्राप्तमेव निमित्तत्वेनोद्दिश्य तत्र नैमित्तिकं विधीयते, उताप्राप्तमेव ब्राह्मणादिसंबद्धं प्रयोगान्तरमुद्दिश्यत इति। तत्सिद्ध्यर्थं चैतद्विचारयितव्यं किं राजसूयेऽधिकारस्त्रयाणामपि

वर्णानाम्, उत क्षत्त्रियस्यैवेति। तत्सिद्ध्यर्थमाधिकारिविशेषणभूतो राजशब्द-स्तथैव विचारणीयः। ततोऽप्येतद्विचारयितव्यं किं क्षत्त्रियत्वनिमित्तो राजशब्द, उत राज्यकरणनिमित्त इति।

ननु च 'एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्' इति वर्णविशेषेणासंबद्धं पृथग्राजसूयप्रयोग-वचनादेवावेष्टेर्वचनमस्तीति, वर्णत्रयस्यापि प्राप्तस्य निमित्तार्थमेव श्रवणं भवेत्। नैतदेवम्। तदा हि निर्ज्ञातक्षत्त्रियकर्तृकायाः कर्त्रन्तरे वचनान्तरेणाऽविधीय-मानायाः पृथक् प्रयोगकारणाभावाच्च राजसूयमध्यस्थाया एव 'एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इत्यनेन न्यायेन साधारणं च स्वाराज्यं फलम्, प्रात्यात्मिकं चान्नाद्यं विज्ञायते।

पृथग्वा राजन्येनैव फलार्थिना प्रयुज्यते, न वर्णान्तरसंबन्धः। तद्यथाऽध्यय-नाधानयोर्निर्ज्ञातत्रैवर्णिककर्तृकत्वात्तदधीनसिद्धीनां कर्मणामर्थिमात्रसंबन्धावगमेऽपि सति, अपशूद्रविषयत्वमेवावतिष्ठते। यथा चात्रैव स्वाराज्यकामाविशेषेऽपि राजकर्तृकत्ववशेन भोक्तृविशेषो भविष्यति। तस्माद्राजसूयाधिकारेण, एभिर्वा वचनैः प्राप्तिरिति द्वावेव पक्षौ। किं तावत्प्राप्तम्? पूर्वाधिकरणेनैव निमित्तार्थानि श्रवणानीति। राजसूयाधिकारश्च सह राजशब्देन त्रयाणामपि वर्णानाम्, राज्य-करणं च शब्दप्रवृत्तिनिमित्तमिति। तथा हि—

कर्ता राज्यस्य राजेति सर्वलोकेषु गीयते।
महाविषयतैवं च शास्त्रस्यापि भविष्यति॥

उभयसंभवे तावत्त्रैवर्णिकविषयता युक्ता कल्पयितुम्। एवं हि निमित्त-प्रतीतिः, तत्प्रकरणादीनि च न बाध्यन्ते। राजसूयाधिकारश्रुतिश्चानल्पविषयत्वेन स्वरसात्प्रवर्तमाना न निवर्तिता भविष्यति। तस्माद्राज्यं कुर्वन्तः सर्वे त्रैवर्णिका राजानः। तच्च राज्यं जनपदपरिपालनं नाम सर्वलोकप्रसिद्धम्। ततश्चोद्धरणं राज्येऽपि कण्टकोद्धारणमभिप्रेतम्। आर्यावर्तनिवासिन इति—'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' इत्यस्य प्रदर्शनार्थम्। राज्ञः कर्म राज्यमित्येतदभियुक्ता उप-दिशन्तीत्येतद्ब्रुवता ननु राजशब्दस्यैव प्रकृतिभूतस्य स्वातन्त्र्यमभ्युपगतं भवति। तथा हि—

नैवौदमेघिसंबन्धादुदमेघः प्रसिध्यति।
स्वतन्त्रेणोदमेघेन स एव त्वनुगम्यते॥

उच्यते—

राजा निर्ज्ञात एवेह स्वातन्त्र्येण चिरंतनैः।
तद्योगात्कल्पितं राज्यमस्माकं तु विपर्ययः॥

यथैव गामानयेत्यभिहिते यद्यपि व्यवहर्तृभिः यो गौः, स आनेतव्य इति वचनं कल्पितम्, तथाऽपि पार्श्वावस्थितस्य यस्य गोत्वमप्रसिद्धम्, अनयनं च

प्रसिद्धम्, स छेदनादिभ्य इव यूपमेवं प्रतिपद्यते, य आनेष्यते, स नूनं गौरिति। तथैवात्र यद्यपि मन्वादिभिः पाणिनिप्रभृतिभिश्चैवं स्मृतम्, यो राजा, तेन जनपदादिरक्षणं कर्तव्यम्, यश्च राजा, तस्य कर्म राज्यमिति। तथाऽपि वयं संदिग्धराजकाः प्रसिद्धराज्याश्च सन्त एवं प्रतिपद्यामहे, येनैवं स्मर्तृभिरुक्तम्, तेन नूनं बन्धनसमर्थे द्रव्ये यूपवत्, राज्यकरणसमर्थद्रव्यालम्बन एव राजा तैर्निरूपित इति। तच्च राज्यमविशेषेण चत्वारोऽपि वर्णाः कुर्वाणाः दृश्यन्ते। तस्मात्सर्वे राजानः। तत्र तु न्यायान्तरेण ब्राह्मणादिषु चरितार्थायां राजश्रुतावध्ययनादीनामभावे सति, कामं शूद्रः पर्युदस्येत, न त्वितरपर्युदासे हेतुरस्तीति, त्रयाणामप्याधिकारः।

ननु च क्षत्रियसंबन्धेन राज्यं विहितमन्यायेनेतरौ कुर्वाणौ न राजानौ स्याताम्। नैष दोषः। सर्वथा तावद्राज्यकरणात्ताभ्यामपि राजत्वं लब्धम्। तावता च राजसूयचोदनायाः प्रयोजनम्। यौ तु न्यायान्यायौ, तयोः पुरुषधर्मत्वान्नैकोऽपि क्रतुना गृह्यत इत्यविशेषः। **ननु जनपदपुरपरिरक्षणवृत्तिमनुपजीवत्यपीति**—सिद्धान्तबीजोपन्यासः। उक्तं ह्येतद्बर्हिराज्यादिशब्देषु यथैकदेशेऽपि जातिनिमित्तत्वे लभ्यमाने निमित्तान्तरं न कल्पनीयमिति। परः पुनर्यौगिकग्रहणमत्रोपकारकमिति प्रदर्शयति—**प्रकरणवशाद्यदिशब्दसमभिव्याहाराच्चेति। 'न कर्मान्तरं विधायिष्यते'** इति प्रयोगान्तराभिप्रायेण।

अथ वा यदा यदि शालिं भुञ्जीतेत्यादयो वचनप्रकारा गृह्यन्ते, तदैकेनैव वाक्येन ब्राह्मणसंबन्धो बार्हस्पत्याभिधारणं च न शक्यते कर्तुमिति, मुख्यमेव कर्मान्तरत्वम्। एवं तावदुभयप्रसिद्धिं प्रमाणीकृत्योक्तम्। इदानीं तु राज्यरहिते प्रयोगः प्रमाणमेव न भवतीति प्रस्तूयते सार्वलौकिकेन प्रयोगेणासार्वलौकिकस्य बाधात्। **अपि च विप्रगीता** इति तदेव प्रत्ययिताप्रत्ययितत्वेन पुनरुपन्यस्तम्। न हि सर्वलोकासर्वलोकविदितत्वव्यतिरेकेण विप्रगीताविप्रगीतत्वे विद्येते।

यद्वा पूर्वेण प्रसिद्धेः सदसद्भावमात्रम्, उत्तरेण तु विप्रतिपत्त्यविप्रतिपत्ती। भवति चाज्ञानविपर्ययज्ञानयोर्भेद इत्यपौनरुक्त्यम्। **तथाऽऽर्यावर्तनिवासिनामिति**—शास्त्रस्थबलीयस्त्वं पूर्वोपक्षिप्तं दर्शयति। **समीचीनतर आचार इति**—शब्दप्रयोगोऽभिधीयते। तस्मात्प्राप्तनामेव ब्राह्मादीनां निमित्तार्थं श्रवणम्।

अपि च 'यदि राजन्य ऐन्द्रम्' इत्यसंदिग्धं निमित्तार्थम्, अतश्च तत्सामान्यादितरयोरपि तथात्वमित्येवं प्राप्ते।

ब्रूमः—

क्रतुसंबन्ध एवायं ब्राह्मणादेर्विधीयते।
अप्राप्तत्वान्न राजा हि राज्ययोगात्प्रतीयते॥

क्षत्रियवचन एवायं राजशब्दः न यौगिकः। स हि राज्ययोगाद्वा भवेत्, धात्वर्थानुसारेण दीप्तियोगाद्वा। उभयथाऽपि चानुपपन्नः। तद्रहितरूढिशब्ददर्शनात्। एकदेशस्थाऽपि रूढिरवयवप्रसिद्धिं बाधते। न चावयवप्रसिद्धिरभिषिक्ते जनपदपरिपालनव्यापृतेप्यायुक्तके।

ननु चाऽऽयुक्तकस्य परप्रयुक्तकारित्वादृत्विज इव यजमानत्वम्, न राजत्वं भविष्यति। नैवं शक्यम्। पराधीनेष्वपि केषुचित् पृथिवीश्वराभिषिक्तेषु माण्डलिकेष्वपि प्रयोगदर्शनात्। तेन तर्ह्यव्यभिचारात्स एवाभिषेको निमित्तं प्राप्नोति। नैवं भविष्यति। कुतः?

अभिषेकोऽपि धर्मज्ञैः क्षत्रियस्यैव पठ्यते।
सहासौ राजशब्देन तेन नाक्षत्रिये मतः॥

ततोऽभिषेकस्य निमित्तत्वं ज्ञायते। यद्यस्य स्वातन्त्र्यं भवेत्। अयं तु क्षत्रियजातावेव स्मर्तृभिर्नियतो विधानवेलायामेव लवनादिवद् बर्हिःशब्देन, राजशब्देन संयुज्यते। तेनैव चोभयनिमित्तत्वं समुदायशब्दन्यायेनैतस्यानिष्टम्। यदि हि जात्यभिषेकयोरत्यन्तसमुदितयोरेव प्रयुज्यते, न तु केवलायां जातौ। जात्यन्तरेवाऽभिषेको विधीयते, तत उभयं निमित्तमिति कल्प्येत। स त्वभिषेकात्प्रागेव तत्संस्कार्ये प्रयुक्तः 'राजानमभिषेचयेत्' इति। तस्माद्राजजातावेव प्रज्ञायते। न च भाविसंज्ञाविज्ञानम्, भूतत्वेनैवोपपद्यमानत्वात्। अगत्या हि साऽन्यत्राऽऽश्रीयते। न चैकस्मिन्निमित्ते सिद्धे, निमित्तान्तरं कल्पयितुं शक्यम् विनाऽपि तत्कल्पनेन प्रयोगोपपत्तेः। अभिषेकनिमित्तत्वेऽपि च न्यायानुसारिणां नैवाक्षत्रियविषयत्वं सिध्यति' यस्तु धर्मशास्त्रातिक्रमेण क्रियते, न तस्य निमित्तत्वं स्यात्। यथा शूद्रकृतस्याऽऽधानस्य नाऽऽहवनीयादिप्रयोगनिमित्तत्वम्।

अपि च—

नित्याः शब्दार्थसंबन्धा यथावस्थितगामिनः।
नाऽऽश्रयन्त्यध्रुवं हेतुं स्वच्छन्दपरिकल्पितम्।

नित्यस्य हि राजशब्दस्य नित्येनैव निमित्तेन भवितव्यम्, नित्यानित्ययोः संयोगाभावात्। सा च नित्यता वस्त्वपेक्षया वा, विध्यपेक्षया वा निरूप्यते। तत्र न तावदभिषेको वस्तुरूपेणैव जातिवत्केषुचित्समवेतो दृश्यते। तेनावश्यं विधानापेक्षमेव निरूपणमाश्रयणीयम्। न च विधानमक्षत्रिये राजशब्दस्यास्तीति जात्यव्यभिचार एवाऽऽपद्यते। ततश्च सैव निमित्तम्। एतेन राज्यनिमित्तत्वं प्रत्युक्तम्। तदपि हि विधानात्प्रभृति, अभिषेकवदेव क्षत्रित्वसंबद्धम्। दृष्टश्चानभिषिक्तेऽपि, अपालयति च जनपदं, क्षत्रिये राजशब्दप्रयोगः। तद्वत्यपि वाऽन्यजातीयेऽनभिधानं द्रविडानाम्। तस्मादपि न त्रैवर्णिको राजा। तथा च राज्ञो-

ऽपत्यं राजन्य इत्यैकान्तिकक्षत्त्रियजातिवचनस्य राजन्यशब्दस्य राजशब्दप्रकृतित्वमेवान्वाचक्षते। अन्यथा त्रैवर्णिकानां राजत्वात्सर्वेषां त्रैवर्णिकानामपत्येषु राजन्यशब्दप्रयोगः स्यात्। कुतः ?

राजन्यः क्षत्त्रिये रूढो राजानः सर्व एव चेत्।
अपत्यापत्यवद्योगे वैषम्यं वद कीदृशम्॥

नन्वेवमप्यनुपपन्न एवायमपत्यप्रत्ययः। तथा हि—

प्रकृतौ तदपत्ये च जातिशब्दस्य तुल्यता।
तेन राजैव सर्वत्र राजन्योऽप्यभिधीयताम्॥

यथैव काकस्यापत्यं काकः, एवं राज्ञोऽपत्यं राजेत्येव स्यात्। नैष दोषः। पर्याय एव हि राजशब्दस्य राजन्यशब्दोऽनेन प्रकारेणान्वाख्यायते। स त्वेकजातिविषयत्वे सति तथाऽन्वाख्यातुं युज्यते, नान्यथा।

ननु 'राज्ञोऽपत्ये जातित ग्रहणम्' इति वचनात्क्षत्त्रियजातिवचनो भविष्यति। नैतदेवम्। इह्रान्यमजात्यनुपादानाद्राजवन्मनुष्यजातिमात्राधिकारात्तद्वचनत्वं स्यात्। ननु च राजराजन्यशब्दयोस्तत्र तत्र कर्मभेदोपदेशेन स्मृतिविदां, याज्ञिकाांन च भेदेन प्रसिद्धिर्दृष्टा। सत्यं दृष्टा। सा तु ब्राह्मणपरिव्राजकन्यायेन राजन्यशब्दस्याभिषिक्तविशेषगामित्वेन सामर्थ्यलभ्यत्वात्।

यत्तु प्रसिद्धिद्वयसंभवे राज्यनिमित्तत्वं प्रकरणादिभ्यो विज्ञास्यत इति। तन्निराक्रियते। तथा हि—

नैव तावदुभौ शब्दौ स्वातन्त्र्येण प्रसिध्यतः।
क्लृप्तायामेकशक्तौ हि द्वितीयो यौगिको वरम्॥

तदेतद्दर्शयति—यदि तावज्जातिशब्दो राजेति, ततस्तस्य कर्म राज्यमित्यवयवप्रसिद्धिसम्भवान्न तन्निरपेक्षं शक्त्यन्तरकल्पनमुपपद्यते। विनैव तेनाऽऽर्यावर्तनिवासिनां प्रयोगो न विरोत्स्यते। अथ तु प्रथममेव राज्यमिति, प्रतिपालनं रूढिरूपेणाभिधीयते। ततस्तच्छक्त्यनुसारेणैव तत्कर्तरि राजशब्दप्रयोगसिद्धेः शक्त्यन्तरकल्पनमन्तरेणैवद्रविडानां राज्याधिकारयोग्येषु क्षत्त्रियेषु प्रयोगो न विरोत्स्यते। दाक्षिणात्यत्वसामान्येनाऽऽन्ध्राणामिति भाष्यकारेणोक्तम्। तस्मान्न तावदुभावपि रूढिशब्दौ। नापि यौगिकौ। अन्यतररूढित्वे तु राजशब्दस्य तत्कल्पना युक्ता।

कुतः ?

आचारयोरसम्बन्धे सन्देहे सति निर्णयः।
सन्निबन्धनया स्मृत्या वलीयस्त्वादवाप्यते॥

राज्यशब्दाभिधेयं परिपालनादि कर्म क्षत्त्रियस्येति मन्वादयः स्मरन्ति। पाणिनिप्रभृतयोऽपि राज्ञः कर्मेदं राज्यमित्येवं व्युत्पादयन्ति। 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' इत्यधिकृत्य स्वतन्त्ररूढाद्राजप्रातिपदिकात्प्रत्ययविधिः। तत्र ष्यञ्प्रत्ययं विदधतीत्यत्र वदन्ति। पत्यन्तपुरोहितादिपाठाद्राजशब्दस्य विशेषविहितेन यका भवितव्यम्। तथा च यक्प्रत्ययस्वर इहोपलभ्यते, नाऽऽद्युदात्तत्वम्। तस्माद्राजशब्दाद्राज्यशब्दव्युत्पत्तिर्न तु विपरीतेत्येतावन्मात्रपरमेव भाष्यं द्रष्टव्यम्। राज्यशब्दाद्धिराजनि व्युत्पाद्यमाने, यलोपाम्नानं वा राजशब्दादेशात्मकं वा स्मरणं स्यात्। तस्मादियमेव वचनव्यक्ती राज्ञः कर्म राज्यमिति, न त्वर्थापत्त्या राज्यस्य कर्ता राजेति कल्पनीयम्। देशान्तरे विज्ञातत्वाद्राज्ञः। कल्पितायामपि चार्थापत्तौ मन्वादिस्मृतिवशेन क्षत्त्रियस्यैतत्कर्मेत्यवधारणात्स एव राजा विज्ञायते। सकलश्च राजेतिशब्दो राज्येऽनुप्रविष्ट इति, स यौगिको युक्तो। न तु राजशब्दो राजन्यनुस्यूतः सकल इत्ययौगिकत्वम्। सत्यमेवं राज्यशब्दस्य यौगिकत्वमुपपद्यते। यस्तु तत्कारिणि जात्यन्तरे राजशब्दप्रयोगः स क्षत्त्रियत्वाभावान्न प्राप्नोति। तेन नाऽऽर्यावर्तनिवासिनां प्रयोगः सकलो न विरुध्यते।

तथा, 'न शूद्रराज्ये निवसेदित्यादीनामाप्तप्रयोगाणां बाधः स्यादित्यत अत आह—**योगाल्लोकः प्रयुङ्क्त इति**। प्रथमं तावद्राजयोगाद्राज्यं पुनस्तद्योगाद्ब्राह्मणादिषु राजशब्दोपचार इति। नन्वेवं सति राज्ययोगादपि राजेत्येतदभ्युपगतमेव। नैष दोषः। गौणत्वाभ्युपगमात्, मुख्यत्वाभ्युपगमे ह्यधिकरणं परावर्तेत। गौणत्वं तु मुख्येन बाधितत्वादभ्युपगतमपि सिद्धान्तं न विरुणद्धि। तेन तत्कार्यापन्ने प्रतिनिधिन्यायेन ब्राह्मणादौ राजशब्द इति द्रष्टव्यम्। तथा च दर्शयति—**न त्वेवं स्मरन्ति राज्ययोगाद्राजेति**। तच्चैतदाचारस्य दौर्बल्याद्गौणकल्पनाश्रयणमित्येवमेव भाष्यं नेयम्। यत्त्वौदमेधिशब्दादिवत्प्रकृत्यर्थानुमानं, तद्द्रविडप्रयोगेण प्रत्यक्षेण बाध्यते। अथ राज्यस्य कर्तैवमभिधीयत इति। निमित्तभूतोऽपि कर्मकर्तृसम्बन्धस्तस्य च स्मरणमनुमातव्यम्। राज्ञः कर्म राज्यमिति प्रत्यक्षं स्मरणम्। तस्माद्बलवत्तरम्।

पर आह—**यो यो राज्यं करोतीति**। सर्वथाऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां वाच्यवाचकसम्बन्धो विज्ञायते। स च राजशब्दस्याव्यभिचारेण राज्यनिमित्ततया च गम्यते, न तु राजकर्मनिमित्तत्वेन, स्मृतेः पुनः शब्दापशब्दविभागमात्रविषयत्वादविषय एवायम्। उभौ हि राजराज्यशब्दौ साधू। तस्मादयुक्तः स्मरणोपन्यास इति। तत्रोच्यते। सत्यं प्रयोग एव, न च स्मृतेः कस्य किंयोगनिमित्तत्वमित्येष व्यापारः तथाऽपि तु साध्वसाधुत्वपरतयैवान्वाख्यानान्निमित्तत्वमवगम्यते। राज्ञः कर्म राज्यमिति हि व्युत्पादने तद्योगनिमित्ते राज्यमित्यर्थादुक्तं भवति। तेन

स्मृतिबलीयस्त्वाद्राजशब्दं एव स्वतन्त्र इति। प्रयोगोऽपि च द्रविडेषु व्यभिचारीत्युक्तमेव। मत्पक्षे तु प्रयोगस्यातन्त्रत्वाद्व्यभिचारित्वमदूषणम्। यत्र तावत् प्रयोगः, यत्रास्ति राजकर्मत्वम्। तेन प्रयुक्तस्यान्वाख्यानकरणादप्रयुक्तनिमित्तान्वाख्यानाभावाच्चादोषः।

किं च।

असाधारणभावेन सर्वत्रेष्टं विशेषणम्।
तेन तस्यैव कर्मेति चिन्तितादि न गृह्यते॥

जनपदरक्षणं ह्यसाधारणं राजकर्म। तेन राज्यमित्युच्यते। चिन्तितनिमिषितादि तु राज्ञश्चान्येषां चेत्यव्यवच्छेदान्न राज्यशब्दाभिधेयं भवतीति। तेन सार्वलौकिकादपि प्रयोगात् 'शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्' इत्यनेनैव राजशब्दस्य क्षत्त्रियवचनत्वम्। तुल्यश्चान्त्यजनपदवासिनामपि दृष्टार्थत्वाच्छाब्दव्यवहारे प्रमाणाभाव इत्युक्तं 'चोदितं तु प्रतीयेत' इति तस्मात्क्षत्त्रियस्यैव राजसूयोऽस्तीति, ब्राह्मणादीनां प्रापकाणि श्रवणानि।

ततश्च 'एतयाऽन्नाद्यकामम्' इत्येतदपि फलं बहिरेव प्रयोगाद्भविष्यतीति। कुतः?

क्रतुमध्यप्रयोगो हि स्वराज्येनैव पूरितः।
साकाङ्क्षस्त्वितरस्तस्मात्तस्यैव फलसङ्गतिः॥

ननु चैतयेति प्रत्यक्षविशेषवचनात्परोक्षसामान्यप्रवृत्तां राजसूयचोदनां बाधित्वा, अन्नाद्यफलतयैव भवितव्यम्। नैतदेवम्। विरोधाभावात्।

तथा हि।

विरोधित्वात्प्रसज्येते विकल्पावृत्तिकल्पने।
बाधस्तेनाभ्युपेतव्यो व्यवस्थायां तु नैव ते॥

न ह्यनेकफलमेकस्य विरुद्धं, प्रयोगान्तरस्य वचनान्तरेणैव कल्पितत्वात् समुच्चयेन ह्यावृत्तिदोषोऽन्यत्राभिधीयते। सा त्वत्राऽऽवृत्तिर्ब्राह्मणादिसम्बन्धाद्राजसूयग्रहणाच्चावश्यंभाविनी। यदि च 'एतयाऽन्नाद्यकामम्' इत्युत्पत्तिवाक्यं भवेत्, ततः पश्चात्प्रवर्तमाना राजसूयचोदना बाध्येत। न। द्वयोरपि ह्याग्नेयादिचोदनोत्पादितेषु कर्मसु प्रवृत्तेषु युगपत्कालत्वेनागृह्यमाणविशेषत्वात्तुल्यबलत्वम्। यथैव हि राजसूयचोदना संनिहितानालोच्य प्रवर्तते, तथैवान्नाद्यकामचोदनाऽपि, न हि तत्रावेष्टिः केनचिदपि शब्देनोपात्ता। न च राजसूयेनेति सामान्यशब्दः पौर्णमासीशब्दवत्। प्रकृतसमुदायविशिष्टसमुदायिवचनत्वात्। अत एव तत्कृतमपि न दौर्बल्यं लभते।

इत्यांस्तु विशेषः। एकेन बहवो गृह्यन्ते, अन्येनाल्पं। न च तावता कश्चिद-तिशयोऽस्ति। ननु चैतयेति श्रुत्यैव प्रत्यक्षवचनादस्ति विशेषः। स्याद्विशेषो यद्येतच्छब्दः फलेन सम्बध्यते।

यदि वा 'अथैष ज्योतिः' इत्यादिवत्प्रस्तूयमानं ब्रूयात्। प्रत्ययसंनिकर्षा-त्तत्रापि यजिशब्दगृहीतैवावेष्टिरन्नाद्येन सम्बध्येत। एतावच्च राजसूययजावप्य-स्तीत्यविशेषः। प्रकृतमपि च ब्रुवन्नैतच्छब्द आग्नेयादिवाक्यालोचनादृते नैव ब्रवीतीति। ततश्च राजसूययजिरपि तावता यत्नेन शक्नोति ग्रहीतुमिति तुल्यबलत्वम्।

नन्ववान्तराधिकारस्यास्ति विशेषः। उच्यते। अयमेव विशेषो यदेकत्र बहूनां ग्रहणम्, अपरत्र चाल्पानाम्। ग्रहणवेला तु तुल्यैव। यदि चैकान्तिक-मत्राकर्मान्तरत्वं स्यत्तत एवमुच्येत। कर्मान्तरमपि चैतदिति दर्शितम्। ततश्च विषयान्तरत्वादेव स्वराज्यान्नाद्ययोरविरोधः। कर्मान्तरत्वेऽपि च बार्हस्पत्यादि-लिङ्गदर्शनात्प्रकृतावेष्टिप्रकृतित्वमेव प्रतिपत्तव्यम्। राजन्यस्यापि तुल्यप्रवृत्तेः फलपदानुषङ्गाच्च ब्राह्मणवैश्यवदेव कर्मान्तरेण, प्रयोगान्तरेण वा सम्बन्धः। एवं च तस्यापि मध्येनिधानवाक्यं तन्त्रप्रयोगे सत्युपपत्स्यते॥ राजसूयमध्यस्थायां तु दक्षिणाभेदात्प्रतीष्टि प्रयोगान्यत्वे मध्येनिधानविधिरवरुध्येत तस्मात्प्रापकाण्ये-तानि श्रवणानीति सिद्धम्॥ ३॥

इति द्वितीयमवेष्ट्यधिकरणम्॥ २॥

अथ द्वितीयमवेष्ट्यधिकरणम्।

न्या० सु०—उदाहरणभाष्यं व्याचष्टे—**राजेति**। सन्देहभाष्यं व्याचष्टे—**तत्रेति**। ब्राह्मणादिकर्तृलक्षणंन गुणेनेह भेदस्य प्रतिपाद्यत्वात् कर्त्तुश्च प्रयोगाङ्गत्वात्तन्मात्र-भेदकत्वोपपत्तेर्भाष्ये यागशब्दः प्रयोगलक्षणार्थ इति प्रयोगान्तरोक्त्या सूचितम्। कथमिति भाष्येण सन्देहहेतुं पृष्ट्वा राजसूयवाक्यस्थो राजशब्दः क्षत्रियमात्रे वर्त्तते ब्राह्मणादिष्वपि वेति सन्देहो हेतुत्वेनोक्तस्तस्य साक्षान्मूलसन्देहत्वायोगाद्वर्णत्रयस्य राजसूये अधिकारः क्षत्रियमात्रस्य वेति मूलसन्देहहेतुभूतसन्देहहेतुत्वद्वारा मूलसन्देहहेतुत्वं दर्शयितुमाह—**तत्सिद्ध्यर्थं चेति**। न राज्ञः प्रतिगृह्णीयादराजन्यप्रसूतिन इति इत्यादिवाक्य-स्थस्य राजशब्दस्य क्षत्रियवाचित्वाभावाद्राजसूयवाक्यस्थराजशब्दविषयत्वं विचारस्य वक्तुमधिकारीत्युक्तं त्रयाणामपि क्षत्रियस्यैवेति तथैवेत्यनेनातिदिष्टे योग्यत्वाद्वाचक इत्यध्या-हारेण पूरणीयं केन चित्प्रकारेणेति यौगिकत्वोक्त्या सूचितम्। सन्देहान्तरं वर्णत्रयक्षत्रिय-मात्रवाचित्वसन्देहहेतुत्वेन दर्शयितुमाह—**ततोऽपीति**। चतुर्थ्यर्थे तसिः। ननु राजसूये क्षत्रियमात्राधिकारे अप्येतयान्नाद्यकामं याजयेदित्येतद्वाक्यविहितेष्टिप्रयोगान्तरे वर्णविशेषानु-पादानात् ब्राह्मणादेर्गुणस्य प्राप्तत्वेनाविधेयत्वाद्भेदकत्वानुपपत्तेः सिद्धान्तासम्भवात्सन्देहो

न युक्त इत्याशङ्कते—ननु चेति। योगसिद्धयधिकरणन्यायेनैकस्मिन्प्रयोगे फलद्वयसिद्धयोगादन्नाद्यकामावेष्टेः प्रयोगस्य राजसूयान्तर्गतावेष्टेः प्रयोगान्तरात् भेदावगतेः सन्निधौ त्वविभागादित्यत्र कर्मान्तरविधित्वे निराकरिष्यमाणेऽपि प्रयोगान्तरविधिनाऽन्नाद्यकामवाक्यस्याऽस्त्येवेति सूचयितुं पृथक्प्रयोगस्यैव वचनमित्येवकारः प्रत्युक्तः। राजसूयवाक्यस्यापि फलपरत्वाद्वाक्यभेदापत्तेर्वर्णविशेषान्वयायोगमाशङ्क्य, कर्त्तुः प्रयोगाङ्गत्वाद्वाक्यान्तरेण च राजसूयप्रयोगाविधानात् प्रयोगस्य चोत्पत्तिवक्रियाविषयत्वात्फलकर्तृविशिष्टक्रियाविषयप्रयोगविधौ वाक्यभेदानापत्तिसूचनार्थम्—प्रयोगेत्युक्तम्। ब्राह्मणादिवाक्यानां प्रयोगान्तराविधायित्वे राजसूयमध्यप्रयुक्ताया एवावेष्टेः संयोगपृथक्त्वात्फलद्वयोपपत्तेस्तस्याश्च विज्ञातक्षत्रियकर्तृकत्वाद् ब्राह्मणादिवाक्यवच्चान्नाद्यकामवाक्ये कर्त्रन्तराश्रयणेन प्रयोगान्तरानाक्षेपकत्वाद्योगसिद्धयधिकरणन्यायेन चैतस्मिन्प्रयोगे फलद्वयसिद्धययोगात्प्रयोगान्तराक्षेपेऽपि क्षत्रियस्यैवान्नाद्यकामस्य प्रयोगान्तरोपपत्तेर्वर्णान्तरस्याप्राप्तत्वात् ब्राह्मणोदेर्गुणस्य विधेयत्वाद्भेदकत्वोपपत्तेः सन्देहं समाधत्ते—नैतदिति। नन्वन्नाद्यकामशब्देन वर्णान्तरस्याप्युपादानात्कथं न वर्णान्तरसम्बन्ध इत्याशङ्क्य दृष्टान्तद्वयेनोपपादयति तद्यथेति। अप्रवृत्तप्रवर्त्तकत्वाद्विधेरस्मिन्सति कुर्यादिति कादाचित्क्याः कर्त्तव्यताया विध्यर्थत्वात्कदाचित्केनैव निमित्तेनान्वयादधिकारिविशेषणस्य च तस्मिन्सत्यधिकारान्निमित्ते अन्तर्गते जातेश्च नित्यत्वेनाधिकारिविशेषणत्वायोगात्कथं राजशब्दात् भोक्तृत्वलक्षणाधिकारिविशेषावगतिरित्याशङ्क्य—राजेत्युक्तम्। जातेर्नित्यत्वेनापादनाशक्तेस्तद्वत एवाधिकारात्कर्तृविशेषणभूताया एवार्थादधिकारिविशेषणतापीत्याशयः। यथा राजसूयान्तर्गतेऽवेष्टिप्रयोगे भोक्तृत्वविशेषो भवति तथा बाह्येऽपीत्यत्यन्तसाम्यार्थं दृष्टान्तान्तरम्। अतोऽन्नाद्यकामवाक्येन ब्राह्मणादिप्राप्त्ययोगाद्राजशब्दस्यायौगिकत्वे राजसूयाधिकारेण जातिवाचित्वे वा ब्राह्मणो यजेतेत्यादिवाक्यैर्ब्राह्मणादिप्राप्तिरिति द्वावेव पक्षौ न त्वन्नाद्यकामवाक्यात्प्राप्तिः शङ्कनीयेत्युपसंहरति—तस्मादिति। किं तावदित्यादिपूर्वपक्षप्रतिज्ञाभाष्यं तत्सिद्धयर्थमित्येतदर्थेन ततःशब्देन निमित्तार्थसिद्धयर्थंवर्णत्रयप्राप्तिसिद्धयर्थवर्णत्रयवृत्तित्वसिद्धयर्थता यौगिकत्वस्योक्ता इत्येवं व्याचष्टे—किं तावदिति। सहशब्देन राजशब्दस्यापि वर्णत्रयवृत्तित्वमुक्तं राज्येत्यनेन राज्यं यस्येति भाष्यावयवो यौगिकशब्दस्य कुलालनापितादिशब्दवदवयवव्युत्पत्त्यनपेक्षत्वेऽपि क्रियायोगनिमितत्वप्रदर्शनार्थत्वेन व्याख्यातः। भाष्ये वक्ष्यमाणयुक्तीः सुखग्रहणार्थं संक्षेप्तुमाह—तथा हीति। क्रियायोगनिमित्तत्वे क्रियाकर्तृत्वयोर्द्वयोरपि शक्तिकल्पनापत्तेर्जातिमात्रे शक्तिकल्पनायाः प्रयोगसम्भवे योगनिमित्तत्वायोगान्न ब्रूमो[1] न प्रयुज्यतइत्यादिभाष्येण प्राग्वक्ष्यमाणेऽपि जातियोगलक्षणनिमित्तद्वयसम्भवेऽपि प्रकरणवशाद्यदिशब्दसमभिव्याहाराच्च योगनिमित्ततैवोचितेति युक्तिश्चशब्देन राजसूयशास्त्रस्य त्रैवर्णिकाधिकारोक्त्यर्थत्वेन महाविषयत्वलाभः सूचित इत्येवमथ वेत्यादिभाष्यं वक्ष्यमाणयुक्तेः पश्चादभ्युच्चयमात्रत्वद्योतनार्थं व्याख्यातम्।

१. क्रमोऽन्तः प्रयुजात इ० २ पु० पा०।

उत्तरार्द्धं व्याचष्टे—उभयेति । तावच्छब्देनैवैव तावद्युक्तिरिति वदताभ्युच्चयत्वं सूचितम् । निमित्तेत्यनेन भाष्यं वक्ष्यमाणप्रकरणादियुक्तयन्तरसूचनार्थता एवं चेति चकारस्य व्याख्याता । बार्हस्पत्यादेर्मध्यनिधानपूर्वकाभिधारणस्य राजसूयप्रयोगवचनेन ग्रहणं प्रकृता-वेष्टिप्रयोगप्रत्यभिज्ञानं चादिशब्देनोक्तम् । यौगिकत्वोक्तेः प्रयोजनमाह—तस्मादिति ।

ननु राजशब्दस्य जातिवाचित्वाभावे राजयोगनिमित्तराज्यशब्दार्थानवधारणान्न राजशब्दस्य तत्कारणनिमित्तता युक्तेत्याशयेन किं पुनरिति भाष्येणाशङ्क्य, जनपदे-त्यनेन परस्वहरणे चौर्यशब्दवत् जनपदस्य च सर्वतो रक्षणे चौरादीनां च जनपदपुरेभ्यो निष्कासने राजशब्दस्य रूढितोक्ता । तद्व्याचष्टे—तच्चेति । नामशब्देन रूढित्वं सूचितम् ।

यद्वा राजशब्दस्य पालननिमित्तत्वेऽपि अध्वर्य्वादिशब्दवत् रूढित्वानपायात् पूर्वपक्षेऽपि राज्यशब्दस्य राजयोगनिमित्तत्वोपपत्तेः प्रत्यभिज्ञायमानावयवार्थबाधायोगात्पालनस्य राजकर्मवाचिराज्यनामकत्वात्पालनकारिवाचिता राजशब्दस्यावसीयत इति सूचनार्थो नामशब्दः ।

भाष्यमपि राजशब्दस्य राज्यकरणनिमित्तत्वायोगेऽपि पालनकरणनिमित्तत्वाद्यौगिक-तोपपन्नेत्येवमर्थत्वेन व्याख्येयम् । आर्यावर्त्तेति भाष्यादसार्वत्रिकत्वशङ्कां निवर्त्तयितुम्—सर्वेत्युक्तम् । जनपदपुरोपद्रवे कार्योद्धरणं विना तद्रक्षणासिद्धेस्तदुद्धरणस्य रक्षणोक्त्यैव सिद्धत्वाद्रक्षणप्रतिबन्धकारिविषयतोद्धरणस्य राज्येत्यनेनोक्ता । सर्वलोकप्रसिद्धावार्यावर्त्त-विशेषणानर्थक्यमाशङ्क्यासार्वत्रिकत्वेऽप्यप्रसिद्धितोऽस्याः प्रसिद्धेर्बलीयस्त्वप्रदर्शनार्थतार्या-वर्त्तेत्यनेनोक्ता । पालने राज्यशब्दप्रयोगमात्रेण राजशब्दस्य तत्करणनिमित्तत्वावगतिः कथमित्यपेक्षायां, राज्ञः कर्मेति भाष्येण राजप्रातिपदिकात्कर्मणि प्रत्ययस्मृतिहेतुत्वेन उदमेघप्रातिपदिकाच्चापत्ये प्रत्ययस्मृतिर्दृष्टान्तत्वेनोक्ता । तत्सर्वं विपरीतसाधकत्वेनाक्षि-पति—राज्ञ इति ।

पालनकारिणि राजशब्दस्य रूढ्या प्रवृत्तत्वात् राज्यशब्दानुगमानपेक्षत्वेऽपि विदित-राज्यशब्दार्थानां तद्वशेनापि राजशब्दार्थव्युत्पत्तिः सम्भवतीति जातिनिमित्तत्वानिरासा-योक्तेति परिहरति—उच्यतइति । पालनकरणनिमित्तापेक्षत्वेऽप्यवयवयोगानपेक्षत्वात्स्वा-न्त्योक्तिः । यद्यप्यवयवयोगमनपेक्ष्य साधुपालनासाधुनिग्रहकारी राजशब्दवाच्यत्वेन मनुपाणिन्यादिभिरवधारितः तद्योगाच्च प्रतिज्ञातसाधुपालनासाधुनिग्रहव्यापारेण तदवश्यं कार्यम् । तस्य च कर्म राज्यशब्दवाच्यमित्यवधारितम् । तथाप्यस्माकं जातिवाची, पालन-कारिवाची वा राजशब्द इति सन्देहे राजकर्मवाचित्वेन स्मृतस्य राज्यशब्दस्य पालने प्रयोगात्पालनकारिवाचित्वनिर्णयसिद्धेर्युक्तोऽस्माकं राजशब्दावधारणाधीनराज्यशब्दार्था-वधारणाद्विपर्ययो राज्यशब्दार्थावधारणाधीनराजशब्दार्थावधारणात्मक इत्यर्थः ।

दृष्टान्तपूर्वं श्लोकं व्याचष्टे—यथैवेति । जनपदरक्षणम् । आदिशब्दोक्तं च दुष्ट-निग्रहणं मया कार्यमित्यङ्गीकरणाद्यो लब्धराजव्यपदेशस्तेनावश्यं तत्कर्त्तव्यमिति

मन्वादिभिः तस्य कर्म राज्यमिति पाणिनिप्रभृतिभिः स्मृतमिति विवेकः। छेदनादिसंस्कारैर्बन्धनार्हीकृतं द्रव्यमालम्ब्य यथा यूपो निरूप्यते, तथा राज्यशब्दवाच्यप्रजापालनकरणाङ्गीकरणात् तदधिकृतं द्रव्यमालम्ब्य राजेत्यर्थः। नन्वेवमपि क्षत्रियस्य प्रजापालनं परमो धर्म इति। क्षत्रियस्यैव पालनस्मृतेस्तस्यैव राजशब्दवाच्यत्वाद्राजसूयेऽधिकारः स्यादित्याशङ्क्याह—तच्चेति। शूद्रस्यापि तर्ह्यधिकारः स्यादित्याशङ्क्याह—तत्रत्विति। एतदेवाशङ्कापूर्वमुपपादयति—ननु चेति। यूपादिवद्राजत्वस्यालौकिकत्वे सति विहितोपायोपेक्षा स्यात्, तस्य तु प्रजापालनकारित्वरूपस्य प्रत्यक्षत्वात्, तावन्मात्रस्य च क्रतुनापेक्षितत्वाद्विप्रादेरविहितराज्यकरणप्रत्यवायेऽपि अधिकाराविघात इत्याशयः। राज्यरहितेऽपि क्षत्रिये राजशब्दप्रयोगात्तद्विरुद्धं राज्ययोगनिमित्तत्वानुमानम्।

अयुक्तमित्याशङ्कार्थं नन्वितिभाष्यं व्याचष्टे—नन्विति। अधार्मिके राजनि साधुरक्षणासाधुनिग्रहाभावेऽप्यैश्वर्यमात्रे राजशब्दप्रयोगाद्रक्षणेन चैश्वर्यमुपलक्ष्यतां, तन्निमित्तकरादानवृत्त्युपजीवनेन वेत्यनियमसूचनार्थम्—वृत्तिमित्युक्तम्। ननु रक्षणवृत्त्युपजीविन्यक्षत्रियेऽपि प्रयोगाद्यौगिकावगतेः प्रकर्षसेचनमकुर्वतीष्वप्सु प्रोक्षणीशब्दवद्योग्यत्वमात्रेणानीश्वरे क्षत्रिये प्रयोगसम्भवाज्जातिवाचित्वकल्पना न युक्तेत्याशङ्क्याह—उक्तं हीति। प्रकर्षसेचनयोग्यत्वकारणस्य द्रवत्वस्याप्सु स्वाभाविकस्य भावादुदासीनास्वपि प्रोक्षणीशब्दो युक्तः। जनपदपुरैश्वर्ययोग्यतायां तु हेतुभूताया हस्त्यश्वादिसम्पत्तेर्वीर्यातिशयस्य च क्षत्रियेऽपि क्वचिदभावादितरेष्वपि च केषु चिद्भावात् विहितत्वनिमित्तायां तु क्षत्रियस्यैव योग्यतायां यौगिकत्वपक्षेऽप्यश्वप्रतिग्रहेष्टिनिमित्ताश्वदानवदनिषिद्धसम्भवे निषिद्धाधिकारविशेषणायोगाद्विहितस्यैव राज्ये योग्यस्याधिकारविशेषणत्वापत्तेर्ब्राह्मणादिषु प्राप्त्ययोगाद्योग्यत्वनिमित्तराजशब्दप्रयोगानुपपत्तेर्जातिनिमित्तस्यावश्याभ्युपगमनीयत्वात्।

'एकदेशेऽपि यः शब्दो दृष्टो जातिनिबन्धकः।
तदत्यागान्न तस्यास्ति निमित्तान्तरकल्पना॥'

इति बर्हिराज्याधिकरणवार्त्तिकोक्तन्यायेन राज्यरहिते क्षत्रिये जातिनिमित्तत्वेनाभ्युपगतस्य राजशब्दस्य राज्ययोगिन्यपि क्षत्रिये जात्यत्यागादक्षत्रियेऽपि च क्षत्रियकार्यापत्त्या प्रयोगोपपत्तेरजहत्स्वार्थवृत्तित्वेन जात्यत्यागसम्भवान्नानेकशक्त्यापादकं निमित्तान्तरं कल्पनीयमित्याशयः।

क्षत्रियस्य प्रजापालनं कार्यमित्यजानानामपि शूद्रादीनां ब्राह्मणादिषु राजशब्दप्रयोगात्कार्यापत्तिहेतुत्वानुपपत्तेरश्वकर्णादिवत् क्व चिज्जातिवाचित्वं, क्व चिद्यौगिकतेति अवश्याभ्युपगमनीयत्वाद्राजसूयवाक्यस्थस्य द्विधापि सम्भवात्सन्देहे सति प्रकरणादिभ्यो यौगिकत्वं निश्चीयतइति परिहारार्थे न ब्रूम इत्यादिभाष्यं व्याचष्टे—परः पुनरिति। यदिशब्दसमभिहाराच्चेत्यनेन यौगिकत्वस्य युक्तत्वं दर्शयतीति वदता राजशब्दस्य यौगिकत्वनिश्चयाद्राजसूयान्तर्गतस्योवेष्टिप्रयोगस्य ब्राह्मणादौ निमित्ते बार्हस्पत्यादिमध्येनिधानपूर्वकाभिधारणलक्षणविधानमित्यध्याहारेण भाष्यव्याख्या सूचिता।

राजशब्दस्य यौगिकत्वे ब्राह्मणादेर्गुणस्य प्राप्तत्वेनाविधेयत्वादभेदकत्वोक्त्यर्थं 'न ब्राह्मणस्येति भाष्यं ब्राह्मणादेः कर्तृसंख्यावाच्याख्यातसामानाधिकरण्यात्कर्तृत्वावगतेः कर्त्तुश्च कर्मस्वरूपानङ्गत्वेन तद्भेदवत्त्वायोगाद्युक्तमाशङ्क्य द्वेधा व्याचष्टे—न कर्मान्तरमिति। व्यवहितान्वयहेतुहेतुमल्लिङ्पक्षयोराख्यातद्वयैकवाक्यत्वावगमादेकेन च वाक्येन ब्राह्मणाभिघारणलक्षणानेकगुणविध्यशक्तेरभिघारणस्य च हविःसंस्कारार्थत्वेन कर्मस्वरूपाङ्गत्वात्, कर्त्तुरपि च ब्राह्मणादेः प्रयोगद्वारा कर्माङ्गत्वोपपत्तेर्विधेयत्वेऽनेकगुणोपादानात्कर्मान्तरापत्तेरविधाने तदनापत्त्युक्तिर्युक्तेति द्वितीयव्याख्याशयः।

हेतौ हेतुमति च लिङिति प्रकारद्वयमभिप्रेत्य बहुवचने यौगिकत्वमात्राभ्युपगमेऽपि क्षत्रियस्य प्रायेण वीर्यातिशयात्प्रजापालनविधानाच्चापालयत्यपि क्षत्रियजातीयत्वेन योग्यत्वाद्राजशब्दप्रयोगबाधाद्यौगिकतैव युक्तेति परिहारान्तरार्थं'मथ वेत्या'दिभाष्यमनेकशक्तिकल्पनापत्तेः पूर्वापरितोषणेत्येवं व्याचष्टे—एवं तावदिति। अप्रमाणमेव प्रमाणीकृत्येति च्विप्रत्ययार्थेनापरितोषः सूचितः। अपि चेति भाष्यं यौगिकप्रयोगस्य सार्वलौकिकत्वेन विप्रगीतत्वात्पुनरुक्तमाशङ्क्य प्रामाण्यरूपविशेषसिद्धये प्राक् सार्वलौकिकासार्वलौकिकतोक्ता। इदानीं प्रामाण्यविशेषमभ्युपेत्य विश्वसनीयाविश्वसनीयरूपविशेषसिद्धयै सैवोच्यतइत्येवं तावत्परिहरति—अपि चेति। प्रत्ययो विश्वासोऽस्य सञ्जात इति, तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतजि (पा-५-२-३६)ति सञ्जातार्थस्मृतेरि तच् प्रत्ययान्तेर्न प्रत्ययितशब्देन विश्वसनीयत्वोक्तेः तृतीयया च निमित्तकारणहेतुषु सर्वासां प्रायदर्शनमिति कारयितृरूपप्रयोजनवाचिकारणशब्दोपपदकल्पनया प्रयोजनत्वोक्तेर्विश्वसनीयाविश्वसनीयत्वप्रयोजनतोक्ता। शब्दभेदात्पुनरुपन्यस्तत्वोक्त्यनुपपत्तिमाशङ्क्याह—न हीति।

यद्वा यौगिकप्रसिद्धिर्म्लेच्छदेशेऽप्यस्ति। जातिप्रसिद्धिस्तु नार्यदेशेऽस्तीति प्रागुक्तम्। इदानीं तु म्लेच्छा न यौगिकप्रयोगाप्रामाण्ये विप्रतिपद्यन्ते। आर्यास्तु तस्माद्वत्पराति जानन्तु पितरंराजानमिति क्षत्रिये वत्परातावपि राजशब्दप्रयोगदर्शनाज्जातिप्रयोगप्रामाण्ये विप्रतिपद्यन्ते इति, अन्यथा पौनरुक्त्यं परिहरति—यद्वेति। 'तथेति भाष्यं व्याचष्टे—तथेति।

ननु यौगिकत्वेऽपि क्षत्रियस्य विहितराज्ययोगनिमित्तसम्भवे स्वाच्छन्द्यानुष्ठित (राज्ययोगनिमित्तत्वायोगात् ब्राह्मणाद्यप्राप्तिरित्याशङ्क्य हेतुब्राह्मणादौ राजशब्दप्रयोगस्य क्षत्रियस्य[1]) राज्ययोगनिमित्तत्वानुपपत्तेर्नोत्तिष्ठतीति सूचनार्थम्। तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति। अपि च निःसन्दिग्धं जगत्सामा कर्मान्तरमिति पूर्वाधिकरणपूर्वपक्षभाष्यसूचितं युक्त्यन्तरमाह—अपि चेति। कर्मभेदसूचनायावेष्टिशब्देन ब्राह्मणादिवाक्यमुदाहरणत्वेनोक्त्वा ब्राह्मणादिगुणरूपं क्रतुशब्दवाच्यप्रयोगार्थमुच्चार्येत क्षत्रियस्यैवैकस्य राजसूययज्ञसंयोगादिति पूर्वाधिकरणपूर्वपक्षसूत्रस्थगुणशब्दसिद्धान्तसूत्रस्यैकशब्दयोरनुषङ्गेण

१. अयं पा० ३ पु० ना०।

सूत्रव्याख्याभाष्यं व्याचष्टे—एवमिति। यौगिकत्वाभ्युपगमे कनिन्युविषवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिव । इति दीप्त्यर्थाद्राजेर्धातोरौणादिके कनिन्प्रत्यये कृते ककारेकारनकारलोपान्नकारान्तशब्दव्युत्पत्तेर्धात्वर्थानुसाराद्वरं दीप्तियोगनिमित्तताभ्युपगन्तुं युक्ता । राज्ययोगनिमित्तता तु अवयवार्थानुसाराभावादपूर्वशक्तिकल्पने च सम्बन्धिनावनुक्ता सम्बन्धोक्त्यशक्तेर्विशिष्टोक्तावपि विशेषणविशेष्योक्त्यापत्तेरनेकशक्तिकल्पनापत्तिपरिहारार्थं जातावेव शक्तिकल्पनस्य न्याय्यत्वादनाशङ्क्येति सूचयितुं यौगिकत्वं विकल्प्य निरस्यति—क्षत्रियेति। स्वातन्त्र्येण पालयितृत्वस्य राजशब्दप्रवृत्तिहेतुत्वे कण्डलेश्वरे राजशब्दो न युज्येतेत्याशङ्कापूर्वमाह—ननु चेति । क्षत्रियजातिरहितेऽपि ब्राह्मणादावभिषिक्ते राजशब्दप्रयोगात् बर्हिराज्यादिन्यायात्तुल्यत्वेनाभिषेकाख्यसंस्कारनिमित्तत्वमाशङ्कते—तेन तर्हीति । राजानमभिषेचतेदिति राजशब्देन राजशब्दवाच्यतया प्रसिद्धस्य क्षत्रियस्यैवाभिषेकविधानाद्विधिवेलायामेव राजशब्दसंयोगाद्राजशब्दार्थस्योद्देश्यत्वेन प्राक् प्रसिद्ध्यपेक्षत्वात् म्लेच्छप्रसिद्धेरप्यादरणीयतया जातिवाचित्वावगतेरभिषेकनिमित्तत्वं न सम्भवतीति परिहरति—नैवमिति । राजशब्देनाभिषेकः क्षत्रियस्यैव विधीयते सहैव राजशब्देन । ननु ब्रह्मचर्यादिशब्दात्प्रागेवोपनयनादराजशब्दात्प्राग्येन ब्रह्मचारिशब्दप्रवृत्तौ उपनयनवत् राजशब्दप्रवृत्तावभिषेको निमित्तं स्यादिति कृत्वा सौराजशब्दो नाक्षत्रिये धर्मशास्त्रकाराणामभिमत इत्यर्थः । सत्यप्यभिषेकनिमित्तत्वे वृत्ते तस्मिन्राजशब्दप्रवृत्तेः स्वरूपेण निमित्तत्वायोगात्संस्कारद्वारा निमित्तत्वास्याभ्युपगन्तव्यत्वात्तस्य च विहितक्रियाजन्यत्वादक्षत्रियस्थस्याभिषेकस्य निमित्तत्वाभावोऽपिशब्देन सूचितः ।

श्लोकं व्याचष्टे—तत इति । येनैव कारणेन विधिवेलायामेव राजशब्देनाभिषेकः संयुज्यते, तेनैव कारणेनाभिषेकात्प्राक् प्रयोगेण समुदायव्यभिचारादृतुयजनवरणसमुदायनिमित्तर्त्विक्शब्दवत् जात्यभिषेकसमुदायनिमित्तताप्ययुक्तेति तेनैव चेत्यनेन प्रसङ्गादुक्त्वा, यदि हीत्यादिना प्रत्येकव्यभिचाराभावादपि न समुदायवाचितेति व्यतिरेकमुखेन वक्तुं न तु केवलायां जातावित्येवकारार्थेन जातिव्यभिचारं निरस्य अभिषेकव्यभिचारनिरासार्थम्—जात्यन्तरे वेत्युक्तम् । जात्यन्तरे यद्यभिषेको विधीयते, राजशब्दश्च न प्रयुज्येतेत्यध्याहारेण योज्यम् । यूपादिवैषम्येन चेत्यनेनोक्ते यथा वेदशब्दस्य ऋग्वेदादौ मन्त्रब्राह्मणसमूहो निमित्तं वेदेन वेदिं समार्ष्टीत्यादौ च क्रतुत्वाद्याकारदर्भमुष्टिबन्धनसंस्कारः तथा राजशब्दस्य क्वचिज्जातिः, क्वचित्संस्कारो निमित्तं भविष्यतीति आशङ्क्य—चैकस्मिन्नित्युक्तम् । अभिषेकनिमित्तत्वे अपि चेत्यादिनापिशब्दसूचितोऽर्थो व्याख्यातः । शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वसिद्ध्यर्थं च नित्यस्यैव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तस्यापेक्षणादभिषेकस्य च वस्तुतो नित्यत्वाभावेन विधिविहितत्वरूपेणैव नित्यत्वस्याभ्युपगन्तव्यत्वादक्षत्रियस्याविहितत्वरूपेणैव नित्यत्वस्याभ्युपगन्तव्यत्वादक्षत्रियस्याविहितत्वान्निमित्तत्वं न सम्भवतीत्याह—अपि चेति । श्लोकं व्याचष्टे—नित्यस्य हीति । एवं चाभिषेकस्यापि निमित्तत्वे विहितस्यैव निमित्तत्वात् क्षत्रियजातावेव च विहितत्वाज्जात्यव्यभिचारोपपत्तेर्जातिस्थत्वोपलक्षितस्याभिषेकस्यैव

निमित्तोपलक्षणमापद्यतइत्युक्ते, अस्तु तर्हि क्षत्रियस्थत्वोपलक्षितस्याभिषेकस्यैव निमित्ततेत्याशङ्कय—ततश्चेत्युक्तम् । साक्षान्निमित्तत्वसम्भवे निमित्तत्वोपलक्षणत्वस्यान्याय्यत्वादित्याशयः ।

राज्ययोगनिमित्तत्वे अप्येतं न्यायमतिदिशति—एतेनेति । नन्वभिषेकस्यादृष्टार्थत्वेन विधिविषयत्वात्तेन रूपेण नित्यस्य क्षत्रियस्थस्य निमित्तत्वसम्भवे वर्णान्तरेण स्वच्छन्दकृतस्यानित्यस्य निमित्तत्वायोगान्नित्यस्य च जात्यव्यभिचाराज्जातेर्निमित्तत्वे सम्भवत्यन्यनिमित्तत्वं न युक्तम् । राज्ये त्वैश्वर्यात्मके लिप्सयैव प्रवृत्तेर्विधिविषयत्वाभावान्नित्यत्वानुपपत्तेरदित्यस्यैवागत्या चोरशब्दप्रवृत्तौ स्तेयस्येव राजशब्दप्रवृत्तौ राज्यस्य निमित्तत्वं भविष्यतीत्याशङ्कयाह—तदपीति । ऐश्वर्ये लिप्सातः प्रवृत्तिसम्भवे अपि पालने विधिं विना प्रवृत्त्ययोगात् ।

'चाटतस्करदुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः ।
पीड्यमानाः प्रजा रक्षेत् कायस्थैश्च विशेषतः ।।

इत्यादिविधिदर्शनाद्राज्यस्यापि विधिविषयतास्तीत्याशयः । विधानाधीनत्वलक्षणार्थः प्रभृतिशब्दः । अन्वयव्यतिरेकाभ्यामपि जातिवाचितैवावसीयतइत्याह—दृष्टश्चेति । अभिषिक्तेऽन्यजातीयेऽपि प्रयोगमित्यान्ध्रद्रविडादिभिरभ्युपगतत्वेनोक्तत्वादयुक्ता विषयानभिधानोक्तिः । एतदेवोपसंहरति—तस्मादिति ।

जातिवाचिनश्च राजन्यशब्दस्य राज्ञो अपत्यमिति राजशब्दप्रकृतिकत्वान्यथानुपपत्त्या राजशब्दस्य जातिवाचिताऽवसीयतइत्याह—तथा चेति । अन्यथानुपपत्तिं प्रश्नपूर्वमुपपादयति—कुत इति । सर्वएव वर्णाश्चेद्राजानस्ततो अपत्यापत्यवद्योगे राजन्यशब्दो अन्वाख्यायते, क्षत्रियएव नियतइतीदृशं वैषम्यं कथं परिह्रियेतेत्यध्याहारेण योज्यम् ।

ननु राजशब्दस्य जातिवाचित्वं क्षत्रियापत्यत्वं विना क्षत्रियजातीयत्वायोगाद्राजप्रातिपदिकमात्रेण क्षत्रियापत्यत्वसिद्धेरपत्यवाची यत्प्रत्ययो अनर्थकः स्यात् । यौगिकत्वे तु क्षत्रियोऽयं राज्यकारिणो अपत्यमित्यस्यार्थस्य प्रातिपदिकमात्रेणासिद्धेरर्थवानिति राजशब्दप्रकृतित्वान्वाख्यानस्य विपरीतसाधनत्वमाशङ्कते—नन्विति । प्रकृतौ पितर्यपत्ये चैकजातीयत्वेन जातिशब्दस्य तुल्यत्वाद्राजापत्यमिति राजशब्देनाभिधीयताम् । न राजन्यशब्देनेत्यर्थः । दृष्टान्तपूर्वं श्लोकं व्याचष्टे—यथैवेति । अन्वाख्यानप्रकारमात्रमिदम् ननु राजन्यप्रातिपदिके परमार्थतः प्रकृतिप्रत्ययविभागो अपत्यवाचितावास्तीति परिहरति—नैष इति ।

ननु परमार्थतो राजशब्दस्य राजन्यशब्दप्रकृतित्वाभावे कथं जातिवाचित्वकल्पनेत्याशङ्कयाह—स त्विति । क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रिय इति जातिवाचिक्षत्रियशब्दस्य जातिवाचित्वकल्पना युक्तेत्याशयः । ननु राजश्वसुराद्यदिति राजन्यशब्दान्वाख्यानसूत्रे कात्यायनेन राज्यकार्यपत्यमात्रे प्रसक्तस्य राजन्यशब्दस्य परिसंख्यानेन जातिविषयत्वनियमोक्तेः, क्षत्रियगतराजापत्यत्ववाचित्वावसायाज्जातिवाचित्वाभावेऽपि पङ्कजादिशब्दवज्जातौ रूढि-

त्वोपपत्तेर्न तदन्यथानुपपत्त्या राजशब्दजातिवाचित्वकल्पना युक्तेत्याशयेन शङ्कते—ननु चेति। जातिग्रहणमित्यत्र क्षत्रियत्वविशेषानुपादानादधिकारतो मनुष्यजातिमात्रावगमाद्राजन्यशब्दस्य मनुष्यमात्रगतराजापत्यत्ववाचित्वापत्तेस्तस्य च जातिविशेषणं विनापि सिद्धेर्जातिग्रहणवार्त्तिकानर्थक्यापत्तिरित्याशयेन परिहरति—नैतदिति। कथं मनुष्यजातिमात्रस्याधिकार इत्यपेक्षायां त्वत्पक्षे राजशब्दस्य राज्यकारिमनुष्यवाचित्वादिति राजशब्ददृष्टान्तेन सूचितं स्याच्छब्देन। ततश्च जातिग्रहणवार्त्तिकानर्थक्यं स्यादित्यध्याहारः सूचितः।

ननु राजा सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जमित्यादाविज्याध्ययनं दानमित्यादौ च राजन्यशब्दाभ्यां स्मृतिकारैर्यो राजाविजिती स्यादप्येतत् यजमान आख्यापयते वैतच्छौनशेपमाख्यानमित्यादौ, राजन्योऽमावास्यां पौर्णमास्यां चाग्निहोत्रं जुहुयादित्यादौ च कल्पसूत्रकारैः कर्मभेदोपदेशान्न तयोः पर्यायत्वं सम्भवतीत्याशङ्कते—ननु चेति। ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेदित्यादौ जातिवाचिनोऽपि ब्राह्मणशब्दस्य परिव्राजकब्राह्मणविशेषगामित्वात्र 'ब्रूयात् ब्राह्मणश्चैषामि'त्याद्याश्रमान्तरस्थब्राह्मणविहितप्रवचनादिकर्मणः कर्मान्तरोपदेशो यथा न विरुध्यते, तथा राजशब्दस्यापि राजन्यविशेषगामित्वात्कर्मभेदोपदेशेन राजराजन्यशब्दयोर्भेदप्रसिद्धिरविरुद्धेति हरिहरति—सत्यमिति। कथं[1] सामान्यशब्दत्वे विशेषगामितेत्याशङ्क्य—सामर्थ्येत्युक्तम्। राजन्यानां शुद्धमुपदिश्यैव राजा न हन्यादिति निषेधस्य राजा सर्वस्येष्टइति ब्राह्मणव्यतिरिक्तवर्णत्रयेश्वरत्वोक्तेश्च राजशब्दस्य विशेषगामित्वं विना योगात्को विशेष इत्यपेक्षायामभिषेकविध्युत्तरकालं राज्ञः प्रजापालनादिविधानाद्राजेत्येतानभिषिक्तानाचक्षतइत्यादिलिङ्गाच्चाभिषिक्तत्वरूपविशेषप्रतीतेर्न्राह्मणो राजन्यो वैश्यो दीक्षिष्यमाणः क्षत्रियं देवयजनं यातीति क्षत्रियशब्दस्येवान्यथानुपपत्तिलक्षणसामर्थ्यलभ्या राजशब्दस्याभिषिक्तक्षत्रियविशेषगामितेत्याशयः।

ननूभयाभिधानइति पूर्वपक्षानुभाषणभाष्यं व्याचष्टे—यत्त्विति। अत्रेति परिहारप्रतिज्ञाभाष्यं व्याचष्टे—तदिति। कुत इत्यादि प्रश्नपूर्वमुपपत्तिभाष्यं राजशब्दस्य जातौ राज्यकारिणि च प्रयोगादुभयार्थत्वावगतेः सन्देहे सति प्रकरणानुग्रहादिलक्षणात्सामर्थ्याद्राज्यकारिवाचित्वं निर्णीयतइत्यनुभाषितार्थानिरासादयुक्तमाशङ्क्य राज्यशब्दस्य यौगिकत्वे राजयोगाद्राज्यशब्दो राज्ययोगाच्च राजशब्द इतीतरेतराश्रयप्रसङ्गात् राजशब्दस्य यौगिकत्वमिच्छता राज्यशब्दस्य रूढिताभ्युपगन्तव्येत्यापाद्य राजशब्दस्य यौगिकत्वनिरासार्थं राज्यशब्दस्य रूढित्वनिरास इति तथाहिशब्देन सूचयन्व्याचष्टे—तथा हीति। न ब्रूमो न प्रयुञ्जतइति जातिविषयान्ध्रप्रयोगाभ्युपगमात्कर्मविशेषनिमित्तत्वाद्राज्यशब्दस्येति च राज्यशब्दस्य पालने रूढित्वोक्तिप्रतीतेरुभौ शब्दौ योगानपेक्षौ पूर्वपक्षिणोऽभिमताविति प्रतिभाति। तच्चैकस्यैव शक्तिकल्पनया यौगिकत्वेनेतरप्रयोगसिद्धे-

---

१. का सामान्यशब्दत्व दू० २ पु० पा०।

रुभयोः शक्तिकल्पनायामर्थापत्त्यनुत्पादादयुक्तमित्याशयः। व्याख्यातेऽर्थे भाष्यं योजयति—तदिति। कथं तर्हि भाष्ये आन्ध्रोक्तिरित्याशङ्क्योपलक्षणार्थत्वं वक्तुमाह—दाक्षिणात्येति। तस्मादित्युपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति। ननु राजशब्दस्य साधुपालनासाधुनिग्रहकारिवाचित्वेऽपि राज्यशब्दादव्युत्पत्तेस्तस्य यौगिकत्वेऽपीतरेतराश्रयाप्रसङ्गाद्राजशब्दस्यावयवव्युत्पत्त्यनपेक्षत्वेऽपि कर्मविशेषयोगनिमित्तत्वात्कुलालनापितादिशब्दवद्यौगिकत्वं राज्यशब्दस्य त्ववयवव्युत्पत्त्यपेक्षत्वादेवेत्युभयोरपि यौगिकतोपपत्स्यतइत्याशङ्क्याह—नापीति। कुलालादिशब्दानां जातिवाचित्वायोगादगत्यानेकशक्तिकल्पनापादिका कर्मविशेषकारिवाचिता युक्ता। राजशब्दस्य तु द्रविडादिप्रयोगाज्जातिवाचित्वावगतेरन्यजातीये च कार्यापत्त्या प्रयोगोपपत्तेः साधुत्वासाधुत्वरूपगुणपालननिग्रहरूपक्रियाविशेषकर्तृत्वात्मकानेकार्थशक्तिकल्पनापादककर्मविशेषकारिवाचित्वाभ्युपगमायोगाद्यौगिकत्वाभ्युपगने राज्यशब्दवाच्यत्वरूपेण साधुपालनादेरेकरूपत्वमभ्युपेत्य तत्कर्तृत्ववाचितायाः कल्पनापत्तेरितरेतराश्रयस्यापरिहार्यत्वान्नोभयोर्यौगिकता युक्तेत्याशयः। कोऽन्वित्यादि प्रश्नपूर्वस्य भाष्यस्य तात्पर्यमाह—अन्यतरेति। एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—कुत इति। सम्वादापरपर्यायसङ्गतिवाचिसम्बन्धशब्दयोगिना नञा तद्विरुद्धोक्तेर्विरोधनिमित्तसन्देहे सति सन्निबन्धनत्वेन बलीयस्त्वात्स्मृत्यानिर्णयो वाच्यतइत्यर्थः। कथं स्मृत्या निर्णय इत्यपेक्षायामाह—राज्येति। राजशब्दस्य ब्राह्मणादिषु पाठात् ष्यञ्प्रत्ययः पुरोहितादिषु पाठाद्यक्प्रत्ययो भवतीत्यनियमसूचनार्थम्—सामान्यतः प्रत्ययविधेरित्युक्तम्। ष्यञ्प्रत्यय इति भाष्याद्यक्प्रत्ययव्यावृत्तिशङ्कां निवर्त्तयितुमाह—तत्रेति। प्रत्ययद्वयाभ्युपगमं विनोभयत्र पाठस्यानर्थक्यापत्तेर्लौकिकस्य च राज्यशब्दस्य स्वरनियमानुपलब्धेः, ततो निर्णेतुमशक्यत्वाद्यकापीत्यपिशब्दोऽध्याहार्यः। यदा राजस्यैव तेऽभिषिच्यन्ते 'राजेत्येतानभिषिक्तानाचक्षतइ'त्यादिलिङ्गाद्राज्ययोगनिमित्तत्वं राजशब्दस्याशङ्क्यते, तदा तस्मिन् राज्यशब्दे प्रत्ययस्थस्याकारस्योदात्तस्वरत्वोपलम्भात् यक्प्रत्ययान्ततैव निश्चीयतइत्याह—तथा चेति। कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्त इतिसूत्रादन्त उदात्त इत्यनुवर्त्तमाने तद्धितस्येति वानुवर्त्तमाने कित इत्यनेन यकाराकारस्याद्यन्तवदेकस्मिन्नित्यन्तवद्भावेनोदात्तत्वविधानाद्यगन्तत्वे प्रत्ययोदात्तस्वरत्वं युक्तम्। ष्यञन्तत्वे तु ञ्नित्यादिर्नित्यमित्यनेनाद्युदात्तविधानात्प्रकृतिस्थरेफाकारोदात्तत्वं स्यादित्यर्थः। अतो न यक्प्रत्ययव्यावृत्त्यर्था ष्यञ्प्रत्ययविध्युपपत्तिरित्याह—तस्मादिति।

नन्वितिभाष्यमवयवव्युत्पत्त्यनपेक्षस्य राजशब्दस्य पालनकर्तृवाचित्वे प्रत्ययलोपादिस्मरणानापत्तेरयुक्तमाशङ्क्यावयवव्युत्पत्त्यपेक्षत्वापादनाशयेन व्याचष्टे—राज्यशब्दाद्धीति। तस्मादित्युपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति। द्रविडदेशे राजशब्दार्थस्य क्षत्रियस्वरूपेण विज्ञातत्वादीदमेघिन्यायानुपपत्तेर्न राजकर्मवाचिराज्यशब्दान्यथानुपपत्तिलक्षणयार्थापत्त्या राज्यस्य कर्त्ता राजेति वचनव्यक्तिः कल्पनीयेत्यर्थः।

नित्याः शब्दार्थसम्बन्धा यथावस्थितगामिनः।

इत्यनेन च न्यायेन नित्यानित्यसंयोगविरोधपरिहारार्थं राज्यशब्दस्य राजविहितकर्मवाचि-

तयाभ्युपगन्तव्यत्वाद्राज्यस्य कर्त्ता राजेत्यर्थापत्तिगम्यायां वचनव्यक्तौ कल्पितायामपि क्षत्रिय एव राजा विज्ञायत इति, राजशब्दस्य यौगिकत्वकल्पनानर्थक्यं स्यादित्याशयेनाभ्युपेत्य वादेन दूषणमाह—कल्पितायामपि चेति। राजशब्दे च राज्यशब्दरूपावयवाप्रत्यभिज्ञानान्न राज्यशब्दाद्राजशब्दव्युत्पत्तिः सम्भवतीत्याह—सकलश्चेति। राज्यशब्देऽपि तर्हि राजशब्दस्य नकारान्तस्य सकलस्याभावाद्राज्यशब्दस्यापि राजशब्दात् व्युत्पत्तिर्न स्यादिदित्याशङ्क्य, व्याकरणप्रक्रियया नकारान्तत्वेऽप्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां नकारान्तस्यात्यर्थाभिधानशक्त्यविघातावसायाद्व्याकरणेऽपि च 'एकदेशविकृतमनन्यवद्भवती'ति वचनात्सकलाविरोधसूचनार्थम्—सकलश्चेत्युक्तम्। राज्यशब्दस्य यौगिकत्वेपि राजशब्दस्याक्षत्रियेऽपि पालयितरि प्रयोगादव्युत्पन्नस्यैव पालयितृवाचित्वं कल्पयिष्यन्त इत्याशङ्कार्थे नन्वितिभाष्यं तात्पर्यतो व्याचष्टे—सत्यमिति। नन्वद्वयप्रयोगेणार्यावर्त्तनिवासिप्रयोगविरोधपरिहारं विना न म्लेच्छप्रयोगाज्जातिवाचिताऽवसातुं शक्येति सूचितम्।

न केवलं राजशब्दस्य यौगिकत्वाभावे लौकिकप्रयोगविरोधः। किं तु मन्वादिप्रयोगविरोधोऽपीति दर्शयितुम्—तथेत्युक्तम्। राज्यशब्देन राज्ञः कर्मणीत्युक्ते शूद्रस्य राज्ञ इति सामानाधिकरण्यप्रत्ययाच्छूद्रे राजप्रयोगोऽवसीयतइत्याशयः। पालयितृत्वनिमित्तत्वं राजशब्दस्य ब्राह्मणादिषु प्रयोगस्य वैधपालयितृत्वनिमित्तत्वायोगात्स्वच्छन्दककृते च पालयितृत्वे सर्वेषां योग्यताविशेषाद्योग्यत्वमात्रेणाऽपालयितरि क्षत्रिये प्रयोगानुपपत्तेर्जातिवाचित्वस्यावश्यकल्पनीयत्वादक्षत्रिये च गौणत्वेनापि प्रयोगोपपत्तेरनेकशक्तिकल्पनापादकपालयितृत्ववाचित्वकल्पनानुपपत्तेर्न जातिवाचित्वेऽपि शास्त्रस्थप्रयोगविरोधापत्तिरिति परिहारार्थमुच्यते इत्यादिभाष्यमवतारणपूर्वं व्याचष्टे—अत आहेति। शङ्कापूर्वं गौणत्वाशयं प्रकटयति—नन्विति। अग्न्यादिकार्यापत्तेः सूर्यादावूहस्य वक्ष्यमाणत्वान्न कार्यापत्तिमात्रेण गौण्या वृत्त्या मुख्यशब्दप्रयोगोपपत्तिरित्याशङ्क्य—प्रतिनिधीत्युक्तम्। राजकार्यापत्तेः पत्तिगणादौ राजशब्दप्रयोगवत् ब्राह्मणादावपि प्रयोगस्य दृष्टत्वाद् गौणतैवौचिता। नातिदेशकल्प्याग्न्यादिशब्दप्रयोगपल्लव इत्यर्थः। अयुक्तः पत्तिगणको वा प्रतिनिधिशब्देनोक्तः। मुख्यत्वानभ्युपगमे भाष्यसम्मतिमाह—तथा चेति।

नन्वदृष्टापि स्मृतिः प्रयोगदार्ढ्यात्कल्प्यतइत्येवमपि भाष्यार्थोपपत्तेर्न स्मृत्यभावोक्तिमात्रेण गौणत्वसम्मतिः कल्प्येत्याशङ्क्याह—तच्चेति। प्रयोगस्याचारत्वेन राज्ञः प्रजापालनं कर्मेति प्राक् सिद्धे राजानुवादेन तत्कार्यतया पालनस्य स्मृत्या पालयितृत्वानपेक्षराजशब्दार्थावधारणात् बाधेन गौणत्वावगतेर्गौणत्वाशयेन भाष्यं व्याख्येयमित्यर्थः। पाणिनिस्मृत्या राजकर्मवाचितयोक्तस्य राज्यशब्दलोके पालने प्रयोगात्पालयितुरौदमेघिन्यायेन राज्यशब्दप्रकृतिभूतराजशब्दवाच्यत्वानुमानरयानुभाषणार्थं 'यत्त्विति भाष्यं व्याचष्टे—यत्त्विति। अनुमानादित्यादिपरिहारभाष्यं व्याचष्टे—तदिति। तथेत्यादिबलीयसीत्यन्तं भाष्यम्। आन्ध्रप्रयोगाज्जातिवाचित्वावगतेरनेकशक्तिकल्पनापादकावयवव्युत्पत्त्यनपेक्षपालयितृवाचित्वशक्त्ययोगेऽपि राज्यस्य कर्त्तेत्यवयवयोगेन समुदायशक्त्यनपेक्षस्यैव

राजशब्दस्य राज्यकर्तृवाचित्वं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासार्थत्वेन व्याचष्टे—**अथेति**। राज्यमस्य कर्मेत्येवमवयवव्युत्पत्त्या ब्राह्मणादि राजशब्देऽभिधीयते, न रूढ्याध्वर्युकुलालादिशब्दवदित्याशङ्कार्थः। ब्राह्मणादौ राजशब्दप्रवृत्तेर्निमित्तभूतो यः कर्मकर्त्रोरवयवार्थयोः सम्बन्धः, स राजशब्दे प्रत्यभिज्ञानासम्भवादनुमातव्य इति विपरिणतानुमातव्यपदान्वयेन तथेति भाष्यावयवो राज्यस्य कर्त्तेत्यवयवव्युत्पत्त्यपेक्षत्वे सत्यवयवयोगोऽप्रतीयमानः कल्प्यः स्यादित्येवं व्याख्यातः। तस्य चेत्यनेनानुमिमानश्चेत्यवयवः प्रत्ययलोपप्रातिपदिकं प्रत्यन्यतमस्मृतिं विनाऽवयवयोगानुमानायोगात् योगमनुमिता स्मृतिरनुमातव्येत्येवं व्याख्यातः। राज्ञस्तु स्मरन्तस्त्वित्यवयवौ राज्ञ इत्यनेन व्याख्यातौ, तेनेत्यवयवस्तस्मादित्यनेन व्याख्यातः। वाच्यवाचकसम्बन्धस्य वृद्धप्रयोगगम्यत्वेन साध्वसाधुविभागव्यापृतव्याकरणस्मृत्यविषयत्वात्स्मृतिबलीयस्त्वायोगाशङ्कार्थमाहेति भाष्यं व्याचष्टे—**पर इति**। अत्र ब्रूम इति भाष्यं स्मृतेर्वाच्यावाच्यविवेकपरत्वाभावाद्राज्यकारिणि च राजशब्दप्रयोगव्यभिचारादयुक्तमाशङ्क्य वाच्यविशेषत्वात्साधुत्वस्य तन्निरपेक्षसाधुविवेकासिद्धेर्वाच्यविवेकस्यापि स्मृतितोऽर्थादवगमाद् बलीयस्त्वोक्तिर्युक्तेत्याशयेन व्याचष्टे—**तत्रेति**। कथं राजशब्दस्य राज्ययोगनिमित्तत्वं राज्ञः कर्म राज्यमिति स्मृत्या बाध्यतइत्याशङ्क्य—**राज इत्युक्तम्**। अपि चेति भाष्यं व्याचष्टे—**प्रयोगोऽपि चेति**। नन्विति भाष्येण राज्यशब्दस्य राजयोगनिमित्तत्वव्यभिचारमनुभाष्य प्रयोगव्यभिचारेऽपि स्मृत्या राजयोगनिमित्ततावसीयत इति परिहारार्थं यदीति भाष्यं व्याचष्टे—**अस्मत्पक्षे त्विति**। राज्ञ एव कर्मेत्यसाधारण्येन चिन्तितादे राज्ञा विशेष्टुमशक्यत्वात्प्रयोगोऽपि न व्यभिचरतीति परिहारान्तरार्थं तेनेति भाष्यम् अश्वमेधादावसाधारण्येऽपि राज्यशब्दप्रयोगादयुक्तमाशङ्क्य किं च शब्देनाभ्युच्चयार्थत्वं सूचयन् व्याचष्टे—**किं चेति**। श्लोकं व्याचष्टे—**जनपदेति**। यत्त्विति भाष्येणाथ वेति पूर्वपक्षभाष्योक्तं सार्वलौकिकराजशब्दप्रयोगेणासार्वलौकिकजातिप्रयोगबाधमनुभाष्यते न तत्र स्मृतिर्बलीयसीति पाणिनिस्मृत्या सार्वलौकिकप्रयोगबाधोक्त्या—**परिहृतमित्युक्तम्**। तद्व्याचष्टे—**तेनेति**। सार्वलौकिकमपि प्रयोगैः बाधित्वेति ल्यप्लोपे पञ्चमी। यदुक्तमिति भाष्येण तथेति पूर्वपक्षभाष्योक्तं म्लेच्छाचाराप्रामाण्यमनुभाष्याचारेषु मध्ये शब्दप्रयोगरूपस्याचारस्यार्यम्लेच्छयोस्तुल्यत्वोक्त्या परिहृतम्, तद्व्याचष्टे—**तुल्यश्चेति**। तस्मादित्यधिकरणार्थोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**। नन्वधिकरणोपक्रमेऽन्नाद्यकामवाक्योक्तस्यापि फलस्य राजसूयमध्यस्थावेष्टिप्रयोगविषयत्वोक्त्यभिधानात्तु बहिःप्रयोगस्य फलान्तरकल्पनायामदृष्टकल्पनागौरवापत्तेः प्रकरणाद्वा राजसूयाङ्गत्वकल्पने राजशब्दादक्षत्रियस्य राजसूयाप्राप्तावप्यङ्गप्रधानयोरेककर्तृत्वनियमाद् राजसूयस्य ब्राह्मणादिकर्तृकत्वं विना तदङ्गभूतावेष्टिप्रयोगस्य ब्राह्मणादिकर्तृकत्वानुपपत्तेर्ब्राह्मणादिविशिष्टावेष्टिप्रयोगान्तरविध्यन्यथानुपपत्त्या ब्राह्मणादेरपि राजसूयप्राप्तेर्यज्ञसंयोगात् क्षत्रियस्येति भाष्यावयवव्याख्यानार्थः। क्षत्रियस्यैव राजसूयोऽस्तीति वार्त्तिकावयवो न युक्त इत्याशङ्क्य, ब्राह्मणादिवाक्यैः प्रयोगान्तरविधावन्नाद्यकामवाक्योक्तस्य फलस्य बहिःप्रयोगविषयतैव युक्तेत्याह—**ततश्चेति**। एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कुत इति**।

नन्वेतयेति सर्वनामश्रुत्या साक्षाद्विशेषरूपेण चावेष्टौ प्रवृत्तेः क्रतुमध्यस्थस्याप्यवेष्टि-प्रयोगस्य दुर्बलशास्त्रावगतस्वाराज्यफलत्वबाधेनान्नाद्यफलत्वावगमान्नान्नाद्यकामश्रुतेर्बहिःप्रयोग-विषयता युक्तेत्याशङ्कते—ननु चेति। सत्यपि बलाबलविशेषे प्रयोगभेदेन स्वाराज्यान्नाद्ययोः समुच्चयसम्भवे बाधो न युक्त इति परिहरति—नैतदिति। एतदेव विवृणोति—तथा हीति। यत्र विरोधित्वं तत्र बाधानभ्युपगमे व्रीह्यादौ गुणभूते विकल्पः, प्रधानभूते सर्वेभ्यो ज्योतिष्टोम इत्यादौ प्रयोगावृत्तिकल्पना, येन कारणेन प्रसज्यते। तेन कारणेन तत्परिहा-रार्थं बाधोऽभ्युपेयते स्वाराज्यान्नाद्ययोस्तु भिन्नप्रयोगविषयत्वाद्द्वयस्योपपत्तेर्विरोधाभावाद् बलाबलत्वविशेषे सत्यपि बाधो नास्तीत्यर्थः।

श्लोकं व्याचष्टे—न हीति। ब्राह्मणादिसम्बन्धात्प्रयोगभेदावगतेरवश्यं भाविन्यावृत्ति-रित्युक्ते। नन्वविरोधे सत्यबाधितया राजसूयचोदनयावेष्टिग्रहणात्। क्षत्रियकर्तृकत्वावगमे सति तद्विरुद्धब्राह्मणादिकर्तृसम्बन्धात्प्रयोगभेदः। प्रयोगभेदे च सत्यविरोध इतीतरे-तराश्रयं स्यादित्याशङ्क्य—राजसूयेत्युक्तम्। ब्राह्मणादिवाक्येष्वेतच्छब्दाभावेन तदपेक्षया राजसूयचोदनाया दौर्बल्याभावात्तदुक्तक्षत्रियकर्तृकता न बाधितुं शक्येत्याशयः। सम्प्र-त्यन्नाद्यकामवाक्यादपि राजसूयाद्वाक्यस्य दौर्बल्यं नास्तीत्याह—यदि चेति। अगृह्य-माणविशेषत्वमेवोपपादयति—यथैव हीति। या तु सामान्यप्रवृत्तत्वाद्राजसूयश्रुतेर्दुर्बलतोक्ता, सा नास्तीत्याह—न चेति। साधारणशब्दताप्येतच्छब्दस्याप्यवेष्टिशब्दवाच्यानेकाग्नेयादि-यागसाधारण्यात्तुल्येत्यर्थान्तरन्यासेनाह—इयांस्त्विति।

नन्वेतच्छ्रुतेर्विशेषवाचित्वनिबन्धनबलीयस्त्वाभावेऽपि प्रत्यक्षशब्दोक्तसाक्षात्प्रकृता-वेष्टिवाचित्वाद् बलीयस्त्वोपपत्तेर्बलाबलविशेषो भविष्यतीत्याशङ्कते—नन्विति। प्रकृत-यज्यालोचनानपेक्षालक्षणः साक्षाद्भावः प्रत्यक्षशब्देन विवक्षितः। फलान्वये वैतच्छब्दस्य प्रस्तूयमानवाचित्वे वा प्रकृतयाज्यालोचनानपेक्षा स्यान्नन्वेतदुभयमप्यस्तीति परिहरति—स्यादिति। फलानन्वयोपपादनार्थम्—प्रत्ययेत्युक्तम्। यजिशब्दगृहीतावेष्टिरेतावच्छब्दे-नोक्ता। नन्वेतच्छब्दस्य फलान्वये प्रस्तूयमानवाचित्वे वा सत्यपि सर्वनामत्वेन साक्षा-त्प्रकृतवाचितया प्रकृतप्रत्यभिज्ञानपेक्षप्रकृतालम्बनत्वाद्राजसूययजितो बलीयस्त्वं भविष्यती-त्याशङ्क्याह—प्रकृतमपि चेति। सर्वनाम्नोऽपि सन्निहितालम्बनत्वात्प्रत्यभिज्ञां च विना सन्निध्ययोगात्प्रकृतवाक्यालोचनाधीनप्रत्यभिज्ञापेक्षा तुल्येत्याशयः।

ननु महाप्रकरणादवान्तरप्रकरणबलीयस्त्वस्याभिक्रमणाधिकरणे वक्ष्यमाणत्वादन्नाद्य-कामवाक्यस्थस्य यजेरवान्तराधिकारलक्षणेनावान्तरप्रकरणेन प्रकृतग्राहित्वात् बलीयस्त्वं भविष्यतीत्याशङ्कते—नन्विति। कथम्भावात्मकस्य प्रकरणस्य वाक्यैकवाक्यत्वकल्पनेन तादर्थ्यावबोधकत्वादवान्तरप्रकरणे च सन्देहेन शीघ्रमेकवाक्यत्वावगमात् महाप्रकरणे तु सन्देहाभावाच्छीघ्रमेकवाक्यत्वावगतेः सन्निकर्षविप्रकर्षाभ्यां बलाबलविशेषो युक्तः। अधि-कारात्मकस्य तु प्रकरणस्य प्रकृतत्वमात्रापेक्षित्वात् बहूनामल्पानां च प्रकृतत्वाविशेषा-त्तुल्यकालं ग्रहणावगतेर्नावान्तरमहाधिकारयोर्बलाबलविशेषोऽस्तीत्याशयेन परिहरति—उच्यतइति।

स्वमतेन ब्राह्मणादिवाक्यानां कर्मान्तराविधायित्वेऽपि प्रयोगान्तरविधायित्वात्स्वाराज्यान्नाद्ययोर्भिन्नप्रयोगविषयत्वेनाप्यविरोधमुक्त्वा प्रौढ्या कर्मान्तरविधायित्वाभ्युपगमेनाविरोधमाह—**यदि चेति**। कर्मान्तरत्वे बार्हस्पत्यादिलिङ्गात्प्रकृतावेष्टिप्रकृतिकत्वेऽपि सकृद्वृत्त्यैकयागप्रतीतेर्यागान्तराणामनङ्गत्वेनातिदेशतोऽप्यप्राप्तेर्मध्यनिधानविध्यन्यथानुपपत्त्या- चाभितोऽभिधेयद्रव्यान्तरकल्पनेऽतिक्लेशापत्तेस्तद्विशेषानवधारणाच्चानवस्थितशास्त्रार्थापत्तेः प्रौढिमात्रार्थत्वसूचनार्थोऽपि शब्दः।

ननु कर्मान्तरत्वे द्रव्यदेवतादीतिकर्त्तव्यतानवगतेः सकृद् वृत्त्या च यागैक्यावगमान्मध्यनिधानानुपपत्तेस्तद्विशिष्टानुष्ठानासिद्धिरित्याशङ्क्याह—**कर्मान्तरत्वे चेति**। अतिदेशेनावेष्टीष्वितिकर्त्तव्यतालाभान्मध्यनिधानान्यथानुपपत्त्या च कल्पितेषु द्रव्यान्तरेषु तुल्यत्वाद्यागीयत्वप्रतीतेः कल्पानां च यागान्तराणामितिकर्त्तव्यतापेक्षायां श्रुतयागप्रकृतित्वेनावगताया अवष्टेरेव बुद्धिस्थत्वात्, तेषामपि तत्प्रकृतिकत्वावगतेस्तदीयेतिकर्त्तव्यतालाभादभितो निधेयद्रव्यविशेषप्रतीतेर्निर्द्धारितशास्त्रार्थानुष्ठानसिद्धिरित्याशयः।

नन्वेवमपि राजन्यवाक्यस्य निमित्तार्थत्वोपपत्तेर्न्नाह्मणादीनां प्रापकाणीति बहुवचनमयुक्तमित्याशङ्क्याह—**राजन्यस्यापि चेति**। यदिशब्दोपबन्धेनानित्यत्वावगमात् ब्राह्मणादिवाक्यतुल्यप्रवृत्तेः क्रतुमध्यप्रयोगे च राजन्यस्य नित्यत्वाद्यदिशब्दानुपपत्तेर्ब्राह्मणवाक्यस्थस्याख्यातस्य राजन्यवाक्येऽनुषक्तस्य विध्यनुवादवैरूप्यपरिहारार्थं ब्राह्मणवैश्यवाक्यवत् राजन्यवाक्येऽपि विधितया तुल्यप्रवृत्तेः ब्राह्मणवैश्यवत् राजन्यस्यापि कर्मान्तरेण, प्रयोगान्तरेण वा सम्बन्ध इत्युक्ते ब्राह्मणवैश्ययोः क्षत्रियकर्तृके प्रयोगे निवेशायोगात् युक्तं भेदकत्वम्। राजन्यस्य तु क्रतुमध्यस्थप्रयोगे निवेशोपपत्तेर्न भेदकता युक्तेत्याशङ्क्य कर्तृभेदस्य भेदहेतोरभावेऽपि योगसिद्ध्यविकरणन्यायेन फलभेदस्य भेदकत्वसूचनार्थम्—**फलपदेत्युक्तम्**। अन्नाद्यकामवाक्यैकवाक्यत्वलभ्यस्य राजन्योऽन्नाद्यकामो यजेतेति फलपदानुषङ्गस्य ब्राह्मणोऽन्नाद्यकामो वैश्योऽन्नाद्यकाम इति वत् राजन्यस्याप्यविशेषात्तत्प्रयोगस्यापि फलभेदाद्भेदावगतित्याशयः। 'यदि राजन्य ऐन्द्रं मध्ये निधायाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेदित्य'नुषङ्गलभ्यस्य राजन्यकर्तृकप्रयोगविषयैन्द्रमध्यनिधानपूर्वकाभिघारणविधिवाक्यस्य तन्त्रप्रयोगे विनानुपपत्तेरपि प्रयोगभेदोऽवसीयतइत्याह—**एवं चेति**।

ननु क्रतुमध्यस्थेऽपि प्रयोगे मध्यनिधानलिङ्गादवेष्टिरित्येकवचनश्रुतेश्च तन्त्रत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**राजसूयेति**। 'आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणैन्द्र एकादशकपाल ऋषभो दक्षिणा, वैश्वदेवश्चरुः पिशङ्गी पृष्ठौही दक्षिणा मैत्रावरुण्यामिक्षा वशा दक्षिणा बार्हस्पत्यश्चरुः शितिपृष्ठो दक्षिणे'ति, दक्षिणाभेदाद्दक्षिणायाश्च कर्त्रानत्यर्थत्वात्कर्तृत्वाधिष्ठानद्रव्यैक्येऽपि प्रयोगाङ्गभूतकर्तृरूपभेदद्वारा प्रतियागं प्रयोगभेदावगतेः क्रतुमध्यप्रयोगे मध्यनिधानविधिर्विरुध्येतेत्यर्थः। अतस्तस्मात् क्षत्रियस्यैवेत्युपसंहारवार्त्तिकं युक्तमेवेत्याह—**तस्मादिति**॥ ३॥

इति द्वितीयमवेष्ट्यधिकरणम्।

भा० प्र०—वेद में "राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत" राजा स्वाराज्यकामना के लिए राजसूय यज्ञ करे। इस प्रकार की विधि है। इसी प्रकरण में "आग्नेयष्टाकपालं निर्वपेत हिरण्यं दक्षिणा। ऐन्द्रमेकादशकपालम् ऋषभो दक्षिणा। वैश्वदेवं चरुं पिशङ्गी प्रष्ठौही दक्षिणा। मैत्रावरुणी मामिक्षां वशादक्षिणा। बार्हस्पत्यं चरुं शितिपृष्ठो दक्षिणा"। इस वाक्य में अवेष्टि नाम के यज्ञ को भी विधि है। इस अवेष्टि यज्ञ के सम्बन्ध में श्रुति में कहा है कि "यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधाय आहुतिं हुत्वा तमभिघारयेत्। यदि राजन्य ऐन्द्रम्। यदि वैश्यो वैश्वदेवम्।" यदि ब्राह्मण याग करे तो बृहस्पति देवता को अर्थात् बृहस्पति जिसका देवता है उस चरु का अर्थात् पाँच प्रकार की हविः को मध्य स्थान में आहुति देकर उसका अभिघारण करे। यदि क्षत्रिय याग करने वाला हो तो इन्द्र जिसका देवता हो उस हविः का मध्य में कर अभिघारण करे और यदि वैश्य यागकर्ता हो तो विश्वदेवता जिसका देवता हो उस हविः का मध्यवर्ती कर अभिघारण करे"। इसमें संशय होता है कि पूर्व अधिकरण में जिस प्रकार "ऐन्द्रवायवाग्रत्व का विधान करने के लिए "यदि" शब्द से युक्त वाक्य से 'रथन्तर' नामक साम को उसके निमित्त के रूप में अनुवाद किया गया है, वैसे इस स्थल में भी "आग्नेयमष्टाकपालम्" इत्यादि वाक्य के पञ्चम स्थान में पठित बार्हस्पत्य चरु को तृतीय स्थान में अर्थात् मध्य स्थान में स्थापन करने के लिए ही क्या "यदि ब्राह्मणः" इत्यादि वाक्य में 'यदि' शब्द से ब्राह्मण आदि को निमित्त के रूप में अनुवाद किया गया है या इसके द्वारा ब्राह्मण आदि का याग के सम्बन्ध का विधान किया गया है अर्थात् ब्राह्मण आदि के पक्ष में नवीन याग का विधान किया गया है, इस विचार के लिए यह भी विचार करना आवश्यक है कि राजसूय में ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य तीनों का ही अधिकार है, या केवल क्षत्रिय का ही अधिकार है? इसका निर्णय करने के लिए इसका भी निरूपण करना उचित है कि 'राजा' यह शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य इन तीनों वर्णों का वाचक है या केवल क्षत्रिय का ही वाचक है? इसके लिए यह भी विचारणीय है राज्य-कर्तृत्व ही "राजा" इस शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त है अर्थात् वाचकता का कारण है या क्षत्रियत्व जाति ही उसकी प्रवृत्ति का हेतु है?

इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का कहना है कि राज्यकर्तृत्व ही 'राजा' इस शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है, कारण जिसका राज्य है, जो राज्य का शासन करता है, वह ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य किसी भी वर्ण का हो, शिष्टजन उसको राजा कहते हैं, अतः, राज्य से सम्बद्ध, राज्यकर्तृत्व ही 'राजा' इस शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है, ऐसी स्थिति में ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णो के व्यक्ति राजा हो सकते हैं। इन तीनों वर्णों में जो राज्य करने वाला होगा वह राजसूय यज्ञ कर सकता है। जब तीनों वर्णों के व्यक्ति, राजसूय यज्ञ में अधिकारी हैं तो 'अवेष्टि' यज्ञ में भी उनका सम्बन्ध या अधिकार अप्राप्त नहीं है वरन् स्वतः प्राप्त ही है। अतः, उसके विधान की

आवश्यकता नहीं है। ऐसी स्थिति में "यदि ब्राह्मणः" इत्यादि वाक्य में कर्मान्तर का विधान नहीं किया गया है, किन्तु, उनके द्वारा ब्राह्मण आदि का निमित्तरूप में उल्लेख है।

सिद्धान्ती का यह कहना है कि "अवेष्टौ क्रतुप्रधानमुच्यते" = अवेष्टि नाम के यज्ञ में ब्राह्मण आदि का उल्लेख क्रतु प्रधान है, यज्ञ में अप्राप्त ब्राह्मण आदि वर्णों की प्राप्ति ही इससे बोधित है, इस वचन के द्वारा जो कर्म उपदिष्ट होता है, वह पूर्व से प्राप्त नहीं है, अपितु एक स्वतन्त्र कर्म है, क्योंकि, 'राजसूय' यज्ञ में ब्राह्मण का अधिकार नहीं है। "राजा राजसूयेन यजेत" इस श्रुतिवाक्य से जो राजसूय यज्ञ का विधान होता है—वह राजा का ही कर्तव्य है, जिसका राज्य है, वह राजा है यह अर्थ नहीं है, अर्थात् राज्यकर्तृत्व राजन् शब्द का प्रवृत्तिनिमित्त नहीं है। वरन् राजन् शब्द से ही राज्य शब्द निष्पन्न होता है, कारण, भगवान् पाणिनि ने "तस्य कर्मणि" (पा० सू०) इस सूत्र से आरम्भ कर "पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्" (पा० सू०) इस सूत्र के द्वारा व्यक्त किया है कि "राज्ञः कर्म" अर्थात् राजा का कर्म इस प्रकार के अर्थ में राजन् शब्द से यक् प्रत्यय कर 'राज्य' यह शब्द निष्पन्न होता है, कारण, राजन् शब्द सूत्रोक्त पुरोहितादि गण में अन्तर्भूत है। अतः, व्याकरण स्मृति से अवगत होता है कि वर्णलोप-पूर्वक 'राज्य' इस शब्द से 'राजा' यह शब्द निष्पन्न नहीं होता है, वरन्, राजन् शब्द से ही राज्य शब्द निष्पन्न होता है। "राजानम् अभिषेचयेत्" = राजा को अभिषिक्त करें, इस शास्त्रवाक्य से भी यह अवगत होता है कि अभिषेक से पूर्व से ही अभिषेच्य व्यक्ति राजा रहता है और अभिषेक के बिना उसका राज्य पर अधिकार नहीं रहता है। इसीलिए राज्यप्राप्त करने पर जो उसको राजा कहा जायगा। यह भी शास्त्रसम्मत नहीं हैं। अतः "राजानम् अभिषेचयेत्" इस शास्त्रवाक्य में राजा शब्द का अर्थ क्षत्रिय होता है। मनु आदि धर्मशास्त्रियों ने भी कहा है कि राज्यशासन, प्रजापालन—यह क्षत्रिय का ही कर्म है, ब्राह्मण या वैश्य शास्त्रवाक्य का उल्लङ्घन कर राज्यशासन करता है, उस राज्य को भी क्षत्रिय के कर्म के सादृश्य के अनुसार राजा कहा जाता है, किन्तु यह प्रयोग गौण है। इसीलिए कोषकर्ताओं ने भी "राजा मृगाङ्के क्षत्रिये नृपे" अर्थात् मृगाङ्क = चन्द्र एवं क्षत्रिय नृप राजा का अर्थ है। इस स्थल में 'क्षत्रिये नृपे' इस प्रकार सामानाधिकरण्य होने से यही अर्थ सिद्ध होता है। अतः, राजा यह केवल क्षत्रिय जाति का ही वाचक है और शास्त्र के अनुसार केवल क्षत्रिय का ही अभिषेक, राज्यशासन, प्रजापालन आदि कर्म विहित है तो "राजा राजसूयेन यजेत" इस वेदवाक्य में केवल क्षत्रिय के लिए राजसूय यज्ञ विहित होता हैं, उस यज्ञ में ब्राह्मण आदि की प्राप्ति नहीं है।

राजसूय प्रकरण में पठित अवेष्टि नाम का यज्ञ भी अन्तःक्रतु है अर्थात् राजसूय यज्ञ के मध्य में ही क्षत्रिय का कर्तव्य है, अतः, यह अन्तरवेष्टि है। किन्तु ब्राह्मण या वैश्य यदि विशेष कामना से युक्त हों तो वे बहिःक्रतु अर्थात् राजसूय के बिना ही पृथक् रूप से

अवेष्टि यज्ञ का अनुष्ठान कर सकते हैं। इस अनुष्ठान का वैशिष्टय "यदि ब्राह्मणो यजेत" इत्यादि वचन में उपदिष्ट है। इस पक्ष में 'यदि' शब्द निमित्त का वाचक नहीं है। किन्तु, यह तात्पर्य का ग्राहक है। इसीलिए, इस स्थल में ब्राह्मण आदि के पक्ष में उक्त गुणविशिष्ट स्वतन्त्र कर्म का ही विधान किया गया है, ब्राह्मण आदि पूर्व अधिकरण में कथित रथन्तर के समान निमित्त नहीं हैं। "एतया अनाद्यकामं याजयेत्" इस वेदवाक्य से इस 'बहिःक्रतु' अवेष्टि का फल कहा गया है।

"अवेष्टौ" = अवेष्टि नाम के यज्ञ में, "क्रतुप्रधानं" = यज्ञ प्रधान = प्रयोगान्तर प्रधान अर्थात् अन्य कर्म का प्राधान्य "उच्यते" = श्रुति के द्वारा बोधित होता है, "यज्ञसंयोगात्" = केवल श्रुति से ही नहीं अपितु राजसूय यज्ञ में संयोग अर्थात् सम्बन्ध या अधिकार है ॥ ३ ॥

॥ द्वितीय अवेष्टि अधिकरण ॥

अथ तृतीयमाधानाधिकरणम्

[३] आधानेऽसर्वशेषत्वात् ॥ ४ ॥ सि०

शा० भा०—इदं समामनन्ति-'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्य' इति। तत्र संदिह्यते—किं ब्राह्मणादिश्रवणं निमित्तार्थं—ब्राह्मणादय आदधाना वसन्तादिष्वादधीरन्निति, उत ब्राह्मादीनामाधानं विधीयत इति। कथं निमित्तार्थता स्यात्? कथं चाऽऽधानविधानमिति[1]? यदि ब्राह्मणो वसन्ते इति पदद्वयं[2] परस्परसंबद्धम्, ततो निमित्तार्थं श्रवणम्। अथ ब्राह्मण आदधीत इति, आधानविधानं ब्राह्मणस्य। एवं राजन्यादिष्वपि। किं तावत् प्राप्तम्[3]? निमित्तार्थं श्रवणमिति। कुतः? निमित्तसरूपा एते शब्दाः। किं निमित्तसारूप्यम्। ब्राह्मणादीनां वसन्तादिभिः समुच्चारणम्। तच्चाविदितं वेद्यत इति।

ननु ब्राह्मणादीनामादधातिनाऽप्यस्ति समुच्चारणम्। बाढमस्ति समुच्चारणम्, न त्वमीषामाधानसंबन्धो न विदितः। केन प्राप्तो विदित इति कामश्रुतिभिः[4]। कामश्रुतयः अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत इत्येवमादयः। कथमाभिः श्रुतिभिराधानं प्राप्तमिति। उच्यते। सामर्थ्यात्। यथाऽग्निहोत्रमभिनिर्वर्त्यते, तथा कुर्यात्। यथा दर्शपूर्णमासावभिनिर्वर्त्येते, तथा कुर्यात्। न च गार्हपत्याहवनीयान्वाहार्यपचनादिभ्यो विनैतानि कर्माणि सिध्यन्ति। समामनन्ति हि 'यदाहवनीये जुहोति, तेन सोऽस्याभीष्टः

१. ब. वा।
२. ब. पदद्वयस्य परस्परेण संबन्धः।
३. ब. किं प्राप्तं।
४. ब. कामश्रुतिभिरिति ब्रूमः।

प्रीतो भवति' इत्येवमादि। तेन सामर्थ्यादितदुक्तं भवति, आवहवनीयादि कर्तव्यमिति। तच्चाऽऽधानेन विना न सिध्यतीत्या धानमपि कर्तव्यमित्यवगम्यते। तत्केन कर्तव्यम्? यस्य कामश्रुतयः। ताश्चाविशेषेण[1] ब्राह्मणादीनाम्। तस्मादमीषामाधानसंबन्धो विदित इति। अपि चोभाभ्यां ब्राह्मणादीनां संबन्धे विधीयमाने वाक्यं भिद्येत। न हि तदानीमेकोऽर्थो विधीयते। अतो निमित्तार्थाः श्रुतय इत्येवं प्राप्तम्। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—आधानेऽसर्वशेषत्वात्। प्रापकाण्याधानस्यैतानि श्रवणानि। कुतः? सर्वकर्मणां शेषभूतमाधानमिति न श्रुतिलिङ्गादीमन्यतमेनोच्यते। किं तर्हि? अग्नीनां सर्वशेषत्वात्, तच्छेषत्वाच्चाऽऽधानस्य। किमतो यद्येवम्? अग्नयः कामश्रुतिभिः प्राप्नुवन्ति, नाऽऽधानमिति। नन्वग्नीनामभ्युपाय आधानमिति। उच्यते। नैतेषामर्जन आधानमेवैकोऽभ्युपायः, किं तर्हि? यथाऽन्येषां द्रव्याणामुत्पादने क्रयणादयश्चाभ्युपाया एवमग्नीनामपीति। न नियोगत उत्पादनमेव। तेन पक्ष आधानं प्राप्नोति, पक्षे न। यतरस्मिन्पक्षेऽप्राप्तिः। ततरः पक्ष उत्पत्तिं प्रयोजयिष्यति ब्राह्मणादीनामाधानस्य। ब्राह्मण आत्मार्थमादधीतेति। यदेतद्वचनम्, तदाऽऽत्मार्थमेवाऽऽहिता आहवनीयादयो भवन्ति, नान्यथा। एवं च सति, न कृत्रिमेण, याचितेन वा कर्माण्यग्निहोत्रादीन्यनुष्ठातव्यानीति गम्यते। तेनाकृत्रिम एव केवलोऽग्निः। तेषां साधक इति निश्चीयते। कथं चाऽऽत्मार्थताऽऽधानस्य गम्यत इति? कर्त्रभिप्राये हि क्रियाफल आदधीतेत्येतदात्मनेपदं सम्भवति। असत्यस्मिन्वचने कामश्रुतिपरिग्रहे नाऽऽधानस्याऽऽत्मार्थता भवेत्। अपि च सतीष्वेतास्वाधानश्रुतिषु न कामश्रुतयः शक्नुवन्त्यपराधानश्रुतिं कल्पयितुम्। यथाप्राप्तस्याऽऽधानस्य[2] पुनः श्रुतय एता भवेयुः। असतीष्वेतास्वाधानश्रुतिमपरिगृह्णन्त्यः कामश्रुतयोऽशक्यानग्निहोत्रादीन्वदन्तीति परिगृह्णीयुराधानश्रुतिम्। सतीष्वेतासु[3] येषामाधानमुक्तं, तानधिकृत्योत्तरकालाः कामश्रुतयो भवन्तीति गम्यते।

अत्राऽऽह—अस्ति केवलस्याऽऽधानस्य विधायिका श्रुतिः 'एवं सम्पन्नं[4] भ्रातृव्यमवर्ति' सहते, य एवं विद्वानग्निमाधत्ते (मै० सं० १-६-३) इति। तया प्राप्तस्य निमित्तार्थानि ब्राह्मणादीनां श्रवणानि भविष्यन्ति। उच्यते। संभारविधानार्था पुनः श्रुतिरेषा। नेति ब्रूमः। भिन्नं हीदं वाक्यं संभारविधानवाक्यात्। अन्यो ह्यर्थं 'आधत्त' इति, अन्यः, 'अप उपसृजति' इति। एकार्थविधाने ह्येकं वाक्यं भवति, भिन्नौ चेमावर्थौ। तस्मादत्र वाक्यभेद इति। उच्यते। 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इत्यस्यां श्रुतौ सत्यां[5] पुनः श्रुतिः

१. ब. श्चाविशेषेणैव। २. ब. यया। ३. ब. सतीषु तु तासु।
४. क. सपत्नं। ५. ब. सत्यां न।

केवलस्याऽऽधानस्याविधायिका[1]। अपामुपसर्जनं तु विधीयते। तदेकस्मिन्नर्थे विधीयमाने, नानेकार्थं भवति[2]। नन्वाधानस्यैतद्विधानम्? गुणार्था सा पुनः श्रुतिः। नेति ब्रूमः। सा ब्राह्मणादिसंबद्धा प्रथमा श्रुतिः। इयं केवला पुनः श्रुतिः। कुतः? सा हि शब्देन विदधाति। तत्र लिङमुच्चरन्तीं पश्यामः। इयं प्रशस्तमाधानमित्याह। ततः प्रशस्ततामाधानस्यानुमन्यामहे। एवं च, 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इत्येषा विधायिका श्रुतिरिति ब्रूमहे। नैतत्प्रशंसावचनमस्मत्पक्षं बाधते। शक्यते ह्यन्येन विहितमन्येन प्रशस्तमिति वदितुम्। यदि त्वेतद्विधायकमित्युच्येत, ततोऽस्मत्पक्षं विरुध्येत[3]। कथम्? अज्ञातस्य ज्ञापनं विधानमेतत्। यदि[4] प्रशंसावचनेनापूर्वं विज्ञाप्येत, तदा लिङा नापूर्वं ज्ञापितं[5] भवेत्। तत्रापूर्वज्ञापनवचनः शब्द उपरुध्येत। न तु लिङा विहिते प्रशंसावचनमुपरुध्यते। विहितेऽपि हि वाक्यान्तरेण प्रशंसावचन[6]मवकल्पते। अपि च यल्लिङा विधानं, तच्छ्रुत्या, वाक्येन तु प्रशंसा[7] गम्यते। श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी।

नन्विदमपि वाक्यं ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत इति। उच्यते। स्वपदार्थमत्र श्रुतिर्विदधात्याधनम्, ब्राह्मणादिसंबन्धेन परपदार्थं प्रशंसति, य एवं 'संपत्नं[8] भ्रातृव्यमर्वात 'सहत' इति। नन्वनेकगुणविधानं त्वया वाक्येनाध्यवसितं भवति। नैष दोषः। अगुणविधिपरे हि वाक्ये भवत्यनेकगुणविधानमित्युक्तम्, तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधार्थे न चेदन्येन शिष्टा इति। तस्माद् ब्राह्मणादिसंयुक्ता विधायिका श्रुतिः। इयमपि केवलस्याऽऽधानस्य पुनःश्रुतिः संभारविधानमुपक्रमयितुमिति सिद्धम्।

यदुक्तमनेकगुणविधाने वाक्यं भिद्येतेति। यदीमौ गुणावाधानविशिष्टौ विधीयेयाताम्, भवेद्वाक्यभेदः। द्वाभ्यां तु विशेषणाभ्यां विशिष्टमेकमाधानं विधायिष्यते। तेन न भविष्यति वाक्यभेदः। तस्माद् ब्राह्मणादीनामाधानस्य प्रापकाणि श्रवणानीति सिद्धम्॥ ४॥

इति तृतीयमाधानाधिकरणम्॥ ३॥

त० वा०—'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत' इत्यादिषु प्राप्त्यप्राप्त्याशङ्कायां पूर्ववदेव सन्देहः। तत्र यदि कथंचिदपि प्राप्तिरस्ति, ततो विनाऽपि यदिशब्दान्नि-

---

१. ब. विधायिका। २. ब. भविष्यति। ३. व. विरुंध्यात्।
४. ब. यद्येतेन। ५. ब. विज्ञापितं।
६. ब. उपपद्यते। तच्चावकल्पत एव इत्यधिकम्।
७. ब. प्रशंसया। ८. सपत्नं।

मित्तार्थत्वं, तदा च ब्राह्मणवसन्तादिसम्बन्धः परस्परनियमात्मकं फलं भविष्यति। अथ त्वप्राप्तिः, प्रापकाणि ब्राह्मणवसन्तादिविशिष्टस्याऽऽधानस्य, तदा च पूर्वत्र पूर्वत्रोत्पत्तिवाक्यशिष्टगुणावरोधादुत्तर उत्तरो गुणः कर्मान्तरं कल्पयतीति त्रीण्याधानानि भविष्यन्ति। स्वार्था एव वाऽन्नय आत्मनेपदनिर्देशाद्विज्ञास्यन्ते। शूद्रस्य चाप्राप्तिः। निमित्तार्थपक्षे तु सर्वं विपरीतमेव। एतेन 'वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत' इत्येवमादीन्यपि तुल्यहेतुत्वाद्विचारितानि द्रष्टव्यानि। तत्रैतावान्संक्षेपार्थः।

सामर्थ्याक्षिप्तमाधानं सामान्यवचनेन वा।
तस्माद्वर्णविशेषणां निमित्तार्था पुनः श्रुतिः॥

एकस्तावत्पूर्वपक्षहेतुरग्निहोत्रादिचोदनाभिरेवाऽऽधाननिष्पाद्याहवनीयादिसाधनत्वाद्विनाऽनुपपद्यमानाभिः प्रापितत्वाद् ब्राह्मणादीनामाधानं निमित्तार्थं श्रूयत इति। यदि तु प्रत्यक्षवचने सति सामर्थ्यमप्रापकमिति कल्प्यते, ततोऽस्माद् गुणापहृतशक्तिकाद्विधेरनपहृतशक्तिरपरो निर्गुणो विधिरस्ति 'य एवं विद्वानग्निमाधत्ते' इति। तेन प्राप्तेरप्रापकत्वमिति।

सिद्धान्तहेतुस्तु।

प्रत्यक्षविधिसद्भावाल्लभ्यते ताऽऽनुमानिकः।
प्रापकत्वमतो नार्थवर्तमानापदेशयोः॥

न तावन्नित्यमर्थस्य प्रापकमस्ति[1]। उपायान्तरेणापि प्रतिग्रहादिना पुरुषान्तराहितानामात्मनेपदेनानियतानां सुलभत्वात्। प्रत्यक्षवचने सति अन्यथानुपपत्तिपक्षे सति, अर्थापत्तिलभ्यश्रुत्यपरिग्रहाच्च। 'य एवं विद्वान्' इत्यपि वर्तमानापदेशः प्रत्यक्षायां लिङि ब्राह्मणादिवाक्येषूपलभ्यमानायां न विधिशक्तिं लभते। अस्ति चैतदुपन्यासस्य प्रत्यक्षविधियुक्तोदकोपसर्जनादिसम्भारविधानार्थत्वमित्याप्राप्तमेव ब्राह्मणादिविशिष्टमाधानं विधीयत इति।

किं निमित्तसारूप्यमिति—यदिशब्दाद्यनुपबन्धाभिप्रायम्। **ब्राह्मणादीनां वसन्तादिविधिभिः समुच्चारणमिति**—परपदसम्बन्धसंचारितायां विधिशक्तौ निमित्तफलत्वात्। **ब्राह्मणादीनामादधातिनाऽपीति**—अप्राप्तौ विशिष्टविधानोपपत्त्यभिप्रायम्।

इतरस्तु प्राप्तत्वेन विधेयत्वं निवर्तयति—**न त्वमीषामाधानसम्बन्धो न विदित इति। केन प्राप्तो विदित इति**—प्रापकाक्षेपः। इतरस्तु निराकरणमपश्यन्बलीयांसं च प्रत्यक्षविधिं किमर्थं प्रथममेवोपन्यस्यामीति मत्वा **कामश्रुतिभिरित्याह। काः कामश्रुतय इति**—सक्रोधे प्रापणशक्तावाक्षिप्तायां स्वरूपमेवैष न जानातीति

---

१. क० प्रापकत्वं।

मन्यमानो दर्शयति—अग्निहोत्रादिफलविधय इति। कथमन्यपराभिः सतीभिस्तत्प्रापितमित्याशङ्क्यार्थापत्तिं दर्शयति। तेन 'कर्मजे कर्म यूपवत्' इति आहवनीयादिग्राहिभिः कर्मभिरनन्योपायत्वाद्गृहीतमाधानमिति। सर्वप्रकारासम्भवे च विशिष्टविधिर्भवतीहि, सम्भवापेक्षया वाक्यभेदमाह। एवं प्राप्ते ब्रूमः।

आधानेऽपि पूर्ववदेव प्रापकाणि श्रवणानि कथम्? असर्वशेषत्वात्। यदि हि सर्वकर्मणां[1] शेषभूतमाधानं भवेत्, ततस्तैराक्षिप्येत वा, न वा। तेषां तु 'रूपं वाऽशेषभूतत्वात्' इत्यनेनैव न्यायेनाऽऽहवनीयादिग्रहणमात्रपर्यवसानान्न कश्चिदप्याधानाङ्गत्वप्रतिपादने हेतुरस्ति। यत्तु 'सर्वार्थं वा' इति वक्ष्यति तत्सर्वकर्मार्थाग्न्यर्थत्वादिति व्याख्यास्यते। **किमतो यद्येवमिति**—अङ्गाङ्गमप्यन्यथानुपपत्त्या शक्यमाक्षेप्तुमिति मन्यते।

सिद्धान्तवादी त्वन्यथानुपपद्यमानत्वादग्नयः कामश्रुतिभिः प्राप्नुवन्ति, नाऽऽधानमित्याह—**नन्वाधानमग्नीनामभ्युपाय** इति। तत्र नाम रूपमात्रं गृह्यते, यल्लौकिकोपायसाध्यं भवति। वस्त्रशकटादि। न चाऽऽहवनीयो लौकिकोपायाः। तस्मादवश्यमेषां वेदेनैवोपायोऽप्याक्षेप्तव्यः। स तु चाऽऽधानव्यतिरिक्तोऽस्तीति, तदप्याक्षिप्तमिति। उच्यते। न। अनैकान्तिकत्वात्। अग्नीनां हि याच्ञाक्रयापहारादयोऽभ्युपायाः सन्ति। सर्वैश्च तैराहवनीयादिमात्रप्रार्थिन्यः कामश्रुतयो निराकाङ्क्षाः क्रियन्ते। तस्मान्नैकान्तेनाऽऽधानं प्राप्तमिति, अस्ति नियमविधेरवकाशः।

तत्रैतत्स्यात्। नैवोपायान्तरोपात्तानामाहवनीयादित्वं सम्भवति, संस्कारनिमित्तत्वादिति।

तत्रोच्यते—

सत्यं प्रथममाधानादुत्पद्यन्तेऽग्नयस्त्रयः।
पश्चात्तु व्रीहिवत्तेषां नोपायान्तरवारणम्॥

यथैव हि व्रीह्यादीनां न तावत्कृषिमन्तरेणोत्पत्तिः। अथ च न सर्वपुरुषैस्तथैवाऽऽप्यन्ते। क्रयादिभिरपि लभ्यमानत्वात्। एवं तावत्प्रथममेक आधानेनोत्पादयिष्यन्ति। अपरे तु तस्मादुपायान्तरेण प्राप्स्यन्ति। ततश्च यथा घटादीन् कुम्भकार उत्पाद्योत्पाद्य विक्रीणाति, ददाति च, तथैवैकः कश्चित्पुनः पुनरग्नीनाधायाऽपरेभ्यो दद्यात्। अतः प्रतिपुरुषमाधानं पक्षे प्राप्तं, पक्षे नेत्यस्ति विधानस्य विषयः। पक्षेऽपि वा नैव प्राप्तिरस्तीति वक्ष्यामः।

प्रत्यक्षविधिपक्षे पुनरुपायान्तराणि निवर्तन्ते। तदा ह्यादधीतेत्यात्मनेपदेनाऽऽधातृगाम्येवाऽऽधायफलमिति गम्यते। तस्य च फलमाहवनीयादि तदकर्तुर्न

---

१. सर्वकर्मणामिति।

भवतीति, तं प्रत्यनाहवनीयत्वमेव स्यात्। अर्थाक्षेपपक्षे त्वानुमानिक्याः श्रुतेरात्मनेपदपरस्मैपदविवेकाभावादकर्तृविषयेऽप्यविरोधादुपायान्तराणि न निवर्तेरन्। अतोऽवश्यमेव विधेयमेतदिति।

अपि च सतीष्वेवाऽऽधानश्रुतिष्विति पाक्षिकीमपि प्राप्तिं निराकरोति। पूर्वमेव हि व्याख्यातं नियमादीनामप्राप्तविधित्वं, श्रुतसम्भावनायामश्रुतकल्पनानवसरात्। सन्ति चाऽऽधानस्य प्रत्यक्षा श्रुतय इति, नान्याः कल्पयितुं लभ्यन्ते। यदि ह्येता न स्युः, तत्राऽऽधानादृतेऽग्निहोत्रादीनामशक्यानुष्ठानत्वाद्विधयोऽनर्थका भवन्तीति, स्वसिद्ध्यर्थमाधानश्रुतिं परिगृह्णीयुः। सतीषु त्वश्रुतकल्पनाभयाद्येषामेताभिः प्रापितं, तेषामेव कामश्रुतयः प्रयोजिका इति, न कल्पयन्ति।

सर्वपूर्वोक्तदोषपरिहारेणेदानीं प्रत्यवतिष्ठते। प्रत्यक्षमन्यद्विधायकमस्त्याधानस्य वचनम्। यस्मिन्सति निमित्तार्थानीतराणीति 'य एवं विद्वानग्निमाधत्ते' इति। तत्र प्रतिविधत्ते **सम्भारविधानार्था पुनः श्रुतिरेषेति**। परः पुनः प्रकरणेन संभारसम्बन्धं मन्वानः पृथग्वाक्यत्वमापाद्यैतदेवोत्पत्तिवाक्यमित्याह। न [1]ह्युदकोपसर्जनादीनामाधानेनैकवाक्यता सम्भवति। भवेदत्रार्थभेदे नानावाक्यत्वम्, यद्याधानं विधीयेत। तद्ब्राह्मणादिसंयुक्तैर्विहितमिति गुणार्थमेवेह पुनः श्रूयते। कुतो नु खलु निर्णयः ? कतरदनयोरुत्पत्तिवाक्यमिति तदुच्यते—

ब्राह्मणत्वादिसंयुक्ते प्रत्यक्षः श्रूयते विधिः।
इतरत्रार्थवादेन कल्पनीयो बलादसौ॥

यदि ह्येते द्वे अपि वाक्ये विधातृणी स्याताम्, ततः समानविषये सती स्पर्धेयातां कतरद्विधत्तामिति। अत्र पुनरेकं विधायकम्। एकं स्तावकम्। न च स्तावकेन ब्राह्मणादिसंयुक्तस्य विधायकत्वं निवार्यते, तदानुगुण्यात्। यदि तु 'य एवं विद्वान्' इत्यपि विधिसरूपं स्यात्। ततो विहितस्य पुनर्विधानानुपपत्तेरस्मत्पक्षं निरुन्ध्यात्। लिङ तु विहितस्य सम्बन्धिसम्भारविधिप्ररोचनार्थं तु स्तुतिसहितस्य पुनःश्रवणमित्यविधायकम्। लिङ च तावद्धात्वर्थविधानं स्वपदेनोपात्तत्वाच्छ्रौतम्। प्राशस्त्यं पुनर्वाक्येन, ततश्चाऽऽनुमानिको विधिरिति विप्रकृष्यते।

नन्विदमपि वाक्यमिति—ब्राह्मणादिपदार्थापरित्यागाभिप्रायम्। सिद्धान्तवादी वदति, आधानं तावच्छ्रुत्या, शेषं वाक्येन नाम भवतु, स्वपदोपात्तायाः स्तुतेरभावात्। 'एवं द्विषन्तं भ्रातृव्यमवार्ति सहते' इत्यादिपदसम्बन्धेनैव स्तुतिरिति वाक्यम्। कर्तृकालविशिष्टप्रधानाधानविधानाच्च वाक्यभेदपरिहारात्सिद्धं प्रापकत्वम्॥४॥

(इति तृतीयं विशिष्टाधानविधेयत्वाधिकरणम्॥३॥)

---

१. क० ह्यनुपसर्जना।

॥ अथ तृतीयमाधानाधिकरणम् ॥ ३ ॥

न्या० सू०—यदिति भाष्येण वचनव्यक्तिभेदस्य सन्देहहेतुत्वेनोक्तस्याख्यानानपेक्षपदान्तरान्योन्यान्वयायोगेनायुक्तत्वात् पूर्वपक्षवचनव्यक्त्ययोगापत्तेर्ब्राह्मणादिप्राप्त्यप्राप्तिसन्देहे विध्यविधिसन्देहहेतुं वक्तुमाह—वसन्त इति।

ननु सत्यामपि प्राप्तौ निमित्तवाचियज्यादिशब्दाभावान्निमित्तार्थता न युक्तेत्याशङ्क्याह—तत्रेति। प्राप्तस्य ब्राह्मणादेर्निमित्तत्वं विनाऽन्वयायोगात्तद्वाचिशब्दाभावेऽपि निमित्तताऽवसीयत इत्याशयः। भाष्यस्य तर्हि का गतिरित्याशङ्क्याह—तदा चेति। ब्राह्मणो यद्यादधीत ततो वसन्तइति वचनव्यक्तावप्यधाने वसन्तविधौ ब्राह्मणान्वयस्य निमित्तत्वोक्त्यर्थत्वं ब्राह्मणश्रुतेः सूचयितुं वचनव्यक्त्यन्तरोक्तिरित्याशयः। नन्वाधानस्यावेष्टिवन्नियतैकवर्णसंयोगात्पूर्वन्यायातुल्यत्वेन निमित्तार्थत्वमाशङ्क्य, वर्णविशेषासंयोगेऽपि स्वरूपेणैवाप्राप्तौ निमित्तार्थत्वासम्भवातिदेशार्थत्वेनाऽस्य विचारस्यानन्तरसङ्गतावपि कथं गुणप्रकरणसङ्गतिः? किं च प्रयोजनमित्याशङ्क्याह—तदा चेति। ब्राह्मणादेर्गुणस्य विधेयत्वे भेदकता, अविधेयत्वे त्वभेदकतेति सन्दिग्धविधेयत्वस्य गुणस्य भेदकाभेदकत्वनिर्णयार्थं विधेयाविधेयत्वविचारादवान्तरसङ्गतिरपि 'तदा चेति प्रापकत्वे भेदोक्त्या निमित्तार्थत्वे च तद्वैपरीत्योक्त्या सूचिता। स्वार्था एव चेत्यनेनाद्यपूर्वपक्षनिरासप्रयोजनमुक्त्वा, द्वितीयपूर्वपक्षनिरासप्रयोजनम्—शूद्रस्येत्यनेनोक्तम्।

ननु शूद्रस्यानुपनीयत्वान्न ब्रह्माभिव्याहारेदित्यनुपनीतवेदाध्ययननिषेधेनाविधित्वात्, पूर्वपक्षेऽप्याधानाप्राप्तिरविशिष्टेत्याशङ्क्याह—एतेनेति। उपनयनस्याप्याधानवत्पूर्वपक्षे कर्मविधिभिस्तत्तज्ज्ञानसाधनं वेदाध्ययनमाक्षिपद्भिरनुपनीताध्ययनायोगेनाक्षेपादविशेषाच्छूद्रस्याप्युपनयनमध्ययनं च प्राप्नोतीत्याशयः। सुखप्रतिपत्त्यर्थमधिकरणार्थं संग्रहीतुमाह—तत्रेति। सङ्क्षेपतोऽधिकरणार्थ इत्यर्थः। विविधमपि पूर्वपक्षं सङ्गृह्णाति—सामर्थ्येति। आहवनीयादिसाध्याग्निहोत्रादिविधिभिः सामान्यतः कस्य चिदाहवनीयादिसाधनस्याक्षेपेऽपि किं तदिति विशेषाज्ञाना'दग्निमादधीते'ति द्वितीयाश्रवणेऽप्यविहितस्याधानस्य साध्यानाकाङ्क्षत्वात् द्वितीयायाश्चोत्पाद्याप्यविकार्यसंस्कार्यात्मकचतुर्विधकर्मसाधारण्येनोत्पाद्यैकान्तिकत्वाभाव'दग्निमुपनिधाय स्तुवीत' अग्निं संमार्ष्टीत्यादिवदुत्पाद्यत्वानगवते'रद्धोदिते सूर्ये आहवनीयमादधातीत्या'दौ चाहवनीयादेर्यूपादिवत् असिद्धत्वाच्च आधीयते, स आहवनीय इत्यवगमेऽपि अविधीयमानस्याहवनीयोत्पादकत्वे प्रमाणाभावादाहवनीयादिवाक्यैराधानविध्यभ्युपगमे कामश्रुतिभिः प्राप्तेरवाच्यत्वात्प्रत्ययग्नि वाऽऽधानभेदापत्तेर्विधिनिरपेक्षोत्पत्तिमात्रेण च साध्यसाधनत्वे सत्यौदुम्बरत्वादेरप्युर्गवरोधादिसाधनत्वापत्तेर्याज्ञिकानां चाहितेऽग्नौ आहवनीयादिशब्दप्रयोगस्याऽऽधानविध्यभावे निर्मूलत्वेनाऽप्रामाण्यान्मूलवैदिकप्रयोगकल्पनेऽप्यादित्यादौ यूपादिशब्दप्रयोगशब्दार्थाधिगमहेतुत्वाभावा'द्धंसमुख्यः स्रुचोऽग्रास्त्वक्तो विला' इति स्रुचां हंसमुखप्रसेकत्वादिविधिवदाहितोऽग्निराहवनीय इति प्रयोगादाधानविधिकल्पनेऽतिक्लेशापत्तेः कामश्रुतिभिश्च विधिकल्पनवैयर्थ्यस्यापरिहार्यत्वादविधाने

चाधानस्य प्रकरणायोगाद्वसन्तादिवाक्येषु ब्राह्मणादौ निमित्ते कालविधौ प्रकरणप्राप्ताधानानुवादानुपपत्तेर्ब्राह्मणादिविशिष्टाधानानुवाददोषस्यापरिहार्यत्वात्स्वविध्युत्पादितस्याप्याधानस्याग्निहोत्रादिविधिभिरनुष्ठापनमाद्यपूर्वपक्षार्थं इति सूचनायाक्षिप्तशब्दः ।

टुप्टीकायां 'सम्भारेष्वादधाती'ति योऽस्मिन्नादधाति तेनाधाने प्राप्ते वसन्ते ब्राह्मणोऽग्निमादधीतेत्यनूद्य वसन्तब्राह्मणसम्बन्धो विधीयतइत्याभिधानात्, सम्भाराणां च वा'क्ष'पार्थिवानां वाक्यान्तरविहितत्वात्तदधिकरणाधानमात्रविधिलाघवसम्भवे कर्तृकालरूपावेकार्थविशिष्टाधानविधिगौरवस्यानङ्गीकार्यत्वात्सम्भारवाक्योत्पादितस्याधानस्य कैमर्थ्यापेक्षायामाहवनीयादिवाक्यालोचनयाहवनीयादिसाधनत्वावगतेरग्निहोत्रादिभिः फलवत्त्वात्प्रयुक्तिशक्तैः प्रयुक्तिसम्भवे ब्राह्मणादिवाक्येन प्रयोगाङ्गभूतकर्तृसंयोगेऽपि निमित्तार्थं तत्संयोगोपपत्तेर्नाधानप्रयोजकत्वकल्पना युक्तेत्याशयः । फलवतः प्रयुक्तिद्योतनायैव कामश्रुत्यपन्यासो भाष्ये । अन्यथाहवनीयादिसाध्यकर्मविधिमात्रेण प्राप्त्युपपत्तेः कामविशेषणानर्थक्यापत्तेः । यदि रथन्तरसामेति च सयदिके वाक्ये चिन्तिते सयदिकत्वसाम्येन बुद्धिस्थानां 'यदि ब्राह्मणो यजेतेत्यादिवाक्यानां पूर्वाधिकरणे निमित्तार्थत्वापवादेन प्रयोगविधित्वव्युत्पादनादिहापि ब्राह्मणादिसंयुक्तत्वसाम्येन बुद्धिस्थानां वसन्तादिवाक्यानां प्रयोगविधित्वव्युत्पादनादनन्तरसङ्गतिः सुलभा प्रयोजनं चाग्निहोत्रादिविधिप्रयुक्तत्वेऽग्निहोत्रादिफलार्थिनैवाधानमनुष्ठेयम् । स्वविधिप्रयुक्तत्वे तु ब्राह्मणत्वादेः कर्तृविशेषणत्वेऽपि जातेरनुपादेयत्वाद् ब्राह्मणादिकर्तृकस्य प्रयोगस्याब्राह्मणादिना कर्त्तुमशक्तेरशक्तस्य चानधिकारादर्थादधिकारविशेषणत्वावगतेः सिद्धत्वेन च जातेः काम्यतयाऽधिकारविशेषणत्वायोगादाधानस्य च काम्यत्वाभावेन राजसूयवन्निमित्तान्वयविरोधाभावान्निमित्तत्वप्रतीतेर्निमित्ते सति नैमित्तिकावश्यम्भावाज्जातपुत्रवाक्यात्पुत्रजन्मनो निमित्तविशेषणत्वप्रतीतेर्जातपुत्रेण ब्राह्मणादिना निष्कामेनाऽवश्यानुष्ठेयम् । ततश्च कृष्णकेशवाक्याद्वयोऽर्द्धानतिक्रमणप्रतीतेर्ब्राह्मणादेर्जातपुत्रस्यानाहिताग्नेर्वयोर्द्धातिक्रमेऽवश्यं विहिताग्निहोत्राद्यननुष्ठाननिमित्तप्रत्यवायवदाधानानुष्ठाननिमित्तोऽप्यपरः प्रत्ययवायो भवति । अत एवानाहिताग्नितान्युपपातकत्वेन स्मर्यते । 'नानाहिताग्निर्म्रियेते'ति च श्रुत्याधानस्याऽवश्यकताऽवसीयते । सा च स्वविधिप्रयुक्तत्वं विना न सिद्ध्यतीति सङ्गतत्वात्, सप्रयोगनत्वाच्च युक्तैवेति प्रयुक्तिचिन्ताश्लोकं व्याचष्टे—एकस्तावदिति ।

सिद्धान्तं संगृह्णाति—सिद्धान्तेति । सम्भाराहवनीयादिवाक्यालोचनयाऽऽहवनीयादीनामाधानजन्यत्वावगमेनाऽग्निहोत्रादिविधिभिराधानप्रयुक्तिसम्भवे प्रत्यक्षवाक्यानर्थक्यमाशङ्क्य, नियमेनाग्निहोत्रादिवाक्यानामाधानप्रयोजकत्वायोगान्नियमार्थत्वे'नार्थवत्त्वं दर्शयन् श्लोकं व्याचष्टे—न तावदिति । ननु विद्वद्वाक्यस्याधानविधायित्वं विनानर्थक्यं स्यादित्याशङ्क्याह—अस्ति चेति । 'अप उपसृजती'त्यादिप्रत्यक्षविधियुक्तानामुदकस्थापनादिरूपाणां सम्भाराणाम्, 'अथ सम्भरन्ती'तिवत्सामान्यतो विधानं तत्प्रशंसार्थम् । एवं कृतान्सम्भारान्सम्भार्याण्येकत्र देशे स्थाप्यान्युदकादीनि विद्वानेवमुक्तप्रकारसम्भरणपूर्वमग्निमाधत्ते

सहायसम्पन्नमपि समानस्वाम्यं स्पर्द्धमानशत्रुं यथावर्त्तनरहितो भवति, तथा यजतीत्येतदुपन्यासस्य प्रयोजनमस्तीति नानर्थक्यापत्तिरित्याशयः। सिद्धान्तमुपसंहरति—**किमिति**। प्रश्नभाष्याशयमाह—**किमिति**। ब्राह्मणादीनामित्युत्तरभाष्यं निमित्तवाचिशब्दानुपन्यासादयुक्तमाशङ्क्य, ब्राह्मणादेराधाने प्राप्तत्वाद्विधेयवसन्तादिनिमित्तत्वं विनाऽन्वयायोगान्निमित्तत्वावगत्याशयत्वेन व्याचष्टे—**ब्राह्मणादीनामिति**।

नन्वित्याशङ्काभाष्याशयमाह—**नन्विति**। बाढमिति परिहारभाष्याशयमाह—**इतरस्त्विति**। उक्तेऽर्थे भाष्यसम्मतिप्रदर्शनायैकदेशपाठः। केनेति प्रश्नभाष्यं सम्भाराहवनीयादिवाक्यालोचनयाधानस्याहवनीयादिसाधनत्वेऽवगते कामश्रुतिभिः प्राप्तिप्रतीतेर्विद्वद्वाक्यस्य च साक्षात्प्रापकस्य प्रत्यक्षत्वादयुक्तमाशङ्क्य प्रत्यक्षविधिसद्भावे कामश्रुतीनां यच्छब्दोपबन्धाच्च विद्वद्वाक्यस्य प्रापकत्वं न सम्भवतीत्याशयेन व्याचष्टे—**केनेति**। कामेत्युत्तरभाष्यं प्रश्नाशयापरिहारादयुक्तमाशङ्क्य, कथं चित्प्राप्तिसम्भवे विशिष्टविधिगौरवस्यानङ्गीकार्यत्वात्प्रत्यक्षविधिसद्भावमात्रेण कामश्रुतीनां प्रापकत्वनिराकरणं न सम्भवतीत्याशयेन व्याचष्टे—**इतरस्त्विति**। साक्षात्प्रापकविद्वद्वाक्यत्यागेन कामश्रुत्युपन्यासानौचित्यशङ्कानिरासार्थम्—**बलीयांसं चेत्युक्तम्**। विद्वद्वाक्यस्याधानोत्पादकत्वसम्भवेऽपि वसन्तादिवाक्यवत्प्रयोगविधिचिह्नप्रयोगाङ्गकर्तृकालादिसंयोगाभावात्प्रयोजकत्वानुपपत्तेः तत्प्रयोजकत्वाय कामश्रुतीनामवश्योपन्यसनीयत्वाद् बलवति च प्रापके प्रागुपन्यस्य निरस्ते, दुर्बलोपन्यासानवकाशापत्तेरात्मनेपदरहितेन वाक्येनाधानोत्पादने कामश्रुतीनां तत्प्रयोजकत्वस्य पाक्षिकत्वेन विद्वद्वाक्योत्पादिताधानप्रयोजकत्वापेक्षया दौर्बल्यात्प्रागुपन्यास इत्याशयः। कामश्रुतीनां प्रयोजकत्वेऽस्य पाक्षिकत्वेन विद्वद्वाक्यस्य चोत्पादकत्वेन विवक्षितत्वाद्भिन्नविषयतयाऽनालोचनीयेऽपि बलाबलेऽग्निहोत्राद्यनङ्गत्वेनाधानस्याग्निहोत्रादिविधिप्रयुक्तत्वासम्भवेऽपि विद्वद्वाक्येन द्वितीयावगताग्न्याख्यफलसंयोगात्प्रयुक्तिमता प्रयुक्तिसम्भवे वसन्तादिवाक्यानां विशिष्टविधिगौरवापादकप्रयोजकत्वकल्पनानुपपत्तेर्विद्वद्वाक्यस्यैव प्रयोजकताप्यापद्यतइति सूचनार्था बलीयस्त्वोक्तिः।

का इति प्रश्नभाष्यं कामश्रुतीनां प्रत्यक्षत्वादयुक्तमाशङ्क्याहवनीयादिसाधनत्वेनाधानस्य विध्यन्तरतोऽवगतस्याप्यग्निहोत्राद्यनङ्गत्वात्तद्विधिप्रयुक्तत्वासम्भवाशयत्वेन व्याख्यातुमाह—**का इति**। प्रापणेत्यनेन क्रोधहेतुं वदताग्निहोत्रादिश्रुतीनामाधानं प्रत्यशेषित्वात्प्रयोजकत्वाशक्तेस्तद्व्यतिरिक्त आधानशेषिविषयत्वात्तत्प्रयुक्तिशक्तकाः कामश्रुतय इत्येवं भाष्यं व्याख्यातम्। प्रापणशक्त्याक्षेपस्यासर्वशेषत्वादिति सूत्रावयवोक्तत्वसूचनार्थो भूतनिर्देशः। प्रापणशक्तेराक्षिप्तत्वात्सक्रोधं दर्शयतीति वक्ष्यमाणानुषङ्गेण समापनीयम्। अग्निहोत्रमित्युत्तरभाष्यमाक्षेपापरिहारादयुक्तमाशङ्क्याज्ञातप्रश्नत्वारोपोत्तरत्वेन व्याचष्टे—**स्वरूपमेवेति**। फलवत्त्वात्प्रयुक्तिशक्तिसूचनार्थम्—**फलेत्युक्तम्**। प्रत्यक्षवचनाभावेऽपि कामश्रुतीनामनङ्गभूताधानप्रयोजकशक्त्यभावसूचनार्थं सक्रोधमित्यस्याक्षेपक्रियाविशेषणत्वाभ्युपगमे त्वेकग्रन्थतया योज्यम्।

कथमिति भाष्यं का इति प्रश्नाशयविवरणार्थत्वेन व्याचष्टे—**कथमिति**। अग्निहोत्रादिभावनाकरणेतिकर्त्तव्यतांशातिरिक्तत्वादाधानस्य तद्विधिप्रयुक्तत्वासम्भवोऽन्यपरत्वोक्त्योक्तः। करणेतिकर्त्तव्यतांशप्रयोजकेन विधिना[1] तत्साधनमकरणेतिकर्त्तव्यताभूतमप्यन्यथानुपपत्त्या प्रयुज्यतइत्याशयेनोच्यतइत्यादिपरिहारभाष्यं व्याचष्टे—**इतीति**।

ननु यथाग्निहोत्रादि निष्पद्यते, तथा कुर्यादिति विषयसिद्ध्याक्षेपकत्वेऽपि प्रयोगविधेरविषयभूतकरणेतिकर्त्तव्यताव्यतिरिक्तार्थाक्षेपकत्वं न सम्भवतीत्याशङ्कानिरासार्थं तेनेत्याद्यवगम्यते इत्यन्तं भाष्यं व्याचष्टे—**तेनेति**। यथाऽग्निहोत्रमिति भाष्योक्तो विध्यर्थः तच्छब्देनाधानाक्षेपहेतुतया परामृष्टः। अनङ्गस्यापि विधिनाऽऽक्षेपे 'वासोददात्यनो ददाती'ति वस्त्रशकटदानविधिना वस्त्रशकटोत्पादकयोर्वातितक्षणयोराक्षेपः सप्तमाधिकरणपूर्वपक्षसूत्रे वक्ष्यमाणो दृष्टान्तितवानितितक्षणाख्यकर्मजन्ये वस्त्रशकटे च विहिते तदुत्पादकं कर्माक्षिप्यते। यथा यूपे विहिते तदुत्पादकच्छेदनादीति सूत्रार्थः। कामश्रुतिप्राप्त्युक्तिसम्प्राप्तिसूचनायेतिकरणकामश्रुतिप्राप्त्युक्तिप्रयोजनोक्त्यर्थं तत्केनेत्यादिभाष्यं स्पष्टत्वादव्याख्याया, अपि चेति भाष्यं विशिष्टविधौ वाक्यभेदाभावादयुक्तमाशङ्क्य, सत्यां गतावेकस्य वाक्यस्य विशिष्टविधिगौरवाक्षमत्वाद्वाक्यभेदोक्तिरित्याह—**सर्वप्रकारेति**। 'क्रतुप्रधानमुच्येतेति'ति पूर्वसूत्रोक्तप्रतिज्ञानुषङ्गेणाऽऽधानइति सूत्रावयवव्याख्यानार्थमेवमिति भाष्यं व्याचष्टे—**एवमिति**।

सर्वकर्मणामिति भाष्येणोत्तरावयवं यथाश्रुतं दूषयित्वा, किं तर्हीत्यनेन सर्वकर्मशेषभूताग्निशेषत्वेनाधानस्यौपचारिकी सर्वकर्मशेषतोक्तेति भाति। तच्चाङ्गाङ्गत्वेनैवाधानाक्षेपस्य पूर्वपक्षिणो अभिहितत्वादयुक्तमिति मत्वा, सर्वकर्मणामिति भाष्यमकारप्रश्लेषेणोत्तरावयवव्याख्यार्थतया व्याख्यातुमाह—**कथमिति**। शेषत्वनिरासस्यानाक्षेपहेतुमुपपादयितुमाह—**तदा हीति**। शेषत्वेऽपि स्वतन्त्रकालविधानेन कर्मप्रयोगाद् बहिरनुष्ठानस्यावगतस्य कर्मविधिप्रयुक्तत्वेऽनुपपत्तेराक्षेपानावश्यकताऽनवक्लृप्त्योक्ता। आहवनीयादिशब्दानामाधानलक्षणसंस्कारनिमित्तत्वादाहवनीये जुहोतीत्याद्याहवनीयादिश्रुत्यैवाधानस्य कर्माङ्गत्वोक्तेः सर्वकर्मणामिति शेषत्वनिरासभाष्यमयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**तेषामिति**।

आधानजन्यस्य संस्कारस्याहवनीयादिशब्दनिमित्तत्वे अप्याधानस्य स्वरूपेण संस्कारत्वाभावादाहवनीयादिशब्देनानुक्तेरग्निहोत्रादिकर्मणामाहवनीयादिग्रहणमात्रपर्यवसानान्न कश्चिदाधानस्य कर्माङ्गत्वज्ञापनहेतुरस्तीत्यर्थः। संस्कारनिमित्तत्वेनाहवनीयादिशब्दानां जातिनिमित्ता नोवासशब्दविषयसप्तमाधिकरणासिद्धान्तसूत्रविषयसप्तमाधिकरणासिद्धान्तसूत्राविषयत्वेऽपि यथा कर्मजे अनसि वाससि वानोवासोरूपमेव प्राप्यते, न तदुत्पादकं कर्माऽनोवासःशब्दयोः संस्कारनिमित्तत्वाभावेन कर्मणो शेषत्वात्तथाहवनीयादिशब्दानां संस्कारजनकस्याधानस्याग्निहोत्राद्यशेषतयाहवनीयादिश्रुत्या कर्मजे अप्याहवनीयादौ विहिते जन्यमाहवनीयादिरूपमेवाप्यते, नोत्पादकमाधानमित्येतावता साम्येन तन्न्यायोदाहरणम्। यद्वाधानस्य

---

१. तत्साधनमकरणेतिकर्तव्यतांशप्रयोजकेन विधि नेति २ पु० अधिकम्।

कर्मार्थत्वं नास्ति, किं तर्हि तृतीये तत्प्रकृत्यर्थं यथान्ये अनारभ्यवादा इत्याधानस्य प्रकृत्यर्थत्वे पूर्वपक्षिते, सर्वार्थं वाधानस्य स्वकालत्वादिति सिद्धान्तसूत्रेणोच्यते न हि तत्सर्वेषां त्रैवर्णिकानामाधानस्य विहितत्वेन रथकारस्यैवाधानविधिनियोज्यतया परिशिष्टत्वादिति वचनाद्रथकारस्याधानस्यासर्वशेषत्वादि६-१-ति षष्ठाधिकरणोपकरणोपक्रमसिद्धान्तसूत्रवदन्यथा व्याख्यातुं शक्यं नापि 'द्रव्यस्याकर्मकालनिष्पत्तेः प्रयोगः सर्वार्थः स्यात्स्वकालत्वादित्येकादशाधिकरणसूत्रवत् कृत्वाचिन्तान्यायेन सर्वार्थत्वाङ्गीकारेण चिन्तान्तराभावादिति, किं तर्हीति भाष्येणाशङ्क्य पारम्पर्येण सर्वार्थत्वोक्त्यर्थतया तार्त्तीयसूत्रव्याख्यानार्थमग्नीनामिति भाष्यं व्याख्यातुमाह—यस्त्विति। किमित्याशङ्काभाष्याशयमाह—किमिति। अग्नयइति परिहारभाष्याशयमाह—सिद्धान्तेति। नन्वित्याशङ्काभाष्याशयमाह—नन्विति। उच्यतइत्यादधीतेत्यन्तं परिहारभाष्यं व्याचष्टे—उच्यतइति। उत्पादनोक्त्याशयमाशङ्कापूर्वमाह—तत्रेति। श्लोकं व्याचष्टे—यथैवेति। भाष्यार्थमुपसंहरति—इत्यस्तीति।

नन्विह प्रयुक्ते विचार्यत्वादाधानोत्पत्तिमप्राप्तिपक्षः प्रयोजयिष्यतीति ब्राह्मणादिवाक्यानामुत्पत्तिविधिज्ञापनार्थस्योत्पत्तिशब्दस्यानर्थक्यं स्यादित्याशङ्क्य, ब्राह्मणादिवाक्यानां प्रयोजकत्वाभ्युपगमे कर्मविषयत्वेन क्लृप्तत्वात्तेषामेवोत्पादकतापि युक्ता। न गुणसंचरितशक्तीनां सम्भारादिवाक्यानामिति सूत्रयितुं तदुपपादनार्थं पक्षे अप्युपायान्तराप्राप्तिं वक्ष्यमाणामाह—पक्षे अपि चेति। केवलप्रयोजकत्वे ह्यात्मनेपदयुक्तस्य तद्रहितविध्युत्पादितस्याधानस्याधातृगम्याहवनीयादिसाधनत्वानियमात्साध्यसाधनेतिकर्त्तव्यताविशिष्टभावनावगमोत्तरकालं प्रवृत्तस्य प्रयोगविधेः साध्यसाधनत्वानियामकत्वात् प्रत्यक्षेऽपि प्रयोगविधौ सत्युपायान्तरप्राप्तचविरोधात्, तदर्थाप्राप्तेर्युक्तात्मनेपदयुक्तोत्पत्तिविधित्वोपपादनार्थतेत्याशयः क्रयादेः प्राप्त्युपायादाधानात् भिन्नविषयस्य प्रत्यक्षविधिहितेनाप्याधानेन निवृत्त्ययोगाशङ्कानिरासार्थं यदित्यादिभाष्यं व्याचष्टे—प्रत्यक्षेति। आत्मनेपदादनाधातारं प्रत्याहवनीयत्वाद्यभावावगतेरर्थादाधानस्य च प्राप्त्युपायत्वनियमादेकविषयत्वेनोपायान्तरनिवर्त्तकता युक्तेत्याशयः 'उद्गातारः स्तुवत' इत्यात्मनेपदस्यानात्मगामिन्यपि क्रियाफले दर्शनान्नात्मनेपदादात्मार्थतावगन्तुं शक्येत्याशयेन 'कथं चेत्याशङ्क्य स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफलइति स्मृतेर्नकार दधातिपदस्यात्मनेपदस्यात्मगामिक्रियाफलवाचितावगता नान्यत्र व्यभिचारमात्रेणापह्नोतुं युक्तेत्याशयेन परिहारार्थं कर्त्रभिप्राये हीति भाष्यमादधीतेति धातुप्रयोगेण व्याख्यतम्।

नन्वात्मनेपदाभावे'ऽप्यग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम' इत्यादिवत् विधिसामर्थ्यात् कामश्रुतिपरिग्रहेण तदेकवाक्यत्वावगतेः स्वर्गकामादिसाङ्गं कुर्यादिति सामानाधिकरण्याच्चात्मार्थतावगमयिष्यते इत्याशङ्कान्यथानुपपत्त्या कामश्रुत्याक्षेपेऽनङ्गत्वेनैकवाक्यत्वाप्रतीतेः पश्वादिवच्चात्मार्थमुत्पन्नस्याहवनीयादेर्दानादिनायसम्बन्धकरणेऽपि विध्यविरोधान्नात्मनेपदं विनाऽनाधातारं प्रत्याहवनीयादितावगम्यतइत्याशयेन परिहारार्थमसतीति भाष्यं व्याचष्टे—अर्थेति। श्रुतिकल्पनेन सामर्थ्यस्य प्रापकत्वात्प्रत्यक्षश्रुतिसद्भावे च कल्पनायोगात्पक्षेऽपि प्राप्तिर्न सम्भवतीत्यभिधानार्थमपि चेति भाष्यं तात्पर्यतस्तावद्व्याचष्टे—अपि चेति। नियमस्य,

आदिशब्दोक्तायाश्च परिसंख्याया यावल्लिङ्गानुमिताः श्रुतयः प्रतिमन्त्रं कल्पयितुमारभ्यन्त-इत्यादिमन्त्राधिकरणवार्त्तिके शुद्धविधिवदप्राप्तविधित्वोक्तेर्न पक्षेऽपि प्राप्तिः सम्भवतीत्यर्थः । स्वरूपतो व्याचष्टे—**सति चेति** ।

नन्वाधानस्याग्निहोत्राद्यङ्गत्वे सत्याङ्गानां प्रधानविधिप्रयुक्तत्वात्प्रयाजादिवत्प्रत्यक्षविधि-सद्भावेऽपि कामश्रुतिप्रयुक्तत्वापत्तेः, अनङ्गत्वे वा प्रत्यक्षनिध्यभावेनऽपि कामश्रुतिभिः प्रयुक्तयशक्तेः सतीष्विति विशेषणानर्थक्यमित्याशङ्कयाऽनङ्गत्वेऽप्यन्यथानुपपत्त्याधानविधि-कल्पनद्वारा प्रयुक्त्युपपत्त्याशयेन परिहारार्थमसतीष्विति भाष्यं व्याचष्टे—**यदि त्विति** । ननु सतीष्वपि ब्राह्मणादिश्रुतिषु शूद्रस्याप्राप्तेः कामश्रुतिभिः प्राप्तिर्युक्तेत्याशङ्कानिरासार्थं सतीति भाष्यं व्याचष्टे—**सतीषु त्विति** ।

अत्राहेति द्वितीयपूर्वपक्षभाष्ययाशयपूर्वं व्याचष्टे—**पूर्वोक्तेति** । तन्निरासार्थमुच्यतइति भाष्यं व्याचष्टे—**तत्रेति** । विधेयस्य स्तावकत्वेन शेषभूतेत्यर्थः । नेतीत्याशङ्काभाष्यमेवं-शब्देन सम्भारपरामर्शात्सम्भारविध्येकवाक्यत्वप्रतीतेरयुक्तमाशङ्क्य भिन्नवाक्यत्वेऽपि प्रक-रणप्राप्तसम्भारपरामर्शोपपत्तेर्न तावन्मात्रेणैकवाक्यतावगतिरित्येवमुपपादयन् व्याचष्टे—**परः पुनरिति** । उच्यतइति परिहारभाष्यं व्याचष्टे—**भवेदिति** । गुणार्थमेवेति स्तुतिवाचिना गुणशब्देनापमुपसर्जनं तु विधीयतइति भाष्यस्थो विदधाति स्तुतिलक्षणार्थतया व्याख्यातः । नन्वित्याशङ्काभाष्यं विद्वद्वाक्यस्याधानविधित्वे ब्राह्मणादिश्रुतेश्च वसन्तादिलक्षणगुणार्थत्वे हेत्वनुपन्यासादयुक्तमाशङ्क्य निर्णयहेतुप्रश्नार्थत्वेन व्याचष्टे—**कुतो न्विति** । निर्णयहेतूक्त्यर्थं नेत्याद्याहेत्यन्तं भाष्यं व्याचष्टे—**तदिति** । प्रत्यक्षकल्पनीयत्वलक्षणो विशेषो निर्णयहेतु-रित्याशयः । तस्मात्प्रशस्ततामितिभाष्यं तात्पर्यतो व्याचष्टे—**नैतदिति** । भाष्यं व्याचष्टे—**न चेति** । यदि त्वित्याद्युपरुध्येतेत्यन्तं भाष्यं व्याचष्टे—**यदि त्विति** ।

नन्वित्याद्यवकल्प्यतएवेत्यन्तं भाष्यं व्याचष्टे—**लिङ्गा त्विति** । लिङ्गा विहितस्या-धानस्य सम्बन्धि यत्सम्भरणम्, तस्य यो विधि'रथ सम्भारान् सम्भरती'त्यादिसामान्यरूपो, विशेषरूपश्च । तत्प्ररोचनार्थं स्तुतिसहितस्याधानस्य पुनः श्रवणमित्यर्थः । अपि चेति भाष्यं व्याचष्टे—**लिङ्गा चेति** । नन्वित्याशङ्काभाष्यं व्याचष्टे—**नन्विति** । उच्यतइति परिहार-भाष्यं व्याचष्टे—**सिद्धान्तेति** । पदान्तरसम्बन्धात्मकेन वाक्येन ब्राह्मणादिविधानेऽप्याधानस्य श्रुत्या विधानाद् बलीयस्त्वोपपादनार्थं परेति भाष्यं व्याचष्टे—**स्वपदेति** । द्विषच्छब्दः सपत्नशब्दव्याख्यार्थः, शाखान्तरीयपाठप्रदर्शनार्थो वा ।

नन्विति भाष्येण विशिष्टविधिगौरवाद्दौर्बल्यमाशङ्कितम्, नैष इत्यनेन विशिष्टविध्यन्यथा-नुपपत्तिकल्पविध्यन्तरैर्विशेषणविधिसिद्धेः श्रौतविधिव्यापारनानात्वाभावात्परिहृत्य द्वितीय-पूर्वपक्षनिरासे तस्मादित्यनेनोपसंहृते, अपि चेति पूर्वपक्षभाष्योक्तं वाक्यभेदं गौरवाशयेन परिहृतमपि ब्राह्मणादिजातेरनुपादेयतया निमित्तत्वेनेष्टत्वात्, कालनिमित्तयोर्द्वयोरुद्देश्यत्वा-पत्तेः प्रत्युद्देश्यवाक्यसमासिलक्षणवाक्यभेदाशयेन, यत्त्वित्यनेनानुभाष्यं यदीत्यनेन चानुपादे-

यत्वाज्जातेर्ब्राह्मणादिश्चेदादधीतेवेत्यर्थान्निमित्तत्वावगमेऽप्यप्रवृत्तप्रवर्त्तनात्मकत्वेनेदानीं कुर्वीतेत्यस्य विध्यर्थस्य कादाचित्कत्वात्कादाचित्केनैव निमित्तेनान्वयावगतेर्नित्यत्वेन जातेर्निमित्तत्वायोगात्कर्तृसंख्यासामानाधिकरण्यात्कर्तृतयैवान्वयावगतेः कर्त्तुश्चानुद्देश्यत्वात् प्रत्युद्देश्यं वाक्यसमाप्तिर्न प्रत्युद्देश्यवाक्यपरिसमाप्तिलक्षणवाक्यभेदापत्तिरित्याशयेन परिहृत्याधिकरणार्थोपसंहारार्थम्—तस्मादित्युक्तम् । तत्सर्वं सङ्क्षिप्य व्याचष्टे—कर्त्रिति । ब्राह्मणादिजातिनिमित्ततया कर्तृत्वापादनार्थत्वेनाप्राधान्यद्योतनार्थं कर्तृशब्द विशिष्टशब्दो नैकार्थत्वनिरासार्थः । निमित्तभावेऽनुष्ठितस्यापि कर्मणो नैष्फल्यापत्तेस्तस्यापि क्रियोपकारित्वात् भाष्ये गुणत्वोक्त्यर्थविरोधः । निमित्तस्याविधेयत्वेऽप्यवच्छेदकत्वात्फलसंस्कार्यवद्विधेयविशेषणत्वाविरोधः ॥४॥

इति तृतीयमाधानाधिकरणम् ।

भा० प्र०—वेद में कहा गया हैं कि "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः" (तै० ब्रा० १।१।२) ब्राह्मण वसन्त में अग्न्याध्यान करे, क्षत्रिय ग्रीष्म में एवं वैश्य शरत्काल में । इस स्थल में ब्राह्मण के लिए वसन्त काल को आधान के निमित्त के रूप में अनुवाद या उल्लेख किया गया है या ब्राह्मणादि वर्ण जिसका कर्ता है, उसके लिए आधान-विधान किया गया है—यह संशय है ।

इस संशय में पूर्वपक्षी का कहना है कि पूर्व अधिकरण में ब्राह्मण आदि की प्राप्ति नहीं थी, अब ब्राह्मण आदि वर्णों को निमित्त नहीं कहा जा सकता है । किन्तु इस स्थल में ब्राह्मण आदि अग्न्याधान प्राप्त होने से ब्राह्मण आदि को आधान-सम्बन्धी वसन्त आदि काल को निमित्त मानना होगा यदि यह कहा जाय कि ब्राह्मण आदि वर्णों का आधान कैसे प्राप्त होता है ? इसके समाधान में कहना है कि कामश्रुति के सामर्थ्य अर्थापत्ति के बल से ब्राह्मण आदि का आधान प्राप्त होता है । क्योंकि "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि श्रुतियों में जो स्वर्ग आदि का उल्लेख हुआ है उसके लिए अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि कर्म विहित होते हैं और अग्न्याधान के विना वे कर्म उपपन्न नहीं हो सकते हैं, कारण, आहुति का आधार अग्नि यदि न रहे तो अग्नि साध्य क्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती हैं, अतः, अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा उन कर्मों में अग्न्याधान की प्राप्ति होती है । इसी प्रकार वेदाध्ययन के विना कोई भी कर्म कैसे किया जा सकता है, इससे भी अवगत होता है कि विद्या के विना भी वे कर्म उपपन्न नहीं हो सकते हैं, वेदाध्ययन भी कामश्रुति के सामर्थ्य से अर्थापत्ति प्रमाण के द्वारा लब्ध होने से वसन्त काल में ब्राह्मण का उपनयन करे, ग्रीष्मकाल में क्षत्रिय का एवं शरत्काल में वैश्य का इस वेदवचन में भी ब्राह्मण आदि के उपनयन सम्बन्धी वसन्त आदि कालों का उल्लेख किया गया है । इसीलिए "वसन्ते ब्राह्मणो अग्नीनादधीत" इत्यादि वाक्यों में ब्राह्मण आदि का निमित्तरूप में ही अनुवाद किया गया है ।

इसके समाधान में सिद्धान्ती का कहना है कि इस स्थल में ब्राह्मण आदि वर्ण वसन्त आदि कालों का निमित्त नहीं है, किन्तु उक्त वेदवाक्य ब्राह्मण आदि वर्ण जिसका कर्ता है ऐसा वसन्त आदि काल से विशिष्ट आधान एवम् उपनयन विहित होता है, कारण, कामश्रुति से शास्त्रीय अग्न्याधान एवं वेदाध्ययन प्राप्त नहीं है क्योंकि, आधान किसी क्रिया का शेष अर्थात् अङ्ग नहीं है, अपितु अग्नि ही सभी कर्मों का अङ्ग है। लौकिक अग्नि में होम करने पर भी क्रिया का समाधान किया जा सकता है एवं स्वयं पुस्तक पढकर भी कर्म के उपयोगी शास्त्र-ज्ञान का लाभ किया जा सकता है, इस प्रकार अन्यथा उपपत्ति होने से यहाँ अर्थापत्ति प्रमाण नहीं हो सकता है।

यदि यह कहा जाय कि आधान जब तीन यज्ञीय अग्नि का साधन है तब आधान के विना किस प्रकार अग्नि की प्राप्ति कर सकते हैं ? ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि कोई एक व्यक्ति अग्नि का आधानकर अन्य व्यक्तियों को यदि देता है तो उसकी आधान-सिद्ध अग्नि का ही लाभ हो जाता हैं। किन्तु वे यदि उस अग्नि में क्रिया करते हैं तो क्या वे सफल होंगे ? यदि आधान को अर्थापत्ति प्रमाण के बल से प्राप्त करते हैं तो अन्य के द्वारा आहित अग्नि में कर्म करने पर भी वे सफल नहीं हो सकते हैं, "अग्नीन् आदधीत" इस वाक्य के 'आदधीत' इस पद में आत्मनेपद में रहने से यह अवगत होता है कि प्रत्येक यागकर्ता यदि स्वतन्त्र रूप में स्वयं आधान करता है तभी वह अग्नि उस कर्म के लिए उपयोगी होगी। कारण, "स्वरितमितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले" (पा० सू० १।३।७२) इस पाणिनि के सूत्र के अनुसार 'मित्' धाञ् धातु से आत्मनेपद होने से यही अवगत होता हैं कि आधान का फल प्राप्त करने के लिए अर्थात् अग्नि को अपने कर्म के उपयोगी करने के लिए उसका स्वयं ही आधान करना आवश्यक है, दूसरे को द्वारा लाई गई अग्नि में आधान नहीं किया जा सकता है। फलतः जो आधान करेगा वही अनुष्ठान करने वाले व्यक्ति का फल प्राप्त करेगा अन्य नहीं। अतः कामश्रुति से आधान की प्राप्ति नहीं हो सकती हैं इस प्रकार कर्म के उपयोगी वेद के अध्ययन में प्राप्ति नहीं हो सकतो हैं, ऐसा मानने पर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के समान शूद्र के लिए वेदाध्ययन की प्राप्ति हो सकती है। इसीलिए, उनके उपनयन का प्रसङ्ग भी हो सकता है। किन्तु "वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत" इत्यादि वचनों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य का ही उपनयनकाल उपदिष्ट है, शूद्र का उपनयन उपदिष्ट नहीं है, इसीलिए स्वयं पुस्तक को अध्ययन कर कर्म की उपयोगी वेदविद्या का लाभ कर सकता है और शूद्र की भी वेदाध्ययन में प्रसक्ति हो सकती हैं उसकी निवृत्ति के लिए "ब्राह्मणमुपनयीत" इत्यादि वाक्य को ब्राह्मणादि विषयक उपनयन का ही विधायक माना गया है, अतः, "वसन्ते ब्राह्मणः अग्नीन् आदधीत" एवं "वसन्ते ब्राह्मणम् उपनयीत" इत्यदि श्रुतिवाक्यों में ब्राह्मण आदि को निमित्त के रूप में उल्लेख नहीं किया गया हैं, किन्तु ब्राह्मणादि कर्तृक वसन्त आदिकाल विशिष्ट आधान एवं उपनयन का ही विधान करता है।

"आधाने" = आधान के विषय में "वसन्ते ब्राह्मणः अग्नीन् आदधीत" इत्यादि वसन्त वाक्य ही प्रापक हैं, "असर्वशेषत्वात्" = क्योंकि आधान किसी का भी अर्थात् किसी भी यज्ञ का शेष अर्थात् अङ्ग नहीं है ।।४।।

इति तृतीय विशिष्टाधानविधेयत्व अधिकरण ।

अथ चतुर्थं दाक्षायणयज्ञाधिकरणम्

[४] अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् ।। ५ ।। पू०

शा० भा०—दर्शपूर्णमासौ[1]प्रकृत्याऽऽमनन्ति—दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः, साकंप्रस्थायीयेन[2] यजेत पशुकामः, संक्रमयज्ञेन यजेतान्नाद्यकाम इति । तत्र संदेहः । किं दर्शपूर्णमासयोरेव गुणात्फलमुत कर्मान्तरमेवंजातीयकमिति । किं प्राप्तम् । कर्मान्तरमिति । कुतः । संज्ञोपबन्धात् । यद्यपि प्रकरणाद्यजतिशब्दाच्च स एव पूर्वप्रकृतो याग इति गम्यते । तथाऽपि नासावेवंसंज्ञक इति यागान्तरं विधेयं गम्यते ।। ५ ।।

अथ चतुर्थं दाक्षायणयज्ञाधिकरणम्

त० वा०—युक्तं दध्नेन्द्रियकामस्येति गुणात्फलम् । न हि तत्र दध्यादीनां होमसामानाधिकरण्यं, येन संज्ञालक्षणो भेदः स्यात् । दाक्षायणयज्ञादीनां तु यागसामानाधिकरण्यात्पूर्वयागे [3]चाप्रयुक्तत्वादात्मरूपावच्छिन्नयागान्तरप्रतिपादनमविरुद्धम् । न च कश्चिद्दध्यादिभिस्तुल्य एवंसंज्ञो गुणः प्रसिद्धः । तस्माद्भावार्थाधिकरणन्यायेन फले यागविधानाद्यागान्तरम् ।।५।।

।। अथ चतुर्थं दाक्षायणयज्ञाधिकरणम् ।।४।।

न्या० सु०—सन्दिग्धविधेयत्वार्थस्य रथन्तरसामादिशब्दस्य कस्य निमित्तार्थत्वेनाविधेयार्थत्वादभेदकत्वम्, कस्य वा तदयोगेन विधेयार्थत्वात् भेदकतेति चिन्तिते, अधुना दाक्षायणादिशब्दस्य गुणविधि नामधेयत्वसन्देहाद्विधेयाविधेयार्थतया सन्दिग्धस्याविधेयार्थत्वेऽपि, संज्ञातः, अभ्यासात् प्रकरणान्तराद्वा भेदमाशङ्क्य विधेयार्थत्वाद् गुणफलान्वयावगतेरभेदाभिधानात्सङ्गतिसन्देहतद्धेतूस्पष्टत्वादुपेक्ष्य, दध्नेन्द्रियकामाधिकरणेनैव दाक्षायणादीनामपि गुणानां फलान्वयेनाभेदकत्वसिद्धेः पौनरुक्त्याशङ्कां परिहरन्संज्ञया भेदशङ्कार्थमाद्यसूत्रं व्याचष्टे—युक्तमिति । तृतीयान्तत्वाविशेषेऽपि निरूढानिरूढत्वविशेषात्सामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यविशेषोपपादनार्थम्—न चेत्युक्तम् । कर्मान्तरमित्यनेन चोदनाशब्दश्चोद्यतइति व्युत्पत्त्या कर्मवाचितया व्याख्यातः । साकम्प्रस्थाय्यादीनामयनत्वाभावेऽपि तुल्यन्यायत्वादुदाहरणत्वविरोधः ।। ५ ।।

---

१. ब. समामनस्ति । २. ब. प्रस्थाय्येन । ३. क० अयुक्तत्वात् ।

भा० प्र०—दर्शपूर्णमासप्रकरण में कहा गया है कि "दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः", "साकंप्रस्थायीयेन यजेत पशुकामः", "संक्रमयज्ञेन यजेत अन्नाद्यकामः" (तै० सं० २।५।४–५) प्रजा की कामना करने वाला दाक्षायण यज्ञ से यजन करे, पशु की कामना करने वाला सांकप्रस्थीय से यजन करे, अन्नाद्य की कामना करने वाला संक्रम यज्ञ से यजन करे।" इन देववाक्यों में "दाक्षायण यज्ञ", "साकंप्रस्थायीय" एवं "संक्रम यज्ञ" इन नामों से प्रसिद्ध स्वतन्त्र-स्वतन्त्र कर्मों का विधान किया गया है, ये गुणविधि हैं—यह संशय होने पर पूर्वपक्षियों ने कहा है कि "अयनेषु चोदनान्तरम्" दाक्षायणादि वाक्य स्वतन्त्र-स्वतन्त्र चोदना—ये स्वतन्त्र-स्वतन्त्र कर्म की ही विधि हैं, क्योंकि "संज्ञोपबन्धात्" इस स्थल में संज्ञा का उल्लेख है अर्थात् 'दाक्षायण', 'साकंप्रस्थायीय' एवं 'संक्रम' नाम से कोई गुण लोक में प्रसिद्ध नहीं है। "उद्भिदा यजेत" इत्यादि स्थलों के समान यहाँ भी 'यज्' धातु के साथ उसका सामनाधिकरण्य रहता है।

"अयनेषु" = दाक्षायणादि वाक्य में, "चोदनान्तरम्" = अन्य चोदना अर्थात् स्वतन्त्र कर्म की विधि होती है, "संज्ञोपबन्धात्" = यतः संज्ञा का अर्थात् नाम का उपबन्ध अर्थात् उल्लेख किया गया है ॥५॥

अगुणा च कर्मचोदना ॥ ६ ॥

शा० भा०—न चात्र गुण उपरुध्यते[1] कश्चिद्यद्विधानार्था चोदना भवेत्, यदि च न यागान्तरमु, आनर्थक्यमेव। अपि च, यदि गुण उपबध्येत, ततो यागगुणसंबन्धो गम्यत इति, तदनुष्ठानं विधीयेतेति अनुपबध्यमानेयागमात्रं गम्यते इति, तदनुष्ठानं विहितं गम्यते ॥ ६ ॥

त० वा०—विधिशक्तिः क्रियातो नोत्तारितेत्यभिप्रायः ॥६॥

न्या सु०—न चेति भाष्येणाऽभ्यासेन भेदशङ्कार्थतया एतत्सूत्रं व्याख्याय, अपि चेत्यनेन गुणोपबन्धेऽपि दाक्षायण-संक्रमणलक्षणयोर्गुणयोर्यज्ञविशेषणत्वेन समासपदोपात्तयोः निष्कृष्य विध्ययोगात्, आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद्रुक्काम इतिवत्फले गुणविशिष्टकर्मवध्यापत्तेः—कर्मान्तरत्वसिद्धिरित्युक्तम्। तत्-सूत्रानारूढत्वादयुक्तमाशङ्क्य, चशब्दसूचिताभ्युपेत्यवादार्थत्वेनोपपादयितुमाह—विधीति। गुणाननुबन्धे विधिशक्त्युत्तारणस्याऽनाशङ्क्यत्वात् गुणोपबन्धेऽपीत्यध्याहारेण योज्यम् ॥ ६ ॥

भा० प्र—पूर्वपक्षियों ने यह भी कहा है कि "अगुणा च कर्मचोदना" = दाक्षायण यज्ञ आदि वाक्यों में यदि किसी द्रव्यादि गुणों का उल्लेख रहता तो उस गुण के अनु-

---

१. ब. उपबध्यते।

रोध से इसको गुणविधि॰ कहा जाता, किन्तु ऐसा नहीं है, अतः इसको गुणविधि नहीं कहा जा सकता है। जब यह गुणविधि नहीं है, तब इसको कर्मान्तरविधि न मानने पर सब वचन अनर्थक हो जायेंगे, अतः, यह कर्मान्तरविधि नहीं है ॥६॥

समाप्तं च फले वाक्यम् ॥ ७ ॥

शा० भा०—इतश्च कर्मान्तरम्। कथम् ? फले समाप्तं वाक्यम्। 'प्रजाकामो यजेत' इति प्रजाकामस्य याग उपायो विधीयते। विधीयते चेत्कर्मान्तरम् ॥७॥ पूर्वपक्षः ॥

त० वा०—फलस्यानुपादेयत्वान्न 'व्रीहिभिर्यजते' इत्यादिवत्कर्मोद्देशेन विधिः सम्भवतीत्यवश्यं कर्म तत्र विधातव्यम्। ततश्च सिद्धो भेदः ॥७॥

न्या० सु०—अनुपादेयान्वयात्प्रत्यभिज्ञायाश्च संज्ञान्तरान्वयेन, गुणान्तरान्वयेन वा तिरोधानात् प्रकरणान्तरेण भेदशङ्कार्थतयैतत्सूत्रं व्याचष्टे—फलस्येति ॥ ७ ॥

भा० प्र०—दाक्षायणादिवाक्य गुणविधि नहीं है वरन् कर्मान्तरविधि है, इसे कर्मान्तरविधि मानने का अन्य कारण भी है "समाप्तं च फले वाक्यम्"। "दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः" इत्यादि वाक्यों में स्वर्गादिरूप फलों के लिए उपायस्वरूप दर्शपूर्णमास आदि यागों का विधान है, वैसे ही इस स्थल में भी प्रजा आदि फल के उपायस्वरूप दाक्षायण आदि याग "दाक्षायणयज्ञेन यजेत प्रजाकामः" इत्यादि वचनों से विहित हैं। इस स्थान में श्रुत प्रजा आदि फलों के उपायस्वरूप अन्य कोई भी याग विहित नहीं है, अतः दाक्षायण आदि को ही प्रजा आदि फलों के उपायस्वरूप याग अर्थात् कर्मान्तर = स्वतन्त्रकर्म के रूप में विहित है—यह मानना होगा।

"च" क्योंकि, "वाक्यम्" = यह श्रुतिवचन, "फले समाप्तम्" = फल में समाप्त होता है अर्थात् फलसम्बन्ध का ज्ञापन कर निराकाङ्क्ष हो जाता है, अतः, यह कर्मान्तर विधि है। यह पूर्वपक्ष है ॥७॥

विकारो वा प्रकरणात् ॥ ८ ॥ सि०

शा० भा०—दर्शपूर्णमासयोरेव[1] विकार एवंजातीयकः स्याद्दाक्षायणयज्ञादिः। एवं प्रकरणमनुगृहीतं भवति[2] ॥ ८ ॥ सिद्धान्तः ॥

त० वा०—सत्यपि फलं प्रति विधाने 'संनिधौ' त्वविभागात्' इत्यनेनाकर्मान्तरता। दध्यादिवच्च गुणफलसम्बन्धप्रत्ययात्प्रकृतयागबुद्धेः[3]।

१. ब. रेववा। २. ब. भविष्यति। ३. क० गुणरूप।

यत्तु गुणो न प्रसिद्ध इति। नैष दोषः। उक्थ्यादिवत्प्रकरणलभ्यत्वात्। एवं-विधा च वाक्यान्तरेण गुणरूपविधानादस्ति प्रसिद्धिः। दध्यादिवदेवात्रापि वैयधि-करण्येनैव सम्बन्धः।

किं च—

अवस्थान्तररूपत्वाद्दध्यादेरविलक्षणाः।
प्रत्यासत्तेः प्रतीयन्ते सामानाधिकरण्यवत् ॥

तस्माद्दर्शपूर्णमासयोरेवावस्थान्तररूपाद्विकारात्फलम्, न कर्मान्तरात्। एवं च प्रकरणविच्छेदो नात्यन्तं कृतो भविष्यति। यद्यपि फलवतः कथंभावेनाग्रहणादे-तद्विषयेऽस्त्येव प्रकरणबाधः तथाऽप्याश्रयत्वेन सम्बन्धादुत्तराणि च वाक्यानि प्रत्यनुषङ्गसिद्धेरनुग्रह इत्युच्यते ॥८॥

न्या० सु०— प्रयोगान्यथात्वलक्षणो गुणानयनादिवाक्येषु[1] विधीयते, न कर्मान्तरमिति विकारशब्देन सिद्धान्ते प्रतिज्ञाते, दाक्षायण-संक्रमणरूपयोर्गुणयोर्निष्कृष्य विध्ययोगात्, तत्तद्विशिष्टकर्मविध्यापत्तेः, कर्मान्तरत्वापरिहारमाशङ्क्य, कर्मविध्यभ्युपगमेऽपि विधिश्रुतेः स्वरूपतात्पर्यभावेनाऽभेदकत्वाच्छ्रुत्यविरोधेन सन्निधानेनाऽभेदावगत्यभिधानार्थतया प्रकरणा-दिति सूत्रावयवं व्याख्यातुमाह—सत्यपीति। विधिश्रुतेः स्वरूपतात्पर्याभावेनाविरोध-मेवोपपादयति—दध्यादिवच्चेति।

दध्यादिवत्कर्मव्यतिरिक्तस्य दाक्षायणादिसंज्ञाकस्य गुणस्याऽप्रसिद्धत्वादविधेयत्वाशङ्का-निरासार्थतयैतमेव सूत्रावयवं न चेतिवार्तिकावयवोक्तशङ्कानुभाषणपूर्वकं व्याचष्टे—यत्त्विति। यथोक्थ्यादेर्गुणस्यालौकिकस्यापि प्राकरणिकवाक्यान्तरालोचनात्सोमयागाभ्यासविशेषरूपतया प्रसिद्धेः फले विध्युपपत्तिः तथा 'पौर्णमास्यौ यजेत्, द्वे अमावास्ये, सह कुम्भीभिरभि-क्रामन्, इत्यादिप्राकरणिकवाक्यान्तरालोचनेनावृत्ति-सहप्रस्थानादिरूपतया दाक्षायण-साकम्प्रस्थाय्यादिगुणप्रसिद्धेः फले विध्युपपत्तिरित्यर्थः। एतदेव विवृणोति—एवमिति। वाक्यान्तराच्च साकम्प्रस्थाय्यादिशब्दस्य गुणवाचित्वप्रसिद्धो दध्यादिवद्यागप्रयोगं परिच्छिन्दता सहप्रस्थानादिना फलं भावयेदिति वैय्यधिकरण्येन धात्वार्थान्वयात्फलान्वयो-पपत्तिरित्याह—दध्यादिवच्चेति।

नन्वेवमपि दाक्षायणादेः समासाद्यज्ञसामानाधिकरण्यावगतेर्दध्यादिवैलक्षण्यं भवि प्रती-त्याशङ्क्याह—किं चेति। येऽपि दाक्षायणादयः सामानाधिकरण्येनैव प्रतीयन्ते, तेऽपि दाक्षायणादिना गुणेन यागप्रयोगं परिच्छिन्दता फलं भावयेदिति वैय्यधिकरण्येन धात्वर्थान्वयाद्दध्यादेरविलक्षणा इत्यप्यर्थसूचनार्थः किंचशब्दः। कथं सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानानां दध्याद्यवैलक्षण्यमित्याशङ्क्य, यज्ञावस्थाविशेषरूपत्वलक्षणयज्ञप्रत्यासत्ति-

१. गुणायानादिवाक्येष्विति २ पु० पा०।

निमित्तौपचारिकता दाक्षायणेन यजेतेति सामानाधिकरण्यप्रतीतेः उक्तसिद्धान्तमुपसंहरति—तस्मादिति। 'एवं हीति भाष्योक्तं प्रकरणादि'ति सूत्रावयवव्याख्यातुमनुसन्धत्ते—एवं चेति। ननु गुणस्य फलवत्त्वे कथंभावेनाग्रहात्प्रकरणानुग्रहोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याह—यद्यपीति ॥ ८ ॥

भा० प्र०—इस पूर्वपक्ष के समाधान में सिद्धान्ती का कहना है कि "विकारो वा प्रकरणात्" प्रकरण के अनुसार 'दाक्षायण' आदि दर्शपूर्णमास का ही विकार अर्थात् अवस्थान्तर है, क्योंकि, दर्शपूर्णमास के ही प्रकरण में अर्थात् सन्निधान में उक्त वचन पढ़े गये हैं। इनको कर्मान्तर मानने पर प्रकरण का विच्छेदरूप दोष होगा। प्रकरणवश ही दर्शपूर्णमास के साथ उपभेद प्रत्यभिज्ञा है, अतः, यह कर्मान्तर नहीं है। इस स्थल में "प्रजा" आदि फलों का उल्लेख है, वह भी "दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्" इत्यादि वाक्यों से विहित दधिरूपगुण जैसे इन्द्रियरूप फल का साधान होता है, वैसे ही प्रजा आदि फलों का भी कारण होगा।

यदि यह कहा जाय कि दाक्षायण आदि गुण प्रसिद्ध नहीं है ? इसके समाधान में कहा जा सकता है कि अन्य वाक्य में इसका गुण के रूप में किया गया है, अतः, दाक्षायण आदि के गुणत्व की लौकिक प्रसिद्धि न होने पर भी उक्त प्रकरण में वैदिक प्रसिद्धि है, और "दध्ना इन्द्रियकामस्य" इत्यादि स्थल में जैसे दधि और धात्वर्थ का सामानाधिकरण्यरूप से अन्वय नहीं होता है, अपितु वैयधिकरण्य अर्थात् व्यधिकरण भाव से ही अन्वय होता है, इस स्थल में भी वैसा ही होगा।

"विकारः" = विकार अर्थात् दर्शपूर्णमास का ही अवस्थान्तर, "वा" = पूर्वपक्ष की निवृत्ति का सूचक है, "प्रकरणात्" = प्रकरण के अनुसार ॥८॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ९ ॥

शा० भा०—लिङ्गमप्येतमर्थं दर्शयति त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत। यदि दाक्षायणयाजी स्यात्। अथो अपि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत। अत्र ह्येव सा संपत् संपद्यते। द्वे हि पौर्णमास्यौ यजेत, द्वे अमावास्ये। अत्र ह्येव खलु सा संपद्भवति, इति। यदि दाक्षायणयज्ञो दर्शपूर्णमासावेव, एवं तर्हि[1] त्रिंशत्संपदा प्रयोजनम्। ततस्तस्य त्रिंशत्संपदनुग्रहो[2] युज्यते। तस्मादपि न कर्मान्तरम् ॥ ९ ॥ सिद्धान्ते हेतुः ॥

त० वा०–त्रिंशत्संपत्पूरणम्[3], पौर्णमास्यमावास्यासंकर्तिनं वा भेदं बोधयति। न हि दार्शपूर्णमासिकस्त्रिंशद्वर्षपक्षः कर्मान्तरेण पूरयितुं शक्यते। न च नियमस्याति-

---

१. ब. तस्य। २. ब. संपत्यनुग्रहो। ३. क० त्रिंशत्पूरणं।

देशः। येन कर्मान्तरस्यैवैतत्पञ्चदशवर्षपक्षविधानं स्यात्। न च दाक्षायणयाजित्वेन[1] निमित्तेन दर्शपूर्णमासयोरेव पञ्चदशवर्षपक्ष उपजायते। सम्बन्धाभावात्। द्वे हि पौर्णमास्यौ, द्वे अमावास्ये इति चास्यानुपपत्तिः ॥९॥

न्या० सु०—किमत्राभेदलिङ्गमित्यपेक्षायां पञ्चदशवर्षसंख्यया त्रिंशद्वर्षसंख्यात्मकसम्पत्पूरणं 'द्वे पौर्णमास्यौ यजेत, द्वे अमावास्ये' इति पौर्णमास्यमावास्याकीर्त्तनं चेति लिङ्गद्वयमाह—सम्पदिति। सम्पत्पूरणस्य लिङ्गत्वमुपपादयति—न हीति।

ननु कर्मान्तरत्वेऽप्यतिदेशप्राप्तत्रिंशद्वर्षसंख्यास्थाने पञ्चदशवर्षसंख्याविधानात्तत्सम्पत्करणोक्तिरुपपत्स्यतइत्यशङ्क्याह—न चेति। यावज्जीवपक्षवत्त्रिंशद्वर्षपक्षस्याप्यावश्यकत्वाक्षेपनियमरूपत्वात्,तस्य च कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वात्फलनियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयस्तद्बन्धनत्वादि-८-१ त्यष्टमाधिकरणेऽतिदेशनिषेधान्न कर्मान्तरे सम्पत्पूरणोपपत्तिरित्याशयः।

ननु कर्मान्तरे सम्पत्पूरणानुपपत्तावपि दाक्षायणाख्यकर्मान्तरयाजित्वेन निमित्तेन दर्शपूर्णमासयोरेव पञ्चदशवर्षत्वविधानात्त्रिंशत्पूरणोक्तिरुपपत्स्यतइत्याशङ्क्याह—न चेति। कर्मान्तरत्वे दाक्षायणयाजित्वस्य दर्शपूर्णमाससम्बन्धाभावेनाऽऽवर्त्तमानयोर्दर्शपूर्णमासयोः पञ्चदशभिस्त्रिंशत्सम्पत्त्ययोगात्'पञ्चदशैव वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेते'ति वाक्यार्थो न युज्येतेत्यर्थः। पौर्णमास्यमावास्यासङ्कीर्त्तस्य लिङ्गत्वमुपपादयति—द्वे हीति ॥ ९ ॥

भा० प्र०—दाक्षायण आदि कर्मान्तर नहीं हैं, इस प्रसङ्ग में अन्य हेतु का प्रदर्शन किया जा रहा है "लिङ्गदर्शनात्"। श्रुति में कहा गया है "त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत"। यदि दाक्षायणयाजी स्यात्। अथो अपि पञ्चदशैव वर्षाणि यजेत। अत्र ह्येव सा सम्पद्यते। ये हि पौर्णमास्यौ यजेत द्वे अमावास्ये" तीस वर्षों तक दर्शपूर्णमास यज्ञ करे, यदि दाक्षायण यज्ञ करते हैं तो पन्द्रह वर्षों तक यज्ञ करें, इसी से दर्शपूर्णमास सम्पन्न होगा। दो बार पौर्णमासी याग एवं दो बार अमावास्या याग करें।" इस श्रुति में तीस वर्ष दर्शपूर्णमास याग करें—यह कहा गया है और पन्द्रह वर्षों तक दाक्षायण यज्ञ के करने का उपदेश दिया गया है, किन्तु उसको दो बार करना होगा। फलस्वरूप दाक्षायण यज्ञ भी पन्द्रह वर्षों तक करके इसका दो बार अनुष्ठान करने पर तीस वर्षों तक अनुष्ठान हुआ। दाक्षायण यक्ष एवं दर्शपूर्णमास यदि अभिन्न हैं तभी दाक्षायण यज्ञ का दो बार अनुष्ठान से दर्शपूर्णमास का तीस वर्षों के अनुष्ठान से इसकी पूर्ति सम्भव होती है, अन्यथा नहीं। क्योंकि एक के द्वारा दूसरे की पूर्ति नहीं हो सकती है। "द्वे हि पौर्णमास्यौ द्वे हि अमावास्ये" इस श्रुतिवचन के अनुसार दो पौर्णमासी एवं दो अमावास्या के यागों की चर्चा की गई है—वह भी सङ्गत नहीं होगा—यदि उनकी अभिन्नता मानी जाय, अतः दाक्षायण यज्ञ एवं पौर्णमास याग अभिन्न है।

"लिङ्गदर्शनात्" = यतः लिङ्ग अर्थात् श्रुतिवाक्य से विज्ञापित ज्ञापक हेतु दृष्ट होता है, "च" = एवम् ॥९॥

---

१. क० दाक्षिणायन।

गुणात्संज्ञोपबन्धः ॥ १० ॥

शा० भा०—यदुक्तं संज्ञोपबन्धात्कर्मान्तरमिति। यदि दाक्षायणशब्दो न केनचिदपि प्रकारेण दर्शपूर्णमासवचनः शक्यते कल्पयितुं, तत उच्येत कर्मान्तरमिति। शक्नोति त्वावृत्तिगुणसंबन्धाद्वदितुम्। अयनमित्यावृत्तिरुच्यते। दक्षस्य इमे दाक्षाः, तेषामयनं दाक्षायणम्। कः पुनर्दक्षः? उत्साही। तथा साकंप्रस्थायीयेऽपि, सहप्रस्थानं गुणसंबन्धः। एवं सर्वत्र। शक्यते चेद्दर्शपूर्णमासयोर्गुणसंबन्धो वदितुम्, किमिति स एव यागः प्रतीयमानोऽन्य इत्युच्यते, किमिति वा प्रकरणं बाध्यते ॥ १० ॥

त० वा०—उत्पत्तिसंयोगे, पूर्वासम्बन्धे च संज्ञा भेत्त्री भवति। न चेयमुत्पत्तिसंयुक्ता 'अथैव ज्योतिः' इत्यादेरिव प्रक्रमाभावात्। सम्भवति च पूर्वकर्माश्रितगुणवाचित्वेनैवेति न भिनत्ति। दाक्षायणयज्ञे हि वाक्यान्तरवशादवयवप्रसिद्धेश्चाभ्यस्तत्वमभिधीयते। तेन च प्रकरणाद्दर्शपूर्णमाश्रितेनैव फलं साध्यते। दक्ष इति चोत्साही शीघ्रकारी यजमानः। तदीया ऋत्विजो दाक्षाः। तेषामयनं—प्रयोगो यज्ञाश्रितत्वाद्दाक्षायण इत्युच्यते। साकंप्रस्थायीयेऽपि सांनाय्यमनवदाय कुम्भीभ्यामेव साकं प्रस्थीयत इत्येवमभिधीयते। तस्मान्न प्रत्यभिज्ञानबाधः ॥१०॥

न्या० सु०—यः सञ्ज्ञोपबन्धो भेदहेतुत्वेनोक्तः, सगुणवाचित्वेन कर्मसञ्ज्ञात्वाभावान्न कर्मभेदक इतिसूत्रेणोक्ते 'पयसा प्रवर्ग्ये चरन्ति, पयसा दाक्षायणयज्ञे इत्यादौ कर्मनामप्रवर्ग्यादिसाहचर्याद्दाक्षायणस्यापि कर्मनामत्वमाशङ्क्य, अन्यत्र कर्मसञ्ज्ञात्वे व्युत्पत्तिसंयोगाभावान्न भेदकतास्तीत्याह—उत्पत्तीति। कथमुत्पत्तिः संयोगावगतिरित्याशङ्क्य, पूर्वकर्मानन्वयो ज्ञापकत्वेनोक्तः। प्रस्तूयमानवाच्यथैषशब्दप्रकारस्य प्रक्रमस्य पूर्वानन्वयहेतोरभावात्पयसादाक्षायणयज्ञ इत्यादिसंज्ञा कोत्पत्तियुक्तेत्यर्थः। गुणवाचिनोऽपि दाक्षायणादिशब्दस्य पशुसोमादिशब्दवत् लक्षणया क्व चित्कर्मसञ्ज्ञात्वाविरोधः।

दाक्षायणयज्ञेन यजेतेत्यादौ तु दाक्षायणादिशब्दो गुणवाचित्वेन सञ्ज्ञात्वाभावादेव न भिनत्तीति सूत्रार्थमनुसन्धत्ते—सम्भवति चेति। एतदेवोपपादयति—दाक्षायणेति। 'द्वे हि पौर्णमास्यौ यजेते'ति वाक्यान्तरादावृत्तिवाच्ययनशब्दयोगाच्च दाक्षायणशब्दस्याभ्यासवाचित्वप्रतीतेः, तस्य च यज्ञाश्रितत्वादौपचारिकयज्ञशब्दसामानाधिकरण्योपपत्तेर्न सञ्ज्ञात्वं कल्पनीयमित्याशयः। दक्षस्येति भाष्योक्तामवयवप्रसिद्धिं विवृणोति—दक्ष इति चेति। ऋत्विक्कर्तृका प्रयोगावृत्तिरयनशब्दवाच्या, नर्त्विजामेवावृत्तिरितिसूचनार्थः प्रयोगशब्दः। तथेति भाष्योक्तां साकम्प्रस्थाय्यशब्दस्य गुणवाचितां विवृणोति—साकम्प्रस्थाय्येऽपीति। साकम्प्रस्थाय्यसञ्ज्ञके प्रयोगे सायम्प्रातर्दोहकुम्भीभ्यां सह प्रस्थानात्सहप्रस्थानलक्षणगुणयोगात् साकम्प्रस्थाय्यशब्देनाऽसौ प्रयोगोऽभिधीयतइत्यर्थः। शक्यते चेदिति भाष्योक्तं गुणादिति सूत्रावयवतात्पर्यं विवृणोति—तस्मादिति ॥ १० ॥

---

१. ब. साकंप्रस्थाय्येन।

भा० प्र०—पूर्वपक्षियों ने कहा है कि "दाक्षायण" शब्द किसी भी तरह दर्शपूर्णमास का वाचक नहीं हो सकता है, अतः इसको संज्ञाविशेष ही मानना होगा और संज्ञा के कारण ही यह कर्मान्तर है। इसके समाधान में यह कहना है कि "गुणात् संज्ञोपबन्धः" आवृत्तिरूप गुण का सम्बन्ध होने से उसका "दाक्षायण" यह नाम हुआ है, कारण, दक्ष अर्थात् निपुण यजमान-सम्बद्ध ऋत्विक् आदि को 'दाक्ष' कहा जाता है और दाक्ष का अयन आवृत्ति, इसप्रकार 'दाक्षायण' शब्द निष्पन्न होता है, "साकंप्रस्थायीय" शब्द भी इसी प्रकार निष्पन्न हुआ है। 'साकं' = सह प्रस्थान जिसमें है, इसप्रकार की व्युत्पत्ति के अनुसार सह प्रस्थानरूप गुण के सम्बन्ध में यह अभिधान होता है। दर्शपूर्णमासीय अमावास्या याग में दोहन शेष कर दो-दो कुम्भी = कलस ले जाते हैं। इस प्रकार दो-दो कलसों का सहगमन होने से उस गुण के अनुसार इस प्रकार किया गया है।

"गुणात्" = गुण के अनुसार, "यज्ञोपबन्धः" = संज्ञा का उल्लेख ॥१०॥

समाप्तिरविशिष्टा ॥ ११ ॥

शा० भा०—यदुक्तं फले वाक्यं समाप्तं प्रजाकामादेर्यागानुष्ठानं विधीयत इति। नैवम्। अविशिष्टा फले समाप्तिः। यान्यन्यानि मुक्तसंशयानि गुणे फलस्य विधायकानि वाक्यानि, गुणस्य फलवचनानि[1] पर्यवसितानि। यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इत्येवमादीनि। तैरेतदविशिष्टम्। अत्रापि हि गुणात्फलमुच्यते। कथम्? नैतदेवं संबध्यते[2]—प्रजाकामस्य यज्ञमनुतिष्ठेदिति। कथं तर्हि? प्रजाकामस्य आवृत्तियज्ञमनुतिष्ठेदिति। आवृत्तियज्ञ इति यज्ञावृत्तिसंबन्धोऽनुष्ठातव्यो निर्दिश्यते, न यज्ञः। तस्मात्प्रकृतयोर्दर्शपूर्णमासयोर्गुणात्फलमुच्यते, न यागान्तरं विधीयत इति। एवं साकंप्रस्थायीये[3], संक्रमयज्ञे च द्रष्टव्यमिति ॥ ११ ॥ आ० नि० ॥ इति चतुर्थं दाक्षायणयज्ञाधिकरणम् ॥ ५ ॥

त० वा०—यद्यपि कर्मोद्देशेन न फलं विधीयते, तथाऽपि कर्मफलसम्बन्धाभावादकर्मान्तरता। यथैव हि कर्मणः फलमिति भावार्थाधिकरणे साधितं तथैव 'अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोः' इत्यत्र गुणफलसम्बन्धपर्यवसायित्वमप्युक्तमिति सन्देहे सति पदान्तरानुग्रहार्थे गुणादेव फलं न कर्मण इति सिद्धम् ॥११॥

(इति चतुर्थं दाक्षायणयज्ञाधिकरणम् ॥४॥)

न्या० सु०—फले वाक्यस्य पर्यवसानाख्या समाप्तिर्यानुपादेयफलान्वयेन कर्मणो विधेयत्वाद्भेदसिद्धयर्थमुक्ता, सा गुणफलान्वयविधानेऽप्यविशिष्टत्वेन कर्मविध्यनापादकत्वान्न भेदं साधयतीति सूत्रतात्पर्यमाह—यद्यपीति। अविशिष्टत्वं विवृणोति—यथैव हीति।

---

१. ब. फलवचने। २. ब. अभिसंबध्यते। ३. ब. साकंप्रस्थाय्ये।

नन्वविशेषे सति कथं गुणस्यैव विधिः, न कर्मण इति निश्चीयते । अत आह—इति सन्देह इति ।

प्रयोजनं पूर्वपक्षे सौर्येष्ट्यादिवद्दर्शपूर्णमासप्रयोगाद् वहिर्दाक्षायणयज्ञप्रयोगः इति चतुर्थं दाक्षायनयज्ञाधिकरणम् । सिद्धान्ते दर्शपूर्णमासयोरेवावृत्त्या प्रयोगः ॥ ११ ॥

भा० प्र०—पूर्वपक्षी ने यह कहा था कि फल का सम्बन्धबोध कराकर वाक्य समास अर्थात् निराकाङ्क्ष होने से यह कर्मान्तरविधि है—यह भी ऐकान्तिक नहीं है । क्योंकि, गुणफलविधि के स्थल में भी गुण का और फल का सम्बन्ध विज्ञापित कर वाक्य निराकाङ्क्ष हो जाता है, ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र कर्म की विधि इसको नहीं माना जा सकता है, प्रकृत स्थल में भी यही है ।

"समाप्तिः = फलसम्बन्ध का बोध कर जो वाक्य की समाप्ति है, वह "अविशिष्टा" = कर्मान्तरविधि एवं गुणविधि में अवशिष्ट है अर्थात् एक ही प्रकार है ॥११॥

यह चतुर्थ दाक्षायणयज्ञाधिकरण है ।

[५] संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् ॥ १२ ॥ पू०

शा० भा०—अनारभ्याधीयते किंचित्—'वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः, सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः । दर्शपूर्णमासयोरप्यामनन्ति, ईषामालभेत, चतुरो मुष्टीन्निर्वपति', इति । तत्रायमर्थः सांशयिकः—किं दार्शपूर्णमासिके आलम्भे आलम्भो गुणविधिः, दार्शपूर्णमासिके च निवपि निर्वापो गुणविधिः, उत न प्रकृतिमपेक्षते, इतरश्चेतरश्चेति । यदा न प्रकृतिमपेक्षते, तदाऽपि किं यावदुक्ते, उत यजिमती एते कर्मणी इति । किं तावत्प्राप्तम् ? प्राकृतयोरालम्भ-निर्वापयोर्गुणविधी इति । कुतः ? अकर्मशब्दत्वात् । नात्र कर्मणो विधायकः शब्दोऽस्ति । नन्वालभेत निर्वपेदिति च । नैतौ विधातारौ । अविदितस्यार्थस्य वक्ता विधायको भवति । न चैतयोरविदितोऽर्थः । आलम्भः कर्तव्यः, निर्वापः कर्तव्य इति । तस्मादनुवदितारौ । किमर्थमनुवदतः । आलम्भने श्वेतं विधातुम्, निवपि च चरुम् । तस्मान्नाऽऽलम्भान्तरं निर्वापान्तरं च । प्राकृतयोरेव गुण-विधी इति ॥ १२ ॥ पूर्वपक्षः ॥

त० वा०—न कस्यचिदपि कर्मणः प्रकरणे श्रूयते 'श्वेतमालभेत' 'चरुं निर्वपेत्' इति । तत्र संदेहः—किमनारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वात्प्राकृतयोरेवाऽऽलम्भनिर्वापयोः श्वेतचरू गुणौ विधीयेते, किं वा कर्मान्तरे यावच्छ्रुते, उत यजिमती वेति । तत्रा-नारभ्याधीतत्वोपन्यासः संशयबीजापौनरुक्त्यप्रथमपक्षपरिग्रहतन्निराकरणार्थः । कथम् ? यदि तावदालम्भनिर्वापौ प्रकृत्य श्रूयेयातां ततः प्रकृतप्रत्ययानुवृत्तिरेव

प्रसज्येतेति, कर्मान्तराशङ्का न स्यात्। अनारभ्यवादे तु सति श्वेतादिगुणस्योपादेयत्वात्कदाचिद्दूरस्थानुवादेन गुणो विधीयते, कदाचिद्वा विपरिवृत्त्यभावात्कर्मान्तरमिति जायते संदेहः।

तथा 'द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः' इत्यनेन गतप्रायमिवात्र यजिमत्कर्मविधानं लक्ष्यते। तत्तु प्रकृतयागाभावादनुवादशङ्कायामसत्यां श्वेतादेश्च गुणस्यौत्पत्तिकद्रव्यसंयुक्तेऽपि कर्मणि विधानोपपत्तेः कथं स्यादिति पुनरुपन्यस्यते। पूर्वपक्षश्चान्ययोरालम्भनिर्वापयोरप्रकरणादवश्यं प्रकृतावेव ग्रहीतव्यावित्येवं प्रवर्तते। तन्निराकरणमपि च प्रकरणाभावादसाधारणोपलक्षणाभावाच्च न प्राकृतयोर्लौकिकव्यावृत्तरूपयोः प्रतीतिरस्तीत्येवं भविष्यति। गुणविधिविषयत्वाच्चाऽऽलम्भनिर्वापौ गुणविधिशब्देनोक्तौ।

किं तावत्प्राप्तम्? यथैवायनेषु गुणसंबन्धपरे वाक्ये कर्मविधिशब्दाभावादकर्मान्तरत्वं, तथेहापि भविष्यतीति, चशब्देनान्वादिश्यते। क्व चासौ गुणविधिरिति विषयावधारणार्थमप्रकरणग्रहम्।

अथ वा यद्यप्येतावता पूर्ववैलक्षण्येनाप्रकरणे श्रूयते, तथाऽपि कर्मणो विधिशब्दानवरोधाद् गुणार्थैव पुनः श्रुतिरिति। दर्शपूर्णमासयोः शकटेषा, सा श्वेतीकृत्याऽऽलब्धव्या, निर्वापश्च चरौ कर्तव्यः, चरुपरिमितो वा भूतिब्रह्मवर्चसकामयोश्च सर्वेभ्यो दर्शपूर्णमासावित्येवं प्राप्तयोरनुवादः। तथा वायव्यमिति सर्ववनस्पतीनां वायुदेवतात्वात्कथंचिदीषाया एवानुवादः। सौर्यमिति चाऽऽग्नेयस्यैव तेजोदेवत्यसामान्यादनुवादः। तस्माद् गुणो विधीयत इति ॥१२॥

॥ अथ पञ्चमं द्रव्यदेवतायुक्तानां यागान्तरताधिकरणम् ॥ ५ ॥

न्या० सु०—विषयविवेकार्थं प्रकरणशब्दव्याख्यानार्थमनारभ्येति भाष्यं किं चिदनारभ्येत्यन्वयं दर्शयन् व्याचष्टे—न कस्य चिदपीति।

इह संस्कारश्चेति च शब्देन विकारो वेति पूर्वाधिकरणसिद्धान्तसूत्रस्थवाशब्दोक्ताकर्मान्तरत्वानुकर्षणात् 'यावदुक्तं चे'ति वाशब्देन तन्निवृत्त्या कर्मान्तरत्वाभिधानात् भेदाभेदविचारो यावदुक्तं यजतिस्त्वितिसूत्रावयवाभ्यां च यावच्छ्रुतयजिमत्त्वविचार इति, यावदुक्तसूत्रेणाद्यविचारे सिद्धान्तस्य, द्वितीये च पूर्वपक्षस्यावृत्त्याभिधानाद्विचारद्वयं कृतम्। तत्राद्यवत् द्वितीयविचारेऽपि देवतापदवत्फलपदमनपेक्ष्यापि सिद्धान्तस्य वक्तुं शक्यत्वादकर्मान्तरत्वोपपत्तितयोक्तसंस्कारत्वनिरासार्थं प्रधानकर्मत्वसूचना। यजतिसूत्रे फलग्रहणे न कर्मान्तरत्वसिद्ध्यर्थं यागत्वसिद्ध्यर्थं वेति सूचयितुं पदद्वयमात्रोदाहरणम्। किं दार्शपौर्णमासिके यदा न प्रकृतिमिति भाष्याभ्यां विचारद्वयं क्रमेणोक्तमपि, आद्यविचारेऽनुवादायोगात्कर्मणो विधेयत्वेन भेदोक्तेर्लक्षणसङ्गतावपि द्रव्यदेवतासंयोगलक्षणस्य गुणस्य

पूर्वकर्मसंयोगानर्हत्वाभावेनाभेदकत्वाद् गुणप्रकरणासङ्गतेर्द्वितीयविचारे द्रव्यदेवतासंयोगलक्षणस्य गुणस्य यागरूपे कर्मण्यनिवेशेन तद्भिन्नयागरूपबोधकत्वाद् गुणप्रकरणसङ्गत्युपपत्तेस्तच्छेषतया, आद्यस्य सङ्गतिसूचनायैकहेलया विचारद्वयमाह—तत्रेति । यदा कर्मान्तरे तदा किं यावच्छ्रुते निर्वापालम्भनमात्ररूपे, यागरूपे वेत्यर्थः । शब्दवाच्यत्वं विना यागस्यान्वयासिद्धेः, यजेरपि कल्पनीयत्वसूचनार्थं यजिवाच्यत्वविवक्षया—**यजिमती इत्युक्तम्** ।

अनारभ्याधीतत्वोक्तेः प्रयोजनचतुष्टयमाह तत्रेति प्रश्नपूर्वं संशयबीजार्थत्वं तावद्विवृणोति—**कथमिति** । दार्शपौर्णमासिकावालम्भनिर्वापौ प्रकृत्येमावालम्भनिर्वापौ श्रूयेयातामित्याद्यावृत्त्या योज्यम् । अनारभ्याधीतत्वेन पूर्वपक्षवचनव्यक्तचयोगात्सन्देहानुपपत्तिमाशङ्क्य'यदाहवनीये जुह्वतीत्यादिवद् दूरस्थयोरप्यालम्भनिर्वापयोर्वैदिकत्वसाम्येन बुद्धिस्थतयाऽनुवादसम्भवात्पूर्वपक्षवचनव्यक्त्युपपादनाय—**अनारभ्यवादे त्वित्युक्तम्** । अपौनरुक्त्यार्थत्वं विवरीतुं केन पौनरुक्त्याशङ्केत्यपेक्षायां तावदाह—**तथेति** । अग्नीषोमीयवाक्येऽप्येतदधिकरणसिद्धयजिवाच्यकर्मवाचित्वाङ्गीकरणेन पशुसोमाधिकरणे विध्यनुवादविचारात्पौनरुक्त्यनुपपत्तावप्युभयत्र सिद्धान्ते यागविध्यभिधानात् आपातमात्रात्पौनरुक्त्यभ्रान्तिरितिसूचनार्थः प्रायशब्दः ।

तदेव विवृणोति—**तत्त्विति** । गतप्रायत्वप्रतिभाने सति यद्यजिमत्कर्मविधानत्वं पुनरुपन्यस्यते, तदनारभ्याधीतत्वेन प्रकृतयागाभावात्प्रकृतयागानुवादाशङ्कायामसत्यां पशुसोमाधिकरणपूर्वपक्षस्यात्राभावात्कथं गतप्रायं स्यादिति मत्वेत्युक्ते तदीयसिद्धान्तेनैव तर्हि यजिमत्कर्मविधानत्वसिद्धेरपरिहार्या गतप्रायतेत्याशङ्क्य—**श्वेतादेश्चेत्युक्तम्** । औत्पत्तिकहृदयादिद्रव्यसंयुक्ते कर्मणि पश्वाख्याद्रव्यान्तरविध्यनुपपत्तिस्तत्र सिद्धान्तहेतुः गुणस्य तु द्रव्ययुक्तेऽपि कर्मणि विध्युपपत्तिरिति सिद्धान्तहेतुरपि नास्तीत्याशयः । प्रथमपक्षपरिग्रहार्थत्वं विवृणोति—**पूर्वपक्षश्चेति** । प्रथमपक्षनिरासार्थत्वं विवृणोति—**तन्निराकरणमपि चेति** । आलम्भनिर्वापशब्दयोर्गुणविधिसामाधिकरण्यायोगमाशङ्क्यालम्भनिर्वापविषयलक्षणार्थावालम्भनिर्वापशब्दाविति व्याख्यातुमाह—**गुणेति** । दार्शपौर्णमासिकयोरालम्भनिर्वापयोः श्वेतचर्वोर्गुणयोर्विधी इत्युक्ते, निर्वापालम्भयोर्लोकवेदसाधारण्यात्कथं विशेषावधारणेत्याशङ्क्य, वैदिकस्य गुणविधेर्विषयापेक्षायां वैदिकत्वसामान्येन बुद्धिस्थत्वाद्वैदिकयोरेवालम्भनिर्वापयोर्विषयत्वावगतेः 'प्रकृतौ वा द्विरुक्तत्वादि३–५'त्यनेन न्यायेन प्राकृतालम्भनिर्वापविषयत्वंवावधार्यतइति सूचनार्थं वैदिकेन गुणविधिनैक्यं वैदिकयोर्निर्वापालम्भयोरुपचरितमित्याशयः । आलम्भविषयो, निर्वापविषयश्च यो गुणविधिः, स दार्शपौर्णमासिकालम्भनिर्वापविषय इति भाष्यार्थोऽनेनोक्तः । किं तावदित्यादिभाष्येणाकर्मान्तरोक्त्यर्थतया एतत्सूत्रं व्याख्यातम् । तत्कथमकर्मान्तरत्वे योज्यमित्यपेक्षायां, चशब्देन विकारो वेति वाशब्दोक्तो कर्मान्तरत्वातिदेशादालम्भो निर्वापश्चाकर्मान्तरं विधिशब्दस्य गुणसञ्चरितत्वेन कर्मविषयत्वाभावादित्येवं योजयितुमाह—**किं तावदिति** । अनन्तरसङ्गतिरप्यपवादतयाऽनेन सूचिता । निर्वापालम्भयोश्च संस्कारत्वेन प्रसिद्धत्वात्कर्मान्तरत्वे चान्यत्र विनियुक्त-

संस्कार्याप्रतीतेः संस्कारत्वायोगादकर्मान्तरतावसीयतइति हेत्वन्तरोक्त्यर्थः संस्कारशब्दो। प्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषादि३-४ति तृतीयाधिकरणे 'सुवर्णं हिरण्यं धार्यमि'त्येतत्तुल्यतया आलम्भनिर्वापयोरपि संस्कारत्वनिषेधेनासिद्धत्वं मत्वा न व्याख्यातः। निर्वापालम्भोपलक्षणार्थताद्वारा[1] संस्कारशब्दस्य तदुदाहरणेनैव व्याख्या सूचिता। क्व वाक्ये श्रूयमाणोऽसौ निर्वापालम्भात्मकः संस्कारो गुणविधिरित्यधिकरणविषयभूतालम्भनिर्वापविशेषापेक्षायां तदवधारणार्थत्वेनाप्रकरणशब्दं व्याचष्टे—क्व चेति।

यद्वा अनारभ्याधीतत्वेनायनवैलक्षण्यात्कथं निर्वापालम्भश्रुत्योर्गुणार्थतेत्याशङ्कानिरासार्थो प्रकरणशब्द इत्यन्यथा व्याचष्टे—अथ वेति। यद्यप्यप्रकरणे श्रूयतइत्येतावता कारणेनाऽऽलम्भो निर्वापश्चायनवैलक्षण्येन युक्तः तथापि निर्वापालम्भाख्येन कर्मणा विधायकस्य गुणसञ्चरितत्वेनानवरोवाद् गुणार्थैवालम्भनिर्वापश्रुतिरित्यर्थः। यथा सिद्धशकटेष्वालम्भे प्राप्ते कथं श्वैत्यानुष्ठानमित्याशङ्क्य, सिद्धाया अपीषायाश्चूर्णादिना श्वेतीकरणं शक्यमित्याह—दर्शेति।

व्रीहिनिर्वापे कथमोदनाख्यस्य चरोर्निवेश इत्याशङ्क्य, स्थालीवचनं चरुशब्दमङ्गीकृत्य मुख्यत्वाच्छ्रुतिवृत्तप्रातिपदिकाभ्युपगमेन द्वितीया सप्तम्यर्थे कल्प्या। पञ्चशरावमोदनं निर्वपेदित्यादौ वा शरावादिशब्दस्य तत्परिमिते प्रयोगदर्शनाच्चचरुशब्दस्यापि तत्परिमितलक्षणार्थत्वोपपत्तेर्यथा चरुपरिमिता व्रीहयो भवन्ति तथा चत्वारो मुष्टयः कार्या इत्यर्थाभ्युपगमाच्चोत्पत्तिशिष्टचतुर्मुष्टिपरिमाणाविरोधोपपत्तेः परिमितलक्षणार्थतया चरुश्रुत्यर्थस्यापि वाक्यार्थान्वियेनात्यन्ताबाधात्सप्तम्यर्थकल्पनायां तु द्वितीयार्थात्यन्तबाधापत्तेः प्रातिपदिकमेव लक्षणया व्याख्येयमिति द्वेधा परिहरति—निर्वापश्चेति। प्राप्ते कर्मण्यनेकार्थविधौ वाक्यभेदापत्तेः फले देवतापदानन्वयमाशङ्क्याह—भूतीति। ओषधिवनस्पतयोऽन्नं, प्राणभृतोऽन्नादमिति प्राणभृतां च वनस्पतीन् प्रति भोक्तृत्वे श्रुते भोक्तृत्वरूपदेवतात्वावगमात्प्राणाख्यस्य वायोर्देवतात्वमुपचर्य, वनस्पतीनां वायुदेवत्यत्वात्तत्प्रभवत्वेनेपाया वायुदेवत्यत्वानुवाद इत्यर्थः। वायुगुणस्पर्शवत्त्वाद्वा वनस्पतीनां वायुदेवत्यताभिप्रेत्य पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ १२ ॥

भा० प्र०—वेद में "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" (तै० सं० २।१।१) "सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः" ये दो वाक्य पठित हैं, यह "अनारभ्यश्रुत" अर्थात् किसी भी कर्म के प्रकरण में पठित नहीं हैं, किन्तु दर्शपूर्णमास के मध्य में उपदिष्ट हैं "ईषामालभेत", "चतुरो मुष्टीन् निर्वपति" ईषा का आलम्भन करे, चार मुट्ठी हव्य द्रव्य का निर्वाप करता है। अर्थात् ईषा का स्पर्श और चार मुट्ठी तण्डुल आदि का ग्रहण विहित है। (दर्शपूर्णमास यज्ञ में एक शकट = गाडी आवश्यक है, मन्त्रपाठपूर्वक चक्रारोहण आदि कतिपय कर्मों के सम्पादन की विधि है, लाङ्गल के दीर्घ दण्ड के समान उस शकट का

१. उपलक्षणार्थत्वात् संस्कारशब्दस्येति २ पु० पा०।

एक बड़ा-सा काष्ठ से बनाया गया दण्ड रहता है, उसी का नाम ईषा है अर्थात् लाङ्गल के दीर्घ दण्ड को ही ईषा कहते हैं।

वायव्य वाक्य से आलम्भन का अनुवाद कर इस ईषा के तत्व गुण का विधान किया गया है एवं सौर्य्य वाक्य के द्वारा इस मुष्टिनिर्वाप का अनुवाद कर उसके गुण के रूप में चरु का विधान किया गया है या उसके द्वारा स्वतन्त्र कर्म का विधान किया गया है ? यदि इसके द्वारा स्वतन्त्र कर्म का विधान होता है—यह माना जाय तो वह ईषालम्भन से स्वतन्त्र आलम्भनात्मक एवं मुष्टिनिर्वाप से स्वतन्त्र निर्वापात्मक कर्म, या वह आलम्भ और निर्वापयुक्त यागात्मक कर्म है—यही संशय है।

इसमें प्रथम पूर्वपक्षी का कहना है कि "संस्कारश्च" "वायव्यं श्वेतमालभेत" एवं "सौर्यं चरुं निर्वपेत्" इन दो वाक्यों में दर्शपूर्णमास का आलम्भ एवं निर्वाप ये दोनों ही संस्कारों का अनुवाद किया है अर्थात् दो वाक्यों में संस्कार का अनुवाद कर गुण का विधान किया गया है। कारण, "अकर्मशब्दात्" इस स्थल में अपूर्व कर्म का विधायक कोई भी शब्द नहीं है, कारण, प्राप्त का अर्थात् विदित विषय की विधि नहीं होती है, किन्तु अप्राप्त की ही विधि होती है। यह जो ईषालम्भन एवं चरु का = थाली या पाक-पात्र का निर्वाप है, वह "ईषामालभेत" इत्यादि वचनान्तर से प्राप्त होने में वायव्य और सौर्य वाक्य में जो आलम्भ एवं निर्वाप कहा गया है—वह अनुवाद मात्र है। इसीलिए, इस स्थल में ईषा का श्वेतत्व गुणविहित होता है। और श्वेत काठरूप जो ईषा वह वायु से स्पृष्ट होने से उसको 'वायव्य' = वायुसम्बन्धीय कहना असङ्गत नहीं है। इसी प्रकार इस स्थल में निर्वाप के उद्देश में चरु द्रव्यरूप गुण विहित होता है। चरु शब्द यहाँ लक्षणा के द्वारा थाली अर्थात् पाकपात्रविशेष का वाचक है और "सौर्यम् चरुम्" इत्यादि वाक्य में चरु शब्द में सप्तमी विभक्ति के अर्थ में द्वितीया होती है। अतः "चरुं निर्वपेत्" अर्थात् "चरौ निर्वपेत्" थाली में चार मुट्ठी तण्डुल का निर्वाप = ग्रहण करे। सूर्य के समान प्रभा होने से इसको "सौर्यं" कहा गया है। यदि कहा जाय कि वायव्य वाक्य को एवं सौर्यवाक्य को गुणविधि माना जाय तो उससे जो फल की श्रुति है वह सङ्गत नहीं होगी, ऐसी स्थिति में सभी कामनाओं के उद्देश्य में दर्शपूर्णमास यज्ञ किया जाय यह श्रुति में उपदिष्ट होता है। भूति और ब्रह्मवर्चसरूप फल उसी सर्वकामनाओं में एक होने से इस स्थल में फल का सम्बन्ध नवीनरूपक बोधित नहीं होता है अपितु वह भी पूर्वसिद्ध फल का अनुवाद मात्र है। इसीलिए यह गुणविधि है।

"प्रकरणे" = अनारभ्यश्रुतवायव्य आदि वाक्य में "संस्कारश्च" = (संस्कारः एव) संस्कार ही अर्थात् दर्शपूर्णमासीय संस्कार का ही अनुवाद है। किन्तु नवीन कोई याग विहित नहीं है, "अकर्मशब्दत्वात्" = यतः कर्मशब्द = कर्म का अर्थात् याग का शब्द अर्थात् विधि नहीं है॥ १२॥ यह पूर्वपक्ष है।

यावदुक्तं वा कर्मणः श्रुतिफलत्वात् ॥ १३ ॥

शा० भा०—न चैतदस्ति प्राकृतयोर्गुणविधी इति। किं तर्हि ? आलम्भान्तरं विधीयते निर्वापान्तरं च इति। यद्यालम्भनिर्वापौ विधीयेते, ततो न प्राकृतौ तौ विहितौ। यदि न विधीयेते, ततः प्राकृतौ लक्ष्येते। या वालम्भनिर्वापौ कर्तव्याविति। ततस्तौ लक्षयित्वा श्वेतो[1] विधातव्यो भवति, चरुश्च। तौ च भूतिकामस्य, ब्रह्मवर्चसकामस्य चेति द्वावप्यर्थौ विधेयौ स्यातां, तत्र वाक्यं भिद्येत।

अथवा योऽसौ विधायकः शब्दः, स लक्षयितव्योपयुक्त इति विधायकाभावादेकोऽप्यर्थो न शक्यते विधातुम्। अथ स एव लक्षयिष्यति, तेनैव च विधायिष्यते गुण इति। न मिथो विधानलक्षणसम्बन्धोऽवकल्पते। अथ धात्वर्थोऽनुवादः। प्रत्ययो विधातुमिष्यत इत्युच्यते, य आलम्भः, स एतद्गुणः[2] कर्तव्य इति। तथाऽपि न प्राकृतो लक्ष्येत। लौकिकोऽपि ह्यालम्भोऽस्ति। प्रत्ययार्थेऽनूद्यमाने प्राकृतोऽनूद्येतेति। स हि कर्तव्यो निर्ज्ञातः, न लौकिकः। अतो न प्राकृतानुवादो घटत इति, यावदुक्तमालम्भमात्रं चापूर्वं कर्तव्यम्। कर्मणः श्रुतिमूलत्वात्। श्रुतिमूलं हि कर्मेत्युक्तम्—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति। तस्मात्कर्मान्तरे ॥१३॥ पूर्वपक्षः ॥

त० वा०— यदि ह्यालम्भनिर्वापौ विधेयत्वं न मृष्यतः।
ततो गुणविधित्वं स्याद्विधेयौ त्वत्र तौ मतौ ॥

वायव्यपदं पूर्ववदेवापेक्ष्य फलपदपरिग्रहेण तावत्प्रत्यवस्थीयते। यदि ह्यालम्भनिर्वापावनूद्य श्वेतचरू विधीयेते, ततः फलपदमनर्थकमेव स्यात्। सर्वं कामप्राप्तानुवादेऽपि पाक्षिकत्वान्नित्यवद् ग्रहणं विरुध्येत्। विशेषणत्वे वाक्यभेदः स्यात्।

अथ गुणफलसंबन्धो विधीयते, तथाऽप्यालम्भादेः प्रकृतस्याऽऽश्रयस्याभावाद्वाक्येनैव तत्संबन्धकरणे वाक्यं भिद्येत। गुणविशिष्टालम्भविधाने तु न कश्चिद्दोषः। तेनोच्यते कर्मणः श्रुतिमूलत्वादिति। कर्मात्र विधेयत्वेन श्रुतिमूलम्, न गुणः। स ह्यचोदनालक्षण एव स्यात्।

अथ वा यावदुक्तमेव स्यान्न यजिमत्। कुतः ? कर्मणः श्रुतिमूलत्वात्। न ह्यचोदितो यज्यर्थोऽध्यवसातुं शक्यते। न च तेन विनेह किंचिन्न सिध्यति। आलम्भनिर्वापयोरेव फलवत्त्वेन प्राधान्योपपत्तेः। न हि यदेकत्र गुणभूतं दृष्टम्, तेनान्यत्र प्राधान्यं वाचनिकमपि न प्रतिपत्तव्यमिति, किंचित्प्रमाणम्। यथावचनं

१. श्वेतोगुणो। २. ब. एवंगुणकः।

हि गुणप्रधानभावौ, न स्वाभाविकौ। वायव्यादिशब्दश्चात्र सर्वत्र द्रव्याणां यथाकथंचिद्देवतासंबन्धोपपत्तेरनुवादः।

अथवा यत्केनाचिद्वाय्वादिभ्यः संकल्पितम्, तदालम्भादिभिर्योज्यमानमभ्युदयकारि भवति। विशिष्टविधानाच्च न तत्परिग्रहेप्यतिभारः।

अथवा वायुसूर्यावेवोद्दिश्य स्पृष्टम्, निरुप्तं वेत्येतावतैवेप्सितावाप्तिर्भविष्यति। न चावश्यं याग एव देवतोद्देष्टव्या। यत्र यत्र हि चोद्यते, तत्र तत्रोद्दिश्यमाना न विरुध्यते। तस्माद्यत्किंचिच्छ्वेतं वायूद्देशेन स्प्रष्टव्यमिति यावदुक्तचोदनानुसारात्। गुणविधिपक्षे फलपदसंबन्धे वाक्यभेदमभिधायेदानीं तत्परित्यागमभ्युपेत्यादि ब्रवीति।

अथवा योऽसौ विधायकः शब्द इत्यादि, तस्याभिप्रायो—यदिदमनारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वमभिधास्यते, नैतद्वाचनिकम्, कथं तर्हि ? द्वाराऽन्यथानुपपत्तिकारितम्। न चाऽऽलम्भनिर्वापावन्यत्रानुपपन्नौ। लोकेऽपि विद्यमानत्वादिति। तत्र यदि तावल्लौकिकव्यावृत्त्यर्थं विहितत्वेन विशेष्येते[1] ततोऽन्यविशेषणाभावाल्लिङ्गैव विशेष्टव्यौ, य आलम्भः कर्तव्यतया चोदित इति। तावता चोपक्षीणशक्तौ विधायके गुणविधानं नोपपद्यते। न ह्यसौ विधातुम्, लक्षयितुं च सकृदुच्चरितः समर्थः। केवलधात्वर्थानुवादे च लोकेऽपि गुणविधित्वप्रसङ्गः। तत्र च निष्फलत्वादानर्थक्यम्, न चैतावन्मात्रेणैव विनैव प्रकरणादिभिर्वैदिकालम्भनिर्वापग्रहणमुपपद्यते। तस्मात्प्राकृतप्रामाणाभावादपूर्वयोर्विधानमिति ॥१३॥

न्या० सु०—यावदुक्तशब्देन प्रकृत्यनपेक्षोक्तेः प्राकृतालम्भनिर्वापविषयगुणविधित्वनिरासार्थतया 'न चेति भाष्येण सूत्रपूर्वार्द्धं व्याख्याय' उत्तरार्द्धव्याख्यार्थं यदीत्यादिचरुश्चेत्यन्तं भाष्यं तात्पर्यतो व्याचष्टे—यदि हीति। यद्यालम्भनिर्वापाविति यदि शब्दं हेत्वर्थेऽभ्युपेत्य यस्मादालम्भनिर्वापौ विधीयेते, न तु प्रकृतौ तौ विहिताविति भाष्यावयवेन 'कर्मणः श्रुतिमूलत्वादि'ति सूत्रावयवं व्याख्याय, गुणसञ्चरितत्वाद्विध्योः कर्मविषयता न युक्तेत्याशङ्क्योत्सर्गतः समानपदोपादानेनालम्भनिर्वपयोर्विधेयत्वागमाद्यदि तौ प्रत्यभिज्ञानाद्विधेयत्वं न सहेते, ततो यावालम्भनिर्वापौ कर्त्तव्यावित्येवं प्राकृतौ लक्ष्येते, ततश्च तौ लक्षयित्वा श्वेतश्चरुश्च गुणो विधातव्यो भवति। प्रत्यभिज्ञानाभावात्त्वत्र तौ विधेयावेवेत्यध्याहारेण यदि न विधीयेत इत्यादिभाष्यं व्याख्येयमित्याशयः।

प्राप्ते कर्मणि गुणफलरूपानेकार्थविधौ वाक्यभेदापत्तेरपि गुणविधिता न युक्तेत्यभिधानार्थं 'तौ चेत्यादिभिद्येते'त्यन्तं भाष्यमुत्तरसूत्रस्थफलशब्दसूचितार्थप्रतिपादकं व्याख्यातुमाह—वायव्येति। तेन विनापि वाक्यभेदोपपत्तिरुपेक्षाहेतुः। कर्मान्तरत्वे तु वाक्यभेदो नास्तीति व्यतिरेकमाह—गुणेति।

---

१. क० विशेष्यत।

अथ वेत्यादिभाष्यं वैदिकत्वसाम्येन वुद्धिस्थत्वस्य वैदिकालम्भनिर्वापानुवादहेतुतया पूर्वपक्षिणेष्टत्वेन विधायकस्य तल्लक्षणार्थतयानिष्टत्वादापाद्योक्त्यर्थमिति सूचयितुमुपेक्ष्य, तावद्वयाख्यातेऽर्थे सूत्रोत्तरार्द्धं योजयति—तेनेति। 'यावदुक्तमिति भाष्येणैतदेव सूत्रमावृत्त्योत्तरविचारपूर्वपक्षे योजितम्। तदनुसन्धत्ते–अथ वेति। ननु फलान्वयेनेह प्रधानकर्मणोर्विधेयत्वावसायान्निर्वापालम्भयोश्च संस्कारत्वप्रसिद्धेः प्राधान्यायोगात्प्राधान्यसिद्ध्यर्थं तत्योग्यं यज्यर्थाध्यवसानं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न चेति। अनेन चोत्तरसूत्रस्थस्य फलशब्दस्य संस्कारनिरासार्थतापि सूचिता।

ननु प्राधान्यस्य यज्यर्थाकल्पकत्वेऽपि वायव्यादिशब्दोक्तस्य देवतान्वयस्य यागं विनानुपपत्तेः तत्कल्पकत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—वायव्यादीति। आलम्भस्य स्पर्शावायव्यविषयत्वात्सर्वेषामालम्भ्यद्रव्याणां स्पर्शगुणकवायुदेवत्यत्वे सवितुः प्रसवे निर्वपामीति च मन्त्रलिङ्गात्सर्वेषां निर्वापद्रव्याणां सवित्राख्यसूर्यदेवत्यता वक्तुं शक्येत्याशयः।

एवं त्वग्नीषोमीयं पशुमालभेतेत्यादावपि वायव्यत्वापत्तेः 'सारस्वतं चरुं निर्वपेदित्यादौ च सौर्यत्वाग्नीषोमीयत्वाद्यनुवादायोगेनाव्यापकत्वादशक्तेरपरितोषात्केन चिद्यजमानेन वायवे सङ्कल्पितस्य श्वेतस्यालम्भः, सूर्याय च सङ्कल्पितस्य चरोर्निर्वापः फलार्थं विधीयतइत्यन्यथा परिहरति—अथ चेति। 'आग्नेयमुपाकरोतीत्यादीनामपि यजिवाच्यकर्मवाचितात्रैव व्युत्पाद्येति सूचनायालम्भादिभिरिति बहुवचनम्।

ननु देवतान्वयस्यापि श्वैत्यादिवद्विधेयत्वपरिग्रहेऽतिगौरवं स्यादित्याशङ्क्याह—विशिष्टेति। परकीयस्य द्रव्यस्य क्रतौ विनियुक्तस्याऽन्यार्थे कर्मणि विनियोगानौचित्येनाऽत्राप्यपरितोषाद्वाय्वाद्युपदेशेन श्वेतादेर्भूत्याद्यर्थमालम्भादिकार्यमिति पूर्वपक्षिणोऽभिमतं परिहारमाह—अथ वेति। ननु यागं विना तद्विनोक्तं देवतात्वं न सिद्ध्येदित्याशङ्क्याह—न चावश्यमिति। यागं विना देवतात्वानुपपत्तेरेतदधिकरणव्युत्पाद्यत्वादुद्देश्यत्वमात्रेण देवतात्वमत्रत्यः पूर्वपक्षी मन्त्रतइत्याशयः। एतदेवोपसंहरति—तस्मादिति। यजमानान्तरसङ्कल्पितव्यावृत्त्यर्थम्—यत्किञ्चिदित्युक्तम्। इति वाक्यार्थः यावदुक्तनोदनानुसारादवसीयतइत्यध्याहारेणेतिकरणो योज्यः।

उपेक्षितं भाष्यं पूर्वपक्षभाष्यसङ्गतिपूर्वं व्याख्यातुमवतारयति—गुणेति। फलपदत्यागाभ्युपगमाद् गुणफलरूपानेकार्थान्वयविधिलक्षणवाक्याभेदाभावेऽपि सकृदुच्चरितस्य विधायकस्य विध्यनुवादवैरूप्यलक्षणवाक्यभेदापत्तिरपिशब्देन सूचिता। नन्वनारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वस्य तृतीये वक्ष्यमाणत्वाद्विहितत्वोपलक्षणं विनापि प्रकृत्यर्थत्वसिद्धेर्विधायकस्योपलक्षणोपक्षणित्वादविधायकत्वोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याह—तस्येति। यदि तु य आलम्भः कार्यः, स श्वेतविशिष्टः कार्य इत्युपलक्षणार्थत्वं विधानार्थत्वं चेष्यते, ततो वैरूप्यं स्यादित्यभिधायऽर्थमथेति भाष्यं व्याचष्टे—न हीति। 'यावतोऽश्वान्प्रतिगृह्णीयात्तावतो वारुणांश्चतुःकपालान्निर्वपेदि'त्यत्र प्रतिगृह्णीयादित्यस्य विहितदानलक्षणार्थत्वम्, निर्वपेदि-

त्यस्य च यागविद्धचर्थत्वें भेदोपादानाद्युक्तमिति वैलक्षण्यसूचनार्थं मिथःशब्दव्याख्यानार्थम्—सकृदित्युक्तम्। अथ धात्वर्थ इति भाष्येण धात्वर्थमात्रानुवादेऽपि वैदिकत्वसामान्येन बुद्धिस्थत्वाद्विहितविषयस्वावगमे सत्यनारम्यवादत्वात्प्रकृत्यर्थत्वसिद्धिरित्याशङ्कय, तथेत्यनेन 'यदाहवनीये जुह्वती'त्यत्र होमस्य द्रव्यदेवतासाध्यत्वाद्देवतान्वयस्य चालौकिकत्वेन विध्येकगम्यत्वाद् द्रव्यदेवतयोश्चेहानुपदेशात्प्रकृतिविशेषानवगतेश्चातिदेशतोऽप्यलाभादरूपत्वेन विधातुमशक्यत्वादनुवाद्यत्वावगतेरदृष्टार्थत्वेनाचालौकिकत्वाद् दूरस्थवैदिकहोमानुवादो युक्तः। आलम्भस्य तु लोकवेदसाधारण्यात्, लौकिकेऽपि च भोजनादौ वैदिकप्राङ्मुखत्वादिनियमदर्शनात्सामान्यश्रुत्या वाऽऽलम्भमात्रस्य बुद्धिस्थस्यावैदिकत्वमात्रेण व्यावृत्त्यनुपपत्तेर्वैदिकविषयत्वानवगमान्न तद्वशेन प्रकृत्यर्थत्वसिद्धिरिति परिवृतम्। तद्व्याचष्टे—केवलेति। आनर्थक्यपरिहारार्थं लौकिकव्यावृत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्कानिरासार्थत्वे प्रत्ययार्थ इति भाष्यं प्रत्ययार्थानुवादपक्षे एव प्राकृतालम्भानुवादो लभ्यते, नान्यथेत्येवं साधारणत्वेन व्याख्यातुमाह—न चेति। अत इत्युपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति ॥ १३ ॥

भा० प्र०—पूर्वोक्त मत के समाधान में वादी ने दोषारोपण किया है कि गुणविधि मानने पर वायव्यवाक्य में एक सौर्य वाक्य में जो फल कहा गया है, वह नित्य अर्थात् नियत फल के समान उपदिष्ट होता है उसका पाक्षिक अनुवाद एवं आनर्थक्य हो जायगा। जिस कर्म के साथ जिस फल का सम्बन्ध बोधित होता है, वह उस कर्म का नियत फल होता है, इसलिए यहाँ भूति और ब्रह्मवर्चस नित्या या नियत फल है, सार्वकामिक कर्म जिस फल के लिए जब अनुष्ठित होता है, उस समय उसके प्रयोग से वही फल होता है, अन्य फल नहीं होता है, अतः अन्य फलों की उस समय अप्राप्ति होगी। अन्य फलों की सर्वथा अप्राप्ति हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि, प्रत्येक के उद्देश्य से स्वतन्त्र स्वतन्त्र कर्म का अनुष्ठान करने पर उस फल की उत्पत्ति होती है। इसलिए, उन फलों के पक्ष में विकल्प की प्राप्ति होगी, फल उद्देश्यभूत होने से अनुवाद होगा, इसीलिए उसका पाक्षिक अनुवाद होगा, अनुवाद का प्रयोजन न होने से आनर्थक्य अर्थात् निष्प्रयोजनता होगी। इसलिए इस स्थल में दोनों वाक्यों में गुण फल विशिष्ट आलम्भात्मक एवं निर्वापात्मक स्वतन्त्र कर्म ही होता है।

"यावदुक्तं" = जिस प्रकार कहा गया है, उस प्रकार का कर्म विहित होता है—यह मानना होगा। "वा" = निरासार्थक है। "कर्मणः श्रुतिमूलत्वात्" यतः कर्म श्रुतिमूलक अर्थात् एकमात्र शास्त्र से गम्य है ॥ १३ ॥ यह द्वितीय पूर्वपक्ष है।

यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्मसम्बन्धात् ॥१४॥ सि०॥

शा० भा०—यदुक्तं न प्राकृतयोर्गुणविधी इति। एतद् गृह्णीमः। यत्तूक्तम्—आलम्भमात्रं विधीयते, निर्वापमात्रमिति। एतदपजानीमहे। यजिमतो एते

कर्मणी इति। कुतः ? द्रव्यफलभोक्तृसंयोगात्। द्रव्यदेवतासंयोगात्। द्रव्यदेवता-संयोगोऽत्र विधीयते, भूतिकामस्य ब्रह्मवर्चसकामस्य च। कथम् ? न हीद-मेवोच्यते श्वेतमालभेतेति। यदि ह्येतावदेवोच्येत, ततः श्वेतालम्भसम्बन्धो-ऽवगम्यते। इह हि श्वेतं वायव्यमालभेतेत्युच्यते। तेन श्वेतवायव्यसम्बन्धो विधीयते। यथा पटं वयेति पटवयनसम्बन्धो[1] विधेयोऽवगम्यते। पटं दीर्घं वयेति[2] पटस्य दीर्घता विधीयते। दीर्घशब्दप्रयोगात्। एवमिहापि सौर्यवायव्य-शब्दप्रयोगाद् द्रव्यदेवताभिसम्बन्धो विधेय इति गम्यते। इतरथा देवताशब्दः प्रमादसमाम्नात[3] इति गम्येत।

नन्वत्रापि श्वेतं वायव्यं कुर्यात्, तं चाऽऽलभेत इत्यर्थद्वयविधानाद्भिन्नैव वाक्यम्। नेति ब्रूमः। न ह्यालभेतेत्यस्यायमतिभारो, यद् द्रव्यदेवतासम्बन्धेन[4] पुरुषप्रयत्नं ब्रूयात्। तं चाऽऽलभेतेत्यर्थाविशिष्टम्[5]। श्रुत्यैव हि पुरुषप्रयत्नो विशिष्टो गम्यते। वाक्येन च द्रव्यदेवताश्रय[6] इति। नात्र द्वाभ्यां वाक्याभ्यां प्रयोजनम्। यथा रक्तमश्वं योजयेति यदा गुणविधिपरं भवति वाक्यम्, तदा द्वाभ्यां वाक्याभ्यां प्रयोजनं गुणद्वयविधाने। अथ शोणमानयेत्युच्येत, तत्र गुणविधिपरेऽपि वाक्ये पर्यवसित एव गुणद्वयविधानम्। श्रुत्यैव विशिष्टगुण-द्रव्यस्य[7] प्रतीतत्वान्न भवत्येकस्य वाक्यस्यातिभारः। एवमीहापीति। सम्बन्धश्च बहुभिः पदैर्विशिष्ट एक एवोच्यत इत्येकार्थत्वम्। विभज्यमानानि चात्र पदानि साकाङ्क्षाणीत्युपपन्नमेकवाक्यत्वम्। न च यागमन्तरेण देवतायै द्रव्यं संकल्पित-मित्येष सम्बन्धोऽवकल्पते। तस्माद्यजिमती एते कर्मणी इति ॥४॥ सिद्धान्तः ॥

त० वा०—यथा फलपदं प्रेक्ष्य गुणपक्षो निराकृतः।
देवतापदमालोक्य तथैवाऽऽलम्भमात्रता ॥

विधिस्तावदुत्तरोत्तरपदानुरोधेन द्रव्यदेवतापदसम्बन्धसंक्रान्तः। स चान्य-थानुपपत्तेराक्षिप्तयजिक्रियः सन्विधीयते। न ह्येनमन्या क्रिया सम्पादयितुं समर्था यदि देवतोद्देशेनापरित्यजन्नेव द्रव्यमालभेत। न तद्वायव्यं कृतं स्यात्। न च प्रसिद्धवायुदेवत्यमेव स्प्रष्टव्यमित्यवगम्येत। अनुष्ठानसम्पाद्यत्वाद्देवतात्वस्य। तेनावश्यं वायुमुद्दिश्य श्वेतगुणकं द्रव्यं दातव्यम्। अतश्च यजिविधानमेतदिति निश्चीयते। तथा च लक्षणं करिष्यति 'यजतिचोदना द्रव्यदेवताक्रियं समुदाये कृतार्थत्वात्' इति। ततश्चाऽऽलम्भनिर्वापौ चोदकप्राप्तावेवानुवदिष्येते। तत्रा-ऽऽलम्भविशिष्टत्वादिति गौरवोपन्यासः फल्गुरेव कथञ्चिदभ्युपेत्यवादेनोपन्यस्त इति, नातीवाऽऽदर्तव्यः ॥ १४ ॥

१. ब. पटवान। २. ब. वयेदिति। ३. ब. प्रमादसमाम्नाय। ४. ब. सम्बद्धं। ५. ब. वा। ६. ब. स इति। ७. ब. गणस्य द्रव्यस्य।

न्या० सु०—यावदुक्तसूत्रस्याद्यपक्षनिरासार्थत्वात्, तत्रैव प्राप्ते कर्माणि गुणफलान्वयविधौ वाक्यभेदसूचनार्थे संस्कारत्वनिराससूचनार्थे च फलपदे फलसंयोगाच्चेति प्रयोक्तव्ये द्रव्यदेवतयोर्यागकर्मणि सति सम्बन्धोपपत्तेः, फलस्य च कर्मान्तरे प्रधानभूते सति सम्बन्धोपपत्तेर्यागोऽयमपूर्वः प्रधानभूतो विधीयते। न तु प्रकृते कर्मणि संस्कारके गुणविधिरित्यर्थत्रयस्य लघुना सूत्रेणोक्तिसम्भवे सूत्रगौरवस्यानाश्रयणीयत्वादिह सूत्रे फलपदं प्रयुक्तं फलसंयोगमात्रेण वाक्यभेदानापत्तेर्द्रव्यफलसंयोगस्य वाक्यभेदहेतुत्वसूचनार्थं मध्ये फलपदप्रयोगः सूक्तादेर्देवतासंयोगेऽपि यागाकल्पनात् द्रव्यस्यैव देवतासंयोगो यागकल्पको, नान्यस्येति सूचनार्थं फलशब्दव्यवहितस्यापि द्रव्यशब्दस्य भोक्तृशब्दान्वयो विवक्षितः। देवतायाश्च भोक्तृत्वाभावेऽपि स्तुतिभोक्तृलक्षणस्य देवतात्वस्य यागकल्पकत्वात्तद्व्यावृत्त्या त्यज्यमानहविरुद्देश्यत्वात्मकहविर्भोक्तृलक्षणस्य देवतात्वस्य यागकल्पकत्वसूचनार्थं भोक्तृशब्दः। अत्र भाष्यकृता द्रव्येति भाष्येण द्रव्यभोक्तृसंयोगं व्याख्याय, फलसंयोगव्याख्यार्थम्—भूतीत्युक्तम्। ततस्तौ चेति भाष्येणानागतावेक्षणेन प्रागेव व्याख्यातत्वात्पुनरुक्तमाशङ्क्य, दृष्टान्ततया व्याचष्टे—यथेति। समानपदोपात्तालम्भस्यागेन पदान्तरोपात्तद्रव्यदेवतान्वयविधानं न युक्तमित्याशयेन 'कथमिति भाष्येण पृष्ट्वा' यदि हीत्यादिना प्रमादसमाम्नाय इति गम्येतेत्यन्तेन द्रव्यदेवतान्वयविधिरुपपादितः। तत् तात्पर्यतो व्याचष्टे—विधिस्तावदिति। 'नन्विति भाष्येण द्रव्यस्य देवतान्वयविधावपि धात्वर्थान्वयस्यापि प्रतीतस्य त्यागायोगाद्विधेयत्वावश्यम्भावेन वाक्यभेदमाशङ्क्य, न द्रव्यस्य देवतया धात्वर्थेन चान्वयो विधेयो, येन वाक्यभेदः स्यात्, किं तु भावनैव द्रव्यदेवताभ्यां धात्वर्थेन च विशिष्टा विधेया। तस्याश्च श्रुत्या धात्वर्थविशिष्टत्वावगतेः पदान्तरसमभिव्याहाराद् द्रव्यदेवतासम्बन्धविषयत्वावगतेरनेककारकान्वयसहत्वाच्च सम्बन्धश्चेति सम्बन्धशक्ताया भावनाया वैशिष्ट्ये विनानुष्ठेयत्वायोगात्तद्विशिष्टाया एव बहुपदप्रतिपाद्यत्वेनैकपदमात्रेण नैराकाङ्क्ष्यायोगात् वाक्यभेदानापत्तिरित्यभिधानार्थं नेतीत्याद्युपपन्नमेकवाक्यत्वमित्यन्तं भाष्यमुपेक्ष्य, एतेषामिति सूत्रावयवव्याख्यानार्थं न चेति भाष्यं व्याचष्टे—स चेति। त्यागं विनाप्युद्देशमात्रेण देवतान्वयोपपत्तेरन्यथानुपपत्त्या यागकल्पनेत्याशङ्कां नावश्यमिति पूर्वपक्षवार्त्तिकोक्तां परिहरति—न हीति। ब्राह्मणोद्देशेन पक्वेऽप्यन्ने तदुद्देशेन त्यागं विना ब्राह्मणसम्बन्धाप्रसिद्धेरव्याप्रियमाणेऽपि च तुभ्यमिदं न ममेति तदुद्देशेन त्यागे कृते तत्सम्बन्धप्रसिद्धेरन्वयव्यतिरेकाभ्यामुद्देशत्यागलक्षणैव क्रिया सम्बन्धापादिकाऽवसीयत इत्याशयः। एतदेव विवृणोति—यदीति।

यदपि केन चिद्यजमाने वाय्वाद्युद्देशेन त्यक्तस्यालम्भानुष्ठानं शङ्कितम्, तदप्यालम्भादेः फलान्वयेन प्रधानकर्मत्वावसायात्तदन्वयिनो वायव्यादिपदस्योपादेयार्थत्वावगतेर्देवतान्वयस्यानुष्ठानापाद्यत्वावगमादयुक्तमित्याह—न चेति। एतदेवोपसंहरति—तेनेति। तस्मादिति। सिद्धान्तोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—अतश्चेति।

कथं देवतात्वस्यानुष्ठानं सम्पाद्यते इत्यपेक्षायामाह—तथा चेति। द्रव्यविषया त्यागक्रिया, देवताविषया चोद्देशक्रिया। तयोः समुदायद्वन्द्वैकवद्भावानिर्दिष्टं यजतिचोदनानुष्ठापयति देवतोद्देशद्रव्यत्यागसमुदाये तस्या लोके कृतार्थत्वप्रसिद्धेरिति चतुर्थाध्यायसूत्रार्थस्य टुप्टीकायां स्वयं वक्ष्यमाणत्वाद्देवतात्वस्य यूपादिवत्प्रागसिद्धेस्त्यज्यमानं द्रव्यं प्रत्युद्देशेनाग्न्यादिदेवतां कृत्वा द्रव्यं त्यजेदिति देवतोद्देशपूर्वकं द्रव्यत्यागात्मकयागप्रयोगस्वरूपकथनार्थेनानेन सूत्रेणानुष्ठानापाद्यता देवतात्वस्योक्तेत्याशयः।

लक्षणार्थत्वस्य बृहन्मध्यमटीकयोर्टुप्टीकायां च निषेधात्प्रयोगलक्षणाभिप्रायस्तत्रत्यभाष्ये लक्षणशब्द इति सूचनार्थम्—लक्षणं करिष्यतीत्युक्तम्। विधिशब्दादरोऽप्यनुष्ठानापाद्यत्वहेतुक एव, अन्यथा पर्यायेणाप्यग्न्याद्युद्देशेन द्रव्यस्याग्न्यादिदेवत्वसिद्धेः, तावन्मात्रस्य चाग्नेयादिशास्त्रार्थत्वात्तदादरो निष्प्रमाणकः स्यात्। ननु द्रव्यदेवताविशिष्टयागविध्यभ्युपगमेऽपि श्रुतस्यालम्भादेरप्राप्तत्वेनानुवादायोगात् तस्यापि विधेयत्वावगतेर्धातुसम्बन्धाधिकारविहितप्रत्ययाभावाच्च क्रियाद्वयान्वयाप्रतीतेरनेकार्थविधिलक्षणो वाक्यभेदः स्यादित्याशङ्क्याह—ततश्चेति। कथं तर्हि भाष्यकृता पुरुषप्रयत्नस्यालम्भविशिष्टतायाः समानपदोपादानलक्षणया श्रुत्यावगतेर्वाक्याच्च द्रव्यदेवताविषयत्वावगतेर्वाक्यभेदं विनापि क्रियाद्वयविध्युपपत्तिरुक्तेत्याशङ्क्याह—तत्रेति। सकृदुच्चरितस्य विधायकस्यानेकार्थविधिशक्त्यभ्युपगमादावृत्तिलक्षणवाक्यभेदपरिहारेऽप्येकस्यानेकार्थे तात्पर्यात् गौरवेण लक्षणवाक्यभेदोऽपरिहार्य इति सूचनार्थो गौरवशब्दः ॥१४॥

भा० प्र०—सिद्धान्ती का कथन है कि "दर्शपूर्णमास" का आलभ्य एवं निर्वाप नहीं कही गई है, किन्तु, इसी कारण से इस स्थल में स्वतन्त्र आलभ्य एवं निर्वाप विहित होता है—यह नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, आलभ्य और निर्वाप स्वयं याग नहीं है। इस स्थल में याग का रूप द्रव्य और देवता की स्पष्ट प्रतीति हो रही हैं। तद्धित प्रत्ययान्त "वायव्य" एवं "सौर्य" इन दोनों की प्रकृति से देवता और प्रत्यय अंश से द्रव्य की प्राप्ति होती हैं, द्रव्य और देवता का उल्लेख रहने पर अर्थापत्ति के बल से याग कल्पित होता है, क्योंकि' यही याग का स्वरूप हैं। अतः, 'यज्' धातु का प्रयोग न होने पर भी कोई क्षति नहीं हैं।

"पटं वय" यह कहने पर केवल वयन की ही कर्तव्यता अवगत होती हैं, पट और वयन का सम्बन्ध विधेय होता है, इस स्थल में केवल "श्वेतमालभेत" एवं "चरुं निर्वपेत्" यह उल्लेख रहता हैं, किन्तु, "दीर्घं पटं वय" यह कहने पर जैसे दीर्घ शब्द का प्रयोग रहने पट की दीर्घता ही विहित होती है, वैसे ही इस स्थल में भी "वायव्यम्" एवं "सौर्य्यम्" इन दो पदों का उल्लेख रहने से द्रव्य और देवता का सम्बन्ध विहित होता है अर्थात् स्वतन्त्र याग विहित होता है। आलम्य और निर्वाप के बिना इस स्थल में याग के विषय का विधान किया जाता है—यह सम्भव नहीं हैं अतः, उसका

अर्थापत्ति के द्वारा लाभ होता है। अर्थापत्ति से लभ्य उस आलम्य और निर्वाप का अनुवाद कर उससे युक्त स्वतन्त्र याग का विधान किया जाता है, यथोक्त ऐश्वर्य एवं ब्रह्मवर्चस् ही उसका फल है।

"यजतिः" = याग अर्थात् स्वतन्त्र याग होगा, "तु" = यह पूर्वपक्ष का निरास करने के लिए है, "द्रव्यफलभोक्तृसंयोगात्" = क्योंकि, द्रव्य, फल एवं भोक्ता अर्थात् सम्बन्ध "एतेषां प्रधानकर्मसम्बन्धात्" = क्योंकि, प्रधान कर्म के साथ ही द्रव्य फल और देवता का सम्बन्ध रहता है ॥ यह सिद्धान्त पक्ष है ॥१४॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥१५॥

शा० भा०—लिङ्गं खल्वप्येतमर्थं दर्शयति। सोमारौद्रं चरुं निर्वपेत इति प्रकृत्य, 'परिश्रिते याजयेत्' इति परिश्रयणविधिः। एतस्य वाक्ये यजतिशब्देन संकीर्तनमवकल्पते[1], यदि यजिमती एते कर्मणी। अथ प्रकृतौ गुणविधानम्, यावदुक्तं वा, यजतिशब्देनानुवादो[2] नावकल्पेत। तस्मादवगच्छामो[3] यजिमती इति ॥१५॥ सिद्धान्ते हेतुः ॥

इति पञ्चमं द्रव्यदेवतासंयोगे यागविधायकत्वाधिकरणम् ॥५॥

त० वा०—'सोमारौद्रमि'त्युक्ते विनाऽपि यजतिशब्देन परिश्रयणविधिपरे वाक्ये यजतिनाऽनूद्यमाने यजतिमत्कर्मविधायित्वमेवमादीनामित्यवगम्यते। अग्नीषोमीयेऽपि चानेनैव यजिमत्त्वसिद्धिः। पूर्वं चैतावदेव विचारितम्, किं प्रकृतानुवादित्वमुत विधायकत्वमिति। सिद्धे तु विधायकत्वे किमात्मकं तत्कर्मेत्येतदधिकरणाधीनमेवैतदित्यपौनरुक्त्यम् ॥ १५ ॥

इति पञ्चमम् द्रव्यदेवतासंयोगे यागविधायिकत्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥

न्या० सु०—लिङ्गत्वमुपपादयति—सौमारौद्रमिति। यजतिशब्देन विनाप्युक्ते गुणविधिपरे वाक्ये यजतिनानुवादः सौमारौद्रवाक्ये यागविध्यभावे न युज्यतइत्याशयः। ननु पशुसोमाधिकरणव्युत्पादितयजिवाच्यकर्मविधावप्यग्नीषोमीयवाक्यन्यायेनेहापि यजिवाच्यकर्मविधायित्वसिद्धेः पुनरुक्तमेतदधिकरणमित्याशङ्क्याह—अग्नीषोमीयेऽपि चेति ॥१५॥

भा० प्र०—पूर्वोक्त निर्वापादि याग हैं, इसका अन्य भी कारण है, "सोमारौद्रं चरुं निर्वपेत्" इस वाक्य में निर्वाप का विधान किया गया है, क्योंकि उसी के प्रकरण में श्रुति कहती है कि "परिश्रिते याजयेत्" इस स्थल में इस पद में यज् धातु के द्वारा

---

१. ब. संकीर्तनमनुवादोऽवकल्पते। २. ब. नानुवादोऽवकल्पेत।

३. ब. तस्मादप्यवगच्छामो। क. विशिष्टत्वातिगौरवो।

निर्वाप का निर्देश होने से उससे युक्त याग का ही विधान किया गया है—इसको व्यक्त किया गया है।

इस प्रसङ्ग में वार्तिककार ने कहा है कि नियम के अनुसार अग्निषोमीय विधि का भी यागत्व सिद्ध होता है। किन्तु ऐसी स्थिति में पशुसोमापूर्वताधिकरण का (द्वितीय अध्याय द्वितीय पाद छठे अधिकरण १७ से २० सूत्रों में) जो विषय है उसके साथ पुनरुक्त होगी—ऐसी बात नहीं है। क्योंकि, "अग्निषोमीयं पशुमालभेत' इस वाक्य की विधायकता प्रतिपादित है और इस स्थल में स्वरूप का विचार है। आलम्भ्य अर्थात् वध्य पशु का द्रव्य और अग्नीषोम देवता है यह इस अधिकरण के विचार के द्वारा निर्णीत होता है।

"लिङ्गदर्शनात् च" = लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक वाक्य देखा जाता है, अतः, इसको याग कहना होगा।

यह पञ्चम द्रव्यदेवतासंयोग में यागविधायकत्व अधिकरण है ॥ १५ ॥

अथ षष्ठं देवतासंयोगाभावे यागाविधायकत्वाधिकरणम्।

[६] विशये प्रायदर्शनात् ॥१६॥ सि०।

शा० भा०—किमिहोदाहरणम्? न तावत्सूत्रेणैव परिगृहीतम्। यथा, अवेष्टौ यज्ञसंयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते इति। नापि च साध्यं प्रतिज्ञातम्। यथा अयनेषु चोदनान्तरम्। केवलं विशये—संशये प्रायदर्शनं हेतुरिति निर्दिश्यते। कस्यायं हेतुरिति, न विजानीमः। प्रकृतं[1] यजिमदेतत्कर्मेति तदपि न सम्बध्यमानमिव पश्यामः। तदेतदगमकं सूत्रमेव[2] तावदनर्थकम्। अथ काऽत्र प्रतिज्ञा? कश्च संदेह इति वक्तव्यम्? वृत्तिकारवचनात्प्रतिज्ञाम्, संशयं चावगच्छामः। अत्र भगवानाचार्य इदमुदाहृत्य वत्समालभेत वत्सनिकान्ता हि पशव इति। इमं संशयमुपन्यस्यति स्म—किं यजिमदभिधान एष आलभतिः, उताऽऽलम्भमात्रवचन इति। उपपद्यते चैतदुदाहरणम्, संशयश्च। तत्र च पूर्वपक्षं प्रतिजानीते—स्म यजिमदभिधान इति। इदं तु प्रत्युदाहरणसूत्रं पूर्वस्याधिकरणस्य। नात्र पूर्वपक्षेणाऽतीव प्रयोजनम्। तथाऽपि पुरुषाणामुच्चावच[3] बुद्धिविशेषानालोच्य भवति मन्दानां सामान्यतो दृष्टेनाप्याशङ्का। साऽपि निवर्तनीया। न हि मन्दविषेण वृश्चिकेनापि दष्टो म्रियेत न जातुचित्कदाऽपि तत्र चिकित्सा नाऽऽदरेण कर्तव्या भवेत्। अतस्तां निवर्तयितुं पूर्वपक्षमुपन्यस्यति स्म। आलभतिरस्माभिः प्राणिसंयुक्तो यजिमदभिधानो दृष्टः। अयमप्यालभतिः प्राणिसंयुक्त एव। तेनायमपि यजिमद्वचन एवेति भवति कस्यचिदाशङ्का।

---

१. ब. यदमि प्रक्रतं। २. ब. सूत्रमेतावत्खल्वत्र। ३. ब. उच्चावचान्।

अथवा यजिमदभिधानो दृष्ट आलभतिः प्राणिसंयुक्तः, तस्यायमनुवादो वत्सविधानार्थः। तथा च फलं न कल्पयितव्यं भविष्यतीति। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—अस्मिन्संशये आलम्भमात्रं संस्कारः। कुतः ? प्रायदर्शनात्। अत्रा[1]न्यान्यपि संस्कारकर्माणि प्रायभूतानीत्युच्यन्ते। तत्रैतदपि श्रूयते। प्रायादपि चार्थनिश्चयो भवति। यथा, अग्रचप्राये लिखितोग्रच इति गम्यते। ननु लिङ्गं प्रायदर्शनेन सिध्यति, तथा वर्णयितव्यम्। कथं च प्रायदर्शनं हेतुः। न्यायतः प्राप्तौ सत्याम्। कः पुनर्न्यायः। देवतासंबन्धाभावान्न यागवचनः। दृष्टार्थत्वाच्च वत्स आलभ्यमानो गां प्रस्नावयिष्यतीति[2]। तस्मादेवं न्यायप्राप्ते प्रायदर्शनं द्योतकं भवति। तस्मादालम्भमात्रं संस्कारः ॥ १६ ॥

त० वा०—सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके।
सूत्रं योनिरिहार्थानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम् ॥

इति ये वदन्ति, तान्प्रत्युच्यते। न किंचित्साधनमप्रदर्शितविषयं स्वार्थं साधयति। सूत्रकारेण चेह हेतुमात्रमुपात्तम्। न चार्थप्रकरणादिभिरप्युदाहरणप्रतिज्ञासंशय-हेतूनामन्यतममुपलभ्यते। तस्मादगमके सूत्रे सति अवश्यं दोषप्रतिसमाधानार्थं वृत्तिकारादिभिर्यतितव्यम्। सत्येव सम्भवेऽध्याहारादिवर्जनमुक्तम्। सर्वथा शिष्यप्रज्ञासंस्कारे सूत्रकारोदीनां प्रवर्तमानानां येनैव तदनुगुणं यत्कृतम्, तदेव ग्रहीतव्यम्, नासद्ग्रहः कर्तव्यः। इदं[3] सूत्रकारेण नोपात्तम्, इदं वृत्तिकारेणैतत्प्रदर्शनार्थमेतद्वर्णयन्ति।

तदिह भगवानुपवर्षः किलाग्निहोत्रे धेनुदोहाधिकारे श्रुतमिदं वाक्यमुदाहृतवान् 'वत्समालभेत' इति। तत्र च पूर्ववदेव त्रेधा संशयमुपन्यस्तवान्। किं प्राकृत एवाऽऽलम्भे वत्सो विधीयते, तथाऽऽलम्भमात्रम्[4], अथवा यजतिमदेतत्कर्मेति। तत्र विशेषणाभावात्प्राकृतप्रत्ययो नास्तीति पूर्वाधिकरणसिद्धमेवेति नोपन्यस्तम्।

तेनैवानुक्रमेण यजिमदभिधानबुद्धौ प्रसक्तायामपवादोऽयं क्रियते। तत्र भोक्तृसंयोगप्रत्युदाहरणत्वाद्गतप्रायोऽपि पूर्वपक्षः श्रोतृबुद्धिवैचित्र्यात्क्रियते। यो नाम तार्किकवासनया सामान्यतोदृष्टेन वेदार्थमुन्निनीयेत्, तस्य तन्निवृत्तिरप्रदर्शिताशङ्का न शक्या कर्तुमिति प्रदर्श्यते। तत्र केषाचित्पूर्वाधिकरण एवाऽऽलभतिर्यजतिपर्यायत्वेन प्रसिद्धः, अन्येषां यज्यनुमापकत्वेन, तदुभयमत्रापि तथैव मन्यन्ते। तत्रापूर्वयागविधानम्, प्राप्ते वा वत्सविधानमिति पूर्वपक्षे द्वैतम्।

सिद्धान्तस्तु द्रव्यदेवतासम्बन्धान्यथानुपपत्त्या पूर्वमस्माभिर्यजिः कल्पितो, नादृष्टपूर्वशक्त्यालभत्यभिधानेन, व्यभिचार्यनुमानाभासेन वा। न चेहासावस्तीति

---

१. ब. यत्रन्यानि। २. प्रस्तावयिष्यतीति।
३. क० पदं। ४. क० उभयं।

यावदुक्तता। तथा च दोहनादिसंस्कारकर्मप्रायदर्शनमुपपद्यते । दृष्टार्थत्वं च गोप्रस्नवनहेतुत्वात् ॥१६॥

न्या० सु०—अपरिपूर्णार्थस्यापि सूत्रस्य पटुव्याख्यानात्परिपूर्णार्थत्वोपपत्तेरगमकत्वाशङ्का न युक्तेत्याशङ्क्य, सूत्रार्थस्य वृत्तिकारादिभिर्व्याख्येयत्वात् सूत्रानुक्तोऽर्थो वृत्तिकारादिभिर्व्याख्यातोऽप्यग्राह्य इति ये वदन्ति, तान्प्रत्यस्य सूत्रस्यागमकतापत्तिरुच्यतइत्याह—सूत्रेष्वेव हीति। वृत्तिवार्त्तिकयोर्यत्सर्वमुच्यते, तत्सर्वं सूत्रारूढं चेत् ततो ग्राह्यम्, नान्यथेति श्लोकार्थः। किमुक्यतइत्यपेक्षायामाह—न किं चिदिति। विषयशब्देनोदाहरणसाध्ययोर्द्वयोरपि परिग्रहान्न विजानीम इत्यन्तं भाष्यमनेन व्याख्यातम्। पूर्वाधिकरणस्थसंस्कारशब्दानुषङ्गेण वत्सालम्भस्योदाहरणत्वज्ञानम्, यावदुक्तशब्दानुषङ्गेण च साध्यज्ञानं भविष्यतीत्याशङ्क्य, वत्सालम्भस्याग्निहोत्रप्रकरणाधीतत्वेनाऽनारभ्याधीतसंस्कारविषयेण संस्कारशब्देनोपादानायोगाद्यजिमत्त्वसाध्यव्यवहितस्य च यावदुक्तत्वसाध्यस्यानुषङ्गायोगात्तत्परिहारार्थं प्रकृतमिति भाष्यमुपलक्षणार्थत्वेन व्याचष्टे—न चेति। तदेतदित्यगमकत्वोपसंहारभाष्यमगमकत्वोपन्यासस्य वृत्तिकाराद्युक्तार्थाग्राह्यत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थत्वविवरणार्थं सूत्रानुक्तमपि प्रतिज्ञाद्यवश्यं वृत्तिकारादिभिर्वाच्यमित्यभिधानार्थेनैतावदिति भाष्येण सह व्याचष्टे—तस्मादिति।

श्रुतार्थापत्त्या प्रतिज्ञाऽप्यध्याहारस्य सूत्रकाराभिप्रेतताऽवसीयतइत्याशयः। नन्वध्याहारादिभिः सूत्रव्याख्या (जिज्ञासा सूत्रारम्भभास्य[1])शास्त्रादौ निषिद्धेत्याशङ्क्याह—सत्येव चेति। ननु सामान्यतः किं चित्प्रतिज्ञाद्यध्याहार्यमित्यर्थापत्त्यावगमे सूत्रकाराभिप्रेतस्य तद्विशेषस्य निर्द्धारयितुमशक्यत्वादुत्सूत्रत्वं स्यादित्याशङ्कानिरासार्थं वृत्तिकारेति भाष्यं व्याचष्टे—सर्वथेति। युक्तिगम्येऽर्थे पुरुषविशेषस्यानादरणीयत्वाद्युक्तियुक्तं यद्वृत्तिकारादिभिरुक्तम्, तत्सूत्रकारानुपात्तत्वान्न ग्राह्यमित्यसदाग्रहो न कार्य इत्याशयः। एवमेव वार्त्तिककाराद्युक्तमपि वृत्तिकारानुपात्तत्वमात्रेणाग्राह्यं न भवतीत्यनिदेशार्थमिदम्—वृत्तिकारेणेत्युक्तम्। सूत्रकारानुक्तस्याप्यर्थस्य वृत्तिकाराद्युक्तस्य ग्राह्यत्वप्रदर्शनायैतत्भाष्यमित्यस्माभिर्यदुक्तम्, तत्पूर्वे अपि व्याख्यातारो वर्णयन्ति, न त्वस्माभिः स्वोत्प्रेक्षामात्रेणोक्तमित्याह—एतत्प्रदर्शनार्थमिति। वर्णयतीत्येकवचनपाठे अपि एतत्प्रदर्शनार्थं भाष्यकृत्सूत्रस्यागमकत्वं वृत्तिकारव्याख्यानं च वर्णयतीत्यूपसंहारार्थत्वेन व्याख्येयम्।

वृत्तिकारोक्तोदाहरणसन्देहप्रदर्शनार्थमत्रेति भाष्यं व्याचष्टे—तदिति। न केवलं वृत्तिकारवचनादिमावुदाहरणसन्देहौ ज्ञायेते, किं तु 'पूषासीति वत्समुपासृजती'ति वत्सालम्भे पूषशब्दवन्मन्त्रविधानाद्यागकल्पकदेवतासंयोससन्देहवाचिविषयशब्दपर्यालोचनयापीत्यभिधानार्थेनोपपद्यते चेति भाष्येणोक्तस्य युक्तियुक्तत्वस्य सूचनार्थः किलशब्दः।

---

१. अयं पा० २ पु० ना०।

ननु वृत्तिकारेण त्रेधा सन्देहस्योपन्यस्तत्वे कस्मात् भाष्यकृता अग्नीषोमीयवत्सविधिपक्षः सन्देहकाले नोपन्यस्त इत्याशङ्क्यातितुच्छत्वमनुपन्यासकारणमाह—तत्रेति। लिङ्ः प्राकृताग्नीषोमीयपश्वालम्भविशेषणत्वाभ्युपगमे विधायकाभावापत्तेरित्याशयः। नन्वेवं सति यागकल्पकदेवतासंयोगाभावेन यजिमदभिधानपक्षोऽपि तुच्छत्वान्नोपन्यसनीय इत्याशङ्क्याह—तेनैव त्विति। सूक्तवाकन्यायेन 'पूषासी'ति मन्त्रस्य श्रुत्या करणत्वेन विनियुक्तस्य देवताकल्पनद्वारा यागकल्पकत्वबुद्धिर्भविष्यतीति, तेनैकद्रव्यदेवतासंयोगप्रक्रमेणेति प्रकारवाचिना प्रक्रमशब्देनोक्तम्। तत्र चेति भाष्येण वृत्तिकारोक्तं पूर्वपक्षमुपन्यस्य, समीपधारणवाचिनोपासृजतिना तदाक्षिप्तालम्भलक्षणहेत्वभावात्सन्निहितत्वाच्यसिशब्दसमानाधिकरण्याच्च पूषशब्दस्य पुष्टियोगेन वत्सवाचित्वप्रतीतेर्देवताकल्पकत्वाभावाद्धेत्वभावमाशङ्क्येदं त्वित्यनेन देवतासंयोगप्रत्युदाहरणार्थत्वात्सूत्रस्य न पूर्वपक्षोपपादने यतितव्यमित्युक्ते पूर्वपक्षोपन्यासस्तर्ह्यनर्थक इत्याशङ्क्य तथापीत्यादिनोपन्यस्यति स्मेत्यन्तेन मन्दाशङ्कानिवृत्त्यर्थतोपन्यासस्योक्ता। तत्सर्वं व्याचष्टे—तत्रेति। निरासमात्रं तर्हि कार्यं नोपन्यास इत्याशङ्कानिरासार्थत्वेनातस्तामिति भाष्यावयवं व्याचष्टे—यो नामेति। सामान्यतो दृष्टोक्त्यर्थंमालभतिरितिभाष्यम्। अग्नीषोमीयं पशुमालभेतेत्यादिवाक्यस्थस्याप्यालभतेर्यजिवाच्यकर्मवाचित्वाभावात्साध्यविकलदृष्टान्तत्वापत्तेरयुक्तमाशङ्क्य द्वेधा समाधत्ते—तत्रेति। धातूनामनेकार्थत्वात्स्त्रीसंयुक्तस्य गमेर्मैथुनवाचित्ववत्स्पर्शवाचिनोऽप्यालभतेः प्राणिसंयुक्तस्य यागवाचित्वकल्पना न विरुद्धेति।

यथाश्रुतभाष्यसमर्थनार्थं केचिदाहुः स्त्रियं गच्छेदित्यत्र मैथुनप्रत्यायकहेत्वन्तराभावाद् गमेरेव तद्वाचित्वकल्पनं युक्तम्, यागप्रतीतेस्तु द्रव्यदेवतान्वयानुपपत्त्यैव सम्भवान्, तदन्वयसिद्ध्यै च तद्वाचिनो यजेरप्यन्यथानुपपत्त्यैव कल्पनोपपत्तेः, लोके वालभतेर्यागे प्रयोगादर्शनाद्भाष्यस्य चाभिदधातेवचेश्च लक्षणया ज्ञानवाचित्वोपपत्तेर्नालभतेर्यागवाचित्वकल्पना युक्तेति स्वमतम्। आलभतेः पूर्वाधिकरणे यागानुमापकत्वानभिधानात्प्राणिसंयुक्तो यत्रालभतिः तत्र यागानुमानमिति व्याप्तेर्यज्यनुमानानुमानत्वेनेत्यनुमानशब्दावृत्त्या व्याख्येयम्। तथैवेत्यालभतिना यागानुमानातिदेशाद्यागानुमानहेतुः पूषासीति मन्त्रवर्णकल्पदेवतान्वयः सूचितः।

कीदृगनेन सामान्यतोदृष्टेन पूर्वपक्षः कृत इत्यपेक्षायामाह—तत्रेति। उपपदाक्रान्तशक्तित्वेन विधायकस्य कर्मविधायित्वायोगाद्धातोरनुवादार्थत्वावगतेः। कुतोऽनुवाद्यप्राप्तिरित्यपेक्षायां प्राणिसंयुक्तत्वेनाग्नीषोमीयालभतेर्दूरस्थस्यापि बुद्धिस्थत्वात् तस्य च देवतान्वयद्वारा यजिवाच्यकर्मज्ञापकत्वदर्शनाद्वत्समालभेतेत्यालभतिरग्नीषोमीयवाक्यविहितस्य यजिवाच्यकर्मणोऽनुवादो वत्सविध्यर्थ इति पूर्वपक्षान्तरोक्त्यर्थमथ वेति भाष्यं व्याचष्टे—प्राप्ते वेति। द्विविधं पूर्वपक्षमुपसंहरति—इतीति।

पूषासीति मन्त्रो वत्सालम्भे विनियुज्यते न चेति सन्देहात् पूषशब्दो देवतावाची न वेति सन्देहाच्च वत्सालम्भे देवतासंयोगसन्देहो योग्यत्वाद्व्यवहितानुषक्तयावदुक्तत्वरूपसाध्य-

सिद्धचै विषयशब्देन हेतुतयोक्त इत्येवं सूत्रव्याख्यां सूचयन् सिद्धान्तमाह—**सिद्धान्तस्त्विति**। नालभतिना यागाभिधानमभिप्रेत्य पूर्वाधिकरणे यागः कल्पित इत्युक्ते, कस्मादित्यपेक्षायां यागाभिधाने तस्य लोके शक्त्यदर्शनादिति हेतुगर्भं विशेषणं सामान्यतोदृष्टस्याभासत्वे, अध्वर्युमालभेतेत्यादौ व्यभिचारो हेतुगर्भं विशेषणं देवतासम्बन्धाभावादिति भाष्येण विषयशब्दस्य मृदूक्त्या देवतान्वयाभावोक्त्यर्थता सूचितेति—**न चेत्यनेनोक्तम्**। आलम्भमात्रसंस्कार इति भाष्यसंस्कारशब्देन संस्कारश्चाप्रकरणइति संस्कारशब्दस्योदाहरणोक्त्येऽनुषङ्गः सूचित—**इतीहशब्देनोक्तम्**। आलम्भमात्रशब्देन च यावदुक्तं वेति यावदुक्तशब्दस्य प्रतिज्ञोक्त्येऽनुषङ्गः सूचित इति—**यावदुक्तमित्यनेनोक्तम्**। प्रायदर्शनस्य लिङ्गमात्रत्वं भाष्योक्तं विवृणोति—**तथा चेति**। अभिप्रायशब्दस्याभीष्टत्वे प्रयोगात्प्रायशब्दस्य दृष्टप्रयोजनवाचित्वमङ्गीकृत्य प्रायदर्शनशब्दस्य दृष्टार्थत्वलक्षणहेतूक्त्यर्थत्वं दृष्टार्थत्वाच्चेति भाष्योक्तं विवृणोति—**दृष्टार्थत्वं चेति**। यथा चोपपत्स्यतइत्यनुषङ्गेण योज्यम् ॥ १६ ॥

भा० प्र०—अग्निहोत्र का गोदोहन के अधिकार में "वत्समालभेत" (तै० सं०२।१।४) "वत्स का आलम्भन करे" यह श्रुतिवाक्य मिलता है। इसके द्वारा केवल वत्स का स्पर्श विहित होता है या स्वतन्त्र याग का ही विधान होता है—यह संशय होता है। इसमें पूर्वपक्षी का कहना है कि प्राणी से संयुक्त आलम्भन याग ही होने से यह भी याग ही है। "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" "वायव्यं श्वेतमालभेत" इत्यादि वाक्यों से विहित आलम्भन ही इसका निदर्शन है। अतः, "वत्समालभेत" इस वाक्य से विहित आलम्भन भी याग ही होगा—यह अनुमित होता है। अनुमान का स्वरूप निम्नलिखित है—

विवादास्पदीभूत वत्सालम्भ याग है (प्रतिज्ञा) क्योंकि यह प्राणी द्रव्यविषयक आलम्भन है, (हेतु) जैसे वायव्य पशु का आलम्भन (उदाहरण) इसके समाधान में सिद्धान्तियों का कथन है कि यागादि का निरूपण अनुमानगम्य नहीं है। किन्तु यह एकमात्र "शास्त्रगम्य" है यह उस अनुमान का व्यभिचारी हेतु है। अग्निषोमीय वाक्य या वायव्य वाक्य में यागविधि 'आलभति' पद की शक्ति के द्वारा निर्णीत नहीं होता हैं, अपितु श्रुत द्रव्य और देवता के सम्बन्ध के विना उपपन्न नहीं होता है, अतः श्रुतार्थापत्ति से उसका निरूपण होता है। 'वत्समालभेत' इसमें किसी देवता का उल्लेख न होने से, देवता का सम्बन्ध न होने से याग कल्पित नहीं हो सकता है। अतः वचन में जैसा सम्बन्ध है वैसा ही अर्थ विधेय होगा अर्थात् वत्स का आलम्भन ही अर्थात् स्पर्श ही विधेय होगा। यह स्पर्श संस्कार कर्म है। क्योंकि, यह गोदोहन आदि संस्कार कर्मों के प्राधान्य के साथ ही पठित हैं। धेनु का दूध प्रस्रवण दृष्ट प्रयोजन है। कारण, दुग्ध के दोहन के समय में वत्स के समीप में रहने पर ही गाय अधिक दुग्ध का प्रस्रवण करती है। वत्स के आलम्भन को यागत्व प्रतिपादन करने के लिए पूर्वपक्षियों ने जो अनुमान किया है, उसके विरोधी अनुमान का प्रयोग इस प्रकार किया जा सकता है। यथा :—

"वत्सम् आलभेत" इस वाक्य से विहित वत्सालम्भ, अग्निहोत्र संस्कार है, (प्रतिज्ञा) क्योंकि, यह संस्कार कर्मों के प्राधान्य के मध्य में पठित है, (हेतु) जैसे इस प्रकरण का अन्य कर्मसमुदाय, (उदाहरण) यह अनुमान सूत्र के "प्रायदर्शनात्" इस हेतु भाग से सूचित होता है।

"विशये" = संशय में अर्थात् यागविधि क्या संस्कार विधि है—इस संशय में, अर्थात् जैसा निर्देश है, उतना संस्कार ही विधेय है, "प्रायदर्शनात्" = प्रायदर्शन के अनुसार अर्थात् दोहन आदि संस्कार के आधिक्य का उल्लेख होने से ॥१६॥

अर्थवादोपपत्तेश्च ॥ १७ ॥

शा० भा०—अर्थवादश्च भवति 'वत्सनिकान्ता हि पशव' इति। यस्माद्वत्स प्रियाः पशवः। तस्माद्वत्स आलब्धव्य इति। यदि गां प्रस्ना वयितुमालभ्यते, तत्रैतद्वचनमवकल्पते। अथ संज्ञपयितुम्, तत्रैवंजातीयकं वचनं नोपपद्येत। तस्मादप्यालम्भमात्रं संस्कार इति सिद्धम् ॥१७॥

इति षष्ठं वत्सालम्भादीनां संस्कारताधिकरणम् ॥ ६ ॥

त० वा०—'वत्सनिकान्ता' हि इति प्रस्नावनार्थं च वत्सोपचारस्पर्शनविधौ हेतुवन्निगदोऽर्थवाद उपपद्यते। मारणार्थत्वे त्वालभ्यमाने वत्सप्रियत्वं पशूनामुच्यमानसम्बद्धमेव स्यात्। यस्मादसौ मातुः प्रियो वत्सः, तस्मात्संज्ञपनार्थमालब्धव्य इत्यसम्बद्धमेव स्यात्। इतरत्र पुनर्वत्सप्रिया माता पुत्रे चाटुकारणात्, तेन वा कृतचाटुना संयुज्यमाना स्नेहात्प्रस्नविष्यतीत्युपपद्यते। तस्मादपि प्रयोजनवत्संस्कारभूतालम्भमात्रविधानमेतदिति सिद्धम् ॥१७॥

(इति देवतासंयोगाभावे यागाविधायकत्वाधिकरणम् ॥६॥)

न्या० सु०—अर्थवादश्चेत्याद्यन्वयतः सूत्रव्याख्यार्थं भाष्यं व्याचष्टे—वत्सेति। व्यतिरेकतो व्याख्यार्थमथेति भाष्यं व्याचष्टे—मारणार्थं त्विति। कथं वत्सालम्भस्य गोप्रस्नवनार्थतेत्याशङ्क्याह—इतरत्र पुनरिति। चाटुकरणात्प्राक् गोर्वत्सस्नेहानुत्पत्तौ चाटुकरणे प्रवृत्त्ययोगादुत्पत्तौ वा चाटुकरणस्य स्नेहोत्पादकत्वायोगात्पूर्वापरितोषेण पक्षान्तरोक्तिः स्नेहातिशयोत्पादकत्वोपपत्तेस्तु पूर्वोऽपि पक्षो युक्त एव साध्यहेतुयोजनार्थं तस्मादपीति भाष्यं व्याचष्टे—तस्मादपीति ॥ १७ ॥

॥ इति षष्ठं वत्सालम्भाधिकरणम् ॥

भा० प्र०—वत्स का आलम्भन केवल स्पर्श है, इसकी सिद्धि के लिए अन्य हेतु का प्रदर्शन किया जा रहा है "अर्थवादोपपत्तेः च"। इस विधि के प्रसङ्ग में "वत्स-निकाम्भा हि पशवः" अर्थात् पशु वत्स के प्रति अतिशय स्नेह युक्त रहता है—इस प्रकार एक

१. क. प्रस्तावयितुं।

अर्थवाद वाक्य है। इस स्थल में वत्स का आलम्बन अर्थात् केवल स्पर्श ही यदि विहित होता तो अर्थवाद सङ्गत होता। क्योंकि, पशु को वत्स अतिशय प्रिय है, अतः वत्स के स्पर्श से वह भी दृष्ट होगी और प्रसन्न होने से अधिक दुग्ध देगी, यही अर्थ दुग्ध के दोहन के प्रसङ्ग में सङ्गत होता है, यदि इस स्थल में याग का विधान करने पर वत्स का वध करना होगा और वत्स का वध करने पर धेनु कैसे सन्तुष्ट हो सकती है ? सन्तुष्ट न होने पर प्रचुर दूध देने का प्रश्न ही नहीं उठता है। क्योंकि, पशु को वत्स अतिशय प्रिय होता है, अतः, उसके वत्स का बन्धन करने पर प्रचुर दूध का देना सम्भव नहीं हो सकता है, अतः, इस स्थल में केवल आलम्भन अर्थात् स्पर्श ही विधेय है, यह पूर्व के अधिकरण में वायव्य वाक्य का प्रत्युदाहरण है।

"अर्थवादोपपत्तेः च" = अर्थवाद की उपपत्ति अर्थात् समीचीनता होने से यह वत्स का स्पर्शरूप संस्कार कर्म है।

यह छठा देवता के संयोग के अभाव में यागविधायकत्व अधिकरण है अर्थात् वत्सालम्भ प्रभृति का संस्कारताधिकरण ॥१७॥

[७] संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुतिसंयोगात् ॥१८॥ सि०

शा० भा०—अस्ति अग्निः। तत्र 'नैवारश्चरुर्भवति', इत्युक्त्वा यदेनं चरुमुपदधाति इति समामनन्ति। तत्र संदिह्यते—किं चरुर्यागार्थो यागं कृत्वाऽवशिष्ट उपधातव्यः, उतोपधानार्थं एवेति। यागार्थ इति ब्रूमः। चरोर्हि प्रसिद्धं कार्यं यागो, नोपधानम्। उच्यते। यद्यपि यागार्थता चरोः प्रसिद्धा, तथाऽपि देवतावचनसंबन्धाभावाद्यजतिशब्दा[1]संबद्धाच्च न यागार्थतेति गम्यते। तदुच्यते। तस्यैव वाक्यशेषे श्रूयते, 'बृहस्पतेर्वा एतदन्नम्, यन्नीवारा' इति। तेन देवतावचनेन संनिहितेनैकवाक्यता भविष्यतीति, बृहस्पतिदेवताक उपधातव्य इति। तस्माद्यागार्थश्चरुरित्येवं प्राप्तम्। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—संयुक्त[2]स्त्वर्थशब्देन-कार्यशब्देनोपदधातीति, तदर्थ एव स्यादुपधानार्थः। उपदधातिना चास्य प्रत्यक्षमेकवाक्यत्वम्। परोक्षं देवतावचनेनानुमेयम्। 'चरुमुपदधाति' इति हि प्रत्यक्षं वाक्यम्। बार्हस्पत्यमुपदधाति इत्यानुमानिकम्। तस्मात्कृत्स्नश्चरुरुपधातव्यः। ततश्च[3] किंचिदिज्यायां विनियुज्येत। तदन्यत्र श्रुतम्, अन्यत्र कृतं भवेत्।

यत्तु बार्हस्पत्या नीवारा इति। अर्थवादः स इति। यत्तू[4]क्तं प्रसिद्धा चरोर्यागार्थतेति। प्रसिद्धिवाक्येन बाध्यते। तस्मादुपधानार्थं इति सिद्धम् ॥१८॥

॥इति सप्तमं नैवाचरोराधानार्थताऽधिकरणम् ॥ ७ ॥

---

१. ब. शब्दसंबंधाभावाच्च। २. ब. संयुक्तश्चरुस्त्वर्थ।
३. ब. चेत्किंचित्। ४. ब. यच्चोक्तं।

त० वा०—पूर्वमीलम्भस्य प्रत्युदाहरणम्, इदं तु चरुद्वारेण निर्वापस्य। देवताशङ्का चात्राभ्यन्तरेऽधिकेत्यारम्भः। तत्रौत्पत्तिकमेव चरुपुरोडाशादीनां यागाङ्गत्वम्। सर्वथा चैतस्याऽऽत्मीयत्वपरित्यागः कर्तव्यः। 'चरुमुपदधाति' इति च द्वितीयानिर्देशादुपधानं प्रतिपत्तिः। न चान्यत्रामुपयुक्तस्य प्रतिपत्तिर्युक्तेत्याकाङ्क्षिते योग्यत्वाद्यागोपयोगित्वमेव विज्ञायते। वाक्यशेषे च बृहस्पतिः श्रूयमाणो यदि विध्युद्देशेन न सम्बध्यते, आनर्थक्यमेव स्यात्। तस्मादाग्नेयप्रकृतिकं बार्हस्पत्यचरुयागं निर्वर्त्य, शेषकार्यान्तराण्यकृत्वोपधातव्यश्चरुरित्येवं प्राप्तम्। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—

चर्वादीनां स्वभावेन नैदमर्थ्यमवस्थितम्।
यथाप्रमाणमेवैषां विनियोगोऽवगम्यते॥

'नैवारश्चरुर्भवति' इति ह्युत्पन्नमात्रस्यैव प्रयोजनापेक्षायां सत्यां यागाङ्गभूताग्निधारणार्थं स्थलनिर्वृत्तिशेषत्वेन प्रत्यक्षविधानं दृश्यते 'यदेनं चरुमुपदधाति' इति। तथा निराकाङ्क्षस्य च चरोः श्रुतेनापि कार्यान्तरेण सम्बन्धो न स्यात्किमुत, अश्रुतेनैव यागेन। न चेयं प्रतिपत्तिरिति प्रथमं प्रयोजनवत्त्वानवगमात्। अर्थकर्मण्यपि चोपधानं प्रति प्राधान्यमस्ति, तेनासंस्कृतस्थलं न निर्वर्तयतीति द्वितीयानिर्देशाविरोधः।

त्रेधा च देवतायोगश्चरोरस्याऽऽनुमानिकः।
नीवारस्यार्थवादस्थतद्धितादिविवर्जनात्॥

नीवारसंबद्धः सन् बृहस्पतिश्चरावनुमातव्यः। तथा वाक्यशेषस्थो विध्युद्देशमनाकाङ्क्षितदेवतासंबन्धं नेतव्यः। तद्धितचतुर्थीमन्त्रवर्णादिभिश्च विना कथमपि देवतात्वं कल्पनीयम्। यागाद्यनुमानक्लेशश्च स्थित एव। तस्मादुपधानार्थत्वमेव युक्तमिति।

येषां च 'बार्हस्पत्यो भवति' इति चरु[1]समानाधिकरणेन तद्धितेन वाक्यशेषे देवताश्रयणम्, तेषामपि प्रथममुपधानार्थत्वे विध्युद्देशात्सिद्धे, अनाकाङ्क्षितत्वाद्देवता विधातुमशक्येति वर्तमानापदेशानुरोधेन यादृशं वयमस्य बर्हिस्पत्यत्वं वर्तमानं पश्यामः। तादृशमवैतत्प्रशंसार्थं कीर्तितमित्यवगमाद्य एव शाखान्तरीयस्य वचनस्य 'बृहस्पतेर्वा एतदन्नम्' इत्येतस्यार्थः, स एव 'बार्हस्पत्यो भवति' इत्यस्यापि तैत्तिरीयवचनस्य निश्चीयते, तस्मादेषोऽपि न यजिमद्वचन इति यावदुक्तत्वसिद्धिः॥१८॥

(इति सप्तमं चरोरुपधानार्थताधिकरणम्॥७॥)

---

१. क० सामानाधिकरण्येन।

अथ सप्तमं नैवारचरोराधानार्थताधिकरणम् ॥ ७ ॥

न्या० सु०—आर्थवादिकस्य देवतान्वयस्य विध्युद्देशानाकाङ्क्षितत्वेनाग्रहणात्पूर्ववदिहापि यागकल्पकदेवतान्वयाभावेन यावदुक्तत्वसिद्धेरनारम्भ्यमिदमधिकरणमित्याशङ्क्याह—पूर्वमिति । निर्वापस्येहाश्रुतत्वात्तत्प्रत्युदाहरणता न युक्तेत्याशङ्क्य, चरोर्यागार्थत्वेऽतिदेशप्राप्तस्य निर्वापस्यापि चरुद्वारा यागार्थत्वापत्तेश्चरोर्यागार्थत्वनिरासे निर्वापस्यापि यागार्थता निरस्ता भवतीत्युक्ते यजत्यधिकरणे द्रव्यदेवतासंयोगयुक्तवाक्यमात्रस्योदाहरणत्वादन्यथाग्नेयं सवनीयमुपाकरोतीत्यादौ यागविध्यसिद्धेर्निर्वापालम्भयोरनुदाहरणत्वात्तत्प्रत्युदाहरणानुपपत्तेरपरितोषादधिकाशङ्कारम्भहेतुतयोक्ता । नन्वर्थवादोक्ताया अपि देवताया विध्युद्देशेनानाकाङ्क्षितत्वाद्ग्रहणानुपपत्तेरयुक्ता देवताशङ्केत्याशङ्क्य—देवताकाङ्क्षासिद्ध्यर्थं चरोर्यागार्थत्वमुपपादयति—तत्रेति ।

चर्वादिर्हविः शब्दवाच्यत्वप्रसिद्धेर्जुहोतेश्चार्चिशुचिहुसृपिछदिछृदिभ्य इसिरितीसि प्रत्यये कृते हविःशब्दव्युत्पत्तेः । सौर्यं चरुमित्यादौ च यागार्थत्वदर्शनाद्धविःशब्दसामान्यतोदृष्टाभ्यां यागार्थतावसीयतइत्याशयः । यजिश्रुतिदेवतान्वयनैरपेक्ष्यसूचनायौत्पत्तिकशब्देन स्वाभाविकतोक्ता । चरो हीति पूर्वपक्षभाष्यं चानेन व्याख्यातम् । यथेष्टविनियोगार्थत्वे च चरोः स्वतस्तत्र प्रवृत्तिसिद्धेर्विध्यानर्थक्यप्रसङ्गाद्यथेष्टविनियोज्यत्वलक्षणस्वत्वत्यागस्यावश्यकत्वावगतेस्तस्य च देवतोद्देशपूर्वकद्रव्यत्यागात्मकयागैकदेशत्वाच्चरुकैमर्थ्याकाङ्क्षायामेकदेशेन बुद्धिस्थीकृतस्य यागस्य प्रयोजनत्वप्रतीतिः शीघ्रं भवतीत्येतदाशयं वा चरो हीति भाष्यमिति सूचयितुमाह—सर्वथा चेति । चरोरुपधानार्थत्वावगत्या नैराकाङ्क्ष्याद्यागार्थत्वकल्पना न युक्तेत्याशङ्कानिरासार्थं चैतद्भाष्यं नोपधानं कार्यं, किं तु प्रतिपत्तिस्तस्याश्चान्यत्रोपयोगं विनानुपपत्तेरुपधानान्वयस्य कैमर्थ्याकाङ्क्षानुकूलत्वात्प्रसिद्धेर्यागार्थत्वकल्पनोचित्येवं व्याख्येयमिति सूचयितुमाह—चरुमिति । यागार्थत्वसम्भावनायामपि वचनशब्दोक्ते विध्युद्देशे देवतासम्बन्धाभावाद्यज्यश्रवणाच्च यागार्थत्वनिश्चयानुपपत्तेर्देवतानाकाङ्क्षत्वादर्थवादस्य च विध्युद्देशानाकाङ्क्षितदेवतासमर्पणाशक्तेर्न यागार्थता युक्तेत्युच्यतइति भाष्येणाशङ्क्य, तदुच्यतइत्यनेनानर्थक्यपरिहारायानाकाङ्क्षितापि देवता विध्युद्देशेन—नान्वीयतइत्युक्तम् । तद्व्याचष्टे—वाक्यशेषे चेति । विधिपर्यन्त्रसानायैकदेवत्यत्वौषधद्रव्यत्वसामान्ये चाग्नेयविध्यन्तान्वयं दर्शयन् पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति ।

उपधानस्यापि द्वितीयया शेषकार्यत्वावगतेरेककार्यत्वादौपदेशिकशेषकार्यबाधकता युक्तेति सूचनायान्तरशब्दः । चरुस्वाभाव्यास्त्ववाक्यएव यागार्थत्वावगतेः प्रयोजनाकाङ्क्षत्वाद्वाक्यान्तरश्रुतोपधानार्थत्वेन यागार्थत्वनिरासो न युक्त इत्याशङ्कां निरस्यन् सिद्धान्तमाह—एवमिति । भोजनार्थेन्तरूष्मपक्वोदने चरुशब्दवाच्ये लोके हविःशब्दाप्रयोगाद्यागार्थव्यभिचाराच्च शब्दसामान्यतोदृष्टाभ्यां यागार्थत्वानवगतेः प्रयोजनाकाङ्क्षत्वाद्वाक्यान्तरश्रुतोपधानार्थता युक्तेत्याशयः । श्लोकतात्पर्यं व्याचष्टे—नैवार इति । विध्यानर्थक्यपरिहाराय स्वत्वनिवृत्त्यावश्यकत्वावगमेऽपि यागावगतिर्नास्तीति सूचनार्थम्—यागेनेत्युक्तम् । या च

प्रतिपत्तित्वाद्यागोपकल्पनोक्ता। साप्ययुक्तेत्याह—न चेति। प्रतिपत्तिरिति यदुक्तं तन्न चेतीतिकरणार्थः। स्थलार्थस्यापि चोपधानकर्मणः स्थलनिर्वर्त्तकचरुद्वारा स्थलनिर्वर्त्तकत्वेनोपधानं प्रति चरोः प्राधान्यात्तद्द्वितीयोपपत्तेर्न द्वितीयया प्रतिपत्तित्वावगतिरित्याह-**अर्थकर्मण्यपि चेति।**

श्रुतिसंयोगव्याख्यानर्थमुपदधातिनेत्यादिभाष्येणोपधानान्वयश्चरोः प्रत्यक्षो, देवतान्वयस्तु आनुमानिक इत्युक्तम्। तद्व्याचष्टे—त्रेधा चेति। श्लोकं व्याचष्टे—नीवारेति। अन्नशब्दोक्तस्यादनीयत्वस्यापक्वेषु नीवारेषु प्रयोगाच्चरुभूतेषु देवतान्वयानुमानं 'विष्णुं यजतीत्या'दौ द्वितीययापि देवतात्वकल्पनादादिशब्दः प्रयुक्तः। कृदन्तान्नशब्दयोगात्कर्तृवाचिन्या षष्ठ्या भोक्तृत्वावगतिर्देवतात्वकल्पनाहेतुः। तस्मादित्युपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति। श्रुत्या समस्तस्य चरोरुपधानयोगादित्येवं श्रुतिसंयोगव्याख्यानार्थं ततश्चेत्युत्तरभाष्यावतारणार्थं कृत्स्नशब्दव्याख्यानायैवकारं 'यत्त्विति भाष्यं बार्हस्पत्या नीवारा इत्येवंविध्यर्थवादाश्रवणादयुक्तमाशङ्क्य तैत्तिरीयशाखास्थस्य बार्हस्पत्यो भवतीत्येतद्वैखलु वै साक्षादन्नं य' एष चरुरिति पूर्वनिर्दिष्टचरुसमानाधिकरणवार्हस्पत्यशब्दतो वाक्यस्य बृहस्पतेर्वा एतदन्नं यन्नीवारा इति शाखान्तरीयवाक्यतुल्यार्थत्वसूचनायानेन प्रकारेणोपलक्षणायैतत्भाष्यमिति सूचयितुमाह—येषां त्विति। वाक्यशेषे देवताकीर्त्तनानर्थक्यपरिहारायानाकाङ्क्षितापि देवता विध्युद्देशेन ग्रहीष्यतइत्याशङ्क्य प्रशंसार्थत्वेनार्थवत्त्वोक्तचर्थम्—**यादृशमित्युक्तम्।** बृहच्छब्दस्य बृहतिधात्वर्थानुसारेण ब्रह्मशब्दवदवाचित्वात्पतिशब्दस्य पालयितृवाचित्वात् ब्राह्मणानां च।

तपस्तपत्वासृजद् ब्रह्मा ब्राह्मणान् वेदगुप्तयइति।

वेदपालयितृत्वस्मरणात् बृहस्पतिशब्दस्य ब्राह्मणवाचित्वप्रतीतेर्मुन्यन्नं ब्राह्मणस्योक्तमिति च ब्राह्मणश्राद्धे वानप्रस्थाख्यमुन्यदनीयारण्यनीवारप्राशस्त्यस्मृतेर्ब्राह्मणसम्बन्धित्वरूपं बार्हस्पत्यत्वं कीर्त्तितमित्याशयः। यच्चेति भाष्यं चार्वादीनामिति वार्त्तिकेन व्याख्यतत्वादुपेक्ष्य, तस्मादिति सिद्धान्तोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति ॥ १८ ॥

इति सप्तमं चरोरुपधानार्थताधिकरणम् ॥

भा० प्र०—श्रुति में महाग्नि चयन के प्रकरण में "नैवारश्चरुर्भवति" (तै० ब्रा० १।३।७) अर्थात् नीवार धान्य का चरु होता है, इस वाक्य के बाद "चरुम् उपदधाति" अर्थात् चरु का उपधान करे, यह वाक्य पठित है, इसमें संशय होता है कि यह यागविधि हैं या उपधान विधि है अर्थात् विशेष रूप में स्थापन की विधि है ?

इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का कहना है कि इसके द्वारा याग का विधान किया गया है, क्योंकि, चरु से साध्य कर्म याग ही होता है, उपधान चरु का कार्य नहीं है। इस स्थल में नीवार से निष्पाद्य चरु रूप द्रव्य रहता है एवं "बृहस्पतेर्वा एतदन्नं यन्नीवाराः" (तै० ब्रा० १।३।७) अर्थात् यह नीवार अर्थात् धान्यविशेष बृहस्पति का ही अन्न हैं, इस

वाक्यशेष के वृहस्पति नामक देवता भी प्राप्त होने से—यह याग विधि है। "चरुमुपदधाति" इस वाक्य में चरु का उपादान उपदिष्ट है—यह प्रतिपत्ति कर्म है। इसीलिए द्रव्य एवं देवता की प्राप्ति रहने से यह स्वतन्त्र याग की विधि है। अतः चरु से यागकर बचे हुए चरु को उपधान कर रखना होगा। यह उपधान अर्थात् विशेष रूप से स्थापन उपयुक्त संस्कार रूप प्रतिपत्ति कर्म है।

इसके समाधान में सिद्धान्ती का कहना हैं कि "चरुमुपदधाति" इस वाक्य से अवगत होता है कि उपदधाति पद से लभ्य उपधान के साथ ही चरु का अत्यन्त नैकट्य रहने से एकवाक्यता रहती है, अतः उपधान के साथ चरु का सम्बन्ध प्रत्यक्ष है। किन्तु वृहस्पति के साथ चरु का सम्बन्ध प्रत्यक्ष है। किन्तु वृहस्पति के साथ चरु का सम्बन्ध अनुमेय है, क्योंकि, चरु वार्हस्पत्य अर्थात् वृहस्पति देवता के लिए है, यह प्रत्यक्ष रूप में विज्ञापित नहीं है, यदि तद्धित प्रत्यय चतुर्थी विभक्ति से अथवा मन्त्र के अक्षरों से देवता की विधि होती, तब वह श्रुति से बोधित होने से प्रत्यक्ष बोधित होता है, किन्तु, इस स्थल में इनमें न चतुर्थी विभक्ति या मन्त्र से हीं बोधित हैं, अतः, "वृहस्पतेर्वै" इत्यादि वचन से चरु के देवता के सम्बन्ध का अनुमान करना होगा, अतः, "वार्हस्पत्या भवति" यह अर्थवाद वाक्य है। इसलिए, प्रत्यक्षसिद्ध उपधान के साथ अन्वित होकर चरु निराकाङ्क्ष होने से अनुमेय वृहस्पति के साथ उसका अन्वय ही नहीं होगा, ऐसा न होने से देवता न रहने के लिए याग भी नहीं हो सकता है। इसलिए "अर्थशब्देन संयुक्तः तदर्थः" कार्यवाचक 'उपधाति' इस पद के साथ सम्बन्धयुक्त जो चरु वह तदर्थ अर्थात् उपधान करने के लिए ही विहित होता है। इसलिए, वह याग के लिए विहित नहीं होता हैं, कारण, "श्रुतिसंयोगात्" इस प्रकार का अर्थ मानने पर "उपदधति" इस पद का शक्यार्थ अव्याहत रहता है, अन्यथा विना कारण के ही शक्यार्थ का बाध स्वीकार करना पड़ेगा। इसलिए, सभी चरु का ही उपधान करना होगा, न्यायामालाकार पूज्यपाद माधवाचार्य ने कहा हैं कि इस स्थल में अन्योन्याश्रय दोष होने से यागविधि नहीं हो सकती हैं। इसलिए, चरु उपधान के लिए होने से इस स्थल में केवल उपधान ही विहित होता हैं।

"अर्थशब्देन संयुक्तः" = अर्थशब्द अर्थात् कार्यवाचक 'उपदधाति' इस शब्द के साथ संयुक्त चरु, 'तु' = प्रत्युदाहरणार्थक है, "तदर्थः" = तदर्थ = उसी के लिए अर्थात् उपधान के लिए ही हैं याग के लिए नहीं है, "श्रुतिसंयोगात्" = क्योंकि उसमें श्रौत अर्थ अर्थात् वाक्यार्थ लब्ध होता है।

यह सप्तम चरु का उपधानता अधिकरण है ॥ १८ ॥

[८] पात्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः ॥ १९ ॥ सि०

शा० भा०—त्वाष्ट्रं पात्नीवतं विधायेदमुच्यते 'यत्पर्यग्निकृतं पात्नीवत-मुत्सृजन्ति' इति। तत्र संदेहः—किं त्वाष्ट्रस्य पर्यग्निकृतस्यैष उत्सर्गो विधीयते,

उत तस्माद्यागान्तरमिति। यदि 'पर्यग्निकृतमुत्सृजन्ती'ति पदद्वयं परस्परेण सम्बद्धम्। ततस्त्वाष्ट्रस्योत्सर्गः। अथ पात्नीवतशब्द उत्सृजतिना संबध्येत, ततो यागान्तरम्। किं तावत्प्राप्तम्? यागान्तरमिति। कुतः[1]? पूर्वस्त्वाष्ट्रः पात्नीवतश्च। उभयविशेषणविशिष्टः कथं पात्नीवतशब्देनानूद्येत। अपि च त्वाष्ट्रस्योत्सर्गे विधीयमाने पर्यग्निकृतमिति विशेषणं नावकल्पेत। अतो ब्रूमः। पर्यग्निकृतस्य पात्नीवतता विधीयते। स एव याग इति। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—न कर्मान्तरम्। पूर्वस्यैवोत्सृजतिशब्देनावच्छेदो विधीयते। किमेवं भविष्यति। यजिमत्ता तावत्कल्पयितव्या न भविष्यति। उत्सृजतिशब्दश्च श्रुत्योत्सर्गं विदधद्वाक्येन न बाधितो भविष्यति। कर्मान्तरपक्षे वाक्येन पात्नीवततायां विधीयमानायामर्थात्प्राप्त उत्सर्गो धातुनाऽनूद्येत।

अपि च पर्यग्निकृतस्य पात्नीवतता पूर्वस्य विदितैव। सा विधातुं न शक्यते। तस्मात्पूर्वस्य कर्मणोऽवच्छेदः। यत्तूक्तं त्वाष्ट्रस्योत्सर्गे विधीयमाने पर्यग्निकृतमिति विशेषणं तावन्नावकल्पेतेति। नैष दोषः। अतन्त्रमेवात्र पत्नीवतशब्दः, नासौ विशेस्यते। अत एव त्वाष्ट्रः पात्नीवत उभयविशेषण-विशिष्टः केवलेन पात्नीवतशब्देन लक्षणयाऽनूद्येतेति न[2] दोषः। तस्मादवच्छेद इति सिद्धम् ॥१९॥

इत्यष्टमं त्वाष्ट्रपात्नीवतस्याधिकरणम् ॥८॥

त० वा०—एतेनैवाधिकारेणोत्सृजतिरपि यजिमदभिधानो न वेति विचार्यते। 'त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभते' इत्येवं यागं विधाय पुनराम्नायते 'पर्यग्निकृतं पात्नी-वतमुत्सृन्ति' इति। तत्र गुणविधिः उत कर्मान्तरमिति वचनव्यक्तिद्वयप्रतिभानेन संदेहे सति, वायव्यश्वेतालम्भवदेव विधिशक्तेर्द्रव्यदेवतासंबन्धविषयत्वेन कर्मा-न्तरत्वम्।

किं च—न च त्वष्टुरभावेन प्रत्यभिज्ञायतेऽत्र सः।
पर्यग्निकृतयोगाच्च वाक्यभेदः प्रसज्यते ॥

यदि ह्यत्रापि पूर्ववदेवोभे विशेषणे श्रूयेयातां, ततस्तदेव कर्मेति विज्ञायेत। न त्वत्र महेन्द्रस्यैवेन्द्रप्रगाथे कश्चिदपि प्रत्यभिज्ञानलेशोऽस्तीति, देवतान्तरसंयो-गादपि वाजिनयागवद्भिद्यते। पात्नीवतोद्देशेन चोत्सृज्यमानार्थे विधीयमाने पर्यग्निकरणावस्थाविशेषणाद्वाक्यं भिद्येत। व्यवहितकल्पनया चोत्सृजतिः संबध्येत। प्राप्त एव च तस्योत्पत्तिवाक्येनोत्सर्ग इति, व्यर्था पुनःश्रुतिर्भवेत्। न च पर्यग्निकरणविधानेनाऽत्रार्थः, तस्यातिदेशेनैव प्राप्तत्वात्। न च केवलपात्नी-वतताविधिर्वैकल्पिकः शक्य आश्रयितुम्, उत्पत्तिवाक्यशिष्टत्वविरोधात्। न च

१. ब. कुतः। अपूर्वत्वात्। २. ब. अतो न दोषः।

प्राकृतक्लृप्तोपकारकेवलपर्यग्निकरणपुनःश्रुत्या गृहमेधीयवदपूर्वता शक्या दर्शयितुम्, सिद्धवदुपसर्जनीभूतपर्यग्निकरणनिर्देशात् । न च पर्यग्निकरणशब्दस्तदन्ताया अङ्गरीतेर्वाचकः, येन तन्मात्रग्रहणाश्रयणादुत्तरकर्मावच्छेदो विज्ञायते । न चासौ कालस्य वक्ता, येन पर्यग्निकरणकाल एवोत्सृजतीति कल्प्येत । न च लक्षणाश्रयण-हेतुरस्ति । श्रुत्याऽपि वाक्यसमवायोपपत्तेः । सर्वाङ्गेषु चोदकप्राप्तेषु वचनान्तरेणा-निषिद्धेषु पर्यग्निकरणवेलायां समस्तेष्वनुष्ठीयमानेषु सत्सु नैव ज्ञायते किं क्रियता-मिति । सर्वकरणे काललोपात्तत्कालकरणे चाङ्गान्तरलोपात् ।

एतेनावस्थाविधिः प्रत्युक्तः । चोदकेनैव तावत्, पर्यग्निकरणावस्थ उत्सृज्यत इति प्रापितम् । अथोत्तरावस्थापरिसंख्योच्यते । तत्र त्रिदोषत्वमुक्तमेव । तस्मान्न पूर्वकर्मणि किंचिद्विधेयमस्य वाक्यस्येति कर्मान्तरमेव द्रव्यदेवतासंयुक्तं देवतागुण-सामान्येन च पूर्वप्रकृतिकम्, अग्नीषोमीयप्रकृतिकमेव वा विधीयत इति प्राप्ते ।

अभिधीयते सिद्धान्तः—

प्रकृतप्रत्यभिज्ञानान्न यागोऽन्योऽवगम्यते ।
पर्यग्निकरणात्तस्मिन्नङ्गरीतिर्विधीयते ॥

पात्नीवतशब्दस्तावन्मनोतायामिवाग्निशब्दः सत्यप्युभयविशिष्टत्वे शक्नोति प्रकृतं यागं वक्तुं, 'पर्यग्निकृतमुत्सृजति' इति प्रकरणात्तस्यैव गुणविधिर्विज्ञायते । ननु च सर्वे गुणविधिप्रकारा निराकृताः । सत्यम् । शेषा । निराकृताः पर्यग्नि-करणान्ताङ्गरीतिपक्षस्तु न निराक्रियते । यद्यप्येष शब्द इडान्तादिवत्तदन्तत्वं न ब्रवीति तथाऽपि गमयितुं शक्नोति । न हि निर्वृत्तपर्यग्निकरणता पूर्वाङ्गेष्वकृतेषु संभवति । तस्मात्तदुपादानादेवानुक्ताऽपि तदन्तताऽवगम्यते । कथंभावापेक्षी च त्वाष्ट्रप्रयोगवचनः प्रकृतौ दृष्टसामर्थ्यपर्यग्निकरणान्ताङ्गकलापस्यातिक्रमकारणा-भावान्न प्रकृतिस्थानि सर्वाण्यङ्गान्यपेक्षते । ततश्चैतावन्त्येवास्याङ्गानीत्यवधार-णात्स्वरूपप्राप्तिमात्रस्य च चोदकेनापि सिद्धेरुत्तराङ्गावच्छेदार्थमेवेदं वाक्यमिति फलेन व्यपदिश्यते ।

तेनोच्यते पूर्वत्वादवच्छेद इति । एवं च सति यागान्तरापूर्वान्तरानुमानादि-क्लेशो न भवतीति । न च परपदसंबन्धविधानविप्रकर्षः । पर्यग्निकरणान्तविशिष्टे तूत्सर्गे विधीयमाने, यद्यप्युत्सर्गस्वरूपं प्राप्तमेव, तथाऽपि तदुद्देशेनाङ्गकलाप-विधानादनत्यन्तविप्रकर्षात्स एव विधेयत्वेनोक्तः । त्वत्पक्षे तु 'दध्नेन्द्रियकामस्य' इत्यादिष्विव धातोरत्यन्तपारार्थ्यं स्यात् । तस्मादप्यकर्मान्तरत्वम् । प्रकरणादेव च पर्यग्निकरणान्ताङ्गग्रहणसिद्धेः पात्नीवतग्रहणं नित्यानुवादत्वादतन्त्रमिति विशिष्टानुवादैकदेश[1]व्यपदेशोपालम्भपरिहारः । तस्माद् गुणविधिरिति सिद्धम् ॥१९॥

(इत्यष्टमं पात्नीवताधिकरणम् ॥८॥)

---

१. क० एकदेशेव्यपदेशो ।

अथाष्टमं पात्नीवताधिकरणम् ॥ ८ ॥

न्या० सु०—वाक्यशेषस्थस्य देवतान्वयस्य विधेयत्वाभावाद्यागकल्पकत्वे निरस्ते 'पर्यग्निकृतं पात्नीवतमि'त्यत्र विध्युद्देशस्थत्वाद्विधेयत्वमाशङ्क्य, विध्युद्देशस्थस्यापि प्रत्यभिज्ञानेनाविधेयत्वापादकतेहोच्यतइत्यनन्तरसङ्गतिं पात्नीवद्देवतासंयोगलक्षणो गुणस्त्वाष्ट्रपत्नीवद्दैवत्यपशुयागाद्भेदको, न वेति गुणनिमित्तभेदाभेदविचाराच्च गुणप्रकरणसङ्गतिं स्पष्टत्वादनुक्त्वा, तदवान्तरसङ्गतिमाह—एतेनैवेति। यत्रोत्सृजतिऽस्तत्र यागानुमानमिति व्याप्त्यदर्शनेनोत्सृजतेरालभतिवत् यागानुमापकत्वलक्षणयजिमद्वाचित्वशङ्कायोगादुत्सृजतिशब्दस्तत्परविधायकप्रत्ययलक्षणार्थः। एवं गृह्णातिचिनोतिशब्दावपि[1]। त्वाष्ट्रमित्युदाहरणभाष्यं व्याचष्टे—पात्नीवतमिति। तत्रेति सन्देहभाष्य देवतोद्देशपूर्वकद्रव्यत्यागात्मकस्य यागाख्यस्योत्सर्गस्य त्वाष्ट्रवाक्यादेव प्राप्तेर्विधेयत्वाद्देवतोद्देशनिरपेक्षद्रव्यत्यागात्मकस्य तूत्सर्गस्य नवमोपान्त्ये पर्यग्निकृतानारण्यानुत्सृजन्तीत्युदाहृत्य किमनेनेशानाय परस्वत आलभते, वसन्ताय कपिञ्जलानालभतइत्यादेर्वाक्यस्य विहितस्यारण्यालम्भस्य कैमर्थ्याकाङ्क्षायां यदेनं चरुमुपदधातीतिवत्प्रयोजनत्वेन देवतोद्देशनिरपेक्षो द्रव्योत्सर्गो विधीयते, किं वेशानायेति, चतुर्थ्युक्तदेवतासंयोगेन विहितं यागमुत्सृजतिनानूद्य पर्यग्निकरणान्ताङ्गरीतिविधानात् कर्मशेषः प्रतिषिध्यतइति सन्दिग्धे, 'पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे तादर्थ्यमुपधानवदि'९-४-५१ति सूत्रेण द्रव्योत्सर्गविधिं पूर्वपक्षयित्वा, शेषप्रतिषेधो वाऽर्थाभावादिपडान्तवदि९-४-५२त्यनेन देवतोद्देशनैरपेक्ष्ये देवतासंयोगरूपार्थाभावापत्त्या निषेत्स्यमानत्वात्सिद्धान्तवचनव्यक्त्यनुपपत्तेरयुक्तमाशङ्क्य, यदुत्सृजन्ति तत् पर्यग्निकृतमित्युत्सर्गस्य पर्यग्निकृतशब्दोक्तपर्यग्निकरणान्ताङ्गरीतिलक्षणगुणविशिष्टत्वरूपेण विधिर्विवक्षितो न स्वरूपेणेत्येवं व्याख्यासूचनपूर्वकं 'पूर्वं' इति भाष्योक्तस्य पात्नीवतानुवादसम्भवस्य पूर्वपक्षहेतोः पात्नीवतशब्दार्थस्य विधेयत्वेन विहितेऽनवतारात् तदवतारार्थं स्वयं पूर्वपक्षहेतुमाह—तत्रेति। पर्यग्निकरणान्ताङ्गरीतिविधिर्गुणशब्देन सूचितः। तद्विवक्षितत्वोपपादनार्थं वचनव्यक्तिद्वय प्रतिभानस्य सन्देहहेतुत्वं भाष्योक्तं दर्शितम्। नवमोपान्त्यन्यायेन ह्यत्राङ्गरीतिविधेः सिद्धत्वात्पौनरुक्त्यमाशङ्क्य, तत्रारण्यशब्दार्थस्य प्राप्तत्वाद्विधेयत्वाशङ्कानुपपत्तेः पर्यऽग्निकृतानुत्सृजन्तीत्येवान्वये पर्यग्निकृतानुवादेनोत्सर्गविधिरुत्सर्गानुवादेन वा पर्यग्निकृतविधिरिति चिन्तयिष्यतेऽइह तु किं पात्नीवतमुत्सृजतीत्यन्वयाद्वायव्यन्यायेन यागविधिः पर्यग्निकृतमुत्सृजन्तीत्यन्वयात् पर्यग्निकरणान्ताङ्गरीतिविधिरित्यपौनरुक्त्यसूचनार्थं वचनव्यक्तिद्वयप्रतिभानस्य सन्देहहेतुत्वोक्तिर्युक्ता। उत्सर्गविधौ तु 'पर्यग्निकृतमुत्सृजन्ती'त्यन्वये त्वाष्ट्रवाक्यात्प्राप्तस्योत्सर्गस्य विधेयत्वायोगात् उत्सर्गान्तरविधानात्, सिद्धान्तेऽपि कर्मान्तरत्वापत्तेर्वचनव्यक्तिद्वयप्रतिभानस्य सन्देहहेतुता न युक्तेत्याशयः। पात्नीवतशब्दस्योत्सृजतिपराख्यातान्वयेऽपि प्रत्यभिज्ञायमानार्थत्वेनाविधेयार्थत्वाद्यागकल्पनानुपपत्तेः किं यागान्तरत्वे कारणमित्येवं कुत इति प्रश्नं व्यचष्टे—

१. शब्दाव्यभिचारित्वमित्युदाहरणभाष्यं व्याचष्ट इ० २ पु० पा०।

किं चेति । पूर्वइत्युत्तरभाष्यं व्याचष्टे—न चेति । न ह्यत्र स त्वाष्ट्रवाक्यविहितः पत्नीवान् प्रत्यभिज्ञायतइति हिशब्दार्थे चशब्दः । अपि चेति भाष्यं व्याचष्टे—पर्यग्निकृतेति । त्वष्ट्रस्योत्सर्गविधिं वदता पात्नीवतशब्देन त्वाष्ट्रमुद्दिश्योत्सर्गविधिर्वाच्यः । तस्य च पर्यग्निकृतत्वविशेषणे विशिष्टानुवादलक्षणो वाक्यभेदः स्यादित्याशयः ।

ननु पत्नी विद्यतेऽस्येत्यन्यपदार्थे मतुबन्तपत्नीवच्छब्दप्रवृत्तेः कोऽन्यपदार्थं इत्यपेक्षायां पूर्ववाक्ये श्रुतस्य त्वष्टुः पात्नीवन्तं गृह्णातीत्यत्राग्नेरिव स्ववाक्याश्रुतस्याप्यन्यपदार्थावसायात्प्रत्यभिज्ञोपपत्स्यतइत्याशङ्कानिरासं सूचयन् श्लोकपूर्वार्द्धं व्याचष्टे—यदि हीति । 'पात्नीवतं गृह्णातीत्यत्राग्नीपत्नीत्रन्निति मन्त्रवर्णादग्नेरन्यपदार्थत्वावगतिर्युक्ता । इह तु कर्मान्तरस्थस्य त्वष्टुः कर्मान्तरेऽन्वयप्रमाणाभावात् अश्विशब्दवच्चान्यपदार्थवृत्तेरपि पत्नीवच्छब्दस्य तदलाभे स्वातन्त्र्याभ्युपगमोपपत्तेः शुद्धः पत्नीवान्देवता, न तु पत्नीवान्त्वष्टा येन प्रत्यभिज्ञा स्यादिति इन्द्रमहेन्द्रदृष्टान्तेन सूचितम् । प्रत्यभिज्ञानेऽपीन्द्रमहेन्द्रवद्देवतान्तरयोगादित्यपिशब्दार्थः ।

उत्तरार्द्धं व्याचष्टे—पात्नीवतेति । नन्वतन्त्रत्वात्पात्नीवतशब्दस्य न विशिष्टानुवादापत्तिरित्याशङ्क्याह—व्यवहितेति । किं च स्वार्थं वेहोत्सर्गो विधीयते, पर्यग्निकृतशब्दार्थविध्यर्थं वा तत्राद्ये पक्षे देवतोद्देशपूर्वकद्रव्यत्यागरूपस्योत्सर्गस्य त्वाष्ट्रवाक्यादेव प्राप्तेः पुनःश्रुत्यानर्थक्यमाह—प्राप्तएव चेति । द्वितीयपक्षे तु लोहितोष्णीषादिवत् पर्यग्निकृतशब्दस्य विशेषणपरत्वावगतेस्तस्याप्यतिदेशेन प्राप्तत्वाद्विध्यानर्थक्यमित्याह—न चेति ।

ननु 'पात्नीवतमुत्सृजन्तीत्यप्यन्वये पूर्वस्मिन्यागे त्वष्ट्रा पत्नीवता सह वैकल्पिकः शुद्धः पत्नीवान् विधास्यतइत्याशङ्क्याह'—न चेति । एतच्चासम्बद्धपदव्यवायापत्तेस्तत्र त्रिदोषत्वमुक्तमेवेत्यतः पश्चाद्वाक्यमपि न च प्राकृतक्लृप्तोपकारेत्याद्युक्तमेवेत्यन्तं वार्त्तिकं नवमोपान्त्यभाष्यवक्ष्यमाणार्थकथनायेति सूचनार्थम्—प्रागुक्तम् । ननु यथाज्यभागपुनःश्रुतिर्गृहमेधीयस्यापूर्वत्वज्ञापनार्थेति दशमे वक्ष्यति । तथेह केवलपर्यग्निकरणपुनःश्रुतिः पात्नीवतपशुयागस्यापूर्वत्वज्ञापनार्था भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न चेति । पर्यग्निकरणस्याप्राकृतं चेत्क्लृप्तोपकारत्वायोगात्प्राकृतत्वे वा प्राप्तत्वेन विधेयत्वायोगात्प्राकृतत्वे वा प्राप्तत्वेन विधेयत्वायोगात्कथमपूर्वज्ञापकतेत्याशङ्क्य—प्राकृतेत्युक्तम् । स्वरूपेण प्राप्तस्यापि पात्नीवतयाङ्गत्वेन विधानान्नैराकाङ्क्षद्योतकत्वेनापूर्वज्ञापकता युक्तेत्याशयः । पर्यग्निकरणस्य पशुशेषत्वेन निर्देशात्प्रसिद्धिं च विना विशेषणत्वायोगात्प्रसिद्धत्वेनाविधेयत्वादङ्गत्वासिद्धेर्नैराकाङ्क्ष्यद्योतनान्नापूर्वज्ञापकतेति[1] परिहाराशयः ।

ननु पर्यग्निकरणान्ताङ्गकलापविध्यर्थंनिर्वृत्तपर्यग्निकरणत्वोक्त्यर्थत्वेन पर्यग्निकृतशब्दस्योपसर्जनत्वस्याविवक्षितत्वाद्विधेयत्वोपपत्तिरित्याशङ्क्याह—न चेति । पर्यग्निकरणनिर्वृत्त्युक्ता-

---

१. प्रसिद्धत्वेऽपि अविषणत्वादिति २ पु० पा० ।

वपि अङ्गान्तरनिर्वृत्त्यप्रतीतेर्न पर्यग्निकरणान्तताऽवसीयतइत्यर्थः । ननु पर्यग्निकरणान्ताङ्गरीत्यनभिधानेऽपि क्तप्रत्ययस्य निष्ठासञ्ज्ञत्वेन भूतकालवाचित्वात् पर्यग्निकरणानन्तरकालोत्सर्गप्रतीतेरुत्सर्गोत्तरकालीनपदार्थानिषेधेऽप्युत्सर्गपर्यग्निकरणमध्यवर्त्तिपदार्थनिषेधावगमात्पर्यग्निकरणोत्तरकालाङ्गभूतकर्मावच्छेदो विज्ञास्यतइत्याशङ्क्याह—**न चासाविति** । पदार्थान्तरव्यवधानेऽपि भूतकालत्वोपपत्तेरानन्तर्यं नावसीयतइत्याशयः । पर्यग्निकरणकालोक्त्यानन्तर्यं सूचितम् ।

ननु भूतकालत्वमात्रस्यादिदेशतः प्राप्तेर्विध्यानर्थक्यपरिहारार्थं तान् पर्यग्निकृतानुत्सृजन्ति ब्रह्मसाम्न्यालभतइत्यत्रानन्तर्यलक्षणा यथा सङ्कर्षकाण्डे सं० का० १३-१-५ वक्ष्यते, तथेहाप्यानन्तर्यलक्षणा भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**न चेति** । प्राजापत्यपशुष्वेकादशे कर्मशेषप्रतिषेधं पूर्वपक्षेऽपि ब्रह्मसाम्न्यालभतइति पर्यग्निकरणोत्तरकालीनानां संस्काराणां कालान्तरेऽनुष्ठेयत्वश्रुतेः सर्वथा प्रतिषेधायोगेन पर्यग्निकरणोत्तरकालीनत्वमात्रनिषेधस्य वक्ष्यमाणत्वात्, तत्सिद्ध्यर्थमानन्तर्यलक्षणा युक्ता । इह तु कर्मान्तरविधानेऽतिदेशप्राप्तपर्यग्निकरणानुवादत्वेनापि पर्यग्निकृतशब्दस्य वाक्येऽन्वयोपपत्तेर्नानन्तर्यलक्षणा युक्तेत्याशयः सर्वाङ्गानां च पर्यग्निकरणानन्तर्यसम्पादनाशक्तेरानन्तर्यलक्षणार्थाविरोधः स्यादित्याह—**सर्वाङ्गेषु चेति** ।

ननु पर्यग्निकृतावस्थस्योत्सर्गविधावर्थादानन्तर्यविगतिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**एतेनेति** । नावस्थापि श्रुत्योच्यते इत्याशयः । पर्यग्निकरणावस्थायाश्च स्वरूपेण प्राप्तत्वादुत्तरावस्थापरिसंख्यार्थत्वे त्रिदोषत्वापत्तेर्विधेयत्वं न सम्भवतीत्याह—**चोदकेनैव तावदिति** । पूर्वपक्षमुपसंहरति—**तस्मादिति** । विधिसमाप्तचर्यामितिकर्त्तव्यतापेक्षायां पत्नीवतालक्षणगुणसामान्येन त्वाष्ट्रप्रकृतिकत्वेऽभिहिते पूर्वपक्षत्वादनास्थयाग्नीषोमीयप्रकृतिकत्वे अप्यविरोध इत्युक्तम् ।

सिद्धान्तमाह—**इतीति** । न कर्मान्तरमिति भाष्यावयवः पूर्वार्द्धेन व्याख्यातः । पूर्वस्यैवेत्युत्तरार्द्धेन प्रकृतस्य त्वाष्ट्रत्वपात्नीवतत्वलक्षणविशेषणद्वयविशिष्टत्वात्प्रत्यभिज्ञानं न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**पात्नीवतेति** । द्वन्द्वनिर्देशेऽप्येकदेशेन समुदायलक्षणयाऽनुवादत्वात्प्रकृतोक्तिर्युक्ता । त्वाष्ट्रं पात्नीवतमिति च भेदेन निर्देशाद्विशेषत इति मनोतादृष्टान्तेन सूचितम् । पर्यग्निकरणान्ताङ्गगणस्य विधेयत्वसिद्ध्यर्थं सामान्यतस्तावद् गुणस्य विधेयत्वमाह—**पर्यग्निकृतमिति** । शङ्कापूर्वं पर्यग्निकरणान्ताङ्गगणस्य विधेयत्वमुपपादयितुमारभते—**ननु चेति** । या तु तदन्तवाचिशब्दाभावादविधेयतोक्ता । तां परिहरति—**यद्यपीति** । नाज्यभागवत् पर्यग्निकरणमनुष्ठेयतया विधीयते, येन तन्मात्रग्रहणं स्यात् । किं तु निष्पन्नपर्यग्निकरणत्वं पशोर्यागान्वयितया विधीयते । तस्य च यथाप्राप्तस्योपादानात्पूर्वाङ्गेष्वप्रकृतेषु पर्यग्निकरणानुपपत्तेस्तदन्ततावसीयतइत्याशयः ।

नन्वेवमप्युत्तरेषामप्यङ्गानामतिदेशात्प्राप्तेः पर्यग्निकरणान्तत्वासिद्धिरित्याशङ्क्य गृहमेधीयन्यायेनापूर्वत्वावसायात्तदन्ततत्वसिद्धिमाह—**कथम्भावेति** । पर्यग्निकरणान्तस्याङ्गगणस्य प्रकृतावितरेतरनिरपेक्षोत्पत्तिस्त्वात्प्रयोगवाक्यात्साहित्यावगमेऽपि प्रत्येकं क्रतूपकारसाधनत्वशक्त्यवगतेस्त्वाष्ट्रपशुयागे प्रत्यक्षवाक्येनाङ्गतया विधानात्तदुपकारसाधनत्वेनावगत-

स्यातिक्रमकारणाभावात्प्राकृताङ्गान्तरानपेक्षत्वादपूर्वत्वावगतेर्नातिदेशोऽस्तीत्याशयः। अति-देशभावेऽपि सादृश्येन बुद्धिस्थतया धर्मदानोन्मुखत्वात्प्रकृतित्वव्यपदेशाविरोधः। नन्वस्य वाक्यस्य पर्यग्निकरणान्ताङ्गरीतिविधायित्वे निवृत्त्यर्थोऽवच्छेदशब्दो न युज्येतेत्याशङ्क्य, फलेनोत्तराङ्गनिवृत्त्यर्थत्वोक्तिमुपपादयति—**ततश्चेति**। 'पात्नीव'तमुत्सृजन्तीतिसन्निहिता-न्वयत्यागेन पर्यग्निकृतमुत्सृजन्तीति व्यवहितान्वयाभ्युपगमे को गुणो भविष्यतीति किमिति भाष्येण गुणोक्त्यर्थं यजिमत्ता तावदिति भाष्यमुपलक्षणार्थत्वेन व्याचष्टे—**एवं चेति**। आदिशब्देनाश्रुताङ्गातिदेशकल्पनोक्ता। गुणान्तरोक्त्यर्थमुत्सृजति शब्दश्चेति भाष्यं सिद्धान्ते-ऽपि पर्यग्निकरणान्तत्वविशिष्टरूपेणोत्सर्गविध्युपगमेन वाक्यार्थविध्यविशेषायुक्तमाशङ्क्यापि चेति वक्ष्यमाणभाष्यालोचनया पूर्वपक्षे पर्यग्निकृतं पात्नीवतमिति पदद्वयान्वयापादनाशयेन व्याचष्टे—**न चेति**। ननु देवतोद्देशपूर्वकद्रव्यत्यागाख्यस्योत्सर्गस्य त्वाष्ट्रवाक्येनैव प्राप्ते-रुत्सर्गविध्युक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याधःराग्निहोत्राधिकरणोक्तेन मार्गेण गुणविधावपि धात्वर्था-वच्छिन्नभावनाविधिं मत्वोत्सर्गविध्युक्तिरित्याशयेन परिहरति—**पर्यग्निकरणान्तेति**। शङ्कानिरासार्थस्तुशब्दः अनत्यन्तविप्रकर्षादित्यनेनोत्सर्गसम्बन्धित्वेनाङ्गगणविधानादुत्सर्गस्य विधेयतोक्तिरित्युक्तम्। तदुपपादनार्थम्—**तदुद्देशेनेत्युक्तम्**। कर्मान्तरेतिभाष्यं सिद्धान्तेऽप्यु-त्सर्गानुवादाविशेषादयुक्तमाशङ्क्योत्सर्गसम्बन्धित्वेतापि पूर्वपक्षेऽर्थान्तरविध्यभावाशयेन व्याचष्टे—**त्वत्पक्षे त्विति**। तद्गुणास्तु विधीयेरन्नि१-४-९त्यनेन च न्यायेन देवतातद्धि-तेनैव देवतोद्देशपूर्वं द्रव्यत्यागरूपोत्सर्गविधिसिद्धेः पर्यग्निकृतशब्दार्थविधौ च तद्वृत्त्यानर्थ-क्यापत्तेः पर्यग्निकृतं पात्नीवतं कुर्वन्तीति पूर्वपक्षे पर्यग्निकरणविशिष्टपात्नीवतविधिमापद्य, अपि चेति भाष्येण त्वाष्ट्रस्य पात्नीवततायास्त्वाष्ट्रवाक्यात्प्राप्तेः पर्यग्निकरणविशिष्टताया-श्चातिदेशात्प्राप्तेर्दूषणमुक्तम्। तदापादनाशयस्य न च परपदेति वार्त्तिकेन व्याख्यातत्वाद्, दूषणाशयस्य च प्रकृत्यभिज्ञानादित्यनेन व्याख्यातत्वादव्याख्याय, तस्मादिति सिद्धान्तो-पसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादपीति**। कल्पनाक्लेशपरपदान्वयविधिविप्रकर्षधात्वर्थात्यन्त-परार्थ्याभावप्रकृतप्रत्यभिज्ञालक्षणहेतुचतुष्टयपरामर्शार्थत्वं तस्माच्छब्दस्य सूचयितुमपिशब्दः। अपि चेति पूर्वपक्षभाष्योक्तं दोषं यत्त्विति भाष्येणानुभाष्य नैष दोष इत्यनेन परिहृत्यात एवेत्यनेन पात्नीवच्छब्देन त्वाष्ट्रपात्नीवतानुवादायोगदोषः पूर्वः त्वाष्ट्रः पात्नीवतश्चेति भाष्योक्तः परिहृतः। तद्वतामेकहेलया व्याचष्टे—**प्रकरणादेव चेति**। पर्यग्निकरणावस्था-विशिष्टपात्नीवतानुवादलक्षणस्य पात्नीवतत्वरूपेण चैकेनांशेन त्वाष्ट्रपात्नीवतव्यपदेशलक्षणस्य चोपालम्भस्य परिहार इति समासार्थः। तस्मादित्यधिकरणार्थोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति** ॥ १९ ॥

इत्यष्टमं पात्नीवताधिकरणम् ॥

भा० प्र०—वेद में कहा गया है कि "त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत" 'त्वष्टृ' देवता एवं 'पत्नीवत्' देवता के उद्देश्य से पशु का आलम्भन करे। इसी प्रकरण में श्रुति में कहा गया है 'पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति" (तै० सं० ६।६।६) "पर्यग्निकृत पात्नीवत =

पात्नीवत् देवता सम्बन्धीय पशु का उत्सर्ग करे" इसके द्वारा उत्सर्ग विशिष्ट याग का विधान है या यह गुणविधि है—यह संशय होता है। इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का कहना है कि यह उत्सर्ग विशिष्ट याग की विधि है, क्योंकि, इस स्थल में "पर्यग्निकृत्" यह पद पूर्वप्राप्त का अनुवाद है। इसलिए पर्यग्निकरण आदि सभी गुणों का किया जाता हैं, और यह अतिदेश विधि के द्वारा ही प्राप्त है। "त्वाष्ट्रं पत्नीवतम्" यहाँ पर दो देवताओं का उल्लेख है किन्तु "पर्यग्निकृतम्" इत्यादि वाक्य में एक देवता का ही निर्देश है और उसी के साथ "पर्यग्निकृतम्" इस पद का सम्बन्ध है। अतः, इसको पूर्वयाग की गुणविधि मानने पर इस स्थल में जो एक देवता का उल्लेख है, उसकी उपपत्ति नहीं होती है एवं 'पर्यग्निकृतम्' इस पद की भी अनर्थकता हो जाती है। गुणविधि मानने पर 'उपसृजन्ति' इसके साथ "पर्यग्निकृतम्" इसका सम्बन्ध मानना होगा, और ऐसा मानने पर व्यवहितान्वा = दूरान्वय दोष की आपत्ति होती है। क्योंकि, अव्यवहिता "पर्यग्निकृतम्" इस अंश के द्वारा द्रव्य एवं "पात्नीवतम्" इस अंश से देवता का सम्बन्ध बोधित होता है—यह कहने पर इस स्थल में 'उत्सृजन्ति' पद के द्वारा उत्सर्ग से युक्त याग की विधि कल्पित होती है।

इस प्रकार पूर्वपक्षी के कथन के समाधान में सिद्धान्ती का कहना है कि "पात्नीवते तु अवच्छेदः" "पात्नीवता" वाक्य में परवर्ती क्रियाओं की निवृत्ति होगी, क्योंकि, "पूर्वपूर्वत्वात्" एक ही प्रकरण में उक्त होने से एवं "पात्नीवत" शब्द के द्वारा पूर्व विहित पशु की ही प्रत्यभिज्ञा होने से इस स्थल में पूर्वविहित याग की प्रत्यभिज्ञा हैं—यह अन्य याग नहीं है। 'पात्नीवतम्' इस शब्द के द्वारा एक देवता का उल्लेख रहने पर भी वह त्वष्ट्र देवता का भी उपलक्षण है। अतः "पर्यग्निकृतम्" यह पद "उत्सृजन्ति" इस पद के साथ अन्वित होता है, अतः पूर्वोक्त दोष नहीं हैं। क्योंकि 'पत्नीवत्' एवं त्वष्ट्र दोनों देवताओं का यहाँ अनुवाद है, इसलिए केवल उत्सर्ग रूप संस्कार ही यहाँ विहित है। उत्सर्ग के द्वारा पूर्व निर्दिष्ट कर्म=आलम्भन का ही अवच्छेद अर्थात् सीमा अवधारित होती हैं अर्थात् विशेष वचन के द्वारा पशु का मारण आदि परवर्ती कर्मों की निवृत्ति होती हैं, अतः, इस स्थल में पशु को पर्यग्निकृत = अग्नियुक्त काष्ठ खण्ड के द्वारा परिवेष्टनरूप संस्कार विशेष के द्वारा संस्कृत कर उत्सर्ग=परित्याग ही करना चाहिए।

"पात्नीवते" = पात्नीवतवाक्य में अर्थात् त्वाष्ट्रं पात्नीवतम् इत्यादि वाक्य में, "तु" = प्रत्युदाहरण में "अवच्छेदः" = इयत्ता = सीमा का निर्देश अर्थात् अकृत कर्म की ही इयत्ता का निर्देश अथवा "अवच्छेदः" = अर्थ निवृत्ति अर्थात् विशसन = वध आदि परवर्ती कर्म की निवृत्ति, "पूर्वत्वात्" = पूर्व कर्म की प्रत्यभिज्ञा होने से ॥ १९ ॥

यह आठवाँ पात्नीवताधिकरण है ॥

अथ नवममंश्वदाभ्यग्रहाधिकरणम्

[९] अद्रव्यत्वात्केवले कर्मशेषः स्यात् ॥२०॥ सि० ।

शा० भा०—न कस्यचिदपि प्रकरणे श्रूयते । 'एष वै हविषा हविर्यजते, योऽदाभ्यं गृहीत्वा सोमाय यजते' इति । तथा 'परा वा एतस्याऽऽयुः प्राण एति[1] योंऽशुं गृह्णाति' इति । तत्र संदेहः—किं यागान्तरमेतद् ग्रहणकम्, उत ज्योतिष्टोमयागे ग्रह[2]विधिरिति । किं प्राप्तम् ? यागान्तरमिति । कुतः ? अपूर्वनामधेयसंयोगात् । न प्राकृतावेतन्नामधेयको यागोऽस्ति, न ग्रहः कश्चिद्योऽभ्यस्येत । तस्माद्यागान्तरम् । ननु द्रव्यदेवतं न श्रूयते ? मा भूद् द्रव्यदेवतं, साक्षादेव यजतिशब्दो विद्यते । तस्मात्कर्मान्तरमदाभ्यसंज्ञकमंशुसंज्ञकं यागं करोतीत्येवं प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ।

ब्रूमः—अद्रव्यदेवताके केवले नामधेये श्रूयमाणे ब्रूमो ज्योतिष्टोम एव ग्रहाभ्यासविशेषविधानमिति । कुतः ? एतत्तावद् ग्रहस्य नामधेयं, न यागस्य । ग्रहणेन साक्षात्संबन्धात् । व्यवहितत्वाद्यागस्य । अंशुरिति च मुक्तसंशयमेव ग्रहनामधेयम् । न च ग्रहभेदे यागभेदो भवति । न च द्रव्यदेवतं श्रूयते । यतो गृह्णातिर्यजि[3]मद्वचनो भवेत् ।

यदप्युक्तम्—साक्षादत्र यजतिशब्दो विधायक इति । नैवं शक्यं कर्मान्तरं विधातुम् । विहितयागवचनो हि सः, विशेषाभावात् । तस्माद्यजतिना ज्योतिष्टोम एवोच्यते । अंश्वदाभ्यशब्दा[4]भ्यामप्यपरौ ग्रहाभ्यासौ विधीयेते इति सिद्धम् ॥ २० ॥

इति नवममदाभ्यादीनां ग्रहनामताधिकरणम् ॥ ९ ॥

त० वा०—अनारभ्याधीतयोरंश्वदान्यग्रहयोरालम्भादिवत् त्रेधा सन्देह तद्वदेव च पक्षद्वयं निराकृत्य, यजिमती चोदनेति प्रतिज्ञायते ।

किं च—

प्रकृतादपि भेत्तृत्वं नामधेये व्यवस्थितम् ।
किमुताप्रकृतेभ्योऽत्र यत्र नैवास्त्यभेदधीः ।

न ह्येतन्नामधेयं प्रकृतौ कस्याचित्प्रसिद्धं, यस्य पुनःश्रुतिसामर्थ्याद् द्विरन्यासः क्रियते । तस्माद् गृह्णातिचोदनासामान्येन ज्योतिष्टोमप्रकृतिरेकाहोऽयं चोद्यत इति मन्यामहे । न च वत्सालम्भतुल्यत्वम् । एकत्र यजतेः प्रत्यक्षत्वात् अन्यत्र चाव्यभिचारिण्या संज्ञयाऽन्यत्वे कल्पिते, गृह्णातिना समस्तज्योतिष्टोमधर्मप्राप्तेर्द्रव्यदेवतासम्बन्धसिद्धिः । अतो यागान्तरत्वमिति प्राप्ते ।

---

१. ब. इति । २. ब. ग्रहणविधि ।
३. ब. यजतिवचनो । ४. ब. शब्दाभ्यामपरौ ।

अभिधीयते—

ग्रहणं नामधेयं च केवलं यत्र गम्यते।
वत्सालम्भादपि न्यूनं तदद्रव्यतयेष्यते ॥

देवता तावद् दूरभ्रष्टैव गृह्यमाणं द्रव्यं, तदपि न केनचिदुपात्तम्। न हि जात्या गुणेन च विना द्रव्यमुपलक्षयितुं शक्यम्। न च यागेऽनवधारिते ज्योतिष्टोमवद्भावोऽस्ति, येन सोमग्रहणमेतदिति विज्ञायते। न च गृह्णातिर्ज्योतिष्टोमं न व्यभिचरति, उपादानमात्रवचनत्वात्। न चैते यागनामनी, येन तं भिन्द्याताम्। ग्रहणसामानाधिकरण्याद्धि तन्नामत्वमनयोः। इष्यत एवास्माभिरत्र ग्रहणभेदः। न च तावता यागान्तरत्वं भवति। द्रव्यदेवतासंयोगेऽपि चैवं जातीयकानां यजिमत्त्वं निराकृतम्, 'अचोदकाश्च संस्काराः' इति। अत्र पुनस्तदपि न विद्यते।

योऽप्यदाभ्यवाक्ये यजतिः, सोऽपि रेवतीवारवन्तीयपूर्वपक्षन्यायेन संक्रान्तविधिशक्तिना प्रत्ययेन विधीयते। तस्माद्यागमनूद्य ग्रहणविधानमेवैतत्। अंशोः कथं यागसम्बन्ध इति चेत्? गृह्णातिसामान्योपस्थितेन ज्योतिष्टोमेनेति केचित्। अस्त्येव त्वनयोस्तैत्तिरीयाणां ज्योतिष्टोमप्रकरणे पुनः श्रवणम्। तदन्यत्र प्रयोजनत्वात्कर्मविनियोगं करिष्यति। यथा साम्रदश्यस्यानारभ्यवादेन सामिधेनीसम्बन्धितयोत्पत्तेः प्राकरणिकैश्च वचनैर्विनियोगादर्थवत्त्वमेवमिहापि द्रष्टव्यम्। तेन 'संस्कारश्चाप्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात्' इत्ययमेव पक्षः ॥२०॥

इति नवमसंश्वदाभ्यग्रहयोर्ज्योतिष्टोमाङ्गताधिकरणम् ॥ ९ ॥

॥ अथ नवममंश्वदाभ्यादीनां ग्रहनामताधिकरणम् ॥ ९ ॥

न्या० सु०—न कस्य चिदपीत्यनारभ्याधीतत्वोक्तेः सन्देहत्रैविध्यसूचनार्थत्वं वक्तुमाह—अनारभ्येति। उतेति सिद्धान्तवचनव्यक्तिभाष्यशेषेण ग्रहविधिरित्येतावता वर्त्तमानेन यावदुक्तत्वपूर्वपक्षान्तरोक्तिरित्याशयः। आलभत्यादिवद् गृह्णातिरपि यजिमदभिधानो न वेति प्रासङ्गिकत्वेन सङ्गतिदृष्टान्तेन सूचिता। पूर्वस्मिन् ज्योतिष्टोमाख्ये क्रतावंश्वदाभ्यनामधेयसंयोगादिति हेतुः। पारिशेष्याद्यागविधिसिद्धो सक्रतावेतन्नामकस्य, ग्रहस्य वा कस्य चिदभावाद्यागाभ्यासात्मकस्य, ग्रहाभ्यासस्य वा गुणस्य विधिर्न सम्भवतीति प्रकृतौ गुणविधिनिरासार्थो। नैतन्नामधेयकः कश्चित् ग्रहोऽस्तीत्येतावद्भाष्यपदावृत्त्या च यावदुक्तनिरासार्थं इत्येवं तावत्पूर्वपक्षभाष्यं व्याख्यातुमाह—तद्वदेव चेति। निराकरणमालोच्येत्यध्याहारेण पक्षद्वयनिराकरणस्य यागान्तरशब्दोक्तयागविधिप्रतिज्ञायां हेतुत्वं सूचितम्। उक्थ्यादिवच्चांश्वदाभ्यशब्दयोर्यागनामत्वे, ग्रहनामत्वे वा सति, प्रकृतौ यागाभ्यासलक्षणस्य, ग्रहाभ्यासलक्षणस्य वा गुणस्य विधिः स्यात् वत्सादिवद्वाऽश्वदाभ्यनामकग्रहप्रसिद्धौ सत्यां यावदुक्तांश्वदाभ्यग्रहणमात्रविधिः स्यात् तदुभयाभावात्पारिशेष्याद्यागविधित्वावगतेर्यागान्तरमेवांश्वदाभ्यसंज्ञकं विधीयतइत्याशयः। अपूर्वेण

नामधेयेन संयोगादिति नञ्समासपूर्वकोत्तरपदसमासाङ्गीकरणेन वा संज्ञालक्षणयागान्तरत्व-पूर्वपक्षहेतूक्त्यर्थतयेदं भाष्यं व्याख्येयमित्याह—**किं चेति**।

अंशुवाक्ये यज्यश्रुतेरदाभ्यवाक्येऽपि व्यवहितयज्यन्वयायोगेन यजिसामानाधिकरण्या-नुपपत्तेर्यागनामत्वायोगादुपचयहेतुत्वसूचनार्थः किं च शब्दः। अस्मिन्पक्षे गृह्णात्यन्वयेन ग्रहणनामत्वाद्यागनामत्वायोगाशङ्कानिरासार्थत्वेन न ग्रहः कश्चिदेतन्नामकोऽस्तीति व्याख्ये-यम्। ग्रहणस्य संस्कारत्वेन संज्ञानर्हत्वाद्व्यवधानेऽप्यदाभ्यसंज्ञकयागं करोतीत्यन्वयप्रतीतेरं-शुवाक्येऽपि अंशुसंज्ञकं कर्म करोतीत्युक्ते, किं तदित्यपेक्षायां गृह्णातिचोदनासामान्यात् गृह्णातेश्च यागीयद्रव्यप्रकल्पनार्थत्वावगतेरव्यक्तचोदनाचोदितत्वाच्च ज्योतिष्टोमधर्मप्राप्ते-र्द्रव्यदेवतालाभाद्यागरूपत्वप्रतीतेर्यागत्वावसायात् करोत्यर्थोक्तये च प्रयोज्यस्य प्रत्ययस्या-नुग्रहायातिदेशप्राप्तज्योतिष्टोमिकग्रहणानुवादभूतप्रकृतिविशेषद्योतनार्थं गृह्णातिप्रयोगोपपत्तेः संज्ञया यागान्तरत्वावगतिरित्याशयः। किमित्यादि तस्माद्यागान्तरमित्यन्तं पूर्वपक्षभाष्य-न्तात्पर्यतो व्याख्याय, न प्रकृतावित्यवयवं स्वरूपतो व्याचष्टे—**न हीति**। विध्यन्तर्भावा-द्यागान्तरविध्यपर्यवसानमाशङ्क्याह—**तस्मादिति**। न त्विति भाष्येण द्रव्यदेवतान्वया-श्रुतेर्यच्छब्दोपबन्धेन च यागविधिप्रतिबन्धात्सोमदेवत्ययागाङ्गत्वेन यावदुक्तादाभ्याख्य-द्रव्यग्रहणमात्रविधिमंशुवाक्ये च यज्यश्रुतेः स्वतन्त्रांश्वाख्यद्रव्यग्रहणमात्रविधिमाशङ्क्य माभूदित्यनेन यच्छब्दोपबन्धेऽपि प्रत्यभिज्ञानाभावेनानुवादायोगाद्विधित्वप्रतीतेर्निरस्तं तदंशु-वाक्यं व्यापकत्वादयुक्तमाशङ्क्य गृह्णातिचोदनोपस्थापितज्योतिष्टोमधर्मातिदेशप्राप्तद्रव्य-देवतान्वयकल्प्ययागप्राप्तिलक्षणोभयसाधारणहेत्वध्याहारेण पूरयन् व्याचष्टे—**न चेति**। वत्सालम्भतुल्यत्वशङ्कोक्त्या द्रव्यश्रवणेऽपि देवतान्वयमात्रे श्रुतिसूचनात् द्रव्यदेवतामिति द्वन्द्वैकवद्भावस्येतरेतरयोगात् श्रुत्युक्त्यर्थत्वं व्याख्यातम्। तस्मादिति यागान्तरत्वपूर्वपक्षोप-संहारभाष्यं व्याचष्टे—**अतोऽपीति**।

सूत्रं व्याचक्षाणः सिद्धान्तमाह—**इतीति**। ग्रहणस्यापि श्रुतत्वाद्भाष्ये नामधेयमात्र-विषयतया केवलशब्दव्याख्या न युक्तेत्याशङ्क्य नामधेयशब्दस्य ग्रहणोपलक्षणार्थत्वं सूच-यितुम्—**ग्रहणमित्युक्तम्**। द्रव्यदेवताभावनिमित्तस्य कैवल्यस्याद्रव्यत्वोक्त्यैव सिद्धे केवल-शब्दानर्थक्यमाशङ्क्य यावदुक्तत्वस्यापि निरासं केवलशब्दप्रयोजनं सूचयितुम्—**वत्सेत्युक्तम्**। वत्सालम्भएव तावद्देवताराहित्येन यागाभावाद्वायव्यश्वेतालम्भादेर्न्यूनम्। अंश्वादाभ्यग्रहणं तु द्रव्यस्याप्यभावेन द्रव्यविशिष्टविध्ययोगाद्वत्सालम्भादपि न्यूनमिष्यतइत्यर्थः। ततश्च पूर्वपक्ष-द्वयस्याप्ययोगाज्ज्योतिष्टोमाख्यस्य कर्मणोऽभ्यासात्मकोऽवयवोऽत्र विधीयते इत्यर्थादुक्तम्।

अद्रव्येति भाष्यादुदाहरणपरिग्रहार्थकेवलशब्दापेक्षितकैवल्यनिमित्तोक्त्यर्थो द्रव्यत्वा-दिति सूत्रावयव इति भ्रान्तिनिवृत्तये कर्मशेषः स्यादिति सूत्रावयवोक्ताभ्यासाख्यकर्मावय-वत्वप्रतिज्ञाया हेतूक्त्यर्थं वक्तुम्—**अद्रव्यतयेत्युक्तम्**। भाष्ये देवतोक्तेरसौत्रत्वमाशङ्क्य देवताकत्वस्याभिप्रेतस्यापि स्पष्टत्वात्सूत्रेऽनुक्तिः। अंश्वदाभ्यशब्दयोस्तु द्रव्यवाचित्वशङ्का-निरासायाद्रव्यतोक्तेति सूचयितुमाह—**देवता तावदिति**। सोमायेत्यस्यानुवाद्ययागाविशेष-

णत्वायोगात्पश्चाच्छ्रुतत्वाच्च सोमाय गृहीत्वेत्यन्वयाप्रतीतेर्यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहेति मन्त्रवर्णप्राप्तदेवतानुवादोपपत्तेश्च देवताविधित्वायोगाद् दूरभ्रष्टतोक्ता। अदाभ्यशब्देनावयवव्युत्पत्त्या हिंसाख्यदम्भानर्हद्रव्यस्यांशुशब्देन च निर्यासस्योपादानोपपत्तेरनुपात्तत्वोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य—न हीत्युक्तम्। एवमप्यदाभ्यशब्दवाच्यद्रव्यविशेषाप्रतीतेर्निर्यासस्य च प्रकृतिद्रव्यविशेषाप्रतीतेर्न वत्सालम्भवद्यावदुक्तद्रव्यविशिष्टग्रहणविधिः सम्भवतीत्याशयः।

ननु ज्योतिष्टोमधर्मातिदेशाद् द्रव्यदेवतालाभो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न चेति।

ननु यागत्वानवधारणेऽ'यैन्द्रवायवं गृह्णाती'त्यादावनिर्दिष्टद्रव्यविशेषस्य गृह्णातेर्यागीयसोमप्रकल्पनार्थत्वदर्शनेनास्यापि तादर्थ्यानुमानात्प्रकृतिभूतज्योतिष्टोमोपस्थापकत्वोपपत्तेस्तदीयद्रव्यदेवतालाभो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—न च गृह्णातिरिति। व्यभिचाराच्चानुमानं न सम्भवतीत्याशयः। केवलनामधेयश्रवणेऽपि तस्मादेव यागभेदावगतेः कुतो ज्योतिष्टोमेऽभ्यासविधिरिति पृष्ट्वा यागनामत्वाभावाद्यागभेदकत्वनिरासार्थमेतावदिति भाष्यं व्याचष्टे—न चैत इति। 'ऐन्द्रवायवं गृह्णाती'त्यादिवत् ग्रहणेनादाभ्यमंशुं च कुर्यादिति शास्त्रार्थावधारणात् वैय्यधिकरण्यान्वयेऽपि ऐकाधिकरण्यं विनान्वयायोगात्सर्वत्र राज्ञः पुरुष इत्यादावपि राजसम्बन्धी पुरुष इत्यदिसामानाधिकरण्यान्वयमभिप्रेत्य ग्रहणकरणकवदाभ्यमंशुमिति च सामानाधिकरण्यं मत्वा ग्रहणसामानाधिकरण्योक्तिः गृह्यमाणग्रहद्रव्यनाम्नोऽपि ग्रहणनिमित्तत्वोक्तये ग्रहणनामधेयत्वोक्तिः ग्रहणभेदस्तर्हि सञ्ज्ञातः स्यादित्याशङ्क्याह—इष्यत एव चेति।

अंशुशब्दस्य यज्यन्वयाशङ्कायोगात् ग्रहनामत्वस्य मुक्तसंशयत्वं स्पष्टत्वादव्याख्याय ग्रहणसंस्कार्यत्वान्यथानुपपत्त्या ग्रहस्य यागार्थत्वावगतेर्ग्रहभेदाद्यागभेदो भविष्यतीत्याशङ्कानिरासार्थं न चेति भाष्यं व्याचष्टे—न चेति। 'तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यास' इत्यनेन न्यायेन यागाभ्यासमात्राद्ग्रहभेदोपपत्तिरित्याशयः। न च द्रव्येतिभाष्यम्। ऐन्द्रवायवं गृह्णातीत्यादौ द्रव्यदेवताश्रवणेऽपि यजिमत्त्वस्य निरस्तत्वादनर्थकमाशङ्क्यातिशयोक्त्यर्थत्वेन व्याचष्टे—द्रव्येति। यदपीत्यादिभाष्यं व्याचष्टे—योऽपीति। गृहीत्वा शब्दार्थे संक्रान्ता विधौ शक्तिः प्रत्ययस्येति समासार्थः। तस्मादित्यधिकरणार्थोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति।

अंशुवाक्ये यज्यश्रुतेः अंश्वदाभ्यशब्दाभ्यामपीति द्विवचनायोगं शङ्कते—अंशोरिति। परमतेन तावत्परिहरति—गृह्णातीति। गृह्णातेर्लोकवेदसाधारण्येन ज्योतिष्टोमोपस्थापकत्वायोगात्स्वमतेनान्यथा परिहरति—अस्त्येव त्विति। अदाभ्यवाक्येऽपि यजिनाऽनुवादे यागमात्रानुवादापत्तेः सोमेन तु विशेषणे विशिष्टानुवाददोषापत्तेः प्रकरणेनैव ज्योतिष्टोमान्वयं वक्तुम् अनयोरिति द्विवचनम्। एवं सत्यनारभ्य विधिरनर्थकः स्यादित्याशङ्क्याह—तेनेति। कः पुनः पक्षत्रयमध्येऽत्र सिद्धान्तवचनं[1] इत्यपेक्षायामाह—तेनेति ॥२०॥

इति अदाभ्यादीनां ग्रहनामताधिकरणम्।

---

१. वचनेति २ पु० पा०।

भा० प्र०—वेद में "एष वै हविषा हविर्यजते योऽदाभ्यां गृहीत्वा सोमाय यजते" एवं "परा वा एतस्यायुः प्राण एति योऽशुं गृह्णाति" (तै० सं० ३।३।४) ये दो अनाभ्याधीत अर्थात् जिसका किसी भी कर्म के प्रकरण में पाठ नहीं है ऐसे वाक्य हैं। इस स्थल में "अदाभ्यां गृहीत्वा" एवम् "अंशुं गृह्णाति" इन दो भागों में 'अदाभ्य' एवम् 'अंशु' का ग्रहण कहा गया है, यह यागान्तर है या ज्योतिष्टोम याग ग्रह का विधान अर्थात् यह गुण विधि है—यह संशय होता हैं। इस संशय में पूर्वपक्षियों का कहना है कि 'अदाभ्य ग्रहण' एवम् 'अंशुग्रहण' कहा गया है यह यागान्तर है, क्योंकि, प्रकृत में "अदाभ्य" एवम् "अंशु" इन दो पदों का उल्लेख मिलता है। 'अदाभ्य' और 'अंशु' ये दोनों लोकप्रसिद्ध कोई गुण नहीं हैं, ये "अथैष ज्योति" इत्यादि वचनों के 'ज्योतिः' आदि शब्दों के समान नामधेय है। ये नामधेय हैं, अतः, अन्य किसी रूप में इसका अन्वय सम्भव न होने से इसको योग ही मानना होगा। यदि यह कहा जाय कि द्रव्य और देवता का उल्लेख न होने से इसको याग कैसे माना जा सकता है ? इसके समाधान में कहा गया है कि "अदाभ्यां गृहीत्वा यजेत" इस वचन में "यजेत" इस पद के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से जब याग कहा गया है, तब इसे याग न मानने का कोई कारण नहीं है, अतः इसके यागत्व की रक्षा करने के लिए इसके प्रकृतिभूत ज्योतिष्टोम, उसी के द्रव्य एवं देवता की प्राप्ति होती, विकृति में प्रकृति के धर्म का ही अतिदेश होने से एवं यह ज्योतिष्टोम की विकृति होने से इसमें उसके द्रव्य और देवता का ग्रहण असङ्गत नहीं है, इसलिए यह यागान्तर विधि है।

इसके समाधान में सिद्धान्ती का कहना है कि "अदाभ्य" एवम् "अंशु" ये दो शब्द नामधेय है, इसलिए इसके द्वारा यागान्तर की विधि है—यह नहीं माना जा सकता है, क्योंकि, इस स्थल में याग का रूप द्रव्य एवं देवता की प्राप्ति नहीं होती है और ग्रह धातु के साथ ही इसका साक्षात् अन्वय होता है। प्रथम वाक्य में 'यज्' धातु है, किन्तु उसके साथ अदाभ्य का दूर से अन्वय होता है। द्रव्य देवतात्मक रूप न रहने पर केवल 'यज्' धातु से रूपहीन याग की विधि भी नहीं हो सकती है। 'यज्' धातु के द्वारा याग सामान्य ही उक्त होता हैं और सामान्य अनुष्ठान के अयोग्य है। इसलिए 'यज्' धातुका उल्लेख रहने पर भी यह याग नहीं है। 'अदाभ्य' एवं 'अंशु' यह याग का नाम भी नहीं हो सकता है, क्योंकि यह ग्रह का नाम है, कारण, 'ग्रह' धातु के साथ इसका साक्षात् सम्बन्ध हैं। इसलिए, इस स्थल में जो ग्रहण का विषय कहा गया है, वह ग्रहण की ही विधि है, यह ग्रहण ज्योतिष्टोमगत सोमरस का संस्कार रूप गुण है और 'अदाभ्य' एवं 'अंशु' ये भी ग्रहण के साथ समभिव्याहृत होने से विशेष-विशेष ग्रह का ही = यज्ञपात्र का ही नाम अवगत करना चाहिए। इसीलिए 'अंशु' एवं 'अदाभ्य' ये दो शब्द ज्योतिष्टोम का अङ्गीभूत ग्रहविशेष होने से इस स्थल में उनके ग्रहण रूप गुणविधि होती है।

"अद्रव्यत्वात्" = द्रव्य एवं द्रव्योपलक्षित देवता की अप्राप्ति होने से, "तु" = अधिकरण का व्यवच्छेदार्थक है, "केवले" = केवल "ग्रह" धातुविषय में, "कर्मशेषः

स्यात्" = कर्मशेष अर्थात् प्रधान याग का ज्योतिष्टोम का शेष अर्थात् अङ्गविधि = गुणविधि है ॥२०॥

यह नवम अंशु और अदाभ्य नामक दो ग्रहों का ज्योतिष्टोमताधिकरण है ॥

अथ दशमं चयनाधिकरणम्

[१०] अग्निस्तु लिङ्गदर्शनात्क्रतुशब्दः प्रतीयेत ॥२१॥ पू०

शा० भा०—अस्त्यग्निः 'य एवं विद्वानग्निं चिनुते' इति। एवं विधाय श्रूयते—'अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति, तमुक्थेन, तमतिरात्रेण, तं षोडशिना' इत्येवमादि। तत्र संदेहः—किमयमग्निशब्दो यागवचनो ज्योतिष्टोमादिभ्यः कर्मान्तरं चिनुत इत्याख्यातेन विधीयते, उत द्रव्यवचनो ज्योतिष्टोमादिषु गुणविधानमिति। किं प्राप्तम्? यागवचन इति। कुतः? लिङ्गदर्शनात्। लिङ्गं हि दृश्यते। 'अग्नेः स्तोत्रम्, अग्नेः शस्त्रम्' इति। तथा, 'षडुपसदोऽग्नेश्चित्यस्य भवन्ति' इति। यस्य स्तोत्रशस्त्रमुपसदश्च, तस्याग्निशब्दो वाचक इति गम्यते। यागस्यैतत्सर्वम्। तस्माद्यागवचन इति।

ननु लिङ्गमसाधकं, प्राप्तिरुच्यतामिति। अत्रोच्यते। 'अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति' इति यागमभिनिर्वर्तयतीत्युच्यते। तमग्निमिति विशिनष्टि। तस्मादग्निसंज्ञक इति गम्यते। अनुशब्दोऽप्युपसर्गो यजतेर्विशेषक एवमुपपद्यते। यद्यग्निर्यागः। तस्मात्क्रतुशब्दः प्रतीयेत् ॥२१॥ पूर्वपक्षः ॥

त० वा०—'अग्निं चिनुते' इत्यत्रापि त्रेधैव संदेहः, किमपूर्वयागविधिः उत चयनमात्रविधानम्। उत प्रकृतिविकृतिषु गुणविधानमिति। तत्रांश्वदाभ्यवत्प्रकरणे पुनरतंकीर्तनात्, संस्कारमात्रस्य च केवलस्य प्रयोजनासंभवात्, संज्ञयैव क्रत्वन्तरं कल्प्यते। तथा च फलश्रवणम्, 'ऋध्नोत्येव' इति। न च गुणात्फलामीति शक्यं वक्तुम्, प्रकृताश्रयानुपपत्तेः।

तथा चैकान्तिकसोमयागचिह्नान्युपसदादीन्युभयत्र संबद्धानि श्रूयन्ते। तथेमानि वचनानि 'अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति' इति। तत्र 'अग्निं यजति' इति 'समिधो यजति' इतिवत् 'तत्प्रख्यं चान्यशास्त्रम्' इत्येवं सिद्धनामधेयविशिष्टयागविधानं विज्ञायते। तस्यैव चाग्निष्टोमादिसंस्थत्वं विशेषणम्। द्विरात्रादयश्च कालविशेषा विकल्प्यन्ते।

अथवा संस्थाविधिपरे वाक्ये यजत्यनुवाद एवमवकल्पते, यद्युत्पत्तिवाक्ये चिनोतिर्यजतिमद्धवचनः तस्मादुत्तरकालदृष्टेन यजतिसामानाधिकरण्येनाऽऽदावेवाग्निशब्दः क्रतुनामधेयमिति निश्चीयते। अनुशब्दश्च 'य एतेनानिष्ट्वे'त्यनेन प्राप्तं ज्योतिष्टोमात्पश्चाद्भावमनुवदति।

यद्वाऽग्निमग्निष्टोमादिसंस्थैर्यागैरनुयजतीत्युक्ते यद्यग्निर्याग, एवमसावनुयष्टुं शक्यते। सर्वत्र हि तुल्यरूपाणां तुल्यधर्मणां विभागे पौर्वापर्यं भवति। तद्यथा देवदत्तमनुगच्छतीति। यदि देवदत्तोऽपि गच्छत्येवमनुगमनमवकल्पते, तथाऽनुयजनमपि। तस्माच्छ्रुतानुमितेतिकर्तव्यतावत्क्रतुविधानमेतदिति।

पश्चिमे तु व्याख्यानेऽग्निष्टोमा दिभ्यः पश्चात्क्रियमाणोऽयं तदङ्गमेव भवतीति फलश्रुतिरर्थवादः स्यात्। पूर्वत्र तु स्वतन्त्रत्वात् 'फलमात्रेयो निर्देशात्' इति फलविधित्वात्पुरुषार्थमिति विशेषः ॥ २१ ॥

अथ दशममग्निचयनाधिकरणम् ॥ १० ॥

न्या० सु०—अस्यापि प्रासङ्गिकत्वेन प्रकृतयजिमद्वचनावचनत्वचिन्ता। सङ्गतिमपिशब्देन सूचयितुं सन्देहत्रैविध्यमुदाहरणविवेकपूर्वकमाह—अग्निमिति। यजिमत्त्वसंस्कारकर्मनिरासार्थो मात्रशब्दः। चिनोतिवाक्येन प्रकृतिविकृत्यङ्गत्वाविधानेऽपि अनेन वाक्येनाग्निसंस्कारत्वेन चयने विहिते संस्कृतस्याग्नेः कैमर्थ्यापेक्षायामुत्तरवाक्यैः प्रकृतिविकृत्यर्थत्वे विहिते संस्कारविधिपर्यालोचनमभिप्रेत्य—प्रकृतीत्युक्तम्। तदर्थमेव भाष्यकृता पूर्वपक्षोपपादनार्थं चोत्तरवाक्यान्युदाहृतानि। कर्मान्तरं चिनुतइत्याख्यातेन विधीयतइत्येतावता चावृत्तेन भाष्येण यावदुक्तपक्षोक्तेस्त्रैविध्यस्य भाष्यारूढत्वम्। किमिति पूर्वपक्षभाष्यं गुणविधि-यावदुक्तत्वाख्यपक्षद्वयप्रतियोगित्वेन व्याचष्टे—तत्रेति। अंश्वदाभ्यवैषम्योक्त्याधिकाशङ्का दर्शिता।

चयनस्य स्वभावतः संस्कारमात्रत्वप्रसिद्धेः संस्कारे च फलश्रुतेरर्थवादस्य वक्ष्यमाणत्वाच्छ्रुतस्यापि फलस्यान्वयानुपपत्तेर्निष्प्रयोजनत्वप्रसङ्गात्कैवल्यं यावदुक्तत्वं न युक्तमित्यर्थः। अतः परिशेषाच्चिनोतेर्यजिमद्वचनतेति क्रतुशब्देनोक्तम्, तथापि कथं कर्मान्तरतेत्यपेक्षायाम्—सञ्ज्ञैवेत्युक्तम्। पूर्वाधिकरणपूर्वपक्षवदिहाप्यपूर्वनामधेयसंयोगो भेदहेतुरभिप्रेत इति सूचनार्थं एवकारः। अग्निसञ्ज्ञकं कर्म करोतीति इष्टकाभिरग्निं चिनुतइवि वाक्यान्तरविहितवचनानुवादिप्रत्ययानुग्रहार्थं चिनोतिधातुपरेण प्रत्ययेन विहिते, किन्तदित्यपेक्षितेऽग्निमनुयजतीत्युत्तरवाक्ये यजिसामानाधिकरण्यात् यागरूपता वसीयतइत्याशयः। गुणविधित्वनिरासेन यजिमद्वचनत्वोपपादनार्थं स्वयं तावल्लिङ्गदर्शनमाह—तथा चेति। ननु गुणविधित्वेऽपि चयनसंस्कृताग्निलक्षणस्य फलश्रुतिर्युक्तेत्याशङ्क्याह—न चेति। भाष्योक्तं लिङ्गदर्शनं व्याचष्टे—तथा चेति। नन्विति भाष्येणाग्निशब्दस्य यागनामत्वे प्रापकं पृष्ट्वाऽथातोऽग्निमग्निष्टोमेनैवानुयजति तमुक्थ्यैर्न, तं षोडशिना तमतिरात्रेण, तं त्रिरात्रेण, तं चतूरात्रेण, तं पञ्चरात्रेण, तं षड्रात्रेण, तं सप्तरात्रेण, तमष्टरात्रेण, तं नवरात्रेण, तं दशरात्रेण, तमेकादशरात्रेणेति, वाक्यस्य प्रापकत्वोक्त्यर्थमत्रेति भाष्यं व्याचष्टे—तथेति। अस्य प्रापकत्वोपपादनार्थं यागमिति भाष्यं द्वेधा व्याचष्टे—तत्रेति। अथैत्यादिना एकादशरात्रेत्यन्तेनैकेन वाक्येन विनियोक्तृभूतलक्षणतृतीयायुक्तयजतिशब्दा-

नुषङ्गेण वैकल्पिकाग्निष्टोमादिसंस्था द्विरात्रादिकालविशिष्टत्वविधावग्नियागं करोतीति सामानाधिकरण्या'द्यदाहवनीये जुह्वती'ति तत्प्रख्यान्यशास्त्राच्चाग्निशब्दस्य गुणविधित्वानुपपत्तेर्यागनामत्वावसायात्। अग्निसञ्ज्ञकं यागं करोतीति चिनोतिवाक्यार्थोऽवगम्यत इत्याद्यव्याख्याने भाष्यार्थः। वाक्यान्तरेणैव नामादिविशिष्टयागविधौ चयनवाक्यानर्थक्यापत्तेर्वाक्य, प्रवृत्तिवेलायां चाग्निश्चितार्थस्यापि चयनवाक्यस्या'थैष ज्योति'रित्यादिवदन्यतोऽर्थनिश्चयसम्भवे विधायकत्वोपपत्तेराद्यव्याख्यानेऽपरितोषात्, द्वितीयव्याख्यानेऽर्थे इत्यादिषु संस्थार्थत्वविधिपरेषु भिन्नेषु वाक्येषु अग्नियागं करोतीति अग्निशब्दसमानाधिकरणयज्यनुवादान्यथानुपपत्त्याग्निसञ्ज्ञक[1]यागविधायित्वं चिनोतिवाक्यस्यावसीयतइति भाष्यार्थः। एकस्मिन् गुणपरे वाक्येऽनेकार्थविध्ययोगात्संस्थादिविधिपरे वाक्यभेद इति एकवचनसामान्याभिप्रायं तस्मादित्युपपाद्योक्त्यर्थं भाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति।

अनुशब्दादप्यग्निशब्दस्य यागवाचितावगम्यतइत्युक्त्यर्थमनुशब्दोऽपीति भाष्यमपि द्वेधा व्याचष्टे—अनुशब्दश्चेति। संस्थादिविधिपरे अनुशब्दोक्तस्य पश्चाद्भावस्य विध्ययोगेनानुवाद्यत्वावगतेरयागत्वे च पश्चाद्भावाप्राप्तावनुवादायोगाद्यागताऽग्नेर्ज्ञायतइत्याद्यव्याख्याने भाष्यार्थः।

द्वितीये त्वग्निष्टोमादिसंस्थैरेकाहैर्द्विरात्रादिभिश्चाहीनैरग्नेः पश्चात्करिष्यमाणैरग्निरनुयष्टव्य इति अग्नेर्यागप्राग्भावविधानस्य तुल्यरूपत्वगमकत्वाद्यागत्वावगतिरिति। अस्मिश्च व्याख्याने चिनोतिवाक्यविहितस्य यागस्योत्तरवाक्यैः संस्थाद्यर्थत्वविध्युपगमादग्निष्टोमसंस्थायाश्च निष्फलत्वेन शेषित्वायोगादग्निष्टोमशब्दस्य तत्स्थयागवाचित्वात्सर्वार्थतासिद्ध्यै चानुशब्दस्य सर्वत्रानुषङ्गसिद्धान्तवत्सूचयितुम्—यागैरित्युक्तम्। द्रव्यदेवतादीतिकर्त्तव्यतानाम्नानाद्यागविध्यनिर्वाहाशङ्कां निरस्यस्तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति। एतच्छब्देन चिनोतिवाक्यं परामृष्टम्।

ननु चिनोतिवाक्येन यागविधौ उत्तरवाक्यानां संस्थाद्यर्थत्वविधिपरत्वाभ्युपगमात्पौर्वापर्यविधायित्वानुपपत्तेर्द्वितीयव्याख्या न युक्तेत्याशङ्क्याग्नेर्ज्योतिष्टोमाद्यङ्गत्वप्रसिद्धिनिर्वाहार्थत्वं द्वितीयव्याख्यायाः विधित इति सूचयितुमाह—पश्चिमेत्विति। शङ्कानिरासार्थस्तुशब्दः अग्निष्टोमाद्यर्थं क्रियमाणत्वेनाग्नेरग्निष्टोमाद्यङ्गत्वेऽभिहिते तदर्थं क्रियमाणतैव कथमित्यपेक्षितेऽग्नेः कैमर्थ्यापेक्षायामग्निष्टोमादिनाग्नेरनुयष्टव्यत्वं विधितो। देवदत्तो यज्ञदत्तेनानुगन्तव्य इति विधितो यज्ञदत्तस्य पश्चाद् गमनप्रतीतिवत्फलवतोऽग्निष्टोमादेः पश्चाद्भावितया प्रतीतस्यातिक्रमकारणाभावात्तदर्थतैवोचितेति सूचयितुम्—पश्चादित्युक्तम्। पूर्वव्याख्याने तु पौर्वापर्यस्याविधेयत्वात्। तद्वशेन ज्योतिष्टोमाङ्गत्वाप्रतीतेः स्वतन्त्रतेत्याशयः॥ २१॥

---

१. संज्ञया वाक्येषु विधायित्वमिति २ पु० पा०।

भा० प्र०—वेद में कहा गया है कि "य एवं विद्वानग्निं चिनुते" (तै० सं० ५।६।३) जो इस प्रकार अवगत होकर अग्निचयन करता है, इस प्रकार अग्निचयन का विधान कर पुनः कहा गया है कि "अथातोऽग्निष्टोमेनैवानुयजति तमुक्थेन तमतिमात्रेण तं षोडशिना" इत्यादि। इस स्थल में "अग्निं चिनुते" इस वाक्य का अग्नि शब्द याग-विशेष का नाम कहकर उसके द्वारा क्या यागन्तर का विधान किया गया है, यह द्रव्यविशेष का वाचक होने से उसका संस्कार रूप गुण ज्योतिष्टोम विहित होता है—यह संशय होता है।

इसमें पूर्वपक्षियों ने कहा "अग्निस्तु क्रतुशब्दः प्रतीयते" शब्द को याग का ही नाम मानकर ग्रहण करना होगा। अतः, इस स्थल में "अग्निं चिनुते" इस वचन से यागान्तर का विधान किया गया है। यह याग का नाम है, इसका कारण व्यक्त करते हुए कहा गया है "लिङ्गदर्शनात्", "अग्नेः स्तोत्रम्"., "अग्नेः शस्त्रम्" अर्थात् "अग्नि का स्तोत्र, अग्नि का शस्त्र" (मन्त्रविशेष) इस प्रकार ज्ञापक होने से अवगत होता है कि यह याग का ही नाम है, क्योंकि, अग्नि यागविशेष न होने पर उसका स्तोत्र या शस्त्र नहीं हो सकता है, कारण, एकमात्र याग में ही स्तोत्र एवं शस्त्र के सम्बन्ध से हो सकता है, क्योंकि याग में ही वह पाठ्य है। इस प्रकार अन्य लिङ्ग भी है जिससे यह अवगत होता है कि अग्नि शब्द .याग का ही नाम है। अतएव "अग्निं चिनुते" इसके द्वारा अग्नि नामक याग का ही विधान किया गया है।

"अग्निः" = अग्नि अग्निष्टोमेन अनुयजति इस वाक्य का अग्नि शब्द, "तु" = प्रत्यवस्थान में, "क्रतुशब्दः प्रतीयते" = क्रतु शब्द अर्थात् याग का नाम होने से प्रतीत होता है, "लिङ्गदर्शनात्" = क्योंकि इस प्रकार लिङ्ग अर्थात् वेदवचन से विज्ञापित हेतु दृष्ट होता है ॥ २१ ॥ यह पूर्वपक्ष है।

द्रव्यं वा स्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात् ॥२२॥ सि०

शा० भा०—द्रव्यं वा अग्निशब्देनोच्येत। कतमद् द्रव्यम्? यदेतज्ज्वलनः। अत्र ह्येष प्रसिद्धः। चिनुते इत्येषा हि चोदना चयनार्था न यजत्यर्थं शक्नोति वदितुम्। चयनेनैनं संस्कुरुते—चितौ स्थापयतीति। अनुशब्दश्च पश्चादर्थो[1] भविष्यति। चयने निर्वृत्ते[2] पश्चादग्निष्टोमेन यागेन यजतीति ॥२२॥

त० वा०—अत्यन्तरूढिशब्दत्वाद्वाक्यभेदादिभिर्विना।
ज्वलनं न परित्यज्य क्रतुरग्निः प्रतीयते ॥

न ह्यग्निशब्द उद्भिदादिवद्यौगिकः। नापि वाक्यभेद-तत्प्रख्य-तद्व्यपदेशैर्युक्तः, येन कर्मनामधेयत्वं विज्ञायते। यत्तु तत्प्रख्यमस्तीत्युक्तं भवत्तेद्यदि क्रत्वङ्गत्वेना-

१. ब. पश्चादर्थे। २. ब. अभिनिर्वृत्ते।

ग्निर्विधीयते, स तु प्राप्तक्रत्वङ्गभाव एव चयनसस्कारतया श्रूयते। न च ताद्रूप्येण कुतश्चित्प्राप्त इति, तत्प्रख्यान्यशास्त्रान्तराभावः। तस्माद् द्रव्यमेवाग्निरिति। कतमद् द्रव्यमिति—चयनसामाधिकरण्यविरोधाभिप्रायेण प्रश्नः।

सिद्धान्तवादी तु 'व्रीहीनवहन्ति' इतिवद्वैयधिकरण्येनैव संस्कार्यसंस्कार-संबन्धोपपत्तेरविरोधं मत्वाऽऽह—यदेतज्ज्वलन इति। तस्मादग्निशब्दस्य प्रसिद्धार्थ-ग्राहित्वाच्चिनोतेश्च यागाभिधानाशक्तेर्द्रव्यदेवताभावाच्चाग्निं चयनेन संस्करो-तीत्येतावानेव चोदनार्थोऽवधार्यते। तदा च द्वितीया समर्थिता भवति कर्मनाम-धेयत्वे त्वग्निहोत्रवत्क्लेशः स्यात्। अनुयजतीति शब्दः कथमिति चेत्? उच्यते—

एकाहाहीनसत्त्राणि यजिस्तावद् ग्रहीष्यति।
अनुशब्दश्चिते तेषामनुष्ठानं वदिष्यति॥

यदि ह्ययमग्निशब्दः समानाधिकरणः स्यात्, ततो दुःखं नीयेत। यदि वैषा कर्मणि द्वितीया स्यात्। अयं तु व्यधिकरणः, कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया। अत्रायमर्थो—अग्निचयनमन्वग्निष्टोमादिभिर्यष्टव्यमिति। अग्निशब्दश्च सामान्य-वचनोऽपि सन्नत्र प्रकरणवशाच्चयनसंस्कृते वह्नौ प्रवर्तते। चयनसंस्कारोत्तरकालं यष्टव्यमित्यर्थः। तेन क्रत्वङ्गभावोपनयनार्थत्वेनैवैतानि वचनानि। चोदकेनैव प्राप्तानां विकृतिषु पुनःश्रुतिः किमर्थेति चेत्? दशमे वक्ष्यते 'ग्रहणं सामानविधानं स्यात्' इति। न चावश्यं तुल्यजातीययोरेव पौर्वापर्यं भवति। अतुल्यजातीय-योरपि पौर्वापर्यं भवति। यथा पाकमनुभुङ्क्त इत्यविरोधोपपत्तेः। यत्तु देवदत्तो यज्ञदत्तमनुगच्छतीत्येतत्तुल्यकर्मत्वं गम्यत इति। युक्तं तत्र कर्तृमात्रोपादाने सति-क्रियान्तरानुपादानात्। इह पुनरग्निसंस्कारोपात्तं चयनकर्मैव विद्यत इत्यस-मानम्॥ २२॥

न्या० सु०—द्रव्यं वेत्यादि प्रसिद्धइत्यन्तभाष्यं तात्पर्यतस्तावद्व्याचष्टे—अत्यन्तेति। श्लोकं व्याचष्टे—न हीति। पूर्वपक्षोक्तं तत्प्रख्यात्वमनुभाषणपूर्वं परिहरति—यस्त्विति। यदि यदाहवनीये जुह्वतीतिवच्छुद्धोऽग्निः क्रत्वङ्गत्वेनाथेत्यादिवाक्यैर्विधीयते। ततस्तत्प्र-ख्यत्वं भवेत्, स त्वाहवनीयवाक्याच्छुद्धः प्राप्तक्रत्वङ्गभावएव चिनोतिवाक्यात् चयन-संस्कार्यतया श्रुतोऽथेत्यादिवाक्यैस्तादृगेव क्रत्वङ्गत्वेन विधीयते। ताद्रूप्येण चान्यतोऽप्राप्तेनं तत्प्रख्यतेत्यर्थः। श्लोकार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। एतदेव भाष्यमवयवशो व्याचिख्यासुः कतमदिति प्रश्नभाष्यमग्निशब्दार्थस्य सर्वलोकप्रसिद्धेरयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—कतमदिति। यागनामत्वेऽग्निशब्दस्ये'ष्टकाभिरग्निं चिनुत'इति वाक्यान्तरेण तदङ्गतया चयनविधेरङ्गाङ्गि-नोरभेदोपचारेणाग्निचयनं करोतीति सामानाधिकरण्यमपि सम्भविष्यतीत्याशयः।

यदित्युत्तरभाष्याशयमाह—सिद्धान्तेति। चोदनाया इति सूत्रावयवव्याख्यानार्थं चिनुतइति भाष्यमुपपादयति—तस्मादिति। 'वायव्यं श्वेतमालभेते'त्यादेर्यागाभिधाना-

शक्तावपि यागचोदनाभ्युपगमात्तद्वैषम्यार्थम्—द्रव्येत्युक्तम् । उपपत्त्यन्तरमाह—तथा चेति । या त्वनुयजतिशब्दादग्नेर्यागतोक्ता । तत्परिहारार्थमनुशब्दमनुशब्दश्चेति भाष्यमाशङ्कानुभाषणपूर्वं व्याचष्टे—अन्विति । नानुयजतिशब्देनाग्नेरग्निष्टोमादिभिरनुयष्टव्यतोच्यते, किं त्वग्निष्टोमादिशब्दसामानाधिकरण्यादेकाहग्राही, द्विरात्रादिशब्दसामानाधिकरण्याच्चाहीनग्राही यजिः सत्रवाचिशब्दाभावदग्निष्टोमादिसंस्थासद्भावमात्रेण च सत्रग्रहणेऽहीनानामपि तथैव ग्रहणसिद्धेर्द्विरात्रादिवाक्यानर्थक्यापत्तेः मन्त्रग्राहित्वं कथमिति न विद्मः । चयनसंस्कृतस्याग्नेरेकाहाद्यङ्गत्वोक्तयेऽनुशब्दः इत्युत्तरार्द्धार्थः । श्लोकार्थमुपपादयितुमाह—यदि हीति । यदाग्निष्टोमादिभिर्यागैः कुर्यात्तदग्निमन्विति व्यधिकरणत्वेनाग्निशब्दस्य यजिसामानाधिकरण्याभावान्न दुःखेन यागवाचित्वकल्पना युक्तेत्युक्तम् । सामानाधिकरण्याभावेऽपि द्वितीयोक्तानुयजनकर्मत्वान्यथानुपपत्त्याग्नेर्यागत्वं कल्पयिष्यतइत्याशङ्क्य—यदि चेत्युक्तम् । अग्निचयनस्याग्निष्टोमादिकाललक्षणोक्त्यर्थत्वेनानुशब्दस्यानुर्लक्षणे४-१-८४इति कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञत्वात्कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीये२-३-८ति स्मृतेस्तद्योगनिमित्तत्वान्नेयं द्वितीया कर्मणीत्यर्थः । लक्षणार्थतानुशब्दस्य तत्रेत्यनेनोक्ता । चिनोत्यश्रुतेरग्निचयनमन्वित्यर्थालाभमाशङ्क्याग्निशब्दश्चेत्युक्तम् । श्लोकार्थमुपसंहरति—तेन क्रत्वङ्गभावेति ।

तृतीयेत्थम्भूतलक्षणेऽग्निष्टोमेनैवानुयजतीत्यग्निष्टोमाख्यप्रकृत्यङ्गत्वे विहितेऽतिदेशेनैवोक्थ्यादिषु प्राप्तेः 'तमुक्थ्येनेत्यादेस्तुत्यर्थानुवादत्वेनैकवाक्यत्वावगमाद् बहुवचनानुपपत्तिमाशङ्कते—चोदकेनैवेति । दशमे 'य एवं विद्वानग्निं चिनुत'इति वाक्यविहितमग्निम्, 'उपष्टम्भनं वा एतद्यज्ञस्य यदतिग्राह्या' इति वाक्यविहितानतिग्राह्यानुदाहृत्याग्न्यतिग्राह्यं विकृतावतिदिश्यते न वेति सन्देहे 'अग्न्यतिग्राह्यस्य विकृतावुपदेशादप्रवृत्तिः स्यादि'१०-८-२३ति सूत्रेणाग्नेस्तमुक्थ्येनेत्यादिनातिग्राह्याणां च यदुक्थ्येऽतिगृह्णीयादित्यादिना कासु चिद्विकृतिषूपदेशादातदेशाप्रवृत्तिं पूर्वपक्षयित्वा निर्देशस्यापर्यायप्रवृत्तेः सर्वाङ्गे तुल्यत्वादग्न्यतिग्राह्यस्यापि ग्रहणमिति'ग्रहणं वा तुल्यत्वादि१०-८-२५त्यनेन सिद्धान्तिते विकृतौ तर्ह्युपदेशः किमर्थं इत्याशङ्क्यातिदेशागृहीतस्यापि कासु चिद्विकृतिषूपदेशेन ग्रहणे गुणकामप्रवृत्त्यर्थं समानविधानत्वं प्रयोजनमिति ग्रहणे समानविधानं स्यादि१०-८-२७त्यनेन वक्ष्यमाणत्वेनाप्रतीयमानस्तुत्यर्थत्वकल्पनायोगाद्वचनानीति बहुवचनोपपत्तिरिति परिहरति—दशम इति ।

कर्मण्यपि द्वितीयायां तत्क्रियात्वजात्यपेक्षयानुशब्दस्य यजिविशेषणत्वोपपत्तेरवान्तरजातितुल्यत्वानावश्यकत्वान्नानुयजनकर्मत्वमात्रेणाग्नेर्यागरूपत्वावगतिरित्याह—न चेति । पूर्वपक्षोक्तदृष्टान्तानुभाषणपूर्वं वैषम्यमाह—यत्त्विति । किं चिदकुर्वतो देवदत्तस्य यज्ञदत्तकर्मकर्तृकानुगमनकर्मत्वायोगात् द्वितीयोक्तकर्मत्वान्यथानुपपत्त्या कर्तृत्वमात्रोपादाने सति क्रियान्तरानुपादानात्तुल्यक्रियाकल्पनं युक्तम् । चयनसंस्कृताग्निवाचिना त्वग्निशब्देन चयनाख्यक्रियान्तरोपादानान्न तुल्यक्रियाकल्पना युक्तेत्यर्थः ॥ २२ ॥

भा० प्र०—इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्तियों का कहना है कि "द्रव्यं वा स्यात्" इस स्थल में अग्नि शब्द रूढ़ि के कारण उष्णस्पर्शविशिष्ट द्रव्यविशेष का अर्थात् लोकप्रसिद्ध अग्नि का ही वाचक है; कारण, "चोदनायास्तदर्थत्वात्" इस स्थल में "चिनुते" यह जो चोदना है अर्थात् विधि है, यह चयन के लिए अर्थात् इसके द्वारा चयन विहित होता है किन्तु यह याग का वाचक नहीं है। क्योंकि, अग्नि का चयन करें इसका अर्थ चयन के द्वारा अग्नि का संस्कार करें, चिति के मध्य में अग्नि का स्थापन करे अर्थात् विशेष आकारविशिष्ट अग्नि के स्थापन का स्थान चिता के मध्य में अग्नि का स्थापन करे। इस वाक्य से विहित चयन निष्पन्न होने पर अग्निष्टोम याग करें।

यह "अग्निम् अग्निष्टोमेन अनुयजति" इस वाक्य से अवगत होता है। क्योंकि, "अनुयजति" इस स्थल का "अनु" शब्द कर्मप्रवचनीय है। उसी का याग में "अग्निम्" इस स्थल में द्वितीया होती है। इसलिए इस वाक्य का अर्थ इसप्रकार होता है— "अग्निम् अग्निष्टोमेन यजति" अर्थात् अग्निचयन के बाद अग्निष्टोम करें॥

"द्रव्यम्"=द्रव्य अर्थात् अग्नि शब्द उष्णस्पर्शविशिष्ट द्रव्य, "वा" = पूर्वपक्ष के निवारण के लिए है, "स्यात्" = होगा, "चोदनायाः तदर्थत्वात्=क्योंकि, चोदना अर्थात् विधि से विधेयचयन की तदर्थता अर्थात् अग्नि का संस्काररूप प्रयोजन रहता है॥ २२॥

॥ सिद्धान्त ॥

तत्संयोगात्क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेन धर्मविधानानि ॥२३॥

शा० भा०—यत्तु लिङ्गदर्शनमुक्तं—यागवचनोऽग्निशब्द इति। तत् तेष्वेव लिङ्गसंयुक्तेषु वचनेषु, न सर्वत्र। तेषु चित्याग्निसंयोगात् यागे लक्षणशब्दः। तेन क्रतुवचनानि तद्धर्म[1]विधानानीत्यदोषः ॥२३॥ सिद्धान्तः ॥

इति दशमं चयनाधिकरणम् ॥१०॥

त० वा०—'अग्नेः स्तोत्रम्' इत्यादिष्वगत्याऽऽश्रयणम्[1]। ज्वलनेन सम्बद्धं स्थलं लक्ष्यते। नापि तद्वान्क्रतुः। न चैकत्र लक्षणाश्रयणमिति, सर्वत्रैव साऽऽश्रयितव्येति। तस्मात्सत्यां गतौ द्रव्यवचनत्वमेव युक्तम्।

वृत्त्यन्तरस्यानुवादनिरासौ

यस्त्वत्रैवाधिकरणे भाष्यकारान्तरेणाग्नेः फलवदफलत्व-प्राकृतवैकृतत्वनित्यानित्यत्वोत्तरवेदिविकाराविकारत्वविचारः कृतः। स उदाहरणान्तरेष्वधिकरणान्तरसिद्ध इहाऽसम्बद्धोऽपि स्मरणमात्रदर्पेणोपन्यस्तइत्युपेक्षितव्यः। तस्मान्नैवंजातीयको गुणो भेदक इति सिद्धम् ॥ २३ ॥

(इति दशमं चयनाधिकरणम् ॥ १० ॥)

---

१. ब. न द्रव्यवचनानीत्यदोषः।

१. क० श्रवणम्।

न्या० सु०—'अग्नेः स्तोत्रमि'त्यादावग्निशब्दवाच्यचयनसंस्कृतज्वलनाख्यद्रव्यसंयोगाल्लक्षणयाऽन्याख्यः क्रतुः स्यात्, तेन कारणेनाग्नेस्तोत्रादिधर्मविधानान्युपपद्यन्तइत्येवं पूर्वपक्षोक्तलिङ्गपरिहारार्थत्वेन सूत्रव्याख्यानार्थं यत्वित्यादिभाष्यं तात्पर्यतो व्याचष्टे—अग्नेरिति। अग्निसंयोगाद्यागलक्षणायां यागमात्रप्रसक्तिमाशङ्क्य चित्यविशेषणं तद्भाष्ये कृतम्। तद्व्याचष्टे—ज्वलनेनेति। व्याख्येयभाष्यानुसारादग्निशब्दश्चेति पूर्वसूत्रस्थवार्त्तिकालोचनया च ज्वलनसामान्येन स्थापनसंस्कृतविशेषो लक्ष्यतइत्यर्थः। 'वेतसशारवयावकाभिश्चाग्निं विकर्षती'त्यादौ त्वग्निस्थापनात्प्राक् प्रयोगादग्निशब्दस्य स्थललक्षणार्थत्वमुक्तम्। तत्तेष्वेवेत्येवकारार्थमाह—न चेति।

भाष्यकारान्तरकृतानि तु चिन्तान्तराणि कस्मान्नानेन भाष्यकृता दर्शितानीत्याशङ्क्याह—यस्त्विति। फलवदफलवन्नित्यानित्यत्व[1]विचारणामग्न्याद्युदाहरणेषु पर्णमय्यधिकरणसिद्धो प्राकृतवैकृतत्वविचारश्चास्मिन्नेवोदाहरणेऽग्न्यतिग्राह्याधिकरणसिद्धनित्यानित्यत्वविचारस्तु[2] गोदोहनोदाहरणे उत्तरवेदिविकाराविकारकाम्यो गुणो नित्यमर्थं करोतीति व्युत्पादनान्नैमित्तिकं तु प्रकृतौ तद्विकारः संयोगविशेषादि३-६-१०ति तृतीयाधिकरणसिद्धः सङ्कर्षे द्वितीयेऽध्याये मध्यमायामुपसद्यग्निश्चीयते प्रकृत्युपक्तत्वादि१४-२-४८त्यत्राधिकरणे मध्यमायामुपसद्यग्निचयनं सिद्ध्येत्। किं चितावौत्तरवेदिका धर्माः कार्या न वेति सन्दिह्याग्न्युत्तरवेद्योः समुच्चयात् भिन्नकार्यत्वावगमेनाग्नेरुत्तरवेदिकार्यापत्त्यभावावगतेरौत्तरवेदिकधर्माननतिदेशं पूर्वपक्षयित्वा, 'सोत्तरवेदिस्तु क्रतुं चित्वा नोत्तरवेद्या अग्निश्चीयत' इति वचनालोचनया समुच्चयावगमेऽपि चयननिष्पादितस्थलस्याग्निं चिनुतइति द्वितीयोक्ताग्निसंस्कारार्थत्वेऽस्य योग्यतयाग्निधारणात्मकसंस्कारार्थत्वावगमेनोत्तरवेद्यामग्निं निदधातीत्यग्निधारणाख्योत्तरवेदिकार्यापत्त्यवगमात् कार्यैक्येऽपि च 'वेद्यौर्हवींष्यांसादयती'ति वेदिबर्हिषोरिव स्थलोत्तरवेद्योरपि पाक्षिकप्राप्त्यभावेन नियमविध्यभावादन्योन्यनैरपेक्ष्यानवगतेः समुच्चयाविरोधादुत्तरवेदिकार्यापत्त्या स्थलाख्यस्याग्नेस्तद्धर्मातिदेशे सिद्धान्तयितुम् उत्तरवेद्या समुच्चीयमानेऽपि चयने उत्तरवेदिकार्यापन्ने उत्तरवेदिधर्मा भवेयुरिति वदता तत्रत्यभाष्यकृतौत्तरवैदिकधर्मग्राहित्वलक्षणस्य तद्विकारत्वलक्षणस्य तद्विकारत्वस्यातद्विकारत्वपूर्वपक्षनिरासपूर्वमुपपादयिष्यमाणत्वात्, सिद्धवच्च समुच्चयोक्त्या बाधरूपतद्विकारत्वनिरासेन बाधरूपस्यातद्विकारत्वस्य तत्र वक्ष्यमाणत्वात्तदधिकरणसिद्धः। न केवलं गतार्थत्वादुपेक्ष्यम्, किं त्वप्रसङ्गत्वादपीति इहेत्यनेनोक्तम्। कस्मात्तर्हि तेन कृत इत्यपेक्षायामुपसंहारार्थम्—स्मरणेत्युक्तम्। प्रासङ्गिकमधिकरणद्वयं समाप्य, प्रकरणार्थमुपसंहरति—तस्मादिति। पूर्वत्र सम्भवाद्द्व्यादिर्न भेदक इत्यर्थः ॥२३॥

इति दशमं चयनाधिकरणम् ॥१॥

---

१. नित्यानित्यत्वेति २ पु० ना०।

२. प्रकृत्युपसंबन्धात् अप्राकृते यथा समाम्नानि तत् प्राकृतवैकृतैर्व्याख्यातमिति समग्रं सूत्रम्।

भा० प्र०—लिङ्ग दृष्ट होने से अग्नि शब्द का याग वाचक है—यह जो आपत्ति दी है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि, "अग्नेः स्तोत्रम्" "अग्नेः शस्त्रम्" इत्यादि स्थलों में अग्नि शब्द लक्षणा के बल से अग्निविशिष्ट याग का वाचक है, और एक स्थल में अग्नि शब्द में लक्षणा कर यथार्थता का ग्रहण करने से सर्वत्र वैसा हो होगा—यह बात नहीं है। अतः "य एवं विद्वान् अग्नि चिनुते" इस वाक्य में अग्नि शब्द को याग का नाम नहीं कहा जा सकता है।

"तत्संयोगात्" = उसके साथ अर्थात् चिताग्निको=चयनाग्नि के साथ संयोग अर्थात् सम्बन्ध होने से "क्रतुः"=ज्योतिष्टोमादिक्रतु "तदाख्यः स्यात्"=उस अग्नि के नाम के द्वारा उक्त होता है, "तेन धर्मविधानानि" इसलिए "अग्निः स्तोत्रम्" "अग्निः शस्त्रम्" इत्यादि वाक्य में धर्म का विधान अर्थात् स्तोत्र आदि का विधान होता है ॥ २३ ॥

॥ यह दशवाँ चयनाग्निसंस्कारत्व अधिकरण ॥

अथैकादशं प्रकरणान्तराधिकरणम्

[११] प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम् ॥२४॥ सि०

शा० भा०—कुण्डपायिनामयने श्रूयते—मासमग्निहोत्रं जुह्वोति,[1] मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजन्ते इत्येवमादि। यत्र संदिह्यते—किं नियतेऽग्निहोत्रे, नियतयोश्च दर्शपूर्णमासयोर्मासो विधीयते कालः, अथ किं नियताग्निहोत्रात्, नयताभ्यां च दर्शपूर्णमासाभ्यां कर्मान्तरविधानमिति। किं तावत्प्राप्तम्? नियतेषु कालविधिरिति। कुतः? कालविधिसरूप एष शब्दो मासमिति। कथं कालविधिसरूपता? यदग्निहोत्रं जुहोतीति[2] विदितम्, मासमित्यविदितम्। एवं चाग्निहोत्रशब्दो दर्शपूर्णमासशब्दश्च नार्थान्तरवृत्तौ भविष्यतः। तस्मात्कालविधिः।

ननु कुण्डपायिनामयनप्रकरणं बाध्येतैवम्। कामं बाध्यताम्। वाक्यं हि बलवत्तरम्। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः। प्रकरणान्तरे श्रूयमाणं वाक्यं यस्य प्रकरणे, तस्य वाचकं भवितुमर्हति। ननु प्रत्यक्षोऽग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासयोश्च गुणविधिः[3]। नेत्युच्यते। कथम्?

'उपसद्भिश्चरित्वे'ति ह्युक्त्वेदमभिधीयते। न चोपसदोऽग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासयोश्च सन्ति। तस्मादशक्यस्तत्र मासविधिः। अथोच्येत—उपसदोऽपि विधीयन्त इति। तथा गुणविधानार्थेऽस्मिन्वाक्येऽनेकगुणविधानाद्वाक्यं भिद्येत।

---

१. ब. जुह्वति। २. ब. जुह्वतीति। ३. ब. कालविधिः।

अस्मिन्पक्षे[१] पुनरतन्त्रमग्निहोत्रशब्दो न कर्म विशेक्ष्यति। तेन वाक्यभेदो न भविष्यति। तस्मात्कर्मान्तरमिति सिद्धम् ॥२४॥

इत्यनेकादशं प्रकरणान्तराधिकरणम् ॥११॥

अथैकादशं प्रकरणान्तराधिकरणम्

(तत्र भाष्यमतम्)

त० वा०—गतं गुणलक्षणभेदप्रसक्तानुप्रसक्तम्। कीदृशो गुणः पूर्वत्रासंभवन् भिनत्ति, कीदृशो वा तत्रैव सम्भवतीति। इदानीं पर्यवसितेषु पञ्चसु भेदकारणेषु, प्रकरणान्तरलक्षणो भेदः प्रस्तूयते। तत्र तावत्।

अग्निहोत्रादिशब्देन पूर्वं कर्माऽवबोधितम्।
न विप्रकर्षमात्रेण भेदरूपं[२] प्रपद्यते॥

यथैव वलभ्यां, पाटलिपुत्रे वाऽग्निहोत्रादिशब्द उच्चार्यमाणो नार्थान्तरं प्रतिपादयति, एवं प्रकरणान्तरं तस्यार्थाभिधानशक्तिमभिव्यनक्ति। तद्विशेषिताश्च यजतिजुहोत्यादयोऽपि नार्थान्तरे वर्तन्ते। नार्थान्तरेण विना किंचिदनर्थकं भवति। न च प्राप्तविधानं तेषु न सम्भवति। यावज्जीवादिविधिभिः सह तुल्यबलत्वेन विकल्पोपपत्तेः। यो वै तेषां काम्यप्रयोगः। तस्यानवगतकालविशेषत्वान्मासपरिमाणविधानमित्यदोषः। प्रकरणस्य च वाक्यं बाधकमिष्टमेव।

अथ वा दीक्षितत्वनिमित्तेन प्रतिषिद्धानामपि मासपरिमितः प्रतिप्रसवः। स तु प्रयोगमध्य एव क्रियते।

अथ वा तान्येवाग्निहोत्रादीनि अत्र पर्युपस्थाप्य सोमयागसहितानि सत्त्रप्रयोगवचनेन फले विधीयन्ते। न हि कवलभोजी देवदत्तोऽन्यैः सह पङ्क्त्यां भुञ्जानोऽन्यत्वं प्रतिपद्यते। न च फलान्तरसम्बन्धः कर्मान्तरत्वेन विना न घटत इत्युक्तमेवेष्ट्यधिकरणे। न चावश्यमङ्गैरेव क्रत्वन्तरं गन्तव्यम्। प्रधानमपि हि अपरिपूर्णे करणांशे स्वशब्देन विधीयमानं न विरुध्यते। तस्मादेवमपि तान्येवाग्निहोत्रादीनीति प्राप्ते।

उच्यते।

उपसद्भ्यः परं ह्येतदग्निहोत्रं विधीयते।
न च नैयमिकस्यैताः सन्तीस्येतेन भिन्नता॥

यदि हि मासः शुद्धो विधीयेत, ततः पूर्वकर्मानुवादे बुद्धिर्भवेदपि। न त्वेतदस्ति। उपसदुत्तरकालत्वेन श्रवणाद्विद्यमानाभिरुपसद्भिः शक्यः कालो लक्ष-

१. ब. अस्मत्पक्षेत्वतंत्र।   २. क० भेदमात्रं।

यितुम् । न च नैयमिके ताः स्वार्थाः, परार्थाः वा विद्यन्ते । यदि तु ताः, तदुत्तरकालत्वं, मासश्च विधीयेरन्, एवं सति अनेकार्थविधानाद्वाक्यभेदः स्यात् । एतस्मादेव हेतोर्दीक्षितदानहोमपाकप्रतिषेधेन प्रतिषिद्धस्य प्रतिप्रसवरूपेण वा, सत्रैकदेशत्वेन वाऽयं विधिः प्रत्युक्तः । तत्रापि ह्युपसदुत्तरकालत्वं मासश्चेत्यनेकार्थत्वमेव । कर्मान्तरविधाने त्वनेकार्थत्वमदोषः । तस्मात्कर्मान्तरमिति भाष्यकारः ।

उक्तस्य भाष्यमतस्य समीक्षा

इदं त्विह वक्तव्यम् । यदि वाक्यभेदप्रसङ्गात्कर्मान्तरत्वम्, एवं तर्हि स एव भेदहेतुः प्राप्नोति, न प्रकरणान्तरम् । अथवा गुणादेवानेकात्मकत्वेन पूर्वत्रासम्भवाद्भेद इति, प्रकरणान्तरानवकाशः । तथा हि—

यद्यपि प्रकृते तस्मिन्नग्निहोत्रे भवेदिदम् ।
तथाऽप्यसम्भवात्तस्मिन् ब्रूयात्कर्मान्तरे गुणः ॥

किं च—

अग्निहोत्रस्य चैतेन भेदः क्लेशेन सम्भवेत् ।
उत्तरेषां तु नैव स्यादुपसत्संगतेर्विना ॥

'मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजन्ते' इत्यादिषु हि केवलमाससम्बन्धविधानान्न वाक्यभेदः प्राप्नोतीति अकर्मान्तरत्वप्रसङ्गः ।

तत्रैतत्स्यात् । इहाप्युपसद्भिश्चरित्वेत्यनुषङ्गादग्निहोत्रतुल्यत्वमिति । तदयुक्तम् । कुतः ?

विना यत्रानुषङ्गेण भवेच्छ्रुतिरनर्थिका ।
तत्रैव ह्यकृतार्थानामनुषङ्गो न चेह सः ।

तत्रानुषङ्गो युक्तो, यत्र तेन विना न किंचिदुक्तं भवति । यथाऽत्रैव 'मासं वैश्वदेवेन' इत्यादिषु यावद्यजत इति नानुषज्यते, तावन्न किंचिदुक्तमित्यवश्यमनुषक्तव्यम् । इह पुनर्दर्शपूर्णमासादिवाक्यानि तावत्स्वपदैरेव निराकाङ्क्षीभूतानि । 'उपसद्भिश्चरित्वा' इत्ययमपि पूर्वत्रैव चरितार्थत्वान्न किंचिदपेक्षते । तत्र न कश्चिदपि हेतुरस्ति, येनानुषज्येत् ।

यस्तु वाक्यभेदप्रसक्त्यर्थमेवानुषङ्गमिच्छेत्, कुर्यादपि सः । तत्र तु पुनः पुनश्चरित्वेत्यस्य विधानाद्यावदनुषङ्गमुपसदामनुष्ठानं प्राप्नोति । अनिष्टं चैतत्, वेदाभ्यनुज्ञानाभावात् । अथाग्निहोत्रस्यैवं पुरस्तात्कृताभिः सर्वानुषङ्गार्थसम्पादनमित्युच्येत, तथा सति शब्दोच्चारणमप्येवमेवावस्थितमग्निहोत्रादीनां पाठक्रमानुरोधेनोपकरिष्यतीति, नार्थोऽनुषङ्गेण । तस्मान्नैतद् व्याख्यानमुपपद्यत इति, एवं वर्णनीयम् ।

वार्तिकमतेन प्रकरणान्तराधिकरणम्

उपादेयो गुणो यत्र भवेत्प्रकरणान्तरे।
तत्राकर्मान्तरं युक्तमुद्देश्ये त्वन्यकर्मता॥

इह तावन्नैव प्रकरणान्तरसद्भावाद्भेदोऽवगम्यते। किं तर्हि पूर्वप्रकरणविच्छेदात्। अविपरिवर्तमाने हि पूर्वकर्मणि, केनापि प्रकारेणोत्तरस्य भेदः प्रतीयते। न तु प्रकरणान्तरं सदपि किंचिदुपकरोति। तथा च 'फलं चाकर्मसंनिधौ, इत्यत्र वक्ष्यामः।

सर्वत्र च विच्छिन्नप्रकरणस्य कर्मणः संबन्धि द्विप्रकारं श्रूयते उपादेयम्, अनुपादेयं च। तत्र यदुपादेयम्। यथाऽऽहवनीयप्रतिपदादि तत्प्रदेशान्तरस्थोद्देशेनापि शक्यं विधातुम्। यत्त्वनुपादेयं देशकालनिमित्तफलसंस्कार्यात्मकं, तस्य प्रदेशान्तरावस्थितस्य कर्म प्रति विध्यशक्तेरेषा वचनव्यक्तिर्भवति, तत्रैव कर्म कर्तव्यमिति। परोद्देशेन च कर्म विधीयमानं यद्यन्येन तद्रूपमेव वाक्येनोपस्थाप्यते, ततस्तदेवेत्यकर्मान्तरबुद्धिर्भवति। अथ त्वीषदपि तिरोधानान्नोपतिष्ठेत, ततः परं विधीयमानत्वेनैव विहितादन्यत्वबुद्धिः स्थिता न शक्याऽपनेतुमिति, कर्मान्तरत्वं भवति।

एवं हि स विधायकस्तत्रोपदिशति अविधेयं पदार्थं प्रति मयैतत्कर्म विधीयते। तच्च स्वरूपेणानुत्पन्नं न शक्यं तत्र विधातुमिति, बलादुत्पाद्यते। तद्यदि कश्चिदेवंविधं शक्नोत्युत्पादयितुं, तत उत्पादयतु, यावदहमप्यत्र विधिं करोमि। अथ नोत्पादयति ततो मयैवोत्पादिते मा कश्चित्पश्चादागत्य ममापराधं मंस्तेति। तेनैवमाच्छोषिते यदि कश्चित्तथाविधमुपनयति, ततोऽसावपि तदेव देशादौ विधत्ते। अथ नोपनयति, ततः स एवोत्पादयत्यपीति निरूप्यते।

तदिह मासस्तावद् दूरस्थहोमानुवादेन न शक्यते विधातुम्। न हि कश्चिद्धोमाद्यनुरोधेनाद्यैव मासं संपादयितुं समर्थः, तेनात्यन्तं स्वतन्त्रमनुपादेयं मासमेव प्रतिहोमादिषु विधीयमानेषु दूरस्थैरुत्पत्तिविधिभिरुत्पादनशक्तावलुप्यमानायामिदानीमेवोत्पत्तिः क्रियते। न चोत्पन्नस्य पुनरुत्पत्तिः संभवतीत्यपूर्वविधानं विज्ञायते।

ननु चाग्निहोत्रादिपदेनोत्पत्तिसहचारिणा तत्कर्मोत्पत्तावपनीयमानायां माससंबन्धमात्रव्यापृतोऽयं विधिरुत्पादकत्वाद्विहन्येत।

संनिधानोपनीतं चेत्कर्म नोत्पद्यते पुनः।
नामधेयोपनीतं तत्तत्र नोत्पद्यतेतराम्॥

यत्र वाक्यान्तरगतमपि संनिधानमात्रादेव प्रत्यभिज्ञायमानं न भिद्यते, तत्र स्ववाक्यगतेन नाम्नोपनीयमानं न प्रत्यभिज्ञास्यत इति कुत एतत्?

उच्यते—

यथाभिलषितं यत्र दुर्बलेनापि हेतुना ।
कर्मोपस्थाप्यते तत्र तदेवेत्यवसीयते ॥

संनिधानेन हि यादृगेव देशादिवाक्येषु कर्मावगम्यते, तादृगेवोपतिष्ठत इति न भिद्यते । नामधेयं पुनरादितस्तावदाख्यातपरतन्त्रत्वान्नैव भेदाभेदयोर्व्याप्रियते । तस्मिंश्चाऽऽख्यातप्रवृत्तिप्रतीक्षिणि अवस्थिते 'मासं जुह्वोति' 'मासं यजते' इति जुहोतियजतिपदमात्रसंगतावालोच्यमानायाम्, अन्यस्य जुहोत्यादेः स्ववाक्य-स्वप्रकरणेषु अविपरिवर्तमानत्वादप्रत्यभिज्ञानम् ।

किं च—

नाम्ना धात्वर्थमात्रं च संनिधाप्येत शक्तितः ।
भावना त्वनुपस्थानाद्भिद्यमानाऽवधार्यते ॥

सामानाधिकरण्येन हि सर्वनामधेयानि धात्वर्थानां नामधेयत्वेनावस्थितानि, न भावनायाः । तेन भावनान्यत्वानन्यत्वपरीक्षावेलायां सत्यपि धात्वर्थैकत्वे भावना तावदनन्यप्रमाणत्वादाख्यातप्रत्ययान्तरेणानुपनीयमाना न कथंचित्प्रत्य-भिज्ञायत इत्युपपन्नं प्रयोजनान्यत्वम् ।

अथवा—

धात्वर्थोऽपि यथाऽऽख्यातेऽसत्त्वभूतः प्रतीयते ।
सत्त्वाभिधायिना नाम्ना तादृङ्नैवोपनीयते ॥

असत्त्वभूतो हि धात्वर्थोऽत्र जुहोतिना विधेरुपनीयते । न च तादृशस्यैव द्रव्यभूतलिङ्गसंख्यायोग्यार्थाभिधायिभिरग्निहोत्रादिपदैरभिधीयमानत्वमित्यप्रत्य-भिज्ञानात्सोऽपि भिद्यते । यत्र तु प्रकरणान्तरेऽपि तथाभूतो नोपादास्यते, भावना वा तावदनुरक्तात्मना न विवक्ष्यते, तत्र तदेव कर्मकेन वचनेन पर्युपस्थाप्य, अपरेण फले विधीयत इत्यवगमात्काममकर्मान्तरं भवतु । तद्यथा 'अतिरात्रश्चतु-र्विंशः' प्रायणीयमहः, चत्वारोऽभिप्लवाः षडहाः, पृष्ठ्यः षडहः, इत्यादिषु । यथा वा वरुणप्रघासेषु 'अवभृथं यन्ति' इति । यदा तु प्रकरणान्तरगतफलादिसंबद्धं विधित्वमुत्पत्तिमपि संस्पृश्य यावद्बलीयस्योत्पत्तिविधिविपरिवृत्त्या विप्रकर्षाद-निवार्यमाणं भिनत्तीति निश्चीयते, तदैवमादिष्वपि भेद एवेत्यवगम्यते ।

परमार्थेन तु—

भिद्यते भावनामात्रं धात्वर्था नार्यजिश्रुतेः ।
नाम्ना हि तदुपादानमासनोपायिचोदिते ॥

नामविलक्षणधातुश्रवणे हि तदर्थभेदो भवति । सत्रे तु यज्यश्रवणान्नाममात्रोपनीतप्रकृतयागप्रत्यभिज्ञानात्तद्भावनामात्रभेदः । तस्मात्साधूक्तं प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वमिति । भाष्यकार **उपसद्भिश्चरित्वेति** तल्लक्षितकालमेवानुपादेयरूपं भेदहेतुत्वेन दर्शयतीति द्रष्टव्यम् । **अथोच्येत—उपसदोऽपि विधीयन्त** इत्यादि चाभ्यासाधिकरणवदभ्युपेत्यवादेन समर्थयितव्यम् ॥ २४ ॥

(इत्येकादशं प्रकरणान्तराधिकरणम् ॥ ११ ॥)

अथैकादशं प्रकरणान्तराधिकरणम् ॥ ११ ॥

न्या० सु०—प्रकरणान्तरविचारस्यानन्तरासङ्गतिमाशङ्क्याह—**गतिमिति** । प्रासङ्गिकचिन्तावदपवादचिन्तापि प्रकृताव्यवधायिकेति सूचयितुमपवादः प्रसक्तत्वेनोपचरितः । गुणचिन्तयापि प्रकरणान्तरचिन्तायाः सङ्गत्यभावमाशङ्क्य भेदकान्तरस्यावाच्यत्वात्पारिशेषिकी सङ्गतिः पञ्चस्वित्यनेनोक्ता ।

पूर्वपक्षमाह—**तत्र तावदिति** । दर्शपूर्णमासवैश्वदेववरुणप्रघाससाकमेधसुनासीरीयाण्यादिशब्देन गृहीतानि । श्लोकार्थमुपपादयति—**यथैवेति** । भाष्ये कालविध्युक्तेः प्रयोजनमाह—**न चेति** । ननु नित्येऽग्निहोत्रे, दर्शपूर्णमासयोश्च जीवनस्य निमित्ततयाप्यन्वये तावत्कालमनुष्ठेयत्वावगतेर्जीवनावधिकालावरोधान्मासविधिर्न भवतीत्याशङ्क्याह—**न चेति** ।

अप्रकरणाधीतस्यापि मासस्य साक्षात्कर्मान्वयविधेः प्रकरणाधीतेन कालेन तुल्यबलत्वाविरोधमभ्युपगम्यातुल्यकल्पत्वेनातुल्यबलत्वाशङ्कानिरासायातुल्यकल्पजरावधित्रिंशद्वर्षपरिमितकालान्तरपरामर्शादिशब्दः जीर्णस्यापि सहायोपादानेनाऽनुष्ठातुं शक्तस्य जीवनावधिकालोः असहायस्य जरावधिः, प्रविव्रजिषोः त्रिंशद्वर्षपरिमित इति जीवनादिकालानां व्यवस्थितविकल्पवदत्यन्तविरक्तस्य शीघ्रं प्रविव्रजिषोर्मासोऽपि वा व्यवस्थितविषयतया विधातुं शक्य इत्याशयः । काम्यप्रयोगस्य वा सायं प्रातःकालत्वावगमेऽपि सायं प्रातर्मासं जुहुयादित्यन्वयोपपत्तेर्विरोधिकालान्तरानवगमान्मासविधिर्भविष्यतीत्यन्यथा परिहरति—**यो वेति** ।

नन्विति भाष्येण मासविधेर्नित्याग्निहोत्रादिविषयत्वे प्रकरणबाधदोषाण्याशङ्क्य काममित्यनेन, परिहृतम् । तद्व्याचष्टे—**प्रकरणस्य चेति** । प्रकरणानुग्रहार्थं 'दीक्षितो न ददाति, न जुहोति, न पचतीत्यग्निहोत्रादीनां पर्युदस्तानां प्रतिप्रसवोऽयमि'ति पक्षान्तरमाह—**अथ वेति** । दीक्षितस्य दानहोमपाकप्रतिषेधेऽविशेषात्सर्वपाकदानहोमप्रतिषेधः स्यादिति दशमाधिकरणे अपि तु वाक्यशेषत्वादितरपर्युदासः स्यात् प्रतिषेधे विकल्पः स्यादिति सिद्धान्तसूत्रेण पर्युदासत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्प्रतिषेधोक्तिः पर्युदासलक्षणार्था । एवमपि प्रकरणानुग्रहः कथमित्याशङ्क्याह—**स त्विति** । कौण्डपायिनप्रयोगमध्ये प्रतिप्रसवकरणात्प्रकरणपाठो युक्त इत्याशयः ।

अस्मिन्पक्षे प्रकरणपाठोपपत्तावपि तद्व्यापाराभावात्प्रकरणाननुग्रहेणापरितोषात्सिद्धान्ते चाग्निहोत्रादिसंज्ञानां षण्मासपरिमितानां षण्णां षण्मासपरिमितसोमयागसहितानां सम्वत्सरपरिमितमत्र प्रयोगवचनेन फलविधिसूचनार्थं स्वमतमाह—अथ वेति। न चान्यसाहित्यमात्रेणान्यत्वापत्तिरित्याह—न हीति। नन्ववगतफलस्याग्निहोत्रादेर्नराकाङ्क्षत्वात्फलान्तरान्वयानुपपत्तेः फलान्तरान्वयादेवान्यतापत्स्यतइत्याशङ्क्याह—न चेति। ननु कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वादित्यत्र करणस्य क्रत्वन्तरगमनविधिनिषेधान्न पूर्वस्याग्निहोत्रादेः कौण्डपायिनान्तःपातो युक्त इत्याशङ्क्याह—न चेति। अतिदेशः क्रत्वन्तरान्वयासम्भवेऽप्युपदेशतोऽन्वयाविरोधः स्वशब्दगिरोक्तः। पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति।

यथाभाष्यं सिद्धान्तं दूषयितुमुपन्यस्यतीति पूर्वत्रासम्भव्युपसल्लक्षणगुणरूपेण हेतुना भिन्नतेत्यर्थः। श्लोकं व्याचष्टे—यदि हीति। स्वार्थोपसदभावेऽपि पश्वङ्गपरिधिप्रहरणस्य हारियोजनकाललक्षकत्ववत् परार्थानामप्युपसदामग्निहोत्रादिकाललक्षणकृतोपपत्तिमाशङ्क्य—परार्था वेत्युक्तम्। हारियोजनस्य ज्योतिष्टोमावयवत्वात्परिधिप्रहरणस्य पशुद्वारा ज्योतिष्टोमाङ्गत्वात्—एकप्रयोगवचनग्रहणाद्युक्तम्। काललक्षकत्वम्, न त्विहैव प्रयोगवचनग्रहणमस्तीत्याशयः। एकप्रयोगवचनग्रहणाभावेऽपि दर्शपूर्णमासयोः सोमकाललक्षणकत्ववदुपपत्त्याशङ्कानिराससूचनार्थो वाशब्दकृतः। दर्शपूर्णमासस्य सोमाधिकरणप्रतिपत्त्या काललक्षणा युक्ता, उपसदां तु क्रत्वन्तरमध्यपातित्वात्क्रत्वन्तरप्रयोगमध्ये च क्रत्वन्तरमध्यपातित्वात्क्रत्वन्तरप्रयोगमध्ये च क्रत्वन्तरनिषेधादग्निहोत्राद्यधिकारप्रतिपत्त्यर्थत्वेन काललक्षणार्थत्वानुपपत्तेः क्रमप्रतिपत्त्यर्था लक्षणा वाच्या।

न च भिन्नप्रयोगवचनगृहीतानां क्रमोऽस्तीत्याशयः। ता इत्यनेनाग्निहोत्राद्यङ्गत्वेनोपसद्विधिरभिप्रेतः। प्रति प्रसवेऽग्निहोत्राद्यङ्गत्वाद्विधेः सत्रैकदेशत्वे चोपसदुत्तरकालत्वस्यापि सोमयागवत्प्राप्तेरविधानान्न वाक्यभेदोऽस्तीत्याशङ्क्याह—तस्मादेवेति। अङ्गत्वाविधानेऽप्युपसदुत्तरकालत्वस्य प्रतिप्रसवेऽवश्यविधेयत्वान्निर्ज्ञातसायमादिकालत्वेन च सत्रत्वोपाधिककालाग्रहणात्सत्रैकदेशत्वेऽपि विधेयत्वावगतेर्वाक्यभेदोऽपरिहार्य इत्याशयः। कर्मान्तरत्वेऽपि तर्हि नामातिदेशतो निर्ज्ञातकालत्वात्तस्य च प्रयोगवचनाद् बलीयसश्चोदकादपि बलीयस्त्वेन सत्रप्रयोगवचनेनोपसदुत्तरकालत्वाग्रहणादनेकार्थविधिः स्यादित्याशङ्क्याह—कर्मान्तरेति। उपसंहरति—तस्मादिति।

दूषयितुम्—आरभते इदं त्विति। वाक्यभेदाख्यप्रसिद्धभेदकान्तरापत्तिदोषेऽभिहिते, वाक्यभेदोक्त्या 'चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्यते'त्यनेन गुणस्यानेकात्मकत्वनिमित्तपूर्वत्रासम्भवलक्षभेदकत्वहेतूक्तेनं भेदकान्तरापत्तिरित्याशङ्क्य—अथ वेत्युक्तम्। प्रकरणान्तरानवकाशमुपपादयति—तथा हीति। दर्शपूर्णमासाद्युदाहरणव्यापकत्वादपि न वाक्यभेदो भेदहेतुरित्याह—किं चेति। सत्रैकदेशत्वेनाग्निहोत्रादिविधावुपसदुत्तरकालसोमरूपयागसत्रैकदेशसाहचर्यणाग्निहोत्रादेरपि सत्रैकदेशस्य तदुत्तरकालत्वप्राप्तेरग्निहोत्रेऽपि वाक्यभेदस्य शक्यपरिहारत्वं शक्त्या सूचितम्। श्लोकं व्याचष्टे—मासमिति।

न चोपसदोऽग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासयोश्चेति भाष्यपर्यालोचनमात्रेणानुषङ्गमाशङ्कते—तत्रेति। निरस्यति—तदिति। श्लोकं व्याचष्टे—मासमिति। न चोपसदोऽग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासयोश्चेति भाष्यपर्यालोचनमात्रेणानुषङ्गमाशङ्कते—तत्रेति। श्लोकं व्याचष्टे—तत्रेति। अनुषङ्गवादिनमुपहसति—यस्त्विति। उपहासाङ्गं प्रति वेदाननुज्ञातोपसदावृत्त्यनौचित्यत्वादनिष्टापत्तिमाह—तत्र त्विति। क्त्वाप्रत्ययस्य पूर्वकालमात्रवाचित्वादग्निहोत्रात्प्राक् कृतानामुपसदां दर्शपूर्णमासादिपूर्वकालत्वोपपत्तेर्नानुषङ्गेण वृत्त्यापत्तिरिति शङ्कते—तथेति। सर्वत्रानुषङ्गस्य यत्प्रयोजनम्, सर्वेभ्यः प्रागनुष्ठानं तत्संपादनमित्यर्थः। शब्दोच्चारणमपि तदर्थमुपसद्वत्सकृदेव स्थितम्। सदनुषङ्गलभ्यं सर्वेषामग्निहोत्रादीनामुपसदुत्तरकालत्वबोधलक्षणमुपकारं करिष्यतीत्यनुषङ्गानर्थक्यमिति परिहरति—तथा सतीति। कथमित्यपेक्षायां पाठक्रमानुरोधेनेतरेषामग्निहोत्रोत्तरकालतोक्ता। यथाभाष्यं सिद्धान्तव्याख्यादूषणमुपसंहरति—तस्मादिति।

स्वमतेन सिद्धान्तमुपक्रमते—इतीति। श्लोकं व्याख्यास्यन्प्रकरणान्तरोक्तिं तावत्प्रकृतबुद्धिविच्छेदाशयत्वेन व्याख्यातुमाह—इह तावदिति। अनुपादेयान्वये कर्मणो विधेयताभेदहेतुत्वस्यासिद्धावस्थत्वात्केनापीत्यनवक्लृप्तिः अतिरात्रइत्यादौ त्रिपरिवृत्तिसद्भावे प्रकरणान्तरस्य धात्वर्थभेदकत्वाभावात्प्रकरणान्तरं सदप्यनुपयोगीत्यर्थः। प्रकरणान्तरोक्तेश्च प्रकृतबुद्धिविच्छेदाशयोत्तरसूत्रे स्पष्टयिष्यतइत्याह—तथा चेति। श्लोकं व्याख्यातुमुपक्रमते—सर्वत्र चेति। व्याचष्टे—तत्रेति। प्रदेशान्तरस्थे कर्मणि प्राप्तिवुद्ध्यभावादुपादेयस्यापि गुणस्याशक्यविधित्वाशङ्कोद्देशोक्त्या निरस्ता। स्वभावतः प्राप्तिवुद्ध्यभावेऽपि एकोद्देशेनेतरोपादानं विनान्वयायोगादुपपदश्रुतौ च कर्मानुवादाकाङ्क्षणात् 'यत् जुह्वति'[1] तदाहवनीय'इत्युद्देशात्प्राप्तिबुद्धिः सम्भवतीत्याशयः। यस्मिन्देशे काले वा कर्म चिकीर्ष्यते, तस्मिन्देशाद्यनुपादेयपञ्चकस्यापादयितुमशक्यत्वाद्देशाद्यन्वये तदुद्देशेनैव कर्मविधेयमित्युक्तं। तथाप्यन्यार्थेन विधेयत्वात्समादिविधिवन्न कर्मभेदापत्तिरित्याशङ्क्य—परोद्देशेन चेत्याद्युक्तम्। समादावपि विधिसामर्थ्यात्कर्मान्तरे बुद्धिर्भवन्ती बलीयस्या विपरिवृत्त्या वार्यते। तदभावे विशिष्टविध्युपपत्तेर्न भेदबुद्धिर्बाधितुं युक्तेत्याशयः।

एतदेवरूपकोक्त्या विवृणोति—एवं हीति। सामान्यन्यायमुक्त्वा प्रकृते योजयति—तदिहेति। ननु सन्निधेर्यद्वृत्तयोगलक्षणस्य चोद्देशस्य प्राप्तिबुद्धिहेतोरभावेऽपि नामधेयात्प्राप्तिबुद्धिर्भविष्यतीत्याशङ्कते—ननु चेति। ननु नाम्ना पूर्वकर्मणि बुद्धिस्थीकृतेऽपि नामैक्यस्यानैकान्तिकत्वेन तदेवेदमिति तत्त्वप्रत्यभिज्ञाभावान्नोत्पत्तिः प्रतिबद्धुं शक्येत्याशङ्क्याह—ततश्चेति। बुद्धिस्थत्वेऽपि प्रत्यभिज्ञानानाम्युपगमे सन्निधानेऽप्यप्रत्यभिज्ञापत्तेर्बुद्धिस्थत्वमात्रेण प्रत्यभिज्ञाया वक्तव्यत्वात् नामापि प्रत्यभिज्ञाहेतुत्वादुत्पत्तिं प्रतिबध्नातीत्याशयः। यतश्च नाम्नो अप्युपनयनशक्तिरस्तीति, ततश्चेत्यनेन परामृष्टान्तरार्थं विवृणोति—यत्रेति।

---

१ जुहुयादिति २ पु० पा०।

सन्निधेस्तावद्दौर्बल्येऽप्यविलक्षणकर्मोपस्थापकत्वात्प्रत्यभिज्ञाहेतुतायुक्तेति परिहर्त्तुमारभते—**उच्यतइति**। श्लोकं व्याचष्टे—**सन्निधाने हीति**। नाम्नस्तु पूर्वकर्मोपस्थापकत्वस्य पूर्वकर्मवाचित्वनिमित्तकत्वादाख्यातस्य च पूर्वकर्मविषयत्वं विना नाम्नः पूर्वकर्मवाचित्वानवधारणात्पूर्वकर्मोपस्थापकत्वानुपपत्तेर्नोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वं सम्भवतीति परिहरति—**नामधेयं पुनरिति**। अभ्युपेत्याप्युपस्थापकत्वं भावनावाचित्वाभावात्तदुपस्थापकत्वं न सम्भवतीत्याह—**किं चेति**। श्लोकं व्याचष्टे—**सामानाधिकरण्येन हीति**। वाक्यार्थत्वात् प्रधानभूता भावना—**प्रयोजनशब्देनोक्तेति सूचनायेतीत्युक्तम्**। परमार्थतस्तु वैलक्षण्याद्धात्वर्थो अपि नोपस्थाप्यतइत्याह—**अथ वेति**।

नन्वाख्यातोक्तरूपानुपस्थापने अपि नित्याग्निहोत्रविधिस्थनामोक्तस्य सत्त्वरूपस्योपस्थापनं भविष्यतीत्याशङ्क्यां विधिविषयीकृतस्य रूपस्योपस्थापनीयत्वात् भावार्थाधिकरणन्यायेन च धात्वर्थस्य धातुना विधिविषयीकरणान्न नाम्नोपस्थापनं सम्भवतीत्येवं निरस्यन् श्लोकं व्याचष्टे—**असत्त्वेति**। द्रव्यशब्देन सत्त्वशब्दं निष्पन्नरूपवाचितया व्याख्याय, तदुपपादनार्थम्—**लिङ्गेत्युक्तम्**। लिङ्गसंख्यवाचिन्याः सुपः प्रातिपदिकपरत्वस्मृतेस्तस्य च प्रातिपदिकार्थः सत्तेति सत्त्ववाचित्वस्मृतेर्लिङ्गसंख्यान्वयार्हत्वेन प्रातिपदिकत्वात्सत्त्ववाचितेत्याशयः।

नन्वसत्त्वभूतस्य धात्वर्थस्य धातुना विधिविषयीकृतस्य नाम्नानुपस्थापनाद्भेदे अप्यभ्युपगम्यमाने 'अति रात्रश्चतुर्विंश' इत्यादावाख्याताश्रुतेरसत्त्वभूतधात्वर्थानुपादानात् सत्त्वभूतस्यैव धात्वर्थस्यातिरात्रः कार्यश्चतुर्विंशः कार्य इत्यादिविधिपदाध्याहारेण नाम्ना विधिविषयीकृतस्य प्रकरणान्तरे अपि नाम्नोपस्थापनसम्भवादकर्मान्तरत्वापत्तेः प्रकरणान्तरोक्तिरनर्थिका स्यादित्याशङ्क्याभ्युपगमेन तावत्परिहरति—**यत्र त्विति**। 'अवभृथं यन्तीत्यादावाख्यातश्रुतावसत्त्वभूताया भावनाया विधिविषयीकृताया नाम्नानुपस्थापनात्प्रकरणान्तरेण भेदसिद्ध्यर्थत्वात्प्रकरणान्तरोक्त्यर्थवत्त्वशङ्कानिरासार्थम्—**भावना वेत्युक्तम्**। शुद्धाया भावनाया विधिविषयत्वायोगात्तदनुरञ्जकस्य च यागाख्यधात्वर्थस्य 'वारुणेनैककपालेनावभृथं यन्ती'ति वारुणशब्दोक्तद्रव्यदेवतान्वयप्रकल्पितेन यजिना भावनानुरूपेणोक्तावपि प्रकरणान्तरे यज्यभावेनासत्त्वभूतधात्वर्थानुरक्तात्मना भावनानुक्तेर्धात्वर्थाधीननिरूपणत्वाच्च भावनायास्तद्भेदं विना भेदो न युक्त इत्याशयः। पूर्वकर्मोपस्थापनसम्भवेऽनुपादेयान्वयसहकृतस्यापि प्रकरणान्तरस्य भेदकत्वं नास्तीत्येकेनेत्यनेनोक्तम्। असत्त्वभूतधात्वर्थानुपादाने तावदुदाहरणमाह—**तद्यथेति**। गवामयने 'प्रायणीयसञ्ज्ञमतिरात्रसंस्थं प्रथममहश्चतुर्विंशसञ्ज्ञं च द्वितीयं' पृष्ठाभिप्लवसञ्ज्ञाश्च षडहा विहिताः। प्रकरणान्तरे अतिरात्रइत्यादिवचनेनोपस्थाप्य 'यं कामयन्ते तमेतेनाप्नुवन्तीत्यादिवचनान्तरेण फले विधीयन्तइत्यर्थः।

एकस्य शब्दस्य पूर्वकर्मोपस्थापने अन्यत्र च विधौ व्यापारायोगादेकेनोपस्थाप्य—**अपरेण विधीयतइत्युक्तम्**। असत्वभूतधात्वर्थानुरक्तात्मना भावनानुरक्तावुदाहरणमाह—**यथा चेति**।

'वारुण्या निष्कासने तुषैश्चावभृथं यन्ती'ति वरुणप्रघासप्रकरणस्थेनावभृथशब्देन सौमिकमवभृथाख्यं कर्मोपस्थाप्य निष्कासाख्यऽङ्गसंस्कार्ये फलोक्त्युपलक्षिते यन्तीत्यवभृथानुष्ठानार्थप्राप्तगमनानुवादिप्रत्ययानुग्रहार्थधातुपरेण विधीयतइत्यर्थः। तृतीयया तु निष्कासस्य साधनत्वोक्तावपि, निष्कासस्य वारुण्यामिक्षायागोपयुक्तद्रव्यशेषत्वात् तुषाणां चाग्नेययागाङ्गद्रव्यशेषत्वात् चित्सोमलिप्तं तेनावभृथं यन्तीतिवत्प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयतीतिवच्च प्रतिपाद्यत्वरूपसंस्कार्यत्वाविरोधः। प्रकरणान्तरोक्त्यर्थत्वाय भेदपक्षमाह—यदा त्विति। संस्कार्योपलक्षणायादिशब्दः। नाम्ना पूर्वकर्मोपस्थानादुत्पत्तिप्रतिबन्धमाशङ्क्यो—त्पत्तीत्युक्तम्। विधिविपरिवृत्तिरेवोत्पत्तिं प्रतिबध्नाति, न स्वरूपविपरिवृत्तिः। स्वरूपप्राप्तावपि दध्यादिवत् विधेयत्वोपपत्तिरित्याशयः। नाम्नोत्पत्तिविधिसहचरितेनोत्पत्तिविधिविपरिवृत्तिमाशङ्क्य, साक्षाद्विधिविपरिवृत्तिः प्रतिषेधिका, नान्यद्वारेति सूचयितुम्—बलीयस्येत्युक्तम्। यावद्विधित्वमनिवार्यमाणं तावत्सर्वं भिनत्ति। न त्वसत्त्वभूतधात्वर्थावच्छिन्नभावनामेव केवलमिति यावच्छब्दार्थः।

भाव्यनिष्ठत्वाद्भावनाया धात्वर्थभेदं विनापि प्रत्यभिज्ञानाभावे भाव्यभेदाद्भेदोपपत्तेर्धात्वर्थप्रत्यभिज्ञामात्रेणोभयाभेदायोगाद्दध्यादिवच्च विधेयत्वानपेक्षयागादिस्वरूपाप्रासेर्विधिविषयत्वविपरिवृत्तिनिरपेक्षस्वरूपविपयपरिवृत्त्ययोगान्नाम्ना विधिविषयभूतधात्वर्थविपरिवृत्तेरेव कृतत्वेनोभयभेदस्याप्ययोगात्पक्षद्वयापरितोषेण भावनामात्रभेदं, धात्वर्थभेदं च स्वमतेनाह—परमार्थतस्त्विति। आसनमुपवेशनमुपायश्चोपगमनं तौ वाच्यतया विद्येते ययोर्धात्वोस्तत्परप्रत्ययचादिते कर्मणि तस्यैव पूर्वविहितस्य धात्वर्थस्य नाम्नोपादानाद्धात्वर्थं विभिद्यतइत्युक्तेऽग्निहोत्रादिवन्नाम्नानुपस्थापनमाशङ्क्य तद्वैषम्याय धात्वर्थश्रुत्युक्तिः।

श्लोकं व्याचष्टे—नामेति। विधिपदानपेक्षस्यापि नाम्नो विधिविषयभूतधात्वर्थोपस्थापनोपपत्तिसूचनार्थो मात्रशब्दः। प्रकरणान्तरस्थस्यापि यागस्य प्राग्विधिविषयीकृतत्वं विवक्षित्वा प्राकृतत्वोक्तिः। सत्रशब्दस्योपलक्षणार्थत्वादवभृथाख्ययागाभेदेऽपि च भावनाभेदात्तथावभृथः साम्यादि७-३-ति सप्तमाधिकरणे वक्ष्यमाणसौमिकावभृथभावनाधर्मातिदेशाविरोधात्करणत्वेन वावभृथस्यातिदेशायोगेऽपि स्वशब्देनोपदिष्टस्य स्वधर्मसन्निधापकत्वात्काम्यगुणाश्रयभूताग्निहोत्रादिवदतिदेशनिमित्तमभिप्रेत्यावभृथनाम्नोऽतिदेशकत्वोक्त्युपपत्तेर - रवभृथेऽप्ययमेव प्रकारः। अतो नाम्नोपस्थापनाद्धात्वर्थाभेदेऽपि भावनाभेदस्य प्रकरणान्तरहेतुकत्वात्प्रकरणान्तरोक्तिरर्थवतीत्याह—तस्मादिति। भाष्यमपि गमयति—भाष्येति। नन्वनुपादेयान्वयसहकृतस्यासन्निधेर्भेदहेतुत्वेऽथोच्येतेत्यादिभाष्येण वाक्यभेदहेतुत्वोक्तिरयुक्ता स्यादित्याशङ्क्याह—अथेति। न च 'यत्सभित्सम्बन्धेन क्रियतइत्यभ्यासाधिकरणभाष्यं समिदादिपदस्य देवतानभिधायित्वाद् गुणहेतुकभेदाभावेऽप्यभ्युपेत्यवादत्वेन यथा समर्थितम्। तथेदमपि समर्थनीयमित्यर्थः ॥२४॥

इत्येकादशं प्रकरणान्तराधिकरणम्।

भा० प्र०—गुण के कारण कर्म का भेद होता है, इस नियम के अनुसार उदाहरण और प्रत्युदाहरण का विश्लेपण कर द्वितीय अध्याय के द्वितीय पाद के नवम अधिकरण में अर्थात् २३वें सूत्र में "गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात्" (२।२।२३) इस सूत्र से यहाँ तक पर्यालोचना की गई है। प्रकृत में प्रकरण भेद से जिन कर्मों का भेद होता है—वही दिखाया गया है। "कुण्डपायिनामयन" नामक सत्र का=यज्ञविशेष के प्रकरण में श्रुति में कहा गया है "मासम् अग्निहोत्रं जुहोति", "मासं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" इत्यादि। इन स्थलों में क्या गुणविधि है या कर्मान्तिर का उपदेश है—यही संशय है। इस पूर्वपक्षी का कहना है कि इन वचनों से नियत अर्थात् नित्य अग्निहोत्र आदि कर्म में मासादिरूप काल का ही विधान किया गया है, अतः यह गुणविधि है। कारण, "अग्नि-होत्रं जुहोति" इत्यादि वाक्य में जो अग्निहोत्र आदि कर्मों का ही विधान किया गया है—यह पूर्व में स्थापित किया गया है, प्रकृत में इस वाक्य में वही नित्य अग्निहोत्र आदि कर्म में अप्राप्त मासादि कालरूप गुणविहित होता है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि "प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम्"—जो वाक्य प्रकरणान्तर में निबद्ध जिस प्रकरण में पढ़ा जाता है, वही वाचक होगा। "मासमग्निहोत्रम्" इत्यादि वाक्य अयन प्रकरण में पठित होने से अन्य कर्म का ही विधायक है। वाक्यभेदरूप दोष की सम्भावना से इसको गुणविधि नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि, इस स्थल में "उपसद्भिश्चरित्वा अग्निहोत्रं जुहोति" इस प्रकार का वचन रहने से केवल सामरूपगुण का ही विधान नहीं हो सकता है, अपि तु साम एवम् उपसत्=होमविशेष इन दो गुणों का विधान होगा, कारण, अग्निहोत्र या दर्शपूर्णमास में उपसत् गुण की प्राप्ति नहीं है, एवम् अन्य वचन के द्वारा विहित कर्म में एक साथ अनेक गुण का विधान वाक्यभेद के बिना सम्भव नहीं है। इसलिए, यह गुणविधि नहीं हो सकती है। इस प्रसङ्ग में यदि कहा जाय कि गुणविधि न होने पर भी इसको स्वतन्त्र कर्म माना जायगा, किन्तु इसको स्वतन्त्र कर्म मानने में क्या प्रमाण है? अन्य प्रकरण होना ही इसके कर्मभेद होने में कारण है। क्योंकि, यह अग्निहोत्र आदिक प्रकरण नहीं है, वरन् अयन का=यज्ञविशेष का ही प्रकरण है, क्योंकि, जहाँ अयन के सम्बन्ध में आलोचना है, उसी स्थल में कहा गया है। प्रकरणान्तर का अर्थ पूर्व कर्म का असन्निधान है। पूर्व कर्म के समीप में कुछ कहे जाने पर उसके सन्निवेश में पूर्व कर्म की ही प्रत्यभिज्ञा रहती है। ऐसी स्थिति में गुणविधि का प्रसङ्ग होता है। किन्तु, इस स्थल में "मासम् अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि वाक्य पूर्वोक्त अर्थात् "अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि वचन में कथित अग्निहोत्रादि कर्म के सन्निधान में नहीं कहा गया है, अतः, सन्निधि न रहने से पूर्व कर्म की प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है और ऐसा न होने पर पूर्व कर्म के साथ अभि-न्नता का बोध भी नहीं हो सकता है। ऐसी स्थिति में प्राप्त कर्म में गुणविधि भी नहीं हो सकती है, इसलिए इस स्थल में प्रकरणान्तरत्व के कारण कर्मभेद होता है। इस

अधिकरण का यह प्रयोजन है कि पूर्वपक्षी के मत के अनुसार अग्निहोत्र में यावत् जीव आदि काल के साथ मास आदि काल का विकल्प एवं "कुण्डपायिनामयन" आयन नामक कर्म में अग्निहोत्र का अनुष्ठान नहीं करना होगा। किन्तु सिद्धान्ती के मत में विकल्प भी नहीं है और "कुण्डपायिनामयन" नामक कर्म में अग्निहोत्र का अनुष्ठान भी करना होगा।

प्रकरणान्तरे=पूर्वकर्म के असन्निधान में अर्थात् पूर्वोक्त कर्म की समीपता न होने से, "प्रयोजनान्यत्वम्" = प्रयोजन का अर्थात् धात्वर्थ का अर्थात् कर्म का अन्यत्व अर्थात् भेद होगा।

यह ग्यारहवाँ प्रकरणान्तराधिकरण है ॥ २४ ॥

[१२] फलं चाकर्मसंनिधौ ॥२५॥ सि०

शा० भा०—अनारभ्य किञ्चिच्छ्रूयते—'आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद्रुक्कामः, अग्नीषोमीयमेकादशकपालं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः, ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्प्रजाकाम' इति। अत्र संदिह्यते—किं प्राकृतेष्वाग्नेयादिषु फलं विधीयते, उत प्राकृतेभ्यः कर्मान्तराण्येतानि। किं प्राप्तम्? प्राकृतेषु फलविधिरिति। कुतः? विदिता आग्नेयादयः प्रत्यभिज्ञायन्ते। तस्मात्तेषामनुवादः फलसम्बन्धार्थ इति। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—फलं च भेदकमकर्मसंनिधौ श्रूयमाणम्। कथम्? अनुवादे सति न शक्येत फलं विधातुम्, विधायकस्याभावात्। न ह्यविधीयमानो ह्युपायो[1] रुचो भवतीति गम्यते। अपि च रुक्कामेऽत्र विधीयमाने कामस्यानित्यत्वादाग्नेयादीनां नित्यत्वात्संबन्धो नावकल्पेत। एवं सर्वत्र। तस्मात्कर्मान्तराणि ॥ २५ ॥

इति द्वादशं फलसंस्कार्ययोः कर्मभेदकत्वाधिकरणम् ॥ १२ ॥

एवं षडपि भेदहेतवः पर्यवसिताः। संप्रति प्रकरणान्तरस्यैव प्रकारान्तरप्रदर्शनं क्रियते। यो नाम प्रकरणान्तरकृतमेव कालसंबन्धकृतं वा भेदं मन्यते नासंनिधानामुपादेयवस्तुसंबन्धमात्रकृतम्, त प्रति विस्पष्टीकरणार्थं 'फलं चाकर्मसंनिधौ' इत्यारभ्यते। [2]तत्त्वमेतत्सप्तमं भेदाधिकरणम्। तत्र देशनिमित्तयोरनुपादेयत्वं सुज्ञानमिति, पूर्वाधिकरणे सिद्धत्वादिहानुदाहरणम्। पूर्वत्रैव त्वेवमादि दर्शयितव्यम्। तद्यथा—'सत्रायाऽऽगूर्य विश्वजिता यजेत' 'साम्युत्थाने विश्वजित्' इत्यादीनि निमित्ते। देशेऽपि 'दक्षिणेन तीरेण सरस्वत्या आग्नेयेनाष्टाकपालेन'

1. ब. अभ्युपायो। 2. क. तत्त्वेतत्।

'शम्यापरासमीयात्' इत्यादीनि। यद्यप्यत्रातिरात्रादिवदेव यज्यश्रवणम्, तथाऽपि प्राग्यज्यनुमानात्तद्धितान्तपदयुक्तवाक्यापरिसमाप्तेर्वाक्यान्तरस्यानपेक्षणात्कर्मान्तरत्वम्।

फलसंस्कार्ययोस्तु तुल्यहेतुत्वादिह विचारः। तत्र फलमुदाहृतमेव। संस्कार्यमप्युदाहर्तव्यं 'त्रैधातवीया[1] दीक्षणीया' इति। यजमानसंस्कारार्थत्वेनोपादानात्। **अनारभ्य किंचिदिति**—प्रकरणान्तरावरोधाभावज्ञापनार्थम्। तत्र यागोद्देशेनाऽऽहवनीयादिवत्फलं विधेयम्। शक्यं हि तत्पुरुषेण दर्शपूर्णमासस्थेनापि कामयितुमिति मत्वाऽऽह—**प्राकृतेषु फलविधिरिति**। सिद्धान्तवादी तु स्वर्गकामाधिकरणसिद्धं 'प्रत्यर्थं चाभिसंयोगात्' इति फलोद्देश्यत्वं मत्वा वदति **न शक्यते फलं विधातुमिति**। विधीयमानं क्रियाङ्गत्वादफलमेव प्राप्नोति। क्रियाऽपि वा विधीयमाना तादर्थ्यं प्रतिपद्यमाना निष्फलैव स्यात्। न चोभयोरुद्दिश्यमानयोः उपादीयमानयोर्वा सम्बन्धोऽस्तीत्येकान्तेन फलमुद्दिश्य कर्म विधातव्यम्। ततश्च पूर्ववदेव सिद्धो भेदः।

एतेन संस्कार्यमपि व्याचक्षीत।

किं च—न चानित्यस्य कामस्य नित्यैरग्न्यादिकर्मभिः।
कथंचिदपि सम्बन्धः साध्यसाधनरूपतः॥

तस्मात्कर्मान्तराणीति सिद्धम्॥ २५॥

अथ द्वादशमाग्नेयादिकाम्येष्ट्यधिकरणम् ॥१२॥

न्या० सु०—ननु 'तदिह षड्विधः कर्मभेदो वर्तिष्यत' इति भाष्ये षण्णामेव भेदहेतुत्वप्रतिज्ञानात्तेषां च पर्यवसितत्वात्किमर्थमेतत्सूत्रमित्याशङ्क्याह—**एवमिति**। सर्वभेदहेतुसमासावपि प्रकरणान्तरस्यैवानुपादेयान्वयसहकृतासन्निन्निलक्षणप्रकारविशेषोक्त्यर्थमेतत्सूत्रमित्यर्थः। अन्तरशब्दस्य भेदवाचित्वाद्भेदशब्दस्य च विशेषवाचित्वात्प्रकारान्तरशब्देन प्रकारविशेषोक्तिः। एतदेव विवृणोति—**सत्रेति**। कालान्वयवाक्योदाहरणानभिव्यक्तावपि कालस्य कथं चित्कर्मानुरोधेनापादनाशक्तेरनुपादेयतया निःशङ्कत्वान्निमित्तस्य तु साम्युत्थानादेरापादयितुमपि शक्यत्वात्, देशस्यापि सरस्वतीदक्षिणतीरादेरुत्तरतः सरस्वतीप्रवाहनयनापादनशक्तेः, फलसंस्कार्ययोस्तूपादेयत्वाशङ्काया वार्त्तिकएव वक्ष्यमाणत्वात्कालान्वयवाक्योदाहरणभ्रान्तिः फलं च भेदकमिति भाष्यात् कारणान्तरव्युत्पादनाशङ्कां निराकर्तुमाह—**न त्विति**। प्रकरणान्तरस्यानुपादेयान्वयानपेक्षस्य 'द्वाशाहीनस्येत्या'दौ भेदकत्वादर्शनात्कथं भेदकतेत्याशङ्कानिरासार्थत्वेन प्रकरणान्तरस्य भेदकत्वे फलाद्यनुपादेयमपि सहकारि, न तन्निरपेक्षं प्रकरणान्तरं भेदकमित्युक्ते, कथं तस्य सहकारितेत्यपेक्षायामहीनादि-

---

१. क. त्रैधातव्या।

वत्सन्निधिहेतुभूतस्योद्देश्यत्वादेव कथं शब्दोपबन्धस्यानुपादेयान्वये कर्मणोऽसत्त्वादित्यकर्मसन्निधिशब्देनोक्तमित्येवं सूत्रव्याख्यानार्थं तद्भाष्यमित्याशयः एवं चासन्निधेरेव भेदहेतुत्वावधारणान्नाम्ना धात्वर्थोपस्थापनेऽप्यनुपादेयान्वये भावनोपस्थापनहेतोः कस्य चिदभावाद्भावनाभेदं सूचयितुं तदुदाहरणस्यानारम्याधीतस्याभावात्प्रकरणान्तरशब्देनासन्निधिलक्षणयोच्यतइति गम्यते ।

नन्वनुपादेयमात्रान्वयकृतभेदोक्त्यर्थत्वेऽस्य सूत्रस्य फलवद्देशनिमित्तयोरप्युपादेयतोदाहरणपूर्वं कस्मान्नोपपादितेत्याशङ्क्याह—तत्रेति । दक्षिणात्वस्य स्वभावसिद्धदेशविशेषोपलक्षणार्थत्वादापाद्यस्य चोपलक्षणत्वायोगाद्देशविशेषोपलक्षणार्थत्वादापाद्यस्य चोपलक्षणत्वायोगाद्देशस्योपादेयत्वाशङ्कानुपपत्तेः । प्राक् सिद्धिं च विना निमित्तत्वायोगान्निमित्तस्यापि कर्मतन्त्रापाद्यत्वलक्षणोपादेयत्वशङ्कानुपपत्तेर्नेह देशनिमित्त उदाहृत इत्यर्थः । पूर्वसूत्रार्थस्पष्टीकरणार्थत्वेऽस्य सूत्रस्याधिकरणभेदायोगात्पूर्वाधिकरणेऽनुपादेयान्वयस्य भेदकत्वे व्युत्पादिते, फलादेरुपादेयत्वात्पूर्वाधिकरणविषयत्वं नास्त्यनुपादेयत्वाद्वास्तीति पूर्वाधिकरणविषयविवेकार्थैतत्सूत्रमिति व्याख्यान्तरं भाष्यानुसारार्थं सूचयितुमधिकरणशब्दः । पूर्वाधिकरणे तर्हि कस्माद्देशादिवाक्यं नोदाहृतमित्याशङ्क्य कालवाक्योदाहरणस्योपलक्षणार्थत्वाद्व्याख्यातृभिर्दर्शनीयमित्याह—पूर्वत्रैव त्विति । दर्शयति—तद्यथेति । एकेन सङ्कल्पितसत्रानारम्भस्य निमित्ततोच्यते, परेणाप्यारब्धसमाप्तेरिति दर्शनायोदाहरणद्वयम् । सामिशब्दोऽर्द्धवाची । शम्याया दूरे प्रक्षेपो यस्मिन्देशे स शम्यापरासः । न चाग्नेयवाक्येऽतिरात्रादिवाक्यवद्यज्यश्रुतेरसत्वभूतधात्वर्थानुपादानादाग्नेयशब्देन प्रकृतिभूतदार्शपौर्णमासिकाग्नेययागोपस्थापनोपपत्तेर्भावनाभेदेऽपि धात्वर्थभेदो नास्तीत्याशङ्कां निराकर्त्तुम् । आग्नेयशब्दस्य नामधेयत्वाभावात्तत्प्रकृतयागोपस्थापकत्वं सम्भवतीति परिहारसम्भवेऽपि प्रौढ्या नामधेयत्वेऽप्यनुपस्थापकत्वं वक्तुं यजि विना वाक्यासमाप्तेरसमाप्तस्य च वाक्यान्तरानन्वयात् वाक्यान्तरस्थयज्यपेक्षानुपपत्तेरवश्यकल्प्येन यजिना [1]नामार्थविलक्षणसत्त्वभूतधात्वर्थप्रतीतेर्नोपस्थापनं भवतीति परिहारमाशङ्कापूर्वमाह— यद्यपि चेति । धात्वर्थावच्छिन्नभावनाभेदोक्त्यर्थं कर्मान्तरशब्दः ।

संस्कार्यत्वाधिकरणे विचार्यमित्यपेक्षायामाह—फलेति । प्राधान्यलक्षणस्योपादेयत्वशङ्कानिरासहेतोर्द्वयोस्तुल्यबलत्वात्फलोदाहरणेन संस्कार्योदाहरणमप्युपलक्षितमित्याशयः । किं तर्हि तयोरुदाहरणमित्यपेक्षायामाह—तत्रेति । त्रैधातव्यवाक्ये संस्कार्यवाचिशब्दाभावात्कथं संस्कार्योदाहरणतेत्याशङ्क्या—यजमानेति । दीक्षणीयाकार्यं यजमानसंस्कारलक्षणार्थेन दीक्षणीयाशब्देन विशेषणभूतसंस्कार्ययजमानलक्षणेऽत्यन्तसीयतइत्याशयः । प्रकरणान्तरशब्दव्याख्यार्थत्वेनाकर्मसन्निधिशब्दव्याख्यानार्थतयानारभ्येतिभाष्यं व्याचष्टे—अनारभ्येति । किं प्राप्तमिति पूर्वपक्षभाष्याशयमाह—तत्रेति । उपनयनादिवच्चाकर्मकाल-

---

१. नामार्थंलक्षणेति २ पु० पा० ।

स्यापि संस्कारस्योपपत्तेः स्वतन्त्रविहिततयापि त्रैधातव्यया ज्योतिष्टोमादियजमान[1]: संस्कर्त्तुं शक्य इति अनेनोपलक्षिते स्वारसिकप्रवृत्तिसम्भवेऽपि अप्रवर्त्तमानं प्रत्यृतौ भार्यामुपेयादित्यादिनियमविधिदर्शनाद्याग्नेयं कुर्यातद्रुक्काम इति च विधायकस्य फलविषयत्वव्याख्योपपत्तेर्विधायकोपपत्तेर्विधायकसद्भावस्य वक्तुं शक्यत्वान्न शक्यतइति सिद्धान्तभाष्यमयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**सिद्धान्तेति**। असाधकं तु तादर्थ्यादि६-१-२ति षष्ठाद्यसिद्धान्तसूत्रेण विध्यन्यथानुपपत्त्या कामनोपबन्धाच्च स्वर्गादेः साध्यत्वप्रतीतेस्तादर्थ्येन कर्मविधावुक्ते, प्रत्यर्थं चाभिसंयोगात्कर्मतो ह्यभिसम्बन्धस्तस्मात्कर्मोपदेशः स्यादि'त्यनेनार्थ्यमानं स्वर्गादि प्रतीत्य लक्षणीकृत्योद्दिश्य तदाभिमुख्येन तत्तन्त्रतया कर्मणः समीहितस्वर्गाद्यन्वयावगतेरिति वदता फलस्योद्द्श्यत्वादपि तादर्थ्येन कर्मविधिरिति वक्ष्यमाणत्वान्न कर्मतन्त्ररूपोपादेयत्वेन विधिः सम्भवतीत्याशयः।

ननूद्देश्ययोरपि देशकालयोर्विधेयत्वदर्शनान्नोद्देश्यत्वमात्रेण विधेयता निराकर्त्तुं शक्येत्याशङ्क्याह—**विधीयमानं हीति**। देशकालयोः सिद्धवत्काररूपोद्देश्यत्वेऽपि स्वारसिकप्रवृत्तिविषयत्वापादकप्रयोजनाकाररूपेणोद्देश्यत्वाभावात्स्वरूपतश्च सिद्धवत्कृत्य निर्देशेऽपि कर्माङ्गत्वेनाप्राप्तत्वाद्विधेयत्वोपपत्तिः। फलस्य तु प्रयोजनाकाररूपेणोद्देश्यत्वात् न विधेयत्वोपपत्तिरित्याशयः। विधायकस्य च फलविषयत्वाभ्युपगमे कर्मविषयत्वायोगात्तस्य निष्फलत्वं स्यादित्यभिधानार्थं न हीति भाष्यं व्याचष्टे—**क्रियापि चेति**। द्वयं तर्हि विधीयतामित्याशङ्क्याह—**न चेति**। 'यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेदित्युद्दिश्यमानयोरिव विधीयमानयोरप्यन्योन्यानाकाङ्क्षत्वेनान्वयापत्तेरवश्यमेकोद्देशेनेतरस्मिन् विधेः फलस्योक्तेन न्यायेनोद्देश्यत्वावधारणात्कर्मणो विधेयताऽवसीयतइत्याशयः। फलोद्देशेन कर्मविध्युक्तेः प्रकृतोपयोगमाह—**ततश्चेति**।

ननु फलस्योद्देश्यतायाः स्वर्गकामाधिकरणसूत्रोक्तत्वाद्भेदहेतुत्वसम्भवेऽपि संस्कार्यस्योद्देश्यतायाः क्व चिदनुक्तत्वान्न सम्भवतीत्याशङ्क्य, तथापि फलवत्संस्कारकर्मप्रतिप्राधान्याभ्युपगमाद्विधेयत्वेऽप्राधान्यापत्तेरुद्देश्यत्वावगमाद्भेदहेतुत्वमतिदिशति—**एतेनेति**। फलस्य चानुपादेयत्वाभ्युपगमे नित्यप्रयोगव्यतिरिक्ते फलकामनातन्त्रप्रयोगकल्पनानुपपत्तेर्नित्यएव प्रयोगे फलकामनाप्रसङ्गात्कामयेदिति वा श्रुतेः कर्माङ्गत्वेन कामनाविध्ययोगान्नित्यानित्यसंयोगविरोधः स्यादित्यभिधानार्थमपि चेति भाष्यं व्याचष्टे—**किं चेति**। प्रथमार्थे तसिः। तस्मादित्यधिकरणार्थोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**।। २५ ॥ इति द्वादशं सन्निपौफलादेः कर्मभेदापाकत्वाभावाधिकरणम् ॥

॥ इति द्वादशं फलसंस्कार्ययोः कर्मभेदकावाधिकरणम् ॥

भा० प्र०—"आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद् ऋक् कामः" तेज की कामना करने वाला आग्नेय अष्टाकपाल का निर्वाप करे यह श्रुति में कहा गया है। इस प्रकार के कथित

---

१. ज्योतिष्टोमादिरिति २ पु० ना० स्वयमेव यजमान इति पा०।

वाक्य प्रकृतभूत कर्म का अर्थात् दर्शपूर्णमास का आग्नेयादि याग में फल का विधेयक है अथवा उस प्रकार के प्राकृत कर्म की अपेक्षा स्वतन्त्र कर्म का ही विधान करते हैं— यह संशय होता है। इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का कहना है कि आग्नेयादि कर्म पूर्व से ही प्राप्त होने से उसमें फल का ही विधान करता है, मास कालविशेष होने से अनुपादेय है, अतः वह विधेय नहीं हो सकता। इसलिए, पूर्व अधिकरण में मास का विधान असम्भव होने से गुणविधि नहीं हो सकती है, किन्तु फल उपादेय हो सकता है अर्थात् निष्पाद्य हो सकता है तो उसी का विधान उचित है।

इस प्रकार का पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि "फलं च अकर्म-सन्निधौ" मास आदि काल के समान फल भी उपादेय नहीं हो सकता है यह कह कर उसका विधान नहीं किया जा सकता है, कारण, फल के साधन याग आदि विधेय होने से वे जिस प्रकार स्वयं फल नहीं हैं, फल को विधेय मानने पर वे भी उसी प्रकार अफल हो जायेंगे और पुरुष की कामना के उत्पादन के लिए जो शास्त्र में फल का विधान रहेगा वह भी नहीं हो सकता है। क्योंकि, सुन्दरता के बोध में स्वभावतः पुरुष की आकाङ्क्षा होने से कामना के उत्पादन के लिए भी फल विधेय नहीं है। इसीलिए अन्य कर्म की सन्निधि नहीं है और जब फल का उल्लेख है, तब फल के अनुसार आग्नेयादि कर्मान्तिर भी होंगे, अन्यथा फलश्रुति अनर्थक हो जायगी। इस स्थल में कर्म के साथ फल का सम्बन्ध अर्थापत्तिप्रमाण के अनुसार बोधित होता है और आग्नेयादि कर्म का ही विधान करता है। इसलिए "आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद् ऋक्कामः" यह अन्य कर्म का विधायक वाक्य है। "अग्नीषोमीयमेकादशकपालं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस्कामः" "ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः" इत्यादि अन्य वाक्य के सम्बन्ध में भी यही नियम समझना चाहिए।

इस प्रसङ्ग में वार्तिककार का कहना है कि फल एवं संस्कार्य्य दोनों का ही विचार इस अधिकरण में किया गया है। उनमें फल का उदाहरण भाष्यकार ने स्वयं लिखा है और संस्कार्य के उदाहरणस्वरूप "त्रैधातरीयाः दीक्षणीयाः" इत्यादि वाक्य ग्राह्य है। इस स्थल में इस वाक्य में जो संस्कार्य का उल्लेख है वह भी उदाहृत फल के समान कर्मान्तिर भेद का साधन है।

"फलं च" = फल भी कर्म का भेदक होता है, "अकर्मसन्निधौ" = कर्म की सन्निधि न रहने पर ॥ २५ ॥

यह बारहवाँ फल एवं संस्कार्य का कर्मभेदाधिकरण है ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशं सन्निधौफलादेः कर्मभेदकत्वाभावाधिकरणम् ॥

[१३] संनिधौ त्वविभागात्फलार्थेन पुनः श्रुतिः ॥ २६ ॥ सि०

शा० भा०—अस्त्यवेष्टिः—'आग्नेयोऽष्टाकपालः पुरोडाशो भवति', इत्येवमादिः। तां प्रकृत्योच्यते, 'एतयाऽन्नाद्यकामं[1] याजयेत्' इति। तत्र संदेहः—

1. ब. एतयैवान्नाद्यकामं।

किं कर्मान्तरमवेष्टेः, उतावेष्टिरेवेति। किं प्राप्तम्? कर्मान्तरमिति। उक्तेन न्यायेन। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—संनिधौ फलार्थेन पुनः श्रुतिरवेष्टेरेव, न कर्मान्तरमिति। कुतः। अविभागात्। एतयेत्येष शब्दो न शक्नोत्यवेष्ट्या[1] विभक्तं यागमन्यं वक्तुम्। संनिहितस्य प्रतिनिर्देशक एष शब्द। तस्मादवेष्टिरेवान्नाद्यकामस्य विधीयत इति। किं प्रयोजनम्। यद्यवेष्टिराग्नेयादीनि हवींषि। अथ कर्मान्तरमन्यहविष्को याग इति॥ २६॥

इति त्रयोदशं सन्निधौ फलादेः कर्मभेदकत्वाभावाधिकरणम्॥ १३॥

त० वा०—सर्वेषामेवासंनिध्यंशप्रत्युदाहरणार्थमिदमारभ्यते। फलग्रहणं प्रदर्शनमात्रम्। सर्वाणि तु देशादीन्यप्युपाहर्तव्यानीति। 'समे दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्', 'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत', 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत', 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत', 'शेषात्स्विष्टकृतं यजति' इति। सर्वत्र पूर्वाधिकरणेन देशादीनि प्रति विधीयमानत्वात्कर्मान्तरत्वं प्राप्तम्।

आह च।

विहितस्य विधिर्नास्तीत्यनुवादः प्रसज्यते।
अनूद्यमानमुद्देश्यं न चात्रोद्देशसम्भवः॥

अनूद्यमानानि त्वेकान्तेनोद्देष्टव्यानि कर्माणि। न चोद्देश्यानामुद्देश्यैः सम्बन्धोऽवकल्पते। देशाद्युद्देशेन तु विधीयमानानां कर्मणां स्वरूपानुवादकल्पनं युगपद्विध्यनुवाददोषादयुक्तम्। तस्मात्कर्मान्तराणीति प्राप्ते।

विधीयते—भिन्ने हि विधिसामर्थ्ये उत्पत्तिविनियोगयोः।
तत्र सत्यां गतावेकमसत्यां तद् द्वयं भवेत्॥

अगत्या हि तेनैवोत्पत्तिः। तेनैव च विनियोगः क्रियते। सत्यां तु गतौ विनियोजकस्योत्पत्तिविध्यर्थापत्त्यनुवादात्, अन्येनैवोत्पादितानां च विपरिवर्तमानानां विनियोगसामर्थ्यमात्रमेव ज्ञायते।

न चाप्युद्दिश्यमानत्वमनुवादत्वकारणम्।
नोपादानं विधेयत्वे प्राप्त्यप्राप्तिवशे हि ते॥

यद्यपि देशादीन्यनुपादेयस्वभावत्वादुद्दिश्यन्ते, यथाऽप्यप्राप्तत्वात्तेषामेव ज्ञायते विधेयत्वम्। उपादीयमानस्य च कर्मणस्तादृशस्यैवाऽन्येन पर्युपस्थापनादनुवादत्वम्। असंनिधाने त्वपर्युपस्थापनाद्विधिर्नोपादानमात्रादित्यविरोधः। तस्मादभेदः। विपरिवृत्तिरेव चेहाविभागशब्देनोक्ता। विशेषेण त्ववेष्टावेतच्छब्दप्रत्ययादिति।

---

१. ब. अवेष्टिविभक्तं।

केषाञ्चिन्मतस्यानुवादनिरासौ

प्रयोजने तु चोदयन्ति। कर्मान्तरेऽपि किलैतच्छब्दकृतात्सादृश्यप्रत्ययादाग्नेयादीन्येव हवींषीति, कथमन्यहविष्को याग इति। तत्त्वचोद्यम्। ज्योतिरादिवदेतच्छब्दस्य प्रस्तूयमानमुख्यार्थोपपत्तौ सत्यां सादृश्यलक्षणानुपपत्तेः। तस्मात्सुष्ठूक्तं कर्मान्तरेऽन्यहविष्को याग इति। एवमुक्तानि सापवादानि षट् भेदकारणानि।

वृत्तिमतस्योपन्यासनिरासौ

वृत्त्यन्तरे तु चत्वार्येव भेदकारणानि शब्दान्तरसंज्ञागुणफलान्युदाहृतानि। पुनःश्रुति-संख्ययोः शब्दान्तरे एवान्तर्भावात्प्रकरणान्तरस्य च फलाद्यनुग्रहमात्रार्थत्वात्। तत्त्वयुक्तमिव दृश्यते। न हि पञ्चकृत्वोऽभ्यस्तो यजतिशब्दान्तरत्वं प्रतिपद्यते। नाप्येकशेषेण तन्त्रोच्चारिताः सप्तदश प्राजापत्यशब्दाः सम्भवन्ति, शब्दैकत्वप्रत्यभिज्ञानात्। तथा चोक्तम् 'आदित्यवद्यौगपद्यम्' इति 'संख्याभावात्' इति च। वक्ष्यति चैवंजातीयकानामेकत्वम्। 'अपि वाऽव्यतिरेकाद्रूपशब्दाविभागाद्वा' इति। तस्मादेकशब्द्ये सत्येव कारणान्तराद्भेदमपश्यतः शब्दान्तरकल्पनं तत्रभवतो भाष्यान्तरकृतः। प्रकरणान्तरत्वाच्च विना फलादीनां भेदकत्वमुक्तमपि न दृष्टं 'संनिधौ त्वविभागात्' 'तत्संनिधेर्गुणार्थेन पुनःश्रुतिः' इत्यादौ। तेन प्रत्यभिज्ञाननिमित्तत्वात्फलाद्यनुगृहीतं प्रकरणान्तरमेव भेदकारणं भवेदप्युपेक्षितम्। फलं च प्रकरणान्तरान्तर्भूतत्वेन न निरीक्षितम्।

यदपि 'एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्' इत्येकत्वे हेतुविपर्ययचतुष्टयमस्य ज्ञापकमित्युक्तम्। तदपि प्रस्तुतेऽधिकरणेऽन्येषामसम्भवादिति नाऽऽलोचितम्। तस्माद्यथोक्ताः षडेव भेदहेतवः। तत्रापि तु सिद्धान्ते संज्ञाशब्दान्तरयोः गुणसंख्ययोश्च भेदो वक्तव्यः सन्नोक्त इत्यभिधीयते।

स्वरूपानभिधानत्वात्संज्ञा शब्दान्तरात्पृथक्।
व्यासज्ज्यसमवायाच्च संख्या भिन्ना गुणान्तरात्॥

संज्ञा हि द्रव्यरूपापन्नामपि क्रियामभिदधाना विच्छेदमात्राद्भिनत्ति। संख्याऽपि युगपदनेकोत्पद्यमानसमवेता पूर्वासम्भवाद् गुणान्तराद्भिद्यत इति ॥२६॥

(इति–त्रयोदशं संनिधौ फलादेः कर्मभेदकत्वाभावाधिकरणम् ॥१३॥)

न्या० सु०—अनुपादेयान्वयमात्रस्यासन्निधिसहकृतस्य भेदकत्वे फलमात्रं प्रत्युदाहरणानुपपत्तिमाशङ्क्याह—सर्वेषामेवेति। 'स्विष्टकृतं यजती'ति विहितस्विष्टकृद्यागसन्निधौ 'शेषादि'ति वाक्यान्तरे शेषसंस्कारार्थत्वेन स्विष्टकृद्यागविधानात्संस्कार्योदाहरणत्वम्। भाष्यालोचनयैतच्छब्दएव फलवाक्ये विपरिवृत्तिहेतुरिति कस्य चिच्छङ्कां निवर्त्तयितुं भाष्योदाहृतफलसद्भावेऽपि उदाहरणान्तरम्। न्यायशास्त्रे पूर्वपक्षाशङ्कां विना प्रत्युदाह-

रणानर्थक्यापत्तेस्तत्प्रदर्शनार्थं किं प्राप्तमिति भाष्यं व्याचष्टे—सर्वत्रेति। स्वरूपतः प्राप्तस्यान्यसम्बन्धित्वेन विध्युपपत्तेर्न विधीयमानत्वमात्रेण कर्मान्तरापत्तिरित्याशङ्क्य वृद्धवाक्येनोपपादयति—आह चेति। पूर्वस्मात्कर्मणोऽस्याभेदाभ्युपगमे विहितविध्ययोगादनुवादापत्तेरनुवादस्य च यच्छब्दोपबन्धलक्षणोद्देश्यव्यङ्गचत्वादनूद्यमानस्योद्देश्यत्वापत्तेर्हेशाद्युद्देशे च कर्मोद्देशासम्भवात् भेद इत्यर्थः। उत्तरार्द्धं व्याचष्टे—अनूद्यमानानि हीति। ननूद्देशान्वयित्वेन विधानेऽपि स्वरूपानुवादे कर्मान्तरत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—देशादीति। पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति।

उत्पत्तिविनियोगविधिव्यापारभेदादुत्पत्त्यनुवादविनियोगविध्योर्यौगपद्यदोषं परिहरन् सिद्धान्तमाह—इतीति। उत्तरार्द्धं व्याचष्टे—अगत्या हीति। ननु देशादीनामुद्देश्यत्वावगतेः कर्मणस्तानि प्रत्युपादेयत्वेन विधेयत्वाद्भेदापत्तिरित्याशङ्क्याह—न चापीति। विध्यनुवादशब्दौ त्वप्रत्ययान्तत्वात्कर्मव्युत्पत्त्या वा विधेयानुवाद्यवाचिनौ। श्लोकं व्याचष्टे—यद्यपीति। सिद्धान्तमुपसंहरति—तस्मादिति। भाष्यादविभागशब्दस्य सन्निहितप्रतिनिर्देशविषयत्वमाभासमानं निराकर्त्तुं स्वयं व्याख्या करोति—विपरिवृत्तिरेव चेति। भाष्यकृद्व्याख्या त्ववेष्टौ विशेषोक्त्यर्थेति दर्शयितुमाह—विशेषेण त्विति।

एतच्छब्दस्याग्निहोत्रशब्दवत् धर्मलक्षणार्थत्वेनातिदेशिकत्वात्कर्मान्तरे विश्वजिदादिवदव्यक्तचोदितत्वात्सोमहविष्कत्वं पूर्वपक्षप्रयोजनमाक्षिपति—प्रयोजनं त्विति। समाधत्ते—तत्त्विति। वृत्त्यन्तरोक्तं भेदकारणचतुष्टयमुपन्यासपूर्वं दूषयितुं भाष्योक्तं षड्विधत्वं तावदुपसंहरति—एवमिति। उपन्यस्यति—वृत्त्यन्तरे त्विति। फलाद्यनुग्रहमात्रार्थत्वात् इत्यादिशब्ददर्शनात्फलशब्दोऽनुपादेयमात्रविषयो विज्ञायते। आन्यभाव्यं तु कालशब्दव्यवायादित्युच्चारणभेदे शब्दभेदस्मृतेः सरूपाणामेकशेष इति स्मृत्यालोचनया शेषशब्दभेदावगतेरेकस्मिंश्च शब्दे शतकृत्वोऽप्युच्चरितेऽत्यर्थं भेदाप्रतीतेरभ्यासस्य भेदकत्वायोगात्संख्यायाश्चार्थगतायाः कर्मण्येकस्मिन्नसम्भवाद्भेदकत्वे गुणान्तर्भावापत्तेः शब्दगताया एकशेषस्मृत्यवगतया भेदकत्वस्य वाच्यत्वात्, तस्याश्च शब्दभेदकत्वात् द्वयोः शब्दान्तर्भावात्प्रकरणान्तरत्वाभावेऽपि 'चाग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेद्रुक्काम' इत्यादावनुपादेयान्वयस्य विधेयत्वापादकत्वाद्भेदकत्वावगतेस्तत्प्रतिबन्धकप्रत्यभिज्ञापनयनमात्रे प्रकरणान्तरस्य व्यापारादित्यर्थः। शाखान्तराधिकरणसिद्धान्तसूत्रे च भेदचतुष्टयपरामर्शादिति हेत्वन्तरं चशब्देन सूचितं दूषयति—तत्त्विति। 'आन्यभाव्यमिति' कात्यायनस्मृतिं दूषयितुं सत्त्वान्तरे च यौगपद्यादितिशब्दाधिकरणपूर्वपक्षहेतोरनैरकान्तिकत्वोक्त्यर्थसूत्रं पठति—तथा चेति। यथादित्यस्य नानादेशेषु युगपदुपलम्भेऽपि न भेदः, तथा शब्दस्यापीति सूत्रार्थः। एकशेषस्मृत्यालोचनात् भेदावगतिं दूषयितुं तत्रत्यं सिद्धान्तसूत्रं पठति—संख्येति। अष्टौ गोशब्दा इति संख्याव्यवहाराभावादेक एव नित्यः शब्द इति सूत्रार्थः। तच्च प्रत्यभिज्ञाने च सत्युपाधिभेदा[1]द्भेदाभावं वक्तुं षष्ठाधिकरणसिद्धान्तसूत्रैकदेशं पठति—वक्ष्यति चेति।

१. भेदादिति ३ पु० ना०।

विहितद्रव्यापचारे द्रव्यान्तरेण कृतस्य यागस्य व्यतिरेकादष्टाकपालद्रव्यकत्वाग्निदेवत्यत्वरूपाविभागाग्नेयशब्द[1]विभागाभ्यां प्रत्यभिज्ञानात् गोत्ववदैककर्म्यमिति वन्दन्सूत्रकृत्प्रत्यभिज्ञायमानानामभेदं वक्ष्यतीत्येवंजातीयकशब्देनोक्तम्। संख्याभ्यासयोः शब्दान्तरान्तर्भावदूषणमुपहासपूर्वकमुपसंहरति—तस्मादिति। प्रकरणान्तरस्य भेदकत्वाभावमुपहासपूर्वं दूषयितुमाह—प्रकरणान्तरत्वाच्चेति। अनुपादेयान्वयादुपादेयत्वावगमेऽप्यप्राप्तविषयत्वाद्विधेः प्रकरणान्तरशब्दोक्तं प्रकृतबुद्धिविच्छेदं विना विधेयत्वापादकत्वान्मुख्यं भेदकारणमित्याशयः। किमर्थं तर्ह्यनुपादेयान्वयापेक्षेत्याशङ्क्याह—तेनेति। येन कारणेन प्रकरणान्तरशब्दोक्तेन प्रत्यभिज्ञानं विना भेदो न भवति, तेन कारणेन भेदस्याप्रत्यभिज्ञानहेतुकत्वात्प्रत्यभिज्ञापादकानुपादेयत्वद्योतकशब्दोपबन्धवारणायानुपादेयापेक्षेत्याशयः। यच्चैकं चेति सूत्रे फलान्वयगुणशब्दान्तरसंख्याभेदप्रमाणाभावचतुष्टयमेकत्वहेतुत्वेनोच्यमानं फलादिचतुष्टयं भेदकमित्यस्यार्थस्य ज्ञापकमिति। वृत्त्यन्तरकृतोक्तं तु शाखान्तराधिकरणेऽभ्याससंख्याप्रकरणान्तराभावानामसम्भवान्न तु फलादिचतुष्टयस्य भेदकहेतुत्वादित्युपहासपूर्वमाह—यद्यपीति। एकत्वहेतुभूतं च तद्विपरीतचतुष्टयं चेति विग्रहः। वृत्त्यन्तरदूषणमुपसंहरति—तस्मादिति। फलस्य भेदहेतुत्वनिरासार्थम्—यथोक्ता इत्युक्तम्। चतुष्टयनिरायैवकारः।

ननु भाष्यसिद्धान्तेऽपि सञ्ज्ञाया वाच्यधात्वर्थभेदद्वारा भावनाभेदकत्वेन शब्दान्तरान्तर्भावात्संख्यायाश्च कर्मभेदं विना विध्यसम्भवाद्भेदकत्वेन गुणान्तर्भावाच्चत्वार एव भेदहेतवः स्युरित्याशङ्क्य, भेदाभिधानं प्रतिजानीते—तत्रापि त्विति। सञ्ज्ञायाः शब्दान्तरात्संख्यायाश्च गुणात् भेदो विधीयतइत्युक्ते अध्यायोपक्रमे तयोः स्वावसरे भेदं वक्ष्याम इत्युक्तत्वात्सञ्ज्ञाधिकरणयोरेवानयोर्भेदो वाच्य इत्याशङ्क्य, तत्र वाच्यस्याप्यवसरालाभेनानुक्तत्वादिदानीमवसरलाभादभिधानमिति वक्तव्यःसन्नित्यनेनोक्तम् अभिधत्ते—स्वरूपेति। शब्दान्तरस्यानुरञ्जकधात्वर्थभेदेन भावानां भेदकत्वाद्यागादिशब्दाच्च सिद्धरूपतयोक्तस्य धात्वर्थस्य भावनानुरञ्जकत्वाप्रतीतेः स्वेन पूर्वापरीभावरूपेणानुरञ्जकत्वावगमात्सञ्ज्ञायाश्च पूर्वापरीभावरूपानभिधायित्वात् धात्वर्थैक्ये चानेकसञ्ज्ञानर्थक्यापत्तेर्धात्वर्थभेदागमकत्वेऽपि देवताद्देशद्रव्यत्यागादिधात्वर्थान्तरविलक्षणरूपानभिधायित्वाद्यजत्यादेस्तु विलक्षणरूपे संबन्धग्रहणात्तद्वाचित्वोपपत्तेः। सञ्ज्ञायाः शब्दान्तराद्भेदः विधेयरूपभेदे शब्दान्तरादिव्यापारादुत्पत्तिज्ञापनेन भेदकत्वावगतेः संख्यायाश्च व्यासज्यकर्मणि समवायादेकसंख्येऽपि कर्मणि (विध्यन्तरोत्पादितकर्मान्तरोपजनापेक्षया समवायोपपत्तेर्गुणवत्पूर्वोत्पन्नकर्मसंयोगासम्भवेनापूर्वकर्मोत्पत्तिज्ञापकतया भेदकत्वायोगाद् गुणाद्भेद इत्यर्थः। श्लोकं व्याचष्टे—सञ्ज्ञा हीति। एकसंख्ये अपि कर्मणि[2]) कर्मान्तरापेक्षया संख्यान्तरसमवायसम्भवे कथं भेदकतेत्याशङ्क्य प्रमाणान्तरेणोत्पत्तिविषयत्वेनावगतस्य विधेरनेकविषयत्वमात्रं संख्ययावगम्यतइति परिहारसूचनार्थम्—युगपदित्युक्तम्। पूर्वस्मिन्कर्मण्यसम्भवो यस्य, तत्पूर्वासम्भवं वाजिना-

---

१. अविभागाग्नेयशब्देति ३ पु० ना०।

२. अयं पा० ३ पु० ना०।

दिन्यायाभावे अपि अङ्गत्वाविशेषात्संख्याया अप्यङ्गापरपर्यायगुणत्वापत्त्यायोगात्कथं गुणाद्भेद इत्याशङ्कानिरासायाऽन्तरशब्दः ॥ २६ ॥

इति त्रयोदशं सन्निधौ फलादेः कर्मभेदकत्वाभावाधिकरणम् ॥

भा० प्र०—वाजसूय यज्ञ का अङ्गभूत अवेष्टि नाम का एक यज्ञ है—यह अवेष्टि अधिकरण में अर्थात् २।३।२ अधिकरण के तृतीय सूत्र में कहा गया है। उस अवेष्टि यज्ञ के प्रकरण में "एतया अन्नाद्यकामं याजयेत्" = अन्नाद्यकामी इसके द्वारा यज्ञ करे, यह वाक्य पठित है। इसमें संशय होता है कि यह विभिन्न कर्म को विधि है या इसके द्वारा अवेष्टि नामक यज्ञ का ही विषय कहा गया है ? पूर्वपक्षी का कहना है कि इस वाक्य में "अन्नाद्यकामं" पद के द्वारा फल का उल्लेख होने से अवेष्टि के समीप में श्रुत होने पर पूर्व अधिकरण में उक्त युक्ति के अनुसार इससे अन्य कर्म का ही विधान किया गया है। अन्यथा फल की विधि नहीं हो सकती है, ऐसी स्थिति में वाक्य ही निरर्थक हो जायगा।

इस प्रसङ्ग में सिद्धान्ती का कहना है कि "सन्निधौ तु फलार्थेन पुनःश्रुतिः" यह अवेष्टि के समीप में पठित होने से अवेष्टि नामक इष्टि की हो पुनःश्रुति उल्लेख है, उनके कारण अभ्यास = पुनः उल्लेख के कारण जो कर्मभेद की आशङ्का है—वह ठीक नहीं है। ऐसे स्थलों में भी इन वचनों से पूर्व विहित कर्मों के साथ देश, काल और निमित्त आदि का सम्बन्ध विहित है।

"सन्निधौ" = विहित कर्म के सन्निधान में "तु" = प्रत्युदाहरणार्थक, "पुनः श्रुतिः" = पुनः उल्लेख अर्थात् उसी कर्म का पुनः निर्देश, "फलार्थेन" = फल के लिए अर्थात् फल, निमित्त, संस्कार आदि के साथ कर्म का सम्बन्ध बोध कराने के लिए "अविभागात्" = अभेद प्रतीति होती है ॥ २६ ॥

यह तेरहवाँ सन्निधान में फल आदि के कर्मभेदकत्वाधिकरण है ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशमाग्नेयपुनश्श्रुतेस्तुत्यर्थत्वाधिकरणम्

[१४] आग्नेयस्तूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयेत ॥ २७ ॥ पू०

शा० भा०—दर्शपूर्णमासयोः-'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति' इति विधाय पुनरुच्यते—'आग्नेयोऽष्टाकपाकोऽमावास्यायां भवति' इति। तत्र संदेहः—किममावास्यायां द्विराग्नेयेन यष्टव्यम्, उत सकृदिति। किं प्राप्तम् ? आग्नेयस्तूक्तहेतुत्वादभ्यासेन प्रतीयते, एकस्यैवं पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात्, इति ॥ २७ ॥ पूर्व० ॥

त० वा०—'आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति' इति श्रूयते। किं य एवासावुभयत्राप्यच्युतः तस्यैवैषा पुनः श्रुति केनापि प्रयोजनेन, अथ कर्मान्तर-

मिति संदेहः। तत्र 'संनिधौ त्वविभागात्' इति सत्यप्यनुपादेयाममावास्यां प्रत्युपादाने तदेव कर्मेति सिद्धान्ते प्राप्ते।

अभिधीयते—पुनः श्रुतिरनन्यार्था भेदिकेत्यवधारिता।
तादृशी चेयमित्येव द्विराग्नेयः प्रयुज्यताम्॥

प्रयोगद्वित्वद्वारेण च कर्मद्वित्वप्रतिज्ञानमेवैतद् द्रष्टव्यमिति॥ २७॥

आग्नेयद्विरुक्तेः स्तुत्यर्थताधिकरणम्॥ १४॥

न्या० सु०—उदाहरणं विवेक्तुमाह—आग्नेयइति। तत्र सन्देहभाष्यं सकृदनुष्ठानचिन्तायास्तत्रावृत्तिचिन्तासारूप्याल्लक्षणासङ्गतेरयुक्तमाशङ्क्य भेदाभेदफलोक्तिद्वारा भेदाशयत्वेन व्याचष्टे—किमिति। अच्युतवाक्येनैककर्मासम्भवो पौर्णमास्यमावास्याकाललक्षणगुणद्वययोगादाग्नेयद्वयविध्यवतेः, एकस्य कालद्वयानन्वयात्कालद्वयविशिष्टस्य वा, अमावास्यावाक्ये पुनःश्रुतत्वायोगाद्योऽमावास्याकालक आग्नेय उभयत्र सोमयागात्प्रागूर्ध्वं वाच्युततो न सान्नाय्यवत्कदाचित् च्युत इत्येवं प्रतियोग्युपलक्षणार्थो वार्त्तिकावयवो व्याख्येयः। प्रयोजनासम्भवेऽपि कर्मान्तरत्वानुपपत्तिसूचनायानवक्लृप्तिः। फलार्थेनेत्यस्माद्विधेरनुपादेयत्वसम्भवएव सन्निधेः प्रत्युदाहणत्वशङ्कानिरासार्थत्वेन पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—इतीति। अभ्यासोक्ति व्याख्यातुम्—द्विरित्युक्तम्। अभ्यासोक्त्यावृत्तिविध्यर्थताऽस्य वाक्यस्योक्तेति शङ्कां निवर्त्तयितुमाह—प्रयोगेति। पूर्वपक्षप्रयोजनमभ्यास इत्याशयः।

अविभागात्तु कर्मणो द्विरुक्तेन विधीयतइति सिद्धान्तसूत्रमवतारयति—तत्रेति। कर्मैक्यस्य सिद्धान्तत्वेऽपि वाक्यद्वयस्य विधायकत्वोक्तेर्प्रौढिमात्रत्वसूचनार्थः पक्षान्तरशब्दः॥२७॥

भा० प्र०—दर्शपूर्णमास प्रकरण में "आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति" इस वाक्य से आग्नेय याग का विधान किया गया है। इसी प्रकरण में पुनः "आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति" अर्थात् अमावास्या में आग्नेय अष्टाकपाल होगा—यह विधि है। इस स्थल में यह वचन रहने से अमावास्या में क्या दो आग्नेय याग होगा या एक बार करना होगा—यह संशय होता है।

पूर्वपक्षी का कहना है कि धात्वर्थ का अभ्यास अर्थात् आवृत्ति या पुनः उल्लेख होने से यहाँ यागान्तर की विधि होती है, यह जो नियम पूर्व में द्वितीय अध्याय के द्वितीय अधिकरण के द्वितीय सूत्र में सिद्धान्तित है। तदनुसार इस स्थल में भी कर्मभेद होगा, अर्थात्, दर्शयाग में दो बार आग्नेय याग का करना होगा।

"आग्नेयः" = आग्नेय याग, "तु" = प्रत्यवस्थानर्थक, अर्थात् उसी का पुनः उल्लेख किया गया है। उक्त कर्म के फल के सम्बन्ध का बोधन करना इसका प्रयोजन नहीं है। यदि यह कहा जाय कि इसमें अवेष्टि का पुनः उल्लेख है यह कर्मान्तर नहीं है—इसमें क्या प्रमाण है? ऐसी आशङ्का में कहा गया है "अविभागात्" क्योंकि प्रकृत कर्म के साथ इसका अविभाग अर्थात् अभेद प्रतीति रहती है। इस वाक्य में नी "एतया" यह

पद है इसी के द्वारा पूर्व कर्म के साथ इस कर्म के अभेद का बोधन होता है, क्योंकि यह सर्वनाम पद है और सर्वनाम शब्द सन्निकृष्ट का ही वाचक होता है। यदि यह कहा जाय कि इसका पुनः उल्लेख क्यों किया गया है ? "फलार्थेन पुनःश्रुतिः" फल के साथ कर्म का सम्बन्ध अवगत कराने के लिए पुनः उल्लेख किया गया है। 'अन्नाद्य' ही अवेष्टि यज्ञ का फल है—यह पूर्व से प्राप्त नहीं था, वही इस वाक्य के द्वारा बोधित होता है।

अधिकरण का यह प्रयोजन है कि पूर्वपक्षी के मत के अनुसार यह यागान्तर होने पर भी सोम आदि इसको हविः होगी और सिद्धान्ती के मत ने "आग्नेयाष्टाकपालं पुरोडाशः भवति" इत्यादि अवेष्टि के विधायक वचन के अनुसार आग्नेयादि इसकी हविः होगी। पूर्व अधिकरण के प्रत्युदाहरण के रूप में यह अधिकरण प्रवृत्त होता है।

दर्शपूर्णमास प्रकरण में "समे यजेत" अर्थात् समान देश में याग करे "पौर्णमास्यां यजेत" पौर्णमासी में याग करे, "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासभ्यां यजेत" जीवन पर्यन्त दर्श-पूर्णमास याग करे इत्यादि वचन में जो देश, काल एवं निमित्त का "उक्तहेतुत्वात्" = क्योंकि इसका हेतु उक्त है, अतः, "अभ्यासे" = अभ्यासरूप अर्थात् कर्म की आवृत्ति के रूप में, "प्रतीयते" = प्रतीत होगा ॥ २७ ॥ पूर्वपक्ष है।

अविभागात्तु कर्मणो द्विरुक्तेन विधीयते ॥ २८ ॥

शा० भा०—नैतदस्ति[1], पुनरभ्यसितव्य आग्नेय इति। कुतः ? नाभ्यासस्य वाचकः शब्दोऽस्तीति। नन्वाग्नेयः पुनरुच्चरितः परं कर्म विधास्यति। नेति ब्रूमः। शब्दः पुनरुच्चारितो न पुनरर्थः कर्तव्य इति शक्नोति वदितुम्। योऽस्य प्रथममुच्चारितस्यार्थः, शतकृत्वोऽप्युच्चरितस्य स एवार्थो भवि-ष्यति[2], नान्यः।

ननु विहितमेव पुनरविशिष्टं विदधदनर्थको भवति। भवतु काममनर्थकत्वम्, न त्वन्यं शक्नोति वदितुम्। भवेदुपपन्नमनर्थकत्वम्, न त्वर्थान्तरवचनता। तस्मान्न द्विरभ्यस्येतेति ॥ २८ ॥

त० वा०—तत्र पक्षान्तरमाह—'अविभागात्तु कर्मणो द्विरुक्तेन विधीयत' इति। युक्तं समिदादिषु प्रत्यक्षयागपुनःश्रुतेर्भेदकत्वम्, इह तु द्रव्यदेवतासंबन्धाद-सावनुमातव्यः। तच्च द्रव्यदेवतमभिन्नमुपलम्भमानं पूर्वसम्बन्धानुभववशादेकान्तेन तमेव यागं बोधयति। द्रव्यदेवतमप्यन्यदिति चेत् ? न। अविभागप्रत्ययोप-लम्भात्। यदि तु व्यक्तिकृतो भेद आश्रीयते, स प्रयोगान्तरे तस्याप्याग्नेयस्या-विशिष्टः। तस्माद्वैकल्पिकेन वचनद्वयेनामावास्यायामाग्नेयविधानम्।

---

1. ब. नाग्नेयः पुनरभ्यसितव्यः। 2. ब. भवितुमर्हति।

अथवा युगपत्प्रवृत्तेः 'यथा स्यात्सत्त्वदर्शनम्' इत्यनेन न्यायेन तदेव कर्म, एकेन, इतरेण च प्रतिपाद्यते। न च गम्यते विशेषः कतरेण प्रतिपाद्यते, कतरत्पौनरुक्त्यादनर्थकमिति। कामं भवत्वानर्थक्यं, तदेव हि युक्त्याऽन्विष्यमाणमिहोपपन्नतरं भवेत्, नार्थान्तरवचनत्वं, शब्दार्थानित्यत्वप्रसङ्गात्। तस्मात्सकृदेव प्रयोग इति। सर्वं त्विदमभ्यासाधिकरणे निराकृतमपि सत्-उत्तरसूत्रदर्पेण विश्रब्धमभिधीयते। न तु परमार्थेनाऽऽनर्थक्याभ्युपगमं वेदः क्षमते ॥ २८ ॥

न्या० सु०—अभ्यासाधिकरणन्यायवैषम्योक्त्यर्थत्वेन तुशब्दव्याख्यानार्थं पूर्वं कर्मणो विभागादिति हेत्वर्थं व्याचष्टे—युक्तमिति। द्रव्यदेवतान्यत्वशङ्कानिरासार्थत्वेनाप्यविभागोक्ति व्याचष्टे—द्रव्येति।

ननु कर्मणः क्षणिकत्वेनाविभागशब्दोक्तायाः प्रत्यभिज्ञायाः सामान्यविषयत्वान्नाभेदबोधकत्वोपपत्तिरित्याशङ्क्याह—यदि चेति। स्वरूपभेदस्य प्रयोगान्तरे अच्युतवाक्यविहितस्याप्याग्नेयस्याविशेषाद्विधेयरूपभेदो अत्र विवक्षितः। स च प्रत्यभिज्ञया निरस्त इत्याशयः। नन्विति भाष्येण पुनःश्रुत्या कर्मभेदमाशङ्क्य तन्निरासार्थत्वेन द्विर्वचनेनैकमेव कर्म विधीयतइत्येवं भावनिष्ठाभ्युपगमेन द्विरुक्तेनेति सूत्रावयवव्याख्यानार्थं नेतीति भाष्यं द्वेधा व्यांचष्टे—तस्मादिति। विकल्पस्याष्टदोषत्वेनापरितोषादथ वेति समुच्चयं वक्तुमेकेन वाक्येन विहिते वाक्यान्तरानर्थक्यमाशङ्क्य—युगपदित्युक्तम्। क्रमेण वाक्यद्वयप्रवृत्तौ पूर्वेण विहिते परानर्थक्यं स्यात्, नित्यत्वात्तु द्वयोर्युगपत्प्रवृत्तेर्नान्यतरानर्थक्यमित्याशयः। युगपत्प्रवृत्तावन्यतरानर्थक्याभावोऽपि चोत्पत्तिसंयोगाद्यथा स्यात्सत्वदर्शनं तथा भावविभागेस्यादि६-२ति षष्ठाधिकरणसूत्रावयववक्ष्यमाणेन दृष्टान्तेनोपपादितः। 'ऋद्धिकामाः सत्रमासीरन्नि'ति कर्मिपदस्थेन बहुवचनेन ऋद्धिकामबहुत्वोक्तेः प्रत्येकम्। ऋद्धिकामत्वावगमात्प्रत्येकमधिकारमुक्त्वाख्यातस्थेन बहुवचनेन कर्तृबहुत्वोक्तेः प्रत्येकं कर्तृत्वावगमादपि प्रत्येकमधिकार इत्युत्पत्तावनिर्ज्ञातकर्तृसंख्ये कर्मणि कर्तृबहुत्वसंयोगादित्यवयवेनोक्ते प्रत्येककर्तृत्वे कर्त्रन्तरानर्थक्यमाशङ्क्य, यथा सत्त्वस्य द्रव्यगवादेर्युगपद बहुभिर्दर्शनम्, नान्यतरानर्थक्यापादकं, तथा भावस्य कर्मणो विभागेपृथक्कर्त्रन्वयेऽपि न कर्त्रन्तरानर्थक्यमिति वक्ष्यते, युगपत्प्रवृत्तिमात्रेणानर्थक्यपरिहारः कथमित्यपेक्षायामाह—न चेति। हेतौ चशब्दः। ननु विहितमेवेत्यादिभ्याष्येणानर्थक्यमाशङ्क्याभ्युपगमेनोत्तरं दत्तम्। तदुपपादयति—काममिति। प्रत्यभिज्ञानमानावृत्त्यार्थान्तरत्वं वाच्यम्। तदा च शब्दार्थयोरनित्यत्वापत्तिरित्याशयः। तस्मादिति फलतः सिद्धान्तोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति। वाक्यद्वयेनैककर्मविध्युक्त्यानथाभ्युपगमयोरभ्यासाधिकरणविरोधमाशङ्क्याह—सर्वं त्विति। आनर्थक्यापत्तेरेव वाक्यद्वयेनैकधर्मविधेर्निराकार्यत्वान्न पृथगुक्तिः ॥२८॥

भा० प्र०—इस प्रसङ्ग में एकदेशी सिद्धान्ती का कहना है कि इस स्थल में कर्म का अभ्यास नहीं हो सकता है क्योंकि, अभ्यास का बोधक कोई भी शब्द नहीं है, यहाँ पूर्व में विहित कर्म का ही उल्लेख होने से उसके द्वारा कर्मान्तरता का प्रतिपादन नहीं है,

यदि ऐसा होता तो दशबार 'ग' शब्द का उच्चारण करने पर दश गकार परस्पर में पृथक् वर्ण हो जायेंगे। किन्तु ऐसा नहीं होता है, इस स्थल में भी कर्मभेद नहीं होगा। वरन् इन दो वचनों से विकल्प रूप में एक ही कर्म का विधान किया गया है। अर्थात् एक बार प्रथम विधायक, द्वितीय वचन अनुवाद, दूसरी बार द्वितीय विधायक और प्रथम अनुवाद होगा अथवा दो वचन एक साथ एक कर्म के प्रतिपादन में प्रवृत्त नहीं होता है। इसलिए, इसका कोई विशेषत्व ज्ञात न होने से इसका पूर्व और पश्चात् का भाव अवगत नहीं होने से कोई भी पुनरुक्त नहीं होता है।

"अविभागात्" = अभेद प्रतीति होने से, "तु" = पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति का सूचक है, "कर्मणः द्विरुक्तेः" = क्योंकि एक ही कर्म की दो बार कथन होने से "न विधीयते" = द्वारा अन्य कर्म का विधान नहीं होता है ॥ २८ ॥

अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः ॥ २९ ॥ सि०

शा० भा०—अथवा नानर्थिका पुनःश्रुति। अर्थवादार्था[1] भविष्यतीति। उच्यते। किमर्थवादेन प्रयोजनम्, यदा पूर्वेणैव वाक्येन सार्थवादकेन विहित आग्नेयः कमन्यमर्थं विधातुं स्तुतिः प्रयुज्येत। स्तुतिमात्रं[2] यत्र कस्यचिद्विधानार्थम्, तदनर्थकमित्युक्तम्, आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् १-२-१ति। स्तुतश्चास्तुतश्च[3] तावानेव सोऽर्थः। यथा स्तुता वाऽस्तुता[4] वा देवता अङ्गभावं साधयति, एवमेतदिति।

तदुच्यते—अन्यार्था वा पुनःश्रुति। नाऽऽग्नेयं विधातुम्। ऐन्द्राग्नविधानार्था। आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवत्येव। न केवलेनाग्निना स साधुर्भवति, किन्त्विन्द्रसहितोऽग्निः समीचीनतरः[5]। तस्मादैन्द्राग्नः कर्तव्य इति ॥२९॥ सिद्धान्तः।

इति चतुर्दशमाग्नेयद्विरुक्तेः स्तुत्यर्थताधिकरणम् ॥ १४ ॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ धर्ममीमांसाभाष्ये

द्वितीयस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

त० वा०—सर्वथा पुनःश्रुतिप्रयोजनेष्वत्रान्विष्यमाणेषु गुणस्याश्रवणात्, परिसंख्यायाश्च त्रिदोषत्वादर्थवादार्थत्वेऽभ्युपगते, कस्यार्थवाद इति विविच्याऽसंकीर्तनान्नूनमाग्नेयस्यैवेति मत्वा वदति—सार्थवादकेन विहिते किं प्रदेशान्तरस्थैनैक-

१. ब. अर्थवादो। २. क. श्रुतिमात्रं। ३. क. श्रुतश्चाश्रुतश्च।
४. क. श्रुताअश्रुताच। ५. क. समीचीनः।

वाक्यतामनागच्छताऽर्थवादेनेति । विधिशेषत्वं ह्यर्थवादानामवस्थितम् । परिचोदना तु पूर्वपक्षाभिप्रायेण कृता । तत्र **यथा स्तुता वा, अस्तुता वा सैव** देवतेत्यविवरणान्न विज्ञायते किं विषयमिति ।

तत्त्वे[1]तदतिक्रान्तालोचनेन महेन्द्राधिकरणे 'गुणश्चानर्थकः स्यात्' इत्यत्र सूत्रेऽभिहितं परामृष्टमिति दृश्यते । यथैव हि महत्त्वं देवतानन्तर्गतमिति पक्षे, केवलस्यैवेन्द्रस्य साधनत्वाद्विध्युद्देशेऽर्थवादेऽवस्थितमनर्थकं प्राप्नोति । यथैवेदं स्वतन्त्रस्तुतिमात्रमिति मन्यते ।

तत्रोच्यते—

प्रशस्तशब्दैरवधारितेन वाक्यान्तरात्केवलदैवतेन[2] ।
कर्तुं सहेन्द्रेण पुनः प्रशंसां पुनःश्रुतिः सम्यगिहाऽऽश्रितेयम् ॥ २९ ॥

इति–आग्नेयपुनःश्रुतेः स्तुत्यर्थताधिकरणम् ॥ १४ ॥

इति श्रीभट्टकुमारिलविरचिते धर्ममीमांसाभाष्यव्याख्याने
तन्त्रवार्तिके द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥

न्या० सु०—अन्यशब्दस्यार्थवदाशयत्वोक्त्यर्थभाष्योपपादनपूर्वमुच्यतइत्यशङ्काभाष्यम् आग्नेयविधिशेषत्वस्यानुक्तत्वादयुक्तमाशङ्क्योपपादनपूर्वं व्याचष्टे—**सर्वथेति** । वाशब्दव्याख्यानार्थं वेतिभाष्यव्याख्यार्थः । सर्वथाशब्दः स्वरसेनाग्नेयविधिशेषत्वप्रतीतेर्भ्रम इत्याशयः । नन्वर्थवादत्वमात्रोक्त्या प्रयोजनवत्त्वसिद्धेरर्थवादकैमर्थ्यविशेषोक्त्यर्था परिचोदना न युक्तेत्याशङ्क्याह—**परिचोदना त्विति** । नार्थवादकैमर्थ्यविशेषोक्त्यर्थेयं परिचोदना, किं त्वर्थवादार्थत्वस्याप्ययोगात्कर्मान्तरविध्यर्थतैवाऽभ्युपगन्तव्येत्यापादनार्थेत्यर्थः । स्वतन्त्रस्तुत्यानर्थक्ये दृष्टान्तोक्त्यर्थं यथेति भाष्यमज्ञायमानविषयत्वेनाक्षिपति—**तत्रेति** । विषयोक्त्या समाधत्ते—**तत्त्विति** । अर्थवादेस्तुत्यर्थत्वेन स्थितं सदनर्थकमित्युक्ते अर्थवादत्वेनैवार्थवत्त्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य—**विध्युद्देशइत्युक्तम्** । समासे विध्युद्देशेऽर्थवादान्वयोपपत्तेर्विध्युद्देशमध्येऽर्थवादोऽनर्थक इत्याशयः ।

ऐन्द्राग्न एकादशकपालोऽमावास्यायां भवतीति ऐन्द्राग्नस्तुत्यर्थऽग्नेयपुनः श्रुतिरित्येवं सूत्रेण परिहारोक्त्यर्थं तदुच्यतइति भाष्यं व्याचष्टे—**तत्रेति** । येयमिह सिद्धान्ते प्रशंसां कर्तुं पुनःश्रुतिराश्रिता, सा सम्यगिति, क्रियाविशेषणत्वान्नपुंसकलिङ्गेन सम्यक्शब्देनोक्ते, कथमित्युपेक्षिते—**सहेत्युक्तम्** । पुनःशब्दस्याऽग्नेयपरामर्शार्थत्वादिन्द्रसहितेनाग्निनाग्नेयस्येति प्रतीतेरैन्द्राग्नस्येत्यर्थः । यदाग्नेय इति वाक्यान्तरेणाऽऽग्नेयस्य केवलदेवतात्वावधारणा-

---

१. क० नत्वेत । २. क० देवतेन ।

त्कथन्तेनैन्द्राग्नप्रशंसेत्यपेक्षायाम्—प्रशस्तेस्युक्तम् । प्राशस्त्यवाचिभिरङ्गिरसो वा इति उत्तमः स्वर्गं लोकमायन्नित्याद्यर्थवादशब्दैः सहितवाक्यान्तरावधारितत्वेनाग्नेयस्य प्रशस्तत्वावगमादाग्नेय एव तावदग्निदेवत्यत्वात्प्रशस्तः । ऐन्द्राग्नस्त्विन्द्रसहिताग्निदेवत्यत्वात्ततः अपि प्रशस्त इत्याग्नेयोक्तेरैन्द्राग्नप्रशंसार्थतोपपन्नेत्याशयः ॥२९॥

इति चतुर्दशमाग्नेयपुनःश्रुतेस्स्तुत्यर्थताधिकरणम् ॥

इति श्रीमत्त्रिकाण्डमीमांसामण्डनप्रतिवसन्तसोमयाजिभट्टमाधवात्मजभट्टसोमेश्वर-
कृतायां तन्त्रवार्त्तिकटीकायां सर्वानवद्यकारिण्यां न्यायसुधाख्यायां
द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।

भा० प्र०—इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि यहां अन्य प्रयोजन के लिए एक ही कर्म का पुनः उल्लेख किया गया है। इस स्थल में अभेद प्रत्यभिज्ञा से कर्म का एकत्व सिद्ध होता है, अतः, द्वितीय वाक्य को अनुवाद कहा जाता है। यह अनुवाद विधेय जो "ऐन्द्राग्न" याग है उसका प्रशंसार्थक है। आग्नेय याग कर ऐन्द्राग्न याग को नहीं कर सकता है, अतः, "आग्नेयोऽष्टाकपालः अमावस्यायां भवति" इसके द्वारा कहा गया है कि केवल अग्नि के द्वारा याग समीचीन नहीं होता है, अपितु इन्द्र एवम् अग्नि इन दोनों के द्वारा ही सुन्दर होता है। अभेद प्रत्यभिज्ञा होने से प्रयाजादि के साथ इसकी तुलना नहीं होती है, अतः उसके अनुसार कर्मान्तर भी नहीं हो सकता है।

"वा" = पूर्वपक्ष के निवारण के लिए है, 'पुनःश्रुतिः' = पुनः उल्लेख, 'अन्यार्थां' = अन्य प्रयोजन के लिए है ॥ २९ ॥

यह चौदहवाँ आग्नेय की पुनःश्रुति की श्रुत्यर्थता अधिकरण है।

॥ मीमांसादर्शन के तन्त्रवार्तिक के द्वितीय अध्याय
का तृतीयपाद सम्पूर्ण हुआ ॥

अथ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ।

अथ प्रथमं यावज्जीवाधिकरणम् ।

[१] यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् ॥१॥ पू०

शा० भा०—बह्वृचब्राह्मणे श्रूयते—'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' इति । 'यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत' इति च । अत्र[1] संदेहः—किं कर्मधर्मोऽभ्यासो यावज्जीविकता, उत कर्तृधर्मो नियमश्चोद्यते यावज्जीविकतेति । कथं कर्मधर्मोऽभ्यासः ? कथं वा कर्तृधर्मो नियम इति ? यदि जुहोतिरनुवादः, यावज्जीवमिति विधिः ततः कर्मधर्मोऽभ्यासः । यदि विपरीतम्, ततः कर्तृधर्मो नियम इति । किं तावत्प्राप्तम्[2] ।

कर्मधर्मोऽभ्यासः । कुतः ? प्रकरणात् । यदीयं वचनव्यक्तिः, [3]जुहोतियजतिशब्दावनुवादौ, यावज्जीवमिति च विधिः ततः प्रकरणमनुगृह्यते । तस्मादभ्यासः । [4]एवं कृत्वा सत्रसंस्तवो युक्तो भविष्यति । जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं, दर्शपूर्णमासौ च इति दीर्घकालसामान्यात् । तस्मादभ्यासः ॥ १ ॥ क० पूर्वपक्षः ॥

त० वा—बह्वृचब्राह्मणे, अध्वर्युब्राह्मणे वा श्रूयत इति नातीवाभिनिवेष्टव्यम् ।

भाष्योक्तविचारस्यासांगत्ये केषाञ्चित् समाधानम्, तन्निरासश्च

ननु कर्तृधर्मः कर्मधर्म इति शेषलक्षणविषयत्वादिह न संबध्यते । केचिदाहुः । पर्यवसिते लक्षणार्थे तदीयोऽपि विचारः प्रत्यासत्तेः क्रियमाणो न विरुध्यत इति । तत्त्वयुक्तम् । शाखान्तरे कर्मभेदविचारस्याद्याप्यपर्यवसानात् । अत एवं संबन्धनीयम् । यथैव भेदकारणानि कर्मस्वरूपभेदे व्याप्रियन्ते, तथैव प्रयोगभेदेऽपि । तदिह यावज्जीवगुणसंयुक्तानामग्निहोत्रादीनां किं प्रयोगा भिद्यन्त, उतैक एवायं प्रयोगः काम्यः, स एव यावज्जीवकालपरिमित इति । तत्र यदि यावज्जीवकालः कर्मधर्मत्वेन विधीयते, ततः सायंप्रातर्वाक्यवशेन तत्कालसमापनमग्निहोत्रं न शक्नोति तावन्तं कालं पूरयितुमिति, अत्यर्थाज्ज्योतिष्टोमवदभ्यस्तरूपमेव प्रयोगं प्रतिपत्स्यते । यदि पुनर्जीवनं निमित्तत्वेनोद्दिश्य कर्म विधीयते, ततो यावत्कर्तृभाविनि नियते निमित्ते विना कामसंबन्धेन चोद्यमानमकरणे दोषप्रसक्तेरवश्यं पुरुषेण जीवता

---

१. ब. तत्र ।
२. ब. किं प्राप्तम् ।
३. ब. यजतिशब्दोऽनुवादो ।
४. ब. एवं च ।

स्वार्थसिद्धयर्थमनर्थपरिहाराय वा कर्तव्यमिति, कर्तृधर्मो नियमोऽनेन चोदितो भवतीति। तदा च सायंप्रातःकालयोर्जीवनस्य च संहतानां निमित्तत्वात्प्रतिदिवसं निमित्ते तत्पर्यवसितं कर्म पुनः पुनः क्रियत इति प्रयोगान्यत्वम्। तेन [1]प्रयोगभेदाभेदावेवैतत्फलत्वाद्भाष्यकारेणोपन्यस्ताविति मन्तव्यम्।

किं प्राप्तम्? एकः प्रयोगोऽभ्यस्तरूपः कर्मधर्मो यावज्जीवकताकालोपदेशश्चायमिति। कुतः?

कर्मस्थो हि कथंभावस्तदङ्गमभिकाङ्क्षति।
कालोपदेशपक्षे च तत्तथैवोपपद्यते॥

कालो ह्युद्दिश्यमानस्तन्निमित्तश्चाभ्यासः कर्माङ्गं भवति। ततश्च प्रकरणमनुगृह्यते। ननु च पुरुषधर्मत्वेऽपि तस्यैव कर्मणो जीवने विधानान्नैव प्रकरणं बाध्येत। सत्यमधिकारो न बाध्यते, कथंभावात्मकं पुनः प्रकरणं क्रतुधर्ममपेक्षमाणं पुरुषधर्मे विधीयमानेऽत्यन्तं बाधितं भवति। यद्यपि कालस्यापि[2] निमित्तवदेवानुपादेयत्वात्तुल्या वचनव्यक्तिः, तथाऽपि फलतः कालविधानं यागानुवादश्चेति विपरीतं कथ्यते।

अथवा जीवनपरिमितकालद्वारेणाभ्यासश्चोदयिष्यते। स च कर्मोद्देशेन शक्यत एव विधातुमित्येवमुपदिश्यते। कर्तृधर्मपक्षे पुनर्न कथंचित्कर्मोद्देशेन शक्यत एव विधातुमित्येवमुपदिश्यते। कर्तृधर्मपक्षे पुनर्न कथंचित्कर्मोद्देशः। एवं चैकप्रयोगत्वे सति दीर्घसत्रप्रयोगसंस्तव उपपन्नो भविष्यति। इतरथा पुनः प्रतिदिनं पर्यवसानान्न कथंचित्सत्रसारूप्यं भवेत्। तस्मात्कर्मधर्मोऽभ्यास इति॥ १॥

॥ अथ प्रथमं यावज्जीवाधिकरणम्॥ १॥

न्या० सु०—भाष्ये बह्वृचविशेषणस्य चिन्तानौपयिकत्वाद्यथावस्थितोक्तिमात्रार्थत्वं सूचयितुमाह—बह्वृचेति। चिन्ताया लक्षणासङ्गतिमाशङ्कते—ननु चेति। परमतेन परिहरति—केचिदिति। दूषयति—तत्त्विति। स्वमतेन प्रयोगभेदाभेदफलतया सङ्गतिं वक्तुं प्रक्रमते—अत इति।

ननु शब्दान्तरादिप्रमाणकस्य भेदस्य लक्षणार्थत्वात् तेषां चोत्पत्तिज्ञापनेन भेदकत्वात् स्वरूपभेदएव व्यापारावगतेः प्रयोगभेदाभेदचिन्तापि न लक्षणसङ्गतेत्याशङ्क्याह—यथैवेति। प्रयोगाङ्गभूतस्य गुणस्य पूर्वप्रयोगसंयोगासम्भवे प्रयोगविधित्वज्ञापनेन प्रयोगभेदकत्वस्यावेष्टयधिकरणे व्युत्पादितत्वात्, प्रयोगभेदेऽपि व्यापारोऽस्तीत्याशयः। लक्षणसङ्गतां चिन्तामाह—तदिहेति। यावज्जीवशब्दस्य पूर्वपक्षे काललक्षणानुपादेयगुणपरत्वात्, सिद्धान्ते च निमित्तपरत्वात्, तस्यापि चावच्छेदकत्वलक्षणगुणत्वोपपत्तेरनुपादेयगुणान्वयस्य भेदकत्वाभेदकत्वस्य विचारात् कर्मविपरीवृत्तेः प्रकरणान्तरन्यायायोगेऽप्यनु-

---

१. क० प्रयोगभेदाभेदफलत्वात्। २. क० कालस्य निमित्तवत्।

पादेयान्वयनिमित्तभेदचिन्तानन्तरं बुद्धिस्थत्वोपपत्तेः प्रकरणान्तरचिन्तयाऽपि सङ्गतिः सम्भवतीति सूचयितुं यावज्जीवशब्दः। कालपरत्वेऽपि काम्यप्रयोगे सायम्प्रातःकालावरुद्धेऽप्यमावास्यामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ती'तिवदवच्छेद्यावच्छेदकत्वेन कालद्वयसमावेशोपपत्तेर्जीवनपरिमितस्य कालस्य निवेशसम्भवादभेदकत्वम्। निमित्तपरत्वे तु अस्याऽऽवश्यकत्वापादकत्वेन काम्यप्रयोगे निवेशायोगाद्भेदकतेति गुणनिमित्तभेदाभेदचिन्तार्थं काललक्षणगुणपरो यावज्जीवशब्दः, निमित्तलक्षणगुणपरो वेति विचारस्वरूपं सूचयितुं गुणशब्दः। कस्मात्तर्हि भाष्ये कर्मधर्मः, कर्तृधर्मो वेति चिन्तेत्याशङ्क्य, प्रयोगभेदाभेदफलासौ चिन्तेति दर्शयितुमाह—तत्रेति। काललक्षणस्य गुणस्य काम्यप्रयोगे निवेशसम्भवादभेदकत्वसिद्ध्यै कर्मधर्मत्वोक्तिरिति सूचनार्थः कालशब्दः। काम्यप्रयोगस्य सायम्प्रातःकालसमापनीयत्वेन तस्मिन्यावज्जीवकालस्य निवेशायोगाद्भेदकत्वं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासार्थंताऽभ्यासोक्तेः सायमित्यादिना सूचिता। निमित्तलक्षणस्य गुणस्यावश्यकत्वापादकत्वेन काम्यप्रयोगे निवेशायोगाद्भेदकत्वसिद्ध्यै नियमाख्यस्यावश्यकत्वस्य कर्तृधर्मत्वान्नियमलक्षणार्था कर्तृधर्मोक्तिरिति सूचनार्थं नियमविधिभाष्योक्तमुपपादयितुम्—यावत्कर्तृभाविनीत्याद्युक्तम्।

नियमस्य कर्तृधर्मत्वोपपादनार्थं स्वार्थेत्युक्ते स्वकाले विहिताकरणादुत्पन्नस्य दोषस्य नाशायाऽतिक्रान्तेऽपि काले कर्त्तव्यत्वज्ञापनार्थं जन्यत्वान्नाशस्यात्मप्रयत्नरूपभावनाभाव्यत्वोपपत्तिसूचनाय स्वार्थशब्देनोक्तस्य—सिद्ध्यर्थमित्युक्तम्। निषिद्धाचरणजन्यदोषनाशार्थत्वाभ्युपगमे त्वनाचरितनिषिद्धस्याऽकर्त्तव्यत्वापत्तेर्नावश्यकत्वसिद्धिः। प्रायश्चित्तत्वेन चाविधानान्नोपात्तदुरितक्षयार्थत्वेऽग्निहोत्रादेः किं चित्प्रमाणमस्ति। विस्तरेण चोपात्तदुरितक्षयार्थताऽग्निहोत्रादेस्तन्त्रसारेऽस्माभिर्निरस्ता। उपात्तदुरितक्षयार्थत्वोद्घोषस्तु विहिताकरणजन्यमेव दुरितं विहितकालसमीपे प्राप्तत्वात्, आङ्पूर्वस्य ददातेर्गृह्णात्यर्थवाचित्वेन ग्रहणफलप्राप्तिलक्षणत्वोपपत्तेरुपात्तदुरितमभिप्रेत्य व्याख्येयः। अकरणे दोषप्रसक्तेरिति हेत्वभिधानादप्ययमेव वार्त्तिककृतोऽभिप्रायो लक्ष्यते। अनर्थपरिहारार्थत्वमात्रहेतुत्वम्—तु व्यवधानादयुक्तम्।

पूर्वां सन्ध्यां जपन् विप्रो नैशमेनो व्यपोहत।

इत्यादिस्मृतिस्तु निशान्तविहितकर्माननुष्ठानजन्यमेनो नैशमित्येवं व्याख्येया। यद्रात्र्या पापमकार्षं, मनसा वाचा हस्ताभ्यां, पद्भ्यामुदरेण शिश्नेत्यादिमन्त्रवर्णोऽपि मनःप्रभृतीनामन्यासक्तत्वाद्रात्र्यन्तविहितकर्माननुष्ठानेन यत्पापमकार्षमित्येवं व्याख्येयः।

सन्ध्योपासनमात्राद्धि सर्वपापक्षये सति।
अग्निहोत्राद्यनुष्ठाने कः प्रवर्त्तेत बुद्धिमान्॥ १॥

कस्य तु क्षमता कस्येत्यवगन्तुं न शक्यते।
अतो मदुत्तरीत्यैव पापनाशार्थतोचिता॥ २॥

एतच्च स्वकाले कुतश्चित् कारणात्कर्मण्यकृते कालान्तरे नैष्फल्यापत्तेः काम्यवन्नित्यस्यापि लोपशङ्कानिरासायोक्तम्। शास्त्रेण त्वकरणजन्यदोषाभावार्थैवाग्निहोत्रादेः कर्त्तव्यतोच्यतइति वक्तुं दोषप्रागभावस्याजन्यत्वाद्भाव्यत्वायोगमाशङ्क्य प्रागसतोऽपि दोषस्योत्पत्तिप्रतिबन्धः प्रागभावप्रतिपालनाख्यो भावयितुं शक्यते इति परिहारसूचनायाऽनर्थरूपस्यावस्तुरूपस्यासद्रूपस्य दोषस्य परिहाराय—**प्रतिबन्धायेत्युक्तम्**।

अग्निहोत्रादेर्विहितत्वात्, तदकरणस्य प्रत्यवायोत्पादकत्वम्, तदकरणस्य च प्रत्यवायोत्पादकत्वात्परिहारार्थविधिरित्यन्योन्याश्रयाशङ्का तु विधिकर्मशक्त्योरनादित्वात्परिहरणीया। अन्यथा विहितत्वात्फलसाधनत्वं, फलसाधनत्वाच्च तादर्थ्येन विधिरित्यन्योन्याश्रयमपरिहार्यं स्यात्। जीवननिमित्तकस्यापि प्रयोगस्य निमित्तैक्यादैक्यमेव स्यादित्याशङ्क्य, सायम्प्रातःकालावच्छिन्नस्य जीवनस्य निमित्तत्वात्, तस्य च प्रतिदिवसं भेदात्, प्रयोगभेदोपपत्तिं वक्तुं कालजीवनसमुदायस्य निमित्ततोक्ता। कालस्याङ्गत्वेऽप्यनुपादेयत्वादन्यकालीनजीवनसद्भावेऽपि कालापादनाशक्तेरनुष्ठानायोगात्तत्कालीनएव जीवने सत्यनुष्ठेयत्वावगतेरर्थात्कालविशिष्टस्यैव जीवनस्य निमित्तताऽवसीयतइत्याशयः। फलतः सङ्गतिमुपपादितामुपसंहरति—**तेनेति**।

यदीति सन्देहहेतुभाष्यालोचनया चैतदवगम्यतइति सूचनार्थम्—**भाष्येत्युक्तम्**। यावज्जीवशब्दस्य निमित्तपरत्वे विधित्वायोगाद्विध्युक्त्या कालपरत्वसूचनाद् यावज्जीवशब्दः कालपरो निमित्तपरो वेति विचारार्थो गम्यते। विपरीतशब्देन च सिद्धान्ते जुहोतेर्विधित्वोक्त्या, भेदं विना विध्ययोगात्, कर्मस्वरूपभेदस्य च 'सन्निनौ त्वविभागादित्य'त्र निरस्तत्वात्प्रयोगभेदाभेदविचारस्यापि सूचनात्, तस्य योग्यतया फलतऽवगम्यतइत्याशयः। सूत्रव्याख्यानार्थं किं तावदिति भाष्यं व्याचष्टे—**किं तावदिति**। अभ्यासशब्देनाऽभ्यासापादककालपरता यावज्जीवशब्दस्य सूचितेति दर्शयितुम्—**कालेत्युक्तम्**। पूर्वपक्षभाष्यस्थयदिशब्दव्याख्यानार्थः पक्षशब्दः। कालविधिपक्षे च कालान्तरनिमित्ताभ्यासविधिपक्षे च तत्कालरूपमभ्यासरूपं च यथैव कर्माङ्गत्वेन वाञ्छितं तथैवोपपद्यतइत्यर्थः। उत्तरार्द्धं व्याचष्टे—**कालो हीति**।

सन्निधानापरपर्यायाधिकारलक्षणप्रकरणानुग्रहसम्भवाशयेनाशङ्कते—**ननु चेति**। तथापि कथम्भावात्मकप्रकरणबाधो दुर्वार इति परिहरति **सत्यमिति**। ननु कालत्वस्याप्यनुपादेयत्वात् यच्छब्दोपबन्धलक्षणत्वेन वानुपादेयत्वस्य विधिप्रतिबन्धकत्वाद्विधेयत्वानुपपत्तेः यावज्जीवशब्दोक्तत्वेऽपि अङ्गत्वायोगेन प्रकरणानुग्रहासम्भवात्प्रकरणानुग्रहार्थं यावज्जीवोक्तेः कालपरत्वसूचनार्थो विधिशब्दो न प्रयुक्त इत्याशङ्क्याह—**यद्यपि चेति**। यावज्जीवनं तस्मिन् सति यजेतेति कालनिमित्तपक्षयोः समानायामपि वचनव्यक्तावप्राप्तप्राप्तिफलत्वाद्विधेर्यच्छब्दोपबन्धाच्च स्वरूपस्य सिद्धत्वप्रतीतावपि अङ्गत्वविषयविधिप्रतिबन्धायोगादनुपादेयत्वेन यच्छब्दोपबन्धादनुवाद्यतया भासमानस्यापि कालस्यानुवादविपरीतं विधानं यागस्य त्वोपादेयत्वाद्विधेयतया भासमानस्य विधिविपरीतोऽनुवादः कथ्यतइत्यर्थः।

यावज्जीवशब्दोक्तकालान्वयान्यथानुपपत्तिकल्पिताभ्यासविध्याशयत्वे तु विध्युक्तेर-भ्यासस्योपादेयत्वाद्विधेयत्वं स्वरसादेव प्रतीयतइत्याह—अथ वेति । अभ्यासस्योपादेयत्वेनो-पादेयकर्मान्वयायोगमाशङ्क्य, स्वरसेनोपादेयत्वेऽपि कर्मणो विध्यन्तरप्राप्तत्वेनोद्देश्यत्वो-पपत्तेस्तद्रूपेणान्वयोपपादनार्थम्—स चेत्युक्तम् । ननु कर्मणः प्राप्तत्वेनोद्देशसम्भवे यावज्जीवोक्तेर्निमित्तपरत्वेऽपि निमित्तान्वयान्यथानुपपत्तिकल्पितस्यावश्यकत्वस्योपादेयत्वा-त्कर्मोद्देशेन विध्युपपत्तेर्न विध्युक्त्या कालपरत्वं सूचयितुं शक्यमित्याशङ्क्य, कर्मानङ्गत्वेना-वश्यकत्वस्य विधेयत्वेऽपि न कर्मोद्देशापेक्षेत्याह—कर्त्रिति । निमित्तान्वयस्यावश्यकत्वा-पादकत्वसूचनार्थं कर्तृधर्मशब्देन लक्षणया निमित्तपरतोक्ता । एवं चेति लिङ्गदर्शनभाष्यं व्याचष्टे—एवं चेति । तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति ॥ १ ॥

भा० प्र०—"यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति", "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" अर्थात् "यावज्जीवन अग्निहोत्र होम करे", तथा "यावज्जीवन दर्शपूर्णमास याग करे" यह वेद में कहा गया है । इस स्थल में यावज्जीवन करना चाहिए अर्थात् मरण से पूर्व तक करना चाहिए यह उपदेश है । यह कर्म का धर्म होने से मरणावधि समय तक अनेक अनुष्ठानों से एक प्रयोग अर्थात् कर्म सम्पन्न होगा अथवा यह अनुष्ठान करने वाले पुरुष का धर्म होने से एक बार अनुष्ठान करने से एक प्रयोग सिद्ध होगा और जीवन पर्यन्त उसका निमित्त होने से अनेक कहकर कर्म किया जायगा । यही संशय है ।

इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का कहना है कि 'यावज्जीवम्' इत्यादि वाक्य में 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इस वाक्य से विहित काम्य अग्निहोत्र का अनुवाद कर इस कर्म में यावज्जीवनरूप काल का सम्बन्ध विहित होता है । क्योंकि, इस यावज्जीवनरूप काल का सम्बन्ध पूर्व में प्राप्त नहीं था, उसी का इससे विधान किया गया है । अतः, "यावज्जीविकः अभ्यासः कर्मधर्मः स्यात्" अर्थात् यावज्जीवन कर्म का धर्म है, क्योंकि, "प्रकरणात्" यह कर्म के प्रकरण में उपदिष्ट होने से पूर्व में उपदिष्ट कर्म में यावज्जीवन काल ही विहित होता है, ऐसा मानने से ही प्रकरण की मर्यादा रक्षित होती है । इसलिए, याव-ज्जीवन कर्म का अभ्यास अर्थात् पुनः पुनः अनुष्ठान करने पर एक अग्निहोत्र कर्म या दर्शपूर्णमास कर्म सम्पन्न होगा ।

"यावज्जीविकः"=यावज्जीवन अग्निहोत्र विधि का "यावज्जीवन" अंश, "अभ्यासः" = कर्मानुष्ठान का अभ्यास अर्थात् पुनः पुनः, "कर्मधर्मः" = कर्म का धर्म है, "प्रकरणात्" क्योंकि यह प्रकरण में पठित है ॥ १ ॥ यह पूर्वपक्ष है ।

कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगात् ॥ २ ॥ सि०

शा० भा०—अत्र ब्रूमः—यावज्जीविकोऽभ्यासो न स्यात् । कर्तुर्धर्मो नियम-श्चोद्यत इति । कुतः ? श्रुतिसंयोगात् । एवं श्रुतिपरिच्छिन्नोऽर्थो भविष्यति ।

इतरथा लक्षणा स्याद् । कथम् ? यावज्जीवनं तावता कालेन[1] कुर्यादिति । तदेतत्प्रदोषपरिसमाप्यमग्निहोत्रमनभ्यस्य न शक्यते यावज्जीवनकालेन[2] कर्तुम् । पौर्णमास्यमावास्यापरिसमाप्यौ च दर्शपूर्णमासौ ।

यद्युच्येत जीवनकालस्यैकदेशेऽपि कृतं तेन कालेन कृतं भवतीति । नैतदेवम् । अर्थप्राप्तं हि तन्न[3] विधातव्यं शब्देन । जीवनपरिमितः कालो यः तेन परिसमापयितव्यमित्यर्थादभ्यासः । स हि कर्तव्यतया श्रूयते । न चासौ जुहोतियजतिभ्यामुच्यते । लक्षणया तु गम्यते । यावज्जीवं जुहुयात्, यावज्जीवनभ्यस्येदिति । श्रुतिश्च प्रकरणाद् बलीयसी । यदीयं वचनव्यक्तिरस्य वाक्यस्य, यावज्जीवमित्यनुवादो, जुहोति यजतीति च विधानमित्येवं यजतिजुहोतिशब्दौ स्वार्थविव भविष्यतः, यावज्जीवशब्दोऽपि जीवनवचन एव । नाभ्यासलक्षणो भविष्यतीति, जीवने निमित्ते कर्म विधीयते—जीवंश्चेद्धोतव्यमिति । जीवनं निमित्तम्, न कालः । नियतनिमित्तत्वान्नियतं कर्म । तेनोच्यते कर्तृधर्मो नियमश्चोद्यत इति ॥ २ ॥ सि० ॥

त० वा०—धर्म इत्यनुवर्तते । तेनैषा प्रतिज्ञा कर्तृधर्मोऽयं चोद्यत इति । सोऽपि च नियमः, न यथाकाम्यम् । कुतः ?

यावज्जीवपदाख्यातश्रुतिवृत्तित्वसंभवः ।
मत्पक्षे भवतस्तत्र लक्षणावृत्तता भवेत् ॥

इह हि यावज्जीवमिति यावत्कर्तृभाविजीवनं[4] निमित्तभूतं श्रुत्यैव प्रतिपादितम् । जुहोतियजतीत्यपि धात्वर्थानुरक्तभावनामात्रवाची प्रत्ययांशः श्रौत एव । तदुभयमपि मत्पक्षेऽनुगृह्यते । भवत्पक्षे तु जीवनेन कालो लक्ष्येत । जुहोतियजतिभ्यामप्यभ्यासः । यत्र हि विधिः समाप्यते, स चोदनार्थो भवति । भवतश्च जीवनधात्वर्थपरित्यागेन कालाभ्यासौ विधीयेते । तेन लक्षणापर्यवसायी विधिः प्राप्नोति ।

तत्रैतत्स्यात् । यावज्जीवमिति यावच्छब्दः श्रुत्यैव कालं ब्रवीति । तद्यथा—यावद्दोहं स्वपिति । युक्तमत्र कालग्रहणम् । वर्तमानपदेशो ह्ययम्, नात्र काचिन्निमित्तापेक्षा । तेन श्रुतिवृत्तं दोहनमतिक्रम्य कालो गृह्यते । यदि त्विहापि यावद्दोहं स्वप्यात्, आसीत वेति विधीयेत, ततः केन वा दोहस्य निमित्तत्वं वार्येत । यावज्जीवचोदनायां[5] तु न किंचिदतिक्रमकारणमस्ति, प्राणधारणक्रियाया एव निमित्तत्वोपपत्तेः । न च यावच्छब्दः कालवचनः क्वचित्प्रसिद्धः । क्रियामेव तु समाप्तिपर्यन्तत्वेन विशिनष्टि । क्रियाकालयोरभेदान्न लक्षणेति चेत् । अत्र वैशेषि-

---

१. ब. काले । २. ब. काले । ३. ब. यन्नतु ।
४. क० कर्तृभात्रजीवनं । ५. क० चोदनतायां ।

कानपराजित्य परिहारायोपस्थातव्यम्। अपि च सत्यपि क्रियाणां कालत्वे काचिद्व्यवस्था विद्यते। यतो न सर्वासु कालप्रतिपत्तिर्लोकस्य। तत्र शेषाः क्रिया उपलक्षणीकृत्य चन्द्रादित्यपरिवर्तनक्रियासु कालव्यवहारो व्यवस्थितः। ता एवावान्तरक्रियापरिमाणेन प्रत्यासत्तेरन्यक्रियापरिच्छेदार्थमुपादीयमानेनोपलक्ष्यन्ते। तथा हि—

अनवस्थितमानत्वाद् गोदोहादिषु रूपतः।
चिह्नं व्यवस्थयेच्छन्ति नित्यं सूर्यादिचेष्टितम्॥

कियता कालेन गौर्दुह्यत इत्युक्ते, नियतान्येव मुहूर्तादीनि परिच्छेदकत्वेनोपादीयन्ते। तत्परिच्छेदश्च नाडिकाल-क्षण-लव-त्रुटि-निमेषादिभिर्व्यावहारिकक्रियाव्यतिरिक्तैरेव क्रियते। तदभ्यासवशेन तु व्यावहारिकाणामपि प्रायिकपरिमाणज्ञानात्परिच्छेदकत्वं भवति। न च जीवनं नाम निमेषादिवन्नियतपरिमाणम्, येन परिच्छेदकत्वसामर्थ्यात्कालत्वेनाऽऽश्रीयते। तस्माद्व्यतिरिक्तकालॡक्षणा दुष्परिहरा।

पुनश्चाभ्यासलक्षणा। कथम्?

न ह्येकेन प्रयोगेण जीवकालोऽवरुध्यते।
विततेनापरिज्ञानादन्यथा वा वृथाश्रुतिः॥

अनभ्यस्तं प्रयुञ्जानो यदि तावद्वितत्य प्रयुङ्क्ते, जीवनपरिमितस्य कालस्यान्तरा किंचित्कर्मावयवं यदाकदाचित्कुर्वाणस्ततो मरणस्यानिरूपितकालत्वाद्यदि कथंचिदन्त्यायामवस्थायां समापयेत्, न च म्रियेत तदूने काले समापनादयथाचोदितापत्तिः। अथासमाप्य म्रियेत, तथाऽपि प्रक्रान्तासमापनं दोषः स्यात्। न च सर्वस्वारवद्वचनमस्ति, येन मृतेऽपि समाप्येत। सायंप्रातश्चोदनं[1] च [2]यावज्जीवकाम्यचोदनासमीपाम्नाते सत्यौ विना प्रमाणेन केवलकाम्यविषये कल्पनीये स्यातामस्मिन्पक्षे।

यदि तु तदनुरोधेन सकृदेव प्रयुज्योभयं संभावितमिति मन्येत। यथा 'पौर्णमास्यां पौर्णमास्या यजेत' इति चोदिते तदेकदेशकरणेनापि शास्त्रार्थः संभाव्यत इति न व्याप्यते, तथा जीवितपरिच्छिन्नकालैकदेशवर्तिनोः सायंप्रातःकालयोरनुष्ठानाच्चोदनाद्वयमप्यनुष्ठितार्थं भविष्यतीति।

तत्रोच्यते— पौर्णमास्यतिरिक्ताहर्व्यवच्छेदफला श्रुतिः।
अव्याप्तावपि तत्र स्यान्न त्विहैवं प्रतीयते॥

यद्यपि तत्राल्पत्वात्कर्मणः पूर्वाह्णचोदनावशेन वा पौर्णमासी न व्याप्यते, न किंचिद् दुष्यति। सर्वथा दिवसान्तराण्यतिक्रम्य पौर्णमास्यां तावत्कृतं कर्म

१. क. चोदने। २. ब. यावज्जीवमितिलक्षणया।

तावन्मात्रं च शास्त्रेणोक्तं, न व्याप्तिः। इतरत्र पुनर्जीवितव्यतिरिक्तकालासंभवाद्व्यवच्छेद्यं न किंचिदस्तीति व्याप्तावसत्यां समस्तमेव वाक्यमनर्थकं स्यात्। सायंप्रातश्चोदनयोरपि जीवनकालान्तर्गतेः सिद्धत्वाद्यावच्छब्दश्च समस्तजीवितावधिपरिग्रहार्थ एकदेशानुष्ठाने बाधितः स्यात्। अतः सायंप्रातश्चोदनामिश्रेयमभ्यासमनाक्षिपन्ती न शक्नोति पुरुषं नियोक्तुमित्यपरिहार्या लक्षणा।

ननु चार्थादभ्यासो जायमानस्त्वत्पक्षवदेव न दोषं जनयेत्। तथा हि—

सकृदेव श्रुतो होमः क्रियमाणः पुनः पुनः।
न शब्दे भारमाधत्ते सामर्थ्यारोपितश्रमः॥

अथ योऽयं मम दोषः, स तवापि दोष एव, वक्तव्यो वा विशेषः। उच्यते।

मम प्रतिदिनं सर्वश्चोदनार्थः समाप्यते।
काम्यवच्च पृथक्चेष्टा तव त्वन्ते समाप्यते॥

मम जीवनसहितसायंप्रातःकालोपजने हि सकलं कर्म कृत्वा निराकाङ्क्षे पुरुषे सति पुनरपि तादृङ्निमित्तसंभवाद् द्वितीयादिष्वहःस्वनुष्ठानम्। तत्र च प्रतिदिनं[1] कर्मसमाप्तेर्नाभ्यास इति शक्यं वदितुम्। तद्यथाकाम्ये यः फलभूमार्थी पुनः पुनः प्रयुङ्क्ते, न तस्याभ्यस्तरूपमेतत्कर्मेत्येवं बुद्धिर्जायते, तथाऽत्रेति।

तव पुनर्जीवितपरिमितकालविधानात्कर्मणोऽपरिसमाप्तस्यैवैन्द्रवायवादिग्रहाभ्यासतुल्यमनुष्ठानम्। तच्चैतद्यावज्जीवचोदनाकृतमित्यापन्नमभ्यासविधानम्।

नन्वर्थादभ्यास[2] इति। सत्यमेतत्तेनैव तु लक्षणा, अन्यथा श्रुतिरेव स्यात्। तदुभयतः[3] श्रुत्यनुरोधेन प्रकरणं बाधित्वा जीवनमुद्दिश्य होमयागविधानात्कर्तृकर्मविधिरित्युपपन्नम्॥ २॥

न्या० सु०—'यावज्जीविक' इति भाष्येण वाशब्दं व्याख्याय कर्तृशब्दव्याख्यानार्थं कर्त्तुरिति भाष्यं धर्मशब्दाश्रुतेरयुक्तमाशङ्क्योपपादयितुमाह—धर्मइति। अत्र च कर्तृधर्मश्चोद्यतइत्येतावता प्रतिज्ञासूत्रावयवव्याख्या। कर्तृधर्मोक्तेश्च यावज्जीवशब्दस्य निमित्तपरत्वसूचनार्थत्वान्निमित्तान्वयापादितस्य चावश्यकत्वस्य काम्यप्रयोगेऽनुपपत्तेः प्रयोगान्यत्वसिद्धिसूचनार्थो नियमशब्द इति तेनेत्यादिना सूचितम्। हेतुप्रश्नपूर्वं श्रुतिसंयोगव्याख्यानार्थं कुत इत्यादिभाष्यं व्याचष्टे—कुत इति। ननु जीवतेः श्रुतिवृत्तत्वोपपत्तावपि यावच्छब्दस्य निमित्तानभिधायित्वात्कथं निमित्तपरत्वपक्षे यावज्जीवशब्दस्य श्रुतिवृत्तित्वम्, कर्त्तव्यतावाचिनश्चाख्यातप्रत्ययस्य पक्षद्वयेऽपि श्रौतत्वाविशेषान्निमित्तपक्षएवाख्यातस्य श्रुतिवृत्तत्वोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्यां निरस्यन् श्लोकं व्याचष्टे—इहेति। व्याप्तिवाचिना यावच्छब्देन जीवनस्य यावत्कर्तृभावित्वरूपेण सामस्त्येन श्रुत्यैव विशेषणात्सर्वेषां सायम्प्रातःकालभेदभिन्नानां

---

१. क० प्रतिदिनं समाप्ते। २. क० यत्त्वर्थादभ्यासं। ३. क० तस्मादुभयतः।

जीवनानामनुष्ठानान्वयप्रतीतेः कर्मणि च जीवनविधौ स्वप्रयोजनप्रयुक्तस्य कर्मानुष्ठानस्य कादाचित्कत्वाद्यावच्छब्दोक्तायाः सर्वजीवनव्याप्तेः प्राप्त्यभावेनानुवादायोगादयुगपत्कालीनत्वाच्च जीवनानामेकस्मिन्प्रयोगे साहित्यानुपपत्तेः प्रयोगभेदाक्षेपकाभावाच्चाशङ्क्य, सम्पादनत्वेन व्याप्तेर्विध्ययोगाद् यावच्छब्दानर्थक्यापत्तेः 'निमित्तपरत्वे तु यावन्निमित्तं नैमित्तिकस्यानुष्ठेयत्वाद्यावच्छब्दोक्तव्याप्त्यनुवादोपपत्तेर्यावच्छ्रुतिसामर्थ्यान्निमित्तत्वावगतेर्यावज्जीवपदस्य श्रुतिवृत्तत्वं सिद्धान्तएव सम्भवतीत्यर्थः। यश्चाख्यातप्रत्ययस्य प्रकृतिभूतोऽप्रशस्तस्य श्रुत्यैव प्रत्ययवाच्यभावनानुरञ्जकधात्वर्थवाचित्वादाख्यातस्य श्रुतिवृत्तत्वं सिद्धान्तएव सम्भवतीत्यर्थः। कालपरयावज्जीवपदान्वयनिबन्धनत्वादभ्यासलक्षणायाः धातोश्च प्रत्ययोपसर्जनत्वेनान्वयायोगात्तदन्वितप्रत्ययवाच्यभावनानुरञ्जकत्वेन स्वार्थवाचित्वादाख्यातप्रत्ययद्वारा धातोरपि यावज्जीवपदान्वयात्पूर्वपक्षे अभ्यासलक्षणार्थत्वापत्तिसूचनार्थम्—धातोर्भावनावाचित्वं तात्पर्याशयेनोक्तम्। मात्रशब्दो अभ्यासव्यावृत्त्यर्थः।

ननु यावज्जीवोक्तनिमित्तपरत्वे अपि 'सायं च प्रातश्च जुहोती'ति चशब्दोक्तकालद्वयसमुच्चयान्यथानुपपत्त्याभ्यासलक्षणा तुल्येत्याशङ्कानिरासूचनायैवकारः। 'आग्नेयी सायमाहुतिस्तद्रेतः सिक्तं रात्र्यां गर्भं दधाति, तत्, सौर्या प्रात. प्रजनयती'ति रेतःप्रजनसंस्तवान्यथानुपपत्त्या तेषां 'यस्त्रिरजुहोत्तमपृच्छत्, कस्मैस्त्वं जुहोषीति सो अब्रवीत् त्रेधेत्यग्नये प्रजापतये सूर्यायेति, योद्विस्तमपृच्छत्, सोऽब्रवीद् द्विधेति, अग्नये च प्रजापतये च सायं सूर्याय प्रजापतये च प्रातरिति, य एकस्तमपृच्छत् सोऽब्रवीदेकधेति प्रजापतयएवेति, तेषां यो द्विरजुहोत् स आर्ध्नोत्तस्य नेतरे सातत्यमुपायंस्तद्य एवं विद्वान् द्विर्जुहोति आर्ध्नोत्येवेत्यभ्यासवाचिना द्विरिति सुच्प्रत्ययेनैव कालद्वये अभ्यासस्योक्तत्वान्न सिद्धान्ते लक्षणापत्तिरित्याशयः। श्लोकं व्याख्यातुम्—तदित्युक्तम्।

ननु जीवनधात्वर्थान्वयविध्यन्यथानुपपत्त्या कालाभ्यासलक्षणा पठ्यमाना साध्यसाधनान्वयविध्यन्यथानुपपत्त्या पूर्वकल्पनावन्न दोषमावहतीत्याशङ्क्याह—यत्र हीति। निमित्तत्वानभ्युपगमे जीवनधात्वर्थविध्ययोगाल्लाक्षणिकार्थविध्यापत्तेर्दोषापत्तिरित्याशयः। यावच्छब्दस्य काले प्रयोगदर्शनात्तद्वाचित्वं शङ्कते—तत्रेति। स्वापस्यात्रानुष्ठेयत्वाश्रुतेर्निमित्तानपेक्षत्वाद्दोहनस्य निमित्तत्वेनान्यथायोगात् यावच्छब्दोपबन्धान्यथानुपपत्तेर्लक्षणया कालग्रहणं, न तु श्रुत्या। तच्चागत्या युक्तम्। अनुष्ठेयत्वश्रुतौ तु निमित्तत्वेन श्रुत्यर्थस्यैवान्वयोपपत्तेर्न युक्ता लक्षणेति परिहरति—युक्तमिति। कस्माद्यावच्छब्दस्य कालवाचित्वं नेष्यतइत्याशङ्क्याह—न चेति। लक्षणयापि कालप्रतीत्युपपत्तेर्न वाचकशक्तिकल्पनायुक्तेत्याशयः।

ननु नाडिका-मुहूर्तप्रहरादिप्रत्ययानां परत्वापरत्वयौगपद्यायौगपद्यचिरत्वक्षिप्रत्वावशिष्टपदार्थप्रत्ययानां च कालकृतत्वेनाङ्गीकृतानां विभक्तत्वादाकाशवदविभक्तेन कालद्रव्येण करणाशक्तेः सूर्यादिगतिक्रियावच्छेदाद्विभक्तस्य कालस्य विभक्तप्रत्ययहेतुत्वाभ्युपगमे तु सूर्यादिगतिक्रियाणामेव नभः षष्ठितमभागातिलङ्घनफलः सूर्यादिगतिक्षणप्रचयो नाडिका नभस्त्रिंशत्तमभागातिलङ्घनफलो मुहूर्तो। नभोऽष्टमभागातिलङ्घनफलः प्रहर इत्येवं

नाडिकादिप्रत्ययहेतुत्वोपपत्तेः प्रतियोगिपदार्थापेक्षया बह्वल्पतमसूर्यादिगतिलक्षणावच्छेदयोः परत्वापरत्वविशिष्टपदार्थप्रत्ययहेतुत्वोपपत्तेरेकभिन्नक्षणावच्छेदयोर्यौगपद्यायौगपद्यविशिष्टपदार्थप्रत्ययहेतुत्वोपपत्तेरुत्पत्त्यादिभावविकारान्तर्गतबह्वल्पसूर्यादिगतिलक्षणावच्छेदयोश्चिरत्वक्षिप्रत्वविशिष्टपदार्थप्रत्ययहेतुत्वोपपत्तेः क्रियाव्यतिरिक्तकालाभावाज्जीवनक्रियाया एव कालत्वावगतेर्न लक्षणापत्तिरित्याशङ्कते—क्रियेति। सूर्यादिस्थाया गतिक्रिया युवस्थविरादिपदार्थसम्बन्धाभावेन तदवच्छेदकत्वायोगात्कालस्य तु सर्वगतत्वात् स्वसंयुक्तसूर्यादिसमवेतक्रियावच्छेदलब्धविभागस्य युवस्थविरादिपदार्थावच्छेदकत्वोपपत्तेर्युवस्थविरादिषु परापरादिप्रत्ययैः क्रियातिरिक्तकालानुमानादपरिहार्या लक्षणेति परिहरति—अत्रेति। पदार्थासम्बद्धायाः क्रियायास्तेषु परादिप्रत्ययहेतुत्वायोगात्कालस्यानुमेयत्वे अपि क्रियाव्यतिरेकसिद्धिरिति प्रौढ्योक्तम्। परमार्थतस्तु प्रत्यक्षत्वानभ्युपगमे कालस्यासिद्धिरेव स्यादिति सूचनार्थम्—वैशेषिकानित्युक्तम्। परापरादिप्रत्ययानां हि सार्वत्रिकत्वात् सर्वगतहेत्वपेक्षत्वे अप्याकाशादेरेवान्यतः सिद्धात्कालवत्स्वरूपेणाभिन्नादपि सहकारिभेदापादितविलक्षणसामर्थ्यादुपपत्तेर्न कालकल्पकत्वं भवति। प्रत्यक्षत्वे तु सूर्योदयो वर्त्ततइतिक्रियाविषयोदयप्रत्ययविलक्षणा वर्त्ततइत्यक्षजप्रत्ययवेद्यत्वाद्व्यतिरिक्तकालसिद्धिः। भूतः सूर्योदयो। भविष्यति वेति भूतभविष्यत्कालावच्छिन्नोदयसत्ताग्राहिणि प्रत्यये वर्त्तमानत्वाप्रतीतेश्च न वर्त्ततइति बुद्धेः सत्तालम्बनत्वं शङ्कनीयं ह्यो भूतो, अद्य नश्यति, श्वो भविष्यत्यद्य नोत्पद्यतइति प्रध्वंसप्रागभावग्राहिनाशानुत्पत्तिबुद्धिवैलक्षण्याच्च भूतभविष्यद्बुद्ध्योः प्रध्वंसप्रागभावालम्बनानुपपत्तेः भूतभविष्यत्कालावच्छिन्नसत्तालम्बनत्वं धातुप्रत्यार्थालोचनयाभासमानं नापह्नोतुं शक्यम्। कालानवच्छेदे च सूर्योदयादिसदसत्त्वयोराकाशशशविषाणवत्सर्वदा सदसत्वापत्तेः कादाचित्कत्वप्रतीतिरोधः वतश्च कालस्यैकरूप्येऽप्युपाधिभेदाद्भूतभविष्यद्वर्त्तमानत्वव्यपदेशोपपत्तिः। एकफलावच्छिन्ना हि क्रियाक्षणा यावन्तं कालं व्याप्नुवन्ति, तावत्कालो वर्त्तमानकालत्वेन व्यपदिश्यते। क्रियाक्षणानां च यौगपद्येऽप्येकफलोद्देशेनानुष्ठीयमानानामाद्यक्षणादारभ्य फलोत्पत्तिक्षणपर्यन्तं क्रियैक्यव्यपदेशाद्विद्यमानक्रियावच्छेदौपाधिकं कालस्य वर्त्तमानत्वं विनष्टक्रियावच्छेदौपाधिकं भूतत्वम्। भाविक्रियावच्छेदौपाधिकं भविष्यत्वम् उपपन्नम्। सूर्यादिक्रियावच्छेदस्य च कालस्याक्षिपक्ष्मादिक्रियायावच्छेदाभ्युपगमान्नान्योन्याश्रयापत्तिः। अतश्च सूर्यादिक्रियाणामपि भूतभविष्यद्वर्त्तमानकालावच्छेदात्क्रियाव्यतिरिक्तस्याकाशादिव्यतिरिक्तस्य च कालस्य प्रत्यक्षकालवादिमते विलक्षणप्रतीतिबलादेव सिद्धेः तेषां तावत्पराजयोऽनाशङ्क्य एव।

अनुमेयकालवादिनोऽपि त्वाकाशादिव्यतिरेकासिद्धावपि क्रियातस्तावद्व्यतिरेकसिद्धेरशक्याः पराजेतुमित्याशयः। सूर्यादिगतिक्रियाणां कालत्वमभ्युपेत्यापि गणनापरपर्यायसंख्यानवाचित्वेन स्मृतात्कालयतेर्धातोर्घञि कृते कालशब्दव्युत्पत्तेः क्रियामात्रे च कालत्वाप्रसिद्धेः परिच्छेदकत्वप्रयुक्तत्वात्कालत्वस्य, जीवनस्य चानियतपरिमाणत्वेन परिच्छेदकत्वा-

योगात्कालत्वानुपपत्तेरपरिहार्येह लक्षणेति वक्तुमारभते—**अपि चेति**। कासु तर्हि कालत्वप्रसिद्धिरित्यपेक्षायामाह—**तत्रेति**। 'यावद्दोहं स्वपिति' इत्यादौ गोदोहनादिक्रियास्वपि स्वापादिक्रियान्तरपरिच्छेदकत्वात्कालत्वप्रसिद्धिरस्तीत्याशङ्क्य, क्रियान्तरपरिच्छेदकचन्द्रादित्यपरिवर्त्तनक्रियोपलक्षणत्वद्वारा गोदोहनादेः परिच्छेदकत्वम्, न साक्षादिति क्रियेत्यनेनोक्ते जीवनवदनियतपरिमाणत्वादुपलक्षणत्वायोगमाशङ्क्य पयःप्राप्त्यादिफललाभात्मव्यवहारशेषत्वोक्त्या फललाभपर्यन्तत्वान्नियतं परिमाणत्वं सूचितम्।

ननु परिवर्त्तनक्रियाणां प्रहरचतुष्टयव्यापित्वेन महापरिमाणत्वान्नाल्पपरिमाणाभिर्गोदोहनादिक्रियाभिरुपलक्षणं सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**ता एवेति**। उदयास्तमयलक्षणपरिवर्त्तनक्रियाणां यदवान्तरमुहूर्त्तादिक्रियापरिमाणम्, तेन गोदोहनादिक्रियाभिरुपलक्ष्यमाणेन परिवर्त्तनक्रिया उपलक्ष्यन्तइति वदता गोदोहनादिक्रियाणां साक्षाद्विपरिवर्त्तनोपलक्षकत्वायोगेऽपि तदवयवभूतमुहूर्त्ताद्युपलक्षणद्वारोपलक्षणत्वेऽभिहिते, मुहूर्तादेव तर्हि उपलक्ष्यता कस्मान्नोक्तेत्याशङ्कानिरासाय—**अन्येत्युक्तम्**। परिवर्त्तनोपलक्षकगोदोहनादिपरिच्छेदार्थमुहूर्त्तादेरुपादानाज्ज्वलनादिवदवान्तरव्यापारत्वावगतेर्न प्राधान्येनोपलक्ष्यत्वं सम्भवतीत्याशयः। अनियतपरिमाणाया गोदोहनादिक्रियाया मुहूर्त्तादिना परिच्छेदायोगमाशङ्क्य प्रायिकी परिमाणप्रत्यासत्तिरुक्ता मुहूर्त्तादीनामुपलक्षकत्वसम्भवेऽन्यपरिच्छेदार्थत्वेनोपादानमयुक्तमित्याशङ्कानिराससूचनायैवकारः। अग्निहोत्रादिकालं किमित्यनेनातिक्रान्त इति पृष्टे गोदोहनपर्यन्तस्य स्वापस्यातिक्रमहेतुत्वोक्तये यावद्दोहं स्वपितीत्युच्यमानस्वापावच्छेदकतया गोदोहनमुदयास्तमययोरेव तत्कालत्वात्पूर्वाह्णादीनामप्युदयाद्यपेक्षत्वादुदयास्तमयरूपं परिवर्त्तनमेव प्रयोजनवत्त्वादुपलक्षणीयमित्याशयः।

गोदोहनादीनामन्यतः परिच्छेदापेक्षामुपपादयति—**तथा हीति**। गोदोहनाक्रियासु स्वरूपतोऽनवस्थितपरिमाणत्वाद्व्यवस्थया प्रयोजनभूतया सूर्यादिचेष्टारूपं मुहूर्त्तादिनियतत्वात्परिच्छेदकं लौकिका इच्छन्तीत्यर्थः। उत्तरार्द्धं व्याचष्टे—**कियतेति**।

नन्वेतावान्नभो भागोऽस्मिन्क्षणे सूर्यादिनातिलङ्घित इति पुराणतो ज्ञानाशक्तेस्तावद्भागातिलङ्घितफलसूर्यादिगतिक्षणप्रचयात्मकमुहूर्त्तादिपरिच्छेदायोगादपरिच्छिन्नानां मुहूर्त्तादीनां गोदोहनादिपरिच्छेदकत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**तत्परिच्छेदश्चेति**। आकाशावयवविशेषातिक्रमफलसूर्यादिगतिक्षणप्रचयात्मकस्य नाडिकादेः मुहूर्त्तादिवदेव नैपुण्येन स्वतः परिच्छेत्तुमशक्यत्वात्षष्ठ्या पानीयपलानां यत्र घटीपूरणफलघटीछिन्नोर्द्ध्वगतिक्षणप्रचयात्मिका नाडिकाभिप्रेता अक्षिपक्ष्मसंयोगविभागफलस्याक्षिपक्ष्मगतिक्षणप्रचयात्मकनिमेषस्य चतुर्थो भागः क्षणद्वयं लवः, क्षणत्रयं त्रुटिः, क्षणचतुष्टयं निमेषः, पञ्चदश निमेषाः काष्ठा, त्रिंशत्काष्ठा च कला मुहूर्त्तत्रिंशा च यवात्मिका आदिशब्देनोक्ता। मानुषीणामपि निमेषादिक्रियाणां स्वतः परिच्छेदकसम्भवे गोदोनादेरपि स्वतः परिच्छेदकत्वापत्तिरित्याशङ्क्य—**व्यावहारिकेत्युक्तम्**। पयःप्राप्त्याद्यभिमतफलात्मकस्य व्यवहारस्य दोग्धृप्रयत्नशैथिल्याशैथिल्याभ्यां बह्वल्पलक्षणसाध्यत्वेनानियतपरिमाणकालव्यापित्वात्तच्छेषभूतानां गोदोहना-

दिक्रियाणां परिमाणनियामकत्वलक्षणपरिच्छेदत्वायोगोऽपि निमेषादिक्रियाणां फलानुद्देशेनैव स्वभावतोऽनुष्ठीयमानानामप्रयत्नापाद्यत्वेन प्रयत्नशैथिल्यकृतवह्वल्पकालव्यापित्वायोगात्फल-पर्यन्तत्वाभावेन च तन्निमित्तानियतकालव्यापित्वायोगान्नियतपरिमाणत्वोपपत्तेः परिच्छेद-कत्वसम्भवतीत्याशयः। कथं तर्हि यावद्दोहं स्वपितीति गोदोहनक्रियायाः परिच्छेदकत्व-व्यवहार इत्याशङ्क्याह-**तदभ्यासेति**। सकृदनुष्ठाने प्रायिकत्वायोगात्तस्मिन्मुहूर्तादिपरिमिते काले व्यवहारोपयोगिनीनां दोहनादिक्रियाणां यो अभ्यासः तद्वशेनेत्युक्तम्। जीवनस्य तु कथं चित्परिच्छेदकत्वायोगान्न कालत्वं सम्भवतीत्याह—**न चेति**। काललक्षणापरिहारा-योगमुपसंहरति—**तस्मादिति**।

अभ्यासलक्षणामुदपादयितुमारभते—**पुनरिति**। प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कथमिति**। प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कथमिति**। वैतत्येन कदाचित्स्तोकानुष्ठानाद्विक्षिप्तत्वेन प्रयोगे क्रियानु-जीवनकाल इत्यपरिज्ञानाद्वैतत्यं, वैपरीत्येन त्वेकहेलया कृत्स्नप्रयोगे यावज्जीवश्रुतिर्वृथा स्याद्यत इति अध्याहारेण योज्यम्। वैतत्येनापरिज्ञानादित्येतद्व्याचष्टे—**अनभ्यस्तमिति**। 'अमृतेन समाप्येत'इति परिसंख्यारूपेणासमाप्य म्रियतइत्यर्थविवक्षया—**अथेत्युक्तम्**। मृते-ऽपि समापने सर्वस्वाराख्यक्रतुवददोषमाशङ्क्यार्भवपवमाने प्रस्तूयमाने ब्राह्मणाः समापयत मे यज्ञमिति सम्प्रैष्य संविशतीति वचनात्तत्रादोष इति वैषम्यम्। **न चेत्यनेनोक्तम्**। वितत्य-प्रयोगे निवेशायोगात्। यावज्जीवचोदनायाः पूर्वपक्षेऽनिष्टस्यापि प्रयोगान्तविधायित्वस्या-पत्तेः सायम्प्रातश्चोदनयोश्चोदनाद्वयसन्निध्यविशेषेऽपि काम्यप्रयोगमात्रविषयत्वकल्पना निष्प्रमाणिकाप्यापद्येतेति दूषणान्तरमाह—**सायमिति**। सती इति पाठे चोदने इति नपुंसक-द्विवचनम्। प्रयोगान्तरापत्तिसूचनाय—**अस्मिन्नित्युक्तम्**। पक्षान्तरार्थमन्यथेति। श्लोकावयवं व्याचष्टे—**यदि त्विति**। सायम्प्रातश्चोदनानुरोधेनैकदैव कृत्स्नप्रयोगात्सायम्प्रातश्चोदनार्थं यावज्जीवचोदनार्थयोर्द्वयोरपि सम्पादनं यदि मन्येतेत्युक्ते कृत्स्नजीवनकालाव्याप्तौ कथं तच्चोदनार्थसम्पत्तिरित्याशङ्कानिरासार्थो दृष्टान्तः। अस्मिन्पक्षे दोषोक्त्यर्थं वृथेत्यवयवं व्याचष्टे—**तत्रेति**। तिथिवाच्यहःशब्दः इह यावज्जीवश्रुतौ व्यापितोऽन्यत्फलं न प्रतीयतइत्यर्थः। श्लोकं व्याचष्टे—**यदीति**। 'पूर्वाह्णो वै देवानामित्यन्यार्थदर्शनमेवान्यतः प्राप्तचभावेन प्रापकत्वाच्चोदनाभिप्रेतम्। आजीवतोऽनुष्ठानाशक्तेः कर्मणो जीवनव्यति-रिक्तकालाप्राप्तावपि सायम्प्रातःकालयोर्जीवनव्यतिरेकेणापि भावात्सायम्प्रातश्चोदनावशेना-जीवनः स्वयमशक्तावप्यृत्विग्द्वारा सर्वस्वारवत्प्राप्तानुष्ठाननिवृत्त्यर्थं सायम्प्रातश्चोदनायो-र्जीवनकालान्तर्गतसायम्प्रातःकालाविषयत्वोपसंहारार्थत्वेनार्थवद्यावज्जीववाक्यमित्याशङ्क्य—**सायमित्युक्तम्**। आहत्य वचनं विनार्त्विग्द्वारानुष्ठानकल्पनस्याप्ययुक्तत्वाच्छक्त्यालो-चनयैव जीवनान्तर्गतसायम्प्रातःकालविषयताऽन्तर्गत्युक्त्या विवक्षिता। अनेन च यदपीत्याशङ्कापरिहारभाष्यं—**व्याख्यातम्**। **यावच्छ्रुतिविरोधश्च**। अस्मिन्पक्षे स्यादिति दूषणान्तरोक्त्यर्थत्वेन 'शब्देन त्वि'ति भाष्यं चशब्दार्थो तुशब्दाभ्युपगमेन व्याचष्टे—**यावच्छब्दश्चेति**। इत्यर्थादित्यभ्यासलक्षणोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**अतः इति**।

सायम्प्रातश्चोदनामिश्रत्वोक्त्या कृत्स्नप्रयोगाङ्गत्वेन कालविधानात्तद्विरोधादपि वितत्य प्रयोगो न युक्त इति सूचितम् ।

ननु जीवनपरिमिते काले जुहुयादिति विहितेऽर्थादभ्यासापत्तावपि विधेरभ्यासविषयत्वाभावान्नाभ्यासलक्षणापत्तिरित्याशङ्कानिरासार्थत्वेन स होति भाष्यं व्यख्यातुमाशङ्कते तावत्—**ननु चेति** । एतदेव विवृणोति—**तथा हीति** । शब्दस्य होमाभ्यासापादने यः श्रमः, स सामर्थ्यंहोमेनारोपितो यत इत्यध्याहारेण भारानुपादने हेतुतया योज्यम् । शब्दोक्तजीवनपरिमितकालान्वयसामर्थ्यस्याश्रुताभ्यासापादकत्वमात्रेण तुशब्दस्य दुष्टत्वाभ्युपगमे सिद्धान्तेऽपि सायम्प्रातःकालावच्छिन्नजीवनलक्षणनिमित्तान्वयसामर्थ्यस्याश्रुताभ्यासापादकत्वादविशेष इत्याह—**अथेति** ।

सिद्धान्ते प्रत्यहं प्रयोगविध्यर्थसमाप्तेः प्रत्यहमभ्यस्तप्रयोगाभावात्प्रयोगाभ्यासस्य च विधिव्यापारं विनापि सामर्थ्यादेव सिद्धेर्नाभ्यासलक्षणापत्तिः । पूर्वपक्षे त्वभ्यस्तस्य कर्मणः प्रयोगः न प्रयोगाभ्यासः । प्रयोगस्य च विध्यधीनत्वादभ्यासलक्षणं च विनाभ्यस्तप्रयोगविध्ययोगाल्लक्षणापत्तिरिति वैषम्येणाशङ्कानिरासार्थतया व्याख्यातुमाह—**उच्यते इति** । प्रत्यहं विध्यर्थसमाप्तौ द्वितीयादिष्वहः स्वनुष्ठानानर्थक्यमाशङ्क्य, पृथक्प्रयोगतोक्ता ।

श्लोकं व्याचष्टे—**ममेति** । प्रतिदिनं कर्मसमाप्तेर्नैकस्मिन्प्रयोगे कर्माभ्यास इत्यर्थः । न त्वभ्यस्तप्रयोगस्यापि सामर्थ्यालभ्यत्वेनाशाब्दत्वात् न दोषापत्तिरित्याशङ्क्याह—**तच्चेति** । अभ्यस्तप्रयोगचोदनां विनाभ्यस्तप्रयोगासिद्धेरभ्यस्तस्वरूपत्वे विधिर्व्यापारयितव्य इत्यर्थः । ननु विधेयत्वेऽप्यभ्यासस्य जीवनपरिमितकालान्वयान्यथानुपपत्तितः प्रतीतेर्धातोरभ्यासलक्षणायां व्यापाराभावाददोष इत्याशङ्कते—**नन्विति** । शाब्दत्वं विनाभ्यासस्य विधावन्वयायोगेनान्यथानुपपत्तितः प्रतीतिसम्भवेऽपि धातुव्यापारस्यावश्याभ्युपगन्तव्यत्वादपरिहार्या लक्षणेत्याशयेन परिहारं न चेत्यादिभाष्यसूचितमाह—**सत्यमिति** । श्रुतिश्चेत्यादिसूत्रार्थोपसंहारभाष्यमेकहेलया व्याख्यातुमाह—**तदिति** । पञ्चम्यर्थे तदित्यव्ययम् । उभयशब्देनाख्यातयावज्जीवपदविषयतया श्रुतिशब्दो व्याख्यातः । अनुवादोक्तेरुद्देशाशयतोद्दिश्येत्यनेनोक्ता ॥२॥

भा० प्र०—इस विषय में सिद्धान्ती का कहना है कि "कर्तुः वा"—"यावज्जीवम्" इत्यादि वाक्य में यावत् शब्दपूर्वक जीव् धातु से णमुल् प्रत्यय का यावज्जीवम् यह प्रयोग सिद्ध होता है, अतः, यह कालवाचक नहीं है, अपितु सम्पूर्ण जीवन का वाचक है । अतः जीवन कर्म के धर्म के रूप में यह विहित नहीं हो सकता है, क्योंकि, यह पुरुष का धर्म है । इस प्रकार इसको पुरुष का धर्म मानने पर शक्यार्थ अर्थात् शक्ति से लभ्य अर्थ का ही ग्रहण होता है, किन्तु कालवाचक मानने पर लक्षणा के द्वारा काल अर्थ का बोध होने से—इसको लक्ष्यार्थ मानना होगा । शक्यार्थ के सम्भव होने पर लक्ष्यार्थ का ग्रहण करना उचित नहीं है । अतः, यह पुरुष का धर्म है । इसीलिए, सूत्र में "श्रुतिसंयोगात्" यह कहा गया है । इसको पुरुष का धर्म कह कर इस स्थल में इसको अग्निहोत्र के

निमित्त के रूप में उल्लेख किया गया है। अतः, प्रकृत में "अग्निहोत्रं जुहुयात्" इस वाक्य से विहित कर्म से स्वतन्त्र कर्म का विधान किया गया है और जीवन इसका निमित्त होने से एवं निमित्त के रहने पर नैमित्तिक का परित्याग नहीं किया जा सकता है, अतः, प्रतिदिन सायं और प्रातः के कर्तव्यों के अनुष्ठान में एक-एक प्रयोग सम्पन्न होगा। प्रत्येक दूसरे दिन उक्त अग्निहोत्र का निमित्त रूप जो जीवन, उसके वर्तमान रहने से प्रत्येक दिन वह नवीन कर्तव्य होगा और जीवन की समाप्ति होने पर अनुष्ठान की भी निवृत्ति होगी। इस प्रकार प्रत्येक दिन के अनुष्ठान में एक-एक प्रयोग अर्थात् कर्म सम्पन्न होने पर "यावज्जीवम् अग्निहोत्रं जुहोति" इस श्रुति-वाक्य से भिन्न-भिन्न प्रयोग ही उपदिष्ट होता है।

"कर्तुः" = यावज्जीवन कर्ता का धर्म अर्थात् अनुष्ठान करने वाले धर्म, "व" = पूर्वपक्ष के निरास के लिए है, "श्रुतिसंयोगात्" = श्रौत अर्थ का लाभ होने से अर्थात् शक्यार्थ का ग्रहण होता है ॥ २ ॥ सिद्धान्त।

लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत्स्यात् ॥ ३ ॥

शा० भा०—लिङ्गं च भवति—अपि ह वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते, यो दर्शपूर्णमासयाजी पौर्णमासीममावास्यां वाऽतिपातयेत् इति। कथं लिङ्गम्? कर्मधर्मे हि प्रक्रान्तं सत्रं[1] यावज्जीवनकालेन परिसमाप्येत, न तत्र कालातिपातः[2] स्यात्। तत्र चानर्थकमन्यत्स्यात्प्रायश्चित्तादि[3] विधीयमानम् ॥ ३ ॥

त० वा०—अतिपत्तिरिति-स्वधर्मातिक्रमोऽभिधीयते। जीवनपरिमितश्च दर्शपूर्णमासयोः कालः। न च तदतिक्रमः कथंचिदपि संभवति। प्रक्रमेण हि कर्मकालं संस्पृशदनतिक्रान्तमित्यभिधीयते। न च कश्चिदपि पूर्णमासयाजी सन्नप्रक्रममाण एव जीवनमतिलङ्घयति। न ह्यसौ दर्शपूर्णमासयाजी स्यात्। अथ स्वकालापरिसमापनमतिपातनमुच्येत, तथा मृतस्य तद्भवतीत्यनर्थकमेव प्रायश्चित्तविधानम्। मत्पक्षे हि प्रतिमासं दर्शपूर्णमासप्रक्रमसमाप्त्योर्जीवने निमित्ते विधानात्संभवत्यतिक्रमः। तदुत्तरकालश्च प्रायश्चित्तविषयत्वेन।

ननु पूर्वपक्षेऽपि प्रतिमासमभ्यासाभ्युपगमात्तदतिक्रमनिमित्तप्रायश्चित्तविधानं भविष्यति। न शक्यमेवं वदितुम्। यत्र हि निमित्ते यच्चोदितम्, तेन तत्र भवितव्यम्, न यथेष्टम्। इह च पौर्णमास्यमावास्यातिपत्तिर्निमित्तत्वेन श्रुता, न चाभ्यासस्तच्छब्दवाच्यः। यथा न ग्रहाभ्यासः कश्चिज्ज्योतिष्टोमशब्दवाच्यः। तेन

१. ब. सत्। २. ब. कालातिपत्तिः। ३. ब. पाथिकृतादि।

जीवितपरिमिताभ्याससंयुक्तयोरेव पौर्णमास्यमावास्याशब्दवाच्यत्वमिष्टमिति, नावयवानामतिपातनं निमित्तं स्यात् ।

ननु च पौर्णमास्यमावास्याशब्देनात्र कालोऽभिधीयते, स चावयवविषय एवेत्यवयवातिक्रमो निमित्तं स्यात् । नैतदेवम् । अतिपातनं नामातिपद्यमानस्य भवति । न च कालस्यातिपन्नत्वं धर्म, अनतिपत्तेरविधानात् । यस्य हि यावान्विषयोऽनतिक्रमणीयत्वेन चोदितः, तस्य तदतिलङ्घनमतिपत्तिरित्युच्यते । न च कालस्य कर्मानतिक्रमणीयत्वेन चोदितं, किं तर्हि ? कर्मणः कालः । तस्य हि सोऽङ्गं, न तस्य कर्म । तदेव च तत्सद्भावासद्भावयोः सगुणं, निर्गुणं च भवति, न कालः । तदेव चानुष्ठानात्मकत्वादतिक्रमानतिक्रमौ प्रतिपद्यते, न कालः । तस्य स्वभावसिद्धत्वात् । तस्माद्यः पौर्णमासीं स्वं कालमभिपद्यमानामतिपातयेदित्यवधारणात्कर्मण एव निमित्तत्वम् । न चावयवस्तच्छब्दवाच्य इत्युक्तम् ॥३॥

न्या० सु०—अतिपातनलक्षणलिङ्गदर्शनादपि कर्तृधर्मो यावज्जीविकतेति प्रतिज्ञाय, कर्मधर्मे हि यावज्जीवकत्वे सति जीवनपरिमितदर्शपूर्णमासकालैक्याद्दर्शपूर्णमासयाजित्वानुपक्रमभूतातिपातनयोः कालभेदेन विरोधपरिहारानुपपत्तेर्यो दर्शपूर्णमासयाजी स तदुपक्रामेदेवेत्युपक्रमेण दर्शपूर्णमासयाजी तदुपक्रामित्वरूपेण वह्निनेव धूमो नियम्येतेत्यनुपक्रमरूपातिपातनानुपपत्तिरित्येवं तदुपपादतार्थत्वेन कर्मधर्मे हि प्रक्रान्तमित्येतावता भाष्येण प्रक्रान्तमेवेत्यवधारणया । प्रक्रान्तं सदिति पाठे सु सच्छब्देनावधारणसूचनया मध्यमसूत्रावयवं व्याख्याय, यावज्जीवेत्यादिना कर्मधर्मपक्षे उपक्रमरूपातिपातनायोगादसमापनरूपमतिपातनं वाच्यम् । तत्र च यावज्जीवकालेन समापनावगतेस्तावति कालेऽतिपन्ने कर्मणोऽतिपत्तिः स्यात् । तत्र च मृतस्य प्रायश्चित्तानुष्ठानाशक्तेर्निमित्तभूतातिपातनवचनादन्यन्नैमित्तिकप्रायश्चित्तविधानमनर्थकं स्यादित्येवम् अन्यावयवो व्याख्यातः ।

तत्र जीवनान्त्यकालात्प्रागप्यसमाप्तिरूपातिपत्त्युपपत्तेः कालेऽतिपन्ने कर्मातिपत्त्युक्तिरयुक्तेत्याशङ्कानिरासपूर्वं सर्वं भाष्यं तात्पर्यतो व्याचष्टे—अतिपत्तिरिति । स्वधर्मभूतकालातिक्रमः कर्मकर्तृकः प्रयोज्यव्यापारेऽतिपत्तिर्नानुपक्रमः, समाप्तिर्वा । तत्प्रयोजकस्तु पुंव्यापारोऽनुक्रमणासमापनोपलक्षितो विध्यविज्ञानाख्योऽतिपातनमित्याशङ्कानिरासाशयः । सिद्धान्ते तु कालभेदादेकस्मिन्मासे दर्शपूर्णमासानुष्ठानाल्लब्धदर्शपूर्णमासयाजिव्यपदेशस्य मासान्तरेऽनुपक्रमणरूपमसमापनरूपं वातिपातनम्, प्रायश्चित्तविधिश्च सम्भवतीत्याह—मत्पक्षे त्विति । प्रायश्चित्तविषयत्वेन सम्भवतीत्यनुषङ्गः । ननु जीवनपरिमितदर्शपूर्णमासकालैक्याद्दर्शपूर्णमासयाजिनोऽतिपातनप्रायश्चित्तविध्ययोगेऽप्यभ्यासकालभेदादादुभयं सम्भवतीत्याशङ्कते—ननु चेति । पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोरभ्यासलक्षणार्थत्वे प्रमाणाभावादभ्यासातिपातनस्य निमित्तत्वानवगतेर्नाभ्यासकालभेदाभ्युपगमेन विरोधपरिहारः सम्भवतीत्याशयेन परिहरति—न शक्यमिति ।

ननु पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः कालवाचित्वात्तस्य च जीवनपरिमितदर्शपूर्णमास-प्रयोगविषयत्वायोगादनभ्यासविषयत्वावगतेरभ्यासविषयकालातिपातनस्य निमित्तत्वं प्रतीयत इत्याशङ्कते—**ननु चेति**। अवयवविषयः कालकर्तृकः प्रयोज्यव्यापारोऽतिपत्त्याख्योऽतिक्रमो निमित्तभूतातिपाताख्यपुङ्कर्तृकप्रयोजकव्यापारविषयत्वान्निमित्तत्वेनोक्तः। परमार्थतस्त्वतिपातनं नामेति परिहारग्रन्थालोचनया कालातिपातनान्यनिमित्तत्वशङ्कार्थो लक्ष्यते। कालस्यतिपत्त्याख्यं प्रयोज्यव्यापारं प्रतिकर्त्तृत्वाभावात्कालातिपातनस्य निमित्तत्वं न सम्भवतीति परिहरति—**नैतदिति**। कालेन कर्मणातिक्रमणीयमिति कालकर्तृकर्मविषयाऽनतिपत्त्यविधेः कालस्यातिपत्त्ययोगमिति हेतुत्वनुक्तमुपपादयितुम्—**यस्य हीत्याद्युक्तम्**। प्रधानस्याङ्गमनतिक्रमणीयं, नाङ्गस्य प्रधानमित्येतदेव कुत इत्यपेक्षायाम्—**तदेव चेत्युक्तम्**। सगुणत्वायानतिक्रमविधानात्प्रधानस्य च सगुणत्वापेक्षणात्प्रधानस्यैवाङ्गमनतिक्रमणीयमित्याशयः। अनुष्ठानाननुष्ठानरूपत्वाच्चातिक्रमानतिक्रमयोरनुष्ठेयकर्मधर्मतैव युक्तेत्याह—**तदेव चेति**। अनुष्ठानमात्मा स्वभावो धर्मो यस्येति विग्रहः। अतः पौर्णमास्यमावास्याशब्दवाच्यकर्मातिपातनस्य निमित्तत्वादभ्यासस्य च पौर्णमास्यमावास्याशब्दवाच्यत्वाभावादतिपातनप्रायश्चित्तविध्योर्लिङ्गता युक्ता इत्युपसंहरति—**तस्मादिति** ॥ ३ ॥

भा० प्र०—सिद्धान्त पक्ष के समर्थन में अर्थात् वह कर्म का धर्म नहीं है, इसका समर्थन अन्य हेतु से भी किया जा रहा है—"लिङ्गदर्शनात् च"। वेद में कहा गया है जो व्यक्ति दर्शपूर्णमास याग करके अमावस्या या पूर्णिमा का अतिक्रमण करता है, वह स्वर्गलोक से विच्युत होता है। यदि यावत् जीवन दर्शपूर्णमास याग अनुष्ठेय होता तो श्रुति का अर्थ सङ्गत नहीं होता, वेद में जो प्रत्यवाय कहा गया है—वह सङ्गत नहीं होता। क्योंकि, अशेष जीवन प्रत्येक अमावस्या और पूर्णिमा में अनुष्ठान कर मरने पर एक दर्शपूर्णमास कर्म सम्पन्न होना, तब मध्य में किसी अमावस्या या पूर्णिमा कर्म के अनुष्ठान को छोड़ने की सम्भावना ही नहीं होती। इसीलिए सूत्र में कहा गया हैं—"कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्यते तत्र अन्यत् अनर्थक स्यात्"। किन्तु यावज्जीवन यदि दर्शपूर्णमास यदि पृथक् कर्म होता तो आलस्यवश किसी पूर्णिमा या अमावस्या में यह कर्म नहीं करता, अतः उसको लक्ष्य कर श्रुति में कहा गया हैं किसी एक पूर्णिमा या अमावस्या को छोड़ने पर याग पूर्ण नहीं होता। इस प्रकार यावत् जीवन जब पृथक् कर्म है तब यही यावज्जीवन अग्निहोत्र पृथक् कर्म हैं—इसका लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक हैं। क्योंकि, यावत् जीवन अग्निहोत्र भी ठीक इसी प्रकार हैं।

"लिङ्ग दर्शनात् च"=लिङ्ग अर्थात् ज्ञापक वेदवचन दृष्ट होने से, "हि"=क्योंकि, "कर्मधर्मे"=यह यदि कर्म का धर्म होता तो, "प्रक्रमेण नियम्यते"=प्रक्रम के द्वारा ही नियमित अर्थात् यथा समय में कर्तव्य के रूप में बाधित होता, "तत्र"=उसमें, "अन्यत्"= प्रायश्चित्तविधि आदि अन्य वाक्य, "अनर्थकं स्यात्" अनर्थक होगा ॥३॥

व्यपवर्गं च दर्शयति कालश्चेत्कर्मभेदः स्यात् ॥ ४ ॥

शा० भा०—व्यपवर्गस्य-समापनस्य दर्शनं भवति—दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत इति । यदि दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमस्य कालोऽस्ति, व्यक्तम्, न यावज्जीवनकालेन तौ परिसमाप्येते । अथ जीवनं निमित्तम्, उपपद्यते कर्मभेदः । दर्शपूर्णमासौ परिसमाप्य सोमं कर्मान्तरं कुर्यादिति ।

अपि च आहिताग्निर्वा[1] एष योऽग्निहोत्रं जुहोति, न दर्शपूर्णमासौ यजेत, या आहुतिभाजो देवताः, ता अनुध्यायिनीः करोति इत्यनुध्यायिनीवचनं भवति । नियतो य आहुतिभागः, तस्मिन्नदीयमानेऽनुध्यायिनीवचनं भवति । यस्त्वनियत आहुतिभागो न तमनुध्यायन्तीदं नो भविष्यतीति । नियतश्च भागो नियमपक्षे भवति, न काम्यपक्षे । कर्मधर्मे च काम्यमग्निहोत्रं च दर्शपूर्णमासौ च तस्मान्नियमपक्षः ।

अपि च श्रूयते—

'जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं' दर्शपूर्णमासौ च । जरया ह वा एताभ्यां निर्मुच्यते, मृत्युना च, इति जरामरणनिर्मोचनावधारणवचनं च नियमपक्ष उपपद्यते । काम्यपक्षे ह्यप्रयोगादपि[2] मुच्येत ॥ ४ ॥

त० वा०—दर्शपूर्णमासाविष्ट्वेति पूर्वेणैव न्यायेनाशेषाभ्यासनिर्वृत्त्युत्तरकालं सोमयागः स्यात् । न च मृतेनासौ कर्तुं शक्यः । अथ त्वस्ति सोमानुष्ठानकालः तत एकान्तेनैव दर्शपूर्णमासाभ्यां जीवितकालो नावरोद्धव्यः । स च कर्तृधर्मपक्षे कर्मप्रयोगभेदान्नावरुध्यते, नान्यथा । सूत्रमप्येवमस्ति चेद्दर्शपूर्णमासविनिर्मुक्तः सोमकालः ततो यथोक्त एव कर्मप्रयोगभेदः स्यात् ।

कालश्चेत्कर्मभेदः स्यादित्यस्यापरा व्याख्या । यदि यावज्जीविकः कर्मधर्मकालश्चोद्येत, ततो दर्शपूर्णमासमध्य एव सोमः, अन्यानि च कर्माणि कर्तव्यानि स्युः । ततश्च विततस्य कर्मणः कर्मान्तरेणाविच्छेदे[3] सति दर्शपूर्णमासाविष्ट्वेति बाध्येत ।

अथवा 'एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते एतद्यज्ञश्छिद्यते' इत्येवमादिभिश्च निन्दितमनुष्ठीयेत । तस्मादपि न कालविधानमिति ।

मुक्तकान्यार्थदर्शनद्वयं पूर्वसूत्रगोचरभूतं दर्शयति । तद्यथा—आहिताग्निर्वा एष सन्निति दीक्षितस्य दानादौ निषिद्धे विध्यन्तरशेषभूतः परिवेदनसरूपार्थवादो

---

१. ब. आहिताग्निरेषसत्राग्निहोत्रं । २. ब. चाप्रयोगात् ।

३. क० कर्मान्तरेण भेदेसति ।

भवति। एतावन्तं हि कालमसावग्निहोत्रादिदेवताभ्यो भागमदत्त्वा ता अनुध्यायिनीः करोति, नायमस्मभ्यं ददातीत्येवं चिन्तायुक्ताः करोतीत्येतन्नियमपक्षे युज्यते। कालविधिपक्षे तु काम्यत्वादग्निहोत्रस्य यथेष्टप्रयोगे सति नियोगतो दातव्याभावादनुध्यायिनीवचनं नोपपद्यते। तस्मादपि नियमवचनम्। एतेन जरामर्यवचनविधानं व्याख्यातम्। काम्यत्वकल्पनायामप्रयोगादपि निर्मोके सति जरामरणनिर्मोकवचनवैयर्थ्यप्रसङ्गः ॥ ४ ॥

न्या० सु०—दर्शपूर्णमाससमाप्त्युत्तरकालत्वदर्शनाच्च कर्मधर्मपक्षे दर्शपूर्णमाससमाप्त्युत्तरकालं कर्मकालाभावादनर्थकमन्यत् सोमयागविधानं स्यात्, तदर्थत्वाय तु सोमयागस्य दर्शपूर्णमाससमाप्त्युत्तरकालं कालोऽस्तीत्यभ्युपगमे यावज्जीवकालसमाप्यत्वायोगात्प्रतिमासं दर्शपूर्णमासकर्मप्रयोगाङ्गभेदः स्यात्। स च यावज्जीविकत्वस्य कर्तृधर्मत्वपक्षे पौर्णमास्यमावास्याकालावच्छिन्नस्य जीवनस्य प्रतिमासं भिन्नस्य निमित्तत्वाद्युज्यते, न कर्मधर्मपक्ष इत्येवं तत्रानर्थकमन्यत् स्यादिति पूर्वसूत्रावयवानुषङ्गेण व्याख्यां सूचयितुं कथमनर्थकमन्यत् सोमयागविधानं स्यादिति, प्रश्नपूर्वं कथमित्यादिभाष्येण सूत्रं व्याख्यातम्। तदभ्याससमाप्त्युत्तरकालत्वस्य कर्मधर्मपक्षेऽपि सम्भवात् समाप्त्युत्तरकालत्वस्य कर्तृधर्मत्वाल्लिङ्गत्वशङ्कानिरासपूर्वं व्याचष्टे—**दर्शेति**। यथैव पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोरभ्यासवाचित्वाभावान्न प्रतिमासमभ्यासपत्तिः प्रायश्चित्तनिमित्तम्। किं तु यावज्जीविकाभ्यासापत्तिः तथैव दर्शपूर्णमासशब्दयोरभ्यासवाचित्वाभावाद्यावज्जीविकाभ्याससमाप्त्युत्तरकालत्वं स्यात् न प्रतिमासाभ्याससमाप्त्युत्तरकालतेति शङ्कानिरासार्थः।

कालश्चेदित्यादिसूत्रावयवं स्वयमन्यथा व्याख्यास्यन् भाष्यव्याख्यातेऽर्थे तावद्योजयति—**सूत्रमपीति**। अन्यथा व्याख्यातुमाह—**कालश्चेदिति**। कर्मान्तरेण सोमयागादिना दर्शपूर्णमासकर्मणोरविच्छेदे सत्यपि को दोष इत्यपेक्षायां दर्शपूर्णमाससमाप्त्युत्तरकालविधिविरोधो विना एतद्यज्ञस्य छिद्यते यदन्यस्य तन्त्रे विततेऽन्यस्य तन्त्रं प्रतारयते' इत्यादिनिन्दोन्नीतनिषेधविरोधश्चेति दोषद्वयमुक्तम्। लिङ्गदर्शनसाध्यमर्थमुपसंहरति—**तस्मादिति**। अनुध्यायिनीजरामरणनिर्मोकवचनरूपस्यान्यार्थदर्शनवद्यज्ञस्य व्यपवर्गसूत्रार्थत्वाभावात्तद्व्याख्यावेलायामुपन्यासो न युक्त इत्याशङ्क्यापवर्गसूत्रार्थत्वाभावेऽप्यनित्यत्वात्तु नैवं स्यादित्युत्तरसूत्रस्थेनैवंशब्देन परामर्शसिद्ध्यर्थं तत्समीपे मुक्तकस्यान्यार्थदर्शनद्वयस्योपन्यास इत्याह—**मुक्तकेति**। सूत्रानारूढस्योपन्यस्तस्य सौत्रेण शब्देन परामर्शमाशङ्क्य विशेषतः केन चित् सूत्रेणानुक्तत्वेऽपि सामान्यतो लिङ्गदर्शनसूत्रगोचरतोक्ता। अनुध्यायिनीवचनं व्यास्यास्यत् अतिपातनप्रायश्चित्तादीनां लिङ्गदर्शनानां विधिरूपत्वादस्यापि विधिरूपत्वशङ्कां निवर्त्तयितुमर्थवादत्वं तावदाह—**तद्यथेति**। लिङ्गदर्शनसूत्रेऽनुध्यायिनीजरामरणनिर्मोचनवचनयोरपि नियमलिङ्गत्वादुदाहरणत्वसम्भवसूचनार्थस्तद्यथाशब्दः। अर्थवादत्वसिद्ध्यर्थं विध्यन्तरशेषभूतत्वेऽभिहिते होमादिनिषेधार्थत्वाद्विध्यन्तरशेषत्वायोगमाशङ्क्य

दीक्षितो न ददाती'त्यादिवाक्यान्तरेणैव होमादेः पर्युदस्तत्वान्नाग्निहोत्रं जुहोतीत्यादेरनुवादत्वं दीक्षितस्येत्यनेनोक्तं व्याचष्टे—**एतावन्तं हीति**। य आहेत्यादिभाष्येणाभिमुख्यार्थत्वादाहो हकारस्य च निश्चयार्थत्वादात्मार्थत्वरूपेणाभिमुख्येन यो भागो निश्चितो भवति तस्मिन्नदीयमानेऽनुध्यायिनीवचनं भवतीत्यनुध्यायिनीवचनाद्भागस्य नियतत्वमुक्त्वा यन्नेत्यनेन व्यतिरेकमुखेनोपपाद्य नियतश्चेत्यनेन भागनियतत्वद्वारानुध्यायिनीवचनस्य नियमलिङ्गतोपपादिता। तत्सर्वं सङ्क्षिप्य तात्पर्यतो व्याचष्टे—**एतदिति**। कर्मवर्मपक्षलिङ्गायोगोक्त्यर्थं नेति भाष्यं व्याचष्टे—**कालेति**। तस्मादित्युपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादपीति**। जरामरणनिर्मोकोक्तेर्लिङ्गत्वोक्त्यर्थम'पि च श्रूयतइति भाष्यं व्याख्यातुं यथाभागस्य नियतत्वं, नियमलिङ्गं, तथा 'जरामृत्युभ्यामेव निर्मुच्यत'इति जरामरणयोरपि निर्मोककारणयोर्नियतत्वं लिङ्गमित्यतिदिशति—**एतेनेति**। जराविधेरन्यतोऽप्राप्तत्वादनेनैव वाक्येन विधिं सूचयितुं विधानशब्दः। जरेति भाष्यं व्याचष्टे—**काम्यत्वेति** ॥ ४ ॥

भा० प्र०—इसके स्वतन्त्र कर्म अन्य हेतु यह भी है कि "व्यापवर्गंञ्च दर्शयति" वेद में कहा गया है कि "दर्शपूर्णमास याग कर सोम याग करे"। इस स्थल में स्पष्ट अवगत होता है कि दर्शपूर्णमास की समाप्ति के बाद सोमयाग कर्तव्य है, किन्तु दर्शपूर्णमास यदि यावज्जीवन अनुष्ठेय होता तो यह वेदवचन सङ्गत नहीं होता, कारण, जब तक मृत्यु नहीं होती उस क्षण तक दर्शपूर्णमास अनुष्ठेय होता और मृत्यु होने पर दर्शपूर्णमास की समाप्ति होती, किन्तु सोमयाग का अनुष्ठान नहीं होता। अन्य पक्ष में यदि यावज्जीवन दर्शपूर्णमास स्वतन्त्र कर्म होता तो अल्पकालव्यापी काम्य दर्शपूर्णमास अनुष्ठान के बाद सोम याग का अनुष्ठान किये जाने से यह श्रुति भी सङ्गत होती। ऐसी स्थिति में यावज्जीवन दर्शपूर्णमास स्वतन्त्र कर्म होता। इसीलिए सूत्र में कहा गया है कि "कालश्चेत् कर्मभेदः स्यात्"। ऐसा होने से यावत् जीवन अग्निहोत्र के भी स्वतन्त्र कर्म होने में वैपरीत्य नहीं होता। भगवान् भाष्यकार ने प्रकृत में अन्य ज्ञापक वचनों को देकर यावत् जीवन अग्निहोत्र के अनुष्ठान की स्वतन्त्रता और नित्यता का बोधन किया है।

"व्यपवर्गं"=क्रियासमाप्ति, "च"=और, "दर्शयति"=दिखाते हैं, "कालः चेत्"=यदि समय रहता है, "कर्मभेदः स्यात्"=ऐसा होने पर कर्म का भेद होगा ॥४॥

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् ॥ ५ ॥

शा० भा०—तुशब्दोऽन्वाचये। इतश्च पश्यामः, कर्तृधर्मो नियमश्चोद्यत इति। यदि पूर्वस्य होमस्य गुणविधिर्भवेत्स एवैकः पूर्वोऽग्निहोत्रहोमोऽनित्यः स्यात्। कामसंयोगेन श्रुतो, नान्यः कश्चिन्नित्यः। तत्र लिङ्गं विरुध्येत। जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, जरया वा एताभ्यां निर्मुच्यते, मृत्युना च इति। कथं विरुध्यते ? जरामरणनिर्मोचनावधारणवचनं नियमपक्ष उपपद्यते। काम्यपक्षेऽप्रयोगादपि मुच्येत ॥ ५ ॥

त० वा०—यदेतन्मुक्तकमभिहितमेतदेव सूत्रारूढं करोति। नियमपक्षे ह्येतदेवं स्यात्। अनित्यत्वात्तु भवत्पक्षे नैवं स्यात्।

अथवा यावज्जीवशब्देन काले गृह्यमाणे लक्षणादोष उक्तः तमभ्युपेत्याभिधीयते-सत्यामपि लक्षणायामनित्यत्वान्नैवं स्यात्। तन्नाम कालोपलक्षणं युक्तम्, यन्नित्यं कियताऽपि कालेनाविनाभूतम्, यदहश्चन्द्रमा न दृश्यते,ताममावास्यां विद्यादित्यादिवत्। न च सर्वप्राणभृतामेव जीवनपरिसमाप्तिर्यतः कुतश्चिद् व्यवस्थितस्वरूपा, यथा कालो लक्ष्येत। तदेतदेवमापद्यते यदैवेदं भवति, ततश्चानित्यत्वान्निमित्तमेवैतदिति सिद्धम्। कथं तर्हि नियतनिमित्तत्वान्नित्यमित्युच्यते, यावच्छरीरभावित्वाभिप्रायमेतदित्यदोषः ॥ ५ ॥

न्या० सू०—जरामरणवाक्यस्य प्रागेवोपन्यस्तत्वात्पुनरुपन्यासोऽनर्थकइत्याशङ्क्याह—**यदेवेति**। तत्सूत्रस्थेनैवंशब्देन परामर्शार्थं प्रागुपन्यस्तम्। वस्तुतस्त्वेतत्सूत्रार्थएवान्यार्थदर्शनद्वयम्, उपलक्षणार्थं त्वेकमुपन्यस्तमित्याशयः। सूत्रं योजयति—**नियमेति**। यदेतदनुध्यानं जरामरणनिर्मोचनं चोक्तं तद्भवत्पक्षे कर्मणोऽनित्यत्वायोगाद्यथोक्तम्, तथा न स्यादित्यर्थः।

लक्षणाभ्युपगमेऽपि जीवनस्यानियतपरिमाणत्वात्तु यत्काललक्षणार्थत्वमुक्तम्, तन्नैवं स्यादित्येवम्, स्वयमन्यथासूत्रं व्याचष्टे—**अथ वेति**। सूत्रार्थमुपपादयति—**तन्नामेति**। नित्यशब्दव्याख्यानार्थम्—**कियतापीत्युक्तम्**। चन्द्रादर्शनस्य ज्योतिःशास्त्रान्नियतपरिमाणेनामावास्याकालेनाविनाभावावगमात्तदुपलक्षणत्वं युक्तम्। जीवनस्य तु कियता कालेनाविनाभावानवगमान्न युक्तोपलक्षणतेत्यर्थः। यस्मादनियतपरिमाणत्वाज्जीवनकालमुपलक्षयितुं न शक्नोति। तस्मादेतज्जीवनमेवमुपलक्षणमापद्यते, यदुतैतज्जीवनमेवंभूतमनियतपरिमाणं यदा भवेत्। तदा जुहुयाद्यजेत वेति। ततश्च कादाचित्कत्वान्निमित्तत्वं स्यादित्याह—**तदिति**।

ननु नियतनिमित्तत्वान्नियतं कर्मत्याद्यसिद्धान्तसूत्रस्थभाष्ये नियतनिमित्तत्ववशेन कर्मणोऽवश्यकर्त्तव्यतोक्तिर्ज्जीवनस्यानित्यत्वान्निमित्तत्वाभ्युपगमे विरुध्येतेत्याशङ्कते—**कथं तर्हीति**। यावदात्माधिष्ठितत्वरूपेण शरीरमस्ति तावत्प्राणधारणाख्यं जीवनं नियमेनास्तीत्येदमाशयं भाष्ये जीवननित्यत्वाभिधानमिति परिहरति—**यावच्छरीरेति** ॥ ५ ॥

भा० प्र०—यदि काम्य अग्निहोत्र को यावज्जीवन के लिए कहा जाय तो अन्य नित्य अग्निहोत्र नहीं रहेगा। नित्य अग्निहोत्र की प्राप्ति न होने पर "जरामर्य्यं वा एतत् सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ जरया वा एताभ्यां निमुच्यते मृत्युना च" = अग्निहोत्र एवं दर्शपूर्णमास नामक सत्र = दीर्घकालानुष्ठेय याग यह जरामर्य=जरा-मरण पर्यन्त, जरा द्वारा या मृत्यु के द्वारा लोक में मुक्ति होती है। इस श्रुति में मृत्यु पर्यन्त कर्तव्य नित्य अग्निहोत्र विहित होता है—यह असङ्गत होगा। कारण, जो काम्य है वह इच्छा करने पर किया

जाता है और कामना न रहने पर नहीं भी किया जाता है। अतः, वह नित्य नहीं होता है, उक्त जरामर्यश्रुति के अनुसार इसको नित्य ही कहना होगा।

"अनित्यत्वात् तु" = अनित्य कहने पर भी, "एवं न स्यात्" = इस प्रकार नहीं होता है, अर्थात् नित्यताबोधक अन्य श्रुतिवचन भी सङ्गत नहीं होता है ॥ ५ ॥

विरोधश्चापि पूर्ववत् ॥ ६ ॥

शा० भा०—इतश्च पश्यामो न पूर्वाभ्यासो गुणश्चोद्यत इति। कुतः? विरोधात्। विरोधो भवति। दर्शपूर्णमासविकाराः सौर्यादयोऽपि यावज्जीवमभ्यसितव्या भवेयुः[1]। सोऽनारभ्यार्थः प्रतिज्ञातः स्यात्। अतोऽपि पश्यामो नियम इति। सत्रसंस्तवश्च संततभावमुपपत्स्यते[2] ॥ ६ ॥ हेतुः ॥

त० वा०—नियमः सत्पुरुषधर्मत्वान्नातिदिश्यत इति च वक्ष्यते। कालः सन्नतिदिश्येत।

ननु कालोऽपि द्वैयहकाल्यवत्सद्यःकालतया बाध्येत्। नैतदेवम्। यावज्जीवं पौर्णमास्यमावास्ययोः सद्यः कुर्यादित्यवधारणप्रसङ्गात् ॥ ६ ॥

न्या० सु०—यावज्जीविकाभ्यासपक्षे च दर्शपूर्णमासवत्तद्विकृतीनामप्यभ्यासापत्तेः सर्वासां चैकस्मिन्कालेऽभ्यासस्याशक्यत्वाद्विरोधस्यादित्यवं सूत्रव्याख्यार्थमितश्चेत्यादिभाष्यं नियतपक्षेऽपि विरोधसाम्यादयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—नियमः सन्निति। नियमस्यावश्यकर्त्तव्यरूपस्य प्रत्यवायपरिहारार्थत्वेन पुरुषार्थत्वादनतिदेशोऽष्टमे[3] वक्ष्यतइत्यर्थः।

नन्वतिदेशप्राप्तोऽपि यावज्जीवकालो य इष्टव्येति वाक्योपदिष्टेन सद्यस्कालत्वेन बाधिष्यत इत्याशङ्कते—ननु चेति। अविरोधान्न बाध्यत इति परिहरति ॥ ६ ॥

भा० प्र०—काम्य अग्निहोत्र को यावज्जीवनपर्यन्त मानने पर "दर्शपूर्णमासाभ्याम् इष्ट्वा" इत्यादि श्रुतिवचन के साथ विरोध पूर्व में कहा गया है, इसी प्रकार अन्य विरोध भी होता है। यावत् जीवनपर्यन्त दर्शपूर्णमास को मानने पर उसका विकृतिभूत सौर्य आदि याग को भी यावत् जीवनपर्यन्त मानना होगा, किन्तु, वह उस प्रकरण में उक्त न होने से प्रकरण विरोध भी होता है, किन्तु इसको स्वतन्त्र कर्म मानने पर किसी प्रकार के विरोध की सम्भावना नहीं है।

"विरोधः अपि च" = विरोध होने पर भी, "पूर्ववत्" = पूर्व के समान ॥ ६ ॥

---

१. ब. विगुणाभवेयुः। २. ब. संततभावादुपपत्स्यते।

३. कर्मणस्त्वप्रवृत्तत्वात् फलनियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयस्तद्बन्धनत्वात् ८-१-२०।

कर्तस्तु धर्मनियमात्कालशास्त्रं निमित्तं स्यात् ॥ ७ ॥

शा० भा०—यदि कर्तुर्धर्मो नियमश्चोद्येत, ततो जीवनं निमित्तम्। जीवने निमित्ते कर्म विधीयते। तत्र[1] प्रयोगे परिसमाप्तं कर्म। तथा व्यपवर्गस्य दर्शनमवक्लृप्तं भवति। तस्मात्कर्तृधर्मो नियमश्चोद्यत इति सिद्धं भवति ॥७॥ युक्तिः ॥

इति प्रथमं यावज्जीविकाग्निहोत्राधिकरणम् ॥ १ ॥

त० वा०—कर्तृधर्मपक्षे यदिदं त्वभिमतं यावज्जीवमिति। कालशास्त्रमिदं निमित्तं भविष्यतीत्येतावत्सूत्रम्। यत्तु भाष्यकारेण व्यपवर्गदर्शनमुक्तम्। तद्यदि दर्शपूर्णमासाविष्ट्वेत्येतदेवाभिप्रेतं[2], ततः पुनरुक्तम्। अथान्यत्तदप्यनुदाहृतत्वान्न ज्ञायते। तेनानन्तरालोचनयैवं योजयितव्यम्। त्वत्पक्षे विकृतीनामपवर्गः स्यात्। मत्पक्षे तु तासां व्यपवर्गदर्शनं सिद्धान्त उपपत्स्यते।

अथवा निगमनसूत्रमेतदिति व्याख्येयम्। अथवा सूत्रकारेण कर्तृधर्मो नियमोऽयमित्युक्तम्। यावज्जीवशब्दस्य तु का गतिरिति नाभिहितमत आह। एवं सति कालशास्त्रमेव निमित्तं स्यात्।

अथवाऽग्निहोत्रे दर्शपूर्णमासयोस्तावद्यावज्जीवग्रहणात्कर्तृधर्मनियमत्वं भवेत्। पशुसोमचातुर्मास्येषु तु कथम्? तदुच्यते। तत्रापि वीप्सायुक्तं कालशास्त्रमेव निमित्तं स्यात् 'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा' इत्यादि। न तावदेतत्काम्यस्योपदिश्यते। स हि यावदिच्छमङ्गत्वेनैव स्थितत्वान्नैवं वक्तुं शक्यते। अथापि नैयमिकस्य सकृत्प्रयोगः स्यात्, तत्रापि वीप्साऽनर्थिका भवेत्। न च वसन्तेयत्तावधारणाप्रमाणमस्ति। तस्माद्यावज्जीवं ये वसन्ताः, तेष्विति विज्ञायते। सप्तम्यपि च 'भिन्ने जुहोति' इत्यादिवन्निमित्तार्थो भविष्यति। तेनोच्यते सर्वत्रैवंजातीयके कर्तृधर्मनियमावधारणात्कालशास्त्रं निमित्तशास्त्रं प्रत्येतव्यम्। एतेनैव पशुचातुर्मास्यादिष्वपि नैयमिकत्वसिद्धिः ॥ ७ ॥

इति प्रथमं यावज्जीवाधिकरणम् ॥ १ ॥

न्या० सु०—ननु कर्तृधर्मपक्षेऽपि यावज्जीवशब्देन जीवनपरिमितकालत्वोक्तेस्तुल्यो विरोध इत्याशङ्कानिरासार्थत्वेन यथाभाष्यं सूत्रं योजयति—**कर्त्रेति**। व्यपवर्गदर्शनानुक्तावपि सूत्रार्थः पर्यवस्यतीति सूचनाय—**एतावदित्युक्तम्**।

निमित्तपक्षे दर्शपूर्णमासाविष्ट्वेत्यपवर्गदर्शनावक्लृप्तेः कालश्रेत्कर्मभेदः स्यादित्यनेनैवोक्तत्वाद्दर्शनान्तरानुदाहरणाच्च व्यपवर्गदर्शनोक्तिरयुक्तेत्याक्षिपति—**यत्त्विति**। दर्शनशब्दो याज्ञिकस्थितिलक्षणसिद्धान्ताशयो न तु लिङ्गदर्शनाशय इत्येवं समाधत्ते—**तत्रेति**।

---

१ ब. तत्र प्रात्यहिके। २. क० विष्ट्वैतदेवाभिप्रेतं।

व्यपवर्गसिद्धान्तोक्तेरपि पौनरुक्त्यमाशङ्क्य पूर्वसूत्रस्थभाष्यालोचनया विकृतिविषयतोक्त्या प्रकृतिन्यायेनैव विकृतीनामपि व्यपवर्गसिद्धान्तत्वोपपत्तिसिद्धेर्मन्दफलत्वेनापरितोषात्स्वयमन्यथासूत्रं व्याचष्टे—अथ वेति। उपसंहारार्थत्वे सूत्रस्यानतिरिक्तार्थत्वात्फल्गुत्वापत्तेरत्राप्यपरितोषान्नियमपक्षे कालवाचियावज्जीवशब्दानुपपत्तिमाशङ्क्य, नियमवाचितया यावज्जीवशब्दव्याख्यार्थत्वेन व्याचष्टे—अथ वेति। उक्तेन न्यायेन कर्तृधर्मनियमे सिद्धे इति कालशास्त्रतयाभासमानमपि यावज्जीवपदं वस्तुतो निमित्तशास्त्रमेव स्यादित्यर्थः।

श्रुतिसंयोगोक्त्यैव कालवाचित्वनिरासेन निमित्तवाचित्वसिद्धेरत्राप्यपरितोषात् स्वमतेन निरूढपश्वादिषु नैयमिकत्वोक्त्यर्थत्वेन व्याचष्टे—अथ वेति। षट्सु षट्सु मासेषु पशुना यजेत, चतुर्षु मासेषु चातुर्मास्यैर्यजेतेत्यादिशब्देनोक्तम्। कालशास्त्रत्वेनाभासमानस्य वीप्सायोगमात्रेण कथं निमित्तशास्त्रताऽवसीयतइत्याशङ्क्याह—न तावदिति। काम्यस्य वा ज्योतिष्टोमप्रयोगस्य वसन्तकाल उपदिश्येत 'एष वा अनृणोयः पुत्री यज्वा ब्रह्मचर्यवासीत्य'नृणवाक्याद्वावगतस्य नैयमिकस्य तत्र काम्यस्य तावद्यावदिच्छयावृत्तौ कालस्याप्यङ्गत्वेन हेतुना वीप्सां विनापि प्रतिप्रधानावृत्तिन्यायादावर्त्यमानतया स्थितत्वाद्वीप्सानर्थक्यापत्ते'र्वसन्ते वसन्त'इत्येवं वीप्सायुक्तत्वेन कालो न शक्यो वक्तुं, नैयमिकस्य च ज्योतिष्टोमप्रयोगस्योपदिश्यते ततश्चौलीपनयनादिवत् सकृत्प्रयोगमात्रेण नैयमिकविध्यर्थसिद्धेर्निष्फलावृत्ययोगात्तद्वाचिका वीप्सानर्थिका स्यात् इत्यर्थः।

ननु नैयमिकस्यापि प्रयोगस्य कालोपदेशे द्वित्रादिषु वसन्तेषु प्रयोगविध्यर्था वीप्सा भविष्यतीत्याशङ्क्यानवस्थितशास्त्रार्थापत्त्या निरस्यति—न चेति। अतः सर्ववसन्तव्याप्त्यर्थत्वाद्वीप्साया, निमित्तत्वं च विना व्याप्तेरप्राप्तत्वनानुवादायोगादेकस्मिंश्च प्रयोगे अनेकवसन्तसाहित्यसम्पादनाशक्तेर्विध्ययोगान्निमित्तशास्त्रतावसीयतइत्याह — तस्मादिति। नन्वधिकरणवाचिन्या सप्तम्या कालस्याङ्गत्वावगतेर्निमित्तता न युक्तेत्याशङ्क्याह—सप्तम्यपि चेति। अत्रार्थे सूत्रं योजयति—तेनेति। ज्योतिष्टोमन्यायं पश्वादिष्वतिदिशति—एतेनेति ॥ ७ ॥

इति प्रथमं यावज्जीवाधिकरणम्।

भा० प्र०—इस सूत्र में पूर्वोक्त विषय का उपसंहार किया गया हैं। यावत् जीवन काल कर्ता का ही विषय होने से वही अग्निहोत्र का निमित्त होता है। अग्निहोत्र का उसके निमित्त होने से जब तक जीवन रहेगा, तब तक अग्निहोत्र का अनुष्ठान करना होगा। क्योंकि, "सति निमित्ते नैमित्तिकस्य त्यागायोगात्"—निमित्त के रहने पर नैमित्तिक कार्य का अर्थात् निमित्त के रहने से जो करणीय है, उसका परित्याग नहीं किया जा सकता है, फलतः, वह नित्य कर्म ही होगा, क्योंकि, नित्य कर्म जिस तरह यावत् जीवन कर्तव्य होता है, वैसे ही सम्पूर्ण जीवन में अनुष्ठेय होगा।

"तु" = अतएव, "कर्त्तुः धर्मनियमात्" = कर्ता के अर्थात् अनुष्ठान करने वाले पुरुष के धर्म का नियम कहे जाने से, "कालशास्त्रं निमित्तं स्यात्" = कालबोधक शास्त्र निमित्त होगा ॥ ७ ॥

॥ यह प्रथम यावज्जीव अधिकरण है ॥

अथ द्वितीयं शाखान्तराधिकरणम्

[२] नामरूपधर्मविशेषपुनरु[1]क्तिनिन्दा[2]ऽशक्तिसमाप्ति-वचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात् ॥ ८ ॥ पू०

शा० भा०—इह शाखान्तराण्युदाहरणं—काठकं, कालापकं, पैप्पलादक-मित्येवमादीनि । तत्र संदेहः—किमेकस्यां शाखायां यत्कर्माऽग्निहोत्रादि श्रूयते, तच्छाखान्तरे पुनः श्रूयमाणं भिद्येत । तस्मात्, उत न भिद्येत । भिद्येतेति पश्यामः । कुतः ? नामभेदात् । एकं[3] काठकं नाम, अन्यत्कालापकं नाम । एवं[4] नामभेदाद्भेदः । ननु ग्रन्थनामैतत्[5] । सत्यम् । कर्मणामपीति ब्रूमः । कर्म-भिरप्येवमादीनां सामानाधिकरण्यमेकविभक्तित्वं चेति ।

रूपभेदाच्च । एकस्यां शाखायामग्नीषोमीयमेकादशकपालमामनन्ति, एकस्यां द्वादशकपालम् । एवं भिन्नरूपं कथमिव न कर्मान्तरं भविष्यति ।

धर्मविशेषाच्च । कारीरीवाक्यान्यधीयानास्तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाच-रन्ति, अपरे शाखिनो नाऽऽचरन्ति । तथा, अग्निमधीयानाः केचिदुपाध्यायस्योद-कुम्भानाहरन्ति, अपरे न । अश्वमेधमधीयानाः केचिदश्वस्य घासमाहरन्ति, अपरे न । परेऽन्यं धर्ममाचरन्ति । अश्वघासादेरेकेषामुपकारमाकाङ्क्षत्यश्व-मेधादिः, एकेषां नाऽऽकाङ्क्षति । स एवैकः[6] कथं नाऽऽकाङ्क्षेत, कथं वाऽन्यदा-काङ्क्षितुमर्हति । अतो[7] गम्यतेऽन्यदिति ।

पुनरुक्तिप्रसङ्गाच्च । यदि सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म, एकस्यां शाखायां विहितस्य कर्मणः शाखान्तरे वचनं पुनरुक्तमनर्थकं स्यात् । न तु भेदपक्ष एष[8] दोषोऽस्ति । तस्मादपि । कर्मभेदः ।

निन्दावचनाच्च ।

प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम् ।
दिवाकीर्त्यमदिवा कीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम् ॥

---

१. ब. पुनरुक्त ।　　२. ब. निन्दाऽशक्ति ।　　३. ब. एवं ।
४. ब. अतो ।　　५. ब. शाखांतराणांनामेदं ।　　६. ब. चैकः ।
७. ब. अतोऽवश्यं ।　　८. ब. एवंदोषोप्यस्ति ।

इति केचिच्छाखिनोऽनुदितहोमं निन्दन्ति। अपरे पुनरुदितहोमं निन्दति। 'यथाऽतिथये प्रद्रुतायान्नमाहरेयुस्तादृक् तद्, यदुदिते जुह्वति', इति। सर्वशाखा-प्रत्यये विरुद्धं, न तु कर्मभेदे। तस्मादपि भेद इति।

अशक्तेश्च। न शक्नुयुः खल्वपि सर्वशाखाप्रत्ययमुपसंहर्तुम्। तत्रानारभ्योऽर्थो विधीयत इति प्रतिज्ञातं भवेत्। शक्यं तु कर्मभेदे। अतः कर्मभेद इति।

समाप्तिवचनाच्च। असमाप्तेऽपि समाप्तेर्वचनं भवति। केचिदाहुः, अत्रास्माकमग्निः परिसमाप्यत[1] इति। अपरेऽन्यपरिसमाप्तिं व्यपदिशन्ति। तदेककर्मत्वे नोपपद्यते। न हि तदेव तत्र परिसमाप्येत, अन्यत्र न। भेदे तु युक्तम्। तस्माद्भेद इति।

प्रायश्चित्तविधानाच्च। केचिदनुदितहोमव्यतिक्रमे प्रायश्चित्तमामनन्ति, केचिदुदितहोमव्यतिक्रमे, व्यृद्धे च प्रायश्चित्तम्। न च कर्मैकत्व उभयथा व्यृद्धिः सम्भवति। कर्मभेदे तु यदनुदिते होमकर्म, तदुदिते व्यृद्धमितरदप्यनुदिते। तस्मादपि भेदः।

अन्यार्थदर्शनाच्च। इदं श्रूयते—यदि पुरा दिदीक्षाणाः स्युर्यदि वैषां गृहपतिः। गृहपतेर्वाऽनुसत्रिण इति, त एनमेव बृहत्सामानं क्रतुमुपेयुः, उपेतं ह्येषां रथन्तरम्। अथ यद्यदिदीक्षाणा इतीष्टवतामनिष्टपूर्वाणां च द्वादशाहे दर्शनमुपपद्यते यदि कर्मभेदः। एककर्मत्वे नावकल्पते।

कथम् ? ताण्डचके श्रूयते 'एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां, यज्ज्योतिष्टोमो। य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजेत, गर्तपत्यमेव तज्जायेत, प्र वा मीयते', इति। तत्सर्वत्र स्यात्। तत्रादिदीक्षाणां द्वादशाहे दर्शनं नोपपद्यते। तस्मादपि कर्मभेदः। अथापरं लिङ्गदर्शनम्। यत्पक्षसंमितां मिनुयात्कनीयांसं यज्ञक्रतुमुपेयात् कनीयसीं प्रजां[2] कनीयसः पशून्, कनीयोऽन्नाद्यं पापीयान् स्यात्। अथ यदि वेदिसंमित्या[3] मिनोतीति पक्षसंमाने' प्रतिषिद्धे वेदिसंमानस्य दर्शनं भवति। तत्तु[4] कर्मभेद उपपद्यते। पाक्षिकस्य वेदिसंमानस्य दर्शनमेककर्मत्वे नोपपद्यते। कथम् ? एके हि समामनन्ति। 'रथाक्षमात्राणि यूपान्तरालानि भवन्ति' इति। तत्सर्वत्र स्यात्। तत्र च[5] नो पक्षसंमानं नो वेदिसंमानं स्यात्। वेदिसंमानदर्शनं नोपपद्यते। तस्मादपि कर्मभेदः। अपरं च लिङ्गदर्शनम्। केषाञ्चिज्ज्योतिष्टोमे श्रूयते। द्वे संस्तुतानां विराजमतिरिच्येते इति। परेषां तिस्रः संस्तुतानां विराजमतिरिच्यन्ते इति। एककर्मत्वे विरोधः। नानाकर्मत्वे कस्मिंश्चिज्ज्योतिष्टोमे द्वे, कस्मिंश्चित्तिस्रः। तस्मात्कर्मभेद[6] इति।

---

१. ब. परिसमाप्तः। २. ब. प्रजां। ३ ब. अथ वेदिसंमितां।
४. ब. तच्च। ५. ब. तत्रचेदक्षसम्मानं न। ६. ब. तस्मादपि।

अपि च सारस्वते श्रूयते । 'ये पुरोडाशिनः अत उपवसन्ति । ये सांनायिनः ते वत्सान्वारयन्ति'[1] । सांनायिन-इष्टप्रथमयज्ञाः पुरोडाशिनो विपरीताः । उभयेषां सारस्वते दर्शनमवकल्पते कर्मभेदे । एकक्रमत्वे सर्वेषां ज्योतिष्टोम-पूर्वत्वं स्यत्त्व् । तत्र दर्शनं नोपपद्यते ।

अपि च श्रूयते । 'उपहव्योऽनिरुक्तोऽग्निष्टोमो यज्ञः, रथन्तरसामा, अश्वः श्यावो दक्षिणा । परेषां श्रूयते । उपहव्योऽनिरुक्त उक्थ्यो यज्ञो बृहत्सामा, अश्वः श्वेतो रुक्मललाटो दक्षिणा इति । कर्मैकत्वे रथंतरवचनं बृहद्वचनं चान-र्थकम् । शाखाद्वयप्रत्ययत्वात् । बृहत्सामा, रथन्तरसामा वा स्यात् । स चायं प्रकृतित एवंलक्षणकः प्राप्तः । नानाकर्मत्वे त्वन्यो बृहत्सामा, अन्यो रथन्तर-सामेति युक्तं भवति । तस्माच्छाखान्तरे कर्मभेदो भवितुमर्हति ॥८॥ पूर्वपक्षः ॥

त० वा०—उक्तभेदकारणषट्कव्यतिरिक्तकारणनिराकरणार्थमिदमारभ्यते । तत्रैव कानिचित्केचनचित्प्रकारान्तरेणाऽऽशङ्क्य प्रतिसिध्यन्ते । तत्तु प्रत्युदाहरणं प्रविविञ्चन्तो[2] योजयिष्यामः ।

अत्र शंका तत्र केषाञ्चित् समाधानम्, तन्निरासेन स्वमतञ्च

कथं पुनरत्र वेदान्तराणि नोदाह्रियन्ते । केचिदाहुः । शाखान्तरशब्देन तान्यप्युदाहृतानीति । न त्वेतद्युक्तम् । कुतः ?

शाखान्तरे यथा कर्म कृत्स्नरूपं प्रतीयते ।
किञ्चिद्गुणसमाम्नान्नैवं वेदान्तरेषु तत् ॥

अत्र हि कर्म निराकाङ्क्षमाम्नायते, तत्र तत्भेदप्रतिपत्तिक्षमं भवति । यथा सर्वास्वध्वर्युशाखासु दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादीनि समस्तद्रव्यदेवतादियुक्तत्वाद-न्योन्यनिरपेक्षाणि विधीयन्त इति, भेदाशङ्कां सहन्ते । न त्वेवं वेदान्तरेऽपि । तत्र हि द्रव्यदेवतारहितं कर्ममात्रं प्रस्तुत्य, स्तोत्रशस्त्रयाज्यानुवाक्यादिमात्रं विधीयते । न च तावताऽस्य नैराकाङ्क्ष्यं भवति । दृष्टार्थानामेव द्रव्यदेवतात-त्संस्काराणामभावात् । यत्तु तत्र द्रव्यदेवतायुक्तमाम्नायते, तस्याऽऽध्वर्यवे गुण-मात्रविधानात्साकाङ्क्षत्वम् । तथा च वक्ष्यति 'भूयस्त्वेनोभयश्रुति' इति । तस्माच्छाखान्तराण्येवोदहरणम् । तत्र च नामभेदास्तावत्कारणं दृश्यते । तद्यथा—काठकेऽग्निहोत्रं तैत्तिरीयेऽग्निहोत्र इदं पठ्यते' इत्यादि । तथा रूपभेद एकादशक-पालत्वादि । वैश्वानरद्वादशाष्टत्वादिवदामिक्षावाजिनवच्च न द्वादशत्वैकादशत्व-योरितरेतरसंक्रान्तिरुपपद्यत इति गुण एव भेत्ता । कारीर्यग्न्यश्वमेधेष्वपि भूमि-भोजनोदकुम्भाश्वघासा गुणा एव सन्त इतिकर्तव्यतास्थानीयत्वेन बाह्येतरत्वा-

---

१. ब. धारयन्ति ।   २. क० प्रतिषेधयन्तः ।

त्पूर्वस्माद्भेदेनोपात्ताः। **'परेऽन्यं धर्ममाचरन्तीति** विरोधिगुणान्तरप्रदर्शनार्थम्। **अश्वघासादेरिति**—पञ्चम्यन्तं मध्ये पठितमुभाभ्यां सह सम्बध्यते। पूर्वेण तावदश्वघासादेरन्यमुत्तरेणाप्यश्वघासदेर्निष्पन्नमुपकारमाकाङ्क्षत्यश्वमेधादिरिति। पुनरुक्तत्वेन पुनः श्रुतिर्भेदिकोक्ता।

निन्दायामप्युदितानुदितकालसंयोगभेदाद् गुण एव भेदकः। उदितहोमवादिनो ह्यनुदितहोमं निन्दन्त्यनृतवादित्वेन। 'सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहा' इति ह्यनुदिते सूर्येऽभिधीयमानमनृतं जायते। तस्मादुदितहोमः कर्तव्य इति। इतरे पुनराहुः, यः पूजां पूज्याय प्रथममेव गृहीत्वोत्तिष्ठते, स साधुः। यस्त्वतिक्रान्तं व्याहृत्य पूजयति, नासौ सम्यक्पूजकः। तस्मादनुदितहोम एव कर्तव्य इति। तत्रैकत्वे विप्रतिषिद्धधर्मसमवायप्रसङ्गः। नानात्वे तु न कश्चिद्विरोधः। अशक्तिद्वारेणापि गुण एवोपन्यस्तः शाखान्तरीयाणां गुणानामेककर्मण्युपसंहाराशक्तेरपूर्वसंयोगः।

समाप्तिभेदोऽपि गुण एव। निन्दया गतार्थोऽपि सन्प्रायश्चित्तभेदः पुनरुपन्यस्यते। कदाचिदत्र वैकल्पिकत्वपरिहारं ब्रूयात्—तत्त्वभ्युपेत्योच्यते। वैकल्पिकेषु ह्युभयथाऽप्यवैगुण्यं भवति। अत्र च प्रायश्चित्तविधानादुभयत्रापि वैगुण्यं दृश्यते। न च तत्कर्मैकत्वे घटते। तस्मादपि भेदः। **परिहारसूत्रवसेन पञ्चान्यार्थदर्शनान्युच्यन्ते**। यदि पुरा दीक्षितवन्तः ततो बृहत्सामानमतिरात्रमुपेयुः। पूर्वदीक्षायां रथन्तरस्य प्रयुक्तत्वात्। अथ न दीक्षितवन्तः ततो रथन्तरसामानमेवोपेयुरिति। द्वादशाहेऽनिष्टप्रथमयज्ञत्वं कर्मभेदे भवति। ताण्डकवचनेन ज्योतिष्टोमान्तरस्य प्राथम्यनियमे सति, एतच्छाखागतस्यानियमात्। एकत्वे तु सर्वशाखास्थज्योतिष्टोमप्राथम्यनियमाददीक्षितानां दर्शनं न स्यात्।

तथा यूपैकादशिन्यां पक्षवेदिसंमानयोरर्थप्राप्तयोरेकं निन्दित्वेतरपरिग्रहो वचनान्तरप्राप्त्यसत्त्वं द्योतयति। वचनान्तरे हि किमेकस्य निन्दया, किं वेतरस्य स्फुटविधाने सति स्तुत्या। तस्मान्नूनं शाखान्तरीयो रथाक्षमात्रान्तरालविधिरेषां नास्ति। ततश्च कर्मभेद इति।

द्वे स्तोत्रीये विराजं[2] दशकमतिरिच्येते इति, तिस्रोऽतिरिच्यन्त इति च ज्योतिष्टोमातिरात्रैकत्वे सति उपपन्नम्। भेदे तु यथाविधि भवतीत्यविरोधः। पुरोडाशिसांनाय्यिदर्शनं दीक्षितादीक्षितसंदर्शनेनैव गतम्। परिहारप्रकारान्तरत्वादुदाहृतम्।

---

१. क० अपरे। २. क० वैराजं।

किं च—

पृष्ठद्वयविकल्पः स्याच्छाखान्तरविधानतः ।
स च प्रकृतितः प्राप्तः कर्मैकत्वे वृथा भवेत् ॥

उपहृव्यभेदे तु नियमार्थायां पुनः श्रुतावर्थवत्ता । तस्मादपि कर्मभेदः ॥ ८ ॥

॥ अथ द्वितीयं शाखान्तराधिकरणम् ॥ २ ॥

न्या० सु०—षड्विधस्यापि कर्मभेदस्योक्तत्वादनर्थकमेतदधिकरणमित्याशङ्क्य शाखान्तराख्यकारणान्तरनिरासार्थत्वं तावत्परमतेनाह—उक्तेति । प्रतियोगिज्ञानापेक्षत्वादिदं कर्म शाखान्तरीयकर्मभिन्नमिति बुद्धेः शाखान्तरान्यभेदकत्वशङ्कानुपपत्तेः कारणान्तरनिरासार्थत्वायोगेनापरितोषात् स्वमतेनोक्तषट्कमध्ये एव संज्ञागुणाभ्यासाशङ्कानिरासार्थमाह—तत्रैव चेति । रूपादेः षट्कबाह्यत्वात्कथं तन्मध्यताशङ्केत्याशङ्क्य केनचिदपूर्वसंयोगादिप्रकारेण षट्कान्यतमरूपत्वाशङ्कोक्ता । कथं निन्दादेः षट्कान्यतमप्रकारत्वमित्याशङ्क्याह—तदिति । सिद्धान्ते प्रतिषेधार्थं निन्दादेर्गुणप्रकारत्वमुदितानुदितकालसंनोगभेदादित्यत्र शाखान्तरीयाणां गुणानामित्यादौ च पूर्वपक्षवार्त्तिके योजयिष्याम इत्यर्थः ।

ननु पूर्वत्रासम्भवेन गुणस्य भेदकत्वादुदितानुदितकालस्य चोत्पत्तिशिष्टत्वाभावेनामिक्षादिवत् पूर्वसंयोगासम्भवहेतुत्वायोगाच्छाखान्तरीयस्य च कर्मणोऽनवगतत्वेनाप्रत्यभिज्ञानाच्छाखान्तरीयस्य गुणस्य शाखान्तरीये कर्मणि विध्यसम्भवेन भेदकत्वस्याशङ्कनीयत्वाच्छाखान्तरीयगुणानां चैकशाखास्थे कर्मण्युपसंहाराशक्तेः शाखान्तरीयकर्मानवगमस्यैव हेतुत्वाच्छाखान्तरीयत्वसहकृतस्यैव गुणस्य भेदकत्वेनाशङ्कनीयत्वावगतेः पुनःश्रुतेश्च सिद्धान्ते शाखान्तरीयत्वेनैवाभेदकत्वाभिधानाच्छाखान्तरीयाणां यथोदाहरणत्वम्, तथा वेदान्तरीयस्यापि कर्मणः शाखान्तरीयाध्यायिभिरनवगमाविशेषाद्वेदान्तराणामप्युदाहरणीयत्वावगतेः शाखान्तराणीति भाष्यमयुक्तमित्याशङ्कते—कथं पुनरिति ।

केषां चिदुपलक्षणत्वेन समर्थनं दूषयितुमुपन्यस्यति—केचिदिति । त्रयीं विना सर्वाङ्गोपेतकर्मानवगतेर्वेदत्रयस्याप्यध्येयत्वाच्छाखान्तरीयन्यायासम्भवेन दूषयति—न त्विति । श्लोकं व्याचष्टे—यत्र हीति । औद्गात्रे वा वेदे यत्कर्म द्रव्यदेवतासंयुक्तमाम्नायते तत्र कथमित्यपेक्षायामाह—यस्त्विति । अनेकवेदाधीतस्य कर्मणा यत्र द्रव्यदेवाम्नानं तत्रैवोत्पत्तिः, वेदान्तरे गुणमात्रविध्यर्थश्रुतिरित्येतदेव तृतीयाधिकरणसूत्रेण द्रढयति—तथा चेति । तस्माद्युक्तमेव भाष्यमित्याह—तस्मादिति ।

नामविशेषदर्शनाद्रूपविशेषदर्शनादित्यादिप्रत्येकं दर्शनशब्दान्वयेन सूत्रव्याख्यां दृश्यतेशब्देन सूचयन्नाम्ना भेदोक्तिं व्याचष्टे—तत्रेति । नामरूपयोर्विशेषोक्त्यन्वयो भेदोक्त्या

सूचितः । नामभेदो यद्भेदकारणम्, तत्तावदिह दृश्यतइत्यर्थः । नन्विति भाष्येण काठकादिनाम्नोऽवध्यस्मरणेनानादित्वावधारणाद्वैशम्पायनान्तेवासिपुरुषवाचिकठशब्दप्रकृतिकत्वे चादिमत्त्वापत्तेश्चरणाख्यब्राह्मणावान्तरजातिवाचिकठशब्दप्रकृतिकत्त्वावगमात्तस्माच्च परतस्तेन प्रोक्तमिति विहितस्याण्प्रत्ययस्य कठशब्दपरतया विषयभावेन कठचरकाल्लुगिति स्मृतेर्लुगभावात्स्वार्थिककप्रत्ययान्तत्वेन काठकमिति रूपावगतेर्ग्रन्थस्यैव प्रवाच्यतयैतन्नामकत्वावसायात्कर्मनामत्वायोगमाशङ्क्य सत्यमित्यनेन तस्येदमित्यस्मिन्नर्थे गोत्रचरणाद् वुञिति चरणवाचिनः कठशब्दाद् वुञ्प्रत्ययोत्पादनेन तदादेशाक्रान्तत्वात्काठकशब्दव्युत्पत्त्यवगतेस्तस्य च धर्मसमाम्नाययोरिष्यतइति स्मृत्या कठसम्बन्धिसमाम्नायविषयत्ववत्तत्सम्बन्धिधर्मविषयत्वस्याप्यवगत्यविशेषाद्विभक्त्यैक्यहेतुकसामानाधिकरण्याविशेषाच्च धर्मरूपकर्मनामताप्युपपादितेत्येवं व्याख्यातुमाह—तद्यथेति ।

रूपाद्भेदोक्तिं व्याचष्टे—तथेति । आमिक्षावाजिनदृष्टान्तेनोपपादितेन गुणत्वेन रूपभेदस्य भेत्तृत्वे कपालसंख्याया यागगुणत्वाभावादभेदकत्वमाशङ्क्य गुणस्य तु विधानार्थं इत्यत्र कपालाश्रिताया अपि संख्याया यागं प्रत्यङ्गत्वरूपगुणतोक्ता, आद्यदृष्टान्तेन स्मारिता धर्मविशेषस्यापि गुणत्वमुपपादयितुमाह—कारीरीति । कारीर्याद्यध्यनकालेऽनुष्ठीयमानस्य भूमिभोजनादेः कैमर्थ्याकाङ्क्षायां फलवतः कारीर्यादिर्वाक्याध्ययनद्वारा सन्निहितस्य प्रकरणानाम्नातेतिकर्त्तव्यताग्राहित्वायोगेऽप्यध्ययनस्य दृष्टार्थतेतिकर्त्तव्यताग्राहित्वायोगात्सन्निधानाख्येन स्थानेन कारीर्यादीतिकर्त्तव्यतावगतेर्गुणत्वेऽपि कर्माङ्गभूतज्ञानद्वारत्वेन विप्रकृष्टतरत्वाद्भेदेनोपादानमित्यर्थः । साक्षादितिकर्त्तव्यतात्वनिरासार्थः स्थानीयशब्दः । अश्वघासादिग्रहणस्योदाहरणार्थत्वेन धर्मान्तरस्यापि ग्रहणसिद्धेर्विशेषानभिधानाच्चान्यधर्मोक्तेरुदाहरणान्तरार्थत्वायोगादानर्थक्यमाशङ्क्याह—पर इति । अश्वघासादेरिति तन्त्रेणान्ययोगनिमित्तापादानपञ्चमीत्वेन व्याचष्टे—अश्वेति । पुनरुक्तत्वमभ्यासत्वेन व्याचष्टे—पुनरुक्तत्वेनेति । निन्दाया गुणत्वं तावदुपपादयति—निन्दायामपीति ।

पूर्वपक्षे निन्दाया निषेधमात्रपर्यवसानाभ्युपगमान्निन्दासंयोगेनोदितानुदितकालयोर्निषेध्ययोर्गुणयोर्भेदादित्येवं योज्यम् । अनुदितहोमनिन्दां व्याचष्टे—उदितेति । निन्दाया निन्द्यनिषेधापेक्षत्वादुदित एवेत्यवधारणाभ्युपगमेनानुदितहोमो न कार्यं इत्यस्मिन्नर्थे तस्मादिति योज्यम् । उदितहोमनिन्दां व्याचष्टे—इतरे पुनरिति । प्रद्रुतायान्नदानोक्तेर्निन्दात्वाभिव्यक्त्यर्थं यः पूजामित्युक्तम् । प्रद्रुतशब्दव्याख्यानार्थातिक्रान्तोक्तिः अतिक्रान्तायान्नदानाशक्तिमाशङ्क्य—व्याहृत्यैहीत्युक्त्वेत्युक्तम् । तस्मादित्युदितहोमो न कार्य इत्येवं योज्यम् । निन्दाया निन्द्यन्तरविधिशेषत्वात्तद्वादशैकादशकपालत्ववद्विकल्पेनाविरोधमाशङ्क्य वैकल्पिकत्वे सत्युभयथाप्यवैगुण्यान्निन्दानुपपत्तेर्विरोधपरिहारायोगोक्त्यर्थं सर्वेति भाष्यं व्याचष्टे—

तत्रेति। अशक्तेर्गुणत्वमुपपादयति—**अशक्तीति**। समीप्सिभेदस्याप्येकस्मिन्कर्मणि निवेशासम्भवेन भेदकत्वात् समासिवचनस्यापि गुणतेत्याह—**समासीति**। अस्माकं योऽग्निः, सोऽन्वारोहेषु समाप्यते, अन्येषामन्यत्रेति समाप्तभेदाः समाप्त्युक्त्या भेदकत्वेन विवक्षितभेदशब्देन सूचितम्। क्व चिच्छाखायामुदितकालातिक्रम इति प्रायश्चित्तनिमित्तम्। क्व चिदनुदितकालातिक्रम इति प्रायश्चित्तनिमित्तभेदस्यापि निन्दावन्निषेधगमकत्वेनैव भेदकत्वात्पृथगुपन्यासानर्थक्यमाशङ्क्याह—**निन्दयेति**। प्रायश्चित्तनिमित्तो भेदः प्रायश्चित्तभेद इति मध्यमपदलोपी समासः। वृद्धिशब्दव्याख्यानार्थं वैगुण्योक्तिः।

एकेनैवोदाहरणेनान्यार्थदर्शनव्याख्यासिद्धेरुदाहरणपञ्चकानर्थक्यमाशङ्क्य परिहरति—**परिहारेति**। यदीत्यन्यार्थदर्शनं व्याचष्टे—**यदीति**। इष्टवतामिति भाष्यादिष्टप्रथमयज्ञतानिष्टप्रथमयज्ञता च द्वयमपि लिङ्गमिति भ्रान्तिनिरासायानिष्टप्रथमयज्ञत्वस्यैवलिङ्गत्वमाह—**द्वादशाह इति**। ताण्डकइत्यादिभाष्यं व्याचष्टे—**ताण्डकेति**। ज्योतिष्टोमस्य प्राथम्यनियमे सति यज्ञान्तरेभ्यः पश्चात्प्रयोगे प्राथम्याभावान्नैष्फल्यापत्तेः, यज्ञान्तराणां च प्रथमप्रयोगेऽप्यवैगुण्यापत्तेरन्येन यजेतेति चान्यशब्दसमभिव्याहृतस्य यजेर्यज्ञान्तरवाचित्वात्, तत्परेण प्रत्ययेन ज्योतिष्टोमस्य प्राथम्यविधावत्यन्तश्रुतिबाधापत्तेः सोमयागान्तराणां ज्योतिष्टोमपश्चाद्भावरूपधर्मविध्यर्थत्वेनास्य वाक्यस्य वार्तिककृतैव पञ्चमे व्याख्यास्यमानत्वाद्यजुर्वेदोत्पन्नत्वेन च ज्योतिष्टोमस्य सामवैदिकताण्डुकशाखागतत्वाभावात् सारस्वतसूत्रे च ज्योतिष्टोमपूर्वत्वात् सर्वकर्मणामिति भाष्यदर्शनादेकस्यापि ज्योतिष्टोमस्य प्राथम्यनियमे सति पक्षद्वयेऽप्यदीक्षितदर्शनानुपपत्तिसम्भवात् तत्सिद्धचै लिङ्गपरिहारसूत्रे सर्वशेषत्वोक्त्यानर्थक्यापत्तेर्द्वादशाहस्य ज्योतिष्टोमपश्चाद्भावलक्षणार्थं ज्योतिष्टोमान्तरस्य प्राथम्यनियमे सति इत्युक्तिमङ्गीकृत्य प्रकृतशाखगताद् द्वादशाहादन्यताण्डकशाखागतं द्वादशाहस्य ज्योतिष्टोमपश्चाद्भावानियमात्प्रतिशाखं द्वादशाहाख्यकर्मभेदे सत्यनिष्टप्रथमयज्ञत्वं द्वादशाहकर्तृविशेषणं युक्तं भवतीति व्याख्येयम्।

ननु सामवेदे ज्योतिष्टोमोत्पत्त्यभावाद्यजुर्वेदोत्पन्नज्योतिष्टोमप्राथम्यप्रतीतेः कर्मभेदे चाविशेषात् सर्वज्योतिष्टोमप्राथम्यापत्तेरेकं च द्वादशाहादियज्ञं प्रति सर्वज्योष्टोमप्राथम्यायोगात् सर्वशाखोत्पन्नानां द्वादशाहादियज्ञानां ज्योतिष्टोमः प्रथम इत्यर्थावगतिद्वारा सर्वशाखागतानां द्वादशाहानां ज्योतिष्टोमपश्चाद्भावावगतेरुदाहृतवाक्ययुक्तशाखागतस्यापि द्वादशाहस्य ज्योतिष्टोमपश्चाद्भावनियमात्कर्मभेदेऽप्यनिष्टप्रथमयज्ञदर्शनानुपपत्तिरित्याशङ्कानिराससूचनार्थोत्तरशब्दः। यज्ञान्तरधर्मभूतपश्चाद्भावावच्छेदकत्वेन ज्योतिष्टोमस्य परार्थतयोपादानात्पारार्थ्ये चैक इष्यतइत्यनेन न्यायेनैकस्यैव ज्योतिष्टोमस्य प्राथम्यावसायानैतद्वशेन सर्वशाखास्थानां द्वादशाहानां ज्योतिष्टोमपश्चाद्भावावगतिरित्याशयः। सर्वशाखासु कर्मैक्ये तु सर्वशाखास्थं द्वादशाहं प्रति ज्योतिष्टोमप्राथम्यनियमात्तद्द्वारा सर्वशाखास्थस्य द्वादशा-

हस्य ज्योतिष्टोमपश्चाद्भावनियमावगतेरदीक्षितदर्शनं द्वादशाहे न स्यादित्याह—**एकत्वे त्विति**। ज्योतिष्टोमः प्रथमो यस्मात्स ज्योतिष्टोमप्रथमः तस्य भावो ज्योतिष्टोमप्राथम्यमिति बहुव्रीह्यभ्युपगमेन वा सर्वशाखास्थस्य द्वादशाहस्य ज्योतिष्टोमप्राथम्यनियमादित्येवं योज्यम्।

तथा चेति द्वितीयान्यार्थदर्शनभाष्यं व्याचष्टे—**तथेति**। अर्द्धमन्तर्वेदि मिनोत्यर्धं बहिर्वेदीति। वेद्यग्रे विहितस्य यूपमानस्यातिदेशेन यूपैकादेशिनीं प्राप्तस्य वेदिदेशातिक्रमायोगाद्वेदिमानस्य वेद्याधारस्य श्येनादिपक्ष्याकारस्थलावयवभूतपक्षद्वयसम्मानस्य चार्थप्राप्तत्वेनानुवादोपपत्तेः प्रत्यक्षविधिविरोधे अर्थवादकल्प्यविध्ययोगात्पक्षसम्मानं निन्दित्वा वेदिसम्मानपरिग्रहः शाखान्तरीयस्य विरोधिनो वचनान्तरस्य तच्छाखीये कर्मण्यप्राप्ति द्योतयतीत्यर्थः। एतदेवोपपादयति—**वचनान्तरे हीति**। चतुर्विंशतिप्रक्रमवेद्यग्रदेशे रथाक्षमात्रान्तरालानाम् एकादशानाम् यूपानां मातुमशक्यत्वाद्व्यासमात्राणि पक्षपुच्छानि भवन्तीति च पक्षयोर्व्यासमात्रत्वविधानात्पक्षसम्मानपक्षो सुतरामशक्तेर्विरोध इत्याशयः। तस्मादपीत्युपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**ततश्चेति**।

अपरं चेति तृतीयान्यार्थदर्शनात् भाष्यं व्याचष्टे—**द्वे इति**। स्तोत्रीयावाचिसंस्तुतशब्दपरनिर्द्धारणषष्ठीयोगाद् द्वित्रिसंख्ययोः स्तोत्रियाविषयत्वोक्तिः। दशकाख्यत्वेन विराट्शब्दं व्याख्यातुं दशकशब्दः। अतिरेकोक्त्याऽतिरात्रसंस्थज्योतिष्टोमविषयत्वप्रदर्शनायाऽतिरात्रशब्दः।

अपि चेति चतुर्थान्यार्थदर्शनभाष्यं नासोमयाजी सन्नयतीत्यसोमयाजिनः सान्नाय्यनिषेधो नैन्द्राग्नस्य पुरोडाशस्य तत्स्थाने विधानादनिष्टप्रथमयज्ञानां पुरोडाशित्वेन विवक्षितानां दीक्षितादीक्षितदर्शनेनैव गतत्वादयुक्तमाशङ्क्य समाधत्ते—**पुरोडाशीति**। पञ्चमान्यार्थदर्शनभाष्यं व्याचष्टे—**किं चेति**। नानाकर्मत्वेति भाष्यं व्याचष्टे—**उपहव्येति**। तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादपीति** ॥ ८ ॥

भा० प्र०—एक वेद की काठक, कालापक, पैप्पलाद, माध्यन्दिन, तैत्तिरीय आदि अनेक शाखाए हैं। उन सभी शाखाओं में प्रत्येक का अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास आदि यज्ञ उपदिष्ट हुए हैं। इनमें संशय हो सकता है कि शाखागत भेद होने से प्रत्येक शाखा में उपदिष्ट अग्निहोत्र आदि कर्म भिन्न हैं या अभिन्न हैं।

इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का कहना है कि विभिन्न शाखाओं में एक ही नाम के सभी कर्म परस्पर भिन्न ही होंगे, क्योंकि, भिन्न होने के नामभेद, रूपभेद आदि अनेक कारण विद्यमान हैं, वे क्या यथाक्रम में कहे गये हैं।

अग्निहोत्र आदि कर्मविशेष का धर्म विशेष निर्दिष्ट कर शिष्टों के सम्प्रदाय क्रम के अनुसार इसका उल्लेख करना सुना जाता है—यह काठक अग्निहोत्र कहा गया है, यह

तैत्तिरीय अग्निहोत्र कहा गया है इत्यादि। इस रूप में प्रत्येक शाखा के नाम के अनुसार वहाँ के कर्मों का स्वरूप भी काठक, कालापक आदि विभिन्न नाम कहकर नामभेद के कारण कर्म का भेद होगा।

भिन्न शाखा में एक ही कर्म का भिन्न रूप-द्रव्यादि उपदिष्ट होने से रूपभेद के कारण भी कर्म का भेद होगा। जैसे एक शाखा में अग्निषोमीय को एकादश कपाल कहकर विधि है, और अन्य शाखा में उसका द्वादश कपालत्व उपदिष्ट होता है। अतः एक ही कर्म में एकादशकपालत्व एवं द्वादशकपालत्व आदि विरूप दो धर्मों का एक साथ समावेश नहीं हो सकता है, अतः, शाखा के भेद से कर्म का भेद ही होना उचित है। विभिन्न शाखाओं के भेद से कर्म का भेद ही होना उचित है। विभिन्न शाखाओं के ग्रहण के समय विशेष आचरण अनुशीलित होने से उन शाखाओं का कर्म अन्य शाखाओं के कर्म से विभिन्न है। जैसे तैत्तिरीय शाखियों का कारीरी वाक्य अर्थात् कारीरी नामक यज्ञ विषयक वेदभाग के अध्ययन के समय भूमि में भोजन किया जाता है, किन्तु अन्य शाखाओं के उसी अंश के अध्ययन के समय अध्ययन करने वालों को वैसा नहीं करना पड़ता है। इसी प्रकार अग्निग्रन्थ अर्थात् अग्नितत्त्व प्रतिपादक वेद का अंश विशेष के अध्ययन के समय किसी-किसी शाखा वालों को गुरु के जल कलश का संग्रह करना पड़ता है, किन्तु अन्य शाखा वालों को वैसा नहीं करना पड़ता है। इसी प्रकार अश्वमेध ग्रन्थ के अध्ययन के समय कतिपय शाखा वालों को अश्व के लिए घास को लाना पड़ता है, किन्तु अन्य शाखा वालों को वैसा नहीं करना पड़ता है। इसी रूप में प्रत्येक शाखा के कारीरी आदि कर्मों के धर्मगत और आचारगत वैशिष्ट्य हैं। अतः शाखा के भेद से कर्म का भेद होता है।

यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार शाखा का भेद होने पर भी कर्मों का भेद किस प्रकार सिद्ध होता है? शाखा के भेद में जो यह धर्म विशेष है—वह परित्याज्य नहीं है, कारण, बाद में कारीरी, अश्वमेध आदि कर्मों का अनुष्ठान करने में वे सभी धर्म विशेषों के नियामक उन शाखाओं के व्यक्ति इस प्रकार के नियमों का पालन करते हुए वेद का अध्ययन करते हैं तभी बाद में वे उन यज्ञों का अनुष्ठान कर सकते हैं और तभी वे अनुष्ठान पूर्ण होंगे, अन्यथा नहीं। अन्य शाखाओं के व्यक्ति अपने से भिन्न शाखाओं के नियमों का आचरण नहीं करेंगे क्योंकि, उनके लिए यह नियम ही नहीं है। अतः शाखा के भेद से कर्म का भेद न मानने पर किसी शाखा वाले का कर्म धर्म विशेष सापेक्ष और किसी का नहीं यह सङ्गत नहीं हो सकेगा।

दूसरा कारण यह है कि पुनरुक्ति के भय से भी शाखा के भेद से कर्म का भेद मानना उचित है। क्योंकि, यदि एक ही कर्म विभिन्न शाखाओं में उपदिष्ट होगा तो एक को ही

विधि अन्य सभी को अनुवाद मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में किस शाखा का वाक्य विधि है और किस शाखा का वाक्य अनुवाद है—यह भी निश्चित नहीं हो सकता है अर्थात् अनिश्चित ही रह जायगा। एक वाक्य को विधायक मानने से ही जब इष्ट की सिद्धि हो जाती है, तब अन्य शाखाओं में अन्य वाक्यों को पुनरुक्ति मात्र मानना होगा। इस प्रकार दोष के परिहार के लिए शाखा-भेद से कर्म का भेद मानना ही उचित है, ऐसा न मानने पर वेद वाक्यों की अनर्थकता होने लगेगी।

निन्दावचन के आधार पर भी शाखा के भेद से कर्मों का भेद मानना उचित है, क्योंकि, किसी शाखा में अनूदित होम की अर्थात् सूर्योदय से पूर्व में किये गये अग्निहोत्र की निन्दा की गई और किसी शाखा में सूर्य के उदय के बाद किये गये होम की निन्दा की गई है। यदि विभिन्न शाखाओं के अग्निहोत्र को अभिन्न माना जायगा तो एक ही कर्म की एक शाखा में प्रशंसा एवम् अन्य शाखा में निन्दा नहीं मानी जा सकती है। अतः, निन्दावचन के कारण भी शाखाभेद से कर्मभेद मानना होगा।

अशक्ति अर्थात् अनुष्ठान सम्पादन की असमर्थता होती है, अतः, शाखा-भेद से कर्म का भेद होता है। क्योंकि सभी शाखाओं का अध्ययन कर उन शाखाओं में जो अनुष्ठान का वैशिष्ट्य कहा गया है, उन सभी का समाहार कर अनुष्ठान करना अल्प आयु वाले मनुष्य के लिए असम्भव है, अतः, पृथक् शाखा के कर्मों को भिन्न मानने पर भिन्न शाखाओं के गुणों के उपसंहार करने की आवश्यकता नहीं होती है।

समाप्ति वचन के कारण भी शाखा के भेद से कर्मों का भेद मानना आवश्यक है। क्योंकि, कोई कहता है कि यहाँ हमारी अग्नि की समाप्ति कही गई है और अन्य व्यक्ति के लिए अन्यत्र अग्नि की समाप्ति का निर्देश किया गया है। शाखा के भेद से कर्म का भेद न मानने पर यह सङ्गत नहीं हो सकता है, क्योंकि, अभिन्न कर्म विभिन्न स्थानों में समाप्त नहीं हो सकता है, अतः, एक ही कर्म की विभिन्न स्थानों में समाप्ति के निर्देश के कारण शाखाओं के भेद से कर्मों का भेद मानना उचित है।

प्रायश्चित्त का विधान होने के कारण भी शाखा के भेद से कर्मों का भेद मानना उचित है, क्योंकि किसी-किसी शाखा में अनूदित कर्म का व्यतिक्रम होने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है और किसी शाखा में उदित होम के व्यतिक्रम होने पर प्रायश्चित्त का विधान किया गया है, अतः, यह स्पष्ट है कि उदित होम करने पर भी और अनुदित होम करने पर भी प्रायश्चित्त करना होगा। ऐसी स्थिति में प्रायश्चित्त का भेद दो भागों में विभक्त करना होगा, कारण, किसी भी पक्ष का अवलम्बन करने पर प्रायश्चित्त से छुटकारा नहीं है। फलतः, होमविषयक श्रुति ही अप्रामाणिक हो जायगी।

इसलिए एक ही कर्म के अनुष्ठान वैगुण्य के कारण इस प्रकार का प्रायश्चित्त का विधान उचित नहीं होने से शाखा के भेद से कर्म का भेद अवश्य ही मानना होगा।

इसी प्रकार "यदि पुरा दिदीक्षाणाः" इत्यादि वाक्य में दीक्षित एवं अदीक्षित— "ये प्रथमे सोमयाजी"=जो प्रथम सोम याग करता है एवं जो प्रथम सोमयाग नहीं करता है, इस प्रकार के दोनों व्यक्तियों को ही "द्वादशाहे" अर्थात् सत्र नामके यज्ञ विशेष में अधिकार कहा गया है। शाखा भेद से कर्म का भेद मानने पर ही यह उपपन्न हो सकता है, क्योंकि, ताण्ड्य शाखा में द्वादशाह नाम के यज्ञ के पूर्व में ज्योतिष्टोम याग की कर्तव्यता का उपदेश दिया गया है। वह ज्योतिष्टोम उसी शाखा के अध्ययन करने वाले के लिए कर्तव्य है। एक स्वतन्त्र कर्म होने अन्य शाखावालों के द्वारा वह यज्ञ न करने पर भी द्वादशाह याग का सम्पादन वह कर सकता है। क्योंकि, उसके लिए उस शाखा में विहित वह स्वतन्त्र ज्योतिष्टोमादि याग अवश्य कर्तव्य नहीं है। किन्तु शाखा के भेद होने पर भी कर्म को अभिन्न मानने पर यह सङ्गत नहीं है कि अनिष्ट प्रथम यज्ञ व्यक्ति भी द्वादशाह यज्ञ का अधिकारी है। इस प्रकार अन्यार्थ दर्शन होने से ही शाखा-भेद से कर्म-भेद मानना आवश्यक है। परिहार सूत्र के अनुसार भाष्यकार ने अन्यार्थ दर्शन का पाँच उदाहरण दिया है। जिसका विश्लेषण शाबरभाष्य के अनुवाद के अनुसार प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस सूत्र की व्याख्या आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक ने इस प्रकार की है—

इस सूत्र में शाखान्तर (कर्म) उदाहरण है—काठक, कालापक, पैप्पलादक इत्यादि। इनमें सन्देह होता है—क्या एक शाखा में जो अग्निहोत्रादि कर्म सुना जाता है, वही शाखान्तर में पुनः श्रूयमाण उससे भिन्न होता है, अथवा भिन्न नहीं होता है? भिन्न होता है, ऐसा हम देखते हैं। किस हेतु से?

(१) नामभेद से—एक कर्म काठक है, और दूसरा कापालक। इस प्रकार नामभेद से (कर्मों में) भेद होता है। (आक्षेप) ये (= काठक, कालापक) तो ग्रन्थों के नाम हैं (न कि कर्मों के)। (समाधान) सत्य है। कर्मों के नाम भी हैं, ऐसा हम कहते हैं। कर्मों के साथ भी इन काठक कालपक आदि का सामानाधिकरण्य और एक विभक्तित्व देखा जाता है (= काठकमग्निहोत्रम्, कालापकमग्निहोत्रम्।)

(२) रूपभेद से भी—एक शाखा में अग्निषोम देवतावाला पुरोडाश एकादशकपाल में संस्कृत पढ़ा जाना है, दूसरी में द्वादशकपालों में संस्कृत। इस प्रकार भिन्नरूप क्यों नहीं कर्मान्तर होगा?

(३) धर्मविशेष से भी—कारीरी (इष्टि) के वाक्यों का अध्ययन करते हुए तैत्तिरीय शाखा के छात्र भूमि पर भोजन करते हैं, दूसरी शाखावाले ऐसा आचरण नहीं करते। तथा अग्नि (= अग्निचयन) का अध्ययन करते हुए कुछ शाखावाले उपाध्याय के जल-घटों का आहरण करते हैं (= उपाध्याय के लिए घड़ों में पानी भर के लाते हैं) दूसरे ऐसा आचरण नहीं करते। अश्वमेध का अध्ययन करते हुए कुछ लोग अश्व के घास को लाते हैं, दूसरे नहीं लाते। दूसरे लोग अन्य धर्म का आचरण करते हैं। किन्हीं का अश्वमेधादि (कर्म का अध्ययन) अश्वघास से उपकार की आकांक्षा करता है, अन्यों की आकांक्षा नहीं करता है। वह एक ही होवे, तो (अश्वघासादि की) कैसे आकांक्षा न करे?

अथवा कैसे अन्य की आकांक्षा करे? इससे जाना जाता है कि (शाखाभेद से) कर्म-भेद होता है।

विवरण—ग्रन्थनामैतत्। सत्यम्, कर्मणामपीति ब्रूमः—कठ से ते प्रोक्तम् (अष्टा० ४।३।१०१) प्रकरण में कलापिवैशम्पायन्तेवासिभ्यश्च (अष्टा० ४।३।१०४) से णिनि प्रत्यय होता है। कठ से णिनि का कठचरकाल्लुक् (अष्टा० ४।३।१०७) से लुक् हो जाता है। यद्यपि यह प्रत्यय प्रोक्तार्थ में होता है, प्रोक्तप्रत्ययान्त से तदधीते तद्वेद (अष्टा० ४।२।५९) से अण् होकर प्रोक्ताल्लुक् (अष्टा० ४।३।६३) से लुक् प्राप्त होता है। पुनरपि छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (अष्टा० ४।२।६६) नियम से प्रोक्तप्रत्ययान्त ही तद-ध्येतृवेदितृविषयक हो जाते हैं। इसलिए छन्दोब्राह्मण वाचक शब्दों से न अध्येतृवेदितृ विषयक प्रत्यय होता है, और ना ही प्रोक्ताल्लुक् (अष्टा० ४।२।६३) से लुक् होता है। इसलिए कठेन प्रोक्तमधीयते विदर्वा कठाः विग्रह होता है।

कलापिन् शब्द से कलापिनोऽण् (अष्टा० ४।३।१०८) से अण् प्रत्यय होता है—कलपिनो प्रोक्तमधीयते विदुर्वा कालापाः। इस प्रकार 'कठाः' 'कलापाः' चरणवाची शब्द उपपन्न होते हैं। तत्पश्चात् तस्येदम् (अष्टा० ४।३।१२०) प्रकरण में गोत्रचरणाद् वुञ् (अष्टा० ४।३।१२६) सूत्रस्थ चरणाद्धर्माम्नाययोः वार्तिक से धर्म और आम्नाय अर्थ में वुञ् प्रत्यय होकर काठक आम्नायः, काठको धर्मः, कापालक आम्नायः, कापालको प्रयोग उत्पन्न होते हैं। आम्नाय अर्थवाला काठक कापालक ग्रन्थवाचक होता है और धर्म अर्थवाला तदविहित कर्मों का वाचक। भाष्यकार ने शाखावाचक अर्थ को मुख्य मानकर काठकमग्निहोत्रम्, कापालकमग्निहोत्रम् में कर्म के साथ सामानाधिकरण्य दर्शाकर कर्म-वाचक स्वीकार किया है। वस्तुतः धर्म शब्द के व्यापक अर्थवाला होने से तत्तच्छाखा-विहित कर्म तत्तच्छाखाध्येताओं के लिए धर्मरूप ही है। इसी प्रकार पैप्पलादकम् में पिप्पलादेन प्रोक्तमधीयते पैप्पलादाः, तेन प्रोक्तम् (अष्टा० ४।३।१०१) से अण् और चर-णाद् धर्माम्नाययोः (वा० ४।३।१२६) नियम से वुञ् प्रत्यय होकर बनता है।

मीमांसाकौस्तुभकार खण्डदेव ने इसी प्रकरण में कठ शब्द से प्रोक्तार्थ में पूर्ववत् णिनि और उसका लुक् करके तदधीते तद्वेद (अष्टा० ४।२।५९) से पुनः अण् और प्रोक्ताल्लुक् (अष्टा० ४।२।६४) से लुक् कहा है वह अशुद्ध है। प्रोक्त प्रत्यय जहाँ केवल प्रोक्तार्थ में, और अध्येतृवेदितृ विषयक होते हैं, उनमें अर्थों का अन्तर होने से तदधीते तद्वेद प्रकरणस्थ प्रत्ययों की उत्पत्ति और अनुत्पत्ति में भी अन्तर होता है। जैसे पाणिनिना प्रोक्तम्—पाणिनीयमष्टकम् स्वतन्त्र प्रयोग, और पाणिनीयमष्टकमधीयते विदुर्वा पाणिनीयाः में अध्येतृवेदितृ विषयक प्रत्यय, और उसका प्रोक्ताल्लुक से पाणिनीयाः स्वतन्त्र प्रयोग उत्पन्न होते हैं। तद्वत् कठेन प्रोक्तम् = कठः आम्नायः, और कठमाम्नायमधीयते कठाः ऐसे स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होते हैं। इन्हीं स्वतन्त्र प्रयोगों की निवृत्ति के लिए पाणिनि ने छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (अष्टा० ४।२।६६) का प्रवचन किया है। इस सूत्र की व्याख्या में काशिकाकार ने स्पष्ट लिखा है—अनन्यभावो विषयार्थः। तेन स्वातन्त्र्यमुपाध्यन्तरप्रयोगो वाक्यं च निवर्तते। अर्थात् तद्विषयता का विधान अनन्यभाव (=एकत्व) विषय के लिए है। इससे प्रोक्त, और अध्येतृवेदितृविषयक प्रत्ययों का स्वतन्त्रता से होना प्रोक्तम् और अधीते वेद वा उपाध्यन्तर (=अर्थान्तर) का प्रयोग और भिन्नवाक्यत्व निवृत्त होता है।

प्रतीत होता है—खण्डदेव की इस भूल का कारण सिद्धान्तकौमुदीकार का अध्येतृवेदितृ प्रत्ययं विना न प्रयोज्यानि (छन्दोब्राह्मणानि सूत्रव्याख्यायाम्) वाक्य रहा हो। हरदत्त तथा भट्टोजिदीक्षित प्रभृति ने प्रोक्तप्रत्ययान्त छन्दोब्राह्मण शब्दों से तदधीते तद्वद अर्थ में प्रत्यय उत्पन्न करके लुक् माना है। इस प्रक्रिया में कलापिनः में प्रोक्तप्रत्ययान्त कलापिन् के नकार का अवान्तर पद संज्ञा मानकर लोप न होवे, इसके लिए नागेश भट्ट ने प्रोक्तप्रत्ययान्त कलापिन् के नकार का अवान्तर पद संज्ञा मानकर लोप न होवे इसके लिए नागेशभट्ट ने प्रोक्तप्रत्ययान्त कलापिन् से सुबुत्पत्ति से पूर्व ही अध्येतृवेदितृ प्रत्यय का विधान माना है (द्र० लघुशब्देन्दुशेखर)। यह सब सूत्रकार और भाष्यकार के मत से विरुद्ध है। यदि सूत्रकार को यह प्रक्रिया अभिमत होती, तो तद्विषयाणि के स्थान पर नित्यम् छोटे शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे वत्रेर्मम् नित्यम् (अष्टा० ४।४।२०) में किया है। तद्विषयाणि ऐसा गुरुनिर्देश का प्रयोजन यही है कि प्रोक्तप्रत्ययान्त छन्दोब्राह्मण वाचक ही तद्विषयक = अध्येतृवेदितृविषयक होवे। भाष्यकार ने प्रोक्ताधिकार में तद्विषयता के विधान का जो पक्ष उपस्थित किया है, उससे भी यही ध्वनित होता है कि वे प्रोक्तप्रत्ययान्त को ही अध्येतृवेदितृविषयक मानते हैं। अनार्षग्रन्थों के माध्यम से आर्षग्रन्थ पढ़ने पर उनके तात्पर्य का प्रायः यथावत् ज्ञान नहीं होता है। इसीलिए आर्षग्रन्थों के परम उद्धारक स्वामी दयानन्द ने ठीक ही लिखा है—'जितना बोध इन

(अष्टाध्ययीमहाभाष्य) के पढ़ने से तीन वर्षों[1] में होता है, उतना बोध कुग्रन्थ अर्थात् सारस्वत चन्द्रिका, कौमुदी, मनोरमा आदि के पढ़ने से पचास वर्षों में भी नहीं हो सकता है, (द्र० सत्यार्थप्रकाश, समु० ३)। इसीलिए आप्तपुरुषों ने भी कहा है—काणादं पाणिनीयं च सर्वशास्त्रोपकारकम्, अर्थात् कणादप्रोक्त वैशेषिकदर्शन और पाणिनीयप्रोक्त व्याकरण समस्त शास्त्रों का उपकारक है। इनको यथावत् जाने विना अन्य शास्त्र समझ में नहीं आते, पदे पदे स्खलन होता है।

अग्नीषोमीयमेकादशकपालम्—तैत्ति० सं० २।५।२ का वचन है—ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्। इसी अग्नीषोमीय पुरोडाश को माध्यन्दिनी द्वादशकपालवाला मानते हैं (प्रयोग उपलब्ध)।

कारीरीवाक्यान्यधीयानाः—कारीरी इष्टि का विधान वृष्टिकामना के लिए है—कारीर्या वृष्टिकामो यजेत (द्र० मै० सं० २।४।८)। तैत्तिरीया भूमौ भोजनमाचरन्ति यह नियम, और अग्निमधीयानाः............उदकुम्भान् आहरन्ति, अश्वमेधमधीयानाः............ घासमाहरन्ति ये तीनों नियम हमें उपलब्ध नहीं हुये।

व्याख्या (४)—पुनरुक्ति के प्रसंग (= प्राप्ति) से भी—यदि सर्वशाखाओं में जाना गया एक कर्म होवे, तो एक शाखा में विहित कर्म का शाखान्तर में वचन पुनरुक्त अनर्थक होवे। भेदपक्ष में तो यह दोष नहीं है। इसलिए भी कर्मभेद है।

(५) निन्दावचन से भी—प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्। दिवाकीर्त्यमदिवाकीर्तयन्तः सूर्यो ज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्—(=सवेरे सवेरे वे झूठ बोलते हैं, जो सूर्योदय से पूर्व अग्निहोत्र करते हैं। दिन में कीर्तन-योग्य सूर्यो ज्योतिः को रात्रि में कीर्तन करते हुए, इनकी तब = सूर्योदय से पूर्व सूर्यज्योति नहीं होती है, इस प्रकार कुछ शाखावाले अनुदितहोम की निन्दा करते हैं। दूसरी शाखावाले पुनः उदितहोम की निन्दा करते हैं—यथाऽतिथये प्रद्रुतायान्नमाहरेयुस्तादृक् तद् यदि उदिते जुह्वति इति (=जैसे इस घर पर आकर लौट गये अतिथि के लिए अन्न का आहरण करें, वैसा वह कर्म है जो उदित होने पर होम करते हैं)। सर्वशाखा में एकरूप से जाने गये कर्म में विरोध होता है कर्मभेद मानने पर विरोध नहीं होता है। इसलिए भी कर्मभेद है।

---

१. हमारे विद्यालय में अष्टाध्यायी-सूत्र पाठ के माध्यम से महाभाष्यान्त पाणिनीय व्याकरण का ५ वर्षों का अध्ययन-अध्यापन लगभग ५० वर्षों से हो रहा है। इसी प्रकार माध्वमतानुयायी आत्मकूर (आन्ध्र) निवासी श्री पं० पद्मनाभ राव जी के विद्यालय में भी है।

विवरण—यथातिथये प्रद्रुताय—इसका अभिप्राय यह है कि पूज्य के लिए पूजा को ग्रहण करके पहले ही उपस्थित रहना साधु होता है (भट्ट कुमारिल)। सम्भवतः इसी दृष्टि से प्राचीनकाल में गृहिणियाँ ब्रह्मचारी आदि के भिक्षाकाल से पूर्व ही भिक्षा लेकर द्वार पर खड़ी रहती थीं।

व्याख्या—(६) अशक्ति से भी—सब शाखाओं में जाने गये कर्म का उपसंहार करने में निश्चय ही कर्ता समर्थ नहीं होंगे। ऐसी अवस्था में जो आरम्भ करने योग्य नहीं हैं, ऐसे अर्थ का विधान किया जाता है, यह स्वीकार करना होगा। कर्मभेद मानने पर कर्म करना शक्य हैं। इससे भी कर्मभेद है।

(७) समाप्तिवचन (के भेद) से भी—कर्म के असमाप्त होने पर भी समाप्ति का कथन होता है। किसी शाखा वाले कहते हैं—यहाँ हमारा अग्निकर्म (=अग्निचयन) परिसमाप्त होता है। दूसरी शाखा वाले अन्य परिसमाप्ति को कहते हैं। यह (=समाप्तिभेद) एक-कर्मत्व में उपपन्न नहीं होता है। वह कर्म वहाँ (=जहाँ कहा गया है) भी समाप्त होवे, और अन्यत्र भी यह नहीं हो सकता है। कर्मभेद में तो (समाप्तिभेद) युक्त है। इसलिए कर्मभेद है।

(८) प्रायश्चित्त का विधान करने से भी—कुछ लोग अनुदित होम के व्यतिक्रम में (=समय पर न होने पर) प्रायश्चित्त का कथन करते हैं कुछ लोग उदित होम के व्यतिक्रम में। और कर्म के व्यृद्धि (=यथाविहित न होना = असम्पूर्णता) होने पर प्रायश्चित्त होता है। कर्म के एक होने पर दोनों प्रकार व्यृद्धि सम्भव नहीं है। कर्मभेद होने पर तो जो अनुदित में होमकर्म है, वह उदय होने पर व्यृद्धि होता है, और अन्य (=उदितहोम) अनुदित में। इसलिए भी कर्मभेद है।

विवरण—न च कर्मैकत्वे उभयथा व्यृद्धिः सम्भवति—इसका भाव यह है कि सभी शाखाओं में एक कर्म मानने पर अग्निहोत्र के उदित और अनुदित दोनों काल विहित होते हैं। अतः अनुदित के उदित होने पर, वा उदित के अनुदितकाल में होने पर व्यृद्धि सम्भव है।

व्याख्या—(९) अन्यार्थ के दर्शन से भी—यह सुना जाता है—यदि पुरा दिदीक्षाणाः स्युः, यदि वा एषां गृहपतिः, गृहपतेर्वाऽनुसत्रिण इति, त एनमेव बृहत्सामानं क्रतुमुपेयुः, उपेतं ह्येषां रथन्तरम्। अथ यदि अदिदीक्षाणाः (=यदि सत्र करने वाले पहले दीक्षित हो चुके हों, अथवा यदि गृहपति, अथवा गृहपति के अनुयायी सभी दीक्षित हो चुके हों, तो इस बृहत्सामा क्रतु को करें, क्योंकि इनका रथन्तरसामा क्रतु किया हुआ होता है। और यदि अदीक्षित होवें)। यह जिन्होंने पहले सोमक्रतु कर लिया है, अथवा जो अनिष्ट-पूर्व हैं, उन दोनों का द्वादशाह सत्र में दर्शन तभी उपपन्न होता है, यदि कर्मभेद होवे। यह एककर्मत्वपक्ष में उपपन्न नहीं होता है। कैसे? ताण्ड्य (=ताण्ड्य ब्राह्मण) में सुना

जाता है—एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः, य एतेनानिष्ट्वाऽथाऽन्येन यजेत, गर्त्तपत्यमेव तज्जायेत, प्र वा प्रतीयते (= यही यज्ञों में प्रथम यज्ञ है जो ज्योतिष्टोम है, जो इसके विना यजन किये अन्य से यजन करता है, वह गड्ढे में गिरता है अथवा मर जाता है। यह (नियम) सर्वत्र होवे (अर्थात् ज्योतिष्टोम से प्रथम यजन करना सर्वत्र प्राप्त होवे)। इस अवस्था में अदीक्षितों का द्वादशाह में दर्शन उपपन्न न होवे। इससे भी कर्मभेद है।

विवरण—ताण्ड्यके श्रूयते—प्राचीन ऋषि नामों में तण्ड और ताण्ड्य दो नाम मिलते हैं। तण्ड द्र०—गर्गादिगण ४।१।१०५; तथा ताण्ड्य—वैशम्पायनान्तेवासियों में अन्यतम, द्र० काशिका ४।३।१०५, ताण्ड्य तण्ड का अपत्य है (द्र० गणपाठ ४।१।१०५) तण्ड से प्रोक्त ब्राह्मण का अध्ययन करने वाले अष्टा० ४।३।१०५ से णिनि प्रत्यय होने से ताण्डिनः कहाते हैं। इसी प्रकार ताण्ड्य से अष्टा० ४।३।१०५ से णिनि होकर 'आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति' (अष्टा० ६।४।१५१) से 'य' का लोप होकर ताण्डिनः ही प्रयोग निष्पन्न होता है। तथा दोनों से धर्माम्नाय से में ताण्डक (अष्टा० ४।३।१२६) समान शब्द उपपन्न होता है। इसी प्रकार तण्ड और ताण्ड्य से औत्सर्गिक अण् प्रत्यय (अष्टा० (४।३।१०१) करने पर दोनों का ताण्डाः समानरूप निष्पन्न होता है। इसी कारण पुराण तण्डप्रोक्त ब्राह्मण का ताण्ड्यप्रोक्त ब्राह्मण से भेद करने के लिए लाट्या० श्रौत० ७।१०।१७ में तथा पुराणताण्डम् में पुराण विशेषण उपपन्न होता है। दोनों के भेद को स्पष्ट करने के लिए ताण्ड्यप्रोक्त ब्राह्मण का निर्देश ऋषि नाम ताण्ड्य से ताण्ड्यब्राह्मण के रूप में अथवा उससे संज्ञा में (अष्टा० ५।३।७५) से कन् प्रत्यय करके ताण्ड्यक शब्द के रूप में व्यवहार होता है।

व्याख्या—और दूसरा लिङ्गदर्शन होता है—यत्पक्षसम्मितां मिनुयात् कनीयांसं यज्ञ-क्रतुमुपेयात् कनीयसीं प्रजां कनीयसः पशून् कनीयोऽन्नाद्यं पापीयान् स्यात्, अथ यदि वेदिसम्मित्या मिनोति (= यदि यूपैकादशिनी को पक्षसम्मित = पक्षबराबर में मान स्थापित करे तो छोटे क्रतु को प्राप्त होवे छोटी प्रजा को छोटे पशुओं को छोटे अन्नाद्य को, पापी होवे और यदि वेदिसम्मित पश्वैकादशिनी का मान करे) में पक्ष सम्मान के प्रतिषेध में वेदिसम्मान का दर्शन होता है। वह कर्मभेद पक्ष में ही उपपन्न होता है। पाक्षिक वेदिसम्मान का दर्शन एक कर्म होने पर उपपन्न नहीं होता है। कैसे? कुछ शाखा वाले पढ़ते हैं—रथाक्षमात्राणि यूपान्तरालानि भवन्ति (= रक्ष के अक्ष = धुरा मात्र अन्तराल = दूरी वाले यूप होते हैं)। यह विधि सर्वत्र होवे। उस अवस्था में न पक्षसम्मान होवे, न वेदिसम्मान होवे। इस प्रकार वेदिसम्मान का दर्शन उपपन्न नहीं होता है। इससे भी कर्मभेद है।

विवरण—अथापरं लिङ्गदर्शनम्—सूत्र में अन्यार्थदर्शनात् इतना ही कहा है। उसकी उपपत्ति पूर्व उदाहरण से हो जाती है। फिर इसका तथा आगे उद्ध्रियमाण लिङ्गदर्शनों

का भाष्य में निर्देश समाधानसूत्रों की दृष्टि से किया है। अग्निचयन (सुपर्णयाग वा श्येन-याग) सम्बन्धी कर्मविशेष में पश्वैकादशिनी=ग्यारह पशु विहित हैं। उनके लिए एकादश-यूप गाड़े जाते हैं। सुपर्णयाग का अग्निस्थण्डिल पंख फैलाये श्येन के समान होता है। उत्तर-दक्षिण पंखभाग, मध्य में आत्मस्थानीय भाग, पूर्व में चञ्चुस्थान और पश्चिम में पुच्छ स्थान होता है। आहवनीय की पूर्वरेखा के मध्य में एक यूप गाड़ा जाता है और पांच-पांच यूप दोनों ओर गाड़े जाते हैं। इन यूपों को कितने स्थान में गाड़ें इसके लिए प्रथम पक्ष है—उत्तर-दक्षिण पंखों का फैलाव जितने स्थान में उतनी बराबर दूरी रखकर गाड़ें। यह पक्षसम्मान (=पक्ष बराबर=दक्षिण और उत्तर प्रत्येक ओर चार हाथ और २२ अंगुल परिमाण) से यूपों का मान है। दूसरा पक्ष है—वेदि का जितना पूर्व दिशा में स्थान है, उसमें बराबर दूरी रखकर यूपों को गाड़ें। चयन में वेदि का परिमाण इस क्रतु में ४० पद=कदम=साढ़े सात पुरुष=सवा छब्बीस हाथ होता है। तीसरा पक्ष है—रथ से अक्षपरिमाण (१०४ अंगुल=चार हाथ ८ अंगुल) मध्य दूरी छोड़कर गाड़ना चाहिए। पक्षसम्माने प्रतिषिद्धे-पक्ष=पंख बराबर सम्मान की निन्दा से उसका प्रतिषेध और वेदिसम्मान की स्तुति से उसकी विधि जानी जाती है। तत्तु कर्मभेदे उपपद्यते—एक विधि का प्रतिषेध और एक विधि का विधान कर्मभेद मानने पर सम्भव होता है। तत्र च न पक्षसम्मानम्—रथाक्षमात्र यूपों का अन्तराल होने पर न पक्षसम्मान हो सकता है, न वेदिसम्मान। पक्षसम्मित पक्ष में दक्षिणपक्ष-४ हाथ २२ अंगुल, उत्तरपक्ष=४ हाथ २२ अंगुल, दोनों के मध्य का भाग २ पुरुष=७ हाथ, सब मिलाकर १६ हाथ २० अंगुल स्थान होता है। वेदिसम्मित में वेदी का परिमाण २६ हाथ ६ अंगुल कह चुके हैं। ११ यूपों के मध्य के १० अन्तराल=१० रथाक्षप्रमाण=१०४० अंगुल बराबर ४३ हाथ ८ अंगुल होता है। इसके साथ ११ यूपों की मोटाई न्यून से न्यून एक वितस्ति=१२ अंगुल होने पर ५ हाथ १२ अंगुल होगी। अतः ११ यूप अन्तरालसहित ४८ हाथ २० अंगुल लम्बे स्थान में स्थित होंगे। इस प्रकार रक्षाक्षप्रमाण अन्तराल मानने पर न पक्ष-सम्मित यूपनिखनन उपपन्न होता है, और ना ही वेदिसम्मित।

कात्यायन श्रौत ८।८।६-७-८। में रथाक्षअन्तराल, वेदिसम्मित और पक्षसम्मित तीनों पक्ष स्वीकार किये हैं।

व्याख्या—और भी लिङ्गदर्शन होता है—किन्हीं शाखियों के यहाँ ज्योतिष्टोम में सुना जाता है—संस्तुत स्तोत्रीय ऋचाओं में विराट् (=१० संख्या) से दो अतिरिक्त रहती हैं। अन्यों के मत में संस्तुत स्तोतों में विराट् संख्या से तीन अतिरिक्त रहती हैं। यदि दोनों एककर्म होवे तो विरोध होता है। नानाकर्म होने पर किसी ज्योतिष्टोम में दो, और किसी में तीन का विराट् संख्या से अतिरेक उपपन्न होता है। इसलिए (शाखान्तरस्थों में) कर्म का भेद है।

विवरण—ज्योतिष्टोमे श्रूयते—ज्योतिष्टोम की ७ संस्थाएँ हैं—अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, अतिरात्र, अत्यग्निष्टोम, वाजपेय और आप्तोर्याम। इनमें स्तोत्रों के न्यूनाधिक होने से स्तोत्रीय ऋचाओं की संख्या में भी भेद होता है। आगे उद्धृत वचन अतिरात्र संस्था का है (द्र० सूत्र० २।४।२६)। संस्तुतानाम् = स्तुति की गई। यह ऋचा का निर्देशक है।

एक साम एक स्तोत्र होता है। एक साम तृचे क्रियते (= एक साम तीन ऋचाओं के समुदाय पर गाया जाता है), इसलिये त्रिवृत् (= त्रिगुणित) स्तोत्र में स्तोत्रीय ऋचाओं की संख्या ३ × ३ = ९ होती है, पञ्चदश स्तोत्र में पन्द्रह गुणित होती हैं, सप्तदश स्तोत्र में १७ गुणित। इसी प्रकार सर्वत्र जानें। इस संख्या का उपयोग अगले सिद्धान्तसूत्र २६ में होगा।

विराजमतिरिच्यंते·······अतिरिच्यन्ते—विराट् नाम पूर्ण संख्या १० का वाचक है—विराट् विराजनात् पूर्णाक्षरा (निरुक्त ७।१३)। १० संख्या को पूर्ण संख्या इसलिए मानते हैं कि इसके आगे १०-१२-१३ आदि में दाईं ओर पुनः १।२।३ रखे जाते हैं, इसलिये विराजमतिरिच्येते·······रिच्यन्ते का भाव है—विराट् (= १० संख्या) से बचती है। एक ज्योतिष्टोम = किसी भी संस्था) में जितने स्तोत्र हैं, उनकी ऋचाओं की संख्या में विराट् (= १० संख्या से भाग देने पर भागफल की संख्या विराटों की होती है। शेष जो बचता है, उसका यहाँ संकेत है।

व्याख्या—और भी, सारस्वत सत्र में सुना जाता है—जो पुरोडाशी (=पुरोडाश से दर्श करने वाले) हैं वे चुपचाप बैठते हैं, और जो सान्नायी (=दूध दधि से दर्श करने वाले) हैं, वे वत्सों को (गायों से) हटाते हैं। सान्नायी इष्टप्रथमयज्ञ (=जिन्होने पहले सोम-याग किया है) होते हैं। और पुरोडाशी इससे विपरीत (=जिन्होंने बिना सोमयाग किये दर्शपूर्णमास का आरम्भ किया है) होते हैं। दोनों (=पुरोडाश से और सान्नाय्य से दर्श करने वालों) का सारस्वत सत्र में दर्शन कर्मभेद में उपपन्न होता है। एककर्म होने पर सभी (=पुरोडाशियों और सान्नायियो) का ज्योतिष्टोम पूर्वत्व होवे। उस अवस्था में (भेद) दर्शन उपपन्न नहीं होता है।

विवरण—सारस्वते श्रूयते—सारस्वत नाम का सत्ररूप सोमयाग है। सत्र का सामान्य सोमयाग से जो भेद है, उसका निर्देश प्रथम भाग के पृष्ठ ९४ टि० २ में दर्शाया है। जिसने सोमयाग पहले किया है, उन्हीं का सत्र में अधिकार होता है। ऐसा मानकर दोष दिया है कि सारस्वतसत्र में पुरोडाशियों और सान्नायियों का दर्शन उपपन्न नहीं होता है। क्योंकि जो सोमयाग करके दर्शपूर्णमास करते हैं, उन्हें दर्श में सान्नाय्य हवि (=दधि दूध मिश्रित हवि) देनी होती है और जो दर्शपूर्णमास पहले करते हैं, उन्हें दर्श में पुरोडाश हवि देनी होती है (विशेष सिद्धान्तसूत्र में देखें)।

व्याख्या—और भी सुना जाता है—उपहव्य अनिरुक्त, अग्निष्टोम यज्ञ, रथन्तर-सामवाला और काला अश्व दक्षिणावाला होता है। अन्यों का सुना जाता है—उपहव्य अनिरुक्त, उक्थयज्ञ, बृहत्सामवाला और श्वेत अश्व जिसके ललाट पर रुक्म सुवर्ण बँधा हैं। दक्षिणावाला होता है। कर्म के एकत्व में रथन्तरसाम का वचन और बृहत्साम का वचन अनर्थक है। दोनों शाखाओं में ज्ञात होने बृहत्सामा रथन्तरसामा वा स्यात् (=बृहत्सामवाला अथवा रथन्तरसामवाला होवे)। और यह (उक्थसंस्थाक यज्ञ में) प्रकृति (=अग्निष्टोम) से ही इस लक्षणवाला (=पक्ष में बृहत्सामवाला वा रथन्तरसामवाला) प्राप्त ही है। नानाकर्मत्व होने पर बृहत्सामवाला और रथन्तरसामवाला भिन्न होता है, इससे (उभयनिर्देश) युक्त है। इसलिए शाखान्तर में कर्मभेद होना चाहिए।

विवरण—उपहव्योऽनिरुक्तः—उपहव्यसंज्ञक एकाहरूप सोमयाग है। इसकी अग्निष्टोम संस्था का वर्णन ताण्ड्य ब्रा० १८।१ में मिलता है। अनिरुक्तः—इसका अभिप्राय है कि देवता का नाम परोक्षरूप से बोला जाये। द्र० उपहव्ये देवतानामधेयानि परोक्षं ब्रूयुः स्वस्थानासु (लाट्या० श्रौत० ८।९।१)। अग्निष्टोमो यज्ञः—अग्निष्टोम संस्थावाला (= जिस सोमयाग की आग्नेय स्तोम से संस्था = समाप्ति होवे)।

रथन्तरसामा—ताण्ड्य ब्रा० १८।१।१८ में अग्निष्टोमसंस्था में बृहत्साम कहा है—बृहत्सामा भवति। अश्वः श्यावो दक्षिणा (ताण्ड्य ब्रा० १८।१।२०)। उक्थो यज्ञ—उक्थसंस्थावाला सोमयाग। बृहत्सामा—बृहत्सामवाला। अश्वः श्वेतो।

रुक्मललाटो दक्षिणा—रुक्मललाटः = जिसके ललाट पर हिरण्य का पत्रा बाँधा हुआ होवे। बृहत्सामा रथन्तरसामा वा स्यात् = इसका तात्पर्य है कि अग्निष्टोम में माध्यन्दिन-सवन में पृष्ठस्तोत्र कहे हैं, उनमें बृहत्साम अथवा रथन्तरसाम होवे। बृहत् और रथन्तर-साम के लिए प्रकृतिगान और ऊहगान द्रष्टव्य हैं॥ ८॥

एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात् ॥९॥ सि०

शा० भा०—न चैतदस्ति, यदुक्तं शाखान्तरेषु कर्मभेद इति। सर्व-शाखाप्रत्ययम्, सर्वब्राह्मणप्रत्ययं चैकं कर्म, अर्थसंयोगस्याविशेषात्। तदेव प्रयो-जनमुद्दिश्य तदेव विधीयमानं प्रत्यभिजानीमः। रूपमप्यस्य तदेव द्रव्यदेवतम्। पुरुषप्रयत्नश्च तादृश एव चोद्यते। नामधेयं चाविशिष्टम्। तेन तदेव कर्म सर्व-शाखादिष्वति प्रत्ययः ॥९॥ सिद्धान्तः।

त० वा०—

सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानात्संज्ञारूपगुणादिभिः।
एककर्मत्वविज्ञानं न शाखास्वपगच्छति॥

सर्वब्राह्मणप्रत्ययमिति—एकस्यामपि शाखायां ब्राह्मणानेकत्वेऽपि तदेकं कर्मेत्यभिप्रायः। तद्यथोद्गातॄणां पञ्चविंशषड्विंशब्राह्मणयोर्ज्योतिष्टोमद्वादशाहौ। संयोग इति प्राधान्यात्फलसंयोगग्रहणम्। रूपमिति—प्रत्यासत्तेर्द्रव्यदेवतम्। चोदनेति—सर्वधात्वर्थभावनाविषयो विधिः। ज्योतिष्टोमादि नामधेयं च सर्वशाखास्वविशिष्टं दृश्यते। तस्मादियतः प्रत्यभिज्ञानकारणकलापादभेदसिद्धिः। न चान्यः कश्चिद्भेदहेतुरस्ति। प्रकरणान्तरवच्छाखान्तरेषु परस्परासंनिधानमिति चेत्? न। तेनैवेतराग्रहणात्। येन हि प्रदेशान्तरे किंचित्कर्म गृहीतं भवति, स एव तत्सदृशमन्यत्रोपलभमानः[1] शक्नोति ततोऽन्यदेतदित्यध्यवसातुम्। एकशाखाविषये च सर्वशाखाध्ययनादेवं भवति। शाखान्तरे पुनरन्यशाखागतज्योतिष्टोमाद्यनवबोधादपूर्ववदुच्यमानेषु न भेदबुद्धिर्जायते।

यस्तर्हि द्वे शाखे पठति, तस्य प्रकरणान्तरन्यायेन भवितव्यमेकशाखागतेषु च ब्राह्मणान्तरेषु। नैष दोषः। शाखान्तराध्ययनं तावदेकस्य पुंसो नैवेष्यते। किं कारणम्?

स्वाध्यायग्रहणेनैका शाखा हि परिगृह्यते।
एकार्थानां विकल्पश्च कर्मैकत्वे भविष्यति॥

यथैवाऽऽकृतिः प्रतिव्यक्ति समवैति, तथैव स्वाध्यायत्वमेकैकस्यां शाखायाम्। अतश्च 'स्वाध्यायोऽध्येतव्य' इति कर्मावबोधनं प्रत्युपादीयमानत्वाद्विवक्षितैकसंख्यैका शाखाऽध्येतव्या। नन्वेवं वेदान्तरस्याप्यध्ययनं न प्रसज्यते। न। वचनान्तरेण प्रतिप्रसवात् 'अनया त्रय्या विद्यया' इति। तथा 'वेदानधीत्य वेदौ वा' इति मानवम्। साकाङ्क्षत्त्वाच्च वेदान्तराणामतुल्यकार्यत्वकारितः समुच्चयोऽवगम्यते। शाखान्तरेषु त्वन्योन्यनिरपेक्षस्वतन्त्रज्योतिष्टोमादिरूपप्रतीतेस्तुल्यार्थत्वनिमित्तो विकल्पः। साकाङ्क्षत्त्वादेव चैकशाखागतब्राह्मणान्तरसमुच्चयाश्रयणम्।

नन्वेककर्मत्वाद्विकल्पो विकल्पाच्चैककर्मत्वमितीतरेतराश्रयत्वं भवेत्। न। प्रत्यभिज्ञानमात्रेणैकत्वे विज्ञाते संख्यावशेन विकल्पसिद्धेः। अतश्च यो नामातिमेधावित्वादेकवेदगतानि शाखान्तराण्यप्यधीते, स समृद्धः सन् व्रीहियवैरपि मिश्रैर्यजेत्। तस्मादेकं कर्मेति॥ ९॥

न्या० सु०—सूत्रं व्याचष्टे—सर्वत्रेति। रूपशब्दोक्तद्रव्यदेवतव्यतिरिक्ताङ्गाशयो गुणशब्दः। संयोगचोदनयोर्ग्रहणायादिशब्दः। शाखास्थानां ब्राह्मणानामेव विधायकत्वात् सर्वशाखाभ्यो ज्ञानं यस्य कर्मणस्तदेकमित्युक्ते सर्वेभ्यो ब्राह्मणभागेभ्यो ज्ञानं यस्य तदेक-

---

१. लक्ष्यमानः।

मित्युक्तिः पुनरुक्तेत्याशङ्क्याह—**सर्वेति**। अत्रोदाहरणमाह—**तद्यथेति**। गुणमुख्यव्यतिक्रमाधिकरणे ज्योतिष्टोमस्य याजुर्वेदिकतयाः स्वयमेव वक्ष्यमाणत्वादौद्गात्रे ज्योतिष्टोमानुत्पत्तेस्तदङ्गभूतस्तोत्राद्याशया ज्योतिष्टोमोक्तिः। अर्थसंयोगस्येति भाष्यं व्याचष्टे—**संयोग इति**। संशब्दस्य समीहितवाचित्वात्फलस्यैव च समीहितत्वात् समीहितेन योग इत्यवयवार्थसंयोगात्फलान्वयवाची संयोगशब्द इत्याशयः। रूपमपीति भाष्यं व्याचष्टे—**रूपमिति**। पुरुषेति भाष्यं व्याचष्टे—**चोदनेति**। नामधेयं चेति भाष्यं व्याचष्टे—**ज्योतिष्टोमादिति**। तेनेति सिद्धान्तोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**। शाखान्तरस्य भेदकत्वं शङ्कितुमापातनिकां तावत्करोति—**न चेति**। व्याचष्टे[1]—**प्रमाणान्तरवदिति**। असन्निधानेनैव कारणेन शाखान्तराध्यायिभाष्यं शाखान्तरीयस्य कर्मणोऽनवगतेः प्रतियोग्यनवगमे च भेदाप्रतीतेर्न शास्त्रान्तरलक्षणमसन्निधानं भेदहेतुरिति परिहरति—**नेति**। एतदेव विवृणोति—**येन हीति**। स्मृतिहेतुसंस्कारोद्बोधसिद्ध्यर्था सदृशोक्तिः।

ननु शाखाद्वयाध्यायिनः प्रतियोगिकर्मग्रहणसम्भवाच्छाखान्तरे प्रकरणान्तरन्यायो भविष्यतीत्याशङ्कते—**यस्तर्हीति**। पञ्चविंशादिषु चैकशाखाङ्गतेषु ब्राह्मणान्तरेष्वेकशाखाध्यायिनोऽपि प्रकरणान्तरन्यायो भविष्यतीत्याशङ्कान्तरमाह—**एकेति**। आद्यां शङ्कां निरसितुमुपक्रमते—**नैव इति**। एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**किमिति**। स्वाध्यायोक्तेर्वेदवाचित्वात् समस्तस्वशाखासमूहस्य च वेदत्वात्कथं स्वाध्यायशब्देनैकशाखाग्रहणमित्याशङ्कां निरस्यन् पूर्वार्द्धं व्याचष्टे—**यथैवेति**। एकशाखाध्यायिनि वेदवित्शब्दप्रयोगान्न शाखासमूहस्य वेदतेत्याशयः। संस्कारकर्माध्ययनपक्षे स्वाध्यायस्य संस्कार्यत्वेनानुपादेयत्वे अपि स्वशब्देनात्मीयवाचिना पितृपितामहादिपरम्परागताया एव शाखायाः कर्मव्युत्पत्त्याध्यायशब्दोक्तायाः अध्येतव्यत्वोक्तेरेकशाखाग्रहणसूचनार्थश्चशब्दः।

वेदान्तरस्यापि तर्ह्यनध्ययनापत्तेस्त्रिवेदीबोध्यज्योतिष्टोमादिकर्मासिद्धिः स्यादित्याशङ्कते—**नन्विति**। स्वाध्यायाध्ययनविधिनैकवेदाध्ययनविधानाद्वेदान्तरानध्ययनप्रसक्तावपि वचनान्तरेण प्रतिप्रसवाद्वेदान्तराध्ययनसिद्धिरिति परिहरति—**नेति**। स्मृत्यापि प्रतिप्रसवमाह—**तथेति**। वेदान्तरवैषम्यप्रदर्शनपूर्वमुत्तरार्द्धं व्याचष्टे—**साकाङ्क्षत्वाच्चेति**। द्वितीयामपि शङ्कामनेनैव न्यायेन—**परिहरति साकाङ्क्षत्वादेवेति**। ननु शाखान्तरानध्ययने प्रतियोगिकर्माग्रहणाद्भेदबुद्धिवत्प्रत्यभिज्ञानस्यापि तदेवेदमिति प्रतियोगिग्रहणसापेक्षत्वेनानुपपत्तेर्विकल्पादेवैककर्माभ्युपगमप्रसङ्गादन्योन्याश्रयः स्यादित्याशङ्कते—**नन्विति**। विधेयरूपभेदे शब्दान्तरादिप्रमाणव्यापारात्तस्य चोत्पत्तिविध्यधीनत्वादुत्पत्तिबोधनेनोत्पन्नोत्पत्त्ययोगाच्छब्दान्तरादीनां भेदकत्वावगतेः शाखान्तरे चोत्पन्नोत्पत्तावप्यध्येत्रन्तरं प्रत्यर्थवत्त्वोपपत्तेरुत्पत्तिबोधने अपि भेदकत्वायोगाच्छाखान्तरीयत्वनिमित्तवैलक्षण्यप्रतीतिमात्रेण भेदो वाच्यः। स च प्रतियोगिग्रहणापेक्षत्वाच्छाखान्तराग्रहणे तावन्न शक्यो ग्रहीतुमध्येत्रन्तरा-

---

१. शङ्कतेइति २ पु० पा०।

ग्रहणे अपि फलाद्यविशेषेण प्रत्यभिज्ञानाद्वस्त्रादिवैलक्षण्येन च देवदत्तवैलक्षण्यवच्छाखा-वैलक्षण्यमात्रेण कर्मवैलक्षण्यायोगादभेद एवावसीयते न भेद इत्याशयेन परिहरति—नेति। विकल्पावगतिं विनाप्यध्येत्रन्तराच्छाखान्तरीयकर्मग्रहणे सति फलाद्यविषयनिमित्तप्रत्यभि-ज्ञानमात्रेण कर्मैक्यज्ञानाद्विकल्पसिद्धेरन्योन्याश्रयपरिहारमुक्त्वैकशाखाध्ययनात् स्वाध्याय-विध्यर्थसम्पत्तावप्यनेकशाखाध्ययननिषेधादनेकशाखाध्यायिनो विहितविध्ययोगाद्विधिभेदेन कर्मभेदबुद्धेर्विधिश्रुतिविरोधात् सन्निधिलक्षणप्रत्यभिज्ञाबाधमाशङ्क्य स्वाध्यायगतयैकत्व-संख्यया अनेकशाखाध्ययननिषेधसूचनार्थम्—संख्यावशेनेत्युक्तम्। स्वशब्देन च स्वीयशाखा-नियमाच्छाखान्तराध्ययननिवृत्तिरिति दृष्टान्तद्वारा सूचयितुमाह—अथेति। शाखान्तरस्य भेदकत्वशङ्कानिरासमुपसंहरति—तस्मादिति ॥ १ ॥

भा० प्र०—इस पूर्वपक्ष के उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि "एकं वा" सभी शाखाओं का प्रत्यय एवं सभी ब्राह्मणों का प्रत्यय एक ही कर्म का उपदेश करता है, शाखाभेद के कारण भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि, "संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्" एक ही फल के लिए एक ही कर्म का शाखाओं में विधान होता है, सभी स्थलों में कर्म का द्रव्य, देवता और नाम अभिन्न हैं एवं सर्वत्र एक ही प्रकार के पुरुष प्रयत्न से कर्म की निष्पत्ति होती है अथवा सर्वत्र एकही प्रकार की विधि है—तब इन सभी कारणों के रहने से विभिन्न शाखाओं में कहे जाने पर भी वे अभिन्न ही रहेंगे—यह मानना ही होगा, क्योंकि 'यह वही कर्म है' इस प्रकार की अभेद प्रत्यभिज्ञा रहती है, अतः, वह एकही रूप, वह एकही फल, वह एकही चोदना = पुरुष प्रयत्न एवं वह एक ही नाम रहने से शाखाभेद होने पर भी कार्य का भेद नहीं होगा। इसीलिये वार्तिककार ने कहा है—

सर्वत्र प्रत्यभिज्ञानात् संज्ञारूपगुणादिभिः।
एककर्मत्वविज्ञानं न शाखास्वपगच्छति ॥

नाम रूप एवं गुण के कारण जब अभेद प्रत्यभिज्ञा रहती है, तब भिन्न-भिन्न शाखाओं में भी कर्म के एकत्व की प्रतीति होगी—यह अन्यथा नहीं हो सकती है। इसी-लिए सभी शाखाओं का प्रत्यय एवं सर्वब्राह्मण प्रत्ययकर्म एक ही है। सर्वशाखाप्रत्यय का अर्थ सर्वशाखाप्रमाण होता है। एक ही शाखा का ब्राह्मण भिन्न-भिन्न होने पर एवम् एकही कर्म का पृथक् रूप से उल्लेख रहने पर भी कर्म का भेद नहीं हो सकता है, इसलिये भगवान् भाष्यकार ने कहा है सर्वशाखाप्रत्यय कह कर भी सर्वशाखाब्राह्मण-प्रत्यय कहा है।

वस्तुतः भाष्यकार के द्वारा कथित 'सर्वशाखाप्रत्यय' और सर्वब्राह्मणप्रत्यय का अर्थ यह है कि सर्वशाखाप्रमाण क्योंकि वेदान्त में सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणे (वै० सू० ३।३।१) इस सूत्र में वाचस्पति मिश्र ने भामती में लिखा है कि सर्ववेदान्तप्रत्यय = सर्ववेदान्त-

प्रमाण अतः प्रकृत में सर्वशाखाप्रत्यय और सर्वब्राह्मणप्रत्यय का अर्थ सर्वशाखाप्रमाण और सर्वब्राह्मणप्रमाण होता है।

"एकम्" = एक अर्थात् एकही कर्म, "वा" = पूर्वपक्ष के निरास के लिए हैं, "संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्" = संयोग अर्थात् फलसम्बन्ध, रूप अर्थात् द्रव्य और देवता चोदना अर्थात् पुरुषप्रत्यय अथवा विधि एवम् आख्या = नाम का विशेष अर्थात् भेद नहीं हैं ॥ ९ ॥

यह सिद्धान्त पक्ष हैं।

न नाम्ना स्यादचोदनाभिधानत्वात् ॥१०॥

शा० भा०—यदुक्तं नामभेद इति। परिहृतं तद्ग्रन्थना[1]मत इति। अथ यदुक्तम्, कर्मणोऽपि नामसामानाधिकरण्यदर्शनादिति। नैष दोषः। ग्रन्थसंयोगात्कर्म काठकादि, न कर्मसंयोगाद् ग्रन्थः काठकः। कथं गम्यते ? यत्कर्म काठकादिसंयुक्तम्, तत्काठकादि[2]शब्देनोच्यते। किमतोऽपि[3] यद्ग्रन्थसंयोगात्काठकं कालापकं कर्मोच्यते। एकत्वेऽपि काठकग्रन्थसंयोगात्काठकम्, कालापकग्रन्थसंयोगात्तु कालापकं भविष्यति ॥ पूर्वपक्षनिरासः ॥

त० वा०—यद्यपि तावत्काठकादिकं नामधेयं स्यात्, तथाऽप्युत्पत्तिसंयोगाभावान्नैव भिन्द्यात्। इदं तु नैव कर्मनामधेयम्। 'अन्यायो ह्यनेकार्थत्वमि'त्यनेन न्यायेन ग्रन्थनामत्वे सति कर्मणि लक्षणयैव प्रयोगोपपत्तेः।

कथं पुनरवगम्यते[4] ग्रन्थनामैतत्कर्मण्युपचर्यते न पुनर्विपर्यय इति।

तदुच्यते—

शाखाया ह्येकया योगाद् बहुकर्मावबोधनम्।
युज्यते कर्मनानात्वान्नैकशाखोपलक्षणम् ॥

काठकादिशब्दो हि परस्परासम्बद्धेषु बहुषु कर्मसु प्रयुज्यते। स यदि कर्मनाम स्यात्, कर्मान्तरे न प्रयुज्येत। न हि तत्र लक्षणोपपद्यते, सम्बन्धाभावात्। सर्वाभिधानं तु व्यक्तिवद् दुरुपपादम्। तस्माच्छाखयैव कर्माणि लक्ष्यन्ते, न कर्मभिः शाखा। ततश्च संज्ञया कामं शाखा एव भिद्यन्ताम्, न कर्माणि, सम्बन्धाभावात्। तस्मात्तान्येवाग्निहोत्रादीनि सम्बन्धिभेदादन्यथाऽन्यथा च व्यपदिश्यन्ते ॥ १० ॥

---

१. ब. ग्रन्थनाम तदिति। २. ब. काठकादिना।
३. ब. किमतो यत्। ४. क० यथाग्रन्थ।

न्या० सु०—काठकादिनाम्नः कर्माभिधानत्वेऽप्युत्पत्तिचोदनागतत्वाभावान्न नाम्ना कर्मभेदः स्यादिति स्वयमभ्युपेत्योक्त्याशयहेत्वर्थसूचनापूर्वं चोद्यतइति व्युत्पत्त्या कर्मवाचिचोदनाशब्दाभ्युपगमेन भाष्योक्तं हेत्वर्थं व्याचष्टे—**यद्यपि तावदिति**। इदं त्वित्यनेन परिहृतमिति भाष्ये व्याख्याते अथेति भाष्येण कर्मभिरपीति पूर्वपक्षभाष्योक्तमर्थमनुभाष्य नैष इति परिहारभाष्यं व्याख्यातुम्—**अन्यायो ह्रीत्युक्तम्**। कथमिति प्रश्नभाष्यं व्याचष्टे—**कथं पुनरिति**। यद्यदिति परिहारभाष्यं व्याचष्टे—**तदिति**। श्लोकं व्याचष्टे—**काठकादीति**। ज्योतिरादिवल्लाक्षणिक्यपि कर्मसंज्ञा कर्म भेत्स्यतीत्याशयेन किमत इति पृष्ट्वा पञ्चम्यर्थे यदित्यव्ययमङ्गीकृत्य यस्मात्काठकग्रन्थसंयोगात्काठककर्मैक्येऽपि काठकादिभिन्नग्रन्थसंयोगात्कर्म कानकादिभिन्नसंज्ञं भविष्यतीति परिहारार्थं यद् ग्रन्थसंयोगादित्यादिभाष्यं व्याचष्टे—**ततश्चेति**। एतदेवोपपादयति—**तस्मादिति** ॥ १० ॥

भा० प्र०—सिद्धान्त पक्ष का प्रदर्शन कर पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित आपत्तियों का निराकरण किया जा रहा है। पूर्वपक्षी ने कहा था कि शाखाभेद से एक ही कर्म का काठक, कालापक, आदि नामगत भेद होने से सभी कर्म अभिन्न नहीं हैं। अपितु विभिन्न हैं—यह उनका कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, काठक, कालापक, ये कर्म के नाम नहीं हैं, अपितु ग्रन्थ के नाम के अनुसार उन ग्रन्थों के कर्मों का उल्लेख मात्र है। अतः, "अचोदनाभिधानत्वात्"-अर्थात् कर्म विधायक वाक्य से बोधित नाम नहीं हैं। क्योंकि, कर्मोत्पत्ति वाक्य में जो संज्ञाभेद रहता है, उसी के अनुसार कर्म का भेद बोधित होता है।

"न" = नहीं, "नाम्ना" = नाम के कारण, "स्यात्" = होगा अर्थात् कर्म का भेद होगा, "अचोदनाभिधानत्वात्" = क्योंकि चोदनामें अर्थात् कर्मोत्पत्ति वाक्य में अभिधान अर्थात् उसके काठक आदि नाम का अभिधान अर्थात् उल्लेख नहीं है ॥ १० ॥

सर्वेषां चैककर्म्यं स्यात् ॥११॥

शा० भा०—यदि शब्दभेदाद्भेदो भवेत्, शब्दैक्यात्तर्हि कर्मैक्यं भवेत्। तत्र काठकशब्दाभिधानादैक्यं[1] भवेत्। अग्निहोत्रस्य, दर्शपूर्णमासयोः ज्योतिष्टोमस्य च तच्छब्दत्वात्। न चैतदेवम्। तस्मादप्यभेदः ॥११॥

त० वा०—प्रायेण हेतुविपर्यये कार्यविपर्ययो दृश्यत इति काठकादिसंज्ञैकत्वादेकशाखाधीताग्निहोत्रादेरेकत्वप्रसङ्गः। साध्यव्यभिचारित्वादियमर्थापत्तिसमा नाम जातिः पूर्वपक्षहेतोरसिद्धत्वोपालम्भप्रदर्शनार्थमेवाभिहिता। सर्वत्र च दुष्टे पूर्वपक्षे जातीनामुत्तरत्वं[2] केषांचिदिष्टम् ॥ ११ ॥

१. ब. शब्दादैक्यं। २. क० उत्तरत्वमिष्टम्।

न्या० सु०—नामभेदाच्च कर्मभेदेऽभ्युपगम्यमाने सर्वेषामेकशाखाधीतानामग्निहोत्र-दर्शपूर्णमासादीनां काठकादिनामैक्यादैककर्म्यं स्यादिति नाम्ना कर्मभेदेऽनिष्टापत्त्युक्त्यर्थमेतत्सूत्रं चातुर्मास्यादिनामैक्ये अपि वैश्वदेववरुणप्रघासादिकर्मभेददर्शनादयुक्तमाशङ्क्योपपादयति—**प्रायेणेति** । करोतेर्ज्ञानाख्यक्रियाविशेषलक्षणार्थत्वमभिप्रेत्य साध्यवाची कार्यशब्दः ।

नन्वेवमपि सञ्ज्ञैक्यस्य साध्यकर्मैक्ये व्यभिचारान्न हेतुत्वं सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**साध्येति** । सत्यं साध्यव्यभिचारेण सम्यग्घेतुत्वायोगान्नेदं सम्यगुत्तरम् । किं तु जात्युत्तरमित्यर्थः । साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाख्यानां चतुर्विंशतिजातीनां मध्ये केयमित्यपेक्षायाम् ? नामभेदात्कर्मभेदेऽभिहितेऽर्थान्नामैक्ये कर्मैक्यापत्तेरर्थापत्तितः प्रातिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसम इति लक्षणयोगात्—**अर्थापत्तीत्युक्तम्** । जातेरुत्तराभासत्वादुपन्यासानर्थक्यमाशङ्क्य कर्मनामभेदस्य पूर्वपक्षहेतोः काठकादेः कर्मनामत्वेऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनामेकशाखास्थानां काठकादिनामैक्येनैक्यापत्तेर्न कर्मनामता युक्तेत्यसिद्धत्वलक्षणस्य दोषस्याचोदनाभिधानत्वादित्यनेन दर्शितस्याप्यनिष्टाग्निहोत्र-दर्शपूर्णमासाद्यैक्यापादनद्वारा प्रकर्षेण दर्शनायाभिहितेत्युक्तम् । असिद्धत्वलक्षणदोषाविवक्षायामपि यादृशो यक्षः । तादृशो बलिरित्यनेन न्यायेन दुष्टपूर्वपक्षे दुष्टमप्युत्तरम् । यथा मदीयमुत्तरं दुष्टम्, तथा त्वदीयः पूर्वपक्षोऽपि दुष्ट इत्येवं पूर्वपक्षस्य दुष्टत्वद्योतनात्सम्यगुत्तरं भवतीत्याशयेन परिहारान्तरमाह—**सर्वत्र चेति** । सन्तं दोषमनुक्त्वान्यमसन्तं यो हि जल्पति तस्य द्वे निग्रहस्थाने वाच्यानुक्तीतरोक्तिजे इति वृहट्टीकायां दुष्टेऽपि पूर्वपक्षे सम्यगेवोत्तरं वाच्यमित्युक्तत्वान्न्यायभाष्येऽपि छलजातिनिग्रहस्थानानां स्ववाक्ये परिवर्जनम्, परवाक्ये च पर्यनुयोग इत्यनेन स्वयमप्रयोगाय परप्रयुक्तस्य च छलादिव्युत्पादनं न तु प्रयोगायेत्युक्तत्वाद् दुष्टेऽपि पूर्वपक्षे जातेर्नोत्तरता युक्तेत्याशङ्क्य परमतत्वसूचनार्थं केषांचिदिष्टमित्युक्तम् ॥ ११ ॥

भा० प्र०—शब्द का भेद रहने पर यदि कर्म का भेद माना जाय तो इस प्रसङ्ग में यह कहना है कि "सर्वेषां चैककर्म्यं स्यात्" = शब्द की एकता के कारण अभेद भी रहेगा । अतः, अग्निहोत्र, दर्श पूर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि अत्यन्त विभिन्न कर्म भी अभिन्न हो जायेंगे, क्योंकि, सभी का काठक, कालापक इत्यादि रूप में एक ही नाम से उल्लेख मिलता है, किन्तु ऐसा नहीं होता है, अतः काठक आदि नामभेद भी कर्मभेद का हेतु नहीं है ।

वार्तिककार ने कहा है—इस सूत्र के द्वारा पूर्वपक्षी की आपत्ति का परिहार नहीं है, किन्तु यह जात्युत्तर अर्थात् अर्थापत्तिसमा नामक जाति है । कतिपय व्यक्तियों का कहना है कि पूर्वपक्ष के दुष्ट रहने पर जात्युत्तर अर्थात् असदुत्तर देना उचित है ॥११॥

कृतकं चाभिधानम् ॥१२॥

शा० भा०—इदानींतनं चैत[1]दभिधानं भवेत् । अस्य न पूर्वमासीत् । यतः प्रभृति कठस्य प्रकृष्टं वचनम्, ततः प्रभृति प्रवृत्तम् । पूर्वं नाऽऽसीद्भेदः । इदानीं भेद इति विरुद्धम् ॥२॥ युक्तिः ॥

त० वा०—कृत्रिमं काठकाद्युक्तमाख्याप्रवचनादिति ।
न वाऽनादीति भिद्यन्ते कर्माण्यादिमता सता ॥

यद्यपि काठकादेर्जातिर्नित्यत्वान्नित्यैवाऽऽख्या, तथाऽपि प्रवचननिमित्तेयं स्मर्यते, न च कर्माणि प्रोच्यन्ते । शब्दविषयत्वात्प्रवचनस्य । तस्मादपि न संज्ञया कर्मभेद इति ॥ १२ ॥

न्या० सु०—यथाभाष्यं तावत्सूत्रं व्याचष्टे—**कृत्रिममिति** । कठस्य वैशम्पायनान्तेवासित्वात्कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्चेति तेन प्रोक्तमित्यस्मिन्नर्थे पाणिनिप्रत्ययस्मृतेस्तस्य कठचरकाल्लुगिति लुक्स्मृतेः 'छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणीति च तदधीते तद्वेदेत्येतदर्थविहितप्रत्ययविषयत्वनियमस्मृतेस्तस्यापि च प्रोक्ताल्लुगिति लुक्स्मृतेः कठेन प्रोक्तं योऽधीते, स कठ इति स्थिते तस्येदमित्यस्मिन्नर्थे काठकशब्दव्युत्पत्त्यवगमादाख्येति वेदाधिकरणसूत्रे काठकाद्यभिधाने पुरुषविशेषप्रवचनकृतमित्युक्तम् । ततश्चादिमता सताभिधानेनानादीनि कर्माणि न भिद्यन्तइत्यर्थः ।

ननु यथा ब्राह्मणादिशब्दो मनुष्यावान्तरवर्णाख्यजातिवाचो, तथा कठादिशब्दो ब्राह्मणावान्तरचरणाख्यजातिवाची । तद्वाचिन एव च कठशब्दाठ्ठञ्प्रत्यय इतिस्मृतेस्तज्जातीयानां च वैशम्पायनप्राग्भाविनां तदन्तेवासिपुरुषविशेषप्रोक्ताध्येतृत्वायोगात्प्रवक्तृविषयस्यापि कठशब्दस्य चरणविशेषवाचित्वावगतेः शाखाचरणविशेषयोगाच्च प्रवाच्यवक्तृसम्बन्धस्यानादित्वात्प्रवचनकृतापीयमाख्या नित्यैवेति भाष्यकृत्व्याख्यानस्यायुक्तत्वमाशङ्क्य, स्वयं प्रवचनकृतत्वात्काठकाद्यभिधानस्याकर्मणश्चाप्रवाच्यत्वान्न कर्मविषयत्वं सम्भवतीति व्याख्यान्तरमाह—**यद्यपीति** । नाम्नो भेदकत्वायोगमुपसंहरति—**तस्मादपीति** । कठप्रोक्ताध्येतृसम्बन्धनिमित्तत्वात्प्रवचननिमित्तत्वेऽपि पूर्वोक्तन्यायात्कर्मविषयत्वासम्भवसूचनार्थोऽपिशब्दः ॥ १२ ॥

भा० प्र०—यदि काठक आदि संज्ञा को कर्मभेद का हेतु माना जाय तो नाम कृत्रिम हो जायगा । क्योंकि, काठक इत्यादि आख्या प्रवचन के कारण हैं—इसका प्रतिपादन प्रथम अध्याय के प्रथमपाद में किया गया है । इसलिए जब से कठ आदि व्यक्ति का प्रवचन=प्रकृष्ट अध्ययन और अध्यापन प्रवृत्त होता है, उसके बाद से ही काठक आदि

१. ब. चाभिधानं ।

संज्ञा की प्रवृत्ति होती है, इससे पूर्व यह संज्ञा नहीं थी। ऐसी स्थिति में प्रवचन के पूर्व काठक आदि संज्ञा न होने से कर्म का भेद नहीं था, किन्तु इस समय भेद हो गया है— इस प्रकार विरुद्ध बातें कहनी पड़ेगी। वेदान्त-दर्शन के 'सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरणे' (३।३।१) सूत्र की टीका में कल्पतरुकार ने कहा है—"नित्यानित्यसंयोगविरोधात् च संज्ञानां न विद्याभेदकत्वम्" अर्थात् काठक आदि संज्ञाभेद और शाखाभेद होने से विद्याभेद, मीमांसा-दर्शन के अनुसार कर्मभेद मानने पर नित्यानित्य-संयोग विरोध रूप दोष होगा। कारण, वेद अनादि अपौरुषेय होने से नित्य है और काठक आदि संज्ञा संज्ञा के अधीन होने से अनित्य है। अतः काठक आदि संज्ञा से उनका भेद मानने पर एक ही विद्या अथवा कर्म एक साथ ही नित्य एवं अनित्य हो जायगा, जो उचित नहीं है।

"कृतकम्"= कृत्रिम, "च" = और भी, "अभिधानम्" = अभिधान अर्थात् संज्ञा, "भवेत्"=होगी ॥१२॥

एकत्वेऽपि परम् ॥१३॥

शा० भा०—एककर्मत्वेऽपि रूपभेदो भवति, वचनात्। न च वाचनिके रूप-भेदेऽसत्यामपि भेदबुद्धौ कर्मणो भेदोऽध्यवसीयेत[1] ॥१३॥

विद्यायां धर्मशास्त्रम् ॥१४॥

शा० भा०–अथ यो धर्मविशेष उक्तो विद्याग्रहणार्थः, स न कर्मण उपकारकः। कथं गम्यते? श्रुत्यादीनामभावात्, विद्यासंयोगाच्च न कर्मप्रयुक्त इति ॥१४॥ पूर्वपक्षनिरासः ॥

त० वा०—न च कपालसंख्याभेदाद्भेदः। तत्सम्बन्धिद्वारभेदानभ्युपगमात्। तस्मादेकस्मिन्नेव कर्मणि साधनविकल्पो भविष्यति।

ननु चोत्पत्तिवाक्यशिष्टत्वाद्विकल्पो नास्तीत्युक्तम्। नैष दोषः। उभयोरुत्पत्ति-वाक्यशिष्टत्वाविशेषेण तुल्यबलत्वात्। कथं पुनरेकवाक्योत्पादितस्यैकत्वं विज्ञायत इति। तस्योत्तरसूत्रे परिहारं वक्ष्यामः॥ १३ ॥ १४ ॥

न्या० सु०—रूपभेदाख्यं यत्परं कर्मभेदकारणमुक्तम्, तत्कर्मैक्येऽपि विकल्पेनानेकाङ्ग-निवेशोपपत्तेर्युक्तमित्यभिधानार्थं सूत्रं व्याख्यातुमाह—न चेति। व्रीहियवादिसम्बन्धिद्वारस्य कर्मभेदस्यानभ्युपगमादित्यर्थः। कर्मैक्ये कथं कपालसंख्याभेदनिवेशोपपत्तिरित्याशङ्क्याह— तस्मादिति। ननूत्पत्तिशिष्टगुणावरुद्धे कर्मणि तद्विरोधिगुणान्तरविध्ययोगाद्विकल्पासम्भव-स्योत्पत्तिवाक्यविज्ञातमिति चित्राधिकरणवार्त्तिकेऽभिहितत्वान्नेह विकल्पः सम्भवतीत्या-शङ्क्ते—ननु चेति। गुणान्तरस्याप्युत्पत्तिशिष्टत्वाविशेषात्केन गुणेनावरुद्धे कर्मणि को

---

१. ब. भेदोऽनुमीयते।

गुणोऽशक्यविधिरिति ज्ञातुमशक्यत्वादगृह्यमाणविशेषत्वेनोभयोस्तुल्यबलवत्वाद्विकल्पो युक्त इति परिहरति—नैष इति। तर्ह्युत्पन्नोत्पत्त्ययोगात्कर्मभेदः स्यादिति शङ्कते—कथं पुनरिति। अद्विर्वचनं वेत्यत्र सूत्रे चोद्यस्याध्येतृभेदादेकस्मिन्नपि कर्मणि स्वाध्येतॄन् प्रत्यप्रवृत्त-प्रवर्त्तकत्वान्नोत्पत्तिविधिभेदेऽपि कर्मभेदापत्तिरेषेत्येवं परिहारं वक्ष्याम इत्याह—तस्येति। अनेकवाक्योत्पादितत्वोक्तचपौनरुक्त्यानुभाषणार्थस्याग्नेयवदिति सूत्रस्य बुद्धिस्थत्वात्तद-पेक्षयोत्तरत्वं धर्मविशेषस्य भेदकनिरासार्थम् ॥ १३ ॥

न्या० सु०—सूत्रं यद्धर्मशास्त्रं भेदकत्वेनोक्तम्, तत्कर्माङ्गत्वावेदकश्रुत्यादिप्रमाणा-भावान्न कर्मविषयम्, किं तु—

तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च श्रुतिचोदितैः ॥
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥

इत्यादिविद्यासंयोगाद्विद्याविषयमित्यभिधानार्थम्। यथाभाष्यं स्पष्टत्वान्न व्याख्या-तम् ॥ १४ ॥

भा० प्र०—एक शाखा में अग्नीषोमीय को एकादशकपाल एवम् अन्य शाखा में द्वादशकपाल कहने रूप भेद अर्थात् कपाल की संख्या के भेद होने से भेद होगा—यह भी ठीक नहीं है, कारण, इस स्थल में कर्म का एकत्व होने पर भी विशेष वचन होने से वैसा रूपभेद हो सकता है।

आशय यह है कि इस स्थल में द्रव्य का विकल्प होता है, किन्तु उसके कारण कर्म का भेद नहीं हो सकता है। कारण दृढतर प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही शाखाभेद होने पर भी कर्म का एकत्व ही रहेगा।

"एकत्वे अपि" = कर्मक एकत्र रहने पर भी, "परम्"=परवर्ती अर्थात् रूप का भेद हो सकता है ॥१३॥

भा० प्र०—शाखा भेद से विशेष विशेष कर्म के प्रतिपादक ग्रन्थों के ग्रहण के समय भूमि में भोजन आदि आचारों का पार्थक्य रहने से शाखा के भेद से कर्म का भेद होगा—यह पूर्वपक्षी ने शङ्का की थी, उसी का उत्तर दिया जा रहा है।

भूमि में भोजन आदि नियम अध्ययन का अङ्ग है, कर्म का अङ्ग नहीं है, इसलिए इनके कारण कर्म का भेद नहीं हो सकता है। यह भेद यदि कर्म प्रयुक्त होता तो उत्तर-वर्ती काल में करिष्यमाण कर्म यदि इन सभी कर्मों का नियामक होता तो—यह कहा जा सकता था। किन्तु ब्रह्मचारी का कर्तव्य होने से ये धर्म कहे गये हैं, कुल के आचार के अनु-सार इनमें कोई एक धर्म की स्थिति रहती है। अतः, यह कर्मभेद का प्रयोजक नहीं है।

"धर्मशास्त्रम्" = धर्म का अर्थात् भूमि पर भोजन जलकुम्भ का लाना, अश्व के घास का संग्रह आदि धर्मों का=आचरणों का शास्त्र, "विद्यायाम्"=विद्या के=अर्थात् वेदाध्ययन के ये सब अङ्ग हैं ॥१४॥

आग्नेयवत्पुनर्वचनम् ॥१५॥

शा० भा०—अथ यदुक्तं यथाऽमावास्यायामाग्नेयस्य पुनरुक्तदोषान्मध्यमः पक्षो निरस्त, एवमयमपि। तस्मादेव दोषात्कर्मैकत्वपक्षो निरसितव्य इति। एतत्परिहर्तव्यमित्याभाषान्तं सूत्रम् ॥१५॥ आशङ्का।

त० वा०—अनुभाषणसूत्रमेतत्। अथवा पुनरुक्तत्वपरिहारार्थमेवैतत्। पुनः श्रुतेरर्थवादगुणार्थत्वेनान्यार्थत्वात् ॥ १५ ॥

न्या० सु०—यथाग्नेयस्य पुनर्वचनमाग्नेयसूक्तहेतुत्वादित्याग्नेयाधिकरणपूर्वपक्षसूत्रे भेदकमुक्तम्, तथा प्रतिशाखमग्निहोत्रादिपुनर्वचनं भेदकमित्येवं यथाभाष्यं तावत् सूत्र-व्याचष्टे—अनुभाषणेति। यत्पुनर्वचनं भेदकत्वेनोक्तम्। तत्—अन्यार्था वा पुनःश्रुति-रित्याग्नेयाधिकरणसिद्धान्तसूत्रे यथाग्नेयस्य पुनर्वचनमन्यार्थत्वान्न भेदकमित्ययं पौन-रुक्त्यस्य भेदकत्वनिरासार्थत्वे स्वयं व्याचष्टे—अथ वेति। यथासम्भवमर्थवादार्थत्वेन गुणार्थत्वेन वा पुनः श्रुतेरन्यार्थत्वान्न भेदकतेत्याशयः ॥ १५ ॥

भा० प्र०—भाष्यकार के मत में पूर्वपक्षी की उक्ति का पुनः उल्लेख माना गया है और वार्तिककार के मत में इसको पुनरुक्ति के परिहार के रूप में भी इसकी व्याख्या की है, वार्तिककार ने इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है—

विभिन्न शाखाओं में एक ही कर्म का उपदेश रहने पर पुनरुक्ति होती है, उसी का परिहार कहा गया है। इस अध्याय के तृतीय पाद के आग्नेयाधिकरण में (१४ अधि-करण, २८ और २९ सूत्र में) जो परिहार कहा गया है यहाँ भी वैसा ही परिहार समझना चाहिए। आग्नेय वाक्य दो प्रकार का रहने पर भी जैसे विकल्प से दोनों का ही विधायकत्व स्वीकार नहीं किया जाता है, किन्तु एक की ही विधि मानी जाती है, वैसे ही विभिन्न शाखाओं में एक ही कर्म की विधि रहने पर भी विकल्प से सभी का विधायकत्व नहीं माना जाता है, किन्तु एक कर्म की विधि और अन्य को अन्य फल के लिए अर्थात् गुण विशेष के विधान के लिये अथवा विज्ञापन के लिये पठित मानकर अनुवाद माना जाता है।

"पुनर्वचनम्" = पुनरुक्ति, "आग्नेयवत्" = आग्नेय वाक्य के समान अर्थात् अनुवाद-मात्र है ॥ १५ ॥

अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥१६॥

शा० भा०—नैव खल्वेतद् द्विर्वचनम्। स एवायमर्थः पुनः श्रावितोऽग्निहो-त्रादिर्बहुकृत्वो बहुभिस्तु पुरुषैः। न चैकोऽर्थो बहुभिरुच्यमानः पुनरुक्तो भवति।

यदि भवेत्, एकस्मिन्नेव वेदे बहुभिरुच्यमाने भवेत्। तस्मान्न बहुकर्मसमवायोऽयम्। एकमेवेदं कर्मेति ॥१६॥ आ० नि० ॥

त० वा०—द्वितीयव्याख्याने परिहारान्तरनिवृत्त्यर्थो वाशब्दः। तत्रान्यार्था पुनःश्रुतिर्भवति, यत्र तावन्मात्रमेव श्रूयते। यत्र चैकवाक्यगतं विधेयान्तरं विद्यते। न त्विह तदेकमपि। समस्तेतिकर्तव्यतोपेतप्रधानपुनःश्रुतिश्रवणात्। एतमेव श्रुतिसंयोगाविशेषं मन्यते। न चैषा पुनःश्रुतिः। कुतः ?

एकशाखानिबद्धानां ज्ञायते हि पुनः श्रुतिः।
कठादिचरणानां तु प्रतिशाखं सकृच्छ्रुतिः ॥

पूर्वोक्तेन शाखाध्ययनविकल्पेन येन काठकमग्निहोत्रं श्रुतम्, नासौ कदाचित्तैत्तिरीयकं शृणोति। शृण्वन्नपि वा स्वशाखयैव प्रतिपन्नत्वात्तैत्तिरीयकप्रतिपत्त्यर्थमेवैतादिति कल्पयित्वा, न पुनःश्रुतिं मन्यते। एवमितरोऽपीतरदिति सर्वं एवैकश्रुतिसंयोगविशेषादग्निहोत्रादि प्रतिपद्यन्ते। न च तत्र पौर्वापर्यमस्ति, येन ज्ञायेतानया शाखया प्रथमं विहिते शाखान्तरीये पुनःश्रुतिर्भूत्वा भेत्स्यतीति।

आह च—शाखानां युगपद् वृत्तेर्न पुनःश्रुतिकल्पना।
न हि तत्रैकशाखावत्क्रमेणाध्ययनं स्थितम् ॥

तस्माद्यथैकशाखाकर्म देशान्तरपुरुषान्तरादिषु पुनः श्रूयमाणमपि प्रतिपाद्यभेदान्न पुनरुक्तं भवत्येवं शाखान्तरेष्विति।

ननु चैकयाऽपि शाखया समस्तपुरुषप्रतिपादने सति, अनर्थकमेव शाखान्तरम्। नानर्थकम्। न हि कश्चिद् द्वे शाखे अधीते। न च पुरुषान्तरगतं तत्प्रतिपादनेनार्थवदन्यान्प्रत्यनर्थकं भवति। यस्तु तेऽपि किल शाखिनस्तामेवाधीत्य प्रतिपत्स्यन्त इत्यभिप्रायः, स नित्यत्वाद्वेदस्य तदध्ययनाध्यापनसम्बन्धानादित्वादनुपपन्नः। किं च।

सम्प्रदायागतां मुक्त्वा स्वां समाख्यानिबन्धनीम्।
शाखां शाखान्तरं युक्तं नाध्येतुं सदृशे श्रमे ॥

तस्मात्परकीयशाखाध्ययनेऽप्यस्त्येव पुरुषाणां श्रम इति यथावस्थितशाखाध्ययनमेव। न च वेदः पुनरुक्तादिदोषद्वारं पर्यनुयोगमर्हति ॥ १६ ॥

न्या० सु०—आग्नेयवदित्यस्य पौनरुक्त्यपरिहारार्थत्वव्याख्याने तेनैव पूर्वपक्षनिवृत्तेः, तन्निवृत्त्यर्थं वाशब्दानर्थक्यमाशङ्क्यन्यार्थत्वलक्षणपूर्वपरिहारनिवृत्त्यर्थमाह—द्वितीयेति। पूर्वपरिहारनिवृत्तावर्थवादार्थं गुणार्थं वेदं द्विर्वचनं न भवति समस्तेतिकर्त्तव्यतोपेतप्रधानश्रवणलक्षणस्य श्रुतिसंयोगस्य सर्वशाखास्वविशेषादित्येवं सूत्रं योजयितुमाह—तत्रेति। अच्युतवाक्ये पौर्णमास्यतिरेकश्रुतेरप्रासार्थत्वेनैकान्तिकविधित्वप्रतीतेरमावास्यामात्रश्रुतेरेव

प्राप्तार्थत्वसम्भवेन गृह्यमाणविशेषत्वादर्थवादत्वं यथाङ्गीकृतम्, तथेह यद्येकस्यां शाखायां समस्तेतिकर्त्तव्यतोपेतप्रधानश्रुतिरस्यां प्रधानमात्रश्रुतिः स्यात्, ततो नेतिकर्त्तव्यताकप्रधान-श्रुतेर्गृह्यमाणविशेषत्वादर्थवादत्वं स्याद्यदि च शाखान्तरविहितं किं चिदङ्गमेकस्यां शाखायां प्रधानवाक्यगतं विधेयं स्यात्ततो दध्ना जुहोतीतिवत् गुणार्थत्वं स्यादित्याशयः। अत्रैवार्थे श्रुतीतिसूत्रावयवं योजयति—एतमेवेति भाष्यकृद्वचाख्याते प्रतिशाखं भिन्नानामध्येतॄणां श्रुतिसंयोगस्यापूर्वत्वेनाविशेषान्न कं चिदध्येतारं प्रति द्विर्वचनमित्येवं सूत्रं योजयितुमाह—न चेति। प्रश्नपूर्वं हेत्वर्थं व्याख्यातुमाह—कुत इति। श्लोकं व्याचष्टे—पूर्वोक्तेनेति। इतरस्तैत्तिरीयोऽपीतरत्काठकमग्निहोत्रमादरान्न श्रृणोति। श्रृण्वन्नपि च कठप्रतिपत्त्यर्थ-मेवैतदिति कल्पयित्वा पुनःश्रुतिन मन्यतइत्यर्थः। यच्च शाखान्तरस्य भेदकत्वनिरासायैकं वेति सूत्रे प्रतियोगिभूतशाखान्तरीयाग्निहोत्राग्रहणात्प्रतियोगिग्रहणासापेक्षभेदग्रहणं न सम्भवतीत्युक्तम्। तत्रापि प्रतियोगिग्रहणशून्यत्वेन श्रुतिसंयोगस्य सर्वशाखास्वविशेषा-दित्येवं हेतुप्रयोजनं सूचयितुमाह—इतीति। अभ्युपेत्याप्यनेकशाखाध्ययनं पौर्वापर्या-भावात्पुनः श्रुतत्वं नास्तीत्याह—न चेति। अनेन च श्रुतिसंयोगस्य पौर्वापर्यरूपविशेषा-भावादिति हेत्वर्थः सूचितः।

अत्रैवार्थे वृद्धसम्मतिमाह—आह चेति। यथाभाष्यं सूत्रार्थमुपसंहरति—तस्मादिति।

नन्वेकेन पुंसा नेकशाखाध्ययनेऽपि शाखानां च पौर्वापर्याभावेऽप्येककर्मविषयत्वे सत्येकयैव शाखया सर्वपुंसां प्रतिपत्तिसिद्धेः शाखान्तरानर्थक्यं स्यादित्याशङ्कते—ननु चेति। प्रतिचरणं व्यवस्थितत्वाच्छाखानां स्वशाखात्यागेन परशाखाध्ययनानुपपत्तेः स्वशाखाध्ययनपूर्वं मेधावितया शाखान्तराध्ययने सत्यानर्थक्यं वाच्यम्। तच्च स्वाध्याय-इत्येकवचनेनानेकशाखाध्ययननिषेधादयुक्तमित्याशयेन परिहरति—नेति।

नन्वनधीतस्यापि शाखान्तरस्यानध्येतारं प्रत्यप्रतिपादकत्वादानर्थक्यं स्यादित्या-शङ्क्याह—न चेति। यत्पुरुषप्रतिपत्त्यर्था या शाखा, तस्यास्तं प्रत्यप्रतिपादकत्वे सत्यानर्थक्यं स्यान्नान्यथेत्याशयः। स्वाध्यायगतेनैकवचनेनैकशाखाध्ययननियमेऽपि शाखाविशेषानियमा-त्प्रतिचरणं व्यवस्थायाः प्रमाणाभावेनाऽनुपपत्तेः सर्वपुंसानेकयैव शाखया प्रतीपत्तिरित्या-रित्याशङ्कित्वाशयमुद्भावनपूर्वकं निरस्यति—यस्त्विति। तुच्छत्वद्योतनार्थः किलशब्दः तेऽपीति तच्छब्दोऽन्यात्प्रतीत्यनन्तरनिर्दिष्टान्यपरामर्शी यद्यन्येषामपि शाखिनां पुरुषान्तर-गतशाखाध्ययनादेव प्रतिपत्तिसिद्धेः शाखान्तराणि किमर्थं प्रवृत्तानीत्याशयः, ततो नित्यत्वेन वेदस्यापर्यनुयोज्यत्वादयुक्तः। अथ शाखान्तराध्ययनमनर्थकमित्याशयः। तथापि तच्छब्द-निर्दिष्टकाठकादिशाखाध्ययनाध्यापनाभ्यां कठादिचरणानां कर्तृकर्मसम्बन्धलक्षणस्याचार-स्यानादित्वेन भ्रान्तिमूलत्वायोगात्कठचरणैः काठकशाखाध्येतव्येत्यादिश्रुतिकल्पनां प्रति-चरणं व्यवस्थावगतेरयुक्त इत्यर्थः।

'येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेनागच्छन् न रिष्यती॥'

स्मृत्यालोचनया काठकादिसमाख्यालोचनया, स्वाध्याय इति स्वशब्दालोचनया च पितृपितामहादिपरम्परात्मकसम्प्रदायागतशाखात्यागेन शाखान्तराध्ययनं न युक्तमित्याह—**किं चेति**। स्वेनात्मना कठादिना समाख्या काठकशाखेयमित्यादिका निबन्धनमध्ययनव्यवस्थापिका यस्या इत्यर्थाश्रयणेन स्वसमाख्याशब्देन काठकादिसमाख्योक्ता। स्वशब्दवती समाख्येत्यर्थाश्रयणे त्वधीयतइति कर्मव्युत्पत्त्या शाखावाच्यध्यायशब्दाभ्युपगमेन स्वश्चासावध्यायश्चेति विग्रहाश्रयणात्स्वाध्यायविधित एव प्रतिचरणं शाखाव्यवस्थासिद्धिः एवं सत्यपि शाखान्तराध्ययनस्याल्पायाससाध्यत्वे सत्यनुकल्पाश्रयणेन शाखान्तरमधीयेत न त्वेतदप्यस्तीति तुल्यश्रमोक्त्या सूचितम्। सदृशः श्रम इति व्याचक्षाणः सूत्रार्थमुपसंहरति—**तस्मादिति**। यस्य वेदस्य शाखानां प्रतिचरणं व्यवस्थया यथावस्थितमध्ययनं स तथोक्तः। श्रुतिसंयोगाविशेषोपपादनायैकस्य पुंसो अनेकशाखाध्ययननिरासार्थं वाक्यासमवायादिति सूत्रं विस्मृतत्वान्न भाष्यकृता व्याख्यातमित्याह—**तत्रेति**। कथं तर्हि व्याख्येयमित्यपेक्षायामाह—**तदिति** ॥ १६ ॥

भा० प्र०—वार्तिककार ने अपने मत से पूर्व सूत्र की व्याख्या कर जिस रूप में जिस किसी प्रकार से परिहार किया है, इस सूत्र में उसका निवारण कर यथोचित परिहार कहा गया है। यदि एक ही शाखा में एक ही कर्म की विधि रहे तो पुनः उल्लेख होता है और आग्नेय विधि के समान वही पुनरुक्ति श्रुति को अन्यार्थ कहा जाता है, किन्तु भिन्न-भिन्न शाखा में जब एक ही साङ्गोपाङ्ग अर्थात् अङ्ग और उपाङ्ग के साथ कर्म की विधि देखी जाती है तो ऐसी विधि को अन्यार्थ नहीं कहा जा सकता है, किन्तु उन शाखाओं के अनुसार यह एक बार की ही उक्ति रहती है।

वार्तिककार ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि जैसे एक ही शाखा का कर्म देशान्तर में अन्य पुरुष के द्वारा पठित होने पर भी पुनरुक्ति नहीं होती है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न शाखा में एक ही कर्म उपदिष्ट होने पर भी पुनः उल्लेख नहीं होता है, कारण, कोई भी शाखाओं का अध्ययन नहीं करता है, क्योंकि, एक शाखा ही उसके लिये ग्राह्य है। जब जो व्यक्ति अपनी शाखा का अध्ययन करता है तब उसके लिए शाखान्तर का वाक्य अज्ञात रहने से अपनी शाखा का वाक्य अप्राप्त होने से अपूर्व विधि ही रहती है। यदि कोई मेधावी व्यक्ति एक से अधिक शाखाओं का भी ग्रहण करता है तब भी अन्य शाखा के अध्ययन काल में वह अपनी शाखा में उपदिष्ट कर्म का ही उल्लेख देखकर समझता है कि यह इस शाखा के अध्ययन करने वालों के लिये विधि स्वरूप है। अतएव विभिन्न व्यक्ति के पास जैसे एक ही शाखा का एक कर्म अनुवाद नहीं होता है, उसी प्रकार विभिन्न शाखा वालों के लिये भी एक ही कर्म पुनः उल्लिखित नहीं हो सकता है। दूसरी बात यह है कि आगे और पीछे का भाव रहने पर परवर्ती को पुनरुक्ति कहा जा सकता है, किन्तु अनादि अपौरुषेय वेद की सभी शाखाएँ उस शाखा के अध्ययन करने वालों के लिये एक साथ विधि और निषेध करने से अग्र

और पश्चात् भाव न रहने से किसी की भी पुनरुक्ति नहीं होती है, इसीलिये वार्तिककार ने कहा है—

"शाखानां युगपद्वृत्तेर्न पुनःश्रुतिकल्पना" अतः शाखाभेद होने पर भी एक ही कर्म है।

"अद्विवंचनम्" = दो बार अर्थात् एक से अधिक बार उल्लेख नहीं होता है, "वा" = निश्चयार्थक है, अथवा अन्य परिहार के निवारण के लिए, "श्रुतिसंयोगविशेषात्"= यतः श्रुतिसंयोग अर्थात् समस्त इतिकर्तव्यताओं से युक्त प्रधान कर्म का पुनः उल्लेख रहता है ॥ १६ ॥

वाक्यासमवायात् ॥१७॥

त० वा०—अत्रान्तरे भाष्यकारस्य सूत्रं भ्रष्टम् 'वाक्यासमवायात्' इति। तदेवं व्याख्येयम्। नैकस्मिन्पुरुषे शाखान्तरवाक्यं समवैति ॥ १७ ॥

भा० प्र०—एक एक वेद एक वृक्ष के समान है। अनेक वेद शाखा इस वेदवृक्ष की शाखा के समान एवं अङ्गोपाङ्गयुक्त कर्मकलाप फल, पुष्प और पत्र के समान हैं। एक शाखा का फल, पुष्प आदि जैसे अन्य शाखा के सन्निहित नहीं है, इसी प्रकार वेद की एक-एक शाखा का दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्र आदि कर्म फल अपने-अपने सम्पूर्ण गुण-विशेष के साथ अन्य शाखा का सन्निधान नहीं है। इसलिये भिन्न-भिन्न शाखा का एक ही कर्म की विधि रहने पर भी उसका पुनः उल्लेख नहीं कहा जा सकता है, इसीलिये वार्तिककार ने कहा है—

एकस्य वेदवृक्षस्य किञ्चित् कर्मफलाश्रयात्।
एवं शाखाः प्रसिध्यन्ति बहुशाखैकवृक्षवत् ॥

वेद एक वृक्ष है, वेद की शाखाएँ, उस वृक्ष की शाखा के रूप में हैं; कर्म-कलाप उसका फल है इस कर्म रूप फल की अभिन्नता अर्थात् एक जातीयता होने से अनेक शाखाविशिष्ट एक वृक्ष के समान विभिन्न शाखाओं से समन्वित वेद का एकत्व सिद्ध होता है, अन्यथा शाखा के भेद से वेद ही हो जाता। शाखाभेद में कहीं-कहीं इतिकर्त्तव्यता का भेद रहता है।

"अर्थासन्निधेः च" = अर्थ का अर्थात् प्रतिपाद्यविषय का असन्निधान होने से भी शाखाभेद रहने पर भी विधिवाक्य की पुनरुक्ति नहीं होती है ॥ १७ ॥

अर्थासंनिधेश्च ॥१८॥

शा० भा०—अर्थासंनिधेश्च शाखाशब्द उपपन्नो भविष्यति। शाखा इव हीमाः शाखाः। तद्यथा वृक्षस्य शाखाः, एवमिहापि वृक्षस्थानीयस्य वेदस्य

शाखाः । किं शाखासारूप्यम् ? यथा नानावस्थानम् । न चैकैकस्यां कृत्स्नं पुष्पं फलं संनिहितम् । एवमिहापि, नैकैकस्यां कृत्स्नं गुणकाण्डं संनिहितमित्यर्थासंनिधेः शाखाशब्दोपपत्तिः । तस्मादप्येकं कर्मेति ॥१८॥

त० वा०—एकस्य वेदवृक्षस्य किञ्चित्कर्मफलाश्रयात् ।
एवं शाखाः प्रसिध्यन्ति बहुशाखैकवृक्षवत् ॥

यदि प्रतिशाखं कर्मभेदः स्यात् । तत एकमूलाभावादादित एवाऽऽरभ्य भिद्यमानत्वात्समस्तकर्माख्यपुष्पफलान्तरत्वाद् वृक्षान्तरवद्वेदान्तराण्येवोच्येरन् । न शाखान्तराणि । एककर्ममूलविधिस्कन्धरूपत्वे सतीतिकर्तव्यतायाः क्वचित्किञ्चिदधिकमित्यालोच्य सारूप्यादुपपन्नः शाखान्तरभेदव्यपदेशः ।

अथवा पौनरुक्त्यपरिहारार्थमेव सूत्रम् । तत्र नाम पुनरुक्ता भवति, यत्र पूर्वोक्तोऽर्थस्तस्यैव पुंससन्निहितो भवति । न त्विह शाखान्तरगतस्य सन्निधानमित्यपुनरुक्तता ॥ १८ ॥

न्या० सु०—निन्दादेर्गुणप्रकारत्वात्तत्परिहारार्थत्वेनैकत्वे अपि परमित्यनेन सामान्यतः परिहारसिद्धेरन्यार्थदर्शनानां च प्राप्तयपेक्षत्वात्तेष्वपरिहृतेष्वपि पूर्वपक्षे दोषोपन्यासावसरसम्भवाद्वाक्यासमवायादित्यनेन च काठकादिसमाख्याबलेन प्रतिचरणं शाखाध्ययनव्यवस्थायामुक्तायां शाखासमाख्याया बुद्धिस्थत्वात्तद्बलेन पूर्वपक्षनिरासायैतत्सूत्रं कर्मणो अनुग्राहकतयाऽर्थ्यमानस्याङ्गकाण्डस्य समस्तस्यैकैकस्यां शाखायामविधानादनिक्षेपादभावादैककर्म्येण शाखासादृश्याच्छाखासमाख्योपपत्तेर्न कर्मभेद इत्येवं यथाभाष्यं व्याख्यातुमाह—एकस्येति । धर्मशब्दस्याङ्गवाचित्वात्फलोक्त्या च पुष्पाणामप्युपलक्षणादेवंशब्देन च कर्मैक्यपरामर्शात्कर्मैक्ये सत्येकस्यैककर्ममूलत्वं विधिस्कन्धरूपस्य वेदाख्यवृक्षस्य कतिपयाङ्गाख्यपुष्पफलान्वयात्काठकाद्याः शाखाः शाखाव्यपदेश्याः प्रसिद्धचन्तीत्यर्थः । कथं वेदस्य वृक्षत्वोपचारः शाखानां च शाखात्वोपचार इत्याशङ्क्य—बह्वित्युक्तम् । यथैकस्य वृक्षस्यैकमूलः सर्वशाखाधारभूतः स्कन्धस्तथैकस्यैव कर्माख्यमूलोत्पत्तिविध्याख्यस्कन्धरूपत्वाद् वृक्षत्वोपचारः । यथा वृक्षस्य पुष्पफलानि नैकैकस्यां वृक्षशाखायां समस्तानि सन्ति, तथा वेदशाखायामप्येकैकस्यामृग्वेदादिप्रतिपाद्यहौत्रादिसमस्ताङ्गाख्यपुष्पफलासत्त्वाच्छाखात्वोपचार इत्याशयः । व्यतिरेकतो अन्वयतश्च श्लोकार्थमुपपादयति—यदीति । प्रधानभूतमग्निहोत्रादिकर्म प्रथमं विधेयत्वेन प्रतीतेर्मूलत्वेनोपचरितं कर्माख्यमूलान्तरत्वेनाङ्गाख्यपुष्पफलार्थान्तरत्वेन च समस्तस्य मूलपुष्पफलस्यान्यत्वादादित एवारभ्य भिद्यमानाः शाखाः वेदान्तराण्येवोच्येरन्नित्यन्वयः । सौत्रस्य संशब्दस्य सामस्त्यर्थत्वं समस्तशब्देन सूचितम् । अङ्गानां पश्चात्प्रतीतेः पुष्पफलत्वोपचारः वृक्षमूलाश्रितस्य शास्त्रोपक्रमस्य स्कन्धत्वाप्रसिद्धेः प्रधानाश्रितत्वादितिकर्त्तव्यताविध्युपक्रमत्वाच्च प्रधानविधेः स्कन्धत्वेनोपचारः एकमग्निहोत्रादिमूलमधिष्ठानविषयभूतंस्य प्रधानकर्मोत्पत्तिविधेः स सर्वशाखास्थाङ्गविध्यधिष्ठा-

न्त्वास्कन्धरूपो यस्य वेदस्य तत्त्वे सतीति कर्मधारयगर्भबहुव्रीहिसमासार्थः । यथा क्व चिद् वृक्षस्य शाखायां पुष्पं क्व चित्फलमधिकम्, तथा क्व चिद्वेदशाखायामितिकर्त्तव्यतायाः। किं चिदधिकमित्येककर्माख्यमूलसम्बन्ध्यङ्गाख्यविलक्षणपुष्पफलयोगित्वरूपधर्मसामान्येन वेद-शाखानां वृक्षशाखासादृश्याच्छाखान्तररूपो वेदान्तरव्यपदेशाद्भेदेन व्यपदेशो वेदस्यैककर्म-मूलविधिस्कन्धरूपत्वे सत्युपपन्न इत्यर्थः । शाखान्तराध्यायिनः शाखन्तरीयार्थप्रत्यभि-ज्ञानाच्चाद्विर्वचनमित्येवमेतदपि सूत्रं पौनरुक्त्यपरिहारार्थत्वेन स्वयं व्याचष्टे— अथ वेति ॥ १८ ॥

भा० प्रा०—वार्तिककार की दृष्टि में इस सूत्र से पूर्व "वाक्यसमवायात्" सूत्र था। जो भाष्य में नष्ट हो गया है, इसीलिए, भाष्यकार ने इसकी व्याख्या नहीं की है। वार्तिककार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—वाक्य का समवाय न होने से अर्थात् एक ही व्यक्ति के अन्य शाखा का वाक्य समवेत अर्थात् ज्ञात या गृहीत न होने से शाखा भेद होने पर एक ही कर्म का उल्लेख रहने पर उसकी पुनरुक्ति नहीं होती है, कारण, एक व्यक्ति एक से अधिक शाखा का ग्रहण नहीं करता है, क्योंकि, अपनी शाखा के ग्रहण में ही अध्ययन विधि का तात्पर्य है, एक शाखा का ग्रहण ही केवल अपनी शाखा का ग्रहण ही "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विधि के अनुसार स्वाध्याय विधि का अर्थ है—इस विषय को इस अधिकरण के नवम सूत्र में वार्तिककार ने युक्तिपूर्वक व्याख्या की है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य शाखा के अध्ययन का निषेध है। इतना सत्य है कि अपनी शाखा का अध्ययन ही अवश्य कर्तव्य है और बाद में अन्य शाखा का अध्ययन किया जाता है।

युधिष्ठिर मीमांसक ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" में स्वशब्द के प्रयोग से प्रतिव्यक्ति को स्वशाखा का अध्ययन प्राप्त होता है, इस अवस्था में शाखान्तर पठित कर्मविधायक वाक्यों का समवाय = (एकीभाव) एक पुरुष के प्रति प्राप्त ही नहीं होता है। इस कारण पुनः वचन नहीं है, ऐसा जानना चाहिए ॥ ॥१८॥

न चैकं प्रति शिष्यते ॥१९॥

शा० भा०—न च यत्काठकेऽग्निहोत्रम्, तत्काठकमेवैकं पुरुषं प्रति विधीयते। तैत्तिरीयस्यापि तद्विहितमेव । पुरुषविशेषवचनाभावात् । यच्चाग्निहोत्रस्य किंचिदङ्गं विधीयते, सर्वावस्थस्य तदग्निहोत्रस्य । यच्च काठकस्याग्निहोत्रस्य, तच्च तैत्तिरीयकस्येति । विशेषवचनाभावात् । तस्मात्सर्वशाखाभिरेकं समाम्नं कर्मोच्यत इति ॥१९॥

त० वा०—अभ्युपेत्यवादोऽयम् । सत्यपि कर्मभेदे ये तावद्वाक्यसंयुक्ताः शेषाः, ते अग्निहोत्रादिमात्रोद्देशेन विधीयमानाः सर्वार्थत्वेन ज्ञायन्त इत्यवश्यो-

पादातव्या इति, नैव शाखामात्रपरितोषव्यवस्था लभ्यते। न च सूत्रकाराणामपि कश्चित्स्वशाखोपसंहारमात्रेणावस्थितो, येन प्रतिशाखं कर्मव्यवस्था समर्थ्येत। प्रधानान्यपि प्रधान्येन यजमाननियमं प्रति, अप्रभवन्तीभिः समाख्याभिर[1]र्थिमात्रमुद्दिश्य विधीयमानानि सर्वशाखागतान्येकैकं पुरुषमुपतिष्ठन्ते। तत्रैकफलत्वा[2]-दसमुच्चये येन केनचित्साध्यमाने फलेऽन्येषां वैयर्थ्यप्रसङ्गः। अथ तेषां विकल्पेनार्थवत्त्वम्, तद्वरं शाखान्तराणामेव व्यवस्थितप्रतिपद्यमानानामकुलतरं परिकल्पितमित्यपुनरुक्तता ॥ १९ ॥

न्या० सु०—नन्विहाधिकरणे स्वशाखाविहिताङ्गमात्रोपसंहारः पूर्वपक्षप्रयोजनं सर्वशाखाविहिताङ्गोपसंहारश्च सिद्धान्तप्रयोजनम्। तत्र चेत्कर्मभेदे अपि सर्वशाखाविहितमग्निहोत्रादि प्रत्यङ्गानि विधीयन्ते ततः पूर्वपक्षप्रयोजनाभावादनारम्यमिदमधिकरणं स्यादित्याशङ्क्याह—अभ्युपेत्येति। यथा दर्व्यादेरपि होमसाधनत्वस्य हेत्वधिकरणपूर्वपक्षप्रयोजनस्य, यदि च हेतुरवतिष्ठेतेत्यनेन निरासेऽप्यन्नकरणे असमर्थशूर्पव्यावृत्तेः पूर्वपक्षप्रयोजनत्वसम्भवादधिकरणारम्भोपपत्तिस्तु चोदिते[3] जुहोतीत्यादिवाक्यसंयुक्तानामुदितकालादीनामङ्गानां सर्वाग्निहोत्राद्यर्थत्वे अपि प्राकरणिकानामङ्गानां प्रतिशाखमग्निहोत्रादिभेदे अन्यप्रकरणस्थानामङ्गानामन्येनाग्रहणाद्व्यवस्थायाः पूर्वपक्षप्रयोजनत्वसम्भवादधिकरणारम्भोपपत्तिरित्यभ्युपेत्यवादोक्त्या सूचितम्। कीदृशोऽभ्युपेत्यवाद इत्यपेक्षायामाह—सत्यपीति। वाक्यसंयुक्तानामङ्गानां सर्वार्थत्वेऽपि प्राकरणिकानां व्यवस्थापूर्वपक्षप्रयोजनं भविष्यतीति सूचनार्थस्तावच्छब्दः। स्वशाखामात्रेण परितोषात्काठकेऽग्निहोत्रे तच्छाखाविहितमेवाङ्गम्, नान्यशाखाविहितामिति व्यवस्था लभ्यतइत्येतदेव द्रढयितुं 'प्रातरूपोदयं व्युषित'उदिते वेत्यादौ शाखान्तरविहितरूपोदेयादिभिः स्वशाखाविहितस्योदितत्वादेर्विकल्पाभिधानादाश्वलायनादीनां सूत्रकाराणां मध्ये न कश्चित्स्वशाखाविहिताङ्गोपसंहारमात्रेण—अवस्थितइत्युक्तम्। अनेन चैकमग्निहोत्रादि प्रत्यङ्गं न शिष्यतइत्येवं सूत्रव्याख्यार्थं 'यच्चाग्निहोत्रस्ये'ति भाष्यं पाश्चात्यमपि प्रधानानामपि प्रतिचरणव्यवस्थया गुणत्वाच्च वेदेन व्यवस्था स्यादिति लोहितोष्णीषाधिकरणवक्ष्यमाणन्यायनिरस्तत्वेन पूर्वपक्षिणोऽप्यनिष्टत्वात्, तत्रैकफलत्वादित्यादिवार्त्तिकवक्ष्यमाणन्यायेन पौनरुक्त्यपरिहारार्थं तन्निरासः, न तु पूर्वपक्षस्य निष्प्रयोजनत्वोक्त्यर्थ इति सूचयितुम्। प्राग्व्याख्यातं नैकं कठादिकमेव पुरुषं प्रत्यग्निहोत्रादिप्रधानं शिष्यते, येन भिन्नविषयत्वात्समुच्चयः स्यात्, द्विकल्पस्तु कर्मणां भवतु, शाखानां वेति जिज्ञासायां शाखानां व्यवस्थितपुरुषविषयतया विकल्पे सम्भवत्यव्यवस्थितकर्मविकल्पाश्रयणस्यायुक्तत्वाच्छाखानामेव विकल्पावगतेरद्विर्वचनमित्येवं सूत्रव्याख्यानार्थं न चेत्याद्यं भाष्यमिदानीं व्याख्यातुमाह—प्रधानान्यपीति। स्वर्गकामादिशब्दैरर्थिमात्रमुद्दिश्य विधीय-

१. क० अर्थमात्र।
२. क० असतिसमुच्चये।
३. तथोदितइति २ पु० पा०।

मानत्वात्कर्मभेदपक्षे च भिन्नविषयत्वाच्छाखानां विकल्पानापत्तेस्तस्याष्टदोषत्वपरिहारार्थं प्रतिचरणं शाखाव्यवस्थाकल्पस्यायुक्तत्वात्, सर्वशाखास्थानि प्रधानानि सर्वान् पुरुषान्प्रति प्रकाशन्तइत्युक्ते, काठकादिसमाख्याभिर्व्यवस्थामाशङ्क्य यजमानानां प्राधान्यात् समाख्यानां च प्रधाननियमं प्रत्ययसामर्थ्यात् समाख्यायोगेऽपि न व्यवतिष्ठन्तइति समाख्याभिर्युक्तान्यपीति पदद्वयाध्याहारसहितेनोक्तं ननु पूर्वपक्ष्यनिष्टाख्यायाः प्रतिचरणं कर्मव्यवस्थायाः किमर्थो निरास इत्याशङ्क्याह—तत्रेति। प्रतिचरणमग्निहोत्रादिव्यवस्थानभ्युपगमे निरपेक्षसाधनत्वेन समुच्चयायोगादेकेनैवाग्निहोत्रादिना सर्वपुंसां फलसिद्धेः शाखान्तरीयाग्निहोत्राद्यानर्थक्यापत्तेर्विकल्पेनार्थवत्त्वं वाच्यम्। तच्च विकल्पेनार्थवत्त्वं कर्मैक्याभ्युपगमेन शाखानामेव व्यवस्थितेः कठादिचरणैः प्रतिपद्यमानत्वेनाऽष्टदोषत्वनिमित्ताकुलत्वानापादकत्वाच्च कल्पितं वरं ततश्चापौनरुक्त्यमित्येव पौनरुक्त्यपरिहारसूचनार्थम्, प्रतिचरणं कर्मव्यवस्था निरास इत्याशयः ॥ १९ ॥

भा० प्र०—रूपभेद अर्थात् द्रव्यभेद के कारण कर्म का भेद होता है, इस प्रदत्त आपत्ति का परिहार इस सूत्र से किया जा रहा है "न च एकं प्रति शिष्यते" विभिन्न शाखाओं में एक ही कर्म कहे जाने पर भी कहीं किस गुण का उल्लेख नहीं रहता है, कहीं भिन्न प्रकार के गुण का उपदेश है। केवल एक पुरुष अर्थात् उस शाखा से व्यक्ति के लिये उपदिष्ट होता है—ऐसी बात नहीं है, किन्तु, सभी के प्रति ही उसका विधान किया जाता है। अतः, अन्य शाखा में जिस गुण का उल्लेख किया है, वह यदि अपनी शाखा में कथित कर्म के विरुद्ध नहीं हो तो अपनी शाखा के कर्म से ही गुणों का उपसंहार = समाहार अर्थात् समुच्चय कर अनुष्ठान किया जाता है। यदि वे विरुद्ध होता है, तब विकल्प होगा, इसलिये, शाखाभेद होने पर कर्म का भेद नहीं होता है।

"च" और, "एकं प्रति" = केवल एक के लिये, "न शिष्यते" = उपदिष्ट नहीं होता है ॥ १९ ॥

समाप्तिवच्च संप्रेक्षा ॥२०॥

शा० भा०—अत्रास्माकमग्निः परिसमाप्यत[1] इत्युत्प्रेक्षितारो भवन्ति। अन्वारोहेषु मैत्रायणीयानामग्निः परिसमाप्यते। अस्माकं तेषु न परिसमाप्यत इति। यद्यन्यदेव मैत्रायणीयानाम्, अन्यच्च तेषम्, कथं ते ब्रूयुरेष्वस्माकं[2] न परिसमाप्यत इति। एकत्वमुपपन्नं[3], तेषामपि हि ते सन्ति ॥२०॥ युक्तिः ॥

त० वा०—असमाप्तिवदिति वा छेदः। कर्मभेदपक्षे हि यावदेव येषां समाम्नानम्, तावदेव तेषां समाप्यत इति न ब्रूयुरत्रास्माकं न समाप्यत इति। अन्वारोहो नाम स्थलारोहणमन्त्राः। तेषु मैत्रायणीयानां समाप्यते, नास्माकमित्यभिधानादध्येतॄणामपि कर्मैकत्वं प्रसिद्धमित्यवसीयते ॥२०॥

१. ब. समाप्तः। २. ब. अत्रास्माकं। ३. ब. एकत्वेतूपपन्नं।

न्या० सु०—यदा च भिन्नमपि कर्म सर्वान्प्रति विधीयते, तदा योऽस्माकमग्निः, सोऽत्र समाप्यतइति कर्मभेदापेक्षसमाप्तिव्यपदेशायोगाद्योऽग्निः सोऽस्माकमत्र समाप्यतइत्यध्यतृविशेषापेक्षः समाप्तिव्यपदेशो वाच्यः। भिन्नकर्मविषयत्वे समाप्त्यसमाप्त्योरध्येतृविशेषापेक्षानर्थक्यापत्तेरस्मानपेक्ष्याग्नेः समाप्तिर्जातेत्येवंरूपापेक्षाबुद्धिरध्येतृविशेषसंमताध्येतृविशेषापेक्षा कर्मैक्यं द्योतयतीत्यभिधानार्थमेतत् सूत्रम्। समाप्तेरापेक्षिकत्वस्य सिद्धान्तलिङ्गत्वोक्त्यर्थत्वेनात्रेति भाष्येण व्याख्यायासमाप्तेरापेक्षिकत्वस्य सिद्धान्तलिङ्गत्वोक्त्यर्थत्वेनान्वारोहे त्वित्यादिनापेक्षिकत्वोक्त्यार्थं सौत्रसंशब्दव्याख्यानायासमाप्तेर्मैत्रायणीयापेक्षत्वाभावोक्तिपूर्वं व्याख्यातम्। तत्सूत्राननुगुणमाशङ्क्याकारप्रश्लेषेण पाठान्तरमाह—**असमाप्तिवदिति**। शिष्यते समाप्तिवदिति सूत्रसंहितायामकारप्रश्लेषेणापि विच्छेदसम्भवः। छेदोक्त्या सूचितः। सूत्रार्थमुपपादयति—**कर्मेति**। अन्वारोहशब्दव्याख्यापूर्वं सङ्क्षेपतो भाष्यं व्याचष्टे—**अन्वारोहनामेति** ॥ २० ॥

भा० प्र०—"यहाँ हमारी अग्नि समाप्त हुई" इस प्रकार समाप्ति का वचन होने से शाखा के भेद से कर्म का भेद होगा—यह ठीक नहीं है। कारण, "मैत्रायणीय" समूह के अन्वारोह में = मन्त्रविशेष में अग्नि समाप्त होती है, किन्तु, हमारी अग्नि यहाँ समाप्त नहीं होती है। इस प्रकार के वचन भी होने से कर्म का अभेद ही बोधित होता है, क्योंकि, कर्म के भिन्न होने पर यह कथन सङ्गत नहीं होगा, कारण, एक ही कर्म को लक्ष्य कर ही लोक में कहा जाता है कि इसकी इच्छा यहाँ शेष होती है, किन्तु मेरा यह कर्म यहाँ समाप्त नहीं होता है। इस स्थल में भी इसी प्रकार है। "मैत्रायणीय के अन्वारोह मन्त्र में ही अग्नि समाप्त होती है, किन्तु हमारी वैसी इच्छा नहीं होती है—इस प्रकार की उक्ति में महाग्निचयन कर्म का भेद न समझकर अभेद ही बोधित होता है।

वार्तिककार ने कहा है कि इस सूत्र में अकार को आदि में देकर "असमाप्तिवत् च सम्प्रेक्षा" इस प्रकार प्रयोग कर पाठ करना उचित है। अर्थात् सूत्रों को संहिता के रूप में एक साथ संलग्न कर निबद्ध होने से "समाप्तिवत्" इस अंश को "असमाप्तिवत्" इस प्रकार ग्रहण करना चाहिये। पूर्ववर्ती सूत्र के शेष में एकार रहने पर इस सूत्र के 'अ' कार का लोप होता है। इस पक्ष में भी व्याख्या पूर्ववत् है।

"समाप्तिवत् च" = समाप्ति के समान भी, "सम्प्रेक्षा" = उत्प्रेक्षा अर्थात् कल्पना की जाती है; वस्तुतः पक्ष में समाप्त नहीं होती है ॥ २० ॥

एकत्वेऽपि पराणि निन्दाशक्तिसमाप्तिवचनानि ॥२१॥

शा० भा०—न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रयुज्यते। किं तर्हि? निन्दितादि[1] तरत्प्रशंसितुम्। तत्र न निन्दितस्य प्रतिषेधो गम्यते, किं त्वितिरस्य विधिः। तत्रैकस्मिन्नग्निहोत्रे द्वौ कालौ विहितौ विकल्प्येते। अतो न कश्चिद्विरोधः।

१. ब. अन्यत्।

तथा, असमर्थानामेकस्मिन्नपि वेदे विहितं कृत्स्नमङ्गजातमुपसंहर्तुं शक्तिरस्तीति तेनैककर्मत्वेऽपि न विरुद्धमिति। तथैकस्मिन्नपि कर्मणि किंचिद्वस्तु समाप्तमिति कृत्वा समाप्तिशब्दः प्रयुज्यते। यथाऽऽध्वर्यवे समाप्ते ज्योतिष्टोमस्य, समाप्तो ज्योतिष्टोम इति भवति ॥२१॥ पूर्वपक्षनिरासः ॥

त० वा०—अन्योन्यनिन्दयेतरेतरविधाने तुल्यार्थयोरुदितानुदितत्वयोः कर्मणि विकल्पो भविष्यति। त्वत्पक्षेऽपि चासौ कर्मणोः फलं प्रत्यविशिष्टः। तथा शक्त्यशक्ती सर्वपुरुषाणामव्यवस्थिते। सर्वशाखास्वधिकविधावेकशाखायां च स्तोकान्तरत्वादविशिष्टे।

वाक्यसंयुक्तानां साङ्कर्यम्, प्राकरणिकानां व्यवस्थेत्यभिवदतां केषां मतस्योपन्यासनिरासौ

केचिच्चात्र लाभवार्थिन एवं वर्णयन्ति। य एव किल वाक्यसंयुक्ताः शाखान्तरविधयः। त एव संकीर्यन्ते। ये तु प्राकरणिकाः तेषां व्यवस्थैवेति। कुतः ?

एककर्मगताः पुंसां विकल्पन्ते विधायकाः।
तत्समीपसमाम्नातं ग्राह्यं प्रकरणस्य च ॥

शाखान्तरेषु विकल्पमानेषु यथैव प्रधानं विधीयतेऽर्थिनः तदीयः कथंभावः तामेव व्याप्नोति, न शाखान्तराणि। अतश्चान्यगता गुणाः कथंभावेन नापेक्षिताः प्रयोगवचनेनानुपसंहृता नाङ्गं भवन्तीति नानुष्ठेयाः। ततश्च वाक्यसंयुक्तानामल्पत्वाद्विधीयमानानामस्त्युपसंहरणशक्तिरिति।

न त्वेतद्युक्तमिव। तथा हि—

शाखान्तरगतस्यापि यदङ्गं कर्मणः स्थितम्।
तस्यान्यत्रापि तादर्थ्यं प्राप्तं केन निवार्यते ॥

प्रतिवेदमपि च प्रकरणं पुरुषस्य धर्मानुपदिशति। न च तद्वेदान्तरस्थं प्रत्यप्रमाणम्। तथा शाखान्तरेऽपि द्रष्टव्यम्। कर्मधर्माश्चैते विज्ञायन्ते। तच्च कर्म शाखान्तरेष्वपि तदेवेत्यङ्गत्वाविशेषः। यद्यपि प्रकरणरूपमन्यत् तथाऽपि शाखान्तरस्थेनानेनैतेऽपि धर्मा गृहीता इत्यवधारणान्न स्वप्रकरणगृहीतेभ्यो विशिष्यन्ते, सर्वास्वपि च शाखास्वधिकविधयो न कथंचिच्छाखया परिमिता भवन्तीत्यल्प एवाऽऽयास इति नाशक्तिः। समाप्तिश्चाधीतापेक्षयोपपन्नत्वान्न भेदं कल्पयति ॥२१॥

न्या० सु०—यानि पुनर्वचनात्पराणि निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि कर्मभेदकारणान्युक्तानि। तान्येकत्वेऽप्यविरुद्धानीत्यभिधानार्थमेतत्सूत्रं व्याख्यातुं न होति निन्दापरिहारभाष्यं तावद्व्याचष्टे—अन्योन्येति। ननूदितानुदितवाक्ययोर्भिन्नविषयत्वेनाविकल्पिकतयाष्टदोषत्वपरिहाराय व्यवस्थानपेक्षत्वात्प्रतिचरणं व्यवस्थाकल्पनानुपपत्तेः सर्वपुरुषान्प्रति

प्रामाण्याविशेषादुदितानुदितत्वयोरव्यवस्थितविकल्पापत्तेरपरिहार्यऽष्टदोषतेत्याशङ्क्याह — **त्वत्पक्षे चेति**। कर्मभेदपक्षे तद्वाक्यानामपि भिन्नविषयत्वेनावैकल्पिकत्वात् प्रतिचरणं प्रामाण्यकल्पनानुपपत्तेः कर्मणामव्यवस्थितविकल्पाविशेषादुभयोस्तुल्योदोषः, नैकं प्रत्युद्भावनीय इत्याशयः।

तथेत्यशक्तिपरिहारभाष्यं व्याचष्टे—**तथेति**। एकशाखाविहितेष्वप्यङ्गेष्वन्धादीनामशक्तेः साधनसम्पन्नानां च सर्वशाखाविहितेष्वपि शक्तेः परशाखाविहितानां च कल्पसूत्रादिभ्यो ज्ञानसम्भवादित्याशयः। ननु सर्वशाखास्थाङ्गोपसंहारो बहुतरायाससाध्यत्वादशक्य इत्याशङ्क्याह—**सर्वेति**। बहूनामङ्गानां सर्वशाखास्वभिन्नत्वात्कतिपयान्यत्वेऽपि न बह्वायासापत्तिरित्याशयः। शाखान्तरेऽधिकाङ्गविधावप्येकशाखायाः सकाशात् सर्वशाखास्वङ्गानामन्तरस्य स्तोकत्वाच्छक्त्यशक्त्योरविशेष इत्यर्थः।

प्रकरणविनियोज्यानामङ्गानां प्रतिप्रकरणं व्यवस्थितत्वेन तत्तच्छाखाध्यायिभिरेवानुष्ठेयत्वाद्वाक्यविनियोज्यानामेव सर्वशाखानुष्ठेयत्वावगतेः स्तोकान्तरत्वं कैश्चिदुक्तम्। तद् दूषयितुमुपन्यस्यति—**केचिदिति**। विध्युक्तिर्विधेयलक्षणार्था प्रधानस्य सर्वशाखास्वभिन्नत्वात्कथंभावरूपस्य प्रकरणस्याप्यभेदावगतेः कथं प्राकरणिकानामप्यङ्गानां व्यवस्थेत्याशयेन प्रश्नपूर्वं व्यवस्थामुपपादयति—**कुत इति**। कर्मस्वरूपाभेदेऽपि फलसाधनत्वेन विधीयमानस्यैव कथम्भावोत्पत्तेः कर्मैक्येऽपि च तद्विधीनां प्रतिशाखं भेदादेकविषयत्वाच्च विकल्प्यमानानां प्रतिचरणं व्यवस्थितप्रामाण्यावगतेर्विधेयत्वप्रयुक्तत्वेन कथंभावस्यापि भेदात्पञ्चावत्तादिवच्चानुष्ठातृव्यवस्थया व्यवस्थिताङ्गग्राहकत्वोपपत्तेः प्रतिचरणं प्राकरणिकाङ्गव्यवस्था युक्तेत्युत्तराशयः। श्लोकं व्याचष्टे—**शाखान्तरेष्विति**। प्राकरणिकाङ्गव्यवस्थोक्तेः प्रकृतोपयोगमाह—**ततश्चेति**। दूषयति—**तत्त्विति**। कर्मधर्मत्वेनाङ्गानामविशेषात्सर्वपुरुषानुष्ठेयकर्मार्थत्वप्राप्तेः पञ्चावत्तादिवत्पुरुषविशेषानुष्ठेयकर्मार्थत्वावेदकश्रुत्यभावेन शाखान्तरानुष्ठेयकर्मार्थत्वानिवारणाद्भिन्नानामपि च प्रकरणानामेककर्मणि विनियोजकत्वेन व्यवस्थापकत्वायोगात्प्राकरणिकानामप्यङ्गानां सङ्कर एव युक्त इत्याशयः।

नन्वनेकेषां प्रकरणानामेककर्माङ्गविनियोजकत्वेनैकार्थ्याद्विकल्पापत्तेर्व्यवस्थापेक्षाया विधायकवत्तच्छाखाध्यायिनामेव प्रतिमाण्यावगतेर्व्यवस्थापकत्वं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासपूर्वं श्लोकं व्याचष्टे—**प्रतिवेदमपि चेति**। विधायकत्वप्रकरणानामप्रवृत्तप्रवर्त्तनस्वभावेनैकमपि पुरुषं प्रत्यनेकेषामन्योन्यानपेक्षत्वेनानुवादत्वपरिहारसम्भवात्प्रामाण्योपपत्तेर्व्यवस्थापकत्वायोगं दृष्टान्तेन द्रढयितुं यथा प्रतिवेदं भिन्नं प्रकरणं यद्यपि कर्मधर्मान् पुरुषस्योपदिशति, तथापि वेदान्तराध्यायिनं पुरुषं प्रत्यप्रमाणं न भवतीत्युक्तं श्लोकव्याख्यार्थम्—**कर्मेत्युक्तम्**। फलवत्वकर्मविधिसन्निधावफलकर्मविधिपाठस्य प्रकरणत्वात्प्रतिशाखं च विधिभेदेन सन्निधिभेदात्प्रकरणभेदे सति कथमविशेष इत्याशङ्क्य—**यद्यपीत्युक्तम्**। कथं तर्ह्यशक्तिः परिहर्त्तव्येत्याशङ्क्याह—**सर्वास्वपि चेति**। तथैकस्मिन्नपीति समाप्तिपरिहारभाष्यं व्याचष्टे—**समाप्तिश्चेति** ॥ २१ ॥

भा० प्र०—उदित होम और अनुदित होम दोनों की निन्दा के कारण भी कार्म का भेद नहीं हो सकता है, क्योंकि, शास्त्रीय निन्दा का निन्दा में तात्पर्य नहीं है। इसीलिए, भगवान् भाष्यकार ने कहा है "न हि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रयुज्यते। किं तर्हि। निन्दितादिवत् प्रशंसितुम्। तत्र न निन्दितस्य प्रतिषेधो गम्यते। किन्तु इतरस्य विधिः"। अर्थात् निन्दनीय विषय की निन्दा करने के लिए शास्त्र में निन्दावचन नहीं कहा जाता है। तब किस लिए कहा जाता है? निन्दितातिरिक्त = अनिन्दित विधेय विषय की प्रशंसा के लिए निन्दावचन कहा जाता है"। ऐसे स्थल में निन्दित विषय का निषेध अवगत नहीं होता है, किन्तु, निन्दितातिरिक्त की विधि ही विज्ञापित होती है, अतः, इस स्थल में निन्दा में तात्पर्य न होने से अग्निहोत्र होम में उदित एवम् अनुदित दोनों काल ही विकल्पित रूप में विहित होता है; जिस स्थल में अनुदित की निन्दा है वहाँ उदित की प्रशंसा में ही तात्पर्य है, क्योंकि उदित होम ही वहाँ विहित है और जहाँ उदित की निन्दा हैं वहाँ अनुदित की प्रशंसा हो प्रतिपाद्य है।

अशक्ति के विषय में जो कहा गया है, वहाँ कर्म का भेद नहीं है, कारण, जो असमर्थ हैं, वह अपनी शाखा में विहित सभी कर्म अवैगुण्य के रूप में अनुष्ठान नहीं कर सकता है। जो व्यक्ति समर्थ रहता है, वह अन्य शाखा के संवाद में सभी अङ्गों का समाहार कर ही अनुष्ठान करता है, अतः, किसकी कितनी शक्ति है, जब उसका अवधारण नहीं है, अतः अशक्ति के कारण जो कर्म भेद होगा—यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि, एक व्यक्ति का अशक्ति रहने पर भी अन्य पाँच लोगों की शक्ति रह सकती है।

इसी प्रकार समाप्ति वचन के सम्बन्ध में भी किसी कर्म में एक विशेष अंश समाप्त होने पर लोक में जैसे कहा जाता है—"यह कर्म शेष हुआ", जैसे ज्योतिष्टोम का अध्वर्भव = अध्वर्यु से सम्पाद्य कर्म समाप्त होने पर ही "ज्योतिष्टोम समाप्त हुआ" इस प्रकार कहा जाता है—प्रकृत में भी ऐसा ही है, अतः, समाप्तिवचन कर्म भेद का हेतु नहीं है। कर्म को अभिन्न न मानने पर इस प्रकार की उक्ति भी सङ्गत नहीं होगी, क्योंकि, भिन्न-भिन्न कर्म के सम्बन्ध में कोई भी ऐसा नहीं कहता है कि "हमलोगों का यह कर्म यहाँ समाप्त हुआ और अन्य का अन्य स्थल में"।

"पराणि निन्दाशक्ति समाप्तिवचनानि" = अवशिष्ट निन्दा अशक्ति एवं समाप्ति का उल्लेख, "एकत्वे अपि" = कर्म का एकत्व = अभेद पक्ष में भी सङ्गत होता है ॥ २१ ॥

प्रायश्चित्तं निमित्तेन ॥२२॥

शा० भा०—यदुक्तम्—उदितहोमस्यापि प्रायश्चिताम्नानाद्[1] व्यृद्धता गम्यते, अनुदितहोमस्यापि। तदेकत्वे विरुध्यते। अविरुद्धं नानात्व इति। तत्परिहर्तव्यम्। आभाषान्तं सूत्रम् ॥२२॥ आशङ्का ॥

१. क० प्रायश्चित्तान्ता नावृद्धता।

त० वा०—अनुभाषणसूत्रं सामान्यपरिहारसूत्रं वा ॥२२॥

न्या० सु०—उदितानुदितकालातिक्रमात्मकेन भिन्नेन निमित्तेन प्रायश्चित्तं विधीयमानं भेदकत्वेन यदुक्तमित्यनुभाषणार्थत्वेन तावद्यथाभाष्यं सूत्रं व्याचष्टे—अनुभाषणेति। उदितानुदितकालयोर्द्वयोरप्यतिक्रमे प्रायश्चित्तं विधीयमानं यद्भेदकत्वेनोक्तम्। तत्केनचिन्निमित्तेन कर्मैक्येऽप्युपपत्तेर्न भेदकमित्येवं सामान्यपरिहारार्थत्वेन स्वयं व्याचष्टे—सामान्येनेति ॥ २२ ॥

भा० प्र०—शाखा भेद से उदित होम का समय अतिक्रान्त होने पर भी प्रायश्चित्त विधि है और अनुदित होम का कालातिपात होने पर भी प्रायश्चित्त का उपदेश किया है। शाखा भेद से कर्म अभिन्न होने पर—यह सङ्गत नहीं होगा, किन्तु कर्म के भिन्न होने पर ही समीचीन होगा—इस प्रकार की जो आपत्ति है, उसका भी परिहार कहा जा रहा है। इस सूत्र में पूर्वपक्ष का निर्देश किया गया है।

"निमित्तेन" = निमित्त के कारण अर्थात् कालातिक्रमण रूप निमित्त के कारण, "प्रायश्चित्तम्" = प्रायश्चित कैसे होता है ॥ २२ ॥

प्रक्रमाद्वा नियोगेन ॥२३॥

शा० भा०—वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। नैष दोषः। उदिते होष्यामीति प्रक्रान्ते, अन्यथा क्रियमाणे भवति दोषः। तत्र प्रायश्चित्तस्य विषयो भविष्यतीति, कर्मैकत्वेऽपि न दोषः ॥२३॥ आशङ्कानिरासः ॥

त० वा०—वैकल्पिकानामादित एवाङ्गीकरणादाश्रितक्रमातिक्रमे प्रायश्चित्तविधिरुपपत्स्यते ॥२३॥

न्या० सु०—सङ्कल्पापरपर्यायप्रक्रमवशेन वैकल्पिकानामप्यङ्गानां यदेव सङ्कल्पितम्, तदेवानुष्ठेयमिति नियमात्, तदतिक्रमे कर्मैक्येऽपि प्रायश्चित्तमविरुद्धमित्येवमनुभाषितभेदहेतुपरिहारार्थं सामान्यपरिहारोक्तिजनितविशेषसन्देहव्यावृत्त्या विशेषपरिहारार्थं चैतत्सूत्रं प्रधानवशवर्त्तित्वेनाङ्गानां प्रधानसङ्कल्पेनैवानुष्ठानसिद्धेरङ्गानामसङ्कल्पनीयत्वादयुक्तमाशङ्कयोपपादयन् व्याचष्टे—वैकल्पिकानामिति। नैयमिकाङ्गासङ्कल्पनेऽपि वैकल्पिकाङ्गासङ्कल्पने प्रयोगमध्ये किमिदं कुर्यामिदं वेति दोलायमानमतेः कालविक्षेपापत्तेः कर्मो॰क्रमकालएव वैकल्पिकानामाङ्गानामिदमेव करिष्यामीत्येवमङ्गीकरणीयत्वादङ्गीकृतसङ्कल्पस्याङ्गस्यातिक्रमे प्रायश्चित्तविधिर्युक्त इत्यर्थः ॥ २३ ॥

भा० प्र०—उदित होम एवं अनुदित होम दोनों ही स्थलों में जो काल के अतिक्रमण के कारण प्रायश्चित्त कहा है—वह आरम्भ के अनुसार व्यवस्थित होता है। जो व्यक्ति अनुदित होम का सङ्कल्प कर आरम्भ करता है, उसके पक्ष में उदित होम जन्य प्रायश्चित्त विहित होता है—यदि वह सूर्योदय के बाद होम करता है तो उसको यथा कथित

प्रायश्चित्त करना पड़ेगा, उदित होम के सम्बन्ध में भी यही नियम है, इसका यह कारण है कि उदित होम एवम् अनुदित होम वैकल्पिक अर्थात् इच्छाधीन होने पर भी जो क्रम अवलम्बन किया जाता है, पूर्व पुरुष जिस क्रम का अवलम्बन कर होम कर आए हैं, हमको भी उसी क्रम का अवलम्बन करना पड़ेगा अर्थात् उसी का अनुसरण करना होगा। उसका व्यतिक्रम करने पर हमको प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। उदित होमानुसारी एवम् अनुदित होमानुसारी दोनों ही पक्षों में यह व्यतिक्रम समान दोषावह है। किन्तु इसके द्वारा मूल कर्म का कोई भी पार्थक्य नहीं होता है, अतः, प्रायश्चित्तवचन कर्मभेद का साधक नहीं है।

"प्रक्रमात्" = प्रक्रम अर्थात् प्रथम प्रयोग या आरम्भ के अनुसार, "वा" = पक्ष के परिवर्तन के लिए, "नियोगेन" = नियोग के कारण अर्थात् नियम का अनुसरण किया गया है, अतः, उसका व्यतिक्रम होने पर प्रायश्चित्त करना होगा ॥ २३ ॥

समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद्यथाज्ञाते प्रतीयेत ॥२४॥

शा० भा०—पूर्ववति समाप्तिवचनं भवति। यत्रारब्धम्, तत्परिसमाप्यते। तत्रास्माकं परिसमाप्तोऽग्निरिति, योऽस्माभिर्ज्ञायते, परिसमाप्यते। प्रारब्धश्चेत्यभिप्रायः ॥२४॥

त० वा०—एकत्वेऽपि समाप्तिर्लिङ्गत्वेनोक्ता। 'समाप्तिवच्च संप्रेक्षा' इति समाप्तिवचनं नानात्वेऽपि। तत्र न्यायानुसारित्वादेकत्वस्यैव[1] साधिका। तद्वचनस्येयमुपपत्तिः पूर्ववत्त्वादिति, आरम्भापेक्षत्वात्।

अथवा शब्दप्रयोगस्य प्रसिद्धिपूर्वकत्वाद्यादृशीं वयं समाप्तिं पश्यामः तादृश्यामयं प्रयुक्त इति निश्चिनुमः। स च वस्तुन्यसमाप्तेऽपि तच्छाखाविज्ञेयपदार्थसमाप्तौ प्रयुक्त इति दृश्यते। तस्मादविरोधः ॥२४॥

न्या० सु०—समाप्तेर्भिन्नस्थानत्वरूपेणाऽभेदहेतुत्वस्य पूर्वपक्षितस्यैकत्वेऽपि पराणीत्यनेन दूषितत्वादापेक्षिकत्वरूपेण त्वेकत्वहेतुत्वस्य समाप्तिवच्चेत्यनेन सिद्धान्तितत्वादनर्थकमेतत्सूत्रमित्याशङ्क्याह—एकत्वेऽपीति। यथैकत्वेऽग्निसमाप्तिर्लिङ्गत्वेनोक्ता, न तदीयकतिपयपदार्थसमाप्तिः तथाभेदेऽप्यग्निसमाप्तेरेव लिङ्गत्वेनोक्तत्वात्स्वशाखाधीताग्न्यङ्गभूतपदार्थापेक्षसमाप्त्यभ्युपगमेन दूषणोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य, समाप्तिवचनस्य न्यायानुसारेण व्याख्येयत्वात्, न्यायेन चैकत्वावधारणात्तस्यैव समाप्तिः। साधिका, न भेदस्येत्येतदभिधानायेदं सूत्रमित्याशयः।

नन्वग्निशब्दस्याग्न्यङ्गभूतपदार्थवाचित्वाभावात्कथं कर्मैक्येऽग्निसमाप्तिवचनोपपत्तिरित्याशङ्क्य, पूर्ववत्त्वादित्यवयवेनोपपत्तिरुक्तेत्याह—तद्वचनस्य चेति। एतमेव चावयवं

1. क० प्रत्ययानुसारित्वात्।

यथाभाष्यं तावत्पूर्वशब्दस्यारम्भवाचित्वाभ्युपगमेन व्याचष्टे—आरम्भेति । समाप्तेरारम्भापेक्षत्वान्मैत्रायणीयैश्चान्वारोहान्तग्न्यङ्गपदार्थकलापमात्रस्याध्येतुमारब्धत्वात्तल्लक्षणार्थोऽग्निशब्दोऽवसीयतइत्याशयः ।

स्वयमन्यथा व्याचष्टे—कथं वेति । भाष्यकृता तु प्रक्रमाद्वेति सूत्रेणारम्भवशाद्वैकल्पिकाङ्गनियमेऽभिहिते बुद्धिस्थत्वात्समाप्तेरारम्भापेक्षत्वात्समाप्तिसमभिव्याहृतस्याग्निशब्दस्य यावदारब्धपदार्थकलापलक्षणार्थत्वोक्तेरभ्रष्टावसरत्वसिद्धयर्थं पूर्वशब्दस्यारम्भवाचित्वं व्याख्यातम् । पूर्वपक्ष्युक्तविरोधपरिहारसमर्थनार्थत्वं सूत्रस्य च सूचयन्नुपसंहरति—तस्मादिति ॥ २४ ॥

भा० प्र०—समाप्तिवचन के कारण शाखाभेद से कर्म का भेद होता है, इस प्रकार की आपत्ति का परिहार "समाप्तिवच्च सम्प्रेक्षा" इस सूत्र के द्वारा किये जाने पर भी पूर्वपक्षी यह कह सकते हैं कि समाप्तिवचन जब कर्म के भेद का साधन है और सम्प्रेक्षा कर्म के अभेद का लिङ्ग है तब अभेद कैसे सिद्ध हो सकता है ? इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि जिस पक्ष में युक्ति हो वही ग्राह्य है। अभेदप्रत्यभिज्ञा आदि युक्ति के द्वारा जब शाखा का भेद होने पर भी कर्म का अभेद ही सिद्ध होता है तब यहाँ हम लोगों की अग्नि समाप्त होती है—इस प्रकार सम्प्रेक्षा = उत्प्रेक्षा स्थल में समाप्ति अभेद का ही लिङ्ग है।

"समाप्तिः" = समाप्ति अर्थात् समापन की उक्ति, "यथाज्ञाते" = यथादृष्ट अर्थात् जैसा देखा जाय वैसा ही विषय में, "प्रतीयते" = प्रतीत होता है, "पूर्ववत्त्वात्" = यतः आरम्भसापेक्ष अथवा यतः शब्द का प्रयोग प्रसिद्धिपूर्वक अथवा "पूर्ववत्त्वात्" = अर्थ अभेद प्रत्यभिज्ञा होने से ॥ २४ ॥

लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्न हि तत्र कर्मचोदना, तस्माद् द्वादशाहस्याऽऽहारव्यपदेशः स्यात् ॥२५॥

शा० भा०—यदुक्तम्–यदि पुरा दिदीक्षाणा इति द्वादशाहे, इष्टप्रथमयज्ञानाम्, अनिष्टप्रथमयज्ञानां च दर्शनं कर्मभेदे उपपद्यते, न सर्वशाखाप्रत्ययैककर्मणीति । नैष दोषः । यदि दिदीक्षाणा द्वादशाहेन, अदिदीक्षाणा द्वादशाहेनेत्येवं तत् । न हि सामवेदे ज्योतिष्टोमस्य विधानम् । किमतोऽपि ? यत्र विहितस्तत्रानूद्यते । तेन कर्मभेदेऽपि सर्वज्योतिष्टोमानामेष धर्मः प्राथम्यं नाम । अतो नानाकर्मपक्षेऽस्त्यवश्यं द्वादशाहस्याऽऽहारव्यपदेशः कल्पनीयः । तस्माददोषः ॥२५॥

त० वा०—अदीक्षितदर्शनं द्वादशाहे तवाप्यनुपपन्नम् । ताण्डके सर्वशाखागतज्योतिष्टोमानुवादेन प्राथम्यविधानात् । न हि तत्रापरस्यापि ज्योतिष्टोमस्यो-

त्पत्तिरस्ति । यस्य नियमः स्यात् । अत आध्यवर्यवाणामेव नियमे, उभयपक्षे समे च दोषे सति उभाभ्यामेषोऽर्थो वर्णनीयः, यदि द्वादशाहेन पुरा दिदीक्षाणा अदिदीक्षाणा वेति । तस्मादविशिष्टमेतत् ॥२५॥

न्या० सु०—यददीक्षितदर्शनं भेदलिङ्गमुक्तम् । तद्भेदपक्षेऽप्ययुक्तत्वान्न पक्षविशेषसाधकमित्येवमाद्यसूत्रावयवं व्याचष्टे—अदीक्षितेति । सर्वेत्यनेन ज्योतिष्टोमपश्चाद्भावस्य सर्वशाखास्थद्वादशाहशेषत्वमुक्तमुपपादयितुं प्राथम्यस्य सर्वज्योतिष्टोमधर्मत्वं भाष्यकृतोक्तं विवृणोति—ताण्डकइति । न हीति सूत्रावयवव्याख्यानार्थं न हीति भाष्यं व्याचष्टे—न हीति । सामवेदे ज्योतिष्टोमस्योत्पत्त्यभ्युपगमे यजुर्वेदोत्पन्नाज्ज्योतिष्टोमाद्भेदः स्यात् । न चासाविष्ट इति सूचनाय—अपरेस्येत्युक्तम् । तस्मादिति सूत्रावयवव्याख्यानार्थमत इति भाष्यं व्याचष्टे—तत्रेति । सामवेदे ज्योतिष्टोमोत्पत्त्यभावादध्वर्युवेदोत्पन्नानां ज्योतिष्टोमानां भेदे सत्यविशेषात्सर्वेषामेव प्राथम्यनियमे सत्येकं द्वादशाहं प्रति सर्वज्योतिष्टोमानां प्राथम्यायोगात् । तद्द्वारा सर्वेषां द्वादशाहानां ज्योतिष्टोमपश्चाद्भावनियमापत्तेः पक्षद्वयेऽपि दोषसाम्यात्, तत्परिहारार्थं 'यदि पुरा द्वादशाहेन दिदीक्षाणा' यदि पुरा द्वादशाहेनादिदीक्षाणा इति चाध्याहारेण द्वादशाहस्य पक्षद्वयेऽप्युभयथा व्यपदेशः स्यादित्यर्थोऽनेन दर्शितः । तस्मादिति सूत्रार्थोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति ॥ २५ ॥

भा० प्र०—पूर्वपक्षी ने कहा है शाखान्तर में अर्थात् ताण्ड्य शाखा में ज्योतिष्टोम का प्रथमत्व विहित होता है—प्रथम में ज्योतिष्टोम न कर अन्य यज्ञ नहीं किया जायगा । किन्तु शाखान्तर में "यदि पुरादिदीक्षाणाः" इत्यादि वाक्य में अनिष्ट प्रथम यज्ञ व्यक्ति का अर्थात् जो प्रथम कर्तव्य ज्योतिष्टोम नहीं करता है उसके पक्ष में भी द्वादशाह नामक यज्ञ विहित होता है, इसलिए शाखान्तर में ज्योतिष्टोम के पूर्व में द्वादशाह और यज्ञ का निषेध और शाखान्तर में ज्योतिष्टोम के प्रथम में ही द्वादशाह का विधान होने से द्वादशाह रूप कर्म सभी शाखाओं में अभिन्न नहीं है, किन्तु, विभिन्न है । इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि पूर्वपक्षी का यह युक्ति युक्तियुक्त होता यदि जिस शाखा के ज्योतिष्टोम का प्रथमत्व विहित होता है, उसमें ही ज्योतिष्टोम की विधि रहती । सामवेद के ताण्ड्य शाखा में ज्योतिष्टोम का प्राथम्य विहित होता है, किन्तु सामवेद में ज्योतिष्टोम की विधि नहीं है, इसलिए, सूत्र में कहा गया है "न हि तत्र कर्मचोदना" अतः, ज्योतिष्टोम का प्रथमत्व उस शाखावालों के पक्ष में विहित है—यह नहीं कहा जा सकता है । ज्योतिष्टोम की प्रथमत्व विधि को निरर्थक नहीं कहा जा सकता है । अतः, वह सभी शाखास्थ ज्योतिष्टोम का ही शेष अर्थात् अङ्ग होगा । इसी लिए सूत्र में कहा गया है "सर्वशेषत्वात्", ज्योतिष्टोम का प्राथम्य सभी शाखा की ही विधि हो तो जहाँ अनिष्ट प्रथम यज्ञ व्यक्ति के पक्ष में भी द्वादशाह सत्र की कर्तव्यता उपदिष्ट होती है, वहाँ भी ज्योतिष्टोम का प्रथमत्व रहेगा । किन्तु एक ही व्यक्ति

प्रथम में ज्योतिष्टोम न कर द्वादशाह का अनुष्ठान करता है और प्रथम में ज्योतिष्टोम का समापन कर द्वादशाह का अनुष्ठान करेगा, इस प्रकार विधि के विरुद्ध होने से द्वादशाह का प्रयोग भेद स्वीकार करना होगा अर्थात् विकल्प मानना होगा—प्रथम में ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान करके भी द्वादशाह का अनुष्ठान किया जाता है या प्रथम में ज्योतिष्टोम का अनुष्ठान करके भी द्वादशाह किया जाता है—इस प्रकार विकल्प ही स्वीकार करना होगा। यही सूत्र में "तस्मात् द्वादशाहस्य आहारव्यपदेशः स्यात्" इस अंश में कहा गया है। विकल्प मानने पर प्राथम्य विधान शाखा भेद में द्वादशाह नामक कर्म का भेद रहने पर भी उपपन्न होता है एवं कर्म का भेद न रहने पर उपपन्न होता है। अतः, प्राथम्य रूप लिङ्ग पूर्वपक्ष और सिद्धान्त दोनों मतों में ही समान है। इसी लिए सूत्र में कहा गया है "लिङ्गमविशिष्टम्" प्राथम्य रूप लिङ्ग जब साधारण है, तब उसके द्वारा कर्म का भेद सिद्ध होगा—यह नहीं कहा जा सकता है।

"लिङ्गम्" = प्रथमत्व रूप लिङ्ग, "अविशिष्टम्" = अविशिष्ट अर्थात् पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष दोनों स्थलों में ही एक रूप है, "सर्वशेषत्वात्" = यतः ज्योतिष्टोम का प्रथमत्व सर्वशेष अर्थात् सभी कर्मों का अङ्ग है, "तत्र" = उस स्थल में अर्थात् जहाँ ज्योतिष्टोम का प्रथमत्व विहित होता है, "कर्मचोदना" = कर्म की = ज्योतिष्टोम की विधि, "न हि"=नहीं है, "तस्मात्" = इस कारण से, "द्वादशाहस्य"=द्वादशाह नाम के यज्ञ की, "आहाख्यपदेशः स्यात्"=प्रयोग भेद होगा ॥२५॥

द्रव्ये चाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत तस्मान्नित्यानुवादः स्यात् ॥२६॥

शा० भा०—द्रव्ये चाग्नावचोदितत्वादेकादशिन्याः सम्मानपरिमाणं प्रति नैषा व्यवस्था स्यात्। नैवाग्नावेकादशिनी चोद्यते। कुतः पक्षसंमानम्, वेदिसंमानं वा स्यात्। द्वयमप्येतत्परार्थं कीर्त्यते, पश्वेकादशिनीविधानार्थम्। [1]यदि पक्षसंमिता स्यादयं[2] दोषः स्यात्। वेदिसंमाने न दोषो भवेत्। क एतत्[3] संकटमध्यवसातुमर्हति[4]। एकस्मिन्यूप एकादश पशवो नियोक्तव्या इति। वाचस्तोमादिषु तु यूपैकादशिन्यामस्य नित्यानुवादत्वाद्रथाक्षमात्राण्येव यूपान्तरालानि भविष्यन्ति। नित्यानुवादत्वाच्चासत्यपि पक्षसंमाने, वेदिसंमाने वैकादशिनीविधानार्थं वचनमुपपद्यत एवेति न दोषः ॥२६॥

त० वा०—अथ यदुक्तमेकादशिन्यां पक्षवेदिसंमानदर्शनं न स्यादिति। तत्र ब्रूमः।

---

१. ब० यत्। २. स्यादेषदोषः। ३. ब० एनं। ४. ब० अध्यवमानं।

अन्यथाऽपि तु नैवास्ति पक्षवेद्यादिमानता ।
एकादशिन्यभावेन स्तूयते[1] त्वेकयूपता ॥

एकयूप एकादश पशव इत्यस्य विधेः शेषोऽयं 'यत्पक्षसंमितामित्या'दि । एकादशिन्यां हि सत्यामन्यतरसमानाश्रयणात्क्लेशो भवेत् । तस्मादेकयूप एव वरमिति । पक्षसंमानं तावदत्यन्ताप्राप्तमेवेति नित्यानुवादः । वेदिसंमानोपदेशोऽपि प्रशंसारूपेणैकयूपप्रशस्ततरत्वज्ञापनार्थः । रथाक्षमात्रान्तरालता च यत्रैकादशिनी विहिता, तत्र भविष्यतीत्यविरोधः । इह तु वेदिसंमानस्य प्रशंसया विधेयत्व-प्रतीतेरशक्यमन्यस्तुत्यर्थत्वं कल्पयितुम् । अतः पक्षसंमानस्याप्राप्तस्यैव वेदि-संमानस्तुत्यर्थो नित्यानुवाद इति समर्थयितव्यम् । प्राकरणिकत्वाच्चास्यैवाग्नौ बलीयस्त्वमिति, अनारभ्याधीतो रथाक्षमात्रान्तरालविधिस्तद्विनिर्मुक्ता विकृति-र्गमिष्यति ।

सूत्रमप्येवं नेयम् । यदि हि द्रव्ये वेदिसंमानं न चोद्येत ततोऽर्थानाम्—पक्षसंमानादिविधीनामव्यवस्था स्यात् । सा च रथान्तरालत्वेन बाध्येत, न त्वेव-मस्तीत्यविरोधः ॥२६॥

न्या० सु०—अग्न्याख्ये द्रव्ये यूपैकादशिन्या अचोदितत्वात्सम्मानानपेक्षत्वेन सम्मान-विधीनां मध्ये न कस्य चित्सम्भवः स्यात्, यदि ह्यग्नौ यूपैकादशिन्या निर्देशः स्यात्, ततः कश्चित्सम्मानविधिः सम्भवेत्, तस्मान्ना'न्तरिक्षे न दिवी'ति'त्सम्माननिषेधो नित्यानुवादः स्यात्, नित्यानुवादत्वादेव च वाचस्तोमादौ यूपैकादशिनीसद्भावेऽपि पक्षवेदीसम्मानयोर-प्राप्तेस्तत्र रथाक्षमात्रान्तरालविधिर्न विरुध्यतइत्येवं यथाभाष्यं तावत्सूत्रम् अनुभाषणपूर्वं व्याख्यातुमाह—अथेति । भेदपक्षेऽप्यग्नौ यूपैकादशिन्यभावात्पक्षमानं वेदिमानम्, आदि-शब्दोक्ता रथाक्षमात्रान्तरालता च नास्तीत्युक्ते पश्वेकादशिनीविधानादेवाविहितापि यूपैका-दशिनी प्रतिप्रधानावृत्तिन्यायात् भविष्यतीत्याशङ्क्य—श्रूयतइत्युक्तम् । यूपैक्यश्रुत्या न्यायप्राप्तैकादशिनीबाधादभाव इत्याशयः । नित्यानुवादप्रयोजनोक्त्यर्थं द्वयमपीति भाष्यं सम्माननिषेधानुवादस्य पश्वेकादशिनीविधानशेषत्वायोगादयुक्तमाशङ्क्य यूपैक्यविधायि-वाक्योपलक्षणार्थत्वं पश्वेकादशिनीविधानोक्तेः सूचयन्व्याचष्टे—एकेति ।

यूपैक्यविधिस्तुत्यर्थत्वोपपादनार्थं यदित्यादिभाष्यं पक्षसम्माने तावत्स्पष्ट एवोक्तो दोषः । वेदिसम्माने तु स्पष्टदोषाभावेऽपि यूपान्तरालानां न्यूनातिरेकनिवृत्तयेऽतिनैपुण्य-सम्पादनाय क्लेशलक्षणस्य दोषस्याऽपरिहार्यत्वेन यूपैकादशिन्या दुष्टत्वाद्यूपैक्यमेव प्रशस्त-मित्येवमर्थत्वेन व्याचष्टे—एकादशिन्यां हीति ।

नन्वग्नौ यूपैकादशिन्यभावात्कस्य चित्सम्मानस्याभावेऽपि वाचस्तोमादौ यूपैका-दशिनीसद्भावे सम्मानत्रयसमावेशः । कर्मैक्ये विरुध्येतेत्याशङ्कानिरासार्थं वाचस्तोमादिषु

---

१. क० श्रूयते ।

स्विति भाष्यं पक्षसम्मानस्य निन्दया वर्ज्यत्वावगमादनेकयूपत्वेऽप्यप्राप्तैर्निन्दोन्नीतस्य च तन्निषेधस्य नित्यानुवादत्वेन पक्षसम्माने विध्यभावाद्वेदिसम्मानोक्तेश्च 'जर्त्तिलय वाग्वा वा जुहुयाद् गवीधुकयवाग्वा वा जुहुयान्न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति नारण्यानि' त्यादिवद्विधेयान्यप्रशंसारूपत्वेन विधेयरूपैक्यप्रशस्ततरत्वज्ञापनार्थत्वाद्वेदिसम्मान-निन्दार्थत्वावगतेर्निन्दोन्नीतस्य तन्निषेधस्यापि नित्यानुवादत्वावगतेर्वेदिसम्मानस्यापि विध्य-भावद्यूपैकादशिन्यां सत्यां रथाक्षमात्रान्तरालत्वस्यैव निवेशादविरोध इत्येवं व्याचष्टे— **पक्षेति** । पक्षवेदिसम्मानयोरभावे तत्र कीर्त्तनं निरावलम्बनं स्यादित्याशङ्क्यासतोरपि जर्त्तिलादिवदन्यस्तुत्यर्थं कीर्त्तनं युक्तमित्यभिधानार्थं नित्यानुवादाच्चेति भाष्यं स्पष्टत्वान्न व्याख्यातम् । वेदिसम्मानोक्तेः स्तुत्यर्थत्वं दूषयति—**इह त्विति** । जर्त्तिलादावनाहुतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्चेत्यादिनिन्दाश्रुतिवद्वेदिसम्माननिन्दाश्रुत्यभावात् सम्मानविध्यन्यथा-नुपपत्त्या च शाखान्तरे यूपैकादशिनीविधानस्यापि कल्पयितुं शक्यत्वाद्यूपैकादशिनीपक्षे वेदिसम्मानविध्युपपत्तेर्नान्यस्तुत्यर्थत्वकल्पना युक्तेत्याशयः ।

कथं तर्हि नित्यानुवादता सूत्रकृतोक्तेत्याशङ्क्याह—**अत इति** । नन्वेवमपि वेदि-सम्मानरथाक्षमात्रान्तरालयोः कर्मैक्ये विरोधः स्यादित्याशङ्क्याह—**प्राकरणिकत्वाच्चेति** । ज्योतिष्टोमेऽन्यभावेऽपि पश्वेकादशिन्यविधानाद्यूपैकादशिन्यप्राप्तेर्यासु विकृतिष्वग्न्यभावेऽपि पश्वेकादशिनी विहिता, तद्विषयत्वं रथाक्षमात्रान्तरालविधेर्विकृत्युक्त्योक्तं विशिष्टमपि सूत्रं व्यवधारणकल्पनया गमयितव्यमित्याह—**सूत्रमपीति** । स चेत्यनेन निश्चितरूपाति-देशनाद्विधानाद्रथाक्षमात्रान्तरालत्वमेव व्यवतिष्ठेतेत्येवं निर्देशादित्यवयवो व्याख्यातः ॥२६॥

भा० प्र०—शाखा भेद के अनुसार कर्म का भेद न होने पर लिङ्ग का विरोध होगा—यह पूर्वपक्षी कह सकते हैं, क्योंकि, शाखा विशेष में महाग्निचयन प्रकरण में एकादश यूप के प्रत्येक के मध्य में जो पक्ष परिमाण = श्येनाकार में स्थापित अग्नि के पक्ष के समान परिमाण विशिष्ट व्यवधान स्थान उसकी निन्दाकर वैदिक परिमाण स्थान का व्यवधान रहेगा—यह कहा गया है । अन्य शाखाविशेष में यूपों के मध्य में रथाक्ष परिमाण अन्तराल का विधान किया गया है । इस प्रकार इसके मध्य में विरोध प्राप्त होता है, किन्तु शाखाभेद के अनुसार कर्म भेद मानने पर विरोध नहीं होता है । किन्तु, पूर्वपक्षी का यह कथन समीचीन नहीं है । क्योंकि महाग्निचयन में एकादश यूप न कहने से वहाँ मध्य में अन्तराल का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि, वहाँ एक ही यूप है उसका वेदि परिमाण ही होगा । तब जिस स्थल में अर्थात् वाचः स्तोत्र में एकादश यूप का विधान है, वहाँ उसका प्रसङ्ग होगा—उसी स्थल में रथाक्ष परिमाण व्यवधान विहित होगा । यदि कहा जाय कि पक्षसम्मित परिमाण की जो निन्दा की गई है, उसकी समी-चीनता किस प्रकार से होती है ? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वह नित्य अनुवाद है और यूप का वेदि परिमाणता की प्रशंसा करने के लिए ही इस प्रकार अनुवाद किया गया है । प्रशंसापूर्वक वेदिपरिमाण विधि इसको भी वेदिपरिमाण करने का

प्रयोजन नहीं है, किन्तु, पश्वेकादशिनीते = एकादश पशु युक्त धर्म विशेष में जो एकादश यूप आवश्यक नहीं है, किन्तु एक ही यूप कर्तव्य है. इस प्रकार यूप की एकता का विधान है, उसी की प्रशंसा का बोध किया गया है, यूप की वेदिपरिमाणता पक्षपरिमाणता की अपेक्षा अति प्रशस्त होने पर भी यूप का जो एकत्व विहित है, वह उसकी अपेक्षा अप्रशस्त है—इस प्रकार प्रशंसा ही इस स्थल में विवक्षित है। मीमांसाकौस्तुभ में इसी रूप में भाष्य का अभिप्राय व्यक्त किया गया है।

"द्रव्य" = अग्नि चयन में "अचोदित्वात्" = वेदि परिभाषा यदि चोदित अर्थात् विहित न होता तो, "विधीनाम् अव्यवस्था स्यात्" = पक्ष परिमाण आदि विधि अर्थात् विधेयों की अव्यवस्था=परस्पर विरोध हो सकता था, "निर्देशात्" = किन्तु निर्देश अर्थात् स्थल विशेष में उल्लेख होने से "व्यवतिष्ठेत"=व्यवस्थायुक्त होता है, "तस्मात्"=अतएव, "नित्यानुवादः स्यात्"=पक्ष परिमाण नित्यानुवाद अर्थात् सार्वकालिक अनुवाद होगा।

अथवा मीमांसाकौस्तुभ ग्रन्थ में इस प्रकार कहा गया है—"द्रव्ये च" अग्नि प्रकरण में, "अचोदितत्वात्"=अन्तराल का विधान न होने से, "विधीनाम् अव्यवस्था"=रथाक्षमात्र अन्तराल होगा इत्यादि विधियों का इस प्रकरण में व्यवस्थिति अर्थात् सन्निवेश या प्राप्ति नहीं होगी, "निर्देशात् व्यवतिष्ठेत"=किन्तु वेदिपरिमाण का ही निर्देश होने से वही इस प्रकरण में अर्थात् अग्नि-प्रकरण में यूप के परिमाण के निरूपण के विषय में व्यवस्थित होगा, "तस्मात् नित्यानुवादः स्यात्"=अतएव पक्ष सम्मान की जो निन्दा उसका नित्य अनुवाद होगा ॥२६॥

विहितप्रतिषेधात्पक्षेऽतिरेकः स्यात् ॥२७॥

शा० भा०—अतिरात्रे गृह्णाति षोडशिनम्, इति विहितः षोडशी नातिरात्रे गृह्णाति षोडशिनम्, इति प्रतिषिद्धः। तन पक्षे द्वयोः स्तोत्रीययोरतिरेकः, पक्षे तिसृणाम्। तस्माददोषः। कथं पुनरयं द्वयोस्तिसृणां वाऽतिरेकः? त्रिवृद्बहिष्पवमानं तत्तावन्नवकम्। पञ्चदशान्याज्यानि, तानि तावच्चत्वारि, तेन सा षष्टिः। पञ्चदशो माध्यंदिनः पवमानः। तया पञ्चदशसंख्यया सह पूर्वया च नवसंख्यया चतुरशीतिः। सप्तदशानि पृष्ठानि चत्वारि, सप्तदश आर्भवः पवमानः, पञ्चसप्तदशकानि तानीति पञ्चाशीतिः पूर्वया चतुरशीत्या सहैकोनसप्ततिशतम्। एकविंशं यज्ञायज्ञियम्, तयैकविंशत्या सह, तस्य नवतिशतं स्तोत्रीया इति ब्राह्मणवादः। अग्निष्टोममात्रमभिप्रेत्योच्यते, सा विराट् संपूर्णा। विराडिति दशकाख्या। त्रय एकविंशका उक्थ्यपर्यायाः, सा त्रिषष्टिः। एकविंशः षोडशी। तयैकविंशत्या सह चतुरशीतिः। पञ्चदशका रात्रिपर्यायास्त्रयः। तत्रैकैकपर्यायश्चतुःस्तोत्रः। तदशीतिशतं संपूर्णा विराट्। त्रिवृद्रथंतरं पञ्चसाम, तन्नवकम्। ततश्चतुरशीतेरेकं नवकमागच्छति। तथा तिस्रः संस्तुतानां विराजमतिरिच्यन्ते।

यदा षोडशी न गृह्यते, तदा एकविंशत्या विना द्वे संस्तुतानां विराजमतिरिच्यते। एवमेककर्मत्वेऽपि लिङ्गमुपपद्यते ॥२७॥

त० वा०—वैकल्पिके षोडशिन्यगृह्यमाणे द्वयोरतिरेकः। क्रियमाणे त्वेकविंशतिप्रचयादृग्द्वयादेकातिरेकेण तिस्रो भवन्ति। तस्मादविरोधः ॥२७॥

न्या० सु०—षोडशिग्रहणस्य विहितत्वात्, प्रतिषेधाच्च। ग्रहणपक्षे द्वयोः, ग्रहणपक्षे तिसृणामतिरेकः स्यादित्येवं तृतीयलिङ्गपरिहारसूत्रं व्याचष्टे—वैकल्पिक इति ॥ २७ ॥

भा० प्र०—पूर्वपक्षी ने यह कहा है एक ही कर्म में किसी शाखा में अतिरिक्त स्तोत्रीया होंगे, इस प्रकार का विरोध भी कर्मभेद के लिए दूसरा लिङ्ग होगा। यह कथन भी समीचीन नहीं है। कारण, अतिरात्र नामक यज्ञ में षोडशि नामक ग्रह के ग्रहण की विधि एवं निषेध दोनों होने से विकल्प होता है। यदि ग्रह का ग्रहण किया जाय, तब तीन स्तोत्रीया अतिरिक्त होगा और यदि ग्रह का ग्रहण नहीं किया जाय तो दो अतिरिक्त होगा। इस प्रकार विकल्प के अनुसार व्यवस्था होने से यह अतिरेक लिङ्ग के द्वारा भी कर्मभेद सिद्ध नहीं होता है।

"विहितप्रतिषेधात्"=विधि एवं प्रतिषेध रहने से, "पक्षे" =पाक्षिक रूप में अर्थात् विकल्प रूप में, "अतिरेकः स्यात्"=अतिरिक्त होगा ॥२७॥

सारस्वते विप्रतिषेधाद्यदेति स्यात् ॥२८॥

शा० भा०—यदुक्तम्, पुरोडाशिनाम्, सान्नाय्यिनां च सारस्वते दर्शनं भवतीति। ज्योतिष्टोमपूर्वकत्वात्सर्वकर्मणां विप्रतिषिद्धमेतदिति[1]। तेन यदा सांनाय्यिन इति कल्प्यते ॥२८॥ पूर्वपक्षनिरासः ॥

त० वा०—सारस्वते हि द्वादशाहन्यायेनैवोभयोः पक्षयोर्ज्योतिष्टोमपूर्वकत्वादवश्यमेवं वक्तव्यम्। यदा पुरोडाशिनः पौर्णमासीपक्षे तदोपवसन्ति, यदा सांनाय्यिनोऽमावास्यापक्षे तदा वत्सानपाकुर्वन्तीति। भवति हि कालभेदादपि कर्तृभेदोपचारस्तस्मादप्यदोषः ॥२८॥

न्या० सु०—सर्वसोमयागानां ज्योतिष्टोमपश्चाद्भावनियमेन सारस्वते द्वादशाहवत्पक्षद्वयेऽप्यनिष्टप्रथमयज्ञत्वनिमित्तपुरोडशित्वदर्शनविप्रतिषेधाद्यदा पुरोडाशिन इति कालभेदनिमित्तपुरोडाशित्वं स्यादित्येवं चतुर्थलिङ्गपरिहारसूत्रं व्याचष्टे—सारस्वतेऽपीति। मित्रावरुणयोरयने सारस्वतसत्रविशेषे यथामावास्यायामतिरात्रः स्यात्तथा दीक्षेरंस्तेऽमावास्यायामतिरात्रं संस्थाप्य तदहरेव वत्सानपाकुर्यास्तं पक्षमामावास्येन व्रजित्वा पौर्णमास्यां गामुपेयुः, पौर्णमासेनोत्तरं व्रजित्वामावास्यायामायुपमुपेयुरेवमावर्त्तयन्तो व्रजेयुरित्यनेन वाक्येन प्रतिमासमेकस्मिन्पक्षेऽमावास्याख्यकर्मविधानात्पक्षान्तरेण पौर्णमावास्याख्यकर्म-

१. ब० तदिति यदासान्नाय्यिन, पुरोडाशिन इति कल्प्यते।

विधानात्पुरोडाशिशब्दः पौर्णमासाख्यकर्मोपयोगिपक्षोपलक्षणार्थः। सान्नायिशब्दश्चामावास्याख्यकर्मयोगिपक्षोपलक्षणार्थं इत्येवमवश्यं पक्षद्वयेऽपि वक्तव्यमित्यर्थः। ननुकालभेदविवक्षायां पुराडाशिनः, सान्नायिन इति कर्तृभेदव्यपदेशो न युज्येतेत्याशङ्क्याह—भवति हीति। उपचारात्कर्तृव्यपदेश इत्याशयः। सूत्रार्थमुपसंहरति—तस्मादपीति ॥२८॥

भा० प्र०—पूर्वपक्षी ने कहा है कि सारस्वत सत्र में = यज्ञविशेष में "ये पुरोडाशिनस्ते उपवसन्ति ये सान्नायिनस्ते वत्सान् वारयन्ति"="जो पुरोडाशी अर्थात् सोमयाग= ज्योतिष्टोम यज्ञ प्रथम नहीं करते हैं वे उपवास करें और सान्नायी = सोमयाग अर्थात् ज्योतिष्टोम यज्ञ प्रथम में करते हैं, वे वत्स का वारण करें" इस प्रकार एक ही सारस्वत-सत्र में दो परस्पर विरुद्ध विषयों का दर्शन=समावेश कर्म भेद के विना नहीं हो सकता है, किन्तु, यह सङ्गत नहीं है। क्योंकि, "ये पुरोडाशिनः" इत्यादि वाक्य में "यदा" इस पद का अध्याहार करना होगा।

आशय यह है कि "एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः" इत्यादि श्रुति से जाना जाता है कि सोमयाजी के पक्ष में ज्योतिष्टोम प्रथम में अनुष्ठेय है। यह सारस्वत सत्र सोमयाग विशेष है। अतः जो व्यक्ति ज्योतिष्टोम यज्ञ नहीं करता है, उनका इसमें अधिकार ही नहीं हो सकता है, ऐसी स्थिति में श्रुतिका "ये पुरोडाशिनः" इत्यादि उक्ति किस प्रकार सङ्गत होती है। कारण, "ये पुरोडाशिनः" इत्यादि श्रुति में वह व्यक्ति ज्योतिष्टोम नहीं करते हैं और सारस्वत सत्र का अनुष्ठान करते हैं उसी का उल्लेख किया जाता है। शाखा भेद से यदि कर्म भिन्न होता है तो किसी-किसी शाखा वाले के पक्ष में उस शाखा में विहित स्वतन्त्र ज्योतिष्टोम किसी सामयाग के पूर्व में प्रथमतः अवश्य कर्तव्य होता है और किसी-किसी शाखा वाले के लिए अपनी शाखा में विहित स्वतन्त्र ज्योतिष्टोम आदि न करने पर भी चलता है, उस पक्ष में "ये पुरोडाशिनः" इत्यादि उल्लेख सङ्गत होता है।

इसके समाधान में सिद्धान्ती का कहना है कि "ये पुरोडाशिनः" इत्यादि श्रुति-वाक्य का अर्थ "यदा पुरोडाडिनः" अर्थात् जब पुरोडाशी होगा या जब सान्नायी होगा"। इस स्थल में "पुरोडाशी" यह शब्द पौर्णमासी नामक कर्म के उपयोगी काल का ज्ञापक एवं 'सन्नायी' शब्द अमावस्या नाम के कर्म का उपयोगी काल का ज्ञापन है। कारण, यह जो सारस्वत सत्र है, इसके प्रसङ्ग में "यथा अमावस्यायाम् अतिरात्रः स्यात् तथा दीक्षेरन्" इत्यादि वाक्य में श्रुति में जो कहा गया है, उसका तात्पर्य यह है कि सारस्वतसत्र का दूसरा "मित्रावरुणयोरयन" है। वर्ष से अधिक काल में अनुष्ठेय जो सोमयाग विशेष है, उसको अयन कहा जाता है। इस सारस्वतसत्र के अनुष्ठान में प्रतिमास अमावस्या एवं पौर्णमासी नाम में एक एक बार कर्म का सम्पादन कर्तव्य कोटि में आता है। पौर्णमासीका कर्म पुरोडाश से साध्य है। यह पुरोडाश से साध्य पौर्णमासो जब कर्तव्य होता है तब उपवास करना पड़ता है—यही "यदा पुरोडशिनः" इस आकार में

परिवर्तित वचन का अर्थ है और इसमें अनिष्ट प्रथम यज्ञ (जो ज्योतिष्टोम यज्ञ नहीं करता है वैसा) व्यक्ति का प्रसङ्ग नहीं है, अतः किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

"सारस्वते" = सारस्वत सत्र नाम के यज्ञ में, "विप्रतिषेधात्" = विप्रतिषेध अर्थात् विरोध होने से "यदा इतिस्यात् = 'यदा' इस प्रकार होगा अर्थात् 'यदा' इस पद का अध्याहार करना होगा ॥ २८ ॥

अतः पूर्वपक्षी की आशङ्का निर्मूल है।

उपहव्येऽप्रतिप्रसवः ॥२९॥

शा० भा०—अथ यदुक्तम्, उपहव्ये बृहद्रथन्तरविधानं प्रकृतिप्राप्तमेव। एककर्मत्वे प्रतिप्रसवतयाऽप्यसंभवाद्विधीयमानमनर्थकं स्यादिति। तत्परिहर्तव्यम्। आभाषान्तं सूत्रम् ॥२९॥ आशङ्का ॥

त० वा०—अनुभाषणं सामान्यपरिहारो वा ॥२९॥

न्या० सु०—उपहव्यस्य भेदे सत्यतिदेशप्राप्तबृहद्रथन्तरविकल्पनिवृत्तिः प्रतिप्रसवाख्या पुनःश्रुतिप्रयोजनं स्यात्। ऐक्ये तु शाखाद्वयप्रत्ययत्वात्पुनःश्रुतावपि विकल्पापत्तेर्न तन्निवृत्त्याख्यः प्रतिप्रसवः प्रयोजनमिति पुनःश्रुत्यानर्थक्यं स्यादित्येवमनुभाषणार्थत्वेन यथाभाष्यं तावत्सूत्रं व्याचष्टे—अनुभाषणेति। उपहव्ये वृहद्रथन्तरपुनःश्रुतेर्न प्रतिप्रसवोऽस्माकं प्रयोजनत्वेनेष्टो, येन तदसम्भवादानर्थक्यं स्यात्कि त्वन्यत्कि चिदित्येवं सामान्यपरिहारार्थत्वेन स्वयं व्याचष्टे—सामान्येति ॥ २९ ॥

भा० प्र०—शाखा के भेद से कर्म का भेद होना है, इसका प्रतिपादन करने के लिए पूर्वपक्षी ने पुनः कहा है कि शाखाविशेष में 'उपहव्य' नाम के यज्ञ में "उपहव्योऽनिरुक्तो अग्निष्टोमो यज्ञः रथन्तरसामा, अश्वः श्यावो दक्षिणा" इस वाक्य में 'रथन्तर' नाम के साम का उल्लेख है। अन्य शाखाये "उपहव्योऽनिरुक्तः उक्थ्या यज्ञो वृहत्सामा अश्वः श्वेतो रुक्मललाटो दक्षिणा" इस वचन में 'वृहत्' नाम के साम का निर्देश है, यदि यह एक ही कर्म है, तब रथन्तर वृहत्सामे का विकल्प होगा। किन्तु इस यज्ञ के प्रकृतिभूत यज्ञ से ही रथन्तर एवं वृहत् नाम के दोनों सामों का पूर्व से ही विकल्प से प्राप्ति होने से ये दोनों वचन निरर्थक हो जायेंगे। किन्तु शाखाभेद से कर्म का भेद मानने पर इन दोनों वचनों से प्रकृति से विकल्प प्राप्त दोनों सामों का प्रतिप्रसव किया गया है अर्थात् व्यवस्था करके दिखाया गया है—उन शाखाओं में वचनविहित वृहत् अथवा रथन्तर ही ग्रहणीय होता है—यह नियम है। अतः, इस प्रकार अन्यार्थ दर्शन भी शाखाभेद में कर्म भेद का लिङ्ग है। पूर्व पक्षी की इस प्रकार को आपत्ति भी ठीक नहीं है, कारण, "उपहव्योऽप्रतिप्रसवः" = इस स्थल मे जो वृहत् और रथन्तर साम का पुनः उल्लेख = प्रतिप्रसव उसका प्रयोजन नहीं है। किन्तु उसका अन्य ही प्रयोजन है। इस प्रयोजन को अग्रिम सूत्र में कहा गया है, अतः शाखाभेद में कर्म के अभिन्न होने पर भी कोई दोप नहीं है।

भाष्यकार के मत में इस सूत्र में पूर्वपक्षी के मत का पुनः कथन मात्र है—यही माना गया हैं, किन्तु वार्तिककार ने इसका परिहार परक अर्थ मानकर व्याख्या की है।

"उपहव्ये" = उपहव्य नाम के यज्ञ में, "अप्रतिप्रसवः = प्रतिप्रसव अर्थात् विशेष विधान नहीं है ॥ २९ ॥

गुणार्था वा पुनःश्रुतिः ॥३०॥

शा० भा०—यदा रथन्तरसामा तदा, अश्वः श्वेतो दक्षिणा, यदा बृहत्सामा तदा रुक्मललाट इति ॥३०॥ आशङ्कानिरासः ॥

त० वा०—संस्थाव्यवस्थार्था वा वृहद्रथन्तरयोः पुनःश्रुतिर्भविष्यति ॥३०॥

न्या० सु०—यदेति भाष्यात् दक्षिणाव्यवस्थालक्षणगुणविध्यर्था निमित्तत्वेन बृहद्रथन्तरपुनः श्रुतिरिति सूत्रार्थः। प्रतिभाति। स च संस्थाश्रुत्यानर्थक्यापत्तेरयुक्त इति मत्वोपलक्षणार्थत्वम्भाष्यस्य सूचयन्सूत्रं व्याचष्टे—संस्थेति। संस्थासामदक्षिणाविशिष्टयागविधावरुणैकहानीन्यायात्पार्ष्णिकपरस्परनियमावगमे सति सामश्रुतेः प्राप्तार्थत्वान्निमित्तपरत्वं प्रतीयमानमविशेषादुभयव्यवस्थार्थं प्रतीयतइत्याशयः—चशब्दार्थे वाशब्दः ॥ ३० ॥

भा० प्र०—पूर्वपक्षी के द्वारा दोनों वचनों के अनार्थक्य आशङ्का भी निर्मूल है, कारण, उक्त दोनों वचनों से दक्षिणा आदि विशेष गुण की व्यवस्था की गई है, अतः, वह अनर्थक नहीं है, उसमें यही कहा गया है कि उपहव्य नाम का यज्ञ रथन्तर साम से युक्त होने पर श्वेत अश्व दक्षिणा होगी और वृहत् साम से युक्त होने पर रुक्मललाट अश्व दक्षिणा होगी। वार्तिककार ने कहा हैं कि संस्था व्यवस्था के लिए ही इस स्थल में पुनः उल्लेख किया गया है।

"पुनः श्रुतिः" = वृहत् और रथन्तर साम के पुनः उल्लेख "गुणार्था" = गुणविशेष के विधान के लिए है, "वा"—यह पूर्वपक्ष का व्यावर्तक है अथवा निश्चयार्थक है ॥३०॥

प्रत्ययं चापि दर्शयति ॥३१॥

शा० भा०—यदा न सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्मेति, कथमेकस्यां शाखायां समाम्नायते, अन्यस्यां गुणो विधीयते। यथा मैत्रायणीयानां समिदादयः प्रयाजा न[1] समाम्नायन्ते। अथ च गुणाः[2] श्रूयन्ते—ऋतवो वै प्रयाजाः समानीय होतव्या इति। तथा येषां शाखिनां, कुटरुरसि, इत्यश्मादानमन्त्रो नाऽऽम्नातः तेषामपि हि दृश्यते—कुक्कुटोऽसीत्यश्मानमुपादत्ते, कुटरुरसीति वा[3] इति। तस्मादेकं कर्मेति प्रतीमः ॥३१॥ युक्तिः ॥

शाखान्तरविहितप्रयाजानुवादेन सह होमं वदन्नन्यशाखाधीतं च 'कुटरुरसि' इति मन्त्रमश्मादाने विदधत्सर्वशाखाप्रत्ययत्वं दर्शयति ॥३१॥

१. ब. नाम्नायन्ते। २. ब. गुणः श्रूयते। ३. ब. चेति।

न्या० सु०—शाखान्तरविहिताङ्गानुवादेन तद्धर्मविधानं शाखान्तराधीतस्य च मन्त्रस्य स्वशाखाधीतेन मन्त्रेण सह विकल्पवचनमन्योन्यधर्मसाङ्कर्यं सूचयन्सर्वशाखाप्रत्ययमेकं कर्म द्योतयतीत्येवं सिद्धान्तलिङ्गोक्त्यर्थं सूत्रं व्याचष्टे—शाखान्तरेति। सर्वाभिः शाखाभिः प्रत्ययो ज्ञानं यस्येति समासार्थः ॥ ३१ ॥

भा० प्र०—पूर्वपक्षियों के द्वारा प्रदर्शित आपत्तियों का परिहार कर सभी शाखाओं में जो एक कर्म है, उसके साधक = प्रतिपादक लिङ्ग = प्रमाण का प्रदर्शन किया गया है। मैत्रायणी शाखा में समिदादि प्रयाज नहीं कहा गया है। तथापि 'ऋतवो वै प्रयाजाः समानीय होतव्याः" इस वाक्य में शाखान्तर में विहित प्रयाज का अनुवाद कर तद्विषयक गुण का विधान किया गया है। इसी प्रकार शाखाविशेष में 'कुटरुरसि' यह मन्त्र अश्मदान में= प्रस्तर ग्रहण रूप कर्मविशेष में नहीं पढ़ा गया है। तथापि वहाँ कहा गया है "कुक्कुटोऽसीत्यस्मानुपादत्ते कुटरुरीति वा" अर्थात् "कुक्कुटोऽसि" इस मन्त्र में अश्मादान को 'कुटरुरसि' यह मन्त्र भी ग्रहण किया जा सकता है। शाखाभेद में यदि कर्म अभिन्न न होता तो अन्य शाखा में विहित कर्म का अन्य शाखा में पठित मन्त्र इस प्रकार का का उल्लेख सङ्गत नहीं होता। अतः, सभी शाखाओं में एक ही कर्म कहा गया है।

"अपि च" = और भी, "प्रत्ययं" = प्रमाण, "दर्शयति" = दिखाते हैं, सभी शाखाओं में एक ही कर्म है, इसमें श्रुति का प्रमाण प्रदर्शित करते हैं ॥ ३१ ॥

अपि वा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत ॥३२॥

शा० भा०—यो ह्यन्यशाखावस्थितान्विधीनुपसंहरति, स स्वशाखाविहितं क्रममुपरुणद्धीति। तेन शाखान्तरेषु कर्मभेद इति ॥३२॥ आ०॥

त० वा०—प्रतिशाखं वा विधिपृथक्त्वं व्यवतिष्ठेत। तथा सति हि क्रमभेदं न यास्यन्ति स्वशाखाविहिताः क्रियाः। परिमाणं च तद्वति नान्यत्वं प्रतिपत्स्यते ॥३२॥

न्या० सु०—सर्वशाखाङ्गोपसंहारलक्षणसिद्धान्तप्रयोजनाक्षेपार्थमेतत्सूत्रं व्याचष्टे—प्रतिशाखमिति। एकैकस्यामिति वीप्सा प्रतिशब्देन सूचिता। ऋतवो वै प्रयाजा इत्यादावपि न शाखान्तरप्रयाजाद्यनुवादः, किं त्वन्यप्रयाजादिविधिरिति सूचनार्थं विधिपृथक्त्वोक्त्या कर्मव्युत्पत्त्या विधेयान्यतोक्ता कालपरिमाणयोरपि क्रमोक्त्योपलक्षणं सूचयन् हेत्वर्थं व्याचष्टे—तथा सति हीति। कालोऽप्याशुनिर्माणलक्षणः पूर्वाह्लादिलक्षणश्च न बाधिष्यतइति चशब्देन सूचितम् ॥ ३२ ॥

भा० प्र०—पूर्वपक्षी ने प्रकारान्त से शाखाभेद से कर्मभेद का प्रतिपादन करते हुए कहा है—जिस शाखा में जो कर्म विहित होता है वहाँ उस कर्म के अङ्गकलाप में अनुष्ठान का एक क्रम अर्थात् पौर्वापर्य निर्दिष्ट होता है। किन्तु, शाखान्तर में उस कर्म के अङ्गों के अनुष्ठानक्रम का पार्थक्य दृष्ट होता है। अतः, शाखान्तर में कर्म का अनुष्ठान

करने पर अपनी शाखा में कथित क्रम का बाध होता है। अतएव शाखाभेद में एक ही कर्म का क्रमवैषम्य रहने पर शाखाभेद में कर्म का भी भेद मानना होगा। अन्यथा श्रुतिबोधित क्रम का लङ्घन होता है।

"अपि वा" = पक्ष परिवर्तनसूचक, "क्रमसंयोगात्" = क्रम का अर्थात् अनुष्ठेय कर्म के पारम्पर्य का संयोग = श्रुत्युक्त नियम होने से, "विधिपृथक्त्वम्" = विधि का पृथक्त्व होगा अर्थात् शाखा के भेद में कर्म का भेद होगा, "एकस्यां व्यवतिष्ठेत" = और वह एक शाखा में ही व्यवस्थित = पृथक् भाव में निबद्ध होगा ॥ ३२ ॥

विरोधिनां त्वसंयोगादैककर्म्ये तत्संयोगाद्विधीनां सर्वकर्म-प्रत्ययः स्यात् ॥३३॥

शा० भा०—उच्यते। नैष[1] शाखान्तरविहितानामैककर्म्ये सति विरोधिनां संयोगः। न हि क्रमो वाक्येन विरुध्यते। दुर्बलो हि क्रमः। बलवद्वाक्यम्। वाक्येन च शाखान्तरीयाणामुपसंहारः। तस्मात्सर्वशाखाप्रत्ययम्, सर्वब्राह्मण-प्रत्ययं चैकं कर्म चोद्यत इति सिद्धं भवति ॥३३॥ आ० नि०॥

इति द्वितीयं शाखान्तराधिकरणम् ॥२॥

इति श्रीशाबरस्वामिनः कृतौ धर्ममीमांसाभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः।

समाप्तोऽयं द्वितीयोऽध्यायः ॥

त० वा०—यत्र स्मार्ताः पदार्था न क्रमकालपरिमाणानुरोधेन बाधिताः। तत्र श्रौता बाधिष्यन्त इति कुत एतत्? तेनैव गतत्वादवाच्यमिति चेत्? न। सूत्रकारस्यात्रैव प्रथमाभिधानाद्। तत्र हि कारणाग्रहणमात्रमुपपत्तिरुक्ता। शेषं त्विह सिद्धमसूत्रितमित्यपुनरुक्तत्वम्।

तस्मात्तदेवेति मते न कर्म भिन्नं कथंचित्प्रतिशाखमिष्टम्।
न कारणं सप्तममस्ति चान्यदतो यथोक्तैव तु भेदसिद्धिः ॥३३॥

इति द्वितीयं शाखान्तराधिकरणम् ॥२॥

इति श्रीभट्टकुमारिलविरचिते धर्ममीमांसाभाष्यव्याख्याने तन्त्रवार्तिके द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थश्चरणः समाप्तः ॥

समाप्तश्च द्वितीयोऽध्यायः ॥

न्या० सु०—कर्मैक्ये सति सर्वशाखास्थानां विधेयानामङ्गानां विधिशब्दोक्तानां तेनैकेनैव कर्मणा संयोगावगतेर्विरोधिनां क्रम-कालपरिमाणानामसंयोगात्सर्वशाखाविहितानामङ्गा-

---

१. ब. नैषांशाखान्तरगतानां।

नामेककर्माङ्गत्वप्रत्यय इत्येवं सिद्धान्तप्रयोजनसमाधानार्थे सूत्रे विरोधिनामसंयोगादिति हेतुमुपपादयितुमाह—यत्रेति। क्रमादीनां पदार्थप्राप्त्युत्तरकालभावित्वात्तदनुरोधवृत्तिता शिष्टाकोपाधिकरणे व्युत्पादितेत्याशयः। शिष्टाकोपाधिकरणेन तर्ह्येतत्पुनरुक्तं स्यादित्याशङ्कते—एतेनैव चेति। सूत्रानुक्तत्वात् पौनरुक्त्यं परिहरति—नेति।

ननु तेष्वदर्शनाद्विरोधस्येत्येतावता अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्निति सिद्धान्तसूत्रसमाप्तिपक्षे सूत्रोक्तत्वात्पौनरुक्त्यं स्यादित्याशङ्क्याह—तत्र हीति। शब्दार्थविरोधात् क्रमादिसंयोगाभावेनेहोक्तेन सिद्धाविरोधाभावस्तत्र सिद्धवद्धेतुत्वेनोक्तो न तूपपादित इत्याशयः। तस्मादित्यधिकरणार्थोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति। तदेवेत्यनेनैक वेति सिद्धान्तसूत्रार्थोपसंहारः। न कथं चिदित्यनेन नामादिभेदहेतुनिरासोपसंहारः। न कारणमित्यनेन शाखान्तरभेदकत्वनिरासोपसंहारः। अध्यायार्थमुपसंहरति—एवमिति। उक्तेन प्रकारेण शब्दान्तरादिप्रमाणिका हि भेदसिद्धिर्न शाखान्तरप्रमाणिकेत्येवकारार्थः॥ ३३॥

इति श्रीमत्त्रिकाण्डमीमांसामण्डनप्रतिवसन्तसोमयाजिभट्टमाधवात्मजभट्टसोमेश्वरकृतायां तन्त्रवार्त्तिकटीकायां सर्वानवद्यकारिण्यां न्यायसुधाख्यायां
द्वितीयस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः समाप्तः।

द्वितीयोऽध्यायश्च समाप्तः।

भा० प्र०—पूर्वपक्षी ने जो आपत्ति दी है—वह सङ्गत नहीं है। कारण, क्रम के अनुरोध में पदार्थ का = कर्मादि का अन्यथा नहीं हो सकता है। पूर्वोक्त युक्तिसमूह से यह जब दृढभाव से ही सिद्धान्तित होता है कि शाखा भेद होने पर भी कर्म अभिन्न होगा, क्रम के अनुरोध से उसका भेद नहीं होगा, किन्तु उदितानुदित होम के समान क्रम का ही विकल्प होगा। अतएव सर्वशाखा प्रत्यय एवं सर्व ब्राह्मण प्रत्यय एक ही कर्म विहित होता है।

"विरोधिनाम्"=विरोधी क्रमों का, "तु"=आशङ्का निवारक, "असंयोगात्"=एक अनुष्ठान में कर्म का एकत्व सिद्ध न होने से "ऐककर्म्ये"=सभी शाखास्थ कर्मों का एकत्व सिद्ध होने पर, "विधीनां उत्संयोगात्"=विधियों अर्थात् सभी शाखाओं में पठित अङ्ग विधियों का तत्संयोग अर्थात् कर्म के साथ सम्बन्ध होने से, "सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात्"= सभी अङ्गों का एक ही कर्म में समन्वय होगा॥३३॥

यह द्वितीय शाखान्तराधिकरण।
सभी शाखा प्रत्ययैककर्मताधिकरण॥

यह द्वितीय अध्याय का चतुर्थ पाद है।

द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ।

———

अथ तृतीयाध्याये प्रथमः पादः ॥

अथ प्रथमं शेषप्रतिज्ञाधिकरणम् ।

[१] अथाऽतः शेषलक्षणम् ॥ १ ॥ (प्रतिज्ञासूत्रम् ।)

शा० भा०—नानाकर्मलक्षणं वृत्तम् । अनन्तरं शेषलक्षणं वर्तयिष्यामः । कः शेष ? केन हेतुना शेषः ? कथं च विनियुज्यत इति ? श्रुत्यादीनि च विनियोगे कारणानीति वक्ष्यते । तेषां च बलवद्बलवत्ता । एतत्तात्पर्येणान्यदप्युपोद्घातादिना ॥ १ ॥

इति प्रथमं शेषप्रतिज्ञाधिकरणम् ॥ १ ॥

त० वा—द्विलक्षण्याः परं शिष्टं यावत्किंचन लक्षणम् ।
तत्सर्वं वक्तुमारब्धमथातः शेषलक्षणम् ॥

शेषलक्षणपदार्थनिरूपणम् ।

तथा च प्रथमसूत्रोपात्तप्रतिज्ञापिण्डव्याख्याप्रदेशप्रदर्शने[1] धर्मप्रमाणस्वरूपविषयलक्षणद्वयार्थं चोदनालक्षणसूत्रेणैकेनैव सूत्रितं वर्णयित्वा, कानि अस्य साधनानि—अङ्गानि । कानि च साधनाभासानि-अनङ्गानीति, फलार्थत्वातदर्थत्वाभ्यां क्व पुरुषः प्रधानं धर्मस्य, क्व वा पुरुषो गुणभूत इत्यादि यावत्किंचन मीमांसितव्यम्, तत्सर्वं शेषलक्षणेनैव व्याख्यातम् । शेषैः । समस्तैरेव लक्षणैरित्यर्थः । इह लक्षणानां बहुत्वेऽपि, यदेकवचनं कृतम्, तल्लक्षणत्वसामान्यसंख्यामात्रविवक्षया ।

यत्तु शेषः परार्थत्वादित्यनन्तरलक्षणम् ।
तदङ्गत्वस्य वाच्यत्वादादौ तन्मात्रगोचरम् ॥

बहुष्वपि हि लक्षणार्थेषु विवक्षितेषु क्रमवशादेकस्तावदङ्गत्वरूपः शेष एतल्लक्षणगोचरः परार्थत्वहेतुकः प्रतिपाद्यते ।

समासश्च द्वेधा विगृह्य द्वयोर्वाक्यार्थयोः प्रदर्शनीयः । शेषं च तल्लक्षणं च । शेषस्य वाऽर्थस्य लक्षणमिति । षष्ठीसमासमात्राश्रयणेन वा यथाव्याख्यायमानार्थम् ।

अङ्गलक्षणमेवेदमिहोक्तं शेषलक्षणम् ।
तद्विशेषप्रपञ्चत्वात्तत्रान्यान्तर्गतिस्थितेः ॥

---

१. क० प्रदर्शनेन ।

सर्वेषां हि लक्षणान्तरार्थानां प्रयोज्याप्रयोज्यप्रयोजकाप्रयोजकषड्विधक्रम-नियमफलवत्कर्मविषयकर्त्रधिकाररूपाणां तावदङ्गात्मकशेषविशेषप्रकारत्वाल्ल-क्षणान्तरगोचराणामपि शेषलक्षणान्तर्गतत्वावधारणस्थितिः। तथा हि—

प्रयोजकाः प्रयोक्तारः शेषाणामेव शेषिणः।
क्रमोऽपि शेष एवैकप्रयोगवचनाश्रयः॥

क्रमस्यावश्यकता तत्र प्रमाणानि च

एकफलसाधनानामर्थानां ह्येकफलवदुपकारोपनिबद्धानां वैकप्रयोगवचन चोदितानां यौगपद्यानुष्ठानाशक्तेः सामर्थ्येनाङ्गभूतः क्रम आपद्यमानः श्रुत्यर्थपठन-स्थानमुख्यप्रावृत्तिकक्रमाख्यप्रमाणषट्कवशेन व्यवस्थाप्यते।

अधिकारोऽपि यज्ञेषु कर्तुः शेषस्य चिन्त्यते।
भाव्यानां भावकः कर्ता द्रव्यं को नाम कर्मणाम्॥
तथा चास्य विशेषेण सूत्रबद्धैव शेषता।
पुरुषश्च पुनः शेषः कर्मार्थत्वेन चोदनात्॥

वक्ष्यति हि 'पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्' इति जैमिनिः।

सप्तमादि द्वादशान्तप्रतिपाद्य विषयनिर्देशः।

तथाऽनाम्नातशेषाणां शेषिणां सप्तमादिभिः।
शेषसद्भाव-तद्रूप-परिमाणादिनिर्णयः॥

तत्र तु—सप्तमेनातिदेशेन शेषाः सन्तीति साधिते।
ततोऽष्टमे नये यस्य यतश्चेति निरूपणा॥
नवमेऽर्थप्रधानत्वात्तदधीनाऽन्यरूपता।
इयत्ता दशमे शेषबाधाभ्युच्चयचिन्तया॥
प्रयोगपरिमाणं च तत्तन्त्रावापलक्षणम्।
एतदेव प्रसङ्गेन परार्थङ्गोपजीवनात्॥
अन्यार्थानुष्ठितैः शेषैरुपकारेऽल्पकल्पना।
प्रसङ्गे तदभावे च स्याद्भूयिष्ठप्रकल्पना॥

शेषलक्षणशब्दस्य कृत्स्नशास्त्रविषयत्वं प्रतिपाद्य तृतीयाध्याय-प्रतिपाद्यतया द्वितीयव्याख्यानम्।

अथर्वाऽस्त्विवदमैवैकं तृतीयं शेषलक्षणम्।
तदेव सूचितं वक्तुमथातः शेषलक्षणम्॥

अन्यानि पृथगारम्भैर्लक्षणानि करिष्यति ।
इदं सपरिवाराणां शेषाणामेव लक्षणम् ॥

तत्राथशब्द आनन्तर्य-पूर्वप्रकृतापेक्षा-धिकाराणामेकं सर्वान्वा विवक्षित्वा प्रयुज्यते । प्रागुक्तभेदलक्षणानन्तरोक्तत्वात्पूर्वप्रकृतमपेक्ष्य शेषलक्षणमारभ्यते ।

भेदनिरूपणस्य हेतुत्वोपपादनम् ।

कुत इति हेत्वपेक्षया[1] अत इति हेतुव्यपदेशः ।

यस्माद्भेदमविज्ञाय न शक्यं शेषलक्षणम् ।
विज्ञातुमत एतस्य तदनन्तरमुच्यते ॥
भिन्नानां हि पदार्थानां शेषशेषित्वसंभवः ।
एकत्वे नापदिश्येत कः शेषः कस्य शेषिणः ॥
भेदानन्तरवक्तव्यं शेषलक्षणमेव च ।
प्रयोजकक्रमादीनां शेषत्वाधीनचिन्तनात् ॥

अध्याययोस्संबन्धवर्णनम् ।

अयमेव च संबन्धः संमतोऽध्याययोर्द्वयोः ।
अस्मिन् हि सति सूत्रोक्ते नान्यो भाष्यकृतोदितः ॥
पूर्वयोर्नास्ति संबन्धः सूत्रोक्तोऽध्याययोर्द्वयोः ।
प्रथमेऽध्याय इत्यादिभाष्येणातोऽभ्यधायि सः ॥

अर्थद्वारो ह्यध्यायादिसंबन्धो न ग्रन्थस्वरूपाश्रय इति संक्षेपोक्तिपिण्डीकृत-वृत्तवर्तिष्यमाणाध्यायार्थप्रदर्शनपूर्वं[2] भाष्यकारेणैव संबन्धः पूर्वाध्यायोरभिहितः । इह तु सूत्रकारेणैवाथातःशब्दाभ्यामुपनिबद्ध इति, स एव व्याख्यातः, नानाकर्म-लक्षणं वृत्तमिति च ।

प्रधानमात्रमेवोक्तं नोपोद्घातादिविस्तरः ।
नानाकर्मत्वमात्रं हि शेषलक्षणसिद्धिकृत् ॥

प्रथमाध्यायप्रतिपाद्यो विषयः ।

प्रथमाध्यायप्रतिपादितो हि प्रमाणविवेकविध्यर्थवादमन्त्रस्मृतिगुणविधिनाम-धेयवाक्यशेषार्थकृतसंदिग्धविधिनिर्णयप्रविभागः प्रत्येकं भेदादिलक्षणेषु भेदेनोप-योक्ष्यत इति प्रपञ्चेनानुभाषितः ।

---

१. क० हेत्वपेक्षायां । २. क० पिण्डीकृत्य ।

द्वितीयाध्यायार्थवर्णनम् ।

तथा चाभ्यासाधिकरणे स्थितवेदप्रमाणलक्षणबलेनोक्तम् 'अविशेषादनर्थकं हि स्यात्' इति । विधेयान्तररहितश्चानन्यपरो विधिः कर्मस्वरूपमेव विदधत्पूर्वविहितादवश्यमेव कर्मान्तरं करोतीति, विधित्वनिर्णयफलोपजीवनम् ।

तथाऽर्थवादविज्ञानाद्विष्ण्वादिगुणकास्त्रयः ।
यागा न कल्पितास्तेषां विधिशक्तेरसंभवात् ॥

जामित्वाजामित्वोपक्रमोपसंहारमध्यपातिनो हि 'विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय' इत्येवमादयोऽन्तरालसंबन्धविध्येकवाक्यत्वेनार्थवादत्वात्पृथग्विधित्वमलभमाना न देवताविशिष्टकर्मत्रयविधानार्था विज्ञायन्ते ।

मन्त्राणामपि यत्कार्यं विहितार्थप्रकाशनम् ।
तेन गोदानगोयागौ नाभ्यासाद्भेदमागतौ ॥

यच्छब्दामन्त्रणोत्तमपुरुषाद्युपहतविधिशक्तयो हि मन्त्रा धर्मसाधनत्वेनोच्यमाना 'देवांश्च याभिर्यजते ददाति च' इत्येवमादिभिराख्यातपदैः पुनः पुनः श्रुतैरपि न कर्मान्तरं कल्पयन्ति ।

तथा शब्दार्थसंबन्धस्मृतितत्त्वावधारणात् ।
प्रक्षेपाधिकतामात्राद्यागाद्धोमस्य भिन्नता ॥

तथा न भिद्यते कर्म काठकादिसमाख्यया ।
ग्रन्थनामस्मृतेर्लोके निमित्तस्मरणादपि ॥

कृतकं चाभिधानं यदन्यैरादिमदुच्यते ।
निमित्तप्रभवत्वेन सूत्रकारस्य तन्मतम् ॥

कठेन प्रोक्तमित्येवं तेन प्रोक्तमिति स्मृतेः ।
ग्रन्थश्च प्रोच्यते नार्थः स ह्यनुष्ठीयते नरैः ॥

तेनानुष्ठितमित्येवं यदि नाम स्मृतिर्भवेत् ।
कर्म काठकमुच्येत कठेनानुष्ठितं हि यत् ॥

कठेनाध्यापितं प्रोक्तमित्यर्थे तद्धितो यतः ।
स्मर्यते ग्रन्थनामातस्तस्याध्यापनसंभवात् ॥

गुणश्चापूर्वसंयोगे नामधेयं च भेदकम् ।
भेदोपयोगिना[1] तेन गुणनामत्वबोधयोः ॥

---

१. भेदोपयोगिता ।

प्राजापत्येषु यागानामेकानेकत्वसंशये ।
कृतः प्रकृतिवच्छब्दवाक्यशेषेण निर्णयः ॥
पशुसप्तदशत्वस्य न यागे यत्तया विना ।
सिद्धिरस्तीति चार्थेन सिद्धः संदिग्धनिर्णयः ॥

कर्मभेदस्यैव शेषत्वनिरूपणे हेतुता ।

एवमत्र प्रपञ्चेन पूर्वाध्यायार्थवर्णनम् ।
उत्तराध्यायसिद्ध्यर्थमनुक्रान्तमशेषतः ॥
शेषत्वे कर्मभेदात्तु नाधिकार्थोपयोगिता ।
तस्मात्स एव वृत्तोऽत्र संक्षेपेणोपसंहृतः ॥
ग्राह्यं न त्वेतदेकान्तात्संक्षेपोक्तिप्रयोजनम् ।
यतः पूर्ववदेवेह प्रपञ्चोऽप्युपयोक्ष्यते ॥
उपोद्घातोदितेनैव शेषत्वमभिधास्यति ।
भावार्थफलवत्त्वेन कर्मणामपि जैमिनिः ॥
तथा चापूर्वभेदेन कर्मभेदानुसारिणा ।
आज्यौषधादिधर्माणां व्यवस्थां साधयिष्यति ॥

तथा च—

प्रसक्तानुप्रसक्तोक्तमृग्यजुःसामलक्षणम् ।
श्रुतेर्जाताधिकारः स्यादित्यस्मिन्नुपयोक्ष्यते ॥

राक्षेपविस्मराभ्यां व्याख्यानवर्णनम् ।

तस्माद्विस्तरसंक्षेपावर्थमार्गाविभावपि ।
व्याख्यायामुपयुज्येते इति कश्चित्क्वचित्कृतः ॥
एवमर्थद्वये तावदथशब्दस्य वर्णितम् ।
संबन्धोऽध्याययोरुक्तो यद्वाऽर्थात्सिद्ध एव सः ॥
ततश्चापुनरुक्तत्वाद्वक्ष्यमाणार्थगोचरा ।
अधिकारार्थता वक्तुमथशब्दस्य शक्यते ॥

अथ शब्दस्याधिकारार्थनिरूपणम् ।

प्रथमाध्यायप्रथमसूत्रे हि धर्मज्ञानेच्छाया वक्ष्यमाणव्याख्येयत्वेनानुपन्यासादन्तरानुष्ठेयत्वमात्रमेवोपदेष्टव्यमित्यधिकारार्थत्वं नोक्तम् । यदपि तदुपसर्जनत्वेन धर्मज्ञानमुपात्तम्, तदप्यर्थव्याख्यानकरणात्स्वयमेव शिष्याणां भवतीति, न सूत्रकारभाष्यकारव्याख्यातृवचनोपात्ताधिकारकर्मत्वेनावधारितम् ।

वक्तृवाक्यगतं यत्तु स्यात्किंचिदधिकारभाक् ।
न जिज्ञासापदं तस्य श्रोतुः स्वार्थनिरूपकम् ॥
इह त्वध्यायरूपं वा तदर्थात्मकमेव वा ।
व्याख्यायामधिकर्तुं हि शक्यते शेषलक्षणम् ॥

अतः परं शेषलक्षणमधिकृतम् । तदादरेण श्रोतव्यम् । यतोऽध्यायान्तरावकाशोऽद्यापि नास्तीति । अतः शेषलक्षणमधिकृतं वेदितव्यमिति शक्यं वक्तुम् ।

अधिकारनिरूपणे क्रमपर्यन्तनिरूपणं हेतुः ।

शेषस्यैवाधिकारोऽत्र युक्तो नान्यस्य कस्यचित् ।
शेषधीसिद्धयपेक्षत्वादन्यलक्षणवाग्धियाम् ॥

सप्तमादिषट्कस्तावदुपदेशपूर्वकातिदेशविषयत्वादुपदेशे विचारार्थप्रथमषट्कसमाप्तिं प्रतीक्षते । तथाऽधिकारोऽपि यथोपदिष्टकर्मानुष्ठानसामर्थ्येन कर्तुरवधार्यंत इति क्रमनियमपर्यन्तोपदेशज्ञानोत्तरकालमारप्स्यते । तथा हि ।

भारो यो येन वोढव्यः स प्रागातोलितो यदा ।
तदा कस्तस्य वोढेति शक्यं कर्तृनिरूपणम् ॥
प्रयोजकवशौ चेष्टौ मुख्यप्रावृत्तिकक्रमौ ।
चतुर्थलक्षणादूर्ध्वं क्रमतश्चिन्तयिष्यते ॥
प्रयोजकोऽपि शेषाणां शेष्यन्यस्त्वप्रयोजकः ।
करिष्यते परा तस्मात्तच्चिन्ता शेषलक्षणात् ॥

शेषनिरूपणञ्च बहुप्रकारमिति वर्णनम् ।

तेनात्रैवेदमारभ्यमिति सिद्धेऽभिधीयते ।
प्रकारैर्बहुभिश्चेदं कर्तव्यं शेषलक्षणम् ॥
स्वरूप - हेतु - संबन्ध - तत्प्रमाण - बलाबलैः ॥
ननु ज्ञेया यथा शेषाः शेषिणोऽपि तथैव नः ।
नैकस्मिन्नप्यविज्ञाते व्यवहारो हि सिध्यति ॥

उच्यते—

ज्ञातव्या उभये सत्यं सूत्रणीया न तूभये ।
अर्थापत्त्या हि सिध्यन्ति द्वितीया एक लक्षणात् ॥
तत्र सूत्राणि शेषाणां किं कार्याण्युत शेषिणाम् ।
फलप्रयासतुल्यत्वात्प्रसज्येत यथारुचि ॥

प्राधान्याच्छेषिणां साक्षाद्युक्तं वा शेषिलक्षणम् ।
न तु तत्क्रियते तत्र कर्तव्यं हि द्वयं भवेत् ।।
शेषोऽस्यास्तीति मत्वर्थादेवं शेषी निरूप्यते ।
न स शेषमविज्ञाय ज्ञातुं शक्येत केनचित् ।।
तेनोपसर्जनस्यापि शेषस्यैवेह लक्षणम् ।
क्रियते शेषिणस्त्वर्थात्तज्ज्ञानेनैव सेत्स्यति ।।
श्रुत्यादिभिः प्रमाणैश्च शेषत्वस्यैव निर्णयः ।
शेषी तद्विषयत्वेन लक्ष्यते नान्तरीयकः ।।
श्रुत्यादिसमवाये च वक्ष्यते यद्बलाबलम् ।
तच्छेषिण्यविरुद्धत्वाच्छेषगोचरमेव नः ।।

तृतीयाध्यायप्रतिपाद्य विषयसंक्षेपः ।

तस्माच्छेषलक्षणमेव समस्ततद्गतप्रकारविशिष्टं वक्तुमिदं प्रतिज्ञातम् । 'अथातः शेषलक्षणम्' इति ।

तत्र कः शेष इति—स्वरूपाभिधानप्रतिज्ञा । केन हेतुनेति—येनासौ शेष इत्युच्यते । तस्य च कारकहेतोस्तद्धर्मस्यैव लक्षणं वक्ष्यत इति प्रतिज्ञायते । तथा विनियोगप्रकारज्ञानं—क्व शेषिणि कः शेषः कतमेन प्रमाणेन कतमत्प्रमाणान्तरं बाधित्वा, विना बाधेन वा विनियुज्यते । तथा विनियोजकश्रुत्यादिषट्कस्वरूपज्ञानम्, तेषां बलाबलज्ञानं च । तत्र प्रथमे पादे तावच्छ्रुतिविनियोगः । किञ्चिच्च प्रासङ्गिकम् । द्वितीयपादादौ लिङ्गविनियोगः । तृतीयपादादौ तदेव प्रमाणद्वयमुपन्यस्योपक्रमोपसंहारद्वारेणैकवाक्यत्वेन सिद्धान्तस्थापनाद्विनाऽपि वाक्यग्रहणेन 'प्रायदर्शनात्' इति वाक्यविनियोगमुक्त्वा, प्रकरणक्रमसमाख्याभिर्विनियोगः सूत्रोपनिबद्ध एव वक्ष्यते ।

ततो बलाबलाधिकरणम् । ततः परं च, श्रुतिलिङ्गवाक्यानां प्रकरणेन सह विरोधाविरोधचिन्ता तावद्यावत् 'तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः' इति । ततश्चतुर्णां क्रमेण सह पुनः सैव चिन्ता, यावत् 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' इति । तत उपोद्घातपूर्वकं पञ्चभिः सह समाख्याया विरोधाविरोधविषयविचारेणाध्यायपरिसमाप्तिः । एतत्तात्पर्येण, अन्यदुपोद्घातप्रसक्तानुप्रसक्तैरिति वक्ष्यमाणमनुसंकीर्त्यते । प्रदर्शितमुच्यमानं सुखं ग्राहयिष्यते । सर्वं चैतच्छेषलक्षणप्रतिज्ञयैव पिण्डीकृतप्रतिज्ञातमिति, न भेदेन सूत्रितम् ।। १ ।।

इति प्रथमं शेषप्रतिज्ञाधिकरणम् ।। १ ।।

तृतीय अध्याय का प्रथम पाद ।

भा० प्र०—भेदलक्षण नाम के पूर्व अध्याय में कर्मभेद विषयक विचार किया गया है। प्रकृत अध्याय में शेषलक्षण का विचार किया जायगा। शेष किसको कहा जाता है? किस कारण से वह शेष है? किस प्रकार उसका विनियोग होता है? उसके विनियोग का क्या-क्या कारण है? इन्हीं विषयों का इस अध्याय में विचार किया जायगा एवं इसी प्रसङ्ग में अन्य विषयों का भी विचार किया जायगा। कर्म के भेद विषय का विचार निष्पन्न होने पर ही शेषशेषिभाव का विचार सङ्गत होता है, क्योंकि, शेषशेषिभाव कर्मभेद सापेक्ष है। इसलिए भेदलक्षण का विचार कर शेषलक्षण का विचार आरम्भ किया जाता है। शेष का अर्थ अङ्ग होता है एवं शेषी का अर्थ अङ्गी होता है अर्थात् प्रधान।

"अथ" = भेद के निरूपण के बाद, "अतः" = यतः शेषशेषिभाव भेद निरूपण के अधीन होता है, इसलिए, "शेषलक्षणम्" = शेष का लक्षण अर्थात् अध्याय का आरम्भ होता है। यह प्रथम शेष प्रतिज्ञाधिकरण है ॥ १ ॥

अथ द्वितीयं शेषलक्षणाधिकरणम् ।

[२] शेषः परार्थत्वात् ॥२॥ सि०

शा० भा०—इह सूत्रे शेषस्य लक्षणम्, येन च हेतुना शेष इत्युच्यते, तदुभयमाख्यायते। यः परस्योपकारे वर्तते, स शेष इत्युच्यते। तद् यथा ये परार्थाः ते वक्तारो भवन्ति शेषभूता वयमिहेति। ननु योऽपि प्रधानभूतः, सोऽपि कदाचित्परार्थे वर्तते, यथोपाध्यायः प्रधानभूतः शिष्याणां विद्याविनयाधाने वर्तते। सत्यं वर्तते। यस्त्वत्यन्तं परार्थः। तं वयं शेष इति ब्रूमः। यथा, गर्भदासः कर्मार्थ एव स्वामिनोऽनड्वांश्च क्रीयते वक्ष्यतीत्येव। ननु गर्भदासस्यापि स्वामी संविधानो गुणभावमायात्[1]। नेति ब्रूमः। आत्मन एवासौ संविदधानो गुणभावं गच्छति। नान्तरीयकत्वादगर्भदासस्योपकरोति, अनडुहो वा। यस्त्वत्यन्तं परार्थस्तं वयं शेष इति ब्रूमः। अथ तत्र किं वृत्तं, यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत इति। तत्रापूर्वार्थता व्यावर्तिता दृष्टप्रयोजनानामाख्यातानाम्। इह तु सर्वेषामेव शेषाणां लक्षणमुच्यते ॥ २ ॥ शेषत्वकारणसहित—शेषलक्षणाधिकरणम् ॥ २ ॥

अथ द्वितीयं शेषलक्षणाधिकरणम् ।

त० वा०—किं च—शेषलक्षणमात्रोक्तावर्थात्स्याच्छेषिलक्षणम् ।
अतः शेषः परार्थत्वादित्युक्तं शेषलक्षणम् ॥

---

१. ब० गुणभावं यायात् ।

शेषशब्दस्यानेकाधिकाद्यर्थवचनत्वादिहाङ्ग-गुण-धर्मादिपर्यायवाचित्वपरिग्रहार्थं हेतुविशेषाभिधानं परार्थत्वादिति ।

अविनाभूतत्वादिलक्षणानां निराकरणमुखेन पारार्थ्यं लक्षणम् ।

यच्चान्यदविनाभावप्रयोज्यत्वादिकारणम् ।
तच्च सर्वं निराकर्तुं परार्थ्यमिह गृह्यते ॥

द्वावपि चार्थौ श्रुत्यर्थापत्तिभ्यामुपात्ताविति चोदनालक्षणसूत्र[1]वद्वाक्यभेददोषं परिहृत्य व्याख्येयम् ।

तथाहि—

न शेषोऽन्यः परार्थत्वान्न च हेत्वन्तरेण सः ।
अन्योन्यनियमेनैवं पक्षहेत्वोः परिग्रहः ॥

इह च—

शेषत्वं केचिदिच्छन्ति ह्यविनाभावलक्षणम् ।
प्रयोज्यलक्षणं त्वन्ये तदाधिक्येन चापरे ॥
अन्ये त्वन्ततया तस्य[2] विध्यन्तत्वपरिग्रहात् ।
उपकारेण शेषत्वं बहुभिश्चैव लक्षितम् ॥

तद्भावभावित्वेन तावद्यो येन विना न भवति, स तस्य शेषः । तद्यथाऽङ्कुर-स्तोयादिभिर्विना न भवति । घटश्च मृत्पिण्डदण्डचक्रादिभिरिति, तयोस्तानि शेषत्वेन ज्ञायन्ते । तत्रोच्यते ।

अयुक्तमेवं शेषत्वमविनाभावलक्षणम् ।
व्यभिचारात्तथाहीदमशेषेष्वपि दृश्यते ॥
सर्वदा ह्यविनाभूता रूपस्पर्शादयः क्षितौ ।
न चैषां तुल्यकल्पत्वाद्भवत्यन्योन्यशेषता ॥
स्वामिना च विना दासा न भवन्ति कदाचन ।
तथा गृहादयस्तेषां शेषः स्वामी च नेष्यते ॥
प्रधानानां प्रधानैश्च विनाभावो न दृश्यते ।
तत्र स्याच्छेषशेषित्वं तेषामपि परस्परम् ॥
एवमङ्गप्रधानानामङ्गानां च परस्परम् ।
प्रसज्येतैव शेषत्वमविनाभावलक्षणम् ॥
एतेनाध्ययनाधानकृषिद्रव्यार्जनादिषु ।
वाच्यं प्रसङ्गिशेषित्वं तैर्विना क्रत्वसम्भवात् ॥

---

१. क० तद्वाक्यभेद । २. क० त्वस्य ।

तस्मात्सत्यविनाभावे विनाभावेऽपि वा क्वचित् ।
प्रयोज्यो यस्य यस्तस्य स शेष इति निश्चयः ॥

प्रयोज्यत्वलक्षणस्य दूषणम् ।

न च स्वामी दासेन रूपस्पर्शादिभिर्वा यथोदाहृतैरन्योन्यं प्रयुज्यते, येनातिप्रसङ्गः स्यात् । न त्वेतदपि शेषत्वलक्षणं घटते । कुतः ?

लक्ष्यलक्षणयोर्दृष्टो व्यभिचारो द्वयोरपि ।
पुरोडाशकपालं हि न च तावत्प्रयुज्यते ॥
सिद्धेस्तुषोपवापेन शेषस्तत्तस्य चेष्यते ।
तथा होमाः प्रयुज्यन्ते भेदनस्कन्दनादिभिः ॥
निमित्तैर्न च तेष्वेषां होमानां शेषता मता ।

प्रधानविध्यधिकत्वविधानम् ।

तस्माद्यो विहिते यस्मिन्नधिकोऽन्यो विधीयते ॥
तस्य तं प्रति शेषत्वमतिरेकेण लक्ष्यते ।

सर्वत्रैव फलवत्प्रधानविधेरङ्गविधयोऽङ्गानि प्रधानेभ्योऽतिरिच्यन्त इत्येतदेवातिरेकलक्षणं शेषत्वं युक्तमित्युक्ते ।

अभिधीयते—

व्यभिचार्यतिरेकोऽपि प्रधानेष्वपि दर्शनात् ।
तान्यपि ह्यतिरिच्यन्ते शेषेभ्योऽधिकशेषवत् ॥

विध्यन्तविहितत्वमिति दूषणम् ।

अन्ये विध्यादिनिर्दिष्टप्रधानेभ्यः परान्विधीन् ।
दृष्ट्वाऽङ्गान्यध्यवस्यन्ति विध्यन्तत्वपरिग्रहात् ॥
विध्यन्तो वा प्रवर्तेत विकृतौ प्रकृताविव ।
विध्यन्तविहितांस्तत्र शेषान्वक्ष्यति जैमिनिः ॥

तस्माद्विध्यादिविहितप्रधानकथम्भावाकाङ्क्षापूरणसमर्थविध्यन्तविहितत्वलक्षणमेव शेषत्वं सूत्रकाराभिप्रेतमित्युक्ते ।

अभिधीयते—

उपक्रमोपसंहारमध्याम्नातेषु शेषताम् ।
विचित्रामुपलभ्यैतन्नेष्यते शेषलक्षणम् ॥

यदि हि नियोगतो वाक्यप्रकरणान्तेष्वेव व्यवस्थिताः शेषविधयः समाम्नायेरन्, तत एतदव्यभिचाराल्लक्षणमाश्रीयते । न त्वेवमाम्नायन्ते, त्रिष्वप्यादिमध्यावसानेषु समाम्नानात् ।

प्रधानादौ विधीयन्ते ये शाखाच्छेदनादयः।
विध्यादिविहितत्वात्ते नाऽऽप्नुयुर्दर्शशेषताम् ॥
कर्मणा सह चोद्यन्ते ये हविर्देवतादयः।
शेषास्तेऽपि न युज्येरंस्तदन्ताम्नानवर्जनात् ॥

अङ्गविध्युपक्रमेषु तावद्वाक्यप्रकरणेषु तद्गतर्किभावाकाङ्क्षितप्रयोजनकल्पनावेलायां कथम्भावाकाङ्क्षायुक्तप्रधानविधिदर्शनात्तदपेक्षितोपकारविद्धयर्थत्वेन तेषामवधार्यमाणानां विध्यादिगतानामपि शेषत्वमस्तीति, न विध्यन्तविधानमेवैकं शेषलक्षणत्वेनावकल्पते।

शेषं तस्यैव तं विद्यादुपकारेण लक्षितम्।
भवत्येवं च होमादेर्भिन्नादि प्रत्यशेषता ॥
न हि भिन्नोपकारार्थः स तद्ध्येवोपकारकम्।
वेदे च नान्यदङ्गत्वकारणं दृश्यते क्वचित् ॥

न ह्यनुपकुर्वत्किंचिदप्यङ्गं कस्यचिद्भवेत्। तस्मादुपपन्नमिदं लक्षणमिति। तथा चोपदिष्टादपि तत्र तत्र प्रदेशे भाष्यकारो वक्ष्यति—'यो यस्योपकरोति स तस्य शेषः। उपकारलक्षणं हि शेषत्वम्' इत्येवमादि।

तादर्थ्यमपि नैवान्यदुपकारात्प्रतीयते।
तेनोपकार एवैको विज्ञेयं शेषलक्षणम् ॥

उपकारकत्वमिति लक्षणस्य दूषणम्।

न त्वेतदपि घटते। कुतः।

एवं सति प्रधानानामङ्गानां च परस्परम्।
अङ्गाङ्गानां च सर्वेषां संकीर्येतैव शेषता ॥

यथैव ह्यङ्गानि प्रधानानामुपकुर्वन्ति, तथैवानुष्ठापनेनोपकारप्रतिग्रहणाच्च प्रधानान्यप्यङ्गानामुपकुर्वन्त्येव। कुतः ?

प्रधानैरप्रयुक्तानि कुर्यानाङ्गानि कश्चन।
उपकार्यैर्विना तानि नोपकर्तुं च शक्नुयुः ॥
प्रधानान्यप्यतोऽङ्गानामङ्गानि स्युरनुग्रहात्।
स्यादन्योन्योपकाराच्च तेषामन्योन्यशेषता ॥
नैकेनापि प्रधानेन विनाऽन्यैः साध्यते फलम्।
तेनैतान्युपकुर्वन्ति फलसिद्धौ परस्परम् ॥
तस्मात्परस्पराङ्गत्वमुपकारात्प्रसज्यते।
नायमङ्गकृतादेषामुपकाराद्विलक्षणः ॥

एवमङ्गानामप्यन्योन्यापादनं दर्शयितव्यम्। ततश्चैकप्रधानविकारेष्वेकाङ्गगमनेऽपि, समस्तसाङ्गप्रधानगमनादनियमः प्राप्नोति।

तथा द्रव्यार्जनाधानस्वाध्यायाध्ययनादिषु।
सर्वकर्माङ्गताप्राप्तिः कार्यैः सर्वोपकारिषु॥

न हि तदनुग्रहरहितं किञ्चित्सिध्यति। ततश्चार्थिमात्रविषयकामश्रुतिपरिग्रहात्। 'वसन्ते ब्राह्मणम्' इत्यादीनां निमित्तार्थत्वाच्छूद्राधिकारादिदोषप्रसङ्गः।

ज्ञातं च लक्षणं सर्वं लक्ष्यं लक्षयितुं क्षमम्।
तत्र दृष्टोपकाराणां तत्कृता शेषता भवेत्॥
अदृष्टार्थे तु संस्कारे पर्यग्निकरणादिके।
प्रयाजादिष्वपूर्वांशैस्तथाऽऽरादपकारिषु॥

अनवगतशेषत्वावस्थेषूपकारादर्शनात्, तदधीनावधारणं शेषत्वं न स्यात्। कल्पित उपकारे भविष्यतीति चेत्? न। प्रागङ्गत्वादुपकारकल्पनाप्रमाणाभावात्। यो हि यस्य फलस्य, फलवतो वा शेषत्वेनावधारितो भवति, स कथं तस्योपकरिष्यतीत्यपेक्षिते सति दृष्टमुपकारमपश्यद्भिस्तस्माददृष्टः परिकल्प्यते। यावत्तु शेषत्वमेव नावगम्यते, तावत्केन प्रमाणेनादृष्टकल्पना स्यात्। ततश्चेतरेतराश्रयः प्रसज्यते। तथाहि—

उपकारेण शेषत्वं शेषत्वाच्चोपकारिता।
स्वातन्त्र्येण प्रसिद्धं हि न ह्यन्यतरदेतयोः॥

दृष्टार्थानामपि चावहन्त्यादीनां नियमान्न कश्चिदुपकारो दृश्यत इति, न नियोगतोऽङ्गत्वं स्यात्। न च प्रासङ्गिकत्वाच्छास्त्रेणोपकारः प्रतिपाद्यत इति। प्रत्यक्षादिभिरेवोपकारं गृहीत्वा शेषत्वं गम्येत। ततश्च श्रुत्यादिप्रमाणकं शेषलक्षणं नैवानेनाऽऽश्रीयेत। तथा प्रासङ्गिकान्यन्यप्रयोजनान्यङ्गान्यन्यार्थान्यप्यन्यस्योपकारीणीति तन्त्रिप्रयोजकवदितरस्यापि शेषत्वं गच्छेयुः। तत्र 'प्रासङ्गिकं च नोत्कर्षेत्' 'प्रासङ्गिके प्रायश्चित्तं न विद्यते' 'न वाऽपात्रत्वादपात्रत्वं त्वेकदेशत्वात्' 'अपि वा शेषभाजां स्यात्' इत्यादिन्यायविरोधः। एवमेतस्मिन्नपि पक्षे सर्वं तन्त्रं विघटते।

अङ्गत्वलक्षणम्।

तस्मादुच्यते 'शेषः परार्थत्वात्' इति।

उपकारमलब्ध्वैव यो यदर्थोऽवगम्यते।
तादर्थ्यलभ्यशेषत्वः स तस्योपकरिष्यति॥

आह—किं तादर्थ्योपकारयोर्भेदोऽप्यस्ति? बाढमस्ति। कुतः?

अपकुर्वन्नपीष्टो हि तदर्थव्यपदेशभाक्।
उपकुर्वन्नपि त्वन्यस्तदर्थं इति नोच्यते॥

उद्देशमात्रेण तावत्तादर्थ्यप्रसिद्धिः। सा चोपकारापकारयोस्तुल्या। तद्यथा— मशकार्थो धूम इत्यपकारिण्यपि प्रयुज्यते। तथोपकुर्वन्नपि प्रसङ्ग्यप्रयोजकयोर्न तादर्थ्येन व्यपदिश्यते। न हि कश्चिदपि शालिकुल्यास्थमुदकं पिबन्मदर्थमेताः प्रणीता इत्यध्यवस्यति। तस्मादन्यत्तादर्थ्यम्, अन्यश्चोपकार इति विज्ञायते।

नन्वेवं सत्यपकारकोऽपि शेषः प्राप्नोति। लोके तावत्प्राप्नोतु नाम। वेदे पुनरनपेक्षितत्वान्न भविष्यतीति। यो हि तादर्थ्येनावधारितः, स किमुपकरिष्यति, संदिग्धे शेषिभिरपकारो नापेक्षित इति तं परित्यज्यापेक्षासामर्थ्यादुपकारः कल्प्यते।

आकाङ्क्षति प्रधानं हि न यावदुपकारकम्।
तावत्सामीप्ययुक्तोऽपि नाङ्गमित्यवधार्यते॥

न हि प्रयाजादयः सामीप्यमात्रेणैवोपकारनिरपेक्षास्तादर्थ्यं प्रतिपद्यन्ते। तस्मादुपकारपूर्वकमेव तादर्थ्यमिति, स एव शेषत्वकारणं प्राप्नोति। नैष दोषः।

श्रुत्या तावत्तदर्थत्वं क्वचित्पूर्वं प्रतीयते।
अन्यत्राप्युपकारित्वादपेक्षामात्रपूर्वकम्॥

'दशापवित्रेण ग्रहं संमार्ष्टि' 'व्रीहीन्प्रोक्षति' इत्यादिषु तावच्छ्रुत्यैव तादर्थ्येऽभिहितेऽङ्गत्वमवधार्योपकारः कल्प्यते। यत्रापि तु प्रयाजादौ तादर्थ्याभिधानाभावादुपकारपूर्वकत्वं लक्ष्यते, तत्राप्यपेक्षामात्रमेव तस्य, प्रथमं न निष्पत्तिः। न ह्यनवगताङ्गत्वेषु प्रयाजादिषूपकारदर्शनं कल्पनं चास्तीत्युक्तम्। अतो दर्शपूर्णमासयोरुपकारमपेक्षमाणयोः प्रयाजादिषु चोपकार्यमपेक्षमाणेष्वनिष्पन्नावस्थ एवोपकारे प्रकरणात् तादर्थ्यं तावत्प्रतीयते। तदन्यथानुपपत्तिमात्रेणोपकारकल्पना। तेनोपकारापेक्षामात्रमिह तादर्थ्यप्रमाणानुमाने व्याप्रियते। नोपकारादेव शेषत्वं तादर्थ्यं वेत्यनवद्यम्। एवं च सति श्रुत्यादीन्येव तादर्थ्यप्रतिपादनरूपेण शेषस्य विनियोजकानीति तद्विवेकार्थं लक्षणमारब्धव्यम्। सत्यपि चाङ्गप्रधानादीनामुपकारसंकरेऽतादर्थ्यादसंकरस्थितिसिद्धिः। तस्मात्परार्थत्वलक्षणमेव शेषत्वं निर्दोषम्।

यः परस्योपकारे वर्तत इति—पारार्थ्यमेवोपकारेण फलेनाभिधीयत इत्यवगन्तव्यम्, न त्वत्रैव लक्षणोक्तिभ्रान्तिः[1] कर्तव्या। तथा च स्फुटीकरोति **ये परार्थास्ते वक्तारो भवन्तीति**। परः पुनरुपकारलक्षणभ्रान्त्या वदति [2]**यथोपाध्यायः शिष्याणामिति। सत्यं वर्तत** इति तादर्थ्योपकारव्यतिकरदर्शनादिहालक्षितं[3] शेषत्वमित्युपेक्ष्यैतदुदाहरणमैकान्तिकपारार्थ्ययुक्तमुदाहरति तद्यथा **गर्भदास** इति। स ह्युत्पत्त्यैव स्वाम्यर्थेन प्रसिद्धः। अनड्वांश्च वहनार्थतया। न तु स्वामी तादर्थ्ये-

१. क० लक्षणभ्रान्तिः। २. क० ननूपाध्यायः। ३. क० व्यतिरेक।

नावगम्यत इति विवेकः। परस्तु तत्राप्युपकारकत्वादस्त्येव कश्चित्तादर्थ्यलेश इति प्रत्यवतिष्ठते—**ननु गर्भदासस्यापीति**। सिद्धान्तवादी त्वाह—**आत्मन एवासौ संविदधान** इति। उद्देशेन हि तादर्थ्यं विविच्यते। न च स्वामिनो गर्भदासाद्युद्देशेन तदुपकाराय प्रवृत्तिः। किं तर्हि ? स्वार्थसिद्धिप्रयुक्ता, नान्तरीयकतत्संविधानादशेषत्वम्। **यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यत इति**—पुनरुक्तशङ्कयोपन्यासः।

ननु च तदध्यायोक्तेनैव लक्षणेन गतार्थत्वान्नात्र वक्तव्यम्। अत आह—तत्राऽपूर्वार्थता व्यावर्तितेति। तत्र केचिदेवं व्याचक्षते। तत्र दृष्टार्थानामवहन्त्यादीनां शेषत्वमुक्तम्। इह तु सर्वेषामेव दृष्टार्थानाम्, अदृष्टार्थानां च द्रव्यविषयाणां, कर्मविषयाणां च शेषाणां लक्षणमुच्यत इति। एवं तु सति एतस्यापुनरुक्तता स्यात्। तत्पुनरेतेन गतार्थमित्यपहृतमेव। तस्मादेवं वर्णयितव्यम्—**अथ तत्र किं वृत्तं यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यत इति**।

तदभिधीयते—

हन्त्यादावपि शेषत्वमेतस्मादेव लक्षणात्।
दृष्टार्थत्वादपूर्वं तु ततो नेति पुरोदितम्॥

सर्वविषयव्यापि शेषत्वमिह[1] लभ्यमेव तत्र नीतमपूर्वभेदनिराकरणार्थम्। अथवा पूर्वोक्तं गुणप्रधानभावलक्षणमनपेक्ष्याऽपूर्ववत्संप्रति कारणान्तरनिरासेन परार्थत्वलक्षणे शेषत्वेऽभिहिते 'यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते' इत्यनेनोपकारलक्षणाभ्युपगमाद्विरोधमाशङ्क्य परिहरति। तत्रापूर्वभेदकल्पनानिवृत्त्यर्थमुपकारदर्शनमुक्तम्, न शेषलक्षणत्वेन। अत्र पुनः सर्वशेषाणां पारमार्थिकं लक्षणमेवोच्यत इति भिन्नविषयत्वादविरोध इति॥२॥

(इति द्वितीयं शेषत्वनिर्वचनाधिकरणम्॥२॥)

भा० प्र०—इस सूत्र में शेष का लक्षण एवं उसके हेतु का निरूपण किया जाता है। उनमें हेतु श्रौत है और लक्षण आर्थिक है। कतिपय आचार्य कहते हैं—लक्षण श्रौत है और हेतु आर्थिक है। जो परार्थ अर्थात् दूसरे के ही प्रधान के प्रयोजन अर्थात् उपकार का निर्वाह करता है—वहीं शेष है—यही शेष का हेतु है।

"शेषः" = शेष अर्थात् अङ्ग, "परार्थत्वात्" = यतः परार्थता, प्रधान के प्रयोजन की निर्वाहकता है। परार्थ का नाम शेष है, यतः वह परार्थ है अतः, वह शेष है।

यह द्वितीय शेषत्वनिर्वचनत्वाधिकरण अर्थात् शेषलक्षणाधिकरण है॥ २॥

---

१. क० इहत्यमेव।

अथ तृतीयं बादर्यधिकरणम् ।

[३] द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः ॥ ३ ॥ पू०

शा० भा०—बादरिराचार्योऽत्र द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव शेषशब्दः इति मेने, न यागफलपुरुषेषु । द्रव्यं क्रियार्थम् । यदि प्रयोजनवती क्रिया, व्यक्तं सा द्रव्येण निर्वर्तयितव्या । तस्या निर्वृद्धिर्द्रव्यादृते न भवतीति, तन्निर्वृत्तये द्रव्यमेषितव्यं भवति । तस्मात्क्रियार्थं द्रव्यम् ।

गुणः शक्नोति विशिष्टं द्रव्यं चोदितं लक्षयितुम् । लक्षितेन च तेन प्रयोजनम्, विशिष्टस्य क्रियासाधनत्वात् । तस्मात्सोऽपि द्रव्यद्वारेण क्रियाया उपकरोतीति क्रियार्थ एव ।

संस्कारो नाम स भवति, यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य । तेनापि क्रियायां कर्तव्यायां प्रयोजनमिति, सोऽपि परार्थः । तस्माद् गुणसंस्काराः परार्थत्वाच्छेषभूता, न तु यागफलपुरुषाः ।

यागस्तावत्कर्तव्यः पुरुषस्य । न हि तस्मिन्निर्वर्तिते किंचिदपरमस्ति कर्तव्यम् । स हि पुरुषार्थः । यदन्यद्द्रव्यादि, तत् तदर्थम्, तस्य शेषभूतम् । स तु न किंचिदभिनिर्वर्तयितुं क्रियते । फलमपि न तेन क्रियते । तस्मिंस्तु कृते स्वयमेव तद्भवति । तस्मिन्कृते फलमस्य भवतीत्येतावद्गम्यते । नास्ति शब्दो यागेन क्रियते फलमिति । तस्माद्यागो न शेषभूतः कस्यचिदर्थस्य ।

फलमपि न पुरुषं प्रत्युपदिश्यते । यः स्वर्गं कामयते, स यागं कुर्यादित्येतावच्छब्देनोपदिश्यते, नाऽऽत्मनः परस्य वेति । स्वर्गं प्रतीच्छामात्रेण स्वर्गकाम इति भवति । तस्मात्पुरुषं प्रति गुणभावेन न श्रूयते स्वर्गः । तस्मात्सोऽपि न शेषभूतः । न चेत्फलयागौ गुणभावेन चोद्येते, कस्य पुरुषः प्रधानभूतो भवति । प्रत्यक्षश्चास्य द्रव्यत्वात्कर्म प्रति गुणभावः । तस्माद् 'द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव शेषभावं बादरिर्मेने' इति ॥ ३ ॥

अथ तृतीयं बादर्यधिकरणम् ।

त० वा०—इदानीं शेषत्वस्य विषयं कथयति । तत्र बादरिमतेन तावत्त्रय एव शेषाः । द्रव्यं हि 'द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसंबन्धः' इति स्वभावत एव[1] शेषभूतं, नियमान्निष्प्रयोजनत्वेन केवलं व्यावर्त्यते । गुणोऽप्यरुणादिः क्रियायाः स्वसाधनभूतद्रव्यपरिच्छेदसामर्थ्यादुत्पत्त्यैव शेषः । तथा संस्कारोऽप्यवहन्त्यादिर्यागसाधनपुरोडाशादिनिर्वृत्तये चोदितानां व्रीह्यादीनां स्वरूपेणायोग्यत्वादवहतानां योग्यत्वमापादयन्नुत्पत्त्यैवाङ्गं भवतीति ।

१. क० एतत्पदंनास्ति ।

न तु यागादावौत्पत्तिकं शेषत्वं दृश्यते। न च शब्देन चोद्यते। यागस्तावत्सर्वकारकैरनुष्ठीयते। न चान्यत्र व्याप्रियमाणो दृश्यते। फल इति चेत्? न। चिरनिर्वृत्ते यागे फलोत्पत्तिप्रतीतेः।

ननु च भावार्थाधिकरणे करणत्वं यागस्योक्तम्। सत्यमुक्तम्, न तु साधितम्। स्वर्गकामाधिकरणाधीनसिद्धिना तेन नामपदकरणत्वमात्रनिराकरणात्। अत इदानीमसिद्धावस्थेनैव करणत्वेन व्यवहरति। फलमपि यागं साध्यमानत्वात्प्रधानं, पुरुषं प्रति त्वस्य शेषभावो नैवोपात्तः, काम्यमानत्वेन सुतरां प्रधानत्वात्। पुरुष एव तु कामं द्रव्यत्वाद्यागे गुणत्वेन स्यात्। तस्माद् द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव शेषभाव इति ॥३॥

भा० प्र०—शेष शब्द का प्रयोग निरूपण के लिए आचार्य कोटि का मत प्रदर्शित किया जा रहा है। बादरिनाम के आचार्य के मत में द्रव्य, गुण एवं संस्कार में ही शेष शब्द का प्रयोग होता है। उनके मत में जो दूसरे का उपकारी होता है, उसे ही शेष कहा जाता है। कपाल आदि द्रव्य क्रिया के निष्पादक होने से उसको शेष कहा जाता है। अरुणिमा आदि गुण भी उससे विशिष्ट द्रव्य से क्रिया का उपकार करते हैं, अतः, उसको भी शेष कहा जाता है। अवघात, प्रोक्षण, आदि संस्कार भी द्रव्य का दोष हटाकर एवम् गुणान्तर का आधान कर उसको कर्म के उपयुक्त मानते हैं। अतः, वे भी दूसरे का उपकार करते हैं, अतः शेषपदवाच्य हैं। किन्तु, कर्म, फल एवम् पुरुष ये किसी के भी उपकारक नहीं हैं, अतः, इनको शेष नहीं कहा जाता है। याग पुरुष का कर्तव्य है। उसका निष्पादन करने पर ही होगा। अतः, याग किसी के उपकार में नहीं आता है, अतः, वह शेष नहीं है। इसी प्रकार फल भी पुरुष के लिए उपदिष्ट नहीं होता है, किन्तु जो व्यक्ति स्वर्गफल की कामना करता है—वह याग करता है—यही शास्त्र का वक्तव्य है। इसलिए, फल किसी का भी उपकारक न होने से शेष नहीं है। इसी प्रकार पुरुष भी स्वप्रधान होने से किसी का शेष नहीं है। अतएव द्रव्य, गुण एवम् कर्म ये तीन ही शेष हैं, याग, फल एवम् पुरुष ये शेष नहीं हैं।

"द्रव्यगुणसंस्कारेषु" = द्रव्य, गुण एवं संस्कार में शेष शब्द का प्रयोग होता है, "बादरिः" = बादरि नाम के आचार्य का यह मत है ॥ ३ ॥

कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात् ॥ ४ ॥ सि०

शा० भा०—जैमिनिस्तु खल्वाचार्यः कर्माण्यपि शेषभूतानि मन्यते स्म। न बादरिरिवावधारणामनुमेने। स हि ददर्श, न यागः कर्तव्यतया चोद्यते। फलकामस्य तु तत्साधनोपायत्वेनेति। एवं श्रुतोऽर्थः परिगृहीतो भविष्यति। अर्थवांश्चोपदेशः। एनमेवार्थं षष्ठेऽध्याये सूत्रैरेव साधयिष्यति। इह तु तत्सिद्धे-

नैव फलार्थत्वेन शेषभावं यागस्याऽऽपादयति[1] स्म। तस्मादनवधारणा, द्रव्य-गुण-संस्काराः शेषभूताः। यागोऽपि शेषभूतः फलं प्रतीति ॥ ४ ॥

त० वा०—गतार्थमेतत् ॥४॥

भा० प्र०—अन्य आचार्यों का मत कह कर शेष के सम्बन्ध में जैमिनि स्वमत का प्रदर्शन कर रहे हैं—"कर्माणि अपि"। कर्म शेष पद का वाच्य नहीं है—यह कहना उचित नहीं है। कारण कर्म फल के लिए हैं, क्योंकि फल की प्राप्ति के लिए ही कर्म किया जाता है, याग आदि कर्मों से फल सिद्ध होता है, अतः, फल कर्म का प्रयोजन होने से कर्म का शेष है। यतः उपकारित्व ही शेषत्व का लक्षण नहीं है, कारण, यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से दुष्ट है। अतः, परार्थत्व ही शेषत्व हैं। कर्म फल का निष्पादन करता है, अतः, परार्थ ही होता है।

"कर्माणि अपि" = कर्म भी, "जैमिनिः" = आचार्य जैमिनि शेष का निरूपण कर रहे हैं, "फलार्थत्वात्" = यतः कर्म भी फल के लिए अर्थात् फल के उपकारी हैं, अतः, वे भी शेष हैं ॥ ४ ॥

फलं च पुरुषार्थत्वात् ॥ ५ ॥

शा० भा०—फलमपि पुरुषं प्रत्युपदिश्यते। यः स्वर्गो मे भवेदित्येवं कामयते, तस्य यागः। न यः स्वर्गः, स आत्मानं लभेतेति। कुतः? आत्मनेपद-प्रयोगात्। कर्त्रभिप्राय[2] एतद्ब्रवीति। क्रियाफलमनुभवेत्कथं पुरुष इति, यागः प्रयुज्यते। तस्मात्फलं पुरुषार्थं यागाच्छ्रूयते, नाऽऽत्मनिर्वृत्त्यर्थम्। तस्माच्छेष-भूतमिति ॥ ५ ॥

त० वा०—कामगदोपादानादेव फलस्य पुरुषार्थत्वं गम्यते। न हि कश्चिद् बुद्धिपूर्वकार्येवं कामयते स्वर्ग आत्मानं लभतामिति। किं तर्हि? ममोपभोग्यः स्यादिति। पुनश्चाऽऽत्मनेपदनिर्देशात्कर्तुरेवोपभोग्यो, नान्यस्येति गम्यते। तेनोप-भोक्तारं प्रति फलमपि शेषभूतम् ॥५॥

भा० प्र०—कर्म के समान फल भी शेष है, क्योंकि, उसमें परार्थतारूप शेष लक्षण समन्वित होता है, इसमें पुरुष का फल हो सकता है और उस पुरुष का प्रयोजन फल है। इसलिए, फल पदार्थ होने से भी शेष है। अनुष्ठाता पुरुष फल का भोक्ता होने से फल पुरुष का गुणभूत है। यही विधिविभक्ति के आत्मनेपद से अवगत होता है। इसलिए, याग के द्वारा फल निष्पन्न होने पर भी वह स्वप्रधान नहीं है, अतः, फल शेष नहीं है—यह मत नहीं माना जाता है।

"फलं च" = फल भी शेष, "पुरुषार्थत्वात्" = क्योंकि, वह पुरुषार्थ है ॥ ५ ॥

---

१. ब० यागस्योपपादयति स्म।　　　२. ब० कर्त्रभिप्राये क्रियाफले।

पुरुषश्च कर्मार्थत्वात् ॥ ६ ॥

शा० भा०—पुरुषोऽप्यौदुम्बरीसंमानादिषु गुणभूतः श्रूयते। तस्मादवधारणैषा द्रव्यगुणसंस्कारेषु शेषत्वं बादरिर्मेन इति।

अथेदानीमत्र भगवान्[1] वृत्तिकारः परिनिश्चिकाय। द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव नियतो यजिं प्रति शेषभावः। आपेक्षिक इतरेषाम्। यागस्य द्रव्यं प्रति प्रधानभावः, फलं प्रति गुणभावः। फलस्य यागं प्रति प्राधान्यं, पुरुषं प्रति गुणता। पुरुषस्य फलं प्रति प्रधानता, औदुम्बरीसंमानादि प्रति गुणत्वम्। तस्मात्संमताऽवधारणा[2]। द्रव्यगुणसंस्कारा यागं प्रति नियोगतो निर्देशा गुणभूता एवेति ॥ ६ ॥ शेषत्वस्य लक्ष्याधिकरणम् ॥ ३ ॥

त० वा०—पुरुषोऽपि यजेतेत्याख्यातेन गुणभूत आक्षिप्तः। औदुम्बरीसंमानादौ विहित इति शेषः। एवं चतुःसूत्रेणाधिकरणेन समस्तः शेषत्वविषयः प्रतिपादितः।

अत्र चोद्यते। यत्तावद् 'द्रव्यगुणसंस्कारेषु' इत्यत्र न तु यागफलपुरुषेषु शेषत्वमित्यभिधाय, अन्ते पुरुषस्य शेषित्वनिराकरणं तदसंबद्धम्। यत्तु 'प्रत्यक्षश्चास्य द्रव्यत्वात्कर्म प्रति गुणभावः, इति। तदपि व्याहतं, पुनरुक्तं च, पूर्वमेवाभिहितत्वात्। न च यागफलाभ्यां शेषत्वनिराकरणवद्भ्यां सहास्यातुल्यप्रवृत्तित्वादुच्चारणं युक्तम्। तस्मादसदेतत्।

यदप्यधिकरणसमाप्तावुक्तम्—अथेदानीमत्र भगवान्वृत्तिकारः परिनिश्चिकायेति। तदपि प्रथममेव द्रव्य-गुण-संस्काराणां निरपेक्षशेषत्वाभिधानात्कर्मफलपुरुषाणां च द्रव्यादीनि प्रति प्राधान्येऽवस्थिते, सूत्रैरेव परस्परापेक्षशेषत्वप्रतिपादनादुक्तार्थमिति मन्दफलं दृश्यते।

तेनैवं परिहर्तव्यम्। अस्याधिकरणस्य व्याख्यानद्वयं कृतम्। तत्र प्रथमं तावत्स्वमतेन 'शेषः परार्थत्वात्' इत्यभिहिते बादरिमतमुपकारलक्षणशेषत्वाभिप्रायेण द्रव्यगुणसंस्कारेष्वेव शेषत्वमित्येवं पूर्वपक्षीकृत्य, जैमिनिमतमेव सिद्धान्तत्वेन वर्णितम्। तथा च पूर्वत्र दृष्टोपकारानुक्रमणमेव भाष्ये दृश्यते। तत्र च पुरुषस्य द्रव्यत्वात्प्रत्यक्षमेव क्रियानिर्वृत्तिहेतुत्वादिष्टमेव, शेषत्वम्, यागफलयोस्तु न किंचित्प्रति प्रत्यक्षं साधनत्वमुपलभ्यत इत्यशेषत्वम्।

यत्तु न यागफलपुरुषेष्विति त्रयाणामपि भाष्ये संकीर्तनं, न तत्प्रकृतशेषपदानुषङ्गादेवं कल्पयितव्यं, न तेषां शेषत्वमिति। किं तर्हि? यत्सिद्धान्तवादिसंमतं त्रयाणामपि भाष्ये संकीर्तनम्, न तत्प्रकृतशेषपदानुसङ्गादेवं कल्पयितव्यं, न तेषां

---

१. क० शेषान्। २. तस्मात्सम्यगवधारणा।

शेषत्वमिति । किं तर्हि ? यत्सिद्धान्तवादिसंमतं तन्न भवतीत्येवं संबन्धः । सर्वत्र हि पूर्वपक्षवादिना सिद्धान्तवादिमतं प्रतिषेद्धव्यं न यत्किंचित् । शेषत्वमेव हि असौ तदभिप्रेतमेवेति प्रतिषेधति, न स्वरूपमात्रेण । सिद्धान्तवादिनश्चैतन्मतं, यदुत यागफलपुरुषाणां द्व्याकारत्वं-किंचिदपेक्ष्य शेषत्वं, किंचिदपेक्ष्य शेषित्वमिति तद् बादरिमतानुसारी भाष्यकारः प्रतिषेधति । न तु यागफलपुरुषेषु सिद्धान्तवादिसंमतं द्व्याकारत्वम् । यागफलयोरेकान्तेनैव शेषित्वात्पुरुषस्य चात्यन्तशेषत्वात् । सर्वथा य एवैक आकारः प्रतिषिद्धस्तेनैव तद् द्व्याकारत्वनिराकरणं शक्यमिति त्रयाणामप्येतावता तुल्यधर्मत्वात्सह निर्देशः 'कर्माण्यपि जैमिनिः' इत्यादिभिरन्तर्णीतद्व्याकारमेव शेषत्वं प्रतिपादितम्, पारार्थ्यलक्षणशेषत्वाङ्गीकरणात् ।

नन्वेवं सति पुरुषष्य द्रव्यत्वात्पूर्वपक्षवादिनैवाभ्युपगम्य[1] शेषत्वं, शेषित्वे निराकृते सिद्धान्तवादिना तदेव प्रतिपादनीयमिति न वक्तव्यं 'पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्' इति । नैष दोषः । तेन हि यागफलयोरशेषत्वात्तस्य शेषित्वं निराकृतम् । ततश्च यावदेव [2]सूत्रद्वयेन यागफलयोः शेषत्वं प्रतिपादितम्, तावदेव यागोपसर्जनं फलं प्रति प्रधानत्वादुभौ प्रति केवलं शेषित्वमेव प्रसक्तमिति, प्रलीने द्व्याकारत्वे पुनः शेषत्वप्रतिप्रसवार्थमुच्यते 'पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्' इति ।

अथवा परेणोपकारद्वारेण शेषत्वमभ्युपगतं तदयुक्तं मन्यमानः फलयागयोरिवास्यापि परार्थ्यकृतमेवेति प्रतिपादयिष्यन्नाह—'पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्' न तदुपकरित्वादिति ।

वृत्तिकारमतेन सूत्रचतुष्टयमन्यथा व्याख्यास्यन्नाह—'अथात्र भगवान्' इति । नैवेदानीं बादरिमतं पूर्वपक्षः । किं तर्हि ? 'शेषः परार्थत्वात्' इति सामान्येन लक्षणमुक्त्वा, तस्यैवं विषयप्रदर्शनद्वारेणोत्तरः प्रपञ्चः क्रियते । तत्र पूर्वव्याख्यायां द्रव्यसंस्कारेष्वेव शेषत्वमित्येवमवधारणं पूर्वपक्षे कृतम् । तदानीं तु सिद्धान्तरूपेणैव बादरिमतमप्रतिषेधेनानुमतं कृत्वा लक्षणप्रपञ्चाभ्यां शेषत्वं वर्णयिष्यते । द्रव्यगुणसंस्कारेषु शेषत्वमेवेत्यवधारयति । अतश्च द्रव्यगुणसंस्काराः शेषत्वेन नियताः, शेषित्वं न प्रतिपद्यन्ते । शेषत्वं पुनरनियतत्वाद्यागफलपुरुषेष्वप्यस्त्वेवेति तत्प्रतिपादनार्थान्युत्तरसूत्राण्यवकल्पन्ते । तस्मादापेक्षिकशेषशेषित्वमात्रमेवैभिः सूत्रैः प्रतिपाद्यते । तथा च भाष्ये दर्शितम् । ततश्च द्विप्रकार एष शेषविषयो नैयमिक आपेक्षिकश्चेत्युक्तं भवति ।

ननु च द्रव्यगुणसंस्काराणामपि स्वाङ्गानि प्रति प्रधानत्वाद्यागं च प्रति गुणभावादापेक्षिकमेव शेषशेषित्वम् । तथा हि—

---

१. क० अभ्युपगम्यते । २. क० पूर्वसूत्रद्वयेन ।

व्रीह्यादीनां प्रधानत्वमवघातादिषु स्थितम् ।
मुसलादीन्यपेक्ष्यैवमवघातप्रधानता ॥

व्रीह्यादयो ह्यवघातादीन्प्रति प्रधानभूताः पुरोडाशनिर्वृत्तिं प्रति गुणभूताः । तथा गुणः संख्यादिः संख्येयं प्रति परिच्छेदाच्छेषः । येषां तु गुणानां निष्पाद्या सा, तान्प्रति शेषिणी । तथा संस्कारः संमार्गावघातादिरग्निव्रीह्यादेः शेषः, स्वसाधनानामिध्मसंनहनोलूखलमुसलादीनां शेषी । तस्मान्नावधारणं सिध्यतीति ।

तदुच्यते—

द्रव्यादेर्यत्र शेषत्वं तत्र नैवास्ति शेषिता ।
फलयागनराणां तु द्व्याकारत्वं परस्परम् ॥

द्रव्यगुणसंस्कारा हि फलवन्तं यागं प्रति नियोगतः शेषभूताः । सत्यपि स्वाङ्गानि प्रति शेषित्वे, तं प्रति नास्तीत्यभिधीयते । अत एव भाष्यकारोऽपि 'नियोगतो यजिं प्रति शेषभावः' इत्याह । न ब्रवीति नियतः शेषभाव इति । 'आपेक्षिक इतरेषाम्' इत्यत्रापि यजिं प्रतीत्यनुवर्तते । तथा ह्येकैकस्य द्वौ द्वौ प्रति गुणत्वं प्राधान्यं च दृश्यते । यागस्य तावद् द्रव्यात्मकं निर्वर्तकं पुरुषं प्रति प्राधान्यं, फलं प्रति गुणता । यश्च फलं प्रति गुणः, स[1] शक्यते फलस्य स्वामिनं पुरुषमपि प्रति सुतरां गुण इति वक्तुम् । यथा तस्य पुरुषं प्रति प्राधान्यं, तस्य तदुपसर्जनं फलं प्रति सुतरां तदित्यपि शक्यनिरूपणम् ।

एवं फलस्य यागं प्रति प्राधान्यात्तत्साधनं पुरुषमपि प्रति प्राधान्यम्, पुरुषं प्रति गुणत्वात्तदनुष्ठेये यागेऽपि गुणत्वम् ।

तथा पुरुषस्य फलं प्रति प्राधान्यात्तत्साधनं यागमपि प्रति प्रधानत्वम् । यागं च प्रति गुणभावात्तत्साध्ये फलेऽपि गुणत्वम् । न त्वेवं द्रव्यगुणसंस्कारेष्विति विशेषः ।

यत्त्विदं पारम्पर्येणापि शेषत्वं, प्राधान्यं चोक्तम्, इदमर्थलक्षणं वस्तुमात्ररूपेणेत्यवगन्तव्यम् । न व्यवहारार्थम् । मा भूदङ्गत्वांशेन विकृतौ फलपुरुषयोरपि अतिदेशात्सिद्धान्तविरोधः । तस्मादेतावत्प्रकार एव वक्ष्यमाणप्रपञ्चशेषत्वविषयसंक्षेप इति सिद्धम् ॥ ६ ॥

(इति तृतीयं शेषत्वस्य लक्ष्यनिर्देशाधिकरणम् ॥ ३ ॥)

भा० प्र०—स्थल विशेष में पुरुष भी शेष होता है, यही इस सूत्र में कहा गया है। "औदुम्बरी पुरुषसम्मित अर्थात् पुरुष का परिमाणविशिष्ट होगा" इत्यादि स्थल में पुरुष भी गुणभूत होने से वह भी परार्थ है। इस कारण पुरुष भी शेष अर्थात् अङ्ग

१. क० स इति ।

होता है। अतः, केवल द्रव्य, गुण एवं संस्कार ही शेष हैं—यह नहीं है, किन्तु, याग, फल एवं पुरुष भी शेष पद वाच्य है।

भगवान् भाष्यकार ने इस स्थल में वृत्तिकार भगवान् उपवर्ष के मत उद्धृत कर कहा है कि द्रव्य, गुण एवं संस्कार—ये निरपेक्षशेष अर्थात् ये सदा याग का ही शेष अर्थात् अङ्ग होता है और याग, फल एवम् पुरुष का शेषत्व, वह आपेक्षिक—अर्थात् किसी की तुलना में शेष एवं किसी की तुलना में शेषी = अङ्गी होता है।

"पुरुषः च" = पुरुष भी शेष, "कर्मार्थत्वात्" = यतः पुरुष भी कर्म के लिए अर्थात् "औदुम्बरीसम्मान" आदि कर्म में गुणभूत होने से श्रुति मध्य में उपदिष्ट होता है॥ ६॥

यह तृतीय शेषत्वलक्ष्य निर्देशाधिकरण है।

अथ चतुर्थं तेषामर्थाधिकरणम्।

[४] तेषामर्थेन सम्बन्धः॥ ७॥ सि०

शा० भा०—स्तो दर्शपूर्णमासौ 'दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत' इति। तत्र श्रूयन्ते धर्माः—निर्वपणं, प्रोक्षणमवहननमित्येवमादय औषधधर्माः। तथोत्पवनविलापनग्रहणासादनादय आज्यधर्माः। तथा शाखाहरणम्, गवां प्रस्थापनम्, गवां प्रस्नावनमित्येवमादयोऽपि सान्नाय्यस्य। तेषु संदेहः—किं सर्वे औषधे आज्ये सांनाय्ये च कर्तव्याः, उत ये यत्र क्रियमाणा अर्थवन्तस्ते तत्र कर्तव्या इति। ननु संयुक्ता एवैते श्रूयन्ते। यथा 'व्रीहीनवहन्ति, तण्डुलान्पिनष्टि' इति। बाढं संयुक्ताः। अवघातादयस्तु पदार्था विधीयन्ते श्रुत्या। वाक्येनेषां व्रीह्यादिसंयोगः। अतोऽस्ति संशयः। किं तावत्प्राप्तम् ? तेषामर्थेन संबन्धः। अर्थेन—प्रयोजनेन। ये यत्र क्रियमाणाः प्रयोजनवन्तः। ते तत्र कर्तव्याः। प्रथनादय आज्य-सांनाय्ययोरनुपकारका इति, न तत्र करणीयाः। एवमुत्पवनादय औषध-सांनाय्ययोः। शाखाहरणादय आज्यौषधयोः।

ननु श्रूयन्ते सर्वे सर्वत्र। एतदेव न जानीमः श्रूयन्ते, न श्रूयन्त इति। तद्विचारयितव्यम्। यद्यपि श्रूयेरन्, तथाऽप्यनुपकारकत्वान्नैव कर्तव्या भवेयुः॥ ७॥

अथ चतुर्थं तेषामर्थाधिकरणम्।

त० वा०—उक्तः सहेतुः सविषयश्च शेषः। इदानीं कथ च विनियुज्यन्ते ? इत्ययमंशो विचार्यते। तत्र त्रिष्वधिकरणेषु क्रमेण संस्कार-द्रव्य-गुणानां विनियोगः कथ्यते। तत्रापि किल प्रथमे लिङ्गेन, द्वितीये वाक्येन, तृतीये श्रुत्या विनियोग इति केचित्।

तत्र केषाञ्चिन्मतोपन्यासः ।

तत्त्वाचार्या नेच्छन्ति । यद्यप्यत्र विचित्रप्रमाणव्यापारपरामर्शः तथाऽपि श्रुतिविनियोग एवात्र पादे । लिङ्गादिविनियोगस्तु द्वितीयपादात्प्रभृति भविष्यतीत्युक्तम्[1] । **औषध धर्मा** इत्याद्यप्येतदधिकरणसाध्यमपि[2] सिद्धान्ताभिप्रायेणोक्तम् ।

ननु संयुक्ता एवैत इति सिद्धान्तवादी श्रुतिबलेन संशयमाक्षिपति । परः पुनः पदान्तरसंबन्धकृतं व्रीह्यादिसंबन्धं शुद्धावघातविधिना बाध्यमानं मन्यमान आह—**अवघातादयस्तु पदार्था विधीयन्ते श्रुत्येति** ।

तच्चैतदयुक्तमिव । कुतः ?

प्रयुज्यते पदं किंचिद्विना न हि पदान्तरात् ।
वाक्याधिकरणे चोक्ता श्रुतिबाधप्रतिक्रिया ॥

न हि व्रीह्यादिभिः संबध्यमाना अवघातदयो नावघातादयो[3] भवन्ति । यदि ह्येवं भवेयुः, ततः श्रुतिविरुद्धत्वाद्वाक्यं बाध्येत । अत्र पुनः केवलानामेवावघातादीनामनुष्ठातुमशक्यत्वादवश्यमेव संबन्ध्यन्तरे कार्याः[4] । न हि भवत्पक्षेऽपि अवघातादयः केवलाः क्रियन्ते । तत्र प्रकरणलभ्यद्रव्यमात्रसंबन्धः क्लेशान्तरेण कल्प्येत । अथापि किंचिदध्याहृत्य संबन्धः क्रियते, तथाऽपि क्लेशः । अथाऽऽरादुपकारकत्वेन प्रधानसंबन्ध इष्यते, तत्रापि विप्रकर्षः । अथ तु नैव केनचित्संबध्यते, ततो विध्यानर्थक्यप्रसङ्गः । तस्मादसदेतत् ।

तेनैवं व्याख्येयम्—

वाक्यभेदतदेकत्वसंदेहान्नात्र संशयः ।
परमावान्तरापूर्वप्रयुक्तत्वकृतो ह्यसौ ॥

नैवात्रायं पूर्वपक्षहेतुरवघातादयः पदार्थाः स्वतन्त्राः श्रुत्या विधीयन्ते वाक्येन व्रीह्यादिभिः संबध्यन्ते । तच्च श्रुत्या बाध्यते । तस्मात्केवलविधानार्त्कि सर्वार्थाः किं वा दृष्टोपकारसामर्थ्येन यथासंयोगमेव भवन्तीति । किं तर्हि—

विधीयतेऽवघातादि श्रुत्या व्रीह्यादिसंगतः ।
व्रीहित्वाद्यर्थता चास्य निष्फलत्वेन नेष्यते ॥

यदि ह्येषां यथाश्रुतव्रीह्याद्यर्थत्वमध्यवसीयते, ततः संयुक्तत्वात्सर्वे सर्वत्र न प्राप्नुयुः । एते पुनर्नवमाद्याधिकरणन्यायेन श्रौतं व्रीहित्वमुल्लङ्घ्यापूर्वसाधनत्वेन संबध्यन्ते । तच्च प्रकरणापेक्षापूर्वसाधनांशलक्षणागम्यत्वाद्वाक्यगम्यमिति मन्यमान आह—**वाक्यैनैषां व्रीह्यादिसंबन्धः, न श्रुत्या** । यच्च तदपूर्वसाध-

---

१. क० इत्युक्तं तैः । २. क० इत्याद्येत ।
३. क० द्वितीयमवघातादयो । ४ क० संबन्ध्यन्तरेण कार्यं ।

नांशलक्षणात्मकं वाक्यम्, तत्प्रकरणाविशेषाद्यथौषधे, तथाऽऽज्यसांनाय्ययोरप्यविशिष्टम्। एवमुत्पवनविलापनशाखाहरणादीनां लक्षणयैवाश्रुतहविरन्तरसंबन्धो दर्शयितव्यः।

तत्र किमेकं दर्शपूर्णमासापूर्वं धर्माणां प्रयोजकमुतानेकम्। यदाऽप्यनेकम्, तदाऽपि किमपूर्वमात्रम्, उत किंचिदेवेति। यद्येकमपूर्वं सर्वाणि वा, सर्वेषां प्रयोजकानि ततः संकरो धर्माणाम्। अथ त्वनेकमपूर्वं किंचिदेव प्रयोजकम्, ततः प्रत्येकं व्यवस्थेति। तत्र सिद्धान्तेनैव तावदुपक्रमते 'तेषामर्थेन संबन्धः'। यद्यपि तावत्केवलपदवाच्याः श्रूयेरंस्तथाऽपि क्व क्रियेरन्नित्यपेक्षिते यत्र क्रियमाणाः प्रयोजनवन्तो भवन्ति। तत्र कर्तव्याः। न चैते संकीर्यमाणाः सर्वत्र प्रयोजनवन्तो दृश्यन्ते। सत्यपि चापूर्वप्रयुक्तत्वे दृष्टप्रयोजनद्वार एव संबन्धोऽवकल्पते।

अथवा शास्त्रेणैव यत्र क्रियमाणाः प्रयोजनवन्तो विज्ञायन्ते, यदपूर्वसाधनं व्रीह्यादिशब्दैः स्वाभिधेयजात्येकार्थसमवायि लक्षितम्, तदर्थत्वेनावघातादयो विज्ञायमानाः संबन्धाभावादपूर्वान्तरसाधनेऽलक्षिते न भविष्यन्ति। ननु श्रूयन्ते सर्वे सर्वत्रेति—अपूर्वैकत्वात्, भेदे चासति लक्षणानियमापरिज्ञानात्प्रयोजनस्य च विध्युत्तरकाललभ्यत्वान्न तद्दर्शनद्वारेण व्यवस्थेति. मत्वा परिचोदना। एतदेव न जानीम इति। नावश्यमेकमेवापूर्वं प्रयोजकम्, अपूर्वमात्रं वेत्यभिप्रायः। सत्यपि ह्यविशेषश्रवणे 'अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्' इत्यविरुद्धैव व्यवस्था।

अथवैकापूर्वापूर्वमात्रप्रयुक्तत्वपक्षयोः संकरः। नानापूर्वप्रयुक्तव्रीह्यादिजातिलक्षितसाधनसंबन्धे तु व्यवस्था। न चैतयोरन्यतरस्याऽवधारणम्। अतो न जानीमः सर्वे सर्वत्र श्रूयन्ते नेति॥ ७॥

भा० प्र०—शेष किसको कहते हैं ? एवम् उसका हेतु क्या है ? इसका निरूपण किया गया है। कहाँ शेष का विनियोग होता है—इसका निरूपण किया जा रहा है। "दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत्" इस वाक्य में दर्शपूर्णमास यज्ञ विहित होता है। उस यज्ञ में धर्म विशेष भी उक्त होता है। जैसे निर्वपन, प्रोक्षण, अवहनन आदि औषध धर्म = औषधिजात द्रव्य का धर्म, उत्पवन, विलापन, ग्रहण, आसादन = स्थापन आदि आज्य का धर्म अर्थात् साम्न्याय्य का = दुग्धरूप हविःविशेष का धर्म है। ये धर्म क्या अविशेष में सभी द्रव्य में ही इच्छा के अनुसार अनुष्ठेय है अथवा ये द्रव्यविशेष में व्यवस्थित है—यही संशय है। इस प्रकार संशय होने पर पूर्वपक्ष को दृढ़ करने के लिए सिद्धान्ती के मत का अनुवादपूर्वक कहा है कि जो धर्म जिस द्रव्य में अनुष्ठित होने पर दृष्ट उपकार होता है—वही उसमें अनुष्ठेय है। अतः, औषधिजात द्रव्य में अवघात आदि ही कर्तव्य है, कारण, तुषविमोचन उसका दृष्ट प्रयोजन है। इस प्रकार विलापन आदि आज्य का धर्म रूप में अनुष्ठेय है। अन्य विषयों को भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

"तेषां" = उसका अर्थात् संस्कारों का, अर्थेन सम्बन्धः" = अर्थ के साथ अर्थात् दृष्ट प्रयोजन के अनुसार सम्बन्ध होता है ॥ ७ ॥

विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात्संयोगतोऽविशेषात् प्रकरणाविशेषाच्च ॥ ८ ॥

शा० भा०—उच्यते—योऽर्थात्प्राप्तः स्यात्, स यत्र प्रयोजनम्, तत्रैव क्रियेत। शब्देन तु सर्वेऽमी पदार्था विहिताः। तेन न यत्र केवलं प्रयोजनं प्रत्यक्षं दृश्यते, तत्रैव कर्तव्याः। क्व तर्हि? यत्र यत्र विहिताः। ते चामी सर्वत्र विहिता गम्यन्ते। कुतः? संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्च। सर्वेषां तावदाज्यौषधसांनाय्यानामपूर्वेण साध्यसाधनसंयोगोऽविशिष्टः। यत्र क्रियमाणा अपूर्वस्य कृता भवन्तीति विज्ञायते। तथा प्रकरणमविशिष्टम्। यस्मिन्विहिताः सर्वेषां विहिता भवन्तीति गम्यते। अतः सर्वे सर्वत्र कर्तव्याः। यत्त्वमी न सर्वत्रोपकुर्वन्तीति। विधानसामर्थ्यात्सर्वत्रोपकारका इति गम्यते। स चायमदृष्ट उपकारो भविष्यति ॥ ८ ॥ पूर्वपक्षः ॥

त० वा०—परः स्वाभिप्रायं विवृणोति। फलस्य हि सूक्ष्मसामर्थ्यरूपावस्थाङ्कुरस्थानीया पूर्वानुत्पन्नोत्पत्तेरपूर्वमित्युक्तं प्राक्। तच्च फलैकत्वादेकमेवाध्यवसीयते। तत्साधनत्वं चाऽऽज्यौषधसांनाय्यानां सर्वेषामविशिष्टम्। अतस्तदुद्देशेन विहितानां सर्वधर्मत्वं विज्ञायते। यद्यपि चाऽऽग्नेयादीनामवान्तरापूर्वाणि प्रात्यात्मिकानि भवेयुः। तथाऽपि तेषां निष्फलत्वाद्यागादिस्वरूपवदेव प्रयोजकशक्तिर्नास्तीति, परमापूर्वमेव प्रयोजकमवधार्यते। भिन्नापूर्वप्रयुक्तत्वेऽपि प्रकरणगतापूर्वसाधनमात्रोद्देशेन विधीयमानानां शेषाणां[1] विशेषेणानुपादानात्, उपादाने च वाक्यभेदप्रसङ्गात्सार्वत्रिकविधानमस्तीति सर्वधर्मत्वे हेतुः। तत्सिद्धयर्थं च 'संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्च' इत्युक्तम्। यदेकस्यापूर्वसाधनत्वं धर्मसंबन्धकारणम्, तदितरत्राप्यविशिष्टम्। यत्तु विशिष्टं व्रीहित्वादि, तल्लक्षणामात्रौपयिकत्वादनियामकम्। यदपि कारकत्वं लक्ष्यते, तदपि सर्वेषां प्रदेयत्वादविशिष्टम्। तस्मादपूर्वासंबद्धमप्रदेयमप्रकृतापूर्वसाधनं च वर्जयित्वा, सर्वे सर्वत्र कर्तव्याः। यो ह्यर्थात्प्राप्नोतीति—अचोदितः सन्सामर्थ्येन, लौकिकप्रयोजनेन वा यः प्राप्नोति, स तद्वशेन व्यवतिष्ठते।

अथवा यत्र पूर्वतरप्राप्तप्रयोजनद्वारेण धर्माः प्राप्नुवन्ति, न च धर्मेभ्य एव प्रयोजनकल्पना। यथा विकृतिषु, तत्र यावदर्थत्वं भवेत्। अत्र पुनः प्रकृतावुपदेशेन प्राक्प्रयोजनेभ्यः स्वरूपमात्रेण कल्पयिष्यमाणप्रयोजनाः सन्तो विधीयन्ते।

---

१. क० विशेषाणां।

तेन नैषा वचनव्यक्तिः,, यत्र प्रयोजनम्, तत्रैते। किं तर्हि ? यत्रैते तत्र दृष्टमदृष्टं वा प्रयोजनमिति। तस्मात्सर्वधर्माः ॥ ८ ॥

भा० प्र०—पूर्वपक्षी ने कहा है कि—"विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात्" अर्थात् अवहनन, उत्पवन आदि कर्म जब शास्त्र विहित हैं, तब सभी द्रव्यों का ही धर्म होगा अर्थात् सभी द्रव्यों में ही अवहनन, उत्पवन आदि अविशेष अनुष्ठेय हैं, कारण, "संयोगतः विशेषात्" = दृष्ट प्रयोजन का निर्वाह करने के लिए शास्त्र की विधि नहीं है, किन्तु अपूर्व से फल साधन करने के लिए ही शास्त्र विधि है। व्रीहि आदि औषधि जातद्रव्य एवम् आज्य सन्नाय्य आदि सभी जब परम अपूर्व का साधक है और अवहनन, उत्पवन आदि जब उनके अपूर्व निष्पादन के ही उपयोगी हैं, तब अवहनन, उत्पवन आदि सभी द्रव्य के ही धर्म रूप में अनुष्ठेय होगे। ये सभी द्रव्यों के ही धर्म के रूप में अनुष्ठेय हैं—इसमें अन्य कारण यह है कि "प्रकरणाविशेषात्" = एक ही प्रकरण में = दर्श पूर्णमास के प्रकरण में जब ये अवहनन, उत्पवन आदि धर्म अनुष्ठेयरूप में उक्त होते हैं, तब ये अविशेषरूप में उस प्रकरण के सभी द्रव्यों के साथ अन्वित होता है। प्रकरणगत विशेष अर्थात् पार्थक्य रहने से द्रव्य विशेष में धर्म विशेष का नियम अर्थात् व्यवस्था की जाती है, किन्तु ऐसा न होने से ये सभी द्रव्यों के धर्म हैं।

"विहितः" = शास्त्रविहित कर्म, "तु" = प्रत्यवस्थान में, "सर्वधर्म स्यात्" = सभी के धर्म होंगे, "संयोगतः अविशेषात्" = यतः साध्यसाधन सम्बन्ध सभी में अर्थात् एक रूप रहता है, "प्रकरणाविशेषात् च" = एवम् प्रकरण का भी अविशेष रहता है, अर्थात् विशेष या भेद नहीं है। यह पूर्वपक्ष है ॥ ८ ॥

अर्थलोपादकर्म स्यात् ॥ ९ ॥

शा० भा०—नैतत्—सर्वे सर्वत्र करणीया इति। ये यत्र नोपकुर्वन्ति, न ते तत्र क्रियामर्हन्तीत्युक्तमेव। ननु विधानसामर्थ्यात्सर्वे सर्वत्रोपकरिष्यन्ति। नेति ब्रूमः ॥ ९ ॥ सिद्धान्तः ॥

त० वा०—दृष्टार्थलोपात् शास्त्रगम्यार्थलोपाद्वेति निगदव्याख्यातं भाष्यम् ॥९॥

भा० प्र०—पूर्वपक्षी के मत का प्रतिवाद करते हुए सिद्धान्ती ने कहा है कि "अर्थलोपात् अकर्म स्यात्" = अवहनन, उत्पवन आदि सभी के धर्म नहीं हो सकते हैं, क्योंकि, ऐसा मानने पर अवहनन आदि के दृष्ट फल के लोप की आपत्ति होगी और अदृष्ट के अनुरोध में दृष्ट प्रयोजन का लोप नहीं माना जा सकता है।

"अर्थलोपात्" = अर्थ का अर्थात् दृष्ट प्रयोजन के लोप की आपत्ति होने से "अकर्म स्यात्" = अकर्म होगा अर्थात् अवहनन, उत्पवन आदि सर्वधर्म नहीं होगा ॥ ९ ॥

फलं तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभावाद्विप्रयोगे स्यात् ॥ १० ॥

शा० भा०—नास्ति विधानम्, येन सर्वे सर्वत्रोपकुर्वन्ति। न च प्रत्यक्षादिभिरुपकारमवगच्छामः। अर्थापत्तिरपि नियोगतस्तत्रैव[1] भवेत्, यत्रैव शब्देन चोदना भवति, नान्यथा। यदि च प्रथनादीनामाज्यसांनाय्ययोरनुपकुर्वतामपि तत्प्रकरणे समाम्नायोऽनुपपन्नो भवेत्, ततोऽर्थाददृष्ट उपकारः कल्प्येत। ते त्ववश्यं समाम्नानीया औषधार्थम्। फलं हि सह चेष्टयाऽवहननादिकयाऽवगम्यते तुष[2]विमोचनादि। प्रयोजनं च तेन। न तस्मादृते पुरोडाशः सिध्यति। सति चास्मिन्नर्थवान्प्रकरणे समाम्नायः। अर्थवति च तस्मिन्नादृष्टकल्पनायां प्रमाणमस्तीत्यतो न शक्यं कल्पयितुम्। यदि च तत्र तण्डुलादिनिष्पादनं दृष्टं नाभविष्यत्, ततो विप्रयोगे तण्डुमादीनामभावादुपकारस्य, शब्दार्थमात्रं दृष्टोपकारानपेक्षं कर्तव्यमित्याज्यसांनाय्ययोरपि क्रियमाणानामदृष्टमभविष्यत्। तस्मान्न प्रथनादयः सर्वत्र। एवमुत्पवनादयः, शाखाहरणादयश्च। तस्मान्न सर्वे सर्वत्र कर्तव्याः। प्रथनादयो नाऽऽज्यसांनाय्ययोः। औषधे एव ते। उत्पवनादय आज्यस्य, नौषधसांनाय्ययोः। शाखाहरणादयश्च सांनाय्यस्य[3], नाऽऽज्यौषधयोरिति सिद्धम् ॥ १० ॥ युक्तिः ॥ ४ ॥

इति चतुर्थं तेषामर्थाधिकरणम्।

त० वा०—यदुक्तमदृष्टकल्पनान्नैवेतरत्राप्यर्थलोप इति।

तत्राभिधीयते—

यद्याहत्य विधीयेरन्नाज्येऽपि प्रथनादयः।
अदृष्टार्था अगत्या स्युर्दृष्टं वा न भवेद्यदि ॥

आम्नानान्यथानुपपत्त्या ह्यदृष्टं कल्प्यते। तच्चाऽऽम्नानमन्यथैव दृष्टार्थतयोपपन्नमित्यर्थापत्तेरसंभवः। तद्दर्शयति। अवघातादीनामनुष्ठानसहितं फलं व्रीहिषु दृश्यते। अन्यत्र तु चेष्टामात्रम्। न च सफलचेष्टानुष्ठानसंभवे विफलानुष्ठाने विधिः पुरुषं नियोक्तुं शक्नोति। न च तेनानियुज्यमानः फलकल्पनानिमित्तं लभते। तदितरेतराश्रयं भवति। फलाद्विधिर्विधेश्च फलमित्यभ्युपगमात्।

न ह्यत्रैकमपि स्पष्टं प्रसिद्धं व्रीहिषु द्वयम्।
अन्योन्यनिरपेक्षं च प्रत्यक्षमुपलभ्यते ॥

---

१. ब. तद्भावेयत्रैव। २. ब. तुषकणविमोचनादि। ३. ब. सांन्नाय्ये।

तथोत्पवनादीनामाज्यसांनाय्ययोरिति योजनीयम् । तथा हि—

योऽर्थः प्रत्यक्षदृष्टोऽपि क्रतुना पुरुषेण वा ।
नापेक्ष्येतोपकाराय सोऽग्राह्यो न त्वयं तथा ॥

अवघातादिनिर्वर्त्यो हि तुषकणविप्रमोचनादिरर्थः पुरोडाशसिद्धिं प्रति षड्भिरपि व्रीहिपुरोडाशक्रत्वपूर्वाध्वर्युयजमानैरपेक्षितः । न हि तस्मादृते व्रीहिभिर्यष्टुं पुरोडाशो वा निर्वर्तयितुं शक्येतेति । तद्दर्शयति—**प्रयोजनं च तेनेति ।**

विप्रयोगे तु दृष्टस्य फलस्य तदभावजा ।
तेषां शब्दार्थमात्रत्वात्स्याददृष्टार्थकल्पना ॥

ततश्चावघात आज्यसांनाय्ययोरपि स्यात् । सति तु दृष्टे काल्पनिकासंभवाद्यथार्थमेव व्यवस्थासिद्धिः । तथा हि—

क्वचिद् दृष्टनिराकाङ्क्षः क्षीणार्थापत्तिशक्तिकः ।
नादृष्टार्थोऽपि सोऽन्यत्र शक्यः कल्पयितुं विधिः ॥

अथवा तत एते सर्वत्र विहिता भवेयुः, यदि परमापूर्वप्रयुक्ताः, सर्वापूर्वप्रयुक्ता वा स्युः । तदा चैवं ते भवेयुः । यदि भिन्नानि व्रीह्यादिकर्मापूर्वाणि न स्युः । यदि चैषां प्रयोजकशक्तिर्न स्यात् । तानि तु प्रयोजकशक्तिमन्ति प्रतिकर्म भिन्नानि विद्यन्ते । तत्र भेदस्तावदपूर्वाधिकरणे साधितः ।

यद्यपि चैषा साक्षादफलत्वं, तथाऽपि स्वरूपसिद्ध्यन्यथानुपपत्त्यैव प्रयोजकत्वं भविष्यति । न च निष्फलानि । तन्नाम निष्फलत्वादप्रयोजकं भवति यदत्यन्तनिष्फलम् । तन्निरपेक्षं वा द्रव्ययागादि स्वरूपवल्लब्धात्मकम् । आग्नेयाद्यवान्तरापूर्वाणि तु परमापूर्वसिद्ध्यङ्गत्वात्पारम्पर्येण फलवन्ति । न च धर्मेभ्यः प्राक् सिद्धानि निर्ज्ञातोपायपरिमाणानि वा । तस्मादात्मलाभार्थमेव प्रयुज्यन्ते यच्च येषु धर्मेषु विधीयमानेष्वपूर्वमुपतिष्ठते, तत्तेषां प्रयोजकं भवति, न यावत्किंचित् । व्रीह्यादिशब्दैश्च स्वकर्मसाध्यमेव केवलमपूर्वमुपस्थाप्यते, नान्यत्, असंबन्धात् । ततश्चावघातादयस्तदेवैकमपूर्वं प्राप्यार्थवन्तो जाता न परमापूर्वं, कर्मान्तरापूर्वं वाऽपेक्षन्ते । तद्दर्शयति । यस्मादवहननादिचेष्टया सह श्रुतेषु व्रीह्यादिष्वेव स्वापूर्वसाधनद्वारेण विधेः फलं दृश्यते । तस्मान्नान्यत्र संक्रान्तिः । यदि तु तत्रापूर्वं न स्यात्, ततोऽर्थाददृष्टं कल्प्येत । व्रीह्यादिशब्दैरनुपस्थापितोऽप्युपकारः प्रयोजकः कल्प्येत । अस्ति तु तत् । सत्रमप्येवम् । विप्रयोगे—तण्डुलादिनिष्पाद्यस्यापूर्वस्य प्रयोजनाभावात्सांनाय्या[1]दिसंबन्धोऽपि व्यवहितपरमापूर्वद्वारेण, कर्मान्तरापूर्वद्वारेण वा शब्दार्थः स्यात् । प्रत्यासन्नापूर्वसद्भावे तु न शब्दस्तावन्तं खेदं सहते । तस्मादप्रमाणकः सांनाय्यादिसंबन्धः ।

---

१. क० सांन्नाय्याज्यादि ।

एवं तर्ह्याग्नेयाद्यपूर्वसंबन्धाविशेषात् स्रुगादीनामवघातादयः प्राप्नुवन्ति। नैष दोषः। कारकान्तरत्वेन तेषामलक्षितत्वात्। यथैव हि प्रदेयत्वाविशेषेऽपि सांनाय्यादेरपूर्वान्तरसाधनत्वादप्रतीतिः, एवमेकापूर्वसंबन्धेऽपि व्रीहित्वैकार्थसमवेतप्रदेयरूपकारकत्वाभावात्स्रुगादीनामग्रहणम्।

यत्तु तस्मिन्नेवापूर्वे समानकारकत्वेनोपकरिष्यति, तस्य भविष्यन्त्येव धर्माः। यथा यवानाम्। सर्वं चैतन्नवमे विस्तरेण वक्ष्यामः ॥१०॥

(इति चतुर्थं तेषामर्थाधिकरणम् ॥४॥)

भा० प्र०—अवघात आदि सर्व धर्म मानने पर उनको केवल अदृष्ट का हेतु मानना पड़ेगा। किन्तु, व्रीहि आदि में अवघात आदि करने पर तुषादिविमोचन आदि रूप दृष्ट प्रयोजन सम्पादन कर यागीय अपूर्व का उत्पादक होता है। अतः तुषविमोचन आदि दृष्ट फल अवघात आदि कर्म के साथ दृष्ट होने से केवल अदृष्ट की ही कल्पना करना उचित नहीं हैं। क्योंकि, अन्य रूप में विधि की उपपत्ति न होने पर ही अदृष्ट की कल्पना की जाती हैं। किन्तु, नियमापूर्व स्वीकृत करने पर तुषविमोचन आदि दृष्ट फल के साथ जब अदृष्ट फल सम्भव है तो केवल अदृष्ट की कल्पना करना उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में अवघातादि सर्व धर्म कहना सङ्गत नहीं है। व्रीहि आदि औषधि द्रव्यों में अवघात होगा आज्य आदि में नहीं होता है, इसी प्रकार उत्पवन आदि आज्य आदि में ही होगा, व्रीहि आदि में नहीं होगा। आज्य आदि साक्षात् सम्बन्ध से फलापूर्व में हेतु नहीं होता है, किन्तु, अवघात से निष्पन्न तण्डुल आदि के द्वारा पुरोडाश होने पर उससे सम्पादित आग्नेय आदि याग से अवान्तर अपूर्व उत्पन्न होता है और उससे अन्त में फलापूर्व उत्पन्न होता है, अतः, फलापूर्व रूप प्रयोजन निर्वाह करने से अवघातादि सर्वधर्म है—यह भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि, फलापूर्व साक्षात् अवघातादि का प्रयोजक नहीं है अपितु पुरोडाश आदि के द्वारा निष्पाद्य आग्नेयादि याग से जनित अवान्त अपूर्व ही अवघातादि का प्रयोजक होता है। इसलिए, जिस द्रव्य से जिस याग के निष्पन्न होने पर अवान्तर अपूर्व हो सकता है, जिस धर्म से उस द्रव्य का उपकार होता है—वही उसमें अनुष्ठेय होता है। व्रीहि का अवघात न करने पर व्रीहि से उत्पन्न तण्डुल से निष्पन्न पुरोडाश से साध्य याग के द्वारा अपूर्व नहीं होगा। आज्य के उत्पवन, अवेक्षण आदि न करने पर उससे सम्पादित याग के द्वारा अवान्तर अपूर्व न होने से अवघात आदि व्रीहि का ही धर्म है एवम् उत्पवन आदि आज्य आदि का ही धर्म है।

प्रकरण के द्वारा अवघात आदि सर्व धर्म होगा—यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, "व्रीहीन् प्रोक्षति" इत्यादि वाक्य में द्वितीया के श्रवण से (श्रुति) प्रोक्षण, आदि व्रीहि एवम् आज्य आदि का ही धर्म है—यह व्यवस्थापित होता है। प्रकरण की अपेक्षा श्रुति बलवान् होती है, अतः, प्रोक्षण, अवेक्षण आदि अदृष्टार्थक सभी धर्म प्रकरणवश

भी जब सर्व धर्म नहीं हो सकते हैं तो दृष्टार्थक अवघात के प्रसङ्ग में तो कहना ही क्या है ?

"फलं तु सह चेष्टया" = किन्तु चेष्टा अर्थात् अवहनन आदि क्रियाओं से = तुषविमोचनादि फल दृष्ट होता है, "विप्रयोगे" = वितुषीभाव आदि दृष्ट फल न होने से, "अभावात्" = प्रयोजन का अभाव होने से, "शब्दार्थः स्यात्" = आज्यादि में भी अवघात आदि शब्दार्थ अर्थात् अनुष्ठेय होता ॥ १० ॥

यह चतुर्थ तेषामर्थाधिकरण = निर्वपन आदि व्यवस्थितविषयताधिकरण सम्पूर्ण हुआ ।

[५] द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्येत ॥११॥ सि०

शा० भा०—स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र समामनन्ति । 'स्फ्यश्च कपालानि चाग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्या चोलूखलं च मुसलं च दृषच्चोपला चैतानि वै दश यज्ञायुधानि (तै० सं० १-६-७) इति । तत्र संदिह्यते—किं यो य इह शक्यत एभिः कर्तुं, तस्मै तस्मै पदार्थायैतानि समाम्नातानि, उत यद्येन संयुक्तम्, तस्मा एवेति ।

किं तावत्प्राप्तम् ? यद्येन शक्यमिति । कुतः ? एवं विधयो भविष्यन्ति तथा[1]ऽर्थवन्तः । इतरथा तेऽनुवादा निष्प्रयोजनाः । प्रकरणाविशेषश्च सर्वपदार्थान्प्रति । यज्ञायुधानीति च यज्ञसंयोगोऽविशिष्टः । तस्मात्सर्वे सर्वत्र इत्येवं प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ।

ब्रूमः—द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्येत । यो येन पदार्थेन सहोत्पत्तिवाक्येन संयुक्तः, स पदार्थस्तेनैव कर्तव्यः । यथा स्फ्येनोद्धन्ति, इत्युद्धननार्थता स्फ्यस्य वाक्येन । तदुद्धननं न स्फ्यादन्येन कर्तव्यम् । यदा चैवं तदा प्राप्त एव स्फ्यः । तस्यायमनुवादो भवितुमर्हति, 'एतानि वै दश यज्ञायुधानि' इति । एवमेकैकस्यानुवादस्तेन तेन वचनेन प्राप्तस्य । यथा 'कपालेषु श्रपयति, अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपति, शूर्पेण विविनक्ति, कृष्णाजिनमधस्तादुलूखलस्यावस्तृणाति, शम्यायाम्, [2]दृषदमुपदधाति, उलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति, दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि' इति प्रकरणात्सर्वाणि सर्वत्र प्राप्नुयुः । वचनात्तु यथावचनम् । यज्ञायुधशब्दोऽपि सामान्येन प्रयोजनं विदध[3]त्तद्बाध्येतैव । परोक्षं हि सामान्यवचनेन,

---

१. ब. तथा । २. ब. दृषदुपदधाति ।

३. ब. तद्विदध्यात्, सविशेषेण बाध्येतैव इत्यधिकम् ।

विशेषविधानं भवति। प्रत्यक्षं तु विशेषवचनेन विशेषविधानम्। तस्माद्यद्येनोत्पत्त्या संयुक्तम्, तत्तत्रैव विनियुज्यत इति सिद्धम् ॥ ११ ॥ स्फ्यादीनां संयोगानुसारेण व्यवस्थितत्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥

त० वा०—अवघातादिवदेव द्रव्याणामपि यथासंयोगं विनियोगे सिद्धे, किमर्थः पुनरारम्भः? उच्यते। एवं तावत्तत्र दृष्टप्रयोजनवशेन यथासंयोगं विनियोगं पूर्वपक्षवादी मन्यते। स चात्रापि विना दृष्टेन प्रयोजनेन नैवाऽऽश्रयितव्यः। सति हि दृष्टार्थत्वेनान्यत्राप्रसङ्गे, न कश्चिदपि यथासंयोगं व्यवस्थाहेतुरस्ति। यथा च तस्य व्रीह्यादिसंबन्धाद्भिन्नाप्रयुक्तत्वं[1] नैवं वेद्युद्धननादिष्वेकं किंचिदपूर्वं प्रयोजकम्। एक एव च तत्र संयोगः। इह तु द्वौ संयोगौ 'एतानि वै दश यज्ञायुधानि' इत्येकः, 'स्फ्येनोद्धन्ति' इत्येवमादिरपरः। तयोश्चैको विधिः, अपरोऽनुवादः। तद्यदि पूर्वो विधि-, ततः साक्षाद्यागसंबन्धे चतुर्थाधिकरणेन व्यावर्तिते सप्तदशारत्नित्ववदानर्थक्यात्तदङ्गेष्वेवावतरत्यङ्गत्वाविशेषाद्यथासामर्थ्यं सर्वार्थानीति विज्ञायन्ते। ततश्चोद्धननादिसंयोगानामवयुत्यानुवादत्वम्।

अथ पुनरुद्धननादिसंयुक्ता एव विधयः इतरोऽनुवादः। ततः पूर्वाधिकरणन्यायेनैव यथासंयोगं व्यवस्थेति। किं प्राप्तम्? अपूर्वभेदसंबन्धाभावाद् दृष्टार्थत्वाविशेषाच्च यथासामर्थ्यं विनियोगः। एवं यज्ञायुधसंयुक्ता विधयो भूत्वाऽर्थवन्तो भविष्यन्ति। बहुवचनं च विधेयार्थशब्दबहुत्वाभिप्रायम्। इतरथा त्वेकवाक्यत्वादेक एव विधिः। तस्माद्यसामर्थ्यं विनियोग इति प्राप्ते।

अभिधीयते।

स्फ्यादेरुत्पत्तिसंबन्धः कार्यैरुद्धननादिभिः।
तत्र यज्ञायुधानीति प्राप्तमेवानुकीर्त्यते ॥

'एतानि वै दश यज्ञायुधानि' इति वैशब्दसंयोगादस्यामृवादसारूप्यम्। न चात्र भावनावचनो विधायकोऽस्ति, यो विनियुञ्जीत, विदध्याद्वेति। बहुतराणि च वाक्यानि त्वत्पक्षेऽनर्थकानि भवेयुः। न ह्येषामनुवादत्वे किंचित्प्रयोजनमस्ति। साक्षाच्चैतानि स्वाभिधानैरुद्धननादिष्वेव विनियुज्यन्ते। परोक्षवृत्त्या यज्ञायुधवाक्ये। यज्ञशब्दस्याङ्गलक्षणार्थत्वात्, आयुधशब्दस्य च युद्धसाधनवचनस्य क्रियान्तरसाधनेष्वौपचारिकत्वात्। न चात्र सप्तदशारत्निन्यायोऽवकल्पते। न ह्यत्र वाजपेयस्येतिवत्संबन्धमात्राभिधायिनी यज्ञशब्दात्परा षष्ठी दृश्यते। सत्यपि चाऽऽनर्थक्यात्तदङ्गावतरणे सामान्यशास्त्राणि विशेषशास्त्रैरुद्धननादिसंयुक्तैरुपसंह्रियमाणानि न कर्मान्तरैः संबध्येरन्। तस्मादुद्धननादिवाक्यप्रापितानां सतां यादृशं वयं यज्ञायुधत्वं पश्यामः, तादृशम् 'एतानि वै दश' इत्यनेनानूद्यते।

१. क० प्रयुक्तत्वे।

यत्त्वपूर्वभेदः प्रयोजको नास्तीति। तत्र ब्रूमः। कपालादीनां तावदस्त्येव पुरोडाशाद्यपूर्वभेदः। इतरेषामप्युद्धननादिद्वारत्वादन्यत्र तत्कृतोपकाराभावादसंकरः। तद्यथाऽवघातादयः समानापूर्वनिबन्धनेष्वपि स्रुगादिषु कारकान्तरत्वान्न क्रियन्ते। तस्मादेतेषामपि यथासंयोगमेव विनियोग इति सिद्धम्॥ ११॥

(इति पंचमं द्रव्यविषय उद्देश्यतावच्छेदकनिरूपाधिकरणम्॥ ५॥)

भा० प्र०—अवघात, प्रोक्षण आदि को धर्म का साङ्कर्य्य अर्थात् सर्वधर्मता मानने पर परस्पर के धर्म परस्पर में अनुष्ठित होने पर उनके साङ्कर्य की प्राप्ति का निराकरण होने पर भी कर्म के सम्पादन के विषय में स्फ्य, कपाल आदि द्रव्यों के साङ्कर्य का निवारण नहीं हो सकता है, क्योंकि, "स्फ्यश्च कपालानि च" (तं० सं० १।६।७) इत्यादि श्रुति में "एतानि वै दश यज्ञायुधानि" अर्थात् ये दश यज्ञ के आयुध हैं। यह कह कर स्फ्य, कपाल आदि द्रव्यों को साधारण रूप में सभी यज्ञों का आयुध कहा गया है। स्फ्य आदि किसी द्रव्य से किसी कर्म का अनुष्ठान करने पर भी उनका यज्ञायुधत्व अर्थात् यज्ञसाधनत्व समस्त नहीं होता है। 'स्फ्य' तलवार के आकार का काष्ठफलक विशेष है। इस प्रकार पूर्वपक्ष होने पर सिद्धान्त रूप में कहा जाता है कि "द्रव्यं च तदर्थम् एवं चोद्यते उत्पत्तिसंयोगात्", उत्पत्तिवाक्य में जिस कर्म के साथ जिस द्रव्य का साध्य साधनता सम्बन्ध द्वितीया, तृतीया आदि विभक्तियों के श्रवण से विज्ञापित होती है, वही द्रव्य उस कर्म का अङ्ग अर्थात् साधन होता है। अतः, "स्फ्येन उद्धन्ति" अर्थात् स्फ्य से वेदि को खोदता है। इस वचन के अनुसार स्फ्य से उद्धनेन, "कपालेन श्रपयति" अर्थात् कपाल से पुरोडाश को पकाता है, श्रपण = पाक करना, "उलूखलमुसलाभ्याम् अवहन्ति" अर्थात् ऊखलमूसल से व्रीहि को कूटता है अर्थात् अवघात करता है। "दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि" अर्थात् शिला और लोढी से तण्डुलों को पीसता है। इस निर्देश के मत में 'दृषत्' एवम् उपल से पेषण होगा। अन्य द्रव्य के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार का नियम समझना चाहिए। पूर्वपक्षी के मत के अनुसार प्रकरणवश से द्रव्यादि का साङ्कर्य होता है, किन्तु प्रकरण की अपेक्षा श्रुति के बलवान् होने से विशेष वचनों से 'स्फ्य' कपालादि द्रव्य का भी कार्य व्यवस्थित है। यदि कहा जाय कि "स्फ्यश्च कपालानि च" इत्यादि वाक्य की क्या दशा होगी? ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि यह अनुवाद मात्र है। यदि यह कहा जाय कि अनुवाद मानने पर वह व्यर्थ होगा, ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता हैं "यज्ञायुधानि सम्भवन्ति" इस वाक्य में जो "सम्भार" विधान किया गया है अर्थात् यज्ञपात्रों का आसादन विहित होता है, यह उसी में उपयोगी नहीं होगा। इसीलिए "स्फ्यश्च" इत्यादि वाक्य अनुवाद होने पर भी सर्वथा निरर्थक नहीं है।

"द्रव्यं च" = स्फ्य, कपाल आदि द्रव्य भी, "तदर्थम् एव" = उसी कार्य का अङ्ग के रूप में, "चोद्यते" = विहित होता है, "उत्पत्तिसंयोगात्" = उत्पत्तिवाक्य में

अर्थात् कर्म विधायक वाक्य में, संयोग अर्थात् साध्यसाधनादि सम्बन्ध बोधित होने से ॥ ११ ॥

यह पञ्चम द्रव्य विषय में उद्देश्यतावच्छेदकता निरूपणाधिकरण (संयोगानुसार स्फ्य आदि का व्यवस्थितत्व अधिकरण समाप्त हुआ ।)

अथ षष्ठमरुणाधिकरणम्

[६] अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरेककर्म्यान्नियमः स्यात् ॥१२॥ सि०

शा० भा०—जोतिष्टोमे क्रयं प्रकृत्य श्रूयते, 'अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या सोमं क्रीणाति', इति । तत्र संदेहः—किमरुणिमा कृत्स्नप्रकरणे निविशेत, उत क्रय एवैकहायन्यामिति । कथं पुनः, अरुणया क्रीणाति, इत्येवं विस्पष्टे क्रय-संबन्धे गम्यमाने संशय इति ? उच्यते—इह हि गुणमरुणिमानममूर्तं सन्तं क्रियायः करणमिति शब्द उपदिशति, यत्करणाभिधायिन्या तृतीयाविभक्त्या संयुज्य निर्दिशति—अरुणयेति । न चामूर्तोऽर्थः क्रियायाः साधनं भवितुमर्हति । अतोऽसंबन्धं क्रीणातिनाऽरुणगुणस्यावगच्छामः । न चाशङ्क्[1]नीयमर्थं प्रमाणभूतः शब्दोऽभिधास्यतीत्येवं प्रकल्पना[2] कदाचिदुपपद्येतापि । केनचित्प्रकारेण संबन्ध इति वचनप्रामाण्य[3]प्रकारान्वेषणे बुद्धिर्भवति । तद्यदि परं विचारयन्तः क्रिया-संबन्धसामर्थ्यमवगमिष्यामः—एकवाक्यतया क्रयएवारुणिमानं निवेशयिष्यामः । अथ त्वप्रमाद्यद्भिरन्विष्यमाणो न कथंचन संबन्ध उपपत्स्यते, ततो वाक्य-भेदमभ्युपगम्य प्रकरणधर्मसामेनमध्यवस्यामः । तस्मादवश्यं विचारणीयमेत-दिति । किं तावत्प्राप्तम् ? कृत्स्ने प्रकरणे निवेशः । कस्मात् ? संयोगतोऽविशे-षात्प्रकरणाविशेषाच्च ।

ननु[4] प्रकरणाद्वाक्यं बलीयो भवतीत्येकवाक्यत्वादरुणिमा क्रयेण संभन्त्स्यत इति । नैतदेवमवगम्यते । न हि वचनशतेनाप्यनारभ्योऽर्थः शक्यो विधातुम् । यो हि ब्रूयादुदकेन दग्धव्यम्, अग्निना क्लेदयितव्यमिति, किं स वचनप्रयोजन-सामञ्जस्यमश्नुवीत । न चामूर्तोऽर्थः क्रियायाः साधनमुपपद्यते । तस्मादरुणया क्रीणातीतिसंबन्धाभावारेकवाक्यता न भवतीति ।

ननु नैवायं गुणवचनः । किं तर्हि ? द्रव्यवचनः । कुतः ? स्त्रीलिङ्गसम्ब-न्धात् । द्रव्यविशेषा ह्येते स्त्री पुमान् नपुंसकमिति । स्त्रियां यत्प्रातिपदिकं

---

१. ब. अशंकनीयं । २. ब. प्रकल्प्य ।
३. ब. वचनप्रामाण्यात् । ४. ब. ननु च ।

वर्तते तस्मात्स्त्रीप्रत्ययो भवतीति। स्त्रीप्रत्ययं चारुणयेत्युपलभामहे। तस्माद् द्रव्यवचनोऽरुणाशब्द इति। तदेतदपेशलम्। तदेव हि द्रव्यमरुणिम्ना परिच्छिद्यमानमरुणाशब्दाभिधानीयतां लभते। तदेवान्यगुणकं नारुणाशब्दः शक्नोत्यभिवदितुम्। अरुणिमानमेष शब्दो न व्यभिचरति। व्यभिचरति पुनर्द्रव्यम्। अव्यभिचारि च कारणं कारणवतामिष्टम्। अतोऽस्य गुणः स्वार्थ इति गम्यते[1]। तदस्य प्रत्यक्षतो गुणवचनता गम्यते। स्त्रीप्रत्ययदर्शनात्तु नूनमरुणाप्रातिपदिकं द्रव्यवचनमित्यनुमानम्। प्रत्यक्षं चानुमानाद्बलीयः। तस्माद् गुणवचनः। कथं तर्हि स्त्रीप्रत्ययसंबन्धः। भवति हि गुणवचनस्यापि स्त्रीलिङ्गता। यथा करुणा बुद्धिः, एवमरुणेति। गुणवचनश्चेत्क्रीणातिना न संबध्यते। तस्माद्वाक्यभेदं कृत्वा प्रकरणे सर्वस्मिन्नेव संनिवेश इति।

अथ यदि क्रीणातिना न संबध्यते तस्मिन्नेव वाक्य एकहायनीशब्देन संभन्त्स्यते न भविष्यति वाक्यभेद इति तन्न। केवलं हि गुणमरुणाशब्दोऽभिदधाति, न द्रव्यगुणौ। केवलं च द्रव्यमेकहायनीशब्दः, न गुणसहितमिति, तयोः संबन्धस्य वाचिकां षष्ठीमन्तरेण कथं सम्बन्धो गम्यते।

आह। अन्तरेणापि षष्ठीमेकविभक्तिनिर्देशात्सामानाधिकरण्यमवगमिष्यामः। यथा नीलमुत्पलमिति। तदनुपपन्नम्। रूपादरुणाशब्दस्य गुणवचनता, कल्पनीयं त्वेकविभक्तिसंयोगादेकहायनीशब्दसंनिधानाच्च तदेकवाक्यतामभ्युपगम्यैकहायनीशब्दसामानाधिकरण्यम्। न च लिङ्गाद्वाक्यं बलीयः। तस्मादसदेतत्। तत्रोच्यते। यदा केवलगुणवचनतायां शब्दः प्रवर्तमानो न्यायेन संबन्धं लभते, तदाऽनुपदेशकत्वादानर्थक्यं मा भूदिति द्रव्यपरतामापद्यते। तस्यामवस्थायामेकविभक्त्युक्तेनैकहायनीशब्देन संनिहितेनैकवाक्यतामापद्यमानः समानाधिकरणो भवति। तथा च कृत्वा नीलमुत्पलमित्युपपद्यते। स चायमरुणशब्दस्तस्यामवस्थायां वर्तते। न ह्यस्य स्वार्थमभिदधत इतो विच्छिन्नस्य प्रकरणेऽप्यर्थवत्ता। कुतः? येनैव हेतुना क्रीणातिना न संबध्यते, नामूर्तोऽर्थः क्रियायाः साधनं भवति, न च क्रियासाधनैर्द्रव्यैः। न हि केवलगुणवचनः शक्नोति द्रव्यमभिधातुमिति। स एव हेतुः प्रकरणसंबन्धाभावेऽपि। तत्रापि संबध्यमानः क्रियाभिर्वा संबध्येत, तत्साधनैर्वा द्रव्यैः। तच्चोभयमप्यनुपपन्नम्। अतोऽनर्थकत्वपरिजिहीर्षया संनिहितेनैकहायनीशब्देनाऽरुणाशब्दः संबध्यते। नास्ति वाक्यभेदः।

---

१. ब० मन्यते।

नैतदेवम्। न ह्ययमरुणाशब्द एकहायनीविशेषणं भवितुमर्हति। किं कारणम्? करणविभक्त्या तृतीयया समुच्चरितोऽयम्। तेनैतेन तृतीयाश्रुतिसामर्थ्यात्क्रियाविशेषणेन भवितव्यम्। कारकाणां हि क्रियया संबन्धः, न द्रव्येणेति। स एष श्रुतिसामर्थ्यात्क्रियाविशेषणम्, वाक्यादेकहायनीविशेषणम्। श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी। तस्मान्नास्यैकहायनीसंबन्ध इति।

ननु च गुणस्य क्रियासंबन्धाभावादविवक्षिता कारकविभक्तिरिति[1], एकहायनीसंबन्धोऽयमध्यवसितः। एवमपि नोपपद्यते। यदि कारकाभिधानमविवक्षितमिति गुणशब्देनैतेन द्रव्यमभिधातुमिष्यते, तदा प्रातिपदिकार्थस्याव्यतिरेक इति प्रथमा विभक्तिः प्राप्नोति। न हि तृतीयान्तस्तमभिसंबन्धं शक्नोति वक्तुम्। न चान्यथानुपपत्तिरित्यन्योऽस्यानुपपद्यमानोऽर्थः शक्यते कल्पयितुम्। यथाऽग्नौ तिष्ठति माणवक इत्युक्ते ज्वलनेऽनुपपद्यमानो[2] नाश्वे, गवि वा कल्प्यते। अग्निसमीपवचन एवाऽध्यवसीयते। तद्वदिहाप्यप्रथमान्तः शब्दो न कथंचिदप्यव्यतिरिक्तेप्रातिपदिकार्थे भवितुमर्हति। तस्मात्काममनर्थकोऽवगम्यताम्, नास्यैकहायनीयसंबन्धोऽध्यवसातव्यः।

आह—न ब्रूमो न कारकमरुणाशब्देनाभिधीयत इति, व्यक्तमरुणगुणविशिष्टमेतेन कारकमभिधीयते। कदाचित्तु किंचिद्विधित्सितं भवति, कदाचिदुपसर्जनीभूतोऽर्थो विधित्सितः, प्रधानीभूतोऽनुवादः। तद्यथा दण्डीत्युपसर्जनीभूतदण्डकपुरुषप्रधानकः शब्दोऽवगम्यते। कदाचित्तु निर्ज्ञाते पुरुषे दण्डगुणविधानार्थमुच्चार्यते 'दण्डी प्रैषानन्वाह' इति। यथा[3] लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति, इति। एवमिहापि यद्युपसर्जनभूतोऽरुणो गुणः, प्रधानभूतम्—कारकम्, तथाऽप्यनूदिते कारकेऽरुणविधानार्थं वचनं युज्यते। तस्मादेकहायनीयसम्बन्ध उपपद्यते नास्ति वाक्यभेद इति।

नैतत्सारम्। अत्र ह्येकहायनीक्रीणात्योरनवबुद्धं सम्बन्धं [4]बोधयितुमयमेकहायनीशब्द उच्चरितः। स एष कथमिवारुणाशब्देन सम्बध्यते? तदेतदभिहितमपि पुनः पुनः पर्यनुयुज्यते। कथं पुनरेकहायनीशब्दस्य क्रीणातिनाऽरुणगुणेन च समाने समभिव्याहारे क्रीणातिना संबन्धोऽभ्युपगमनीयः न पुनरारुण्येनेति। शब्दप्रामाण्यात्। भवति हि क्रियासम्बन्धस्य वाचिका विभक्तिरेकहायनीशब्दमनुनिविष्टा, न तु गुणसंबन्धस्य वाचिका। का पुनः क्रियासंबन्धस्य वाचिका? का वा गुणसंबन्धस्येति? कारकलक्षणा क्रिया-

१. ब० कारकशक्ति। २. ब० अनुपपद्यमानः शब्दः।
३. ब० तथा। ४. ब० अवबोधयितुं।

सम्बन्धे विवक्षिते भवति द्वितीयादिः। अविवक्षिते पुनः कारके सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठी। न चात्र षष्ठीं पश्यामः। पश्यामस्तु खलु तृतीयाम्। अतः क्रीणातिना संबन्धमभ्युपगच्छाम एकहायनीशब्दस्य, नारुणाशब्देनेति। कथं तर्हि भवत्यत्र संबन्धो नीलमुत्पलमिति ? उच्यते।[1] भवति, न तु श्रुतिलक्षणः, किं तु वाक्यलक्षणः। उत्पलशब्दसंनिधाने [2]तदपेक्षोनीलशब्दस्तेनैकवाक्यतामभ्युपगच्छन्नाजहत्स्वार्थवृत्तिरुत्पलविशेषाभिधानपर[3] उच्चार्यमाणः सम्बन्धमभ्युपैति।

नन्विहापि वाक्यलक्षणस्तद्वदेवारुणिम्ना समं संबन्ध एकहायन्या युज्यते। नेति ब्रूमः। श्रुतिर्हि वाक्याद् बलीयसी। श्रुतिश्चास्याः क्रियासम्बन्धमाह, न गुणसम्बन्धम्। यदि पुनः श्रुतिसामर्थ्यात्क्रियासम्बन्धोऽभ्युपगम्येत, एकवाक्यत्वादपि गुणसम्बन्धः। नैवं शक्यम्। यो ह्यन्येन सह सम्बन्द्धुमुच्चार्यते, न तत्समीपगतोऽप्यन्यस्तेन सह सम्बन्द्धुमर्हति। यथा भार्या राज्ञः, पुरुषो देवदत्तस्येति भार्याविशेषणार्थमुच्चार्यमाणो राजशब्दो न पुरुषेण[4] सम्बध्यते। तद्वदिह क्रियाविशेषणार्थमुच्चार्यमाण[5] एकहायनीशब्दो नारुणाशब्देन सम्बन्धमर्हति।

आह। सत्यमेवमेतत्[6]। असत्यामाकाङ्क्षायामानन्तर्यमकारणम्। सर्वत्र तु बोधिते पदार्थे वाक्यार्थ उपपद्यते, नान्यथा। सामान्यवृत्ति हि पदम्, विशेषवृत्ति वाक्यम्। सामान्येनाभिप्रवृत्तानां पदार्थानां यद्विशेषेऽवस्थानं स वाक्यार्थः। तदेतदुक्तं तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् १-१-२५ इति। तत्र प्रत्यक्षतः पदार्थोः, वाक्यार्थः पुनरानुमानिकः। तदेतदवगम्यताम्। केवलस्वार्थवृत्तिपदमनुपदेशकमिति, पदान्तरेण संनिहितेनैकवाक्यत्वमभ्युपैति, नान्यथेति। तदिह यद्यप्येकहायनीशब्दः क्रीणातिना सम्बध्यमानः कृतार्थो न पदान्तरेण सम्बन्धमाकाङ्क्षति। अरुणाशब्दस्तु पदान्तरेण सम्बन्धमलभमानोऽनर्थक इत्येकहायनीशब्देनैकवाक्यतामभ्युपैति।

ननूक्तं क्रियासम्बन्धार्थो, नारुणासम्बन्धार्थ इति। आह—अरुणाशब्दस्याऽऽनर्थक्यपरिहारायोभयसम्बन्धार्थ इति वदामः। अन्यार्थमपि कृतम्, अन्यार्थमपि शक्नोति कर्तुम्। तद्यथा शाल्यर्थं कुल्याः प्रणीयन्ते, ताभ्यश्च पानीयं

---

१. न० भवति वाक्यलक्षणः संबन्धो न तु-श्रुतिलक्षणः।

२. ब० तदपेक्षोनीलशब्दः प्रयुज्यमानः।

३. ब० न जहत्स्वार्थवृत्तिः।

४. ब० पुरुषशब्देन।

५. ब० क्रयविशेषणार्थं।

६. ब० सत्यमेतत्।

पीयते, उपस्पृश्यते च। एवमिहापि क्रयसम्बन्धार्थमेकहायनीशब्द उच्चार्यमाणोऽरुणाशब्देन सह संभन्त्स्यते न किंचिद् दुष्यति। तस्मान्न वाक्यभेद इति। नैतदस्ति। यद्यप्ययमरुणाशब्दोऽनर्थको मा भूदित्येकहायन्या संबध्येत, तथाऽपि सर्वस्मिन्प्रकरणे निवेष्टुमर्हति। न चैनं सोमं क्रीणाति इत्येष शब्दः शक्नोति विशेष्टुम्। न ह्ययं विशेषणत्वेनोच्चार्यते, किं तर्हि? अपूर्वोऽयं विधीयते।

नन्वपूर्वोऽपि विधीयमान एकहायनीशब्दवदितरेण संभन्त्स्यते। कथम्? प्रयोजनाय ह्युच्चार्यमाणः शब्दो येनार्थः, तस्मै तावत्प्रयोजनायाऽवकल्प्यते। संनिहितश्च बुद्धौ भवति। तेन बुद्धौ संनिहितेन शक्यते साकाङ्क्षः शब्दः सम्बन्धयितुमिति।

नैतदेवम्। यो ह्यसम्बध्यमानोऽनर्थको भवति, स संबध्यते, नान्यः। कुत एतत्? संबध्यमाने हि सामान्यं विशेषेऽवस्थाप्येत। तत्र वाक्येन श्रुतिः पीडिता स्यात्। न चायमसंबध्यमानः क्रीणातिनाऽनर्थको भवति। प्रकरणगतैरभिसंभन्त्स्यते।

नन्वेतदुक्तं प्रकरणेऽप्यस्य संबन्धोऽनुपपन्न इति। नानुपपन्नः। एकस्मिन्वाक्येऽन्योऽर्थो विधीयमानो नान्येन संबध्यते, वचनव्यक्तिभेदात्। अन्या हि वचनव्यक्तिर्विधीयमानस्य, अन्या गुणेन संबध्यमानस्य अज्ञातवज्ज्ञाप्यते विधीयमानोऽर्थः, ज्ञातवदनूद्यते गुणसंबन्धार्थम्। न च सकृदुच्चार्यमाणो ज्ञातवत्, अज्ञातवच्च भवितुमर्हति। एकहायनीशब्दः[1] क्रये विधीयमानोऽज्ञातवत्स्यात्। अरुणाशब्देन संबध्यमानश्च ज्ञातवत्। वाक्यभेदे पुनर्न दोषो भवति, प्रकरणे तु वाक्यान्तरैः क्रियाद्रव्यान्तराणि च प्राप्तानि। तैरिदं वाक्यान्तरविहितं संबध्यते। [2]तत्रान्यस्मिन्विधीयतेऽन्यस्मिन्वाक्येऽनूद्यत[3] इत्युपपन्नं भवति। तस्मात् संयोगतोऽविशेषात्, प्रकरणाविशेषाच्च सर्वस्मिन् प्रकरणे द्रव्येषु निवेश[4] इति। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यादिति। यत्रार्थैकत्वं श्रूयते द्रव्यगुणयोः, तत्र द्रव्यगुणावेकस्मिन्पदार्थे नियम्येयाताम्। कुतः? ऐककर्म्यात्—ऐककार्यत्वात्। एकं हि कार्यं द्रव्यगुणयोः श्रूयते—क्रयसम्बन्धः। कथमेतदवगम्यते? एकवाक्यत्वात्। कथमेकवाक्यत्वम्? अरुणया पिङ्गाक्ष्यैकहायन्या इत्यपर्यवसितोऽर्थः साकाङ्क्षत्वादभिधातृप्रतिपत्त्रोः। सोमं क्रीणाति इति तु पर्यवस्यति। तयोरेवं नैरुत्सुक्यात्।

---

१. ब० तथा एकहायनीशब्दः।
२. ब० अन्यास्मनवाक्य।
३. ब० अन्यस्मिन्ननूद्यते।
४. ब० निविशत इति।

यद्येककार्यता किमिति विकल्पो न भवति (यदभिधीयते नियस्येयाता-मिति)। नैतदेवम्। एकार्थास्तु विकल्पेरन्निति विकल्पधर्माणौ प्राप्नुत इत्य-युक्तोऽयं पर्यनुयोगः। कथम्? पर्यनुयोगो नाम स भवति, यः स्वपक्षं साधयति, विपक्षस्य च प्रतीपमाचरति। न च विकल्पोऽस्मत्पक्षस्य प्रतीपमाचरति। क्रयेणारुणिमसम्बन्ध इत्येष नः पक्षः। न च विकल्पः, नानाकार्यत्वात्।

नन्विदानीमेवोक्तमेकं कार्यमिति। तच्चापि विरुद्धम्। एवं हि पूर्वमभि-हितम्। 'अमूर्तत्वाद् गुणो न क्रियया संबध्यत इति। इदानीं विपरीतमभि-धीयते। उभावपि द्रव्यगुणावेकार्थौ क्रयमभिनिर्वर्तयत इति। उच्यते। नैतद्वि-रुद्धम्। न च विकल्पः। एकं कार्यम्। सामर्थ्यभेदस्तु। साक्षाद्धि द्रव्यं क्रियां प्रत्युपकरोति। गुणस्तु विशिनष्टि साधनम्। यद्येवं न तर्हि गुणः क्रियामभि-निर्वर्तयति साधनस्यासौ विशेषक इति। नैतदेवम्। गुणस्य क्रियामभिनिर्वर्तयत एतदेव सामर्थ्यं यत्साधनं विशिष्यात्। आकाङ्क्षति च क्रिया साधनविशेष-णम्। चिह्नभूतो हि गुणः साधनं लक्षयति। असति चिह्ने न लक्ष्येत कतम-त्साधनं क्रियाया इति। ततः क्रियां नाध्यवस्येम[1] कर्तुमिति भवति क्रियासाधनं गुणः। न चैवं सति विकल्पो भवति। यथाऽधिकरणस्य कर्त्रादीनां च। अधि-करणं हि कर्त्रादीनि धारयति। तान्यधार्यमाणानि न शक्नुवन्ति क्रियामभि-निर्वर्तयितुम्। तथा कर्ता कारणादीनि समाधत्ते। तान्यसमाहितानि न शक्नु-वन्ति स्वं स्वमर्थमभिनिर्वर्तयितुम्[2]। यस्मिंस्तु साधनोपकारे कार्ये, तस्मिन्ने-वोपकारेऽन्यत्साधनं विधीयते, तत्र विकल्पः। यथा व्रीहिभिर्यजेत, यवैर्यजेत इति। उभयेऽपि तण्डुलनिर्वृत्त्यर्थाः।

एवं तर्हि तदेवेदं संजातम्। भवत्येकहायनीविधानम्, तद्विशेषणं चारुणो गुणः। तत्र स एव दोषो वाक्यभेदः प्रसज्येतेति। न ब्रूमोऽरुणाशब्द एक-हायनीशब्देन सम्बध्यत इति। किं तर्हि, क्रीणातिनैव सम्बध्यते। एवं हि श्रूयतेऽरुणगुणेन क्रयमभिनिर्वर्तयेदिति। यथा च तेन निर्वर्त्यते, तथा यतितव्यं भवति। न चाविशिषन्साधनं गुणः [3]क्रियामभिनिवर्तयतीत्यर्थात्साधनविशेष[4]-णतां प्रतिपद्यते। यथा स्थाल्यां पचेदिति क्रियासाधनत्वे निर्दिष्टेऽर्थात्संभवने[5] धारणे च स्थालीं व्यापारयति, तदिहापि द्रष्टव्यम्। तस्मान्नास्ति वाक्यभेद-प्रसङ्ग इति।

---

१. ब० नैवाध्यवस्यम। २. ब० अभिसंपादयितुं।
३. ब० क्रियांसाधयति। ४. ब० विशेषणत्वं।
५. ब० संभरणे।

नन्वेवमपि वाक्यं भिद्येत । कथम् ? प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिर्दृष्टेति । यथा देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तामिति प्रत्येकं भुजिः समाप्यते[1] । यथा च 'यस्य पिता पितामहः सोमं न पिबेदि'ति । एवमिहाप्यरुणया क्रीणाति, एकहायन्या क्रीणातीति । नैतदस्मत्पक्षस्य बाधकम् । एवमपि क्रय एवारुणिमा निवेक्ष्यति । न सर्वस्मिन्प्रकरण इति । सत्यमेष दोषो न भवति । किं त्वनरुणयाऽप्येकहायन्या क्रयः प्राप्नोति, अरुणया चानेकहायन्या ।

तत्र यदुक्तं द्रव्यगुणयोर्नियम इति, सा प्रतिज्ञा हीयते । न तर्हि ब्रूमो वाक्यभेद इति । कथम् ? क्रयस्य हि द्रव्यारुणिमानावुपदिश्येते, न क्रयस्तयोः । न च प्रधानं प्रतिगुणं भिद्यते, प्रतिप्रधानं हि गुणो भिद्यत इति । अस्ति चायं दृष्टान्तसमुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति । यथा गर्गाः शतं दण्डचन्तामिति । तथा 'अभिषुत्य हुत्वा भक्षयन्तो'ति । तस्मादुभयविशेषणविशिष्टः क्रयो विधीयते । कथं पुनस्तस्मिश्चेतरस्मिंश्च[2] दृष्टान्ते सति एकान्तेनावधार्यते समुदाय एव वाक्यपरिसमाप्तिर्न[3] प्रत्यवयवमिति ।

अत्र ब्रूमः । इह द्रव्यारुणिमानावुभावपि क्रि[4]यासंबद्धावुपलभ्येते परस्परेणासम्बद्धौ । क्रयोऽपि द्रव्यारुणिमभ्यां विशिष्ट उपलभ्येते नान्यतरेण । तत्र यदि द्रव्यपरम्, अरुणिमपरं च भवति वचनमिदं[5], ततः प्रत्यवयवमसंशयं क्रयसंबन्धः । अथ क्र[6]यविधित्सयाऽभिधीयते ततो यथैवायमेकहायनीविशिष्ट एवमरुणिमविशिष्ट इति नियमत[7] उभयसंबन्धोऽभ्युपगमनीयः । न चात्र द्रव्यारुणिमानावीप्सितौ । ईप्सितस्तु क्रयः । तेन हि ज्योतिष्टोमद्रव्यं सोमः परिप्राप्यते । द्रव्यारुणिमानौ क्रयार्थौ सन्तावीप्सितौ स्याताम्, नान्यथा । तस्मात्क्रयो विधीयते । स च नान्यतरविशिष्टः प्रतीयत इति, समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिह निश्चीयते । यदा चैवं तदा नैकहायनीं मुक्त्वाऽन्यद् द्रव्यं क्रयसाधनमस्ति । न चारुणादन्यः साधनस्य विशेषको गुण इति नियमः सिद्धो भवति ।

अत्र वदामः । यदि क्रयस्य साधने गुणोऽभिसंबन्धमुपैति, तदा वाक्ये भिन्नेऽपि क्रयसाधनत्वादरुणिमाऽन्यस्मिन्[8] द्रव्ये न निवेक्ष्यते, किमर्थमेकवाक्यता प्रयत्नेन साध्यत इति ? तदेतदभिधीयते । भिन्ने हि वाक्य एकहायनीसाधनकः क्रयोऽवबुद्धो भवति । अरुणासाधनमपि क्रयान्तरम् । न तस्मिन्नेवैकहायनीसाधने : येऽरुणिमा[9] विहितो[10] भवति । तत्र यत्क्रयान्तरमरुणगुण-

---

१. ब० परिसमाप्यते । २. ब० पुनरेतस्मिन् ।
३. ब० रिहन प्रत्येकमिति ब्रूमः । ४. ब० क्रयसंबद्धा ।
५. ब० मिदमिह । ६. ब० विधीयते ।
७. ब० नियोगतः । ८. ब० क्रयेऽरुणता ।
९. ब० विहिता ।

विशिष्टं तत्रार्थात्प्राप्तमन्यदपि साधनं भवति। तदपि विशिंषन्नरुणो गुणस्तेन संबध्येत एकवाक्यत्वे तु तत्परिहृतं भवति। तस्मात्साध्वभिधीयते अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यादिति ॥१२॥ इति षष्ठमं आरुणाधिकरणम् ॥६॥

अथ षष्ठमरुणाधिकरणम्

त० वा०—अरुणाशब्दो गुणवचनः। पिङ्गाक्ष्येकहायनीशब्दौ द्वावपि सामानाधिकरण्यादेकद्रव्यवचनौ। तत्र गुणे संदेहः—किमेकवाक्यगतेनैव द्रव्येण सह सम्बध्यते, उत प्रकृतेन द्रव्यमात्रेणेति।

पिङ्गाक्षीत्यादिशब्दानां गुणवाचित्वमिति शङ्का

ननु च पिङ्गाक्ष्येकहायनीशब्दयोरपि गुणवचनत्वान्नैवात्र वाक्ये द्रव्यमस्ति। कथं गुणवचनत्वमिति चेत् ?

मतुप्प्रत्ययस्य सम्बन्धवाचिकत्वम्

उच्यते—

बहुव्रीहिसमासोऽयं मतुबर्थे विधीयते।
सोऽस्यास्तीति च सम्बन्धे मत्वर्थीयः प्रवर्तते॥

गोमानित्येवमादिषु हि गोषु प्रातिपदिकेनाभिहितासु तद्वत्यर्थे मतुपाऽभिधातव्येऽवश्यं तावत्सम्बन्धः पूर्वतरमभिधातव्यः। कुतः ?

न हि गोभिरसम्बद्धो गोमानित्यभिधीयते।
तस्माद्विशेषणं तत्र सम्बद्धः पूर्वमिष्यते॥

विशेषणं तावत्सर्वत्र पूर्वतरमभिधीयत इति स्थितम्। इह च सम्बन्धो विशेषणमिष्यते, न गोमात्रम्, असंबद्धेषु प्रत्ययानुत्पादात्।[1] यदि गोमात्रं विशेषणं भवेत्, ततस्तासु प्रातिपदिकेनाभिहितासु विशेष्यं प्रत्ययोऽभिदध्यात्। सम्बन्धे पुनर्विशेषणे नियोगतः सोऽभिधातव्यः केनचित्। न चास्य प्रातिपदिकमभिधायकम्। आकृतिमात्राभिधायित्वात्। न च प्रातिपदिकार्थो गमकः। विनाऽपि संबन्धेनोपपद्यमानत्वात्। केवलगोशब्दोच्चारणेऽपि चाप्रतीतेः। गोमत्पदोच्चारणेऽपि प्रत्ययवेलायामेव संबन्धबुद्धिः। अतश्च 'तदागमे हि तद् दृश्यते' इत्यपि प्रत्ययार्थत्वम्। यच्च विशेष्ये वर्तते, तेन तत्प्रत्यासन्नं विशेषणमुपादातव्यम्। न च प्रातिपदिकं विशेष्ये वर्तते, यतस्तद्विशेषणभूतं संबन्धमुपाददीत। प्रत्ययस्तु तत्र वर्तत इत्युपादते। स चेदुपात्तः, तेनैव संबन्धिप्रत्ययसिद्धेरभिधानशक्तिप्रतिबन्धाद्विशेष्यानभिधानम्। न च विशेष्यप्रत्ययात्संबन्धप्रत्ययो भवति।

---

१. क० प्रत्ययानुत्पत्तेः।

प्राक्संबन्धाद्विशेष्यत्वाभावात्सिद्धे च विशेष्यत्वेन संबन्धे न पश्चात्किंचित्प्रयोजनमस्तीत्यप्रतीतिरेवास्य प्राप्नोति । तस्मात्प्रथमतरप्रत्याय्यत्वात्प्रत्ययार्थः सम्बन्धः ।

इतश्च प्रत्ययार्थः सम्बन्धः ।

शब्दवृत्तिनिमित्ते हि भावप्रत्यय इष्यते ।
देवदत्तस्य गोमत्त्वं संबन्धश्च प्रतीयते ॥

यथैव शाबलेयस्य गोत्वं विशेषणम्, यथा च विशेषणभूता जातिर्भावप्रत्ययेन निष्कृष्टाऽभिधीयत इति, गोपदस्य सैव वाच्यत्वेनेष्टा । तथा देवदत्तस्य गोमत्त्वमित्युक्ते गवि प्रतिपत्त्यभावात्संबन्धनिष्कर्षप्रतीतेश्च स एव भावप्रत्ययार्थोऽध्यवसीयते । यश्च भावप्रत्ययार्थः, स प्रातिपदिकस्य विशेष्ये वर्तमानस्य निमित्तम् । यच्च निमित्तं, तद्विशेषणात्वान्मुख्यमभिधेयम् । लाक्षणिकं विशेष्यम् । यदि च मतुपा संबन्धोऽभिहितः, ततः 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह[1] ब्रूत' इति गोमत्प्रातिपदिकादुत्पन्नो भावप्रत्ययः संबन्धमभिधातुमर्हति, नान्यथा । तस्मादपि सम्बन्धोऽर्थः ।

एतेन सर्वे यौगिकाः कृत्तद्धितसमासेषु व्याख्याताः । सर्वत्र हि भावप्रत्ययः संबन्धमभिधत्ते राजपुरुषत्वमौपगवत्वं पाचकत्वमिति । अत एवैते यौगिकाः, यतस्तेन निमित्तेन वर्तन्ते । तस्मान्मत्वर्थविषयत्वाद्बहुव्रीहेरेकहायन्यादिशब्दैः सम्बन्धोऽभिधीयते ।

बहुव्रीहेस्सम्बन्धवाचित्वोपपादनम्

किं च—

यस्मिन्नन्यपदार्थे च बहुव्रीहिर्विधीयते ।
तत्रापि प्रत्ययार्थत्वात्संबन्धस्य प्रधानता ॥

एकं हायनमस्या इति षष्ठ्यन्तेनाऽन्यपदार्थः प्रदर्श्यते । षष्ठ्यर्थस्य च प्रत्ययार्थत्वादिह प्राधान्यम् । तद्रूपदर्शनार्थमेव[2] सर्वनामप्रयोगः । केवलायाः विभक्तेरप्रयोगात्सर्वनामार्थप्रतीत्यभावाच्च । षष्ठ्याश्च स्वस्वामिसम्बन्धकारणावयवादिसम्बन्धो[3] वाच्य इत्येतत्प्रसिद्धम् । अतोऽपि सम्बन्धाभिधानं बहुव्रीहिणा ।

न चाप्यन्यपदार्थत्वं जातेरध्यवसीयते ।
न हि पिङ्गाक्षिसंबन्धस्तस्या नाप्येकवर्षता ॥

व्यक्तिधर्मा ह्येते पिङ्गे अक्षिणी अस्याः, एकं हायनमस्याः, चित्रागावोऽस्येत्येवमादयः । तासां च व्यक्तीनामनन्तत्वेन संबन्धानुपलब्धेर्व्यभिचाराच्चावाचकः

---

१. क० सहार्थंब्रूत । २. क० तद्रूपदर्शनार्थमेव । ३. क० स्वस्वामिसम्बन्धसमूह ।

शब्द इत्युक्तम् । न ह्यद्य जातायां पिङ्गाक्ष्यां प्रथमः प्रयोगो भवेत् । अतोऽवश्यं सामान्यं किंचिद्वाच्यमाश्रयितव्यम् । न च तदिह संबन्धादन्यदुपपद्यते ।

किं च—

वयोवस्थाऽभिधीयेत यद्यपि त्वेकहायनी ।
तथाऽपि गुण एवासौ न द्रव्यमिति गम्यते ॥

तस्मान्न द्रव्यशब्दः कश्चिदत्र विद्यत इत्यनुदाहरणत्वम् । न चान्यदुदाहरणं सम्भवति । साक्षाद् द्रव्यवचनशब्दाभावात् । सर्वत्र हि रूढिशब्दानां जातिवचनत्वम्, यौगिकानां च संबन्धाभिधायित्वम् । यस्त्वेकान्तेन द्रव्यवचनः स्यात्, डित्थडवित्थादिशब्दः, न नैव वेदे प्रयुज्यते । तस्माज्जातिगुणयोर्गुणयोरेव वा नियमः स्यादिति सिद्धान्तोक्तावपि योजयितव्यम् ।

अथवाऽधिकरणमेव निर्विषयत्वान्नाऽऽरब्धव्यमिति ।

उच्यते—

सर्वत्र यौगिकैः शब्दैर्द्रव्यमेवाभिधीयते ।
न हि सम्बन्धवाच्यत्वं सम्भवत्यतिगौरवात् ॥

तन्निरासः

यद्येकहायन्यादिभिः शब्दैः संबन्धोऽभिधीयेत, ततो नोदाह्रियेरन् । न त्वेतैः संबन्धोऽभिधीयते । कथम् ?

सम्बन्धवाचकत्वे गौरवकथनम्

अतिगौरवात् । इह हि संबन्धमात्रं वाऽभिधेयं कल्प्यते, तद्विशेषो वा । यदि तावत्संबन्धमात्रं, ततः सर्वयौगिकानामेकविषयोपनिपातात्पर्यायत्वप्रसङ्गः । अथ संबन्धविशेषः । ततस्तस्य स्वतो विशेषाभावादवश्यं संबन्धिकृत एव भेदोऽभ्युपगन्तव्यः । संबन्ध्यपि चानभिधीयमानो न शक्नोत्यभिधीयमानं संबन्धं व्यवच्छेत्तुमित्यवश्यं सोऽप्यभिधातव्यः । न चैकस्मिन्संबन्धिनि संबन्धोऽवस्थितः । न च तन्मात्रेणान्यस्माद्व्यवच्छिन्नः प्रतीयत इति, उभावप्यभिधातव्यौ । तत्र गोमानित्येकः सबन्धी गोशब्देनाभिधीयते । द्वितीयस्य न कश्चिदभिधाता दृश्यते । तेन मतुपा विशिष्टं संबन्धमभिदधता तद्वन्तं सन्तं संबन्धिनमेकमनुक्त्वाऽभिधातुमशक्नुवता नियोगतः सोऽप्यभिधातव्यः । ततश्च तमभिधाय संबन्धाभिधायामतिगौरवं स्यात् ।

अपि च ।

संबन्धिनैव संबन्धः प्रत्येतुं यदि शक्यते ।
पुनस्तस्याभिधाशक्तिं कः श्रुतेः परिकल्पयेत् ॥

यदा च पूर्वतराभिहितसंबन्धिप्रतीत्यैव संबन्धोऽप्याक्षिप्तः तदा नैव प्रत्ययेनापि सोऽभिधीयत इति शक्यं वक्तुम्। तस्मादर्थाक्षिप्तेनैव संबन्धेन भवितव्यम्। यत्त्वप्रतीते संबन्धे, विशेष्यं न प्रतीयत इति।

तत्र ब्रूमः—

विशेषणाद्विना नेष्टो विशेष्यप्रत्ययोद्भवः।
विशेषणं च गावोऽत्र न संबन्धः कथंचन॥

देवदत्तो हि गोभिरवाच्छिन्नो विवक्षितः। ताश्च प्रातिपदिकेनोपात्ताः सन्त्येव। यत्तु नासंबद्धाभिरवच्छिद्यत इति। सत्यं नावच्छिद्यते। तेनैव ताभिः संबन्धाक्षेपोऽर्थाल्लभ्यते[1] सर्वथा तावद्गोमच्छब्देन[2] गोविशिष्टोऽयमित्येतदभिहिते, कथमनवस्थितास्ता गावस्तं विशिंषन्तीति, तासामेवैष व्यापारः, न शब्दस्य।

तथा हि—

न विशिंषन्ति गावोऽर्थं पृथिव्यामनवस्थिताः[3]।
तत्र किं शक्यते वक्तुं पृथिव्यप्यभिधीयते॥

न हि येन विनाऽर्थात्मलाभो नास्ति तत्तदभिधातव्यम्। किं तर्हि ? यावता विना विशिष्टबुद्धिर्नोत्पद्यते—गोभिश्चाप्रतीताभिस्तद्वति बुद्धिर्नोत्पद्यते, न संबन्धेनापि।

किं च—

वक्तृव्यापारमात्रं च संबन्धप्रत्यवेक्षणम्।
स हि गोभिरसंबद्धं न गोमन्तं विवक्षति॥

सर्वत्र हि वक्तृक्रमविपर्ययेण श्रोतुः क्रमो भवति। स हि प्रथमं तावत्किंचिद्विशेष्यं विवक्षति, ततस्तस्य केनचिद्विशेषणेन विनाऽभिधातुमशक्तेर्विशेषणविवक्षां करोति, ततः शब्दोच्चारणम्। श्रोता पुनः प्रथमं तावच्छब्दं शृणोति, ततो विशेषणम्, ततो विशेष्यम्, ततस्तदुपपत्त्यर्थानि वस्त्वन्तराणि प्रपद्यते। तेन यद्यपि वक्त्रा पूर्वं संबन्ध आलोचितः तथाऽपि श्रोता पश्चादेवैनं ग्रहीष्यति। न त्वत्र वक्त्राऽप्यसौ पूर्वतरमवधारितः। संबन्धिनोरगृहीतयोर्ग्रहीतुमशक्यत्वात्, अतस्तदीयेनापि क्रमेणोत्तरकालमेव प्रतीयमानः संबन्धो नार्थाक्षिप्तत्वं परित्यजति। वस्तुधर्मश्चैष यदसंबद्धा गावो न विशिंषन्ति, स तासां व्यापारो न शब्दस्य। तेन यं यथावस्थितं शक्नुवन्ति विशेष्टुम्, स तथाऽवस्थास्यते। संबन्धश्चासौ विशेष्यत्वं प्रतिपद्यत इति अर्थात्संबध्यते।

१. क० संबन्धोऽर्थात्। २. क० तावच्छब्देन। ३. क० अवस्थिताः।

विशेष्यत्वेन संपन्नं तद्विशेषणसंगतम् ।
गोविशिष्टोऽयमित्येवं गोमच्छब्दोऽभिधास्यति ॥

तस्मादप्यनभिधेयः संबन्धः ।

किं च— विभक्तिवाच्यरूपेण संबन्धो नावगम्यते ।
रूपान्तरेण वक्तव्य इति नास्ति च लक्षणम् ॥

षष्ठीसप्तमीभ्यां हि यादृक् संबन्धः स्वप्रधानोऽसत्त्वभूतश्च प्रत्याय्यते, न तादृक् मत्वर्थीयेन । न च 'कृदभिहितो भावो द्रव्यवद्भवतीत्येवमिव रूपान्तरोपादानं केचिदभिदधति । तत्र किमसत्त्वभूतसंबन्धाभिधानमाश्रीयताम्, उत संबन्ध्येवार्थ-लभ्यतद्विशिष्टोऽभिधीयतामिति । तदुच्यते[1]—

प्राक्प्रतीतैकसंबन्धिविशिष्टेऽभिहिते परे ।
संबन्धिन्येव संबन्धः प्रतीत इति नोच्यते ॥

यत्तु सिद्धे विशेष्ये न पश्चात्संबन्धप्रत्ययेन कार्यमिति । सत्यं नास्ति । विनाऽपि तु तेन नान्तरीयकत्वात्प्रतीयत इति किं क्रियताम् ।

यच्च भावप्रत्ययेनाभिधानादस्य मत्वर्थत्वमिति ।

अत्रापि ब्रूमः—

यदा स्वसमवेतोऽत्र वाच्यो नास्ति गुणोऽपरः ।
तदा गत्यन्तराभावात्संबन्धो वाच्य आश्रितः ॥

गोमतो भावो गोमत्त्वमिति हि—

यन्निमित्तमपेक्ष्यायं गोमच्छब्दः प्रवर्तते ।
स एव गोमतो भाव उच्यते त्वतलादिभिः ॥

तत्र यास्तावत्प्रातिपदिकार्थे विशेषणं गावः तासां तद्वतः पुरुषादत्यन्त-भेदाद्भावप्रत्ययेनाऽग्रहणम् । समवेतगुणग्राहो हि भावप्रत्ययः । न चाऽन्योऽभि-धीयमानस्तत्र गुणः संभवति, यो निमित्तभावाद्भाव इत्युच्येत । न च पुरुष एव तस्य भाव इत्येवं व्यपदेशभेदं लभते । तेन भावप्रत्ययः 'आनर्थक्यात्तदङ्गेषु' इत्यर्थप्राप्तं संबन्धमवलम्बते । निमित्तत्वमपि च तस्य वस्तुलक्षणमस्तीत्यभिधेय-निमित्तासंभवे तदपि तावद् गृह्यतामित्येवमाश्रीयते । तस्मादकारणमेतद्यौगिकानां संबन्धाभिधानशक्तिकल्पनायाम्[2] ।

---

१. क० तदुच्यताम् ।		२. क० कल्पनायाः ।

अतश्च दण्डिशब्देन संबन्ध्येवोच्यते यथा ।
तथैव योगिकैः शब्दैः पिङ्गाक्ष्यादिपदैरपि ।
संबन्धस्य च भावत्वं व्याख्येयं तेषु पूर्ववत् ।
बहुव्रीहेरतो द्रव्यमभिधेयं न तद्गुणः ॥

यदप्येकं हायनमस्य इत्यन्यपदार्थे षष्ठ्यर्थप्राधान्यात्संबन्धे बहुव्रीहिरिति ।

तत्राभिधीयते—

अभिधेयो बहुव्रीहेर्यद्यप्यस्येति कथ्यते ।
यथाऽपि प्रथमान्तेन तुल्योऽसौ संप्रतीयते ॥

यदि त्वन्यपदार्थः षष्ठ्यन्त एव संबन्धी स्यात् ततो यथैव राज्ञः पुरुष इत्यत्र षष्ठ्यन्तत्वाद्राजा पुरुषविशेषणं भवति, प्रथमान्तत्वाच्च पुरुषः प्रधानरूपेण समासार्थो भवति । एवमेव चित्रग्वादिशब्दैर्देवदत्तादिविशिष्टा गाव एव प्रतीयेरन्, न चित्रगोविशिष्टो देवदत्तादिः । तस्माच्चित्राणां गवामयमितीदृशेऽर्थे बहुव्रीहिर्वर्तते । यद्यप्यन्यथा विग्रहः तथाऽप्युत्तरकालमीदृगर्थदर्शनादेवमेव विग्रहोऽपि कर्तव्यः । ततश्च संबन्धविशिष्टाभिर्गोभिर्देवदत्तादिर्विशिष्ट इति समासार्थो विज्ञायते ।

तथैव च राज्ञः पुरुष इत्यत्र षष्ठ्यां प्रयुज्यमानायां संबन्धः प्रधानभूतोऽभिधीयते, कृते च समासे निवृत्तायां विभक्तौ पूर्वोत्तरपदयोः प्रत्येकप्रयोगदृष्टार्थापरित्यागात्संबन्धाधिक्यस्य च सामीप्यावगतविशिष्टार्थप्रत्ययादेव सिद्धेर्न संबन्धपरः समासो भवति ।

एवमेव षष्ठ्यप्रयोगादेव बहुव्रीहावपि न संबन्धप्राधान्यम् । तच्च[1] न पूर्वोत्तरपदार्थयोः, नाप्यन्यतरस्येत्यन्यपदार्थभूतद्रव्यप्राधान्याध्यवसानम् । स चान्यपदार्थः संबन्धो योग्यतावशेन जाति-द्रव्य-गुण-क्रियाणामन्यतमः परिगृह्यते ।

तद्यथा—

चित्रव्यक्तिरियं जातिर्द्रव्यं नानागुणं त्विदम् ।
गुणोऽनेकाश्रयः कश्चिदियं त्वेकाश्रया क्रिया ॥

सर्वत्र च योग्यत्वात्समानाधिकरणपदान्तरोपनीतोऽन्यपदार्थविशेषो गम्यते । तदिहैकं हायनमस्या इति जातेरनादित्वान्न विशेषणं सम्भवतीति, व्यक्तिराश्रीयते । ननु व्यक्तीनामानन्त्यव्यभिचाराभ्यामनभिधानमुक्तम् । नैष दोषः ॥

अनन्त्येऽपि हि भावनामेकं कृत्वोपलक्षणम् ।
शब्दः सुकरसंबन्धो न च व्यभिचरिष्यति ॥

---

१. क० नचेति ।

यत्र तावज्जात्यैवान्यपदार्थं उपलक्ष्यते, तत्र तयैवैकया सकृद् गृहीतयोपलक्षिता व्यक्तयो देशादिभिन्ना अप्यभिधास्यन्त इति सुज्ञानः संबन्धः। न च तदुपलक्षिताभ्योऽन्यत्र प्रयोग इत्यव्यभिचारः। यत्र तु व्यक्तिभिरेव व्यक्त्यन्तराणि विशेष्यन्ते, तत्रापि मूलोपलक्षणं जातिरेवाभ्युपगम्यते। सर्वथा दूरमपि विशेषणमालायामनुवर्तमानायां प्रथमोपलक्षणस्याभेदात्संबन्धदर्शनमुपपत्स्यते। सर्वप्रथमसर्वान्त्ययोश्च शब्दार्थत्वम्। आन्तरालिकानां तु लक्षणासिद्धज्ञानत्वादनभिधेयत्वम्। अतश्च पिङ्गत्वाक्षित्वाभ्यां स्वव्यक्तयो गुणावयवात्मिका लक्ष्यन्ते। ताभिरवयवि द्रव्यमुपलक्ष्यते। तच्च समासार्थो भवति।

अभिधानमिति केषाञ्चिन्मतम्

सः पुनः किमभिधेयः लाक्षणिक इति। प्रधान्येन प्रतीतेः सामानाधिकरण्यात् 'अनेकमन्यपदार्थे' इति च स्मरणाद्देवतातद्धितमत्वर्थीयादिभिरिवाभिधीयत इति केचित्।

अपरेषां मतम्

अपरे त्वाहुः—युक्तं देवतातद्धितादावनन्यप्रयोजनत्वाच्छब्दाधिक्याच्चान्यपदार्थाभिधानम्[1]। न च तत्र प्रातिपदिकार्थेन सोऽर्थः शक्यो लक्षयितुम्, व्यभिचारात्। केवलाच्च प्रातिपदिकादप्रतीतेः। बहुव्रीहौ तु पूर्वोत्तरयोः पदयोर्विद्यमानस्वार्थत्वादन्यस्य चाभ्यधिकस्य शब्दावयवस्याभावात्पिङ्गत्वाक्षित्वाभ्यामेव च द्रव्यप्रत्ययसिद्धेर्न शक्यमभिधेयत्वं कल्पयितुमिति।

तन्निरासेन पिंगाक्ष्यादिशब्दानां द्रव्यवाचित्वम्

न त्वेतद्व्यापित्वेन शक्यमाश्रयितुम्। कर्मधारये ह्येतद्व्यापित्वेन स्यात्सर्वथा लक्षणानिमित्तोपपत्तेः। इह तु चित्रगुदित्येवमादिषु चित्रगोशब्दयोरन्यन्तव्यतिरिक्तार्थाभिधायित्वाद्देवदत्तादिशब्दैश्च न श्रुत्या, लक्षणया वा सामानाधिकरण्यमवकल्पते। प्रागपि च देवदत्तादिशब्दादन्यपदार्थप्रतीतेर्न वाक्यार्थत्वकल्पना। न च केवलं समासवेलायां यौ पदार्थाववधारितौ, तौ देवताद्यर्थसंबन्धिनौ, यतो वाक्यार्थो देवदत्तः स्यात्। तस्मादवश्यं प्रतीते, स्मरणोच्चान्यपदार्थोऽस्य वाच्य इत्यभ्युपगन्तव्यम्। एवं च प्राधान्यमविरुद्धं भविष्यति। अतश्चैवमादिषु बहुव्रीहेरन्यपदार्थाभिधानशक्तिर्दृष्टेति यत्राऽपि कथंचिल्लक्षणा संभवति, तत्रापि पूर्वक्लृप्तशक्त्यनपायादभिधेयत्वमेवाध्यवसीयते। तस्मादुपपन्नं पिङ्गाक्ष्यादीनां द्रव्यवचनत्वम्।

---

१. क० शब्दाधिक्यस्य।

यत्त्वेकहायनीति वयोवचन इति। तदनुपपन्नम्। वयसो लक्षणयाऽवगतेः। उक्षादिशब्दानां हि वयोवचनत्वम्। एकहायन्यादिशब्दाः पुनः कालविशेषयुक्तद्रव्यवचनाः सन्तो वयोलक्षयन्तः प्रवर्तन्ते। न ह्येकं हायमानस्या इत्येवं वयो निर्दिश्यते। किं तर्हि ? द्रव्यम्। तस्य ह्येकं हायनं जातस्य, न वयसः। तस्मादुभाभ्यामप्येताभ्यामात्मैकदेशोपात्तगुणविशिष्टद्रव्यप्रत्यायनादुपपन्नोऽयं संशयः—किमरुणिमा कृत्स्नप्रकरणगतक्रयाङ्गद्रव्यशेषत्वेन निविशते, अथवा समानवाक्यस्थाख्यातपदप्रत्यायितक्रय एवैकहायन्यामिति। अत्राप्युद्धननादिवदाक्षेपः। संयुक्तश्रवणादसार्वत्रिकत्वे प्राप्ते, तं परिहरति। एष गुणः क्रयेण, एकहायन्या वा समानवाक्योपादानात्संबध्येत। तत्र तावत्कारकविभक्तिनिर्देशादनाशङ्कनीयतरे सति द्रव्यसंबन्धे, क्रयसंबन्धः श्रुतिबलीयस्त्वाद्भवेत्। न चासावमूर्तत्वान्निष्क्रियस्य गुणस्योपपद्यते। यदि त्वगत्या पुनर्द्रव्ये संबन्ध आश्रीयते, तत्राप्येकहायन्याम् 'ऐकशब्द्ये परार्थवत्' इत्येवं क्रयारुणिमानौ प्रति वैरूप्यं स्यात्। भिन्नविभक्त्यर्थयोगश्चासन्नभ्युपगन्तव्यः। क्रियासम्बन्धस्य कारकविभक्तिसाध्यत्वात्, गुणसम्बन्धस्य च षष्ठ्यधीनत्वात्। अतश्च वाक्यगतेन सम्बन्धिना योग्यत्वाभावादसम्बध्यमानः प्रकरणिना गृहीतः सर्वार्थं स्यादित्याशङ्क्यते। तेन तर्ह्ययमेवार्थो निश्चीयत इति, क्रयसम्बन्धो नाऽऽशङ्कितव्यः। तदर्थमाह—**'न चाशङ्कनीयमर्थं[1] प्रमाणभूत शब्दोऽभिधास्यती'ति।** यदेतत्समानवाक्योपादानम्, करणविभक्तिविर्देशश्चैतेनापि क्रयैकहायनीविशेषणत्वबुद्धिर्दृढा जायते। तेन शब्दप्रामाण्याद्वस्तुविसंवादाच्च किं समञ्जसम्, किमसमञ्जसमिति जायते संदेहः। तत्र प्राथम्याच्छब्दानुरोधेन तावत्क्रियासम्बन्धमुपन्यस्यति, वैदिकशब्दस्यातिभाराभावात्। तत्र विनियोगबलेनास्य वस्तुसामर्थ्यसद्भावान्वेषणे यतिष्यामहे। तद्यदि केनचित्प्रकारेणोपपत्स्यते, ततः क्रय एव निवेशमङ्गीकरिष्यामः। **अथ तु न कथंचनोपपत्स्यते, ततो वाक्यभेदमभ्युपगम्य प्रकरणधर्ममेनमध्यवसास्यामः।** न चात्र वाक्यभेदः प्रत्यययाद्यन्यतमावृत्तिलक्षणः। कस्तर्हि ? विभागरूपः। क्रयवाक्यस्य भेदंविभागलक्षणमभ्युपगम्येत्यर्थः।

यद्वा भिद्यत इत्येवं घञयं कर्मकतरि।
अरुणाशब्द एवं च भेदो वाक्यस्य गम्यते॥

पृथग्भवद्वाक्यं भेदयतीति वाक्यभेदः। तादृशं चाभ्युपगम्य प्रकरणधर्माध्यवसानम्। एतदुक्तं भवति 'यावच्छ्रुतिवाक्ये व्याप्रियेते, तावत्प्रकरणधर्मत्वं नास्ति' यदा तु वस्तुविसंवादाद्विहतशक्तिनी ते निर्व्यापारे भविष्यतः, तदा प्रकरणविनियोग इति। किं तावत्प्राप्तमत आह—**विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात्संयोगतोऽवि-**

---

१. ब. शंकनीय।

शेषात्प्रकरणाविशेषाच्चेति। श्रुतिवाक्ययोश्च तावदसामर्थ्यनौदासीन्यात्। कथं पुनर्गुणस्याक्रियात्मकस्य सतः प्रकरणेन ग्रहणम्? उच्यते। नैवात्र प्रकरणं ग्राहकत्वेनेष्टम्। कथं तर्हि? अरुणयेत्यत्र पदे या तृतीया, तया करणानि प्रकरणलभ्यज्योतिष्टोमापूर्वसाधनानि सोमप्रभृतीन्यनूद्यारुणप्रातिपदिकार्थो विधीयते।

अतश्च पदमेवैतद्वाक्येनैवं विभज्यते।
या व्यक्तिः करणत्वेन चोदिताऽपूर्वसाधनम्॥
तया तत्साधयेन्नित्यमरुणत्वविशिष्टया।
एवं चेदरुणं कार्यं करणं यद् ग्रहाद्यपि॥

तस्मात्सर्वकरणान्यरुणीकर्तव्यानि।

यत्पुनर्यजमानादि विहितं कारकान्तरम्।
न तस्यायं गुणः शेषः सर्वार्थोऽप्यवधारितः॥

यदुच्यते गुणवचनत्वादरुणाशब्दः क्रीणातिना न संबध्यत इति। तदाक्षिपन्नाह—**ननु नैवायं गुणवचन इति।** रूपरसादिशब्दाः केवलगुणवचनाः। तथा हि। यदा तेषां द्रव्येषु प्रयोगः, तदा न मत्वर्थीयेन विना प्रवर्तन्ते। ये पुनः शुक्लारुणादिशब्दाः ते कदाचिदेव षष्ठ्यन्तद्रव्यपदसंनिधानाद्भावप्रत्ययरहिता गुणेषु वर्तन्ते पटस्य शुक्ल इति। नित्यं गुणोपसर्जनद्रव्यवचनाः। तथा चान्तरेणापि मत्वर्थीयं द्रव्यसामानाधिकरण्यं प्रतिपद्यन्ते। यथा शुक्लः पटः, अरुणो घट इति।

ननु च मतुब्लोपाम्नानादेषामेवं वृत्तिर्भविष्यति। नैतदेवम्।

शब्दानां न हि लोपेन वाच्योऽर्थः प्रतिपाद्यते।
तस्मादुभयसामर्थ्यमेवं तत्रावगम्यते॥

यथैव क्विबन्ताद्युनादिषु प्रकृतिप्रत्यययोः प्रत्येकमुभयार्थाभिधानसामर्थ्यं सदेव लोपद्वारेणान्वाख्यायते, तथैवात्र प्रातिपदिकमेव मत्वर्थमप्युपादातुं समर्थमिति, मतुब्लोपाम्नानम्। लक्षणयेति चेत्? न क्विबन्तादिवदेव मुख्यरूपप्रतीतेः। न च लक्षणासु शास्त्रेणान्वाख्यानं क्रियते। रूपादीनामपि च लक्षणोपपत्तेर्मतुपा विना वृत्तिः स्यात्। चन्दनस्य गन्ध इतिवच्चान्तरेण भावप्रत्ययं गोररुण इत्यपि प्रयोगः स्यात्। यथा च गन्धत्वमित्युक्ते चन्दनादिसंबन्धमपास्य तद्विशेषाणां गन्धत्वसंबन्धो भवति। एवमरुणत्वमित्यपि द्रव्यसंबन्धो न स्यात्। रूपादिशब्दवदेव वारुणादेरपि द्रव्यसामानाधिकरण्यं न स्यात्। यो हि मन्यते लक्षणयाऽरुणादिषु सामानाधिकरण्यमिति, तस्य रूपादिष्वपि तथैव स्यादरुणत्वादिषु वा। न हि ते किंचिदप्यधिकं वदन्ति। एतेनारुणत्वादिभ्यो मतुब्लोपप्रसक्तिर्व्याख्याता।

किं च—

लिङ्गसंख्यादिसंबन्धो गुणानां न च विद्यते ।
तद्योगादपि शुक्लादेर्द्रव्यवाचित्वमिष्यते ॥

ननु 'गुणवचनानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति १.३.९' इत्येवं सेत्स्यति । न । रूपादिशुक्लत्वादिष्वपि प्रसङ्गात् । अपि च । गुणवचन इति न गुणाभिधानमात्रेणोच्यते । किं तर्हि ? गुणमुक्त्वा यो द्रव्ये वर्तते । न ह्यन्यथा वचनशब्दः प्रयुज्यते[1] । वचनमेव स्वरूपं शब्दस्येत्येवं गुणशब्देनैव व्यवहारसिद्धेः । अत एव रूपादीनामग्रहणम् । एतेन मतुब्लोपवाक्यं व्याख्यातम् । तस्माद् द्रव्यवचनोऽरुणाशब्दः, तस्य च कारकत्वाभिधानोपपत्तेरेकवाक्यत्वसिद्धिः । अतोन सर्वधर्मत्वमिति ।

तदेतदपेशलमिति । आकृत्यधिकरणोक्तन्यायविसंवादादशोभनमित्यभिप्रायम् । तथा हि—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यां ये कदाचिन्न मुञ्चति ।
स एव तस्य वाच्योऽर्थो गुणं चैष न मुञ्चति ॥

एकान्तद्रव्यसंबन्धिनि तावद् गुणे विशेषणत्वात्पूर्वतरमभिहिते तत्संबन्धादेव प्रतीयमानस्य द्रव्यस्य न शक्यं वाच्यत्वं कल्पयितुमित्युक्तम् ।

व्यभिचाराच्च न द्रव्यस्वरूपं वाच्यमिष्यते ।
तद्गुणेऽन्यत्र वृत्तेश्च निवृत्तेश्चागुणात्ततः ॥

ननु गुणान्तरोत्पत्तिकालेऽन्यदेव द्रव्यमिति, न व्यभिचरेत् ।

न तावदयमेकान्तः कार्यद्रव्यान्तरोद्भवः ।
स्थितेऽपि हि भवत्येव द्रव्ये किंचिद् गुणान्तरम् ॥

येषां तावत्कार्यद्रव्याण्येव घटादीनि पच्यन्ते, यथा पैठराणां तन्मतेनाभेद एव । पैलूकानामपि तु परमाणुषु व्यभिचारः यादृशं त्वस्माभिर्द्रव्यमभिहितं तादृशस्य सर्वत्र गुणमात्रमेव भिद्यते, न स्वरूपम् । यानि च घटादीनि द्रव्यान्तरेण गैरिकादिना रक्तानि संयुक्तसमवेतगुणद्वारेणारुणादिशब्दैरभिधीयन्ते, तत्रैकस्यैव द्रव्यस्यानेकनीलपीतादिशब्दविषयत्वापत्तेः स्पष्टं व्यभिचारित्वम् । अतश्चाऽऽकृतिव्यवहाराद् दूरेण स्थूलतरोऽयमित्यपेशलता । मतुब्लोपश्चात्यन्तनिरूढलक्षणावशादन्वाख्यायते ।

यत्तु मुख्यप्रत्ययान्नैवमिति । तत्रोच्यते ।

गौणत्वं यो वदेदत्र स एवमनुयुज्यते ।
संनिकृष्टाभिधेयार्थलक्षणायां न दुष्टता ॥

१. क० प्रयुज्येत ।

अग्निर्माणवक इत्यत्राग्निमाणवकयोरत्यन्तभेदात्सादृश्येन शब्दः प्रवर्तमानः प्रत्ययवैलक्षण्यान्नाभिधातेति सर्वेण ज्ञायते। ये तु जातिगुणवचना भूत्वा द्रव्यं प्रत्याययन्ति, येषामभिधेयलक्ष्यमाणवस्तुनोर्विवेकाभावात्प्रतीतावप्यविवेकः स्थित एव। स कथंचिदन्वयव्यतिरेकाभ्यां निपुणैः परीक्षकैरपनीयत इति। लोकस्य तु मुख्यबुद्धिरेव। न च परीक्षकाणामनभिधेयत्वं वदतां लोकविरोधः। प्रतीतमात्रव्यवहारी हि लोकोऽभिधानलक्षणाविवेकमकुर्वन्नुदासीनावस्थः[1] सामान्यविशेषबाधादिसिद्ध्यर्थं परीक्षकैर्विवेकं क्रियमाणं न नानुमन्यते। तस्मादविरोधः।

कथं न रूपादिशब्देष्वपि तल्लक्षणया[2] मतुब्लोपः, कथं वा लक्षणावृत्तिः शास्त्रेणान्वाख्यायत इति।

लक्षणाया सावान्तरभेदाया निरूपणम्

अत्राभिधीयते—

निरूढा लक्षणाः काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते सांप्रतं काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तितः॥

इह केषुचिदर्थेष्वभिधानवदेव लक्षणाशक्तिरप्यानादिकालप्रवृत्तत्वेन निरूढा। यथा शुक्लादिषु। केषुचित्तु क्रियते। यथा रथाङ्गनामा चक्रवाक इति। केषुचित्पुनः कर्तुमपि न शक्यते, यथा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धेषु। कथं पुनरिहाविशिष्टे संबन्धे सति न लक्षणेति? तत्रोत्तरमभिधानवदिति। यथा भवतः समाने गुणशब्दत्वे शुक्लादीनां गुणोपसर्जनद्रव्यवचनत्वम्, न रूपादीनामेवं मम लक्षणेति।

तत्रैतत्स्यात् अभिधानशक्तिः स्वाभाविकी। लक्षणा तु न संबन्धादधिक निमित्तमपेक्षत इति। उच्यते। यदृच्छाशब्दत्व एतदेवं स्यात्। तव तु शुक्लादीनां समवेतगुणद्वारेण द्रव्ये वृत्तिः। तत्त्वविशिष्टं रूपादिष्वपीति द्रव्ये वृत्तिप्रसङ्गः। तत्रावश्यं गुणगतः कश्चित्सामर्थ्यभेदोऽङ्गीकर्तव्यः। येन ते शब्दाः केचिदेव गुणिपरा भवन्ति, अन्ये गुणप्रधानाः। एवं लक्षणायामपि भविष्यति॥

यथा गुणवाचिनां शब्दानां मध्ये केषाञ्चिदगुणवाचित्वम्, केषाञ्चिद्गुणि परात्वं तथैव लक्षणायामपि विशेषइत्युपपादनम्।

तस्माद्यथैव शब्दानां शक्तिभेदोऽभिधां प्रति।
प्रत्येतव्यस्तथाऽर्थानां लक्ष्यार्थान्तरगोचरः॥

सत्यपि च फलानुमेये दृश्यमानार्थप्रत्यायनसामर्थ्ये, सत्यपि चास्माकमप्यदृष्टशक्तिगौरवतुल्यत्वे, अभिधेयमात्रप्रत्ययेन निवृत्तव्यापारे शब्देऽर्थप्रत्यये

---

१. क० औदासीन्यावस्थः। २. क० ते लक्षणया।

चाकृतार्थे सति कल्प्यमानत्वादर्थशक्तिः प्रमाणवती, न शब्दशक्तिः। तेनादृष्ट-कल्पनातुल्यत्वेन पक्षयोस्तुल्यबलत्वम्। अतश्च रूपादीनां लक्षणाशक्त्यभावान्मतुपा विना न द्रव्ये वृत्तिः। तथा च 'रसादिभ्यश्च' इति प्रत्ययान्तरनिवृत्यर्थं मतुम्नियमपुनःश्रुतिरमुमेवार्थं द्योतयति। न च रूपादिप्रत्ययेन न द्रव्यं[1] प्रत्याय्यते, गम्यते हि धूमादिनेवाग्निरविनाभावाद् द्रव्यम्। शब्दस्य त्वतत्परत्वाल्लक्षणानध्यवसानम्। प्रधानत्वाप्रधानत्वप्रतीतिस्तु द्रव्यगुणयोः स्वाभाविकी नित्यं हि रूपादिषु स्वप्राधान्येनाभिधीयमानेषु, द्रव्यं विशेषणत्वेनोच्यते, शुक्लादिषु विशेष्यत्वेन। अतएव चानादिकालप्रसिद्धार्थत्वादस्या लक्षणाया मतुब्लोपाम्नानेनानुगमः। या त्वादिमती नात्यन्तप्रसिद्धा, नासौ शास्त्रेणानुगम्यतेविनाऽपि चानुगमात्संबन्ध्यन्तरवशेन सा कदाचिदुपलभ्यते। तद्यथा मधुरो रसः स्निग्धः शीतो गुरुरिति स्निग्धशीतत्वादीनां गुणान्तरविशेषत्वान्न रसेन संबन्धोऽस्तीति रसलक्षितेन द्रव्येण संबध्यते। तस्माच्छक्तिपर्यनुयोगाभावान्मतुब्लोपभावाभावौ। एतेन भावप्रत्ययसदसद्भावसामानाधिकरण्यवैयधिकरण्यव्यवस्था व्याख्याता। शुक्लत्वादिशब्दाश्च भावप्रत्ययनिष्कृष्टविशेष्यभूतगुणवचनत्वाद्गन्धवदेव नित्यं वैयधिकरण्येन संबध्यन्ते।

एतावांस्तु विशेषोऽत्र यदत्रापि विशेषणम्।
विशेष्य एव शुक्लत्वे शुक्लो द्रव्यविशेषणम्॥
द्रव्योपसर्जनीभूतः स्वाप्रतिपदिके स्थितः।
तादृग्निष्कृष्यते द्रव्यात्पश्चात्तु त्वतलादिभिः॥
तेनैतस्य द्विरूपत्वं गन्धादेरेकरूपता।
तथा च शुक्ल इत्यस्य पुनरन्या द्विरूपता॥
कदाचिद् गुणमेवाऽऽह गुणिनं लक्षयेत्क्वचित्।
षष्ठ्यन्ततद्विभक्त्यन्तवाच्यद्रव्योपसर्जनः॥
पटस्य शुक्ल इत्यत्र निष्कृष्टो गुण आश्रितः[2]।
पटः शुक्ल इति त्वत्र द्रव्यलीनोऽभिधीयते॥

अत्र विषये शाब्दिकानां तार्किकाणाञ्च विशेषकथनम्

लिङ्गसंख्यादिसंबन्धः स्वाश्रयद्वारेण पूर्ववदेवोपपत्स्यते। तथा गुणवचनशब्दश्च द्रव्यप्राधान्ये वर्तते वैयाकरणानाम्, गुणमुक्त्वा गुणिनि वर्तमानत्वात्। न हि वैयाकरणानां वैशेषिकवद्गुणाः परिसंख्यायन्ते। किं तर्हि ? अङ्गाङ्गिभावापेक्षया गुणगुणिव्यवहारः। शुक्लादिशब्दाश्चोपसर्जनीभूतमर्थं वदन्ति, न रूपादिशब्दा इति लिङ्गसंख्यासंबन्धासंकरः।

---

१. क० तद्द्रव्यं। २. क० आदितः।

भाष्यकारेण त्वेतमेव परिहारं मनसि कृत्वोक्तं, **भवति हि गुणवचनस्यापि स्त्रीलिङ्गता । यथा** करुणाबुद्धिशब्दयोः । गन्धादिशब्दतुल्यावपि चैतौ प्रदर्शनमात्रविशेषादुदाहृतौ । एतदुक्तं भवति । येऽपि तावत्स्वप्रधानगुणवचनाः तेऽपि कथंचिल्लिङ्गसंख्याभ्यां युज्यन्ते, किं पुनर्येषु द्रव्यप्राधान्यम् । एवमनया युक्त्याऽरुणेति गुणवचनः ।

गुणवचनश्चेत्क्रीणातिना न संबध्यत इत्युपसंहृते परः पुनराह—**अथ यदि क्रीणातिना न संबध्यते,** तत एकहायन्या संबध्यतामिति । शक्यते हि गुणवचनस्य द्रव्यसंबन्धः कर्तुम् । सिद्धान्तवादी तु श्रुतया क्रियासंबन्धावगमाद् द्रव्यसंबन्धो वाक्यलक्षणो दुर्बलत्वाद्बाध्यत इत्येतत्प्रतिपादयितुमाह—**तन्न**[१] **। केवलं हि गुणमिति ।** द्विप्रकारो हि नाम शब्दानां संबन्धः—सामानाधिकरण्येन, वैयधिकरण्येन वा । तत्र यदोभाभ्यामुभयार्थोपादानम्, तदा सामानाधिकरण्यं भवति । षष्ठ्यन्तद्रव्यपदोच्चारणे तु वैयधिकरण्येन संबन्धः । तदिह केवलगुणगुणिवचनत्वादरुणैकहायनीशब्दयोः श्रुतिसामानाधिकरण्यं तावन्न विद्यते । नापि षष्ठीश्रुतिरस्ति । तस्मात्तृतीयाश्रुतिबलीयस्त्वान्न द्रव्यगुणयोः संबन्ध इति । बलाबलकृतं संबन्धनिराकरणमवगम्याप्रमाणकृतत्वाभिप्रायेणायं ब्रवीतीति मत्वैकविभक्तियोगादित्याह—**तदनुपपन्नमिति**—बलाबलप्रदर्शनम् । प्रथमं तावत्स्वसामर्थ्येनारुणप्रातिपदिकस्य गुणवचनत्वं गम्यते । पदान्तरसंनिधानाच्च सामानाधिकरण्यमिति बलाबलम् । तत्राऽऽह—

केवलारुणवाचित्वं लिङ्गाद्यद्यपि गम्यते ।
तथाऽप्यगतितो वाक्याल्लक्षणावृत्तिराश्रिता ॥

इदानीं तृतीयाश्रुतिबलीयस्त्वात्क्रियासंबन्धावबोधाद् द्रव्यसंबन्धबाधं दर्शयति । तत्राप्यगत्यैव प्रत्यवस्थानम् ।

ननु गुणस्य क्रियासंबन्धाभावादिति । तस्योत्तरं तृतीयानर्थक्यप्रसङ्गादिति । न ह्यगत्याऽनभिधेयोऽर्थः शक्यः प्रत्येतुम् । न चात्र लक्षणयाऽपि सक्तुद्वितीयावत्तृतीयाऽर्थवती कारकसामान्यस्याप्यनिष्टत्वात् । परस्त्वाह लिङ्गसंख्यावदाश्रयद्वारप्राप्तं कारकमनूद्य प्रातिपदिकार्थो विधास्यत इति । अस्ति ह्येतदपि दर्शनं-यद् गुणशब्देभ्यो विनाऽपि कारकत्वेन कारकविशेषणत्वाद् द्वितीयादयो भवन्तीति ।

नैतत्सारमिति । यद्यपि कथंचिदरुणयेत्यस्यैकहायनीसंबन्धयोग्यत्वम्, तथाऽपि क्रियाक्षिप्तायामेकहायन्याम् । 'ऐकशब्द्ये परार्थवत्' इत्येवमुभयसंबन्धाभावे बलीयसा क्रयसंबन्धेन गुणसंबन्धनिराकरणम् । न ह्यत्र क्रियासंबन्धविभक्तिवद्, गुणसंबन्धविभक्तिः षष्ठी दृश्यते । नीलोत्पले तु श्रुतिविरोधाभावाद्वाक्यलक्षणोऽपि

---

१. क० ननु ।

संबन्धीऽवगम्यत इति वैषम्यम्। ये तु सामानाधिकरण्यविकल्पास्तान् 'नियमो वैकार्थ्ये हि' इत्यत्र षष्ठान्त्याधिकरणसूत्रे सर्वानेव वक्ष्यामः सर्वथा लाक्षणिकं सामानाधिकरण्यमिति दुर्बलम्। न च कारकविशेषणत्वाद् गुणानां कारकविभक्तिः। किं तर्हि ? कारकत्वादेवेति। एतदपि पश्वेकत्वविवक्षाधिकरणे वक्ष्यते।

आह। **सत्यमेवतेतदिति**। पुनरपि श्रुतिविरोधपरिहारार्थमेव यतते। कथम् ?

तन्त्रेणोभयसंबन्धे विरोधित्वं प्रसज्यते।
प्रासङ्गिके त्विहैकस्मिन्नविरोधो भविष्यति।

सर्वत्र तु बोधिते पदार्थं इति कोऽयमुपन्यासः।

उच्यते—

सर्वथा बाधिता तावत्पदार्थानां स्वतन्त्रता।
तेनानेकोऽपि संबन्धः कल्प्यमानो न दुष्यति॥

अरुणाशब्दस्तावदवश्यमेव केनचिद् गुणिना संबन्धनीयः। एकहायनीशब्दस्यापि क्रियासंबन्धात्स्वातन्त्र्यमपनीतम्। तत्र पदान्तरसंबन्धेऽपि **सकृत्प्रवृत्तायाः किमवगुण्ठनेतिवचनस्य** तावत्येव श्रुतिपीडेति। अतो गुणपदेनापि संबध्यतामिति।

नैतदस्तीति—अभ्युपेत्य द्रव्यगुणसंबन्धम्। यागगतद्रव्यसंबन्धनिराकरणात्क्रीणातेर्विध्यनुवादयौगपद्याश्रयणविरोधः[1]। यत्र तु क्रियाविशेषणानि सर्वाणि भवन्ति तत्र विशिष्टविधानादक्लेशो भवति। यत्र तु क्रियाविधीयते, द्रव्यस्य च किंचित्तत्र प्रत्ययावृत्तिलक्षणं वाक्यभेदमभ्युपेत्य नियमाभावो भवतीत्युच्यते। विशेषणं हि प्रसिद्धं भवति। न च विधीयमानावस्थः क्रयः प्रसिद्ध इति प्रकरणगतैकहायनीमात्रसंबन्धप्रसङ्गः। कतमा पुनरन्या ज्योतिष्टोमप्रकरण एकहायनी। सर्वथा तावद्वाक्येन तस्यामपि गुणः प्राप्यते। यदि[2] तु सा न विद्यते किं क्रियतां दक्षिणास्तु[3] वा काचिद्भविष्यति, अनूबन्ध्यायां वा।

अथवोद्दिश्यमानत्वादविवक्षितलिङ्गसंख्यैकहायनमात्रग्रहणात्सवनीयाग्नीषोमीययोरप्येकहायनयोर्ग्रहणादनियमः। सदृशन्यायेषु वोदाहरणान्तरेष्वेव तद्भविष्यति। तद्यथा 'दशमुष्टीर्मिमीते' इत्यत्र सोममानादन्येषामप्यङ्गेष्टिनिर्वापमुष्टीनां दशसंख्यत्वप्रसङ्गः।

परः पुनरेकहायनीवैरूप्याभ्युपगमवादलब्धप्रसरः शङ्कते—**नन्वपूर्वोऽपि विधीयमानो** मनसि विपरिवर्तमानः प्रसङ्गादेव विशेष्यत[4] इति। **नैतदेवमि-**

१. क० श्रयणे। २. क० यदातु।
३. क० दक्षिणात, वा। ४. विशेक्ष्यति।

त्युत्तरम्। यावद्यावद्धि पदार्थो विशेष्यते, तावत्तावच्छ्रुतेः स्वरसभङ्गः। **तेन सक्तुप्रवृत्तायाः किमवगुण्ठनेनेत्**येवमेकेन केनचिद्विशेषितः परेणापि विशेष्यतामित्यभ्युपगन्तव्यम्। न चाऽऽनर्थक्यम्, प्रकरणेऽर्थवत्त्वात्। तत्राप्येवमेव संबन्ध इति चेत्? न। वाक्यान्तरप्राप्तद्रव्यानुवादेन गुणविधौ वैरूप्यप्रसङ्गाभावात्। भवत्पक्षेऽपि स्वरूपतः सोमं च प्रति क्रये विधीयमाने, द्रव्यं च प्रति विशेषणत्वेनानूद्यमाने वैरूप्यं भवति। एवमेकहायन्यपि क्रयं, गुणं च प्रति वैरूप्यान्नैव संबध्यते। पूर्वं त्वभ्युपेत्यवादमात्रेणाऽङ्गीकृतम्।

तदिदानीं तत्रैव परस्य[1] दुष्टाशा मा भूदिति निराक्रियते। तेनायमेव परमार्थः कारकं विभक्त्याऽनूद्य प्रातिपादिकार्थो विधीयत इति।

परे त्वविवक्षितकारकं गुणमात्रं प्रकरणयुक्तं प्रयोगवचनेनागृहीतम् 'आनर्थक्यात्तदङ्गेषु' इत्येवं द्रव्येष्ववतीर्णं सर्वार्थं मन्यन्ते। तत्तु प्रकरणेनानितिकर्तव्यतात्मकगुणग्रहणाभावादानर्थक्यतदङ्गन्यायस्य च क्रयाङ्गैकहायन्यामुपपन्नतरत्वेन पूर्वपक्षमूलाभावप्रसङ्गादुपेक्षणीयम्। तस्मात्पूर्वेणैव न्यायेन कृत्स्ने प्रकरणे निवेश इति। एवं प्राप्ते।

सिद्धान्तवर्णनम्

अभिधीयते—

यत्र द्रव्यगुणैकार्थ्यं श्रवणादेव गम्यते।
अन्योन्यनियमस्तत्र तयोः स्थाल्यादिवद्भवेत्॥

अर्थैकत्वेति—वाक्यविशेषोपलक्षणम्। **ऐककर्म्यादिति**—पुनस्तदेव हेतुत्वेनोपदिष्टम्।

अथवा वाक्यार्थैकत्वे यत्रैकवाक्यता संभवतीत्यर्थः। तत्र सर्वविशेषणविशिष्टैकभावनाविधिः। तादृशीं कृत्वा कृतार्थो भवतीति परिग्रहात्सर्वनियमो भवति। यथा देवदत्तः काष्ठैः स्थाल्यामोदनं पचतीत्युक्ते सर्वेषामेकपाकविषयत्वम्। एवमिहापि केवलयोस्तावद् द्रव्यगुणयोरनुष्ठानमेव नास्तीति[2], न विधीयते। क्रियान्तरसंबन्धमपि क्रीणातेः परः प्रत्ययो न शक्नोति कर्तुम्। द्रव्यसंबन्धे तु सर्वत्र विधीनामेव शक्त्यभावः। सर्वत्र हि भावनातद्विशेषणार्थातिरिक्तेऽर्थे विधिव्यापारो नास्तीत्युत्तराधिकरणे वक्ष्यामः। तृतीयानिर्देशाच्च द्वयोरप्यरुणैकहायन्योः परस्परमनपेक्ष्य स्वसाध्यक्रियामात्रापेक्षिणोर्वाक्येन तद्विशेषक्रयसबन्धो विज्ञायते। कुतः?

---

१. क० परस्येष्टाशा। २. क० तावन्नास्तीति।

कारकं ह्युच्यते कुर्वन्नाक्रियां तत्करोति ।
तस्मान्न द्रव्यसंबन्धः कारकस्यास्ति कस्यचित् ॥
निष्पन्नत्वाविशेषाच्च नापेक्षैषां परस्परम् ।
गुणानां च परार्थत्वादसंबन्धः समत्वतः ॥

द्रव्यगुणयोः परस्परनियमस्योपपादनम्

न चाप्यन्योन्यसंबन्धे विधिरेषां प्रवर्तते ।
तदधीना वयं चेति क्रियासंबन्धकल्पना ॥
क्रियाऽपि न विना कैश्चित्साध्यते कारकैः क्वचित् ।
भूतभव्यवशत्वेन क्रियाकारकसंगतिः ॥
यथा च द्रव्यमिच्छन्ति साधकत्वेन कर्मणाम् ।
तथा गुणमपीत्येवं नाऽऽरुण्यस्यान्यसंगतिः ॥

यथैव द्रव्येण विना क्रियानुपपत्तेरेकहायनीं क्रयो गृह्णाति—

तथा गुणविशेषेण द्रव्यं यावदलक्षितम् ।
तावत्तेन क्रियासिद्धिर्नास्त्यतोऽपेक्ष्यते गुणः ॥

तस्मात्सोऽपि क्रियाङ्गमिति । तथा च 'द्रव्यगुणसंस्कारेषु' इति गुणग्रहणं कृतम् ।

ननु नान्तरीयकत्वाद् द्रव्यग्रहणे गुणानुष्ठानात्पृथक् प्रयत्नाभावान्न द्रव्यवद् गुणापेक्षा युक्ता ।

तथा हि— न द्रव्यमनुपादाय प्रवृत्तिः कर्मणीष्यते ।
पूर्वं द्रव्ये गृहीते तु तद्गुणोऽप्यनुवर्तते ॥
उच्यते— कर्मण्यपि कृते पूर्वं न द्रव्येण प्रयोजनम् ।
द्रव्याकाङ्क्षाऽथ पूर्वं स्यात् सा गुणेऽपि प्रतीयताम् ॥

यथैव हि त्वयोक्तं द्रव्यग्रहणेनैव गुणोऽपि कश्चिद् गृहीत एवेति, न पृथगुपादानं प्रयोजयति, तथा क्रियोपादानेऽपि यत्किंचिद् द्रव्यमुपात्तमिति नापेक्षितव्यम् । अथ तु प्रागुपादानाद् द्रव्यविशेषापेक्षा भवति, तदितरत्रापि प्राग् द्रव्योपादानाद्भवत्येवापेक्षा किंगुणकं द्रव्यं गृह्णामिति । सर्वथा त्वेतावानत्र विशेषः । प्रज्ञानोत्तरकालमपि क्रियायां द्रव्यं व्यापार्यते । गुणस्तु प्रज्ञानान्न पृथग् द्रव्यव्यतिरेकेण व्याप्रियते । तावतैव चरितार्थत्वात् । न च तथा व्यापृतस्याव्यापृतत्वम्—अनेकप्रकारत्वाद् व्यापाराणाम् । परिच्छेदकाले त्वस्याधिकव्यापारत्वं विविच्यते । तथा हि—

द्रव्येण साधनोयेयमिति ज्ञाता यदा क्रिया ।
कीदृशेनेत्यपेक्षाऽस्या गुणेऽप्युत्पद्यते तदा ॥

तेनात्र यदि तावद्वेद एव कंचिद्विशेषं दास्यति, ततस्तेनेत्यवधारयिष्यते । यदि तु न दास्यति, ततोऽर्थाक्षिप्त एव यः कश्चित्प्रमाणवान्भविष्यतोत्यवगमे सति विधीयमानस्यारुणादेरङ्गत्वं भवति । सर्वत्र च शब्दादचोदितेऽर्थे 'अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्' इत्येवमज्ञानसंशयव्युदास इष्टः । तदिहारुणत्वेन क्रियां साधयेदिति विस्पष्टे चोदिते, शब्दान्तराणामध्याहारादीनामभावाद्यथा शक्नुयादित्युपबन्धे सति, तत्साधनभूतं द्रव्यं परिच्छिन्दतेत्येतावदवधार्यते । कुतः ?

गुणानामेवमात्मत्वं[1] सर्वत्र ह्यवधारितम् ।
नान्यथा निष्क्रियत्वाच्च विधेश्चैवमनुग्रहात् ॥

क्रयगतस्तावद्विधिस्तृतोयोपनीतं कथंचिदरुणिमानं न मुञ्चति । स च नान्येन प्रकारेण तदङ्गतां भजते । न चैकस्वरूपैव सर्वेषां साधनता । न च स्वसमवायिन्येव केवला चलनात्मिका वा क्रिया सर्वत्रेष्यते । न च प्रधानक्रियायाः सर्वाण्येव साक्षात्साधनानि भवन्ति । अवान्तरव्यापाराधीनत्वात्संबन्धस्य । अरुणादीनां च योग्यत्वाद् द्रव्यपरिच्छेद एव स्वव्यापारो विज्ञायते । तत्रैषकर्तृत्वादितरत्र करणत्वं भविष्यति । तेनारुणपदादेतावदवगतं किंचिद् द्रव्यां परिच्छिन्दताऽरुणगुणेन क्रयः साधयितव्य इति । तथैकहायन्याऽप्यन्यथा साधनत्वासंभवात्केनचिद् गुणेन मे परिच्छेदः कर्तव्य इत्येतावदपेक्ष्यते । तत्र गुणो यत्किंचिद् द्रव्यपरिच्छेद्यमाश्रयत्वेनापेक्षितुमारभते । द्रव्यमपि यं कंचिद् गुणम् । उभयापेक्षालक्षणश्च संबन्धः शीघ्रं निर्वर्त्यते । न च द्रव्यान्तरगुणान्तराणामत्र वाक्ये सापेक्षत्वं प्रतीयते । तेन नष्टाश्वदग्धरथवद्विनाऽपि षष्ठ्याऽनयोरेव संबन्धः ।

संनिहितातिक्रमकारणाभावादप्येवमेव विज्ञायते । किं च—

क्रयश्चावगतद्रव्यगुणः प्राधान्यसम्मतः ।
अनिच्छन्नश्रुतं कंचिद् गुणं द्रव्ये नियच्छति ॥

यन्नाम गुणोऽन्यथानुपपत्तेरश्रुतं द्रव्यमानयति, तत्क्रयः श्रुतैकहायनीद्रव्यकत्वान्न प्रतीच्छति । तथैकहायनीयं गुणमश्रुतमानयति तमपि क्रय एव श्रुतारुणिमगुणत्वान्नेच्छति । यदि ह्यसावनियतद्रव्यगुणः स्यात्, ततो यत्किंचिदप्यानीयमानं सहेत । निरपेक्षद्रव्यगुणविशेषसंबन्धे नैव यथाचोदितः क्रय उभयविशिष्टक्रियेत । अश्रुता च प्रधानस्य सत आवृत्तिरापद्येत । विकल्पे वा पुनर्विशिष्टः विधिर्बाध्येत । प्रधानत्वादेव च गुणद्रव्याभ्यां द्रव्यान्तरगुणान्तराक्षेपं

---

१. क० गुणानामेतदात्मत्वं ।

क्रयणं[1] निरुणद्धि। कांस्यभोजिन्यायेन वाऽमुख्योऽप्यनियमं वारयेत्। किमुत मुख्य एव सन्। न वाऽश्रुतकल्पनया विनाऽनुपपत्तिः। श्रुतयोरेव परस्परसंबन्धेन परिपूर्णत्वात्। एवं च स्ववाक्यगतमपि सामानाधिकरण्यं समर्थितं भविष्यति। न चात्र श्रुतिविरोधः। यथा वक्ष्यति। 'न श्रुतिर्ब्रूते वाक्यार्थो न' इति।

तथा हि—

क्रयापेक्षित एवायं सम्बन्धः क्रियते पुनः।
न चात्रानुगुणा वृत्तिर्दुर्बलाऽपि विरुध्यते॥

क्रय एव हि द्रव्यं गृह्णन्नेवमपेक्षते—को गुण एतत्परिच्छेत्स्यतीति। गुणमपि गृह्णन्नपेक्षते किं द्रव्यमेतस्याऽऽश्रयो भविष्यतीति। तेनैव तयोः क्रयवशेनान्योन्यानुगुण्यं प्रतिपद्यमानयोरपि न परस्पराङ्गाङ्गित्वं भवति। यस्तु मन्यते परिच्छेदकत्वाद् गुणस्य द्रव्याङ्गत्वं प्रतीयत इति, स वक्तव्यो गुणस्यापि क्रयमन्यथा साधयितुमशक्नुवतो द्रव्यमाश्रयत्वं प्रतिपद्यमानमङ्गमिति। तस्मात्क्रयाङ्गभूतयोरेव नान्तरीयकः परस्परोपकारो भवन्नङ्गत्वमापादयतीति द्रष्टव्यम्।

यस्तु प्रकरणे निवेशं मन्यते, तस्य केन गुणो विधीयत इति वक्तव्यम्। क्रयविधिना तावत्सह नैव संबन्ध इष्टः। प्रयोगवचनस्त्वक्रियात्मकं दूरादुपेक्षते। न चारुणपदस्यैवं विधिशक्तिरस्ति। यद्यपि कारकत्वेन द्रव्याणि प्रतीयन्ते, तथाऽपि तत्पदान्यविधायकान्येव। येऽपि तत्संबन्धिक्रियाविषया[2] विधयः। तेऽपि पर्यवसिताः संप्रति प्रतीयमाना अपि न विधातुं समर्थाः। न चैषां द्रव्यविशेषणेषु व्यापारः। तस्मान्न कथंचित्प्रकरणे निविशते। एकार्थास्तु विकल्पेरन्नित्यविशेषप्रतीतेः। अवान्तरव्यापारानेकार्थत्वमगृहीत्वा वदति—**यद्येककार्यता[3] किमिति विकल्पो न भवतीति**। सिद्धान्तवादी त्वाह—नैतेनास्मत्प्रतिपक्षः कृत्स्नप्रकरणनिवेशः सिध्यति। क्रयसंबन्धो वा बाध्यते। तस्मात्सिद्धान्तान्तरदूषणत्वान्निग्रहस्थानमिति। **न च विकल्पः, नानाकार्यत्वादिति**—अवान्तरव्यापाराभिप्रायेण।

परस्तु प्रधानकार्यनानात्वमेवोक्तमिति मत्वाऽऽह—**नन्विदानीमेवोक्तमिति। तच्चापि विरुद्धं** यत्पूर्वमुक्तममूर्तत्वान्निष्क्रयो गुण इति। ननु पूर्वपक्षवादिना तदुक्तम्। इदानीं सिद्धान्तवादी न सक्रियत्वं ब्रवीतीति युक्तो विरोधोपन्यासः।

उच्यते—

संदेहः क्रियते सर्वः साधारणपदे स्थितः।
तत्र चामूर्ततोक्तेति सिद्धान्तेऽपि विरुध्यते॥

---

१. क० द्रव्यं। २. क० विषयः। ३. क० यद्येकार्थता।

अथवा पूर्वपक्षवादिना तद्धेतुत्वेनोक्तम्। हेतुश्चोभयसिद्धो भवति। यदि चायमसिद्धो भवेत् ततस्तदानीमेवोद्भाव्येत, यतस्तु नोद्भावितः ततोऽभ्युपगतः। तथा सति चेदानीं सिद्धवदर्थैकत्वाभिधानात्सक्रियत्वमभिदधतो[1] विप्रतिषिद्धमापद्यते। **नैतद्विरुद्धम्। न च विकल्प इति।** शक्तिभेदनिमित्तावान्तरव्यापारान्यत्वात्। तद्दर्शयति—द्रव्यं साक्षात्साधनं, गुणस्तत्परिच्छेदार्थं इति। परस्त्वेतावतैव तदेतरत्तदर्थमितिवद् गुणस्य द्रव्यार्थत्वं मन्यमान आह—**यद्येवं न तर्हि गुणः क्रियामभिनिर्वर्तयतीति। नैतदेवमिति**—द्वारमात्रत्वं तावद् द्रव्यस्य दर्शयति। परिहृते दोषद्वये वस्तुकृतमेकहायनीद्वारत्वमपश्यन्वाक्येनैव द्वारद्वारिसंबन्धकरणाद्वैरूप्यापत्तिं चोदयति—**एवं तर्हीति। ब्रूमोऽरुणाशब्द** इति सामर्थ्यकारितमेकहायनीसंबन्धं दर्शयति।

नन्वेवमपि वाक्यं भिद्येतेति—नियमनिराकरणार्थमाह। सत्यपि क्रयसंबन्धे प्रतिकारकं क्रियान्यत्वादर्थभेदनिमित्तो वाक्यभेदोऽस्त्येवेति। तथा च लोकवेदयोर्दृष्टमित्युदाहरणद्वयम्। प्रत्येकं देवदत्तादिषु भोजनं, पितुः पितामहस्य वाऽसोमपत्वं व्रात्यपशोर्निमित्तत्वेनोच्यमानं साहित्याविवक्षया सिद्धम्। तत्र न पिबेदिति संबन्धः पशुयागसंबन्धश्चोभयमप्युदाहरणम्। **नैतदस्मत्पक्षस्य बाधकमिति**—विकल्पपक्षवदेवासंबन्धोपन्यासः।

परः पुनराह—**सत्यमेष न दोष** इति। क्रियाप्राधान्ये तु तद्वशीकृतविशेषणसमुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः। गर्गशतदण्डनहोमाभिषवभक्षवदिति परिहारः।

ननु दण्डस्य दण्ड्यसंकारत्वाद्भोजनादिवत्प्रतिगर्गमावृत्तिः प्राप्नोति।

नैष दोषः—

शारीरो निग्रहो यत्र तत्र प्रत्येकभिन्नता।
हिरण्यादानदण्डस्तु समुदाये समाप्यते॥
अपराधे निमित्ते हि शतसंख्याविशेषिता।
तदनुष्ठात्रपादानां राज्ञां वृत्तिर्विधीयते॥

यथैवाध्वर्य्वादीनां दक्षिणा परिक्रयार्था, कर्मसंयोगात्। एवं [2]राज्ञाप्यर्थदण्डो नैमित्तिकी परिपालनवृत्तिः। तां तां च प्रति तत्र तत्रापराधे निमित्ते शतादीन्युपादीयमानत्वाद्विवक्षितैकसंख्यानि भवन्ति। यश्चासावपराधो गर्गकृतः, स एककर्तृकोऽनेककर्तृको वा राज्ञः शतादानिमित्तं भवति। तत्काले चापराधिनामपादानत्वेनावस्थानात्समस्तगर्गापादानकं राज्ञा शतं ग्रहीतव्यमित्यवगते सति प्रत्येकं ग्रहणे सत्येकेन शतेनापराधनिष्क्रये कृते शेषमश्रुतं ब्रह्मस्वहरणं स्यात्सं-

१. क० सिद्धान्तोऽपि। २. क० अयमपि।

क्यान्तरं च वृद्धावापद्येत। तस्मात्समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः। परः पुनरभिहितेऽपि हेतुविशेषे दृष्टान्तद्वयात्संदेहमुपन्यस्यति। क्रयस्य यागसाधनसोमप्राप्त्यर्थत्वेन भूतभव्यसमुच्चारणन्यायेन विधायकलाघवेन च प्राधान्याद् द्रव्यगुणयोश्च पूर्वहेतुविपर्ययेण विपरीतत्वादितर एकवाक्यत्वप्रतिपादनफलं प्राप्नोति।

तत्रापर आह—सर्वथा तावदश्रुतकल्पनाभयाद्भिन्नवाक्यचोदितयोरपि नियमः सिध्यतीति, नार्थ एकवाक्यत्वेनेति। सिद्धान्तवादी वदति। वाक्यभेदे सति उभयविशेषणविशिष्टक्रयप्रतीत्यभावाद्यथाश्रुतप्रत्येकसंबद्धक्रयानुष्ठाने सति गुणेनापि यत्किंचिद् द्रव्यं गृह्येत, द्रव्येणापि यः कश्चिद् गुणः। न हि तदानीमन्योन्यासंनिधेरर्थाक्षेपप्रतिबन्धशक्तिरस्ति। न चैका क्रिया गुणद्रव्यवशीकारसमर्था स्यात्। अरुणगुणक्रयो ह्यनियतद्रव्यकत्वात्किमिति गुणोपस्थापितं यत्किंचिद्, द्रव्यं न गृह्णीयात्। एकहायनीक्रयो वा यं कंचिद् गुणम्। अथापि वाक्यान्तरविशिष्टानि[1] क्रयद्रव्याण्येव गुण आस्कन्दति, तथाऽपि तेषु वासःप्रभृतिषु दशस्वपि प्राप्नोति। तस्माद्विशिष्टैकक्रयसिद्ध्यर्थं वक्तव्यमेकवाक्यत्वम्। अतश्च नियम इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

(इति षष्ठमरुणाधिकरणम् ॥ ६ ॥)

भा० प्र०—श्रुति में कहा गया है कि "अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या सोमं क्रीणाति" (तै० सं० ६।१।६) अर्थात् अरुणा पिङ्गाक्षी एकहायनी गाय के द्वारा सोम खरीदे। इस स्थल में अरुणा शब्द गुणवाचक है और पिङ्गक्षी एवम् एकहायनी ये दो शब्द द्रव्य के वाचक हैं। इस प्रसङ्ग में यह संशय है कि अरुणा यह शब्द क्रय के साथ अन्वित होगा या प्रकरण के अनुसार सभी द्रव्यों के साथ अन्वित होगा ? इस विषय में पूर्वपक्षी का कहना है कि "अरुणया" यह शब्द तृतीयान्त है, अतः, सोमक्रय रूप क्रिया का साधन (करण) है—यह अवगत होता है, किन्तु, गुण क्रिया का साधन नहीं हो सकता है। क्योंकि, मूर्त पदार्थ ही क्रिया का साधन होता है। अतः, वह क्रिया का साधन नहीं हैं। यदि यह क्रिया का सावन = करण नहीं होता तो अरुणा शब्द के उत्तर साधनता को अवगत कराने वाली तृतीया विभक्ति की विनियोजकता नहीं होगी, ऐसी स्थिति में प्रकरण को ही विनियोजक मानना पड़ेगा। प्रकरण को विनियोजक मानने पर अरुणा गुण गोस्वरूप द्रव्य के समान इस प्रकरण में ग्रह, चमसादि सभी द्रव्यों का आश्रयण करेगा, ऐसी स्थिति में गौ की आरुण्य ही क्रय का साधन होगा ऐसी नहीं है, वरन् ग्रह चमसादि सभी पदार्थ जो ज्योतिष्टोम के साधन हैं, वे सभी द्रव्य अरुण वर्ण के होंगे। इसलिए उक्त श्रुति का "अरुणया" यह अंश को एक पृथक् वाक्य मान कर ग्रहण करना होगा, फलतः प्रकरण के अनुसार से भी द्रव्यों के साथ अन्वित होगा, इसलिए पूर्व के

१. क० विशिष्टानि।

दो अधिकरणों के द्रव्यों और संस्कारों की असङ्कीर्णता स्थापित होने पर भी इस स्थल में गुण की व्यवस्था अर्थात् असङ्कीर्णता नहीं हो सकती है, अपितु सामान्य रूप से वह सभी द्रव्यों के साथ सङ्कीर्ण = मिश्रित हो जायगा।

इस प्रकार के पूर्वपक्षी के उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है कि "अर्थैकत्वे द्रव्यगुणयोः ऐककर्म्यान्नियमः स्यात्" यह सत्य है कि गुण अमूर्त है, अतः, साक्षात् सम्बन्ध से क्रिया के साथ उसका अन्वय नहीं हो सकता है, किन्तु, "एकहायनो" और "पिङ्गक्षी" इन दो स्थलों में 'हायन' एवम् "अक्षि' शब्द जिस प्रकार गौ का ही अवच्छेदक अर्थात् विशेषक है, उसी तरह आरुण्य गुण भी गौ का ही अवच्छेदक अर्थात् विशेषक होता है। इस स्थल में गौ द्रव्य सोमक्रयण रूप क्रिया का साधक होता है। अतः, आरुण्य गुण भी द्रव्य के द्वारा क्रिया का साधन होगा। यह मानने पर किसी प्रकार के दोष की आपत्ति नहीं होती है। पूर्वपक्षी का मत मानने पर वाक्यभेद की आपत्ति होती है, क्योंकि, वाक्यभेद के विना एक जगह श्रुत अर्थात् उपदिष्ट गुण अन्यत्र अन्वित नहीं हो सकता है, किन्तु, सिद्धान्त पक्ष में आरुण्य शब्द में अरुणिमा गुण विशिष्ट द्रव्य में लक्षणा मानने का भी प्रसङ्ग नहीं है, वाक्यभेद प्रसङ्ग की तो चर्चा भी व्यर्थ है, कारण, 'अरुणया' इस पद में तृतीया का श्रवण होने से अरुणिमा गुण का ही क्रिया साधनत्व अवगत होता है। गुण द्रव्याश्रित हुए बिना क्रिया का साधन नहीं हो सकता है, अतः, उसकी साधनता = द्रव्यावच्छेदकता अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध है। इसीलिए द्रव्य के समान आरुण्य गुण भी प्रथमतः साक्षात् सम्बन्ध से क्रिया के साथ अन्वित होता है और बाद में अर्थापत्ति के बल से द्रव्य और गुण का परस्पर अवच्छेदक अवच्छेदकता रूप में अन्वय होता है। इस प्रकार के स्थल में गुण द्रव्य का अवच्छेदक होता है एवं द्रव्य गुण का अवच्छेद्य होता है। इसीलिए संस्कार एवं द्रव्य के समान गुण भी असङ्कीर्ण ही है।

"अर्थैकत्वे" = प्रयोजन की एकता रहने पर अर्थात् एक ही प्रयोजन होने पर, "द्रव्यगुणयोः"='एकहायनी' आदि द्रव्य एवम् 'आरुण्य' आदि द्रव्य एवम् "अरुणा" आदि गुणों का, "ऐककर्म्यात्" = एक ही क्रिया के साथ अन्वय होने से, "नियमः स्यात्" = नियम अर्थात् परिच्छेद्यपरिच्छेदकभाव में व्यवस्था होगी। दोनों का एक ही प्रयोजन होने पर द्रव्य एवं गुण एक ही क्रिया के साथ अन्वित होने से द्रव्य को गुण के द्वारा परिच्छिन्न कर द्रव्य के परिच्छेदक के रूप में गुण क्रिया के साथ अन्वित होगा ॥ १२ ॥

यह छठा अरुणाधिकरण सम्पूर्ण हुआ।

अथ सप्तमं ग्रहैकत्वाधिकरणम्

[७] एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात् ॥ १३ ॥ पू०

शा० भा०—अस्ति ज्योतिष्टोमः—'य एवं विद्वान्सोमेन यजते' इति। तत्र-श्रूयते 'दशापवित्रेण ग्रहं संमार्ष्टि' इति। तथा अग्निहोत्रे श्रूयते, 'अग्नेस्तृणा-

न्यपचिनोति' इति। तथा दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते, 'पुरोडाशं पर्यग्निकरोति' इति। तत्र संदेहः—किमेकस्य ग्रहस्य, एकस्याग्नेः, एकस्य पुरोडाशस्य च संमार्जनादि कर्तव्यम्, उत सर्वेषां ग्रहाणाम्, सर्वेषामग्नीनाम्, सर्वेषां पुरोडाशानामिति।

किं प्राप्तम्? एको ग्रहः, एकोऽग्निः, एकः पुरोडाश इह[1] ग्रहीतव्यः। कुतः? श्रुतिसंयोगात्। एकत्वश्रुतिसंयुक्ता एते पदार्थाः। एकं हि द्रव्यमेषु श्रूयते। शब्दलक्षणे च हि कर्मणि यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम्।

यथा 'पशुमालभेत' इत्युक्ते एक एव पशुः पुमांश्चाऽऽलभ्यते। एवमत्राप्येको ग्रहः संमार्जनीयः, एकस्याग्नेस्तृणानि अपचेयानि, एकः पुरोडाशः पर्यग्यिकर्तव्य इति॥ १३॥ पूर्वपक्षः॥

अथ सप्तमं ग्रहैकत्वाधिकरणम्

त० वा०—एवं यथासंयोगं शेषविनियोगः स्थितः। इदानीं तद्विशेषचिन्ता-किमेकस्य ग्रहणस्य संमार्गः, उत प्राकरणिकग्रहमात्रस्येति। यथा चैकत्वयुक्तम्, तथा द्वित्वबहुत्वयुक्तमप्युदाहर्तव्यम्। 'यस्य पुरोडाशौ क्षायतः, 'यस्य सर्वाणि हवींषि नश्येयुर्दुष्येयुः[2]', प्रयाजशेषेण हवींष्यभिघारयति इत्यादि। सर्वत्र च किञ्चिदुद्दिश्य क्रिया विधीयते। तत्रोद्दिश्यमानस्य किं संख्या विवक्ष्यते, उत नेति संशयः।

ननु च वेदवाक्येष्वयुक्तोऽयं विचारः। कुतः?

पौरुषेयवाक्येषु विवक्षाविवक्षे वैदिकेषु श्रुताश्रुतयोर्ग्रहणमिति निरूपणम्

प्रतीतिव्यतिरेकेण विवक्षाऽन्या न विद्यते।
नित्यत्वाद्वेदवाक्यानां श्रुतोऽतो नाविवक्षितः॥

यानि पुरुषप्रणीतानि, तानि पुरुषविवक्षाधीनवचनत्वात्संभवत्प्रमादाभिप्रायान्तरप्रमाणान्तरगम्यार्थानि भवन्ति। तत्र प्रतीतोऽप्यर्थो वक्तुरनभिप्रेतत्वादविवक्षां लभेत। सा च द्वेधा विज्ञायते।

यद्वा[3] वक्तैव कथयत्यन्यपरं ममेदमभिप्रेतम्, प्रमादेन वा। तस्मादेतावन्मात्रमिह न ग्रहीतव्यमिति।

यद्वा प्रमाणान्तरवशेनान्यथार्थेऽवधारिते वक्त्रनपेक्षाः श्रोतार एवाभिप्रायान्तरं प्रमादं वाऽध्यवस्यन्ति। न तु वेदवाक्येष्वभिप्रायान्तरम्, प्रमादो वा कस्याचिदस्ति। न च वक्ता, योऽन्यथात्वं कथयेत्सर्वपुरुषाणाम्, 'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' इति केवलश्रोतृत्वाश्रयणात्। न च प्रमाणान्तरगम्योऽर्थः। यतस्तद्वशेन स्वयमेव

१. ब० एध्वश्रपु। २. क दुष्येयुवाऽऽहरेयुर्वा। ३. क० यदा।

श्रोतारोऽन्यथात्वं प्रतिपद्येरन्। विवक्षाविवक्षे च वक्तॄणां प्रत्ययविशेषाविच्छानिच्छाविशेषौ वा। तेन विवक्षितम्, अविवक्षितमिति द्वयमप्येतद्वक्त्रभावादनुपपन्नम्। अतः श्रुताश्रुतयोरेव केवलयोरत्र ग्रहणाग्रहणे। नातः परं किञ्चित्कारणमस्ति।

पुंवाक्येऽप्यन्यथोक्तत्वं यावन्नान्येन गम्यते।
तावद्यथाश्रुतं मुक्त्वा नान्यथात्वपरिग्रहः॥

अभिधात्रीविनियोक्त्रीविधात्रीणां भेदप्रतिपादनम्

उच्यते—प्रतीतिं प्रति नैवात्र विसंवादोऽस्ति कस्यचित्।
प्रतीतेऽपि तु सत्येषा विध्यविध्योर्विचारणा॥

एकत्वं तावदत्रासंशयमुक्तम्। तच्च ग्रहसंबन्धीत्येतदप्यसंदिग्धम्। इह तु सर्वार्थानाम्—

अभिधात्री श्रुतिः काचिद्विनियोक्त्र्यपरा तथा।
विधात्री च तृतीयोक्ता प्रयोगो यन्निबन्धनः॥

प्रकृतिप्रत्ययश्रुत्योः स्वस्वार्थाभिधातृत्वम्। पदस्य, कारकविभक्तीनां च विनियोजकत्वम्। लिङ्-लोट्-तव्य-पञ्चमलकाराणां तु विधिसामर्थ्यम्। तत्रानुष्ठानकाले विधिश्रुत्यधीनः पुरुषः। स हि यत्र तया प्रवर्त्यते तत्राभिहिते अनभिहिते वा विनियुक्ते अविनियुक्ते वा तुल्यवत्प्रवर्तते। यत्र तु विधिना न नियुज्यते, तत्राभिहिते, विनियुक्तेऽपि न प्रवर्तते। न ह्यसावनुष्ठानं प्रति तयोरेकयाऽपि प्रेर्यते। इदमिहास्ति, अस्येदमिति [1]चैतन्मात्रपरिच्छेदाद्विषयकर्तव्यताबुद्ध्यनुत्पत्तेः। तेनाभिहितविनियुक्तस्यापि विधिम्, अनुष्ठानं च प्रतीत्य[2] विवक्षाविवक्षे विधित्सिताविधित्सितचिकीर्षिताचिकीर्षितात्मिके[3] भवतः।

नन्विदमपीच्छया विना नैवोपपद्यते। उच्यते। नैवात्र पारमार्थिकीमिच्छां वदामः। किं तर्हि?

परिग्रह-परित्यागाविच्छानिच्छाफले स्थिते।
तल्लक्षणार्थता त्वत्र[4] स्याद्विवक्षाविवक्षयोः॥

यथैव कूलं पिपतिषतीत्येवमादौ पातकालप्रत्यासत्तेरिच्छामुपचर्यैवं व्यपदेशो भवति, तथा पौरुषेयेषु वाक्येषु परिग्रहापरिग्रहौ विवक्षाविवक्षयोः फलत्वेन प्रज्ञाताविति, तावभिप्रेत्यायं विवक्षाविवक्षोपन्यासः। कथं श्रुतस्यापरिग्रहः स्यादिति चेत्? नैष दोषः। विध्यधीनः परिग्रह इति प्रागेवोक्तत्वात्।

---

१. क० एतावन्मात्र। २. क० प्रतिं।
३. क० विधित्सिते। ४. क० त्वर्थात्।

यथैव पौरुषेयेषु पुरुषो हि प्रवर्तकः ।
उक्तेऽप्यर्थे तथैवेह लिङादिर्विधिशक्तितः ॥

पुरुषस्थानीयो हि वेदे विधायकः । पुरुषेच्छास्थानीयं विधित्वम् । अतो यद्विधित्वेन संस्पृष्टम्, तत्कर्तव्यम्, नेतरदित्यवधारणाद्विधिव्यापारसंस्पर्शपरिमाणमन्वेष्टव्यम् । कथं पुनस्तुल्यायां समानवाक्यगतोक्तिप्रतीतौ किञ्चिद्विधिः । संस्पृशति, किञ्चिन्नेति ?

तदुच्यते—

विधानाय प्रवर्तन्ते स्वशक्त्यैव विधायकाः ।
योग्यशब्दोपनीतेऽर्थे सर्वस्मिन्नास्मादिच्छया ॥

यद्यस्मदभिप्रायानुरोधेन, अभिधानविनियोगश्रुतिवशेन वा लिङादयो विदध्युः ततः सर्वं विधीयेत । ते तु स्वशक्तिमनुरुध्यमानाः किञ्चिदेव विदधति, न सर्वम् ।

तथा हि—

विधित्वं श्रौतमार्थं च भावनाकारकाश्रयम् ।
ताभ्यां तु व्यतिरिक्तेऽर्थे नैकमप्येतदिष्यते ॥

श्रुत्या तावत्प्रयोजनभावना[1] विधीयते । तदन्यथानुपपत्तेस्त्वर्थात्कारकान्तराणि । यस्तु श्रुतोऽप्यर्थो भावनाकारकतदाश्रयत्वेन नावधार्यते, तत्रैकमपि विधित्वं नास्तीत्यनुष्ठानं प्रत्यनङ्गत्वम् । तेन संमार्गाद्यनुष्ठाने किं ग्रहैकत्वाद्यपि कर्तव्यम्, उत नेति जायते संदेहः । तत्र यद्येकत्वादि कारकत्वेन भावनाविशेषणम्, ततो विधिसंस्पर्शाद्विवक्षितं भविष्यति । अथ द्रव्यविशेषणम्, ततो न विवक्षितमिति । तदेतदप्रसिद्धालौकिकवेदवाक्यार्थव्याख्यानप्रकारकरणाशक्तेः पौरुषेयवाक्यव्याख्यासादृश्यापादनार्थमन्तर्णीतोपमानगौणवृत्त्याश्रयणेन फलसामान्यदर्शनाद्विधिशक्त्यशक्त्यधीनपरिग्रहापरिग्रहयोरेव विवक्षिताविवक्षितवाचोयुक्त्युच्चारणं मन्दबुद्धिशिष्यप्रतिपादनार्थं ग्रन्थकाराणाम्, व्याख्यातॄणां चान्यत्रापि वेदविषयमेवमेव गमयितव्यम् ।

पूर्वव्याख्यातॄणामेव विवक्षाविवक्षे अर्वाचीनव्याख्यातृभिर्विवक्षतमविवक्षितमुच्यते इति निरूपणम्

अथवा—

न्यायेन सम्प्रदायाद्वा ये मीमांसकयाज्ञिकाः ।
वेदं व्याचक्षते तेषामभिप्रायोऽयमुच्यते ॥
शब्दशक्त्यनुसारेण वाक्यार्थं गमयन्ति ते ।
तत्र यः शक्त्युपारूढः स तैर्व्याख्यातुमिष्यते ॥

---

१. क० प्रत्ययन भावना ।

यस्तु शक्त्या परित्यक्तो न व्याचिख्यास्यते स तैः ।
तेन व्याख्यातुमिष्टोऽर्थो यस्तेषां स विवक्षितः ॥
अनिष्टो यस्त्वशक्तित्वादविवक्षित एव सः ।
अतः पूर्तसमावृत्तव्याख्यात्रिष्टं विवक्षितम् ॥
तेनोच्येत तथा तेषां त्वनिष्टं त्वविवक्षितम् ।

तस्माद्व्याख्यातृगतमेव विवक्षिताविवक्षितत्वमुपन्यस्य, विचारकरणाद्वेदेऽप्यविरोधः ।

अन्तर्यामिब्राह्मणावलम्बनेन समाधानान्तरम्

ऋग्वेदादिसमूहेषु क्षेत्रज्ञा ये प्रतिष्ठिताः ।
तेषां वाऽयमभिप्रायः स्याद्विवक्षाविवक्षयोः ॥
महाभौतिकदेहस्था यथाऽऽत्मानः सचेतनाः ।
कंचिदर्थं विवक्षन्ति न विवक्षन्ति चापरम् ॥
तेषामन्तर्गताऽपीच्छा तद्वाक्यार्थविचारिभिः ।
ज्ञायते शब्दशक्त्यैव स्फुरन्तीव बहिः स्थिता ॥
देहभेदप्रकाराश्च कर्मशक्तिवशानुगाः ।
प्रकृत्यारम्भवैचित्र्याद् दृश्यन्ते परमात्मनाम् ॥
पार्थिवावयवप्रायाः शेषतोयाद्यनुग्रहात् ।
जरायुजादयो देहा दृष्टा भुवि चतुर्विधाः ॥
भूतान्तरानुबद्धेन तोयेनैव विनिर्मिताः ।
श्रूयन्ते वारुणे लोके देहाः स्वच्छाङ्गलक्षणाः ॥
अन्तरिक्षे च बहवः प्राणिनो वातनिर्मितैः ।
भ्रमन्ति लघुभिः सूक्ष्मैर्देहैर्भूम्याद्यनुग्रहात् ॥
स्वर्लोके तैजसप्राया देहाः शुद्धप्रभान्विताः ।
आप्यायन्ते विकीर्णेन मानवीयेन तेजसा ॥

तथा च नक्षत्रेष्टिवाक्यशेषेऽभिहितं 'ये हि जनाः पुण्यकृतः स्वर्गं लोकं यन्ति, तेषामेतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि' इति । तथा च मनुनाऽपि स्वर्गं लोकं गच्छन्नभिहितः, तेजोमूर्तिः पथर्जुनेति ।

विधिशक्त्या गृहीतं विवक्षितम्, तेन त्यक्तश्चाविवक्षितमिति वार्त्तिकमतम् ।

तथा व्योमशरीरोऽपि परमात्मा श्रुतौ श्रुतः ।
इज्यते वारिणा नित्यं यः स्वं ब्रह्मेति चोदितः ॥
रूपस्पर्शादयो येऽपि महाभूतगुणाः स्थिताः ।
प्रत्येकमात्मनां तेऽपि देहाः संभोगहेतवः ॥

शब्दब्रह्मेति यच्चेदं शास्त्रं वेदाख्यमुच्यते ।
तदप्यधिष्ठितं सर्वमेकेन परमात्मना ॥
तथर्वेदादयो देहाः प्रोक्ता येऽपि पृथक्-पृथक् ।
भोग्यत्वेनाऽऽत्मनां तेऽपि चैतन्यानुगताः सदा ॥
तेषां चान्तर्गतेच्छानां वाक्यार्थप्रतिपादने ।
विवक्षा वाऽविवक्षा वा ज्ञायते शब्दशक्तितः ॥
विधिशक्त्या गृहीतं यत्तत्सर्वं हि विवक्षितम् ।
तयैव तु परित्यक्तं व्याख्येयमविवक्षितम् ॥
शब्दब्रह्मात्मनोऽप्येवं सर्ववेदानुसारिणः ।
विवक्षा वाऽविवक्षा वा वक्तव्या विधिशक्तितः ॥
अनादिनिधनेऽप्येवं वेदे वेदार्थगोचरे ।
व्याख्यानं मुख्यवृत्त्याऽपि स्याद्विवक्षाविवक्षयोः ॥
ततश्चैतद् ग्रहैकत्वं किं वेदेन विवक्षितम् ।
किं नेति न्यायमार्गेण विचार्य स्थापयिष्यति ॥

पूर्वपक्षः

किं तावत्प्राप्तम् ?

स्यात्कर्मैकत्वयुक्तं यद्विधानं वाऽपि वैदिकम् ।
द्रव्यस्यैकस्य तज्ज्ञेयमनुष्ठेयं च कर्तृभिः ॥

सर्वत्र विधिप्रतिषेधात्मकत्वाद्वेदस्य यावत्किंचिच्छ्रूयते तत्सर्वं तत्संबन्धित्वेन गम्यते। तत्र येन प्रकारेण विधि-प्रतिषेधविषयं भवति, तथा सर्वात्मना योजनीयम् ।

तत्रैकस्तावत्पक्षः। सत्यपि द्रव्यविशेषणत्वे यथैव द्रव्यादिविशिष्टभावनाविधावर्थाद्विशेषणेषु विधिर्भवति, न त्वन्यथा विशिष्टा विहिता स्यादित्येवमेकत्वविशिष्टग्रहविशिष्टसंमार्गविध्यन्यथानुपपत्तेरर्थापत्त्यन्तरेणैकत्वविधानम्। एवं विशेषणमालायामपि सत्यां संयुक्तसंयोगपारम्पर्येण सर्वविधिप्रत्ययः। परस्परसंबन्धिषु गुणेष्वेकस्मिन्विहितेऽन्यो विधीयत इत्युक्तम् ।

अथवा यदि नाम द्रव्यविशेषणं यावद्विधिप्रत्ययो न गच्छेत्, तत एकयैवार्थापत्त्या सर्वं विधातुमिष्यते। ततो यथादशापवित्र-तदेकत्व-ग्रह-संमार्गाणां भावनाविशेषणत्वम्, एवं ग्रहैकत्वस्यापि प्रतिपादनीयम्। ननु चैकपदलक्षणया श्रुत्यैकत्वं ग्रहविशेषणं गम्यमानं न युक्तं वाक्येन भावनाविशेषणमापादयितुम्। नैष दोषः, विरोधाभावात्। ग्रहसंबन्धाविच्छेदेनैव हि भावनासंबन्धोऽवकल्पिष्यते। भिन्नविषयत्वाद्वा विरोधाभावः। यदि ह्युभयत्रापि तादर्थ्यलक्षण एवाऽऽश्रयाश्रयिविशेषणविशेष्यरूपो वा संबन्धः स्यात्, ततः समानविषयत्वं प्रतीयेत। न त्वेव-

मप्यस्ति । ग्रहैकत्वयोराश्रयाश्रयिरूपेण विशेषणविशेष्यभावाद्भावनया च सह शेषशेषित्वाभ्युपगमात् । तेन ग्रहाश्रितेनैकत्वेन संमार्गभावनां कुर्यादित्येवमवगमयिष्यामः । तादर्थ्यसंबन्धे च भावनां प्रति निर्वृत्तेऽरुणैकहायनीन्यायेन पश्चात्तनो विशेषणविशेष्यभावः । सोऽयं पदेन प्रत्याव्यते ।

अथवा यदैकत्वं स्वार्थत्वेन ग्रहो नोपजीवितुं समर्थं इत्यवधारितं भवति, तदाऽसौ तद्भावनां वाक्येनापि गच्छन्न निवारयति । यद्वा सुतरां प्रेरयति । भावनार्थं हि सदेतद्विधिना गृह्यमाणं पश्चादपि तावन्नियम्यमानं मां परिच्छेत्स्यति । अन्यथा तु मयाऽगृहीतं विधिनोपेक्षितं तावद्भावनाया न मम स्यात् ।

अथवा ग्रहार्थमेवैतदस्तु । तच्च ग्रहार्थत्वं येन प्रकारेणोपपद्यते, स दर्शयितव्यः । तत्र यदि ग्रहः स्वरूपमात्रेण भावनायामनुप्रविशेत्, तत एकत्वं पश्चाद्भविष्यदगृहीतं भावनया भावनागतं न स्यात् । ग्रहस्वरूपस्यैव स्यात् । अतोऽसावेकत्वपुरःसरमेव, तत्समानदेशं वा पृथक्पदोपात्तारुणादिवदेवाऽऽत्मानं प्रतिपद्यते । कुतः ?

विशिष्टो हि विधिः कृत्स्नो नाप्रक्लृप्तविशेषणः ।
विशिष्टो विशिनष्टीति तत्पूर्वं प्रविशत्यसौ ॥
गृह्णती भावनाऽप्येवमेकसंख्यं ग्रहं श्रुतम् ।
न गृह्णाति विशिष्टं तमगृहीतविशेषणम् ॥

एवं च सति भावनाप्रविष्टं तद्विनाऽपि संस्पृश्यमानं द्रव्यगुणयोर्नियमे सति ग्रहस्य जातं भवति ।

अथवा श्रुतिबलीयस्त्वादस्य द्रव्यसंबन्ध उच्यते. तदेवात्यन्तविपरीतम् । प्रातिपदिकोपात्तं हि द्रव्यं समानपदोपात्तत्वेन प्रत्यासन्नं स्यात् । इह तु समानविभक्त्युपादानादेकत्वं कारकविशेषणं शीघ्रतरं गम्यते । कारकं च विभक्तिप्रतिपादितमाविर्भूतपूर्वापरीभूतभावनैकदेश इत्युक्तम् । प्रत्ययार्थत्वादेतदेव प्रधानम् । सर्वं च संभवत्प्रधानगामि भवति । तेन ग्रहश्चैकत्वं चोभयमपि कारकीभूतं विभक्तिश्रुत्यैव भावनायां प्रक्षिप्यत इति विधीयते । तत्तु विशिष्टविधानात् । वक्ष्यति हि 'शब्दवत्तूपलभ्यते तदागमे हि तद् दृश्यते तस्य ज्ञानं यथाऽन्येषाम्' इति । यथैव दशापवित्रेण श्रुतो नान्येन क्रियते, संमार्गश्च श्रुतो नावघातः क्रियते, ग्रहस्य श्रुतो नाग्रहस्य क्रियते, तथैकस्य श्रुतो नानेकस्य कर्तव्यः । सर्वेषां चैतेषां पूर्वाधिकरणन्यायेन परस्परनियमः । तस्मादुपादीयमानपश्वादिवदेवोद्दिश्यमानस्यापि संख्या विवक्षिता । पुंपशुश्चेति । प्रसङ्गादुदाहृतम् । न त्वत्र लिङ्गमपि तुल्यन्यायत्वात्संख्याविचारेण विचारितप्रायमेवेत्युदाह्रियते, मा भूत् 'लिङ्गविशेषनिर्देशात्पुंयुक्तमैतिशायनः' इत्यस्य पुनरुक्तता ॥ १३ ॥

अथ सप्तमग्रहैकत्वाधिकरणम् ॥ ७ ॥

न्या सु०—संस्कारादित्रयस्यापि यथासंयोगं त्रिनियोगोक्त्या श्रौतविनियोगप्रकार-पर्यवसानचिन्तान्तराणामानर्थक्यमाशङ्क्याह—**एवमिति**। संयुक्ते ग्रहादौ सम्मार्गादेर्विनि-योगे स्थिते स्वविशेषणैकत्वादिविशिष्टे विनियोगः, ग्रहादिमात्रे वेति चिन्तैकवचनादिश्रुति-हेतुकविनियोगविषया कार्येत्यर्थः। संस्कारविषयायाः विशेषचिन्तायाः संस्कार-विनियोगचिन्तानन्तरं कार्यत्वशङ्कानिराशावेदानीमित्युक्तम्। सर्वशेषविनियोग-पर्यवसानात्प्राग्विशेषाऽनवसर इत्याशयः। तुल्यन्यायतयैकत्वग्रहणस्योद्देश्यस्थसंख्यामात्रो-पलक्षणार्थत्वादुदाहरणतेत्याशङ्क्यावगमात्[1] द्वित्वबहुत्वयुक्तमपि वाक्यमुदाहार्यमित्याह—**यथा चेति**। ननु पुरोडाशक्षाण-हविर्नाशयोर्निमित्तत्वेनोद्देश्यत्वान्नोदाहरणतेत्याशङ्क्याह—**सर्वत्र चेति**। प्रयाजशेषप्रतिपत्त्यर्थतायाश्चतुर्थे वक्ष्यमाणत्वात्प्रयाजशेषस्योद्देश्यत्वेन च हविषामनुद्देश्यत्वान्नोदाहरणतेत्याशङ्क्याह—**सर्वत्र चेति**। प्रयाजशेषप्रतिपत्त्यर्थत्वेऽपि द्वितीयावगतहविः संस्कारार्थत्वस्यापि सम्भवतो त्याज्यत्वादेकस्यापि प्रतिपत्त्यर्थकर्मत्वयोः स्विष्टकृद्वदविरोधात्परप्रयुक्तद्रव्यसंस्कार्यत्वादसंस्कार्यत्वेऽपि हविषां चतुर्थे वक्ष्यमाणशेष-धारणात्प्रयोजकत्वाविरोधादुद्देश्यत्वं सम्भवतीत्याशयः। एवं च सत्युद्देश्यसंख्याया विवक्षिताविवक्षितत्वसन्देहान्मूलसंशयो युक्त इत्याह—**तत्रेति**। हेतावितिकरणः।

वेदे वक्तृभावाद्वचनेच्छानिच्छारूपविवक्षायोगात्प्रमाणभूतवेदप्रतीतस्य च त्यागायोगा-च्चिकीर्षाचिकीर्षारूपविवक्षाविवक्षायोगात्प्रतीत्यप्रतीतिरूपविवक्षाविवक्षाविवक्षाभ्युपगमे तु यस्य कस्य चिदविवक्षायोगाद्धेतुभूतसन्देहमाक्षिपति—**ननु चेति**। प्रश्नपूर्वमाक्षेपाशयं विवृणोति—**कुत इति**। वेदवाक्यविशेषणफलोक्तिपूर्वं श्लोकं व्याचष्टे—**यानीति**। सम्भवति प्रमादोऽभिप्रायान्तरं वा येषु वाक्येषु, तानि सम्भवत्प्रमादाभिप्रायान्तराणि। प्रमाणान्तर-गम्योऽर्थो येषां तानि प्रमाणान्तरगम्यार्थानीति बहुव्रीहिद्वयं कृत्वा सम्भवत्प्रमादाभि-प्रायान्तराणि च प्रमाणान्तरगम्यार्थानि चेति कर्मधारयः। पुरुषाधीनोच्चारणत्वात्पुरुष-धर्मयोः प्रमादाभिप्रायान्तरयोः पौरुषेयेषु च वाक्येषु सम्भवेऽपि प्रमाणान्तरगम्यार्थ-त्वस्य वैदिकेष्वपि सम्भवात्तुल्यतामाशङ्क्य ज्ञातार्थे विवक्षायोगात्पौरुषेयेष्वैकान्तिकं प्रमाणान्तरगम्यार्थत्वं वक्त्रनपेक्षैरपि श्रोतृभिः प्रमादाभिप्रायान्तराध्यवसानसिद्ध्यर्थमुपपाद-यितुं विवक्षोक्तिः। एवं च पुंवाक्येषु श्रुतस्याप्यर्थस्य वक्तृनिच्छारूपासम्भवत्यविवक्षेत्युक्ते विवक्षाकार्येण वाक्येनानुमीयमानाया विवक्षायाः कथमभावावधावरणेत्याशङ्क्य—**सा चेत्युक्तम्**।

वेदवाक्येष्वाश्रयभूतपुरुषाभावात् सद्भावे तत्प्रमादाभिप्रायान्तरायोगोक्त्यर्थः कस्य चिच्छब्दः। अभिप्रायान्यथात्वस्य तदुपलक्षितस्य च प्रमादस्य सम्भवाभ्युपगमेऽपि कथनाख्य-स्तावद्वेदे ज्ञानप्रकारो वक्त्रभावान्न सम्भवतीत्युक्ते वेदाधिकरणसिद्धान्तसूत्रोक्तभावोपपाद-

1. र्थत्वावगमादिति २ पु० पा०।

नार्थम्—**सर्वैत्युक्तम्** । वायुक्षेपिष्ठादिवाक्यानामपि स्वरूपार्थस्य प्रमाणान्तरगम्यत्वेऽपि लोके विषं भक्षय न तु पापिगृहे भुङ्क्ष्वेत्यादौ विवक्षानुमापकत्वादर्शनात्तात्पर्यार्थस्य च प्रमाणान्तरागम्यत्वाद्द्वितीयोऽपि ज्ञानप्रकारो न सम्भवतीति—**न चेत्युक्तम्** । न केवलमविवक्षाहेतुभूतप्रमादाभिप्रायान्तरायोगाद्वेदवाक्येषु विवक्षा न युक्ता, किन्तु वचनेच्छानिच्छयोर्विवक्षाविवक्षात्वात् द्वारमित्यादौ संव्रियतामित्यादिपदानुच्चारणात्सम्वरणादिसम्प्रतिपादनेच्छाननुमानेऽपि सम्वरणादिप्रतिपादनं विना नैराकाङ्क्षयाभावात्तत्तत्प्रतिपादनाशयरूपां बुद्धिमनुमाय सम्वरणमनेन विवक्षितामिति वचनेच्छाहेतुभूते वचनाशयरूपे प्रत्ययविशेषे विवक्षाशब्दप्रयोगादवचनाशयरूपप्रत्ययविशेषाभावे च मौनिनोऽनिच्छायामप्यविवक्षाशब्दाप्रयोगाद्वचनेच्छानिच्छाहेतुभूतयोः प्रत्ययर्योर्विवक्षाविवक्षात्वाद्वा स्वरूपेणापि विवक्षाविवक्षयोर्वेदवाक्येषु प्रयोगादपीति विवक्षेत्यनेनोक्तम् । तेनेत्यादिना श्लोकार्थोपसंहारः ।

अचिकीर्षारूपा विवक्षा वेदे संभवत्यपि प्रमाणाभावादयुक्तेत्यर्थान्तरन्यासेन दर्शयितुमाह—**पुम्वाक्येऽपीति** । विधेयाविधेयत्वस्वरूपविवक्षाभ्युपगमेन भाष्योक्तसन्देहहेतुभूतसन्देहं समाधातुमाह—**उच्यतइति** । वचनश्रुत्यैकत्वस्याभिधानात्स्वरूपेण प्रतीतिः, पदश्रुत्या च ग्रहान्वयोक्तेर्ग्रहान्वयित्वरूपेण प्रतीतिरविवादेत्येवं पूर्वार्द्धं व्याचष्टे—**एकत्वं तावदिति** । उत्तरार्द्धं तावद्व्याख्यातुं सम्मार्जनीयस्य ग्रहस्यैकत्वान्वयावगतिमात्रेणैकग्रहसम्मार्गसिद्धेर्विधेयत्वचिन्तानर्थक्यशङ्कानिरासार्थं विनियोगाभिधानश्रुतिविषयभूतस्यापि विधिश्रुतिविषयत्वं विनानुष्ठानायोगं चिकीर्षाचिकीर्षारूपविवक्षाविवक्षासिद्ध्यर्थं वा श्रुतित्रैविध्योक्तिपूर्वं विध्येयत्वं विनानुष्ठानायोगं तावदाह—**इह त्विति** । तृतीयैव श्रुतिरनुष्ठानहेतुः, न पूर्वेत्यर्थः । उदाहरणनिष्ठं श्लोकं व्याचष्टे—**प्रकृतीति** । अभिधातृत्वस्वरूपमात्रबोधोऽभिप्रेतः विध्ययनपेक्षैः श्रुत्यादिभिस्तादर्थ्यबोधाख्यविनियोगासिद्धेरन्वयमात्रबोधोऽत्र विनियोगोऽभिमतः । कारकविभक्तीनां प्रत्ययत्वेन स्वार्थस्वरूपबोद्धृत्वे प्रकृतिसमभिव्याहारात्मकपदत्वरूपेण प्रकृत्यर्थान्वयबोद्धृत्वेऽपि क्रियान्वयबोधाधिक्योक्त्यै पृथगुक्तिः । षष्ठ्या अपि पदान्तरोक्तार्थान्वयबोद्धृत्वोक्त्यर्थश्चकारः । लिङादीनामपि कारकविभक्तिवदभिधातृत्वविनियोक्तृत्वसद्भावेऽपि विधिसामर्थ्याधिक्यमुक्तम् । तत्रेत्यनेन श्लोकतात्पर्योक्तिः ।

विधिनिबन्धनत्त्वं प्रयोगस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यामुपपादयति—**स हीति** । सौर्यादियागे अनभिहितेऽपि सक्तुषु होमसाधनत्वेनाऽविनियुक्तेष्वपि विधिसद्भावे प्रवृत्तेर्विध्यभावे च वायव्यश्वेतालम्भादौ धातुनाभिहिते द्वितीयया च विनियुक्तेऽप्यप्रवृत्तेर्विध्यधीनत्वाद्यवगतिरित्यर्थः । नन्वश्रद्धयापि प्रवृत्त्युपपत्तेः नाप्रवृत्तिमात्रेणाभिधानविनियोगश्रुत्योः प्रेरणाशक्त्यभावोऽवसीयते इत्याशङ्क्याभिधानश्रुत्याऽस्तित्वमात्रपरिच्छेदाद्विनियोगाश्रुत्या चान्वयमात्रपरिच्छेदात्सत्तान्वयविषयकार्यत्वबुद्ध्यनुत्पादकत्वेनानयोः प्रेरणाशक्त्यभावमुपपादयितुमाह—**न हीति** । उत्तरार्द्धंव्याख्यानायाऽनुष्ठानस्य विध्यधीनत्वमुपपाद्योत्तरार्द्धं तात्पर्यतो व्याचष्टे—**तेनेति** । विधिं प्रतीत्यविधिं लक्षणीकृत्य विधिलक्षणार्थं वचनमङ्गी-

कृत्य विवक्षाविवक्षे भवत इत्युक्ते सनोऽपि इच्छार्थस्यास्मिन्पक्षे परिग्रहलक्षणार्थत्वापत्तेः। तस्य च श्रुतिवृत्तत्वसिद्धयेऽनुष्ठानं प्रतीत्यानुष्ठानलक्षणार्थं वचनमङ्गीकृत्येत्युक्तम्।

द्वयमपि व्याख्यातुं विधित्सितेत्युक्तं चिकीर्षिताचिकीर्षितत्वयोश्च मूलसन्देहविषयभूतकर्तव्यत्वाकर्तव्यत्वोपलक्षणार्थत्वेनोपायसन्देहहेतुत्वेनोपन्यसनीयत्वाद्भाष्येऽपि चैकत्वाविवक्षायामेकवचनायोगशङ्कायाः शब्दविषयत्वेनानुष्ठातृगता चिकीर्षाविषयत्वेऽनुपपत्ते[1]-विवक्षाविवक्षाशब्दयोर्विधेयत्वाविधेयत्वोपलक्षणार्थं विधित्सिताविधित्सितार्थत्वावसायात्सनः श्रुतिवृत्तिशक्तिप्रदर्शनमात्रार्थं विवक्षाविवक्षयोश्चिकीर्षिताचिकीर्षितात्मकतोक्ता, न परमार्थिकी। विधित्सिताविधित्सितात्मकमपि विवक्षिताविवक्षितत्वं विधायकस्य शब्दस्याचेतनत्वेनेच्छाभावादयुक्तमित्याशङ्कते—नन्विति। [2]एकवचनेनैकत्वोक्तेर्निःशङ्कत्वेनात्र विवक्षाशब्दस्य 'आशङ्कायां सन् वक्तव्य' इति स्मृत्यविषयत्वादौपचारिकतैव सनो युक्तेत्याशयः। उपचारेणापि चेच्छाव्यतिरिक्ते सन्प्रयोगोपपत्तौ सूत्रस्मृतेच्छावाचित्वत्यागेनान्यार्थत्वकल्पनायोगाद्वाक्यकृतस्मृत्यनादरेण दृष्टान्तेऽप्यौपचारिकत्वोक्तिः सन्प्रत्ययोपलक्षणार्थ इति परिहरति—**उच्यत इति**। सनश्चेच्छाफलप्रत्यासत्तिलक्षणार्थत्वदर्शनान्नात्यन्तादृष्टोपलक्षणेति दर्शनान्नात्यन्तादृष्टोपलक्षणेति दर्शयन् श्लोकं व्याचष्टे—**तथैवेति**। अनुष्ठानार्थौ परिग्रहपरित्यागशब्दौ मत्वाऽभिधानविनियोगश्रुत्योरविधायकत्वेऽपि विधेयसमर्पकत्वात्तद्विषयताया विधेयत्वावगतेर्विधायकश्रुत्यविषयत्वेऽपि परित्यागो न युक्त इत्याशङ्कते—**कथमिति**। अप्राप्तत्वाद्विधानार्हत्वरूपविधेयत्वावगमेऽपि विधेयत्वाधीनत्वादनुष्ठानस्य विधायकेनाग्रहणेनानुष्ठानं युक्तमिति परिहरति—**नैष इति**। पुम्वाक्यदृष्टान्तेनैतदेवोपपादयति—**यथैवेति**। श्लोकं व्याचष्टे—**पुरुषेति**। इच्छाशब्देनाज्ञादयः पुरुषाशयविशेषा प्रवर्तनासामान्यव्यक्तिभूता विवक्षिताः। विधित्वशब्देन प्रेरणाख्यो लिङ्व्यापारः। शङ्कापरिहारमुपसंहरति—**अत इति**।

विनियोगाभिधानश्रुतिसमर्पितत्वाविशेषेऽपि विधिस्पर्शास्पर्शव्यवस्था न युक्तेत्याशङ्कते—**कथं पुनरिति**। समर्पितत्वाविशेषेऽपि रूपरसयोश्चक्षुर्ग्रहणाग्रहणव्यवस्थावद्विधिग्रहणाग्रहणव्यवस्था युक्तेति परिहरति—**तदिति**। योग्येत्यनेनाध्याहृतापिशब्दकेनाभिधानविनियोगश्रुतिवशत्वे निरस्ते। दृष्टान्तत्वेन श्रोत्राशयवशत्वाभावोक्तिः। व्यतिरेकपूर्वं श्लोकं व्याचष्टे—**यदीति**।

कस्मिन्नर्थे विधायकानां शक्तिरित्यपेक्षायामाह—**तथा हीति**। श्रौत विधित्वं भावनाविषयं कारकविषयं चार्थमित्यर्थः। श्लोकं व्याचष्टे—**श्रुत्या तावदिति**। धात्वर्थस्य कारकत्वेऽपि तदवच्छिन्नाया भावनाया निरूपणाशक्तेर्विध्ययोगात्पदश्रुत्यैव धात्वर्थविध्यवगतेस्तद्व्यतिरिक्तानामेव कारणामार्थविधिविषयत्वसूचनायान्तरोक्तिः कारकत्वेन श्रुतस्य सङ्ख्यादेः साक्षात्कारकत्वायोगेऽपि कारकीभूतद्रव्यद्वारा कारकत्वसम्भवे विधेयत्वानपह्नव-

---

१. अनुपपत्तेरिति २ पु० ना०। २. धात्वेकवचनेनेति २ पु० पा०।

सूचनायोत्तरार्द्धव्याख्याने तदाश्रयत्वोक्तिः विध्यवगतानुष्ठेयत्यानुपपत्त्या सामान्यतः किंचित्समीहितं प्रत्यङ्गत्वेऽवधारिते श्रुत्यादेस्तद्विशेषसमर्पणमात्रे व्यापाराद्विध्यपरिग्रहे श्रुतस्याप्यङ्गत्वं नास्तीति सूचनायानुष्ठानं प्रत्यङ्गत्वं स्यात्, तच्च विध्यभावान्नास्तीत्युक्तम्। एकत्वादेर्विधिपरिग्रहापरिग्रहलक्षणविवक्षिताविवक्षितत्वसन्देहेऽप्येकस्य ग्रहस्य-सम्मार्गादिकार्यम्। सर्वेषां वेति मूलसन्देहस्य सिद्धिः कथमित्याशङ्क्य, विवक्षिताविवक्षितत्वं सन्देहेनैकत्वादेः कार्यत्वाकार्यत्वसन्देहसिद्धिन्दर्शयितुमाह—तेनेति। उपक्रमोक्तो विवक्षाविवक्षितत्वसंदेहः सम्भवोपपादनसमाप्त्या बुद्धिस्थीकृतस्तच्छब्देन परामृष्टः। हेत्वभावे वेदे सम्भवमात्रेण विवक्षिताविवक्षितत्वसन्देहासिद्धेस्तद्धेतुत्वेनैकत्वादेः सम्मार्गादिभावनाविवक्षिताविवक्षितत्वसन्देहासिद्धेस्तद्धेतुत्वेनैकत्वादेः सम्मार्गादिभावनाविशेषणत्वसदसद्भावसन्देहं दर्शयितुमाह—तत्रेति। भावनाद्रव्याङ्गत्वहेतुभूतकारकाकारकत्वसन्देहान्तरसूचनार्थं कारकत्वेनेत्युक्तम्। चिकीर्षितत्वात्मके विवक्षितत्वे विधिस्पर्शस्य हेतुत्वार्था पञ्चमी विधित्सितरूपे विवक्षितत्वे शब्दप्रवृत्तिमात्रे हेतुत्वम्।

ननु विवक्षाविवक्षोक्त्योर्विधिपरिग्रहापरिग्रहलक्षणार्थत्वे कस्मादुद्देश्यसंख्याविधिना गृह्यते न वेत्येव सन्देहो न कृत इत्याशङ्क्याशङ्क्याह—तदेतदिति। विधिशक्त्यशक्त्यधीनयोर्विधिपरिग्रहापरिग्रहयोर्यद्विवक्षिताविवक्षितत्वं वाचोयुक्त्युच्चारणं तन्मन्दबुद्धिशिष्यप्रतिपादनफलं पौरुषेयवाक्यव्याख्यासादृश्यापादनार्थमित्युक्ते कस्मात्पुंवाक्यव्याख्यासादृश्यापादनं विना न शिष्यप्रतिपत्तिरित्याङ्क्यालौकिकस्थेनावुद्धस्य वेदवाक्यार्थस्य विसदृशव्याख्यानप्रकारप्रकरणाशक्तेरित्युक्तम्। कया वृत्त्या परिग्रहापरिग्रहयोर्विवक्षिताविवक्षितवाचोयुक्तिरित्याशङ्क्यान्तर्णीतमुपमानं यस्याङ्गौणवृत्तौ तदाश्रयणेनेत्युक्तम्। कथमुपमानमित्यपेक्षायां परिग्रहापरिग्रहाख्यफलसामान्यदर्शनादित्युक्तम्। न केवलमेतदेव विवक्षिताविवक्षितवाचोयुक्त्युच्चारणं परिग्रहापरिग्रहविषयम्। किं त्वन्यत्रापि तस्मान्नैतत्किंचिदपि कर्तुं विवक्ष्यत इत्यादिभाष्यादौ यद्वेदविषयं विवक्षिताविवक्षितवाचोयुक्त्युच्चारणम्, तदेव मे विसमर्थनीयमिति ग्रन्थेत्यनेनोक्तम्। व्याख्यार्थवच्यङ्गीकारेण वाच्या चिख्यासाव्याचिख्यासे विवक्षाविवक्षोक्तिभ्यामुच्येते इति समाधान्तरमाह—अथ वेति।

ननु सम्प्रदायानुसारेण व्याचक्षाणानां याज्ञिकानां न्यायशास्त्रे अभिप्रायाख्येच्छाचिन्ता न युक्तेत्याशङ्क्याह—शब्देति। सम्प्रदायस्य पौरुषेयत्वेन मूलप्रमाणापेक्षत्वाद्ग्रहैकत्वादिविवक्षाविषयभूतस्य च प्रमाणान्तरस्यादर्शनाददृष्टन्यायमूलत्वसम्भवे चादृष्टमूलान्तरकल्पनायोगान्न्यायमूलत्वावगतेर्न्यायाविरोधेसम्प्रदायाद्वेदार्थावगमेऽपि विरोधे न्यायावगम्यविधिशब्दशक्त्यनुसारेणैव याज्ञिकैरपि व्याख्येयत्वात्तद्व्याचिख्यासा चिन्तयितुं युक्तेत्याशयः। यद्वेच्छाया निरङ्कुशत्वात्तद्वशेन शास्त्रार्थनिर्णयायोगाशङ्कानिरासार्थत्वेनायं श्लोकार्द्धो व्याख्येयः। व्याख्यात्रिच्छायाः साङ्कशत्वमेव विवृणोति—तत्रेति। विवक्षाविवक्षोक्त्योर्व्याचिख्याव्याचिख्यासार्थत्वमुपसंहरति—तेनेति।

ननु ग्रन्थकारप्रयुक्तयोर्विवक्षाविवक्षाशब्दयोर्व्याख्यातृच्छानिच्छानिच्छार्थत्वसम्भवेऽपि व्याख्यातुमुक्तयोरात्माश्रयदोषापत्तेर्व्याख्यातृच्छानिच्छार्थत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**अत इति**। संवत्सरवाचिना समाशब्देन कालोपलक्षणादतः पूर्वंव्याख्यातृप्रतियोगित्वेनोपस्थापितादर्वाचीनाद् व्याख्यातुः पूर्वकाले वृत्ता जाता ये व्याख्यातारः तेषामिष्टं यत्तेनार्वाचीनेन व्याख्यात्रविवक्षितमुच्यते। तेषां चानिष्टं यत्तदविवक्षितमुच्यतइत्यर्थः। अतो वेदेऽपि विवक्षिताविवक्षितत्वचिन्ता न विरुद्धेति प्रस्तुतोपयोगमाह—**तस्मादिति**। स्वरूपे अर्थे वेदप्रामाण्यात्सर्वस्य जगतश्चेतनाधिष्ठितत्वाभ्युपगमेन मुख्यवृत्त्यैव विवक्षाविवक्षोक्ती समाधत्ते—**ऋग्वेदादीति**। यो वै वेदेषु तिष्ठन्वेदानन्तरो यमयति यो वेदान्वेत्ति, यं वेदा न विदुः यस्य वेदाः शरीरं एष त आत्मान्तर्याम्यमृत इत्युपनिषत्प्रामाण्यादृग्वेदादिष्वात्मानो ये प्रतिष्ठितास्तेषामिच्छानिच्छाख्यभिप्रायो विवक्षाविवक्षाशब्दवाच्य इत्युक्ते कर्मजन्यफलोपभोगार्थं देहाधिष्ठातृभिजीवैर्नित्यानां वेदानां कर्मानर्जितत्वेनाधिष्ठानायोगात्परमात्मनश्च देहानधिष्ठातृत्वाद् ऋग्वेदादीनां चेतनेच्छाधीनव्यापारत्वानुपपत्तेः, शब्दशक्त्यालोचनावशेन शब्दव्यापाराच्चेतनेच्छानुमानायोगेन सदसद्भावचिन्तानुपपत्तिमाशङ्क्य परमात्मनः कर्मजन्यफलोपभोगार्थं देहानधिष्ठानेऽपि कार्यकारणप्रतिनियमसिद्ध्यै सर्वस्य जगतश्चेतनाधिष्ठानाकरणात्परमात्मनोऽपि च—

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारतेति।

देहाख्यक्षेत्रे ज्ञातृत्वाख्यक्षेत्रे ज्ञत्वस्मृतीर्वेदेष्वधिष्ठातृत्वोपपत्तिसूचनार्थं क्षेत्रज्ञत्वेऽभिहिते।

'विच्छिन्नयत्नव्यङ्ग्यैश्च नित्यैः सर्वगतैरपि।
व्यतिरिक्तपदारम्भो वर्णैर्नात्रोपपद्यते॥'

इत्यनेन न्यायेन पदावयविवत् ऋग्वेदाद्यवयविनो, वेदावयविनश्चानुपपत्तेरनारब्धावयविकानां चावयवानां देहत्वादर्शनादृग्वेदादीनां देहत्वायं।गेन।

'इदं शरीरं कौंतेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्योवेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥'

इति देहाख्यक्षेत्रमधिष्ठाय ज्ञातृत्वलक्षणक्षेत्रज्ञत्वायोगमाशङ्क्योपनिषत्प्रामाण्यादनारब्धावयविकेष्वप्यृग्वेदादिशब्दवाच्येषु मन्त्रब्राह्मणसमूहेषु क्षेत्रज्ञानामधिष्ठातृतोक्ता।

ननु पञ्चधातूस्त्वयम् षष्ठ आदत्ते युगपत्प्रभुरिति।

इत्यादिस्मृत्यालोचनेन महाभूताधिष्ठितस्यैवात्मनो ज्ञानेच्छादिमत्त्वावगमाद्वेदाधिष्ठितानामात्मनां ज्ञानाभावेन तत्पूर्वकविवक्षासम्भवोऽसम्भवेऽपि प्रमाणान्तरगम्यार्थत्वाभावाद्वेदाधिष्ठातृभिरकथितायाः परैर्ज्ञातुमशक्यत्वात्तत्सदसद्भावचिन्ता युक्तेत्याशङ्क्याह—**महाभौतिकेति**। यथा पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशाख्यमहाभूतारब्धदेहाधिष्ठितानामात्मनां चैतन्याख्यज्ञानवत्त्वात्तत्पूर्विका विवक्षा सम्भवति 'वृषलैनं प्रवेष्टव्यं गृहेऽस्मिन्नि'त्यादौ वा कथितापि बहुत्वाद्यविवक्षा प्रमाणान्तरगम्येऽपि चार्थे शब्दशक्त्यालोचनयैवान्यैर्ज्ञायते, तथर्ग्वेदादिदेहा-

धिष्ठितानामप्यात्मनां चैतन्याख्यज्ञानवत्त्वात्तत्पूर्विका विवक्षा सम्भवति। शब्दशक्त्यालोचनया चान्यैर्ज्ञातुं शक्यत इति तथर्ग्वेदादयो देहा इति वक्ष्यमाणान्वयेन व्याख्येयम्। अकथितत्वसूचनायान्तर्गतत्वोक्तिः प्रमाणान्तरवशत्वनिरासार्थः शब्दशक्त्यैवेत्येवकारः।

ननु देहानां पार्थिवत्वव्याप्तेर्ऋग्वेदादीनां व्यापकपार्थिवत्वनिवृत्त्या व्याप्यदेहत्वनिवृत्त्यवगमान्नात्मभिरधिष्ठानं युक्तमित्याशङ्क्याह—देहेति। पृथिवीपरमाण्वादीनां देहप्रकृतिभूतानां देहारम्भवैचित्र्याद्देहानां भिन्नाः प्रकारा इत्युक्ते प्रकृत्यारम्भवैचित्र्यनिमित्तापेक्षायामपरमात्मनां जीवानां देहविचित्रकर्मजन्यविचित्रफलोपभोगापादकापूर्वाख्यशक्तिवशानुगा इत्युक्तम्। ततश्च शुद्धायाः पृथिव्याः क्व चिद्देहप्रकृतित्वाभावाद् बाहुल्यस्य च भूतान्तरेष्वपि भावाद्देहत्वस्य पार्थिवत्वेन व्याप्तिरसिद्धेति परिहाराशयः।

वैचित्र्यं विवृणोति—पार्थिवेति। स्वेदजाण्डजोद्भिज्जैरादिशब्दोक्तैः संख्यापूरणं तोयबाहुल्योपपादनार्थं स्वेच्छावयवरूपतोक्ता। वायुबाहुल्योपपादनार्थं भ्रमन्तीत्युक्तम्। अग्निदृष्टान्तेन तेजोबाहुल्योपपादनार्थं रात्रौ विक्षिप्तेन सौर्येण तेजसा आप्यायन्तइत्युक्तम्। वाक्यशेषेऽपि—

एवं यः सर्वभूतानि ब्राह्मणो नित्यमर्चति।
स गच्छति परं स्थानं तेजो मूर्त्तिर्यथार्जुन॥

इति मानवाभिधानेन च तैजसानां देहानां चेतनाधिष्ठिततोपपादिता। नाभिहित इतिपाठे ना पुरुषः।

ननु जीवात्मनां स्वकर्मोपात्तफलोपभोगदेहाधिष्ठातृत्वसम्भवेऽपि वेदाधिष्ठातृत्वेनाभिमतस्य परमात्मनः कर्त्तृभोक्तृत्वाभावाद्देहाधिष्ठातृत्वं न सम्भवति। वेदानां च नित्यत्वेनात्मकर्मानुपात्तत्वान्न तद्देहत्वे सम्भवतीत्याशङ्क्य नित्यानां वेदानां व्योमदृष्टान्तेन परमात्माधिष्ठितत्वमुपपादयितुमाह—तथेति। क्रमार्थस्तथाशब्दो न तु दार्ष्टान्तिकत्वोक्त्यर्थः। परमात्मनो 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतीति श्रुतेः। प्रयोजनाभावाद्देहानधिष्ठातृतामाशङ्क्य भोक्तृत्वसिद्ध्यै 'तत्सवितुर्वरेण्यमि'ति सवित्रधिष्ठानतच्छब्दवाच्यब्रह्माख्यपरमात्माभिप्रायिन्या गायत्र्योत्क्षिप्यमाणेन वारिणेज्यतइत्युक्तम्। 'तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहमित्युपनिषच्छ्रुतेः 'सूर्य आत्मा जगतस्त'स्थुषश्चेति मन्त्रवर्णाच्च ब्रह्मणः सवित्रधिष्ठातृत्वावगतिः। कृत्स्नदेहाधिष्ठानस्यापि चात्मनो हृदयाधिष्ठानोपासनवत् कृत्स्नव्योमाधिष्ठानस्यापि व्योमान्तर्गतसवितृमण्डलधिष्ठानोपासनाविरोधः। कस्याः श्रुतेर्व्योमशरीरता श्रुतेत्यपेक्षायां 'खब्रह्मे'ति श्रुत्या व्योमशरीरतयोदितइत्युक्तम्। य आकाशे तिष्ठन्नाकाशमन्तरो यमयतीति य आकाशं वेत्ति, यमाकाशं न वेद यस्याकाशः शरीरमेष त आत्मा सर्वान्तर्यामीअमृत इति श्रुत्यन्तरसूचनार्थश्चकारः। नित्यस्यापि नियमत्वलक्षणभोग्यत्वाद्देहत्वोपपत्तिसूचनार्था नित्योक्तिः।

नन्वेवमपि देहानां भौतिकत्वव्याप्तेर्ऋग्वेदादीनां व्यापकभौतिकत्वनिवृत्त्या देहत्वनिवृत्त्यवगमान्न देहता युक्तेत्याशङ्क्य महाभूत (गुणानामपि यो रूपेषु तिष्ठन्नपाण्यन्तरो यमयतीत्यादिश्रुतिप्रामाण्याद्देहत्वावगतेर्भौतिकत्वेनापि देहत्वस्य व्याप्तिरसिद्धेति सूचयितुमाह—रूपेति। देहत्वोपपादनार्थं नियमलक्षणसम्भोगाधिष्ठानता सम्भोगहेतुशब्देनोक्ता। पृथिव्यादिमहाभूतवत्समुदितानामेव रूपादीनां देहत्वशङ्कानिरासार्थं प्रत्येकमित्युक्तम्। शब्दब्रह्मवादस्य च चेतनाचेतनयोर्ब्रह्मशब्दयोस्तादात्म्यानुपपत्तेः। शब्दो ब्रह्माधिष्ठानमित्येवं व्याख्येयत्वाच्छब्दात्मकानामपि वेदानान्देहताम्ब्रह्माख्यस्य च परमात्मनोऽपि देहाधिष्ठातृतां शब्दब्रह्मवादिनामपि मतम्। प्रकृतर्ग्वेदाद्यधिष्ठातृक्षेत्रज्ञसिद्ध्यै सूचयितुमाह—शब्देति। यद्वेदाख्यं शाब्दं शब्दब्रह्मेत्युच्यते तत्परमात्मनाधिष्ठितमिति क्रध्याहारेणयोज्यम्।

अनादिनिधनम्ब्रह्म शब्दतत्त्वमिति।

शब्दमात्रस्य ब्रह्मत्वोक्तावपि शास्त्रत्वाख्यैश्वर्ययोगिकूटस्थनित्यब्रह्माधिष्ठानस्य कूटस्थनित्यं शास्त्रं विनानुपपत्तेर्वेदातिरिक्तस्य च शास्त्रस्य कूटस्थनित्यत्वाभावाद्वेदाख्यं शास्त्रमिति विशेषतः परमात्माधिष्ठानमात्रेण तर्हि चेतनाधिष्ठितत्वसिद्धेः, क्षेत्रज्ञाधिष्ठानोक्तिरनर्थिकेत्याशङ्क्य 'द्वा सुवर्णा सयुजा सखायेत्यादिश्रुत्यालोचनया सर्वस्य साधारणचेतनद्वयाधिष्ठानत्वावगतेः' सर्वसाधारणपरमात्माधिष्ठितस्यापि प्रतिबिम्बवत्स्वासाधारणाधिष्ठितत्वोपपत्तिसूचनार्थं सर्वमिकेनेत्युक्तम्। सर्वस्यैकाधिष्ठितत्वे वेदमात्रस्यैकाधिष्ठितत्वोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य—

'सर्वेषाञ्च स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥'

इत्यादिस्मृत्यालोचनया सर्वस्याभिधानाभिधेयजातस्य वेदान्तर्गतत्वाद्वेदात्मकत्वसूचनायेदमित्युक्तम्। रूपादिदृष्टान्तेनाभौतिकानामपि वेदानान्देहत्वसम्भवेऽपि ज्ञानसाधनेन्द्रियाद्यभावात्परमात्मवच्च क्षेत्रज्ञाधिष्ठानेऽपि ज्ञानानुपपत्तेस्तत्पूर्विका विवक्षा न सम्भवतीत्याशङ्कां निरस्यन् दार्ष्टान्तिके ज्ञानपूर्वं विवक्षोपपत्ति—योजयति। तथेति। यथा माहाभौतिकदेहेष्वात्माधिष्ठानाच्चैतन्याख्यं ज्ञानमस्ति, तथर्ग्वेदादयोऽपि देहत्वेन श्रुत्योक्तत्वाद्देहानाञ्चात्मयोग्यत्वव्याप्तेर्ज्ञानञ्च विना भोगायोगाच्चैतन्याख्यज्ञानान्विता इत्यर्थः। परमात्मन एव वेदान्स्वार्थप्रतिपादने नियन्तुं वेदाख्य—क्षेत्राधिष्ठातृत्वेन क्षेत्रज्ञव्यपदेश्यत्वान्नित्यज्ञानत्वोपपत्तेः। साधनाभावेन ज्ञानाभावाशङ्कानिरासः सदेत्यनेन सूचितः। शब्दब्रह्मैव क्षेत्रज्ञशब्देनोक्तं स्यादित्याशङ्क्य, वेदपुरुष इति यमवोचामयेन वेदान्वेद ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमिति श्रुत्या प्रत्येकमसाधारण्येन ऋग्वेदादीनान्देहत्वोक्तेः सर्ववेदसाधारणत्वाच्छब्दब्रह्मणः प्रतिवेदमसाधारण्येन क्षेत्रज्ञस्य वैलक्षण्यसूचार्थं पृथक् पृथगित्युक्तम्। यथा च भौतिकदेहस्थानात्मनामन्तर्गतापीच्छा शक्त्यालोचनया अन्यैर्ज्ञायते, तथा वेददेहस्थानामपीत्याह—तेषाञ्चेति। वेदक्षेत्रज्ञाशयविषयविवक्षाविवक्षोक्तिपक्षमुपसंहरति—

विधीति। शब्दब्रह्मवादाभ्युपगमे तु ब्रह्मणोऽपि सर्ववेदात्मकदेहाधिष्ठातृत्वाद्विवक्षाविवक्षे वक्तुं शक्येते। ते च विधिशक्तितो ज्ञायेते इत्याह शब्देति[1]। एवंशब्देन प्रत्येकम्वेदाधिष्ठातॄणां दृष्टान्ततोक्ता—**नन्वनादिति**।

'नन्वनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं व्यवस्थितम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥'

इति वदद्भिः शब्दब्रह्मवादिभिः शब्दव्यतिरिक्तार्थनिरासात्तस्मिन्पक्षेऽर्थविवक्षानुपपत्तेस्तद्विषयत्वेन विवक्षोक्तिव्याख्या न युक्तेत्याशङ्क्याह—**अनादीति**। अर्थापह्नवे सर्वप्रमाणविरोधापत्तेरभिधेयवाचिनोऽर्थशब्दात्कृदन्तादुत्पन्नेन भावप्रत्ययेन वाच्यवाचकसंबन्धोक्तिमङ्गीकृत्य वाच्यविषयशक्तियुक्तत्वेन विवृत्यर्थभावेन[2] विवृत्त्युक्तेर्व्याख्येयत्वसूचनायानादिनिधनत्वस्योपलक्षितस्य शब्दब्रह्मणो वेदवेदार्थाधिष्ठानतोक्ता। शब्दब्रह्मपक्षे त्वेवं वेदक्षेत्रज्ञपक्षोक्तप्रकारेण विवक्षाविवक्षाशब्दयोर्व्याच्यमुख्यावृत्यायुक्तेत्यर्थः। उपासनाविधिशेषत्वेनान्तर्यामिब्राह्मणादेः स्वरूपार्थपरत्वाभावात् कार्यकारणप्रतिनियमस्य च शक्तिव्यवस्थयोपपत्तेः सर्वस्य जगतश्चेतनाधिष्ठितत्वे प्रमाणाभावात्परमात्मनस्तु योऽयमशरीरः प्रतिज्ञातेत्यशरीरत्वश्रुतेर्जीवात्मनां च कर्मानपेक्षाणां च देहानधिष्ठातृत्वान्मुख्यवृत्तिव्याख्यानस्याभ्युच्चयमात्रत्वसूचनार्थोऽपिशब्दः। वेदवाक्येषु विवक्षाविवक्षासन्देहस्य चतुर्द्धोपपादितम्। युक्तत्वमुपसंहति—**ततश्चेति**। तस्मान्नैतर्त्कि चिदपि कर्त्तुर्विवक्ष्यतइत्यादिभाष्यादेव विविधसन्देहावगमसूचनार्थं न विवक्षितमिति स्थापयिष्यतीत्युक्तम्। एकत्वयुक्तं कर्मैकस्य द्रव्यस्यानुष्ठेयं विधानं वैकत्वयुक्तं द्रव्यस्यैकस्य ज्ञेयमित्येवं द्वेधा सूत्रं पूरयन्पूर्वपक्षमाह—**किं तावदिति**। श्रुतिसंयोगं विधिश्रुत्याशयत्वेन व्याख्यातुमाह—**सर्वत्रेति**। नन्वक्रियात्मनः कारकत्वेन विध्यन्वयाभ्युपगमात् संख्यायाश्च कारकीभूतविधेयद्रव्यविशेषणत्वद्वारा कारकत्वस्याभ्युपगमनीयत्वात्। ग्रहादेश्च द्वारभूतस्य द्रव्यस्येहाविधेयत्वेन तद्द्वारा कारकतया संख्यादिविध्ययोगाद्विधिश्रुत्यसंयोग इत्याशङ्क्य श्रुतिसंयोगोपपादितप्रतिज्ञां तावत्करोति—**तत्रेति**। कारकत्वेन वा, कारकविशेषणेन वेति सर्वात्मनेत्यस्यार्थः। कारकविशेषणत्वेन तावद्विधेयत्वमुपपादयति—**तत्रैकस्तावदिति**। अनभिमतत्वसूचनायैकशब्दः द्रव्यादिविशिष्टक्रियाविध्यन्यथानुपपत्त्या विधेयक्रियाविशेषणभूतद्रव्यादिविधिकल्पनैव संख्याविशिष्टद्रव्यविशिष्टक्रियाविध्यन्यथानुपपत्त्या विशेषणभूतसंख्याविधिकल्पनापि युक्तेत्यर्थः। स्वरूपेण च प्रकृतं कर्माङ्गत्वेन च ग्रहस्य प्राप्तावपि सम्मार्गान्वयित्वेनाप्राप्तत्वाद्विधेयत्वोपपत्तिरित्याशयः। अष्टाकपालादिवाक्ये च क्रियाविशेषणपुरोडाशविशेषणकपालविशेषणभूतस्याष्टत्वादेरपि विधिप्रतीतेर्विशेषणविशेषणस्य सुतरां विध्युपपत्तिरिति सूचयितुमाह—**एवमिति**। अर्थाक्षेपलभ्यत्वाच्चानेकार्थविधिं गौरवं शब्दस्यापादय-

---

१. अयं पा० २ पु० ना०।
२. विविधवृत्यर्थतया अर्थभावेनेति २ पु० पा०।

तीत्यर्थान्तरन्यासेनाह—**परस्परस्यापीति**। शुद्धस्य द्रव्यस्य विशेषणत्वे द्रव्यविशिष्टक्रियाविधिना द्रव्यविशेषणानाक्षेपात्संख्यादेश्च क्रियाविशेषणत्वाभावे तद्विशिष्टस्य क्रियाविशेषणत्वायोगात्कारकविशेषणत्वेन विधेयत्वानुपपत्तेः। कारकत्वेनैव ग्रहैकत्वस्य विधेयत्वमुपपादयितुमाह—**अथ वेति**। यद्यपि द्रव्यविशेषणपर्यन्तं विधिप्रत्ययो न गच्छेत्ततश्च स्वविशेषणविशिष्टक्रियान्यथानुपपत्तिलक्षणयैवार्थापत्त्या संख्याद्यपि विधातुमिष्यते, तथापि ग्रहैकत्वस्यापि भावनाविशेषणतेत्येवं ग्रहैकत्वविधानं प्रतिपादनीयमित्येवं तथाशब्दार्थः ततः शब्दापिशब्दाध्याहाराद्यभ्युपगमेन योज्यम्।

यद्वा यदीत्यसंदिग्धे सन्दिग्धवचनं नामवचनः कथं चिच्छब्दार्थे गच्छतिनान्वेतव्यः। ततश्चेति चशब्दाध्याहारस्तुल्यः। उद्देश्यविशेषणस्योद्देश्यत्वेन क्रियान्वयाभ्युपगमे प्रत्युद्देश्यं वाक्यसमाप्त्यापत्तेरुद्देश्यद्वयस्यैकक्रियावशीकाराभावेनान्योन्यानियमादुद्देशोपादानयोश्चैकस्मिन्पदेऽनुपपत्तेरुपादेयत्वेन क्रियान्वयायोगाद् ग्रहैकत्वयोर्विशेषणविशेष्यत्वायोगेनैकपदलक्षणायाः श्रुतेस्तद्विषयत्वायोगात्तदर्थ्यविषयत्वमापाद्य वाक्यीयक्रियान्वयबोधकत्वं शङ्कते—**ननु चेति**। पदश्रुतेस्तादर्थ्यविषयत्वाभ्युपगमेनैव ग्रहाणां निर्ज्ञातदशसंख्यत्वेन स्वरूपतः संख्यानपेक्षत्वात्संस्कार्यस्वरूपेणैकत्वं प्रत्यङ्गित्वावगतेः संमार्गभावनान्वयित्वात्संकार्यरूपाङ्गत्वस्यैकस्य भावनाङ्गत्वविरोधमाह—**नैष इति**। वस्तुस्वभावनिन्बन्धनोद्देश्योपादेयत्वयोः शब्दव्यापाराविषयत्वादेकपदोपात्तयोरव्यवस्थोपपत्तेर्ग्रहमिति द्वितीयोक्तस्यापि चैकत्वस्यानुपयोगित्वेनासंस्कार्यत्वात्सक्तुवद् गुणत्वप्रतीतेः। साक्षाच्च निष्क्रियत्वेनाश्रयत्वेनाश्रयद्रव्यापेक्षायामेकपदलक्षणया श्रुतेराश्रयद्रव्यसमपर्कत्वेनाविरोधसम्भवे विरोधापादकग्रहार्थताविषयत्वकल्पनायोगमभिप्रेत्यान्यथाविरोधाभावमाह—**भिन्नेति**।

विरोधे सत्येकत्वस्य क्रियाङ्गत्वं विना विधेयत्वायोगात् श्रुत्युक्तस्य ग्रहाङ्गत्वस्यानुपपत्तेर्वाक्यीयोऽपि क्रियान्वयो न बाध्यतइति परिहारान्तरमाह—**अथ वेति**। श्रुत्युक्तविशेषणविशेष्यभावसिद्ध्यै वाऽपेक्ष्यतएव क्रियान्वयः। श्रुत्येति परिहारान्तरमाह—**यद्वेति**।

तादर्थ्यविषयश्रुत्यभ्युपगमे त्वेकत्वस्य क्रियान्वितग्रहान्वयनिमित्तक्रियान्वयपक्षात्पूर्वोक्तात्प्रकारान्तरेणैकत्वान्वितस्य ग्रहस्य क्रियान्वयाभ्युपगमे तस्यैकाभिधानश्रुत्यैकाभिधानश्रुत्यैकपदोक्तात् ग्रहात्प्राक् संस्कार्यत्वप्रतीतेः। स्वतन्त्रस्य चैकत्वस्य क्रियायोगात्प्रत्युद्देश्यं वाक्यसमाप्त्यनुपपत्तेर्ग्रहस्यैकत्वान्वयपूर्वकः क्रियान्वयः। गुणत्वेन तु क्रियाभ्युपगमे द्वितीयायाः कारकसामान्यलक्षणार्थत्वोपपत्तेः योग्यत्वाद् गुणप्रधानभावावधारणे सति 'द्वयोर्विप्रकर्षतुल्यत्वद्योतनार्थं समानदेशोक्त्या लक्षणयैककालतोक्ता। एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कुत इति**। विशिष्टत्वेन श्रुतो योऽर्थो भावनां विशिनष्ट्यसौ, विशिष्टो भूत्वा पश्चाद्विशिनष्टि न त्वक्लृप्तविशेषणावस्थ इति कृत्वाऽसौ विशेषणपूर्वं भावनां प्रविशतीत्युक्ते तदुपपादनार्थं भावनाया विधानार्हत्वात्कात्स्न्र्यसिद्ध्यैव विशेषणापेक्षत्वादविशिष्टेन च विशेषणेऽपि कात्स्न्र्यासिद्धिरिति वक्तुं विध्युक्ता कर्मव्युत्पत्त्या भावनोक्ता।

यौगपद्यपक्षे पूर्वोक्तिः साहित्यलक्षणार्था। भावनापि विशिष्टमेव ग्रहं गृह्णाति न त्वगृहीतविशेषणमित्याह—**गृह्णातीति**। सति त्वेकत्वान्वितस्य ग्रहस्य क्रियान्वये तस्यापि ग्रहवद्विध्यन्वयात्साक्षाच्च क्रियान्वयायोगेनाश्रयद्रव्यापेक्षायां पदश्रुत्यवगतग्रहान्वयित्व-नियमादवघातभावनार्थस्यापि प्रोक्षणस्योलूखलमुसलार्थत्वाद्ग्रहर्थतोपपादिता भवतीति प्रकृतोपयोगमाह—**एवं चेति**। एकभिधानश्रुत्या चैकत्वस्य कारकविशेषणत्वावगतेः कारकत्वस्य क्रियान्वयिरूपत्वेन कारकद्वारा क्रियाविशेषणत्वादेकपदश्रुत्योक्तग्रहविशेषत्वा-त्कारकैकत्वयोः साम्येन मिथोऽन्वयायोगान्नैकत्वस्य कारकविशेषणता युक्तेत्याशङ्क्याह—**प्रत्ययार्थत्वाच्चेति**। 'प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतस्तयोः प्रत्ययार्थं प्राधान्येनेति'-प्रत्ययार्थप्राधान्यस्मृतेः लिङ्गसंख्ययोश्च प्रत्ययार्थप्राधान्यस्मृतेर्लिङ्गसंख्योश्च प्रत्ययार्थ-त्वाविशेषेणैकस्मिन्पदेऽनेकेषां प्राधान्यायोगादेकस्यैकद प्राधान्येऽवगते, कारकत्वेन प्रयोजन-वत्वात्प्राधान्यप्रतीतेर्लिङ्गसंख्यापेक्षया च प्रातिपदिकार्थप्राधान्यस्मृत्युपपत्तेः कारकमेव प्रधानमित्यर्थः। प्रयोजनवत्त्वसमुच्चयार्थश्चकारः।

ननु प्राधान्येऽपि कारकत्वस्याद्रव्यत्वेनैकत्वाख्यगुणाश्रयत्वायोगान्न तद्विशेष्यत्वं सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**सर्वं चेति**। कुंकुमस्योष्ट्राश्रितस्यापि राजशेषत्ववत्संख्यार्देद्रव्या-श्रितस्यापि कारकं प्रत्यङ्गता न विरुद्धेत्याशयः। अतः कारकद्वारैकत्वस्य क्रियान्वयाद्युक्ता विधेयतेत्युक्तमुपसंहरति—**तेनेति**। विशिष्टविधानाच्चावाक्यभेदापत्तेर्युक्तमेकत्वविधान-मित्याह—**तत्त्विति**। पश्वेकत्वविवक्षाधिकरणन्यायेनैव दृढयितुमाह—**वक्ष्यति हीति**। गौरवभयेनैकत्वस्यापि विधेयत्वाभ्युपगमे दशापवित्रादेरविधेयत्वं स्यादित्यर्थान्तरन्यासेनाह—**यथैवेति**। ननूद्देश्यत्वेन ग्रहस्य क्रियया वशीकारायोगात्तत्क्रियाङ्गभूतेनैकत्वेन विशेष्यः नियमः सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**सर्वेषां चेति**। एकक्रियाविशेषणत्वस्यान्योन्यनियमहेतु-त्वादुद्देश्यस्यापि वाक्यार्थीभूतक्रियाविशेषणत्वाविरोधान्नियमोपपत्तिरित्याशयः। वाक्य-भेदप्रसङ्गेनोद्देश्यविशेषणविवक्षानुपपत्तिमाशङ्क्य, वस्तुस्वभावकृतस्योद्देश्योपादेयत्वस्य शब्दव्यापाराविषयत्वाद्वाक्यभेदाप्रसक्तिसूचनार्थं यथा पशुमालभेतेति भाष्यस्य दर्शयन्पूर्व-मुपसंहरति—**तस्मादिति**।

ननूपादेयस्थलिङ्गविवक्षादृष्टान्तोक्त्यैकत्वयुक्तवाक्योदाहरणस्योद्देश्याविशेषणमात्रोपल-क्षणार्थत्वप्रतीतेः संख्यामात्रविवक्षोपसंहारो न युक्त इत्याशङ्क्याह—**पुंपशुश्चेति**।

उद्देश्यविशेषणविवक्षायां वाक्याभेदापत्तिलक्षणस्य न्यायस्याविवक्षासाधकस्य तुल्यत्वे-ऽपि यथोभयपदानर्थक्यपरिहारायोभयत्वस्योद्देश्यान्तर्गतत्वेन विवक्षाशङ्काधिक्यान्नेहोदा-हरणत्वम्, तथा स्वर्गकामस्योपादेयत्वशङ्काधिक्यात्संख्याविचारेण लिङ्गविचारपर्यवसाना-नुपपत्तेर्वाक्यभेदापत्तिलक्षणन्यायतुल्यत्वेऽप्यनुदाहरणतेति सूचनार्थः प्रायशब्दः। स्वर्ग-कामपदस्योपादेयकर्तृसंख्यावाच्याख्यातान्तसामानाधिकरण्येनोपादेयार्थत्वशङ्का। तद्वत्रैव स्वर्गकामपदस्य फलसमर्पकत्वात्फलस्य चानुपादेयत्वात्कर्तुरेव च फलभागित्वात्सामाना-धिकरण्योपादेयार्थत्वानुपपत्तिरित्येवं कस्मान्न निरस्तेत्याशङ्क्याह—**माभूदिति**। यथाऽर्थ-

धिकरणपौनरुक्त्यभयादुभयत्वस्योद्देश्यान्तर्गत्या शङ्का हविर्द्वयातिगमने च पञ्चशरावेऽधिकार्य्येकहविरार्तिगमनेऽपि चेति (विवेकाय शष्टे निरसिष्यमाणात्र निरस्यते, यथा स्वर्गकामपदस्योपादेयत्वशङ्का पुमानेव ज्योतिष्टोमादावधिकारी सर्वापि वेति[1]) निरसिष्यमाणात्र न निरस्यत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

भा० प्र०—ज्योतिष्टोम के प्रकरण में कहा गया है "दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि" दशापवित्र अर्थात् वस्त्रखण्ड के द्वारा ग्रह का अर्थात् यज्ञियपात्र विशेष का सम्मार्जन करें। इस प्रसङ्ग में "ग्रहम्" इस पद में जो एकवचन का प्रयोग है वह एकवचन विवक्षित है या अविवक्षित है—यही विचार्य है। यदि एकत्व विवक्षित है, तो प्रकृत में इन्द्रवायव आदि जो दशग्रह हैं, उनमें किसी एक का सम्मार्जन करने से ही कार्य का निर्वाह होगा और यदि एकत्व की विवक्षा नहीं है तो सभी ग्रहों का सम्मार्जन करना होगा। इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का कहना है कि "पशुना यजेत" पशु के द्वारा याग करें, इत्यादि स्थलों में जैसे पशु का एकत्व एवं पुंस्त्व विवक्षित है, वैसे ही इस स्थल में "एकत्वयुक्तम्" ग्रह का एकत्व विवक्षित है। क्योंकि, "श्रुतिसंयोगात्" जब धर्माधर्म शब्दमात्र से अवगत होता है तब शब्दात्मक श्रुतिवचन से जो अर्थ लब्ध होता है, उस अर्थ का अन्यथा करना उचित नहीं है, इसलिए "ग्रहम्" इस स्थल में जब स्पष्ट ही एकवचन श्रुत होता है तो "एकस्य" जिस-किसी एक ग्रह का सम्मार्जन करने से ही कार्य हो सकता है।

"एकत्वयुक्तम्" = एकत्वसमभिव्याहृत अर्थात् सम्मार्ग आदि, "एकस्य" = एक का ही होगा, "श्रुतिसंयोगात्" = एकत्ववाचकपद से घटित प्रयोग होने से। यह पूर्वपक्ष है ॥ १३ ॥

सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् ॥१४॥ सि०

शा० भा०—नैतदस्ति—यदुक्तं ग्रहादिष्वेकत्वयुक्तेष्वमी पदार्थाः कर्तव्या इति। सर्वे ग्रहाः संमार्ष्टव्याः, सर्वेभ्योऽग्निभ्यतृणान्यपचेयानि, पुरोडाशमात्रं च पर्यग्निकर्तव्यमिति। कुतः? ग्रहजात्या द्रव्यं लक्षयित्वा—संमार्गादि विधीयते अविशिष्टं च लक्षणं सर्वद्रव्येषु। तत्र न गम्यते विशेषः, को ग्रहः संमार्ष्टव्यः, को नेति। सामान्यावगमाद्विशेषानवगमाच्च सर्वप्रत्ययः। तथाऽग्निपुरोडाशानामपि।

नन्वेकवचनं श्रूयते, तद्विशेक्ष्यति। नैतदस्ति। एकत्वं हि श्रूयमाणं ग्रहादिष्वेकत्वं ब्रूयात्, न द्वितीयादीन्प्रतिषेधेत्। एकत्वस्यासौ वाचक न द्वितीयादेः प्रतिषेधकः। तेनाप्रतिषिद्धे सामान्यवचने प्राप्तं संमार्जनादि किमिति न क्रियेत।

---

१. अयं पा० २ पु० ना०।

तत्रैतत्स्यात्। एकवचनमिह श्रूयमाणं प्राप्त एवैकस्मिन्द्रव्ये द्वितीयादिषु च किमन्यत्कुर्यादन्यतः परिसंख्यायाः। न चेदेकवचनं परिसंचक्षीत द्वितीयादीन्, अनर्थकमेव स्यात्। शक्नोति च द्वितीयादीन्निवर्तयितुम्। यथा, 'अश्वाभिधानीमादत्ते' इति गर्दभाभिधानीं परिसंचष्टे। एवमत्रापि द्रष्टव्यमिति। नैतदेवम्। तत्र मन्त्रस्याभिधान्याश्च यः संबन्धः। तदभिधानपरं वचनम्, 'इमामगृभ्णन्नित्यश्वाभिधानीम्' इति। नानेन मन्त्रेणाऽऽदत्त इति। लिङ्गेनैवाऽऽदाने प्राप्तत्वान्मत्रस्य परिसंख्या युक्ता। इह पुनर्यदेकवचनं द्रव्ये श्रूयते, तच्छ्रूयमाणमप्यविधीयमानत्वेन न निवर्तकं भवितुमर्हति। यथा कश्चिदोदनं निर्दिश्य ब्रूयाद्, य एनं भक्षयेत्कश्चिच्छ्वा मार्जारो वा, स निवारयितव्य इति। तत्र यदि भक्षणं निमित्तत्वेन विधीयते, न श्वमार्जारसंबन्धः। ततः काकोऽप्यागच्छन्निवार्यते। श्रूयमाणेऽपि शुनि मार्जारे वा श्वमार्जारसंबन्धस्य निमित्तत्वेनाविधीयमानत्वात्। एवमिहाप्येकत्वसंबन्धस्याविधीयमानत्वाच्छ्रूयमाणेऽप्येकत्वे ग्रहमात्रं संमृज्येतेति। न चात्र द्रव्यैकत्वसंबन्धविधायकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति। ननु संमार्ष्टीति। न ह्येतद्द्रव्यैकत्वसंबन्धस्य विधायकम्। एवं श्रुत्या स्वपदार्थो विहितो भवति। इतरथा वाक्येन परपदार्थो विधीयेत। श्रुत्यसम्भवे च वाक्यं क्रमते, न संभवन्त्यां श्रुतौ। अतोऽविधीयमानं विशेषणत्वेनैकत्वम्, द्वितीयादीन्प्रतिषेद्धुमर्हति। एवं सति न द्वितीयादौ संमार्गादि क्रियमाणमचोदितं भवति, प्रतिषिद्धं वा। यथैव हि तदेकस्य श्रुतमवगम्यते, तथा द्वितीयादेरपि।

अयं चापरो दोषः। न तदेकत्वं द्रव्यस्य संमार्गादौ विषये नियम्येत। न हि संमार्गादिर्यस्मिन्द्रव्य एकत्वं नियम्येत, तस्य विशेषणत्वेन भवति। विधीयते ह्यत्र सम्मार्गादिः। न प्राप्तो लक्षणत्वेन द्रव्यस्याऽऽम्नायते। न हि यौगपद्येन विधातुं शक्यते, लक्षणत्वेन चोच्चारयितुम्। प्रसिद्धसम्बन्धो हि शक्नोति लक्षयितुम्। न चाविहित एवंजातीयकः शब्दावगम्यः प्रसिद्धसम्बन्धो भवति। विधीयते च सम्मार्गादिः। तस्मान्न विशेषकः। न चेद्विशेषकः, न द्रव्य एकत्वं नियम्यत इति शक्यमाश्रयितुम्।

अथैकत्वं सम्मार्ग उच्यते। तत्रापि द्वयी गतिः स्यात्। एकत्वं प्रधानम्, सम्मार्गो वा। तच्चोभयमप्यनुपपन्नम्। न तावदेकत्वस्य सम्मार्गः शक्यते कर्तुम्। न च द्रव्ये क्रियमाण एकत्वस्योपकरोति केनचित्प्रकारेण। न चैकत्वस्योपकृतेन[1] किंचित्प्रयोजनमस्ति। न हि तद् गुणभूतं [2]श्रुतम्। अथैकत्वं सम्मार्गं प्रति गुणभूतमिति। तदपि न। कथम्? अमूर्तत्वात्। न हि तत्सम्मार्गं निष्पादयति। यद्यप्यन्यदमूर्तं क्रियां निष्पादयति साधनं विशिंषत्। तथाऽप्येतन्न

१. ब० उपकृतेः। २. ब० एतत्पदं नास्ति।

भवितुमर्हति । न ह्यत्र ग्रहः सम्मार्गार्थः । सम्मार्गोऽत्र ग्रहाय चोद्यते । स हि प्रयोजनवान् । कल्प्यप्रयोजनः सम्मार्गः । यदि ग्रहः सम्मार्गस्योपकुर्यात्तदुपकारेण उपकरोतीति सम्मार्गस्योपकारकमेकत्वं भवेत् । न त्वेतदेवम् । तस्मादेकत्वसम्मार्गयोरसम्बन्धः ।

ननु प्रधानभूतमपि ग्रहादि सम्मार्गं निष्पादयत्येव । अतस्तत्साधनम्, तच्च विशिषत् तदुपकरिष्यति । यथा, इज्यार्थे दधनि पयसि च प्रणीताधर्माः पाक उपकुर्वन्ति । परिधानार्थे च परिधौ यूपधर्मा बन्धने । तस्मादयमसमाधिरिति । अत्रोच्यते । न ब्रूमोऽतदर्थे साधके न शक्नुवन्त्युपकर्तुमिति । किं तर्हि ? यदा प्रधानभूतं ग्रहादि लक्षणत्वेनोच्यते, न तदैकत्वस्य ग्रहादिना संबन्धः, न सम्मार्गादिनेति । कथम् ? यावदिह लक्षणत्वेन किंचिदुच्यते, संवादस्तत्र भवति । न तु तद्विधीयते विज्ञानाय, किमर्थं तर्ह्युच्चार्यते ? अन्यत्तस्य किंचिद्विधायिष्यत इति । तदेतद् ग्रहादि लक्षयित्वा तस्य सम्मार्गादि विधीयते । तद्यद्येकत्वसम्बन्धोऽपरो [1]द्रव्ये सम्मार्गादौ वा[2] विधीयेत द्वयोः सम्बन्धयोर्विधानाद्भिद्येत वाक्यम् ।

अथोच्यते । ग्रहादि लक्षयित्वा तस्यैकत्वसम्बन्धो विधीयते, न सम्मार्गादिसम्बन्ध इति । तथा च सम्मार्गादीनामध्ययनं प्रमाद इत्यभ्युपगतं स्यात् । न चैतदेवम् । तस्मादुभाभ्यामेकवचनस्यासम्बन्ध इति । एवमेतदेकत्वं ग्रहस्य न किंचिदुपकारं[3] करोति, न सम्मार्गस्यैवमेव सदनूद्यते । तस्मान्नैतत् किंचिदपि कर्तुं विवक्ष्यत इति, सर्वेषां ग्रहादीनां सम्मार्गादि कर्तव्यमिति । कुतः ? संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्च[4] ।

यद्यविवक्षितमेकत्वम्, कथं तर्ह्येकवचनमुच्चार्यते । ननु बहुषु विवक्षितेषु बहुवचनेन भवितव्यम् । उच्यते । न वयमेतद्विचारयाम एकवचनमुच्चारयितव्यं नोच्चारयितव्यमिति । उच्चार्यमाणे सति किं प्रतिपत्तव्यम् । एकस्मिन्नेव सम्मार्गादि, उत सर्वेष्विति । तच्च सर्वेष्विति स्थापितम् । अपि च न विभक्तेर्वचनमेवैकं प्रयोजनम् । किं तर्हि ? कारकसम्बन्धोऽपि । अविवक्षित एकत्वे कारकसम्बन्धार्थमस्योच्चारणं भविष्यति । तस्मान्नानर्थकम् ।

अपि च—ग्रहः प्रातिपदिकार्थ, एकत्वं विभक्त्यर्थः । किमतो यद्येवम् ? एतदतो भवति । प्रातिपदिकार्थगतं हि विभक्तिः स्वमर्थं श्रुत्यैव वदति । अथैवं सति किम् ? न सम्मार्गेण सम्भन्त्स्यत इति । तेन हि सम्बध्यमानं वाक्येन सम्बध्येत । न च श्रुत्याऽन्येन सम्बध्यमानं वाक्येनाऽऽच्छिद्याऽन्येन सम्बन्ध-

---

१. क० ग्रहद्रव्ये ।
२. क० वा० पदार्थे ।
३. ब० कंचित् ।
४. ब० विशेषाच्च ।

मर्हति। असम्बध्यमानस्त्वेकत्वेन सम्मार्गो यदि नैकत्वविशिष्टः क्रियते। न किंचिद्विपन्नं भवति। न चैकत्वविशिष्टः सम्मार्गादिः। ग्रहादिमात्रस्य च विधीयत इति किमिति, द्वितीयस्य तृतीयस्य च न क्रियेतेति ॥ १४ ॥

त० वा०—व्यक्तीरुद्दिश्य यत्कर्म स्वजात्याद्युपलक्षिताः।
विहितं गुणभावेन तत्सर्वार्थं प्रतीयते ॥

इह तावत्, 'तुल्यश्रुतित्वाद्वेतरैः स धर्मन् स्यात्२-१' इत्येवं द्वितीयानिर्देशात् प्रयोजनवत्त्वाच्च ग्रहप्राधान्यम्, सम्मार्गस्य च गुणभावो विज्ञायते। तत्रापि ग्रहत्वस्य सम्मार्गानर्हत्वाद् व्यक्तयः संस्कार्यत्वेनावतिष्ठन्ते। तासां साक्षात्प्रत्यायनाभावाद् ग्रहत्वं लक्षणत्वेनाऽऽश्रितम्। एष चोदनार्थोऽवगम्यते यद् ग्रहकार्यम्, तत्संमार्गेण सगुणं भवति। तत्र य एव न संमृज्येत, तस्यैव कार्यं विगुणं भवेत्। अतः सर्वे सम्मार्जनीयाः। यदि तु सम्मार्गगुणत्वेन यागाङ्गपशुवद् ग्रहश्चोद्येत, तत एकेनैव सिद्धे कार्ये नापरो गृह्येत। न हि तदानीं ग्रहान्तेरग्वगृह्यमाणेषु कस्यचिद्वैगुण्यं दृश्यते, शास्त्रार्थस्य निर्वृत्तत्वात्। प्राधान्यपक्षे तु प्रतिप्रधानं शास्त्रभेदादेकस्मिन्नप्यसंस्क्रियमाणे तद्गतशास्त्रबाधप्रसङ्गः।

अथापि शास्त्रतन्त्रत्वात्संमार्गः स्यात्प्रतिग्रहम्।
तथाऽप्यकरणे तस्य ज्ञानं बाध्येत तद्गतम् ॥
अबाधिते तु विज्ञाने योऽन्यो न क्रियते तथा।
विहिताकरणात्तत्र प्रत्यवायः प्रसज्ज्यते ॥

तस्माद् ग्रहत्वापूर्वसंयोगाविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्च सर्वप्रत्ययः।

ननु चैकवचनं श्रूयते इति—अविवक्षाकारणमपश्यन्नाह। तत्रोत्तरम्।

श्रुतमात्रस्य सर्वस्य नानुष्ठेयत्वमिष्यते।
विधानविनियोगौ हि तत्रापेक्ष्यौ श्रुताश्रुतौ ॥
विहितो विनियुक्तश्च गृह्यते ह्यश्रुतोऽपि सन्।
श्रुतोऽपि तु न गृह्येत योऽर्थस्ताभ्यामुपेक्षितः ॥

तदेकस्मिन्वाक्ये प्रकृतिप्रत्ययपदश्रुतिप्रतिपादितानां बहूनामर्थानां को विधिविनियोगाभ्यां परिगृहीतः, को वा त्यक्त इति चिन्तायाम्।

वचनव्यक्तिभेदेन सर्वेषामेव दर्शनात्।
विहितो विनियुक्तश्च कः को नेति विचार्यते ॥
मीमांसका हि वाक्यार्थविचारे प्रस्तुते सति।
लोकदृष्टीः प्रतिघ्नन्ति वचनव्यक्तिपांशुभिः ॥
वर्तमानसरूपेण लिङर्थस्मृतिसाधुना।
पञ्चमेन लकारेण किं नामात्र विधीयते ॥

केवला भावना तावन्न कदाचिद्विधीयते ।
अननुष्ठेयरूपत्वाद्विशिष्टा सा विधीयते ॥
सा किं धात्वर्थमात्रेण सम्मार्गेण विशेष्यते ।
लोकप्रसिद्धरूपेण शक्याऽनुष्ठेयतात्मना ॥
ग्रहद्रव्येण किं किंवा तदीयैकत्वसंख्यया ।
दशापवित्रशब्दस्तु सर्वार्थेषु विवक्षितः ॥
तुल्यार्थत्वात्स भेदेन नान्यैः सह विचार्यते ।
ग्रहादीनां च किं चेह नियोगेन निरूपणा ॥

अष्टपक्ष्या उपन्यासः

सम्मार्गग्रहयोः किंवा विकल्पोऽथ समुच्चयः ।
सबन्धः समुदायो वा विशिनष्टीह भावनाम् ॥
अथवाऽन्यतरेणैको विशिष्टोऽन्यतरस्तयोः ।
विशिंषन्भावनामेव तद्द्वारेण विधीयते ॥
सम्मार्गैकत्वयोरेवमष्टपक्षी विचारणा ।

पुनर्विशेष्यविशेषणभावेन विकल्पः

विचार्यैवं पुनः सैव ग्रहत्वैकत्वयोरपि ॥
तथा कृत्वा द्वयोः पूर्वं विशेषणविशेष्यताम् ।
तृतीयेन सहैकेन तादृश्येव विचारणा ॥

उद्देश्यत्वेन, उपादेयत्वेन च विकल्पः

तथा ।

किमुपादेयता तेषां स्यादथोद्दिश्यमानता ।
सम्मार्गं प्रति संहृत्य प्रत्येकं वा समागमे ॥
तत्र क्रियाप्रधानत्वे साहित्यं द्रव्यसंख्ययोः ।
सकृच्च तादृशीं कृत्वा कृत्स्नां कर्ता कृती भवेत् ॥
ग्रहैकत्वे यदोद्दिश्य सम्मार्ग उपदिश्यते ।
एकैकस्मिन्समाप्येते क्रियावाक्ये तदा तयोः ॥
तत्रापि तु ग्रहस्यैव सम्मार्गः किं विधीयते ।
एकत्वस्यैव किं किंवा विकल्पेन द्वयोरपि ॥
किं समुच्चितयोः किंवा संबन्धसमुदाययोः ।
किं वैकत्वविशिष्टस्य ग्रहस्यैव विधीयते ॥
ग्रहेण वा विशिष्टां किं संख्या प्रति विधीयते ।
क्रियां वा प्रत्युपादानं किं ग्रहस्यैव गम्यते ॥

एकत्वस्यैव किं किंवा विकल्पेन द्वयोरपि ।
किं समुच्चितयोः किं वा संबन्धसमुदाययोः ॥
किमेकत्वविशिष्टस्य ग्रहस्यैव विधीयते ।
किं वा ग्रहविशिष्टैकसंख्या सम्मार्गगामिनी ॥

एवं सन्देहमुपन्य संख्यायाविधेयत्वपक्षोपन्यासदूषणम्

एवं संदेह एताभिर्वचनव्यक्तिभिः कृते ।
उपादेयतया संख्यां विधेयां मन्यते परः ॥
येन येन प्रकारेण संख्योपादीयते ग्रहे ।
सम्मार्गे वा विधीयेत स तमापादयिष्यति ॥
यथा वोद्दिश्यमानत्वे विधानं देशकालयोः ।
क्रियाद्वारं तथैव स्याद् ग्रहत्वैकत्वयोरपि ॥
यां यां स वचनव्यक्तिं विधेये रचयिष्यति ।
वाक्यभेदेन तां तां तु सिद्धान्ती दूषयिष्यति ॥
प्राधान्यान्न ग्रहस्तावदुपादेयो भविष्यति ।
तद्वशत्वात्तथैकत्वमुपादातुं न शक्यते ॥
ग्रहं चोद्दिश्य सम्मार्गविधानाश्रयणे सति ।
तन्मात्रक्षीणशक्तित्वादेकत्वं न विधास्यते ॥
न तावत्तद् ग्रहे शक्यं विधातुमपुनःश्रुतेः ।
द्वौ तत्राऽऽवर्तनीयौ हि स्यातां ग्रहविधायकौ ॥
ध्रुवं विधीयमाने हि संबन्धे ग्रहसंख्ययोः ।
ग्रहसम्मार्गसम्बन्धादधिकेऽर्थे विधित्सिते ॥
ग्रहोऽप्यावर्तनीयः स्यात्संबन्धद्वयसिद्धये ।
विधायकश्च नैकेन विधिना तौ हि सिध्यतः ॥

सम्बन्धस्य युगपद्विधानं वा क्रमेण वेत्ति विकल्प्यदूषणम्

विदधद् द्वौ हि सम्बन्धौ युगपद्वा क्रमेण वा ।
द्विरनुच्चार्यमाणस्तौ विदध्यात्प्रत्ययः कथम् ॥
संख्यासम्मार्गसम्बन्धौ ग्रहोऽपि प्राप्नुवन्नुभौ ।
द्विरनुच्चार्यमाणस्तौ प्राप्नुयान्न सकृच्छ्रुतः ॥
ग्रहे विधाय सम्मार्गं क्षीणमुच्चारणं यदा ।
तदैकत्वविधानाय कार्यमुच्चारणान्तरम् ॥
पुनरुच्चार्यमाणश्च समाम्नायाद्बहिः स्थितः ।
प्रत्ययः पौरुषेयत्वादप्रमाणं प्रसज्ज्यते ॥
सर्वप्रकारमन्विष्टं वचनव्यक्तिभिः पृथक् ।

ग्रह-सम्मार्ग-भावनाभिरगृहीतत्वात् एकत्वस्याविवक्षेति क्रमशोविस्तरेण निरूपणम्

न शक्यते विधातुं चोदेकत्वं न ग्रहीष्यते ॥
केनचित्तु प्रकारेण विधिरस्य भवेद्यदि ।
ग्रहादिवदनुष्ठाने क एकत्वं परित्यजेत् ॥
तत्र क्रियाप्रधानत्वे तद्विशिष्टविधेर्बलात् ।
विशेषणविधानं स्यादार्थविध्यन्तरोद्भवम् ॥
यदि क्रियाप्रधानत्वं लप्स्यते पूर्वपक्षिणा ।
ततः सर्वविवक्षाऽपि तद्द्वारेणास्य सेत्स्यति ॥
तस्मान्न श्रुतमात्रत्वं विधिग्रहणकारणम् ।
अतः शुक्लादिभिस्तुल्यं नैतदन्यैर्विशेषणैः ॥
द्रव्यस्य क्रिययोर्वैतदेकत्वं स्याद्विशेषणम् ।
येनेदमात्मसात्कुर्युर्ग्रहसम्मार्गभावनाः ॥

तत्र द्रव्यविशेषणं तावन्निराक्रियते । तद्धि स्वरूपप्रक्षेपेण वा भवेत्, अनेकत्वनिराकरणेन वा । तत्र स्वरूपप्रक्षेपविशेषणफलं तावत्सर्वेऽपि संमृज्यमानेषु सम्भवत्येव । कथम् ? यो हि बहून् ग्रहान्संमार्ष्टि, संमार्ष्ट्यंसावेकम् । अतश्च ग्रहत्वसम्बन्धेन प्राप्त एकवचनेन चाप्रतिषिद्धः किमिव द्वितीयादेः सम्मार्गो न क्रियेत ।

तत्रैतत्स्यात् । प्रातिपदिकादेवैकस्मिन्ननेकस्मिंश्च ग्रहे सम्मार्जनीये प्राप्ते, पुनरेकवचनश्रुतिर्गुणार्थवादत्वेनासम्भवन्ती परिसंख्यार्था भविष्यतीति । नैतदेवम् । कुतः ?

यत्र सामान्यतः प्राप्स्यन्विशेषे श्रूयते पुनः ।
परिसंख्येष्यते तत्र न त्विहैवं पुनःश्रुतिः ॥

प्राप्ति-परिसंख्ययोः एकस्मिन्वाक्येऽसम्भवप्रतिपादनम्

तच्च नानावाक्यत्वे सत्येव भवति । इह त्वेकेनैव वाक्येन प्राप्तिः, परिसंख्या च क्रियत इत्युक्तम् । तच्चात्यन्तमेवानुपपन्नम् ।

न चैकवाक्यमात्रेण द्वयमेतच्चिकीर्षितम् ।
किं त्वेकेन पदेनापि तच्चाऽऽश्चर्यमतीन्द्रियम् ॥

प्रातिपदिकेन हि सर्वग्रहसम्बन्धः प्राप्यते । प्रत्यैकवचनेन तत्रैव पदे निवर्त्यते, न चैतदुत्प्रेक्षितुमपि शक्यते ।

अन्या हि वचनव्यक्तिर्वाक्ये प्रापकहापके ।
यथा तथा पदव्यक्तिभेदोऽप्यत्र प्रसज्ज्यते ॥
तत्रैव च क्षणे प्राप्तिस्तत्रैव च निवर्तनम् ।
कथमेकपदेनैतद्विरुद्धमभिधीयते ॥

किं च— सामान्यप्रापणाशङ्का वाक्याद्यत्राऽऽनुमानिकात् ।
श्रुतात्प्राप्तिर्विशेषे च परिसंख्या तदाश्रया ॥
निर्दोषत्वं हि तत्रास्या विधाने सति लभ्यते ।
कल्प्यत्वेन हि तस्यैषा[1] क्लृप्तादाश्रीयते फलात् ॥

समानवाक्यपदपूर्वभागावस्थितप्रापितदिकप्रापितसर्वग्रहसम्मार्गज्ञानप्रत्याख्यानेन तदधीनात्मलाभप्रत्ययप्रतिपाद्यायाः परिसंख्यायास्त्रिदोषत्वमपरिहार्यम् ।

यत्तु भाष्यकारेण निर्दोषपरिसंख्याविषयं प्रदर्शयतेष्टानिष्टवचनव्यक्तिद्वयं प्रदर्शितम्—**इत्यश्वाभिधानीमिति । नेत्यादत्त इति । मन्त्रस्य रूपादेवाऽऽदाने प्राप्तत्वादिति** च कारणमुक्तम् । तदयुक्तम् । कुतः ?

भाष्यमतस्य निराकरणम्

इत्यादत्त इति ह्यस्मादाख्याताद्विधिसम्भवः ।
सम्बन्धेऽश्वाभिधान्यां तु नास्ति कश्चिद्विधायकः ॥
आदाने च यथा प्राप्तिरगृभ्णन्निति रूपतः ।
तथैवाश्वाभिधान्यां सा तुल्या स्याद्रशनापदात् ॥
न वाऽर्थविप्रकर्षोऽस्य रशनां प्रति कश्चन ।
संयोगतो विशेषेण युगपत्प्रत्ययाद् द्वयोः ॥
सुतरां विधिवाक्ये तु विशेषः श्रुतिवाक्ययोः ।
धात्वर्थनामसम्बन्धविवेकेनोपलभ्यते ॥
पदत्रयाद्विना नामसम्बन्धो नावकल्पते ।
इत्यादत्त इति त्वेष द्वाभ्यामेव समाप्यते ॥
प्रत्ययश्च यथा मन्त्र विधत्ते धातुगोचरे ।
स्वपदार्थे[2] श्रुते शीघ्रं न नामार्थे तथा श्रुते ॥
मन्त्रोऽपि रशनां शीघ्रं यथा याति स्फुटश्रुताम् ।
न तथा ग्रहणं कष्टं छान्दसीयपदोदितम् ॥
न चाश्वरशनायां स प्राप्त्यन्तरमपेक्षते ।

१. क तत्रैषा ।　　२. क० स्वपदस्ये ।

विशेषशब्दतुल्यं हि प्रापणं रशनापदात् ॥
अपूर्वसाधनत्वांशलक्षणाऽवश्यमेव हि ।
सर्वत्रैवाऽऽश्रिता श्रुत्या विधिः स्यान्निष्प्रयोजनः ॥
तत्राश्वरशनाशब्दो लक्षणां याति यावता ।
तावता रशनाशब्द इति तुल्यार्थता तयोः ॥

अत्र विषये वार्तिकमतम्

तस्मान्नाऽऽदत्त इत्येतद्रूपात्प्राप्तमनूद्यते ।
न वेत्यश्वाभिधानीमित्येतदत्र विधीयते ॥
किं त्वश्वरशनामन्त्रधात्वर्थैर्युगपत्त्रिभिः ।
विशिष्टा भावनैवैका प्रत्ययेन विधीयते ॥
न चाऽऽदानेऽस्ति मन्त्रस्य रूपात्प्राप्तिः कथंचन ।
न हि श्रुत्यनुमानात्प्राक्स्वयं मन्त्रो विधीयते ॥
रूपप्रकरणद्वाराश्रुतिर्यावत्तु कल्प्यते ।
तावत्प्रत्यक्षया श्रुत्यां विधिः शीघ्रं समाप्यते ॥

अप्राप्तविधिः, फलतः परिसंख्येतिविशेषकथनम्

अप्राप्तविधिरेवायमतो मन्त्रस्य निश्चितः ।
परिसंख्या फलेनोक्ता न विशेषपुनःश्रुतेः ॥
प्रयोजनं विधेः किं स्यादस्येति तु निरूपणे ।
न गर्दभाभिधानीतः फलमन्यन्निवर्तनात् ॥
न तु वाक्यार्थं एवान्यनिवृत्तिर्भेदपक्षवत् ।
अप्रवृत्त्यैव तत्सिद्धेः प्रवृत्तो हि निवर्त्यते ॥
न च गर्दभबन्धन्यां प्राप्तोऽननुमितश्रुतिः ।
मन्त्रो येन निवर्त्येत वाजिरज्जुपुनःश्रुतेः ॥
शीघ्रश्रुत्या पुरा प्राप्ते पश्चिमा स्यात्पुनःश्रुतिः ।
न गर्दभश्रुतिप्राप्त्या युक्ता त्वश्वपुनःश्रुतिः ॥
अश्वश्रुत्यैव शीघ्रत्वान्मन्त्रे प्राग्विहिते सति ।
निराकाङ्क्षीकृताऽऽम्नाये तथा प्रकरणिन्यपि ॥
लिङ्गप्रकरणद्वारा श्रुतिर्नैवानुमीयते ।
तस्यामप्रापितायां च मन्त्रप्राप्तिर्न गर्दभे ॥
सोऽयमाभाणको लोके यदश्वेन हृतं पुरा ।
तत्पश्चाद्गर्दभः प्राप्तुं केनोपायेन शक्नुयात् ॥
प्रयोजनं तु प्रत्यक्षश्रुतेरालोच्यते यदा ।
भवत्या किं प्रभुत्वेन निरुद्धा लैङ्गिकी श्रुतिः ॥

यदाऽनुमितयाऽप्येष श्रुत्याऽश्वरशनां प्रति ।
प्राप्नुयादेव मन्त्रः किं त्वरया विहितस्त्वया ॥
सत्यं त्वद्विहितस्यास्य श्रुतिर्नास्त्यानुमानिकी ।
तथाऽपि तन्निरोधस्य फलं किमधिकं तव ॥
यद्यश्वरशनाप्राप्तिः केवलामानुमानिकी ।
प्रत्यक्षश्रुतिवत्कुर्यात्ततः सा स्यादनर्थिका ॥
लिङ्गानुमितया श्रुत्या प्राप्नुयाद्रशनाद्वये ।
स मा प्रापत्तयेत्येवं प्रत्यक्षां त्वरिता श्रुतिः ॥
केवलाश्वाभिधान्या हि विधिः प्रत्यक्षया यथा ।
न स्यात्तथाऽऽनुमानिक्या श्रुत्येत्याम्नायते ह्यसौ ॥
अतश्चापुनरुक्तत्वात्प्रत्यक्षाऽर्थवती श्रुतिः ।
तस्यां सत्यां निराकाङ्क्षान्मत्रान्नान्याऽनुमीयते ॥
यद्यस्य विनियुक्तस्य प्रत्यक्षा स्यात्पुनःश्रुतिः ।
ततश्च परिसंख्यानात्प्रसज्ज्येत त्रिदोषता ॥
यदा तु प्रतिबद्धत्वात्सामान्यविनियोगकृत् ।
नैव चेच्छ्रुतिरस्तीह न प्राप्नोति त्रिदोषता ॥
तदिदं परिसंख्येति सूत्रेऽस्मिन्नुपवर्णितम् ।
निर्दोषत्वं तथैवेह वाच्यं न पुनरन्यथा ॥

ततश्च भाष्यकारेण यदिहोक्तमचिन्तितम् ।
वाक्यभङ्ग्यन्तरं तत्र कर्तव्योऽतीव नाऽऽदरः ॥

न चैकत्वसंबन्धमात्रविधिः शक्यः, संमार्गग्रहसंबन्धमात्रविधानोपक्षीणशक्तित्वाद्विधायकस्य । यथौदनोपघातनिवारणविधिपरे वाक्ये श्रुतानामपि **श्वमार्जारादीनामविधीयमानत्वादविशेषणत्वम्** । कुतः ?

न ह्यन्नभक्षणाद्रक्ष्याः श्वमार्जारादयोऽत्र नः ।
तुल्यान्नाद्योपघातात्तु काकादेरपि वारणा ॥

तथा चाऽऽह—

काकेभ्यो रक्ष्यतामन्नमिति बालोऽपि चोदितः ।
उपघातप्रधानत्वान्न श्वादिभ्यो न रक्षति ॥' इति ।

न त्विदमत्रोदाहरणं घटते । कुतः ?

पदार्थ एव काकादिः सर्वो ह्यत्राविवक्षितः ।
संख्यामात्राविवक्षा तु ग्रहस्येति विलक्षणम् ॥

चमसेष्वपि संमार्गप्रसङ्गो यत्र वक्ष्यते ।
तत्रैवैतदुदाहार्यं स्थालसंमार्जनादिवत् ॥

स्थिरसिद्धान्तोदाहरणमपि पशुप्रकरणे श्रूयते 'यद्यपि चतुरवत्ती यजमानः, पञ्चावत्तैव वपा कार्या' इति । यदवत्तं, तत्पञ्चसंख्यं कार्यमित्येतद्विधिपरे वाक्ये वपाग्रहणमविवक्षितं वाक्यभेदप्रसङ्गादिति दशमे वक्ष्यति ।

दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यनिरूपणम्

तत्र श्वमार्जारादिसंबन्धाविवक्षोदाहरणं घटते । इह तु—

संख्यामात्रविवक्षायां लोके यच्छ्रूयते वचः ।
तदुदाहरणं देयं वृषलस्थबहुत्ववत् ॥
वृषलैर्न प्रवेष्टव्यं गृहेऽस्मिन्निति चोदिते ।
प्रत्येकं संहतानां च प्रवेशः प्रतिषिध्यते ॥

बहुत्वस्याविवक्षितत्वात् ।

ननु संमार्ष्टीति । अयमेव ग्रहैकत्वसंबन्धमपि विधास्यति । न । श्रुतिविप्रतिषेधात् । न ह्येको विधायकः शक्नोति संमार्गभावनां च विधातुम्, ग्रहैकत्वसंबन्धं च । तत्र विरोधे सति संनिकर्षबलीयस्त्वात्, संमार्गभावनाविधान आश्रीयमाणे विध्यन्तरानुपपत्तेरग्रहणमेकत्वस्य ।

यत्तूक्तं विशेषणविशेषणमपि विधीयत इति । तदनुपपन्नम् ।

यदि तावद् ग्रहः संख्यां क्रियायै न प्रयच्छति ।
शुद्धेनैव विशिष्टत्वान्न विशिष्टविशिष्टता ॥

यदा ह्येकत्वविशिष्टमात्मानं ग्रहो भावनायां प्रक्षिपति, तदाऽवश्यं विशेषणं पूर्वतरं प्रक्षेप्तव्यम् । न ह्यन्यथा विशिष्टेन विशेषिता स्यादित्येवं भावनाऽप्येकत्वविशिष्टं ग्रहं गृह्णती नैकत्वमगृहीत्वा तद्विशिष्टं ग्रहं शक्नोति ग्रहीतुम् । तद्यथा शब्दो जात्यादिविशिष्टं द्रव्यमभिदधन्न विशेषणमनभिधाय विशिष्टे वर्तते । तेनावश्यं भावनाविशेषणं तावदेकत्वमित्याश्रयणीयम् । तच्चोपरिष्टान्निराकरिष्यामः । शुद्धद्रव्यविशेषणत्वे तु भावनाऽपि ग्रहमात्रेण संबद्धा, न संख्यया । संख्याऽपि ग्रहमात्रेण संबद्धा, न भावनया । तत्र विशिष्टविधिना भावनाविशेषणमात्राक्षेपपर्यवसायिना नार्थान्तराक्षेपः शक्यः कर्तुम् । न हि भावनां विशिषतस्तस्य तदेकत्वं विशेषणम् ।

न चैकत्वविशिष्टं तं ग्रहं गृह्णाति भावना ।
स्वरूपान्तरितत्वाद्धि सा संख्यां नैव पश्यति ॥

नापि भावनाविशिष्टस्य मा भूत्पुनरपि भावनाविशेषणत्वमेव। न हि भावनाऽविशिष्टं ग्रहं विशेष्टुं शक्नोति। तस्मान्मौलिकेन विधिनाऽनाकाङ्क्षितत्वान्न द्रव्यविशेषणाक्षेपः संभवति। तथा सत्यपि चेद्विधिरभ्युपगम्येत, तत्प्रत्ययावृत्तिमन्तरेण तदनुपपत्तेर्वाक्यभेदः स्यात्। अभ्युपेत्यापि तु, संमार्गवेलायां नैकत्वमादर्तव्यम्। स्वतन्त्रस्य ग्रहस्यैवैकत्वसंबन्धविधानात्। न हि विधीयमानावस्थः क्रयो गुणेन संबध्यमानं द्रव्यं विशिनष्टीत्युक्तमरुणाधिकरणे। तस्मात्तावन्न द्रव्यविशेषभूतस्य ग्रहणम्।

अथैतदेकत्वं संमार्गभावनायाश्चोद्यते, तथाऽपि न गुणत्वेन, नापि प्रधानत्वेन संभवति। तत्र प्राधान्यं तावदनुपपन्नम्, अमूर्तस्य संस्कर्तुमशक्यत्वात्। न च द्रव्यसंस्कारेण तत्संस्कारः। अन्यत्वात्। ग्रहस्य वाऽयमेकत्वद्वारेण विधीयते। तस्य च स्वयमेव विहितत्वात्पुनर्विधानानर्थक्यम्। अनुष्ठानकालेऽपि च ग्रहस्याऽऽत्मीय एव संमार्गः प्रत्यभिज्ञायत इति नैकत्वनिमित्तबुद्धिः स्यात्। एवं गुणभावोऽपि निराकर्तव्यः।

कथमरुणत्वस्य गुणत्वमिति चेत्? आह—

क्रयद्रव्यपरिच्छेदाद् गुणोऽपि गुण इष्यते।
न तु निष्फलसंमार्गगुणो ग्रह इहेष्यते॥

अनङ्गमाश्रितो हि गुणोऽप्यनङ्गमेव स्यात्। **ननु प्रधानभूतमपीति।** यद् द्रव्यस्याऽऽदौ निर्वर्तकत्वं प्रासङ्गिकम्, तद्द्वारेणैकत्वं संमार्गस्योपकारिष्यति। प्रधानभूतोऽपि च ग्रहो गुणभूतद्रव्यधर्मं क्रियाङ्गगुणपरिच्छेद्यत्वं प्रतिपत्स्यते। न हि शेषमाश्रितः शेषः। किं तर्हि? उपकारिणमाश्रित उपकरोतीति सर्वत्र स्थापयिष्यामः। शेषत्वं तु श्रुत्यादिप्रमाणकमेव भविष्यतीति। सिद्धान्तवादी तु वस्तुन्युपपद्यमानेऽप्यनेकार्थत्वे विधिशब्दस्यासामर्थ्याद्व्यवहितो वा, गुणो वा हातव्यो भवतीत्येवमेकत्वपरित्यागं वदति। न त्वेतदेवमविवक्षितं भवितुमर्हति। कथम्?

अविवक्षोपपन्ना स्यात्सत्यं द्रव्यविशेषणे।
संमार्गेण तु संबन्धो न द्वेधाऽपि निराकृतः॥

यत्तावदुक्तममूर्तत्वात्संस्कर्तुं न शक्यत इति। तत्प्रातिपदिकार्थेऽपि ग्रहत्वे तुल्यम्, जातेरमूर्तत्वात्। अथापि व्यक्तिद्वारेणास्याः संस्कारः, स संख्यायामपि तुल्यः। अथ व्यक्तौ कृतो जातेः कृतो भवतीति, तथैकत्वस्यापि। तथा यदि जातिर्द्रव्यलक्षणार्था, तथैकत्वमपि। अथ जातेर्मूर्तत्वं द्रव्यातिरेकं चाऽऽश्रित्य साक्षादेव संस्कार इत्युच्यते, तदप्येकत्वस्याविशिष्टम्। तदप्युक्तं न च द्रव्ये क्रियमाणः संख्यायाः कृतो भवतीति। तदपि त्वत्पक्षे जातेरविशिष्टम्।

अथ ग्रहशब्दस्य व्यक्तिवाचित्वात्परिहार उच्यते। तत आकृत्यधिकरणन्यायो बाध्येत। न ह्यनेकदेशकालवर्तिज्योतिष्टोमप्रयोगस्थग्रहव्यक्तिसंबन्धानुभवोऽस्ति। अद्य दृष्टेषु ग्रहेषु प्रथमः शब्दप्रयोगो न स्यात्। अतोऽवश्यं सामान्यं किंचिदुपलक्षणमाश्रयितव्यम्। न च तद् ग्रहत्वादन्यत्संभवतीति, तदेव विशेषणत्वात्पूर्वमभिधेयमापद्यते। न चाऽऽकारवचनत्वं ग्रहशब्दस्य[1]। प्रतिग्रहमवयवसंनिवेशस्य किंचिन्न्यूनातिरिक्तावयवत्वेन भिन्नत्वात्। न च तत्सामान्यं द्रव्यान्तरेभ्यो निवृत्तं तेषु तेषु चानुवृत्तं ग्रहत्वादन्यदस्ति। तस्मात्तदेव वाच्यम्।

यत्तु ग्रहस्य क्रियमाणः संमार्गस्तदीयत्वावधारणेनैकत्वविषयो विज्ञायत इति, मन्दफला च पुनः श्रुतिरिति। तत्राभिधीयते—

एकत्वेनापि संबध्य तावत्येव क्रिया यदि।
ततो निष्फलतोच्येत भेदस्त्वस्त्येकसंस्कृतेः॥

अयमेवैकत्वसंबन्धाद्विशेषो यदेकस्मिन्क्रियते। अन्यथा हि ग्रहमात्रसंस्कारः स्यात्। तस्माद् द्रव्यगुणयोर्नियमसिद्धेरस्त्यरुणाशब्दस्येवैकत्वसंबन्धस्य पृथक्प्रयोजनमिति संस्कार्यत्वोपपत्तिः।

गुणत्वप्रतिज्ञानं तु प्रणीताधर्मवद्भाष्यकारेणैव प्रतिपादितम्। मन्दयुक्तिक एवायमभ्युपगमो यद् गुणमेवाऽऽश्रितेन गुणेनोपकर्तव्यमिति। कुतः ?

साक्षादयोग्यसंबन्धाः क्रियासंबन्धिनि स्थिताः।
असंबद्धैरसंबद्धाः साधयन्ति गुणाः क्रियाम्॥

असंबद्धेषु क्रियमाणा गुणाः क्रियां न परिच्छिन्द्युरिति क्रियासंबन्धिनमाश्रयन्ति। न तु तद्गतगुणप्रधानत्वयोः कश्चिद्विशेष इति तयोरुपेक्षा। यथा च क्रियासाधनं किंसंख्यमेतद्भविष्यतीत्येवमपेक्ष्यते। यथैव प्रधानमपि किंसंख्यं यस्य मयोपकर्तव्यमिति। एतावच्च सम्बन्धे कारणम्।

अपि च—

या गुणस्योपकुर्वाणमात्मसात्कुरुते गुणम्।
ग्रहीष्यतितरामेषा तं तु संस्कार्यवर्तिनम्॥

क्रियया हि प्रधानस्योपकर्तव्यम्, गुणेनापि। न च साधनगतोऽसौ तथागतां याति। यथा प्रधानगतः को नु खलु मम प्रधानस्योपकुर्वन्त्याः किंचिदनुग्रहं कुर्यादिति। महांश्चायमनुग्रहो यत्प्रधानेयत्तावधारणं नाम। यजमानसंस्काराणां[2] च यागगुणभूतकर्त्रंशातिरेकेण फलप्रतिग्रहणयोग्यपुरुषकरणाद्भोक्तृत्वांशपातिनामपि यागाङ्गत्वं वक्ष्यते। स एवात्र न्याय इत्यविरुद्धं प्रधानाश्रयिणां गुणत्वम्।

---

१. क० शब्दस्येत्येव। २. क० संस्कारकाणां।

एवं स्थितेषु तु यद्विधेरसामर्थ्यमित्युक्तम्, तदुपादीयमानेष्वपि पश्वादिष्वविशिष्टम्। तत्रापि हि द्रव्यदेवतायागविशिष्टभावनाविधिपरे वाक्ये यदि लिङ्गसंख्यासंबन्धोऽपरः क्रियायाम्, द्रव्ये वा विधीयते, ततो वाक्यं भिद्येतेति शक्यं वदितुम्। अथ तु विशिष्टविधानादवाक्यभेदः। स संमार्गेऽप्यप्राप्तत्वादविशिष्टः। तदिहैतावानेव विशेषोऽवशिष्यते यद्ग्रह उद्दिश्यमानः, पशुरुपादीयमानः। न चैतावता किंचित्सिध्यति। अन्यथा पशुग्रहसंबन्धमात्रभेदेनापि विवक्षिता[1]विवक्षितत्वसिद्धिः स्यात्।

अपि चास्मिन्नेव वाक्ये ग्रहमुद्दिश्य संमार्गे विधीयमानेऽपि दशापवित्रदेकत्वादीनां विवक्षाऽभ्युपगम्यते। न च वाक्यभेदः। तथा ग्रहैकत्वेऽपि भविष्यति। यस्तु पदान्तरोपादानाद्विशेषं ब्रूयात्तस्य सर्वत्र यः कश्चिद्विशेषोऽस्तीति न क्वचिद् दृष्टान्तेनोपमा[2], तुल्यन्यायानां विषयाभावात्।

किं च—

पदान्तरगतो यस्य गुणोऽभीष्टो विवक्षितः।
तस्य तुल्यपदोपात्तः कथं स्यादविवक्षितः॥

तस्माद् ग्रहैकत्वमपि विवक्षितम्। अस्ति ह्युद्दिश्यमानस्यापि ग्रहस्य विधिसंस्पर्शः। अन्यथा हि विनाऽपि ग्रहेण संमार्गे कृते यत्कृतः शास्त्रार्थो भवेत्। अथ प्राप्तत्वाद् ग्रहस्याविधानमुच्येत। तदयुक्तम्। संमार्गं प्रत्यप्राप्तत्वात्। अथ ज्योतिष्टोमे प्राप्तेरविधिरुच्यते। स पश्वादेरपि लोके प्राप्तत्वात्प्राप्नोति। अथासौ यागेऽप्राप्तो विधीयते। तद् ग्रहस्याप्यविशिष्टम्। अथ संमार्गस्य ज्योतिष्टोमप्रकरणाबहिर्भावाद् ग्रहाविधानमुच्येत। तत्-पशुयागस्यापि लोकान्तर्गतत्वादविशिष्टम्। शक्यं हि यो ग्रह इतिवद्यः पशुरित्यपि वक्तुम्। उद्दिश्यमानत्वात्तु योऽत्र ग्रहस्याविधानाशङ्का, सा विध्यनुवादयोरुद्दिश्यमानोपादीयमानयोश्चात्यन्तभेदादयुक्ता। तथा हि।

उद्देश्यस्यापि देशादेरेकान्तेन विधिः स्थितः।
उपादेयोऽपि चाऽऽलम्भः प्राप्तत्वान्न विधीयते॥

तस्माद्विशिष्टसम्मार्गविध्याक्षेपाद् ग्रहत्ववदेकत्वस्यापि विधिसंस्पर्शो सत्यर्थाद् गुणप्रधानभाव इत्येकत्वं निष्प्रयोजनत्वाद् गुणभूतम्, ग्रहश्च प्रयोजनवत्त्वात्प्रधानभूतः।

एकत्वस्याविवक्षायां कर्मत्वस्याप्यविवक्षाया सर्वग्रहसंमार्गस्यासंभव इत्याशङ्का

किं च—

सह त्विध्यविधी युक्तौ न चैकपदगोचरौ।
पदभेदो न च न्याय्यः प्रकृतिप्रत्ययौ प्रति॥

---

१. क० विवक्षितत्वाविवक्षितत्वादिसिद्धिः। २. क० दृष्टान्तेनोपमा।

एकस्मिन्नेव च पदे युगपदुच्चरिते ग्रहानुष्ठानं प्रति विधिराश्रीयते नैकत्वमिति विप्रतिषिद्धम्। न च विभक्तिः पदान्तरम्। स्वातन्त्र्येणानियतपूर्वापरत्वेन चाप्रयुज्यमानत्वात्। गमकत्वात्पदमिति चेत् ? न। धूमादिष्वतिप्रसङ्गात्। एकस्मिन्नपि चाऽऽख्यातादिप्रत्ययेनैकोऽर्थः प्रतीयत इति, प्रत्यर्थं पदत्वप्रसङ्गः। पदमिति च लौकिकः शब्दः। स यत्र लोकेन प्रयुज्यते, यत्र च स्मर्तृभिः स्मर्यते, न ततोऽपनेतुं शक्यते। 'सुप्तिङन्तं पदम्' इति च स्मृतिः। तत्रैव च पदशब्दः प्रयुज्यते। तस्मात्प्रकृतिप्रत्ययसमुदायः पदम्, नावयवः।

अत्रैव शक्तं पदमिति न्यायमतं निरस्य स्वमतवर्णनम्

अभ्युपेत्यापि[1] तु—

विभक्त्युपात्तकर्मत्वविवक्षा चेदिहेष्यते।
संख्याऽपि तदुपात्तत्वान्न शक्या न विवक्षितुम्॥

अविवक्षायां शब्दस्याश्रुतसमत्वमाश्रीयते।

यावच्छ्रुतोऽपि शब्दः सन्नाश्रुतः परिकल्प्यते।
तावत्तदुक्तमर्थं को वाक्यार्थादपनेष्यति॥

तदिह यदि तावत्संख्यापरित्यागाद्विभक्तिः परित्यक्ता, ततः कर्मत्वपरित्यागोऽपि प्राप्नोति। ततश्च ग्रहस्य संस्कार्यत्वं हीयेत। प्रयोजनवत्त्वात्संकार्यत्वमिति चेत् ? न। कारकविभक्तिमन्तरेण क्रियासंबन्धाभावात्। न ह्यविभक्तिकस्य ग्रह इत्येतावतः संमार्ष्टीत्यिनेन संबन्धोऽवकल्पते। ततोऽवश्यं कर्मत्वं विवक्षितव्यम्। अतश्चाऽऽदृतायां विभक्तावेकदेशपरित्यागाभावात्संख्याविवक्षा दुर्निवारेत्यशक्यः सर्वेषां संमार्गः। तथा हि—

संमार्गो यदि सर्वेषामेकत्वस्याविवक्षया।
न कस्यचिद्भवेदेष ग्रहकर्माविवक्षया॥
न ह्येकस्मिन्पदे युक्तः प्रकृतौ प्रत्ययेऽपि वा।
श्रुताश्रुतत्वसंकल्पो विरोधात्सदसत्त्ववत्॥
श्रुतशब्दाभिधेयानां नार्थानां युगपत्तथा।
ग्रहणाग्रहणं युक्तमर्द्धकुक्कुटिपाकवत्॥

उक्तशंकायाः निरासः

अत्र प्रतिविधीयते।

प्राप्नोति हि प्रधानस्य विस्पष्टा सर्वसंस्क्रिया।
गुणभूतविवक्षा तु न द्वितीयाविरोधतः॥

---

१. क० उपेत्यापि।

यदा हि ग्रहैकत्वोद्देशेन संमार्गो विधीयते, तदोद्दिश्यमानयोः परस्परसंबन्धाभावात्प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिलक्षणस्तावदेको वाक्यभेदः। उपादेयनानात्वे पुनः सर्वविशिष्टभावनाप्रयोजनत्वादेककार्यत्वे सत्याञ्जस्येनैवैकवाक्यत्वं स्यात्। अस्मिन्नेव च पक्षे प्रधानभूतक्रियावशीकाराद्विशेषणानामन्योन्यनियमसिद्धिः। उद्दिश्यमानानां पुनरवशीकृतत्वात्प्रत्येकं क्रियाग्रहणसामर्थ्यात्क्रियैव वशीकृता तैराकृष्यत इत्येकैकस्यान्योन्यनिरपेक्षस्य कर्तव्यताऽवगम्यते।

तदिह ग्रह एकत्वनिरपेक्षः संस्कर्तव्यः, एकत्वमपि ग्रहनिरपेक्षं संस्कर्तव्यम्। तत्र यदि तावद् ग्रहगतमेवैकत्वं संस्क्रियते, ततः सापेक्षकरणादुभयोर्निरपेक्षसंबन्धावधृतं प्राधान्यं विहन्येत।

अथ द्रव्यान्तरगतम्। तन्न ज्ञायेत किमिति। न हि ग्रहवत्किंचिदेकं नाम प्रकरणे पश्यामः। यदेव ह्येकं तदेवान्यापेक्षयाऽनेकम्। न चावच्छेदे कारकं[1] किंचिदस्ति। येनान्यनिरपेक्षत्वेनैकमवधार्येत। ननूत्पत्तौ यदेकवचनान्तशब्दचोदितं तदेकं भविष्यति। न। तेषामपि बहुत्वात्किमिति निरूपणाशक्तेः।

अथ सर्वेषां कस्मान्न भवति? न। तत्रापि चोदितहान्यचोदितकरणापत्तेः। तथा हि—

यदि तावद्विकल्पेन किंचित्संस्कृत्य तिष्ठति।
अन्येषां चोदितं सन्तं विना हेतोस्ततस्त्यजेत्॥

गुणभूतेन ह्येकेनैकत्वयुक्तेन क्रिया साध्यमाना नान्यमपेक्षत इति, यत्किंचिदप्युपादाय शास्त्रार्थः कृतः स्यात्। प्राधान्ये पुनर्यदेवैकत्वयुक्तं न गृह्येत, तस्यैव वैगुण्यं प्रसज्येत। यदि त्वन्यदपि संस्क्रियेत, ततोऽनेकैकत्व[2]संनिपातात्संख्यान्तरोपजनने सति श्रुतैकत्वपरित्यागेनानेकसंस्काराच्छ्रुतं हीयेत, अश्रुतं च परिगृह्येत। वीप्सार्थश्च कल्प्येतैकैकं संमार्ष्टीति। जात्युद्देशेन, शुक्लादिगुणान्तरोद्देशेन वा संस्कारे विहितेन संस्कृतावपि न जातिगुणान्तरापत्तिर्भवति। तथा हि—

न ग्रहान्तरसंमार्गे तस्माज्जात्यन्तरोद्भवः।
संख्यान्तरवदित्येवं नैवाऽऽवृत्तिर्विरुध्यते॥

तत्रैतत्स्यात्। सर्वेष्वपि संस्क्रियमाणेष्वनुष्ठानवेलायामेकैक एव दृश्यते। तस्मादविरोध इति।

इत्युच्यते—

तथा सति ग्रहैकत्वमस्तु नाम विवक्षितम्।
सर्वः संमार्गवेलायां ग्रह एको भविष्यति॥

---

१ क० कारणं। २. क० अनेकसंनिपातात्।

न हि कश्चिदपि युगपदनेकं ग्रहं संमार्ष्टि। ततश्च विवक्षितेऽपि तादृशमेवेति मन्दं विवक्षाफलम्। ननु युगपत्संमार्गविरोध एवं फलं भवति। नैतदस्ति। प्रत्येकं गृह्यमाणानां तद्वदेव संस्कारे सति यौगवद्यप्रसङ्गाभावात्। अभ्युपेत्यवादमात्रं चैतत्स्वतन्त्रैकत्वाप्रतीतेः। अतश्चैकत्वांशसंबन्धस्यानवधारणेनाशास्त्रविषयत्वात्केवलग्रहपरमेव शास्त्रं विज्ञायते। यद्यपि च द्रव्यान्तरगतत्वेन तद्विवक्षितमेव, तथाऽपि ग्रहस्य तावदविवक्षितमिति सिद्धः सर्वेषां संमार्गः।

एकत्वमुद्दिश्य संमार्गस्य विधानमिति दूषणम्।

तस्माल्लक्षणमेवैतद् द्रष्टव्यं हि स्वगोचरे।
संख्योद्देशेन संस्कारो नैव कश्चिद्विधीयते॥

अथ तु गुणभूतमेकत्वं विधीयेत, तत्र द्वितीया तावद् गुणभावं नैव ब्रवीतीति व्याख्यातं सक्त्वधिकरणे। सा यद्यविवक्षितेप्सितार्था कारकमात्रलक्षणार्थेति विवक्ष्यते, ततः स एव तावदेको दोष इत्येकत्ववच्च ग्रहस्यापि गुणत्वप्रसङ्गः। अथ ग्रहस्य प्राधान्यम्, एकत्वस्य च गुणत्वं परिगृह्येयातां, तथाऽपि सकृदुच्चारणे गुणप्रधानत्वश्रुतिलक्षणाश्रयणाद्विभक्तिवैरूप्यादिनिमित्तो वाक्यभेदः।

तत्रैतत्स्यात्। ऐकरूप्यार्थमेकत्ववद् ग्रहस्यापि तावद् गुणत्वमेवावगमयेत्। ततः प्रयोजनवत्तावशेन ग्रहस्य प्राधान्यम्। न चार्थाद्भवच्छब्दस्य वैरूप्यमापादयतीति।

अत्र ब्रूमः—

कथमादावसन्नेव गुणभावो विवक्ष्यते।
कथं च संभवच्छब्दादर्थात्प्राधान्यमिष्यते॥

सर्वैव शब्दप्रवृत्तिरसंभवाद्विप्रकर्षं प्रतिपद्यते, नास्मदिच्छामात्रेण। तदिह यदि तावच्छ्रुतिवशात्प्राधान्यं परिगृह्यते, ततस्तदेवैकम्। अथास्य कथंचिदसंभवं कल्पयित्वा लक्षणाऽऽश्रीयते। ततः पुनः संभवकल्पनाविरोधात्सत्यपि प्रयोजनवत्त्वे शास्त्रवशेन गुणत्वप्रसङ्गः। युगपत्संभवासंभवपरिग्रहात्प्राधान्यगुणत्वयोः प्राधान्यालोचनेन विक्षेपाच्च शब्दक्लेशः। प्रथमं हि श्रुतिवशात्प्राधान्यं प्रतीयते। ततस्तदुज्झित्वा मध्येगुणत्वं, ततस्तस्याप्यसंभवादन्ते पुनः प्राधान्यमिति विक्षेपः। पश्चात्तनमपि च प्राधान्यमवश्यं शब्द एवाऽऽरोपयितव्यम्। न ह्यर्थो नाम किंचित्प्रमाणम्। किं तर्हि ? शब्दशक्तिकल्पनाहेतुः अतश्चानेककल्पनानिमित्तो ह्यस्त्येव वाक्यभेदः।

किं च—

विधीयमानमप्यर्थमन्यतो वाऽवधारितम्।
अवश्यं भाविनं प्राप्य न शब्दोऽन्यत्र वर्तते॥

यद्यपि च ग्रहस्य प्राधान्यं प्रयोजनवत्तयैव सिद्धम्, तथाऽपि द्वितीया तदापादयन्ती सती नानुवादमात्रमपि लभमानाऽर्थान्तरे वर्तेत। तद्यथा 'दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्' इत्यत्र प्रकरणप्राप्तमपि सन्ते होममेव धातुरनुवदति, न विधानार्थमप्यन्यदेव गमनादि धात्वर्थान्तरं ब्रवीति। ततश्च ग्रहस्य प्राधान्यानुवादादेकत्वस्य च गुणभावविधानादपरो वाक्यभेदः। श्रुत्या चावश्यंभाविनि ग्रहप्राधान्यविधाने लभ्यमाने, को जातुचिदर्थात्क्लेशेन कल्पयिष्यति।

क्वचिद् द्रव्यपरिच्छेदादेकत्वमपि चार्थवत्।
अतो न तद्वशेनापि द्वितीया स्वार्थमुज्झति॥

तस्माच्छब्दसामर्थ्यादुभयत्र प्राधान्यं ग्रहीतव्यम्। तत्र चानिरूपणादविवक्षेत्युक्तम्। भाष्यमप्येतेष्वेव वाक्यभेदेषु योजयितव्यम्।

ननु च 'अग्नेस्तृणानि' इत्यत्र द्वितीयासंयोगाभावाद्यथोक्तवाक्यभेदाभावादेकत्वविवक्षा स्यात्। नैष दोषः। यद्यप्येषा षष्ठी विशेषणत्वाद् गुणभूतमिवाग्निं प्रतिपादयति, तथाऽपि संबन्धान्तरा भावादङ्गाङ्गिसंबन्ध एव ज्ञायते। तत्राप्यग्नेः प्रयोजनवत्त्वात्तृणापचयस्य तदभावाद्राज्ञः पुरुष इत्यत्र यथा राजा पुरुषस्य स्वामी एवमग्निस्तृणापचयस्य स्वामीत्येतदेव गम्यते। यद्यपि चैषा पञ्चमी स्यात्, तथाऽप्यग्न्यपादानकस्य तृणापचयस्य फलाभावादवश्यं "मध्यात्पूर्वार्धाच्च द्विरवद्यति" इतिवदविवक्षितगुणार्था कार्यवशेनाग्नि[१]प्राधान्यं लक्षयन्ती प्रवर्तते। ततश्चाग्नेः प्राधान्यमेकत्वस्य च गुणभाव इत्यादि पूर्ववदेव योजनीयम्। तृणानीत्येतदपि बहुवचनमविवक्षितमिति व्याख्येयम्। तथा 'भिन्ने जुहोति' इत्यादिषु।

यदि तावद्भिन्नैकत्वयोर्नियोगविकल्पसमुच्चयादिभिर्निमित्तत्वं सप्तम्योच्येत, ततः प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तेः परस्परसंबन्धाभावः। अथैकत्वमुपादेयत्वेन प्रतिपाद्येत, भिन्नमनुपादेयत्वेन ततो यद्यपि गुणत्वप्रधानत्वविरोधो नास्ति, तथाऽपि पूर्ववदेव विरोधः। एकवाक्यत्वे नानारूपत्वं नामेत्यविवक्षा। सत्यां चाऽऽकाङ्क्षायां विवक्ष्येत। सा चोपादीयमानेष्वाकाङ्क्षोपजायते, नोद्दिश्यमानेषु। उद्दिश्यमाने हि प्रातिपदिकार्थसंबन्धिमात्रापेक्षित्वान्न संख्याकाङ्क्षा। प्रमाणान्तरादेव विज्ञातसंख्यत्वात्। अतो यादृशं ग्रहादि प्रमाणान्तरेऽवधृतम्, तादृशस्य संमार्गादय इति निश्चीयते।

सर्वलक्षणेषु प्रतीतिमात्रौपयिकत्वादनुष्ठानङ्गत्वम्। यथा 'योऽयं शुक्लवासा दृश्यते तमानयेत्यादिषु वासःप्रभृतीनाम्। तत्र यावता विनाऽनुष्ठानं न सिध्यति, तावदुपादातव्यमिति, ग्रहादिमात्रं परिगृह्यते।

ननु बहुषु विवक्षितेषु बहुवचनमिति—अविवक्षितोऽप्यविद्यमानोऽर्थो न शक्यो वक्तुमिति मन्यते। तत्र वेदस्य नित्यत्वाद्यथोच्चरितार्थान्वेषणमात्रे पुरुषाणां

---

१. क० हविः प्राधान्यं।

व्यापार इति, न कर्तेव पर्यनुयुज्यते। तेन प्रातिपदिकार्थानुग्रहार्था विभक्तिरिति द्रष्टव्यम्। कारकप्रतीतिपरा वा सती नान्तरीयकत्वात्संख्यां प्रतिपादयति। यथा प्रकाशनार्थं प्रज्वालितोऽग्निरिन्धनं भस्मीकरोति, एवमत्रापि 'प्रथमं वा नियम्येत' इत्येवं कर्मत्वप्रतिपादकमेकवचनम्। 'यस्य पुरोडाशौ' इत्यादिषु चाऽऽधिकारिकं हविरुभयत्ववद् द्विवचनम्। अन्यथा हि मुख्यं वा इति कदाचिदाग्नेयग्रहणभ्रान्तिः स्यात्।

अपि च ग्रहः प्रातिपदिकार्थं इति यदाऽन्विष्यमाणमपि क्रियासंबन्धित्वं न घटते, तदा तुल्यायामविवक्षायां वरं द्रव्यविशेषणमेवेदमित्यभिप्रायः। ततश्च संमार्गस्तेन विनाऽप्यविगुणः। जातिसंख्या चैषा प्रत्येकं संमृज्यमानव्यक्तिगता वा समर्थनीया ॥१४॥

न्या० सु०—ग्रहजात्या द्रव्यं लक्षयित्वेति क्त्वाप्रत्ययेनाविधेयत्वासिद्धचर्थोद्देश्यत्वसूचनार्थत्वं भाष्यस्य द्योतयन्सिद्धान्तमारभते—**व्यक्तीरिति**। ग्रहोद्देशेन विधिं विना सम्मार्गस्य तद्गुणत्वासिद्धेर्ग्रहशब्दस्य पात्रवाचित्वे जात्या ग्रहणसंस्कृतसोमवाचित्वे वा, आदिशब्दोक्तेन संस्कारेणोपलक्षितानां प्रकृतापूर्वसाधनभूतानां ग्रहव्यक्तीनामुद्देश्यत्वस्य च विध्यपेक्षितत्वात्तच्छब्दव्यापारविषयत्वावगतेः प्रकृतापूर्वसाधनत्वस्य विधानापत्तेरविषयत्वाधीनत्वाद्विषयस्य च विधेयत्वायोगाद्ग्रहान्वयित्वेन सम्मार्गविधानेऽपि ग्रहश्रुत्युक्तस्य ग्रहत्वस्यापूर्वसाधनांशलक्षणार्थत्वेनाविधेयत्वात्तल्लक्षितस्यापूर्वसाधनांशस्य विध्यन्तरविषयत्वेनाविधेयत्वादविधेयस्य च विधेयद्वाराऽस्य चैकत्वस्य निष्क्रियत्वेन कारकतया विध्ययोगाविवक्षेत्याशयः। ग्रहस्योद्देश्यत्वसिद्धचै प्राधान्यं सम्मार्गस्य चाङ्गत्वमुपपादयन् श्लोकं व्याचष्टे—**इह तावदिति**। लक्षणत्वेन स्वरूपेण व्यक्तिलक्षणयाष्टवर्षब्राह्मणत्वेनोपनयनसंस्कार्यतयोद्देश्यतया ब्राह्मणव्यक्तेर्लक्षिताया अप्युपनयनान्वयित्वेन विधेयत्वायाऽष्टवर्षत्वविशेष्यत्ववद्ग्रहव्यक्तेरपि सम्मार्गान्वयित्वेन विधेयत्वादेकत्वविशेष्यतोपपत्तेर्विध्यनर्हापूर्वसाधनांशलक्षणाप्रदर्शनायैष वेत्युक्तम्। एवं च सति वैगुण्यपरिहारायापि सर्वे सम्मार्ष्टव्या इत्याह—**तत्रेति**। ग्रहैकत्वस्य पश्वैकत्वसाम्यं पूर्वपक्षोक्तमपि वैगुण्यापत्त्यनापत्तिवैषम्यादेवायुक्तमित्याह—**यदि त्विति**।

प्रधानानां धर्मान्वये हि साहित्यस्याविवक्षितत्वात्प्रतिग्रहं समार्गावृत्त्यवगतेः, तस्याः शास्त्रावृत्त्यधीनत्वाच्छास्त्रभेदोक्तिः। न्यायलभ्यत्वेनावृत्तेः शास्त्रानधीनत्वाद्देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तामितिवद्भिन्नपदोपादाने प्रत्येकं वाक्यसमाप्तेः कल्पनाभावेन शास्त्रभेदानुपपत्तेरपरितोषात्स्वमतेन शास्त्रैक्येऽप्यन्योन्यानपेक्षैकग्रहसम्मार्गानुष्ठानस्य तथाविधज्ञानभेदाधीनत्वात्तद्भेदमप्यभ्युपेत्य प्रतिग्रहं सम्मार्गाकरणे यस्य न क्रियते तद्विषयं ज्ञानं बाध्येतेत्याह—**कथापीति**। ज्ञानस्याप्यैक्याभ्युपगमे तु प्रतिग्रहं सम्मार्गाविषयत्वं ज्ञानस्य बाध्येतेति विशेषणप्रधानार्थत्वेन व्याख्येयम्।

ननु ज्ञानप्रामाण्यस्यानुष्ठानानधीनत्वान्नाननुष्ठानमात्रेण ज्ञानबाधापत्तिरित्याशङ्क्याह—**अबाधिते त्विति**। प्रतिग्रहं सम्मार्गविषयज्ञानबाधाभावायोऽन्यो द्वितीयादिःसम्मार्गसंस्कृतो न क्रियते तस्मिन्ग्रहे वैगुण्यलक्षणप्रत्यवायाङ्गीकारापत्तेस्तत्परिहारार्थबाधोऽभ्युपेतव्य इत्याशयः। सामान्यावगमाद्विशेषानवबोधाच्चेति हेतुद्वयोक्तेः संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्चेति सर्वधर्मत्वहेतुद्वयोपलक्षणार्थत्वं सूचयन्सिद्धान्तमुपसंहरति—**तस्मादिति**। सर्वेषां ग्रहाणां सम्मार्ष्टव्यत्वप्रतीतेरित्यर्थः।

अवशिष्टं हि लक्षणमिति सूत्रावयवस्यैकत्वविशिष्टं सम्मार्ष्टव्यानां व्यक्तीनां लक्षणं भविष्यतीति शङ्कोत्तरत्त्वेन व्याख्यानार्थं नन्विति शङ्काभाष्यं श्रुतस्याप्येकत्वस्याविवक्षितत्वादयुक्तमाशङ्क्याह—**नन्विति**। विशेषणत्वेनैकत्वस्य विध्यपरिग्रहाख्यायामविवक्षायां विध्यनर्हत्वरूपकारणोक्तयर्थं नैतदित्यादिभाष्यं तात्पर्यतस्तावद्व्याख्यातुमारभते—**अत्रेति**। विधिपरिग्रहोऽनुष्ठेयत्वोक्तो लक्षितः। एकत्वस्याप्राप्तत्वाद्विध्यनर्हत्वेऽपि वाक्यभेदापत्त्या द्रव्ये क्रियायां वा तादर्थ्यबोधाख्यविनियोगानर्हत्वेन पुरुषार्थाननुबन्धित्वाद्विध्यपरिग्रहं वक्तुं विध्यधीनविनियोगोक्तिभ्यां तदर्हत्वे लक्षिते। अनुष्ठानकाले विधिश्रुत्यधीनः पुरुष इत्यादिवार्तिकेऽन्वयमात्रबोधाख्यविनियोगस्यानुष्ठानोपयोगनिरासादविरोधः।

एतदेवोपपादयति—**विहित इति**। यस्मात् द्रव्यदेवतान्वयाद्यनुमितेऽप्यप्राप्तत्वेन विध्यनर्हत्वाद्भावनायां च करणत्वेन विनियोगार्हत्वात्तादर्थ्येन विधिना गृह्यते। श्रुतोऽपि वायव्यश्वेतालम्भादि प्राप्तत्वेन विध्यनर्हत्वात्सक्त्वादिहोमश्च सक्त्वाद्यर्थत्वेन विनियोगानर्हत्वात्तादर्थ्येन विधिना न गृह्यते। तस्मात्तत्र विधिपरिग्रहो कार्यः श्रुतैरश्रुतैर्वाक्यार्थविधिर्विनियोगार्हत्वे अपेक्षणीये इत्यर्थः। तस्मात्प्रकृतिप्रत्ययश्रुत्याभिहितानां पदश्रुतिविनियुक्तानामपि चार्थानां मध्ये को विधिविनियोगाभ्यां गृहीतः, को वा नेति चिन्तायां तत्सिद्ध्यै को विधिविनियोगार्हतया समर्पितः, को वा नेति विचार्यमित्याह—**तदिति**। पञ्चम्यर्थे तदित्यव्ययम्। वाक्यभेदापत्तेरपरिग्रहहेतुत्वसूचनायैकवाक्योक्तिः। ग्रहैकत्वस्य विनियोगानर्हग्रहविशेषणत्वेन विधिविनियोगानर्हत्वनिश्चयाद्विचारणा न युक्तेत्याशङ्क्य, ग्रहाश्रितेनैकत्वेन सम्मार्गभावनां कुर्यादित्यादिवचनव्यक्त्यन्यथात्वाभ्युपगमेन तस्यापि विधिविनियोगार्हत्वप्रतिभानात्कात्र वचनव्यक्तिर्युक्तेति निर्णयार्थं विचारणा युक्तेत्युक्तम्।

ननु द्वितीयसंयोगेनैकत्वस्य लोकदृष्ट्या विधिविनियोगानर्हत्वावगमाद्वचनव्यक्त्यन्यथात्वशङ्का न युक्तेत्याशङ्क्याह—**मीमांसकाहीति**। न्यायाभासावगतवचनव्यक्त्यन्तरनिरासेन लोकावगतशक्त्यनुसारिवचनव्यक्त्यवधारणा कार्येत्याशयः। ननु लोकावगतशब्दशक्त्यनुसारात्सम्मार्ष्टीति वर्तमानापदेशस्याविधायकत्वान्निर्निमित्तं विधित्वचिन्ता नैव युक्तेत्याह—**वर्तमानेति**। अप्राप्तार्थत्वेनास्य वर्तमानावदेशत्वायोगेन तत्सारूप्येऽपि पञ्चमलकारत्वावधारणात्तस्य लोकप्रयोगाभावेऽपि लिङर्थे लेडिति, लिङर्थे स्मृत्या विधौ साधुत्वाद्युक्तेयं चिन्तेत्याशयः। एवमपि भावनामात्रविधायित्वेन स्मृत्युपपत्तेरलौकिका-

र्थान्तरविध्यन्वयित्वायोगान्न युक्तेत्याशङ्क्याह—**केवलेति**। एवं च सति भावनाविशेषणत्वेनार्थान्तरस्य विधेयत्वात्, तस्यां च विनियोगात्सम्मार्ग-ग्रहतत्संख्यानां मध्ये किं भावनाविशेषणम्, किं वा नेति विधिविनियोगार्हत्वसिद्ध्यै विचार्यमित्याह—**सेति**। सम्मार्गस्य करणत्वेन, ग्रहस्य च कर्मत्वेन, विशेषणत्वाद्भिन्नार्थत्वेन समुच्चयावगतेर्नेयं चिन्ता युक्तेत्याशङ्क्य, सम्मार्गस्यापि लोकप्रसिद्धेन धात्वर्थस्य भावनाकरणत्वरूपेण विशेषणत्वमङ्गीकृत्येयं चिन्तेत्युक्ते, तथाप्यद्रव्यकसम्मार्गभावनानुष्ठानाशक्तेः समुच्चयोऽपरिहार्य इत्याशङ्क्य येन केन चिदपि द्रव्येणानुष्ठेयत्वस्योपपन्नताशक्यशब्देनोक्ता।

दशापवित्रमपि कस्मान्न चिन्त्यत इत्याह—**दशापवित्रेति**। दशापवित्रमितिशब्दो यस्य केवलदशाग्रन्थ्याख्यस्यार्थस्य, स दशापवित्रशब्दो विवक्षितत्वेन निश्चितत्वान्नान्यैः सह विचार्यत इत्युक्ते ग्रहकर्मत्वपक्षे दशापवित्रस्य करणत्वेन भिन्नविशेषत्वात्समुच्चयोपपत्तेरविचार्यत्वेऽपि सम्मार्गकर्मत्वपक्षे ग्रहस्य कर्मत्वायोगेन करणत्वापत्तेर्ग्रहो वा करणत्वेन भावनाविशेषणं दशापवित्रं वेति विचारो युज्यतवेत्याशङ्क्य सम्मार्गस्यापि कर्मत्वपक्षे तस्याकर्मकस्यानुष्ठानायोगात्कर्मापेक्षायां तत्कर्मत्वेन ग्रहान्वयोपपत्तेरश्रुतकारणत्वकल्पनायोगाद्दशापवित्रस्य करणत्वाव्याघातोक्त्यर्थं सर्वेषामपि सम्मार्गादिषु कर्मत्वेन विशेषणभूतेषु दशापवित्रशब्दस्य करणत्वरूपार्थतुल्यत्वाच्च दशापवित्रशब्दवाच्योऽर्थो न विचार्यते सम्मार्गादीनां करणत्वेन। विशेषणरूपवचनव्यक्तिभेदे तु अयं न विचार्यते, अपि तु विचार्यतएवेत्युक्तम्। ग्रह-तदेकत्व-सम्मार्गाणां च मध्ये ग्रहसम्मार्गयोस्तावत्किं ग्रहएव भावनां विशिनष्टि सम्मार्गएवेति नियोगेन विशेषणत्वम्, किं वा ग्रहो वा सम्मार्गो वेति विकल्पः, यथा ग्रहश्च सम्मार्गश्चेति समुच्चयः। अथ ग्रहसम्मार्गयोः सम्बन्धः, अथ समुदायो वा अथ वा ग्रहविशिष्टः सम्मार्गः, सम्मार्गविशिष्टो वा ग्रह, इत्यष्टपक्षीनिरूपणा कार्येत्याह—**ग्रहादीनां चेति**। भावनाविशेषणत्वचिन्ताया विधेयसिद्ध्युपयोगितामाह—**विशिषन्निति**।

सम्मार्गैकत्वयोरप्यष्टपक्षीमतिदिशति—**सम्मार्गेति**। ग्रहैकत्वयोरप्यतिदिशति—**विचार्येति**। तथा किं समार्गविशिष्टो ग्रह एवं भावनां विशिनष्टि, एकत्वमेव वेत्यादिनियोगविकल्पादिरूपाष्टपक्षी किं ग्रहविशिष्टः सम्मार्ग एवैकत्वमेव वेत्यादिरूपा द्वितीया, किं एकत्वविशिष्टो ग्रह एव, सम्मार्ग एवेत्यादिरूपा तृतीया, किं ग्रहविशिष्टं एकत्वमेव, संमार्ग एव वेत्यादिरूपा चतुर्थी किमेकत्वविशिष्टः सम्मार्ग एव ग्रह एवेत्यादिरूपा पञ्चमी किं ग्रहविशिष्टमेकत्वमेव सम्मार्ग एव वेत्यादिरूपा षष्ठीति पूर्वोक्ताभ्यस्तिसृभ्योऽष्टपक्षीभ्योऽन्याः षडष्टपक्ष्यो विचार्या इत्याह—**तथेति**।

नन्वेकविधवचनव्यक्तिप्रतिभासेनैकत्वस्य द्वितीयोक्तिद्वितीयविध्यनहेत्वविषयलोकदृष्टिप्रतिघाताद्विधेयत्वशङ्कायामपि ग्रहवदुद्देश्यत्वप्रसङ्गात्प्रत्युद्देश्यं वाक्यसमाप्त्या वाक्यभेदोपपत्तेर्विधेयता न युक्तेत्याशङ्क्योपपादनानर्हत्वस्यापि विध्यनर्हत्ववद्विचारमन्तरेणासिद्धेर्यथाविध्यर्हानर्हत्वस्य विवेकाय भावनाविशेषणत्वं विचार्यं, तथा ग्रहतदेकत्वयोः संहत्य, प्रत्येकं

वा सम्मार्गान्वय इति विवेकायोपादेयोद्देश्यत्वे अपि विचार्ये इत्याह—**तथा किमिति** । ग्रहैकत्वसम्बन्धसमुदायादीनामुद्देश्योपादेयत्वचिन्तायानिष्प्रयोजनत्वेनाकार्यत्वेऽपि ग्रहस्योद्देश्यत्वे तदेकपदोपादानानामप्युद्देश्यत्वापत्तिः, किमुत संख्याया इति सूचनायैषामिति बहुवचनम् । कस्मिन्पक्षे संहत्यान्वयः, कस्मिन्वा प्रत्येकमित्यपेक्षायामाह—**तत्रेति** । क्रियाप्राधान्योक्त्येतरयोरुपादेयत्वं सूचितम् । साहित्योपपादनार्थं कृत्स्नक्रियाकरणात् कृतकृत्यत्वं भवत्युभयान्विताया एव च कार्त्स्न्यसिद्धिरित्युक्तेऽनुष्ठानावृत्त्यापि कार्त्स्न्यं सेत्स्यतीत्याशङ्क्य गुणानुरोधेन प्रधानावृत्त्ययोगसूचनार्थं सकृदित्युक्तम् । चशब्दो हेतौ । प्रत्येकं वाक्यसमाप्त्युक्त्या प्रत्येकमन्वयो दर्शितः । उद्देश्योपादेयत्वयोरपि विशेषणत्ववद्विचारमन्तरेणासिद्धेरुद्देश्यत्वे तावत्किं ग्रह एवोद्देश्यः समार्गं प्रति, एकत्वमेव वा, अथ ग्रहो वैकत्वं वा, अथ ग्रहश्चैकत्वं च, अथ ग्रहैकत्वयोः सम्बन्धोऽथ समुदायोऽथैकत्वविशिष्टो ग्रहोऽथ ग्रहविशिष्टमेकत्वमिति विशिष्टाऽष्टपक्षी विचार्येत्याह—**तत्रापि त्विति** । उपादेयत्वेऽपि इदृश्येवाष्टपक्षी विचार्येत्याह—**क्रियां चेति** । एवं चानेकविधवचनव्यक्तिप्रतिभासे सति द्वितीयासंयोगे-नैकत्वस्य विधानोपादानामर्हत्वविषयलोकदृष्टिप्रतिघाताद्विधेयोपादेयत्वशङ्का युक्तेत्याह—**एवमिति** । वाक्यभेदपरिहारायोपादेयतयेत्युक्तम् ।

नन्वक्रियाविशेषणस्य विधातुमशक्तेर्ग्रहे विध्ययोगात्सम्मार्गे च वाक्यभेदापत्तेः, प्राधान्येन द्वितीयाविरोधाच्च गुणत्वेन विध्ययोगान्नैकस्योपादानम्, विधिर्वा सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**येन येनेति** । तत्रैकस्तावत्पक्ष इति, पूर्वपक्षवार्त्तिकोक्तेन येन येन प्रकारेण ग्रहे, सम्मार्गे चैकत्वस्योपादानं विधिर्वा सम्भवति, तं तं प्रकारं ननु सम्मार्ष्टीतिशङ्काभाष्येण द्रव्यविशेषणस्यापि विध्यर्हत्वसूचनादेवैकत्वं सम्मार्ग उच्यतइत्यनेन च सम्मार्गविशेषणत्वाशङ्कनात्पूर्वपक्ष्यापादयिष्यतीत्यर्थः । यच्छब्दानुसारात्तच्छब्दोऽप्यावर्तनीयः । उद्देश्यत्वेऽपि चैकत्वस्य द्रव्यनिरपेक्षस्य क्रियान्वयायोगात्प्रत्येकं वाक्यसमाप्त्यनापत्तेर्देशकालवच्चोद्देश्यत्वमात्रस्य विधेयत्वानापादकत्वाद्विधेयत्वाविरोध इत्याह—**यथा चेति** । प्रत्येकं वाक्यसमाप्त्यनापत्तिश्चशब्देन सूचिता । कथं तर्हि सिद्धान्तसिद्धिरित्याशङ्क्याह—**यां यामिति** । कथं दूषयिष्यतीत्यपेक्षायामुपादेयत्वं तावत्संख्याया दूषयति—**प्राधान्यादिति** । प्रकृतापूर्वसाधनत्वेन यथासंख्यं ग्रहस्योद्देश्यतया संख्यानाकाङ्क्षत्वात्स्वातन्त्र्येण च निष्क्रियत्वायोगेनैकत्वोपपादनस्य ग्रहोपादानाधीनत्वावगमान्नैकत्वोपपादनं शक्यमित्याशयः । विधिरप्यशक्य इत्याह—**ग्रहं चेति** । ग्रहे वैकत्वं विधीयेत, सम्मार्गे वेति विकल्प्य, ग्रहे तावदावृत्तिलक्षणवाक्यभेदापत्तेरशक्यतामुपपादयति—**न तावदिति** । कथमावृत्यापत्तिरित्यपेक्षायामाह—**ध्रुवमिति** । विधायकावृत्तिं विना तावत्सम्बन्धद्वयासिद्धिं विवृणोति—**विदधदिति** । ग्रहशब्दावृत्तिं विना सम्बन्धद्वयासिद्धिं विवृणोति—**संख्येति** । सकृदुच्चारिताभ्यां क्रीणाति-तद्विधायकाभ्यां द्रव्यगुणान्वयवद्ग्रहविधायकाभ्यामपि सकृदुच्चारिताभ्यां सम्मार्गान्वयद्वयसिद्धिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**ग्र इति** । ग्रहसम्मार्गानिष्पाद्यत्वेन सम्मार्गक्रियाया अनिष्पादकानेकानेकार्थवशीकाराशक्तेरेकत्वान्वयमात्रेणोच्चारणपर्यवसानाद्वैषम्यमित्याशयः ।

कथमावृत्तेर्दोषतेत्याशङ्क्याह—पुनरिति। अनावृत्तस्य च प्रत्ययस्यैकत्वविध्यशक्तेः सम्मार्गेऽप्येकत्वविध्ययोगादविवक्षा सिद्धेत्याशयेनाह—सर्वेति। पृथक्भूताभिनिष्क्रष्टाभिर्वचनव्यक्तिभिर्ग्रहान्वयित्वेन विधेयतया विशिष्टस्यैकत्वस्य तु विधातुमशक्यत्वावधारणान्न विधिना ग्रहणं सम्भवतीत्यर्थः। तच्छब्दो हेतौ।

ननु सर्वग्रहसम्मार्गेऽप्येकत्वाविधाने गुणभूतस्यापि सम्मार्गस्य लाघवार्थं सर्वेषां ग्रहणानन्तरं संहृतानां हविरभिमर्शनादितिवत्सकृदनुष्ठानापत्तेः प्रत्येकमावृत्त्यर्थत्वेनैकत्वविध्यर्थवत्त्वसम्भवात् ग्रहान्तरसम्मार्गानिरासानापादकत्वेनैकत्वविधानस्य निरासोऽनर्थक इत्याशङ्क्याह—केन चिदिति। एकवेदिदेशे आसन्नानां हविषां सर्वेषामनुलिप्तसाधारण्येन सकृदभिमर्शनसम्भावादावृत्त्यभावेऽपि ग्रहणानन्तरं विहितस्य सम्मार्गस्य सर्वग्रहणप्रतीक्षणेन विक्षेपस्याशास्त्रीयत्वाद् गृह्यमाणस्य च सोमस्याधोव्यवसेकनिरासायानुष्ठेयसम्मार्गस्य सर्वग्रहणप्रतीक्षणेन विक्षेपस्याशास्त्रीयत्वाद् गृह्यमाणस्य च सोमस्याधोव्यवसेकनिरासायानुष्ठेयसम्मार्गस्य सर्वग्रहणानन्तरमनुष्ठानेऽधोव्यवसेकनिरासाशक्तेर्नैष्फल्यप्रसङ्गादल्पपरिमाणेन च दशापवित्रेण सकृत्सर्वग्रहसम्मार्गाशक्तेर्न्यायादेवावृत्तेः प्राप्तायाः प्रयोजनवत्त्वयोगाद् ग्रहान्तरसम्मार्गनिरास एवैकत्वविधिप्रयोजनमित्याशयः।

ननु संस्कार्यत्वाद्वस्तुतो ग्रहस्य प्राधान्येन, वाक्यार्थत्वेन भावनायाः शब्दतः प्राधान्याद्ग्रहतदेकत्वादिविशिष्टसमार्गभावनाविधिप्रसूतेनार्थेन विध्यन्तरेण ग्रहैकत्वविधिः सेत्स्यतीत्याशयेनाशङ्कते—तत्रेति। ग्रहार्थत्वेन विधिं विना ग्रहस्य संस्कार्यत्वासिद्धेर्विशेषणविशेष्यत्वरूपगुणप्रधानत्वालोचनया भावनायाः प्राधान्येऽप्युपकार्योपकारकत्वलक्षणगुणप्रधानत्वाप्राधान्येऽप्युपकार्योपकारकत्वलक्षणगुणप्रधानत्वालोचनया ग्रहाङ्गत्वेनैव विधानादङ्गत्वेऽपि सम्मार्गभावनायामङ्गत्वप्रतीतेर्विध्यन्तरविहितत्वाच्च ग्रहस्याप्रवृत्तप्रवर्तनस्वभावविधिविषयत्वायोगात्प्रत्यक्षविध्यन्तरप्राप्तस्यैव च सम्मार्गसंस्कार्यत्वसम्भवे विशिष्टविधिप्रसूतग्रहविषयार्थविधिकल्पनायोगात् ब्राह्मणादेरिवोपयनसंस्कार्यतया ग्रहस्य सम्मार्गसंस्कार्यतया विध्यनुपपत्तेर्ग्रहाविधानाच्च तथैकत्वविध्यनुपपत्तेर्न ग्रहतदेकत्वयोर्विधिः सेत्स्यतीत्याशयेन परिहरति—यदीति। याऽस्य पूर्वपक्षिणो ग्रहत्ववदेकत्वस्यापि विवक्षेष्टा, सा सेत्स्यतीति सर्वस्यापीत्यपिशब्दापकर्षेण योज्यम्। एवं नैतदस्तीत्यादि तस्मान्नैतत्किंचिदपि कर्तुं विवक्ष्यतइत्यन्तमुत्तरभाष्यं समुदायतात्पर्यतो व्याख्याय, अवयवशो व्याचिख्यासुर्नैतदिति भाष्यावयवं श्रुतत्वादेकवचनं विवक्ष्यतोति यच्छङ्कितम्। तन्नास्तीत्येवं व्याख्यातुमाह—तस्मादिति। तस्मादुपादीयमानपश्वादिवदेवेति वार्त्तिकोक्तोद्देश्यविशेषणस्योपादेयविशेषणतुल्यताप्यत एवायुक्तेत्याह—अत इति।

श्रुतत्वमात्रस्य विधिग्रहणाख्यविवक्षाहेतुत्वाभावात्सोमारौद्रं घृते चरुं निर्वपेच्छुक्लानां व्रीहीणामित्यादिभिरुपादेयविशेषणैर्नोद्देश्यविशेषणं तुल्यमित्यर्थः। एकत्वं हीत्यादिशङ्कानिरासोपपादनभाष्यं ग्रहं विवक्ष्यति—क्रियां वेति। विकल्पनिरासार्थत्वेन व्याख्यातुं

विकल्पं तावदाह—द्रव्यस्येति। सम्मार्गविशेषणत्वं भाष्ये संशिष्यमाणं धात्वर्थस्यापि भावनाविशेषणत्वाद् 'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः सम्मत्वात्स्यादि'३-१-२२त्यनेन न्यायेनैव विशेषणानन्वयाद्धात्वर्थानवच्छिन्नाया भावनाया विशेषणान्वयोक्त्यर्थं न तु सम्मार्गस्यैकत्वान्वयोक्त्यर्थमिति सूचनार्थं क्रिययोरित्युक्तम्।

तथैकत्वं हीत्यादिना द्रव्यएकत्वं नियम्यत इति शक्यमाश्रयितुमित्यन्तं द्रव्यान्वयपक्ष-निरासायेत्याह—तत्रेति। अयोगव्यावृत्त्यैकत्वं द्रव्यविशेषणम्, अन्ययोगव्यावृत्त्यै, वेति विकल्प्याद्यपक्षनिरासार्थत्वेनैकत्वं हीत्यादि न क्रियेतेत्यन्तं भाष्यावयवव्याख्यातुमाह—तद्धीति। द्वितीयपक्षशङ्कार्थं तत्रेत्यादिभाष्यावयवं व्याचष्टे—तत्रेति।

एतच्छङ्कानिरासार्थं नैतदिति भाष्यावयवमभिप्रायतो व्याख्यातुमाह—नैतदिति। सामान्यतः प्राप्तावस्थस्य विशेषश्रुतेः परिसंख्यार्थत्वे स्वार्थहानपरार्थकल्पनप्राप्तबाधात्मक-दोषत्रयापत्तेः सामान्यप्राप्तितः प्राग्भावे सति विशेषश्रुतेः परिसंख्यौचित्यादसमाप्ते च वाक्ये विध्यपर्यवसानेनैकवाक्यस्थत्वे पदयोः पौर्वापर्येऽपि पदार्थविधिपौर्वापर्यायोगान्नास्या पुनःश्रुतेः परिसंख्यार्थता युक्तेति प्राप्ता। श्रूयत इति भाष्याद्वर्तमानोक्त्या सूचितम्। कस्मान्नेह विशेषश्रुतेः सामान्यप्राप्तितः प्राग्भावः सम्भवतीत्याशङ्क्याह—तच्चेति। विरोधादप्येकस्मिन्वाक्ये प्राप्तिपरिसंख्ये न युक्ते इत्याह—तश्चान्त मेवेति। इह त्वेदपद-स्थत्त्वात्सुतरां विरोध इत्याह—न चेति। श्लोकं व्याचष्टे—प्राप्तिपदिकेन हीति। अशक्यतामेवोपपादयति—अन्या हीति। अत्रापीत्यन्वयः। एवमपि वाक्यैक्यात्पदैक्ये को विशेष इत्याह—तत्रैव हीति।

प्रातिपदिकोक्तानामपि सर्वग्रहाणां क्रियान्वयप्राप्तेः कारकविभक्त्यधीनत्वात् क्षणैक्योक्तिः प्रत्यक्षश्रुतिप्राप्तपरिसंख्यायां च दोषत्रयपरिहाराशक्तेः, आनुमानिकप्राप्तिविषयत्वात्परि-संख्यायास्तत्रोपपत्तेरित्याह—किं चेति। आनुमानिकप्राप्त्याश्रयतामेवोपपादयति—निर्दोषत्वं हीति। कल्पत्वेनानुमानिकस्याप्राप्तावर्थादेव गर्दभाभिधायिन्यां मन्त्रे पाठक्लृप्ता-द्वाक्यान्मन्त्राश्वाभिधानीविशिष्टादानविधाने सति परिसंख्याया निर्दोषत्वं कल्प्यत इति इत्युक्ते विधित्वे निवर्त्तकत्वाख्यपरिसंख्यात्वायोगमाशङ्क्य फलादेवाश्रीयतइत्युक्तम्। प्राति-पदिकाधीनात्मलाभत्वाच्च प्रत्ययस्य प्रातिपदिकप्राप्तार्थपरिसंख्यातृताऽत्यन्तायुक्तेत्याह—समानेति। वाक्यपदैक्ययोः परिसंख्यानुपपत्तिहेतुत्वं दृष्टान्तयोक्तम्।

ननु मन्त्रस्य चेत्यादिभाष्यान्मन्त्रस्यादानान्वयाभावेन लिङ्गप्राप्तानुवादायोगादश्वाभि-धान्या रशनाद्वयादाने प्राप्तमन्त्रविशेषणत्वानुपपत्तेर्विधीयमानमन्त्रविशेषणत्वाद्गर्दभाभि-धानीनिवर्त्तकत्वं युक्तम्। एकत्वस्य तु विधीयमानग्रहविशेषणत्वाभावात्प्राप्तग्रहविशेषणत्वेन च द्वितीयादिग्रहनिवर्तकत्वे दोषत्रयापत्तेर्न युक्ता निवर्तकतेति वैषम्यप्रतीतेरन्यादृग्वैषम्या-भिधानव्याख्या न युक्तेत्याशङ्क्य, यथाश्रुतभाष्यमुपन्यासपूर्वं दूषयितुमुपक्रामति—यस्त्विति। मन्त्रादानान्वये यदनेनादत्ते, तदश्वाभिधानीमिति विशेषणसामर्थ्याद्गर्दभाभि-

धानीतो मन्त्रनिवृत्तिसिद्धेः, स्वार्थहानपरार्थकल्पनाभावेऽप्यनुवादतः प्राप्तस्यादानमन्त्राङ्गत्वस्य बाधापरिहारान्नेयं वचनव्यक्तिरिष्टा। मन्त्राच्चाश्वाभिधावचनव्यक्तिप्रदर्शनस्य तावदन्यान्वयवत्वादादानान्वयाभावादप्राप्तावस्थस्यैव मन्त्रस्याश्वाभिधानान्वयविधानात्प्राप्तबाधपरिहारोपपत्तेरनेनाश्वाभिधानीमितीयमेव वचनव्यक्तिरिति यद्दर्शितम्, यच्चादाने प्राप्तत्वादिति मन्त्रादानान्वयवचनव्यक्तिनिरासे कारणमुक्तमित्यर्थः। प्रश्नपूर्वमिष्टानिष्टवचनव्यक्तिप्रदर्शनस्य तावदयुक्तत्वमुपपादयति—**कुत इति**। आददातिपरस्य विधायकस्याख्यातार्थानपेक्षमन्त्राश्वाभिधानान्वय पर्य्यवसानायोगसूचनायाश्वाभिधान्यामिति सप्तमी। कारणोक्त्ययुक्तत्वमुपपादयति—**अदाने चेति**।

नन्वनुष्ठेयस्मृत्यर्थत्वान्मन्त्रस्य, कारकस्य च क्रियाद्वारानुष्ठेयत्वादादाने प्राक् मन्त्रप्राप्तिः पश्चाद्रशनायामित्याशङ्क्याह—**चेति**। क्रियाया अप्यकार्म्मिकाया अननुष्ठेयत्वात् क्रियाकारकसंयोगस्यैवानुष्ठेयत्वावगतेस्तद्द्वारा द्वयोरपि रशनादानाख्ययोः कर्म्मक्रिययोर्युगपन्मन्त्रप्रकाश्यत्वप्रत्यवायान्नास्य रशनाम्प्रति विप्रकर्ष इत्यर्थः। प्रत्युत ब्राह्मणवाक्ये एवेमामगृभ्णन्रशनामृतस्येत्यश्वाभिधानीमादत्त इत्यस्मिन्मन्त्रस्याददातिधात्वर्थान्वये सन्निकर्षो, अश्वाभिधानीनामन्वये विप्रकर्ष इति विवेकादादानरशने प्रति सन्निकर्षविप्रकर्षविशेष उपलभ्यत इत्याह—**सुतरामिति**। वाक्ये तावद्विशेषं विवृणोति—**पदेति**। क्रियानिरपेक्षकारकान्वयाप्रतीतेर्न्नामान्वयः, पदत्रयापेक्षत्वाद्विप्रकृष्टो धात्वर्थान्वयस्तूश्वाभिधानीपदानर्थक्यप्रसङ्गात्तदन्वयं विना विधायकपर्यवसाने अपि स्वरूपेण तावत्पर्यवस्यतीत्याशयः। विधायकप्रत्यये विवृणोतिप्रत्ययश्चेति। मन्त्रे अपि विपरीतविशेषमाह—**मन्त्रो अपीति**। हृग्रहोर्भः छन्दसीति लोकाप्रयुक्तछन्दोविषयभकारयुक्ततया क्लेशावगम्यवाचकत्वेन प्रकृतिभागेनोक्तत्वाद्ग्रहणस्य न शीघ्रप्रतीतिरित्यर्थः।

ननु सामान्यवाचिनो नाश्वरशनाप्रतीतिः शीघ्रम्भवतीत्याशङ्क्याह—**न चेति**। अपूर्वसाधनीभूतं विशेषएव मन्त्रविनियोगेन सामान्यविनियोगपूर्वकत्वाभावान्न विप्रकर्षइति श्लोकत्रयाशयः। नन्वादानान्वये लिङ्गप्राप्तेरशनामात्रादानान्वयानुवादेनाश्वाभिधानीविशेषविध्यापत्तेस्त्रैदोष्यस्यापरिहार्यत्वप्रसङ्गान्मन्त्रस्याश्वाभिधान्यन्वय एव युक्त इत्याशङ्क्याह—**तस्मादिति**। यस्मादुभयत्रापि मन्त्रप्राप्तिस्तुल्या तस्मादादानान्वयानुवादो अश्वाभिधान्यन्वयविधिश्चेति वैषम्यमयुक्तन्ततश्चानुवादाभावे अनुवादसिद्ध्यर्थादानान्वयप्राप्तयभ्युपगमनिमित्तप्राप्तबाधानापत्तेः न तद्भयेनान्वयनिरासः। क्रियानपेक्षकारकान्वयायोगाच्चाश्वाभिधान्यन्वयविधिरयुक्त इत्याशयः।

ननु मन्त्रादानान्वयस्य विधेयत्वे अश्वाभिधानीपदानर्थक्यापत्तेरश्वाभिधानीविधेये अनुवाद्यताऽवसीयतइत्याशङ्क्याह—**किंस्विति**। मन्त्रादानवदश्वाभिधान्या अपि विधेयत्वान्न तत्पदानर्थक्यापत्तिर्विशिष्टभावनाविधानाच्चानेकार्थविध्यनापत्तिरित्याशयः।

नन्वादानभावनायां मन्त्रस्य लिङ्गादेव प्राप्तेर्न विधिः सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**न चेति**। श्रुत्यैवानुमितया प्राप्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**रूपेति**। प्रकरणगम्यसामान्यसम्बन्ध्यपेक्षत्वादपशब्दोक्तस्य लिङ्गस्य श्रुत्यनुमानविलम्बोक्त्यै प्रकरणोक्तिः। अतो अप्राप्तावस्य मन्त्रस्यादाने विधिः सम्भवतीत्याह—**अप्राप्तेति**। कथं तर्हि मन्त्राधिकरणे परिसंख्येति सूत्रमित्याशङ्क्याह—**परिससंख्येति**। एतदेव विवृणोति—**प्रयोजनमिति**। प्रयोजनमितिगर्दभाभिधानीतो निवर्तनादस्य विधेः फलं नास्तीत्यर्थः।

नन्वपदार्थस्याप्यन्यव्यवच्छेदाख्यभेदवाक्यार्थपक्षवद्वाक्यार्थत्वसम्भवात्कस्माद्गर्दभामिधानीतो मन्त्रनिवर्त्तनाद्वाक्यार्थं एव न भवतीत्याशङ्क्याह—**नत्विति**। निवृत्तिहेतुनिर्वर्त्तनाख्यशब्दव्यापारलक्षणार्था निवृत्युक्तिः। प्रवृत्तस्यैव निवर्त्यत्वेनाप्रवृत्तस्य निवर्तनायोगान्न वाक्यार्थो निवर्तनेत्युक्ते, कथं प्रवृत्त एव निवर्त्यते इति नियम इत्याशङ्क्याप्रवृत्त एव प्रवृत्तस्य स्वतो प्रवृत्त्यैव निवृत्तंकार्थसिद्धेर्निवृत्तिसिद्धे निवर्त्तनानर्थक्यप्रसङ्गादित्युक्तम्। कथालिङ्गाद् गर्दभाभिधान्यां मन्त्रप्राप्तेः प्रवृत्त एव प्रवर्त्यतामित्याशङ्का पूर्वोक्ता। प्राप्तावस्थविधिस्मरणेन निरस्यति—**नचेति**। एवं च लिङ्गाच्छ्रुतिकल्पनाभ्युपगमे अपि कल्प्यमानैव पुनः श्रुतिः स्यात्, न प्रत्यक्षेत्याहं—**शीघ्रेति**। परमार्थतस्तु पश्चादपि श्रुत्यननुमानाद्गर्दभरशनायां मन्त्रप्राप्तिर्न कदा चिदस्तीत्याशङ्क्याह—**अश्वेति**। शीघ्रापहृते अर्थेमन्थरानर्थक्यं लोकप्रसिद्ध्या दृढयति—**सो अयमिति**।

ननु लैङ्गिकश्रुत्यनुमानं प्रति बाध एवानन्तर्यात् प्रत्यक्षश्रुतेः फलं स्यान्न तद्व्यवहिता गर्दभरशनातो मन्त्रनिवर्त्तनेत्याशङ्क्यालोचनात्पूर्वं गर्दभरशनातो मन्त्रनिवर्त्तनायां फलतां श्लोकपञ्चकेनापपादयितुमाह—**प्रयोजनं त्विति**। प्रयोजनं यदालोच्यते तदा यद्यश्वरशनामात्रे मन्त्रप्राप्तिमानुमानिकी श्रुतिः, प्रत्यक्षश्रुतिवत् कुर्यात्ततस्तत्प्रतिबन्धे अपि प्रत्यक्षश्रुत्या अनर्थक्यापरिहाराद्रशनाद्वये मन्त्रप्राप्तिप्रतिबन्धस्य फलवत्त्वावगतेर्व्यवहिताया अपि गर्दभरशनातो मन्त्रनिवर्तनाया एव परिशेष्यात्फलत्वं सेत्स्यतीत्युक्ते, कीदृगालोच्यतइत्यपेक्षायां भवत्येति सार्द्धश्लोकेन। लैङ्गिकश्रुतिनिरोधस्य प्रयोजनत्वासम्भवेऽभिहिते लैङ्गिकश्रुतिनिरोधस्याशक्यत्वात्प्रयोजनत्वासम्भवोऽभिहित इति भ्रान्तिनिवृत्त्यै सत्यमित्यनेन प्रयोजनत्वासम्भवे हेतुरुक्तः। किमर्थं त्वरया विहितस्तथेतिप्रश्नस्योत्तरत्वेनैवमर्थं प्रत्यक्षाश्रुतिस्त्वरितेत्युक्तम्। एतदेव सार्द्धश्लोकेन विवृणोति—**केवलेति**। प्रत्यश्रुत्येवानुमानिक्या केवलायामश्वाभिधान्यां मन्त्रविधिर्न सिद्ध्येदिति कृत्वा, यस्मात्प्रत्यक्षश्रुतिराम्नायते, तस्मादपौनरुक्त्यात्प्रत्यक्षा श्रुतिरर्थवती गर्दभरशनातो मन्त्रनिवृत्त्यर्थत्वाच्चेति चकारार्थः वकारार्थोपपादनार्थं पूर्वोक्तं श्रुत्यनुमानं स्मारयति—**तस्मादिति**। फलतः परिसंख्यायां च त्रैदोष्यं नास्तीति व्यतिरेकमुखेन तावदाह—**यदा त्विति**। दार्ढ्यायाऽयमेव परिसंख्यासूत्रार्थो अस्माभिस्तत्राप्युक्त इत्याह—**तदिदमिति**। यथाश्रुतभाष्यदूषणमुपसंहरति—**ततश्चेति**।

इत्यश्वाभिधानीमिति वचनव्यक्त्यन्तरं यदिह वाक्ये भाष्यकृतात्र परिसंख्यासूत्रे

चोक्तम्। तत्र यथाश्रुतत्वादरो न कार्यः किं त्वादानभावनोत्तरकालीनोऽरुणैकहायनीयवन्मन्त्राश्वाभिधान्योः परस्परनियमोत्तरोपलभ्यवचनव्यक्त्यन्तरोक्तिरादानमात्रान्वयनिरासार्थंश्चेत्यादत्तइति वचनव्यक्तिनिरास इत्येवं परिसंख्यासूत्रस्थभाष्यवदिह भाष्यं नेयम्। प्राप्त्युक्तिश्च सम्भवमात्राभिप्रायेति सूचनार्थोऽतीवशब्दः। इह पुनरिति वैषम्योक्त्यर्थं भाष्यमशभिधान्या मन्त्रविशेषणत्वाभावे वैषम्यसामञ्जस्यादयुक्तमाशङ्क्य विधेयस्वायोगोक्त्यर्थत्वाद्विधेयविशेषणस्वनिरासस्य विधेयाश्वाभिधान्यैकत्वस्य वैषम्यमुक्तं भवतीत्येवं समाधातुमाह—नचेति। ग्रहस्याविधेयत्वाद्विशेषणो विधिव्यापारायोगोक्तयेऽल्पाच्तरस्यापि ग्रहशब्दस्याविधेयार्थत्वेनानभ्यर्हितत्वसूचनार्थं परनिपातः।

यथेति दृष्टान्तभाष्यं तात्पर्यतो व्याचष्टे—यथेति। उपघातकारिश्वादिनिराकरणापरत्वाद्वाक्यस्य श्वादीनां निवार्यत्वेन विधेयत्वात्कुतो नोपघातकारिविशेषतेत्याशङ्कां प्रश्नपूर्वकं निरस्यति—कुत इति। श्वादीनामनुपयोगित्वान्निवारणासंस्कार्यत्वसूचनाय रक्ष्यत्वोक्तिः। अन्नाद्यौपघातप्रतिबन्धार्थत्वात् श्वादिनिवारणायाः काकादिभक्षणेवोपघातस्य तुल्यत्वात्तस्यापि वारणाऽवसीयत इत्याशयः। व्यवहारेणोपघातस्य प्राधान्यं सूचयितुं वृद्धश्लोकम्पठति—तथा चाहेति। संख्यामात्राविवक्षायां त्विदमुदाहरणं न युक्तमित्याशङ्कते—नन्विति। एतदेव प्रश्नपूर्वकमुपपादयति—कुत इति। क्व तर्हीदमुदाहरणं युक्तमित्याशङ्क्याह—चमसेष्विति। चमससम्मार्गस्य पूर्वपक्षत्वेनास्थायित्वात्त्रोदाहरणानुपपत्तिमाशङ्क्य, स्थायिनि सिद्धान्तेपीदमुदाहरणं युक्तमित्याह—स्थितेति। क्वेत्यपेक्षायामाह—पशुप्रकरणादिति। संख्यामात्राविवक्षायान्तर्हि किमुदाहार्यमित्यपेक्षायामाह—इह त्विति। एतदेव विवृणोति—वृषलैरिति। न चात्रेति भाष्यविधायकाभावादपि ग्रहैकत्वान्वयविधिर्न सम्भवतीत्युक्ते सम्मार्ष्टीतिशब्दो ग्रहैकत्वान्वयस्य विधायकोऽस्तीत्याशङ्कार्थं नन्वितिभाष्यं संमृजिपरस्य ग्रहसम्मार्गान्वयविधायित्वेन ग्रहैकत्वान्वयविधायित्वायोगादयुक्तमाशङ्क्यैकत्वान्वितस्य सम्मार्गान्वयप्रतीतेरन्वयद्वयविधायकत्वेन व्याचष्टे—नन्विति। न हीत्यादि तथा द्वितीयस्यापीत्यन्तम्भाष्यन्तात्पर्यतोव्याचष्टे—नेति। नवा न हीत्येतावन्निरासप्रतिज्ञानार्थत्वेनच्छित्वा पदश्रुत्या ग्रहोद्देशेन सम्मार्गविविध्यवगतेः श्रुतिविरोधाद्वाक्येन ग्रहैकत्वान्वयविधिर्न सम्भवतीति हेत्वर्थत्वेनैतदित्यादिश्रुतीत्यनेन व्याख्यातः (न विरोधशङ्कानिरासार्थं श्रुत्यसम्भवे चेति भाष्यावयवव्याख्यातुं न हीत्युक्तम्। अत इत्यादिभाष्यशेषस्त्वत्रेत्यनेन व्याख्यातः)।

ननु सम्मार्ष्टीतिशङ्काभाष्यसूचितविशेषणविशेषणस्यापि विधेयत्वोपपत्तिदूषयितुमविधीमानविशेषणतोक्तेति सूचनार्थं भाष्यव्याख्यामध्ये तत्रैकस्तावत्पक्ष इत्यादिपूर्वपक्षवार्तिकोक्तां ग्रहविशेषणस्याप्येकत्वस्य विधेयत्वोपपत्तिं दूषयितुमनुभाषते—यत्त्विति। शुद्धो ग्रहः क्रियाविशेषणम्, एकत्वविशिष्टो वेति विकल्प्या, आद्ये तावद्ग्रहविशेषणस्य क्रियानन्तर्गतौ विधेयता न युक्तो। विशेषणविशेषणस्य क्रियानन्तर्गतौ विशिष्टस्य क्रियान्तर्गत्य-

योगात्संख्यायाः क्रियाविशेषणत्वाभावे शुद्धेनैव ग्रहेण क्रियाविशिष्टत्वापत्तेर्विशिष्टत्वेन विशिष्टत्वायोगादेकत्वविशिष्टसम्मार्गविध्यन्यथानुपपत्तेरर्थापत्त्यमन्तरेणैकत्वविधानमिति यदुक्तं तदयुक्तमित्याशयः ।

न त्वेकत्वविशिष्टस्यापि ग्रहस्य क्रियाविशेषणत्वे द्रव्यविशेषणं यावद्विधिप्रत्ययो न गच्छतीत्येवमेकत्वविधेर्निराकर्तुं शक्यत्वात्पूर्वपक्ष्यनुक्तशुद्धग्रहविशेषणत्वपक्षे दूषणोक्तिरनर्थिकेत्याशङ्क्य विशिष्टस्य ग्रहस्य क्रियाविशेषणत्वपक्षे ग्रहविशेषणस्यैकत्वस्य विधेयत्वनिरासाशक्तिमाह—यदीति । न केवलं विशिष्टस्य विशेषणत्वान्यथानुपपत्त्यैकत्वं पूर्वपक्षे, किं तु क्रियाया विशिष्टेन ग्रहेण विशेष्यत्वान्यथानुपपत्त्यापीत्येवमित्यनेनोक्तम् । भावनाविशेषणतैव तर्हि निराकार्येत्याशङ्क्यैकत्वं सम्मार्गं उच्यतइत्यादिभाष्यव्याख्यानवेलायां निराकरिष्याम इत्युक्तम् ।

श्लोकोक्तस्य दूषणस्यार्थवत्तामुपपाद्य श्लोकं व्याचष्टे—शुद्धेति । विशिष्टत्वनिरासस्य प्रकृतोपयोगमाह—तत्रेति । संख्यापि ग्रहमात्रेण संबद्धेत्येतदुपपादयति—न हीति । भावनानन्वितस्य विध्यशक्तेरिति हेतुसूचनार्थं भावनानन्वितत्वे तच्छब्देनोक्तम् । भावनापि ग्रहमात्रेणेत्येतदुपपादयति—न चेति । ग्रहस्यैकत्वान्वितस्यैव श्रुतत्वात्कथं तथाभूतस्याग्रहणमित्याशङ्क्य ग्रहस्य स्वरूपेण विशेषणभूतेन व्यवहितत्वात्संख्याया भावनान्वयित्वेन नालोचयतीत्युक्तम् ।

ननु ग्रहस्य भावनाविशेषणत्वे सति तुल्यकक्षत्वाद्विशेषणान्तर्भूतैकवान्तरीयकत्वस्यासंस्कार्यत्वेन तु ग्रहस्य प्राधान्याद्विशेष्यत्वावगतेर्भावनयैवैकत्वेनाप्यविरुद्धं विशेषणमित्याशङ्क्याह—नापीति । एकत्वस्य ग्रहविशेषणत्वे भावनाविशेषणत्वस्याप्यपरिहार्यत्वापत्तेः, तस्य चोपरिष्टान्निराकरिष्यमाणत्वाद्भावनां प्रति विशेष्यभूतस्यापि ग्रहस्य नैकत्वविशेषणमित्येकत्वं विशेषणमिति व्यवहितानुषङ्गेण योज्यम् । कथं ग्रहविशेषणमिति व्यवहितानुषङ्गेण योज्यं कथं ग्रहविशेषणत्वे भावनाविशेषणत्वापत्तिरित्याशङ्क्याह—न हीति । भावनानन्वितमेकत्वं विधातुमशक्यत्वान्न ग्रहं विशेष्टुं शक्नोतीत्यविशिष्टमित्यकारप्रश्लेषेण व्याख्येयम् । विशेषणस्य विधेयत्वनिरासमुपसंहरति—तस्मादिति ।

अयं चेति भाष्यं व्याख्यातुं चशब्दसूचितम् । विधीयमानविशेषणत्वोक्त्याक्षिप्तं वाक्यभेदाख्यं तावद्दोषमाह—तथा सतीति । क्रियासाधनत्वेन विधीयमानस्य द्रव्यस्य निर्विशेषणस्याशक्योपादानत्वेन साधनत्वायोगाद् विशेषणस्यापि क्रियासाधनत्वोपपत्तेर्विधीयमानसाधनत्वायोगाद् विशेषणस्यापि क्रियासाधनत्वोपपत्तेर्विधीयमानविशेषणत्वे सत्येकत्वस्य भावनाविधिनाऽऽकाङ्क्षितत्वाद्युज्येताक्षेपः । अनुवाद्यस्य तु यथाप्राप्तग्राह्यत्वेन विशेषणानाकाङ्क्षणाद्भावनाविधिना द्रव्यविशेषणाक्षेपानुपपत्तेरविधीयमानद्रव्यस्य विशेषणविधौ वाक्यभेदापत्तिरित्यविधीयमानविशेषणोक्त्याऽऽशयोऽनेन व्याख्यातः । विधीयमानस्य सम्मार्गस्यानूद्यमानग्रहविशेषकत्वायोगाच्छुद्धस्य ग्रहस्यैकत्वविधावपि सर्वग्रहसम्मार्गोऽपरिहार्य

इत्येवमर्थत्वेनायं चेति भाष्यं व्याचष्टे—**अभ्युपेत्यापि त्विति**। प्रसिद्धसम्बन्धो हि शक्नोति लक्षयितुमित्यत्रत्यभाष्योक्तोपपत्तिरनागतावेक्षणन्यायेन विशेषणं हि प्रसिद्धं भवति। न च विधीयमानवस्थः क्रयः प्रसिद्ध इत्यरुणाधिकरणवार्त्तिकेनोक्तेति सूचनार्थं न हीत्युक्तम्। द्रव्यविशेषणत्वपक्षे विधिग्रहणनिरासमुपसंहरति—**तस्मादिति**। द्रव्यविशेषणभूतस्य तावदित्यन्वयः। क्रियाविशेषणत्वेनैकत्वस्य विधिग्रहणाशङ्कार्थमथेति भाष्यं व्याचष्टे—**अथेति**। भावनां प्रति प्राधान्येन, गुणत्वेन वैकत्वविधिरिति विकल्प्योभयथासम्भवप्रतिज्ञार्थं तत्रापीति भाष्यं व्याचष्टे—**तथापीति**। आद्यकल्पासम्भवोपपादनार्थम्। न तावदिति भाष्यं व्याचष्टे—**तत्रेति**। पश्वेकत्वसाधनत्ववद्ग्रहैकत्वस्य संस्कार्यत्वं द्रव्यद्वारा भविष्यतीत्याशङ्कानिरासार्थं न चेत्यादिभाष्यं व्याचष्टे—**न चेति**। एकत्वस्य द्रव्यादन्यत्वात्। द्रव्याश्रिते संस्कारे कृते नैकत्वं संस्कारः कृतो भवतीत्यनेनोपकरोतीत्यन्तभाष्यावयवे व्याख्याते चक्षुर्वृत्त्यधिष्ठाने कृतस्य संस्कारस्य तदाश्रितवृत्त्युपकारित्ववद्ग्रहे कृतस्य तदाश्रितैकत्वोपकारित्वं भविष्यतीत्याशङ्कानिरासार्थं केन चिदित्यवयवं च व्याख्यातुं ग्रहस्येत्युक्तम्। एवं सति यथा चक्षुर्वृत्त्यर्थोऽपि संस्कारोऽधिष्ठाने वैद्यैर्विधीयते तथैकत्वं प्रयोजनतया द्वारीकृत्य ग्रहस्यैव विधीयते। ततश्च पुनः श्रुतित्वान्नैष्फल्यापत्तिरित्यर्थः। एकग्रहसंस्कारस्यान्यतो प्राप्तेरपौनरुक्त्यमाशङ्क्यानुष्ठानेत्युक्तम्। एकत्वसंस्कारविधानेऽप्येकैकस्य ग्रहस्य संस्कार्यत्वात्संस्कार्यद्वयस्य वान्योन्यविशेषणविशेषणविशेष्यत्वायोगेनैकत्वस्य ग्रहविशेषणत्वायोगात्। द्वितीयादिनिवर्त्तकत्वानुपपत्तेर्वैकत्वविधितोऽनुष्ठानान्यथात्वसिद्धिरित्याशयः।

पश्वेकत्वस्य तु क्रियासाधनत्वेन विधानात्साधनानाञ्चैकक्रियावशीकारनिमित्तान्योन्यविशेषणविशेष्यत्वोपपत्तेर्वैषम्यं वक्तुं पश्वेकत्ववद्ग्रहैकत्वस्य द्रव्येण सह विशेषणविशेष्यत्वरूपान्वयाभावोक्तयर्थत्वेनान्यत्वोक्तिर्व्याख्येया। द्वितीयकल्पस्योपन्यासपूर्वमसम्भवोपपादनार्थमथेत्यादि भाष्यं व्याचष्टे—**एवमिति**। यद्यपीति भाष्यं शङ्कोत्तरत्वेनाऽवतारणपूर्वं व्याचष्टे—**कथमिति**। क्रयाङ्गैकहायनीद्रव्यपरिच्छेदद्वाराऽऽरुण्यं गुणोऽपि क्रयाङ्गमिष्यते, ग्रहस्य तु निष्फलसम्मार्गं प्रत्यङ्गत्वायोगान्न तत्परिच्छेदद्वारैकत्वस्य सम्मार्गाङ्गता युक्तेत्यर्थः। यदीति भाष्यावयवं व्याचष्टे—**अनङ्गमिति**।

नन्वित्याशङ्काभाष्यं व्याचष्टे—**नन्विति**। ग्रहस्य होमनिर्वृत्त्यर्थत्वात्सम्मार्गनिर्वर्त्तकत्वायोगमाशङ्क्य प्रासङ्गिकोक्तिः। क्रियाङ्गभूतेन गुणेन परिच्छेद्यत्वस्य क्रियाङ्गभूतद्रव्यधर्मत्वदर्शनाद्ग्रहस्यानाङ्गत्वेन परिच्छेद्यत्वायोगमाशङ्क्याऽनङ्गमपि साधनत्वे नोपकारिग्रहद्रव्यं विशिषदेकत्वं सम्मार्गस्योपकरिष्यतीति परिहारार्थन्तच्चेति भाष्यावयवं व्याचष्टे—**प्रधानेति**। एतदुपपादनार्थत्वं नावमिकदृष्टान्तद्वयोक्तेः सूचयितुमाह—**न हीति**। न शेषमेवाश्रितः शेष उपकरोतीति नियमः किन्तूपकारिमात्राश्रित इत्यर्थः गुणस्य साक्षात्क्रियासाधनत्वाभावेनाङ्गपरिच्छेदद्वारैवाङ्गत्वावसायान्नानङ्गाश्रितस्याङ्गता युक्तेत्याशङ्क्याह—**शेषत्वं त्विति**। साक्षादेवाङ्गत्वे श्रुत्यावगते पश्चात्तत्सिद्ध्यै द्वारकल्पनाद्यथा-

सम्भवमेव द्वारकल्पनोचितेत्याशयः'। 'अत्रेत्यादि नैतत्किञ्चिदपि कर्तुं विवक्ष्यत' इत्यन्तं परिहारभाष्यं सङ्क्षेपतो व्याचष्टे—**सिद्धान्तेति**। न ब्रूम इति भाष्यावयवव्याख्यार्थं वस्तुवृत्त्यालोचनया ग्रहस्य प्राधान्यक्रियाङ्गगुणपरिच्छेद्यत्वरूपानेकार्थत्वोपपत्तिरुक्ता। किन्तर्हीत्यादि न चैतदेवमित्यन्तावयवव्याख्यार्थं विधिशब्दाशक्त्युक्तिः। सम्बन्धद्वयविधौ वाक्यभेदापत्तेर्द्रव्येण सम्मार्गेण चैकवचनस्यासम्बन्ध इत्युपसंहारार्थं—**तस्मादित्यवयवं** ग्रहस्यैकत्वान्वय एव त्याज्यः न सम्मार्गान्वय इत्यनिश्चयादयुक्तमाशङ्क्य ग्रहैकत्वान्वयस्य परपदार्थत्वेन व्यवहितत्वात्सम्मार्गञ्च प्रति गुणत्वात्त्याज्यत्वोपपादनायोभयत्वस्य हविः-शब्देन व्यवहितत्वाद्विशेषणत्वेन च गुणत्वात्त्याज्यत्वोक्त्यर्थमार्त्यधिकरणभाष्यं दृष्टान्तत्वेन पठितम्।

एकत्वस्य क्रियाविशेषणत्वपक्षे विवक्षानिरासभाष्यमाक्षेप्तुमारभते—**न त्विति**। कस्मिन्प्रकारे अयमाक्षेप इत्याक्षेपविषयं प्रश्नपूर्वं विवृणोति—**कथमिति**। प्राधान्येन क्रियान्वयपक्षे तावदमूर्त्तत्वेनाशक्यसंस्कारत्वं प्रातिपदिकार्थस्यापीष्टप्राधान्यविघातकारि-त्वाददूषणमाह—**यत्तावदिति**। जातेः साक्षात्संस्काराशक्तेः प्रतिमाद्वारा विष्णुपूजावद्व्यक्ति-द्वारा संस्काराभ्युपगमेन परिहारः संख्यायामपि तुल्य इत्याह—**अथापीति**।

जातेर्व्यक्तौ समवायाद्व्यक्तौ कृतस्य संस्कारस्य जातावनौपचारिकतापि संख्यायां तुल्येत्याह—**अथेति**। संस्कारस्यापूर्वसाधननिवेशित्वाद् द्रव्यस्यैव चापूर्वसाधनत्वाद् ग्रह-शब्देन लक्षणया द्रव्यस्यैव संस्कारविध्यभ्युपगमेनापि परिहारः संख्याया द्रव्योपादानोत्तर-कालमव्यापारात्प्राक् व्यापृतायाश्चोपयोक्ष्यमाणसंस्कारानपेक्षत्वात्सम्मार्गस्य चोपयुक्त-संस्कारत्वाभावादेकवचनस्यापि द्रव्यलक्षणत्वापत्तेः संख्यायामपि तुल्य इत्याह—**तथेति**। जातेर्द्रव्याव्यतिरेकान्मूर्त्तत्वमाश्रित्य साक्षात्संस्काराभ्युपगमेनापि परिहारः संख्यायां तुल्य इत्याह—**अथेति**। यदपि न चेति भाष्येण द्रव्यादन्यत्वात्संख्याया द्रव्यद्वारा संस्कार्यत्व न सम्भवतीति दूषणमुक्तं तदपीष्टविघातकारित्वाददूषणमित्याह—**यदपीति**। जातेः संस्कार्य-त्वानभ्युपगमान्नेष्टविघातापत्तिरित्याशङ्क्य, लक्षणाभयादेकवचनस्य द्रव्यलक्षणार्थत्वानभ्यु-पगमे नैकत्वस्य संस्कार्यत्वपक्षे प्रातिपदिकस्यापि द्रव्यलक्षणार्थत्वायोगमापाद्य तुल्यत्वोक्ति-रिति त्वत्पक्षोक्त्या सूचितम्। श्रुत्यैव ग्रहप्रातिपदिकस्य व्यक्तिवाचित्वान्न मत्पक्षे जातेः संस्कार्यत्वापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽकृत्यधिकरणविरोधेन निरस्यति—**अथेति**। विशिष्टाकार-लक्षणोपाधिवशाद्भिन्नासु ग्रहव्यक्तिष्वेकशब्दप्रयोगोपपत्तेर्न ग्रहत्वजातिरस्तीत्याशङ्क्याह—**न चेति**। प्रतिव्यक्त्याकारवैलक्षण्यान्नाकारोपाधिकव्यक्तिवाचिता युक्तेत्यर्थः।

आकारस्यापि संस्थानावयवसन्निवेशापरपर्यायस्य परिमाणविशेषात्मकतया गुणत्वे-नामूर्त्तत्वाज्जातितुल्यत्वापत्तेर्नाकारवाचित्वशङ्कोचिता। प्रत्येकं गृह्यमाणानान्तद्वदेव संस्कारे सतीति च वक्ष्यमाणवार्त्तिकालोचनया ग्रहशब्दस्य कर्मव्युत्पत्त्या गृह्यमाणसोमत्रा-चित्वावसायाद्देवतान्वितद्रव्यवाच्यैन्द्रवायवादिशब्दसमानाधिकरण्यादपि सोमवाचित्वस्यैव न्याय्यत्वाद् ग्रहादिसोमपात्रवाचित्वशङ्कानिराससामर्थ्यप्रदर्शनायेदं वार्तिकं यदपि केन

चित्प्रकारेण नोपकरोतीति विशेषणेनैकत्वार्थमपि ग्रहे एव सम्मार्गस्य कार्यत्वात्, तस्य च सम्मार्गविधिनैव सिद्धेरेकत्वे सम्मार्गविध्यानर्थक्यं सूचितम्। तदप्यनुभाषणपूर्वं परिहरति—यत्त्विति। संस्कार्यत्वे अप्येकत्वस्य स्वतन्त्रस्यासंस्कार्यत्वेन ग्रहविशेषणत्वावसायादर्थाद् द्वितीयादिग्रहनिवृत्त्यवगतेरेकग्रहसंस्कारविधिरित्याशयः। श्लोकं व्याचष्टे—अयमेवेति। पृथक्प्रयोजनोक्त्या भेदोक्तिः प्रयोजनभेदार्थत्वेन व्याख्याता।

गुणत्वप्रतिज्ञायास्त्वर्थैकत्वं सम्मार्गं प्रति गुणभूतमिति भाष्यकृताया प्रणीताधर्मदृष्टान्तेन भाष्यकृतैवोपकार्याश्रिततयोपपादितत्वादयुक्तं दूषणमित्याह—गुणत्वेति। क्रियोपकार्याश्रितेनैवाङ्गेन क्रियाया उपकर्त्तव्यमित्यस्यापि नियमस्याप्रामाणिकत्वाच्छेषाश्रितत्वनियमः सुतरामप्रामाणिक इत्याह—मन्देति। एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—कुत इति। किमर्था सम्बन्ध्यपेक्षाश्रितत्वे इत्याशङ्क्यासम्बद्धैः सम्बद्धानां क्रियासम्बन्धायोगादित्यसम्बन्धिनो गुणताप्युपकार्याश्रितत्वायोपेक्षणीयेत्याशङ्क्याह—न त्विति। प्रधानस्याप्युपकारिता तावद्भाष्यकृतैवोक्ताऽभ्युपगम्यापि त्वनुपकारितामुपकार्याश्रितेनैवोपकर्त्तव्यमिति नियमाभावात्संबन्धिगतयोः शेषशेषित्वयोर्गुणस्य क्रियोपकारित्वापादकानापादकत्वविशेषाभावोक्तिः।

ननु साधनत्वायोगात्परिच्छेदकसंख्यापेक्षत्वेन संख्यान्वयो युक्तः। प्रधानस्य तूपात्तस्यैव संस्कारान्वयेनोपादानार्थसंख्यानपेक्षत्वान्न संख्यान्वयो युक्त इत्याशङ्क्याह—यथा चेति। होमायोपात्तस्यापि ग्रहस्य संस्काराय किं संख्यस्योपादेयतेत्यपेक्षोपपत्तेः प्रधानस्यापि संख्यान्वयो युक्त इत्याशयः।

ननु यावदुपात्तं, तत्सर्वं सम्मार्ष्टव्यमिति नियमाभावेन सम्मार्गान्वये अनवगतसंख्यत्वाद् ग्रहस्य संख्यापेक्षणेऽपि सम्मार्गस्य प्रकृतापूर्वसाधनीभूतग्रहविषयतया ज्ञातत्वेनानवगतसंख्ये अपि ग्रहे अनुष्ठातुं शक्यत्वात्संख्यायाः क्रियोपकारित्वानुपपत्तेः। क्रियाङ्गत्वं न सम्मार्गस्य प्रकृतापूर्वसाधनीभूतग्रहविषयतया ज्ञातत्वेनानवगतसंख्येऽपि ग्रहेऽनुष्ठातुं शक्यत्वात्संख्यायाः क्रियोपकारित्वानुपपत्तेः, क्रियाङ्गत्वं न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—एतावच्चेति। क्रियाया अनुष्ठानानौपयिकत्वेऽपि संस्कार्यपरिच्छेदद्वारा क्रियान्वयात्तदङ्गत्वसम्भवः प्रधानापेक्षयोः क्रियासम्बन्धकारणोक्त्या सूचितः। अभ्युपगम्यापि प्रधानसंख्यायाः साक्षात्क्रियानुपकारितां क्रियाङ्गत्वं सम्भवतीत्युक्तम्।

वस्तुतस्तु प्रधानमुपकुर्वन्त्या संख्यायाः प्रधानोपकारिण्याः साहाय्यकरणात्साक्षादपि संख्यायाः क्रियाङ्गता वक्तुं शक्येत्याह—अपि चेति। श्लोकं व्याचष्टे—क्रियया हीति। फलसम्बन्धात्स्वामियुक्तं प्रधानस्येत्यत्र यजमानसंस्काराणां प्रधानाश्रितानामपि क्रियाङ्गत्वस्य वक्ष्यमाणत्वाद् ग्रहसंख्यायामपि च तन्न्यायसाम्यात्प्रधानाश्रितायाः क्रियाङ्गता न विरुद्धेत्याह—यजमानेति। यापि वस्तुशक्त्यालोचनया प्रधानाश्रितस्याप्येकत्वस्य क्रियाङ्गत्वसम्भवेऽपि सम्बन्धद्वयविधौ वाक्यभेदापत्तेरेकत्वस्याविधेयतात्रोच्यत इत्यादि भाष्येणोक्ता। सा पश्वेकत्वस्याप्यविधेयत्वापादकत्वेनेष्टविघातकरत्वादयुक्तेत्याह—एवमिति। अविशिष्टतामुपपादयति—तत्रापि हीति।

ननु पशोरप्राप्तत्वेन विधेयत्वात्तद्द्वारा लिङ्गसंख्ययोः क्रियाविशेषणत्वेन विधेयत्वोपपत्तेर्विशिष्टविधानाद्वाक्यभेदः परिहर्तुं शक्यः। ग्रहस्य तु प्राप्तत्वेनाविधेयसंख्याद्वारत्वानुपपत्तेः। स्वतन्त्रस्य च गुणस्य निष्क्रियत्वेन क्रियासाधनतया विध्ययोगाद् ग्रहसंख्याभ्यां विशिष्टायाः क्रियाया विध्यनुपपत्तेर्ग्रहोद्देशेन सम्मार्गं विधाय निवृत्तव्यापारस्य विधायकस्यावृत्तिं विना संख्याविधायित्वायोगादपरिहार्यो वाक्यभेद इत्याशङ्क्याह—अथापीति। स्वरूपेण होमाङ्गत्वेन च प्राप्तस्य सम्मार्गसंस्कार्यत्वेनाप्राप्तेर्विधेयत्वसम्भवाद्विशिष्टविधानादवाक्यभेदोऽत्रापि तुल्य इत्यर्थः। ग्रहैकत्वस्योद्देश्यविशेषणत्वान्नोपादेयविशेषणपश्वेकत्वतुल्यतेत्याशङ्क्याह—तदिहेति।

उद्देश्यस्यापि विधिस्पर्शाद्विशेषणविवक्षा सम्भवतीति। वक्ष्यमाणोऽभिप्रायः। उपहासायाऽन्यथा वेत्युक्तम्। भिन्नप्रसरत्वेनोद्देश्योपादेययोर्युगपदेकक्रियाविशेषणत्वायोगाद्युगपदुभयविशिष्टक्रियाविध्यशक्तेर्वाक्यभेदोऽपरिहार्यं इत्याशङ्क्याह—अपि चेति। ग्रहोद्देशेनैकत्वविशिष्टक्रियाविधिनैवोभयविशिष्टक्रियाविधिनैवोभयविशिष्टक्रियाविधिसिद्धेर्न वाक्यभेदापत्तिरित्याशयः। अविवक्षापादकोद्देश्यपदोक्तत्वेनाविवक्षितादेकत्वाद्यथदान्तरोक्तत्वेन दशापवित्रादेर्विशेषमाशङ्क्याह—यस्त्विति। नोद्देश्यपदमविवक्षापादकमिति वक्ष्यमाण एवाशयः। किञ्चिद्वैलक्षण्यमात्रेणातुल्यन्यायत्वाभ्युपगमे तुल्यन्यायविषयत्वाभावान्न क्वचिदनुमानाङ्गं दृष्टान्तः नाप्युपमानव्यवहाराङ्गमुपमा स्यादित्यर्थः। विशेषालोचने चैकपदोक्तत्वाच्छीघ्रप्रतीतेर्वरङ्ग्रहैकत्वमेव विवक्षितं स्यादित्याह—किञ्चेति। उद्देश्योपादेययोर्विशेषणविवक्षायामविशेषमुपसंहरति—तस्मादिति। उद्देश्याविधेयत्वात्तद्विशेषणस्य विधेयत्वायोगमाशङ्क्याह—अस्ति हीति। ग्रहान्वयित्वेन सम्मार्गो विधीयमाने स्वरूपेणाविधीयमानोऽपि ग्रहः सम्मार्गान्वयिरूपेण विहितो भवतीत्याशयः। इममेवाशयमाशङ्कापूर्वं विवृणोति—अथेति।

ग्रहस्य प्रकृतापूर्वसाधनत्वात्संस्कार्यत्वावगतेर्द्वितीयासंयोगावगतसंस्कारत्वसम्मार्गान्वयप्राप्तचा विध्यनर्हत्वे पशोरपि द्रव्यत्वेन साधनार्हत्वावगतेः साधनापेक्षयागान्वयप्राप्तचा विध्यनर्हत्वोपपत्तिरिति पर्यनुयोगसाम्यमाह—अथ ज्योतिष्टोमे इति। पशोः सामान्यतः साधनापेक्षक्रियान्वयप्राप्तावपि यागाख्यक्रियान्वयाप्राप्तेर्विध्यर्हत्वे ग्रहस्यापि सम्मार्गाख्यसंस्कारविशेषान्वयाप्राप्तेर्विध्यर्हत्वोपपत्तिरिति परिहारसाम्यमाह—अथासाविति।

सम्मार्गस्य ज्योतिष्टोमान्तर्गतत्वात् ज्योतिष्टोमान्तर्गतसन्निहितग्रहोद्देशेन विध्युपपत्तेर्ग्रहस्य सम्मार्गान्वयप्राप्तिसम्भवा द्विध्यनर्हत्वे यागस्यापि लोकान्तर्गतत्वाल्लोकान्तर्गतत्वापादितसन्निधानपशूद्देशेन विध्युपपत्तेः। पशोरपि यागान्वयप्राप्तिसम्भवाद्विध्यनर्हत्वापत्तिरिति परिहाराशक्तिसाम्यमाह—अथ सम्मार्गस्येति। सन्निध्यविशेषः शक्यं हीत्यनेनोक्तः। यः पशुरिति लोकप्राप्तपशुस्वरूपानुवादेऽपि यागानुष्ठानापाद्यत्वलक्षणोपादेयत्वोपपत्तेर्विधेयत्वं युक्तम्, ग्रहस्य तु संस्कार्यत्वेनाऽनुपादेयत्वान्न युक्ता विधेयतेति वैषम्यमाह—उद्दिश्यमानत्वात्त्विति। विध्यनुवादशब्दौ कर्मव्युत्पन्नौ। चत्वारोऽपि विध्यादिशब्दा भाव-

प्रत्ययाध्याहारेण व्याख्येयाः। अत्यन्तभेदमेवान्वयव्यतिरेकाभ्यामुपपादयति—अथाहीति। देशकालयोरनापाद्यत्वेनोद्देश्यत्वसद्भावेऽप्यप्राप्तत्वेनानुवाद्यत्वाभावात्पश्वालम्भस्य वा चोद्यत्वलक्षणोपादेयत्वसद्भावेऽपि 'शमिता पशुङ्कण्ठे गृह्णाती'ति ग्रहणविधिप्राप्तत्वेन विधेयत्वाभावाद्विधेयानुवाद्यत्वयोद्देश्योपादेयत्वयोरपि भेद इत्यर्थः।

ननु देशकालयोरुद्देश्यत्वेऽपि अङ्गत्वेन क्रियाविशेषणत्वाद्विधेयत्वोपपत्तिर्ग्रहस्य तु प्राधान्याद्विशेषणत्वानुपपत्तेर्विशेषणत्वाभ्युपगमे चैकत्ववद्ग्रहस्याप्यङ्गत्वापत्तेर्न्न युक्ता विधेयतेत्याशङ्क्याह—**तस्मादिति**। प्रधानस्यापि राजवद्विशेषणत्वाविरोधाद् ग्रहस्यापि क्रियाविशेषणत्वेन विधेयत्वोपपत्तेः। तत्परिच्छेदद्वारा क्रियासाधनत्वेनैकत्वविधिसम्भवो दृष्टान्तव्याजेनोक्तः। अविरोधोपपादनायाऽर्थादित्युक्तम्। यदा च ग्रहस्य विधेयतोपपादिता तदा तदेकपदोपादानादप्येकत्वस्याविधेयता न युक्तेत्याह—**किञ्चेति**। कर्मव्युत्पन्नौ विध्यविधिशब्दौ।

पूर्वार्द्धं व्याचष्टे—**एकस्मिन्नेवेति**। विधानाद्धेतोरनुष्ठानं प्रति विषयत्वेनाश्रीयते इत्यर्थः। उत्तरार्द्धं व्याचष्टे—**न चेति**। स्वातन्त्र्यानियतयौगिकत्वात्प्रकृतिप्रत्यययोः प्रकृत्यर्थं विशिष्टप्रत्ययार्थरूपैकार्थगमकत्वेनैकपद्येऽपि प्रात्यात्मिकार्थभेदात्पदान्तरताप्युपपन्नेत्याशयेनाशङ्कते—**गमकत्वादिति**। अतिप्रसङ्गापत्तेः पदशब्दस्य यौगिकत्वं निरस्यति—**नेति**। वर्णसंघत्वे अपि गमकत्वविशेषणे अतिप्रसङ्गमाह—**एकस्मिन्नपि चेति**। वार्तिकालोचनयापि पदशब्दः प्रकृतिप्रत्ययसङ्घवाच्येवेत्याह—**पदमिति**। पदान्तरत्वाभ्युपगमेऽप्येकप्रयोक्तयोः कर्मत्वैकत्वयोर्विधेयाविधेयत्ववैषम्यं न युक्तमित्याह—**अभ्युपेत्यापि त्विति**।

उक्ताया अपि संख्याया विध्यनन्वयोदविवक्षा भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**अविवक्षायामिति**। एतदेवोपपादयति—**यावदिति**। अन्वयश्च वाक्यार्थ इत्यर्थ इत्याशयः। ततश्चेह ग्रहसंख्याविध्यनन्वये विभक्तेरश्रुतेः समत्वापत्तेः कर्मत्वस्यापि विध्यनन्वयप्रसङ्ग.द् ग्रहस्य संस्कार्यतैव न स्यादित्याह—**तदिति**। द्वितीयां विनापि प्रयोजनत्ववात्प्रयाजशेषवत्संकार्यसिद्धि शङ्कते—**प्रयोजनवत्त्वादिति**। सामान्यक्रियान्वयपूर्वकत्वाद् गुणप्रधानत्वरूपविशेषान्वयस्य कारकविभक्त्यभावे सामान्यतोऽन्यतोऽन्वयाभावाद् विशेषान्वयासिद्धिरित्याशयेन निरस्यति—**नेति**। एतदेव विवृणोति—**न हीति**। अतः कर्मत्वस्यात्याज्यत्वात्तदर्थं विभक्त्यादरापत्तेः संख्यात्यानायोगान्न सर्वसम्मार्ग सिद्धिरितिसिद्धान्ताक्षेपमुपसंहरति—**तेनेति**।

कर्मत्वप्रतीत्यर्थं विभक्त्यादरेऽप्येकत्वं त्यक्ष्यतइत्याशङ्क्य, विभक्त्यर्थैकदेशात्त्याज्यत्वोक्तिः।

अशक्यत्वमेव श्लोकत्रयेणोपपादयति—**तथा हीति**। एकपदोक्तस्य ग्रहस्यैकप्रत्ययोक्तस्य च कर्मत्वस्याविवक्षयेत्यर्थः। सदसत्त्ववच्छ्रुताश्रुतत्वकल्पनैकस्य विरोधान्न सम्भवतीत्युक्ते श्रुतस्यापि शब्दस्य कश्चिदर्थो विधिनास्याविवक्षयेत्यर्थः। सदसत्त्ववच्छ्रुताश्रुतत्वकल्पनैकस्य

विरोधान्न सम्भवतीत्युक्ते, श्रुतस्यापि शब्दस्य कश्चिदर्थो विधिनो ग्रहीष्यते कश्चिन्नेत्याशङ्क्य श्रुतेत्युक्तम् ।

तथा शब्दातिदिष्टं विरोधं द्रढयितुमर्द्धं कुक्कुट्याः पच्यताम्, अर्द्धं प्रसवाय धार्यतामिति लोकप्रवादायातं पाशुपतं वाक्यं नैकस्यःवस्तुनोऽर्द्धजरतीयं कथमनेन कुक्कुट्यर्द्धस्य वा पाकः प्रसवायार्द्धधारणमिति वार्त्तिकालोचनया दृष्टान्तितं गम्यते । ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलमिति उत्तरपदसमासे संज्ञायां ङीपो ह्रस्वविकल्पस्मृतेः ह्रस्वत्वाविरोधः ।

सिद्धान्तमाक्षिपन्तावत्समाधातुमाह—अत्रेति । प्राधान्येनैकत्वस्य क्रियान्वये ग्रहं सम्मार्ष्टयेकं सम्मार्ष्टीति प्रत्येकं वाक्यसमाप्तचाऽन्योन्यानपेक्षयोर्ग्रहैकत्वयोः क्रियान्वयोपपत्तेः एकत्वविक्षायामपि सर्वग्रहसम्मार्गप्रसङ्गान्निष्फलाविवक्षा गुणभूतत्वेन त्वेकत्वविवक्षा द्वितीयाविरोधान्न युक्तेत्यर्थः । पूर्वार्द्धं व्याख्यातुमुपक्रमते—यदा हीति । विधायकावृत्तिलक्षणो पर इति तावच्छब्दार्थः । ननूद्देश्ययोरन्योन्यानन्वयाद्वाक्यभेदे सत्युपादेययोरप्यन्योन्यानन्वयादरुणया क्रीणात्येकहायन्या क्रीणातीति प्रत्येकवाक्यसमाप्तिलक्षणवाक्यभेदापत्तिरित्याशङ्क्याह—उपादेयेति । उपादेयानां साधकत्वेन क्रियान्वयात्तस्याश्चानेकसाधनसाध्यत्वेनैकैकसाधनान्वयमात्रेणापर्यवसानात्समुदाये वाक्यसमाप्तेर्न्न वाक्यभेद इत्याशयः ।

ननु ग्रहैकत्वयोः साधनत्वेनानन्वयेऽपि वस्तुतः साधनत्वस्यापि सद्भावेन क्रियां प्रति गुणत्वात्तद्वशीकारेणान्योन्यनियमस्तावत्सेत्स्यतीति, समुदाय एव वाक्यसमाप्तेर्न्न वाक्यभेदो अपोत्याशङ्क्याह—अस्मिन्नेव चेति । क्रियोद्देशेन विनोपकारित्वे अप्यङ्गत्वायोगान्नोद्देश्यत्वपक्षे क्रियावशीकारः सम्भवतीत्यन्योन्यानपेक्षयोर्ग्रहैकत्वयोः कर्मत्वरूपकर्त्तव्यत्वावगमात्प्रत्येकं वाक्यसमाप्तिर्दुःपरिहरेत्याशयः । नन्वेकत्वस्य द्रव्यानपेक्षस्य संकर्त्तुमशक्यत्वान्न तन्मात्रान्वये वाक्यसमाप्तिः सम्भवतीत्याशङ्क्याह—तदिहेति । ग्रहस्य निर्ज्ञातदशसंख्यत्वात्, संस्कारान्वयंस्य वाऽपूर्वसाधनत्वप्रयुक्तत्वेन यथाप्राप्तस्यैव संस्कारान्वयावगतेः संख्यानपेक्षत्वादन्यतराकाङ्क्षामात्रेण चान्योन्यान्वयायोगात्संख्यान्तरावरुद्धस्य चैकत्वान्वयायोगंनैकत्वाकाङ्क्षयापि ग्रहस्याकाङ्क्षोत्थापनायोगाद् ग्रहानपेक्षस्यैकत्वस्य संस्कार्यत्वोपपत्तिरित्याशयः । एवं सति स्वतन्त्रस्यैकत्वस्य संस्कर्त्तुमशक्यत्वात्कस्मिश्चिदाश्रयभूते द्रव्ये अनुक्तेऽप्यपेक्ष्यमाणे यद्येकपदोक्तत्वाच्छीघ्रं वुद्धिस्थत्वाद् ग्रह एवाश्रयोऽभ्युपगम्येत, ततो द्वयोः संस्कार्ययोस्तन्त्रेण संस्कारे सम्भवत्यावृत्त्ययोगादन्योन्यसापेक्षयोः संस्कारकरणापत्तेरन्योन्यानपेक्षसंस्कारान्वयेन यत्प्रत्येकं संस्कार्यत्वलक्षणं प्राधान्यं शास्त्रेणावधृतम् । तद् बाध्येतेत्याह—तत्रेति । अविहितसम्मार्गद्रव्यान्तराश्रयत्वाभ्युपगमे तु किं तदित्यज्ञानादव्यवस्था स्यादित्याह—अथेति । अज्ञानमेवोपपादयति—न हीति । सर्वस्य स्वरूपेणैकत्वादन्यापेक्षया चानेकत्वादन्यानपेक्षत्वेनैकत्वावधारणहेतोश्चैकः पुरुषोऽस्मिन्न गृहइतिवत्कस्यचिदवच्छेदकस्याभावाद्यथा ग्रहत्वोपलक्षितं द्रव्यं निर्द्धारितरूपं प्रकरणे दृश्यते नैवमेकत्वोपलक्षितमित्यर्थः ।

तत्प्रकरणस्थत्वविशिष्टमेकवचनान्तशब्दचोदितत्वमेकत्वेन संख्येयस्य द्रव्यस्यावच्छेदकं भविष्यतीत्याशङ्कते—नन्विति। 'चमसाध्वर्यूंन्वृणीत' इत्याद्युत्पत्तौ बहुवचनान्तशब्दचोदितानां चमसाध्वर्य्वादीनां चमसांश्चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति, तान्स वषट्कर्त्रे हरतीत्याद्येकवचनान्तशब्दविनियुक्तानामुत्पत्त्युक्त्या व्यावृत्तिः। 'यूपं छिनत्त्यौदुम्बरी भवति, सदो मिनुयादित्याद्येकवचनान्तशब्देनोत्पत्तौ ज्योतिष्टोमप्रकरणचोदितानामपि बहुत्वात्किमेवं सम्मार्ष्टव्यमिति निर्द्धारणाशक्तेर्न्नेदमप्यवच्छेदकं सम्भवतीति परिहरति—नेति। सर्वेषामेकवचनान्तेन शब्देनोत्पत्तौ ज्योतिष्टोमप्रकरणे विहितानां द्रव्याणां सम्मार्गोऽस्त्वित्याशङ्कते—अथेति। परिहरति—नेति। विकल्पेन सम्मार्गः, समुच्चयेन वेति विकल्प्य, अद्यकल्पे तावच्चोदितहानिमाह—तथा हीति। बहुष्वपि पुरोडाशकपालेषु सत्स्वेकेनैव तुषोपवापेऽपि, यथा न चोदितहानिस्तथेहापीत्याशङ्कयाह—गुणेति। द्वितीयकल्पे तु चोदितहानिः, अचोदितकरणं चेत्याह—यदीति।

ननु युगपत्सर्वं सम्मार्गे संख्यान्तरोपजनः स्यादिह त्वेकत्वोद्देशेन विधीयमानस्य सम्मार्गस्यैकत्वान्वयित्वेनानुगतेर्यौगपद्ये च तद्रूपानुष्ठानासिद्धेः प्रत्येकं सम्मार्ष्टव्यत्वावगमान्न संख्यान्तरोपजननापत्तिरित्याशङ्कयाह—वीप्सार्थश्चेति। अश्रुतवीप्सार्थकल्पनापत्तेर्न प्रत्येकानुष्ठानं विधातुं शक्यमित्याशयः।

नन्वेवं सति ग्रहस्यापि प्रत्येकं सम्मार्गविधिसिद्धयै ग्रहं ग्रहमिति वीप्सार्थकल्पनापद्येतेत्याशङ्क्य, प्रत्येकं सम्मार्गस्य विद्वचनपेक्षित्वसूचनार्थं 'सर्वाणि हवींष्यमृशती'त्यादौ हविष्ट्वादिजात्युद्देशेनाभिमर्शनादिसंस्कारविधौ युगपदनेकसंस्कृतावपि न जात्यन्तरापत्तिर्येन प्रत्येकमावृत्त्याऽभिमर्शनादि विधीयते, क्वचिद्वा शुक्लादिगुणान्तरोद्देशेन युगपदनेकत्र सम्भवदनुष्ठानावेक्षणादिसंस्कारविधौ युगपदनेकग्रहसम्मार्गेऽपि जात्यन्तरानापत्तिमुक्तामप्यबुध्यमानं प्रति विशेषनिष्ठक्त्याक्षरत्रयन्यूनपादत्रयेण विवृणोति—तथा हीति। यथा युगपदनेकद्रव्यान्तरसम्मार्गे संख्यान्तरोद्भवः। तथा युगपदनेकग्रहसम्मार्गेऽपि ग्रहत्वाज्जात्यन्तरस्योद्भवो नास्तीत्यर्थः। याज्ञिकानां तर्हि प्रतिग्रहं सम्मार्गावृत्तिर्विरुध्येतेत्याह—इतीति। 'प्रत्येकं गृह्यमाणानामिति' वार्त्तिकवक्ष्यमाणप्रतिग्रहसम्मार्गावृत्तिहेतुसूचनायेतिकरणः। एवमपि सकृदनेकग्रहसम्मार्गानुष्ठानस्य जात्यन्तरानापादकत्वेन ग्रहसंस्कार्यत्वव्याघातकत्वाभावाद् ग्रहस्य संस्कार्यत्वनिर्द्धारणार्थविधेः प्रतिग्रहं सम्मार्गावृत्तिविधायित्वाभावेऽपीत्यध्याहृतापिशब्दकैवंशब्दार्थः। एतीत्यस्मिन्नर्थे समर्थादिणः क्विबन्तात्सप्तम्याम् इतीति रूपम्। सकृत्सर्वग्रहसम्मार्गस्य जात्यन्तरानापादकत्वाद् ग्रहसंस्कार्यत्वाव्याघातकत्वमात्रपरामर्श्येवंशब्दः। एवं युगपत्सर्वसम्मार्गस्य जात्यन्तरानापादकत्वेन ग्रहार्थत्वाबाधकत्वादावृत्तिमविधायापि इति गच्छतिः पर्यवस्यत्यपि भिन्नकालग्रहणानन्तरकालत्वादल्पपरिमाणदशापवित्रसाधनकत्वाच्च सम्मार्गस्य सकृत्सर्वत्रानुष्ठातुमशक्तेः सामर्थ्यादापन्नावृत्तिर्नैव विरुध्यत इत्यर्थः।

एवं तर्ह्यनेनैव न्यायेन सर्वेष्वप्येकत्वयुक्तेषु द्रव्यान्तरेषु संस्क्रियमाणेष्वावृत्तिसिद्धेरनुष्ठानवेलायामेकैकस्यैव सम्मार्गान्वयदर्शनात्संख्यान्तरोपजननिमित्तचोदितहान्यचोदितकरणापत्तिलक्षणविरोधानापत्तेस्तत्परिहारार्थं प्रत्येकमावृत्त्याऽनुष्ठानविधिसिद्ध्यै वीप्सार्थकल्पनानापत्तिरित्याशङ्कते—**तत्रेति**। वीप्सार्थकल्पनापत्तिभयात्प्रत्येकानुष्ठानाविधानेऽपि सामर्थ्यात्प्रत्येकानुष्ठानसिद्ध्या संख्यान्तरोपजननिमित्तश्रुतहान्यश्रुतपरिग्रहापत्तिविरोधपरिहाराभ्युपगमे सति ग्रहैकत्वविवक्षायामपि सर्वग्रहसाद्गुण्यार्थत्वन्यायापन्नसर्वसम्मार्गाविरोधाद्विवक्षोक्तिर्निष्फला स्यादित्याह—**तथा सतीति**। श्लोकं व्याचष्टे—**न हीति**।

सर्वग्रहसम्मार्गेऽपि प्रत्येकमनुष्ठानसिद्धिरेकत्वविवक्षाफलमित्येकदेशी शङ्कते—**नन्विति**। गृह्यमाणानां सोमानामावृत्त्यैवाधोऽवयवपातात्तन्निर्हरणार्थः सम्मार्गस्यावृत्त्या च गृह्यमाणानामावृत्त्यैवाधोऽवयवपातात्तन्निर्हरणार्थः सम्मार्गोऽप्यावृत्त्यैव स्यादित्याशयेन परिहरति—**नैतदिति**। ग्रहणोत्तरकालान्वयिसम्मार्गस्य नैरन्तर्यविवक्षा 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वे'ति स्मृतिमालोच्य गृह्यमाणानामित्युक्तम्। अस्माच्च वार्त्तिकाद् ग्रहशब्दस्य ग्रहणसंस्कृतसोमवाचित्वप्रतीतेः 'स एव इन्द्रतुरीयो ग्रहो गृह्यते यदैन्द्रवायव 'इत्यादौ चैन्द्रवायवादिशब्दसामानाधिकरण्यात्पात्रसोमावयवान्वयाभावेनैन्द्रवायवादिशब्दवाच्यत्वायोगात्साक्षाच्च यागसाधनसोमसंस्कारसम्भवे व्यवहितोपयोगेन पात्रस्यासंस्कार्यत्वाद् ग्रहणादिसोमसंस्कारप्रस्तावाच्च सम्मार्गस्य सोमसंस्कारत्वप्रतीतेः पात्रस्य च गृह्यमाणावसिक्तसोमावयवस्य सम्मार्गेऽशुचित्वानापत्तेस्तन्निर्हरणार्थं सम्मार्गानपेक्षत्वात्सोमस्य तु विहितात्प्रदेशाद् बहिर्वृत्तौ वैगुण्यापत्तेः तन्निरासार्थं सम्मार्गापेक्षत्वादपेक्षितविध्येऽपि सोमसंस्कारत्वावगते राकलशेषु धावतिपवित्रे परिषिच्यते' इत्यादिमन्त्रलिङ्गादप्येवमेवावगतेर्ग्रहादि सोमपात्रम्, यस्मिन्पात्रेऽस्य सोमस्य ग्रहणे क्रियमाणे सोमो व्यवसिच्यते इत्याशङ्कां 'सत्सर्वं सम्मार्ज्जयितव्यमिति चमसाधिकरणभाष्यस्य च पात्रश्लिष्टसोमसंस्कारार्थमपि क्रियमाणस्य सम्मार्गस्य नान्तरीयकपात्राश्रितत्वाशयतया व्याख्यातुं शक्यत्वान्न ग्रहपात्रं सम्मार्ष्टव्यमिति भ्रमितव्यम्। नानापात्रेषु गृह्यमाणानां सोमानां युगपत्सम्मार्गाप्रसङ्गेऽपि वायव्यैन्द्रवायवयोः सोमयोरेकस्मिन्पात्रे गृह्यमाणयोर्यौगपद्यप्रसक्तौ तन्निरोधो विवक्षाफलं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**अभ्युपेत्येति**। स्वतन्त्रस्यैकवाक्यस्याप्रतीतेः स्वतन्त्रं चाग्रहत्वनिरपेक्षमेकत्वं, यस्य द्रव्यान्तरस्य तस्याप्रतीतेर्ग्रहतत्वेनैकत्वविवक्षामभ्युपेत्य नैष्फल्योक्तिः।

वस्तुतस्तु वाक्यभेदापत्तेर्नैकत्वविवक्षा संभवतीत्याशयः। द्रव्यान्तरगतत्वेनैकत्वविवक्षानिरासमुपसंहरति—**अतश्चेति**। सम्मार्गस्यैकत्वांशेन योऽन्वयः तस्य द्रव्यविशेषनिष्ठतयाऽनवधारणेनेत्यर्थः। द्रव्यान्तरस्थत्वेन विवक्षाभ्युगमेऽपि न सिद्धान्तहानिरित्याह—**यद्यपि चेति**। अनेन प्राप्नोति हि प्रधानस्येति पूर्वार्द्धं व्याख्यातम्। प्राधान्यनैकत्वस्य क्रियान्वयपक्षे सर्वग्रहसम्मार्गापत्त्युक्तेः संख्योद्देशेन संस्कारविध्ययोगोक्त्यर्थत्वं दर्शयितुमाह—**तस्मादिति**। 'यूपं छिनत्त्यग्नीनादधीत, चमसाध्वर्यून् वृणीत इत्या'दावप्रासोद्देश्यगताया संख्यायाः विवक्षाभ्युपगमात्तस्याश्च द्वितीयाविरोधापत्तेर्गुणत्वेन क्रियान्वया-

योगाद्यथासंख्योदेशेन छेदनादिसंस्कारो विधीयते, तथाऽत्रापि भविष्यतीत्याशङ्क्य यूपादेरनवगतसंख्यत्वेन परिच्छेदकसंख्यापेक्षत्वाद्विधेयत्वाच्च तत्परिच्छेदकत्वेन संख्याविध्युपपत्तेर्द्वितीयाविरोधात् क्रियान्वयायोगेऽपि संख्याविशिष्टयूपादिविशिष्टपृच्छेदनादिक्रियाविध्यन्यथानुपपत्तिकल्पितेन विधिना क्रियाविशेषणीभूतयूपविशेषणत्वेन संख्याविध्यगमात्संख्याविशिष्टयूपादेरुद्देश्यत्वेऽपि संख्याया नोद्देश्यतेति सूचनार्थं कश्चिदित्युक्ते विधेयत्वे यूपादिसंख्याया द्वितीयया संस्कार्यत्वापत्तेर्देवदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तमित्यादौ वाऽनेकत्र लोकवेदयोर्दर्शनेन प्रत्येकं वाक्यसमाप्तेरदोषत्वात्कस्माद्यूपं छिनत्तीत्यादौ न संख्योद्देशेन संस्कारो विधीयतइत्याशङ्क्य, संख्यायाः स्वकीयगोचरे वर्गे लक्षणं स्वभाव एवैष इत्युक्तस्वभावोपपादनायोद्दिश्यमानानां पुनरवशीकृतत्वादिवार्त्तिकोक्तोपपत्तिस्तस्माच्छब्देन परामृष्टा । गुणभूतविवक्षा त्वित्युत्तरार्द्धं व्याचष्टे—अथ त्विति । वैरूप्याशयत्वेन विरोधोक्तिव्याख्यानायैकत्ववचचेत्याद्युक्तम् ।

प्रयोजनवत्तयैव ग्रहस्य प्राधान्यसिद्धेर्द्वितीयायास्तात्पर्ये नैष्फल्यापत्तेर्ग्रहस्यापि च क्रियान्वयसिद्ध्यै कारकत्वस्यावश्यप्रतिपाद्यत्वान्निर्विशेषस्य च सामान्यस्यापर्यवसानात्

सर्वे पाकादिसम्बन्धे द्व्याकारस्तन्दुलादयः ।

इत्यनेन च न्यायेन साधनत्वस्याप्युपपत्तेः साधनस्य चाङ्गत्वप्रसिद्धेरवैरूप्यायाङ्गतैव द्वयोर्द्वितीयार्थं इत्याशङ्कते—तत्रेति । ग्रहाङ्गत्वे तात्पर्य्याभावसूचनार्थस्तावच्छब्दः । साधनत्वेऽपि ग्रहस्य प्रासङ्गिकोपकारित्ववदनङ्गत्वादविद्यमानाङ्गत्वोक्तिः । शाब्दस्य च प्राधान्यस्यार्थता न युक्तेति परिहरति—तत्रेति । यदि तु कथंचित्सगुणभावः ततः पश्चादपि स एव विवक्ष्येत, न प्राधान्यमित्यादावित्यनेनोक्तम् । अशाब्दस्य प्राधान्यस्य शब्दक्रियानान्वयात्पश्चादपि शाब्दत्वाभ्युपगमापत्तेर्विप्रकर्षप्रसङ्गाच्छब्दात्सम्भवतः प्राधान्यस्यार्थत्वायोगमुपपादयन् श्लोकं व्याचष्टे—सर्वैवेति ।

श्रुतिवशाद्यत्प्राधान्यङ्गम्यते, तद्यदि तावद्वास्तवत्वेन गृह्यते, ततः प्रागपि प्राधान्यमेव ग्राह्यम्, न गुणत्वम् । प्राधान्यासम्भवात्तु द्वितीयाश्रुतौ लक्षणाश्रयणे पुरोडाशकपालवत्प्रयोजनवत्त्वेऽपि गुणत्वस्यैव शास्त्रीयत्वात्पश्चादपि गुणभाव एव विवक्षित इत्यर्थः । असम्भवस्य वैरूप्याय काल्पनिकत्वात्सम्भवस्य च वास्तवत्वादविरोधमाशङ्क्याह—युगपच्चेति । विरोधपरिहारसम्भवेऽपि सम्भवासम्भवपरिग्रहनिमित्तस्यालोचनविक्षेपनिमित्तस्य च शब्दक्लेशस्यापरिहार्यत्वान्नैवं कल्पना युक्तेत्याशयः ।

एतदेव विवृणोति—प्रथमं हीति । प्राधान्यस्याशाब्दत्वान्न शब्दक्लेशापत्तिरित्याशङ्क्याह—पश्चात्तनमपि चेति । शाब्दस्यार्थस्याशाब्दार्थान्वये प्रामाण्याभावेनान्वयसिद्ध्यै कल्प्यार्थवाचिशब्दकल्पनाहेतुत्वाच्छब्देनैव प्राधान्यं वाच्यमित्युक्ते, अनुपलब्धिविरोधेनास्मिन्वाक्येऽसावप्युच्चारित इत्येवं कल्पयितुमशक्यत्वात्सत्तामात्रेण च कल्पनस्य व्यवहारानौपयिकत्वेनाशङ्क्यत्वात्केन रूपेण शब्दकल्पनेत्याशङ्क्य कल्प्यार्थवाच्यपि शब्दोऽस्मि-

न्वाक्ये व्याप्रियत इत्येवं कल्पनां सूचयितुं व्यापारशब्दे प्रयोक्तव्ये व्यापारस्यापि शब्दविशेषनिष्ठतया कल्पयितुम् अशक्यत्वात्, कल्प्यार्थाभिधानशक्तशब्दमात्रव्यापारकल्पना शक्तिशब्देन सूचिता। द्वितीयारूपस्य वा प्राधान्यवाचिनः शब्दस्येह श्रुतत्वेन शब्दान्तरकल्पना योगात्तस्येव प्राधान्येऽपि, व्यापारा शब्दशक्तिशब्देन लक्षितः। एवञ्च गुणप्रधानत्वरूपानेकार्थव्यापारकल्पनानिमित्तो वैरूप्यलक्षणो वाक्यभेदो अपरिहार्य इत्याह—**अतश्चेति**। शब्दव्यापारं विना प्रयोजनवत्तामात्रेण प्राधान्यसिद्धच्यभ्युपगमेऽपि द्वितीयायास्तावदनुवादित्वेनापि स्वार्थवाचित्वसम्भवान्न गुणत्वलक्षणार्थता युक्तेत्याह—**किञ्चेति**। यथा विधीयमानं स्वार्थं प्राप्य लाक्षणिकार्थत्वेऽपि स्वार्थात्यागादित्यर्थः। श्लोकं व्याचष्टे—**यद्यपीति**। एवं च प्रत्येकत्वस्य गुणतामपि यदि द्वितीया लक्षयेत् ततो परमपि वैरूप्यं स्यादित्याह—**ततश्चेति**। प्राधान्यानानुवादोक्तेरभ्युपेत्यवादमात्रतां द्योतयितुमाह—**श्रुत्या चेति**।

नन्वैकत्वस्य निष्प्रयोजनप्राधान्यायोगात्क्रियान्वयसिद्धयै गुणत्वस्यावश्यलक्षणीयत्वावगतेवैरूप्यपरिहाराय ग्रहप्राधान्यस्यार्थत्वकल्पनोचिता। त्याज्येत्यर्थः। अतो यद्येकत्वस्य विवक्षाभ्युपगन्तव्या, ततः प्राधान्येनैव सा निरस्तेत्याह—**तस्मादिति**। नन्वेवं प्राधान्येन गुणत्वेन चैकत्वस्य क्रियान्वयनिरासात्सिद्धान्ते समाहितेऽपि, भाष्यं कथं समाधेयमित्याशङ्कयाह—**भाष्यमपीति**। क्रियान्वयासम्भवोक्तिभाष्यमेतेषु प्रत्येकवाक्यसमाप्तचनेकविधवैरूप्यलक्षणेषु मनसिकृतेषु सत्संयोज्यं वाक्यभेदोक्तिभाष्यं चैतेष्वेव वाक्यभेदेषु विषयभूतेषु योज्यमित्यावृत्त्या निमित्तविषययोः ससम्यभ्युपगमेन व्याख्येयम्—**तथा हि**। एकत्वस्यापि ग्रहवत्प्राधान्ये प्रत्येकं वाक्यसमाप्तेर्ग्रहनिरपेक्षस्यैकत्वस्य सम्मार्गः स्यात् स चाशक्यः, द्रव्यान्तरे च क्रियमाणः सर्वेषामेकवचनान्तशब्दचोदितानां कार्यः। स च विकल्पेन कस्य चित्क्रियमाणोऽन्यगतस्यैकत्वस्य चोपकरोति। समुच्चितानां तु क्रियमाणः संख्यान्तरोपजननान्न कस्य चिदेकत्वस्योपकरोति। गुणत्वे त्वमूर्त्तत्वेन प्रमाणान्तरतो निष्पादकत्वानवगमाच्छब्देनैव गुणत्वं वाच्यम्। तत्र च द्वितीयाविरोधः, गुणत्वलक्षणार्थत्वे तु द्वितीयायाः प्रयोजनवत्त्वावगतेः प्रधानस्य ग्रहस्यापि गुणत्वापत्तिरित्युभयथापि क्रियान्वयासम्भवभाष्यं योज्यम्।

वाक्यभेदभाष्यं च द्वितीयया प्रधानभूतं ग्रहमुद्दिश्य सम्मार्गो विधीयते यदि, तथाप्येकत्वस्य गुणत्वेनान्वयोऽपरो विधीयते। ततो गुणप्रधानार्थकः स्यादित्याह शङ्कते—**ननु चेति**। षष्ठ्याग्नेस्तृणद्वारापचयान्वयावगतेस्तस्य च विशेषान्तरायोगेनाङ्गाङ्गिलक्षणान्वयविशेषनिष्ठत्वावसात्कोऽङ्गकोऽङ्गीत्यपेक्षायां वाग्नेः प्रयोजनवत्त्वात्प्रधानतेत्याह—**यद्यपि चेति**। यथा 'मध्यात्पूर्वार्द्धाच्चेति' पञ्चम्यविवक्षितापादानरूपगुणार्था हविषश्च कार्यार्थत्वेन प्रयोजनवत्त्वात्तत्प्राधान्यं लक्षयन्ती प्रवर्त्तते, तथेयमप्यविवक्षितगुणार्थाऽग्नेः प्राधान्यं च लक्षयन्ती प्रवर्त्तते इत्यर्थः। अतोऽग्निवाक्येऽपि वैरूप्यलक्षणवाक्यभेदाः शक्या योजयितुमित्याह—**ततश्चेति**। प्रत्येकवाक्यसमाप्तिस्त्वग्न्येकत्वप्राधान्ये त्वनाशङ्क्यात्वेनानापत्तेर्न योजिता।

ननु तृणानां द्वितीयायोगेऽप्यपचयं प्रत्यप्रतिपाद्यत्वे प्राधानान्याद्विवक्षितसंख्यत्वेनाप्राधान्याद्विवक्षितसंख्यत्वेन त्रयाणामेवापचयावगतेः शेषतृणानपचयेन तृणसंसर्गादापत्स्यमानस्योल्मुकबहिःपातस्यापरिहार्य्यतयाग्नेस्तृणापचयसंस्कार्यत्वायोगान्न प्राधान्यमित्याशङ्क्याह—तृणानीति । विभागरूपत्वेनापचयस्य संयोगपूर्वकतया प्राक्सिद्धसम्बन्धापेक्षत्वादपचेयानान्तृणानां सिद्धत्वेनान्वयादप्राधान्येऽपि देशादिवदुद्देश्यतोपपत्तेरविवक्षितसंख्यत्वात्सर्वतृणापचयादग्निसंस्कारत्वोपपत्तिरित्याशयः । पूर्वोक्तानां वाक्यभेदानामत्रापि योजनीयत्वं व्याख्येयत्वोक्त्योक्तम् । प्राधान्याभावे गुणप्रधानत्ववैरूप्याभावात्कथं पूर्वोक्तवाक्यभेदयोजनेत्याशङ्क्य, गुणप्रधानत्ववैरूप्याभावेऽपि संख्यासंख्येययोर्द्वयोरुद्देश्यत्वेन क्रियान्वये प्रत्येकं वाक्यसमाप्तिलक्षणः, संख्यायास्तूपादेयत्वेनान्वयेऽनुपादेयोपादेयत्ववैरूप्यलक्षणो वाक्यभेदः शक्यो योजयितुमिति परिहारं बहुविषयत्वद्योतनायोदाहरणान्तरनिष्ठतया दर्शयति—तथेति ।

भेदनस्यैव निमित्ततैकत्वस्यैव चेति नियोगपक्षे भेदनस्य निमित्ततैकत्वस्य वेति विकल्पपक्षे वाक्यभेदाभावादन्योन्यानन्वयमात्रोक्तिः । प्रत्येकोक्तिश्चान्यानपेक्षत्वमात्राशया । समुच्चयस्य त्वन्योन्यानपेक्षत्वेऽप्येकनिमित्तत्वान्वयमात्रेणोपपत्तेर्वाक्यभेदापादकतापि । सम्बन्धादिपक्षेषु प्रत्येकसमासचनापत्तेरादिशब्देनान्योन्यविशिष्टयोर्द्वयोः समुच्चयपक्षः सूचितः । पूर्वशब्देनोपादेयानुपादेयत्ववैरूप्यमुक्तमिति नानारूपत्वोक्त्या व्याख्यातम् । तस्य विरुद्धत्वोक्तिः सकृदुच्चारणावृत्त्या वाक्यभेदापादनार्थेति सूचनायैकवाक्यत्वोक्त्या सकृदुच्चारणोपलक्षणम् । भिन्ने जुहोतीत्यादिषु वचनाविवक्षेत्यन्वयः ।

एवमेतदेकत्वं ग्रहस्य न कचिदुपकारं करोति, न सम्मार्गस्येति भाष्यं प्रधानभूतस्यापि ग्रहस्येयत्तावधारणेन, संख्याया ग्रहस्य न कञ्चिदुपकारं करोति न सम्मार्गस्येति भाष्यं प्रधानभूतस्या ग्रहस्येयत्तावधारणेन संख्याया ग्रहोपकारित्वसम्भवादनङ्गस्थितानामपि च प्रणीताधर्माणामुपकारिस्थितत्वमात्रेण क्रियोपकारित्वदर्शनाद् ग्रहस्य च सम्मार्गोपकारित्वसद्भावात्तत्परिच्छेदकत्वेनैकत्वस्य यजमानसंस्काराणां यागोपकारित्ववत्सम्मार्गोपकारित्वपत्तेरयुक्तमाशङ्क्य 'दशैतानध्वर्युः प्रातः सवने ग्रहान् गृह्णाती'त्यादेः प्रमाणान्तरादेव विज्ञातसंख्यानपेक्षत्वान्नैकत्वस्य ग्रहोपकारित्वम्, तद्द्वारा वा सम्मार्गोपकारित्वं सम्भवतीति भाष्याशयं सूचयितुमाह—सत्या चेति ।

यद्वोद्देश्यविशेषणस्याविवक्षितत्वेऽष्टवर्षब्राह्मणोपनयनादिविधावुद्देश्यब्राह्मणादिविशेषणमष्टवर्षत्वादिः, अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्तीत्यत्र चोद्देश्यामावास्याविशेषणमपराह्णः, प्राचीनप्रवणविधौ चोद्देश्यप्रवणविशेषणं प्राचीनत्वं यावज्जीवविशेषणं सामग्र्याद्यपि न विवक्ष्येत, ब्राह्मणसुरापानादिनिषेधे चोपादेयब्राह्मणादिविशेषणं लिङ्गादि विवक्ष्येतेत्याशङ्क्य निरासार्थोऽयं ग्रन्थः । आकाङ्क्षाधीनत्वाद्विशेषणविवक्षाया ब्राह्मणादेश्चोपनयनादावुद्देश्यत्वेऽप्यन्यतोऽनवगतरूपत्वेन विशेषणाकाङ्क्षत्वाद्विशेषणविवक्षा, निषेधे चोपादेयत्वेऽपि ब्राह्मणादेरनुवाद्यत्वेन प्राप्तस्यैव निषेधान्वयाद्विशेषणस्यानाकाङ्क्षितत्वेनाविवक्षायुक्तेत्याशयः ।

एवं तर्ह्युद्दिश्यमानस्य किं संख्या विवक्ष्यते, नेति संशयोपन्यासो न युज्येतेत्याशङ्क्याह सा चेति। विधेयक्रियानुष्ठानार्थत्वेनापाद्यत्वलक्षणोपादेयत्वाभावेऽपि प्रतीक्ष्यत्वलक्षणोपादेयता ब्राह्मणामावास्यादिषु विवक्षिता। उपनयनपितृयज्ञाद्यनुष्ठानकाले हि ब्राह्मणामावास्यादेर्न्नियमेन प्राप्तत्वापादकस्य प्रकृतापूर्वसाधनत्वस्याभावात्स्वकालाप्राप्ते च ब्राह्मणादौ तदन्वितोपनयनाद्यनुष्ठानायोगात् ब्राह्मणादिसिद्धवत्कारेणोपनयनादिविधानाद् ब्राह्मणादेस्तत्कालापाद्यत्वायोगेऽपि स्वतः सिद्धस्य प्रतीक्ष्यतावश्याभ्युपगन्तव्या ग्रहादेस्तूपकृतापूर्वसिद्धयर्थमुपात्तत्वेन सम्मार्गादिकाले नित्यप्राप्तेर्न्निषेधस्य च प्राप्तविषयत्वनियमान्निषेधकार्यायाश्च निवृत्तेः प्रवृत्तिपूर्वकत्वनियमात्सुरापानादिनिवृत्तिकाले तत्कारिणो ब्राह्मणादेर्न्नित्यप्राप्तेरप्रतीक्ष्यत्वादुद्देश्यत्वं विवक्षितम्। कीदृक् ब्राह्मणादिरुपनयनाद्यनुष्ठानार्थं प्रतीक्षितव्य इत्युपादेयेषु विशेषणाकांक्षोत्पत्तेः उद्श्येषु ग्रहादिष्वनुत्पत्तेरनाकाङ्क्षितत्वेनोद्देश्यविशेषणास्याविवक्षाव्युत्पादनायोद्दिश्यमास्य किं संख्या विवक्ष्यते, न वेति संशयोपन्यासो युक्त इत्याशयः।

उद्देश्येषु विशेषणानाकाङ्क्षामुपपादयति—**उद्दिश्यमानेषु हीति**। प्रमाणान्तरावगतत्वात्संख्यानाकाङ्क्षायां प्रकृतापूर्वसाधनस्य प्रकरणात्संस्कार्यत्वावगतेरुद्देश्यस्वरूपस्यापि प्रमाणान्तरावगतत्वात्तत्समर्पकप्रातिपदिकार्थग्रहत्वान्वयस्यापि नाकाङ्क्षा स्यादित्याशङ्क्य, प्रातिपदिकार्थानन्वये सम्मार्गस्य संस्कारत्वासिद्धेः प्रकृतापूर्वसाधनस्य संस्कार्यत्वावगत्ययोगादुद्देश्यस्वरूपानवगतेरुद्देश्यं च विना निष्फलत्वापत्तेर्विध्ययोगात् तत्समर्पकप्रातिपदिकार्थान्वयाकाङ्क्षोपपादनार्थं प्रातिपदिकार्थेत्युक्तम्। प्रकृतापूर्वसाधनत्वेऽवगतसंख्यस्यापि ग्रहादेः सम्मार्गाद्यन्वयेऽनवगतसंख्यत्वात्सख्याकाङ्काक्षा भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**अत इति**।

प्रातिपदिकार्थान्वितप्रकृतापूर्वसाधनमात्रस्य सम्मार्याद्यन्वयावगतेर्विशेषणानाकाङ्क्षा अतःशब्देनोक्ता। अनेन चाविशिष्टं हि लक्षणमिति सूत्रावयवव्याख्यानस्य नैतदस्तीत्येवमादिभाष्यकृतस्योपसंहारार्थं तस्मान्नैतदितिभाष्यं व्याख्यातम्।

कुत इति भाष्येण सर्वसंस्कार्यत्वहेतुप्रश्नपूर्वं विहितस्तु सर्वधर्मः स्यादिति सूत्रोक्तहेतुद्वयमनुकृष्टं तल्लक्षणत्वादित्यनेनैव हेतूत्वर्हनाकाङ्क्षणादयुक्तमाशङ्क्य, लक्षणत्वादित्यनेन ग्रहत्वादेर्विधेयसम्मार्गाद्यन्वयापूर्वसाधनलक्षणत्वेन सम्मार्गान्वयितया विधेयत्वाभागात्तद्विशेषणत्वेन[1] विधिर्भविष्यतीत्याशङ्कायाः संस्कारान्वयितया विध्यनुपपत्तेः, शुद्धविधौ च विशेषणस्याविधेयत्वापत्तेर्न्नापूर्वसाधनविशेषणत्वेनाप्येकत्वादेर्विधिः सम्भवतीत्येवं निरासार्थं तद्धेतुद्वयानुकर्षणमिति सूचनायाविधेयत्वार्थतया लक्षणेत्वोक्ति व्याख्यातुमाह—**सर्वेति**। विधेयत्वनिवृत्त्यर्थो मात्रशब्दः। ततश्च तद्विशेषणस्य सुतरामविधेयत्वादनुष्ठानान्वयित्वेना-

---

१. तद्विशेषणस्य सुतरां विधेयत्वं न संभवतीत्युक्ते ग्रहादिस्वरूपविशेषणत्वेनैकत्वादेर्विध्ययोगेऽपि ग्रहत्वादिलक्षितापूर्णसाधनविशेषणत्वे विधिर्भविष्यतीति २ पु० पा०।

नादृत्यतेत्याशयः । लक्षणत्वोक्तेरविधेयार्थत्वप्रकटनायानाऽदृत्यतानङ्गत्वोक्त्या लक्षिता । लक्षणस्यानादृत्यतां लौकिकदृष्टान्तेन द्रढयति—**यथेति**। ग्रहत्वस्यापि तद्वदनादरापत्तेश्च चमसेष्वपि सम्मार्गः प्रसज्येतेत्याशङ्कयाह—**तत्रेति**।

ग्रहादेर्भक्षणत्वेन विना तल्लक्षितेष्वपूर्वसाधनेषु सम्मार्गाद्यनुष्ठानासिद्धेर्लक्षणत्वेन ग्रहाद्याद्रियते । ततश्चानुष्ठानान्वयित्वेनाऽनादरेऽपि चमसेषु सम्मार्गान्वयापूर्वसाधनलक्षण-ग्रहत्वाद्यभावान्न सम्मार्गाद्यनुष्ठानापत्तिरित्याशयः । लक्षणत्वेनैवतर्ह्येकत्वादिविशिष्टमेव ग्रहादि गृह्यतामित्याशङ्कानिरासार्थो मात्रशब्दः । यदीत्यादि भवितव्यमित्यन्ते शङ्काभाष्ये बहुषु विवक्षितेष्वित्येवं बहुत्वस्याप्यविवक्षितत्वादयुक्तमाशङ्क्यैकवचनायोगोक्तिशैषवात् स्वार्थतात्पर्यभागेन व्याख्यातुमाह—**नन्विति**। 'उच्यत इत्यादिपरिहारभाष्यं व्याचष्टे—**तत्रेति**। एकवचनस्य प्रमादपाठापत्तेरेतत्परिहारान्तरार्थम् 'अपि चेति भाष्यं व्याचष्टे—**तेनेति**। कारकसम्बन्धोऽपीत्यपिशब्दसूचितं प्रातिपदिकानुग्रहार्थत्वं व्याख्यातम् । एव-मप्येकवचननियमोऽनर्थक इत्याशङ्क्य बहुत्वविधौ कपिञ्जलाधिकरणवक्ष्यमाणत्रित्वनियम-दृष्टान्तेनार्थवत्तामाह—**प्रथमं वेति**।

पुरोडाशाविति द्विचननियमस्तर्हि किमर्थ इत्याशङ्क्याह—**यस्येति**। पौर्णमास्या-माग्नेवाग्नीषोमीयरूपस्य सान्नायरहितायाञ्चामावास्यामाग्नेयैन्द्राग्नरूपस्य पुरोडाशद्वय-स्याधिकृतत्वाद्विवचनमित्येतद् द्रढयितुम्यस्योभयं हविरार्त्तिमार्छेदैन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेदि'त्यार्त्तिगमनसम्बद्धस्य हविषो निमित्तत्वेनोद्देश्यत्वात्, दृविष्ट्वस्य च प्रकृतापूर्व-साधनलक्षणत्वेन प्रतीतिमात्रौपयिकत्वाद्ग्रहवदविवक्षितविशेषणत्वसिद्धौ अभ्युभयपदानर्थक्या-पत्तेरुभयत्वस्योद्देश्येऽन्तर्गत्यभ्युपगमेन विवक्षां पूर्वपक्षयित्वा, अधिकारिकोभयत्वाभ्युपगमेनो-भयपदानर्थक्यपरिहारः षष्ठाधिकरणे वक्ष्यमाणो दृष्टान्तितः । पुरोडाशद्वयसद्भावाद् द्विव-चनस्य सालम्बनत्वेऽपि नियमः किमर्थः इत्याशङ्क्याह—**अन्यथा हीति**। यथाग्नावैष्णव-मेकादशकपालं निर्वपे'त्सरस्वतीमाज्यस्य यजेतेति यागद्वये विहितेऽमावास्यायामुपांशु-याजपक्षे तद्विकारे सारस्वते वेदानन्तरवेदिककरणपञ्चहोत्राभिमर्शनवृधन्वत्याज्यभागानु-वाक्याप्राप्तेः, अग्नीषोमीयविकारे चाग्नावैष्णवे हविरधिवासनानन्तरवेदिकरणचतुर्होत्राभि-मर्शनवार्त्रघ्न्यानुवाक्याप्राप्तेरग्नीषोमीयविकारे चाग्नावैष्णवे प्रसज्यत[1] इति पूर्वपक्षयित्वा, 'मुख्यं वा पूर्वचोदनाल्लोकवदि'ति द्वादशाधिकरणसूत्रेण मुख्यत्वादाग्नावैष्णवः कल्पः सारस्वते प्रसज्यतइति वक्ष्यते । तथा मुख्यत्वादाग्नेयस्यैव पुरोडाशस्य क्षीणस्य निमित्त-त्वेन ग्रहणमिति भ्रान्तिनिवृत्त्यै नियम इत्याशयः । 'अपि चेत्यादिभाष्यं विधायकाभिधान-श्रुत्यवगतक्रियान्वयविरोधेन पदश्रुत्यवगतद्रव्यान्वयबाधादयुक्तमाशङ्क्य, द्रव्यान्वयाभ्युप-गमेऽपि सिद्धान्ताव्याघातोक्तिमात्राशयत्वेन व्याचष्टे—**अपि चेति**। ग्रहस्याप्यनेकसंख्यत्वा-न्नैकत्वेन विशेषणता युक्तेत्याशङ्क्याह—**जातीति** ॥ १४ ॥

---

१. अनुवाक्याप्राप्तेरनियमेनैकस्य कल्पोऽन्यत्र प्रसज्यत इ० २ पु० पा० ।

भा० प्र०—पूर्वपक्षियों का यह कहना कि ग्रहगत एकत्व की विवक्षा होने से एक ही ग्रह का सम्मार्जन होगा, यही कर्तव्य है—यह ठीक नहीं है, कारण, आकृति अधिकरण में कहे गये नियमों के अनुसार यह अवगत है कि ग्रह पद ग्रहत्व जातिका वाचक है, जाति का संस्कार सम्भव नहीं है, अतः, जाति के आश्रय व्यक्ति का ही संस्कार करना होगा। इसलिए, "ग्रहं" यह पद जात्याश्रय व्यक्ति का लक्षण है; इसीलिए सूत्र में कहा गया है "लक्षणत्वात्" सभी ग्रह व्यक्ति एकत्व जाति का आश्रय होने से दशग्रहों में किसी एक ग्रह का सम्मार्जन होगा, अन्य का नहीं कहा जा सकता है। इसलिए सूत्र में कहा गया है "अवशिष्टं हि लक्षणम्" यदि यह कहा जाय कि एकवचन का प्रयोग होने से द्वितीय तृतीय आदि ग्रहों का संस्कार भी कर्तव्य है—यह कैसे अवगत होता है? एकवचन एकत्व का वाचक है, किन्तु, वह द्वितीय आदि का प्रतिषेधक नहीं है। कारण, इस स्थल में ग्रह के उद्देश्य से सम्मार्जन ही विहित होता है, किन्तु सम्मार्जन के साथ एकत्व का सम्बन्ध भी विहित नहीं होता है, अतः, एकत्वविशिष्ट एक ग्रह का सम्मार्जन होने पर प्रत्येक ग्रह का ही सम्मार्जन होगा, कारण, प्रत्येक प्रधान के अनुरोध से गुण की अर्थात् आवृत्ति करने का नियम है, एकत्व की विवक्षा की जाती है तो वाक्यभेद होगा। अतः "सर्वेषां वा" सभी ग्रहों का सम्मार्जन कर्तव्य है।

"सर्वेषां" = सभी का अर्थात् सभी ग्रहों का सम्मार्जन कर्तव्य है, "वा" = पूर्वपक्ष का निरासार्थक है, "लक्षणत्वात्" = क्योंकि, ग्रह आदि पद व्यक्ति का लक्षक है, "अविशिष्टं हि लक्षणम्" = लक्षण इस स्थल में अविशिष्ट अर्थात् विशेष विधि से व्यक्ति-विशेष में व्यवस्थित नहीं है ॥ १४ ॥

चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुति प्रतीयेत ॥ १५ ॥

शा० भा०—अथ यदुक्तं यथा, पशुमालभेत इत्येक एव पशुः पुंपशुश्चाऽऽलभ्यते, एवमिदमपीति। अस्त्यत्र वैपरीत्यम्। इह ग्रहार्थः संमार्गः। तत्र पुनर्यागार्थः पशुः। किमेवं सति भवति? यो यागार्थं परिच्छिन्नत्ति, स यागस्योपकरोति। अपरिच्छिन्नेन न शक्यो यागः कर्तुमिति। न तु ग्रहेण केनचिद्विशिष्टेन संमार्गः कर्तव्यो यद्ग्रहं विशिषत्संमार्गस्योपकुर्यात्। पशोश्चैतदेकत्वं यागं प्रत्युपदिश्यते।

ननूक्तं प्रातिपदिकार्थगतं स्वमर्थं विभक्तिः श्रुत्यैवाभिवदतीति। याग एतद्वाक्येन विधास्यति। तत्र[1] वाक्याच्छ्रुतिर्बलीयसीत्युक्तम्। सत्यम्, यत्र श्रौतोऽभिसंबन्धो विवक्ष्यते। अविवक्ष्यमाणे च वाक्यावगतः सन्न[2] पर्युदसितव्यो भवति। तस्मादेकः पुंपशुश्चाऽऽलभ्यत इति। ग्रहैकत्वं न संमार्गस्योपकरोतीति, न ग्रहं

१. ब० ननु। २. ब० संभवन्न।

शक्नोति विशेष्टुम्। तस्मादविवक्षितमिति ॥ १५ ॥ क० आ० नि० ॥ इति सप्तमं ग्रहैकत्वाधिकरणम् ॥ ७ ॥

त० वा०—पशौ पुनर्द्रव्यस्य निष्प्रयोजनत्वात्सक्तुवदविवक्षितेप्सितार्थया द्वितीयया कारकसामान्यं लक्षयित्वा तद्विशेषाकाङ्क्षायां सत्यां भूतभव्यसमुच्चारणद्रव्यकर्मसंयोगन्यायेन करणत्वेन गुणभावेऽवगमिते सर्वेषामेव जातिद्रव्यसंख्यालिङ्गानां भावनां यागं च प्रत्युपादीयमानत्वादवैरूप्येण विशिष्टैकभावनाविधानादर्थापत्तिलभ्यविशेषणविध्यन्तराविर्भावाच्चैकवाक्यत्वासिद्धिः ॥१५॥

इति सप्तमं ग्रहैकत्वाधिकरणम् ॥७॥

न्या० सु०—परार्थत्व-व्याख्यार्थस्य यागार्थः पशुरिति भाष्यावयवस्य पशोरपि द्वितीयया प्राधान्यावगमादयुक्तत्वशङ्कां निरस्यन्सूत्रं व्याचष्टे—**पशौ पुनरिति।** भव्यस्य भावकापेक्षणाद्, भूतस्य च भावकत्वोपपत्तेर्भूतस्य भव्यार्थत्वे दृष्टार्थत्वम्, भूतस्य तु भव्यानपेक्षणाद्द्रव्यस्य भूतार्थतायामदृष्टार्थत्येकस्यैव न्यायस्य भूतभव्यसमुच्चारणे भूतम्भव्यायोपदिश्यत इति भाष्यारूढत्वं 'द्रव्याणां कर्मसंयोगे गुणत्वेनाभिसम्बन्ध' इति सूत्रारूढत्वञ्च द्वयोक्त्या सूचितम् ॥ १५ ॥

इति सप्तमं ग्रहैकत्वाधिकरणम्

भा० प्र०—पूर्वपक्षी ने "पशुना यजेत" इस वाक्य से विहित पशु के एकत्व का उदाहरण वह सङ्गत नहीं है, कारण, "चोदिते यथाश्रुति प्रतीयते" विधेय स्थल में लिङ्ग एवं संख्या आदि श्रुत विषय भी विवक्षित है। अतः, इस स्थल में पशु विधेय होने से उसका एकत्व विवक्षित है। कारण, "परार्थत्वात्" = यह परार्था अर्थात् दूसरे के उपकार के लिए है, इस स्थल में पशु से याग का उपकार साधित होने से पशु एक या अनेक वह स्त्री या पुरुष—इसका निर्णय होना आवश्यक है, अन्यथा उसके द्वारा याग का उपकार सम्भव नहीं है। इस स्थल में विशिष्ट विधि होने पर एकत्व और पुंस्त्वरूप विशेषण अर्थापत्ति प्रमाण से विहित होने से वाक्यभेद नहीं होता है। दूसरा पक्ष स्वीकार करने पर "ग्रहं सम्मार्ष्टि" इस स्थल में ग्रह उद्देश्य होने से उससे सम्मार्जन का कोई भी उपकार साधित नहीं हो सकता है, इसलिए, ग्रह एक या अनेक यह न जानने पर भी कोई हानि नहीं है, ग्रह उद्देश्य है विधेय नहीं है, अतः "ग्रहं सम्मार्ष्टि" यह विशिष्ट विधि नहीं है, विशिष्ट विधि न होने से ग्रह का एकत्व वाक्यभेद के विना विहित नहीं हो सकता है, इसलिए, सभी ग्रहों का सम्मार्जन विहित है।

इसी प्रकार अग्निहोत्र प्रकरण का "आग्नेयस्तृणान्यपरिचिनोति" इस विधि में स्थित 'अग्नि का' एवं दर्शपूर्णमास प्रकरण को "पुरोडाशं पर्यग्नि करोति" इस विधि वाक्यस्थ 'पुरोडाश का' एकत्व विवक्षित नहीं है।

"चोदिते" = विहित पशु आदि स्थलों में "तु" = किन्तु, "परार्थत्वात्"=परार्थता होने से अर्थात् यतः विधेय वस्तु परार्थ=दूसरे के लिए है, अतः, "यथाश्रुति"=जैसा श्रुत रहता है अर्थात् श्रुति में जैसा कथित रहता है वैसा ही "प्रतीयते"=प्रतीत होता है ॥१५॥

यह सप्तम ग्रहैकत्वाधिकरण सम्पूर्ण हुआ।

[८] संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् ॥१६॥ पू०

शा० भा०—अस्ति ज्योतिष्टोमः। तत्र श्रूयते 'दशापवित्रेण ग्रहं संमार्ष्टि' इति। तत्रैषोऽर्थोऽधिगतः[1] सर्वे ग्रहाः संमार्जितव्या[2] इति। इदमिदानीं संदिह्यते किं चमसा अपि संमार्ष्टव्या, उत नेति। किं तावत्प्राप्तम्? चमसाद्यपि[3] सर्वं संमार्ज्यमिति[4]। कुतः? संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्चेति। यथैव हि ग्रहाणामपूर्वसम्बन्ध, एवं चमसानामपि यथैव च ग्रहा अस्मिन्प्रकरणे, एवं चमसा अपि। तस्मात्सर्वत्र संमार्गः।

ननु ग्रहाः श्रूयन्ते? ते चमसानां निवर्तका भविष्यन्ति। उच्यते। प्रदर्शनार्थं ग्रहग्रहणं भविष्यति। ग्रहादि सोमपात्रम्। यस्मिन् गृह्यमाणः सोमो व्यवसिच्येतेत्येवमाशङ्क्यते[5], तत्सर्वं संमार्जितव्यम्[6]। यथा भोजनकालो वर्तते, स्थालानि संमृज्यन्तामित्युक्ते, यानि यानि भोजन उपयोगमर्हन्ति, तानि तानि सर्वाणि संमृज्यन्ते। स्थालग्रहणं लक्षणार्थमिति गम्यते। एवमिहापि द्रव्यमिति।

उच्यते। लोकेऽर्थलक्षणः संव्यवहारः। येन येनार्थः संमृष्टेन, उक्तः, अनुक्तो वा, स संमृज्यतेतैव। इह तु वेदे शब्दलक्षणः। शब्दश्च ग्रहस्य संमार्गमाह। तत्र किमर्थं श्रुतौ संभवन्त्यां ग्रहशब्दो लक्षणया कल्प्यते। उच्यते। संमार्ष्टीति संमार्गं पुरुषप्रयत्नं विधातुमेष शब्दः शक्नोति श्रवणेनैव। ग्रहसंबन्धे तु वाक्येन। श्रुतिश्च वाक्याद्बलीयसी। तस्माल्लक्षणया ग्रहशब्दो वर्ण्यते, न यथाश्रुत इति। तेन यो यः संमार्जनसंस्कारार्हः[7], स स संमार्जितव्यः[8]। न ग्रहेऽत्रैव व्यवतिष्ठेत, एवंजातीयको गुण इति ॥१६॥ पूर्व० ॥

अथाष्टमं चमसाधिकरणम्

त० वा०—एकत्ववदेव ग्रहत्वस्यापि प्रदर्शनार्थत्वाच्चमसेष्वपि संमार्ग इत्युपन्यस्य प्रदर्शनार्थत्वे प्रमाणाभावा द्वाक्येन च संबन्धोपादानाद् ग्रहादवच्छिद्य

१. ब० तत्रैषोऽर्थः समधिगतः।
२. ब० संमार्जयितव्याः।
३. ब० चमसाद्या।
४. ब० संमार्जयितव्यं।
५. ब० आशङ्का।
६. ब० संमार्ज्जयितव्यम्।
७. ब० संस्कारमर्हति।
८. द० संमार्ज्जयितव्यः।

श्रुत्या केवलसंमार्गविधानात्पूर्वपक्षः परिगृहीतः। इह त्ववघातादिवदेव भङ्गो-द्धारौ कर्तव्यौ।

नन्वेवं सति तेनैव गतत्वादधिकरणमेव नाऽऽरब्धव्यम्। सत्यं नाऽऽरभ्येत, यदि ग्रहाधिकरणेनाऽविवक्षाकालुष्यबुद्धिर्न[1] स्यात्। [2]एवं त्वेकत्वविवक्षासंत्रासितः सर्वमेवाऽविवक्षितं मन्यते।

अथवाऽऽग्नेयाद्यपूर्वाणां कर्मभेदाद् भेदे सति युक्ताऽवघातादीनां व्यवस्था। ज्योतिष्टोमकर्मणस्त्वेकत्वादेकापूर्वसाधनयोर्ग्रहचमसयोर्धर्मसंकर इत्यभिप्रायः। संस्काराद्वेति चापूर्वसाधनप्रयुक्तत्वेन प्रतिप्रधानावृत्तिक्रियोपपादनार्थम्॥ १६॥

अथाष्टमं चमसाधिकरणम्॥ ८॥

न्या० सु०—यथाश्रुतं तावत्पूर्वपक्षभाष्यं व्याचष्टे—**एकत्ववदेवेति**। ग्रहत्वस्यापीत्यनेन प्रदर्शनार्थमित्यादि द्रष्टव्यमित्यन्तं भाष्यं पराभिमतपूर्वपक्षार्थत्वेन व्याख्याय, प्रदर्शनार्थत्वे इत्यनेनोच्यत इत्यादिकल्प्यत इत्यन्तनिरासार्थत्वेन व्याख्याय, वाक्येन चेत्यनेन स्वाभिमतपूर्वपक्षार्थतयोच्यते सम्मार्ष्टीत्यादिभाष्यशेषो व्याख्यातः। श्रुत्या वाक्यबाधाभ्युपगमे लक्षणया ग्रहशब्दवर्णनोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य, वाक्येन ग्रहान्वयाभ्युपगमे स्वरूपेणैवान्वयापत्तेस्तद्बाधेन शुद्धसम्मार्गविधिमभ्युपगम्य विच्छिन्नस्य ग्रहशब्दस्य का गतिरित्यपेक्षिते सम्मार्गस्य कैमर्थ्याकाङ्क्षायां सोमग्रहणानन्तरकालत्वेन योग्यतयाऽवसिक्तसोमनिर्हरणार्थत्वावसायात्सोमस्य संस्कार्यत्वेनावगतस्य स्पष्टीकरणायोपलक्षणार्थतया ग्रहशब्दस्य गतिसूचनार्थो वाक्येन वेत्यवयवः। शुद्धसम्मार्गविधानात्पूर्वपक्षपरिग्रहे तेषामर्थाधिकरणोत्तरानारभ्यतोपपादिता। ननु पदस्य केवलाप्रयोगित्वात्पदान्तरान्वये च श्रुतिबाधस्य वाक्याधिकरणे परिहृतत्वाद् ग्रहादाछिद्य केवलसम्मार्गविधिः पूर्वपक्षयितुमशक्य इत्याशङ्क्याह—**इह त्विति**। यथा बाढं युक्ता अवघातादयस्तु पदार्था विधीयन्ते श्रुत्या, वाक्येनैषां व्रीह्यादिसंयोग इति तेषामर्थाधिकरणसन्देहोपपादनभाष्याद्यथाश्रुतप्रतीयमाने शुद्धावघातादिविधो न त्वेतद्युक्तमिवेत्यादिवार्त्तिकेनाक्षेपं कृत्वा विधीयतेऽवघातादिः श्रुत्या व्रीह्यादिसङ्गत इत्यादिवार्त्तिकेन बाढमवघातादयो व्रीह्यादिसंयुक्ताः श्रुत्या विधीयन्ते, किं त्वपूर्वसाधनांशलक्षणात्केन वाक्येनैषां समीहितापूर्वसाधनभूतेन व्रीह्यादिना योगो, न स्वरूपेणेत्येवं व्याख्यया परिहारः कृतः। तथेह सम्मार्ष्टीतिविधिं शब्दोऽनादृत ग्रहत्वग्रहशब्दोपलक्षितापूर्वसाधनमात्रान्विते सम्मार्गे पुरुषेच्छायोनिकं प्रयत्नं विधातुं पुरुषार्थपर्यवसायित्वस्वभावापादकाप्रवृत्तप्रवर्त्तनात्मकविधिश्रवणेनैव शक्नोति आवृतग्रहत्वग्रहशब्दान्वयात्मकेन तु वाक्येन सम्मार्गस्य ग्रहत्वसम्बन्धं विधातुं शक्नुयात्। ततश्चापूर्वसाधनमात्रान्वयेन पर्यवसिता श्रुतिर्वाक्यीयविशेषान्वयं बाधते। तस्मादपूर्वसाधनमात्रलक्षणमात्रग्रहशब्दो वर्णनीयः। तेन चमसेष्वप्यपूर्वसाधनत्वविशेषात्सम्मार्गसिद्धिरित्येवं व्याख्यया

१. क० ग्रहादिकरणवत्। २. क० अयं।

कार्यं इति परिहारेऽत्यन्तमवघातादि—साम्याभावेऽपि कथं चित्साम्यादवघातवद्भावोक्तिः। भङ्गाख्याक्षेपसाम्यस्य प्रसिद्धत्वादुद्धाराख्यपरिहारसिद्धयै दृष्टान्ततयोक्तिः।

एवं तर्ह्यवघातादिन्यायेन सम्मार्गस्यापि परमापूर्वप्रयुक्तत्वायोगेनावान्तरापूर्वप्रयुक्तत्वसिद्धेर्ग्रहत्वलक्षितस्य चावान्तरापूर्वसाधनत्वस्य चमसेष्वभावाद्व्यवस्थासिद्धेर्नैतदधिकरणमारम्भ्यमित्याशङ्कते—नन्विति। एकत्ववद् ग्रहत्वैकार्थसमवायित्वस्याप्युद्देश्यापूर्वसाधनविशेषणस्याविवक्षितत्वशङ्कापत्तेस्तेषामर्थाधिकरणसिद्धान्ताक्षेपेणैतदधिकरणारम्भेण परमतेन तावत्पौनरुक्त्यं परिहरति—सत्यमिति।

वाच्यैकार्थसमवायित्वं विनाऽपूर्वसाधनत्वस्य लक्षयितुमशक्यत्वेन, वाच्यैकार्थसमवाय्यवान्तरापूर्वसाधनत्वस्यैव लक्ष्यत्वात्तस्योद्देश्यत्वेनोद्देश्यविशेषणत्वाभावात्तेषामर्थाधिकरणसिद्धान्ताक्षेपायोगेनैतत्परिहारापरितोषात्स्वमतेनान्यथापहरति—अथ वेति।

ननु तेषामर्थाधिकरणोक्तयथासंयोगव्यवस्थाक्षेपेणात्र पूर्वपक्षे, स्थलसम्माज्र्जनादिवत्संयोगानादरसिद्धयै संस्कारत्वहेतूक्तिर्युक्ता, तदनाक्षेपे तु किमर्थेत्याशङ्क्याह—संस्कारादिति। प्रतिप्रधानमावृत्त्या संस्कारानुष्ठानस्यापूर्वसाधनेन प्रयुक्तत्वाच्चमसेषु संस्काराभावे वैगुण्यापत्तेरपूर्वसाधनत्वव्याहतिसूचनार्थं संस्कारत्वोक्तिरित्याशयः। सर्वप्रधानेष्वनुष्ठानमेवोपपन्नम्। ते नानुष्ठानं चमसेष्वपीत्येतदाख्यानार्थं संस्कारोक्तिरिति सावधारणानुष्ठानवाचिक्रियाशब्दाभ्युपगमेनोपपन्नत्वाख्यानार्थोपपादनशब्दाभ्युपगमेन च व्याख्येयम् ॥१६॥

भा० प्र०—पूर्व अधिकरण में "ग्रहं सम्मार्ष्टि" इस वाक्य के 'ग्रहं' इस पद के प्रत्यय भाग के एकत्व को लेकर विचार किया गया है। इस स्थल में 'ग्रहं' इस पद के प्रकृति अंश को लेकर विचार किया जा रहा है, अर्थात् ग्रहत्व विवक्षित है या नहीं ? यदि ग्रह के प्रकृति भाग ग्रहत्व की विवक्षा नहीं है तो इस प्रकरण के चमस आदि यज्ञपात्रों का भी सम्मार्जन किया जाता है या नहीं ? पूर्वपक्षी का कहना है कि ग्रहगत एकत्व जिस प्रकार विवक्षित नहीं है वैसे हीं प्रकृतिभाग अर्थात् ग्रहत्व भी विवक्षित नहीं है। क्योंकि, सम्मार्जन संस्कार विशेष है, उसके फलस्वरूप अपूर्व उत्पन्न होता है, सम्मार्जन से रहित ग्रह से कार्य करने पर भी वह अपूर्व का जनक नहीं होता है। अतः, ग्रह का सम्मार्जन न करने पर वह जैसे अपूर्व का उपयोगी नहीं होता है। चमस आदि का भी यदि सम्मार्जन नहीं किया जाय तो वह भी अपूर्व का उपयोगी नहीं होगा, इसलिए चमस आदि पात्रों के सम्मार्जन के लिए स्वतन्त्र वचन न रहने पर भी उस वचन से ही चमस आदि पात्रों का भी सम्मार्जन कर्तव्य रहता है। ऐसी स्थिति में इस स्थल में ग्रह का प्रकृतिभाग विवक्षित नहीं है। अपितु "ग्रह" यह शब्द लक्षणा के बल से उस प्रकरण के सभी पात्रों का ही बोधक है। अतः, "गुणानामव्यवस्था" = सम्मार्जन आदि गुणों की व्यवस्था = व्यवस्थितत्व अर्थात् ग्रहों का ही सम्मार्जन कर्तव्य है, अन्य का नहीं—इस प्रकार का नियम नहीं हो सकता है, कारण, "संस्कारात्तु" = सम्मार्जन आदि संस्कार है अर्थात् यतः अपूर्वसाधन के हेतु हैं।

"संस्कारात्" = यतः सम्मार्जन आदि संस्कार अर्थात् अपूर्व-साधननिवेशी है, इसलिए, "वा" प्रत्यवस्थान में, "गुणानां" = गुणों का अर्थात् सम्मार्जन आदि की, "अव्यवस्था स्यात्" = अव्यवस्था अर्थात् चमसादि के साथ साधारणता होगी, अर्थात् ग्रह का ही सम्मार्जन कर्तव्य है, किन्तु चमस आदि का सम्मार्ग नहीं करना होगा—ऐसी विधि नहीं हो सकती है ॥ १६ ॥

यह पूर्वपक्ष है।

व्यवस्था वाऽर्थस्य श्रुतिसंयोगात्तस्य शब्दप्रमाणत्वात् ॥१७॥ सि०

शा० भा०—व्यवतिष्ठेत वा ग्रहेष्वेव संमार्गः, न चमसेष्वपि प्रसज्येतेति। कुतः? अर्थस्य श्रुतिसंयोगात्। श्रूयमाणो हि ग्रहो नोत्स्रष्टव्यः। उत्सृज्यमाने श्रुतिरेव बाध्यते, ग्रहमिति प्रमत्तगीतं तत्रभवतामित्यव गम्यते। न चैतन्न्याय्यम्। तस्माद् ग्रहशब्देन ग्रहं लक्षयित्वा, तस्य संमार्गसंबन्धो विधीयते। न चाविदधत्संमार्गं शक्नोति तत्संबन्धं विधातुम्। अतो विदधात्येवैष शब्दः संमार्गम्। न च श्रुतिर्बाधिष्यते कुतः? संमार्ष्टीति संमृजिगतं पुरुषप्रयत्नं श्रुत्या शक्नोति विधातुम्। न तत्र कश्चिद्विशेषः उत्पाद्यमाने वा संमृजात्, परेण वा संबध्यमान इति। तेन न ग्रहसंबन्धेऽपि श्रुतिर्बाधिता भवति। अतो ग्रहेष्वेव संमार्गो व्यवस्थातुमर्हतीति।

नन्वपूर्वसंयोगाविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्च चमसेष्वपि प्रसज्यते, न ग्रहेष्वेवास्य विधानमित्युक्तम्। अत्रोच्यते। प्रकरणवद्भिरेकवाक्यतां कृत्वा शक्नोति तत्र विधातुम्। नाकृत्वैकवाक्यताम्। सा च प्रकरणादनुमीयते। इयं पुनर्ग्रहशब्देन सह प्रत्यक्षा। तस्मान्न प्रकरणे विधानम्। ग्रहैकत्वसंबन्धे पुनरुत्सृज्य स्वार्थं न शक्नोति। विधातुम्। तस्माद्वैषम्यं[1] ग्रहैकत्वविधानेन।

यदुक्तम्, यथा स्थालानि [2]संमृज्यन्तामिति लक्षणा, तद्वदिहापीति। परिहृतमेतत्। लोके कर्मार्थलक्षणं शब्दलक्षणं पुनर्वेद इति ॥ १७ ॥ सिद्धान्तः ॥

इत्यष्टमं चमसाधिकरणम् ॥ ८ ॥

त० वा०—यथास्थूलं तावदुत्तरम्। ग्रहासंबन्ध सति संमार्गविधानाभावादवश्यंभावित्वाच्च संबन्ध्यन्तरस्य न केवलसंमार्गविधानम्।

अथवा ग्रहशब्देन यदपूर्वं लक्षितम्, तत्प्रयुक्तत्वाद् व्यवस्था। नन्वपूर्वसंयोगाविशेषादित्येकापूर्वाभिप्रायम्। सत्यपि तु कर्मैकत्वे, तदपूर्वाभेदे च ग्रहचमसाभ्यासानामयुगपत्कालत्वात्स्वरूपसाहित्यमेकस्मिन्कर्मण्यपूर्वे वा न संभवतीत्यवश्यं

१. ब. वैषम्यमस्य। २. ब. परिमृज्यंताम्।

प्रत्यभ्यासमवान्तरापूर्वभेदेन भवितव्यम्। विनाऽपि चाभ्यासेन यागस्वरूपसिद्धेरदृष्टार्थ एवाभ्यासः। ततश्च ग्रहशब्दोपस्थापितप्रत्यासन्नावान्तरापूर्वातिक्रमकारणाभावाद् व्यवस्थासिद्धिः। अवघातादिवदेव 'फलं तु सह चेष्टया' इत्येषोऽर्थो योजयितव्यः। न चैकत्वविवक्षावदग्रहत्वविवक्षायां वाक्यभेदो भविष्यतीति पूर्वाधिकरणेन भ्रमितव्यम् ॥ १७ ॥

(इति चमसाधिकरणम् ॥ ८ ॥)

न्या० सु०—यथाश्रुतपूर्वपक्षभाष्यव्याख्याने सिद्धान्तभाष्यमपि यथा श्रुतमेव व्याख्येयमिति सूचयितुमाह—**यथास्थूलन्तावदिति**। ग्रहशब्देन ग्रहमुद्दिश्य तत्सम्बन्धित्वेनैव सम्मार्गो विधीयते, न शब्द इत्येवं ग्रहशब्देनेति भाष्यं व्याख्यातुं ग्रहेत्युक्तम्। ग्रहसम्मार्गान्वयस्य विधेयत्वे सम्मार्गस्वरूपविधिबाधप्रसङ्गात्तद्विरोधेन वाक्यीयग्रहसम्मार्गान्वयबाधैवोचितेत्याशङ्क्य, विशिष्टक्रियास्वरूपविधिकल्प्यत्वाद्विशेषणान्वयविधः, क्रियास्वरूपविधिबाधकत्वायोगोक्त्यर्थं 'न चेत्यादि न श्रुतिर्बाधिता भवतीत्यन्तं भाष्यं व्याख्यातुं ग्रहाख्यस्य सम्बन्धिनोऽन्यतः प्राप्तत्वेऽपि सम्मार्गाख्यस्य सम्बन्ध्यन्तरस्यान्यतोऽप्राप्तत्वा'त्समे यजेतेत्या'दिवत्क्रियास्वरूपविध्यनपेक्षान्वयविध्यनुपपत्तेर्ग्रहसम्मार्गसम्बन्धविधौ सम्बन्ध्यतरविधेरवश्यम्भावित्वादित्युक्तम्। प्रदर्शनार्थत्वपक्षेऽप्यवश्यंभावित्वात्कस्य चित्सम्बन्ध्यन्तरस्येत्येवमिदं व्याख्येयम्। अनेन चार्थस्य विधेयतया प्रयोजनभूतस्य सम्मार्गस्य श्रुत्या ग्रहसंयोगाद्ग्रहेष्वेव सम्मार्गव्यवस्थेव सूत्राव्याख्या सूचिता। परमार्थतस्त्वर्थस्योद्देश्यस्यापूर्वसाधनस्य श्रुत्युक्तग्रहत्वसंयोगेनैव लक्ष्यत्वात्परमापूर्वस्य चोत्पत्त्यपूर्वमात्रपर्यवसायिग्रहत्वनियमसाध्यात्वाभावेन ग्रहत्वान्वयाभावाद्ग्रहत्वेन लक्षणाशक्तेर्ग्रहत्वैकार्थसमवायिनोऽवान्तरापूर्वसाधनत्वस्यैव लक्षणायान्याय्यत्वादित्येवं सौत्रहेतुव्याख्यार्थं ग्रहत्वस्यापूर्वसाधनलक्षकत्वानभ्युपगमे ग्रहश्रुतिबाधापत्तेर्ग्रहत्वस्य लक्षकत्वानभ्युपगमे ग्रहश्रुतिबाधापत्तेर्ग्रहत्वसमवाय्यवान्तरापूर्वसाधनं लक्षयित्वा तस्य सम्मार्गान्वयो विधीयते। न च ग्रहत्वसमवाय्यवान्तरापूर्वसाधनविशेषान्वयितया सम्मार्गविधिश्रुतेरपूर्वसाधनमात्रान्वयविषयतामभ्युपगम्य ग्रहपदैकवाक्यतया ग्रहसमवायितया विशेषणात्सङ्कोचलक्षणबाधापत्तिरित्युक्ते, कुत इति प्रश्नपूर्वं यद्यपि पुरुषार्थपर्यवसायिस्वभावविधिश्रुत्या सम्मार्ष्टीतिशब्दोऽपूर्वसाधनान्वितसम्मार्गगतं प्रयत्नं विधातुं शक्नोति। तथापि ग्रहान्वयाभावे सम्मार्गस्यारादुपकारित्वापत्तेरपूर्वसाधनद्रव्यान्वयावगमेन ग्रहान्वयस्यावश्याभ्युपगमनीयत्वाद्ग्रहसमवाय्यपूर्वसाधनविशेषान्वयस्यैवावगतेः सम्मार्गविधिस्वभावालोचनेनैवाविशेषान्वयावगतौ न कश्चिद्विशेष इति विधिस्वभाववाच्युत्पद्यमानशब्दाभ्युपगमेन यथोक्तपस्कारयुक्तं सिद्धान्तभाष्यं व्याख्येयमिति सूचयितुमाह—**अथ वेति**। नन्वित्याशङ्काभाष्यं प्रत्यभ्यासमपूर्वभेदादयुक्तमाशङ्क्य व्याचष्टे—**नन्विति**। नानादेवतायुक्तग्रहणसंस्कृतद्रव्यभेदाक्षिप्तानामपि यागाभ्यासानामविधेयत्वाद्विध्येकसमाधिगम्यत्वाच्चापूर्वस्य प्रत्यभ्यासमपूर्वभेदाभाव'त्पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाती'त्यादौ च प्रत्यभ्यासमपूर्वभेदेन श्रयणव्यवस्थाया नवमे वक्ष्यमाणाया एतदधिकरणाधीनत्वेनेदानीमसिद्धा-

वस्थत्वाद्यागापूर्वस्यैव प्रयोजकत्वावगतेः तस्यैवैकत्वाशयमेतद्भाष्यमित्याशयः। अत्रेत्यादि-प्रत्यक्षेत्यन्तं परिहारभाष्यं शङ्काशयनिराससमर्थत्वेन व्याख्यातुमाह—**सत्यपीति**। प्रत्यक्षाभ्यासविद्ध्यभावेऽपि देवतायुक्तद्रव्यभेदान्यथानुपपत्तिकल्प्यविधिविहितत्वेनाभ्यासानां प्रत्यभ्यासमपूर्वभेदोपपत्तिरित्याशयः।

नन्वभ्यासैर्विना ज्योतिष्टोमरूपासिद्धेर्दृष्टार्थत्वेनाऽभ्यासानामवघातादिवन्नापूर्वार्थता-स्तीत्याशङ्क्याह—**विनाऽपि चेति**। ज्योतिष्टोमशब्दस्याभ्यस्तरूपयागवाचिताया यागा-भ्यासविधिनिमित्तकत्वेनाभ्यासविध्यभावेऽनभ्यस्तस्यापि यागस्य ज्योतिष्टोमशब्दवाच्य-स्वरूपसिद्धेर्न दृष्टार्थत्वमभ्यासस्य सम्भवतीत्याशयः।

तस्मादित्युपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**ततश्चेति**। नन्वभ्यासापूर्वाणां प्रत्यासन्नत्वेऽप्य-फलत्वात्प्रयोजकत्वासम्भवोऽतिक्रमकारणमस्तीत्याशङ्क्याह—**अवघातादिवदेवेति**। फल-न्त्विति सूत्रेऽवघातादेरपूर्वप्रयुक्तत्वसिद्ध्यै। यद्यपि चैषां साक्षादफलत्वम्, तथापि स्वरूप-सिद्ध्यन्यथानुपपत्त्यैव प्रयोजकत्वं भविष्यतीत्यादिवार्त्तिके योऽर्थो वर्णितः, सोऽत्रापि योज्य इत्यर्थः। ग्रहैकत्वसम्बन्धे पुनरिति भाष्यस्य तात्पर्यमाह—**न चेति**। स्थलसम्मार्ग-वैषम्योक्त्यर्थत्वेन तस्य शब्दप्रमाणत्वादिति सूत्रावयवव्याख्यार्थं यत्त्वित्यादिभाष्यं स्पष्ट-त्वान्न व्याख्यातम् ॥ १७ ॥

इत्यष्टमं चमसाधिकरणम् ॥

भा० प्र०—प्रदर्शित पूर्वपक्ष के समाधान में कहा गया है "व्यवस्था वा" ग्रहों का सम्मार्जन ही कर्तव्य है—इस प्रकार की व्यवस्था या नियम होना चाहिए। अतः, ग्रहों का प्रकृतिभाग अविवक्षित नहीं हो सकता है। क्योंकि, वाक्यभेद दोष के कारण ही उद्देश्यभूत ग्रहादि के एकत्व विवक्षित नहीं हो सकते हैं। किन्तु ग्रहत्व की विवक्षा करने पर किसी भी दोष की प्रसक्ति नहीं है, इसलिए, वह अविवक्षित नहीं हो सकता है। क्योंकि, "अर्थस्य श्रुतिसंयोगात्" ग्रहत्व ही ग्रह शब्द का शक्य अर्थ है और जाति के विना व्यक्ति भी कर्म का उपयोगी नहीं हो सकता है, इसलिए ग्रह एकत्व विवक्षित है। फलतः, चमसादि सम्मार्जन कर्तव्य नहीं है।

यदि यह कहा जाय कि सम्मार्जनरहित चमसादि अपूर्व के योग्य नहीं है, इस प्रसङ्ग में यह कहना है कि "तस्य शब्दप्रमाणत्वात्" अपूर्व का उपयोगी होना और न होना यह एकमात्र शास्त्र से ज्ञातव्य है, शास्त्र में ही जब ग्रह पद में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग कर ग्रह की संस्कार्यता व्यक्त कर दी गई है तो शास्त्र के आधार पर यही निश्चित होता है कि सम्मार्जन न करने पर ग्रह से सम्पादित अपूर्व का उपयोगी नहीं होगा, किन्तु चमसादि के अपूर्व के अयोग्य न होने का प्रसङ्ग ही नहीं होता है। सम्मार्जनसंस्कृत ग्रहादि से ही परमापूर्व उत्पन्न होता है—यह भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि, वह अवान्तर अपूर्व का ही जनक होता है। अतः, परमापूर्व प्रयुक्त न होने से भी चमसादि में सम्मार्जन नहीं हो सकता है।

"व्यवस्था" = ग्रहादि की व्यवस्था होगी, अर्थात् ग्रह का ही सम्मार्जन इस प्रकार का नियम होगा, "वा" = पूर्वपक्ष के निरास के लिए है, "अर्थस्य श्रुतिसंयोगात्" = क्योंकि, इस प्रकार श्रुतिसंयोग है, अर्थात् ग्रहत्व शक्यार्थ होने से वही ग्रहणीय है, "तस्य शब्दप्रमाणत्वात्" = यतः वह अर्थात् ग्रह की जो अपूर्व साधनता, वह शब्दप्रमाण अर्थात् एकमात्र शास्त्र से ही अवगत होता है ॥ १७ ॥

यह अष्टम चमसाधिकरण सम्पूर्ण हुआ।

अथ नवममानर्थक्यतदङ्गाधिकरणम्।

[९] आनर्थक्यात्तदङ्गेषु ॥१८॥

शा० भा०—वाजपेये श्रूयते 'सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति' इति। तत्र संदेहः—किं सप्तदशारत्निता वाजपेयस्योर्ध्वपात्रे निविशते, उत पशोर्यूपे निविशत इति। किं तावत्प्राप्तम्? ऊर्ध्वपात्र इति। कुतः? वाजपेयस्य यूपाभावात्। यद्वाजपेयस्यास्ति पात्रं यूपसदृशम्, तत्र भवितुमर्हति। अस्ति च षोडशिपात्रम्। तच्च खादिरत्वादूर्ध्वत्वाच्चयूपसदृशम्। तत्र निवेशे सति वाजपेयशब्द आञ्जस्येन भवति[1]। इतरथा वाजपेयाङ्गपशुयागे लक्षणया वाजपेयशब्दो वृत्त इति गम्यते।

ननु त्वत्पक्षेऽपि यूपशब्दो लक्षणयोर्ध्वपात्रे। उच्यते। सर्वथा वयं लक्षणाशब्दान्न मुच्यामहे। मत्पक्षे तु वाजपेयप्रकरणमनुगृह्यते। तस्मादूर्ध्वपात्रे निवेश इति। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—आनर्थक्यात्तदङ्गेषु। वाजपेयशब्दस्तावत्सोमयागविशेषवचनः। तस्य साक्षाद्यूपेन न प्रयोजनम्। अस्ति तु तस्याऽङ्गं पशुयागः। तस्य तु पशुं बध्नुं यूपेन कार्यम्। साक्षाद्वाजपेययूपस्य यदि सप्तदशारत्निता विधीयते, तस्याभावादनर्थकमेव वचनं प्राप्नोति। तदनर्थकं मा भूदिति योऽस्य पशुयागे यूपः तत्र निवेशमर्हति। ऊर्ध्वपात्रे च यूपशब्दो लक्षणया स्यात्।

नन्वितरस्मिन्नपि पक्षे वाजपेयशब्दो लक्षणयेति। नेति ब्रूमः। वाजपेय एव वाजपेयशब्दो भविष्यति। शक्ष्यति[2] च स पशुयूपं विशेष्टुम्। सोऽस्याङ्गस्योपकारकः। यश्च यस्योपकारिण उपकरोति, भवति स तस्य संबद्धो मुख्येनैव संबन्धेन। चैकान्तरितमिति कृत्वाऽसंबद्धो भवति। यथा देवदत्तस्य नप्तेति पुत्रेण चासावन्तरितः। अथ च देवदत्तेन मुख्येनैव संबन्धेन संबद्धः। तस्मादेष एव पक्ष आश्रयणीयः न ह्येतस्मिन्पक्षे कश्चिदपि लक्षणाशब्दो भवतीति ॥१८॥

इति नवममानर्थक्यतदङ्गाधिकरणम् ॥९॥

---

१. ब. भविष्यति। २. ब. शक्नोति।

अथ नवममानर्थक्यतदङ्गाधिकरणम्

त० वा०—यदि सप्तदशारत्निः वाजपेयस्येति विधीयते, यूपशब्दो यथाकथंचित्तदनुवादः। ततः षोडशिपात्रे निवेशः। अथापि यो वाजपेयस्य संबन्धी, स सप्तदशारत्निरिति विधीयते, तथाऽप्येवम्। अथ यो यूपः, स सप्तदशारत्निरिति वचनव्यक्तिः, वाजपेयशब्दो यथाकथंचिद्विशेषणम्, प्रकरणप्राप्तानुवादो वा। ततस्तदङ्गपशुयूपस्येदं परिमाणमिति। किं प्राप्तम् ?

आनन्तर्यात्प्रधानत्वात्तथा प्रकरणाच्छ्रुतेः।
वाजपेयेन संबन्धः साक्षान्न पशुना सह॥

साक्षात्कर्मणः सप्तदशारत्नित्वं न संभवतीति, तदङ्गद्रव्यं गृह्यते। यत्र यदेव साक्षात्संबन्धि, तदेव ग्रहीतव्यम्। यद्यपि पशुरपि वाजपेयप्रकरणान्तर्गतइति तत्संबन्धेऽपि प्रकरणादनतिरेको भवत्येव, वाजपेयस्य तद्धि भवति, तथाऽप्यङ्गप्रधानानां भिन्नकथंभावयोगित्वाद्वाजपेयकथंभावेनाग्रहणात्प्रकरणबाधोऽभिधीयते। वाजपेयस्येति च षष्ठीश्रुत्या संबन्धो भवति। भवतस्तु यूपसामानाधिकरण्याद्वाक्येन स्यात्। न च वाजपेयशब्दवेलायां कश्चिद्विरोधो येन लक्षणाऽऽश्रीयते, 'गुणे त्वन्यायकल्पना' इति। तद्वरं यूपशब्द एव लक्षणा। तस्मादूर्ध्वपात्र एव निवेश इति प्राप्ते।

अभिधीयते—

अगत्या लक्षणावृत्तिः समभिव्याहृतैर्भवेत्[1]।
न चोर्ध्वपात्रसंवन्धो यूपशब्दः प्रतीयते॥

यो हि प्रकरणमव्यवहितसंबन्धं चानुजिघृक्षति, तस्य यूपशब्दोऽनर्थकः स्यात्। ऊर्ध्वपात्रं लक्षयिष्यतीति चेत् ? न। असति सामानाधिकरण्ये, अन्यथा संभवे वा लक्षणाभावात्। अस्मत्पक्षे पुनर्न किंचिल्लक्षणावृत्तम्, षष्ठ्याः संबन्धमात्रवाचित्वेनाऽनङ्गेऽप्युपकारकमात्रापेक्षयोपपन्नत्वात्। न ह्यसावङ्गाङ्गिसंबन्धमेवैकं ब्रवीति। अनङ्गमपि स यूपस्तदङ्गपश्वर्थत्वादुपकारको वाजपेयस्य।

यत्त्वानन्तर्येण षष्ठीश्रुतिर्विनियोजिकेति, तद्यूपशब्देनापि सहाविशिष्टम्। अतश्च सप्तदशारत्निविधिपरेऽनूद्यमानत्वाद्यादृशं वयं वाजपयेस्य यूपं पश्यामः तादृशस्य ग्रहणमिति पशुयूपाश्रयणम्। अस्ति त्वेषाऽपि जिज्ञासा यदि वाजपेयस्य साक्षाद्यूपः स्यादिति। यदा तु स नोपलब्धः तदा पक्षान्तरमवलम्बितम्।

किं च—

वाजपेयेन संबन्धस्त्रेधाऽपि न निरूप्यते।
साक्षात्संबन्धिमात्रेण तद्यूपेनाथवा स्फुटः॥

---

१. क० समभिव्याहृते।

साक्षात्तावन्न सप्तदशारत्नित्वं युज्यत इत्युक्तम् । संबन्धिमात्रमप्यनिर्दिष्टम्, वाजपेयस्येत्येतावन्मात्रेण न ज्ञायेत । यूपशब्दार्थस्त्वतत्संबन्धित्वाद् दूरभ्रष्टः । तस्माद्यथोक्तमेवास्य विशेषणत्वम् । अधिकारप्रकरणप्राप्तमनुवादिष्यति । वक्ष्यति ह्येतत् 'आरादपीति चेन्न । तद्वाक्ये हि तदर्थत्वात्' इत्यत्र । यथा प्रकरणवशेन तदुपकारिमात्रे धर्मा विधीयन्ते, न साक्षादङ्गेष्वेव केवलेष्विति । तस्मान्न केनचित्प्रमाणेन विरोध इति ॥ १८ ॥

इति नवममानर्थक्यतदङ्गाधिकरणम् ॥ ९ ॥

अथ नवममानर्थक्यतदङ्गाधिकरणम् ॥ ९ ॥

न्या० सु०—ग्रहेष्वेव सम्मार्गः, न चमसेष्वित्युक्ते सप्तदशारत्नित्वं षोडशिपात्रे निविशते यूपे वेति चिन्तायाः प्रासङ्गिकत्वेनाऽनन्तरसङ्गति चतुर्द्धाकरणाधिकरणस्य चमसाधिकरणसङ्गत्यभिधानेन सूचयिष्यमाणत्वात्स्पष्टत्वेनाऽनभिधाय भाष्योक्तसन्देहं वचनव्यक्तिसन्देहेनोपपादयति—**यदीति** । यूपशब्दानुवादसामर्थ्यात्सप्तदशारत्नित्वस्य यूपसदृशे षोडशिपात्रे निवेशाभ्युपगमेऽनुवादात्षोडशि पात्रप्राप्तिः, तत्प्राप्तेश्चानुवाद इत्यन्योन्याश्रयापत्तिमाशङ्क्य, सप्तदशारत्नित्वस्य वाजपेयङ्गात्वेन विधीयमानस्य साक्षाद्वाजपेयान्वयायोगाद्वाजपेयान्वयियोग्यद्रव्यापेक्षायां यूपस्य वाजपेयानन्वयित्वात्साक्षाद्वाजपेयाङ्गभूतायाश्च सोमलतायाः क्वचिद्भावात्प्रदेय सोमरसाधारत्वद्वारा षोडशिपात्रस्य वाजपेयान्वयात्पात्रान्तरापेक्षया च तस्य सामान्यतो दैर्घ्यप्राप्तेर्दैर्घ्यविशेषात्मकसप्तदशारत्नित्वविध्यौचित्यात्षोडशिपात्रप्राप्तिः यथा कथं चिच्छब्देनोक्ता । सप्तदशारत्निशब्दस्य लोहितोष्णीषन्यायेनाऽप्राप्तविशेषणविध्यर्थत्वेऽप्युपात्तान्यपदार्थबहुव्रीह्यवयवयोगाद्वाजपेयशब्दस्यान्य - पदार्थसमर्पकत्वाभ्युपगमे सम्बन्धिपरत्वोपपत्तेः, कोऽसौ वाजपेयसम्बन्धीत्यपेक्षायामनन्तरोपात्तस्य यूपस्य साक्षाद्वाजपेयासम्बन्धित्वेन नमृवद्व्यधानेऽपि तद्व्यपदेशोपपत्तेः । कथं षोडशिपात्रे निवेश इत्याशङ्क्य, अथापीत्युक्तम् । सम्बन्धिनोनुवाच्यत्वाद्यूपेन विशेषणे वाक्यभेदापत्तिसूचनार्थो यच्छब्दः । यूपस्योद्देश्यत्वे व्यवहितवाजपेयान्वयसम्भवेऽपि विशेषणाविवक्षायां वाक्यभेदापत्तेर्वाजपेयशब्दस्य विशेषणत्वायोगमाशङ्क्य, अगत्या वाजपेयविशिष्टस्य यूपस्योद्देश्यत्वानुद्देश्यान्तर्गत एव वाजपेयो नोद्देश्यविशेषणमिति सूचनार्थो यथा कथंचिच्छब्दः । अविशेषितस्याऽप्युद्देश्यत्वसम्भवे विशेषणस्यानाकाङ्क्षितत्वादुद्देश्यान्तर्गतावप्युभयत्ववद्वाक्यभेदापत्तेर्विशेषणत्वापरितोषाद्वाजपेयप्रकरणाम्नानेन वाजपेयसम्बन्धित्वस्य प्राप्तस्यानुवादपक्षः स्वमतेनोक्तः । बहुव्रीहेर्विशेषणपरत्वसूचनार्था परिमाणोक्तिः । तत्र निवेशे सति वाजपेयशब्द आञ्जस्येन भवति । मत्पक्षे तु वाजपेयप्रकरणमनुगृह्यतइति । भाष्यद्वयोक्तस्य हेतुद्वयस्यापरहेतुद्वयोपलक्षणार्थत्वं दर्शयन्पूर्वपक्षमाह—**किमिति** । सप्तदशारत्निवद्वाजपेयस्येत्यनन्तरान्वयसम्भवे वाजपेयशब्दव्यवहितयूपशब्दान्वयायोगात्प्रधानभूतवाजपेयान्वयसम्भवे वाङ्गभूतपश्वङ्गयूपान्वयायोगात् वाजपेयान्वयाच्च

तत्कथंभावलक्षणप्रकरणाबाधसम्भवे तद्बाधायोगाच्छ्रुतिवृत्तवाजपेयप्रातिपदिकषष्ठीश्रुतिभ्यां च वाजपेयान्वयसम्भवे प्रातिपदिकलक्षणावृत्त्यापादकवाक्यीययूपान्वयायोगाद्वाजपेयाङ्गतैव युक्ता, न पशुयागाङ्गयूपाङ्गतेत्युक्ते, वाजपेयान्वयेऽपि षोडशिपात्राङ्गत्वाभ्युपमेन साक्षाद्वाजपेयाङ्गत्वाभावात्पारम्पर्येण च वाजपेयाङ्गत्वस्य यूपान्वयेऽप्युपपत्तेः। प्रधानत्वादिहेतूनां पक्षद्वयेऽप्यविशेषात्पूर्वपक्षसाधकतामाशङ्क्य यूपाङ्गत्वावेदकवाक्यत्वत्षोडशिपात्राङ्गत्वावेदकप्रमाणाभावेन षोडशिपात्रस्य द्वारमात्रत्वादव्यवधायकत्वसूचार्थः साक्षाच्छब्दः। सप्तदशारत्नित्वस्य साक्षाद्वाजपेयान्वये कथं षोडशिपात्रे निवेश इत्याशङ्क्याह—**साक्षादिति**। एवमपि यूपस्यापि पशुयागद्वारा वाजपेयाङ्गत्वात्कथं षोडशिपात्रे निवेश इत्याशङ्क्याह—**तत्रेति**। वाजपेयाङ्गषोडशिग्रहाख्यसोमरसाधारत्वद्वाराऽपि पात्रस्य वाजपेयान्वये ग्रहैर्जुहोतीत्यातिदेशिकेन वाक्येन प्रक्षेपाधिकयागरूपहोमाङ्गत्वाविरोध इत्याशयः। अनेन चानन्तर्याच्छ्रुतेरित्यानन्तर्यशब्दस्यावृत्त्या साक्षात्ववाचिनः श्रुतिशब्दान्वयमङ्गीकृत्य साक्षात्सम्बन्धिनि षष्ठीश्रुतेर्विनियोक्तृत्वादित्यपि व्याख्या सूचिता।

मत्पक्षे त्विति भाष्यं वाजपेयप्रकरणान्तर्गतपशुयागान्वयद्वारा सप्तदशारत्नित्वस्य वाजपेयान्वयित्वात्सिद्धान्तेऽपि प्रकरणानुग्रहोपपत्तेरयुक्तमाशङ्क्याधिकारलक्षणप्रकरणाबाधेऽपि कथंभावलक्षणप्रकरणबाधाशयत्वेनोपपादयति—**यद्यपीति**। वाजपेयशब्दाङ्गस्योक्त्या द्विविधश्रुत्युक्तावपि प्रातिपदिकश्रुतेरितरथेति भाष्येणैव व्याख्यातत्वात्षष्ठीश्रुति व्याचष्टे—**वाजपेयस्येति**। पक्षद्वयस्याशयमाह—**न चेति**।

अदितिः पाशम्प्रमुमोक्त्वे तम्, अदितिः पाशान्प्रमुमोक्त्वेतानित्येकबहुवचनान्तमन्त्रयोर्दीक्षप्रकरणाम्नातयोर्बहुवचनान्तस्यैकपाशके कर्मण्यसमवेतार्थत्वादुत्कर्षं पूर्वपक्षयित्वा, विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात्समत्वाद् गुणे त्वन्यायकल्पनैकदेशत्वादि'ति नवमाधिकरणसूत्रेण बहुवचनस्यासमवेतार्थत्वेऽपि तदनुरोधेनानुपसञ्जातविरोधावस्थायां श्रुतस्य प्रातिपदिकस्योत्कर्षायोगात् तस्यैव तु प्रातिपदिकात्परप्रयोज्यत्वस्मृतेः प्रातिपदिकपारतन्त्र्यलक्षणगुणत्वावसायात्प्रातिपदिकानुरोधेन प्रातिपदिकार्थद्रव्यलक्षिततदवयवसंख्यावाचित्वलक्षणान्यायकल्पनाया युक्तत्वात्कर्मबहुत्वरूपानेकबहुवचनार्थसमुदायैकदेशत्वाच्च बहुत्वस्य समवेतकर्मत्वप्रकाशनार्थं प्रयोज्यत्वेनावगतस्य बहुवचनस्यार्थैकदेशबहुत्वानुरोधेनोत्कर्षायोगान्मन्त्रद्वयस्य प्रकरणाम्नानसाम्याद्विकल्प इति सिद्धान्ते वक्ष्यमाणे पश्चाच्छ्रुतत्वेन बहुवचनस्य प्रातिपदिकं प्रति गुणत्वोक्तेर्यूपशब्दे पश्चाच्छ्रुतत्वेन वाजपेयशब्दं प्रति गुणत्वमुपचर्यत इति तत्सूत्रैकदेशोपन्यासः। युपशब्दस्योर्द्ध्वपात्रे गौणत्वाभ्युपगमाल्लक्षणोक्त्या गौणत्वं विवक्षितम्। तस्मादिति पूर्वपक्षोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति**। साक्षाद्वाजपेयसम्बन्धिनि सप्तदशारत्नित्वविधौ साक्षात्सम्बन्धिनोऽपि षोडशिपात्रस्य सामान्यतो दैर्घ्यप्राप्तिमात्रेण विधेयसप्तदशारत्नित्वविषयताया निष्प्रमाणकत्वेनावधारणाशक्तेर्यूपशब्दस्य गौणवृत्त्या षोडशिपात्रसमर्पणार्थं साक्षाद्वाजपेयसम्बन्धिनिर्देशकत्वाभ्युपगमप्रसङ्गात्परपदसामानाधिकरण्याभावेन च गौणवृत्त्ययोगाद्यूपस्यैव साक्षाद्वाजपेयसम्बन्धित्वेन निर्देशापत्तेः, तस्य च साक्षाद्वाजपेयसम्बन्धि-

त्वाभावेन साक्षाद्वाजपेयसम्बन्धिनि सप्तदशारत्नित्वविध्यानर्थक्यप्रसङ्गाद्वाजपेयाङ्गभूतपशुयागसम्बन्धिनि यूपे सप्तदशारत्नित्वविधिरित्येवं सूत्रव्याख्यार्थमेवमित्यादिभाष्यं तात्पर्यतो व्याचष्टे—**इतीति**। न चोद्ध्वंपात्रशब्दसमभिव्याहृतो यूपशब्दः प्रतीयत इत्यर्थः। श्लोकं व्याचष्टे—**योहीति**। अगत्यभावोक्तचर्येनाऽस्मत्पक्षे त्वित्यादिना वाजपेय एवेत्यादिभाष्यं व्याख्यातम्। आनन्तर्यादिति पूर्वपक्षहेतोर्द्वेधा व्याख्यासूचनायाऽनन्तर्यषष्ठीश्रुती एकहेलयानुभाषते—**यत्त्विति**। नैरन्तर्यं तावद्वाजपेयशब्दस्य मध्यपाठात्सप्तदशारत्निशब्दवद्यूपशब्देनापि तुल्यमित्यादि व्याख्याशयेनानुभाषणे परिहरति—**तदिति**। साक्षात्सम्बन्धिनि षष्ठीश्रुतेरिति द्वितीयव्याख्याशयेनानन्तर्याच्छ्रुतेरित्यनुभाषणपक्षे वाजपेयान्वयस्यानुवाद्यत्वान्न साक्षात्वादर इति परिहरति—**अतश्चेति**। यूपस्य सप्तदशारत्नित्वविधौ वाजपेयान्वयाननुवादमाशङ्क्यानन्तर्यबलादेव विवक्षितस्याप्यन्वयस्यावगमोऽतश्चेत्यनेनोक्तः।

ननु 'दीक्षाः सोमस्ये'त्यादिवत्प्रकरणप्राप्तस्यापि प्रधानान्वयस्य परिसंख्यार्थत्वेनापि विधिसम्भवेऽनुवादत्वाभ्युपगमो न युक्त इत्याशङ्क्याह—**अस्ति त्विति**। बहुव्रीह्यपेक्षितस्यान्यपदार्थस्य वाजपेयशब्देन समर्पणाशक्तिर्यूपशब्देनैव तत्समर्प्यस्यावगमाद्यूपस्य च वाजपेयान्वयाभावात्सप्तदशारत्नित्वस्य वाजपेयान्वयपक्षत्यागेन यूपान्वयपक्षोऽत्रलम्बित इत्यर्थः।

सप्तदशारत्नित्वस्य च वाजपेयेन सह साक्षाद्वाऽन्वयः स्यात् सम्बन्धिमात्रद्वारा, यूपद्वारा वा। सर्वथा न सम्भवतीत्याह—**किं चेति**। श्लोकं व्याचष्टे—**साक्षात्तावदिति**। यूपस्य वाजपेयाङ्गत्वाभावे शक्ष्यति च स पशुयूपं विशेष्टुमिति भाष्ये वाजपेयस्य यूपविशेषणोक्तिर्न युज्येतेत्याशङ्क्य पारम्पर्यान्वयाविशेषणत्वं व्याख्येयमित्याह—**तस्मादिति**। स्वरूपे, कार्ये चोपयोगिनोऽङ्गत्वावसायाद्यूपस्य च प्रकृतौ विज्ञातोत्पत्तिप्रकारत्वेन स्वरूपोपयोग्यङ्गानपेक्षणात् कार्यस्यापि पशुनियोजनस्य पशुयागस्य चातिदेशादेवज्ञातोपायपरिमाणत्वेन तदुपयोगिनोऽप्यङ्गस्यानपेक्षणात्सप्तदशारत्नित्वस्य वाजपेयापूर्वापयोगित्वोक्त्यै वाजपेयविशिष्टस्य यूपस्योद्देश्यताऽङ्गीकार्येति भाष्याशयः। विशिष्टानुवाददोषापत्तेर्भाष्योक्तदोषापरितोषात्स्वमतेनाधिकारलक्षणप्रकरणप्राप्तवाजपेयान्वयानुवादमाह—**अधिकारेति**। अनङ्गगतस्यापि च साप्तदश्यस्योपकारिस्थितित्वमात्रेण वाजपेयोपकारित्वोपपत्तेः कथंभावात्मकमपि प्रकरणं न विरुध्यत इत्याह—**वक्ष्यति हीति**॥१८॥

इति नवममानर्थक्यतदङ्गाधिकरणम्॥

भा० प्र०—वाजपेय प्रकरण में "सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपो भवति" (श० ब्रा० ३।६।४ २६) "वाजपेय का सतरह अरत्निप्रमाण यूप होगा" ऐसा श्रुतिवाक्य है। यह सतरह अरत्निप्रमाण वाजपेय के ऊर्ध्वपात्र का परिमाण है या वाजपेयाङ्ग जो पशुयाग उसके यूप का परिमाण है—यही संशय है। इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का कहना है कि सप्तदशारत्निका वाजपेय का खदिरमय षोडशीपात्र नामक ऊद्ध्वंपात्र का ही परिमाण है, कारण, वाजपेय स्वयं पशुयज्ञ न होने से उसमें यूप नहीं है। यूप न होने से सप्तदश अरत्नि यूप का परिमाण नहीं हो सकता है। इस स्थल में यूप शब्द लक्षणा के बल से

ऊद्ध्वंपात्र का बोधक है। ऊद्ध्वंपात्र का गुण होने पर प्रधान कर्म वाजपेय साक्षात् सम्बन्ध से युक्त होता है। अतः, सप्तदशारत्नि शब्दबोधित यह ऊद्ध्वंपरिमाण वाजपेय का ही अङ्ग है, क्योंकि "सप्तदशारत्नि" एवं वाजपेय इन दो शब्दों का आनन्तर्य श्रुतिवाक्य में परिलक्षित होता है और इस पक्ष में प्रकरण की मर्यादा रक्षित होती है, इसमें "वाजपेयस्य" यहाँ सम्बन्ध में षष्ठी भी उपपन्न होती है।

इसके समाधान में सूत्र के द्वारा कहा गया है कि "सप्तदशारत्निर्यूपः" इस रूप में सामानाधिकरण्य रहने से यूप के साथ ही सप्तदशारत्निता का साक्षात् सम्बन्ध रहता है। यूप पशु का अङ्ग होने से सप्तदशारत्नियूप के द्वारा पशु का अङ्ग होता है। वाजपेय में पशु नहीं है, किन्तु पशुयाग वाजपेय का अङ्ग है। अतः, पशु वाजपेय का अङ्ग होने से यूप पशु के द्वारा प्रधान कर्म का ही अङ्ग होता है। अतः, सप्तदशारत्नि एवं वाजपेय इन दो शब्दों का आनन्तर्य होने से सप्तदशारत्निता वाजपेय का अङ्ग होगा—यह नहीं कहा जा सकता है।

वस्तुतः सप्तदशारत्निता पशु का अङ्ग जो यूप तद्गामी होने पर भी फलतः वह वाजपेय का ही उपकारी होता है। इस पक्ष में प्रकरण का भी कोई विरोध नहीं होता है। "वाजपेयस्य" यहाँ सम्बन्धसामान्य में षष्ठी है, किन्तु इसमें साक्षात् सम्बन्ध ही होगा—ऐसा कोई नियम नहीं है। अतः, परम्परा सम्बन्ध होने पर भी वाजपेय के साथ सम्बन्ध रहता है। शक्यार्थ की अनुपपत्ति न रहने पर लक्ष्यार्थ का ग्रहण नहीं किया जाता है, अतः, इस स्थल में यूप शब्द में लक्षणा करना भी उचित नहीं है। अतएव "आनर्थक्यात् तदङ्गेषु" वाजपेय में यूप न होने से सप्तदशारत्निता वाजपेय का अङ्ग जो पशुयाग उसमें निविष्ट होगा—उस पशुयाग का यूप ही ऊर्ध्व में सप्तदश अरत्नि-प्रमाण होगा।

"आनर्थक्यात्" = सप्तदशारत्नित्व आदि का वाजपेय में आनर्थक्य होने से "तदङ्गेषु" = उसका अर्थात् वाजपेय का अङ्ग होने से, वे ही विनियुक्त होते हैं॥ १८॥

यह नवम आनर्थक्यतदङ्गताधिकरण। अर्थात् सप्तदशारत्निता का पशुधर्मताधिकरण में सम्पन्न हुआ॥

[१०] कर्तृगुणे कर्मासमवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥१९॥ पू०

शा० भा०—दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजवाक्ये श्रूयते, 'अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै' इति। तत्र संदेहः किमभिक्रमणं प्रयाजेष्वेव निविशते, उत कृत्स्ने प्रकरणे इति। किं तावत्प्राप्तम्? कर्तृगुणेऽभिक्रमणे ब्रूमो वाक्यभेदः स्यादिति। कर्मणा कर्मणोऽसमवायात्। अभिक्रमणं कर्मामूर्तम्। न तत्कर्म हवनं साधयितुं शक्नोति। तस्मान्न तेनैकवाक्यतां याति। अतः सर्वस्मिन्प्रकरणे निविशते, संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्चेति।

नन्वनेनैव हेतुनाऽन्यस्मिन्नपि न निवेक्ष्यते। उच्यते। अन्यत्र पुरुषैः संभन्त्स्यते।

ननु प्रयाजेष्वपि पुरुषैः संबध्येत। नैतदेवम्। जुहोतीति हवन एष शब्दः पुरुषप्रयत्नं विधातुं[1] शक्नोति, न पुरुषाभिक्रमणसंबन्धम्। नन्वन्यत्रापि पुरुषाभिक्रमणसंबन्धस्याविधानम्। नैष दोषः। अन्यत्र प्रकरणाम्नानादङ्गभावे निज्ञति प्रयोगवचनोऽस्य कर्तव्यतां वक्ष्यति। तस्मात्सर्वस्मिन्प्रकरणेऽभिक्रमणस्य निवेश इति ॥१९॥ पूर्वपक्षः ॥

त० वा०—एवं संस्कारद्रव्यगुणा विचारिताः। इदानीं यत्कर्मैव कर्मसंबन्धित्वेन श्रूयमाणमर्थात्संस्कारत्वं प्रतिपत्स्यते, तद्विचार्यते। तत्राभिक्राममिति णमुला वीप्सार्थोपादानादभिक्रम्याभिक्रम्य किमपि करोतीत्यपेक्षिते परश्च जुहोतिः प्रकृतप्रयाजग्राही दृश्यते। तत्किमभिक्रमणं तेनैव संबध्यते, उत प्रकृतमात्रेणेति। संबन्धश्रवणे च सति संशयाक्षेपपरिहारावरुणाधिकरणवद् द्रष्टव्यौ। कर्मणोऽमूर्तत्वाद्वाक्येन च स्वसंबन्धोपादानात्। अनेनैवं विशेषेण पुनरारम्भः।

यत्तत्र समानाधिकरणं द्रव्यमुपात्तम्, तद्विषयनियमे च तत्साध्यक्रियासंबन्धस्योपपत्तित्वम्। इह तु तस्यैव साध्यत्वम्। अपेक्षितश्च गुणः परिच्छेदकत्वेन विज्ञातक्रियासंबन्धप्रकारः। न त्वत्राभिक्रिया। नानाभूतानि च तत्र क्रियान्तरद्रव्याणि। अत्र पुनः सर्वकर्मसु स एवाध्वर्युः कर्तेत्यपुनरुक्तता। किं तावत्प्राप्तम्? सर्वार्थमिति। कुतः?

कर्मणः कर्मसाध्यत्वं नामूर्तत्वात्प्रतीयते।
तस्माज्जुहोतिसंबन्धं परित्यज्य विधीयते॥

न तावदभिक्रमणेन होमं करोतीति वक्तुं शक्यम्। अतो न प्रयाजैः संबध्यते। ततश्चारुणाधिकरणपूर्वपक्षवद्वाक्यभेदः स्यात्। **नन्वनेनैव हेतुनाऽन्यत्राप्यनभिनिवेश इत्यरुणाचोद्यमेव।**

परिहारश्चाऽऽख्याते कर्तुर्गुणभूतत्वाद्बलाद्धोमसंबन्धापत्तेर्न जुहोतिना गृहीतेन प्रयाजादीनां कर्त्रा संबन्धः। अन्यत्र तु प्रकरणगृहीतस्य प्रधानभूतस्य कर्तुः संबन्धो न विरोत्स्यते॥ १९॥

अथ दशममभिक्रमणाधिकरणम्॥ १०॥

न्या० सु०—आनर्थक्यापत्त्या श्रुतक्रियान्वयायोगेन तदङ्गावतारे स्थिते, तद्विशेषचिन्तात्वेनोत्तराधिकरणद्वयस्यानन्तरसङ्गतौ स्पष्टायामभिक्रमणोपव्यानयोस्तदङ्गावतारे सति संस्कारत्वापत्तेः, सम्मार्गाख्यसंस्कारचिन्तानन्तरमेव चिन्ता कार्या, न सासदश्यगुण-

---

१. ब. विदधातुं।

चिन्तानन्तरमित्याशङ्क्याह—**एवमिति**। क्रियायाः साक्षात्क्रियान्वयायोगाद् गुणवत्क्रिया-साधनद्रव्यद्वारा क्रियान्वयेनार्थात् द्रव्यसंस्कारत्वावगतेर्गुणचिन्तानन्तरं चिन्ता युक्तेत्याशयः।

ननु धातुसम्बन्धाधिकारणमुल्श्रुतिवशादभिक्रमणस्य क्रियान्तरान्वयावगमेऽप्यारादुप-कारित्वेऽप्यन्वयाविरोधात्कथं संस्कारत्वावगतिरित्याशङ्क्याह—**तत्रेति**। आभीक्ष्ण्ये णमुल्चेति स्मृतेर्वीप्सार्थस्यावृत्तिरूपस्याभीक्ष्ण्यस्य णमुलोपादानादारादुपकारित्वे च तन्त्र-त्वादावृत्त्यनुपपत्तेः। संस्कारस्य तु कार्ययोग्यताधानार्थत्वात्प्रतिकार्यमावृत्त्युपपत्तेः संस्कारत्वावगतिरित्याशयः। प्रयाजविधायिसमिदादिवाक्येभ्योऽभिक्रमवाक्यस्याऽन्यत्वात्प्रया-जवाक्ये श्रूयत इति। भाष्यमयुक्तमित्याशङ्क्यावान्तरप्रकरणाशयत्वं वाक्योक्तेः सूचयितु-माह—**परश्चेति**। तत्रेति सन्देहभाष्यं व्याचष्टे—**तदिति**। विस्पष्टजुहोतिसम्बन्धश्रुतेः पूर्वपक्षवचनव्यक्त्ययोगात्सन्देहायोगमाशङ्क्याह—**सम्बन्धेति**। यथा 'कथं पुनररुणये'ति भाष्येण विस्पष्टक्रयसम्बन्धावगमेनाऽरुणाधिकरणसन्देहमाक्षिप्येह गुणमरुणिमानमित्यादि-भाष्येण शब्दवस्तुविसम्वादात्परिहारोऽभिहितः तथाभिक्रमणस्यापि णमुल्श्रुत्या क्रियान्तर-साधनत्वावगमादमूर्त्तत्वाच्च वस्तुस्वरूपालोचनेनासाधनत्वावगमात्सन्देहाक्षेपस्य परिहारो वाच्य इत्यर्थः। एतदेव विवृणोति—**कर्मण इति**। पौनरुक्त्यात्तर्हि नेदमधिकरणमारभ्य-मित्याशङ्क्याह अव्ययकृतो भावे भवन्तीति अव्ययत्वाण्णमुलोऽभावमात्रवाचित्वस्मृतेरेक-हायनीवत्समानाधिकरणद्रव्यानुपादानाद् द्रव्यविषयनियमे चोपपत्तिभूतस्य साध्यक्रिया-सम्बन्धस्य णमुलुक्तसमानकर्तृकपूर्वकालत्वान्यथाऽनुपपत्तिसाध्यत्वेनाऽनुपपत्तिसाध्यत्वेन कर्तृ-भूतद्रव्यान्वयात्प्रागवगतेर्द्रव्यनियमोपपत्तित्वायोगादपरिच्छेदकत्वेन च क्रियाया गुणवत्क्रिया-साधनद्रव्योपादानानौपयिकत्वादध्वर्य्वाख्यस्य च द्रव्यस्येह द्वारत्वेनाभिमतस्यानेकक्रिया-साधारण्येनैकहायनीवद्व्यवस्थितक्रियाद्वारत्वायोगाच्चतुर्द्धा वैषम्यमाह—**अनेन चेति**।

कर्मणः कर्मणा सह साध्यसाधनत्वलक्षणान्वयायोगादभिक्रामं जुहोतीति वाक्यस्य विभागरूपो भेदः स्यादित्येवं पूर्वपक्षसूत्रावयवव्याख्यार्थं 'किं तावदिति भाष्यं व्याचष्टे—**किं तावदिति**। कर्मैव विचार्यतइत्युपक्रमात्सर्वामभिक्रमणार्थख्यं कर्मेति प्रतिज्ञायां पूरितायां जुहोत्यन्वयाद्धोममात्रार्थत्वप्रतीतेः कुतः सर्वार्थतेति पृष्टे, कर्मणोऽभिक्रमणस्यामूर्त्तत्वा-द्धोमाख्यं कर्मसाधनत्वं न प्रतीयतइति, कर्मसाध्यमस्येति बहुव्रीहिणोक्त्वा जुहोत्यन्वयस्तर्हि कथमित्याशङ्क्य, जुहोतिसम्बन्धं परित्यज्याऽभिक्रमणं विधीयते इत्युक्तम्। श्लोकं व्याचष्टे—**न तावदिति**।

नन्वित्याशङ्काभाष्यं 'येनैव हेतुना क्रीणातिना न सम्बध्यत' इत्यादि नास्ति वाक्यभेद इत्यन्तारुणाधिकरणशङ्काभाष्यवदनर्थक्यपरिजिहीर्षयैकवाक्यतापादनार्थत्वेन व्याचष्टे—**नन्विति**। अन्यत्र क्रियान्वयायोगेऽपि कर्तृत्वेनावगतस्याध्वर्य्वादेः कर्तृत्वशक्तिजननार्थं संस्कारपेक्षायां देशान्तरस्थकार्यप्रत्यासत्तिजननेनाभिक्रमणस्य कर्तृशक्तिजनकतया कर्त्तारं संस्काररूपगुणत्वेनान्वयः सम्भवतीत्येवं परिहारार्थत्वेन कर्तृगुण इति सूत्रावयवव्याख्यार्थ-मुच्यत इत्यादिभाष्यं व्याचष्टे—**परिहारश्चेति**।

जुहोत्यन्वयित्वेनावक्षिप्तकर्त्रन्वयाविरोधं नन्विति भाष्यावयवेनाशङ्क्य, जुहोतीत्येष समानकर्तृवाचिणमुलुक्तत्वाकर्तृभूतपुरुषान्वयित्वेना'वगतमप्यभिक्रमणप्रयत्नमाख्याते क्रिया-प्राधान्यात्, तदङ्गतयैव विधातुं शक्नोति, न गुणभूतपुरुषाङ्गतयेति परिहारार्थं नैतदिति भाष्यावयवं व्याख्यातुमाख्यातइत्युक्तम् । अन्यतोऽवगतकर्तृत्वस्य पुरुषस्य प्रयोजनत्वा-त्प्राधान्यभाक्तेनाङ्गान्वययोग्यत्वेऽपि विधायकाख्यातत्यागात्तदङ्गतयाऽभिक्रमणस्य विधिर्न्न सम्भवतीति नन्वन्यत्रापीति भाष्यावयवेनाशङ्क्य, प्रकरणावगतदर्शपूर्णमासाङ्गभावस्याऽभि-क्रमणस्य कथं दर्शपूर्णमासयोरुपकर्त्तव्यमित्यपेक्षायां यथा शक्नुयादित्युपबन्धेन प्रत्यासत्त्या-ख्यकर्तृसंस्कारजनकस्य प्रयोगवचनाद्विधिर्भविष्यतीति परिहारार्थं चैष इति भाष्यावयवं व्याख्यातुमन्यत्र त्वित्युक्तम् ॥ १९ ॥

भा० प्र०—दर्शपूर्णमास का प्रयाज नामक अङ्ग याग के समीप में श्रुति में कहा गया है कि "अभिक्रामं जुहोत्यभिजित्यै" (तै० सं० २।६।१) "पुनः पुनः सञ्चरण करता हुआ आहुति दे, सभी ओर से जय के लिए"। होम के समय आहवनीय नामक अग्नि के समीप में सञ्चरण करे—यही इस वाक्य का अर्थ होता है। यह सञ्चरण केवल प्रयाज-कर्ता के साथ सम्बद्ध है या दर्शपूर्णमासकर्ता के साथ सम्बद्ध है अर्थात् दर्शपूर्णमास-यागीय सभी होमकर्ता आदि के साथ सम्बद्ध है—यही संशय होता है। इसमें पूर्वपक्षी कहता है कि "कर्तृगुणे तु वाक्यभेदः स्यात्" = वाक्यभेद होगा, वाक्यभेद कर अभि-क्रमण अर्थात् सञ्चरण को सभी दर्शपूर्णमासकर्ता के साथ सम्बन्ध करना होगा, किन्तु यह केवल प्रयाजहोम के साथ अर्थात् प्रयाजकर्ता के साथ सम्बद्ध नहीं है। कारण, "कर्मा-समवायात्" = होम कर्म है एवम् अभिक्रमण भी कर्म है। कर्म अर्थात् क्रिया के साथ कर्म का अर्थात् क्रिया का अन्वय नहीं हो सकता है, क्योंकि, कारक का ही क्रिया के साथ अन्वय होता है। इसलिये, प्रकरण के अनुसार समग्र दर्शपूर्णमास कर्ता के साथ इसका सम्बन्ध होने से सभी का अभिक्रमणपूर्वक होम करे।

"तु" = पक्षान्तरसूचक है, "कर्मासमवायात्" = अभिक्रमण होमरूप कर्म में समवेत होने के अर्थात् अन्वित होने के योग्य नहीं होने से, "कर्तृगुणे" = अभिक्रमण कर्ता का गुण होने पर "वाक्यभेदः स्यात्" = वाक्यभेद करना होगा अर्थात् "जुहोति" इस पद से विच्छिन्न कर अन्यत्र उसका अन्वय करना होगा ॥ १९ ॥

यह पूर्वपक्ष है ॥

साकाङ्क्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण ॥२०॥ सि०

शा० भा०—नैतदस्ति, यदुक्तमभिक्रमणं प्रकरणे निविशत इति। प्रयाजे-ष्वेव भवितुमर्हति। कुतः? तैः सहास्यैकवाक्यता। यतः सत्काङ्क्षमेतत्पूर्वेण पदेनासमाप्तं वाक्यम् 'अभिक्रामं जुहोति' इत्यत्र पर्यवस्यति। प्रकरणाच्च वाक्यं बलवदिति, प्रयाजेष्वेवाभिक्रमणं निविशते।

नन्वभिक्रमणममूर्तत्वाद्धोमनिर्वृत्तावसमर्थमित्युक्तम् । उच्यते । साक्षादसमर्थं संबध्यमानं शक्ष्यति निर्वर्तयितुम् । कथम् ? अभिक्रमणेन समासीदत्याहवनीयं कर्ता । द्वयमभ्युपायभूतं होमस्य दूराद्वाऽभिप्रसार्य हस्तं जुहुयात्, समासीदीदन्वाभिक्रमणेन[1] । तस्मादभिक्रमणमुपकरोति होमस्येत्यवगम्यते । अतः प्रयाजेष्वेव निवेश इति ॥२०॥ सिद्धान्तः ॥

अभिक्रमणाऽधिकरणम् ॥१०॥

त० वा०—सर्वथा तावदभिक्राममित्येतत्पदं न क्रियान्तरमन्तरेण निराकाङ्क्षीभवति । न ह्येतद् द्रव्यसंबन्धं कथंचिदपि ब्रवीति । तस्मात्प्रकृतप्रयाजग्राहिणाजुहोतिनैकवाक्यत्वात्तादर्थ्यं विज्ञायते । शक्नोति च कर्तृप्रत्यासत्तिकरणेन तदुपकर्तुम् । अपेक्षिता चाऽऽहवनीयप्रत्यासत्तिरध्वर्योः प्रयाजैः, अरुणत्ववदेव वार्थाद् द्रव्यसंबन्ध इति कर्तुरुपसर्जनत्वेऽपि न कश्चिदोषः । एवं चोपकाररूपेण कर्मापि कर्मसाध्यं भवतीत्येतदपि सिद्धम् ।

यदा त्वतिस्थूलत्वानैवाभिक्राममित्येतत्पदमात्रविच्छेदेन पूर्वपक्षः क्रियते । कथं तर्हि ? यज्जुहोतीति समस्तप्रकरणजुहोत्यनुवादेनाभिक्रमणविधानादवान्तरप्रकरणस्य चाभावान्महाप्रकरणविनियोगाश्रयेण पूर्वपक्षाश्रयणम् । तदा 'कर्तृगुणे तु' अभिक्रमणेऽवान्तरप्रकरणापर्युपस्थापितप्रयाजकर्मासमवायात्, तत् प्रकरणैकवाक्यत्वाभावमात्रमेव वाक्यभेदः स्यादित्युक्त्वा 'साकाङ्क्षं त्विति' अवान्तरप्रकरणमेव प्रयाजचोदनाप्रसृतकथंभावाकाङ्क्षासंबन्धद्वारा तदेकवाक्यत्वेन सिद्धान्तोऽभिधीयते । यदपि 'असमाप्तं हि पूर्वेणेति' तत् न वाक्यासमाप्त्यभिप्रायेण । किं तर्हि ? असमाप्तं ह्यवान्तरप्रकरणं पूर्वेण प्रयाजस्वरूपगुणविधिनेत्यर्थः ।

येनाभिक्रमणादूर्ध्वं प्रयाजानां गुणोऽपरः ।
विधास्यते प्रयाजानां तस्मात्प्रकरणास्तिता ॥ २० ॥

(इति दशममभिक्रमणाधिकरणम् ॥ १० ॥)

न्या० सु०—सिद्धान्तसूत्रव्याख्यार्थं 'नैतादित्यादि प्रयाजेष्वेवाभिक्रमणं निविशते इत्यन्तं व्याचष्टे—सर्वथा तावदिति । पूर्वपक्षहेतोरनुभाषणपूर्वं परिहारार्थं नन्वित्यादिभाष्यं व्याचष्टे—शक्नोतीति । आख्याताक्षिप्तस्य कर्त्तुर्गुणभूतत्वात्कथं संस्कारान्वय इत्याशङ्क्याह—अरुणत्ववदेव चेति । कर्त्तुः श्रुत्या होमं प्रत्यङ्गत्वे अभिक्रमणं च प्रति प्राधान्ये सति वैरूप्यं स्यात् । यथात्वारुण्यस्य श्रुत्यनुगृहीताद्वाक्यादेकहायन्यन्वयो नैकहायन्या गुणत्वेऽपि वैरूप्यदोषमापादयति, तथाभिक्रमणस्याप्यर्थाल्लिङ्गात्कर्त्रन्वयो होमं प्रति कर्त्तुरुप-

1. ब. समासीदन्वाभिक्रमणेन ।

सर्जनत्वेऽपि, न वैरूप्यदोषमापादयतीत्यर्थः। आरुण्यस्यैकहायन्यन्वयो द्वारमात्रत्वाच्छ्रौत-क्रियाङ्गत्वाविरोधी अभिक्रमणस्य तु कर्तृसंस्कारत्वे तदङ्गत्वाभ्युपगमाद्धोमाङ्गत्वं विरुध्येतेत्याशङ्क्य, संस्कारस्य योग्यताधानार्थत्वेन कार्यान्वितमेव संस्कार्यान्वितमेव संस्कार्यं प्रत्यङ्गत्वावसायात्कार्यमपि प्रत्यङ्गतास्त्येवेति परिहारसूचनार्थं तस्मादिति भाष्यं व्याचष्टे—**एवं चेति**।

भाष्यमतनिराकरणेन वार्तिकमतेनाधिकरणार्थनिरूपणम्

पूर्वपक्षस्याति तुच्छत्वेन भाष्योक्तविचारापरितोषात्स्वयं जुहोत्येकवाक्यतामभ्युपगम्यै-गेतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षालक्षणत्वात्प्रकरणस्याङ्गानां चाकरणत्वेनेतिकर्त्तव्यतानाकाङ्क्षत्वा-त्प्रयाजादीनामवान्तरप्रकरणाऽनुपपत्तेर्महाप्रकरणेनाभिक्रमणाऽनुपपत्तेर्महाप्रकरणेनाभिक्रमण-स्य सर्वार्थत्वं पूर्वपक्षयित्वाङ्गानामपि करणानुग्रहभावनायां करणत्वादितिकर्त्तव्यताकाङ्क्षो-पपत्तेरवान्तरप्रकरणसम्भवात्तस्य च महाप्रकरणाद् बलीयस्ताया बलाबलाधिकरणे वक्ष्य-माणत्वादवान्तरप्रकरणेन प्रयाजमात्रार्थत्वसिद्धान्तोऽस्मिन्नधिकरणे वर्ण्यत इत्याह—**यदा त्विति**। यदैवं पूर्वपक्षकरणम्, तदा कर्तृगुणत्वेनाभिक्रमणे जुहोत्युक्तकर्मान्वयिनि प्रयाज-कर्मणोऽवान्तरप्रकरणाकाङ्क्षं त्विति प्रयाजचोदनातः प्रसूता, या कथंभावाकाङ्क्षा तन्निमित्तो योऽभिक्रमणस्य प्रयाजैः सहाङ्गाङ्गिसम्बन्धः तद्द्वारा यदभिक्रमणवाक्यस्य प्रयाजवाक्यैकवाक्यरूपमवान्तरप्रकरणम्, तदेव सिद्धान्तोऽभिधीयते इत्येवं सूत्रद्वयं व्याख्येयमित्यर्थः।

नन्ववान्तरप्रकरणरूपवाक्यैकवाक्यत्वविवक्षयैकवाक्यत्वोक्तौ स्वार्थसमाप्तस्यैव वाक्यस्य वाक्यान्तरान्वयाभ्युपगमादसमाप्त्युक्तिर्न युज्येतेत्याशङ्क्याह—**यदपीति**। प्रयाजस्वरूप-विधिमात्रेण प्रयाजावान्तरप्रकरणासमाप्तावपि जौहवचतुर्गृहीतादिप्रयाजगुणविधिना समाप्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य, गुणविधिनेत्युक्तम्। कथं समाप्तिरवसीयत इत्याशङ्क्याह—**येनेति**। यस्मादभिक्रमणदूर्ध्वं प्रयाजशेषाभिघारणाख्यः प्रयाजानां गुणोऽभिधास्यते। तस्मात्प्रयाजानां प्रकरणमद्याप्यवसीयत इत्यर्थः ॥२०॥

इति दशममभिक्रमणाधिकरणम् ॥

भा० प्र०—पूर्वपक्षी के द्वारा प्रदर्शित मत समीचीन नहीं है, कारण, "अभिक्रामम्" यह पद 'णमुल्' प्रत्ययान्त है अर्थात् अभि + क्रम + णमुल्, णमुल् प्रत्ययान्त होने से असमापिका क्रिया है। समापिका क्रिया के बिना असमापिका क्रिया से आकाङ्क्षा की पूर्ति नहीं होती है। इसलिए असमापिका क्रिया के रहने पर भी एक समापिका क्रिया का अध्याहार करना पड़ेगा। किन्तु, यहाँ "जुहोति" इस समापिका क्रिया के रहने से इसको विच्छिन्न नहीं किया जा सकता है। अतः "साकाङ्क्षं तु एकवाक्यं स्यात्" = 'अभिक्रामम्' यह क्रिया साकाङ्क्ष होने से "जुहोति" इस क्रिया के साथ अन्वित होगा, क्योंकि, "असमाप्तं हि पूर्वेण" पूर्व णमुल् प्रत्ययान्त पद के द्वारा वाक्य पूर्ण नहीं होता

है, क्रिया साक्षात् अन्वय न होने पर भी कर्ता के द्वारा "जुहोति" क्रिया के साथ अन्वय होने में कोई बाधा नहीं है, अतः, कर्ता के द्वारा जुहोति क्रिया के साथ अन्वित होकर निराकाङ्क्ष होने से समग्र दर्शपूर्णमास क्रिया के कर्ता के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता है। क्योंकि, होम करने के दो साधन हैं दूर से हाथ बढ़ाकर या अग्नि के पास जाकर, किन्तु अभिक्रमण के द्वारा अग्नि के निकटस्थ होने से अभिक्रमण क्रिया होम का उपकारक है। इसलिए, कर्ता के द्वारा उसके साथ अन्वित होगा, अतः, अभिक्रमण केवल प्रयाज का ही अङ्ग है।

वार्तिककार ने इस प्रसङ्ग में विभिन्न रूप में ही पूर्वपक्ष एवम् उत्तरपक्ष किया है। पूर्वपक्षी के मत में प्रयाज के समीप में अभिक्रमण पठित होने पर भी वह दर्शपूर्णमास का प्रकरण है। सन्निधि की अपेक्षा प्रकरण प्रबल होता है। इसलिए, महाप्रकरण के अनुसार वह समग्र दर्शपूर्णमास के होमकर्ता के साथ सम्बद्ध है।

सिद्धान्ती का कहना है कि महाप्रकरण की अपेक्षा अवान्तर प्रकरण प्रबल होने से सन्दंशन्याय से अभिक्रमण प्रयाज का ही अङ्ग होगा अर्थात् प्रयाजकर्ता के साथ हो अभिक्रमण सम्बद्ध है। क्योंकि, अभिक्रमणविधि के पूर्व में एवम् बाद में प्रयाजविषय का वाक्य है, अतः, आगे पीछे स्थित प्रयाजविषयक वाक्यसमूह मध्य में रहनेवाले अभिक्रमण को सन्दंश जैसे उभयफलक के मध्य में स्थित वस्तु को ग्रहण करता है, वैसे ही प्रयाज-कर्म का मध्य में ही आकर्षण होगा। वस्तुतः इस स्थल में महाप्रकरण और अवान्तर प्रकरण के मध्य में विरोध ही नहीं है, क्योंकि, अभिक्रमण प्रयाज से दर्शपूर्णमासगामी होता है।

"साकाङ्क्षं" = जो साकाङ्क्ष अर्थात् अन्वय के लिए अन्य क्रियापद के साथ आकाङ्क्षायुक्त रहता है वह "तु" = पूर्वपक्ष का निवर्तक है, "एकवाक्यं स्यात्" = एक वाक्य होगा अर्थात् श्रूयमाण क्रिया के सम्बन्ध का त्याग नहीं करता है, "हि" = क्योंकि, "पूर्णेण असमाप्तम्" पूर्ण के द्वारा वह समाप्त नहीं होता है ॥ २० ॥

यह १०वाँ अभिक्रमणाधिकरण समाप्त हुआ। अभिक्रमणादिका प्रयाजमात्र की अङ्गता अधिकरण ॥

[११] संदिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात् ॥२१॥ सि०

शा० भा०—दर्शपूर्णमासयोः सप्तमाष्टमयोर्ब्राह्मणानुवाकयोः सामिधेन्य उक्ताः। नवमे निविदः। दशमे काम्याः सामिधेनीकल्पा इदं[1]कामस्यैतावती-रनुब्रूयादिदंकामस्यैतावतीरिति। एकादशे च यज्ञोपवीतमाम्नातम्। 'उप-व्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुते' इति। तत्र सन्देहः—किं सामिधेनीरेवानुब्रुवाण

१. व. इंद्रकामस्य।

उपव्ययेत, उत प्रकरणे सर्वानेव पदार्थाननुतिष्ठता उपव्यातव्यमिति। कुतः संशयः ? उपवीतं सामिधेनीनां प्रकरणे समाम्नातम्। अथ निवृत्ते वा तासां प्रकरण इति न ज्ञायते। ननु दर्शपूर्णमासयोरेव प्रकरणमिदम्। परप्रकरणे सामिधेन्यः श्रूयन्ते। सत्यं परप्रकरणे श्रूयन्ते। तथाऽपि तासामवान्तर-प्रकरणमपरम्[1]। भवति हि 'सामिधेनीरनुब्रूयादि'ति विशेषाकाङ्क्षं वचनम्। येन तत्संनिधावभिधीयमानं तस्येति ज्ञायते।

कथं पुनर्निवृत्तं तासां प्रकरणमित्याशङ्क्यते ? निवित्पदानि तासां प्रकरणं व्यवदधतीति। यद्येवं, कथमनुवर्तते प्रकरणमित्याशङ्का। परस्तान्निविदां सामिधेनीगुणा एव काम्या विधीयमानाः श्रूयन्ते, यदनन्तरं यज्ञोपवीतमाम्नातम्[2], तेनानिवृत्तं सामिधेनीनां प्रकरणमिति भवति मतिः। अतः परप्रकरणे निविदः समुपनिपतिता न व्यवदधति, यथा द्वादशोपसत्ताऽहीनधर्मो ज्योतिष्टोमप्रकरण इति। तेन भवति सन्देहः। अस्मिन्संदेहे किं तावत्प्राप्तम् ? सामिधेनी प्रकरणम-निवृत्तम्। तत्रोपवीतं समाम्नातमिति। कुतः ? काम्यानां सामिधेनीकल्पा-नामानन्तर्यवचनात्। हृदयमनुविपरिवर्तमानासु सामिधेनीषु उपवीतमामनन्ति। कर्तुश्च वासोविन्यासमात्रं गुणो भवत्युपवीतं नाम। किं कुर्वता तत्कर्तव्यमिति भवति तत्र पदार्थाकाङ्क्षा। तत्र बुद्धौ संनिहितेनाविप्रकृष्टेन सामिधेनीवाक्ये-नैकवाक्यतामुपगम्य सामिधेनीषूपवीतं उपव्ययत इत्येष शब्दो विदधातीति गम्यते। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—नास्मिन्संदेहे यस्त्वयोक्तः, स निर्णयः। अस्मिन्संदेहे वाक्यभेद इति निर्णय इति। कुतः ? व्यवायात्। इह समाप्तस्य सानुबन्धस्य सामिधेनी-वाक्यस्य, अस्य चोपव्ययत इति वचनस्य निविदां विधायकेन सामिधेनीभिर-सम्बद्धेन ग्रन्थेन व्यवधानं भवति। यस्य च पर्यवासितेऽपि वचने तत्सम्बद्ध-मेवार्थान्तरं प्रक्रमन्ते। न तत्राननुवृत्तं प्रकरणम्। आगच्छति हि तत्सम्बद्धा-भिधाने हृदयम्। यत्र तु पर्यवसिते वचने तदसम्बद्धमेवार्थान्तरं प्रक्रमन्ते, न तत्र बुद्धौ पूर्वः पदार्थः। संनिधीयते। न च बुद्धावसंनिहितेनैकवाक्यता भवति। द्वाभ्यां[3] पदार्थाभ्यां वाक्यार्थः संजन्यते, नान्यतरेण। संनिधौ समाम्ना नस्यै-तदेव प्रयोजनं कथमुभाभ्यां पदार्थाभ्यां विशिष्टां बुद्धिमुत्पादयेयुरिति। अनन्तरावबुद्धेन सह वाक्यार्थः शक्यते कर्तुम्। असंबद्धपदोच्चारणे च नानन्तरावबुद्धो भवति। तस्माद्व्यवहितेन सह नैकवाक्यता भवतीति।

अथान्येन प्रकारेण ध्यानादिना पूर्वपदार्थमवगम्य, वाक्यार्थं संजनयेद-वैदिकः स पुरुषबुद्धिपूर्वको वाक्यार्थो भवेत्। यथाऽन्यस्मादनुवाकादाख्यातपदं

१. ब. भवति इत्यधिकम्। २. ब. आमनन्ति।
३. ब. हि बुद्धाभ्यां इत्यधिकम्।

गृहीत्वाऽन्यस्माच्च नासपदं यो वाक्यार्थः संजन्यते तादृशं तद्भवेत्, यत्रान्येन ध्यानादिना पूर्वपदार्थमवगम्य वाक्यार्थं संजनयेत्। तस्मान्नासम्बद्धार्थ[1]व्यवधानैकवाक्यता भवतीति निश्चीयते। तस्मान्न सामिधेनीभिरेकवाक्यतोपवीतस्येति।

ननु सामिधेनीकल्पानामनन्तरबुद्धानां संनिधावुपवीतमाम्नायते। तेन सामिधेनीभिः सम्भन्त्स्यत इति। नेति ब्रूमः। अतिवृत्तमेव हि सामिधेनीनां[2] प्रकरणम्। निवित्पदैर्व्यवधानात्। वाक्येन हि सामिधेनीकल्पाः काम्याः सम्बन्धमुपगच्छन्ति। न प्रकरणमनुवर्तते। न च पुनः कल्पवचनेन सामिधेन्यः प्रकृता भवन्ति। न हि तत्र तासां वचनं कर्तव्या इति। किं तर्हि ? संख्याभिः सम्बन्धयितव्या इति। तदपि वाक्येन, न प्रकरणेन। तत्राप्रकृतासु समिधेनीषु यस्यैकवाक्यता गुणस्य सामिधेनीभिर्नास्ति, न तस्य ताभिः सम्बन्धः। तस्मात्कृत्स्ने प्रकरणे यदनुष्ठेयं, तद्यज्ञोपवीतिनेति सिद्धम्॥ २१॥

इत्येकादशमुपवीतस्य दर्शपूर्णमासाङ्गताधिकरणम्॥ ११॥

त० वा०—सिद्धे कर्मणां कर्मसमवायेऽधुनाऽवान्तरप्रकरणमहाप्रकरणयोः कतरद्विनियोजकमित्युपवीतमुदाहृतम्। तत्र सामिधेन्यनुवाकविभागप्रदर्शनं सामिधेनीप्रकरणसदसद्भावविवेकार्थम्। ननु दर्शपूर्णमासयोरेव प्रकरणमिति—महाप्रकरणग्रस्तत्वान्नैवावान्तरप्रकरणान्याविर्भवन्ति।

अथवाऽग्निसमिन्धनप्रकाशनद्वारेण दृष्टसंस्कारार्थत्वान्न तासां प्रकरणमिति मन्यते। नैतदेवम्।

कथंभावो हि भावानां यावदाख्यातमिष्यते।
न तस्य प्रतिबन्धोऽस्ति महाप्रकरणादिभिः॥
नान्यप्रकरणापत्तिः संस्कारो वा विहन्ति तम्।

यथैवाङ्गवाक्यानि परिपूर्णस्वार्थानि सन्ति दर्शपूर्णमासवाक्येनैकवाक्यतां यान्ति, न चाऽऽत्मरूपं जहति, एवमङ्गभावनाः स्वाङ्गपरिपूर्णाः परमभावनायां संबध्यन्ते। न तदधीनत्वेन तासां स्वधर्मानिवृत्तिः। संस्कारोऽपि चापूर्वार्थत्वात्तत्सिद्ध्युपायमपेक्षमाणः प्रकरणीभवति[3]।

दृष्टार्थेष्वपि नियमादृष्टसिद्ध्यर्थं कथंभावापेक्षोत्पत्तेः प्रकरणसद्भावः।

दृष्टेऽपि च फले नैव साऽपेक्षा न प्रवर्तते।
दृष्टेनैव तु केनापि सोपायेन निवर्त्यते॥

---

१. ब. असम्बद्धार्थान्तर। २. सामिधेनी प्रकरणं।
३. क० इति द्वितीयपक्षपरिहार इत्यधिकः॥

तस्मादेवंविधानामप्यङ्गानामवान्तरप्रकरणेन भवितव्यम्। अतश्च यद्यपि दृष्टार्थाकाङ्क्षा दृष्टेनैव पूर्यते। अग्निसमिन्धनप्रकाशनं भावयेत्केन—सामिधेन्य-नुवचनेन, कथं, विवक्षा-प्रयत्नाभिघातादिक्रमोपजनितवर्णग्रहणसामर्थ्यकरण-श्रोत्रसंस्कारानुगृहीतेनेति, तथाऽपि नियमादृष्टं कथं सेत्स्यतीत्यनुवर्तत-एवाऽऽ-काङ्क्षा। सा च शास्त्रचोदितेनादृष्टार्थेनैवोपायेन पूर्यते। तस्मादस्ति सामिधेन्यनु-वचनस्योपवीतादिग्रहणसमर्थमवान्तरप्रकरणम्।

एवं तर्हि तस्य संनिकर्षेण बलीयस्त्वात्तदङ्गत्वेनैव भवितव्यमिति कुतो महाप्रकरणविनियोगाशङ्का? उच्यते। सत्यमेतदेवं स्यात्। यदि तस्य निवित्प-दव्यवधानेन प्रकरणविच्छेदाशङ्का न स्यात्। एवं तर्हि विच्छिन्ने तस्मिञ्जितं महाप्रकरणेनेति। नैतदेवम्[1]।

कुतः। काम्यसामिधेनीकल्पसंकीर्तनेनाविच्छेदसंदेहादविस्पष्टं महाप्रकरणम्। किं तावत्प्राप्तम्?

अभितः सामिधेनीनां कीर्तनात्प्रक्रिया स्थिता।
परप्रकरणे पाठो निविदामथवाऽङ्गता॥

यथा दर्शपूर्णमासप्रकरणे पूषाद्यनुमन्त्रणान्यसंबद्धान्यपि न पुरस्तात्प्रकरणं विच्छिन्दति, तथा निवित्पदान्यपि न विच्छिन्द्युः प्रकरणम्।

अथवाऽवान्तरप्रकरणेन निविदामपि सामिधेन्यनुवचनाङ्गत्वान्नैवासंबद्धपद-व्यवाय इत्युपपन्नमुपवीतमपि तदङ्गमेवेत्येवं प्राप्ते।

ब्रूमः—

विच्छिन्ना सामिधेनीनां निविद्भिः प्रक्रिया यतः।
न हि काम्यैः पुनः कल्पैः संधातुं सा हि शक्यते॥

तावद्धि प्रकरणमनुवर्तते, यावद्विनियोगार्हं पश्यति। असंयुक्तं च प्रकरणेन विनियुज्यते। तदिह निवित्पदानि तावल्लिङ्गेन सामिधेनीभिस्तुल्यान्यग्नि-समिन्धने विनियुज्यन्ते 'देवेद्धो मन्विद्ध' इति। तत्र यद्यग्निः सामिधेन्यङ्गं भवेत्, ततस्तद्द्वारेण तान्यप्यङ्गं भवेयुः। अथानङ्गे सत्यप्यङ्गता कल्प्यते, ततः सामिधेनीनामपि निवित्पदाङ्गत्वं कश्चित्कल्पयेत्। तेन निवित्सु तामिधेन्यनु-वचनेन गृह्यन्ते।

यदि पुनर्निविदोऽङ्गं भवेयुः ततो गोदोहनन्यायेनाऽऽश्रयग्रहणादपि तावत्काम्येषु प्रकरणानुवृतिः स्यात्। अथापि काम्यानामङ्गत्वं भवेत्, तथाऽपि पूषाद्यनुमन्त्र-

---

१. क० नैतदेवमिति।

वत्प्रकरणाबाधं निविदां कथंचिदनुसंधानेनाध्यवस्येम। न त्वन्यतरदस्तीत्यसत्यवान्तरप्रकरणे महाप्रकरणेन सर्वार्थता।

ननु च यदि विच्छिन्ने प्रकरणे काम्याः कल्पाः श्रूयन्ते, तत एकविंशत्या प्रतिष्ठां भावयेत्किमाश्रितयेति प्रकरणेनाऽऽश्रयेऽनुपनीयमाने साकाङ्क्षत्वादपरिपूर्णता प्राप्नोति। अथ वाक्येनाऽऽश्रय उपनीयेत, ततः प्राप्ते कर्मणि संबन्धद्वयकरणाद्वाक्यं भिद्येत। तत्र यदि वाक्यभेदोऽभ्युपगम्येत, कथंचिद्वा परिह्रियेत ततो रेवतीवारवन्तीयसौभरादिष्वप्येवमेव वाक्येन प्रकृताश्रयदानात्सिद्धान्तहानिः। अथाऽऽश्रयलाभार्थं कथंचिदनुवर्तेत प्रकरणम्, तत उपवीतमपि तथैव प्राप्नोतीति, सर्वथा संकटमेतत्।

उच्यते—

गुणात्कामो न युक्तोऽत्र विच्छिन्नप्रक्रियाश्रयात्।
अनेकार्थविधिः शक्यो नापूर्वात्कर्मणो विना॥

नैवात्रैकविंशत्यादेर्गुणात्फलम्। किं तर्हि? रेवतीवारवन्तीयादिवाक्यवदेवानेनापि विशिष्टं कर्म विधीयते। ततश्च भावार्थाधिकरणन्यायेन धात्वर्थात्फलम्। अत एकविंशत्यादिविशिष्टेनानुवचनेन प्रतिष्ठादि साधयेत्। कथमिति—अनुब्रूयादिति शब्दसामान्यात्संख्याप्रत्यासत्तेश्च सामिधेन्यनुवचनवदिति गम्यते। ततश्च संख्येयानामृचाम्, अन्येषां च धर्माणां प्राप्तिः। यद्यपि चात्र कर्मान्तरत्वाकर्मान्तरत्वयोः फलं नास्ति, तथाऽपि वाक्यमेवमवकल्पत इतीत्थं वर्णितम्। न त्वेवं सत्येतान्यनुवचनान्तराणि दर्शपूर्णमासाभ्यामगृहीतत्वात्पृथगेव प्रयोक्तव्यानि। न तावदेतेनास्मत्पक्षो निवर्त्यते। सर्वथोपवीतस्य सर्वार्थत्वसिद्धेः। न च स्वतन्त्रः प्रयोगः स्यात्। कुतः?

पश्चाद्यस्योच्यमानोऽयमनुशब्दः प्रयुज्यते।
न तत[1] क्रतुप्रयुक्तत्वात्स्वातन्त्र्ये सति लभ्यते॥

यो हि निगदः प्राक् सामिधेनीभ्यः प्रयुज्यते, स निवित्पदवदेव न सामिधेन्यङ्गम्। तदनन्तरत्वेन[2] नोच्यमानास्वनुब्रूयादिति विधिर्न स्वतन्त्राणाम्। तद्यदि पृथक् प्रयोगः स्यात्, ततः सामिधेन्यङ्गमात्रग्रहणादितरेण निगदेन विनाऽनुवचनत्वं विहन्येत।

किं च—

सामिधेनीत्वमप्यासां न स्यादग्निसमिन्धनात्।
न चाप्रयोगमध्यस्थः शक्यो वह्निः समिन्धितुम्॥

---

१. ब. तस्यान्यप्रयुक्तत्वात्। २. क० वोच्यमानासु।

एकविंशत्यादिभिस्तावदवश्यं सामिधेन्यः संख्यातव्याः। ताश्चाग्निसमिन्धनं प्रकाशयन्त्यः सामिधेन्य इत्युच्यन्ते। स चाग्निः परप्रयुक्तस्ताभिः प्रकाशयितव्यः। तेन 'अर्थाभिधानकर्म च' इत्यस्य प्रकृतिवदनुप्रवेशात्प्राकृतस्य सामिधेनीकार्यस्याग्निसमिन्धनप्रकाशनस्यैतेनैव प्रसङ्गतः प्राप्तेरर्थात्प्रयोगमध्यपातिसमिन्धनाधीनत्वम्।

नन्वेवमप्येषामेव काम्यानां कल्पानां सर्वेषामन्त्यस्य वोपवीतमङ्गं स्यात्। नैतदेवम्। कुतः?

प्राकृतेन कथंभावे तदीये पूरिते सति।
पश्चात्संनिधिनाऽङ्गं स्यात्स च प्रकरणावरः॥

सर्वास्वेव विकृतिषु यत्प्राकृताङ्गमध्ये न पठितं, तदक्लृप्तोपकारत्वात्प्राकृतैर्निराकाङ्क्षीकृते प्रकरणे पश्चादागच्छत्संनिधिविषयो भवति। स चाविरोधे विनियुङ्क्ते, तु विदेवनादिवत्प्रकरणेन बाध्यते। तस्मात्कृत्स्नदर्शपूर्णमासार्थमुपवीतमिति सिद्धम्॥२१॥

इत्येकादशमुपवीतस्य दर्शपूर्णमासाङ्गताधिकरणम्॥११॥

अथैकादशमुपवीताधिकरणम्॥ ११॥

न्या० सु०—नन्वभिक्रमणस्य णमुल्श्रुत्युक्तक्रियान्तराङ्गत्वोपजीवनेन पूर्वोत्तरपक्षविचारात् श्रुतिपादे सङ्गतिर्युक्ता उपव्यानस्य तु वैयग्र्यापादकशीतवारणसामर्थ्यरूपाल्लिङ्गात्कर्तृसंस्कारत्वावगतेः सामान्यसम्बन्धापेक्षायां च प्रकरणात्प्रकृतकर्माङ्गत्वावगतेः क्वचिदंशश्रुतिव्यापाराभावान्न श्रुतिपादे सङ्गतिरित्याशङ्क्य प्रासङ्गिकत्वेन सङ्गतिमाह—**सिद्ध इति।**

कर्मणामपि कर्तृसंस्कारद्वारा कर्मान्वये सिद्धे प्रसङ्गात्किमवान्तरप्रकरणेनोपव्यानस्य सामिधेन्यनुवचनमात्रे विनियोगः महाकरणाद्वा कृत्स्ने दर्शपूर्णमासप्रकरणइति भाष्यमते सङ्गतिः।

वार्त्तिकमते त्ववान्तरप्रकरणात्कर्मणामभिक्रमणादीनामङ्गभूतप्रयाजादिकर्मान्वये किं सामिधेन्यनुवचनावान्तरप्रकरणमुपव्यानेऽनुवर्त्तते, न वेति सङ्गतिरित्यर्थः।

सामिधेन्यादीनामुदाहरणत्वशङ्काभाष्यस्थयज्ञोपवीतशब्दाच्च तस्माद्यज्ञोपवीत्येवाधीयीतयाजयेदिति वै यजेत [1]काठकविहितकर्माङ्गभूतनवसूत्रतन्तुकयज्ञोपवीतशङ्कोपवीतोक्त्या निरस्ता। भाष्ये तु सर्वधर्मत्वशङ्कानिरासाय प्रकृतयज्ञाङ्गत्वोक्तयर्थो यज्ञशब्दः। अस्मिन्ननुवाकं सामिधेन्यः अस्मिन्निविद इत्यादिविभागोक्तेः प्रयोजनमाह—तत्रेति। सामिधेनी-

---

१. तैत्तिरीयकारण्यकद्वितीयप्रपाठकस्वाध्यायब्राह्मणे इति बोध्यम्।

प्रकरणे वर्त्तमानएवोपवीतमाम्नातम्, निवृत्ते वा, तत्प्रकरणे इति न ज्ञायत इत्येवं सौत्रे सन्दिग्धशब्दे व्याख्याते ।

सामिधेनीनामवान्तरप्रकरणस्याभावादनुवृत्त्यनुवृत्तिसन्देहो न युक्त इत्याशङ्कार्थं 'नन्विति'भाष्यं पूर्वाधिकरणे भाष्यकृतावान्तरप्रकरणाव्युत्पादनादेवान्तरप्रकरणभावाशयत्वेन तावद्व्याचष्टे—**नन्विति** । महाप्रकरणेनाङ्गतया सामिधेन्यादीनां ग्रहणात्करणत्वाभावेनेति कर्त्तव्यताकाङ्क्षालक्षणं प्रकरणं न सम्भवतीत्याशयः ।

स्वमते तु पूर्वाधिकरणएवावान्तरप्रकरणव्युत्पादनात्प्रयाजादिष्वदृष्टार्थेष्वङ्गेष्ववान्तर-प्रकरणसद्भावेऽपि सामिधेनीनां दृष्टार्थत्वेनेतिकर्त्तव्यतानाकाङ्क्षत्वान्नावान्तरप्रकरणमस्ती-त्येवमाशयत्वेन व्याचष्टे—**अथवेति** । अस्मिन्पक्षे परस्य द्रव्यस्य प्रकृष्टत्वकरणमतिशया-धानम्परप्रकरणशब्देन विवक्षितम् । सत्यमिति परिहारभाष्यं अवान्तरप्रकरणव्युत्पादनाश-यत्वेन तावद्व्याचष्टे—**नैतदिति** । महाप्रकरणावगतप्रधानभावनाङ्गत्वोपपादकत्वात्प्र-धानानुग्रहकरणस्य न महाप्रकरणावगतेनाङ्गत्वेन कथंभावः प्रतिबध्यत इत्यर्थः ।

नन्वङ्गभावनानामङ्गान्वये प्रधान्यापत्तेः प्रधानभावनान्वयो विरुध्येतेत्याशङ्क्याह—**यथैवेति** । यथाऽङ्गवाक्यानामवान्तरवाक्यार्थापेक्षया परिपूर्णस्वार्थानामपि महावाक्यार्था-पेक्षया साकाङ्क्षत्वात्प्रधानवाक्यैकवाक्यत्वं, तस्यामपि चावस्थायां स्वार्थे परिपूर्णत्व-मात्मीयरूपं न विरुध्यते तथाऽङ्गभावनानां स्वाङ्गानि प्रति प्राधान्येऽपि प्रधानभावनां प्रत्यङ्गत्वन्तस्यामपि चावस्थायां स्वाङ्गानि प्रति प्राधान्यमविरुद्धमित्याशयः । पूर्वाधिकरण-एवावान्तरप्रकरणव्युत्पादने तु यद्यपि परस्य द्रव्यस्य प्रकृष्टत्वकरणेऽतिशयाधाने सामिधेन्यः श्रूयन्ते । तथापि तासामवान्तरप्रकरणमस्तीत्येवं भाष्यं व्याख्येयमिति सूचयितुमाह—**संस्कारोऽपीति** ।

नन्वदृष्टार्थस्य प्रोक्षणादिसंस्कारस्यावान्तरस्यावान्तरप्रकरणसद्भावेऽपि सामिधेनीनां दृष्टार्थत्वेनेतिकर्त्तव्यतानाकाङ्क्षात्वात्तन्न स्यादित्याशङ्क्य, तास्वपि नियमादृष्टांशसिद्धये इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षणादस्त्येवावान्तरप्रकरणमित्याह—**दृष्टार्थेष्वपीति** । किं च केवल-दृष्टार्थेष्वपि दृष्टार्थेनेतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षणात् तदस्त्येवेत्याह—**दृष्टेऽपि चेति** । अतः संस्कार-रूपाणामप्यङ्गानामवान्तरप्रकरणमस्तीत्युपसंहरति—**तस्मादीति** ।

नन्वेवमपि दृष्टार्थयैवेतिकर्त्तव्यतया सामिधेन्यनुवचनस्य नैराकाङ्क्षयसिद्धेर्वासोविन्यास-विशेषरूपोपव्यानात्मिकायाश्चेतिकर्त्तव्यतायाः शीतवातादिवारणात्मकदृष्टार्थत्वमात्रेणापर्य-वसानाददृष्टार्थत्वावगतेस्तदाकाङ्क्षा न सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**अतश्चेति** । विवक्षादिक्रमेणो-पजनितो यो वर्णग्रहणसामर्थ्यकरणरूपः श्रोत्रसंस्कारः तदनुगृहीतेनेत्यर्थः । तस्माददृष्टार्थोप-व्यानादीतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षाप्यस्तीत्युपसंहरति—**तस्मादिति** । सामिधेनीनामवान्तरप्रकरण-सद्भावे वासोविन्यासरूपस्योपव्यानस्य तदङ्गत्वसम्भवेन प्रकरणविच्छेदकत्वायोगात्प्रकरण-निवृत्तिरूपसिद्धान्तशङ्कानुपपत्त्या सन्देहाक्षेपार्थं कथं पुनरिति भाष्यमवान्तरप्रकरणनिवृत्त्य-

निश्चयेनावान्तरप्रकरणविरोधानिश्चयान्महाप्रकरणेन दर्शपूर्णमासार्थत्वसिद्धान्तसिद्धेरयुक्तमाशङ्कचोपपादयितुमाह—**एवं तर्हीति**। सन्दिग्धेऽपि बलवद्विरोधे दुर्बलस्य विनियोक्तृत्वं न सम्भवतीत्याशयः। सामिधेनीप्रकरणविच्छेदकोक्त्यर्थं निवित्पदानीतिभाष्यं व्याचष्टे—**उच्यते इति**। एवं सत्यावान्तरप्रकरणानुवृत्तिरूपपूर्वपक्षशङ्कानुपपत्तेः सन्देहो न सम्भवतीत्याक्षेपार्थं यदीति भाष्यं व्याचष्टे—**एवं तर्हीति**। निविद्भिर्विच्छिन्नस्यापि सामिधेनीप्रकरणस्य काम्यैः सामिधेनीकल्पैरुज्जीवनसम्भवासम्भवसन्देहादनुवृत्त्यननुवृत्तिसन्देहोपपादनार्थं परस्तादितिभाष्यं व्याचष्टे—**नैतदिति**। किन्तावदित्यादि पूर्वपक्षभाष्यं तात्पर्यतो व्याचष्टे—**किन्तावदिति**। निविद्भ्यः प्राक्पश्चाच्च सामिधेनीनाङ्कीर्त्तनात्काम्यसामिधेनीकल्पपर्यन्तं सामिधेनीप्रकरणानुवृत्तावप्युपव्यानपर्यन्तं कथमनुवृत्त्यवगतिरित्याशङ्कच तिष्ठन्नन्वाह, अन्तर्वेद्यन्यः पादो भवति बहिर्वेद्यन्यः अथान्वाहेत्युपव्यानात्पश्चादपि सामिधेनानुवचनाङ्गकीर्त्तनात् 'देवा वै सामिधेनीरनूच्य यज्ञं नान्वपश्यन्निति च स्रौवाघारविध्युपक्रमे सामिधेन्यनुवचनोपसंहारादुपव्यानेऽपि सामिधेनीप्रकरणानुवृत्तिः स्थितोक्त्या सूचिता।

निविदामप्यव्यवधायकत्वार्थं सन्देहसमर्थनोपसंहारभाष्यानुसाराऽपरप्रकरणे पाठमुक्त्वा, पदोत्तरत्वेनोत्तरसूत्रं व्याख्यातुमथ वेत्युक्तम् सामिधेनीनामग्निनिविदामपि अग्निसमिन्धनप्रकाशनार्थत्वेऽपि सामिधेनीनामग्निसमिन्धनार्थेध्मकाष्ठप्रक्षेपप्रकाशनार्थत्वान्निविदामिध्मप्रक्षेपफलाग्निसमिन्धननिष्पत्तिप्रकाशनार्थत्वादगन्मस्वः संज्योतिषा भूमेति दर्शपूर्णमासफलनिष्पत्तिप्रकाशनार्थस्य मन्त्रस्य दर्शपूर्णमासाङ्गत्ववत्सामिधेनीप्रकाश्येध्मप्रक्षेपफलनिष्पत्तिप्रकाशनार्थत्वान्निविदां सामिधेन्यङ्गता युक्तेत्याशयः। उत्तरार्द्धं व्यचष्टे—**यथेपि**। पूर्वपक्षमुपसंहरति—**इतीति**।

सिद्धान्तमाह—**इति प्राप्त इति**। सौत्रवाक्यभेदशब्दोक्तेऽवान्तरप्रकरणरूपवाक्यैकवाक्यत्वाभावे ब्रूम इत्यनेनार्थाद्व्याख्याते तदुपपत्तित्वेन व्यावायोक्तिव्याख्यार्थं विच्छिन्नेत्युक्त्वा, काम्यैः सामिधेनीकल्पैः सामिधेनीप्रकरणोज्जीवनान्न निविदां विच्छेदकत्वं भवतीत्याशङ्कच, न हीत्युक्तम् न हीत्येतावतो निषेधार्थत्वाद्धिशब्दद्वयापौनरुक्त्यम् निविदामपि सामधेन्यङ्गत्वात्कथं तत्प्रकरणविच्छेदकतेत्याशङ्कच, सामिधेनीभिरसम्बद्धे ग्रन्थेनेति भाष्यावयवसूचितं निविदामनङ्गत्वमुपपादयितुमाह—**तावद्धीति**।

नन्विद्ध इति भूतनिष्ठया सामिधेनीप्रकाश्येध्मप्रक्षेपफलाग्निसमिन्धननिष्पत्तिप्रकाशनादगन्मस्वरित्यादीनां दर्शपूर्णमासाङ्गत्ववन्निविदां सामिधेन्यङ्गत्वं भविष्यतीत्याशङ्कचाह—**तत्रेति**। दर्शपूर्णमासादिफलस्यादृष्टद्वारसाध्यत्वेन श्रद्धापेक्षत्वाच्छ्रद्धाजननात्फलनिष्पत्तिप्रकाशनस्याङ्गत्वं युक्तम्। इध्मप्रक्षेपफलस्यात्वग्नेः समिद्धत्वस्य दृष्टद्वारसाध्यत्वेन श्रद्धानपेक्षत्वात्फलनिष्पत्तिप्रकाशनस्याङ्गत्वं न युक्तमित्याशयः। सामिधेनीनामपि निवित्प्रकाश्याग्निसमिन्धनसाधनेध्मप्रक्षेपप्रकाशनार्थत्वान्निविदङ्गता कल्पयितुं शक्येत्याह—**अथेति**। पूर्वार्द्धंव्याख्यामुपसंहरति—**तेनेति**। उत्तरार्द्धं व्याख्यातुमाह—**कम्यास्त्विति**। 'एकविंशति-

मनुब्रूयात्तत्प्रतिष्ठाकामस्ये'त्यादिषष्ठीश्रुत्या काम्यकल्पानां पुरुषार्थत्वावगतेः प्रकरणेनाग्रहणात्तदुज्जीवनं न सम्भवतीत्याशयः ।

नन्वेवं सति काम्यकल्पेनैव प्रकरणविच्छेदसम्भवान्निविद्भिर्विछेदोक्तिरनर्थिकेत्याशङ्क्याह—**यदि पुनरिति**। नन्वेनङ्गत्वेऽपि निविदां परप्रकरणपाठसम्भवान्न प्रकरणविच्छेदकतास्तीत्याशङ्क्याह—**अथापीति**। काम्यकल्पानामङ्गत्वाभावेन प्रकरणानुवृत्तिप्रमाणाभावान्न तद्बलेन परप्रकरणपाठकल्पना युक्तेत्याशयः। एवं च निविदामङ्गत्वस्य, परप्रकरणपाठस्य वा कल्पयितुमशक्यत्वादवान्तरप्रकरणविच्छेदकत्वसिद्धेर्महाप्रकरणेनोपवीतस्य कृत्स्नदर्शपूर्णमासार्थता युक्तेति सूत्रार्थमुपसंहरति—**नन्विति**।

ननु दध्नेन्द्रियकामाधिकरणन्यायेनैकविंशत्यादेर्गुणात्फलावगतेर्निराश्रयस्य च गुणस्य फलान्वयानुपपत्तेः विच्छिन्ने च प्रकरणे तेनापादानाद्वाक्येन त्वाश्रयदाने गुणफलाश्रयाश्रयिसम्बन्धद्वयकरणात् वाक्यभेदापत्तेर्भावनान्तरत्वाद्वा वाक्यभेदपरिहारे रेवतीवारवन्तीयादिष्वपि वाक्येनाश्रयदानाद् गुणफलान्वयोपपत्तेः स्थितसिद्धान्तहानिप्रसङ्गात्प्रकरणेनाश्रयलाभार्थं विच्छिन्नस्याऽपि प्रकरणस्य काम्यकल्पैरुज्जीवनावगतेरुपवीतस्याऽपि सामिधेन्यङ्गत्वप्रसङ्गाद् दुर्घटः सिद्धान्त इत्याशङ्कते—**ननु चेति**।

प्रकृताश्रयालाभात्कर्मण एवात्र फलं न गुणादिति परिहरति—**उच्यते इति**। श्लोकं व्याचष्टे—**नैवेति**। ननु कर्मान्तरत्वे संख्येयाऽनुपादानात्संख्यामात्रविशिष्टानुवचनविधिरपरिपूर्णः स्यादित्याशङ्क्यातिदेशात्संख्येयसाम्यमाह—**कथमिति**। ननु कर्मान्तरत्वेऽपि काम्येनैव सामिधेन्यनुवचनेन प्रसङ्गात् क्रत्वर्थसामिधेन्यनुवचन-कार्याग्निसमिन्धनप्रकाशनसिद्धेर्गुणकामतुल्याऽनुष्ठानावगमात्कर्मान्तरत्वोक्तिः किमर्थेत्याशङ्क्याह—**यद्यपि चेति**। अनुष्ठानाविशेषेऽपि प्रकृताश्रयालाभाद् गुणफलान्वयाऽनुपपत्तेः कर्मान्तरविधि विना वाक्यानर्थक्यप्रसङ्गात्कर्मान्तरतोक्तेत्याशयः। ननु कर्मान्तरत्वे पृथक्प्रयोगापत्तेस्तेन प्रसङ्गात् क्रत्वर्थसामिधेन्यनुवचनकार्यासम्भवात्कर्मान्तरत्वयोरनुष्ठानविशेषोऽस्त्येवेत्याशङ्कते—**नन्विति**। प्रकृतानुपयोगित्वादेव तावन्नेयं शङ्का युक्तेत्याह—**न तावदिति**। न च कर्मान्तरत्वेऽपि पृथक्प्रयोगापत्तिरित्याह—**न चेति**। एतदेव प्रश्नपूर्वमुपपादयति—**कुत इति**। यस्य नमः प्रवक्त्र'इत्यादि निगदस्य पश्चात्सामिधेनीवचने क्रियमाणे पश्चाद्वचनवाच्येकविंशतिमनुब्रूयादित्ययमनुशब्दः प्रयुज्यते। तस्य निगदरूपस्यान्यप्रयुक्तत्वेन पृथक्प्रयोगे सति सामधेनीभिरलाभादनुवचनत्वविघातापत्तेर्न पृथक्प्रयोगो युक्त इति, भावे शानचमङ्गीकृत्ये व्याख्येयम्। पृथक्प्रयोगेऽपि सामिधेन्यङ्गत्वान्निगदो लप्स्यत इत्याशङ्कां निरस्यन् श्लोकं व्याचष्टे—**योहीति**। जातवेदो रमया पशून्मयीति लिङ्गान्निगदस्याप्यग्निप्रकाशनार्थत्वावगतेर्न सामिधेन्यङ्ग तेत्याशयः। 'अग्नये समिध्यमानानुब्रूहो'ति प्रैषपश्चाद्भावनिमित्तोऽनुशब्दो भविष्यतीत्याशङ्क्य, पृथक्प्रयोगे क्रत्वर्थाग्निसमिन्धनप्रैषप्रासेरनाशङ्क्यत्वान्निगदानन्तर्यनिमित्ततानुशब्दस्याशङ्क्येत। सा च स्वातन्त्र्ये सति न सम्भवतीवि परिहारार्थं

तदनन्तरत्त्वेन चेत्युक्तम् । पृथक्प्रयोगे च सत्येकविंशत्यादिसंख्यापरिच्छेद्यत्वेनातिदेश-प्राप्तानामपि 'प्रवोवाजा अभिद्यव' इत्याद्यानामृचामग्निसमिन्धनाप्रकाशकत्वेन सामिधेनीत्त्वाभावापत्तेरप्रयोगमध्यस्य चाग्नेर्निष्प्रयोजनत्वेनासमिन्धनीयत्वादृचामग्निसमिन्धन-प्रकाशकत्वानुपपत्तेः समिधेनीनामेकविंशत्यादिसंख्यापरिच्छेद्यताऽतिदेशप्राप्ता विहन्येते-त्याह—किञ्चेति । श्लोकं व्याचष्टे—एकविंशत्यादिभिस्तावदिति । उत्तरार्द्धव्याख्यार्थं सचेत्युक्तम् । कथं तर्हि कर्मान्तरत्वेऽप्यन्तः क्रतुप्रयोगसिद्धिरित्याशङ्क्याह—तेनेति । येन कारणेनाग्निसमिन्धनप्रकाशनत्वं विना सामिधेनीत्वं न सम्भवति क्रतुप्रयुक्तत्वं च विनाग्नेः समिन्धनीयत्वं न सम्भवति तेन कारणेन अर्थाभिधानकर्मं च भविष्यता संयोगस्य तन्निमित्तत्वात्तदर्थे हि विधीयते (४.१.२६) इति चतुर्थाधिकरणन्यायेनास्याग्निसमिन्धनप्रकाशनार्थसामिधेनीकर्मस्वरूपस्य प्रकृतिभूतक्रत्वर्थसामिधेन्यनुवचनवत्काम्ये सामिधेन्यनुवचने अनुप्रयोगवशात्प्रयोगमध्यपात्यग्निसमिन्धनाधीनत्वं कर्मान्तरभूतस्यापि काम्यस्य सामिधेन्यनुवचनस्येत्युक्तं प्रयोगमध्यपात्यग्निसमिन्धनप्रकाशनस्य पञ्चदशसंख्यावच्छिन्नसामिधेन्यनुवचनेन सिद्धिरित्याशङ्क्य, प्राकृतस्य चेत्युक्तम् । उपवीतस्य निविद्व्यवहितक्रत्वर्थ-सामिधेन्यनङ्गत्वेऽपि काम्यसामिधेन्यङ्गत्वं भविष्यतीत्याशङ्कार्थं ननु सामिधेनीकल्पानामिति भाष्यं व्याचष्टे—नन्विति । निविद्व्यवधानान्निवृत्तस्य क्रत्वर्थसामिधेनीप्रकरणस्य काम्येषु सामिधेनीकल्पेषु प्रकरणेनाश्रयालाभाद्वाक्येनाश्रयान्वयाभ्युपगमापत्तेस्तत्र च वाक्यभेदप्रसङ्गाद् गुणफलान्वयासम्भवनाश्रयापेक्षाभावात्तन्निमित्तोज्जीवनानुपपत्तेः । प्रकरणेनाश्रयालाभेऽपि गुणफलान्वयाभ्युपगमेनाश्रयतया सामिधेनीग्रहणेऽपि तासां संख्यान्वयित्वमात्रेण ग्राह्यतया कर्त्तव्यत्वेनाविधानात्संख्यासामिधेन्यन्वयस्य वाक्येनैवाभ्युपगमनीयत्वापत्तेः, गुणफलान्वयेऽपि प्रकरणानपेक्षणात्सामिधेनीनां प्रकृतत्वाभावात्प्रकरणेनोपवीतग्रहणानुपपत्तेः सामिधेनीवाक्यानन्तर्गतत्वाच्च वाक्येनोपवीतग्रहणस्यानाशङ्क्यत्वान्न काम्यानामपि सामिधेनीनामुपवीतमङ्गमिति परिहारार्थं नेति ब्रूम इत्यादि भाष्यं काम्येषु सामिधेनीकल्पेषु क्रत्वर्थसामिधेनीप्रकरणाननुवृत्तावपि काम्यसामिधेनीप्रकरणेनैवोपवीत-ग्रहणोपपत्तेर्गुणफलान्वयस्य च विच्छिन्नप्रकृताश्रयत्वेनानिष्टत्वादुपेक्ष्य, स्वयङ्काम्यानां सामिधेनीनां प्राकृताङ्गनिराकाङ्क्षत्वेन प्रकरणाभावात्, सद्भावेऽपि 'देवा वै सामिधेनीरनूच्येत्यस्याधारार्थवादाङ्गत्वेन सामिधेनीप्रकरणाननुवर्त्तकत्वादनुवर्त्तकान्तरस्य चानाशङ्कनीयत्वात्सन्निधिनोपवीतमङ्गं स्यात् । स च प्रकरणात् दुर्बल इत्येवं परिहारमाह—नैतदिति । श्लोकं व्याचष्टे—सर्वास्वेवेति । अतिदेशलभ्यानामपि प्राकृतामङ्गानां क्लृप्तोपकारकत्वेनोपदिष्टेभ्यः प्राग्विकृतिभिर्ग्रहणात्पृषदाज्येनानुयाजान्यजतीत्यादीनां च प्राकृतानां गुणत्वेनोपदिष्टानामपूर्वाणामप्यङ्गानां स्वाङ्गपरिपूर्णप्राकृताङ्गग्राहिण्या विकृतिभावनया-कृताङ्गग्रहणवेलायामेव ग्रहणात्तदङ्गानाञ्चानिवृत्ताकाङ्क्षत्वात्प्रकरणेनैव प्राकृताङ्गगुणभूता-प्राकृताङ्गग्रहणोपपत्तेस्तद्व्यावृत्त्यै यदित्युक्तम् । प्राकृताङ्गग्रहणसमकाललक्षणार्थो मध्य-शब्दः । अभिषेचनीयसन्निधिपठितानां विदेवनादीनां स्थानादभिषेचनीयाङ्गत्वस्य प्रति-

भासमानस्य प्रकरणावगतेन राजसूयाङ्गत्वेन बाधो बलाधिकरणे वक्ष्यमाणः काम्यसामिधेनीसन्निधिनोपवीतस्य काम्यसामिधेन्यङ्गतायाः प्रकरणावगतेन दर्शपूर्णमासाङ्गत्वेन बाधसिद्ध्यै दृष्टान्तितः। तस्मादिति सिद्धान्तोपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—तस्मादिति ॥ २१ ॥

॥ इत्येकादशमुपवीताधिकरणम् ॥ ११ ॥

भा० प्र०—अवान्तर प्रकरण एवं महाप्रकरण के मध्य में किसी विनियोजन का विचार किया जा रहा है। दो पदार्थों में परस्पर आकाङ्क्षा का ही नाम प्रकरण है। उनमें फलभावना प्रकरण को महाप्रकरण कहा जाता है, अतिरिक्त अवान्तर प्रकरण है।

दर्शपूर्ण मास प्रकरण में सप्तम एवम् अष्टम अनुवाक में सामधेनी मन्त्र का ब्राह्मण नवम अनुवाद में काम्य सामिधेनी = इस कामना में ये सामधेनी मन्त्र पाठ्य हैं, इस प्रकार कामना निर्देशपूर्वक विशिष्ट संख्या से युक्त सामधेनी पढ़ा जाता है। एकादश अनुवाक में "निवीतं मनुष्याणां प्रचीनावीतं पितॄणाम् उपवीतं देवानाम्" इस श्रुतिवचन में उपवीत विहित होता है। यह उपवीत अवान्तर प्रकरण के अनुसार सामिधेनी का अङ्ग है या महाप्रकरण के अनुसार दर्शपूर्णमास का अङ्ग है—यही संशय है।

भावना का अर्थात् प्रधान विधि का जो प्रकरण, प्रधान कर्म की जो इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा, वह महाप्रकरण है। फलभावना के मध्य में अङ्ग भावना का जो प्रकरण अर्थात् अङ्गविधि से प्रतिपाद्य भावना की जो इतिकर्तव्यताकाङ्क्षा—वह अवान्तर प्रकरण है। इसमें पूर्वपक्षी का कहना है सामिधेनी प्रकरण के बाद निवित् नाम के मन्त्र का प्रकरण रहने पर भी उसके बाद पुनः जब काम्य सामिधेनी का प्रकरण रहता है, तब सामिधेनी का प्रकरण निवृत्त नहीं होता है। अतः, प्रथम सामधेनी वाक्य बुद्धिस्थ रहता है और द्वितीय काम्य सामधेनी वाक्य उपवीतविधि के निकटस्थ रहता है अतः, उपवीत सामधेनी का अङ्ग है। इसलिए, "क्या कर्तव्य है इस समय उपवीत कर्तव्य है" इस प्रकार की आकाङ्क्षा को बुद्धिस्थ सामधेनी वाक्य एवं निकटस्थ काम्य सामधेनी वाक्य इन दोनों के द्वारा निवृत्त हो जाता है, अतः, उपवीती होना ही सामधेनी पाठ्य है—इस प्रकार का अर्थ होता है। अतः, इस स्थल में भी पूर्व अधिकरण का सन्दंशन्याय के अनुसार उपवीत सामधेनी का ही अङ्ग है। क्योंकि, उपवीत के पूर्व में और बाद में सामिधेनी विषयक विधि रहती है और सामधेनी का प्रकरण अवान्तर प्रकरण ही रहता है।

इस पूर्वपक्ष के समाधान में सिद्धान्ती का कहना है—"सन्दिग्धे तु वाक्यभेदः स्यात्" किन्तु इस प्रकार के सन्दिग्ध स्थल में वाक्य-भेद कर्तव्य हैं अर्थात् सामिधेनी वाक्य के साथ एकवाक्यता का अभाव होगा अर्थात् सामिधेनी वाक्य के साथ अन्वित नहीं होगा। इसका क्या कारण है? "व्यवायात्" अर्थात् यह अन्य प्रकरण के द्वारा व्यवहित रहता है। पूर्वपक्षी का यह कथन कि सामिधेनी वाक्य बुद्धिस्थ है, यह सङ्गत

नहीं है। कारण बाद में "निवित्" संज्ञा वाले प्रकरण के रहने से सामिधेनी का प्रकरण विच्छिन्न हो जाता है। जो शेष होकर अन्य विषय से व्यवहित होता है—वह बुद्धिस्थ नहीं हो सकता है। अतः, इस स्थल में सन्दंशन्याय की प्रवृत्ति नहीं होती है, कारण, जिस स्थल में पूर्व में और बाद में वाचनिक गुण नहीं रहता है, वहाँ सन्दंशन्याय प्रवृत्त नहीं होता है और सन्दंशन्याय प्रवृत्त न होने पर प्रकरण विनियोजक नहीं होने के कारण सामिधेनी का अवान्तर प्रकरण उपवीत का विनियोजक न होने से उपवीत सामिधेनी का अङ्ग नहीं होता है, इसलिए दर्शपूर्ण मास का उतना कर्म ही उपवीती अर्थात् बायें कन्धे पर उत्तरीय रखना कर्तव्य होता है।

"सन्दिग्धे" = सन्दिग्ध स्थल में अर्थात् महाप्रकरण एवम् अवान्तर प्रकरण ने मध्य में कौन विनियोजक है इस प्रकार के सन्देह के विषय उपवीत आदि वाक्य में, "तु" = पक्षान्तर का सूचक है, "व्यवायात्" = व्यवधान होने से, "वाक्यभेदः स्यात्" = वाक्यभेद कर्तव्य होता है, अर्थात् उपवीत सन्निधान से विच्छिन्न होकर महाप्रकरण के अनुसार सभी कर्मों का अङ्ग होता है।

युधिष्ठिर मीमांसक ने इस सूत्र की व्याख्या में विभिन्न आक्षेपों को लिखते हुए इस प्रकरण का व्याख्यान किया है।

विवरण—हृदयमनुविपरिवर्तमानासु— हमें यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। तन्त्रवार्तिक और बृहती टीका में इसकी व्याख्या नहीं है। हमने कथञ्चित् उक्त पाठ की व्याख्या कर दी है। हमारे विचार में यहाँ **'हृदयमनु अविपरिवर्तमानासु सामिधेनीषु'** (हृदय में अपरिवर्तित रूप से वर्तमान सामिधेनियों में) पाठ होना चाहिए।

यज्ञोपवीत (=जनेऊ) का स्वरूप—कर्तुश्च वासोविन्यासमात्रं गुणो भवत्युपवीतं नाम इससे स्पष्ट होता है कि यज्ञोपवीत = जनेऊ का जो त्रिवृत् तन्तु स्वरूप है, वह अर्वाचीन है। प्राचीन काल में दुपट्टे को धारण करने की ही तीन विधियाँ उपवीत प्राचीनावीत और निवीत कहाती थीं। मानुषकर्म = सभा आदि में उपस्थिति के समय दुपट्टे को गले में डालकर दोनों छोर आगे लटकाये जाते थे। [ऐसी प्रथा अभी भी कहीं-कहीं है]। यज्ञकर्म और पितृकर्म करते समय दुपट्टे के लटकने वाले दोनों छोर कर्म में बाधक न होवे, इसलिये यज्ञकर्म के समय दाहिने कन्धे पर आने वाले छोर को पीछे की ओर दाहिने हाथ के नीचे से निकालकर बाँये कन्धे पर डाला जाता था। यही दुपट्टा धारण का रूप **'उपवीत'** कहलाता था। पितृकर्म में उक्त विधि से उलटा बायें हाथ के नीचे से उस छोर

को निकालकर दाहिने कन्धे पर डाला जाता था। यह स्वरूप प्राचीनावीत था। मानुष कर्म में दुपट्टे के दोनों छोर आगे को लटकाना निवीत कहाता था।

अन्य प्रमाण—धर्मशास्त्रों में स्नातक नियमों में उत्तरीय वस्त्र (= शरीर ढाँकने का वस्त्र चादर) के अभाव में द्वितीय यज्ञोपवीत धारण करने का विधान उपलब्ध होता है। उत्तरीय वस्त्र का प्रयोजन तन्तुरूप यज्ञोपवीत से सिद्ध नहीं हो सकता है। इससे विदित होता है कि पुराकाल में यज्ञोपवीत दुपट्टा जैसा वस्त्रविशेष ही था, जिसे आवश्यकता पड़ने पर उत्तरीय वस्त्र के रूप में धारण किया जा सकता था। महाभारत में युद्धक्षेत्र में भीष्म के वर्णन में लिखा है—**'श्वेतयज्ञोपवीतवान् शुशुभे च पितामहः'**। **उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत् कुरुते** (तै० सं० २।५।११) से भी इसे देवचिह्न कहा है। कादम्बरी में भी महाश्वेता के वर्णन में **यज्ञोपवीतेनालंकृताम्** विशेषण प्रयुक्त हुआ है। वहाँ भी यज्ञोपवीत वस्त्र के ऊपर धारण किया जाता था। दूसरी—वह शोभा का कारण भी बनता था। तन्तुरूप यज्ञोपवीत सूक्ष्म होने से शोभा वा अलंकार का कारण उपपन्न नहीं होता है। इससे स्पष्ट है कि तन्तुरूप यज्ञोपवीत का स्वरूप अर्वाचीन है। उसका वस्त्र के नीचे धारण करना तो सम्भवतः मध्यकाल में हुआ है। इस दृष्टि से जो लोग तन्तुरूप यज्ञोपवीत के विधान के लिए मन्त्रों में प्रयुक्त त्रिवृत् शब्द का आश्रय लेते हैं, और इसके एक-एक तन्तु के प्रयोजन वा महात्म्य के वर्णन में आकाश-पाताल एक कर देते हैं। वह सब यज्ञोपवीत के प्राचीन स्वरूप को यथावत् न जानने से चिन्त्य है। वस्त्ररूप यज्ञोपवीत दैव, पितर वा मानुष कर्म के समय में ही धारण किया जाता था। शयनकाल में वह वस्त्र खूंटी पर टाँग दिया जाता था।

शौचादि के समय कान पर जनेऊ लपेटने का कारण—जयपुर के राजगुरु स्व० श्री पं० मधुसूदन जी ओझा ने सन् १९३१ में शतपथ ब्राह्मण पढ़ाते हुए, एक शिष्य द्वारा शौचादि के समय कान पर जनेऊ लपेटने का कारण पूछने पर कहा था—'शौचादि के समय कान की नस से ब्रह्मप्राण बाहर निकलता है, उसे रोकने के लिए कान पर जनेऊ लपेटा जाता है।' यज्ञोपवीत संस्कार से पूर्व वा संन्यास के समय यज्ञोपवीत त्यागने पर भी ब्रह्मप्राण निकलता रहेगा, ऐसा मेरे पूछने पर कहा कि 'उपवीत-संस्कार के समय ही ब्रह्मप्राण उत्पन्न होता है और संन्यास-संस्कार से समाप्त हो जाता है। स्त्री और शूद्रों में ब्रह्मप्राण होता ही नहीं है। ऐसी बिना सिर पैर की कल्पना भी सर्वथा हेय है। कान पर जनेऊ लपेटने में सीधा-सादा दृष्ट प्रयोजन है। अशुचि अवस्था में सम्भाषण आदि का धर्मशास्त्रों में निषेध किया है। कान पर जनेऊ लपेटने से यह

विदित हो जाता है कि यह व्यक्ति सम्प्रति अशुचि है। अतः इससे सम्भाषण नहीं करना चाहिये।

आचार्य मीमांसक जी ने यज्ञोपवीत के आधुनिक गृहीत स्वरूप की आलोचना करते हुए लिखा है कि तीन सूत का व्यवहृत यज्ञोपवीत स्मृति काल की देन है, किन्तु "नववै-त्रिवृत्" इस श्रुति के अनुसार आज का व्यवहार ही युक्ति-सङ्गत प्रतीत होता है। "दक्षिणं वाहुमुद्धरतेऽवधते हव्य मिति यज्ञोपवीतम्" (तै० आ० २) इस श्रुतिवचन के अनुसार भी इसी की सिद्धि होती है।

इतना सत्य है अमुख्य यज्ञोपवीत वस्त्रात्मक या दर्भात्मक भी होता है, यह मुख्य यज्ञोपवीत की उपलब्धि न होने पर ही व्यवहृत माना गया है। ब्रह्मचारी वेदाध्यायी के लिए "वासः कृष्णा जिमं परम्" इत्यादि वचनों के अनुसार कृष्णाजिन का ही विधान किया गया है।

"नित्यमुत्तरं वासः कार्यम्" इस वचन में उत्तरं वासः यह ऊपर के वस्त्र अर्थ का बोधक है किन्तु इसके वाद में "अपि सूत्रमेवोपवीतार्थे" इस सूत्र का उपवीत के अर्थ में विधान है वस्त्र का नहीं, क्योंकि "अजिनं त्वेवोत्तरं धारयेत" (आ० ध० १-३-१०) सूत्र के अनुसार ब्रह्मचारी के लिए द्वितीय वस्त्र का निषेध होने से ग्रन्थि-युक्त तीन सूत्र का ही नित्य व्यवहार मानना होगा।

आपस्तम्ब की व्याख्या उज्ज्वला में स्पष्ट शब्दों में निर्देश है कि "यज्ञोपवीती द्विवस्त्रः अधोनिवीत स्त्वेकवस्त्रः (आ० ध० १-२-६-१९)। इसकी व्याख्या में उज्ज्वला-कार ने कहा है "यदा द्विवस्त्रस्तदाऽन्यतरेण यज्ञोवीती स्यात् अपि वा सूत्रमेवोपवीतार्थ इत्येषकल्पस्तदा न भवति, यदा त्वेकवस्त्रो भवति तदाऽधोनिवीतस्यात् न तस्य दीर्घ-स्याप्येकदेशेन उत्तरीयं कुर्यात्" इस वचन के अनुसार अजिन द्वितीय वस्त्र के रूप में कहा गया है और नवतन्तु समन्वित त्रिवृत को यज्ञोपवीत माना गया है, वस्त्र का संक्षिप्त रूप आज का यज्ञोपवीत नहीं है।

"यज्ञोपवीतं कृत्वाऽधोनिपपात नमोनमः" इस श्रुति के आधार पर "यज्ञोपवीतं कृत्वाऽधोनिपतेत" इस विधि से यज्ञोपवीत पद अजि ।वस्त्र विन्यास विशेषपरक है स्मृत्युक्त ब्रह्मसूत्रपरक नहीं है। "यज्ञोपवीत्यधीन" यहाँ "अजिनंवासो वा दक्षिणत उपवीय दक्षिणं बाहुमुद्धरतेऽवधत्ते सव्यमिति यज्ञोपवीतम्" इस वाक्य शेष से उस शब्द की रूढि अर्थ की बोधकता सिद्ध होती है। "त्रिवृद्ध विष्यवमानम्" यहाँ वाक्य शेष से स्तोत्रीय नवक में 'त्रिवृत्' शब्द रूढ होने से "त्रिवृदग्निष्टुवदग्निष्टोमः" इत्यादि में वाक्य शेष रहित में भी स्तोत्रीयानवकपरक ही मानना उचित है लौकिक त्रैगुण्यपरक नहीं है। त्रिवृदधिकरणन्याय प्रकृत में भी समान है, अतः प्रणाम में गौण उपवीत परक वर्णित है।

वस्तुतः यह व्याख्यान उचित नहीं है, क्योंकि, "यज्ञोपवीत्यधीत" इस श्रुति के अनुसार मुख्य यज्ञोपवीत परक ही इसका मानना उचित है।

तन्त्रवार्तिक में "यज्ञोपवीतिना कर्तव्यम्" इसे आक्षिप्त "न न्विह यज्ञोपवीतमुदाहर्तव्यं दर्शपूर्णमासादिषु उपव्ययते देवलक्ष्ममेव तत्कुरुत इति क्रत्वङ्ग प्रत्यक्ष विधानात्" तथा काठ के "चानारभ्यवादविधिना सर्वयज्ञगत यजनयाजनसम्बन्धोऽध्ययनाध्यापनसम्बन्धश्च श्रूयते"। यह प्रत्यक्षश्रुतिवाक्य यज्ञोपवीत का विधायक है, यद्यपि 'अजिनं वासो वा' इस अग्रिम वाक्य की पर्यालोचना से "यज्ञोपवीत्येवाधीयीत" यहाँ पर यज्ञोपवीत शब्द अजिन वस्त्रविन्यास विशेषमात्रपरक प्रतीत होता है। त्रिवृत्सूत्र नवतन्तुक त्रिग्रन्थि युक्त यज्ञोपवीतपरक प्रतीत नहीं होता है तथापि अजिन और वासः का ग्रहण यज्ञोपवीत शब्दार्थ के अन्तर्गत नहीं है। "दक्षिणत उपवीयदक्षिणं वाहुमुद्धरतेऽवधत्ते सव्यमिति यज्ञोपवीतम्" एतावन्मात्र ही यज्ञोपवीत संज्ञा करने से तन्मात्र ही शब्दार्थ है। इसीलिए भट्टभास्कर ने कहा है—"अजिनं वासो वेति द्रव्यविधिः" यह कहकर यज्ञोपवीत का लक्षण कहा है, "दक्षिणत उपवीय" इत्यादि कथन से तावन्मात्र ही यज्ञोपवीत का स्वरूप है। इस प्रकार सामान्य रूप से लक्षण कथन की अवतारणा से अजिन और वास के ग्रहण को प्रदर्शन परक मानकर नवतन्तुक साधारण से ही यज्ञोपवीती हीं अध्ययन करे "यज्ञोपवीत्येवाधीयीत" इस श्रुति की प्रवृत्ति होती है। इसीलिए भाष्यार्थ संग्रहकार ने कहा है—

"नवतन्तुदक्षिणं कृत्वा सव्यांसे यन्निधीयते।
तत्सूत्राद्युपवीतं स्याद्दैवे कर्मणि तत्स्मृतम्"॥

अतः, श्रुति आदि के अनुसार नवत्रिवृत्सूत निर्मित ही यज्ञोपवीत को मानना उचित है। मुख्य और अमुख्य के भेद से यज्ञोपवीत का द्वैविध्य होने से मुख्य यज्ञोपवीत का द्वैविध्य होने से मुख्य यज्ञोपवीत व्यवहार गृहीत ही है।

मीमांसक जी को आर्यसमाज के आग्रह में शिष्टाचार व्यवहार परिगृहीत सिद्धान्त का खण्डन करना ही अपना स्थिर सिद्धान्त नहीं रखना चाहिए। शास्त्र की मर्यादा का साम्प्रदायिक आग्रह के आवेश में अन्यथार्थ करना मीमांसा सिद्धान्त का समूल उच्छेद मात्र ही मानना होगा। तर्क की इयना नहीं है ॥२१॥

अथ द्वादशं वारणादीनां सर्वयज्ञाङ्गताधिकरणम्

[१२] गुणानां च परार्थत्वादसंबन्धः समत्वात् स्यात् ॥२२॥ सि०

शा० भा०—अग्न्याधेये वारणवैकङ्कतपात्राण्यहोमार्थानि, होमार्थानि च श्रूयन्ते। तस्माद्वारणो वै यज्ञावचरः स्यात्। न त्वेतेन जुहुयात्। वैकङ्कतो

यज्ञावचरः स्यात्, जुहुयादेतेन" इति। न च वारणवैकङ्कतानां पात्राणाम-ग्न्याधेयेन सम्बन्धः। कुतः? यज्ञावचरवचनात्। यज्ञस्यैतानि[२] पात्राणि वाक्येन प्रकरणं बाधित्वा भवन्ति। तत्रैष सन्देहः—किं पवमानेष्टिषु निविशन्ते, उत दर्शपूर्णमासादिषु सर्वयागेष्विति। किं तावत्प्राप्तम्? पवमानहविःष्विति। कुतः? उक्तमेतत्, प्रधानेऽसंभवत्पदार्थस्तद्गुणे कल्प्यत इति। अग्न्याधेयप्रकरणे च समाम्नानात्पवमानहविषां तद्गुणता। तस्मात्पवमानहविःष्वित्येवं प्राप्तम्। एवं प्राप्ते। ब्रूमः—

गुणानां समत्वात्। पवमानहविषाम्, अग्न्याधेयस्य च न परस्परेण सम्बन्धः। यथाऽऽधानमग्नेर्गुणः संस्कारार्थः, एवं पवमानहवींष्यप्यग्नेरेव गुणभूतानि। कस्तत्र परस्परेण सम्बन्ध इति।

यदुक्तमाधानस्य प्रकरणे समाम्नायन्ते इति। यद्यपि समाम्नायन्ते, तथाऽपि प्रकरणं बाधित्वा वाक्येनाग्नेर्भवन्ति। किमिह वाक्यम्? यदाहवनीये जुह्वति[३], तेन सोऽस्याभीष्टः प्रीतो भवति इति। नन्वाहवनीयोऽत्र यागस्याधिकरणत्वेन गुणभूतः श्रूयते। सत्यम्। अधिकरणमाहवनीयः। तथाऽपि त्वाहवनीयार्थं एव यागः, प्रयोजनवत्त्वादाहवनीयस्य, निष्प्रयोजनत्वात्पवमानहविषाम्। कथमेषां निष्प्रयोजनता? फलाश्रवणात्। कल्प्यं फलमिति चेत्? सत्यं कल्प्यम्। अग्निसंस्कारस्तु तत्फलम्, न स्वर्गः। स्वर्गे कल्प्यमाने द्विरदृष्टं कल्प्यते। होमाच्च स्वर्गो भवति। तस्य चाऽऽहवनीयेनापरोऽदृष्टः संस्कारः इति। तस्मादग्न्यर्थता पवमानहविषाम्। नैषामाधानेन सम्बन्धः। तस्मान्नाऽऽधाने श्रूयमाणं पवमानहविषां भवितुमर्हति। किं तर्हि? सर्वयागेषु दर्शपूर्णमासप्रभृतिष्वाधानस्य प्रधानभूतेषु निवेश इति ॥२२॥ वारणकङ्कतादिपात्राणां कृत्स्नयागगुणताधिकरणम् ॥ १२ ॥

त० वा०—'आनर्थक्यात्तदङ्गेषु' इत्यस्यापवाद आरभ्यते। वारणवैकङ्कतानि होमार्थानि, अहोमार्थानि च पात्राणि यज्ञगामित्वेन विहितान्याधानप्रकरणं बाधित्वा कतमस्य यज्ञस्य भवन्त्विति 'आनर्थक्यात्तदङ्गेषु' इति पवमानहविःषु विज्ञायन्ते। तथा प्राप्ते।

अभिधीयतेः—

वाक्येनाऽऽधानतुल्यानि पवमानहवींष्यपि।
तेनासति तदङ्गत्वे सर्वयज्ञार्थतेष्यते ॥

---

१ ब. देवैतेनेति। २. ब. इतःप्राक्—आग्न्याधानस्य यजतिचोदनारहितत्वादयज्ञत्वं—इत्यधिकम्। ३. ब. जुहोति।

प्रकरणगम्यां पवमानहविषामाधानार्थतां बाधित्वा वाक्येनाग्न्यर्थता विज्ञायते 'यदाहवनीये जुह्वति' इति।

भाष्यमते आक्षेपः

तत्र चोद्यते। यद्यस्माद्वाक्यादाहवनीयः पवमानहविषां संस्कार्यो भवति, ततः समानवाक्यनिर्देशादग्निहोत्रादीनामपि प्राप्नोति। अथ तेषां फलवत्त्वादाहवनीयोऽङ्गम्, ततः पवमानहविषामप्यङ्गमेव स्यात्। न ह्येकं वाक्यं फलवतां गुणभूतम्, अफलानां च प्रधानभूतमाहवनीयं वक्तुं समर्थम्, विध्यनुवादोद्देश्योपादेयगुणप्रधानानां युगपद्विरोधात्। सप्तमी चैकत्र[1] द्वितीयार्थं लक्षयति। अन्यत्र स्वार्थमेव वदतीति विरोधः। तथा विश्वजिदादीनामश्रुतफलानामङ्गत्वप्रसङ्गः। सर्वं चायुक्तमेतत्। निष्पन्नश्चाऽऽहवनीय उपदिश्यते। [2]फलवत्कर्मानुरोधेन च [3]भाव्याहवनीयसंज्ञा विज्ञायते।

समाधानम्

तस्मात्किलैवं वर्णनीयम्। द्वे ह्येते वाक्ये तुल्यरूपे। पवमानहविष्प्रकरणे एकम्, अपरमनारभ्यवादे। तत्र प्राकरणिकेन निष्पाद्यमानत्वात्संस्कारापेक्षिण आहवनीयस्याफलानां पवमानहविष्प्रभृतीनां संस्कारत्वेन विधानम्। अनारभ्यवादेन तु निष्पन्नस्य सतः सर्वकर्माण्युद्दिश्याधिकरणत्वेन विधानम्। तस्मादविरोध इति।

वार्तिकमतम्

वयं तु ब्रूमः। किमनेनाश्रुतवाक्यकल्पनाक्लेशेन। अन्यथाऽप्येतदुपपद्यत एव। भवन्तु नाम पवमानहवींष्याधानाङ्गम्; तथाऽपि न तत्र पात्राणि भवन्ति। वाजपेयस्य यूप इति हि यूपग्रहणाद्व्यवहितसंबन्धेऽपि षष्ठ्युपपत्तेस्तथा कल्पितम्। न त्विहैवं किंचिदस्ति।

यत्तु यज्ञावचरग्रहणम्, तत् प्रकृतयज्ञाभावादनारभ्यवादरूपेण सर्वत्र विदधाति। तच्चैतत्पूषाद्यनुमन्त्रणन्यायेनैव सेत्स्यतीति नार्थोऽधिकरणेन।

सूत्रं तु पूर्वस्यैव पदोत्तरत्वेन नेयम्। ननु निविदां सामिधेन्यङ्गत्वान्न व्यवधायकत्वं स्यात्। अत आह—गुणानां च परार्थत्वादिति। तद् व्याख्यातम्। तथा हि।

वदन्ति सामिधेनीवन्निविदोऽग्निसमिन्धनम्।
संयुक्तत्वादतस्तासां नाङ्गं प्रकरणेन ताः॥ २२॥

(इति द्वादशं वारणादीनां सर्वयज्ञाङ्गताधिकरणम्॥ १२॥)

---

१. क. चैवात्र। २. क० निष्फलकर्मानुरोधेन। अफलवत्कर्मानूरोधेन।
३. क. भाविनीयं संज्ञा।

अथ द्वादशं वारणाधिकरणम् ॥ १२ ॥

न्या० सू०—पात्रविचारस्योपवीतविचारासङ्गतिमाशङ्क्य, वाजपेयाङ्गत्वेनावगतस्य सप्तदशारत्नित्वस्य तत्रासम्भवात्तदङ्गपशुयागावतारेऽभिहिते, तेनैव न्यायेनाभिक्रमणोपव्यानयोः कर्माङ्गभूतकर्त्रवतारे सिद्धे किमभिक्रमणस्य कृत्स्नदर्शपूर्णमासाङ्गत्वात्तदङ्गेषु सर्वर्त्विक्ष्ववतारः प्रयोजहोमाङ्गत्वाद्वा तदङ्गभूतेऽध्वर्युमात्रे उपवीतस्य च किं सामिधेन्यनुवचनमात्राङ्गत्वात्तदङ्गभूते होतृमात्रेऽवतारः, कृत्स्नदर्शपूर्णमासाङ्गत्वाद्वा तदङ्गभूतेषु सर्वर्त्विक्ष्विति विचारात्पर्यवसितस्यानर्थक्यतदङ्गावतारन्यायस्य पवमानेष्टीनामाधानाङ्गत्वेऽपि यज्ञत्वाभावान्नाधानप्रकरणपठितानां पात्राणान्तास्ववतार इति प्रतिपादनात्स्वमतेनापवादतया सङ्गतिमाह—**आनर्थक्यादिति**। भाष्यमते तु किं पवमानेष्टीनामाधानाङ्गत्वात्पात्राणां तास्ववतारोऽनङ्गत्वाद्वानवतार इति विचारात्प्रासङ्गिकी सङ्गतिः। वैकङ्कतेषु न त्वेतेनेति पर्युदासानुषङ्गशङ्कां निरस्यन्नग्न्याधेय इत्युदाहरणभाष्यं व्याचष्टे—**वारणेति**। वारणानि होमव्यतिरिक्तपात्रकार्यार्थानि, वैकङ्कतानि सर्वपात्रकार्यार्थानीत्यर्थः। प्रकरणेनाधानाङ्गत्वावगमात्पवमानेष्टिष्वेव निवेशः, सर्वयागेषु वेति सन्देहायोगमाशङ्क्य यज्ञेऽवचर्यतेऽनुष्ठीयतेऽनेनेति यज्ञावचरशब्देन यागाङ्गत्वाभिधानात्प्रकरणगम्यागरूपाधानाङ्गत्वबाधेन सन्देहोपपादनार्थं न चेत्यादि भाष्यं व्याचष्टे—**यज्ञेति**। किमित्यादिपूर्वपक्षभाष्यं व्याचष्टे—**आनर्थक्यादिति**। एवमित्यादिसिद्धान्तभाष्यं सङ्क्षिप्य व्याचष्टे—**तथेति**। श्लोकं व्याचष्टे—**प्रकरणेति**। केन वाक्येनेत्यपेक्षायां वाक्यमुदाहरति—**किमितीति**। भाष्यस्थस्येतिकरणस्य येन वाक्येनाग्नेर्भवति, तत्किं वाक्यमित्यग्न्यङ्गत्वप्रतिपादकत्वपरामर्शार्थत्वं सूचितम्। पवमानेष्टीनां कैमर्थ्याकाङ्क्षाया'माहवनीये जुह्वती'ति क्लृप्तफलाहवनीयसंयोगे तत्कल्प्यफलानामिष्टीनां तादर्थ्यावसायादगारे गावो वास्यन्तामगारे कुसुमानीत्यादिवच्च प्राधान्येऽपि सप्तम्यविरोधाज्जुहोत्वनुत्पत्तित्वेन चेष्टिनिरोधानपेक्षणाद्विश्वजिद्वत्स्वर्गेऽपि कल्प्यमाने जुहोत्युपलक्षिताद्यागात्स्वर्गो यागस्य चाहवनीयेनापरोऽदृष्टः संस्कारः इत्यदृष्टद्वयकल्पनापत्तेरग्निसंस्कारकल्पनस्यैवोचितत्वात्पवमानेष्टीनामप्याधानवद्वाक्येनाग्न्यङ्गत्वावगतेर्नाधानाङ्गतेत्याशयः।

सिद्धान्तभाष्यं दूषयति—**तत्रेति**। आहवनीयप्रयोजनाभिधायिवाक्यान्तराश्रुतेरनेनैव वाक्येनाग्निहोत्राद्यङ्गतयाऽऽहवनीयस्य प्रयोजनवत्त्वप्रतीतेरभ्युपगमनीयत्वादग्निहोत्रादीनाम्, पवमानेष्टीनां च श्रुताश्रुतफलत्ववैषम्येऽप्येकेन वाक्येनाहवनीयस्य क्वचिद् गुणत्वे क्वचित्प्राधान्येऽभिधीयमाने वैरूप्यापत्तेः सप्तम्याश्च श्रुतिलक्षणावृत्तिविरोधापत्तेः पवमानेष्टिवच्च विश्वजिदादीनामश्रुतफलत्वेनाहवनीयाङ्गत्वापत्तेर्नानेनाग्न्यर्थत्वं पवमानेष्टीनां गम्यत इत्याशयः। पवमानेष्टीनामपि च प्रकरणावगताधानाङ्गत्वेन फलत्वावसायात्फलवदफलत्वविशेषानुपपत्तेस्तद्वशेनैकस्य वाक्यस्य गुणप्रधानभूताहवनीयोक्तिवैरूप्याभ्युपगमः' सप्तम्याश्च श्रुतिलक्षणावैरूप्याभ्युपगमो विश्वजिदादीनां चाहवनीयाङ्गत्वाभ्युपगमो न युक्त इत्याह—**सर्वं चेति**। फलवदग्निहोत्रादिकर्मानुरोधेन च निष्पन्नाहवनीयोपदेशादफलवत्पवमाने-

ष्ट्यादिकर्मानुरोधेन च भाव्याहवनीयसंज्ञाविधानादाहवनीयशब्दप्रवृत्तावप्यस्मिन्पक्षे वैरूप्यं स्यादित्याह—**निष्पन्नश्चेति**। फलवत्कर्मानुरोधेनेत्थकारसदसद्भावाभ्यामावृत्योभयत्र योज्यम्। 'यदाहवनीये जुह्वति यद्गार्हपत्ये हवींषि श्रपयन्ति, यद्दक्षिणाग्नावन्वाहार्यं पचन्तीत्यानारम्या'धीतेभ्यः कर्माङ्गत्वेनाहवनीयादिविधायिभ्योऽन्येन पवमानेष्टिप्रकरणाधीतेनानारम्याधीताहवनीयवाक्यसदृशेनाहवनीयाङ्गतया पवमानेष्टिविधिर्भविष्यतीति परमतेन भाष्यं समाधत्ते—**तस्मादिति**।

नन्वश्रुतप्राकरणिकवाक्यकल्पनां विनाप्यनारभ्यवाक्येनाश्रुतहोमासु पवमानेष्टिषु आहवनीयमुपदेष्टुमशक्नुवताऽतिदेशात्प्राप्तेनाऽहवनीयं प्रापयताऽङ्गत्वेनानिष्पन्नाहवनीयप्रापणाशक्तेः साध्यत्वेन प्रापणावगमात्पवमानेष्टीनामग्न्यङ्गत्वसिद्धेरतिदेशप्राप्तवाक्यव्यापारोक्त्यर्थत्वेन वाक्योक्त्युपपत्तेर्नाश्रुतवाक्यकल्पना युक्तेत्याशङ्कानिरासूचनार्थः किलशब्दः। उपकारपृष्ठेनातिदेशप्रवृत्तेः पवमानेष्टिष्वनिष्पन्नत्वेनाधारतया गुणत्वेन प्राप्तयसम्भवे कार्यलोपात्कृष्णलेष्ववघातवदाहवनीयानिष्पत्तावप्याधानजन्यसंस्काररूपेणैकदेशनिष्पन्नत्वादतिदेशाभ्युपगमेऽङ्गत्वस्याप्युपपत्तेः अतिदेशप्राप्तस्य चाहवनीयस्य साध्यत्वाभ्युपगमेऽन्योन्यानपेक्षास्वाधानानपेक्षास्तु चेष्टिष्वतिदेशप्राप्तेः तादृशीनामेवाहवनीयाङ्गत्वापत्तेराधानपवमानेष्टिसमुच्चयाभ्युपगमविरोधप्रसङ्गादतिदेशप्राप्तस्याहवनीयस्य साध्यत्वानुपपत्तेर्नाश्रुतप्राकरणिकवाक्यकल्पनां विनाग्न्यङ्गत्वं पवमानेष्टीनां सेत्स्यतीत्याशयः। अनारभ्यवाक्यसदृशाश्रुतप्राकरणिकवाक्यकल्पनेऽप्याधानाङ्गत्वात्पवमानेष्टीनामाहवनीयोत्पादकत्वाभ्युपगमेऽगारप्रावारादिवदाहवनीयस्यानिष्पन्नत्वेनाधिकरणतया संस्कार्यत्वायोगात्सप्तमीभङ्गापत्तेः सम्मार्गादिवत्पवमानेष्टीनां कर्मविशेषप्रकरणानधीतत्वेन कर्मविशेषयोग्यताधानात्मकसंस्कारार्थत्वायोगात्साधारणयोग्यताधानस्य चाहवनीयस्वरूपोत्पत्तिमात्रात्सिद्धेरुपनयनादिवत्सर्वकर्मसाधारणस्य सर्वयोग्यताधानात्मकसंस्कारार्थत्वायोगादग्न्यङ्गत्वासिद्धेर्नाश्रुतकल्पना युक्तेत्येतत्समाधानं दूषयति—**वयं त्विति**। कथं तर्हि सिद्धान्तसिद्धिरित्याशङ्क्य, पूर्वपक्ष्युक्ताधानाङ्गत्वाभ्युपगमेनापि पात्राणां पवमानेष्टिष्वनवतरणमुपपद्यत इत्याह—**अन्यथापीति**। अन्यथात्वमेव दर्शयति—**भवन्तु नामेति**। वाक्यगम्ययूपान्वयेन प्रकरणगम्यसाक्षाद्वाजपेयान्वयबाधाद्वाजपेयाङ्गाङ्गयूपद्वारापि च सप्तदशारत्नित्वस्य वाजपेयोपकारणं[1] किञ्चिदस्तीत्यर्थः। यज्ञग्रहणं पवमानेष्टिष्ववतारकारणं[2] भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**यत्त्विति**।

एकादशे'ऽग्नियोगः सोमकाले तदर्थत्वात्संस्कृतैः' कर्मणः परेषु स्वाङ्गस्य तस्मात्सर्वापवर्गे विमोकः स्यादि ११-१-१७ इति सूत्रेणाग्नेः साङ्गप्रधानार्थत्वेनाग्नियोगस्यापि तद्द्वारा साङ्गप्रधानार्थत्वावसायात्साङ्गप्रधानापवर्गेऽग्निविमोकं पूर्वपक्षयित्वा प्रधानापवर्गे

१. कारित्वोपपत्तेः प्रकरणसम्भवेऽत्यन्तबाधायोगाद्रूपेऽवतरणं कल्पितं पात्रवाक्ये तु पवमानेष्टाद्यग्रहणान्न तद्वदेवावतार इ० २ पु० अधि०।

२. अवतारेण कारणमिति २ पु० पा०।

तदर्थत्वादि११-१-१८इत्यनेन 'पञ्चभिर्युनक्ति पाङ्क्तो यज्ञ इति श्रुते'र्यज्ञशब्दस्य च स एष यज्ञः पञ्चविधोऽग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चातुर्मास्यानि पशुः सोम' इति वाक्यालोचनया प्रधानयागवाचित्वावसायादग्नियोगस्य प्रधानयागमात्रार्थत्वावगतेः प्रधानमात्रापवर्गेऽग्निविमोकसिद्धान्तस्य प्रधानार्थो योगः। प्रधानसंयोगेन हि श्रूयते 'पञ्चभिर्युनक्ति पाङ्क्तो यज्ञो'यावानेष यज्ञस्तमालभते इति यज्ञप्राप्त्यर्थं युनक्तीति ज्ञायत इति भाष्ये वक्ष्यमाणत्वाद्।

वार्त्तिककृतापि यज्ञसंयोगार्थवादस्य पञ्चभिर्युनक्तीति गुणवाक्यशेषतयाग्निं युनज्मि शवसा घृतेनेति जुहोतीत्युत्पत्तिवाक्यशेषत्वाभावेन सिद्धान्तदूषणाद्यद्यपि यज्ञसंयोगो भवेत्, तथापि यज्ञशब्दो यागमात्रवचनः। यागमात्रवचनश्चेदङ्गयागानपि वदतीति वार्त्तिके च यागमात्रवाचित्वोक्तेश्चेच्छब्देनैवानभिमतत्वसूचनात्पवमानेष्टीनां प्राधान्याभावेन प्रधानयागवाचियज्ञशब्दवाच्यत्वाभावमभिप्रेत्य प्रकृतयज्ञाभावा'द्दीर्घसोमे सन्तृद्यादि'तिवत्प्रकरणादुत्कर्षेणानारभ्यवादरूपतां प्रतिपाद्य सर्वेषु दर्शपूर्णमासादिषु प्रधानयागत्वाद्यज्ञशब्दवाच्येषु यज्ञावचरग्रहणं पात्राणि विदधातीत्युक्तम्।

अनेन चाधानगुणभूतानां पवमानेष्टीनाम्परार्थत्वेनागज्ञतयाधानसमत्वाद्यसंयोगेन श्रुतैः पात्रैरसम्बन्धः स्यादित्येवं सूत्रव्याख्या सूचिता। दर्शपूर्णमासादिषु जुह्वादिपात्राणाम्पर्णतादिविधावप्युलूखलादिपात्रेषु वारणवैकङ्कतत्वविध्यविरोधः। यज्ञशब्दस्य प्रधानयागवाचित्वेन पवमानेष्टीनां यज्ञत्वाभावप्रदर्शनार्थमेतत्सूत्रम्। अन्यथा तु पवमानेष्टीनां यज्ञत्वाभावाद्यज्ञसंयोगेन श्रुतानां पात्राणाम्बलवत्प्रमाणविरोधेन प्रकरणादुत्कर्षणं पूषाद्यनुमन्त्रणन्यायेनैव सेत्स्यतीत्यधिकरणानर्थक्यं स्यादित्याह—**तच्चेति**। सूत्रस्य तर्हि का गतिरित्याशङ्क्य शङ्कोत्तरत्वेन पूर्वाधिकरणशेषतया सूत्रङ्गमयितव्यमित्याह—**सूत्रन्त्विति**। शेषतयेत्यध्याहार्यम्। कथमेतच्छङ्कोत्तरतास्य सूत्रस्येत्याशङ्क्याह—**तदिति**। तामेव व्याख्यां स्मारयति—**तथा हीति**॥ २२॥

इति द्वादशं वारणाधिकरणम्।

भा० प्र०—"आनर्थक्यात् तदङ्गेषु" (३।१।१८) सूत्र में जो कहा गया है, उसी का खण्डन अर्थात् व्यतिक्रम इस सूत्र में कहा गया है। अग्न्याधानप्रकरण में होम के लिए एवं यज्ञ के लिये दारुमयपात्र के विधान के लिये श्रुति में कहा गया है कि "तस्माद् वारणे वै यज्ञावचरः स्यात् न त्वेकेन जुहुयात्" (मै० सं० १।६।७) वैकङ्कतो यज्ञावचरः स्यात्। जुहुयादेतेन (का० श्रौ० सू० १।३।३२) "वारण अर्थात् वरणा=यज्ञभूमिकाकाष्ठनिर्मितपात्रविशेष एवं वैकङ्कत अर्थात् वैत्रकाष्ठनिर्मित पात्र यज्ञ की प्रतिष्ठा का साधन होने से वारणपात्र में होम न कर वैकङ्कतपात्र में होम करे"। इस स्थल में वारण एवं वैकङ्कतपात्र का विषय कहा गया है, वह क्या पवमान नामक इष्टि में अन्वित होगा या दर्शपूर्णमास आदि सभी यागों के साथ अन्वित होगा—यह संशय है।

इस प्रसंग में पूर्वपक्षी का कहना है कि प्रकरणानुसार आधान में अन्वित होने योग्य है। किन्तु आधान साक्षात् यज्ञ नहीं होने से "आनर्थक्यात्तदङ्गेषु" (३।१।१८) इस नियम के अनुसार सप्तदशारत्निता जैसे वाजपेयाङ्ग पशु का अङ्ग पशु के अङ्ग यूप में अन्वित होता है, वैसे ही यह भी आधान के अङ्ग परमाणेष्टि को यज्ञ मानकर उसी में प्रविष्ट होगा अर्थात् परमाणेष्टि का पात्रादि ही वारण एवं वैकङ्कत होगा।

इसके समाधान में सिद्धान्ती का कहना है कि "गुणानाम् असम्बद्धः" गुणों का परस्पर में अन्वय नहीं हो सकता है अर्थात् गुण परस्पर गुण के साथ अन्वित नहीं होंगे। क्योंकि "समत्वात्" कारण ये सभी समान हैं, इसमें कारण यह है कि "परार्थत्वात्" क्योंकि सभी गुण प्रधान के प्रयोजन का निर्वाह करने के लिये होते हैं उनका अपना कोई प्रयोजन नहीं रहता है। क्योंकि, गुण स्वरूपतः निष्फल हैं, प्रधान के प्रयोजन का निर्वाह करके ही वे सार्थक या सफल होते हैं।

आशय यह है कि परस्पर में अन्वित होने पर एक प्रधान और दूसरा गुण या अप्रधान होकर ही अन्वय लाभ कर सकते हैं, किन्तु, यदि सभी प्रधान या अप्रधान हो हो जाय तो उनका परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता है। इस स्थल में आधान जैसे अग्नि के संस्कार का साधन होने से अग्नि का गुण है, परमाणेष्टि भी उसी प्रकार अग्नि का संस्कार सम्पादन करता है, अतः वह भी अग्नि का गुण है। अतः आधान के साथ परमाणेष्टि का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। आधान और परमाणेष्टि का परस्पर सम्बन्ध न होने से उनमें गुण और प्रधानभाव न रहने पर वारणादिपात्र परमाण हवि का अङ्ग नहीं है, किन्तु, वह वाक्य से दर्शपूर्णमासादि सभी यज्ञों में ही विनियुक्त होता है, अर्थात् वह दर्शपूर्णमासादि सभी यज्ञ का ही अङ्ग है।

आधान कर्म और पवमानहवियों आहवनीय अग्नि के संस्कार के लिये हैं। उस संस्कृत अग्नि से प्रयोजन है, अतः, वह मुख्य है। फलतः दो गौणभूत आधानों एव पवमानहवियों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध न होने से आधान में श्रुत वारणादि पात्रों का पवमान हवियों के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता है। आहवनीय की मुख्यता "यदाहवनीये जुहोति" वाक्य से आहवनीय के लिए याग का विधान होना है। अग्नि के संस्कार के लिये होने से पवमान हवियाँ अपने रूप में निष्प्रयोजन हैं। उनका प्रयोजन अग्नि का संस्कार है। पवमान हवियों का स्वतन्त्र फल स्वर्ग मानने पर होम से अदृष्ट स्वर्ग होता है और उस होम से आहवनीय का अदृष्ट संस्कार होता है। इस प्रकार दो अदृष्टों की कल्पना करने पर आधान में श्रूयमाण पात्र आधान के प्रधानभूत अर्थात् जिनके लिये आधान कहा गया है उन सभी दर्शपूर्णमास आदि यागों से सम्बद्ध होंगे। इस प्रकार ये पात्र अवमान हवियों में भी पहुँच जायेंगे, क्योंकि, पवमान हवियाँ दर्श-पूर्णमास की विकृतिस्वरूप है। भट्ट कुमारिल ने पवमानेष्टि को आधान का अङ्ग माना है और भाष्यकार ने इसको अग्नि के संस्कार के लिये माना है।

"गुणानां" = गुणों का वरण, वैकङ्कत आदि गुणों का, "परार्थत्वात्" = परार्थ होने से अर्थात् गुणसमुदाय प्रधान के प्रयोजन-निर्वाहक होने से, "समत्वात्" = उनके परस्पर समान होने से, "असम्बन्धः स्यात्" असम्बन्ध होगा, परस्पर सम्बद्ध होने से, गुण समूह एक ही प्रधान के प्रयोजन निर्वाहक होने पर परस्पर तुल्यस्वरूप होने से परस्पर सम्बद्ध नहीं होंगे अर्थात् परस्पर अन्वित नहीं होंगे ॥२२॥

यह बारहवाँ गुणों का परस्पर असम्बद्धाधिकरण सम्पन्न हुआ ॥

अथ त्रयोदशं वार्त्रघ्न्यादीनामाज्यभागाङ्गताधिकरणम्

[१३] मिथश्चानर्थसम्बन्धात् ॥ २३ ॥ सि०

शा० भा०—दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते 'वार्त्रघ्नी पौर्णमास्यामनूच्येते, वृधन्वती अमावस्यायाम्' इति। तत्र संदेहः—किमनुवाक्याद्वित्वस्य प्रधाने निवेश, उताऽऽज्यभागयोरिति। किं तावत्प्राप्तम्? प्रधाने इति। कुतः? पौर्णमासी-समभिव्याहारात्, अमावास्यासमभिव्याहाराच्च। प्रधानं पौर्णमासी च, अमावस्या च, नाऽऽज्यभागौ। तस्मात्साक्षाद्वाक्यात्प्रधानस्येति प्राप्तम्।

तत्र ब्रूमः—मिथः सह द्वाभ्यामनुवाक्याभ्यां न प्रधानस्य कार्यमस्ति। यत्र तु द्वे अनुवाक्ये, तत्र तयोर्वार्त्रघ्नता, वृधन्वत्ता च विधीयते। प्रधाने चैका-ऽनुवाक्या। तत्र द्वित्वं वार्त्रघ्नता, वृधन्वत्तां च विदधद्वाक्यं भिद्येत। आज्य-भागयोस्तु द्वे प्राप्ते आग्नेयी, सौमी च तत्र वार्त्रघ्नतां वृधन्वत्तां केवलां शक्ष्यति विधातुम्।

ननु प्रधानगामित्वेऽपि द्वयोः प्रधानयोर्द्वे अनुवाक्ये आग्नेयस्याग्नीषोमीयस्य चेति। उच्यते। एका वार्त्रघ्न्याग्नेयी, एका सौमी। तथा वृधन्वत्यौ। तत्र याऽऽग्नेयी, सा विधीयमाना सम्बध्येत, न सौमी। अमावास्यायां तावन्ना-स्त्येव सोमः[1]। पौर्णमास्यामप्यग्नीषोमीय एव क्रियमाणे क्रियेत। तत्राप्येक-देवत्या न शक्नुयाद्देवताद्वित्वे कार्यं कर्तुम्। अथोभे अग्नीषोमीये प्राप्ते इति। नैकस्य यागस्य द्वाभ्यामनुवाक्याभ्यां प्रयोजनम्। उपादेयत्वेन ह्यनुवाक्या चोद्यते। तत्रैकत्वं विवक्षितम्। तेन तत्रापि न द्वे। तस्मादाज्यभागयोर्निवेश इति ॥२३॥ वार्त्रघ्न्याद्यनुवाक्यानामाज्यभागाङ्गताऽधिकरणम् ॥ १३ ॥

त० वा०—यथासंयोगं निवेशार्थमारम्भः। कुतः सन्देह इति, संयोगस्यैव द्वेधा प्रतिभानात्।

---

१. ब. क० एतत्पदं नास्ति।

साधारण्येन संयोगः सन्दिग्धः कालकर्मभिः ।
विरुद्धः कर्मसंबन्धे न क्रमः कालसंगतौ ॥
तुल्यकक्षौ हि संबन्धौ विरुद्धौ न विलक्षणौ ।
तुल्यत्वं कर्मसंबन्धे वैषम्यं कालसंगतौ ॥
नित्यं तत्रानुवाक्याभिर्यागानामेव संगतिः ।
न काल्योः क्रमस्तस्मात्प्रधानाङ्गतया हृतः ॥
गुणानां च परार्थत्वादित्यनेनापि हेतुना ।
संबद्धं नाऽऽज्यभागाभ्यामनुवाक्याचतुष्टयम् ।

तस्मादाज्यभागक्रमं बाधित्वा वाक्येन प्रधानार्थत्वे प्राप्ते ।

अभिधीयतेः—

मिथश्चानर्थसंबन्धादिष्टो नाङ्गाङ्गिसंगमः ।
न चेहास्त्यनुवाक्यानां प्रधानैरर्थसंगतिः ॥
द्वे तावन्नानुवाक्ये स्तः कर्मैकत्वे कथंचन ।
द्वयोरपि च नैवैते देवते कर्मणोरिह ॥

अमावास्यायां तावत्सौमी नैव विद्यमानार्था । न ह्यमावास्यायां सोमः प्रधानदेवता । पौर्णमास्यामप्यग्निसहितस्य चोदितत्वात्केवलस्य प्रकाशनं महेन्द्राधिकरणे निराकृतम् । न चाग्नीषोमयोर्द्वयोरपि प्रयोगः 'पुरोनुवाक्यामन्वाह' इत्येककर्मणि विवक्षितैकसंख्यत्वात् ।

अथाप्राप्तमपि द्वित्वं विधीयते, ततो मन्त्रविशेषस्य, द्वित्वस्य च विधानाद् वाक्यं भिद्यते । आज्यभागयोस्तु कालकृतं व्यवस्थामात्रं सुकरमित्युक्तम् ।

तस्मात्कालार्थ एवायं संयोगोऽङ्गाङ्गिकल्पनात् ।
न्याय्यः पूर्वप्रतीतत्वात्कालो हि दुरतिक्रमः ॥ २३ ॥

(इति त्रयोदशं वार्त्रघ्न्यादीनामाज्यभागाङ्गताधिकरणम् ॥ १३ ॥)

॥ अथ त्रयोदशं वार्तघ्न्याधिकरणम् ॥ १३ ॥

न्या० सु०—यज्ञावचरवाक्येन पात्राणां प्रकरणादाधानाङ्गत्वबाधेऽभिहिते, अनुवाक्यानामपि क्रमावगताज्यभागाङ्गत्वबाधस्य प्रसक्तस्यापवादायैतदधिकरणमित्यन्तरसङ्गतिमाह—यथासंयोगमिति । अनुवाक्यानां क्रमकृतमाज्यभागसंयोगमबाधित्वा निवेशार्थमित्यर्थः । एवं तर्हि वाक्यबलीयस्त्वेन क्रमकृतसंयोगबाधनिश्चयात्सिद्धान्तानुपपत्तेः सन्देहो न युज्येतेत्याशङ्क्ते—कुत इति । वाक्यक्रमकृतयोः संयोगयोः सम्प्रधारणे सन्देहायोगसूचनायेतिकरणः । वाक्यकृतस्य प्रधानसंयोगस्य क्रमविरोध्यविरोधित्वेन द्वेधा प्रतिभानात्सन्देहोपपत्तिरिति सूचयति—संयोगस्यैवेति । बाधकत्वाभिमतवाक्यकृतसंयोगसूचनायै-

वकारः। एतदेव विवृणोति—**साधारण्येनेति**। पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः काले कर्मणि च साधारण्यात्कालाभ्यामनुवाक्यानां संयोगः, कर्मभिर्वाग्नेयादिभिरित्येवं वाक्यकृतः संयोगः सन्दिग्ध इत्यर्थः। कस्मिन्पक्षे क्रमवाक्ययोर्विरोधः? कस्मिन्वा नेत्यपेक्षायामाह—**विरुद्ध इति**। वाक्येनानुवाक्यानामाग्नेयादिकर्मसम्बन्धे सति क्रमो वाक्यविरुद्धः। कालसङ्गतौ न विरुध्यत इत्यर्थः। एतदेवोपपादयति—**तुल्यकक्षौ हीति**। वाक्येनानुवाक्यानामाग्नेयादिकर्मसम्बन्धे क्रमावगम्येनाक्रमावगम्येनाज्यभागसम्बन्धेन सहाङ्गाङ्गित्वरूपतया तुल्यत्वम्, कालसङ्गतो स्वङ्गाङ्गिरूपत्वाभावेनातुल्यतेत्यर्थः।

पूर्वपक्षमाह—**नित्यमिति**। यस्माद्यागानामेवानुवाक्याभिः सङ्गतिर्युक्ता, न तु कालयोः तस्माद्वाक्यावगतानुवाक्यानां प्रधानाङ्गतयाज्यभागाङ्गत्वबोधकः क्रमो बाधित इत्युक्ते, अनुवाक्याभिः कालयोरङ्गाङ्गित्वरूपसङ्गत्ययोगेऽपि व्यवस्थात्यव्यवस्थापकत्वरूपा सङ्गतिर्भविष्यतीत्याशङ्कानिरासमूचनार्थं नित्यमित्युक्तम्। आज्यभागयोः साक्षात्कालान्वयाभावात्पौर्णमास्याङ्काले यावाज्यभागौ, तयोर्वार्त्रंघ्नौ, अमावास्याकाले यौ, तयोर्वृधन्वत्याविति व्यवस्थाऽनुपपत्तेः कालकृतायां व्यवस्थायां 'य इष्टचेति वाक्येन दर्शपूर्णमाससोमविकारेषु पौर्णमास्यमावास्याकालविधानात्पौर्णमास्यां दर्शविकारानुष्ठाने वार्त्रघ्नीप्रसक्तेः, अमावास्यायां च पूर्णमासविकारानुष्ठाने वृधन्वतीप्रसक्तेः प्रकृतिवद्भाववैरूप्यप्रसङ्गात्प्रधानं पौर्णमासी चामावास्या च, नाज्यभागाविति पूर्वपक्षभाष्ये चाज्यभागयोः पौर्णमास्यमावास्याशब्दवाच्यत्वनिषेधात्सिद्धान्ते पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः प्रधानवाचिनोः प्रधानकालाज्यभागलक्षणार्थत्वावसायाद्व्यवस्थापक्षेऽपि पौर्णमास्याख्यप्रधानकालीनयोराज्यभागयोर्वार्त्रघ्न्यौ, अमावास्याख्यप्रधानकालीनयोर्वृधन्वत्याविति प्रधानयागद्वारैव व्यवस्थाया वाच्यत्वात्पक्षद्वयेऽप्यनुवाक्याभिः प्रधानयागानां सङ्गतिरित्याशयः। विस्तरेण चास्माभिस्तन्त्रसारेऽनयोः पौर्णमास्यमावास्याशब्दवत्प्रधानवाचितोपपादिता।

शक्यते च कालोक्तिः पौर्णमास्यमावास्याशब्दवाच्यप्रधानलक्षितकालविषयतया व्याख्यातुम्। साधारण्येनेति सन्देहोपपादनवार्त्तिकमपि व्यवस्थापक्षेऽप्याज्यभागयोः साक्षात्कालानन्वयेन प्रधानद्वाराज्यभागकालस्य लक्षणीयत्वात्पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः पक्षद्वयेऽपि प्रधानवाचित्वसाधारण्यात्किं कर्मलक्षिताभ्याम् कालाभ्याम् अनुवाक्यानां व्यवस्थाप्यव्यवस्थापकलक्षणः संयोगः। कर्मभिरेव चाङ्गाङ्गिलक्षण इत्येवं सन्दिग्धः संयोग इत्येवं व्याख्येयम्। वारणवैकंकतपात्राणां पूषाद्यनुमन्त्रणन्यायेनैवोत्कर्षसिद्धेः 'गुणानां चे'ति सूत्रस्य प्रधानविषयत्वानभ्युपगमे स्वेतदधिकरणपूर्वपक्षेऽपि योजयितुं शक्यमिति सूचयितुमाह—**गुणानां चेति**।

पूर्वपक्षोपसंहारपूर्वं सिद्धान्तसूत्रमवतारयति—**तस्मादिति**। सूत्रे साध्यानभिधानात्पूर्वसूत्रस्थासम्बन्धपदानुषङ्गेण साध्याकाङ्क्षां पूरयन्व्याचष्टे—**मिथश्चेति**। 'पुरोऽनुवाक्यामन्वाहे'ति विवक्षितैकसंख्यत्वेनानुवाक्यालक्षणानां मिथो युग्मभूतानां प्रधानैः सह देवताप्रकाशनाख्यकार्यरूपार्थद्वारसम्बन्धाभावादित्येवं हिशब्दार्थचशब्दकेनोत्तरार्द्धेन सूत्रं

व्याख्यातम् । पूर्वसूत्रोक्तसम्बन्धानुकर्षणार्थः सौत्रश्च शब्दः । पूर्वसूत्रेणैतदधिकरणपूर्वपक्षकरणे त्वचोदकाश्च संस्कारा इतिवत्पूर्वपक्षनिवृत्त्यर्थः । वार्त्रघ्नीवृधन्वत्यनुवाक्यालक्षणानां गुणानां प्रधानैः सहार्थद्वारसम्बन्धाभावोपपादनार्थत्वेन मिथःशब्दं व्याख्यातुमाह—**द्वे तावदिति ।** पित्र्येष्टिवत्कर्मैक्येऽप्यनुवाक्याद्वयोपपत्तिमाशङ्क्य द्वे द्वे अनुवाक्ये इति वदिह द्वित्वविद्ध्यभावादनेकार्थविधिगौरवापत्तेश्च तेनैव द्वित्वविध्ययोगान्नानुवाक्याद्वयोपपत्तिरिति परिहारसूचनार्थं कथं च नेत्युक्तम् । कर्मद्वये तर्ह्यनुवाक्याद्वयं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**द्वयोरपि चेति ।** एतदेवोपपादयितुमारभते—**अमावास्यायां तावदिति ।** पौर्णमास्यामग्नीषोमीये सोमस्यापि देवतात्वात्सौमी विद्यमानार्था भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**पौर्णमास्यामपीति ।** एवं तर्ह्येकदेवत्ये कर्मण्यनपेक्षितत्वादनुवाक्याद्वित्वविध्ययोगेऽप्यग्नीषोमीयेऽपेक्षितत्वात् द्वित्वाविध्युपपत्तेर्द्वयोर्वार्त्रघ्न्योः समुच्चयेन प्रयोगो भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**न चेति ।** श्रुतैकसंख्याविरोधान्न सामर्थ्यतोऽनुवाक्याद्वयसमुच्चयः नापि विधितो वाक्यभेदापत्तेरित्याशयः ।

नन्वाज्यभागयोरपि मन्त्रविशेषस्य कालस्य च विधानात्तुल्यो वाक्यभेद इत्याशङ्क्याह—**आज्यभागयोस्त्विति ।** लिङ्गक्रमाभ्यामेव मन्त्रविशेषप्राप्तेर्न्यायप्राप्तप्रधानकालद्वारा व्यवस्थार्थासंयोगे वाक्यभेदापत्तिरित्याशयः । सिद्धान्तमुपसंहरति—**तस्मादिति ।** अङ्गाङ्गिकल्पनमपेक्ष्य प्रधानकालद्वारव्यवस्थार्थः संयोगो[1] न्याय इत्युक्ते प्रधानवाचिनोः पौर्णमास्यमावास्याशब्दयोः । काललक्षणार्थत्वापत्तेरन्यायतामाशङ्क्य, कालयोगेनैव प्रधानानां पौर्णमास्यमावास्याशब्दवाच्यत्वात्तस्य च कालस्य साक्षादाज्यभागमन्त्रव्यवस्थापकत्वायोगात्प्रधानान्वयपूर्वव्यवस्थाभ्युपगमेन प्रधानान्वयिरूपलक्षणापत्तावपि स्वरूपेण वाच्यत्वात्पूर्वप्रतीतेरदोष इति पूर्वैत्यनेनोक्तम् ॥२३॥

इति त्रयोदशं वार्त्रघ्न्यधिकरणम्

भा० प्र०—दर्शपूर्णमास प्रकरण में श्रुतियों में कहा गया है कि "वार्त्रघ्नी पौर्णमास्यामनुच्येते वृधन्वती अमावास्याम्" (तै० सं २।५।२) अर्थात् पौर्णमासी में वार्त्रघ्नी नाम की दो ऋचायें पाठ्य है और अमावस्या में वृधन्वती नाम की दो ऋचायें पाठनीय है ।" वृत्रहनन विषयक "अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्" इत्यादि हो ऋचाएँ वार्त्रघ्नी और (वृध् धातुयुक्त "सोमगीभिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः" (मै० सं० ४।१०।१) इत्यादि दो ऋचाएँ वृधन्वती । यह वार्तघ्नी एवं वृधन्वती नामक दो ऋचाएँ प्रधानयाग दर्शपूर्णमास का अङ्ग अथवा वह आज्यभागद्वय का = दर्शपूर्णमास याग के अङ्ग दो यागों का अङ्ग है—यह संशय है । इस प्रसङ्ग में पूर्वपक्षी का कहना है कि यह प्रधान याग का ही अङ्ग है, क्योंकि, इस स्थल में "वार्त्रघ्नी पौर्णमास्याम्" एवं "वृधन्वती अमावास्याम्" इस रूप में पौणमासी एवम् अमावस्या नामक प्रधान याग के साथ ही पठित होते हैं ।

---

१. व्यवस्थामात्रविधानान्न इ० २ पु० पा० ।

इन चार मन्त्रों का आज्यभाग अङ्ग मानने पर क्रम की विनियोजकता स्वीकार की जाती है। दर्शपूर्णमास के अङ्ग मानने पर वाक्य की विनियोजकता रक्षित होती हैं, किन्तु उनकी अपेक्षा वाक्य के बलवान् होने से वाक्य के द्वारा उसका प्रधानयाग अंग रूप में ही विनियुक्त होते हैं।

सिद्धान्ती का कहना है कि "मिथश्च अनर्थसम्वन्धः"। इस स्थल में "न अर्थ-सम्बन्धः = अनर्थसम्बन्धः", इस प्रकार की व्युत्पत्ति के अनुसार अनर्थसम्बन्ध का अर्थ प्रयोजनाभाव होता है। युगलात्मक दो ऋचाओं को यदि प्रधान का अङ्ग माना जाय तो इसके द्वारा किसी प्रयोजन की सिद्धि न होने से यह निरर्थक हो जायेंगीं, क्योंकि, इस स्थल में दो अनुवाक्या रहते हैं। किन्तु; प्रधान याग में एक अनुवाक्या ही विहित है। अतः, इसको प्रधान का अङ्ग मानने पर प्रधान में द्वित्व एवं वार्त्रघ्नत्व और वृत्तधन्वत्त्व इन दो का विधान करना पड़ेगा, अतः वाक्यभेद होगा। किन्तु, आज्य यागद्वय में दो अनुवाक्या प्राप्त होने से अर्थात् आज्य भाग दो होने पर उसका अनुवाक्या भी दो होगा, ऐसी स्थिति में वार्त्रघ्नता और वृधन्वता का विधान होगा, तथा वाक्यभेद नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि इसको प्रधान याग का अङ्ग मानने पर लिङ्ग विरोध होगा, कारण, वार्त्रघ्न दो ऋचायें अग्नि प्रकाशक होने से उसे आग्नेय याग का अङ्ग मानने पर भी वृधन्वती नामक दो ऋचाएँ यहाँ निविष्ट नहीं हो सकती हैं। क्योंकि, ये सोम देवता की प्रकाशक हैं, साथ ही प्रधान याग में 'अग्नीषोम' देवता है, किन्तु अग्नीषोम के मध्य में स्तोम रहने पर भी इस स्थल में अग्नि और सोम मिलित रूप में एक देवता होने से अग्नीषोम एवं सोम एक नहीं हैं। अतः, लिङ्गविरोध होने से ये प्रधानगामी नहीं है, अपितु आज्य भाग के ही अङ्ग हैं। प्रयाज के बाद जैसे आज्य भाग कर्तव्य होने से गठित होते हैं, वैसे ही प्रयाजमन्त्रानुवाक के अनन्तर ये अनुवाकद्वय भी पठित होते हैं, इसलिए, क्रमानुसार ये आज्य भाग के अङ्ग हैं, दर्शपूर्णमास के अङ्ग नहीं हैं।

"मिथः" = परस्पर अर्थात् मन्त्रद्वय का, "च" = और "अनर्थसम्बन्धात्" = अर्थसम्बन्धाभाव अर्थात् प्रयोजन न होने से प्रधान के साथ सम्बद्ध नहीं है॥ २३ ॥

यह तेरहवाँ वार्त्रघ्नी अधिकरण सम्पन्न हुआ।

[१४] आनन्तर्यमचोदना ॥२४॥ सि०

शा० भा०—ज्योतिष्टोमे श्रूयते—मुष्टीकरोति वाचं यच्छति दीक्षितमावेदयति इति। तथा 'हस्ताववनेनिक्ते, उलपराजिंस्तृणाति ? इति। तत्र सन्देहः—किं मुष्टीकरणं वाग्यमश्चाऽऽवेदनार्थम्, उत कृत्स्नप्रकरणे निवेशः इति। तथा हस्तावनेजनं किमुलपराजि स्तरितुम्, उत प्रकरणे सर्वपदार्थान्कर्तु-मिति। किं तावत्प्राप्तम् ? हस्तावनेजनं हस्तसंस्कारार्थम्, वाग्यमः पुरुषसंस्का-

रार्थः आमन्त्रयमाण एकाग्रो भवति, पदार्थाननुतिष्ठति। तेन केषां केषां पदार्थानामिमौ [1]संस्कारावित्याकाङ्क्षाऽस्ति। सत्यामाकाङ्क्षायामानन्तर्येण निराकाङ्क्षीकरणम्। तस्मादानन्तर्यादावेदनार्थो वाग्यमो मुष्टीकरणं च। हस्तावनेजनं चोलपराजि स्तरितुम्। एवं प्राप्ते।

ब्रूमः—सर्वैः प्रकरणाधीतैः सम्बन्ध इति। कुतः? वाक्यभेदात्। कथं वाक्यभेदः। अर्थद्वयस्याभिधानात्। न हि दीक्षितमावेदयितुमित्यस्मिन्नर्थं आवेदयतीति। न च स्तरितुमित्यस्मिन्नर्थे स्तृणातीति। स्तरणमपि विधीयते, अवनेजनं च। मुष्टीकरणं, वाग्यमश्च विधीयते, आवेदनं च। न चैषा परस्परेण कश्चित्संबन्धोऽस्ति। न च पदार्थाकाङ्क्षायां सत्यामानन्तर्यमेकवाक्यत्वे कारणं भवति। तस्मात्प्रकरणधर्मा एवंजातीयकाः॥ २४॥ सिद्धान्तः॥

त० वा०—क्रमविनियोगोऽनन्तरमवस्थितः। इदानीं तदपवादः क्रियते। मुष्ट्योः करणम्, वाग्यमश्च याजमानम्। आवेदनमाध्वर्यवम्। तत्र कथमङ्गाङ्गिभाव आशङ्क्यते? नैष दोषः। आध्वर्यवेष्वपि प्रयोक्तृत्वेन यजमानस्य कर्तृत्वात्।

अथ वा यत्तत्र दीक्षितस्याऽऽवेद्यमानम्, तस्याङ्गत्वेनेतरौ संदिह्येते। कस्मात्पुनस्तुल्य आनन्तर्ये पूर्वस्यैवाङ्गत्वमुच्यते, न परस्य।

तत्र केषाञ्चिन्मतम्

केचिदाहुः। अनियमप्रदर्शनार्थमेव प्राथम्यात्पूर्वोपादनम्। अथ वा सर्वभावनासु किमित्युपकार्यपेक्षणं प्रथममुत्पद्यते। सर्वापेक्षणेषु च पुरस्तादुच्चरितस्य ग्रन्थानुगुण्यात्पूर्वमालोचनं भवति। तेन मुष्टिकरणवाग्यमाभ्यां किं कर्तव्यमित्यपेक्षिते 'दीक्षितमावेदयति' इत्युपतिष्ठते। न च तदतिक्रमे हेतुरस्ति। शक्यते च तस्यापि परतः प्रयोजनवत्त्वं कल्पयितुम्। अतस्तदर्थत्वमेव युक्तम्। एवं हस्तावनेजनस्योलपराजिस्तरणार्थत्वम्। ऊर्ध्वैस्तृणैर्दीर्घं वेदिमध्ये स्तरणमुलपाजिस्तरणं प्रत्येतव्यम्। सर्वत्र च योग्यत्वमवान्तरप्रकरणमेकवाक्यत्वं च महाप्रकरणाद्बलीयांसि विनियोजकानि। तस्मात्सर्वं पूर्वसमाम्नातमुत्तरसमाम्नातस्याङ्गम्। योग्यत्वाभावात्तु मुष्टीकरणवाग्यमयोः परस्पराङ्गत्व नोपन्यस्तम्। न ह्युभयोः प्रधानार्थयोरन्योन्यापेक्षा। तेनायोग्यमात्रमतिक्रम्य न दूरं गन्तव्यमित्येवं प्राप्ते।

ब्रूमः—

न तावदेकवाक्यत्वं दृश्यते योग्यता समा।
अवान्तरकथंभावस्तदानीं नावगम्यते॥

---

१. ब. क० इमेसंस्कारा इत्याकांक्षा।

न हि द्वयोराख्यातयोः केनचिदुपबन्धेन विनैकवाक्यत्वं संभवति। यत्प्रकरणं बाधेत। योग्यता पुनरनन्तरार्थत्वे च समा।

यद्वा सर्वार्थत्वे युक्ततरा। बहुषु हि पदार्थेष्ववधानमुपयुज्यतेतराम्। एकस्तु यथाकथंचिदपि क्रियते। न चावान्तरप्रकरणमिह विद्यते। यदि तावत्पूर्वस्य कथंभावः। तत उत्तरमेवाङ्गं प्राप्नोति। न चैवं भवितुमर्हति। साध्यांशस्यापरिपूर्णत्वात्। न चोत्तरेणासावक्लृप्तप्रयोजनावस्थेन शक्यः पूरयितुम्। एवं तस्याप्युत्तरेणेति यावत्प्रधानं प्राप्तम्।

यद्येवं ततो योऽन्तराले गुणकामस्तेन सह सर्वमाधस्त्यमङ्गं संबध्येत, नैव प्रधानं यावत्प्राप्नुयात्, अवान्तरकथंभावस्य निष्पन्नत्वादिति। उच्यते—

यदि नामास्य विज्ञातौ स्यातां वाक्यगतौ गुणौ।
अवान्तरकथंभावस्ततस्तावन्तरा भवेत्॥

प्रधानकथंभावस्त्वभितोऽन्यसंबन्धमात्रमुक्त्वा यावदन्तं गच्छतीत्यनुषङ्गाधिकरणे व्याख्यातम्।

नन्वेवं सति सर्वावान्तरप्रकरणोच्छेद एव प्राप्नोति। उच्यते—

परप्रकरणस्थानामङ्गे श्रुत्यादिभिस्त्रिभिः।
ज्ञाते पुनश्च तैरेव संदंशेन तदिष्यते॥

सर्वेषां हि प्रयाजादीनामङ्गं किंचिदुक्त्वा, पुनः परामर्शोऽस्तीति तत्पर्यन्तावान्तरप्रकरणकल्पना भवति। अन्यथा ह्यव्यवस्थैव स्यात्सर्वशेषाणां परस्परशेषत्वप्रसङ्गात्। यत्र पुनः संकीर्तनं नास्ति, तत्र सर्वं प्रधानार्थमेवाध्यवसातव्यम्। तस्य तु किं केवलस्य, अथ साङ्गस्येत्यत्र विवेकं 'प्रकरणविशेषादसंयुक्तं प्रधानस्य' इत्यारभ्य वक्ष्यति। तदिह योग्यतया मुष्टीकरणादीनां साङ्गप्रधानार्थत्वं निश्चितम्।

यदि त्वावेदयितुं स्तरितुमिति च श्रूयेत, ततः 'तुमुनण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्' इत्येकवाक्यतया विनियोगो भवेत्। न त्वेवमस्ति। तस्मात्सर्वार्थत्वमिति॥ २४॥

अथ चतुर्दशहस्तावनेजनाधिकरणम्

न्या० सु०—प्रधानान्वयेऽनुवाक्यानामानर्थक्यापत्तेस्तदङ्गभूतयोराज्यभागयोः क्रमानुसारेणावतारोक्त्या वारणाधिकरणापोदितानर्थक्यतदङ्गावतारोज्जीवने कृते मुष्टिकरणस्याङ्गुलिविसर्जनोत्तरकालप्रधानान्वयायोगाद्वाग्यमस्य च वाग्विसर्गोत्तरप्रधानान्वयायोगाद्धस्तावनेजनस्य च हस्तलेपापादकपिण्डकरणोत्तरकालप्रधानान्वयायोगाद्वाग्यमस्य च वाग्विसर्गोत्तरप्रधानान्वयायोगाद्धस्तावनेजनस्य च हस्तलेपापादकरणस्याङ्गुलिविसर्जन-

प्राग्भाविषु ज्योतिष्टोमाङ्गभूतेषु वाग्यमस्य च वाग्विसर्गप्राग्भाविषु हस्तावनेजनस्य च दर्शपूर्णमासाङ्गभूतेषु पिण्डकरणप्राग्भाविषु पदार्थेष्ववतारप्राप्तावानन्तर्यलक्षणक्रमानुसारान्मुष्टिकरणवाग्यमयोर्दीक्षितावेदनमात्रे, हस्तावनेजनस्य चोलपराजिस्तरणमात्रेऽवतारः। क्रमानादराद्वा सर्वेष्वङ्गुलिविसर्जनप्राग्भाविषु मुष्टिकरणस्य सर्वेषु च वाग्विसर्गप्राग्भाविषु वाग्यमस्य, हस्तावनेजनस्य च सर्वेषु पिण्डकरणप्राग्भाविष्ववतार इति विचारस्यापवादत्वेनानन्तरसङ्गतिमाह—**क्रमेति**। क्रमस्यैककर्तृकपदार्थविषयत्वान्मुष्टिकरणवाग्यमयोभिन्नकर्तृकेणावेदनेन क्रमानुपपत्तेः क्रमेणावेदनाङ्गत्वपूर्वपक्षायोगात्सन्देहमाक्षिपति—**मुष्ट्योरिति**। प्रयोक्तृत्वेनावेदनेऽपि यजमानस्य कर्तृत्वादयमदीक्षिष्टेत्यावेदने वा क्रियमाणे यद्दीक्षितोऽस्याहं दीक्षितोऽस्मि। तस्मादवश्यं समापनीयो ज्योतिष्टोमो मयेत्येवमध्यवसानरूपं कर्म तस्य मुष्टिकरणवाग्यमसमानकर्तृत्वोपपत्तेः तदङ्गत्वपूर्वपक्षसम्भवात्सन्देहं समाधत्ते—**नैष इति**।

एवमप्यानन्तर्यलक्षणस्य क्रमस्य विनियोजकत्वे तस्य पूर्वोत्तरयोः पदार्थयोस्तुल्यत्वात्पूर्वस्यैवोत्तराङ्गत्वन्नोत्तरस्य पूर्वाङ्गतेति नियमायोगान्मुष्टिकरणादेः पूर्वमपि कृष्णाजिनाच्छादनादिपदार्थं प्रत्यङ्गत्वोपपत्तेः परमावेदनाद्येव प्रत्यङ्गतेति पूर्वपक्षो न युक्त इत्याशङ्कते—**कस्मात्पुनरिति**। आवेदनोलपराजिस्तरणयोस्तु प्रकरणावगतप्रधानान्वयोपपत्तेस्तदङ्गावताराभावेन प्रकरणविरोधपरिहारायोगान्न क्रमेण पूर्वपदार्थाङ्गत्वं शङ्कितुं शक्यम्। मुष्टिकरणादेः कृष्णाजिनाच्छादनाद्यङ्गतापि पूर्वपक्षिणोऽभिमता। पूर्वस्य पराङ्गत्वोपादानन्त्वनियमप्रदर्शनार्थमेव। हस्तावनेजनस्य तु तन्त्रप्रक्रमभावित्वेन प्राथम्यात्पूर्वेद्युः कृतपदार्थाङ्गत्वानुपपत्तेः पराङ्गत्वोपादानं युक्तमेवेति परिहरति—**अनियमेति**।

यद्वा न केवलं हस्तावनेजनस्य नियमेन पराङ्गत्वम्, किन्तु मुष्टिकरणवाग्यमयोर्लिङ्गेन मनः-समाधानार्थत्वेन, हस्तावनेजनस्य च हस्तशुद्ध्यर्थत्वेन कर्माङ्गत्वावसायात्सर्वासु मुष्टिकरणवाग्यमहस्तावनेजनभावनासु किमित्यंशेन मनःप्रणिधानहस्तशुद्ध्युपकार्योत्तरकालानुष्ठेयपदार्थापेक्षोत्पत्तेः पूर्वानुष्ठितपदार्थानपेक्षणात् मुष्टिकरणवाग्यमाभ्यां किङ्कर्मोपकर्त्तव्यमित्यपेक्षिते दीक्षितावेदनोपकारार्थत्वावसायान्मुष्टिकरणवाग्यमयोरपि नियमेन पराङ्गतेति परिहारान्तरमाह—**अथ वेति**। पूर्वानुष्ठितस्यापि पदार्थस्याश्रद्धाहेतुवैगुण्यपरिहारायाऽविस्मृत्यै मनसः समाधानोपकारार्थत्वेनापेक्षोपपत्तिमाशङ्क्योत्तरकालानुष्ठेयपदार्थापेक्षोपपत्तेः। प्रथमोक्त्या बलीयस्तोक्ता। एवं तर्ह्युत्तरकालानुष्ठेयसर्वपदार्थाङ्गतापद्येतेत्याशङ्क्य सर्वेत्युक्तम्। पुरस्ताच्छब्दस्याग्रवाचित्वादनन्तरं पश्चादुच्चरितस्य ग्रन्थक्रमानुसारेण पूर्वालोचनातन्मात्राङ्गतैव युक्तेत्याशयः। प्रकृतोदाहरणानादरेण तु सर्वभावनासु किम्भावापेक्षायाः पूर्वोत्पत्तेः पश्चादुच्चरितस्य वाधस्य उच्चारितात्पूर्वालोचनात्पराङ्गता युक्तेति व्याख्याऽनुयाजादीनामप्यनेन न्यायेन प्राग्भाव्याग्नेयाद्यनङ्गत्वापत्तेरनिष्टापादकत्वादयुक्ता। एवं सत्यपि यद्यावेदनमपि मनःप्रणिधानार्थं स्यात् ततो मनःप्रणिधानार्थंमुष्टिकरणसाध्यत्वे

योग्यत्वाभावाद्वाग्यमवदतिक्रम्येत, न त्वेतदस्तीत्याह—न चेति। निष्प्रयोजनता ऽतिक्रमहेतुर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—शक्यते चेति।

उक्तपराजिशब्दार्थविवरणम्

सर्वोदाहरणसाधारण्यमस्य प्रकटयितुं हस्तावनेजनेऽप्येतन्न्यायमतिदिशति—एवमिति। उलपराजिशब्दं व्याख्यातुमाह—ऊर्ध्वैरिति। उत्पूर्वस्य, लुनातेः कपन्प्रत्यये धात्वन्तोपसर्गान्तयोर्ल्लोपनिपातनात्ककारनकारयोश्चेत्संज्ञत्वेन लोपादुलपशब्दस्योद्ध्र्वलवनार्हसुगन्ध्यादिकठिनतृणवाचितोर्ध्वशब्देनोक्ता। तृतीययोलपैः कृता राजिरित्यर्थे तृतीयासमासो दर्शितः। रेखापरपर्यायराज्याकारत्ववाचितया राजिशब्दं व्याख्यातुं दीर्घमित्युक्तम्।

ननु पाठसादेश्यलक्षणस्य, अनुष्ठानसादेश्यलक्षणस्य वा क्रमस्य प्रकरणादिकल्पनद्वारा विनियोजकत्वं युक्तम्। आनन्तर्यलक्षणस्य तु क्रमस्य बहुषु पठितव्येष्ववर्ज्जनीयतयोभयाकांक्षादिरूपप्रकरणद्यभावेऽप्युपपत्तेस्तत्कल्पनायोगान्न विनियोजकता युक्तेत्याशङ्क्य, सन्निधिविशेषाम्नानार्थवत्त्वाय प्रकरणादिकल्पनस्यानन्तर्येऽपि तुल्यत्वाद्विनियोजकत्वं सम्भवतीति सूचयितुमाह—सर्वत्र चेति। योग्यत्वं लिङ्गं प्रकरणं वाक्यकल्प्यत्वात्पश्चाद्वाच्यमप्ययोग्यस्यानन्तर्येऽप्यन्वयायोगाद्योग्यतायाः प्राधान्यसूचनार्थमादावुक्तम्। आनन्तर्येणानन्तरभूतयोरेव पदार्थविशेषयोरन्योन्याकांक्षाकल्पनादवान्तरेत्युक्तम्। यथा पाठसादेश्यलक्षणे, अनुष्ठानसादेश्यलक्षणे वा क्रमे लिङ्गादीनि कल्प्यन्ते, तथानन्तर्यलक्षणेऽपीति सर्वत्रेत्यनेनोक्तम्। प्रत्यक्षमहाप्रकरणविरोधेन क्रमस्यावान्तरप्रकरणादिकल्पकत्वायोगमाशङ्क्याञ्जलिविसर्ज्जनाद्युत्तरकाले प्रधाने[1] महाप्रकरणेन मुष्टिकरणादिविनियोगाशक्तेः, प्रधानप्रकरणस्य च प्रधाने निरपेक्षेऽङ्गविनियोजकत्वायोगात्तद्विरोधाभावेन क्रमस्य प्रकरणादिकल्पनप्रतिबन्धानुपपत्तेः कल्पितस्याऽपि प्रकरणादेः कल्पितश्रुतिवत्प्रामाण्याविशेषसूचनार्थं महाप्रकरणादित्युक्तम्। महाप्रकरणेन क्रमबाधमाशङ्क्य, बलवद्योग्यत्वाद्यनुग्रहेण बाधायोगोक्त्यर्थतया त्वेतद्ग्रन्थव्याख्याक्रमं विनानवगतस्य योग्यत्वादेः क्रमानुग्राहकत्वायोगान्महाप्रकरणस्य चात्र विनियोजकत्वायोगाद् बाधकत्वाऽनुपपत्तेरयुक्ता। तस्मात्प्रामाण्याविशेषसूचनायैव बलीयस्त्वोक्तिः। पूर्वपक्षमुपसंहरति—तस्मादिति। मुष्टिकरणस्य तर्ह्यनन्तरवाग्यमाङ्गता कस्मान्न पूर्वपक्षितेत्याशङ्क्याह—योग्यत्वेति। पूर्वाङ्गतायाः सर्वभावनासु किमित्युपकारापेक्षणमित्यत्रैव वार्त्तिके निरस्तत्वाद्वाग्यमस्य मुष्टिकरणाङ्गत्ववन्मुष्टिकरणस्य वाग्यमाङ्गताप्यनाशङ्कनीयेति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावार्थः—परस्परशब्दः। अनन्तरवाग्यमातिक्रमात्तर्ह्यविदनोत्तरपदार्थाङ्गताऽपि मुष्टिकरणस्य कस्मान्न स्यादित्याशङ्क्याह—तेनेति। एकाङ्गावतारमात्रेण प्रकरणाम्नानानर्थक्यपरिहारादेकान्तरितस्याऽपि च द्व्यन्तरिताद्यपेक्षया सन्निधानानपायात्कारणं च विना सन्निहितातिक्रमायोगादित्याशयः।

१. द्यन्तराले प्रधाने इ० २ पु० पा०।

बहुषु पठितेषु कस्यचिदानन्तर्यस्यावर्ज्जनीयत्वादनुष्ठानक्रमार्थत्वेन च तत्सन्निधिविशेषाम्नानार्थवत्त्वोपपत्तेः उभयाकांक्षादिरूपप्रकरणादिकल्पकत्वायोगाच्छ्रुतिवच्च क्रमस्य साक्षाद्विनियोजकत्वाभावादानन्तर्यमङ्गाङ्गिसम्बन्धस्यानाक्षेपकमित्येवं ब्रूम इत्यनेन सूत्रार्थं सूचयन्सिद्धान्तमुपक्रमते—**एवमिति**। सर्वैरिति भाष्येण मुष्टिकरणाङ्गुलिविसर्जनान्तरालवर्त्तिभिः सर्वैर्मुष्टिकरणस्य वाग्यमवाग्विसर्गन्तरालवर्तिभिर्वाग्यमस्य हस्तावनेजनपिण्डकरणान्तरालवर्त्तिभिर्हस्तावनेजनस्यान्वय इति प्रतिज्ञाते वाक्यभेदो हेतुत्वेनोक्तः। स वाक्येन पूर्वपक्षाकरणात् क्रमकल्प्यवाक्यासम्भवार्थत्वे तु वाक्यभेदोक्तेः प्रकरणाद्यसम्भवस्याऽपि वाच्यस्याऽनुक्त्या न्यूनत्वापत्तेरयुक्त इत्याशङ्क्य, क्रमकल्प्यसर्वप्रकरणाद्यसम्भवार्थत्वे तु वाक्यभेदोक्तेः प्रकरणाद्यसम्भवस्याऽपि वाच्यस्याऽनुक्त्या न्यूनत्वाय न तेषां परस्परेण कश्चित्सम्बन्धोऽस्तीति भाष्यैकवाक्यत्वादिक्रमनिरासेन सूचितमिति, अर्थद्वयस्याभिधानादित्यादिभाष्येण क्रमकल्प्यैकवाक्यत्वाद्यसम्भवेऽभिहिते प्रत्यक्षमेवैकवाक्यत्वाद्यनेन निरस्तमित्याशङ्कमानं प्रति च पदार्थाकांक्षायामित्यनेनानन्तर्यमात्रेणाकांक्षारूपप्रकरणकल्पनाशक्तेः प्रकरणकल्पननिरपेक्षेण क्रमेणैकवाक्यत्वादेरसम्भवः स्पष्टीकृत इति सूचनार्थं दृश्यत इत्युक्तम्। एकवाक्यत्वादर्शनमुपपादयति—**न हीति**। बलीयस्त्वसूचितप्रामाण्याविशेषनिरासायैकवाक्यत्वादेः कल्पनासम्भवेनाकल्पितत्वादप्रामाण्यं न कल्प्यत्वमात्रेणेति सूचयितुं यदित्युक्तम्। योग्यता समेत्यकारप्रश्लेषं विना तावद्व्याचष्टे—**योग्यता पुनरिति**।

असमेत्यकारप्रश्लेषेण व्याचष्टे—**यद्वेति**। उत्तरार्द्धं व्याचष्टे—**न चेति**। यदि चात्रावान्तरकथंभावो भवेत्, ततः कर्त्तव्यत्वेनावगतस्येतिकर्त्तव्याताकाङ्क्षात्मककथंभावोत्पत्तेः पूर्वपदार्थभावनांशत्रयालोचनकालेऽनन्तरस्य कर्त्तव्यत्वानवगमात्पूर्वस्यैव कथंभावो भवेत् ततश्चोत्तरमेव पूर्वस्याङ्गं प्राप्नोतीत्यनिष्ठापत्तिमाह—**यदीति**। अस्तूत्तरं पूर्वाङ्गं तथाऽपि सिद्धान्तासिद्धे कानिष्टापत्तिरित्याशङ्क्याह—**न चेति**। अनेनेदं साध्यमित्यवगते कथंभावोत्पत्तेः साध्यांशापूरणात्कथंभावोत्पत्त्ययोगान्नोत्तरं पूर्वाङ्गम्भवितुमर्हतीत्याशयः। पूर्वपदार्थभावनांशत्रयालोचनवेलायामुत्तरपदार्थकर्त्तव्यत्वानवगमेऽप्युत्तरपदार्थभावनांशपूरणात्पूर्वस्योत्तराङ्गतैव पूर्वपक्ष्यभिमता सेत्स्यतीत्याशङ्क्याह—**न चोत्तरेणेति**। आवेदनोत्तरेण पदार्थेनावेदनस्य साध्यांशपूरणात् क्लृप्तप्रयोजनत्वेन मुष्टिकरणसाध्यांशपूरकत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह—**एवमिति**। अतः प्रधानात्प्राचीनेन केनचित्पदार्थेन साध्यांशपूरणाशक्तेः सर्वमङ्गम्प्रधानपर्यन्तं प्राप्तं न त्वन्तराले पर्यवस्यतीत्याह—**इतीति**।

नन्वक्लृप्तप्रयोजनावस्थत्वेनोत्तरस्य पूर्वसाध्यांशपूरणाशक्तौ गोदोहनादेः क्लृप्तप्रयोजनत्वेन साध्यांशपूरणाशक्तत्वात्सर्वेषां पूर्वाङ्गानाङ्गोदोहनाद्यङ्गत्वापत्तेः सर्वाङ्गानां यावत्प्रधानं प्राप्त्युक्तिरयुक्तेत्याशङ्कते—**यदीति**। महाप्रकरणगम्यप्रधानाङ्गत्वस्यावान्तरप्रकरणगम्येन गुणकामाङ्गत्वेन बाधोऽवान्तरेत्यनेनोक्तः सन्देशं विनावान्तरकथम्भावानिष्पत्तेः गुणकामाङ्गत्वानुपपत्तिरिति परिहरति—**उच्यत इति**। श्रुतिलिङ्गेऽपि वाक्योपलक्षिते। गुणकामस्य प्रयोजनवत्त्वात्सन्देशं विनापि प्रधानवत्कथम्भावासिद्धिमाशङ्क्य संस्थाधिकरण-

न्यायेनाश्रयभूतदर्शपूर्णमासादिधर्मैरतिदेशप्राप्तैर्नैराकाङ्क्षयाद् गुणकामस्याभितो वाक्याद्यवगतगुणसद्भावेऽपि वस्तुतः कथम्भावो नास्त्येवेति प्राकृतेन कथम्भावे तदीये पूरिते सतीति वार्त्तिकेऽभिहितम् अभ्युपेत्यत्रादमात्रेण तु सन्देशाभिव्यङ्ग्यतोक्तेति सूचनार्थो नामशब्दः। सन्देशान्तरालवर्त्तित्वे कथम्भावस्य मुष्टिकरणादेः श्रुत्याद्यवगतप्रधानगुणसन्देशान्तरालवर्त्तित्वाभावात्प्रधानकथंभावेन ग्रहणं न स्यादित्याशङ्कानिरासायावान्तरविशेषणफलन्दर्शयितुमाह—**प्रधानेति**।

अनन्तरेण सम्वद्धः स्यात्परस्याप्यनन्तरः।
ततः पुनः तदारूढः पुनः पश्चात्तदानन्तर्यमश्नुते ॥

इत्यनुषङ्गाधिकरणन्यायेनाङ्गान्तरव्यवधायकत्वाभावात्कथं भावविच्छेदबुद्धिपर्यन्तं सर्वाण्यङ्गानि प्रधानकथम्भावेन सङ्गच्छतीत्युक्ते पाश्चात्याङ्गगमनेऽपि कथम्भावस्य यदिभवेत्पूर्वस्य कथम्भाव इति वार्त्तिकोक्तेन न्यायेनाधस्तनाङ्गागमनान्मुष्टिकरणादेः प्रधानकथम्भावेनाग्रहणं स्यादित्याशङ्क्य, फलवत्सन्निधावफलाम्नानस्य प्रधानकथम्भावग्रहणहेतुरुत्तराङ्गवत्पूर्वाङ्गेष्वविशेषात्प्रधानात्प्राक्पश्चाच्चोभयतः कथम्भावगमनमभितोऽपीत्यनेनोक्तम्। गोदोहनद्वादशोपसत्त्वादीनामपि तर्हि कथंभावेन ग्रहणं स्यादित्याशङ्क्य, अन्येत्युक्तम्। प्रधानकथम्भावस्याभितो गमनेऽङ्गगुणस्य कस्यचिदसम्भवात्सन्देशानुपपत्तेर्न क्वचिदवान्तरप्रकरणं स्यादित्याशङ्कते—**नन्विति**। बलवता प्रमाणेन प्रधानकथम्भावं बाधित्वाऽङ्गगुणत्वावगमे सन्देशसम्भवेन परिहरति—**उच्यत इति**। पुनःशब्दस्य पश्चाद्भावार्थत्वात्, चकारेण च प्राग्भावसूचनाच्छ्रुत्यादिभिः प्राक्पश्चाच्चान्यप्रकरणस्थानामङ्गानामङ्गे ज्ञाते सन्दंशसम्भवादवान्तरप्रकरणमिष्यत इत्यर्थः। सर्वेषाञ्चावान्तरप्रकरणित्वेनाभिमतानां श्रुत्यादिभिः प्राक्तदङ्गमुक्त्वा पश्चादपि तदङ्गपरामर्शसद्भावान्न क्वचित्सन्दंशाभावः शङ्कनीय इत्याह—**सर्वेषां हीति**।

किमर्थं सन्दंशापेक्षेत्याशङ्क्य, अवान्तरप्रकरणोपक्रमसमाप्तिमर्यादावधारणार्थतामाह—**तत्पर्यन्तेति**। अतः सन्दंशाभावेनावेदनादेः प्रत्यक्षावान्तरप्रकरणाभावादानन्तर्येण चावान्तरप्रकरणायोगान्मुष्टिकरणादेः प्रधानार्थत्वद्वारा तदङ्गाङ्गत्वसिद्धिरिति सूचयितुमाह—**यत्र त्विति**। पुनःशब्देन प्राक्त्वस्याप्युपलक्षणाद्यत्र प्राक्पश्चाच्छ्रुत्यादिभिः तदङ्गकीर्त्तनन्नास्तीत्यर्थः। प्रधानार्थत्वाध्यवसाने सति तदङ्गाङ्गत्वसिद्धिः कथमित्याशङ्क्य, तत्सूचनार्थमाह—**तस्य त्विति**।

अङ्गाङ्गस्य प्रधानानुपकारित्वे प्रधानार्थत्वावेदकस्य प्रकरणस्यात्यन्तबाधापत्तेः प्रकृतापूर्वसाधनत्वलक्षणाहेत्वभावात्स्वरूपार्थत्वे नैष्फल्यापत्तेर्बलीयसापि वाक्यादिनाऽङ्गाङ्गत्वस्यावगन्तुमशक्यत्वाद्वेद्यादिकेवलस्य, प्रधानस्य, अङ्गसाङ्गस्य वेति चिन्तानुपपत्तिप्रसङ्गेनाङ्गाङ्गस्यापि प्रधानोपकारित्वावसायात्प्रकरणावगतसाक्षात्प्रधानार्थत्वासम्भवे

अङ्गाङ्गत्वेनापि प्रकरणानुग्रहसिद्धचै प्रधानार्थत्वे सत्यङ्गावतारन्यायादङ्गाङ्गत्वं सेत्स्यतीत्याशयः।

ननु प्रकरणावगतप्रधानार्थत्वस्य मुष्टिकरणादेरङ्गावतारन्यायादङ्गाङ्गत्वे सत्येकाङ्गावतारमात्रेण प्रकरणाम्नानानर्थक्यपरिहारादनेकेष्वङ्गेष्ववतारकल्पनानुपपत्तेरेकस्मिन्नेवाङ्गेऽवतारस्योचितत्वादानन्तर्यविशेषाच्च विशेषावधारणोपपत्तेरावेदनादिमात्रेऽवतारावसायान्न सिद्धान्तसिद्धिः स्यादित्यशङ्कच, मुष्टिकरणादेर्लिङ्गेन प्रयोगाङ्गभूतकर्तृसंस्कारार्थत्वावसायात् प्रयोगस्य च साङ्गप्रधानविषयत्वात्सौमिकवेदिवत्साङ्गप्रधानार्थत्वस्यैवावगतेर्वस्तुतो न प्रधानार्थस्याङ्गेऽवतारः प्रयोगस्य तु साक्षादङ्गविषयत्वाभावेन न प्रधानद्वाराङ्गविषयत्वात्प्रयोगद्वाराङ्गप्रधानार्थत्वस्याङ्गस्य प्रधाननैरपेक्ष्यणाङ्गान्वयायोगमभिप्रेत्य प्रकरणविरोधे क्रमेण पूर्वपक्षायोगात्प्रकरणस्य स्वरसभङ्गार्थश्चिन्ताया आनर्थक्यतदङ्गावतारप्रकरणसङ्गतिसिद्धचर्थमौपचारिक्यवतारोक्तिरित्यविरोध इति सूचयितुमाह—**तदिहेति**। साङ्गोक्तयाऽङ्गानां प्रधानविशेषणत्वेन साक्षान्मुष्टिकरणाद्यन्वयाभावसूचनान्मुष्टिकरणादेः प्रधानद्वाराऽङ्गान्वयः सूचितः। योग्यतोक्तया प्रयोगाङ्गभूतकर्तृद्वारत्वलक्षणोपपत्तिवन्मुष्टिकरणस्याङ्गुलिविसर्गोत्तरभाविषु वाग्यमनस्य च वाग्विसर्गोत्तरभाविषु, हस्तावनेजनस्य च हस्तलेपापातकपिण्डकरणोत्तरपदार्थेष्वयोग्यत्वात्कृष्णविषाणग्रहण-चात्वालप्रासनान्तरालवर्त्तिषु पदार्थेषु कृष्णविषाणकण्डूयनवन्मुष्टिकरणाङ्गुलिविसर्गाद्यन्तरालवर्त्तिनामेवाङ्गानां मुष्टिकरणाद्यङ्गमित्यपि सूचितम्। तुमुन्प्रत्ययाभावेनैकवाक्यत्वनिरासार्थं नहीत्यादिभाष्यं व्याख्यातुमाह—**यदि त्विति**। तस्मादित्युपसंहारभाष्यं व्याचष्टे—**तस्मादिति** ॥२४॥

भा० प्र०—ज्योतिष्टोम प्रकरण में श्रुति में कहा गया है कि "मुष्टीकरोति" हाथ को मुट्ठी बाँधे, "वाचं यच्छति" वाणी को संयत करे, "दीक्षितमावेदयति" दीक्षित अर्थात् अध्वर्यु को आवेदन करे, इसी प्रकार और भी कहा गया है कि, "हस्ताववनेनिक्ते" दोनों हाथों का अवनेजन करे (धोये), 'उलपराजि स्तृणाति', उलप = सूखे दर्भ का तिनका या उशीर = खस का तिनका आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के १।१५।४ में रुद्रदत्त ने सूखा दर्भ उशीर=खस का तिनका धूर्त स्वामी ने एवं महादेव ने सूखादर्भ अर्थ किया है।

इस स्थल में यह संशय होता है कि प्रथम कथित मुष्टीकरण, एवं वाणी का संयम अर्थात् वाग्बन्ध ये आवेदन के अङ्ग हैं अथवा उस प्रकरण के सभी कर्मो के अङ्ग हैं? इसी प्रकार हस्तावनेजन = हस्तधावन उलपराजि के आस्तरण का अङ्ग है या उस प्रकरण के सभी कर्मों के अङ्ग हैं? इसमें पूर्वपक्षी का कहना है कि पूर्व अधिकरण में जिस प्रकार क्रमानुसार वार्त्रघ्नी एवं वृधन्वती आज्य भाग का अंग होता है, इस स्थल में भी उसी प्रकार आनन्तर्य के अनुसार वाग्यम एवं मुष्टीकरण के अनन्तर है। आवेदन कर्तव्य होने से उपदिष्ट होता है एवं हस्तावनेजन के अनन्तर ही उपलराजिस्तरण विहित होता है, अतएव सन्निधि के अनुसार वाग्यम एवं मुट्ठी बाँधना वाग्यम एवं मुट्ठी बाँधना आवेदन का अंग है एवं हस्तावनेजन उपलराजिस्तरण का अंग है।

इसके उत्तर में सिद्धान्ती का कहना है "आनन्तर्यमचोदना" आनन्तर्य या सान्निध्य अंगाङ्गिभाव का या परस्पर अन्वंय का हेतु नहीं है। क्योंकि, इस स्थल मे जैसे वाग्यम तथा मुष्टिकरण स्वतन्त्र रूप में विहित है, वैसे ही आवेदन भी विहित होता है। इस रूप में प्रत्येक वाक्य परस्पर अत्यन्त भिन्न ही होने से इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। आनन्तर्य रहने पर परस्पर आकांक्षा या एकवाक्यता होती है—ऐसी बात नहीं है। क्योंकि ऐसी स्थिति में जल बरस रहा है, भात खा रहे हैं—इनमें भी एकवाक्यता होगी, किन्तु अर्थसम्बन्ध एवम् साकाङ्क्षता ही एकवाक्यता का साधन होता है, उनके न रहने पर सान्निध्य रहने पर भी अन्वय नहीं होता है, इनके रहने पर दूरस्थ होने पर भी अन्वय होता है। इसीलिए कहा गया है—

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थेनापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्॥

आनन्तर्य एकवाक्यता का कारण नहीं है, अतः इनकी एक वाक्यता करने के लिए लिङ्ग एवं प्रकरण के अनुसार दर्शपूर्णमास की उतने कर्म में हस्तावनेजन की अंगता प्रमाणित होती है। क्योंकि, अवनेजन से दोनों हाँथों का संस्कार होता है। दोनों का संस्कार होने पर हो वे संस्कृत हाथ सभी कर्मों के योग्य होते हैं, अतः, हस्तावनेजन केवल उलपस्तरण का ही अंग नहीं है।

इसी प्रकार वाग्यम एवं मुष्टिकरण ज्योतिष्टोम प्रकरण में पठित होने से लिङ्ग के अनुसार वे उस प्रकरण के सभी कर्मों के अंग हैं, क्योंकि, मुष्टिकरण एवं वाक्संयम से हाथ और जिह्वा चापल्य निवारित होने पर मन की एकाग्रता आती है। मन की एकाग्रता केवल आवेदन में ही आवश्यक नहीं हैं, सभी कर्मों में प्रयोजनीय है। इसीलिए, प्रबल लिंग और प्रकरण से क्रम का बाधा होने से मुष्टिकरण, वाक्संयम एवं हस्तावनेजन प्रकरण प्रतिपाद्य सभी कर्मों का अंग है।

"आनन्तर्य" = आनन्तर्य अर्थात् सान्निध्य, "अचोदना" = एक वाक्यता का प्रमाण ही है॥२४॥

वाक्यानां च समाप्तत्वात्॥ २५॥

शा० भा०—स्वेन स्वेन पदसमूहेन परिपूर्णमेकं वाक्यम्। तथाऽपरम्, तथा सर्वाणि, यान्युदाहृतानि। तस्माद्विस्पष्टमर्थद्वयम्, विभागे च निराकाङ्क्षता। तेन वाक्यभेदः। अतः संयोगतोऽविशेषात्प्रकरणाविशेषाच्च कृत्स्ने प्रकरणे निवेश इति॥ २५॥ युक्तिः॥

इति चतुर्दशं मुष्टीकरणादीनां कृत्स्नप्राकरणिकाङ्क्षताधिकरणम्॥ १४॥

त० वा०—इतश्चाऽऽनन्तर्यमप्रमाणम् । यत एकवाक्यतालक्षणमेषु प्रत्येकं दृश्यते, न सर्वेषु । तस्मादपि नान्योन्यार्थता ॥ २५ ॥

इति चतुर्दशमानन्तर्यानियामकत्वाधिकरणम् ॥ १४ ॥

न्या० सु०—पूर्वसूत्रेणानन्तर्यस्य प्रकरणाद्येकत्वे याऽविनियोजकतोक्ता, प्रकरणविरोधेनाविनियोजकत्वोक्त्यर्थन्त्वेतत्सूत्रमिति सूचयितुमाह—इतश्चेति । क्षिपतिचोदयत्योः प्रकरणवाचित्वेनैकार्थ्याद्धूमोऽग्नेराक्षेपक इत्यादौ च क्षिपतेः प्रामाण्ये प्रयोगादर्शनात्तत्समानार्थस्य चोदयतेरपि प्रामाण्यवाचित्वानवगमादचोदनाशब्दोऽप्रामाण्यवाचित्वेन व्याख्यातः । आनन्तर्यबाधकस्य वाक्यैकवाक्यत्वरूपस्य प्रकरणस्य वाक्यं बाधकं स्यान्न चात्र तदस्तीत्येतदर्थोक्त्यर्थत्वेन वाक्यसमाप्त्युक्तिं व्याख्यातुं यत इत्युक्तम् । प्रत्येकोक्त्या प्रकरणेन क्रमबाधः । प्रकरणस्य च वाक्येन बाधो न समस्तेष्वित्यनेन सूचितः । वाक्यभेदादित्यादिभाष्येण पूर्वसूत्रे एकवाक्यत्वनिरासादत्रैकवाक्यत्वनिरासः पुनरुक्त इत्याशङ्क्य संहत्यैकार्थत्वाभावेन तत्रैकवाक्यता निरस्ता, विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वाभावेनात्रेति विवेकं सूचयितुमाह—तस्मादपीति । एकवाक्यस्थानां पदानामन्योन्यसाहित्यं विना प्रयोजनरूपार्थाभावेनान्योन्यसहितानामर्थो यस्मिन्नेकवाक्ये तदन्योन्यार्थमिति मध्यमपदलोपिना समासेनैकवाक्यतोक्तेस्तस्मात्पूर्वसूत्रोक्तात्संहत्यैकार्थस्वरूपैकवाक्यत्वलक्षणादर्शनाद्विभज्यमानसाकाङ्क्षत्वरूपैकवाक्यत्वलक्षणादर्शनादपि नैकवाक्यतेत्यर्थः ॥२५॥

इति चतुर्दशं हस्तावनेजनाधिकरणम् ।

भा० प्र०—हस्तावनेजन आदि में यदि एकवाक्यता रहती तो उनमें अङ्गाङ्गिभाव माना जाता, किन्तु, उनमें एक वाक्यता नहीं है, क्योंकि, जो एक ही अर्थ का प्रतिपादन करता है और विभक्त होने पर भी परस्पर साकाङ्क्ष रहता है, उसमें ही एकवाक्यता रहती है, किन्तु इस स्थल में हस्तावनेजन आदि वाक्य प्रत्येक में परिसमाप्त है, विभाग करने पर उनकी साकाङ्क्षता नहीं रहती है, इसलिए, उनमें एकवाक्यता नहीं है और एकवाक्यता न होने से अङ्गाङ्गिभाव नहीं रहता है ।

"च" = और भी "वाक्यानां समाप्तत्वात्" = वाक्यों की परस्पर परिसमाप्ति होने से उनकी एकवाक्यता नहीं है ॥२५॥

यह चौदहवाँ आनन्तर्यनियामकाधिकरण सम्पन्न हुआ ।

अथ पञ्चदशमाग्नेयस्य चतुर्धाधिकरणम्

[१५] शेषस्तु गुणसंयुक्ता साधारणः प्रतीयेत मिथस्तेषामसंबन्धात् ॥ २६ ॥ पू०

शा० भा०—दर्शपूर्णमासयोः समाम्नायते—'आग्नेयं चतुर्धा करोति' इति । तत्र संदेहः—किमाग्नेये, अग्नीषोमीये चैन्द्राग्ने च सर्वत्र चतुर्धाकरणम्, किं

वाऽऽग्नेय एवेति। किं प्राप्तम्? शेषः—चतुर्धाकरणम्, आग्नेयमिति देवतागुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयते; अग्नीषोमीयेऽपि स्यात्, ऐन्द्राग्नेऽपि। कुतः? तावप्याग्नेयौ। यस्याग्निर्देवता, अन्या च भवत्यसावाग्नेयः। तद्यथा, या डित्थस्य, डवित्थस्य च माता, सा डवित्थस्य भवत्येवमिहापि। यद्याग्नेयस्य, अग्नीषोमीयस्य च पुरोडाशस्य मिथः सम्बन्धो न भवेत्। तत्, आग्नेय एव चतुर्धाकरणं व्यवतिष्ठेत। भवति तु सम्बन्धः। तस्मादव्यवस्था। यथा, 'आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य प्राशित्रमवद्यति' इति सर्वेभ्यः प्राशित्रावदानम्, एव चतुर्धाकरणमपि ॥ २६ ॥ पूर्वपक्षः ॥

त० वा०—यथासंयोगं धर्मव्यवस्थोक्ता। स तु संयोगः किमेकदेशेनापि भवति, उत समस्तेनैवेति विचारः। किं चतुर्धाकरणविधावाग्नेयशब्देन द्विदेवत्यो गृह्यते, न वेति। गृह्यत इति ब्रूमः। कुतः?

शक्यते हि द्विदेवत्यः संलक्षयितुमेकया।
अग्नीषोमहविर्योगो मनोतायामिवाग्निना॥

यद्यप्यग्निरदेवता न त्वसमवेतः। समवेतत्वं चोपलक्षणकारणम्, न देवतात्वम्। न चात्राग्निः कार्ययोगी। येनात्यन्तमाद्रियेत। किं तर्हि? उपलक्षणार्थः। न चोपलक्षणानि यथाश्रुतान्येवोपांशुयाजान्तरालकाललक्षणार्थपुरोडाशद्वयवत्कार्येष्वाश्रीयन्ते।

तथा पात्नीवतेऽप्युक्ता तेन त्वष्टुरतन्त्रता।
तथा डित्थस्य मातेति माता डित्थडवित्थयोः॥

उपलक्षणकार्ययोर्मिथः संबन्धाभावात्साधारणत्वम्। भाष्यकारेण त्वेतदेवानुषज्योक्तं मिथस्तेषामसंबन्धादचोदना स्यादिति। भवति चैवंविधानां साधरणत्वम्। तथा च प्राशित्रे दृश्यत इति ॥ २६ ॥

अथ पञ्चदशमाग्नेयचतुर्धाधिकरणम्

न्या० सु०—चमसाधिकरणे ग्रहेष्वेव सम्मार्गो न चमसेष्वित्युक्ते, तत्प्रसङ्गात्ससदशारत्निता षोडशिपात्रे निविशते, यूपे वेति चिन्तायामानर्थक्यात्तदङ्गेष्वित्यनेन यूपनिवेशेऽभिहिते, अभिक्रमणोपवीताधिकरणाभ्यां चाङ्गावतारविशेषेऽभिहिते वारणाधिकरणापोदितस्याङ्गावतारस्यानुवाक्याधिकरणेनोज्जीवनाद्वाक्यविरोधे क्रमस्य परिहृते मुष्टिकरणादेरथ विरोधिना क्रमेण विनियोगमाशङ्क्यानन्तर्यरूपक्रमस्यानन्तर्याधिकरणेनाविनियोजकत्वोक्त्या चमसाधिकरणप्रसङ्गागतविचारेण समासेयंप्रसक्तया यो विचारः तत्समासौ स एव बुद्धिस्थो भवतीति बुद्धिस्थचमसाधिकरणप्रसङ्गेनास्य सङ्गतिं सूचयितुमाह—यथासंयोगमिति। अनन्तराधिकरणोक्तसर्वार्थत्वापवादाद्वानन्तराधिकरणेनैव सङ्गतिमभिप्रेतां

स्पष्टत्वादनुक्त्वा चमसाधिकरणोक्तमथासंयोगव्यवस्थाविरोधात्पूर्वपक्षायोगेन सन्देहायोगशङ्कानिरासायाविरोधोक्त्यर्थोऽयं ग्रन्थः। धर्मान्वयिनोऽपूर्वसाधनस्य यदाग्नेयशब्देन केवलाग्निदेवत्यत्वमुपलक्षणमुक्तं तस्य द्विदेवत्ये केवलाग्न्यन्वयतद्विशेषदेवतात्वसमुदायात्मकस्य समस्तस्याभावात्समस्तेनोपलक्षणेनोपलक्षितस्य धर्मसंयोगाभ्युपगमे द्विदेवत्यस्याग्नेयशब्देन ग्रहणायोगात्किं समुदायैकदेशेनाप्यग्न्यन्वयमात्रेणोपलक्षितस्य धर्मसंयोगः समस्तेनैव वोपलक्षितस्येति सन्देहाद्द्विदेवत्यो गृह्यते न वेति विचार इत्यर्थः।

पूर्वपक्षमाह—**गृह्यते इति**। तौ अपि हीति भाष्योक्तं हेतुं व्याचष्टे—**शक्यते हीति**। दृष्टान्तं व्याख्यातुं मनोताधिकरणभाष्यं पठति—**यद्यपीति**। ननु त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोते (तै० ब्रा० ३·६–१०)ति मन्त्रे वाचनिकविनियोगान्यथाऽनुपपत्त्याग्निशब्दस्याग्नीषोमोपलक्षणार्थत्वं युक्तम्। तद्धितेन तु देवतात्वेनैवाग्न्यभिधानाद् द्विदेवत्ये चाग्नेः समवेतत्वेऽपि देवतात्वाभावान्नोपलक्षणत्वं सम्भवतीत्याशङ्क्याह—**समवेतत्वं चेति**। सर्वत्राग्निकलिभ्यां ढग्वक्तव्य इत्यन्वयमात्रेऽपि तद्धितस्मृतेः प्रकरणावगतस्य सर्वार्थत्वस्यातिसङ्कोचपरिहारार्थं समवेतत्वमात्रस्येहोपलक्षणताश्रयणीयेत्याशयः। यद्यप्येकस्य शब्दस्यानेकार्थत्वायोगादन्वयमात्रवाचित्वे च देवतात्वविशेषप्रतीत्ययोगाद्विशेषवाचित्वे तु लक्षणया सामान्यप्रतीतेर्देवतात्वमेवाग्नेयशब्दवाच्यम्। तथाऽप्यग्नेश्चतुर्द्धाकरणाख्यविधेयकार्ययोग्यापूर्वसाधनहविर्विशेषोपलक्षणमात्रे पर्यवसानाद्यागविधाविव चतुर्द्धाकरणविधौ साक्षात्कार्ययोगित्वाभावेनात्यन्तानादरणीयत्वात्प्रकरणातिसङ्कोचपरिहारार्थं समवेतत्वमात्रेणैवोपलक्षणता युक्तेत्याह—**न चेति**। एकपुरोडाशायां पौर्णमास्यां पुरोडाशद्वयस्योपलक्षणस्योपांशुयाजाख्यकार्येऽनादरो अनपायश्च कालस्य लक्षणं हि पुरोडाशावि(१०–८·६९)ति दशमान्त्याधिकरणसूत्रवक्ष्यमाणो दृष्टान्तः। पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्तीत्यत्राऽपि पात्नीवच्छब्दस्य पशूपलक्षणार्थत्वात्तेनैवोपलक्षणत्वेन हेतुना त्वष्टुरनादरः पात्नीवते तु पूर्ववत्वादवच्छेद (२–३–१९) इत्यत्रोक्त इति, दृष्टान्तान्तरमाह—**तथेति**। स्वयं वैदिकदृष्टान्तद्वयमुक्त्वा, भाष्योक्तं लौकिकं दृष्टान्तमनुसन्धत्ते—**तथेति**। उपलक्षणत्वे कार्ययोगित्वाभावोक्त्यर्थत्वेन मिथस्तेषामिति सूत्रावयवं तच्छब्देन शेषशब्दोक्तस्य कार्यस्य गुणशब्दोक्तस्य चोपलक्षणस्य परामर्शः बहुवचनं चानेकोदाहरणत्वोपलक्षणकार्यबहुत्वाशयमभिप्रेत्य व्याख्यातुमाह—**उपलक्षणेति**। तद्धितवाच्यमुख्यदेवतात्वत्यागेन लाक्षणिकसमवेतत्वोपलक्षणत्वाभ्युपगमस्य प्रकरणातिसङ्कोचपरिहारार्थत्वेन तेषां साधारणोक्त्या साधारण्यविषयत्वेनोपस्थापितानामाग्नीषोमीयादीनामेकप्रकरणानन्वये सति प्रकरणातिसङ्कोचनापत्तेर्व्यवस्था स्यात्तेषान्त्वेकप्रकरणान्वयात्साधारणधर्मकत्वप्रतीतेरुपलक्षणार्थत्वेन तत्र श्रुत्यविरोधसम्भवे प्रकरणातिसङ्कोचायोगात्साधारणतैव युक्तेति व्यवधारणकल्पनया हेतूक्त्यर्थं सूत्रावयवव्याख्यानार्थं यदीत्यादिभाष्यमस्मिन्सूत्रे व्यवस्थावाचिशब्दाभावात्सिद्धान्तसूत्रव्यवस्थाशब्दान्वयेन तु पूर्वसूत्रपूरणाभ्युपगमे प्राथम्यात् व्यवस्थाशब्दोपेतस्यैव पूर्वपक्षसूत्रस्य पठनीयत्वापत्तेरयुक्तमाशङ्क्यानन्तर्यमचोदनेत्येतत्सूत्रस्याचोदनाशब्दस्याग्नेयातिरिक्तानाञ्चतुर्द्धाकरणाचोदना स्यादित्येवं

व्यवस्थावाचितामभ्युपगम्याऽनुषङ्गेण पूरणम्भाष्यकृतोऽभिमतमित्याह—भाष्येति। व्यवहितानुषङ्गायोगादनाक्षेपकत्वात्मकीकारणत्ववाचिनश्चाचोदनाशब्दस्यानुषङ्गेऽप्यन्यार्थत्वायोगात्कार्ययोगित्वाभावेन चोपलक्षणस्यानादृत्यत्वानुक्तौ प्रकरणानुरोधमात्रेण श्रुतिभङ्गायोगादस्या व्याख्यायाः स्वानभिमतत्वसूचनार्थम्भाष्यकारग्रहणम्। लक्षणार्था गुणश्रुतिरिति सिद्धान्तसूत्रावयववक्ष्यमाणवैषम्यावताराय यथा प्राशित्रावदानरूपः शेषोऽग्निगुणसंयुक्तोऽपि साधारण इत्यावृत्त्या दृष्टान्ततया व्याख्यार्थं[1] यथेत्यादिभाष्यं तात्पर्यतो व्याचष्टे—भवति चेति ॥२६॥

भा० प्र०—दर्शपूर्णमास की श्रुतियों में कहा गया है कि "आग्नेयं चतुर्धा करोति" इस स्थल में आग्नेय शब्द ऐन्द्राग्न एवम् अग्नीषोमीय का भी उपलक्षण है या नहीं—यह संशय है। यदि आग्नेय पद ऐन्द्राग्न एवम् आग्नीषोमीय का उपलक्षण होता है तो आग्नेय अग्नीषोमीय एवम् ऐन्द्राग्न—सभी पुराडाशों का चतुर्धाकरण कर्तव्य होगा। अन्यथा वचन के अनुसार केवल आग्नेय पुरोडाश का ही चतुर्धाकरण अनुष्ठेय होगा।

इसमें पूर्वपक्षी का कहना है कि "शेषस्तु गुणसंयुक्तं साधारणः प्रतीयेत" अग्नि देवतारूप गुण के साथ संयुक्त जो चतुर्धाकरण नामक शेष अङ्गकर्म है, यह साधारण अर्थात् इन्द्राग्नि एवम् अग्नोषोम देवता के पुरोडाश में भी प्रयोज्य होता है, इसका क्या कारण है? "मिथस्तेषामसम्बन्धात्" क्योंकि, अग्नि आदि इस स्थल में उद्देश्यतावच्छेदक नहीं है। अग्नीषोमीय एवम् इन्द्राग्न इन दोनों में ही जब अग्नि का सम्बन्ध रहता है, तब डित्थ एवं डवित्थ दो की माता को एक समझकर डित्थ की माता कहने पर जैसे डवित्थ की भी माता की अवगति होती है, इसी प्रकार आग्नेय कहने पर ऐंद्राग्नि एवम् अग्नीषोमीय की भी अवगति होगी। अत एव आग्नेय पद उपलक्षण ही होगा, फलतः आग्नेय, अग्नीषोमीय एवम् ऐद्राग्न सभी पुरोडशों का चतुर्धाकरण कर्त्तव्य है—

"तु" = प्रत्यवस्थान में, "शेषः" = चतुर्धाकरण आदि गुण, "गुणसंयुक्तः = अग्नि देवता आदि गुणों के साथ संयुक्त होने पर भी, "साधारणः प्रतीयेत" = साधारण अर्थात् अन्यदैवत्य कर्म के साथ साधारण रूप में प्रतीत होगा, "मिथः" = परस्पर, "तेषाम्" = उनका, अर्थात् चतुर्धाकरण एवम् अग्नि आदि का, "असम्बन्धात्" = सम्बन्ध न होने से अर्थात् अग्नि आदि उद्देश्यतावच्छेदक रूप में उल्लिखित न होने से ॥२६॥ यह पूर्वपक्ष है॥

व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्बन्धाल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः ॥ २७ ॥ सि०

शा० भा०—वाशब्दः पक्षं व्यावर्तयति। व्यवतिष्ठेत वा चतुर्धाकरणमाग्नेय एव, न साधारणं भवितुमर्हति। कुतः? अर्थसंयोगात्। अग्निना देवतया-

1. अर्थस्य श्रुतिसंयोगात्इतिखण्डदेवादतः पाठः।

ऽर्थेनैकदेवत्यस्य संयोगः न द्विदेवत्यस्याग्नीषोमीयस्य, ऐन्द्राग्नस्य चेति। कुतः ? यस्य ह्यग्नीषोमौ देवता, उभयविशेषणविशिष्टः संकल्पः क्रियते। तस्याग्निः सोममपेक्षमाणो देवता, न निरपेक्षः। यस्य चाग्निः सोममपेक्षमाणो देवता, न तस्मात्तद्धित उत्पद्यते। समर्थानां हि स उच्यते। सापेक्षं चासमर्थम्। तस्मान्न तद्धितान्तेन निरपेक्षाग्निदेवत्येन द्विदेवत्यस्याभिधानम्। अतो यत्र निरपेक्षोऽग्निर्देवता, तत्रैव चतुर्धाकरणमिति। देवतालिङ्गस्य हि सामर्थ्येन संयोगो भवति तद्धितार्थस्य, नासति सामर्थ्ये।

अथ यदुक्तं यथा प्राशित्रावदानं सर्वेभ्यः क्रियते, एवं चतुर्धाकरणमपीति। युक्तं प्राशित्रावदाने। तत्रैवं सम्बन्धः क्रियते, आग्नेयस्य प्राशित्रमवद्यतीति। कथं तर्हि ? आग्नेयस्य मस्तकं विरुज्येति। एकं ह्येतद्वाक्यं—प्राशित्रमवद्यतीति। द्वितीयमाग्नेयस्य मस्तकं विरुज्येति। तत्राऽऽग्नेयस्य मस्तकादवद्यतीति[1] गम्यते। अन्यस्य मस्तकादन्यस्माद्वेत्यनियमः[2]। यदि तु तत्र केवलाग्निदेवत्यो नाभविष्यत्, तदाऽऽनर्थक्यपरिहाराय द्विदेवत्योऽप्यग्रहीष्यत।

यत्तु डित्थस्य मातेति। युक्तं तत्र अव्यासङ्गिमातृत्वम्। ततो जातो डित्थः। एतावता सम्बन्धेन, मातेत्युच्यते। नात्र किंचिदपेक्ष्यते। स च तावांस्तत्र सम्बन्धोऽस्तीति, डित्थस्य मातेति युक्तं वचनम्॥ २७॥ सिद्धान्तः॥ चतुर्धाकरणस्याग्नेयमात्राङ्गताधिकरणम्॥ १५॥

इति श्रीशबरस्वामिकृतौ धर्ममीमांसाभाष्ये तृतीयस्याध्यायस्य
प्रथमः पादः॥

त० वा०— यथैव हि ग्रहत्वेन चमसा नोपलक्षिताः।
आग्नेयत्वं तथा न स्याद् द्विदेवत्योपलक्षणम्॥

उद्दिश्यमानं तावद्विवक्षितमित्युक्तम्। न चाग्नीषोमीयैन्द्राग्नेययोराग्नेयत्वमस्ति। न ह्यत्राग्निसत्तामात्रमुपलक्षणम्। किं तर्हि ? तद्धितोपात्तं देवतात्वम्। न च द्विदेवत्येऽग्निमुद्दिश्य त्यज्यते।

न हि व्यासङ्गिविज्ञानमेकेन व्यपदिश्यते।
नाग्नीषोमीय आग्नेय ऐन्द्राग्नो वा तदुच्यते॥
तद्धितार्थोऽत्र लिङ्गं हि समर्थानां च तद्धितः।
असमर्थात्समासस्थान्न[3] चाग्नेरस्ति तद्धितः॥

---

१. ब. अवदातव्यमिति। २. ब. अन्यस्माद्वाप्रदेशात्।
३. असामर्थ्यात्।

आग्नेय इति यो निरपेक्षाग्निदेवत्यः, सोऽभिधीयते। न च द्विदेवत्ये निरपेक्षोऽग्निर्देवता। तेनायं तद्धितो नाग्नीषोमादिगताग्निशब्दादुत्पद्यत इति न तदर्थस्य देवतात्वमाह। यत्र त्वसौ [1]निरपेक्षो देवता, स शक्य आग्नेय इति वक्तुम्।

यत्तु प्राशित्रवदिति। तत्रोच्यते। देशविशेषलक्षणार्थाऽस्मिन्नाग्नेयगुणश्रुतिः। सामान्यवाक्येन सर्वत्र प्राशित्रावदाने प्राप्ते, 'मस्तकविरोगविशेषविधानार्थमेतद्वचनमिति वैषम्यम्।

स्थितेऽधिकरणे त्वेवं प्रत्यवस्थीयते पुनः।
अविशेषादुभौ वेति कातीयवचनश्रुतेः॥
उक्तं कात्यायनेनेह दृष्ट्वा शातपथीं श्रुतिम्॥

तं चतुर्धा कृत्वा पुरोडाशं बर्हिषदं करोति' इति।

अत्रोच्यते—

सत्यमस्ति श्रुतिर्येयमविशेषेण दृश्यते।
विशेषे स्थाप्यते सा तु नित्यं शाखान्तरीयया॥

प्राशित्रेऽपि तथेति चेत्? न। गुणार्थत्वात्। मस्तकं विरुज्येति[2] गुणपरत्वादशक्यः सामान्यविधिरुपसंहर्तुम्। इदं तु निर्गुणं पुनर्वचनं शक्नोति सामान्यं स्वविषये स्थापयितुम्। दूरस्थत्वादशक्योऽस्योपसंहार इति चेत्? न। यस्य येनार्थसंबन्ध इति न्यायात्। तेन—

अवश्यमेव सामान्यं विशेषं प्रति गच्छति।
गतमात्रं च तत्तेन विशेषे स्थाप्यते ध्रुवम्॥

अथवा विशेषेण प्राप्तत्वात्सामान्यमनूद्यते बर्हिषदत्वकरणविधानार्थम्। अथ तदपि प्राप्तम्, ततः क्रमार्थं श्रवणमिति वक्तव्यम्। अतश्चाऽऽग्नेयस्यैव चतुर्धाकरणमिति सिद्धम्।

यदि तु तत्र केवलाग्निदेवत्यो नाभविष्यदिति—लक्षणार्था गुणश्रुतिरित्येतस्यैव व्याख्या। केवलदेवत्याभावे हि मनोतायामिवाग्निशब्द उभौ लक्षयेत्। तदर्था वा गुणश्रुतिर्भवेत्। अस्ति त्वेकदेवत्यः। तस्मात्तस्यैव चतुर्धाकरणम्। यद्यपि चोपलक्षणं कार्ययोगि न भवति, तथाऽपि तेनानुपलक्षितं न शक्यं ग्रहीतुमित्येकदेवत्यस्यैव ग्रहणमिति सिद्धम्॥ २७॥

(इति पञ्चदशं चतुर्धाकरणाधिकरणम्॥ १५॥)

इति श्रीभट्टकुमारिलविरचिते धर्ममीमांसाभाष्यव्याख्याने तन्त्रवार्तिके तृतीयस्याध्यायस्य प्रथमः पादः समाप्तः॥

---

१. क० विभाग। २. ब० विरुज्येति।

न्या० सु०—यथा ग्रहत्वेनोपलक्षणेन ग्रहाणामेव संयोगात्सम्मार्गव्यवस्थोक्ता, तथाग्नि-देवत्यत्वरूपेण तद्धितार्थेनैकदेवत्यस्यैव संयोगाच्चतुर्द्धाकरणव्यवस्था युक्तेत्येवं सूत्रावयव-व्याख्यार्थत्वमग्निनेति भाष्यस्य द्योतयितुमाह—**यथैव हीति**। दृष्टान्तोक्तेरुद्देश्यस्वरूपावि-वक्षाशङ्कानिराशप्रयोजनत्वं सूचयितुमाह—**उद्दिश्यमानन्तावदिति**। द्विदेवत्यसंयोगनिरा-सार्थं समवेतत्वमात्रस्योपलक्षणतोक्तेति सूचयितुमाह—**न चेति**। नन्वसम्बद्धस्याग्नेरुपलक्षण-त्वायोगात्सम्बन्धमात्रमपेक्षितत्वाग्राह्यम्, तद्विशेषस्तु देवतात्वं तद्धितोक्तमनपेक्षितत्वादग्राह्य-मित्याशङ्क्य, देवतात्वमेव प्रत्ययार्थत्वेन प्राधान्यादुपलक्षणम्, प्रकृत्यर्थत्वात्त्वग्निरुपलक्षणं न तु विशेषणमित्याह—**अग्निः पुनरिति**। बहुकर्तृकेऽपि सूत्रे प्रत्येकं कर्तृत्ववद्द्विदेवत्येऽप्यग्नेस्ता-वद्देवतात्वमस्त्येवेत्याशयेन कुत इति पृष्ट्वा, तन्निरासार्थं यद्धीत्यादिभाष्यं तात्पर्यतो व्या-चष्टे—**याञ्चेति**। एतदेवोपपादयति—**नहीति**। अतः कारणादग्नीषोमीय ऐन्द्राग्नो वा नाग्नेयशब्देनोच्यत इत्यर्थः।

देवतात्वस्यासत्यामपि तद्धितेनोक्तौ तस्योपलक्षणमात्रार्थत्वान्नात्यन्तादर इत्याशङ्क्योप-लक्षणं विना धर्मान्वयिनोऽपूर्वसाधनविशेषस्योपलक्षयितुमशक्यत्वान्नोपलक्षणस्याप्यनादरो युक्त इत्येवं परिहारार्थत्वेन लिङ्गस्योपलक्षणस्यापि देवतात्वस्य तद्धितवाच्यत्वादर्थेन सामर्थ्येनोपलक्ष्यसम्बन्धोपपत्तेरित्येवं व्याख्यार्थं देवतालिङ्गस्य हीति भाष्यं व्याचष्टे—**तद्धितार्थोऽत्रेति**। लिङ्गस्यार्थेनेति सामर्थ्यवाच्यर्थशब्दोक्ता। निरपेक्षतार्थसंयोगार्थव्याख्यार्थे पूर्वभाष्येऽनागतावेक्षणेनोक्तेति निरपेक्षोक्त्या सूचयन् श्लोकं व्याचष्टे—**आग्नेय इति**। दृष्टान्ते प्राशित्रमवद्यती(आप० श्रौ० ३-१-२ का० श्रौ० ३-४-१)ति सामान्यत्राक्येन हविर्मात्रावदाने प्राप्ते, कस्माद्धविःप्रदेशात्प्राशित्रमवदेयमित्यपेक्षायां मस्तकाख्यप्रदेश-विशेषोपलक्षणार्थाग्नेयत्वोपलक्षणश्रुतिरित्येवं वैषम्योक्त्यर्थत्वेनानुभाषणपूर्वमन्त्यसूत्रावयव-व्याख्यार्थमथेत्याद्यनियम इत्यन्तं भाष्यं व्याख्यातुमाह—**यत्त्विति**। मस्तकविभागस्य भञ्जनस्फोटनापरपर्यायस्याग्नेयपुरोडाशविशेषे विधानार्थमेतद्वचनमिति वदता यदाग्नेयस्येति प्राशित्रावदानावान्तरप्रकरणप्राप्तमाग्नेयात्प्राशित्रावदानमनूद्य तन्मस्तकं विरुज्येति वचन-व्यक्तिर्व्याख्याता।

प्राशित्रमवद्यतीति सामान्यवाक्यात्प्राशित्रावदानस्य साधारणता युक्तेत्युक्ते चतुर्धा-करणस्यापि तं चतुर्द्धा कृत्वेति सामान्यवाक्यात्साधारण्यं शङ्कितुमाह—**स्थित इति**। द्विदेवत्ये तद्धितार्थो न सम्भवतीत्येवमुक्तेन न्यायेनाधिकरणे स्थिते, उभौ वा विशेषादि (का० श्रौ०)ति कात्यायनाख्यसूत्रकृद्वाक्यबलात्प्रत्यवस्थीयते इत्यर्थः।

कातीयशब्दनिष्पत्तिवर्णनम्

कतस्यापत्यङ्गोत्रमित्यस्मिन्नर्थे गर्गादिभ्यो यञिति यञं कृत्वा कात्यस्यापत्यं युवेत्यस्मि-न्नर्थे यञिञोश्चेति फक्प्रत्यये तस्य चायनादिसूत्रेणायनादेशे कृते कात्यायनस्येदमित्यस्मिन्नर्थे वृद्धाच्छ इति छप्रत्यये तस्येयादेशे नाजादित्वात्फक्फिञोरन्यतरस्यामिति फक्-प्रत्ययस्य

लुक्पक्षे कात्य इति यकारारात्परतः छप्रत्ययप्राप्तावापत्यस्य च तद्धिते नास्तीति आकारादिवर्ज्जिते तद्धिते परेऽपत्यवाचिन्ते यकारस्य लोपात्कातीयमिति रूपसिसिद्धिः। न्यायविरोधात्कात्यायनीयवचनस्य बाधमाशङ्क्याबाधार्थं श्रुतिमूलतामाह—उक्तमिति। इह दर्शपूर्णमासप्रकरणे श्रुतिर्दृष्टेत्यर्थः कासौ श्रुतिरित्यपेक्षायां पठति—तमिति। सामान्यश्रुतेर्विशेषश्रुत्याग्नेयमात्रविषयत्वेनोपसंहारात्साधारण्यानापत्तिरिति परिहारमाह—अत्रेति। नित्योक्त्याऽनुपसंहारे विकल्पापत्तिरुपसंहारकारणत्वेन सूचिता।

प्राशित्रवाक्ये व्याख्यातेन परपदार्थान्वयविधौ श्रुतिबाधापत्तेर्विशिष्टावदानविध्यवगमाद्विशेषशास्त्रत्वेन सामान्यशास्त्रोपसंहारकत्वं भविष्यतीत्याशङ्कते—प्राशित्रेति। वाक्यान्तरात्प्राप्तेः प्राशित्रावदानस्य विधातुमशक्यत्वाद् गुणमात्रार्थत्वावगतेर्विशिष्टावदानशास्त्रत्वाभावान्नोपसंहारकत्वं सम्भवतीति परिहरति—नेति। एतदेव विवृणोति—मस्तकमिति। पुरोडाशवाक्यस्यापि बर्हिःपदत्वलक्षणगुणमात्रार्थत्वात् क्रममात्रार्थत्वाद्वा चतुर्द्धाकरणविधायित्वाभावेऽविशेषशास्त्रत्वाभावान्नोपसंहार्यत्वं स्यादित्याशङ्कयाह—इदं त्विति। क्त्वाशब्दोक्तायां चतुर्द्धाकरणभावनायां गुणाश्रुतेराख्यातोक्तायाश्च बर्हिःषदत्वकरणभावनायाः प्राधान्यप्रतीतेः क्त्वाशब्दोक्तभावनाविशेषणत्वायोगान्निर्गुणत्वोक्तिः। शाखान्तरीयस्याध्येतृभेदेन पुनर्वचनत्वस्य निरस्तत्वाच्छाखान्तरीयस्य च दूरस्थत्वेन प्रत्यभिज्ञायोगात्सगुणश्रवणेऽपि विधेयैव क्रिया। दूरस्थस्य प्रत्याभिज्ञाभ्युपगमेऽपि त्वभ्यासेन क्रियाविधिः शक्यो वक्तुमिति प्रौढिप्रदर्शनार्था पुनर्वचनोक्तिः। शाखान्तरीयस्य सामान्यस्याबुद्धिस्थत्वेनोपसंहारायोगं शङ्कते—दूरस्थत्वादिति।

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थेनापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम्॥ इति।

न्यायाद् दूरस्थोऽप्युपसंहारो नाशक्य इति परिहरति—नेति। वृद्धश्लोकेन सामान्यन्यायमुक्त्वा तदुपजीवनेन दूरस्थस्यापि सामान्यस्य विशेषोपसंहारसिद्धिमाह—तेनेति। येन कारणेन दूरस्थस्यापि योग्यत्वात्सम्बन्धो युक्तः तेन कारणेन दूरस्थमपि सामान्ये विशेषेण विनाऽनुपपद्यमानत्वाच्छाखान्तरीयविशेषं प्रति गच्छति। ततश्च श्रुतिविशेषलाभे विशेषान्तरकल्पनायोगाद्विशेषशास्त्रेण स्वविषयभूते विशेषे स्थाप्यते। दूरस्थेनापीति श्लोकार्थः दूरस्थयोरप्युपसंहार्योपसंहारकताऽवश्यध्रुवोक्तिभ्यामुक्ता। सामान्यशास्त्रस्य पूर्वालोचनायामुपसंहारसम्भवेऽपि विशेषशास्त्रस्य पूर्वालोचने सामान्यशास्त्रानर्थक्यं स्यादित्याशङ्कय तस्मिन्पक्षे विशेषान्तर्गतत्वेन प्राप्तस्य सामान्यस्य तदुत्तरकालबर्हिःषदत्वकरणविषयेऽनुवादमाह—अथ वेति। बर्हिःषदत्वकरणस्यापि चतुर्द्धाकरणवच्छेषप्रतिपत्त्यर्थभक्षाङ्गत्वेन चतुर्द्धाकरणाङ्गत्वाभावादङ्गाङ्गिभावायाऽनुवादायोगात्क्रमनिरपेक्षबर्हिःषदत्वविधावनुवादानर्थक्यापत्तेः शाखान्तरप्राप्तचतुर्द्धाकरणाऽनुवादाभ्युपगमे बर्हिःषदत्वस्य शाखान्तरप्राप्तस्याऽनुवादोपपत्तेः न विधिः सम्भवतीत्याशङ्कय, क्रममात्रं तर्हि विधीयतामिति पक्षान्तरमाह—अथेति। साधारण्याशङ्कापरिहारमुपसंहरति—अतश्चेति। मिथस्ते-

षामसम्बन्धादिति पूर्वपक्षसूत्रावयवस्य व्यवधारणकल्पनयास्यैकदेवत्यद्विदेवत्यानामेकप्रकरणान्वये योजितस्य विरुद्धत्वोक्तेः यद्येकद्विदेवत्यानां मिथः सम्बन्धो न स्यात् ततो द्विदेवत्यस्याऽपि लक्षणार्थाग्निगुणश्रुतिर्भवेत् न त्वेतदस्तीत्येवंलक्षणार्थेति सिद्धान्तसूत्रावयवेऽनुषक्तस्य पूर्वपक्षनिरासार्थत्वेन योजनार्थं यदि त्विति भाष्यं व्याचष्टे—यदि त्विति। उपलक्षणकार्ययोर्मिथोऽसम्बन्धात्कार्यायोगित्वेनोपलक्षणस्यानादृत्यतेत्येवं स्वमतेन व्यवधारणकल्पनां विनैव पूर्वपक्षसूत्रावयवे व्याख्याते त्वाग्नेयत्वेन द्विदेवत्यस्योपलक्षयितुमशक्यत्वादनुपलक्षितस्य चाग्नेयशब्देन ग्रहीतुमशक्यत्वान्मिथस्तेषामसम्बन्धेऽप्येकदेवत्यस्यैव लक्षणार्थाऽग्नेयत्वोपलक्षणश्रुतिरित्येवं लक्षणार्थेति सूत्रावयवस्य व्याख्यां सूचयितुमाह—यद्यपि चेति ॥२७॥

इति श्रीमत्त्रिकाण्डमीमांसामण्डनप्रतिवसन्तसोमयाजिभट्टमाधवात्मजभट्टसोमेश्वरकृतौ तन्त्रवार्त्तिकटीकायां सर्वानवद्यकरण्यां न्यायसुधाख्यायां तृतीयस्य प्रथमश्चरणः समाप्तः।

भा० प्र० पूर्वोक्त मत के समाधान में सिद्धान्ती का कहना है कि "आग्नेय" इसमें यदि सम्बन्धमात्र में तद्धित प्रत्यय होता तो पूर्वपक्षी का मत सङ्गत होता, किन्तु, इस स्थल में देवता सम्बन्ध में तद्धित प्रत्यय होता है। अग्नीषोमीय एवम् ऐन्द्राग्न इन दोनों स्थलों में अग्नि शब्द रहने पर भी आग्नेय इस स्थल में अग्नि जैसे निरपेक्ष भाव में देवता है, वैसा अग्नीषोमीय एवम् ऐन्द्राग्न इन दोनों स्थलों में अग्नि निरपेक्ष भाव में देवता नहीं है, अपितु व्यासज्य भाव में ही अर्थात् उभयात्मक रूप में ही देवता है, इसलिए, इस स्थल में डित्थ, डवित्थ की माता की तुलना नहीं हो सकती है, क्योंकि, इस स्थल में मातृत्व की प्रत्येक में परिसमाप्ति होने से व्यासज्यवृत्ति नहीं है, कारण, डवित्थ की माता न होने पर डित्थ की माता नहीं हो सकती है—ऐसी बात नहीं है। अतः, इन्द्र एवम् आग्नेय इस स्थल का अग्नि एवम् अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न इस स्थलों की अग्नि एक नहीं है। क्योंकि, इन्द्र और महेन्द्र के समान भिन्न है। 'आग्नेय' इस तद्धितान्त पद की प्रकृति अग्नि अग्नीषोमीय और ऐन्द्राग्न इनदो पदों का एकदेश भी हो सकता है, अतः, तद्धित प्रत्ययकर 'ऐन्द्राग्न' यह पद निष्पन्न होता है "आग्नेयं चतुर्धा करोति" इस वाक्य से चतुर्धाकरण विहित होता है, वह सभी का अङ्ग है—यह तर्कसङ्गत नहीं है। कारण, वैसे स्थलों में अग्नि पद अन्य पद का एक देश होने पर सापेक्ष होता है। सापेक्ष होने पर असमर्थ होगा, और असमर्थ के आगे तद्धित आदि प्रत्यय नहीं हो सकते हैं। क्योंकि, "समर्थः पदविधि" एवं "समर्थानां प्रथमाद्वा" इन पाणिनीय सूत्रों के अनुसार समर्थ = निरपेक्ष अर्थात् अन्य के साथ आकांक्षारहित पद के साथ ही समास एवं तद्धित आदि प्रत्यय विहित होता है। इसलिए चतुर्धाकरण केवल अग्निदेवत्य पुरोडाश के ही अङ्ग के रूप में व्यवस्थित होगा। इस सूत्र को "व्यवस्था वा अर्थसंयोगात् लिङ्गस्य अर्थेन सम्बन्धात्"—इस अंश में कहा गया है। इसमें पूर्वपक्षी यदि

यह कहता है कि आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य प्राशित्रमवद्यति" इस वाक्य में जैसे आग्नेय पद श्रुत होने पर भी 'प्राशित्र' अवदान हविः = पुरोडाश होने से ही कर्तव्य है, इस स्थल में भी इसी प्रकार होगा, ऐसा होने पर कहा जायगा—"लक्षणार्था गुणश्रुतिः" इस स्थल में गुण का उल्लेख लक्षणा के लिए अर्थात् पुरोडाश के परिचय के लिए है।

आशय यह है कि इस स्थल में "आग्नेयस्य अवद्यति" यह अर्थ होने पर पूर्वपक्षी की आपत्ति सङ्गत होती ! किन्तु, इस स्थल में "आग्नेयस्य मस्तकं विभज्य" यह भाग एक वाक्य एवं "प्राशित्रमवद्यति" यह अंश दूसरा एक वाक्य होने से प्राशित्र अवदान सभी पुरोडाशों का अङ्ग है, किन्तु आग्नेय पुराडाश के मस्तक का अवदान होगा और अन्य पुरोडाश का किसी स्थान से अवदान होगा, यह अर्थ निष्पन्न होने से "आग्नेय" यह मस्तकावदेय पुरोडाश का परिचायक है, इसलिए चतुर्धाकरण आग्नेय का ही कर्तव्य है।

"व्यवस्था" = नियम है, "वा"=पूर्वपक्ष के निरास के लिए है, "अर्थ संयोगात्"—यतः अर्थ के साथ अर्थात् देवतारूप तद्धितार्थ के साथ संयोग अर्थात् पुरोडाश का सम्बन्ध रहता है, "लिङ्गस्य" = लिङ्ग का अर्थात् शब्द का देवतात्व प्रकाशक सामर्थ्य का, "अर्थेन सम्बन्धात्" = तत् तत् देवतारूप अर्थ के साथ सम्बन्ध होने से, "गुणश्रुतिः" = प्राशित्र अवदान आदि अन्य स्थल में किन्तु गुणश्रुति अर्थात् देवतारूप गुण का उल्लेख, "लक्षणार्था" = उपलक्षण के लिए (परिचय के लिए) है ॥२७॥ सिद्धान्तपक्ष ॥

इति मीमांसादर्शन की भावप्रकाशिका में तृतीय अध्याय का प्रथम पाद सम्पूर्ण हुआ ॥



श्लोकानुक्रमणिका

श्लोक	पृ० सं०
अत्रत्या लक्षणावृत्तिः	त० ६१६
अगुणे	त० २३२
अङ्गानां	त० ५१
अङ्गप्रधान	त० ४२
अङ्गलक्षणमेवेदमिहोक्तं	त० ५२५
अग्निभ्योऽपूर्वं	त० १३०
अग्निहोत्रस्य	त० ४२१
अग्निहोत्रादि शब्देन	त० ४२०
अजामिकरणं	त० ८७
अतश्च पदमेवै	त० ५७१
अतश्चापुनरुक्तत्वात्	त० ६०९
अथवा इच्छामात्र	त० ३१३
अथवाऽन्यतरेणैको	त० ६०४
अथवास्विदमेवैकं	त० ५२६
अथापि शास्त्रतन्त्रत्वात्	त० ६०३
अदृष्टं प्रथमं	त० ५
अदृष्टार्थे तु	त० ५३६
अदृष्टो योऽश्रुतो	शा० पृ० १
अधिकारोऽपि	त० ५२६
अनन्तरोपदि०	त० २१७
अनन्यविषयत्वेन	त० २९९
अनादि निधनेऽप्येवं	त० ५८८
अनिष्टो यस्त्वशक्ति	त० ५८७
अनुक्ते कर्मशब्दे	त० २०७
अनुवाद	त० २५
अनेक पद	त० १३१
अन्तरालेऽनु	त० ९५
अन्तरिक्षे	त० ५८७
अन्यथैव	त० ५१

श्लोक	पृ० सं०
अन्यदेवं हि यागादौ	न्या० १३४
अन्यानि	त० ५२७
अन्यार्थानुष्ठितैः	त० ५२६
अन्या हि वचन	त० ६०७
अन्ये त्वन्ततया	त० ५३३
अन्ये विध्यादि	त० ५३४
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां	त० ५७२
अपकुर्वन्नचीष्टो	त० ५३६
अपराधे निमित्ते हि	त० ५८१
अपूर्वसाधनत्वांश	त० ६०८
अप्राप्तविधिरेवाय	त० ६०८
अभितः सामिधेनीनां	त० ६६३
अभिधात्री श्रुतिः	त० ५८५
अभिषेकोऽपि	त० ३३४
अयमेव च संबन्ध०	त० ५२७
अयुक्तमेवं	त० ५३३
अवश्यमेव सामान्यं	त० ६९९
अवस्थान्तररूपत्वाद्	त० ३७०
अबाधिते तु विज्ञाने	त० ६०३
अविवक्षोपपन्ना	त० ६११
अश्वश्रुत्यैव	त० ६०८
असाधारणभावेन	त० ३३७
आकाङ्क्षति	त० ५३७
आख्यातप्रत्ययः	त० २४
आचारयोरसंबन्धे	त० ३३५
आत्मना	त० २६९
आदाने च तथा	त० ६०७
आनन्तर्यात्प्रधानत्वात्	त० ६५०
आमिक्षां देवतायुक्ता	त० २१९

श्लोक	पृ० सं०
आभिक्षोत्पद्यमानेन	त० २२१
इत्यादत्त इति	त० ६०७
इदं शरीरं कौन्तेय	न्या० ५९४
इष्यते पाक्षिकं	त० ३२२
इह त्वध्यायरूपं	त० ५३०
उत्पत्तिवचना	त० १५९
उत्पत्तिवाक्य	त० १५८
उद्देश्यस्यापि	त० ६१३
उपकारमलब्ध्वैव	त० ५३६
उपकारेण शेषत्वं	त० ५३६
उपक्रमोपसंहारमध्या	त० ५३४
उपसङ्ख्यः	त० ४२०
उपादेयो गुणो	त० ४२२
उपोद्घात	त० ४
उपोद्घातोदितेनैव	त० ५२९
एक कर्मगता	त० ५०७
एक कर्मत्वपक्षे	त० १९२
एक कालाभि	त० ४९
एकत्वस्यैव	त० ६ ५
एकत्वेनापि	त० ६१२
एकत्वेऽपि	त० २९९
एकदेशेऽपि	त० ३४१
एकशाखानिबद्धानां	त० ४९८
एकस्य वेदवृक्षस्य	भा० प्र० ५०१
एकस्य वेदवृक्षस्य	त० ५०२
एकाहाहीनसत्त्राणि	त० ४१५
एतस्या इति	त० १७९
एतावांस्तु	त० ५७४
एतेनाध्ययनाधान	त० ५३३
एवमङ्गप्रधानानां	त० ५३३
एवमर्थद्वये	त० ५२९

श्लोक	पृ० सं०
एवमत्र प्रपञ्चेन	त० ५२९
एवं यः सर्वभूतानि	न्या० ५९५
एवं सति	त० ५३५
एवं सन्देह	त० ६०५
ऋग्वेदादिसमूहेषु	त० ५८७
कठेन प्रोक्तमित्येवं	त० ५२८
कठेनाध्यापितं	त० ५२८
कर्ताराज्यस्य	त० ३३२
कथामादावसन्नेवं	त० ६१६
कथंभावो हि भावानां	त० ६६२
कदाचिद्गुणमेवाह	त० ५७४
कर्मणा सह चोद्यन्ते	त० ५३५
कर्मशब्देऽगुणे	त० २३८
कर्मण्यपि कृते	त० ५७८
कर्मणः कर्मसाध्यत्वं	त० ६५५
कर्मस्थो हि	त० ४४७
कर्मण्यश्रूयमाणानि	त० १९२
कस्य तु क्षमता	त० ४४८
काकेभ्यो रक्ष्यतामन्नमिति	त० ६०९
काम्यः सर्वाङ्ग	त० १३२
कारकं ह्युच्येत	त० ५७८
कालदेवतयोर्नात्र	त० १०८
कालो यस्य	त० ५१
किं त्वश्वरशना	त० ६०८
किं त्वयं	त० १९१
किं समुच्चितयोः किंवा	त० ६०४
किमेकत्वविशिष्टस्य	त० ६०५
किमुपादेयता	त० ६०४
कृतकं चाभिधानं	त० ५२८
कृत्वा शब्दार्थमेवैकं	त० २६८
कृत्रिमं काठकाद्युक्तमा	त० ४९४
केनचित्तु प्रकारेण	त० ६०६

श्लोक	पृ० सं०	श्लोक	पृ० सं०
केवलाभावना	त० ६०४	चर्वादीनां	त० ३९५
केवलारुणवाचित्वं	त० ५७५	चाटतस्कर	त० ३४४
केवलाश्वाभिधायिन्या	त० ६०९	ततश्च भाष्यकारेण	त० ६०९
क्रतुमध्यप्रयोगो	त० ३३७	ततश्चापुनरुक्तं	त० ५२८
क्रतुसम्बन्ध	त० ३३३	ततश्चैतद्	त० ५८८
क्रत्वर्थश्चापि	न्या० २०१	तथर्ग्वेदादेया	त० ५८८
क्रयद्रव्यपरिच्छेदाद्	त० ६११	तथा कृत्वा	त० ६०४
क्रयश्चावगतद्रव्यगुणः	त० ५७९	तथा गुणविशेषेण	त० ५७८
क्रयापेक्षित एवायं	त० ५८०	तथा चापूर्वभेदेन	त० ५२९
क्रियापदैकयोगित्वे	त० ७६	तथा चास्य	त० ५२६
क्रियापि न विना	त० ५७८	तथाऽम्नातशेषाणां	त० ५२६
क्रियाश्चाकारकत्वेन	त० ११५	तथा पात्नीवतेऽप्युक्ता	त० ६९५
क्वचिद् द्रव्य	त० ६१७	तथार्थवाद	त० ५२८
क्वचिद् दृष्टनिराकाङ्क्षः	त० ५५१	तथा द्रव्यार्जना	त० ५३६
गत्वादिवन्न	त० २४	तथा न भिद्येत	त० ५२
गृह्णती भावना	त० ५८९	तथा व्योमशरीरोऽपि	त० ५८७
गुणश्चापूर्वसंयोगे	त० ५२८	तथा शब्दार्थ	त० ५२८
गुणान्तरावरुद्धत्वात्	त० २१७	तथासतिग्रहैकत्वमस्तु	त० ६१५
गुणानां च परार्थत्वादि	त० ६८२	तथैकधातु	त० ८
गुणानामेवमात्मत्वं	त० ५७९	तदर्थो यादृशो	न्या० ७९
गुणात्कामो न युक्तोऽत्र	त० ६६४	तदिदं परिसंख्येति	त० ६०९
गुणो वा नामधेयं	त० २८	तद्धितार्थोऽत्र लिङ्गं	त० ६९८
गौणत्वं यो वदेदत्र	त० ५७२	तद्धितेन चतुर्थ्या	त० २१७
ग्रहणं नामधेयं	त० ४०७	तन्त्रेणोभयं संबन्धे	त० ५७६
ग्रहद्रव्येण किं	त० ६०४	तपोविशेषैर्वि	न्या० ४९६
ग्रहेण वा विशिष्टां	त० ६०७	तया तत्साधयेन्नित्य	त० ५७१
ग्रहे विधाय	त० ६०५	तस्मात्कालार्थं	त० ६८२
ग्रहैकत्वे यदोद्दिश्य	त० ६०४	तस्मात्परस्पराङ्गत्व	त० ५३५
ग्रहोऽप्यावर्तनीयः	त० ६०५	तस्मात्सत्यविनाभावे	त० ५३४
ग्राह्यं न त्वेतदेकान्ता	त० ५४९	तस्माद्विस्तर	त० ५२९
चमसेष्वपि	त० ६१०	तस्मादुच्चारणं	न्या० सु० १५
चतुर्थीपञ्चमी	त० २२१	तस्माद्यथैव	त० ५७३

श्लोक	पृ० सं०	श्लोक	पृ० सं०
तस्मान्नादत्त	त० ६०८	द्रव्यादेर्यत्र	त० ५४४
तस्मान्न श्रुतमात्रत्वं	त० ६०६	द्रव्येणात्यन्त	त० १७०
तस्माल्लक्षणमेवैतद्	त० ६१६	द्रव्योपसर्जनीभूतः	त० ५७४
तस्य तं प्रति	त० ५३४	द्रव्ये साधनीयेयमिति	त० ५७९
तत्र क्रिया प्रधानत्वे	त० ६०४	देवतातद्धितोत्पादे	त० ९४
तत्र क्रिया प्रधानत्वं	त० ६०६	देवता-संगतिः	त० २१८
तत्र सूत्राणि	त० ५३०	देहभेदप्रकाराश्च	त० ५८७
तत्रापि तु ग्रहस्यैव	त० ६०४	द्विलक्षण्याः	त० ५२५
तत्राश्व रशनाशब्दो	त० ६०८	द्वे तावन्नानुवाक्ये	त० ६८२
तत्रैव च क्षणे	त० ६०६	धात्वर्थभेद	त० ७
तत्रैव न विधीयते	त० २७१	धात्वर्थोऽपि	त० ४२३
तादर्थ्यमपि	त० ५४५	ध्रुवं विधीयमान	त० ६०५
तान्युत्पत्तिमतेक्षन्ते	त० २३६	ध्रौवं	त० ४४
तुल्यकक्षौ हि संबन्धौ	त० ६८२	न ग्रहान्तरसंमार्गे	त० ६१५
तुल्यार्थत्वात्स	त० ६०९	न च गर्दभबन्धन्यां	त० ६०८
तेनानुष्ठितमित्येवं	त० ५२८	न च तत्प्रख्य	त० ९६
तेनान्नैवेदमारम्यमिति	त० ५३०	न च त्वष्टुरभावेन	त० ३९९
तेनैतस्य द्विरूपत्वं	त० ५७४	न चान्यभेदेना	त० १९२
तेनोच्यते	त० ५८७	न चानित्यस्य	त० ४३१
तेनोपसर्जनस्यादि	त० ५३१	न चाप्यन्योऽन्यसंबन्धे	त० ५७८
तेषां चान्तर्गतेच्छानां	त० ५८८	न चाप्युद्दिश्य	त० ४३५
तेषां चान्तर्गतोच्छानां	त० ५८८	न चाश्व रशनायां	त० ६०७
तेषामन्तर्गतापीच्छा	त० ५८७	न चैकत्वविशिष्टं	त० ६१०
त्रयाणां वैष्णवादीनां	त० १०८	न चैकवाक्यमात्रेण	त० ६०६
त्रेधा च देवता	त० ३९५	न चैषामे	त० ११२
त्रेधा च	त० ३९५	न तावत्तद् ग्रहे	त० ६०५
दध्यत्र	त० २३७	न तावत्संशयो	त० २९७
दृष्टश्रुतविरोधे	त० ५	न तावत्संशयो	त० २९७
दृष्टेऽपि च फले	त० ६६२	न तावदयमेकान्तः	त० ५७२
द्रव्यदेवत सम्बन्धा	त० २२२	न तावदेकवाक्यत्वे	त० ६८६
द्रव्यस्य क्रिययोर्वे	त० ६०६	न तु वाक्यार्थं	त० ६०८
द्रव्यस्य गृह्यमाणस्य	त० १७९	न तु वाक्यार्थं एवा	त० ६०८

श्लोक	पृ० सं०	श्लोक	पृ० सं०
न दधीन्द्रिय	त० २५१	निवेशं	त० ४५
न द्रव्यमनुपादाय	त० ५७८	निधने हीष्टिविधानं	त० २९७
नन्वनादिनिधनं	न्या० ५९७	निष्पन्नेन	त० ३१३
ननु पञ्च धातून्	न्या० ५९४	नित्याः शब्दार्थं	त० ३३४
ननु ज्ञेया	त० ५३०	निर्दोषत्वं हि तत्रास्या	त० ६०७
न प्रातिपदिकेनोक्तं	त० २१९	निरूढा लक्षणाः	त० ५७३
न प्रातिपदीनोक्तं	त० २१९	निष्पन्नत्वाद्विशेषाञ्च	त० ५७८
न लोके देवदत्तस्य	त० ३२३	नैव हि द्रव्यमात्रस्य	त० २१८
नवमेऽर्थप्रधानत्वात्	त० ५२६	नैव ह्यनेक	त० २५४
नवतन्तुदक्षिणं कृत्वा	भा० प्र० ६७४	नैवौदमेधि	त० ३३२
न वाऽर्थविप्रकर्षोऽस्य	त० ६०७	नैव तावदुभौ	त० ३३५
न वाऽनन्यक्रियायोगे	त० ७५	नैकप्रयत्नसाध्यत्वं	त० २६८
नवेन क्रतुना	त० २६८	नैकेनापि	त० ५३५
न शेषोऽन्यः	त० ५३३	न चाप्यन्यपदार्थत्वं	त० ५६४
न सास्नानुगतिर्दृष्टा	त० २३९	न्यायेन सम्प्रदायाद्वा	त० ५८६
न ह्य नभक्षणाद्रक्ष्याः	त० ६०९	पटस्य शुक्ल इत्यत्र	त० ५७४
न ह्यत्रैकमपि	त० ५५०	पदतद्भाग	त० ४१
न हि गोभिरसम्बद्धो	त० ५६३	पदत्रयाद्विना	त० ६०७
न हि द्रव्यकथंभावा	त० १९४	पदान्तरगतो	त० ६१३
न हि भिन्नोपकारार्थः	त० ५३५	पदार्थं एव काकादिः	त० ६०९
न हि व्यासङ्गिविज्ञान	त० ६९८	पदावधारणोपायान्	न्या० २२९
न हि विंशिषन्ति	त० ५६६	पयोदधि	न्या० २४३
न ह्येकेन प्रयोगेण	त० ४५२	परप्रकरणस्थानामङ्गं	त० ६८७
न ह्येकस्मिन्पदे	त० ६१४	परिग्रहपरित्यागा	त० ५८५
नान्यप्रकरणापत्तिः	त० ६६२	पशुसप्तदशत्वस्य	त० ५२९
नाम्ना धात्वर्थमात्रं	त० ४२३	पश्चाद्यस्योच्यमानोऽय	त० ६६४
नास्मिन्परमसादृश्यं	त० २३९	पार्थिवावयवप्रायाः	त० ५८७
नाम्ना द्विधैव	त० २२	पुनरुच्चार्यमाणश्च	त० ६०५
निमित्तैर्न	त० ५३४	पुनर्विधानसामर्थ्यात्	त० २९२
नित्यं तत्रानुवाक्याभिः	त० ६८२	पुनः श्रुतिरनन्यार्था	त० ४४०
नियोगेन विकल्पेन	न्या० ७९	पुंव्यापारनियोगेन	त० १६९
नित्यं विशिष्ट	न्या० सु० १६	पुंवाक्येऽप्यन्योक्तत्वं	त० ५८५

श्लोक	पृ० सं०	श्लोक	पृ० सं०
पूर्वयोर्नास्ति	त० ५२७	प्रयोजकवशौ	त० ५३०
पूर्वं तेनैव	त० २३	प्रयोजकोऽपि	त० ५३०
पूर्वं प्रधानसम्बद्धं	त० १७७	प्रयोजकाः प्रयोक्तारः	त० ५२६
पूर्वां सन्ध्यां	न्या० ४४८	प्रयोजनं तु	त० ६०८
पृष्ठद्वयविकल्प	त० ४७३	प्रयोजनं विधेः	त० ६०८
पौर्णमास्यतिरिक्ता	त० ४५२	प्रसिद्धे	त० २६
पौर्णमासी	त० २६	प्रसिद्धेनाप्रसिद्धस्य	त० ४५
प्रकृतप्रत्यभिज्ञानं	त० १५८	प्रशस्तशब्दैरवधारितेन	त० ४४४
प्रकृतादपि भोक्तृत्वं	त० ४०६	प्रसक्तानुप्रसक्तो	त० ५२९
प्रकृतानाम	त० ९३	प्रज्ञातदेवतत्व	त० ४८
प्रकृतिप्रत्यभिज्ञानान्न	त० ४००	प्राक्प्रतीतैक	त० ५६७
प्रकृतिप्रत्ययौ ब्रूतः	न्या० सु० १६	प्राकृतेन कथंभावे	
प्रकृतौ तदपत्ये	त० ३३५	प्राजापत्येषु	त० ५२९
प्रत्यक्षविधिसद्भावालयः	त० ३५६	प्रातः प्रातरनृतं	त० ४६९
प्रत्ययश्च यथामन्त्र	त० ६०७	प्राप्तस्तावद्	त० २३८
प्रत्ययः संनिकृष्टार्थं	त० २७२	प्राप्ते कर्मणि	त० ७३
प्रत्ययार्थं	त० ६	प्राप्ते कर्मण्यनेकार्थं	त० २३७
प्रत्ययार्थः	त० २३	प्राधान्याच्छेषिणां	त० ५३१
प्रत्ययार्थबहुत्वं	त० १९२	प्रायेणाऽऽख्यात	त० २३
प्रत्येकं हि	त० १९७	बहुव्रीहिसमासोऽयं	त० ५६३
प्रतीतिं प्रति	त० ५८५	ब्राह्मणत्वादिसंयुक्ते	त० ३५८
प्रतीतिव्यतिरेकेण	त० ५८४	भूतान्तरानुबद्धेन	त० ५८७
प्रथमं काल	त० ४८	भेदान्तरवक्तव्यं	त० ५२७
प्रधानमात्रमेवोक्तं	त० ५२७	भेदे च	त० ४३
प्रधानादौ विधीयन्ते	त० ५३५	भिद्यते भावनामात्रं	त० ४२३
प्रधानान्यप्यतो	त० ५३५	भिन्नानां हि	त० ५२७
प्रधानं नीयमानं	त० ७४	भिन्ने हि विधिसामर्थ्ये	त० ४३५
प्रधानानां	त० ५३३	भारो यो येन	त० ५३०
प्रधानैरप्रयुक्तानि	त० ५३५	मन्त्राणमपि	त० ५२८
प्रध्वंस्यते रूपविनाश	त० ३००	मन्त्रोऽपि रशनां	त० ६०७
प्रयुज्यते पदं	त० ५४६	मम प्रतिदिनं	त० ४५३
प्रयुज्यते हि	त० २२		

श्लोक	पृ० सं०
महाभौतिकदेहस्था	त० ५८७
मिथश्चानर्थसम्बन्धो	त० ६८२
मीमांसका हि वाक्यार्थ	त० ६०३
मुख्यकालत्वं	त० ५२
मोहो हि प्रकृतः	त० २३६
यच्चान्यदविना	त० ५३२
यजिना विहित	त० ९६
यत्र सामान्यतः	त० ६०६
यत्र वाक्येन	त० १७६
यत्र द्रव्यगुणैकार्थ्यं	त० ५७७
यत्पुनर्यजमानादि	त० ५७१
यत्तु शेषः	त० ५२५
यथाकथं	त० ४८
यथा च द्रव्यमिच्छन्नित	त० ५७८
यथाऽग्नेयादि	त० १५६
यथा फलप्रदं	त० ३८३
यथाभिलषितं यत्र	त० ४२३
यथा वोद्दिश्यमानत्वे	त० ६०५
यथेहास्य पदार्थोऽपि	
यथैकबन्धनार्थं	त० १५७
यथैव पशुसामान्ये	त० १५७
यथैव पौरुषेयेषु	त० ५८६
यथैव वारवन्तीयं	त० २९८
यथैव हि ग्रहत्वेन	त० ६९८
यथैवांशत्रयापेक्षा	त० २५२
यथैवाष्टाकपालादौ	त० १५९
यथैवोत्पत्ति	त० ४९
यदाऽनुमितयाऽत्येष	त० ६०९
यदा तु प्रतिबद्ध	त० ६०९
यदा स्वसमवेतोऽत्र	त० ५६७
यद्वा भिद्यते	त० ५७०
यदि क्रियाप्राधानत्वं	त० ६०६
यदि तावद् ग्रह	त० ६१०
यदि नामाविभागः	त० २३५
यदि नामास्य विज्ञातौ	त० ६८७
यदि तावद्विकल्पेन	त० ६१९
यदि शब्दपरित्यागो	त० ३१३
यदि ह्यालम्भ	त० ३८०
यदि ह्यालम्भनिर्वापौ	त० ३८०
यद्यपि प्रकृते	त० ४२१
यद्यप्यवयवद्वारं	त० २९८
यद्यश्वरशनाप्राप्ति	त० ६०९
यद्यस्य विनियुक्तस्य	त० ६०९
यद्याहत्य	त० ५५०
यद्युत्पत्तौ	त० ५३
यन्निमित्तमपेक्ष्यायं	त० ५६७
यन्मात्रमेकं	त० २६
यया रक्तोपधानेन	त० ८
यस्तु शक्त्या	त० ५८७
यस्माद्भेदमविज्ञाय	त० ५२७
यस्मिन्नन्यपदार्थे	त० ५६४
यस्य येनार्थसम्बन्धे	भा० प्र० ६९३
यस्य येनार्थसम्बन्धो	न्या० ७०१
यागान्विष्णवा	त० ८७
या गुणस्योप	त० ६१२
यागोऽयमिति	त० २६
यागोपदेश	त० १९३
यादृशं द्रव्य	त० १५६
यां यां स वचनव्यक्ति	त० ६०५
यान्यावयवशक्तिभ्यां	न्या० सु० १६
यावच्छ्रुतोऽपि	त० ६१४
यावज्जीवपदाख्यात	त० ४५१
यावद्धि विधिसामर्थ्यं	त० २५०
येन येन प्रकारेण	त० ६०५

श्लोक	पृ० सं०
येनाभिक्रमणादूर्ध्वं	त० ६५८
येनास्य पितरो	न्या० ४९९
योऽर्थः प्रत्यक्षदृष्टोऽपि	त० ५५१
राजन्यक्षत्त्रिये	त० ३३५
राजा निर्ज्ञात	त० ३२२
रूपप्रकरणद्वारा	त० ६०८
रूपस्पर्शादयो	त० ५८७
रेवतीवारवन्तीयसंबन्धं	त० २६५
लक्ष्यलक्षणयोर्दृष्टो	त० ५३४
लिङ्गानुमितया	त० ६०९
लिङ्गप्रकरणद्वारा	त० ६०८
वक्तृवाक्यगतं	त० ५३०
वचनव्यक्तिभेदेन	त० ६०३
वर्तमानसरूपेण	त० ६०३
वक्तृव्यापारमात्रं	त० ५६६
वदन्ति सामिधेनी	त० ६७६
वयोवस्थाभिधीयेत	त० ५६५
वाक्यभेदतदेकत्व	त० ५४६
वाक्यान्तरेण	त० २३७
वाक्येन यदि	त० १७६
वाक्येनाधानतुल्यानि	त० ६७५
वाच्यवाचक	त० ९५
वाजपेयेन सम्बन्धस्त्रेधा	त० ६५०
वाजिभ्यो वाजिनं	त० २२४
वाजिशब्दोऽपि	त० २२२
विच्छिन्नयत्न	न्या० ५९४
विच्छिन्ना सामधेनीनां	त० ६६३
विदधद् द्वौ हि	त० ६०५
वि[illegible]ीय प्रवर्तन्ते	त० ५८६
विधित्वं	त० ११२
विधित्वं यद्यपि	त० २७०

श्लोक	पृ० सं०
विधित्वं श्रौतमार्थं च	त० ५८६
विधित्वे भावनास्थे	त० १९८
विधिशक्त्या गृहीतं	त० ५८८
विधीयतेऽवघातादि	त० ५४३
विधीयमानमध्यकर्मन्यतो	त० ६१६
विधेयमात्रमप्यत्र	त० २७१
विधेयानेकभावेऽपि	त० १७०
विध्यन्तो वा	त० ५३६
विना यत्रानुषङ्गेण	त० ४२१
विप्रयोगे तु दृष्टस्य	त० ५५१
विभक्त्युपात्तकर्मत्व	त० ६१४
विभक्तिवाच्यरूपेण	त० ५६७
विरुध्यमाने	त० ५
विरुध्यमाने	शा० १
विरोधित्वात्प्रसज्येते	त० ३३७
विशेषप्रतिपत्त्यर्थं	त० ११५
विशेषणविधिश्चायं	त० ७४
विशेषणाद्विना	त० ५६६
विशिष्टो हि विधिः	त० ५८९
विशेष्यत्वेन	त० ५६७
विश्वेदेवाश्च	त० २२२
विष्ण्वादि	त० ९३
विहितस्य विधिनीस्वी०	त० ४३५
विहितो विनियुक्तश्च	त० ६०३
वृषलैर्न	त० ६१०
वृष्टिकामपदेनात्र	त० २९७
वृष्टिकामपदेनैव	त० २९७
व्यक्तयो हि	त० २६
व्यक्तीरुद्दिश्य	त० ६०३
व्यभिचाराश्च न	त० ५७२
व्रीह्यादीनां	त० ५४४
शक्यते हि द्विदेवत्यः	त० ६९५

श्लोक	पृ० सं०	श्लोक
शक्यते चागृहीते	त० १७९	सत्यं प्र
शब्दब्रह्मात्मेनोऽप्येवं	त० ५८८	सत्यप्य
शब्दब्रह्मेति	त० ५८८	सत्यमि
शब्दवृत्तिनिमित्ते	त० ५६४	सं
शब्दशक्त्यनुसारेण	त० ५८६	सं
शब्दानां न हि लोपेन	त० ५७१	सन
शाखानां युगपद्	त० ४९८	सं
शाखान्तरगतस्यापि	त० ५०७	स
शाखान्तरे यथा	त० ४७१	संमाग
शाखाया ह्येकया	त० ४९१	संज्ञान
शारीरो निग्रहो यत्र	त० ५८१	सप्तमे
शीघ्रश्रुत्यापुरा	त० ६०८	समग
शेषं तस्यैव	त० ५३५	
शेषत्वं केचिदिच्छन्ति	त० ५३	
शेषत्वे कर्मभेदात्तु	त० ५२९	
शेषलक्षणमात्रोक्त	त०	
शेषस्यैवाधिकारोऽत्र	त	
शेषोऽस्यास्तीति	त	
श्रुतमात्रस्य सर्वस्य	त	
श्रुतशब्दाभिधेयानां		
श्रुतेः कर्मान्तरज्ञानं	५	स
श्रुत्यर्थः	त २०	स
श्रुत्या तावत्तदर्थत्वं	त० ५३७	स
श्रुत्यादिभिः	त० ५३१	
श्रुत्यादिसमवाये	त० ५३१	
श्रुत्यैव द्रव्यसम्बन्धो	त० १५८	
श्रुत्यैव समवायित्वं	त० २२३	सर्वेण
श्रुत्यैवोपपदस्यार्थः	त० २१९	सर्वेषाञ्च
श्रूयन्ते बहवोऽत्रार्था	त० २७१	सह वि
श्रौतव्यापार	त० ७३	सा लिं
सकृदेव श्रोता	त० ४५३	साक्ष
सत्यं स्वद्विहितस्यास्य	त० ६०९	साध

श्लोक	पृ० सं०	
येनाभिक्रमणादूर्ध्वं	त० ३	
येनास्य पितरो	न्या० ४	
योऽर्थः प्रत्यक्षदृष्टोऽपि	त० २१५	
राजन्यक्षत्रिये	त० ३३	
राजा निर्ज्ञात	त० ३२	
रूपप्रकरणद्वारा	त० ६०	
रूपस्पर्शादियो	त० ५	
रेवतीवारवन्तीयसंबन्धं	त० २६	
लक्ष्यलक्षणयोर्दृष्टो	त० ५८८	
लिङ्गानुमितया	त० ६०८	
लिङ्गप्रकरणद्वारा	त० ६१८	
वक्तृवाक्यगतं	त० ५३०	
वचनव्यक्तिभेदेन	त० ६०३	वि
वर्तमानसरूपेण	त० ६०३	वि
वक्तृव्यापारमात्रं	त० ५६६	विशेषः
वदन्ति सामिधेनी	त० ६७६	विशेषण
वयोवस्थाभिधीयेत	त० ५६५	विशेषणा
वाक्यभेदतदेकत्व	त० ५४६	विशिष्टो
वाक्यान्तरेण	त० २३७	विशेष्यत्वेन
वाक्येन यदि	त० १७६	श्वेदेवाभ्यं
वाक्येनाधानतुल्यानि	त० ६७	वादि
वाच्यवाचक	त० ९	
वाजपेयेन सम्बन्धस्त्रेधा	त० ६५०	
वाजिभ्यो वाजिनं	त० २२४	
वाजिशब्दोऽपि	त० २२२	
विच्छिन्नयत्न	न्या० ५९४	
विच्छिन्ना सामधेनीनां	त० ६	
विदधद् द्वौ हि	त०	
विमर्शाय प्रवर्तन्ते	त०	
विधित्वं	त०	
विधित्वं यद्यपि	त० २७	